ॐ

वेदविज्ञान-आलोकः™

(महर्षि ऐतरेय महीदास प्रणीत - ऐतरेय ब्राह्मण की वैज्ञानिक व्याख्या)

Cosmology Plasma Physics Astrophysics String Theory

Vaidic Rashmi Theory

Quantum Field Theory Particle Physics Nuclear Physics

A VAIDIC THEORY OF UNIVERSE

(A Big Challenge to Modern Theoretical Physics)

आचार्य अग्निव्रत नैष्ठिक

ओ३म्

महर्षि आद्य ब्रह्मा से लेकर..

..दयानन्द पर्यन्त आर्ष परम्परा

।। ओ३म् ।।

भाग – १

(महर्षि ऐतरेय महीदास प्रणीत – ऐतरेय ब्राह्मण की वैज्ञानिक व्याख्या)
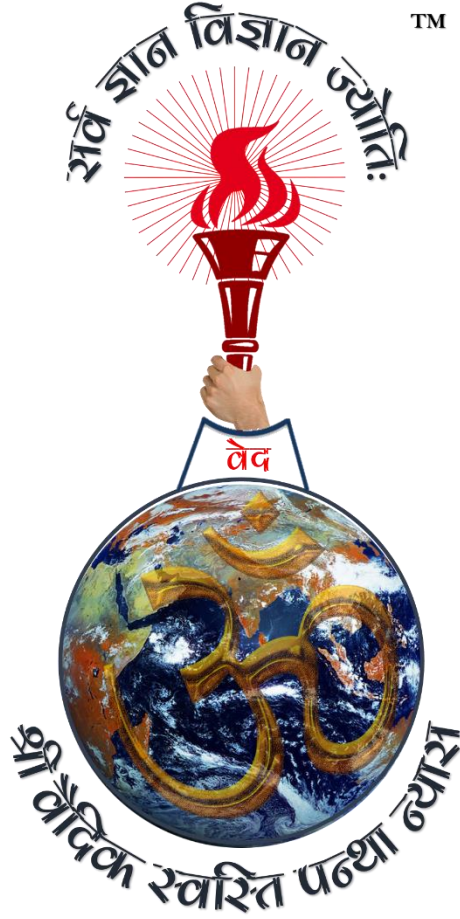
A VAIDIC THEORY OF UNIVERSE

(A Big Challenge to Modern Theoretical Physics)

।। ओ३म् ।।

भाग – १

(महर्षि ऐतरेय महीदास प्रणीत – ऐतरेय ब्राह्मण की वैज्ञानिक व्याख्या)

A VAIDIC THEORY OF UNIVERSE

(A Big Challenge to Modern Theoretical Physics)

व्याख्याता एवं पुरस्कर्त्ता

आचार्य अग्निव्रत नैष्ठिक

(वैदिक वैज्ञानिक)

संपादक एवं डिज़ाइनर

विशाल आर्य (अग्नियश वेदार्थी)

(M.Sc., Theoretical Physics, University of Delhi)

प्रकाशक

श्री वैदिक स्वस्ति पन्था न्यास

वेदविज्ञान-आलोकः (भाग-१)

First Edition published in Bharat (India) by
Shree Vaidic Swasti Pantha Nyas, 2017, Vikram Samvat 2074

Printed in the territory of Bharat (India)
at LODHA OFFSET LTD.
E-90, Marudhar Industrial Area
Basni 2nd Phase, Jodhpur

ISBN 978-93-5291-333-6

Price: ₹ 5,500/- Price of 4 Volume ₹ 20,000/- in Bharat (India)
$ 200.00 $ 700.00 in other countries

Shree Vaidic Swasti Pantha Nyas
Vaidic and Modern Physics Research Centre,
Ved Vigyan Mandir, Bhagal-Bhim, Bhinmal
District: Jalore (Rajasthan), India-343029

Web site: www.vaidicscience.com
E mail: swamiagnivrat@gmail.com, vishalarya66@gmail.com
Phone: 02969-292103, +919414182173, +917424980963, +919829148400

Warning: Don't try to read this book by translating it into any other language because there are very high chances of misunderstanding.

Note: Whenever it will be necessary to make any changes/corrections in this book, we will notify it on our website **www.vaidicscience.com**, keep visiting mentioned website for more updates.

आचार्य अग्निव्रत नैष्ठिक

(वैदिक वैज्ञानिक)

प्रमुख, श्री वैदिक स्वस्ति पन्था न्यास

एवं

आचार्य, वैदिक एवं आधुनिक भौतिक शोध संस्थान

समर्पणम्

मैं इस ग्रन्थ को विश्वभर के भौतिक वैज्ञानिकों, वेदानुसन्धानकर्त्ताओं, प्रबुद्ध व विचारशील धर्माचार्यों, मानव-एकता के स्वप्नद्रष्टाओं, सुविचारशील समाजशास्त्रियों, तर्कसम्मत पंथ निरपेक्षता के समर्थकों, वैज्ञानिक बुद्धि के धनी उद्योगपतियों, शिक्षा- शास्त्रियों, भारत के प्रतिभासम्पन्न राष्ट्रवादियों एवं सभी प्रबुद्ध युवा एवं युवतियों की सेवा में भारतवर्ष के प्राचीन वैज्ञानिक गौरव को पुनः प्राप्त कराने एवं सम्पूर्ण विश्व के कल्याण की भावना से सप्रेम समर्पित करता हूं।

सावधानी

मैं इस ग्रन्थ के पाठकों को यह सावधानी वर्तने का भी परामर्श देता हूँ कि इसे किसी अन्य भाषा में अनूदित करके पढ़ने का प्रयास नहीं करें, अन्यथा मेरे भावों को यथार्थरूप में समझे बिना ग्रन्थ का अनुवाद त्रुटिपूर्ण होने की पूर्ण आशंका है।

-लेखक (व्याख्याता एवं पुरस्कर्त्ता)

ओ३म्

प्रकाशकीय वक्तव्य

भारतीय परम्परा वेद को अपौरुषेय (ईश्वरीय) मानती रही है। पाश्चात्य परम्परा भले ही इसे स्वीकार न करे परन्तु ऋग्वेद को संसार का प्राचीनतम ग्रन्थ तो मानती ही है। भारतीय आर्ष परम्परा चारों वेदों की उत्पत्ति मानव-सृष्टि के प्रारम्भ में ही मानती है।

ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों को समझने हेतु ऋषियों के समय-२ पर किए प्रवचनों का ही संकलन माने जाते हैं। इनमें से महर्षि ऐतरेय महीदास द्वारा रचित ऐतरेय ब्राह्मण सभी ब्राह्मण ग्रन्थों में सर्वाधिक प्राचीन है। इसे समझे बिना ऋग्वेद को समझना सम्भव नहीं है। इस ग्रन्थ का भाष्य अनेक भारतीय वा विदेशी विद्वानों ने किया है परन्तु सभी भाष्यकारों ने इस ग्रन्थ के वास्तविक स्वरूप को समझा ही नहीं। इन भाष्यकारों में आचार्य सायण सर्वाधिक प्रसिद्ध माने जाते हैं। इनके भाष्य को देखने पर विदित होता है कि इन विद्वानों की दृष्टि में पशुबलि, नरबलि, मांसाहार आदि कर्म वेदविहित है। ब्राह्मण ग्रन्थों का ऐसा अर्थ ग्रहण करने से वेदों की ईश्वरीयता व सर्वविज्ञानमयता पर न केवल गम्भीर प्रश्नचिह्न खड़ा हो जाता है अपितु उनका बड़ा ही बीभत्स रूप संसार के समक्ष प्रस्तुत होता है।

आज भारतीय इतिहास की पुस्तकों में प्रायः ऐसा ही देखने को मिलता है। सौभाग्य से आर्य समाज के एक गम्भीर गवेषक वैदिक वैज्ञानिक माननीय आचार्य अग्निव्रत नैष्ठिक ने अपनी गम्भीर ऊहा, साधना, तप व स्वाध्याय के बल पर इस ग्रन्थ का वैज्ञानिक व्याख्यान करके संसार पर बहुत बड़ा उपकार किया है। मैं आचार्य जी को कई दशकों से जानता हूँ। उनके पुरुषार्थ, तप, साधना, सादगी व ईमानदारी की चर्चा मैं उनके साक्षात्कार से पूर्व से ही सुनता रहा हूँ।

उनके इस ग्रन्थ के अवलोकन से उनकी वैज्ञानिक प्रतिभा का अनुमान प्रतिभाशाली वैज्ञानिक अथवा गम्भीर वेदज्ञ स्वयं ही कर सकते हैं। मैंने उनको आधुनिक भौतिक वैज्ञानिकों के साथ सृष्टि विज्ञान पर चर्चा करते भी स्वयं देखा व सुना है।

इस ग्रन्थ से ब्राह्मण ग्रन्थों के गम्भीर ज्ञान विज्ञान का बोध होकर वेदों की अपौरुषेयता व सर्वज्ञानमयता का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। वेद की ऋचाओं को विशेष प्रकार की रश्मियों के रूप में सिद्ध करना तथा उन रश्मियों रूपी कम्पनों से सम्पूर्ण सृष्टि की रचना व संचालन का होना आचार्य जी की अभूतपूर्व व असाधारण खोज है, जो न केवल वेदों के विषय में संसार भर के वेदानुसंधानकर्त्ताओं को नई दिशा देगी अपितु वर्तमान भौतिक विज्ञान के विशेषज्ञों को भी सृष्टि को समझने का एक नया मार्ग सुझाएगी। इससे उन्हें अपने विज्ञान की अनेक कमियों को दूर करने में भी सहयोग मिलेगा।

इसके साथ ही सम्पूर्ण मानव जाति को वेद व ऋषियों की वैदिक संस्कृति के द्वारा एकसूत्र में बांधने में भी यह महान् ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी होगा। मानव समाज में व्याप्त नाना प्रकार के भेदभाव, हिंसा, आतंक, निर्धनता, अशिक्षा, पर्यावरण प्रदूषण, नाना रोगों का होना आदि समस्याएं अज्ञान के द्वारा ही उत्पन्न होती हैं। इस कारण इन सब समस्याओं का समाधान शुद्ध ज्ञान के द्वारा ही स्थायी रूप से हो सकता है।

वर्तमान विज्ञान विशुद्ध ज्ञान प्राप्त करने हेतु प्रयोग, परीक्षण, प्रेक्षण एवं गणितीय व्याख्याओं पर आधारित पद्धति का आश्रय लेता है, उधर ऋषि-मुनि धारणा, ध्यान व समाधि से प्राप्त अन्तःप्रज्ञा के द्वारा ही प्रकृति के अनेक रहस्यों को उद्घाटित कर लिया करते थे। इसी पद्धति के द्वारा उन्होंने नाना प्रकार के गम्भीर विज्ञान को जानकर अपने ग्रन्थों में वर्णित किया। उनके अन्तःप्रज्ञा पर आधारित ग्रन्थों को आज आचार्य जी ने अपनी ऊहा, तर्कशीलता, ध्यान एवं वेदों व आर्ष ग्रन्थों के सुसंगत व्यापक अध्ययन के द्वारा समझा और इस 'वेदविज्ञान-आलोकः' नामक विशाल ग्रन्थ की रचना कर डाली। जो ग्रन्थ पिछले हजारों वर्ष से उच्च कोटि के विद्वानों के लिए भी अज्ञेय अथवा रहस्यमय बना हुआ था, वह आचार्य जी ने कैसे समझा, यह चिन्तनीय है। यह ऋषियों की व्यवस्थित व वैज्ञानिक पद्धति ही है। वर्तमान विज्ञान अनेक संसाधनों के द्वारा जो निष्कर्ष निकलता है, उसमें भी अनेक बार भ्रान्तियां रह जाती हैं, जबकि ऋषियों की अन्तःप्रज्ञा अभी भी उतनी ही प्रामाणिक बनी हुई है। इस पर कभी न कभी संसार के वैज्ञानिकों व दार्शनिकों को विचार करना चाहिए। आज के उच्च कोटि के वैज्ञानिकों व विचारकों को इस ग्रन्थ का गहन अध्ययन करके यह जानने का प्रयास करना चाहिए कि ग्रन्थ के लेखक एवं व्याख्याता ने सृष्टि के गूढ़ रहस्यों को व्यवस्थित ढंग से वर्णित किया है, मानो ये सभी कार्य लेखक के नेत्रों के सम्मुख सम्पन्न हो रहे हों। इस कारण ही मुझे यह ग्रन्थ विशुद्ध ज्ञान का प्रतिपादक प्रतीत होता है।

मुझे आशा है कि यह **''वेदविज्ञान-आलोकः''** नामक ग्रन्थ उस वैदिक शुद्ध ज्ञान का एक महत्वपूर्ण साधन बन कर मानवमात्र के लिए हितकारी होगा और महर्षि दयानन्द सरस्वती की दृष्टि में **'संसार का उपकार करना आर्य समाज का मुख्य उद्देश्य है....'**। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु मानवता के प्रति प्रेम करने वाले सभी विवेकी जनों को इस न्यास के सर्वहितकारी वैदिक अनुसंधान कार्य में अपना सर्वात्मना सहयोग करना चाहिए। आशा है पाठक इस ग्रन्थ को पढ़कर मेरे विचारों की सत्यता विदित हो जाएगी।

अन्त मैं एक पूर्व कुलपति होने के नाते भारत के विश्वविद्यालयों के शोध छात्र-छात्राओं को कहना चाहूंगा कि वे भारतीय इतिहास एवं प्राचीन ज्ञान विज्ञान पर उठाए जा रहे प्रश्नों का सशक्त समाधान प्राप्त करने हेतु इस ग्रन्थ का गम्भीरता से अध्ययन करें। इससे उन्हें भारत के प्राचीन व आश्चर्यजनक ज्ञान विज्ञान का परिचय होगा तथा उनमें नये राष्ट्रीय स्वाभिमान का भाव जागेगा। इसके आधार पर वे वर्तमान भौतिकी के क्षेत्र में नये-२ अनुसंधान करने का प्रयास करें। दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र व इतिहास के क्षेत्र में शोध करने वालों को भी इस ग्रन्थ की पूर्वपीठिका से एक नया प्रकाश मिलेगा।

ईश्वर सभी भारतीयों को पुनः जगद्गुरु भारत बनाने की दिशा में पुरुषार्थ करने की प्रेरणा करे, इसी कामना के साथ

डॉ. टी. सी. डामोर
से.नि. कुलपति एवं पुलिस महानिरीक्षक
राष्ट्रपति के विशिष्ट सेवा मेडल से सम्मानित
मंत्री (Secretary), श्री वैदिक स्वस्ति पन्था न्यास

डॉ. सत्य पाल सिंह
Dr. Satya Pal Singh

मानव संसाधन विकास; और
जल संसाधन, नदी
विकास एवं गंगा सरक्षण राज्य मंत्री
भारत सरकार
MINISTER OF STATE FOR
HUMAN RESOURCE DEVELOPMENT;
AND WATER RESOURCES,
RIVER DEVELOPMENT AND
GANGA REJUVENATION
GOVERNMENT OF INDIA

संदेश

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि श्री आचार्य अग्निव्रत नैष्ठिक द्वारा ऋग्वेदीय ब्राह्मण ग्रन्थ **'ऐतरेय ब्राह्मण'** का वैज्ञानिक व्याख्यान **''वेदविज्ञान-आलोकः''** नाम से विशालकाय ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। कुछ दिनों पूर्व आचार्य जी से इस ग्रन्थ की विषयवस्तु पर विस्तार से चर्चा हुई तथा ग्रन्थ का स्वल्प अवलोकन भी किया।

वैदिक वाङ्मय में ब्राह्मण ग्रन्थों का विशिष्ट स्थान है, जो वेद के साथ निकटतम सम्बन्ध रखता है। ब्राह्मण ग्रन्थ वेद को समझने की कुंजी हैं, ऐसा कहा जाए, तो अत्युक्ति नहीं होगी। इनमें भी ऐतरेय ब्राह्मण सर्वाधिक पुरातन व जटिल है। इसमें सोमयाग का वर्णन है, ऐसा वैदिक विद्वानों में सर्वविदित है। इसी आधार पर कर्मकाण्डी विद्वान् नाना श्रौतयाग करते रहे हैं। किन्तु इन श्रौत यागों के पीछे छुपे सृष्टि विद्या के रहस्यों को कोई प्रतिभाशाली विद्वान् ही समझ सकता है। इस ग्रन्थ में वर्णित सोमयाग को आचार्य जी ने सृष्टि में विद्यमान नाना कणों व तरंगों के संयोग-वियोग की प्रक्रिया से सृष्टि उत्पत्ति व संचालन के रूप में व्याख्यात किया है। सृष्टि के मूल उपादान कारण प्रकृति से लेकर विभिन्न रश्मियों, तरंगों व कणों के बनने तथा शनैः-2 तारों के विकसित होने तक सम्पूर्ण विज्ञान इस ग्रन्थ में वर्णित है।

वेद के विषय में आचार्य जी का दृष्टिकोण अति आश्चर्यजनक व महत्वपूर्ण है। इनकी दृष्टि में वेदमंत्र कारण पदार्थ में परमात्मा द्वारा किए गये fluctuation का रूप हैं। इन्हीं से सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण हुआ है। वाणी के चारों रूपों का वर्णन और उन रूपों से ब्रह्माण्ड का विकसित होना इस ग्रन्थ की महत्वपूर्ण देन है। ग्रन्थ के भाष्य में आचार्य जी ने महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा निर्दिष्ट यौगिक पद्धति का ही आश्रय लिया है। इसके सातवें अध्याय के सातवें खण्ड में **'सहस्राश्वीने वा इतः स्वर्गोलोकः'** का यौगिक अर्थ करके सूर्य के केन्द्रीय भाग की त्रिज्या 1 लाख 50 हजार 545 किमी निकालना वैदिक विद्वानों के लिए आश्चर्य का विषय होगा। इसे इस ग्रन्थ में सचित्र समझाया है। वर्तमान वैज्ञानिक इस दूरी के विषय में सुनिश्चतता से क्या कहते हैं, यह तो ज्ञात नहीं परन्तु सटीक दूरी इस ग्रन्थ से निकालना विशेष सुखद है।

इसी प्रकार इस ग्रन्थ के तैतीसवें अध्याय के सभी 6 खण्डों में वर्णित शुनःशेप आख्यान का वैज्ञानिक व्याख्यान करके निर्माणाधीन व निर्मित तारों के केन्द्रीय भाग में नाभिकीय संलयन कैसे प्रारम्भ होता तथा कैसे संचालित होता है, इसका विस्तृत वर्णन किया गया है। उधर इसी आख्यान के आधार पर विद्वानों ने नरबलि, पुरुष विक्रय जैसे बीभत्स कर्मों का विधान किया है।

वर्तमान भौतिकी की दृष्टि से विचार करें तो इस ग्रन्थ में Cosmology, Quantum field theory, Astrophysics, एवं Particle physics आदि का गम्भीर वर्णन है, जो आधुनिक शीर्ष वैज्ञानिकों के लिए भी मार्गदर्शक का कार्य करेगा। मैं भारत व विश्व के वैदिक विद्वानों, वैज्ञानिकों एवं शोध छात्रों को परामर्श देना चाहूंगा कि वे पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर इस ग्रन्थ का गम्भीरता से अध्ययन

करें, तो उन्हें अपने-2 क्षेत्र में अनुसंधान करने के लिए नये-2 बिन्दुओं का ज्ञान होगा तथा विश्व की अनेक समस्याओं को दूर करने में सहयोग मिलेगा।

वस्तुतः वेद सम्पूर्ण सत्यविद्याओं की आदिम स्रोतरूप परमपिता परमात्मा की सनातन वाणी है, यह भारतीय आर्ष मान्यता सदैव से रही है। निःसन्देह इस ग्रन्थ के गम्भीर अध्ययन से यह मान्यता प्रतिपादित होती है।

मैं इस विशालकाय एवं विशिष्ट ग्रन्थ के लेखन के लिए आचार्य जी को धन्यवाद व साधुवाद देता हूँ तथा ईश्वर से उनके दीर्घायुष्य एवं उत्तम स्वास्थ्य की कामना करता हूँ। इसके साथ ही आशा करता हूँ कि इस ग्रन्थ के द्वारा भारत में लुप्त वैदिक विज्ञान का पुनः उदय प्रारम्भ होगा।

सभी शुभकामनाओं सहित

1/12/2017
(डॉ. सत्य पाल सिंह)

दिनांक ०१ दिसम्बर, २०१७

ओ३म्

आशीर्वचन
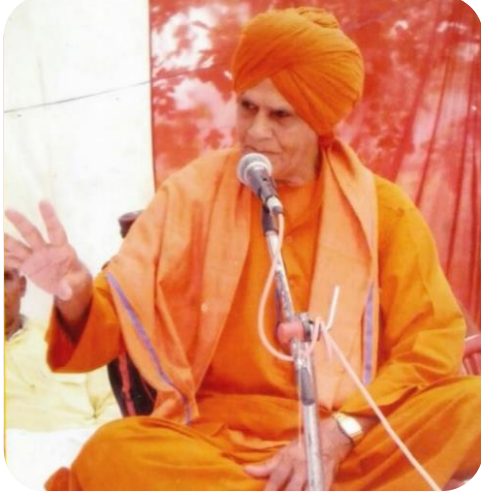
स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती

आर्य समाज, सासनी गेट
अलीगढ़, उत्तर प्रदेश

[पूज्यवर एक क्रान्तिकारी, सत्यनिष्ठ एवं तपस्वी, आर्य संन्यासी हैं। आप भारतीय सेना से सेवानिवृत्त हैं, जिन्होंने अपनी पेंशन भी राष्ट्रहित में सेना को ही सदैव के लिए समर्पित कर दी। स्पष्टवादिता, सदाचार-संयम, निर्भीकता, वेदभक्ति, देशभक्ति एवं ऋषिभक्ति से ओतप्रोत अहर्निश आर्य समाज की सेवा में ९६ वर्ष की आयु में भी युवकों जैसी सक्रियता के साथ संलग्न हैं। -सम्पादक]

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि आर्य जगत् के वैदिक वैज्ञानिक आचार्य अग्निव्रत नैष्ठिक द्वारा व्याख्यात **ऐतरेय ब्राह्मण का वैज्ञानिक भाष्य "वेदविज्ञान-आलोक"** नाम से प्रकाशित किया जा रहा है। ऋषियों का युग व्यतीत होने के हजारों वर्ष पश्चात् महर्षि दयानन्द सरस्वती ने लुप्त वेदविद्या को संसार के समक्ष उद्घाटित किया था। ऋषि के संसार से प्रयाण के पश्चात् वेदविद्या के प्रकाशन का कार्य अधूरा रह गया। स्वामी दयानन्द के अनुयायी आर्यों ने भी उनके कार्य को ठीक-2 नहीं समझा और अनेक आर्य समाजी तो स्वामी दयानन्द जी का नाम मिटाने में लग गये। सब ओर धन, यश व पद के लिए दौड़ मच रही है। ऐसे में प्रिय अग्निव्रत जी ने इस ग्रन्थ को लिखकर केवल आर्य समाज पर ही नहीं अपितु सम्पूर्ण संसार पर भारी उपकार किया है। पद, प्रतिष्ठा व धन की लालसा से दूर रहकर वर्षों तपस्या करके उन्होंने संसार के वैज्ञानिकों के लिए इस लुप्त हुए प्राचीन सनातन वैदिक विज्ञान को न केवल प्रकट किया है अपितु एक प्राचीन वैदिक मार्ग को पुनः प्रशस्त भी किया है।

अग्निव्रत जी का यह महान् ग्रन्थ सम्पूर्ण विश्व में ऋषि दयानन्द, वेद तथा प्राचीन ऋषियों का नाम संसार में रोशन करेगा, ऐसा मैं मानता हूँ।

मैं श्री अग्निव्रत जी को हृदय से बहुत-2 आशीर्वाद देता हूँ कि परमात्मा इन्हें दीर्घायु एवं उत्तम स्वास्थ्य प्रदान करे, जिससे ये भारतवर्ष का नाम संसार में रोशन कर सकें।

ओ३म्

आशीर्वचन

स्वामी (डॉ) ओम् आनन्द सरस्वती

एम. ए. पीएच.डी, साहित्य वाचस्पति
अधिष्ठाता, पद्मिनी आर्ष कन्या गुरुकुल,
चित्तौड़गढ़ (राजस्थान)

[पूज्यवर भारतवर्ष के प्रख्यात हिन्दी साहित्यकार तथा ३०-४० वर्ष तक हिन्दी के प्राध्यापक रहे हैं। **सरदार पटेल विश्वविद्यालय में आपके नाम से स्वर्ण पदक तक दिया जाता है।** आप अत्यन्त त्यागी-तपस्वी वेदभक्त, ऋषिभक्त एवं देशभक्त आर्य संन्यासी हैं। आपने सेवानिवृत्ति के पश्चात् मिलने वाली लाखों की विशाल धनराशि तथा पेंशन को भी राष्ट्र हेतु समर्पित कर दिया। आपकी लगभग ९५ वर्ष की अस्वस्थ व वृद्ध आँखों में आज भी भारतमाता, वेदमाता एवं ऋषियों की महान् संस्कृति की वर्तमान दुरवस्था से उत्पन्न पीड़ा को देखा जा सकता है। आप सचमुच महान् त्यागी सच्चे संन्यासी हैं। -सम्पादक]

मुझे यह जानकर अति प्रसन्नता और परमानंद हो रहा है कि मैं अपने जीवन के उत्तरार्ध में ऐसे अद्भुत अपूर्व ऋषि कृत्य को संपन्न होते देख रहा हूँ। लगभग १५-२० वर्षों से मैं स्वामी अग्निव्रत जी से परिचित हूँ और आपके सहज, सरल ऋषि तुल्य स्वभाव का मैं कायल रहा हूँ। मेरे भारत राष्ट्र के वैज्ञानिक स्वरूप के पुनः प्रस्तुतीकरण का आपने जो बीड़ा उठाया, वह निश्चित ही युगांतकारी बनकर सामने आया है। आधुनिक युग में आपने जो दुष्कर कार्य अपने हाथ में लिया और उसे पूर्ण कर दिखाया, यह वास्तव में एक अग्निपरीक्षा से किसी भी तरह से कमतर नहीं आंका जा सकता।

सभी ब्राह्मण ग्रंथों में सबसे प्राचीन एवं क्लिष्ट ऐतरेय ब्राह्मण का वैज्ञानिक भाष्य करके जहाँ आपने महर्षि दयानंद सरस्वती का ऋण उतारने का प्रयास किया है, वहीं विश्व को एक महान् वैज्ञानिक शोध प्रदान कर अद्भुत उपकार किया है। जिसे कृतज्ञ राष्ट्र हमेशा याद रखे। आपके इस प्रामाणिक अनुसंधान से विश्व के आधुनिक वैज्ञानिक जगत्, आध्यात्मिक जगत् और भौतिक जगत् को निश्चित ही अनंत लाभ होगा। **'वेदविज्ञान-आलोक'** नामक यह शोध ग्रन्थ आने वाले कई महान् शोधों का आधार स्तंभ बनकर भौतिक वैज्ञानिकों का मार्ग प्रशस्त करता रहेगा।

मेरी भारत सरकार और भारत के माननीय यशस्वी प्रधानमंत्री जी से भी यही प्रार्थना एवं आग्रह है कि इस अद्भुत अपूर्व वैदिक विज्ञान के वैज्ञानिक अनुसंधान में अपनी और भारत सरकार की ओर से सभी आधुनिक शोध और अनुसंधान के लिए आधुनिक सुविधाओं हेतु सहायता प्रदान कर राष्ट्र के प्रति अपनी निष्ठा प्रकट करें। भारत राष्ट्र को पुनः विश्वगुरु के पद पर पुनर्स्थापित करने में अपना सहयोग करने की कृपा करें।

मैं अपनी अशेष शुभकामनाएं इसके प्रकाशन और संस्थापन हेतु प्रेषित कर रहा हूँ। साथ ही महान् ऋषिभक्त, वेदभक्त, भारत के रत्न, तपस्वी विद्वान् स्वामी श्री अग्निव्रतजी के स्वास्थ्य और यशस्वी भविष्य की उज्ज्वल कामना करता हूँ। ओम् शम्

आपका शुभचिंतक

ओ३म्

आशीर्वचन

स्वामी वेदानन्द सरस्वती

वेद मन्दिर, कुटेटी, उत्तरकाशी

[पूज्यवर वैदिक साहित्य के विद्वान् होने के साथ-२ भौतिकी, गणित से भी स्नातक हैं। आप आर्य जगत् के लब्धप्रतिष्ठित वैदिक विद्वान् महामहोपाध्याय पूज्य श्रीमान् पं. युधिष्ठिर जी मीमांसक एवं श्री आचार्य विजयपाल जी विद्यावारिधि के शिष्य रहे हैं। **आप वर्तमान में इस संस्थान के प्रधान संरक्षक भी हैं।** आप मितभाषी, सरल हृदय, उदार एवं योगविद्या के निष्णात वैदिक विद्वान् हैं। -सम्पादक]

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि श्री आचार्य अग्निव्रतजी नैष्ठिक द्वारा ऋग्वेदीय ब्राह्मण **'ऐतरेय ब्राह्मण'** का वैज्ञानिक व्याख्यान **''वेदविज्ञान-आलोकः''** नाम से शीघ्र प्रकाशित किया जा रहा है। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है- **''न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते''** यह बात सर्वविदित है कि गीता कोई स्वतंत्र ग्रन्थ न होकर महाभारत का ही एक अंश है। इस प्रकार गीता का यह वचन भगवान् श्रीकृष्ण का भी है और महर्षि व्यास का भी, ऐसा जानना चाहिए। इधर ज्ञान का मूल स्रोत वेद है, जो साक्षात् परमात्मा का ज्ञान है। वेद को जानने हेतु ब्राह्मण ग्रन्थों को समझना अनिवार्य है। ब्राह्मण ग्रन्थों में ऐतरेय ब्राह्मण सबसे अधिक प्राचीन व जटिल है। यह ग्रन्थ ऋग्वेद को जानने का मूल आधार है।

इस ग्रन्थ की अब तक जो भी व्याख्याएं थीं, वे प्रायः रूढ़ अर्थों को लेकर की गयी हैं, इससे उनमें मांसाहार, पशुबलि, नरबलि आदि अनेकों बीभत्स कर्मों का विधान है। यह भारी दोष ब्राह्मण ग्रन्थों व वेदों पर दीर्घकाल तक चलता रहा। महर्षि दयानन्द की यौगिक शैली के आधार पर इस ग्रन्थ का कोई भाष्य उपलब्ध नहीं था। ऐसे में इस ग्रन्थ पर अनुसंधान करने वाले श्री आचार्य अग्निव्रत जी नैष्ठिक हमारे श्रद्धा और सम्मान के पात्र हैं। इस पवित्र यज्ञ में उनका जीवन समर्पित है। उन्होंने इस ग्रन्थ का न केवल यौगिक शैली से विस्तृत व्याख्यान किया है अपितु उन्होंने इस ग्रन्थ का ऐसा व्याख्यान किया है, जो वर्तमान भौतिक विज्ञान को एक नई दिशा देने में सक्षम है। इसके साथ ही इस भाष्य से वेदानुसंधानकर्त्ताओं को भी वेद व आर्ष ग्रन्थों को समझने के लिए एक वैज्ञानिक शैली का ज्ञान होगा। यह महान् पुण्य का कार्य है। हम सबको दिल खोलकर तन, मन, धन से आचार्य जी की हर सम्भव सहायता करनी चाहिए। मैं परमात्मा से आचार्य जी के दीर्घायुष्य की कामना करता हूँ।

ओ३म्

आशीर्वचन

आचार्य सत्यानन्द वेदवागीश

महर्षि दयानन्द स्मृति भवन न्यास,
जोधपुर, राजस्थान

[पूज्यवर वर्तमान आर्य जगत् के शिरोमणि विद्वान् हैं। आप पाणिनीय व्याकरणशास्त्र एवं वेद के तलस्पर्शी विद्वान् हैं। आपका सम्पूर्ण जीवन आर्ष ग्रन्थों के पठन-पाठन में व्यतीत हुआ है। आपने वेद, व्याकरण एवं महाभारत आदि सम्बन्धी लगभग २० महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है। अनेक ग्रन्थों का सम्पादन भी किया है। आप अभी ८४ वर्ष की आयु में भी सतत अध्ययन, अनुसंधान के साथ अध्यापन कार्य हेतु तत्पर रहते हैं। रागद्वेष से रहित आप सादगी, विनम्रता, पाण्डित्य व सरलता के पुंज हैं। -सम्पादक]

'वैदिक एवं आधुनिक भौतिक विज्ञान शोध संस्थान' वेद विज्ञान मन्दिर, भागलभीम, भीनमाल (जालोर) राजस्थान के संस्थापक, संचालक एवं अध्यक्ष मुनिकल्प आचार्य अग्निव्रत जी नैष्ठिक ने प्राचीन ग्रन्थ **'ऐतरेय ब्राह्मण'** का वैज्ञानिक भाष्य किया है। यह अतिविस्तृत अनुसंधात्मक ग्रन्थ है। यह अनुपम, अद्वितीय और विचारोत्तेजक कृति है। प्राचीन ग्रन्थों के इस प्रकार के वैज्ञानिक व्याख्यानों का यह इदम्प्रथमतया सुप्रयास है।

इसके प्रकाशन से जहाँ वैदिक वाङ्मय की वैज्ञानिकता की पुष्टि होगी, वहीं आधुनिक भौतिक विज्ञान की अपेक्षा वैदिक विज्ञान श्रेष्ठतर है, यह बात विचारशील विद्वानों को ग्राह्य होगी।

हो सकता है, कुछ स्थलों पर पुनर्विचार की अपेक्षा प्रतीत हो, तो भी इससे इस विशिष्ट ग्रन्थ की उपादेयता में कोई न्यूनता नहीं आयेगी।

मनुष्य कितना भी ज्ञानी हो, उसके लेख में स्खलनों की सम्भावना रहती है। पाणिनिमुनि प्रोक्त **'पारस्करप्रभृतिनि च सञ्ज्ञायाम्'** (६.१.१५१) के अन्तर्गत पारस्करप्रभृतिगण में उल्लिखित **'तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च'** इस गणकार्त्तिक से तस्कर और बृहस्पति शब्दों की साधना स्वरादि की दृष्टि से अग्राह्य है तो भी पाणिनि को महर्षि कहा जाता है। भाषार्थक **सकर्मक घटिँ** (चुरा. २२३) से औणादिक **उ** प्रत्यय से तथा **घण** शब्दे (काश.धा.भ्वा.२०६) से औणादिक तु प्रत्यय करने से सुसाध्य **निघण्टु** पद को निगन्तु का अपभ्रंश (**निगन्तव एव सन्तो निगमान्निघण्टव उच्यन्ते**) मानने वाले और **हस्त** को **हन्** धातु से बनाने वाले (**हस्तो हन्तेः प्राशुर्हनने**) यास्क जी को जब मुनि महर्षि माना जा सकता है, तो इस विशालकाय **ऐतरेय ब्राह्मण के वैज्ञानिक भाष्य** में स्खलनों की सम्भावना मानते हुए भी इस स्वोपज्ञ अतिविशिष्ट ग्रन्थरत्न के प्रणेता आचार्य अग्निव्रत नैष्ठिक को ऋषि पदवी से विभूषित करना चाहिए।

ओ३म्

शुभकामना

आचार्य धर्मबन्धु

प्रणेता, वैदिक मिशन ट्रस्ट
प्रांसला, राजकोट, गुजरात

[मान्यवर इस संस्थान के प्रथम प्रधान संरक्षक रहे हैं। आप भारत के प्रसिद्ध सामाजिक वैदिक प्रवक्ता हैं। आप ओजस्वी वक्ता, प्रखर मेधावी, अद्भुत स्मरण शक्ति के धनी एवं बहुआयामी राष्ट्रिय विचारक हैं। देश के प्रत्येक क्षेत्र के प्रख्यात महत्वपूर्ण व्यक्तित्व आपसे निकटता से परिचित एवं प्रभावित हैं। देश की युवा पीढ़ी एवं प्रबुद्ध वर्ग में राष्ट्रिय एवं सामाजिक चेतना जगाना, निर्धनों, असहायों, आपद्ग्रस्त प्रजा की सेवा करना, गौरक्षा, संस्कृति एवं शिक्षा के प्रचार प्रसार को आप अपना धर्म मानते हैं। –सम्पादक]

यह जानकर अत्यधिक प्रसन्नता हुई कि पूज्य आचार्य अग्निव्रत नैष्ठिक जी, जिन्होंने वर्षों की तपस्या के पश्चात् परमात्मा की असीम प्रेरणा से **ऐतरेय ब्राह्मण** का वैज्ञानिक भाष्य **''वेदविज्ञान-आलोकः''** विश्व में प्रथमतया पूर्ण कर लिया है। आपका यह कार्य महर्षि दयानन्द सरस्वती जी के अधूरे स्वप्न को पूरा करने में आधार स्तम्भ का कार्य करेगा तथा संसार के मनुष्यों में फिर से वेदों के प्रति श्रद्धा एवं अनुराग उत्पन्न करेगा।

प्रयोग एवं प्रेक्षण के द्वारा सृष्टि उत्पत्ति के गूढ़ रहस्यों को जानने की सामर्थ्य की एक सीमा होने के कारण, वर्तमान भौतिक विज्ञान वैदिक विज्ञान के द्वारा ही इन रहस्यों को पूर्णता से जान सकता है। इस कार्य से वर्तमान भौतिक विज्ञान को एक नई दिशा मिलने के साथ भौतिकी के शोध छात्रों को अनुसंधान करने में नूतन मार्गदर्शन मिल सकेगा। इस भाष्य से वैदिक वाङ्मय के ऊपर लगे नरबलि, पशुबलि, मांसाहर आदि पापों के आरोपों से मुक्ति मिल सकेगी।

मैं आचार्य जी की वैज्ञानिक प्रतिभा, तर्क व ऊहाशक्ति से निकटता से परिचित हूँ। मैंने आपके अनेक लेखों को पढ़ा है तथा आपको अनेक शीर्ष वैज्ञानिकों के साथ घंटों तक संवाद करते देखा है। मैं आपके व्यक्तिगत जीवन से भी निकटता से परिचित हूँ। आप सरल, निष्कपट, सरल एवं सत्यवक्ता तथा सर्वहित की भावना रखने वाले सादगी प्रिय व्यक्ति हैं। मैं आप में प्राचीन ऋषि-महर्षियों से लेकर महर्षि दयानन्द के प्रति अपार श्रद्धा एवं निष्ठा देखता रहा हूँ। वेदों के दृढ़ अनुयायी एवं वेदार्थ गूढ़ रहस्यों को स्वयं ही समझने की अद्भुत क्षमता से सम्पन्न होने के कारण आप वर्तमान में किसी ऋषि-महर्षि से कम नहीं हैं।

मैं इस विशालकाय एवं अद्भुत ग्रन्थ के भाष्य के लिए आचार्य जी को सहृदय से शुभकामनाएं देता हूँ तथा ईश्वर से उनके दीर्घायुष्य एवं उत्तम स्वास्थ्य की कामना करता हूँ। इस ग्रन्थ के द्वारा भारत में लुप्त वैदिक विज्ञान का पुनः उदय प्रारम्भ होवें, यही कामना है।

सभी शुभकामनाओं सहित

सम्पादकीय

मेरा जन्म मुजफ्फरनगर (उत्तर प्रदेश) के मेघाखेड़ी गांव में एक आर्य समाजी परिवार में हुआ। मेरे दादा जी चौधरी श्री महाशय इकराम सिंह जी समर्पित आर्य समाजी व मिशनरी भावना वाले प्रचारक थे और मेरी माताजी श्रीमती गीता आर्या एवं पिताजी श्री यशवीर सिंह आर्य भी दृढ़ ऋषि-भक्त हैं। यही मेरे प्रथम गुरु हैं, मैंने इनसे बहुत कुछ सीखा है। बचपन से ही मैं माता-पिता जी के साथ सत्संगों में जाने लगा था। अनेक विद्वानों को सुना, पर किसी भी विद्वान् के उपदेशों में वैदिक विज्ञान के बारे में कभी कुछ नहीं सुना। क्योंकि मैं विज्ञान का छात्र था, इसलिए मेरी इच्छा वैदिक विज्ञान के विषय में सुनने की रहती थी। तब मेरे मन में प्रश्न उठता था कि वेदों में विज्ञान है भी या नहीं? पिताजी से पूछा तो उन्होंने बताया ''वेदों में विज्ञान अवश्य है परन्तु उसे समझना इतना सरल नहीं है। प्रत्येक मंत्र के तीन प्रकार के अर्थ होते हैं- आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक, तुम्हारे प्रश्न का उत्तर आधिदैविक अर्थ से मिलेगा।'' तब मैंने पूछा कि कौन ऐसा विद्वान् है, जो मुझे आधिदैविक अर्थ बता सकता है? इसका उनके पास कोई जवाब नहीं था। उनकी भी इस विषय में रुचि होने के कारण वे मेरी इस समस्या के बारे में सोचते रहते थे।

जब मैं दिल्ली विश्वविद्यालय से भौतिक विज्ञान या ऐसा कहें कि संसार की आधुनिक विद्याओं में सबसे कठिन माने जाने वाले विषयों Theoretical Physics (String Theory, Astrophysics, Cosmology, Plasma Physics and Quantum Field Theory) में M.Sc. कर रहा था, तब पिता जी ने एक दिन पूज्य **आचार्य अग्निव्रत जी नैष्ठिक** के बारे में बताया, तो मेरा उनसे मिलने का मन हुआ। M.Sc. पूर्ण होने के बाद मैं उनसे मिला, 4 दिनों की चर्चा के पश्चात् मैं अत्यधिक प्रभावित हुआ। अब मैं अपने प्रश्नों के उत्तर उनसे पा सकता हूँ, यह सब सोच कर मैंने Ph.D. के लिए आवश्यक Entrance Clear करने तथा भारत के कई top research institutes से Interview के लिए Call आने के बाद भी यहाँ रहने का निर्णय माता-पिता जी की सहर्ष अनुमति से लिया।

यहाँ पर रह कर मैंने पूज्य आचार्य जी का जो कार्य देखा, वो अभूतपूर्व लगा। यह कार्य अब तक के भौतिक विज्ञान से बहुत आगे का है साथ ही अत्यंत जटिल व वर्तमान वैज्ञानिकों की सोच से बहुत परे का लगता है, यह बात मैं, जो मैंने अब तक पढ़ा और इंटरनेट के माध्यम से जो विश्व के अनेक वैज्ञानिकों के मुख से सुना, उसके आधार पर कह रहा हूँ। इस कार्य को देख कर हमारे प्राचीन ऋषियों की महान् वैज्ञानिक सोच एवं वेदों की ईश्वरीयता और सर्वविज्ञानमयता का परिचय मिलता है। यह कार्य अध्यात्म व भौतिक विज्ञान का अद्भुत मिश्रण है।

मैं बचपन से ईश्वर द्वारा सृष्टि के रचने, संचालन करने एवं प्रलय करने की बात सुनता रहा हूँ परन्तु कहीं कोई नहीं बताता कि वह ईश्वर ऐसा कैसे करता है? उसका क्रियाविज्ञान क्या है? **गुरुदेव के ऐतरेय ब्राह्मण का वैज्ञानिक भाष्य पढ़ कर मैं परमात्मा के यथार्थ स्वरूप तथा सृष्टि संचालन के क्रिया विज्ञान को गहराई से जान पाया हूँ।**

गुरुदेव को मैंने पिछले लगभग डेढ़ वर्ष से देखा व समझा है, उनके अंदर आर्य समाज, वेद एवं न केवल महर्षि दयानन्द जी अपितु समस्त प्राचीन ऋषि मुनियों, राष्ट्र तथा मानवता के प्रति गहरी आस्था को देखा है। वे अपने शरीर से अधिक समाज, राष्ट्र, वेद, ऋषियों के आदर्श व विश्व मानवता की चिंता करते हैं। यहाँ आने पर मुझे गुरुदेव से बहुत कुछ सीखने को मिला, नियमित, व्यवस्थित

दिनचर्या, ध्यान, योग, प्राणायाम, क्रोध को जीतना आदि। मुझे उनसे विज्ञान के प्रति नई दृष्टि के साथ-२ अत्यधिक स्नेह वात्सल्य प्राप्त हुआ। आपका स्वभाव बहुत ही सरल, सहज एवं ऋषि तुल्य है और जो आपने ऋषि मुनियों के लुप्त वैदिक विज्ञान को यथावत समझकर पूर्नजीवित किया है तथा भौतिकी के कई जटिल concepts को ध्यानावस्था में परमपिता परमात्मा की प्रेरणा से जानकर संसार के सामने उद्घाटित किया है, इस कारण भविष्य में आपको महर्षि अग्निव्रत नाम से जाने जायें, ऐसी मेरी कामना है।

यह ग्रन्थ ऋग्वेद के ब्राह्मण ग्रन्थ ऐतरेय ब्राह्मण का वैज्ञानिक भाष्य है। ऐतरेय ब्राह्मण अब से लगभग ७००० वर्ष पुराना माना जाता है। यह ग्रन्थ महर्षि ऐतरेय महीदास ने लिखा था। इसको पूर्णतः समझे बिना ऋग्वेद को समझना संभव नहीं है। इसमें सम्पूर्ण सृष्टि विज्ञान का संक्षिप्त विवरण है लेकिन कुछ सीमा तक इसे वर्तमान विज्ञान की दृष्टि में अति विस्तृत भी मान सकते हैं। सभी आर्ष ग्रन्थों में इसकी भाषा शैली सबसे क्लिष्ट और रहस्यमय है, इसी कारण हजारों वर्षों से कोई भी विद्वान् इसका यथार्थ विज्ञान समझ नहीं पाया और इसे केवल कर्मकाण्ड का ग्रन्थ मान लिया गया और कर्मकाण्ड भी हिंसा, क्रूरता, पशुबलि आदि पापों से भरा हुआ। ऐसे रहस्यमय ग्रन्थ का वैज्ञानिक भाष्य विश्व में सर्वप्रथम पूज्य गुरुदेव आचार्य अग्निव्रत जी नैष्ठिक ने किया। यह भाष्य करने में गुरुदेव को लगभग साढ़े आठ वर्ष का समय लगा। इस अन्तराल में उन्हें अपने गिरते स्वास्थ्य एवं विरोधियों द्वारा उत्पन्न अनेक बाधाओं से संघर्ष करना पड़ा। कठिन परिश्रम तथा तप करने के पश्चात् इस ग्रन्थ को लिखकर आपने संसार पर एक बहुत बड़ा उपकार किया है, इसके लिए यह संसार आपका ऋणी रहेगा। न्यास की छोटी से लेकर बड़ी सभी व्यवस्थाओं का ध्यान रखते हुए भी बिना किसी सहायता के एकाकी रहकर भाष्य करते रहे। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि ऋषि मुनियों के प्रति श्रद्धा, पूर्व जन्मों के आधार से प्राप्त बुद्धि, ईश्वरीय प्रेरणा, यम-नियमों का कठोर पालन एवं पूर्ण निष्काम भाव से किया गया पुरुषार्थ ही इस महान् सफलता का कारण है।

प्यारे भाइयो! आप जब इस ग्रन्थ पर दृष्टि डालेंगे, तब आपको निश्चित रूप से आभास होगा कि हमारे ऋषि मुनि अदभुत वैज्ञानिक क्षमता से सम्पन्न पुरुष थे। वे भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही क्षेत्रों में विशेषज्ञता को प्राप्त करके सम्पूर्ण विश्व का सर्वांगीण विकास करने में सक्षम थे। इस कारण मेरा आपसे निवेदन है कि आप वर्तमान शिक्षा में उच्च योग्यता प्राप्त करने के साथ-२ इस वैदिक विज्ञान के क्षेत्र में भी पुरुषार्थ करके देखें, तो निश्चित ही जहाँ आपकी प्रतिभा में निखार आयेगा, वहीं आपको आन्तरिक आनन्द की अनुभूति के साथ-२ आपके हृदय में नया राष्ट्रीय स्वाभिमान भी जागेगा।

सौभाग्य से इसके संपादन एवं सम्पूर्ण साज-सज्जा (Design) का दायित्व मुझे सौंपा गया। मुझे यह कार्य करके अत्यधिक प्रसन्नता तथा गर्व का अनुभव हुआ है। मैंने इस ग्रन्थ को एकाग्रतापूर्वक पढ़ा व समझा, जहाँ पर संभव हो सका, सृष्टि प्रक्रिया की कल्पना कर महत्वपूर्ण Diagrams बनाये। **''वेदविज्ञान-आलोक''** (ऐतरेय ब्राह्मण की वैज्ञानिक व्याख्या) केवल सृष्टि उत्पत्ति का ही विज्ञान नहीं बल्कि सृष्टि विज्ञान के विभिन्न पक्षों यथा- Astrophysics, Cosmology, String theory, Particle Physics, Atomic and Nuclear Physics आदि का विवेचक ग्रन्थ है। इसमें एक ऐसे विज्ञान का प्रकाश किया गया है, जिसके विषय में भौतिक वैज्ञानिक अभी सोच भी नहीं पाये हैं और शायद न कभी सोच पायेंगे, क्योंकि इस ग्रन्थ में जिन छन्द-प्राणादि रश्मियों अथवा वेद की ऋचाओं का वर्णन किया गया है, वे आधुनिक विज्ञान की सीमा (Planck Length) से भी बहुत सूक्ष्म हैं। Instruments अथवा Modern technology से शायद ही कभी इतने सूक्ष्म स्तर पर जाकर जाना जा सकेगा। इस ग्रन्थ से आधुनिक विज्ञान को एक नई दिशा मिलने के साथ ही भौतिक विज्ञान की अनेकों अनसुलझी समस्याओं का समाधान हो जाएगा।

जो महानुभाव ये तर्क देते हैं कि वैदिक विज्ञान केवल theoretical और philosophical ही है, इससे कोई practical और observation नहीं हो सकते। उन्हें मैं कहना चाहूँगा कि यदि आप निष्पक्ष भाव से वर्तमान भौतिकी को देखेंगे, तो आप पाएंगे कि एक सीमा के बाद अधिकांश बातें काल्पनिक, philosophical और कुछ बातें तो नितांत मूर्खतापूर्ण ही प्रतीत होंगी, जिनका कोई समधान किसी के

पास नहीं मिलता, ऐसा मैं अपने अनुभव से कह रहा हूँ। तारों की संरचना, गैलक्सी आदि के विषय में इस ग्रन्थ के आधार पर observations संभव हैं। भविष्य में technology के अपेक्षित विकास होने के पश्चात् वैदिक भौतिकी में भी अनेकों आश्चर्यजनक प्रयोग हो सकते हैं। विज्ञान का प्रारम्भ theory से ही होता है और theory ही किसी भी विज्ञान का मूल है। जितने भी practical हुए हैं, उनके पीछे कोई न कोई theory अवश्य है। Theory के बिना विज्ञान एक कदम आगे नहीं बढ़ सकता। यदि अपूर्ण theory के बल पर विज्ञान और तकनीक ने आगे बढ़ने की कोशिश की, तो इसके परिणाम भयावह होते हैं, ऐसा आप इस समय सम्पूर्ण विश्व में देख रहे हैं। पूर्ण और यथार्थ theory के आधार पर विकसित technology सदैव निरापद एवं सर्वहितकारिणी होती है।

आज संसार में अज्ञानता का घोर अंधकार सा छा रहा है। ईर्ष्या, द्वेष, अंधविश्वास आदि प्रवृत्तियां मनुष्यों में बढ़ती जा रही हैं। संसार विभिन्न सम्प्रदायों में बंट गया है। हर किसी का ईश्वर अलग है और संसार का एक बड़ा वर्ग तो ईश्वर की सत्ता को ही नकारता है, और ऐसे लोगों की संख्या में वृद्धि होती ही जा रही है। वैज्ञानिक तो अधिकांशतः नास्तिक ही हैं। मेरे अनुसार इन सब समस्याओं का कारण परमात्मा एवं वेदों के सही स्वरूप को न जानना ही है। **मैं विश्वास करता हूँ कि इस ग्रन्थ को पढ़ कर हम परमात्मा के वैज्ञानिक स्वरूप को जान सकेंगे। हम जान सकेंगे कि परमात्मा ने कैसे इस सृष्टि की उत्पति की है तथा कैसे इसका संचालन कर रहा है?** इसके अलावा इस ग्रन्थ में हम जानेंगे कि-

1. Force, Time, Mass, Charge, Space, Energy, Gravity, Graviton, Dark Energy, Dark Matter, Mass, Vacuum Energy, Mediator Particles आदि का विस्तृत विज्ञान क्या है? इनका स्वरूप क्या है? यह सर्वप्रथम कैसे बनते है? सृष्टि प्रक्रिया में इनका क्या योगदान है?
2. जिन्हें संसार मूल कण मानता है, उनके मूल कण न होने का कारण तथा इनके निर्माण की प्रक्रिया क्या है?
3. अनादि मूल पदार्थ से सृष्टि कैसे बनी? प्रारम्भ से लेकर तारों तक के बनने की विस्तृत प्रक्रिया क्या है? Big Bang Theory क्यों मिथ्या है? क्यों Universe अनादि नहीं है, जबकि इसका मूल पदार्थ अनादि है?
4. वेद मंत्र इस ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्याप्त विशेष प्रकार की तरंगों (Vibrations) के रूप में ईश्वरीय रचना है। ये कैसे उत्पन्न होते हैं?
5. इस ब्रह्माण्ड में सर्वाधिक गतिशील पदार्थ कौनसा है?
6. गैलेक्सी और तारामंडलों के स्थायित्व का यथार्थ विज्ञान क्या है?
7. वैदिक पंचमहाभूतों का स्वरूप क्या है?
8. संसार में सर्वप्रथम भाषा व ज्ञान की उत्पत्ति कैसे होती है?
9. भौतिक और अध्यात्म विज्ञान, इन दोनों का अनिवार्य सम्बंध क्या व क्यों है?
10. ईश्वर सृष्टि की प्रत्येक क्रिया को कैसे संचालित करता है?
11. ''ओम्'' ईश्वर का मुख्य नाम क्यों है? इसकी ध्वनि इस ब्रह्माण्ड में क्या भूमिका निभाती है?

ऐसे ही अनेकों प्रश्नों के उत्तर आपको इस ग्रन्थ में मिलेंगे। इस ग्रन्थ से-

1. ब्रह्माण्ड के सबसे जटिल विषय Force, Time, Space, Gravity, Graviton, Dark Energy, Dark Matter, Mass, Vacuum Energy, Mediator Particles आदि के विज्ञान को विस्तार से समझा सकेंगे।
2. ब्रह्माण्ड के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए एक नई Theory (Vaidic Rashmi Theory) दे सकेंगे। Vaidic Rashmi Theory में वर्तमान की सभी Theories के गुण तो होंगे परन्तु उनके दोष नहीं होंगे।
3. आज Particle Physics असहाय स्थिति में है। हम वर्तमान सभी Elementary Particles व Photons की संरचना व उत्पत्ति प्रक्रिया को समझा सकेंगे।
4. वैज्ञानिकों के लिए 100-200 वर्षों के लिए अनुसंधान सामग्री दे सकेंगे।

5. इस ग्रन्थ से सुदूर भविष्य में एक अद्‌भुत् भौतिकी का युग प्रारम्भ हो सकेगा, जिसके आधार पर विश्व के बड़े-२ टैक्नोलॉजिस्ट नवीन व सूक्ष्म टैक्नोलॉजी का विकास कर सकेंगे।
6. प्राचीन आर्यावर्त (भारतवर्ष) में देवों, गन्धर्वों आदि के पास जिस टैक्नोलॉजी के बारे में सुना व पढ़ा जाता है, उसकी ओर वैज्ञानिक अग्रसर हो सकेंगे।
7. हम जानते हैं कि विज्ञान की विभिन्न शाखाओं यथा- रसायन विज्ञान, जीव विज्ञान, भूगर्भ विज्ञान, पर्यावरण विज्ञान, आयुर्विज्ञान आदि का मूल भौतिक विज्ञान में ही है। इस कारण वैदिक भौतिकी के इस अभ्युदय से विज्ञान की अन्य शाखाओं के क्षेत्र में भी नाना अनुसंधान के क्षेत्रों में क्रान्तिकारी परिवर्तन आ सकेगा।
8. वैदिक ऋचाओं का वैज्ञानिक स्वरूप एवं इससे सृष्टि के उत्पन्न होने की प्रक्रिया ज्ञात हो सकेगी।
9. वेद विज्ञान अनुसंधान की जो परम्परा महाभारत के पश्चात् लुप्त हो गयी थी, वह इस भाष्य से पुनर्जीवित हो सकेगी।
10. संस्कृत भाषा विशेषकर वैदिक संस्कृत को **ब्रह्माण्ड की भाषा** सिद्ध किया जा सकेगाा।
11. भारत विश्व को एक सर्वथा नयी परन्तु वस्तुतः पुरातन, अदभुत वैदिक फिजिक्स दे सकेगा, इसके साथ ही वेद एवं आर्ष ग्रन्थों के पठन-पाठन परम्परा को भी नयी दिशा मिल सकेगी।
12. इससे वेद तथा ऋषियों की विश्व में प्रतिष्ठा होकर भारत वास्तव में जगद्‌गुरु बन सकेगा।
13. हमारा **अपना विज्ञान अपनी भाषा में ही होगा, इससे भारत बौद्धिक दासता से मुक्त होकर नये राष्ट्रीय स्वाभिमान से युक्त हो सकेगा।**
14. इस कारण भारतीयों में यथार्थ देशभक्ति का उदय होकर भारतीय प्रबुद्ध युवाओं में राष्ट्रीय एकता का प्रबल भाव जगेगा।
15. यह सिद्ध हो जाएगा कि **वेद ही परमपिता परमात्मा का दिया ज्ञान है तथा यही समस्त ज्ञान विज्ञान का मूल स्रोत है।**

इस कारण मेरी विश्व के वैज्ञानिकों से विनती है कि वे इस ग्रन्थ को हल्केपन से न लें बल्कि गम्भीरता से पढ़ने का प्रयास करें, तब उन्हें अवश्य ही मेरे कथन की यथार्थता का अनुभव होगा।

इसी आशा के साथ

विशाल आर्य (अग्नियश वेदार्थी), उपाचार्य
(वैदिक एवं आधुनिक भौतिक विज्ञान शोध संस्थान)
वेद विज्ञान मंदिर

मेरा संक्षिप्त परिचय एवं कृतज्ञता ज्ञापन

परिवार परिचय व जन्म स्थान

मेरा जन्म उत्तरप्रदेश के हाथरस जनपद, जो पूर्व में अलीगढ़ जनपद के अन्तर्गत आता था, के **ऐंहन ग्राम** में भाद्रपद कृष्णा ६, विक्रमी संवत् २०१६ (विद्यालय प्रमाणपत्र के अनुसार १०.१०.१९६२) को हुआ था। मेरा बचपन का नाम प्रदीप था। यह ऐतिहासिक ग्राम अतिप्राचीन है। एक जनश्रुति के अनुसार इस ग्राम की स्थापना कभी राजा अहिवरन सिंह ने की थी। मेरे पूर्वज अनेक शताब्दियों पूर्व चित्तौड़गढ़ से उत्तरप्रदेश में जाकर बस गये थे। वे चित्तौड़ के प्रसिद्ध सिसोदिया क्षत्रिय वंश में उत्पन्न हुए थे। मेरे प्रपितामह श्रीमान् देवीसिंह सिसोदिया महर्षि दयानन्द सरस्वती के समय ही आर्य समाजी बने थे, ऐसा अनुमान होता है। **जब महर्षि दयानन्द सरस्वती हाथरस नगर में पधारे थे, उस समय मेरे प्रपितामह युवक होंगे। एक किंवदन्ती के अनुसार मेरे ग्राम में आर्य समाज की स्थापना लगभग महर्षि दयानन्द सरस्वती के समय किंवा तत्काल पश्चात् ही हुई होगी।** इसके साथ ही यह भी सुना जाता है कि उन्हीं दिनों आर्य समाज के उत्सव पर एक कुष्ठरोग पीड़ित व्यक्ति अकस्मात् रोता हुआ आया, जो कह रहा था, ''मैंने ही महर्षि दयानन्द सरस्वती जैसे महान् व्यक्ति को विष दिया था। मैं बहुत पापी हूँ...... ।'' इस घटना से ऐंहन ग्राम के आर्य समाज की प्राचीनता प्रमाणित होती है। कालान्तर में मेरा **परिवार तथा ग्राम प्रख्यात आर्यनेता अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती के शुद्धि आन्दोलन तथा स्वतन्त्रता संग्राम से जुड़ गया।** प्रपितामह श्री देवीसिंह के पांच पुत्र थे- श्री पदमसिंह, श्री गजासिंह, श्री घनश्यामसिंह, श्री सज्जनसिंह एवं श्री सुजानसिंह। इनमें आयु के अनुसार क्रमशः ज्येष्ठ से कनिष्ठ के रूप में ये नाम दिये गये हैं। प्रपितामह श्री देवीसिंह आर्य समाज के इतने कट्टर अनुयायी थे कि अपने ज्येष्ठतम पुत्र श्री पदमसिंह, जो लगभग २०-२५ वर्ष की आयु के थे, ने यज्ञ से पूर्व एक बार भोजन कर लिया। तब उन्होंने उनको इतना दण्डित किया कि श्री पदमसिंह अपनी विवाहिता धर्मपत्नी को घर पर ही छोड़कर अंग्रेजों के साथ दक्षिण अफ्रीका चले गये, जहाँ उन्होंने साथ गये फर्रुखाबाद (उ.प्र.) के राठौरों (राठौड़) की एक कन्या से दूसरा विवाह कर लिया। **वहाँ रहकर वे उस समय मोहनदास कर्मचन्द गांधी, जो बाद में भारत में महात्मा उपाधिधारी हुए, के साथ अंग्रेजों की रंगभेदनीति के विरुद्ध आन्दोलन में कूद गये। वे एवं गांधीजी दोनों ही कारागार में एक ही कोठरी में बन्द रहे और अंग्रेजों की यातनाएं सहीं।** वे गांधी जी से आयु में लगभग १० वर्ष कनिष्ठ होंगे, ऐसा सुना है। स्वभावतः उन दोनों में बहुत निकटता थी। उनके पांच पुत्र हुए जिनमें से सबसे ज्येष्ठ श्री रणजीतसिंह भारत आकर बस गये तथा कराची में वायसराय कार्यालय में हैड क्लर्क के पद पर नियुक्त हुए तथा अखण्ड भारत में राज्य स्तर के क्रिकेट में अम्पायर रहा करते थे। उनके अन्य भाई श्री भारतसिंह, श्री प्रतापसिंह, श्री रघुवीरसिंह व श्री अमरसिंह एवं बहिन शान्तिदेवी आदि दक्षिण अफ्रीका, इंग्लैण्ड एवं अमेरिका में जाकर बस गये, जिनके परिवार अभी भी वहीं हैं। ध्यातव्य है कि दक्षिण अफ्रीका जाने के पश्चात् ज्येष्ठ पितामह श्री पदमसिंह तीन बार भारत आये। एक बार कुछ वर्ष यहाँ रहे। उस समय उनके तीन सुपुत्र श्री भारतसिंह, श्री रघुवीरसिंह एवं श्री अमरसिंह अपने ग्राम के निकटवर्ती तीन जमींदारों के यहाँ दीवान के पद पर कार्यरत रहे, क्योंकि उन दिनों उस सम्पूर्ण क्षेत्र में अन्य कोई अंग्रेजी भाषा को समझने वाला नहीं था। इनके एक भाई श्री प्रतापसिंह दक्षिण अफ्रीका में अंग्रेजी सेना में थे, जो सम्भवतः द्वितीय विश्वयुद्ध में मारे गये, ऐसा सुना जाता है। श्री रणजीतसिंह के पुत्र श्री इन्द्रजीतसिंह, जो मेरे भाई थे, सेना में मेजर के पद पर कार्यरत रहे तथा उनका विवाह देहरादून राजपरिवार की राजकुमारी के साथ हुआ, जो कालान्तर में विच्छेद में परिवर्तित हो गया। **मेरे सगे पितामह श्री घनश्याम सिंह थे, जो कुशल वैद्य तथा पहलवान थे। उनके अनुज श्री सज्जनसिंह आर्य समाज के साथ-२ अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्षरत प्रजामण्डल के यायावर उपदेशक थे। वे गुप्त रूप से रात्रि वा दिन में जनता में स्वाधीनता के प्रति क्रान्ति का शंखनाद करते थे। वे अच्छे आर्य-भजनोपदेशक थे। उन दिनों ऐंहन ग्राम आर्य समाज के साथ-२ प्रजामण्डल का अनेक गांवों का बड़ा केन्द्र था।** इसके सक्रिय कार्यकर्ताओं में श्री सज्जन सिंह के अतिरिक्त मेरे ही कुटुम्बी ताऊजी श्री विक्रमसिंह तथा एक ब्राह्मण परिवार से श्री सुजान शर्मा थे। ये दोनों ही महानुभाव आजन्म ब्रह्मचारी रहे। **श्री विक्रमसिंह अपने क्षेत्र में तपस्वी देवतारूप सन्तपुरुष थे।** ये कई दशक तक हाथरस के ब्लॉकप्रमुख रहे। इनके पिता श्री बलवन्तसिंह ने विलोखरी गांव बसाया।

इनके अतिरिक्त ग्राम व कुटुम्ब में अन्य स्वतंत्रता सेनानियों में श्री बहोरी सिंह एवं श्री पं. नथाराम शर्मा भी सम्मिलित हैं। श्री पं. नथाराम शर्मा के अतिरिक्त अन्य सभी आर्य समाजी ही थे। इनके अतिरिक्त सेठ श्री रामप्रसाद वार्ष्णेय, श्री यशोधन सिंह आदि उस समय आर्य समाज के क्रान्तिकारी पुरोधा थे। उसी समय श्री पं. प्यारेलाल शर्मा एवं श्री पं. बलभद्र शर्मा दोनों अपने क्षेत्र के बड़े आर्य विद्वान् माने जाते थे। मेरे परिवार में सम्बन्ध की दृष्टि से दो ताऊजी श्री जयदेव एवं श्री भद्र गुरुकुल से स्नातक थे। **उस समय आर्य समाज के राष्ट्रिय क्रान्तिकारी व्यक्तित्व मास्टर आत्माराम अमृतसरी, कुंवर सुखलाल आर्य मुसाफिर एवं शास्त्रार्थ महारथी अमर स्वामी आदि का आगमन होता रहता था, जो आर्य समाज के साथ-२ अंग्रेजों के विरुद्ध क्रान्ति की मशाल जलाने का काम करता था।** इनमें से मास्टर आत्माराम अमृतसरी वह व्यक्ति हैं, जिन्हें बड़ौदा नरेश सयाजीराव गायकवाड़ तथा कोल्हापुर नरेश शाहूजी महाराज अपना मित्र माना करते थे तथा इन्हीं के आग्रह पर इन नरेशों ने उस समय भीमराव नामक एक दलित युवक को पढ़ाने के साथ विशेष स्नेह-सहयोग दिया। यही युवक कालान्तर में **डॉ. भीमराव अम्बेडकर** नाम से प्रसिद्ध हुआ।

मेरे पितामह श्री घनश्याम सिंह के पांच पुत्र हुए। ये हैं- श्री भगवान् सिंह, श्री गोपालसिंह, श्री इन्द्रपाल सिंह, श्री नवाबसिंह एवं श्री प्रतापसिंह। इनमें मेरे पिताजी श्री इन्द्रपाल सिंह थे तथा मेरी माताजी का नाम श्रीमती ओम्वती देवी था। ताऊजी श्री गोपालसिंह ब्रह्मचारी रहे। मेरे पिता साधारण तथा अशिक्षित कृषक थे परन्तु इतिहास की कथाएं हमें बहुत सुनाते थे। मेरी माता दिव्यगुणवती गृहणी थीं, जिनका कभी कोई विवाद किसी से होते मैंने प्रायः नहीं देखा। वे अत्यन्त अल्प शिक्षित होते हुए भी मेरी प्रथम गुरु थीं। मैं शैशव काल से ही रुग्ण रहा करता था। मेरे माता पिता ने अनेकविध कष्ट सहकर मुझे पाला व पढ़ाया। मेरे चाचाजी श्री नवाबसिंह बड़े स्वाध्यायशील कवि थे। मैंने उनसे बहुत कुछ सीखा। एक अन्य चाचाजी, जो कनिष्ठ पितामह श्री सज्जनसिंह के पुत्र थे, श्री सूबेदार सिंह भी कवि थे। मेरी मौसीजी श्रीमती गिरिजा देवी, जो सम्बन्ध में चाचीजी भी थीं तथा सबसे ज्येष्ठ भाभी श्रीमती आशा देवी का भी मुझे पुत्रवत् स्नेह मिला। अन्य परिजनों में चाचीजी श्रीमती वीरवती देवी, फूफाजी श्री शिवदानसिंह एवं परिवार में अग्रजा बहिन श्रीमती मुन्नी देवी, ताऊजी श्री बलवीरसिंह, चाचाजी श्री गुरुदत्तसिंह, ज्येष्ठ भ्राता श्री महावीर सिंह सिसोदिया, ताऊजी श्री महेन्द्रसिंह, भ्राता श्री राजवीर सिंह प्रधानाचार्य आदि का भी स्नेह मैं पाता रहा। मैं ताऊजी श्री रणवीर सिंह चौहान (रामपुर) (पिताजी के फुफेरे भ्राता) एवं नगौला (अलीगढ़) के श्री कंचन सिंह जैसे आर्य पुरुषों तथा आर्योपदेशकों में श्री महात्मा नारायण स्वामी, क्रान्तिकारी (एटा), श्री रामसिंह विद्यालंकार 'वीरकवि' (अलीगढ़) एवं श्री पं. ब्रह्मदेव शास्त्री (अलीगढ़) से भी बाल्यावस्था में प्रेरित रहा हूँ। मुझे अपने सभी अध्यापकों तथा परिवार में काम करने वाले कर्मकारों का भी बहुत स्नेह मिलता रहा। किसी प्रारब्धवश **सत्य, अहिंसा एवं अस्तेय इन तीन यमों का पालन मेरा जन्मजात स्वभाव था। मैं किसी के भी बहकावे, आग्रह वा दबाव के उपरान्त भी असत्य भाषण नहीं करता था।** मेरे पड़ौस में रहने वाली, जो गांव के सम्बन्ध से मेरी दादी के समान थीं, श्रीमती फूलवती देवी शर्मा (अध्यापिका) मुझे पूर्वजन्म का कोई ऋषि कहा करतीं और मुझसे बहुत स्नेह किया करती थीं। मैं उनका व उनके सुपुत्र श्री दिनेशचन्द्र शर्मा एवं उनकी पुत्री श्रीमती शिवदेवी तथा दामाद श्री राधाचरण उपाध्याय, जो मेरे बुआ व फूफा के समान थे, का बहुत ऋणी हूँ, जिन्होंने सदैव ही पारिवारिक वातावरण मुझे प्रदान किया। मैं अपने पड़ौसी पितामहतुल्य श्री पं. हरिशंकर शर्मा से ग्राम की प्राचीन जानकारी लेता रहा तथा एक विद्वान् श्री पं. धर्मेन्द्रशर्मा शास्त्री से भी कुछ प्रेरित रहा। वस्तुतः मैं सभी गांव व मुहल्ले वालों का स्नेह का पात्र रहा। इनमें श्री सत्यदेव शर्मा, श्री वीरपाल शर्मा, श्री बेनीराम शर्मा, श्री छोटेलाल वर्मा स्वर्णकार, श्री शान्तूपाल गुप्ता, श्री उदयवीरसिंह चौहान, श्री सूरजपालसिंह चौहान, श्री प्रेमसिंह चौहान, श्री पं. तेजपाल शर्मा, श्री सुरेन्द्र शर्मा (कबाड़ी बाबा) श्री राजेन्द्र शर्मा, श्री प्रकाश शर्मा, श्रीयुत श्रीवल्लभ गुप्ता, श्री दानसहाय कछवाहा, वैद्य नरेन्द्रपाल शर्मा एवं अध्यापक श्री सत्यदेव शर्मा (भोपतपुर) आदि प्रमुख हैं। मैं इन सबका आभारी हूँ। गांव में मेरा कभी किसी से विवाद नहीं होता था। मैंने अपने ग्राम के विषय में अधिकांश ज्ञान प्राप्त किया है, अपने चचेरे भाई श्री अशोकजी एवं श्री प्रमोदजी, जो दोनों ही मुझसे ज्येष्ठ हैं, तथा ज्येष्ठ ताऊजी श्री भगवान् सिंह तथा उनके पुत्र, मेरे भ्राता, जो आयु की दृष्टि से मुझसे लगभग २० वर्ष बड़े थे, श्री योगेन्द्र सिंह से। तीन यमों के अतिरिक्त अपरिग्रह की दृष्टि से भी मैं प्रायः अनुकूल ही था। हाँ, सामान्यतः **ब्रह्मचर्य के विषय में कोई भी शिक्षा न तो परिवार से मिलती है और न विद्यालयों से,** इसी कारण मैं भी इससे सर्वथा अनभिज्ञ रहा। इस कारण एतद्विषयक कुछ दोष मुझमें भी विद्यमान थे। पुनरपि ईशकृपा से मैंने

बचपन से लेकर अब तक की आयु में बहुत कम आयु में परिवार की कन्याओं व बालकों के साथ खेलने के अतिरिक्त स्वप्न में भी किसी कन्या का स्पर्श तक नहीं किया, तब कामकथा का कहना ही क्या? एतदर्थ मैं परमपिता परमात्मा का कोटिशः आभारी हूँ। मैं बचपन से ही स्वादलोलुप एवं अन्य परिवारीजनों की अपेक्षा कुछ भीरु प्रवृत्ति वाला, शिष्टाचारपरायण, कृश, रोगी परन्तु स्वाभिमानी बालक था। अध्ययन करके एक महान् भौतिक विज्ञानी बनने का स्वप्न देखा करता था। इस कारण ब्रह्मचर्यादि विषय में कुछ जानने, पढ़ने का अवसर ही नहीं था। भौतिक विज्ञान एवं गणित मेरी असीम रुचि के विषय थे। ग्यारहवीं कक्षा का विद्यार्थी रहते हुए मैं राजयक्ष्मा रोग (टी.बी.) से ग्रस्त हो गया, लगभग ढाई वर्ष इसी रोग से अति कष्ट पाता रहा। मेरे माता-पिता ने अपना धन बर्बाद करके भी मुझे बचाया और स्वस्थ किया। यद्यपि परिवार आर्यसमाजी होने से मूर्तिपूजा, अवतारवाद, भूत-प्रेत, तन्त्र-मन्त्र आदि अन्धविश्वासों से मैं दूर था परन्तु अपनी पाठ्यपुस्तकों के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की कोई पुस्तक पढ़ने का मेरे पास न तो अवकाश था और न रुचि ही। वैसे पिताजी अशिक्षित होने के कारण मेरे परिवार में वैदिक साहित्य था भी नहीं। बहिन, भाइयों में मैं सबसे बड़ा था। छः बहिन तथा तीन भाई थे। इस समय दो बहिनें श्रीमती ऊषा देवी व श्रीमती ऋचा (रीना) जीवित हैं तथा दो भाई जितेन्द्रसिंह तथा सन्दीपसिंह हैं। मेरी एक बहिन सुनीता आर्य समाज की कट्टर भक्त व प्रतिभासम्पन्न थी। मेरी तीन अन्य बहिनें मनोरमा, मधु एवं विनीता थीं। मैंने रोगकाल का वेग कुछ कम होने पर चाचाजी श्री नवाबसिंह के साथ किराने की दुकान में दो वर्ष काम किया। चाचाजी के पास दुकान पर कार्य करते हुए वैदिक साहित्य पढ़ता रहता। उसमें भी ब्रह्मचर्य सम्बन्धी कोई पुस्तक नहीं थी। एक दिन अकस्मात् दुकान पर रद्दी कागजों में ब्रह्मचर्य सम्बन्धी कुछ ज्ञान मिला, वह मेरे लिए सर्वथा नवीन था। इससे मेरे मन में भारी ग्लानि व भविष्य के प्रति एक नयी आशा का संचार हुआ।

जीवन का नया मोड़

उन्हीं दिनों मैं अपनी ननिहाल अपनी माताजी के साथ आर्य समाज के उत्सव में गया। मेरे नानाजी श्री महेन्द्रसिंह धाकरे, अपने अनुज तथा मेरे मामा श्री चन्द्रभानसिंह अपने चाचाजी श्री रुक्मपालसिंह धाकरे, जो अपने क्षेत्र के प्रसिद्ध आर्य समाजी सुधारक व सरपंच थे, से प्रेरित थे। श्री रुक्मपालसिंह आर्ष गुरुकुल, यज्ञतीर्थ, एटा (उ.प्र.) से जुड़े थे तथा प्रायः आर्योपदेशकों को बुलाकर अपने ही व्यय से उत्सव व भोज कराया करते थे। सारा ग्राम आर्य समाज से प्रभावित था। मैंने सम्भवतः जून १९७९ में उस उत्सव में मंच से एक घोषणा सुनी। वक्ता बोल रहा था- ''जीवन को बदलने वाली पुस्तक मात्र ढाई रुपए में।'' मैं प्रायः परिग्रही नहीं था। अपनी नानीजी से हठात् ढाई रुपया मांगकर वह पुस्तक खरीद कर लाया। उसका नाम था **'सत्यार्थ प्रकाश'**। उसके पश्चात् मेरा रोग और प्रबल हो गया पुनरपि मैंने उसी रोग शैय्या पर पड़े उस पुस्तक को सम्भवतः २० दिन में पढ़ लिया। **उसे पढ़कर मुझे आर्य समाजी होने का ठीक-२ अर्थ विदित हुआ? मेरे मन में क्रान्तिकारी विचार उत्पन्न होने लगे तथा मैं महर्षि दयानन्द सरस्वती के उपकारों के तले स्वयं को दबा हुआ अनुभव करने लगा।**

शिक्षा व अभिरुचि

मैंने मन ही मन आजीवन ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा की पुनरपि भौतिक विज्ञान पढ़कर महान् वैज्ञानिक बनने का भी लक्ष्य बनाये रखा। मैं अपनी पाठ्यपुस्तकों को सदैव शंकित दृष्टि से पढ़ता। गणित व भौतिकी के सूत्रों को सिद्ध करके ही उनसे अभ्यास करना प्रारम्भ करता। पाठ्यक्रम से बाहर न्यूक्लियर, एटॅमिक, प्रकाश, विद्युत् आदि की मूलभूत समस्याओं के बारे में गम्भीर चिन्तन करता परन्तु अपने अध्यापकों को कभी नहीं बताता। मैं जानता था कि उनके उत्तर उनके पास नहीं हैं, इस कारण उन्हें अनुत्तरित करके अपमानित करना मुझे अच्छा नहीं लगता था। मैं अध्यापक ही नहीं अपितु अपने परिवार के विरोधी एवं कक्षा में अपने प्रतिस्पर्धी किसी साथी को कभी अपमानित व दुःखी देखना नहीं चाहता था। **मुझे स्मरण नहीं कि कभी मैं किसी को भी दुःखी व तिरस्कृत देखकर प्रसन्नता का अनुभव कर सका हूँ, हाँ, ऐसा होने पर दुःखी अवश्य हुआ हूँ, चाहे वह व्यक्ति मुझे दुःखी क्यों न करता हो।** इस कारण मैं अपने प्रश्नों को मन में ही दबाए रखता तथा कहीं से जानकारी मिलने पर रुड़की विश्वविद्यालय, जो उत्तर भारत का एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक केन्द्र है, के भौतिक विज्ञान विभाग से ही प्रश्न पूछता। मेरे अनेक प्रश्नों से विभाग निरुत्तरित रहता परन्तु मेरे प्रश्नों से उस विश्वविद्यालय के भौतिकी

की तत्कालीन रीडर डॉ. सी.एम. सिंघल बेहद प्रभावित होकर मुझे महान् भौतिक विज्ञानी बनने की प्रेरणा देते व ऐसी आशा भी व्यक्त करते। डॉ. सी.एम. सिंघल के मार्गदर्शन में Ph.D. कर रहे श्री राजवीरसिंह मेरे प्रश्नों से इतने प्रभावित हुए कि मुझ ११ वीं कक्षा के छात्र से व्यक्तिगत ऐसे सम्बन्ध बना लिया कि विवाह का प्रस्ताव रखा और भविष्य में रुड़की विश्वविद्यालय में पढ़ने का आग्रह किया। उस समय मैंने उन्हें आजीवन ब्रह्मचारी रहकर वैज्ञानिक बनकर भी आर्य समाज की सेवा के अपने संकल्प से अवगत कराया। इस पर उन्होंने मुझे समझाने का प्रयास किया, तो मैंने उन्हें आर्य समाज पर प्रश्न उठाने की चुनौती विनम्रतापूर्वक दे डाली, जिससे वे बहुत प्रभावित हुए। रोग दूर होने के पश्चात् मैंने कक्षा १२ वीं में प्रवेश लिया। तदुपरान्त हाथरस में बी.एससी. प्रथम वर्ष में प्रवेश लिया। दैव दुर्योगवशात् पारिवारिक समस्याओं के चलते मैं बी.एससी. को छोड़कर राजस्थान के पशुपालन प्रशिक्षण केन्द्र, उदयपुर में भर्ती होने को विवश हुआ। यह विभाग मेरी रुचि व प्रतिभा के सर्वथा प्रतिकूल था, साथ ही मुझे अंधेरे में रखकर मेरा राजस्थान के निवासी होने का मिथ्या प्रमाणपत्र दिया गया, जो मुझे प्रतिक्षण शूल की भांति चुभता रहा। यह एक लम्बी दुःखद कहानी है, जिसे लिखकर मैं इसे विस्तार देना उचित नहीं समझता। **जो मैं महान् भौतिक वैज्ञानिक बनने का स्वप्न देखता था तथा सत्य को प्राणवत् प्रिय मानता था, वही मैं पशुपालन की साधारण शिक्षा तथा मिथ्या प्रमाणपत्र से आहत होकर मैं सन्ध्या करते हुए दुःख के आंसू बहाता रहता।** मैंने उन्हीं दिनों झज्जर के श्री स्वामी ओमानन्द सरस्वती द्वारा लिखित पुस्तक 'ब्रह्मचर्य के साधन-भोजन' पढ़ी। इसे पढ़कर मैं हतप्रभ रह गया और रसनेन्द्रिय पर पूर्ण नियन्त्रण करके नमक, मिर्च, प्याज आदि मसालों का सर्वथा त्याग कर दिया। अपने उदयपुर अध्ययन काल में आर्य समाज, पिछोली के सम्पर्क में आया तथा २० दिसम्बर १९८१ को लगभग १९ वर्ष की आयु में सदस्य बना। मैं वहाँ प्रो. जयसिंह मेहता विद्यालंकार, प्रो. ब्रजमोहन जावलिया, प्रो. प्रेमचन्द गुप्त, प्रो. अमृतलाल तापडिया, श्री हरिनारायण शर्मा, श्री भंवरलाल जोशी आदि वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध आर्यजनों के स्नेह का पात्र बना, साथ ही स्वाध्याय व ऊहा के बल पर रविवारीय सत्संग में नियमित प्रवचन देने लगा। मेरे वहाँ रहते केवल मेरे ही प्रवचन होते रहे। मुझे वहाँ दमा (अस्थमा) रोग का प्रारम्भ हो गया, जो धीरे-२ आगामी वर्षों में अत्यधिक कष्टसाध्य होता चला गया।

राजकीय सेवा

मैं उन दिनों ईश्वर से पशुपालन विभाग में नौकरी न मिलने तथा पुनः बी.एस.सी. में प्रवेश लेने की परिस्थिति उत्पन्न करने की प्रार्थना करता रहता और सन्ध्या में रोता रहता। किन्तु २३ दिसम्बर १९८२ को सांचौर (जालोर) में पशुपालन में अपनी सेवा पशुधन सहायक के रूप में प्रारम्भ करने को विवश हुआ। सांचोर में मेरी भेंट उन दिनों पंचायत समिति कार्यालय में कैशियर पद पर कार्यरत श्री हरपालसिंह चौधरी, जो उ.प्र. में अलीगढ़ जिले के निवासी थे, से हुई, जो पारिवारिक मधुरता में बदल गयी। मैं उनका और उनके परिवार का बहुत ऋणी हूँ। वे मेरे पिता के समान थे पुनरपि वे मुझे बहुत आदर व श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। कालान्तर में उन्होंने मुझे पत्र में लिखा- ''हमारे परिवार में भगवान् के पश्चात् आपका ही स्थान है, भले ही आप मेरे ज्येष्ठ पुत्र से भी आयु में छोटे हैं।'' चौधरी साहब बड़े उदार, सज्जन व धर्मात्मा पुरुष थे। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती ईश्वर देवी भी मुझे माता के समान स्नेह करती थीं। मैं उन दिनों ध्यान-सन्ध्योपासन पर बहुत बल देने लगा। **बिना किसी अलार्म घड़ी के नियमित पौने चार घंटे ऐसा ध्यान लगाता, कि मुझे आनन्द के अतिरिक्त अन्य कुछ भान नहीं रहता।** उस समय मेरी अवस्था लगभग २० वर्ष की थी। **इस ध्यान से मेरे मन मस्तिष्क में भारी परिवर्तन हुआ। बचपन से भीरु स्वभाव वाला मैं साहसी तथा चुनौतियों का सामना करने में सक्षम हो गया।** उन दिनों मेरा निद्रा पर पूर्ण नियन्त्रण था तथा मेरी दिनचर्या को देखकर पड़ौसी समय का ज्ञान कर लेते थे। उन दिनों जान से मारने की किसी भी धमकी से दबाव में न आकर मैंने आर्य समाज का कार्य किया। उन दिनों सांचौर के आर्य समाज का कार्य करने हेतु आर्य समाज के कथित प्रधान से ही जान से मारने की धमकी सुनकर भी मैं, जो क्षेत्र में सर्वथा अनजान था, संघर्ष करता रहा और सफल भी हुआ। मैं उस समय किसी राजनेता, अपराधी तथा भ्रष्ट अधिकारी के दबाव से सर्वथा मुक्त रहकर विवेक व निष्पक्षता से ही अपने कार्य करता था। **साधना का यह फल मेरा स्वयं अनुभूत है।** सांचोर में शिक्षक श्री हुसैन खां शेख से भी परिचय हुआ, जो बड़े ईमानदार, सात्विक एवं स्वाध्यायशील व्यक्ति थे। मेरे स्टाफ में श्री राजेन्द्र कुमार मीणा मेरे सत्संग से आर्य बनकर मेरे भक्त बन गये। सांचोर के निकट सरनाऊ ग्राम में भी मैं लगभग सवा चार वर्ष सेवारत रहा। वहाँ दर्जी श्री बाबूलाल डाभी, उनके भाई

वायुसेना में तत्कालीन स्क्वाड्रन लीडर श्री पूनमाराम डाभी, श्री कालूराम सोनी, श्री ईश्वरलाल जोशी, श्री जयसिंह देवड़ा, श्री सुजानाराम विश्नोई, अध्यापक श्री भैराराम विश्नोई, ग्रामीण बैंक में शाखा प्रबंधक श्री देवी सिंह राठौड़, स्वास्थ्य विभाग में कार्यरत पूर्णचंद मेहता एवं बैंककर्मी श्री कानाराम मेघवाल आदि सभी ग्रामीणों से मुझे भरपूर प्रेम व आदर मिला। मैं अपनी सेवा के साथ-२ आर्य समाज का प्रचार करने लगा और एक समाजसेवी की भांति ही वहाँ प्रसिद्ध होने लगा। **उन दिनों मुम्बई के एक मौलवी श्री फारुख मुहम्मद, जो अपने को वेद सहित सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय का विद्वान् तथा जन्मना ब्राह्मण बताते तथा इंजीनियर के पद से त्यागपत्र देकर सम्पूर्ण भारत में कुरान का वैज्ञानिक ढंग से प्रचार करते थे, सांचौर नगर में आये। उन्होंने घोषणा की कि कोई उनसे शास्त्रार्थ कर ले, जो पराजित होगा, उसे विजेता का धर्म स्वीकार करना होगा। मैं अपने स्टाफ के साथी श्री असगर खान के द्वारा यह सूचना सुनकर ११ जून १९८६ को रमजान के महीने में रात्रि के साढ़े दस बजे दरगाह में अकेले ही शास्त्रार्थ हेतु पहुँच गया। अल्प चर्चा से घबराकर मौलवी साहब स्वास्थ्य का बहाना बनाकर वहाँ से भाग गये, जो फिर कभी नहीं आये। उस समय मेरी आयु लगभग साढ़े तेईस वर्ष थी।** मैं अपने ऐसे अधिकारी, जो भ्रष्ट होता से मैं सदैव टकराता रहता। एक बार जिला अधिकारी के मदिरापान करने पर मैंने उनसे बात करने से इन्कार कर दिया। उस अधिकारी ने मेरी प्रतिनियुक्ति जिले के उस समय गुण्डागर्दी एवं मदिरा सेवन के लिए कुख्यात एक ग्राम में कर दी। मैंने उस ग्राम में इसके विरुद्ध एक सार्वजनिक ओजस्वी भाषण दिया और विचारा कि या तो गांव में सुधार होगा अथवा मेरी हत्या कर दी जायेगी। ईश्वरकृपा से मैं अपने उद्देश्य में सफल रहा और ग्राम के कुख्यात व्यक्ति मेरा सम्मान करने तथा सुधरने की इच्छा करने लगे।

राजकीय सेवा का त्याग एवं गुरुकुल प्रवेश

मैं राजकीय सेवा से त्यागपत्र देने का अवसर खोजने लगा परन्तु कोई मेरा मार्गदर्शक नहीं मिल रहा था। **अन्ततः ३ मार्च १९८८ को मैं राजकीय सेवा से त्यागपत्र देकर वेद मन्दिर, मथुरा के श्री आचार्य प्रेमभिक्षु वानप्रस्थ के पास आकर दीक्षित हुआ। उस समय माताजी ने मुझे बड़ा मार्मिक पत्र लिखा, जिसके उत्तर में मैंने उन्हें अपने त्यागी पूर्वजों भगवान् श्रीराम, महाराणा प्रताप, शिवाजी एवं महर्षि दयानन्द के त्याग को स्मरण कराया, जिस पर वे शान्त हो गयीं।** श्री आचार्य जी ने मुझे कभी कुछ पढ़ाया नहीं, क्योंकि जो वे पढ़ाते थे, वह सब मैं पढ़ चुका था। मैं गुरुकुल में प्रविष्ट होते ही उत्सवों में आगन्तुकों की शंका समाधान का विज्ञापन करके सबकी शंकाओं का समाधान करता था। आचार्य जी मेरी इस प्रतिभा व व्यवहार से बहुत प्रसन्न थे। उन दिनों ब्र. स्वदेश, ब्र. नरेन्द्र जिज्ञासु एवं ब्र. प्रदीप (मैं) इन तीनों से आचार्य जी सर्वाधिक प्रभावित व आशान्वित थे। इनमें से श्री ब्र. नरेन्द्र जिज्ञासु, जो आज महात्मा नरेन्द्र देव वानप्रस्थ के नाम से जाने जाते हैं, मेरे निकट मित्र व ट्रस्टी हैं। ब्र. स्वदेश उन दिनों कालवा गुरुकुल व्याकरण पढ़ने गये थे, कभी-२ वे मथुरा आते थे। मेरा स्वास्थ्य मथुरा में जाने के पश्चात् धीरे-२ गिरने लगा। जिस दमा रोग को सांचोर में रहते भारी व्यायाम व प्राणायाम के बल पर नियंत्रित किया था, वह दमा पुनः प्रकट होने लगा। कभी-२ मुख से रक्त आने लगा। मैं इस भय से कि कहीं पुनः टी.बी. न हो जाए अनेक महानुभावों के सुझाव पर तथा यह अनुभव कर कि गुरुकुल में चिकित्सा व उचित खान-पान की वांछित व्यवस्था नहीं हो पायेगी, गुरुकुल छोड़कर पुनः राजकीय सेवा के प्रयास में लग गया। मेरे राजकीय सेवा के कार्यक्षेत्र के अनेक महानुभाव मेरे इस प्रयास से अतीव आनन्दित होकर सहयोग में जुट गये परन्तु मेरा मन पूर्व कारणों से अन्दर से दुःखी रहता था। राजकीय भर्तियों पर रोक के कारण निजी नौकरी का प्रयास किया परन्तु सर्वप्रथम मेरी शर्त यह रहती कि मुझे मिथ्या भाषण वा मिथ्या कर्म न करना पड़े। मेरी शर्त को जानने वाले आश्चर्यचकित थे। मैं परिवार को दुःखी स्थिति में छोड़कर आया था, इस कारण वहाँ जाना मेरे लिए लज्जा का कारण बनता। मैं बहुत भटका, मन ही मन ईश्वर से याचना करता कि मथुरा गुरुकुल में मेरी सुव्यवस्था हो जाए। अन्ततः आचार्य जी के बुलाने पर पुनः मैं २ दिसम्बर १९८९ को वापिस गुरुकुल आ गया। उसके पश्चात् मैंने कभी दूसरा मार्ग चुनने का विचार तक नहीं किया। मैं स्वयं ही दर्शनादि ग्रन्थों का स्वाध्याय करने लगा। सम्भवतः जुलाई १९८९ में श्री ब्र. स्वदेश व्याकरणाचार्य होकर आ गये, उनसे ही मैं व्याकरण पढ़ने लगा।

सामाजिक क्षेत्र में कदम

वे भी मित्र भाव से मुझे पढ़ाने लगे परन्तु दमा का कष्ट बढ़ते देख मैं गुरुकुल छोड़ने को विवश हुआ और आर्य समाज, भीनमाल (जालोर) राज. में रहने लगा। उस समय श्री चुन्नीलाल भाटी, श्री बद्रीनारायण आर्य, श्री राजेन्द्रसिंह सोढ़ा, श्री राजेश आर्य, श्री प्रभुराम फुलवारिया, श्री बाबूलाल सोनगरा आदि आर्यजनों के साथ शिवगंज के श्री भीष्मदेव वानप्रस्थ का सहयोग मिला, एतदर्थ मैं इन सबका कृतज्ञ हूँ। मैं ७ जनवरी १९९० से लेकर १० जुलाई २००४ तक वहीं रहा। इसी मध्य में गर्मी के दिनों में मथुरा जाकर व्याकरण पढ़ता तथा सर्दी व वर्षा में भीनमाल आ जाता। ऐसा क्रम २-३ वर्ष चला और प्रथमावृत्ति, उणादिकोष एवं कुछ वेदांग प्रकाश ही पढ़ सका। इसी मध्य आर्ष गुरुकुल, बडलूर के तत्कालीन आचार्य श्री वेदव्रत मीमांसक (वर्तमान स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती) तथा योगधाम, ज्वालापुर (हरिद्वार) के श्री स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती से व्याकरणादि शास्त्र पढ़ने के विचार से गया परन्तु सर्वत्र दमा के कष्ट ने मुझे पराजित कर दिया। उस समय गीता मंदिर (वेदमंदिर) में मेरे व्याख्यान को सुनकर श्री डॉ. रामनाथ वेदालंकार बहुत प्रभावित हुए, उसी समय श्री परमानन्द मुनि, जो आर्य समाज डीसा (गुजरात) में भी अनेक वर्ष रहे, मेरे निकट सहयोगी बने, मैं उनका कृतज्ञ हूँ। अन्ततः मैं वेदादि शास्त्रों एवं अन्य सम्प्रदायों के ग्रन्थों का स्वाध्याय, समाजसेवा, प्रचार, लेखन में जुट गया। आर्य समाज की अनेक पत्रिकाओं में समीक्षा, खण्डन-मण्डन आदि विषय के अनेक लेख वर्षों तक लिखता रहा। भीनमाल नगर में बड़ी-२ आम सभाओं में व्याख्यान देना, राष्ट्रिय स्वयं सेवक संघ तथा विश्व हिंदू परिषद् के बड़े-२ आयोजनों में प्रधान वक्ता के रूप में उद्बोधन आदि कार्य वर्षों तक करता रहा। इस काल में तीन बार (कुल मिलाकर तेरह मास) ऋषि उद्यान, अजमेर भी रहा। वहाँ श्री डॉ. धर्मवीर, श्री आचार्य सत्यजित्, आचार्य सत्येन्द्रार्य एवं आचार्य रवीन्द्र (तिलोरा गुरुकुल) का सहयोग रहा, मैं उनका कृतज्ञ हूँ। भीनमाल प्रवास में मैंने युवकों को सत्यार्थ प्रकाश व मनुस्मृति भी पढ़ाने का कार्य किया। इस अवधि में अनेक युवकों को तैयार किया, जिनमें प्रिय आर्य विक्रमसिंह राव, हुकमसिंह देवड़ा, रघुवीरसिंह चौधरी (मथुरा निवासी), जेठाराम सोलंकी (जयेन्द्रार्य), जनकसिंह, महेन्द्रसिंह, दर्जी डूंगरराम (अभिषेक), पदमसिंह, धीराराम चौधरी, भावाराम चौधरी, रमेश सुथार, महीपालसिंह भाटी, मोहन चौधरी, विक्रम, प्रदीप कुमार, राणाराम चौधरी, अर्जुन आर्य एवं गजेसिंह राठौड आदि अनेकों युवक मेरे साथ जुड़े। इनमें से जनकसिंह, जो वर्तमान में एक स्कूल व्याख्याता तथा न्यास के उपमंत्री हैं, तथा उनके भाई महेन्द्रसिंह, ने मेरी बहुत सेवा की। इस युवक की मेरे रोगकाल में सेवा न मिली होती, तो मैं क्या करता, यह कहना कठिन है। मैं इन्हें भूरिशः आशीर्वाद देता हूँ। इस अवधि में ३० सितम्बर १९९९ को किसी ने मुझे विष दे दिया उससे मैं अतीव कष्ट में रहा, उसके कारण आज तक मैं रुग्ण बना हुआ हूँ। आर्य समाज, भीनमाल में रहते हुए एक दुःखद घटना घटी कि कुछ लोगों ने मेरे विरुद्ध षड्यन्त्र रचना प्रारम्भ किया। उस समय श्री ठा. गोपालसिंह, जो जिले के दासपां के प्रसिद्ध जागीरदार परिवार से सम्बन्ध रखते हैं, मेरे साथ आये तथा अन्य अनेकों हितैषी महानुभावों के परामर्श पर आर्य समाज, भीनमाल को छोड़कर ऋषि उद्यान, अजमेर चला गया। उल्लेखनीय है कि आर्य समाज, भीनमाल में रहते हुए ही मैंने गुजरात के प्रसिद्ध आर्य समाजी समाजसेवी श्री आचार्य धर्मबन्धु के आग्रह पर **श्री वैदिक स्वस्ति पन्था न्यास की स्थापना वैशाख कृष्णा अमावस्या वि.सं.२०६० तदनुसार १ मई २००३ को की थी। ऋषि उद्यान से मैंने अगस्त २००४ में बैंगलोर में आयोजित वर्ल्ड कांग्रेस ऑन वैदिक सायंसेज में ''सृष्टि का मूल उपादान कारण'' विषय पर पत्र वाचन करते हुए आधुनिक बिग बैंग थ्योरी का प्रबल खण्डन किया। उस कांग्रेस में इस प्रकार का पत्र वाचक मैं एकमात्र था, जिसने आधुनिक भौतिकी को ऐसी चुनौती दी हो।** वहाँ मुझे श्री विजयकुमार भल्ला, एड.चीफ. इंजीनियर NPCIL, मुम्बई मिले और मुम्बई आने का आग्रह किया। वहाँ पर श्री भल्ला ने मेरे विषय में दूरभाष द्वारा **भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र के उस समय विश्व में चर्चित हुए प्रसिद्ध खगोलशास्त्री डॉ. आभास मित्रा से चर्चा की, जिससे प्रभावित होकर वे मुझसे मिलने श्री भल्ला के आवास पर आये तथा तभी से वे मित्र बन गये।** उसके पश्चात् उनके आग्रह व प्रोत्साहन पर मैंने अपना लक्ष्य वैदिक विज्ञान अनुसंधान ही बना लिया। इस कार्य में श्री आचार्य धर्मबन्धु का प्रोत्साहन व सहयोग मिला एवं राजस्थान के पाली-मारवाड़ नगर में वहाँ के न्यासी प्रिय भुवनेश काबरा, महेश बागड़ी आदि के सहयोग से १०.१०.२००४ से विधिवत् कार्य प्रारम्भ कर दिया। उसके पश्चात् ५ सितम्बर २००५ से भीनमाल पुनः २८ जून २००८ से इस वेद विज्ञान मंदिर में कार्य प्रारम्भ किया। आचार्य धर्मबन्धु इस न्यास में संरक्षक व प्रधान संरक्षक रहे तथा मथुरा के श्री आचार्य स्वदेश इसमें सह संरक्षक व संरक्षक रहे। श्री ब्र. राजसिंह आर्य एवं श्री वन्देश्वर मुनि भी इससे जुड़े। मैंने संस्कृत व्याकरण भी पूर्णरूपेण नहीं पढ़ा तब वैदिक वाङ्मय के अध्ययन का

कहना ही क्या है? उधर आधुनिक विज्ञान भी अधूरा रह गया पुनरपि परमपिता परमात्मा की महती कृपा तथा प्रारब्धवश प्राप्त प्रतिभा व ऊहा शक्ति के बल पर मैंने दोनों ही क्षेत्रों में गम्भीर अनुसंधान-चिन्तन किया है। उसी विशिष्ट चिन्तन का परिणाम विश्व का यह अद्‌भुत् वैदिक वैज्ञानिक ग्रन्थ है, जिसका पूर्ण परिचय दिव्य वैज्ञानिक प्रतिभासम्पन्न पाठकों को पढ़ने पर ही प्राप्त हो सकेगा और वे मेरे कथन की सत्यता का अनुभव कर सकेंगे।

कृतज्ञता ज्ञापनम्

1. परिजनों का

अब तक जिन-२ महानुभावों, परिवारीजनों, ग्रामवासियों की चर्चा की है, उन सबका मैं हृदय से भूरिशः आभार व्यक्त करता हूँ। किसी भी सन्तान के लिए माता-पिता के उपकार का मूल्य चुकाना सर्वथा असम्भव है, इसी कारण मैं श्रद्धानवत होकर उनका आभार व्यक्त व ऋण स्वीकार करता हूँ। आज वे व अन्य उस पीढ़ी के मेरे जो पितरजन अब जीवित नहीं हैं, वे भी मेरे लिए उतने ही पूज्य हैं। मैं संन्यासी नहीं हूँ, बल्कि नैष्ठिक ब्रह्मचारी हूँ पुनरपि अपनी अज्ञानता वा मिथ्या वैराग्यवश मैंने किसी भी परिजन की अंत्येष्टि में भाग नहीं लिया, यह विचार कर मैं अपराध बोध से ग्रस्त हूँ। **आज आर्य समाज व अन्य सम्प्रदायों में मिथ्या वैराग्य के नाम पर माता-पिता आदि परिजनों का तिरस्कार किया जा रहा है, वह घोर पाप व अवैदिक कर्म है।** मैं यह अनुभव कर आत्मा से लज्जित हूँ। इसी लज्जावश मैंने अपने परिवार का पूर्ण परिचय देकर उनके प्रति आभार व्यक्त करना ही उनके प्रति अब एकमात्र कर्त्तव्य समझा है। यहाँ कुछ कथित आर्य महानुभाव यह प्रश्न उठा सकते हैं कि एक साधु द्वारा अपने परिवार व वंश का परिचय देना अनुचित है, वे वास्तव में ऋषि दयानन्द तथा प्राचीन परम्परा से अनभिज्ञ हैं। ऋषि दयानन्द वीतराग संन्यासी थे पुनरपि उन्होंने अपने को औदीच्य ब्राह्मण वंश में उत्पन्न होना बताया व लिखा, माता-पिता का नाम इस कारण नहीं बताया कि कहीं मोहवश माता-पिता उनके मार्ग में विघ्न न बनें। प्राचीनकाल में अभिवादन करते समय ही ब्रह्मचारी अपने वंश, गोत्र व पिता वा माता का नाम बताकर अपना परिचय दिया करते थे। ध्यातव्य है कि **वर्ण व्यवस्था कर्म पर आधारित है। अतः कर्मानुसार परिवर्तन हो सकता है परन्तु गोत्र, वंश व पूर्वज कभी नहीं बदलते।** मेरी जाति मनुष्य है, वर्ण ब्राह्मण है, क्योंकि मैं वेदविद्या का अनुसंधाता हूँ। मेरे पिता कृषक होने के कारण वैश्य वर्ण में थे। मेरे चाचाजी व्यापारी होने से वैश्य, वैदिक स्वाध्याय के धनी व उपदेष्टा होने से ब्राह्मण, आर्य समाज व अन्य अन्याय के प्रति संघर्षशील होने से क्षत्रिय तथा आर्य समाज के उत्सवों में सर्वाधिक श्रमदान करने से शूद्र माने जा सकते थे। इतना होने के साथ पूर्वज विशुद्ध क्षत्रिय वर्ण के थे। मेरा मत है कि यदि किसी का जन्म ऐसे वंश में हुआ है, जिसके विमल चरित्र व वीरता आदि से हम कुछ सीख सकते हैं, तो हमें सीखना चाहिए और उस वंश पर स्वाभिमान करने का भी पूर्ण अधिकार है, किन्तु **हम वंश के नाम से ही बड़े नहीं हो सकते और न ही हमें किसी अन्य को नीचा देखने का अधिकार है।** परिवार आर्य समाजी होते हुए भी छूआछूत-भेदभाव के पापों से कभी मुक्त नहीं रह सका, भले ही दुर्बलों का हितैषी रहा। कक्षा नवम में पढ़ते हुए ही मेरे मन में इस पाप के प्रति ग्लानि का भाव जगा। आज मैं स्वयं को मानवमात्र को समान भाव से देखने वाला मानता हूँ। मेरे लिए मानवमात्र समान है। यह सबको विदित रहे। मैं छूआछूत को इस देश के विनाश का एक बड़ा कारण मानता हूँ। आज देश में सामाजिक छूआछूत की प्रतिक्रियावश राजनैतिक वा राजकीय छूआछूत (आरक्षण) का पाप भी तेजी से बढ़ रहा है, जो इस देश के विनाश का कारण बनेगा।

2. वैज्ञानिकों का

इस क्रम में प्रो० आभास कुमार मित्रा, विश्व प्रसिद्ध खगोलशास्त्री, भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र (BARC), मुम्बई, एङ प्रो० होमी भाभा नेशनल इंस्टीट्यूट, मुम्बई, प्रो० नाभा के० मॉण्डल, सीनियर प्रोफेसर एवं प्रवक्ता, इण्डिया बेस्ड न्यूट्रिनो ऑब्जर्वेट्री, डिपार्टमेंट आफ हायर एनर्जी फिजिक्स, टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ फण्डामेण्टल रिसर्च (TIFR), प्रो० ए० आर० राव, डिपार्टमेंट आफ एस्ट्रोफिजिक्स एण्ड

एस्ट्रोनॉमी (TIFR), मुम्बई, प्रो० नरेन्द्र भण्डारी, ऑनरेरी सायंटिस्ट, इण्डियन नेशनल सायंस एकेडमी, प्रो० के० सी० पोरिया, प्रोफेसर विभागाध्यक्ष भौतिक विज्ञान, दक्षिण गुज. विश्वविद्यालय, सूरत, प्रो० अशोक अम्बास्था, सौर वैज्ञानिक, सोलर ऑब्जर्वेट्री (PRL), उदयपुर, प्रो० पंकज जोशी, सीनियर प्रोफेसर, डिपार्टमेंट आफ एस्ट्रोफिजिक्स एण्ड एस्ट्रोनॉमी (TIFR), मुम्बई, पद्मभूषण प्रो० अजीतराम वर्मा, से० नि० डायरेक्टर, नेशनल फिजीकल लैबोरेटरी, नई दिल्ली, डॉ० एम० पी० चचेरकर, डायरेक्टर, डिफेंस लैबोरेटरी, जोधपुर, प्रो० एस० डी० वर्मा, से० नि० डायरेक्टर, स्कूल ऑफ सायंस, गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद, से० नि० असि० प्रो० ऐस्ट्रोफिजिक्स लुईजियाना विश्वविद्यालय USA, डा० जे० सी० व्यास, भौतिक वैज्ञानिक, भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र (BARC), मुम्बई, डा० स्वप्न कुमार दास, भौतिक वैज्ञानिक, भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र (BARC), मुम्बई, प्रो० एम० एम० बजाज, से० नि० प्रो० एवं चीफ ऑफ मैडी फिजिक्स, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रो० जयेश देशकर, प्रो० वाइस चांसलर, दक्षिण गुज. विश्वविद्यालय, सूरत, अशोक कुमार शर्मा, वैज्ञानिक 'जी' एवं प्रभाग प्रमुख, संचार और सूचना प्रोद्यौगिकी मंत्रालय, इलेक्ट्रॉनिकी और सूचना प्रोद्यौगिकी विभाग, भारत सरकार, नई दिल्ली, डॉ. प्रवीर अस्थाना, हैड, मेगा सायंस प्रोजेक्ट, डिपार्टमेंट ऑफ सायंस एण्ड टेक्नोलॉजी, भारत सरकार, नई दिल्ली आदि ने मेरे साथ संवाद किया। मुझे इन सबसे बहुत कुछ सीखने को मिला है। यह बात स्मरणीय है कि मुझे इस क्षेत्र में कार्य करने हेतु श्री विजय कुमार भल्ला, एडिशनल चीफ इंजीनियर, (N.C.P.I.L), मुम्बई को मुख्य श्रेय जाता है। मैं इन सभी महानुभावों का हृदय से कृतज्ञ हूँ।

३. संरक्षक मण्डल

(क) संरक्षक

सर्वप्रथम संरक्षक/प्रधान रहे, श्री आचार्य धर्मबन्धु का विशेष कृतज्ञ हूँ तथा श्री आचार्य स्वदेश, जिन्होंने मुझे कुछ व्याकरण भी पढ़ाया, का हृदय से कृतज्ञ हूँ। वर्तमान प्रधान संरक्षक श्री स्वामी वेदानन्द सरस्वती, जिनके हृदय में प्रारम्भ से ही मेरे तथा मेरे कार्य के प्रति स्नेह का भाव देखा है तथा जो रागद्वेषादि दोषों से दूर दिखाई देते हैं, तथा समय-२ पर आर्थिक सहयोग भी करते रहे हैं, का भूरिशः आभार व्यक्त करता हूँ।

(ख) मानद संरक्षकगण

मानद संरक्षक के रूप में जिले के प्रतिष्ठित महानुभाव हैं- श्री अर्जुनसिंह देवड़ा, श्री गोपालसिंह कोड़ी, श्री जोगेश्वर गर्ग, डॉ. समरजीतसिंह, श्री नारायणसिंह देवल, श्री कुं. भवानीसिंह बाकरा, श्री जीवाराम चौधरी, श्री ठाकराराम चौधरी, एडवोकेट। इनमें से श्री अर्जुनसिंह देवड़ा, श्री गोपालसिंह कोड़ी, मेरे साथ सदैव खड़े रहे हैं, मैं इनका विशेष कृतज्ञ हूँ। डॉ, समरजीतसिंह एवं श्री जोगेश्वर गर्ग ने भी मेरे कार्य को कुछ समझने का प्रयास किया है तथा श्री गर्ग साहब मेरे कार्य को उच्च शिखर तक ले जाने का स्वप्न देखते हैं। मैंने इन सभी मानद संरक्षक महानुभावों का हृदय से आभारी हूँ।

(ग) सहयोगी संरक्षक

इसके पश्चात् सभी सहयोगी संरक्षक दानदाताओं श्री आर्य समाज सैक्टर-७, फरीदाबाद, श्री चौधरी तोरनसिंह आर्य, मथुरा, आर्य समाज कांकरिया, अहमदाबाद, माता उर्मिला राजोत्या, अजमेर, श्री अनिल कुमार आर्य, फरीदाबाद, श्री जयप्रकाश एन. खानचन्दानी, अहमदाबाद, श्री राकेश गहलोत, जोधपुर, श्री सुबोधमुनि (के.एस. खानचन्दानी), डीसा, श्री आचार्य आनन्द पुरुषार्थी, होशंगाबाद, श्री मोहब्बत सिंह, चान्दूर, जालोर, श्री रघुराजसिंह आर्य, बुलन्दशहर, श्री चांदरतन दम्माणी, कोलकाता, आर्य समाज, सुमेरपुर (पाली), श्री रामसिंह आर्य, पानीपत, श्रीमती किरणदेवी गहलोत, जोधपुर, श्री सुभाष गहलोत, जोधपुर, श्री स्वामी निरंजनानन्द (निरंजनलाल गुप्ता), नई दिल्ली, श्री आशीष ओबेराय c/o पी.डी. नन्दा, पानीपत, श्री बी.एल. सुथार, से.नि. अधीक्षण अभियन्ता, जालोर, श्री सुरेन्द्रसिंह राघव, अलीगढ़, श्री स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती, अलीगढ़, श्री आकाश पाण्डेय, जौनपुर, श्री मोहनलाल चौधरी, जुनी बाली, जालोर, श्री डूंगराराम दर्जी (अभिषेक आर्य), निम्बावास, जालोर, श्री नैनाराम चौहान (इंजि.) भीनमाल, जालोर, श्री आनन्द कुमार आर्य, कोलकाता, श्री डूंगराराम चौधरी (देवेन्द्र आर्य) नया चैनपुरा,

जालोर, श्री किशनलाल जीनगर, भीनमाल, जालोर, जयभारत ट्रस्ट, अहमदाबाद, नवरंग फेब्रिक्स, अहमदाबाद, श्रीमती कौशल्या आहूजा, फरीदाबाद एवं श्रीमती ऊषा सेठी, फरीदाबाद, स्व. श्री अशोक कुमार बंसल, भटिण्डा आदि का बहुत-२ आभारी हूँ, जिनके आर्थिक सहयोग से यह न्यास सतत कार्य करने में सक्षम रहा।

4. न्यासी मण्डल

सर्वप्रथम मैं जालोर जिले के उन निवासियों तथा अन्य संस्थापक न्यासियों को साशीष धन्यवाद देता हूँ, जो हर सुख दुःख में मेरे साथ जुड़े रहे। वे इस न्यास की नींव हैं। तदुपरान्त मैं आर्य समाज सैक्टर-७ फरीदाबाद (हरियाणा) की माता प्रकाश देवी, जो वास्तव में मातृतुल्य ममता की मूर्ति हैं तथा फरीदाबाद के सभी आर्यजनों एवं माताओं की प्रेरणा स्रोत हैं। माताजी के साथ-२ श्री बलवीर सिंह मलिक, फरीदाबाद आर्थिक सहयोगार्थ बहुत पुरुषार्थ करते रहे हैं। उन्होंने तथा संस्थापक न्यासियों ने इस न्यास का आधार बनाने में सहयोग दिया है। संस्थापक न्यासी हैं- श्री उकसिंह चौहान, झाब, जालोर, श्री पदमसिंह चौहान, कुशलापुरा, जालोर, श्री जनकसिंह चम्पावत, जेरण, जालोर, श्री नटवर नागर, सुमरेपुर, पाली, श्री जितेन्द्रसिंह सिसोदिया, कुचामनसिटी, नागौर, श्री राजेन्द्रसिंह सोढ़ा, तातोल, जालोर, श्री महेन्द्रसिंह चम्पावत, जेरण, जालोर, श्री रघुवीरसिंह चौधरी, मथुरा, श्री पं. विपिन बिहारी आर्य, मथुरा।

आर्य जगत् के जाने-माने भामाशाह श्री सेठ दीनदयाल गुप्ता, चैयरमेन डॉलर फाउण्डेशन, कोलकाता, जिन्होंने व्यक्तिगत रूप से इस संस्था को सर्वाधिक आर्थिक व आत्मिक सम्बल प्रदान किया है। वस्तुतः वे इस न्यास के प्रमुख आर्थिक आधार हैं तथा वर्तमान में इसके उपप्रमुख भी हैं। उनके सहयोग के बिना इस संस्था का यह कार्य होना कदाचित् ही सम्भव होता। मैं इनका हृदय से भूरिशः कृतज्ञ हूँ, जो सदैव स्थिर होकर मेरे साथ खड़े रहते हैं। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली के प्रधान श्री सुरेशचन्द्र आर्य इस संस्था के न्यासी बने तथा सदैव आर्थिक सम्बल प्रदान करते रहते हैं। उनके न्यासी बनने से संस्था का गौरव बढ़ा है। मैं उनका तथा अन्य प्रमुख आर्थिक सहयोगी चौधरी श्री शिवकुमार आर्य, चैयरमेन प्रतिभा सिंटैक्स, इन्दौर का हृदय से कृतज्ञ हूँ। जोधपुर के विशेष भावनाशील श्री जयसिंह गहलोत, श्री किशनलाल गहलोत का सदैव मन-धन से पूर्ण सहयोग रहा है। मैं इनको विशेष धन्यवाद करता हूँ। मैं संस्था के मंत्री श्री टी.सी. डामोर, जो पुलिस विभाग में आई.जी. तथा इस पद से स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति लेकर राजीव गांधी जनजातीय विश्वविद्यालय, उदयपुर के कुलपति रहते हुए मेरे प्रति सदैव श्रद्धा व आत्मीयता का भाव रखते थे। सेवाकाल में वे अपनी ईमानदारी व कर्त्तव्यनिष्ठा के लिए राष्ट्रपति अब्दुल कलाम के द्वारा सम्मानित हुए, उनके न्यास के साथ जुड़ने से न्यास का गौरव बढ़ा है। मैं उनका बहुशः धन्यवाद करता हूँ। हमारे युवा न्यासी व अतिरिक्त राजकीय अधिवक्ता, राजस्थान उच्च न्यायालय, जोधपुर श्री कमलेश रावल, जो इस ग्रन्थ एवं इस अनुसंधान कार्य को भारत सरकार तक ले जाने के लिए सतत प्रयत्नशील रहे, उन्हें साशीष धन्यवाद देता हूँ। अन्य न्यासी हैं- श्री विक्रमसिंह राव, लेटा, जालोर, श्री धीराराम चौधरी, विशाला, जालोर, श्री डॉ. अमरचन्द आर्य, अकबरपुर, मथुरा, श्री सतीश कौशिक, फरीदाबाद, श्री डॉ. चन्द्रशेखर लाहोटी, कडैल, अजमेर, श्री ब्र. नरेन्द्र जिज्ञासु (महात्मा नरेन्द्र देव वानप्रस्थ), आजमगढ़, श्री रमेश सुथार, खाण्डादेवल, जालोर, श्री हुकुमसिंह देवड़ा, सुरावा, जालोर, श्री डॉ. मोक्षराज आर्य, अजमेर, श्री मांगीलाल सोनी, भीनमाल, जालोर, श्री पूनमचन्द नागर, कांकरिया, अहमदाबाद, श्री मनोहरलाल आनन्द, फरीदाबाद, श्री सोमेन्द्रसिंह गहलोत, जोधपुर, श्री. डॉ. वसन्त मदनसुरे, अकोला, श्री पूर्णाराम आर्य, बीकानेर, श्री महिपालसिंह भाटी, भूण्डवा, जालोर, श्री भावाराम चौधरी, जेतु, जालोर, श्री विशाल आर्य (अग्नियश वेदार्थी) एवं श्री गुलाबसिंह राजपुरोहित, सुमेरपुर (पाली)। मैं इन सभी न्यासियों को बहुत-२ धन्यवाद देता हूँ। मुझे आशा है कि इनके पुरुषार्थ से न्यास विश्व में वैज्ञानिक अनुसंधान के नये कीर्तिमान स्थापित करेगा।

5. अन्य दानदाता व विशेष आमंत्रित

अन्य प्रमुख दानदाताओं में गौरीशंकर सैक्सरिया चैरीटेबल ट्रस्ट, कोलकाता, श्री शत्रुघ्न लाल गुप्ता, राँची, श्री रवीन्द्र आर्य, सूरत, आर्य समाज, बड़ाबाजार, कोलकाता, श्री धर्मवीर रामपत यादव,

अहमदाबाद एवं फरीदाबाद के अनेकों पुरुषों व माताओं, जिनकी मेरे प्रति अगाध श्रद्धा रही है आदि का मैं हृदय से धन्यवाद करता हूँ।

इन सभी महानुभावों के अतिरिक्त **विशेष आमंत्रित सदस्य** श्री आचार्य अमित शास्त्री, वाराणसी, श्री डा. जयदत्त उप्रैती, अल्मोड़ा, श्रीमती सुशीला दम्माणी, कोलकाता श्री सूर्य प्रकाश आर्य, विदिशा (म. प्र.) श्री सुभाषचन्द्र पुण्डीर, हरिद्वार, श्रीमती संघमित्रा कौशिक, फरीदाबाद, श्री महिपाल सिंह राव, भीनमाल, श्री जसराज प्रजापत, भागलभीम, श्री प्रभुराम, भागलभीम, श्री रामकृष्ण, हरिद्वार, श्री भाविन कुमार रामचन्दानी, अहमदाबाद, श्रीमती पुष्पा शर्मा, भीनमाल, श्री जगत्पालसिंह चौहान, झाब, जालोर, सभी सहयोगी सदस्यों एवं अन्य विविध दानदाताओं तथा **इस ग्रन्थ के प्रकाशन में आर्थिक सहयोग करने वाले दानी महानुभावों, जिनकी सूची ग्रन्थ के अन्त में दी गयी है, का मैं हृदय से धन्यवाद करता हूँ।** सभी दानदाताओं का नाम लिखना सम्भव नहीं है।

6. विभिन्न आर्यविद्वान्, संन्यासी व आर्यनेता

संन्यासी के रूप में मैं सर्वप्रथम श्री **स्वामी (डॉ.) ओम आनन्द सरस्वती, चित्तौड़** एवं **श्री स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती, अलीगढ़** का हृदय से आभारी हूँ। उनका मेरे प्रति अपार स्नेह मुझे अभिभूत करता है। विद्वानों में भी श्री डॉ. जयदत्त उप्रेती, श्री डॉ. रघुवीर वेदालंकार, श्री आचार्य विशुद्धानन्द मिश्र, श्री आचार्य सत्यानन्द वेदवागीश, श्री डॉ. कृष्णलाल, श्री आचार्य राजवीर शास्त्री, श्री आचार्य सनत्कुमार, श्री आचार्य प्रदीप शास्त्री, डॉ. भवानीलाल भारतीय, श्री आचार्य बृजेश, स्वामी विवेकानन्द सरस्वती (मेरठ), आचार्य वेदप्रकाश श्रोत्रिय, आचार्य वेदप्रिय शास्त्री, डॉ. जितेन्द्र कुमार (आगरा), श्री स्वामी ऋतस्पति परिव्राजक, श्री स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती (कामारेड्डी) एवं श्री अशोक आर्य, उदयपुर की आत्मीयता हेतु आभार व्यक्त करता हूँ। इनमें से कुछ विद्वानों ने आर्थिक सहयोग भी प्रदान किया है, विशेषतः आचार्य सनत्कुमार एवं डॉ. उप्रैती ने। आचार्य सनत्कुमार मेरे स्वास्थ हेतू निरन्तर चिन्तित व हितकारी परामर्श देते रहते हैं। इनके अतिरिक्त श्री आचार्य सत्यानन्द वेदवागीश, श्री स्वामी आशुतोष परिव्राजक, श्री आचार्य सत्यजित्, श्री आचार्य आशीष दर्शनाचार्य, आचार्या पवित्रा विद्यालंकार, आचार्या डॉ. सुकामा, चोटीपुरा आदि ने भी आर्थिक सहयोग प्रदान किया व करवाया है। एतदर्थ उनका धन्यवाद। प्रो. राजेन्द्र जिज्ञासु, डॉ. सुरेन्द्र कुमार (मनुस्मृति भाष्यकार), स्वामी विद्यानन्द सरस्वती, आचार्य वेदपाल सुनीथ, डॉ. रामनाथ वेदालंकार, डॉ. महावीर मीमांसक, डॉ. ज्वलन्त कुमार शास्त्री, डॉ. सोमदेव शास्त्री, आचार्य श्री विजयपाल, झज्जर गुरुकुल आदि विद्वानों एवं स्वामी सुमेधानन्द सरस्वती, सीकर का भी स्नेह-सम्मान मिला। भजनोपदेशकों में श्री पं. केशवदेव शर्मा, सुमेरपुर एवं श्री देवीसिंह आर्य, मथुरा मुझे विशेष प्रिय रहे और उनकी श्रद्धा का पात्र सदैव रहा, एतदर्थ इन सबका मैं हार्दिक कृतज्ञ हूँ।

7. पूर्व न्यासी

श्री कंचनसिंह, श्री धर्मप्रकाश शर्मा, ब्रह्मचारिणी इन्दु आर्या, श्री भुवनेश काबरा, श्री महेश बागड़ी, श्री रामनिवास जांगिड़, श्री नरसिंह आर्य, श्री अभिषेक आर्य (दर्जी डूंगराराम) एवं श्री मूलसिंह चौहान को भी धन्यवाद व्यक्त करता हूँ।

8. शिष्य

मैं प्रिय विशाल आर्य (अग्नियश वेदार्थी), जो दिल्ली विश्वविद्यालय से Theoretical physics (Cosmology, Astrophysics, Quantum field theory, Plasma physics एवं String theory) में M.Sc. हैं। जो GATE एवं JEST जैसी राष्ट्रिय परीक्षाओं को उत्तीर्ण करके भारत के प्रसिद्ध वैज्ञानिक संस्थानों में Ph.D. के अवसरों को त्यागकर मेरे पास रहकर वेदविद्या का अध्ययन करके वैदिक वैज्ञानिक बनने का स्वप्न लेकर आये हैं। इस युवक में शिष्यत्व के सभी लक्षण विद्यमान हैं। मैं इन्हें हृदय से भूरिशः आशीर्वाद देते हुए कामना करता हूँ कि यह युवक एक महान् वैदिक वैज्ञानिक बने। मैं इनके पिता चौधरी श्रीयशवीरसिंह आर्य एवं माता श्रीमती गीता देवी का बार-२ धन्यवाद करता हूँ,

जिन्होंने अपने इस मेधावी युवक को इस कार्य के लिए समर्पित कर दिया। यह न्यास एवं आर्य जगत् इनका बहुत ऋणी रहेगा।

9. स्टाफ

स्टाफ में सबसे वरिष्ठ सदस्य प्रिय सुमित शास्त्री (साहित्याचार्य), पुनः विक्रमसिंह चौहान, राजाराम सोलंकी (M.A., B.Ed., English), नेथीराम चौधरी (M.A., B.Ed., हिन्दी), रघुवीरसिंह चौहान, मूलदास वैष्णव, पूर्व स्टाफ में ब्र. राजेश आर्य (व्याकरण-निरुक्ताचार्य), ब्र. जी. विश्वदेव (व्याकरणाचार्य), नितेश शर्मा (साहित्याचार्य), रविन्द्रसिंह शक्तावत (साहित्याचार्य), भरतसिंह बालोत, अमित शास्त्री (व्याकरणाचार्य), रणजीत सिंह चौहान, अनोपसिंह चौहान, दिनेश कुमार प्रजापत, मूलाराम, गोविन्द चौधरी, श्रवण कुमार, कालूराम, छोगाराम चौधरी आदि सबको भी साशीष धन्यवाद करता हूँ। इन सभी ने मेरी व्यक्तिगत सेवा करते हुए संस्था के कार्य को निष्ठापूर्वक किया है। इसमें इस ग्रन्थ के प्रूफरीडिंग जैसा क्लिष्ट कार्य भी सम्मिलित है।

10. अन्य

मैं डॉ. सत्यपालसिंह, भारत सरकार के मानव संसाधन विकास एवं जल संसाधन राज्यमंत्री का आभारी हूँ जो मेरे कार्य को विश्व पटल पर ले जाने हेतु सहृदयता के साथ प्रयत्नशील हैं तथा हर सम्भव सहयोग प्रदान कर रहें हैं। मैं श्री पी.पी. चौधरी, भारत सरकार के विधि-न्याय व कार्पोरेट मामलों के राज्यमंत्री का आभारी हूँ, जिन्होंने रुचि लेकर मेरे कार्य को कुछ वैज्ञानिकों तक भेजा। मैं भारत के प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता एवं अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विशेषज्ञ सिरोही पूर्व नरेश श्रीमान् रघुवीर सिंह देवड़ा, जो मेरे कार्य को आश्चर्यजनक एवं विश्वस्तरीय मानते हुए मुझे कई उपयोगी सुझाव देते रहे हैं, उनका तथा उनसे सम्पर्क कराने वाले आचार्य विक्रम सिंह झाला का हृदय से धन्यवाद व्यक्त करता हूँ। इसके अतिरिक्त जिन-२ ग्रन्थों का मैंने उपयोग किया है, उन-२ ग्रन्थों के लेखकों का भी मैं भूरिशः आभारी हूँ। श्रीमद्दयानन्द सत्यार्थप्रकाश न्यास, उदयपुर, श्री स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती (कामारेड्डी), श्री आचार्य प्रदीप शास्त्री, रेवली एवं श्री दिनेश कुमार शास्त्री, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट ने कुछ दुर्लभ ग्रन्थों की छायाप्रति करवाकर उपलब्ध करवाई, एतदर्थ वे धन्यवाद के पात्र हैं। जौनपुर के प्रिय आकाश पाण्डेय, सोशल मीडिया के द्वारा इस संस्था के कार्यों का व्यापक स्तर पर वर्षों से प्रचार कर रहे हैं। सोशल मीडिया पर जुड़े देश के कोने-२ से अनेक युवक व धार्मिक जन भी इसके प्रचार में लगे हैं। इसके साथ ही बनारस के श्री प्रमोद आर्य एवं गोरखपुर क्षेत्र के श्री लल्लन प्रसाद ओझा, नवसारी (गुजरात) के शिवभक्त श्री अमृतभाई पटेल आादि जो बड़े श्रद्धाभाव से इस न्यास का प्रचार करते रहते हैं यथासामर्थ्य आर्थिक सहयोग करवाने का प्रयत्न भी करते हैं। इनके अतिरिक्त श्री श्यामसिंह आर्य, पलवल, वर्तमान वैज्ञानिक जानकारियां समय-२ पर भेजते रहे हैं, श्री मोहन जी पराशर, चार्टेड अकाउंटेंट, स्थानीय युवकों में पारस सोलंकी, अन्नाराम, चम्पालाल, छगनलाल, दिनेश आदि एवं अन्य प्रत्यक्ष वा परोक्ष जो भी सहयोग कर रहे हैं वा किया है, उन सबको भी धन्यवाद देता हूँ।

मैं जीवनभर स्वास्थ्य की समस्याओं से जूझता रहा हूँ। अनेक पद्धतियों के चिकित्सकों ने निःस्वार्थ भाव से मेरी चिकित्सा की। इनमें से प्रमुख हैं- डॉ. जितेन्द्र नागर, डॉ. प्रशान्त अग्रवाल, डॉ. महेश शर्मा, डॉ. अरुण त्यागी, डॉ. नागेन्द्र कुमार नीरज, डॉ. जय संघवी, डॉ. राजीवलोचन शर्मा आदि प्रमुख हैं। मैं इन सबका हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ। इस ग्रन्थ के कॉपीराइट कराने में आयी कठिनाईयों को दूर करने में श्रीमान् हरिकृष्ण डामोर I.A.S., सदस्य, भारतीय जनजाति आयोग, नई दिल्ली, श्री रोहतास सिंह, पूर्व C.B.I में कार्यरत एवं वर्तमान में राजस्थान पुलिस तथा श्री चन्द्रपाल सिंह, दिल्ली पुलिस की बड़ी भूमिका रही है।

कुछ पाठक यह विचार करेंगे कि मैंने कृतज्ञता-ज्ञापन के नाम पर ढेर सारे नामों की सूची लिख दी है। मैं ऐसे अपने सुधी पाठकों को निवेदन करता हूँ कि मैंने यह सब मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्री राम के विमल चरित्र से सीखा है कि जीवन में किसी ने कोई छोटा सा भी उपकार किया हो, उसे सदैव स्मरण रखे और यदि उसी ने बहुत बड़ा अपकार भी किया हो, तो भी उसे भूल जाये। मैंने इसी

आदर्श पर चलकर जीवन में मुझे जिनसे अल्प सा भी प्रेम, आदर व आत्मीयता प्राप्त हुई, उनकी कृतज्ञता व्यक्त करना आवश्यक समझा है। इनमें से कुछ महानुभावों ने मुझे कभी क्लेश भी दिया परन्तु उनका मैंने संकेत भी नहीं किया है। मैं मानता हूँ कि यही वैदिक संस्कृति की पहचान है और मेरा धर्म भी।

प्रिय पाठकगण! मैंने अपने परिचय में गुणदोषों को यथार्थ में प्रकट कर दिया है। अब इस ग्रन्थ के सम्पूर्ण होने के पश्चात् मैं आगामी योजना के विषय में विचार कर रहा हूँ। जैसी प्रभुकृपा व प्रेरणा होगी, वैसा करूंगा परन्तु संकल्प पूर्ण अवश्य करूंगा। इत्यलम्

वेद की प्रामाणिकता व हमारी दशा

बाल्यकाल से ही मेरी रुचि सत्य के अनुसंधान तथा उस पर आचरण करने की रही है, फिर चाहे वह सत्य धर्म विषयक हो किंवा लौकिक विद्याओं व व्यवहारों से सम्बन्धित हो। आर्यसमाजी परिवार में जन्म लेने के कारण उपदेशकों से यह सुनता था कि वेद परमात्मा की वाणी है, तभी से मन में ये प्रश्न उठते थे कि जब वेद परमात्मा की वाणी है, तब ये वेद आर्य समाजियों के मध्य ही क्यों चर्चा का विषय रहता है? क्यों हिन्दू समाज केवल भागवत पुराण एवं रामचरितमानस तक ही सीमित रह गया है? क्यों इस्लामी, ईसाई आदि अनेकों विचारधाराएं ईश्वर के नाम पर प्रचलित हैं? क्यों साम्यवादी आदि नास्तिक मत संसार में प्रचलित हैं? प्रश्न यह भी था कि **क्या सृष्टि का रचयिता ज्ञान भी दे सकता है? क्या वेद वास्तव में सभी प्रकार के ज्ञान-विज्ञान का मूल है?** क्या महर्षि दयानन्द सरस्वती ने कह दिया अथवा अन्य ऋषियों ने ऐसा कहा, इसी कारण वेद को ईश्वरीय ज्ञान एवं सम्पूर्ण विद्याओं का मूल मान लें? यह तर्क मुझे कभी स्वीकार्य नहीं रहा। ऐसा करने की प्रवृत्ति तो संसार के सभी सम्प्रदायों की है, तब आर्य समाज को क्या उन्हीं सम्प्रदायों की भीड़ का एक अंग मान लिया जाये? यदि हाँ, तो आर्य समाज अपने सत्य पथ से भ्रष्ट हो जायेगा। मुझे ऋषियों पर पूर्ण विश्वास भी था परन्तु उस विश्वास को मैं सार्वजनिक रूप से सिद्ध करने में विश्वास करता था। इस कारण मुझे सदैव यह चिन्ता रहती थी कि मैं कैसे अपने विश्वास को ऐसे सत्य में परिवर्तित कर सकूँ, जिससे सम्पूर्ण मानव जाति एकमात्र मानवधर्म (वैदिक धर्म) की ओर प्रवृत्त हो सके और सभी प्रकार के मिथ्या मत मतान्तरों के जाल से यह मानव समाज मुक्त हो सके। **मेरी प्रत्येक विषय को पढ़ने की यही प्रवृत्ति रही है कि प्रत्येक सिद्ध तथ्य को भी सिद्ध करके स्वयं देखा जाए।** इसी कारण मैं गणित के सूत्रों को पहले सिद्ध करता तत्पश्चात् ही उनका उपयोग करता। **ऐसी स्थिति में वेद की ईश्वरीयता व सर्वज्ञानमयता की जो घोषणा ऋषियों ने की है, उसे सिद्ध करना भी मेरी दृष्टि में अत्यावश्यक है।** यह खेद का विषय है कि आर्य समाज के प्रारम्भिक काल से ही इस बिन्दु पर कभी ध्यान नहीं दिया गया। शास्त्रार्थ अनेकों हुए परन्तु कोई शास्त्रार्थ इस बात पर नहीं हुआ कि वेद ईश्वरीय क्यों हैं तथा उसमें क्यों सभी विज्ञानों का मूल माना जाए? इस विषय पर शास्त्रार्थ हुए भी, तो शब्द प्रमाणों में ही उलझे रहे, जबकि शब्द प्रमाणों की प्रामाणिकता पर विश्व में संदेह के बादल छाये रहे। ऐसी स्थिति में शब्द प्रमाणों में ही उलझने से क्या अर्थ? यह बात हमारे मूर्धन्य विद्वानों ने कभी नहीं सोची। वे कुरान, बाईबिल एवं भागवत पुराणादि ग्रन्थों की आलोचना करके उन्हें मनुष्यकृत सिद्ध करके ही वेद को ईश्वरीय सिद्ध करने का यत्न करते रहे, यह उनकी भारी भूल थी। **हम दूसरों को अवगुणी वा मूर्ख सिद्ध करके स्वयं गुणवान् तथा ज्ञानी सिद्ध नहीं हो सकते।** हमें तथ्य व तर्कों के आधार पर स्वयं को गुणवान् व ज्ञानी सिद्ध करना होगा, अन्यथा व्यर्थ वितण्डा ही करना माना जाएगा। **मूर्तिपूजा का खण्डन करते-२ हम स्वयं साधना करना भूल गए। अवतारवाद का खण्डन करते-२ महापुरुषों के दिव्य चरित्र का ही तिरस्कार कर बैठे। जन्मना जातिवाद का खण्डन करते-२ वर्णव्यवस्था को भी भूलने की वकालत कुछ कथित प्रबुद्ध आर्यों द्वारा सुनी जाने लगी, तो कहीं आरक्षण के लोभ में फंसते गये। स्त्री शिक्षा व सशक्तिकरण के नाम पर तथा पर्दाप्रथा का विरोध करते करते पाश्चात्य नारी की भाषा, भूषा व उच्छृंखलता में बह गये।** यह सब दर्शाता है कि आर्य समाज के प्रचार में नकारात्मक सोच का प्रभाव अधिक रहा, जबकि ऋषि दयानन्द का यह मत नहीं था। उन्होंने सत्यार्थ प्रकाश के प्रथम दस समुल्लास में मण्डन के पश्चात् ही खण्डन के चार समुल्लास लिखे हैं।

पाश्चात्य का प्रवाह किंवा बौद्धिक दासता

हमारे इस नकारात्मक प्रचार का परिणाम यह हुआ कि पाश्चात्य शिक्षा व सभ्यता, जो सम्पूर्ण विश्व में तेजी से अपना विस्तार कर रही थी, ने न केवल अन्य भारतीयों अपितु आर्य समाजियों की सन्तान को भी अपने प्रवाह में ले लिया। **आज आर्य कहाने वाले परिवारों में अंग्रेजी शिक्षा, खानपान, वेशभूषा व संस्कार पूर्णतः व्याप्त हो गये हैं। मैकाले की शिक्षा नीति के विरुद्ध ओजस्वी वक्तव्य देने**

वाले अपनी संतान को उसी शिक्षा प्रणाली में धकेलने को विवश हैं। आज उसी पद्धति के न केवल D.A.V. कॉलेज व स्कूल हैं, अपितु गुरुकुलों का भी उसी पद्धति की ओर आकर्षण बढ़ रहा है। आज यह विचार प्रकट किया जा रहा है कि अंग्रेजी प्रणाली से शिक्षा दिलाते हुए विद्यालय में संध्या-यज्ञ सिखाकर कभी-२ कुछ उत्सव आयोजित करके ही ऋषि दयानन्द का स्वप्न साकार हो जायेगा। ऐसे मिथ्या विचारों को मूर्तरूप देने में आर्य समाज की जन व धन की शक्ति व्यर्थ नष्ट हो रही है।

जहाँ तक मैं समझता हूँ, इस सबका मूल कारण यही है कि हमने मूल में भारी भूल की है। वेदरूपी मूल को सर्वथा भुला दिया। इसका भी कारण यह रहा कि महर्षि दयानन्द के वेद भाष्य मात्र संकेत रूप थे, उन्हें समय नहीं मिला। उनके संकेतों को प्रथम पीढ़ी के विद्वान् भी पूर्णतः समझ नहीं पाए और वहीं से नकारात्मक प्रचार का प्रचलन प्रारम्भ हुआ। **जितना परिश्रम कुरान, पुराण व बाईबिल के अध्ययन व उनके खण्डन पर किया गया, उतना वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, मनुस्मृति, दर्शन, उपनिषद, रामायण व महाभारत आदि के अध्ययन व अनुसंधान पर नहीं हुआ। व्याकरण पर परिश्रम हुआ परन्तु निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, कल्प पर विशेष परिश्रम नहीं हुआ। इस कारण हम ऐसी शिक्षा पद्धति के पाठ्यक्रम का निर्माण नहीं कर सके, जिसे पाश्चात्य शिक्षा के समक्ष खड़ा किया जा सके।** उधर अंग्रेजों ने भारतीयों को भोग विलास की ओर प्रवृत्त कर ही दिया था। राजा महाराजा भी भोगविलास में डूबकर दुर्बल व प्रमादी हो गये थे। उधर भारतीय युवा तेजी से अंग्रेजों को आदर्श मानने की दिशा में अग्रसर हुआ। इधर **जब आर्य समाज ही उस वेग को रोकने में समर्थ नहीं हुआ, तब दूसरा कौन संगठन इसमें समर्थ हो सकता था? सभी ने सगर्व पाश्चात्य शिक्षा पद्धति को अपनाकर बौद्धिक पराधीनता गले लगा ली।** भले ही आर्य समाज के अग्रणी योगदान से देश ने राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त कर ली परन्तु बौद्धिक स्वतंत्रता की बात किसी ने सोची भी नहीं। इस दिशा में आर्य नेता स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती, स्वामी दर्शनानन्द ने गुरुकुल का शुभारम्भ किया परन्तु वेद व आर्ष ग्रन्थों के यथार्थ ज्ञान के अभाव में गुरुकुल धीरे-२ खण्डहर होते गये किंवा मात्र कर्मकाण्डी किंवा धर्मोपदेशक पण्डित बनाने के केन्द्र बन कर रह गये, जो स्वयं आर्य समाजी नेता वा विद्वानों के बच्चों को भी अपनी ओर आकृष्ट न कर सके ओर न कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में भारत की दिशा व दशा दोनों ही विनाश के पथ पर अग्रसर हैं। **आज भारत की प्रत्येक समस्या का मूल कारण बौद्धिक दासता ही है। बौद्धिक दासता, मानसिक व आत्मिक दासता लाती है और इसके परिणामस्वरूप राष्ट्रिय एकता, अखण्डता व स्वतंत्रता भी अधिक दिन नहीं रह सकती।** आज आधुनिकता एवं विकास के नाम पर बौद्धिक दासता को प्रसन्नतापूर्वक गले लगाया जा रहा है और बड़े राष्ट्रवादी कहाने वाले इसी मृगमरीचिका में भ्रमित हो रहे हैं और देश को भी भ्रमित कर रहे हैं। मैं समझता हूँ कि वर्तमान परिस्थिति में उनके पास इसका कोई विकल्प भी नहीं है।

साम्प्रदायिक मतभेद

उधर वर्तमान विश्व के परिदृश्य पर दृष्टि डालें, तो जहाँ एक ओर साम्प्रदायिक कट्टरता एवं तज्जन्य भेदभाव, हिंसा व आतंकवाद का ताण्डव दिखाई देता है, वहीं शिक्षा के बढ़ते हुए भी नाना अंधविश्वासों का भी साम्राज्य दिखाई देता है। इतना होने के साथ-२ पाश्चात्य जीवन शैली, संस्कार व शिक्षा सभी सम्प्रदायों को अपने प्रवाह में बहाने लगी है। जिस ईसाई मतावलम्बी देश ने इस भोगवादी सभ्यता को जन्म दिया व प्रचारित किया, उस सभ्यता ने स्वयं ईसाई मान्यताओं की भी जड़ें हिला दी हैं पुनरपि वे देश न केवल स्वयं बाईबिल को गले लगाने को विवश हैं, अपितु संसार भर में ईसाई मत के प्रचार का भारी पुरुषार्थ कर रहे हैं। संसार के मुस्लिम कुरान से बंधे हैं। वस्तुतः इनमें से कुछ कट्टरवादी हैं, तो अन्य यह विचारते हैं कि धर्म विषय मौलवियों व पादरियों वा धर्म ग्रन्थ माने जाने वाले ग्रन्थों का विषय है, अन्य विज्ञानादि शिक्षा वैज्ञानिकों वा अन्य प्रबुद्धों का विषय है। इस मिथ्या विचार से ग्रस्त अनेक वैज्ञानिक उच्च कोटि की प्रतिभा के धनी होते हुए भी अपने-२ सम्प्रदायों की मिथ्या मान्यताओं से हटने का विचार भी नहीं करते। उस समय उनकी वैज्ञानिक सोच शून्य हो जाती है। यही कारण है कि विद्या-विज्ञान का विस्तार होते हुए भी संसार नाना मत-मतान्तरों में बंटा पारस्परिक वैर, विरोध, घृणा, हिंसा से त्रस्त है। **भौतिक विद्याओं में एक होते हुए भी उनका मिथ्या अध्यात्म परस्पर एक नहीं होने देता।** इस सत्य पर कोई भी विचारने का प्रयास नहीं करता कि मानव एकता का एकमात्र आधार सत्य ही है। जैसा कि **महर्षि दयानन्द सत्यार्थ प्रकाश** की भूमिका में लिखते हैं-

''सत्योपदेश के बिना अन्य कोई भी मनुष्य जाति की उन्नति का कारण नहीं है।''

जहाँ सभी मत स्वयं को ही सत्य मानते हों तथा सभी मतों में बुद्धि, विवेक व विज्ञान का कोई हस्तक्षेप वा उपयोग न हो, तब इन मतों की प्रामाणिकता को कौन सिद्ध करेगा? **आस्थाओं व विश्वासों के नाम पर चल रहे मत ही इस संसार में मानव जाति के विभाजन व विनाश का कारण हैं। इस पर आस्था व विश्वासों की स्वतंत्रता मानव एकता के स्थान पर नवीन-२ मत चलाकर मानव जाति को खण्ड-२ कर रही है।** इस सबका कारण भी यही है कि विभिन्न मत मतान्तरों को कोई ऐसा मत दिखाई नहीं देता, जो सत्य-विज्ञान की दृष्टि से सिद्ध होने का दावा करता हो।

आर्य समाज का शैथिल्य

ऐसा दावा **ऋषि दयानन्द** ने किया था कि वैदिक धर्म व वेद ही समस्त विज्ञान का मूल स्रोत है तथा यही धर्म सनातन व सार्वभौमिक मानव धर्म है परन्तु ऋषि के अनुयायी ऐसा करने का सामर्थ्य प्राप्त नहीं कर सके और वे आर्य समाज को भी एक सम्प्रदाय बना बैठे, जिसमें प्राचीन अधिकांश महर्षियों, देवों आदि को भी सर्वथा भुला दिया गया। ऐसे विद्वान् आज इस समाज में भी पूजे जा रहे हैं, जो युवा पीढ़ी को अपने इतिहास के प्रति भी शंकित करके स्वयं ही प्रसिद्ध होने का प्रयत्न कर रहे हैं। **जिस आर्य समाज को कभी अमरीकी विद्वान् एण्ड्रयू जैक्सन ने एक ऐसी अग्नि बताया था, जो सम्पूर्ण विश्व के दोषों, पापों व अज्ञान को नष्ट करने में सक्षम था, वह आर्य समाज स्वयं वेदादि शास्त्रों के विषय में ऋषि दयानन्द की दृष्टि से दूर हो गया। वेदविद्या की जो अग्नि ऋषि दयानन्द के हृदय में जलती थी, वह अग्नि स्वतंत्रता संग्राम, समाज सुधार, अन्धविश्वास निर्मूलन तक ही सिमट कर रह गयी** साथ ही वेदविद्या रूपी प्रेरक उद्गम के अभाव में यह अग्नि इन सुधारों के उद्देश्यों से दूर हो गयी तथा अन्य अनेक पूर्वोक्त पार्श्व दुष्प्रभावों का जन्म हो गया।

इस विचार को मैं हृदय में वर्षों संजोए रहा। मेरे मत में ऋषि दयानन्द जहाँ महान् राष्ट्रवादी थे, वहीं मानवता एवं विश्व बन्धुत्व के प्रामाणिक पुरोधा भी थे। वे जहाँ महान् वीतराग योगी थे, वहीं वे महान् समाज सुधारक एवं लौकिक विद्याओं के प्रबल पक्षधर थे। वे जहाँ आध्यात्मिक विद्या के महान् आचार्य थे, वहीं पदार्थ विद्या के यथार्थ पक्षधर थे, वे जहाँ यज्ञ व इसके द्वारा पर्यावरण शोधन के प्रबल प्रस्तोता थे, वहीं उद्योग, कृषि आदि के द्वारा आर्थिक क्रान्ति के प्रबल समर्थक। सारांशतः उनकी दृष्टि बहुआयामी थी क्योंकि उनके मस्तिष्क में वेद के यथार्थ ज्ञान की ज्योति विद्यमान थी, जो इन सभी क्षेत्रों में उन्हें सतत प्रेरणा दिया करती थी। वे केवल वेद व आर्ष विद्या के बल पर ही भारत ही नहीं अपितु विश्व का सर्वांगीण उन्नयन करना चाहते थे, परन्तु उनके अनुयायियों ने उनकी दृष्टि का समुचित आदर व उपयोग नहीं किया, भले ही उन्होंने बड़े-२ त्याग, तप, बलिदान व पुरुषार्थ के प्रमाण प्रस्तुत किए। राष्ट्र को अंग्रेजों की दासता से मुक्त करने तथा अनेक सामाजिक सुधार करने में भारी पुरुषार्थ किया।

ऋषि प्रेरणा व मेरा संकल्प

महर्षि दयानन्द का स्वप्न था कि उनके वेदभाष्य से भूमण्डल में ऐसी विद्या का प्रकाश होगा, जिसे मिटाने वा चुनौती देने का किसी का सामर्थ्य नहीं होगा परन्तु दैव दुर्योग से उन्हें अनेक बाधाओं से जूझना पड़ा, अनेक दिशाओं में कार्य करना पड़ा, अनेक बार विषपान करना पड़ा, इस कारण वे अपना वेदभाष्य पूर्ण नहीं कर सके और जो किया, वह भी सांकेतिक रह गया। मैंने इस बिन्दु पर गहराई से विचारा तथा वर्तमान भौतिक विज्ञान पर भी गहराई से चिन्तन किया। अपने परिचय में दर्शाये अनेक भौतिक वैज्ञानिकों से वर्षों संवाद किया, विज्ञान की समस्याओं एवं सीमाओं को गहराई से समझने का प्रयास किया। मेरे मस्तिष्क में यह अनुभव किया कि परमात्मा की कृपा से मैं ऋषि के स्वप्न को पूर्ण करने की दिशा में समर्थ हूँ और मुझे इसी दिशा में कार्य करना चाहिए। तभी **मैंने महाशिवरात्रि वि.सं. २०६२ तदनुसार २६ फरवरी २००६ को संकल्प लिया कि मैं आगामी बारह वर्षों में वेद की ईश्वरीयता तथा सर्वविज्ञानमयता को संसार के विकसित देशों के वैज्ञानिकों के समक्ष सिद्ध कर दूंगा** अन्यथा शरीर को त्याग दूंगा। मेरे शरीर त्याग के संकल्प से कुछ हितैषी आर्य विद्वानों में खलबली मची और उनमें से श्री डॉ. सुरेन्द्रकुमार (मनुस्मृति के भाष्यकार) मेरे पास आकर इस संकल्प को संशोधित कर वापिस लेने का दबाव डाला। उनके कुछ तर्क, जो लोकहितकारी प्रतीत हुए, को स्वीकार करके संकल्प में कुछ

संशोधन करके समय सीमा ३ वर्ष बढ़ा दी तथा शरीर त्याग के स्थान पर इस न्यास (ट्रस्ट) के त्याग का संकल्प लिया। मैं अपने संकल्प को साकार करने हेतु एकाकी अध्ययन करते-२ इस अनुभव पर पहुँचा कि शास्त्रों को समझने में हमारे विद्वानों से भी भारी भूलें हुई हैं। अध्ययन क्रम में जब ऐतरेय ब्राह्मण की बारी आई तो इस विचित्र व रहस्यमय ग्रन्थ को देखकर मैं भयभीत व चिन्तित हो उठा। इस ग्रन्थ का पार पाये बिना अपने संकल्प को पूर्ण करने की कल्पना भी नहीं हो सकती थी। अस्तु **परमगुरु परमात्मा की कृपा व प्रेरणा से मैंने इस ग्रन्थ का सम्पूर्ण वैज्ञानिक व्याख्यान कर लिया। इस ग्रन्थ के व्याख्यान में मेरा मार्गदर्शक परमगुरु परमपिता परमात्मा ही है। इसके अतिरिक्त पुस्तक गुरु के रूप में महर्षि दयानन्द सरस्वती, जिनके वेदभाष्यों, सत्यार्थ प्रकाश व ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका आदि ग्रन्थों का प्रचुर प्रयोग किया है। ''वेदविज्ञान-आलोक'' नाम से प्रकाशित इस ग्रन्थ के बारे में यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त समझता हूँ कि यह ग्रन्थ विश्वभर के वेदविद्या अनुसंधानकर्ताओं तथा वर्तमान भौतिक वैज्ञानिकों को अनुसंधान की एक नयी दिशा व पद्धति प्रदान करेगा, जिससे उन्हें अब तक हो रही भूलों व समस्याओं को दूर करने का एक सुखद प्रकाशमय मार्ग प्राप्त होगा।** मैंने वेदानुसंधान व वेदाध्ययन की २-३ हजार वर्ष पुरानी परम्परा को नकारा ही नहीं अपितु उनका अन्त्य परीक्षण भी किया है। मैंने कुछ वेदमंत्रों के देवताओं को बदलने का भी साहस किया है। सुधी पाठक, इसकी परीक्षा स्वयं कर सकते हैं। इस व्याख्यान के लिये भूमि व कच्चा माल आचार्य सायण ने प्रदान किया, तो दृष्टि व बुद्धि ऋषि दयानन्द ने। अन्य अनेक ऋषि मुझे अपने भिन्न-२ ग्रन्थों के द्वारा नाना प्रकाशित मार्ग दिखाते रहे, उधर सबके परमगुरु परमपिता परमात्मा के ध्यान, मनन व चिन्तन से मुझे वेदविज्ञान के ऐसे रहस्य अनायास ही खुलते दिखाई दिए, जिनकी कभी कल्पना नहीं की थी। यदि मुझे आचार्य सायण का भाष्य नहीं मिलता, तो मैं ऐतरेय ब्राह्मण के उनके भाष्य में उद्धृत अनेक आर्ष ग्रन्थों के उद्धरणों एवं वेदमंत्रों आदि से परिचित नहीं हो सकता था, जिससे मेरा भाष्य संक्षिप्त एवं अप्रामाणिक ही रहता। डॉ. सुधाकर मालवीय के हिन्दी अनुवाद से भी मुझे कुछ पदों को समझने का लाभ तो मिला ही। मैंने अपनी पूर्वपीठिका में सायण व मालवीय के भाष्य वा अनुवाद को उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है और अपना भाष्य भी प्रस्तुत किया है, पाठक उसकी तुलना स्वयं करें। मेरा दृढ़ मत है कि सायण आदि आचार्यों की व्याख्यान शैली अत्यन्त आपत्तिजनक, मिथ्या एवं अज्ञानतापूर्ण है। इस शैली ने वेद एवं आर्ष ग्रन्थों को संसार में घोर अपयश प्रदान किया है। इसी ने विश्व में मांसाहार, पशुबलि, मदिरा एवं व्यभिचार आदि दोषों का प्रचार किया है। मैं इस भाष्य की कड़े शब्दों में निन्दा करते हुए भी इतना तो स्वीकार करता हूँ कि उन्होंने शास्त्रों को सुरक्षित रख लिया। इस एक हेतु से उनके प्रति धन्यवाद एवं आभार व्यक्त करता हूँ। भले ही उन्हें वेदादि शास्त्रों के विज्ञान की वर्णमाला का भी ज्ञान नहीं था पुनरपि शास्त्रों को बचाये रखा, यह भी एक उपकार है, भले ही उसके साथ अनेक अपकार भी जुड़े हैं। **मेरा मत है कि ऋषि दयानन्द की दृष्टि के अभाव में संसार का कोई भी विद्वान् वेद तथा आर्ष ग्रन्थों का यथार्थ विज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। महर्षि जैमिनी** के पश्चात् इस भूतल पर **ऋषि दयानन्द** ही एकमात्र व्यक्ति हुए हैं, जिन्होंने वेद को यथार्थ दृष्टि से देखा। मेरा रोम-रोम **ऋषि दयानन्द** के प्रति कृतज्ञ है। मैं उनकी दृष्टि से ही वेद तथा **महर्षि भगवान् ब्रह्मा** से चली आ रही महान् वैदिक परम्परा के अनेक ऋषियों के महान् विज्ञान को समेटे **महर्षि ऐतरेय महीदास** के इस महान् वैज्ञानिक ग्रन्थ को समझने में समर्थ हुआ हूँ। मैं संस्कृत भाषा, अंग्रेजी भाषा एवं विज्ञान का विधिवत् वा पूर्ण अध्ययन नहीं कर सका हूँ पुनरपि दोनों ही क्षेत्रों में मैंने विश्व को एक नयी दिशा देने का व्रत लिया और ईश्वर की कृपा से मैं अपने ग्रन्थ के माध्यम से स्वयं को व्रतपूर्ण करने में सफल वा सक्षम मान रहा हूँ।

इस व्याख्यान ग्रन्थ के तीन भाग हैं-

1. प्रमाण भाग

इस भाग में ऐतरेय ब्राह्मण अथवा वेद की उन ऋचाओं, जो इस ग्रन्थ में प्रयुक्त हुई हैं, के विभिन्न पदों के आर्ष निर्वचनों के संदर्भ तथा ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य में दिये अर्थों का संग्रह किया है। मैंने इन्हीं के आधार पर व्याख्यान करने का प्रयास किया है। इस ग्रन्थ में चार वेद संहिताओं, वेद भाष्य, विभिन्न ६२ आर्ष ग्रन्थों सहित कुल ६५ ग्रन्थों एवं ३० उच्च स्तरीय आधुनिक भौतिक विज्ञान के ग्रन्थों तथा शब्द कोषों को उद्धृत किया गया है।

2. व्याख्यान भाग

इस भाग में कण्डिकाओं पर अपना व्याख्यान किया है। मैंने प्रमाण भाग के प्रमाणों का कैसे उपयोग अपने व्याख्यान में किया है, यह नहीं दर्शाया है किन्तु प्रतिभासम्पन्न पाठक इस बात को व्याख्यान भाग को गम्भीरता से पढ़कर अनुभव कर सकेंगे, यह मुझे विश्वास है। यदि मैं प्रमाणों के उपयोग करने की प्रक्रिया को स्पष्ट करता, तो व्याख्यान भाग लगभग दो गुना तो हो ही जाता। उधर मैंने इस ग्रन्थ में सैकड़ों वेदमंत्रों का सृष्टि पर प्रभाव भी अति संक्षेप में दर्शाया है। वस्तुतः उन ऋचाओं का प्रभाव बहुत विस्तृत दर्शाया जा सकता था। मैंने पूर्वपीठिका में ६ मंत्रों का त्रिविध भाष्य एवं उनका सृष्टि पर प्रभाव ग्रन्थ के व्याख्यान में दर्शाए प्रभाव से अधिक विस्तार से दिया है किन्तु वह भी पूर्ण नहीं है। ऋचा के प्रत्येक पद का पृथक्-२ व्याख्यान व प्रभाव दर्शाया जा सकता था। **महर्षि ऐतरेय महीदास** ने इस ग्रन्थ में स्वयं अनेक ऋचाओं का व्याख्यान किया है, जिसे भाष्यकारों ने अपने याज्ञिक अर्थ में रूढ़ कर दिया है, जिसका कोई महत्व नहीं है। मैंने **महर्षि ऐतरेय महीदास** के व्याख्यानों पर अपना वैज्ञानिक व्याख्यान करके ऋचाओं का सृष्टि पर प्रभाव दर्शाया है। वह प्रभाव पूर्वपीठिका में मेरे द्वारा दिये गये प्रभावों से भी बहुत विस्तृत है। इसे पाठक ऐतरेय खण्ड ४.२० के व्याख्यान में स्वयं अनुभव कर सकते हैं। **यदि मैं इस प्रकार प्रति पद का भाष्य करके प्रभाव दर्शाता, तो यह ग्रन्थ कम से कम दो तीन गुने आकार का हो जाता तथा इसमें कम से कम ५-७ वर्ष समय और लग जाता।** उधर मैं संकल्प की सीमा से बंधा था। अस्थिर स्वास्थ्य से पीड़ित रहा। आयु का ५५ वां वर्ष व्यतीत हो चुका है। इनमें से सन् १९८५-८८ के मध्य केवल लगभग ३ वर्ष ही ऐसे व्यतीत हुए, जब मैं स्वयं को स्वस्थ अनुभव करता था। ऐसी विषम परिस्थिति के कारण ऐसा भाष्य करने की मेरी इच्छा मन में ही रह गयी। हाँ, इतना अवश्य है कि **मेरे ग्रन्थ में विश्व के वेदज्ञों को वेदमंत्रों के स्वरूप व सृष्टि प्रक्रिया पर प्रभाव का एक नूतन प्रकाश अवश्य मिलेगा, जिसके आश्रय पर वे वेद विद्या के रहस्यों को दूर तक देखने में भविष्य में समर्थ होंगे।** यहाँ मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि मैंने ऋचाओं का सृष्टि प्रक्रिया पर जो प्रभाव दर्शाया है, उसके अतिरिक्त प्रभाव भी होता है, इसे सुविज्ञ पाठक स्वयं देख सकते हैं। मैंने चिन्तन के प्रवाह में समय सीमा को ध्यान में रखकर जितना-२ मस्तिष्क में आया, लिखता गया। विद्वान् पाठक स्वयं भी कुछ चिन्तन करने का प्रयत्न करें।

3. वैज्ञानिक भाष्यसार

साधारण पाठक अथवा केवल वैज्ञानिकों के लिए यह सार रूप में लिखा गया है। जो इस ग्रन्थ की गम्भीर विद्या को समझने की क्षमता नहीं रखते हों तथा जिन्हें संस्कृत भाषा का कोई ज्ञान नहीं हो, वे इस भाष्यसार से महती वेदविद्या के कुछ संकेतों को प्राप्त कर सकते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि कहीं कहीं वे व्याख्यान भाग को पढ़े व समझे बिना भाष्यसार से कोई विशेष निष्कर्ष प्राप्त नहीं कर सकते हैं, तो कहीं-२ जो विषय व्याख्यान भाग में सामान्य प्रतिभा वाले पाठकों को स्पष्ट नहीं होते हैं, वे भाष्यसार में स्पष्ट हो सकेंगे।

व्याकरणादि शास्त्रों के परम्परागत विद्वान् मेरे व्याख्यान को पढ़कर यह अनुभव करेंगे कि उन्हें अपने ज्ञान का उपयोग कैसे करना चाहिए? व्युत्पत्ति व निर्वचन विद्या की वैज्ञानिकता का उन्हें इस ग्रन्थ में पदे-२ बोध होगा। ब्राह्मण ग्रन्थों की महती वैज्ञानिकता का उन्हें अवश्य बोध होगा।

ग्रन्थ में ऋचाओं के प्रभाव को पढ़कर पाठकों के मन में प्रश्न उठेगा कि इन प्रभावों में ''विद्युत् की समृद्धि, प्रकाश व ऊष्मा की समृद्धि, इन्द्र तत्व की प्रबलता, संयोज्यता में वृद्धि'' जैसे प्रभावों की पुनरुक्ति बहुलता से हुई है। इससे पाठकों को अरुचि भी हो सकती है। उन्हें कुछ ऐसा भी प्रतीत होगा कि वेदमंत्रों की अपेक्षा कण्डिकाओं का व्याख्यान अधिक गम्भीर एवं सारगर्भित है। इस विषय में मैं पाठकों को प्रथम तो अवगत करना चाहूंगा कि यह ग्रन्थ ऐतरेय ब्राह्मण का व्याख्यान है, न कि वेद का, इस कारण इस ब्राह्मण की कण्डिकाओं का व्याख्यान ही प्राथमिकता के साथ किया गया है। रसायन विज्ञान के विद्यार्थी इस बात से अवगत हैं कि जब किसी अयस्क को पिघलाकर किसी धातु को शुद्ध रूप में पृथक् किया जाता है, उस समय अन्य कोई भी धातु, वह भले ही मूल्यवान् हो, की उपेक्षा करके छोड़ दिया जाता है। इसी प्रकार हमारा उद्देश्य ऐतरेय ब्राह्मण का व्याख्यान करना रहा है। वेद की ऋचाओं का तो केवल प्रभाव मात्र दर्शाना, वह भी संक्षेप में उद्देश्य रहा है और इतना ही पर्याप्त भी है। अब

रही बात प्रभाव की पुनरुक्ति की, तद् विषय में ज्ञातव्य है कि इस सृष्टि में जब कोई क्रिया होती है, तब असंख्य प्रकार की रश्मियों की आवृत्ति निरन्तर होती रहती है। इन आवृत्तियों के सम्मिलित प्रभाव से ही वह प्रभाव दृढ़ व पर्याप्त हो पाता है। जब हम किसी ईंधन को जलाते हैं, अथवा बल्ब को जलाते हैं, तब क्या हम जानते हैं कि ज्वलन वा प्रकाशन की इस प्रक्रिया में कितनी प्रकार की तरंगें बार-२ आवृत्त होकर कितनी प्रकार की क्रियाओं को पुनरावृत्त करती हैं। उसके पश्चात् ही हमें ऊष्मा व प्रकाश का प्रभाव व अस्तित्व दिखाई देता है। यही स्थिति समस्त ब्रह्माण्ड में निरन्तर बनी रहती है। आशा है पाठक इस संकेत को समझ गये होंगे।

यह ग्रन्थ अनेक बुद्धिमान् पाठकों को भी अति क्लिष्ट प्रतीत होगा परन्तु इस विषय में मैं निवेदन करना चाहूंगा कि **जो वेदविद्या लगभग पांच हजार वर्षों से विलुप्त हो चुकी थी, उसे सहसैव कोई प्रकाशित करे, उसका वह रूप रूढ़ परम्परा वाले विद्वानों को क्लिष्ट व विचित्र ही नहीं अपितु काल्पनिक भी प्रतीत होगा। फिर विज्ञान को विज्ञान की भाषा में ही लिखा जा सकता है।** उस विज्ञान से अनभिज्ञ पाठकों को मैं यही निवेदन करूंगा कि धैर्यपूर्वक बार-२ पढ़कर समझने का प्रयास करें। **यह ग्रन्थ उन्हीं पाठकों के लिए है, जो संस्कृत व्याकरण के साथ-२ थ्योरिटीकल फिजिक्स में अच्छे स्तर पर M.Sc. वा Ph.D. हों। केवल परम्परागत पद्धति से पढ़े वेदानुसंधाताओं, व्याकरण, निरुक्त व दर्शन के अध्येताओं को बिना भौतिक विज्ञान के गम्भीर ज्ञान के कुछ भी हाथ नहीं लगेगा।** उधर जो भौतिक विज्ञानी संस्कृत व्याकरण व भाषा का कुछ भी ज्ञान नहीं रखते, वे इस ग्रन्थ से बहुत लाभ उठा सकते हैं पुनरपि उन्हें ऐतरेय ब्राह्मण के सम्पूर्ण विज्ञान का बोध नहीं होगा और न उन्हें यह समझ आ सकेगा कि मैंने यह व्याख्यान कैसे किया है और न वे मेरी भांति अन्य आर्ष ग्रन्थों वा वेदों के विज्ञान को समझ पाएंगे। हाँ, यह भी सत्य है कि संस्कृत व्याकरण निरुक्तादि शास्त्रों के साथ-२ थ्योरिटीकल भौतिकी का प्रतिभाशाली विद्वान् भी बिना लेखक (मुझसे) से पढ़े सम्पूर्ण व्याख्यान को हृदयंगम करके अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों वा वेदमंत्रों का भाष्य कर ले, यह भी अति दुष्कर है, पुनरपि वे इस दिशा में विशिष्ट ऊहा, साधना व निष्पापहृदयता के बल पर आगे बढ़ अवश्य सकते हैं और धीरे-२ सफलकाम भी हो सकते हैं। इस ग्रन्थ का सम्पादन मेरे सुयोग्य शिष्य प्रिय विशाल आर्य (अग्नियश वेदार्थी), जिनका कुछ परिचय मैंने अपने परिचय के साथ लिखा है, ने किया है। उन्होंने इस पुस्तक में अनेकों महत्वपूर्ण चित्र बनाये हैं। इन चित्रों से सुविज्ञ पाठक विषय को अच्छी प्रकार समझ सकेंगे। ये चित्र विश्व के भौतिक विज्ञानियों के लिए आश्चर्यप्रद होंगे। यदि प्रिय विशाल आर्य (अग्नियश वेदार्थी) ये चित्र न बनाते, तो यह ग्रन्थ इतने सुन्दर रूप में पाठकों को उपलब्ध न हो पाता। इन्होंने जिस योग्यता, लगन, निष्ठा और परिश्रम से ये चित्र बनाये हैं तथा भौतिक विज्ञान की अनेक गम्भीर समस्याओं को मेरे ध्यान में लाया है, अनेक गम्भीर प्रश्न मुझसे पूछे हैं, उसके कारण मैंने उन समस्याओं को सुलझाया एवं प्रश्नों का उत्तर इस पुस्तक में दिया है, इससे ग्रन्थ का महत्व अपेक्षाकृत बढ़ गया है। इस ग्रन्थ की सम्पूर्ण साज-सज्जा भी इन्हीं की प्रतिभा व लगन का परिणाम है। इसके लिए मैं इन्हें हृदय से भूरिशः आशीर्वाद देता हूँ। इस ग्रन्थ के ईक्ष्यवाचन में श्री राजाराम सोलंकी, श्री नेथीराम चौधरी, श्री सुमित शास्त्री, श्री ब्र. राजेश आर्य एवं ब्र. जी. विश्वदेश ने बहुत परिश्रम किया है। इनके पश्चात् अन्त में मैंने स्वयं ईक्ष्यवाचन किया है पुनरपि इतने बड़े ग्रन्थ में त्रुटियां रह जाना सम्भव है। पाठक ऐसी त्रुटियों की ओर ध्यान दिलायेंगे तो कभी अगला संस्करण प्रकाशित होने पर उन पर विचार करके उचित संशोधन करने का प्रयास रहेगा।

वेद व आर्ष ग्रन्थों की महत्ता

प्रिय पाठकगण! ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय क्या है? यह पूर्वपीठिका में पढ़ ही सकते हैं। यहाँ संक्षेप में इतना कहना है कि **वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ अथवा अन्य आर्ष ग्रन्थ ऐसी विद्या के भण्डार हैं, जिन पर समूची मानव सभ्यता का साझा अधिकार है तथा सम्पूर्ण प्राणिजगत् के लिए समान रूप से हितकारी है। वेद तो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में विद्यमान बुद्धिमान् जीवों के लिए समान रूप से पठनीय व आचरणीय हैं।** वेद सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का ग्रन्थ है तथा वैदिक संस्कृत भाषा ब्रह्माण्ड की भाषा है, इस बात का प्रमाण पाठकों को इस ग्रन्थ के पढ़ने से मिल जायेगा। ऐसी स्थिति में इस ग्रन्थ को मात्र राष्ट्रवाद से जोड़ना, इसके महत्व को कम करना ही होगा। **इतने पर भी यह सत्य है कि आर्यावर्त्त (भारत) वह देश है, जिसने अभी तक वैदिक साहित्य को बचा कर रखा है।** विश्व में अन्यत्र कहीं भी जो भी वैदिक

साहित्य विद्यमान है, यह भारतवर्ष से ही ले जाया गया है। इसी साहित्य के बल पर **हमारे राष्ट्र की संस्कृति, सभ्यता, ज्ञान-विज्ञान व इतिहास की एक ऐसी महती धरोहर है, जिस पर हम भारतवासी सदैव से स्वाभिमान करते रहे हैं। दुर्भाग्य से आज वही समृद्ध, जगद्गुरु, चक्रवर्ती भारत देश बौद्धिक दासता से पीड़ित है।**

इस ग्रन्थ की उपादेयता

मेरे इस भाष्य से प्रत्येक प्रबुद्ध भारतीय में प्रखर राष्ट्रिय स्वाभिमान जगेगा, बौद्धिक दासत्व सदैव के लिए मिट जायेगा, भारत पुनः संसार के ज्ञान विज्ञान का केन्द्र बन कर उभरेगा। विश्व एक वैदिक मंच पर आकर वैदिक परिवार की भांति रहने के उपाय जानेगा। वेदों के साथ-२ सभी आर्ष ग्रन्थों की विश्व में प्रतिष्ठा होगी। **आज अनेक देशी वा विदेशी वेदानुसंधाता वेदों का अनर्थ करके उन पर तथा ऋषियों, देवों व भारतीय प्राचीन संस्कृति, इतिहास व सभ्यता पर अनेक दोषारोपण करते हैं, उन्हें इस ग्रन्थ के पढ़ने के पश्चात् अपनी अज्ञानता का अवश्य बोध होगा, ऐसा मेरा दृढ़ मत है। वे अपने ग्रन्थों, प्रवचनों, लेखों, इलेक्ट्रॉनिक व प्रिंट मीडिया में अपने विचारों का भ्रामक विचारों का प्रचार करना न केवल भूल जाएंगे, अपितु उन्हें अपने कृत्य पर पश्चाताप भी होगा। वर्तमान भटकता हुआ विज्ञान वैदिक विज्ञान के रूप में एक नवीन प्रकाश स्तम्भ को प्राप्त करके सृष्टि के गूढ़ रहस्यों को समझकर भोगवाद से अध्यात्मवाद की ओर अग्रसर होगा।** वर्तमान भौतिक वैज्ञानिक व उच्च प्रबुद्धजनों का न केवल यह भ्रम निर्मूल हो जायेगा कि वेद व ऋषियों के ब्राह्मणादि ग्रन्थ केवल कर्मकाण्ड के भ्रामक विचारों के ग्रन्थ हैं तथा वर्तमान भौतिक विज्ञान ही परम प्रमाण वा ध्रुव सत्य है, अपितु उनका शिर इस महान् वैदिक विज्ञान के सम्मुख श्रद्धा से झुक जायेगा और **वे वेदों व ऋषियों के ग्रन्थों को मानवता की महती वैज्ञानिक धरोहर मानकर पढ़ने एवं उन पर अनुसंधान करने को प्रवृत्त होंगे।** मानव निरापद एवं अति आवश्यक होने पर ही तकनीक का आविष्कार करेगा, गलाकाट प्रतिस्पर्धा समाप्त होकर संसार के मानव परस्पर **'जीओ और जीने दो'** के सूत्र पर संसार में मिलकर चलेंगे। मांसाहार, यौन उच्छृंखलता, मदिरादि बुद्धिनाशक पदार्थों का सेवन, अपराध, मिथ्या छलकपट, पाखण्ड, अन्धविश्वास, साम्प्रदायिकता, जातिगत भेदभाव, अराजकता आदि पापों को दूर करके यह मानवजाति अहिंसा, सत्य, त्याग, प्रेम, मैत्री, न्याय के मार्ग पर चलकर विश्व शान्ति की ओर अग्रसर होगी।

कुछ विद्वान् पाठक इस ग्रन्थ में दोषों को ही ढूंढेंगे और उन्हें कदाचित् गुण नहीं दिखाई देंगे, क्योंकि वर्तमान रागद्वेषादि के वातावरण में यह स्वभाव सामान्य हो गया है। मैं उन पाठकों से इतना निवेदन करूंगा कि वे ऐतरेय ब्राह्मण के मूल को पढ़ें और उस पर स्वयं अपनी बुद्धि से व्याख्यान करने का प्रयास करें, अपने व्याकरण, निरुक्त वा दर्शनादि शास्त्रों के ज्ञान की परीक्षा करें। अपने गुरुजनों को भी दिखाएं, उनसे भी व्याख्यान कराने का प्रयास करवाएं। उसके पश्चात् ही इस ग्रन्थ की क्लिष्टता अनुभव होगी। **मैंने हजारों वर्ष पुरानी इस वेदविद्या के कपाटों को खोला है। विश्व में प्रथम बार वैज्ञानिक व्याख्यान मैंने ही किया है, वह भी बिना किसी की सहायता के। परमपिता परमात्मा के अतिरिक्त इस कार्य में मेरा कोई गुरु वा मार्गदर्शक नहीं है।** इस कारण ग्रन्थ में कुछ न्यूनताएं रहना सम्भव है। मैं प्रयास करूंगा कि प्रिय विशाल आर्य (अग्नियश वेदार्थी) आदि को इस ग्रन्थ को पढ़ाते समय उन न्यूनताओं को पहचाना जाए, तब उनको दूर करने हेतु पृथक् ग्रन्थ लिखने का विचार किया जायेगा। मैंने कुछ वर्ष पूर्व इस ग्रन्थ का रफ व्याख्यान करने के उपरान्त **''मेरी प्रथम दृष्टि में - ऐतरेय ब्राह्मण विज्ञान''** नामक पुस्तक लिखी थी। उसमें एक सौ प्रश्न वर्तमान विज्ञान विषयक तथा ४३ प्रश्न वेद सम्बन्धित थे और ऐतरेय ब्राह्मण के वैज्ञानिक व्याख्यान द्वारा उनका उत्तर देने का विचार व्यक्त किया था। मैं पाठकों को अवगत कराना चाहता हूँ कि उनमें से कुछ प्रश्न आज विशेष महत्व के प्रतीत नहीं होते, शेष सभी प्रश्नों के अतिरिक्त Theoretical physics के अनेक सम्भावित प्रश्नों का उत्तर भी प्रतिभाशाली पाठक इस ग्रन्थ में प्राप्त कर सकते हैं। पृथक् से इनका उत्तर लिखने का मुझे अवकाश नहीं मिला और **मैं यह भी चाहता हूँ कि पाठक इस सम्पूर्ण ग्रन्थ को स्वयं पढ़ें, जिससे न केवल उन प्रश्नों का उत्तर मिलेगा, अपितु उन्हें ईश्वर का भी यथार्थ बोध होगा, जिससे उनमें अध्यात्म वा नैतिकता आदि सद्गुणों का विकास होगा, अन्यथा वे केवल भौतिक विज्ञान सम्बन्धी लाभ लेकर वेदविद्या का उसी प्रकार दुरुपयोग कर सकते हैं, जिस प्रकार वर्तमान विज्ञान व तकनीक का दुरुपयोग हो रहा है। मैं नहीं चाहता कि यह कलंक वेदविद्या पर भी लगे।** इसीलिए पाठकों को इतना परिश्रम तो करना ही चाहिए

और **धार्मिक विज्ञान एवं वैज्ञानिक धर्म** के मार्ग पर चलकर इस महान् विज्ञान का लोक कल्याण हेतु ही उपयोग करना चाहिए। पुनरपि यदि मैंने कभी आवश्यक व उचित समझा और स्वास्थ्य आदि की भी अनुकूलता रही तो, मैं अनेक प्रश्नों के विस्तृत उत्तर देने के लिए एक पृथक् पुस्तक लिखने पर विचार करूंगा।

अन्त में **मैं विश्वभर के विचारकों, वैज्ञानिकों, वेदानुसंधाताओं, धर्माचार्यों, राजनेताओं, उद्योगपतियों, समाजसेवियों, शिक्षाशास्त्रियों के साथ-२ भारत के सभी प्रबुद्ध नागरिकों, विशेषकर युवा पीढ़ी का आह्वान करता हूँ कि वे अपने प्रखर मस्तिष्क एवं उदार हृदय से इस ग्रन्थ को निष्पक्ष भाव से पढ़ने का श्रम करें।** सभी पूर्वाग्रहों, दुराग्रहों, प्रतिष्ठा व अन्य लोभादि को दूर रखकर यदि वे इस ग्रन्थ को पढ़कर समझ लेंगे, तो मुझे विश्वास है कि वे स्वयं इस ग्रन्थ को विश्व की एक महती धरोहर मानने को विवश होंगे। परमपिता परमात्मा, जिनकी महती कृपा व प्रेरणा से ही मैं इस ग्रन्थ को लिख सका हूँ, संसार के मनुष्यों में सत्य-मत का ऐसा अंकुर उत्पन्न करे कि असत्य का अंधकार मिटकर सत्य का सर्वत्र प्रकाश हो सके।

''असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्यो र्माऽमृतं गमयेति''

इसी कामना व भावना के साथ

आचार्य अग्निव्रत नैष्ठिक
स्थान- वेद विज्ञान मंदिर,
भागल-भीम, भीनमाल

तिथि- कार्तिक कृ. अमावस्या
शारदीय नवसस्येष्टि (दीपावली)
महर्षि दयानन्दनिर्वाण दिवस
वि.सं. २०७४, दिनांक १९.१०.२०१७

ग्रन्थ को समझने हेतु आवश्यक जानकारी

वेदविज्ञान-आलोकः

Volume 1 | Volume 2 | Volume 3 | Volume 4

पूर्वपीठिका

8 पञ्चिका

3 परिशिष्ट

प्रत्येक में 5 अध्याय

कुल 40 अध्याय
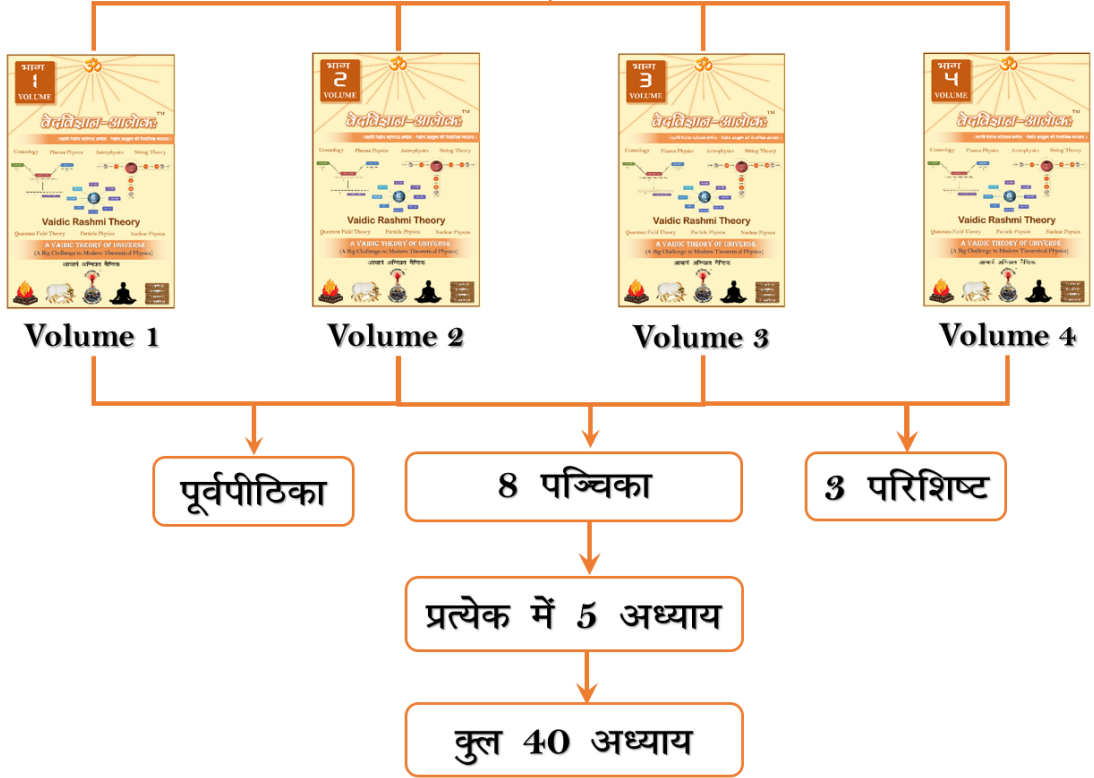
इस ग्रन्थ में कुल मिला कर 2800 पृष्ठ हैं।

१. आप्रीभिराप्रीणाति ।।
तेजो वै ब्रह्मवर्चसमाप्रियस्तेजसैवैनं तद् ब्रह्मवर्चसेन समर्धयति ।।
समिधो यजति ।।
प्राणा वै समिधः, प्राणा हीदं सर्वं समिन्धते यदिदं किंच, प्राणानेव तत्प्रीणाति, प्राणान् यजमाने दधाति ।।

{आप्रियः = प्राणा वा आप्रियः (कौ.ब्रा.१८.१२), यदेता आप्रियो भवन्ति यज्ञमेवेताभिर्यजमान आप्रीणीते (मै.३.६.६), (आप्रियः) (ऋचः) तद्यद् आप्रीणाति तस्मादाप्रियो नाम (कौ.ब्रा. १०.३), आप्रीभिराप्नुवन् तदाप्रीणामाप्रीत्वम् (तै.ब्रा.२.२.८.६)}

व्याख्यानम्- उपर्युक्त प्रकरण में अग्नि व सोम मिश्रित पदार्थ एवं यूप रूप तरंगें जब परस्पर मिश्रित हो रही होती हैं, तब आप्री संज्ञक ११ ऋचाओं की उत्पत्ति होती है और वे ऋग्रूप तरंगें सम्पूर्ण नेब्यूला वा तारों में विद्यमान पदार्थ को व्याप्त और तृप्त करती हैं। यह आप्री संज्ञक सूक्त ऋ.१.१८८, माना जाता है, क्योंकि इसका देवता **'आप्रियः'** है। इस कारण यह अपने दैवत प्रभाव से सम्पूर्ण नेब्यूला वा तारे में सब ओर से व्याप्त हो जाती हैं।।

जब पूर्वोक्त सूक्तस्थ ग्यारह रश्मियों को उनकी उत्पत्तिकर्त्री गौरिवीति नामक पूर्वोक्त सूक्ष्म रश्मियों तथा इन रश्मियों से उत्पन्न किंवा उनके अनुचर व उनके द्वारा आकर्षित विभिन्न परमाणुओं से पृथक् करना हो, उस समय निविद् रश्मि के आदि व अन्त में २.३३.१ में वर्णित आहाव संज्ञक **'शोंसावोम्'** सूक्ष्म रश्मि को संगत कर दिया जाता है। इस प्रकार इस आहाव रश्मि सहित निविद् रश्मि के सूक्त की रश्मियों के अन्दर प्रक्षेपण से उनका सम्बन्ध उस ऋषि प्राण तथा विभिन्न संगत व अनुचर परमाणु समुदाय से टूट जाता है। इसके कारण वे पदार्थ केन्द्रीय भाग की ओर प्रवाहित नहीं हो पाते हैं। इन कण्डिकाओं में दर्शायी गयी व्यवस्था अभिचार अर्थात् प्रवर्तमान प्रक्रिया को रोकने अर्थात् उसका उल्लंघन करने के लिए है और इनसे पूर्व कण्डिकाओं में दर्शायी प्रक्रिया केन्द्रीय भागों के निर्माण के लिए है। यही भेद है।।+।।

भूमिका → पूर्वपीठिका → कण्डिकाओं का वैज्ञानिक व्याख्यान → वैज्ञानिक भाष्यसार

पाठक कृपया पुस्तक को इस क्रम में ही पढ़ें-

''ध्यान रहे कि पूर्वपीठिका पढ़े बिना ग्रन्थ कदापि समझ नहीं आयेगा।''

विशेष ज्ञातव्य-

१. इस ग्रन्थ में ऐतरेय के जिन प्रमाणों में तीन संख्याएं हैं, वे इसी ग्रन्थ के आधार पर पंचिका, खण्ड व कण्डिका समूह के रूप में दिये हैं। इन प्रमाणों में प्रायः 'ऐतरेय' शब्द भी नहीं दिया है, केवल संख्या दी है। जहाँ ऐतरेय के दो संख्याओं में प्रमाण दिए हैं, वहाँ पता मूल ग्रन्थ का समझें, जहाँ प्रथम संख्या पंचिका तथा द्वितीय संख्या खण्ड की दर्शायी है।
२. कहीं-२ कण्डिका में ( ) के अन्तर्गत कोई वर्ण वा शब्द दिया गया है। उसका तात्पर्य यह है कि हमने उससे मिलते-जुलते पूर्व वर्ण वा शब्द को अशुद्ध मानकर ( ) के अन्तर्गत अपने मतानुसार शुद्ध रूप में दर्शाया है, तथा मूलग्रन्थ के पाठ को यथावत् भी लिख दिया है। एकाध स्थान पर { } के अन्तर्गत

कोई शब्द वा वर्ण दिया है, वह सायण भाष्य के सम्पादक व हिन्दी अनुवादक डॉ. सुधाकर मालवीय का पाठ प्रतीत होता है। हमने तारा प्रिंटिंग वर्क्स, वाराणसी से प्रकाशित सायण भाष्य, जिसका डॉ. मालवीय ने हिन्दी अनुवाद किया है, का ही उपयोग किया है। उन्हीं के द्वारा उद्धृत पाठ को मूल पाठ के रूप में उद्धृत किया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ संकेत सूची

क्र.सं.	ग्रन्थ नाम	संकेत
1.	अथर्ववेद संहिता	अथर्व.
2.	अनुभ्रमोच्छेदन	–
3.	अमरकोष	अ.को.
4.	अष्टाध्यायी भाष्य (आचार्य सुदर्शनदेव)	अष्टा.भा.
5.	आपस्तम्ब श्रौतसूत्र	आप.श्रौ.
6.	आप्टेकोश	आप्टेकोश
7.	आर्याभिविनय	–
8.	आर्योद्देश्यरत्नमाला	–
9.	आश्वलायन गृहसूत्रम्	आश्व.गृह्य.
10.	आश्वलायन श्रौतसूत्र	आश्व.श्रौ.
11.	उणादि कोश	उ.को.
12.	ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका	ऋ.भा.भू.
13.	ऋग्वेद महाभाष्य	–
14.	ऋग्वेद संहिता	ऋ.
15.	ऐतरेय आरण्यक	ऐ.आ.
16.	ऐतरेय ब्राह्मण	ऐ.
17.	कठोपनिषद्	कठ.उ.
18.	कपिष्ठल संहिता	क.
19.	काठक संकलन	काठ.संक.
20.	काठक संहिता	काठ.
21.	काण्व संहिता	का.सं.
22.	काण्वीय शतपथ	काश.
23.	कात्यायन श्रौतसूत्र	का.श्रौ.
24.	कौषीतकि ब्राह्मण	कौ.ब्रा.
25.	गीता	–
26.	गोकरुणानिधि	–
27.	गोपथ ब्राह्मण (पूर्वभाग/उत्तरभाग)	गो.पू./उ.
28.	छान्दोग्योपनिषद्	छां.उ.
29.	जैमिनीय ब्राह्मण	जै.ब्रा.
30.	जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण	जै.उ.
31.	ताण्ड्य महाब्राह्मण	तां.
32.	तैत्तिरीय आरण्यक	तै.आ.
33.	तैत्तिरीय उपनिषद्	तै.उ.
34.	तैत्तिरीय ब्राह्मण	तै.ब्रा.
35.	तैत्तिरीय संहिता	तै.सं.
36.	दैवत ब्राह्मण	दै.
37.	ध्यान-योग-प्रकाश	–
38.	नारदीय शिक्षा	ना.शि.
39.	निघण्टु	निघं.

40.	निघण्टु निर्वचनम्	निघं.नि.
41.	निरुक्तम्	नि.
42.	न्याय दर्शन	न्या.द.
43.	पाणिनीय अष्टाध्यायी	पा.अ.
44.	पिंगल छन्द शास्त्र	पिं.छ.शा.
45.	ब्रह्मसूत्र	ब्र.सू.
46.	ब्राह्मणोद्धार कोश	ब्रा.उ.को.
47.	मनुस्मृति	मनु.
48.	महर्षि दयानन्द ऋग्वेद भाष्य	म.द.ऋ.भा.
49.	महर्षि दयानन्द यजुर्वेद भाष्य	म.द.य.भा.
50.	महाभारत	महा.
51.	माण्डूक्य उपनिषद्	माण्डू.उ.
52.	मीमांसा दर्शन	मीमांसा
53.	मुण्डकोपनिषद्	मुण्ड.उ.
54.	मैत्रायणी संहिता	मै.
55.	यजुर्वेद संहिता	यजु.
56.	योगदर्शनम्	यो.द.
57.	वर्णोच्चारण शिक्षा	–
58.	वाक्यपदीयम्	–
59.	वाचस्पत्यम् कोश	–
60.	वाजसनेय संहिता	वा.सं.
61.	वैदिक इतिहासार्थ निर्णय	–
62.	वैदिक कोश (आचार्य राजवीर शास्त्री)	वै.को. – आ. राजवीर शास्त्री
63.	वैदिक वाङ्मय का इतिहास	–
64.	वैदिक सम्पत्ति	–
65.	वैशेषिक दर्शन	वै.द.
66.	व्यवहारभानु	
67.	व्याकरण महाभाष्य	महाभाष्य
68.	शतपथ ब्राह्मण	श.
69.	श्रौत-यज्ञ-मीमांसा	–
70.	शांखायन आरण्यक	शां.आ.
71.	श्वेताश्वर उपनिषद्	श्वेता.उ.
72.	सत्यार्थ प्रकाश	स.प्र.
73.	सन्मार्ग दर्शन	–
74.	संस्कार विधि	सं.वि.
75.	संस्कृत धातु कोश	सं.धा.को.
76.	सामविधान ब्राह्मण	सा.वि.ब्रा.
77.	सामवेद संहिता	साम.
78.	साम्बपञ्चाशिका	–
79.	सांख्य दर्शन	सां.द.
80.	सुश्रुत संहिता	सु.सं.
81.	स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश	–
82.	षड्विंश ब्राह्मण	ष.

भाग (VOLUME)

।। ओ३म् ।।

अथ पूर्वपीठिका

ओ३म्। भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।।
ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं तन्नऽआ सुव।।

प्रथमोऽध्यायः

“

सम्पूर्ण वेद सम्पूर्ण धर्म (आध्यात्म विज्ञान एवं जड़ पदार्थविज्ञान) का आदि स्रोत है। वह ऐसा व्यापक धर्म ही विज्ञान नाम से जाना जाता रहा है। इन दोनों धर्मों का मूल सत्य ही है। इस कारण हे प्रभो! सत्यस्वरूप धर्म को हम सबके आत्माओं में धारण कराइये।

”

ईश्वर स्तुति प्रार्थना

ओम्। भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्।।१।। (यजु.३६.३)

ओम् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद्भद्रन्तन्नऽआ सुव।।२।। (यजु.३०.३; ऋ.५.८२.५)

ओम् अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमऽउक्तिं विधेम।।३।। (यजु.४०.१६; ऋ.१.१८९.१)

ओम् यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा।।४।। (यजु.३२.१४)

ओम् यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्व१र्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः।।५।। (अथर्व.१०.८.१)

ओम् यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः।।६।। (अथर्व.१०.७.३२)

ओम् यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः।।७।। (अथर्व.१०.७.३३)

ओम् यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽ भवन्।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः।।८।। (अथर्व.१०.७.३४)

ओम् एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽ स्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।।९।। (यजु.३१.३; ऋ.१०.९०.३)

ओम् त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽ स्येहाभवत्पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि।।१०।। (यजु.३१.४; ऋ.१०.९०.४)

ओम् तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।।११।। (यजु.३१.७; ऋ.१०.९०.६)

ओम् शं नो मित्रः शं वरुणः। शन्नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु।

तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्।
ओं शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः।।१२।। (तै.उ. शिक्षाध्याय वल्ली, अनुवाक १)

नमो ब्रह्मणे पूर्वजेभ्यो महद्भ्यश्च

ओ३म् परमेशदेवेश, सर्वरक्षक पाहि नः।
नमस्तुभ्यं नमस्तुभ्यं, नमस्तुभ्यं नमो नमः।।१।।

सृष्ट्यादेरग्नि-वायू च, अंगिरादीनृषीन् तथा।
तेभ्यः प्राधीत-वेदं च, ब्रह्माणं च प्रजापतिम्।।२।।

स्वायम्भुवं दयावन्तं, मनुं प्राज्ञं महोदयम्।
निर्ममे विधिशास्त्रं यः, सर्वलोकहिताय च ।।३।।

आर्यावर्तस्य देशस्य, इक्ष्वाकुं चादिभूपतिम्।
विष्णुं शिवमहादेवं, इन्द्रदेव-बृहस्पती।।४।।

मार्कण्डेयं भृगुं यास्कं, चापि वेद-प्रवाचकान्।
सनत्कुमारमात्मज्ञं, सर्वान् शौर्यशिरोमणीन्।।५।।

मान्धातारमगस्त्यं च, अत्रिनारदधीवरान्।
वेद-वेदांग-तत्वज्ञं, श्रीरामं सह सीतया।।६।।

भरतसौमित्रान् चापि, हनुमन्तं यशस्विनम्।
विश्वामित्रं वसिष्ठं च, भरद्वाज-महामुनिम्।।७।।

वाल्मीकि-याज्ञवल्क्यौ च, विदेहाश्वपती तथा।
गार्गीं घोषाम् अपालां च, लोपामुद्रां पृथामपि।।८।।

प्रख्यापितो महानार्यावर्तो देशस्त्वयं पुरा।
भरतं पृथिवीपालं यन्नाम्ना भारतोऽभवत्।।९।।

पाणिनिं शब्दशास्त्रज्ञं, व्यासं देवं पतंजलिम्।
गोतम-कपिलाचार्यौ, कणादिर्षिं च जैमिनिम्।।१०।।

योगेशं भगवत्कृष्णं, महाप्राज्ञं महाप्रभुम्।
अष्टाशीति सहस्राणि, ऋषीन् वा ऊर्ध्वरेतसः।।११।।

गांगेय-भीष्म-कौन्तेयान्, कौटिल्यं गुप्त-भूपतिम्।

ज्ञानवृद्ध-सुवीराणां, मातॄणां चापि धीरताम्।।१२।।

आद्यं च शंकराचार्यम्, आर्यभट्टं तथैव च।
भास्कर-ब्रह्मगुप्तौ च, विरजानन्द-दण्डिनम्।।१३।।

सुवेदोद्धारकाचार्य-दयानन्द-सरस्वतीम्।
आइंस्टीन-सुविज्ञानं न्यूटन-बोस-शेखरान्।।१४।।

अन्ये ये निरता ज्ञाने, एतान् सर्वान् महामतीन्।
आर्याः कर्मगुणाभ्यां ये, प्राणिकल्याणसाधकाः।।१५।।

तान् महापुरुषान् सर्वान्, सर्वदेश-निवासिनः।
सर्वान् एतान् महाभागान्, स्मरामि सततं अहम्।।१६।।

एतेषामेव पन्थानं, संचलेम सदा प्रभो।
सुबुद्धिं देहि शक्तिं च, याचेऽहं त्वां कृपानिधे।।१७।।

शुभङ्करी भवेद्विद्या, शक्तिर्न्यायपरायणा।
विनीताः स्युर्धनाढ्याश्च, तापसाः श्रमजीविनः।।१८।।

वेदोऽखिलो धर्ममूलं, धर्मो विज्ञानमुच्यते।
सत्यमूलावुभौ चापि, प्रभो! सर्वेषु धीयताम्।।१९।।

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु, सन्तु सर्वे निरामयाः।
सर्वे पश्यन्तु भद्राणि, मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत्।।२०।।

एतदर्थं महीदासं, भगवन्तं महोदयम्।
हृदयेन नमस्कृत्य, नमस्कृत्य सश्रद्धया।।२१।।

तेषां ब्राह्मणव्याख्याने, प्रवृत्तो**ऽग्निव्रत**स्म्यहम्।
"**वेदविज्ञान-आलोकः**", इति नाम्ना प्रकाश्यते।।२२।।

वैदिकं ज्ञानविज्ञानं, महत्यार्षपरम्परा।
एतद्भाष्य सहायेन, जगत्यस्मिन् प्रसेत्स्यति।।२३।।

वर्त्तमानस्तु विज्ञानं, भूमण्डलं प्रकाशते।
तस्मिन्नेक-मतोभूत्वा, मनुजातिः प्रवर्तते।।२४।।

नमस्कृत्याऽपि विज्ञानं, समीक्षणं च कृतं मया।
सृष्टि-सौर-अणुज्ञानं, खगोल भौतिकीं तथा।।२५।।

विश्वभौतिकविज्ञानं, करिष्यामि निवेदनम्।
मद्व्याख्यानसहायेन, सद्विज्ञानं भविष्यति।।२६।।

एतदर्थं कृपासिन्धो! याचेऽहं शरणं तव।
श्रद्धां, प्रज्ञां च धैर्यं च, दीयतां चाप्यकामताम्।।२७।।

त्वदृते न समर्थोऽस्मि, एतत्कर्तुं कथञ्चन।
तस्मादहन्न त्यक्तव्यं, कृपादृष्टिं करोषि माम्।।२८।।

ईश्वर-स्तुति प्रार्थना का अर्थ

(भूः) कर्मविद्याम् (भुवः) उपासनाविद्याम् (स्वः) ज्ञानविद्याम् (तत्) इन्द्रियैरग्राह्यं परोक्षम् (सवितुः) सकलैश्वर्यप्रदस्येश्वरस्य (वरेण्यम्) स्वीकर्त्तव्यम् (भर्गः) सर्वदुःखप्रणाशकं तेजः स्वरूपम् (देवस्य) कमनीयस्य (धीमहि) ध्यायेम (धियः) प्रज्ञाः (यः) (नः) अस्माकम् (प्रचोदयात्) प्रेरयेत्।।१।।

हे मनुष्यो! जैसे हम लोग (भूः) कर्मकाण्ड की विद्या (भुवः) उपासना काण्ड की विद्या और (स्वः) ज्ञानकाण्ड की विद्या को संग्रहपूर्वक पढ़के (यः) जो (नः) हमारी (धियः) धारणावती बुद्धियों को (प्रचोदयात्) प्रेरणा करे, उस (देवस्य) कामना के योग्य (सवितुः) समस्त ऐश्वर्य के देने वाले परमेश्वर के (तत्) उस इन्द्रियों से न ग्रहण करने योग्य परोक्ष (वरेण्यम्) स्वीकार करने योग्य (भर्गः) सब दुःखों के नाशक तेजः स्वरूप का (धीमहि) ध्यान करें, वैसे तुम भी इसका ध्यान करो।।१।। **(म.द.यजु.भा.)**

(विश्वानि) समग्राणि (देव) दिव्यगुणकर्मस्वभाव (सवितः) उत्तमगुणकर्मभावेषु प्रेरक परमेश्वर! (दुरितानि) दुष्टाचरणानि दुःखानि वा (परा) दूरार्थे (सुव) गमय (यत्) (भद्रम्) भन्दनीयं धर्म्याचरणं सुखं वा (तत्) (नः) अस्मभ्यम् (आ) समन्तात् (सुव) जनय।।२।।

हे (देव) उत्तम गुणकर्मस्वभावयुक्त (सवितः) उत्तम गुण कर्म स्वभावों में प्रेरणा देने वाले परमेश्वर! आप हमारे (विश्वानि) सब (दुरितानि) दुष्ट आचरण वा दुःखों को (परा, सुव) दूर कीजिये और (यत्) जो (भद्रम्) कल्याणकारी धर्मयुक्त आचरण वा सुख है (तत्) उसको (नः) हमारे लिए (आ, सुव) अच्छे प्रकार उत्पन्न कीजिये।।२।। **(म.द.यजु.भा.)**

(अग्ने) स्वप्रकाशस्वरूप करुणामय जगदीश्वर! (नय) गमय (सुपथा) धर्म्येण मार्गेण (राये) विज्ञानाय धनाय वसुसुखाय (अस्मान्) जीवान् (विश्वानि) अखिलानि (देव) दिव्यस्वरूप (वयुनानि) प्रशस्यानि प्रज्ञानानि (विद्वान्) यः सर्वं वेत्ति सः (युयोधि) पृथक्कुरु (अस्मत्) अस्माकं सकाशात् (जुहुराणम्) कौटिल्यम् (एनः) पापाचरणम् (भूयिष्ठाम्) बहुतमाम् (ते) तुभ्यम् (नमउक्तिम्) सत्कारपुरः सरां प्रशंसाम (विधेम) परिचरेम।।३।।

हे (देव) दिव्यस्वरूप (अग्ने) प्रकाशस्वरूप करुणामय जगदीश्वर! जिससे हम लोग (ते) आपके लिए (भूयिष्ठाम्) अधिकतर (नमउक्तिम्) सत्कारपूर्वक प्रशंसा का (विधेम) सेवन करें इससे (विद्वान्) सबको जानने वाले आप (अस्मत्) हम लोगों से (जुहुराणम्) कुटिलतारूप (एनः) पापाचरण को (युयोधि) पृथक् कीजिये, (अस्मान्) हम जीवों को (राये) विज्ञान, धन वा धन से हुए सुख के लिए (सुपथा) धर्मानुकूल मार्ग से (विश्वानि) समस्त (वयुनानि) प्रशस्त ज्ञानों को (नय) प्राप्त कीजिये।।३।। **(म.द.य.भा.)**

(याम्) (मेधाम्) प्रज्ञां धनं वा (देवगणाः) देवानां विदुषां समूहाः (पितरः) पालयितारो विज्ञानिनः (च) (उपासते) प्राप्य सेवन्ते (तया) (माम्) (अद्य) (मेधया) (अग्ने) स्व- प्रकाशत्वेन विद्याविज्ञापक! (मेधाविनम्) प्रशस्ता मेधा विद्यते यस्य तम् (कुरु) (स्वाहा) सत्यया वाचा।।४।।

हे (अग्ने) स्वयं प्रकाशरूप होने से विद्या के जानने हारे ईश्वर! (देवगणः) अनेक विद्वान् (च) और (पितरः) रक्षा करने हारे ज्ञानी लोग (याम्) जिस (मेधाम्) बुद्धि वा धन को (उपासते) प्राप्त होके सेवन करते हैं (तया) उस (मेधया) बुद्धि वा धन से (माम्) मुझको (अद्य) आज (स्वाहा) सत्यवाणी से (मेधाविनम्) प्रशंसित बुद्धि वा धनवाला (कुरु) कीजिये।।४।। **(म.द.य.भा.)**

(यो भूतं च.) यो भूतभविष्यद्वर्तमानान् कालान् (सर्व यश्चाधि.) सर्वं जगच्चाधितिष्ठति, सर्वाधिष्ठाता सन् कालादूर्ध्वं विराजमानोऽस्ति, (स्वर्य.) यस्य च केवलं निर्विकारं स्वः सुखस्वरूपमस्ति, यस्मिन् दुःखं लेशमात्रमपि नास्ति, यदानन्दघनं ब्रह्मास्ति, (तस्मै.) तस्मै ज्येष्ठाय सर्वोत्कृष्टाय ब्रह्मणे महतेऽत्यन्तं नमोऽस्तु नः।।५।।

(यो भूतम्) जो परमेश्वर एक भूतकाल= जो व्यतीत हो गया है, (च) चकार से दूसरा जो वर्तमान है, (भव्यं च) और तीसरा भविष्यत् जो होने वाला है, इन तीनों कालों के बीच में जो कुछ होता है, उन सब व्यवहारों को वह यथावत् जानता है। (सर्व यश्चाधितिष्ठति) तथा जो सब जगत् को अपने विज्ञान से ही जानता, रचता, पालन, लय करता और संसार के सब पदार्थों का अधिष्ठाता अर्थात् स्वामी है, वह सबका अधिष्ठाता होकर सब कालों के ऊपर विराजमान है। (स्वर्यस्य च केवलम्) जिसका सुख ही केवल स्वरूप है, जो कि मोक्ष और व्यवहार सुख का भी देने वाला है, जिसको लेशमात्र भी दुःख नहीं होता, जो आनन्दघन परमेश्वर है, (तस्मै ज्येष्ठाय-ब्रह्मणे नमः) ज्येष्ठ अर्थात् सबसे बड़ा, सब सामर्थ्य से युक्त ब्रह्म जो परमात्मा है, उसको हमारा नमस्कार प्राप्त हो।।५।। **(म.द.ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, ईश्वर प्रार्थना विषय)**

(यस्य भूमिः) यस्य भूमिः प्रमा यथार्थज्ञानसाधनं पादाविवास्ति, (अन्तरिक्षमु.) अन्तरिक्षं यस्योदरतुल्यमस्ति, यश्च सर्वस्मादूर्ध्वं सूर्यरश्मिप्रकाशमयमाकाशं दिवं मूर्धानं शिरोवच्चक्रे कृतवानस्ति, (तस्मै.) ज्येष्ठाय सर्वोत्कृष्टाय ब्रह्मणे महतेऽत्यन्तं नमोऽस्तु नः।।६।।

(यस्य भूमिः प्रमा.) जिस परमेश्वर के होने और ज्ञान में भूमि जो पृथिवी आदि पदार्थ हैं, जो प्रमा अर्थात् यथार्थज्ञान की सिद्धि होने का दृष्टान्त है तथा जिसने अपनी सृष्टि में पृथिवी को पादस्थानी रचा है, (अन्तरक्षिमुतोदरम्) अन्तरिक्ष, जो पृथिवी और सूर्य के बीच में आकाश है, सो जिसने उदरस्थानी किया है, (दिवं यश्चक्रेमूर्द्धानम्) और जिसने अपनी सृष्टि में दिव अर्थात् प्रकाश करने वाले पदार्थों को सबके ऊपर मस्तकस्थानी किया है अर्थात् जो पृथिवी से लेके सूर्यलोकपर्यन्त सब जगत् को रचके, उसमें व्यापक होके, जगत् के सब अवयवों में पूर्ण होके सबको धारण कर रहा है, (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) उस परब्रह्म को हमारा अत्यन्त नमस्कार हो।।६।। **(म.द.ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, ईश्वर प्रार्थना विषय)**

(यस्य सूर्य.) यस्य सूर्यश्चन्द्रमाश्च पुनः पुनः सर्गादौ नवीने चक्षुषी इव भवतः, (अग्नि) योऽग्निमास्यं मुखवच्चक्रे कृतवानस्ति, (तस्मै.) तस्मै ज्येष्ठाय सर्वोत्कृष्टाय ब्रह्मणे महतेऽत्यन्तं नमोऽस्तु नः।।७।।

(यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः) और जिसने नेत्रस्थानी सूर्य और चन्द्रमा को किया है, जो कल्प-कल्प के आदि में सूर्य और चन्द्रमादि पदार्थों को वारंवार नये-नये रचता है, (अग्नि यश्चक्र आस्यम्) और जिसने मुखस्थानी अग्नि को उत्पन्न किया है, (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) उसी ब्रह्म को हमारा नमस्कार प्राप्त हो।।७।। **(म.द.ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, ईश्वर प्रार्थना विषय)**

(यस्य वातः.) वातः समष्टिर्वायुर्यस्य प्राणापानाविवास्ति, (अङ्गिरसः) 'अङ्गिरा अङ्गारा अङ्कना अञ्चनाः' इति निरुक्ते (अ.३,खं.१७) प्रकाशकाः किरणाश्चक्षुषी इव भवतः, यो दिशः प्रज्ञानीः प्रज्ञापिनीर्व्यवहारसाधिकारचक्रे, तस्मै ह्यनन्त विद्याय ब्रह्मणे महते सततं नमोऽस्तु।।८।।

(यस्य वातः प्राणापानौ) जिसने ब्रह्माण्ड की वायु को प्राण और अपान की नाईं किया है, (चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्) तथा जो प्रकाश करने वाली किरण हैं, वे चक्षु की नाईं जिसने की हैं, अर्थात् उनसे ही रूप ग्रहण होता है, (दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) और जिसने दश दिशाओं को सब व्यवहारों को सिद्ध करने वाली बनाई हैं, ऐसा जो अनन्त विद्यायुक्त परमात्मा सब मनुष्यों का इष्टदेव है, उस ब्रह्म को निरन्तर हमारा नमस्कार हो।।८।। **(म.द.ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, ईश्वर प्रार्थना विषय)**

(एतावान्) दृश्यादृश्यं ब्रह्माण्डरूपम् (अस्य) जगदीश्वरस्य (महिमा) महात्म्यम् (अतः) अस्मात् (ज्यायान्) अतिशयेन प्रशस्तो महान् (च) (पूरुषः) परिपूर्णः (पादः) एकोंऽशः (अस्य) (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि (भूतानि) पृथिव्यादीनि (त्रिपात्) त्रयः पादा यस्मिन् (अस्य) जगत्स्रष्टुः (अमृतम्) नाशरहितम् (दिवि) द्योतनात्मके स्वस्वरूपे।६।।

हे मनुष्यो! (अस्य) इस जगदीश्वर का (एतावान्) यह दृश्य-अदृश्य ब्रह्माण्ड (महिमा) महत्वसूचक है (अतः) इस ब्रह्माण्ड से यह (पूरुषः) परिपूर्ण परमात्मा (ज्यायान्) अति प्रशंसित और बड़ा है (च) और (अस्य) इस ईश्वर के (विश्वा) सब (भूतानि) पृथिव्यादि चराचर जगत् एक (पादः) अंश है और (अस्य) इस जगत्स्रष्टा का (त्रिपाद्) तीन अंश (अमृतम्) नाशरहित महिमा (दिवि) द्योतनात्मक अपने स्वरूप में है।।६।। **(म.द.य.भा.)**

(त्रिपात्) त्रयः पादा अंशा यस्य सः (ऊर्ध्वः) सर्वेभ्य उत्कृष्टः संसारात् पृथक् मुक्तिरूपः (उत्) (ऐत्) उदेति (पुरुषः) पालकः (पादः) एको भागः (अस्य) (इह) जगति (अभवत्) भवति (पुनः) पुनः पुनः (ततः) ततोऽनन्तरम् (विष्वङ्) यो विषु सर्वत्राञ्चति प्राप्नोति (वि) विशेषेण (अक्रामत्) व्याप्नोति (साशनानशने) अशनेन भोजनेन सह वर्त्तमानं साशनं न विद्यतेऽशनं यस्य तदनशनं साशनञ्चानशनञ्च ते प्राण्यप्राणिनौ (अभि) अभिलक्ष्य।।१०।।

पूर्वोक्त (त्रिपात्) तीन अंशों वाला (पुरुषः) पालक परमेश्वर (ऊर्ध्वः) सबसे उत्तम मुक्तिस्वरूप संसार से पृथक् (उत्,ऐत्) उदय को प्राप्त होता है (अस्य) इस पुरुष का (पादः) एक भाग (इह) इस जगत् में (पुनः) बार-बार उत्पत्ति-प्रलय के चक्र से (अभवत्) होता है (ततः) इसके अनन्तर (साशनानशने) खाने वाले चेतन और न खाने वाले जड़ इन दोनों के (अभि) प्रति (विष्वङ्) सर्वत्र प्राप्त होता हुआ (वि. अक्रामत्) विशेष कर व्याप्त होता है।।१०।। **(म.द.य.भा.)**

(तस्मात्) पूर्णात् (यज्ञात्) पूजनीयतमात् (सर्वहुतः) सर्वे जुह्वति सर्वं समर्पयन्ति वा यस्मै (ऋचः) ऋग्वेदः (सामानि) सामवेदः (जज्ञिरे) जायन्ते (छन्दांसि) अथर्ववेदः (जज्ञिरे) (तस्मात्) परमात्मनः (यजुः) यजुर्वेदः (तस्मात्) (अजायत) जायते।।११।।

हे मनुष्यो! तुमको चाहिये कि (तस्मात्) उस पूर्ण (यज्ञात्) अत्यन्त पूजनीय (सर्वहुतः) जिसके अर्थ सब लोग समस्त पदार्थों को देते वा समर्पण करते उस परमात्मा से (ऋचः) ऋग्वेद (सामानि) सामवेद (जज्ञिरे) उत्पन्न होते (तस्मात्) उस परमात्मा से (छन्दांसि) अथर्ववेद (जज्ञिरे) उत्पन्न होता और (तस्मात्) उस पुरुष से (यजुः) यजुर्वेद (अजायत) उत्पन्न होता है, उसको जानो।।११।। **(म.द.य.भा.)**

(ओम्) हे परमात्मन्! (शम्) कल्याणकारी, शान्तिदायक (नः) हमारे लिए (मित्रः) मित्र (शम्) कल्याणप्रद (वरुणः) वरुण (शम् नः भवतु अर्यमा) अर्यमा हमारे लिए कल्याणकारी, शान्तिदाता हो (शम् नः इन्द्रः बृहस्पतिः) इन्द्र और बृहस्पति हमारे लिए शान्तिप्रद हों (शम् नः विष्णुः उरुक्रमः) महापराक्रमी विष्णु हमें

शान्ति दे (नमः ब्रह्मणे) ब्रह्म को नमस्कार है (नमः ते वायो) हे वायु! तुझे प्रणाम है (त्वम् एव प्रत्यक्षम् ब्रह्म असि) तू ही साक्षात् ब्रह्म है (त्वाम् एव) तुझको ही (प्रत्यक्षम् ब्रह्म) साक्षात् ब्रह्म (वदिष्यामि) मैं कहूंगा, उपदेश करूंगा (ऋतम् वदिष्यामि) ऋत (यथार्थ) कहूंगा, (सत्यम् वदिष्यामि) सत्य कहूंगा (तत्) वह (माम्) मुझे (अवतु) रक्षा करे, (तद् वक्तारम् अवतु) वह वक्ता की रक्षा करे (अवतु माम्) मेरी रक्षा करे, (अवतु वक्तारम्) वक्ता अर्थात् उपदेष्टा की रक्षा करे (ओम्) हे परमात्मन् (शान्तिः) आध्यात्मिक शान्ति हो (शान्तिः) आधिभौतिक शान्ति हो (शान्तिः) आधिदैविक शान्ति हो।।१२।।

परब्रह्म परमात्मा एवं पूर्वज महापुरुषों को नमन

समस्त जगत् पर शासन करने वाले, समस्त देवों के अधीश्वर आप सर्वत्र विद्यमान एवं सबकी रक्षा के सर्वोपरि हेतु हैं। ''ओम्'' आपका निज नाम है, ऐसे परमपिता परमेश्वर को हम बार-बार भूरिशः प्रणाम करते हैं और आप से प्रार्थना करते हैं कि अपनी महती कृपा से हम सब जगत् के प्राणियों की समस्त दुःख, दुर्गुण एवं अविद्या आदि दोषों से रक्षा कीजिये।।१।।

परमपिता परमेश्वर के नमन के पश्चात् सृष्टि के आदि काल से लेकर जो भी प्रमुख महापुरुष हुए हैं, उनके प्रति हृदय से कृतज्ञता का भाव लेकर श्रद्धा सहित स्मरण करता हूँ-

सृष्टि के आदि में परमपिता परमेश्वर ने अग्नि, वायु, आदित्य एवं अंगिरा चार आद्य ऋषियों को क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का ज्ञान दिया था और उन्होंने समस्त प्रजा के पालक एवं विद्या परम्परा के प्रवर्तक के रूप में लोक विख्यात आद्य महर्षि भगवत्पाद ब्रह्मा को सम्पूर्ण वेदों का ज्ञान कराया था। ऐसे परमवन्दनीय पांचों महर्षियों को।।२।।

उन्हीं महर्षि ब्रह्मा के पौत्र, प्रज्ञा ऋतम्भरा बुद्धि के महान् भण्डार, सबके प्रति करुणावान् महर्षि मनु महोदय, जिन्होंने सम्पूर्ण विश्व के कल्याण के लिए आद्य मानव धर्मशास्त्र ''मनुस्मृति'' की रचना की, ऐसे उनको।।३।।

आर्यावर्त्त (जिसमें कि वेदोक्त धर्म का पालन करने वाले आर्य अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष ही प्रायः निवास किया करते थे) देश के प्रथम राजा इक्ष्वाकु, देवों में महापराक्रमी, वैज्ञानिक एवं वीतराग योगी शिव, जिनको महादेव नाम से भी जाना जाता है, प्रख्यात वैज्ञानिक एवं शूरवीर योद्धा भगवान् विष्णु, देवराज इन्द्र एवं इनके गुरु देवर्षि बृहस्पति को।।४।।

महर्षि मार्कण्डेय, महर्षि भृगु, आचार्य यास्क ऋषि, महान् आत्मज्ञ महर्षि सनत्कुमार, विभिन्न ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रणेता, वेदों के प्रवचन कर्त्ता सभी महर्षि भगवन्तों एवं समस्त शूरवीर एवं धर्मात्मा योद्धा महाराजाओं को।।५।।

भूमण्डलपति महाराजा मान्धाता, लोकविश्रुत वैज्ञानिक महर्षि अगस्त्य, महर्षि अत्रि एवं वेदवेदांगों के ज्ञाता बुद्धिमानों में श्रेष्ठ वैज्ञानिक देवर्षि नारद, वेदवेदांगों के समस्त विज्ञान को जानने वाले मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम एवं भगवती देवी सीता को।।६।।

धर्ममूर्ति महात्मा भरत, तेजस्वी भ्रातृवत्सल महामना लक्ष्मण, शत्रुहन्ता शत्रुघ्न को, अमित पराक्रमी, वेदशास्त्रनिष्णात, ब्रह्मचर्यमूर्ति यशस्वी हनुमान्, महर्षि विश्वामित्र, सांगोपांग वेद-तत्व-वेत्ता महर्षि वसिष्ठ, महान् वैज्ञानिक महर्षि भरद्वाज को।।७।।

महर्षि वाल्मीकि, महद् वेददृष्टा महर्षि याज्ञवल्क्य, राजर्षि योगी विदेहराज महाराजा जनक एवं महाराजा अश्वपति, गार्गी, घोषा, अपाला एवं लोपामुद्रा जैसी वेदविद्या की यशस्विनी विदुषी ऋषिकाओं एवं महनीया माता कुन्ती को।।८।।

पुराकाल में यह महान् आर्यावर्त देश 'भारत' नाम से, जिनके कारण विख्यात हुआ, ऐसे पृथिवीपालक चक्रवर्तिसम्राट् भरत को।।६।।

शब्दशास्त्रवेत्ता महर्षि पाणिनि, योगेश्वर महर्षि व्यास, भगवत् पतञ्जलि, महर्षि गोतम, कपिल, कणाद, जैमिनि आदि महर्षियों को।।१०।।

महती प्रज्ञा वाले अमित सामर्थ्यशाली योगेश्वर भगवान् कृष्ण एवं अट्ठासी हजार ऊर्ध्वरेता ऋषियों को।।११।।

दृढ़प्रतिज्ञ गंगापुत्र देवदत्त भीष्म, कुन्तीपुत्र धर्मात्मा पाण्डवों, महान् नीतिमान् कौटिल्य (महात्मा चाणक्य), चन्द्रगुप्त आदि प्रख्यात राजाओं, विश्व के अनेक वीर्यवान् ज्ञानियों एवं मातृशक्ति की महती धीरता को।।१२।।

महान् तर्कशिरोमणि आद्यशंकराचार्य, भास्कराचार्य एवं आर्यभट्ट जैसे खगोलवेत्ताओं, गणितज्ञ ब्रह्मगुप्त एवं व्याकरण शास्त्र के सूर्य, आर्षविद्या के महान् पोषक दण्डी स्वामी विरजानन्द सरस्वती को।।१२।।

वेदविद्या के पुनरुद्धारक, वैदिक ज्ञान विज्ञान के पुनरुद्घाटक, महान् समाज सुधारक ऋषि दयानन्द सरस्वती, महान् प्रतिभाशाली पाश्चात्य वैज्ञानिक सर आइजक न्यूटन एवं सर अल्बर्ट आइंस्टीन एवं आधुनिक भारतीय वैज्ञानिक सत्येन्द्र नाथ बोस, जगदीशचन्द्र बसु, चन्द्रशेखर वैंकटरमण एवं चन्द्रशेखर सुब्रमण्यम् आदि को।।१४।।

इसी प्रकार विश्व-भर के प्राचीन एवं अर्वाचीन ऋषि-मुनियों, दार्शनिकों, वैज्ञानिकों, जो निरन्तर विद्या की साधना में संलग्न रहे हैं तथा जो अपने ज्ञान एवं श्रेष्ठ गुण कर्मों से प्राणिमात्र के कल्याण की साधना करते रहे हैं, उनको।।१५।।

समस्त भूमण्डल के ऐसे सभी महदैश्वर्य सम्पन्न महापुरुषों को मैं कृतज्ञतापूर्वक श्रद्धा सहित सतत स्मरण करता हूँ।।१६।।

हे कृपानिधे परमेश्वर! मैं आपसे विनम्र याचना करता हूँ कि मुझे ऐसी उत्तम बुद्धि और शक्ति प्रदान कीजिये, जिससे मैं आपके वेद मार्ग के साथ-साथ उपर्युक्त सभी महान् पुरुषों के उत्तम प्रकाशमय सर्वहितकारी मार्ग पर सतत चलता रहूँ।।१७।।

हे देव! आपकी कृपा से संसार का समस्त ज्ञान-विज्ञान प्राणिमात्र के लिए कल्याणकारी होवे एवं विश्व की शक्तियाँ न्यायपथ का ही अनुसरण करने वाली होवें। समस्त धनी एवं समृद्ध महानुभाव, विनम्र एवं उदार होवें एवं श्रमजीवी वर्ग तपस्वी होवे।।१८।।

सम्पूर्ण वेद सम्पूर्ण धर्म (आध्यात्म विज्ञान एवं जड़ पदार्थविज्ञान) का आदि स्रोत है। वह ऐसा व्यापक धर्म ही विज्ञान नाम से जाना जाता रहा है। इन दोनों धर्मों का मूल सत्य ही है। इस कारण हे प्रभो! सत्यस्वरूप धर्म को हम सबके आत्माओं में धारण कराइये।।१६।।

जिस कारण हम सब प्राणी सभी प्रकार से सुखी होवें, सदैव निरोग रहें। सभी का सर्वविध कल्याण होवे। किसी को भी किसी प्रकार का कभी दुःख न भोगना पड़े।।२०।।

इसी भावना से महावैज्ञानिक भगवान् ऐतरेय महीदास ऋषि को हृदय से पूर्ण श्रद्धा सहित बार-बार नमस्कार करके उनके द्वारा रचित ऐतरेय ब्राह्मण के वैज्ञानिक व्याख्यान करने के लिए मैं

अग्निव्रत नैष्ठिक प्रवृत्त हो रहा हूँ। यह वैज्ञानिक व्याख्यान "**वेदविज्ञान-आलोकः**" नाम से प्रकाशित किया जा रहा है।।२१,२२।।

इस व्याख्यान अर्थात् भाष्य की सहायता से सनातन वैदिक ज्ञान-विज्ञान एवं प्राचीन वैज्ञानिक ऋषियों की वेदार्थ समझने की महती वैज्ञानिक परम्परा फिर से इस जगत् में प्रसिद्ध होगी।।२३।।

इस समय जो वर्त्तमान विज्ञान सम्पूर्ण भूमण्डल में प्रकाशित हो रहा है तथा जिस विज्ञान के पठन-पाठन में समस्त मानव जाति एकमत होकर अर्थात् बिना वैर-विरोध के संलग्न है।।२४।।

उस ऐसे वर्तमान विज्ञान को सादर नमस्कार करते हुए भी मैं अल्पज्ञ इसकी यथासामर्थ्य निष्पक्ष समीक्षा करने के लिए प्रवृत्त हो रहा हूँ अर्थात् मैंने इस ग्रन्थ में वर्तमान सृष्टि विज्ञान, सौर विज्ञान, परमाणु विज्ञान, बलों का क्रिया विज्ञान एवं खगोल-भौतिकी आदि की समीक्षा करने का प्रयत्न किया है।।२५।।

एवं ऐसा करने के साथ समस्त विश्व के भौतिक वैज्ञानिकों को विनम्र परामर्श दे रहा हूँ कि उन्हें मेरे इस व्याख्यान अर्थात् भाष्य के द्वारा अपने विज्ञान को शुद्ध एवं यथार्थ बनाने में अवश्य ही महान् सहयोग मिल सकेगा।।२६।।

इस महान् कार्य के लिए हे कृपासिन्धु परमेश्वर! मैं आपकी आनन्ददायिनी शरण की याचना करता हूँ। आप कृपा करके वेद तथा आर्ष परम्परा के प्रति अतीव श्रद्धा, वैदिक एवं आधुनिक विज्ञान के गूढ़ तत्व को समझने हेतु आवश्यक महती प्रज्ञा एवं इस दुर्गम पथ पर चलने हेतु पर्याप्त धैर्य तथा पूर्ण निष्काम भावना प्रदान कीजिये।।२७।।

हे सच्चिदानन्देश्वर! आपके सहाय बिना मैं यह सब करने में किसी भी प्रकार समर्थ नहीं हो सकता हूँ। इस कारण इस कार्य को करते समय सर्वदा ही मेरे ऊपर अपनी कृपादृष्टि बनाये रखें एवं मुझे अपने से कभी भी दूर न होने दें, जिससे मैं इस ग्रन्थ के भाष्य रूपी ज्ञान-विज्ञान के महान् यज्ञ को निर्विघ्न सम्पन्न कर सकूँ।।२८।।

इति प्रथमोऽध्यायः समाप्तः

ऐतरेय ब्राह्मण के कुल ४० अध्याय के बृहद् भाष्य की पूर्वपीठिका को मैं उपर्युक्त १२ मन्त्रों एवं २८ स्वरचित श्लोकों, कुल मिलाकर ४० छन्दों के द्वारा स्तुति प्रार्थना के साथ इस पूर्वपीठिका व ग्रन्थ का लेखन प्रारम्भ करता हूँ।

द्वितीयोऽध्यायः

“

जो मनुष्य पदार्थ विद्या एवं अध्यात्म विद्या दोनों को साथ-२ जानता है, वह मनुष्य पदार्थविद्या के समुचित और सर्वहितकारी उपयोग के द्वारा तथा शरीर और जगत् के नश्वर होने के ज्ञान द्वारा मृत्यु-भय एवं अन्य सभी दुःखों को पार करके यथार्थ अध्यात्म विज्ञान के द्वारा जीवन्मुक्त किंवा मुक्ति रूप परमानन्द को प्राप्त होता है।

”

विद्या की व्यापकता एवं उसकी उपादेयता

संसार के समस्त प्राणियों में मनुष्य ही सबसे बुद्धिमान् प्राणी है। यद्यपि अन्य समस्त प्राणी भी सर्वथा बुद्धिहीन नहीं होते हैं किन्तु उनमें बौद्धिक क्षमता का विकास अनेक प्रयत्न करने पर भी बहुत कम ही हो सकता है। यह भी एक सत्य है कि मनुष्येतर सभी प्राणी स्वयमेव अपना बौद्धिक विकास करने में प्रायः सक्षम नहीं होते हैं। किसी अन्य के द्वारा उन्हें बौद्धिक प्रशिक्षण दिये जाने पर भी बहुत अधिक विकसित नहीं हो पाते हैं। हाथी, घोड़े, कुत्ते और बंदरों की विभिन्न प्रजातियाँ आदि कुछ प्राणियों को प्रशिक्षण देने पर कुछ बौद्धिक विकास अवश्य होता है परन्तु इनमें से कोई भी प्राणी मनुष्य के समान बुद्धि का विकास नहीं कर सकता। इसी कारण संसार भर में विभिन्न विद्याओं का विस्तार और उसका उपयोग मनुष्य जाति द्वारा ही हुआ एवं हो रहा है।

विद्या की परिभाषा

विद्या ही एक ऐसा गुण है, जो इस मनुष्य जाति को अन्य समस्त जीवधारियों से पृथक् एक विशिष्ट पहचान प्रदान कराता है। विद्या ही वह गुण है, जो संसार के समस्त जड़ और चेतन पदार्थों का यथार्थ स्वरूप विदित कराता है। यह भी बात विशेष समझने की है कि कोई भी मानव सृष्टि के विभिन्न पदार्थों के यथार्थ स्वरूप और उनके परस्पर वास्तविक सम्बन्ध को ठीक-ठीक जाने बिना उनसे यथायोग्य उपकार नहीं ले सकता है। इसी कारण **महर्षि दयानन्द सरस्वती** लिखते है-

"जिससे पदार्थ का स्वरूप यथावत् जानकर उससे उपकार ले के अपने और दूसरों के लिए सब सुखों को सिद्ध कर सकें, वह विद्या कहाती है।" **(व्यवहारभानु)**

बिना विद्या के मानवों का परस्पर न्याययुक्त व्यवहार भी सम्भव नहीं, इसी कारण महर्षि दयानन्द लिखते हैं- "जिससे पदार्थ यथावत् जानकर न्याययुक्त कर्म किये जावें, वह विद्या कहाती है।" **(व्यवहारभानु)**

महर्षि दयानन्द की दृष्टि में विद्या का क्षेत्र बहुत व्यापक है, जिसमें वर्त्तमान जगत् में पढ़ाई जाने वाली अनेक विद्याएं यथा- भौतिक विज्ञान एवं इसकी शाखाएं जैसे- खगोल भौतिकी, खगोल विज्ञान, परमाणु भौतिकी, नाभिकीय-कण भौतिकी, भू-भौतिकी, सूर्य विज्ञान, जैव भौतिकी आदि। रसायन विज्ञान की विभिन्न शाखाएं, जैसे- कार्बनिक रसायन, अकार्बनिक रसायन, भौतिक रसायन, जैव रसायन आदि, प्राणि विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, इंजिनियरिंग के विभिन्न क्षेत्र, अत्यन्त विकसित चिकित्सा विज्ञान, शरीर रचना एवं क्रिया विज्ञान, पशु-पक्षी विज्ञान, पर्यावरण एवं मौसम विज्ञान, भूगोल, अर्थशास्त्र, राजनीति एवं समाजशास्त्र, भाषा विज्ञान, सूचना तकनीक, उद्योग-व्यापार प्रबन्धन, युद्ध विज्ञान, समुद्र विज्ञान, संगीत आदि विभिन्न उपयोगी कलाएं आदि महर्षि की विद्या के अन्तर्गत ही आती हैं। यह भी ध्यातव्य है कि ये सभी विद्याएं केवल जड़ पदार्थों से ही विशेष सम्बन्ध रखती हैं, जबकि हम जानते हैं कि यह समस्त ब्रह्माण्ड केवल जड़ पदार्थों का संघात अर्थात् जड़मात्र नहीं है और न ही यह सारा जड़ पदार्थ संसार स्वयं के लिए ही है। न तो इस ब्रह्माण्ड को बनाने वाला जड़ हो सकता है और न इसको भोगने वाला ही जड़ हो सकता है। वैसे इस विषय पर विस्तृत विचार हम अगले अध्यायों में करेंगे।

महर्षि दयानन्द की दृष्टि में उपरिवर्णित जो भी वर्त्तमान विद्याएं प्रचलित हैं, वे विद्या का केवल आधा भाग हैं, जबकि विद्या का दूसरा आधा भाग, जो चेतन पदार्थों से सम्बन्ध रखता है, साथ ही जो भौतिक जगत् के सूक्ष्मतम विज्ञान (कण भौतिकी, तरंग भौतिकी, क्वाण्टम फील्ड थ्योरी एवं स्ट्रिंग थ्योरी) से भी सूक्ष्म एवं विशालतम सृष्टि विज्ञान से भी व्यापक है, यह दोनों मिलकर विद्या का पूर्ण स्वरूप होता है। इसलिए महर्षि विद्या की परिभाषा करते हुए लिखते हैं- **"जिससे ईश्वर से लेके पृथिवीपर्यन्त पदार्थों का सत्य विज्ञान होकर उन से यथायोग्य उपकार लेना होता है, इसका नाम विद्या है।" (आर्योद्देश्यरत्नमाला)**

विद्या बनाम अविद्या

इन विद्याओं के भी केवल शब्द अर्थात् सैद्धान्तिक ज्ञानमात्र को महर्षि विद्या नहीं मानते थे, बल्कि इनके उचित उपयोग द्वारा प्राणिमात्र का हित सिद्ध होने पर ही उसे विद्या की श्रेणी में रखते थे। इससे सिद्ध हुआ कि पहले समस्त जगत् का शाब्दिक एवं सैद्धान्तिक ज्ञान होवे, फिर उस ज्ञान की सत्यता की परीक्षा के लिए विभिन्न प्रयोग, परीक्षण एवं प्रेक्षण होवें। उसके पश्चात् वह सत्य सिद्ध हुआ ज्ञान-विज्ञान सर्वहित के लिए अनुकूल है वा नहीं, इसकी भी भली-भाँति परीक्षा होवे, तब उस ज्ञान-विज्ञान को संसार में विद्या के पद पर प्रतिष्ठित किया जाए। तभी वह विद्या सकल जगत् के लिए सुख और शान्तिदायक हो सकती है। दुर्भाग्य से वर्त्तमान संसार इस यथार्थ विद्या से अतिदूर चला गया है। **आज की प्रचलित विद्याएं स्वयं परस्पर विरोधी होकर संसार में दुःख और अशान्ति को उत्पन्न कर रही हैं।** इसे हम इस प्रकार समझने का प्रयास करते हैं- संसार के विभिन्न देशों और समाजों में खान-पान की विभिन्न श्रेणियां एवं उनको उत्पन्न करने के लिए विभिन्न प्रकार के ज्ञान और तकनीक का विकास हो रहा है। उन खाद्य पदार्थों की गुणवत्ता एवं सरसता के निर्माण के लिए भी विभिन्न वैज्ञानिक परीक्षण किए जाते हैं। उनके प्रसंस्करण एवं संरक्षण के लिए नाना प्रकार की तकनीकों का अनुसंधान हो रहा है। इतना होने पर भी उन खाद्य पदार्थों का मानव आदि के शरीर, मस्तिष्क एवं मन पर प्रतिकूल प्रभाव उत्पन्न हो रहा है। जिस खाद्य को किसी एक रोग विशेष की दृष्टि से उपयोगी घोषित किया जाता है, वही खाद्य पदार्थ कुछ दिनों के अनुसंधान के पश्चात् किसी अन्य रोग को उत्पन्न करने वाला सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार पहले किसी पदार्थ को किसी विशेष रोग वा अंग की दृष्टि से उपयोगी सिद्ध करने में समय, धन एवं तकनीक का व्यय किया जाता है, फिर कुछ वर्षों पश्चात् ऐसा ही व्यय उसके दुष्परिणाम को खोजने में किया जाता है और परिणाम शून्य प्राप्त होता है। हमने आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में उल्लेखनीय प्रगति की है, मानव की औसत आयु में वृद्धि भी हुई है, अनेक महामारियों पर विजय भी पाई है **परन्तु क्या मानव ने शारीरिक और मानसिक बल, प्रसन्नता, स्मृति, मेधा, शान्ति एवं पूर्ण आरोग्यता को प्राप्त किया है? क्या संसार भर में हो रहे मांस-मछली-अण्डा आहार, मदिरा आदि अभक्ष्य पेयों का उपयोग एवं विषय लम्पटता आदि दोषों के कारण व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक ढांचा तथा पर्यावरण तंत्र क्षत-विक्षत नहीं हुआ है?** विभिन्न कृषि तकनीकों ने खाद्यान्न में वृद्धि तो की परन्तु क्या उसकी गुणवत्ता का क्षरण नहीं हुआ है? इस गुणवत्ता की वृद्धि आदि के लिए उच्च जैव तकनीक के विभिन्न आविष्कार क्या अनेकों प्रत्यक्ष एवं परोक्ष समस्याएं पैदा नहीं कर रहे हैं? विलासिता आदि संसाधनों पर होने वाले आविष्कार एवं कथित विकास के नाम पर हो रहे औद्योगिकीकरण से कुपित हुआ पर्यावरण बाढ़, सूखा, जल संकट, भूकम्प, सुनामी, अतिहिमपात, ओलावृष्टि, अति उष्णता एवं भीषण दावानल की समस्याएं पैदा नहीं कर रहा है? क्या मनोरंजन के नाम पर हो रहे विविध आविष्कार इस मानव समाज में हिंसा, कामुकता, अशान्ति, अकर्मण्यता आदि दोष उत्पन्न कर नैतिकता, सदाचार, अहिंसा एवं शान्ति जैसे सद्गुणों को नष्ट-भ्रष्ट नहीं कर रहे हैं? **बढ़ती हुई सूचना तकनीक ने अनेक सुविधाएं देने के साथ-साथ अनेक मनोरोग, अपराध, आतंकवाद एवं विकिरण प्रदूषण जैसी गम्भीर समस्याओं को उत्पन्न नहीं किया है? सूचना तकनीक के मद में चूर हाईटैक मानव विकिरण प्रदूषण को गम्भीरता से नहीं ले रहा है। हमारी दृष्टि में यह प्रदूषण सभी भौतिक प्रदूषणों से भयानक तथा दीर्घकाल तक हानि पहुँचाकर प्राणिमात्र को एक दिन भारी संत्रास पहुँचाएगा। इससे भी भयंकर वैचारिक प्रदूषण सर्वत्र घोर दुःख का सामान एकत्र कर रहा है। हिंसा, क्रूरता, कामुकता, ईर्ष्या, शोक, द्वेष आदि से उत्पन्न सूक्ष्म तरंगें सम्पूर्ण प्राणिजगत् के लिए एक दिन अत्यन्त घातक सिद्ध होंगी।** आज का पदार्थ विज्ञान जैसे-२ प्रगति कर रहा है, वैसे-२ उसे अपनी तकनीक के दुष्प्रभाव भी अनुभव में आते जा रहे हैं। वह सुविधाओं की मृगतृष्णा में अनेक दुविधाओं को आमन्त्रित कर रहा है। उसे अपनी दुविधा का बोध तब होता है, जबकि वह विलासी मनुष्य को सुविधाओं का आसक्त व अभ्यस्त बना देता है। ऐसी स्थिति में विषयभोगी मानव दुविधाओं को भोगने को विवश होता है क्योंकि वह सुविधाओं की आसक्ति वा मोह से स्वयं को मुक्त नहीं कर पाता। **वस्तुतः वर्तमान विज्ञान उस चंचल बच्चे के समान है, जो कोई कार्य अपने अल्प ज्ञान के आधार पर कुतूहलवश किंवा किसी लोभ वा आसक्तिवश प्रारम्भ तो कर देता है परन्तु जब उसे कुछ ज्ञान होता है कि उसके कार्य का अन्तिम परिणाम तो उसके लिए हानिकारक होगा, तब वह बालक चाहते हुए भी उस कार्य को छोड़ नहीं पाता।** इसी प्रकार वर्तमान विज्ञान अपने अपूर्ण ज्ञान एवं सुख सुविधाओं की असीमित आसक्तिवश निरन्तर अपने ही विनाश का जाल बुनता जा रहा है। मैं संसार के सभी आधुनिक विज्ञानवादियों को चेतावनी दे रहा हूँ कि वे अपनी दिशा बदलें, अन्यथा पश्चाताप के अतिरिक्त

कुछ हाथ नहीं लगेगा। आज विज्ञान को मेरी यह बात समझ नहीं आएगी परन्तु मुझे विश्वास है कि भविष्य में मेरी यह चेतावनी इस विज्ञान को भी अवश्य समझ में आयेगी। सम्पूर्ण संसार को अपनी मुट्ठी में रखने का प्रयास करने वाला मानव, क्या अपने परिवार एवं स्वयं आत्मा से भी दूर नहीं हो गया है? क्या संसार कभी विचार करेगा कि ऐसा क्यों हो रहा है? इतना होने पर भी यह सब लिखने का हमारा प्रयोजन यह नहीं है कि आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के उपर्युक्त विभिन्न आविष्कार बंद कर दिये जाएं। इसी प्रकार संसार की आर्थिक और राज व्यवस्थाओं के कारण, जो अशान्ति, गरीबी, शोषण, वर्ग संघर्ष आदि समस्याएं उत्पन्न हो रही हैं, उसके कारण भी मैं इन व्यवस्थाओं को ही उखाड़ फैंकने का आह्वान नहीं करूंगा।

मैं **जर्मन विद्वान् एडोल्फ जस्ट** के शब्दों में विज्ञान को बेदम एवं हानिकारक बताकर पशु-पक्षियों को अपना गुरु बनाकर घास-फूस या भूमि पर सोने के लिए नहीं कहूँगा और न **फ्रांसीसी सुधारक रूसो** की भांति राजव्यवस्थाओं को सारे दुःखों का मूल कहूँगा परन्तु मैं इतना अवश्य कहना चाहूंगा कि वर्त्तमान ज्ञान-विज्ञान की परम्परा में एक बहुत बड़ी भूल हो रही है। वर्त्तमान जगत् चेतन तत्व की नितान्त उपेक्षा कर अथवा उसको सर्वथा नकार कर उपभोक्तावादी अपूर्ण एवं विकृत सभ्यता का विस्तार कर रहा है। विद्या की विभिन्न शाखाओं में कोई समन्वय और नियमन दिखाई नहीं दे रहा है। जगत् में जीने का प्रयोजन किसी को कुछ भी समझ में नहीं आ रहा है। इसका एक ही मुख्य कारण है कि **हमारा सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान चेतन तत्व के विज्ञान के बिना नितान्त अपूर्ण है।** इसके साथ ही हमारा यह भी दृढ़ मत है कि वर्तमान विकसित विज्ञान को भी सृष्टि के सभी जड़ पदार्थों का भी पूर्ण एवं निभ्रान्त ज्ञान नहीं है। **अभी भी theoretical physics को गम्भीरता व सूक्ष्मता से समझने हेतु यथार्थ प्रयास नहीं हो रहा है।** मूलकणों पर अनुसंधान की यात्रा समाप्त होती प्रतीत हो रही है। योगसाधनाजन्य अन्तर्दृष्टि का न केवल सर्वथा अभाव है, बल्कि उस पर किंचिदपि विश्वास नहीं है। **खान-पान, आचार-विचार की सात्विकता के अभाव में सूक्ष्मग्राही बुद्धि का उज्ज्वल प्रकाश वैज्ञानिकों के पास किंचित् भी नहीं है।** वे प्रत्येक बात को प्रयोग व प्रेक्षणों किंवा गणितीय व्याख्याओं के आधार पर ही समझना चाहते हैं। वैज्ञानिक प्रयोग व प्रेक्षण तकनीक की सीमा के पश्चात् वे असहाय हो जाते हैं। विश्व में एक बड़ी संख्या में वैज्ञानिक मांस, मछली, अण्डा, मदिरा, धूम्रपान आदि अभक्ष्य भ्रष्ट पदार्थों का सेवन करते हैं, इससे उनकी बुद्धि सात्विक कैसे हो सकती है? जब बुद्धि सात्विक नहीं होगी, तो वे कैसे जड़ व चेतन सूक्ष्म पदार्थों की गम्भीर व विस्तृत विवेचना कर सकते हैं? इससे उनका विज्ञान चेतन तत्व तो क्या, जड़ मन, प्राण, छन्द आदि सूक्ष्म तत्वों, जो मूलकण, ऊर्जा आदि के भी मूल कारण हैं, के विषय में तनिक भी विचार नहीं कर पा रहे। इस कारण **उनका सृष्टि विज्ञान अपूर्ण है।** उस पर ईश्वर व जीवात्मा के अस्तित्व में तो विश्वास ही नहीं है। यह सामान्य सी बात है कि **जब हम किसी पदार्थ का यथार्थ विज्ञान नहीं कर पाएंगे, तब तक भला उस पदार्थ का उचित उपयोग कैसे कर सकेंगे?** इसी प्रकार यह भी सत्य है कि जब तक उपभोक्ता मानव स्वयं के चेतन स्वरूप का यथार्थ बोध नहीं करेगा, तब तक भला वह उपभोग्य वस्तुओं के उपभोग तथा जीवन जीने का प्रयोजन भी कैसे समझ सकेगा? इसी प्रकार सृष्टि विज्ञान को जानते समय मूलनिमित्ततत्व, जो सृष्टि का सृजेता व नियामक है, उस **चेतन परमात्मतत्व के अस्तित्व की अनिवार्यता एवं उसके यथार्थ स्वरूप पर विचार नहीं किया जायेगा, तब तक जगत् रचना का प्रयोजन एवं विभिन्न जीवधारियों के परस्पर सम्बन्ध एवं उचित व्यवहार का भी यथार्थ बोध कैसे हो सकेगा?**

प्रश्न- ईश्वर और जीवात्मा जैसी रूढ़िवादी नष्टप्राय मान्यताओं का किसी भी यथार्थ ज्ञान-विज्ञान परम्परा से भला क्या सम्बन्ध हो सकता है? आप ज्ञान-विज्ञान की बातें करने चले और इस २१वीं सदी के वैज्ञानिक युग में रूढ़िवादी अन्ध परम्पराओं को ज्ञान-विज्ञान की मिथ्या चादर ओढ़ाकर इस देश और संसार को उसी आदिम और पाषाण युग में ले जाना चाहते हैं। क्या आपको यह जानकारी नहीं है कि इस भारत और विश्व में ईश्वर, जीव एवं धर्म आदि अन्ध परम्पराओं के नाम पर कितना खून बहाया गया है, मानव-मानव के बीच दीवारें खड़ी की गई हैं, विकास के रास्ते में अवरोध डाले गये हैं? क्या यही विद्या की वास्तविक एवं समग्र दृष्टि है?

उत्तर- आपका यह प्रश्न अत्यन्त स्वाभाविक व सामयिक है। इस प्रकार के प्रश्नों के लिए मैं आप जैसे महानुभावों को दोषी नहीं मानता, बल्कि मैं उन महानुभावों को दोषी मानता हूँ जो ईश्वर, धर्म, पुनर्जन्म और जीवात्मा जैसे विषयों पर व्याख्यान-लेखन तो बहुत करते रहे, उपासना, भक्ति, पूजा आदि भाँति-२ की विधियां प्रचलित करते रहे परन्तु वे महानुभाव न केवल सृष्टि विद्या की विभिन्न ज्ञान-विज्ञान शाखाओं को पूर्णतः भुला बैठे, अपितु जिस धर्म, ईश्वर, जीव आदि की बातें करते रहे एवं एतद् विषयक अनेकों ग्रन्थ लिखते व पढ़ते रहे, उनके भी यथार्थ स्वरूप से अतिदूर हो गये। यह स्मरणीय तथ्य है कि विद्या मानवमात्र की हर समस्या का समाधान है, हर रोग की औषधि है परन्तु जिस प्रकार अपूर्ण अथवा विपरीत औषधि रोगी के प्राण ले सकती है, उसी प्रकार अपूर्ण विद्या अथवा विपरीत ज्ञान संसार में समस्याओं को उत्पन्न ही करता है। अतः जिस प्रकार एकाकी वर्त्तमान विज्ञान ने विश्व में उपरिवर्णित समस्याओं को उत्पन्न किया है, उसी प्रकार कुछ हजार वर्ष पूर्व से भारत एवं शेष विश्व में धर्म, ईश्वर, जीवात्मा एवं पुनर्जन्म जैसे गम्भीर विषयों पर यथार्थता के स्थान पर कल्पनाओं और अन्धविश्वासों ने इस मानव जाति को अनेकविध दुःख सागर में डुबोने का काम किया है। हम इनमें से सर्वाधिक महत्वपूर्ण विषय ईश्वर के अस्तित्व व स्वरूप की वैज्ञानिकता पर आगे विस्तृत चर्चा करेंगे।

वर्त्तमान प्रचलित भाषा में जड़ पदार्थों के ज्ञान को विज्ञान (Science) एवं चेतन तत्व के विज्ञान को धर्म कहा जाता है। वस्तुतः ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। इसी कारण **महर्षि दयानन्द** विद्या की परिभाषा में इन दोनों का ही सुन्दर समावेश है। महान् आधुनिक वैज्ञानिक **सर अल्बर्ट आइंस्टीन** ने भी कहा था कि -

१. **"Science without religion is lame, religion without Science is blind"**
२. **"I am of the opinion that all the finer speculations in the realm of science spring from a deep religious feeling."** (मद्ररचित "सृष्टि का मूल उपादान कारण" पुस्तक की प्रस्तावना में प्रो. आभास कुमार मित्रा द्वारा उद्धृत वचन)

अर्थात्

१. "धर्म के बिना विज्ञान लंगड़ा है और विज्ञान के बिना धर्म अंधा है।"
२. "मेरी राय है कि विज्ञान के साम्राज्य के सुन्दर विचार गहरी आध्यात्मिक भावनाओं से जुड़े रहते हैं अथवा उनसे उत्पन्न होते हैं।"

यहाँ यह बात स्मरणीय है कि अंग्रेजी भाषा का 'religion' शब्द **'धर्म'** शब्द की समानता नहीं रखता। यह शब्द सम्प्रदाय को ही व्यक्त करता है। **'धर्म'** शब्द का समानार्थक अंग्रेजी भाषा में कोई शब्द नहीं है। इस कारण इसे धर्म ही कहना उचित है, चाहे उसे किसी भी भाषा में बोला जाए।

महर्षि दयानन्द विद्या (विज्ञान) एवं धर्म के अनिवार्य सम्बन्ध को दर्शाते हुए लिखते है- "अविद्वान् लोग दूसरों को धर्म में निश्चय नहीं करा सकते और विद्वान् लोग धार्मिक होकर अनेक मनुष्यों को भी धार्मिक कर सकते हैं और कोई धूर्त्त मनुष्य अविद्वान् को बहकाके अधर्म में प्रवृत्त करता है परन्तु विद्वान् को अधर्म में कभी नहीं चला सकता क्योंकि जैसे देखता हुआ मनुष्य कुंए में कभी नहीं गिरता परन्तु अन्धे को तो गिरने का सम्भव है, वैसे विद्वान् सत्यासत्य को जानके उसमें निश्चित रह सकते और अविद्वान् ठीक-ठीक स्थिर नहीं रह सकते हैं।।" **(व्यवहारभानु)**

"धर्म का रक्षक विद्या ही है क्योंकि विद्या से ही धर्म और अधर्म का बोध होता है। उनसे सब मनुष्यों को हिताहित का बोध होता है, अन्यथा नहीं।।" **(ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन - दयानन्द -विचार-कोश-भाग-१, पृ.३ से उद्धृत)**

प्राचीन आर्य्यावर्त (भारत) में विद्या-विज्ञान की व्यापकता

प्राचीन वैदिक भारत में विद्या के समग्र स्वरूप का ही प्रचलन था। इसी कारण एक बार **देवर्षि नारद महर्षि सनत्कुमार** के पास जाकर बोले-

"ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यँ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याँ सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि।।२।।" (छां.उ.७.१.२; डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार भाष्य)

अर्थात् {नारद} ने कहा (ऋग्वेदम्) ऋग्वेद को (भगवः) हे भगवन् (अध्येमि) पढ़ता हूं, पढ़ चुका हूं (यजुर्वेदम्) यजुर्वेद को (सामवेदम्) सामवेद को (आथर्वणम्) अथर्ववेद को (चतुर्थम्) चौथे (इतिहासपुराणम्) इतिहास-पुराण को (पञ्चमम्) पांचवें (वेदानाम्) वेदों के (वेदम्) वेद {ज्ञान-कराने वाले, ज्ञापक अर्थात् व्याकरण, निरुक्त, छन्द, शिक्षा, कल्प आदि} को (पित्र्यम्) पितृ कर्म {पितृ-शुश्रूषा शास्त्र अर्थात् गृह विज्ञान, आयुर्वेद, कृषि विज्ञान आदि} को (राशिम्) गणित शास्त्र को (दैवम्) मौसम विज्ञान, विभिन्न प्राकृतिक प्रकोप आदि सम्बन्धित विज्ञान एवं कर्मफल व्यवस्था (निधिम्) अर्थशास्त्र को (वाकोवाक्यम्) तर्क शास्त्रं एवं विधि शास्त्र को (एकायनम्) नीतिशास्त्र (देवविद्याम्) समस्त प्रकाशित सूक्ष्म पदार्थों के विज्ञान एवं वेदमंत्रों के विभिन्न देवताओं के विज्ञान (ब्रह्मविद्याम्) विद्युत् विद्या, मन-वाक् तत्व आदि के विज्ञान एवं परमात्मतत्व विज्ञान को (भूतविद्याम्) भौतिकी, रसायन विज्ञान, प्राणि विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, भूगर्भशास्त्र आदि को (क्षत्रविद्याम्) युद्ध एवं अस्त्र-शस्त्र विद्या को (नक्षत्रविद्याम्) खगोल भौतिकी, खगोल विज्ञान, सूर्य एवं तारों का विज्ञान (सर्पदेवजनविद्याम्) पृथिवी पर रेंगने वाले प्राणियों एवं वन्य प्राणियों का विज्ञान, शिल्पशास्त्र अर्थात् इंजिनियरिंग एवं संगीत आदि ललित विद्याओं को (एतद्) इस सबको (भगवः) हे भगवन् (अध्येमि) शिक्षा पा रहा हूँ (पा चुका हूँ)।।२।।

परन्तु-

"सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुतँ ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति। सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति। तँ होवाच यद्वै किंचैतदध्यगीष्ठा नामैवैतत्।।३।। (छां.उ.७.१.३)

अर्थात् (सः अहम्) वह मैं अर्थात् वेदादि शास्त्रों को जानने वाला भी मैं (भगवः) हे भगवन् ! (मन्त्रवित्+एव) मन्त्रवेत्ता ही (अस्मि) हूं अर्थात् पाठकमात्र हूं (आत्मवित् न) ब्रह्मवित नहीं (हि) क्योंकि (भगवद्दृशेभ्यः) आपके समान तत्ववेत्ताओं से (मे) मुझे (श्रुतमेव) सुना ही हुआ है कि (आत्मवित्) ब्रह्मवित् (शोकम् तरति) शोक को तर जाते हैं अर्थात् शोक नहीं करते (इति) परन्तु (भगवः) हे भगवन्! (सोऽहम्) सो मैं (शोचामि) शोक कर रहा हूं, इस हेतु मैं आत्मवित् नहीं (तम्) शोकग्रस्त उस (मा) मुझको (भगवान्) आप (शोकस्य पारम्) शोक के पार (तारयतु) उतारें (इति) यह मेरी प्रार्थना है। (तम् ह उवाच) वे प्रसिद्ध सनत्कुमार उस नारद से बोले कि (यत्किञ्च) जो कुछ (एतत्) पूर्वोक्त विज्ञान का (वै) निश्चय (अध्यगीष्ठाः) आपने अध्ययन किया है (एतत् नामैव) यह सब नाम ही है। भाष्य- (पं. शिवशंकर शर्मा 'काव्यतीर्थ')

पाठकगण यहां विचार करें कि **देवर्षि नारद** का अध्ययन कितना विशाल था। कोई भी अकेला व्यक्ति इतने विषयों का विशेषज्ञ भी बन सकता है, ऐसी कल्पना भी करना अति कठिन है। दुर्भाग्य से आर्य्यावर्त (भारतवर्ष) अथवा विश्व भगवान् नारद आदि महापुरुषों के यथार्थ चरित्र को विस्मृत कर बैठा। अब जरा इस पक्ष पर विचार करें कि सम्पूर्ण जड़ और चेतन जगत् का विस्तृत ज्ञान रखने वाले देवर्षि नारद भी क्यों शोकमग्न थे? वे किस ज्ञान-पिपासा में **महर्षि सनत्कुमार** के श्री चरणों में उपस्थित हुए थे? इस बात का उत्तर वे स्वयं देते है कि मैं मन्त्रवित् हूँ आत्मवित् नहीं हूँ अर्थात् वे उपर्युक्त सारी विद्याओं का विस्तृत सैद्धान्तिक ज्ञान तो रखते थे। शिल्प शास्त्र अर्थात् इंजिनियरिंग का विशेषज्ञ होने के कारण उन्हें सम्पूर्ण पदार्थ विद्याओं का प्रयोगात्मक ज्ञान भी था। ईश्वर और जीव दोनों चेतन तत्वों का गहन मनन-चिन्तन भी उन्होंने कर रखा था परन्तु इन चेतन तत्वों का साक्षात्कार करके जीवन्मुक्त अवस्था को उस समय तक प्राप्त नहीं कर पाये थे और यही एकमात्र उनके शोक का कारण था। इस विषय में दो बातें गम्भीर रूप से विचारणीय हैं-

भौतिक एवं आध्यात्मिक विज्ञान का अनिवार्य सम्बन्ध

(१) समस्त सृष्टि के ज्ञान-विज्ञान एवं ईश्वर-जीव के पूर्ण सैद्धान्तिक ज्ञान के बिना चेतन तत्व का साक्षात्कार सम्भव नहीं है। इसी कारण **भगवान् नारद** संसार की विविध विद्याओं का अध्ययन पहले कर चुके थे और उनके गुरुजनों ने भी इतनी विद्याओं का अध्यापन उन्हें कराया था। यदि ईश्वर एवं आत्म साक्षात्कार के लिए ये सभी विद्याएं अनावश्यक होतीं, तो उस महान् वैदिक काल में एवं उस महान् देव समाज के महान् ऋषि महानुभाव **नारद** जैसे महान् व्यक्ति को इन सारी विद्याओं को पढ़ाने का पुरुषार्थ नहीं करते। इस बात पर उन महानुभावों को गम्भीरता से विचार करना चाहिये, जो पदार्थ विज्ञान एवं लोक व्यवहार की विद्याओं की नितान्त उपेक्षा कर केवल ईश्वर और मुक्ति की बात करते हैं। तो कोई-२ महानुभाव क्षणभर में समाधि प्राप्त कराने का दावा करते हैं। वस्तुतः ऐसे महानुभाव वैदिक आर्ष परम्परा एवं इसके ही एक अंग पातञ्जल योगशास्त्र से नितान्त अनभिज्ञ हैं।

प्रश्न- आपके अनुसार ईश्वर प्राप्ति के लिए यदि इतना ज्ञान-विज्ञान आवश्यक है तथा इसके उपरान्त ही ईश्वर साक्षात्कार का उपाय किया जाये, तब तो कोई मनुष्य ईश्वर की उपासना कर ही नहीं सकता क्योंकि न तो **महर्षि नारद** जैसा ज्ञान होगा और न आत्म साक्षात्कार का प्रयत्न करेगा?।

उत्तर- हमारे उपर्युक्त कथन का यह तात्पर्य नहीं कि उपर्युक्त पदार्थ विद्याओं अथवा चेतन विद्याओं के अध्ययन करते समय ईश्वर की उपासना न की जाए। हमारी वैदिक संस्कृति में तो बच्चे के जन्म लेने के तुरन्त पश्चात् बालक का पिता स्वर्ण शलाका के द्वारा मधु से बच्चे की जिह्वा पर **'ओम्'** लिखता है। उसका प्रयोजन यही होता है कि वह बालक जीवन में मधुरता लिए हुए संसार में अपने मधुर व्यवहार के द्वारा मधुरता भर दे तथा मधु उत्तम स्वास्थ्यवर्धक होने के कारण आयुर्विज्ञान, आहार शास्त्र एवं शरीरोपयोगी विभिन्न विद्याओं का ज्ञाता बनकर उत्तम बल, बुद्धि, पराक्रम, प्रज्ञा और दीर्घायु से युक्त होकर समस्त संसार को अपने समान ही गुणों से पूर्ण करने का प्रयत्न करता हुआ एवं सुवर्ण आदि रत्नों से समृद्ध होकर विभिन्न लोकोपयोगी विद्याओं के द्वारा संसार को सुखी-समृद्ध करने का प्रयत्न सदा करता रहे। यह बात विशेष विचारणीय है कि ऐसी व्यापक उदार भावना किसी भी व्यक्ति में तभी आ सकेगी, जब वह सम्पूर्ण संसार को अपना ही परिवार समझेगा और अपना परिवार तभी बनता है, जब उसको उत्पन्न करने वाले माता-पिता का एक ही जोड़ा होता है। इसलिए उस बच्चे की जिह्वा पर **'ओम्'** शब्द लिखा जाता है। यह इस बात का संकेत होता है कि हे बालक! यह परमात्मा ही इस सम्पूर्ण जगत् का माता और पिता है अथवा चेतन परमात्मा सबका पिता है और जड़ प्रकृति सबकी माता है। इस कारण संसार के सभी प्राणी एक परिवार के सदस्य हैं। यहां यह बात भी उल्लेखनीय है कि प्रकृति को माता तो कहा है परन्तु पिता कहीं नहीं कहा गया है। जबकि परमात्मा को

"त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे"।।११।। (ऋ.८.९८.११), (सा.११७०, अथर्व.२०.१०८.२)

कहकर माता और पिता दोनों नामों से सम्बोधित किया है। इसलिए वही सर्वोपरि उपास्य देव है एवं उसी का मुख्य एवं निज नाम **'ओम्'** है। इस कारण बच्चे को न केवल संसार परमात्मा का परिवार है, ऐसी शिक्षा दी जाती है, अपितु वह परमात्मा ही हमारा अन्तिम परमधाम है, यह भी संकेत किया जाता है।

इस कारण पातञ्जल योग के विभिन्न अंगों की साधना करता हुआ बचपन से ही ईश्वरोपासना हर बालक का सर्वोपरि धर्म होना चाहिए। ईश्वर उपासना एवं ब्रह्मचर्य-प्राणायाम आदि तपों के द्वारा विद्यार्थी महती प्रज्ञा को प्राप्त होकर विभिन्न पदार्थ विद्याओं के गम्भीर रहस्यों एवं आध्यात्मिक विज्ञान को भी समझने में अपेक्षाकृत समर्थ होता है और ऐसा करते हुए ही **महर्षि नारद** उपरिवर्णित विद्याओं के महान् विशेषज्ञ बन पाये थे। इस कारण किसी भी अध्यात्मवेत्ता के लिए पदार्थ विद्या की उपेक्षा व निन्दा कदापि उचित नहीं मानी जा सकती, बल्कि पदार्थ विद्या हर अध्यात्मवेत्ता के लिए अनिवार्य विषय

है। यह बड़ी सरल सी बात है कि **कार्य को देखे बिना किसी कर्त्ता का अनुमान भी कैसे सम्भव है और जब उसके अस्तित्व का अनुमान भी नहीं होगा, तो उसके स्वरूप का यथार्थ ज्ञान और उसकी प्राप्ति की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती।**

(२) समस्त सृष्टि को जानने के पश्चात् तथा ईश्वर जीवात्मा विषयक विभिन्न वेदादि शास्त्रों को गम्भीरता से पढ़ने के उपरान्त भी ईश्वर-आत्मा के साक्षात्कार के बिना किंवा जीवनमुक्त अवस्था को प्राप्त किये बिना पूर्ण विशोक अवस्था का प्राप्त होना सम्भव नहीं है, इसी अवस्था को मुक्ति भी कहते हैं। हमारी दृष्टि में **महर्षि नारद महर्षि सनत्कुमार** के पास आने से पूर्व आत्मा अथवा ईश्वर का साक्षात्कार नहीं कर चुके थे, ऐसा कदापि सम्भव नहीं लगता। बिना मन्त्रदृष्टा ऋषि बने इतना विशाल और गहन अध्ययन करना किसी भी पुरुष के लिए सम्भव नहीं है और मन्त्रदृष्टा ऋषि वही बनेगा, जो ईश्वर का साक्षात्कार कर चुकेगा। वर्त्तमान किसी आध्यात्मिक और प्रतिभाशाली विद्वान् के द्वारा वेदार्थ करना अलग बात है और उस महान् युग में महर्षि नारद द्वारा स्वयं को मन्त्रवित् कहना बहुत ऊँची बात है। **हमारी दृष्टि में 'मन्त्रवित्' का अर्थ केवल पाठकमात्र नहीं है, बल्कि मन्त्रदृष्टा ऋषि का स्तर प्राप्त कर लेना।** हम विभिन्न विद्वानों के द्वारा मन्त्रवित् शब्द का अर्थ 'पाठक मात्र' करने से सहमत नहीं है।

प्रश्न– यदि 'मन्त्रवित्' का अर्थ ऋषि ही है, तो क्या ऋषि भी शोकाकुल एवं अपूर्णविद्य होते हैं, तब उनमें और सामान्य मनुष्यों में भेद क्या रहा?

उत्तर– संसार में सर्वथा पूर्णपुरुष तो केवल परमात्मा ही हो सकता है और जीवात्माओं के स्तर पर पूर्ण शोकरहित एवं समस्त ज्ञेय का ज्ञाता केवल मुक्तात्मा एवं जीवनमुक्त पुरुष ही हो सकता है। अन्य स्तरों पर यदा-कदा यत्किंचित् शोक-दुःख आते रह सकते हैं और यही अवस्था उस समय **महर्षि नारद** की थी। यह भी ध्यातव्य है कि इस स्तर के महापुरुषों एवं अन्य स्तर के मनुष्यों के सुख-दुःख, शोक-आनन्द में बहुत भेद होता है।

अब **महर्षि नारद** उस समय जो आत्मवित् न होने की बात करते हैं, उसका आशय यही है कि वे मुक्ति की कामना हेतु जीवनमुक्त अवस्था को प्राप्त करने के लिए ईश्वर साक्षात्कार को सुदृढ़ करने तथा अपने सभी संस्कारों को दग्धबीज करने के अभ्यास के लिए जीवनमुक्त अवस्था को प्राप्त हुए **सद्गुरु महर्षि सनत्कुमार** की शरण में आये थे। इस प्रकार यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि **सम्पूर्ण पदार्थ विद्याओं का ज्ञाता वैज्ञानिक तब तक पूर्ण सुख को प्राप्त नहीं हो सकता, जब तक कि वह चेतन तत्व के साक्षात्कार से उसका यथार्थ विज्ञान प्राप्त न कर ले। समस्त ज्ञान-विज्ञान एक सुन्दर माला के समान है। संसार की सभी पदार्थ विद्याएं उस माला के सुन्दर मोतियों के समान हैं और उन मोतियों को परस्पर जोड़ने वाला धागारूप आधार चेतनतत्व विज्ञान है।** जब तक यह धागा नहीं होगा, तब तक मोती परस्पर जुड़कर सौन्दर्य प्राप्त नहीं कर सकेंगे। इसी प्रकार बिना अध्यात्म विज्ञान के पदार्थ विज्ञान एवं व्यवहारिक विद्या की विभिन्न शाखाएं मानव समाज अथवा प्राणिमात्र को कदापि सुख-शान्ति नहीं दे सकतीं। उनमें परस्पर संघर्ष एवं विरोध भाव होगा ही, जिसके कारण सुख-सुविधाओं का विविध विस्तार होते हुए भी मानव समाज सुखी और आनन्दित नहीं हो सकेगा, तब प्राणिमात्र की तो कथा ही क्या कहेंगे? दुर्भाग्य से आज संसार में यही सब कुछ हो रहा है। **सुख-सुविधाओं के संसाधनों की भीड़ में सुख, शान्ति, प्रेम, मैत्री, करुणा जैसे मानवीय गुण कहीं खो गये हैं।** किसी भी माला का धागा न केवल उन मोतियों को आधार प्रदान करता है, बल्कि उन्हें व्यवस्थित क्रम प्रदान करके सुन्दर और उपयोगी भी बनाता है। इसी प्रकार यथार्थ आध्यात्म विज्ञान विभिन्न विद्याओं को परस्पर एक-दूसरे से जोड़कर, उन्हें परस्पर पूरक बनाकर प्राणिमात्र के लिए उपयोगी भी बनाता है। तब जहाँ निरापद एवं आवश्यक तकनीक का विकास होकर, जहाँ पर्यावरण सुन्दर और संरक्षित रहता है, वहाँ मानव के बीच गलाकाट प्रतिस्पर्धा न होकर परस्पर प्रीति और शान्ति भी बनी रहती है। तीनों प्रकार के दुःख अर्थात् शारीरिक और मानसिक दुःख, प्राकृतिक प्रकोप आदि से उत्पन्न दुःख एवं प्राणियों के पारस्परिक संघर्षजन्य दुःख किसी को भी पीड़ित नहीं करते हैं। उधर दूसरी ओर विभिन्न पदार्थविद्याएं एवं व्यवहारिक ज्ञान को पूर्णतः उपेक्षित कर केवल अध्यात्म की बातें करने वाले महानुभाव किसी सुन्दर माला रूप सामाजिक व्यवस्था की कल्पना से भी अतिदूर एक धागे के समान ऐसी नीरस व्यवस्था उत्पन्न करने वाले होते

हैं, जहाँ उन्हें परमात्मा अथवा मुक्ति की प्राप्ति तो भला क्या हो सकेगी, बल्कि वे अपने उदर पोषण में भी सक्षम न होकर नितान्त दुःखी और अभिशप्त जीवन जीते हैं। इसी कारण यजुर्वेद में कहा-

"अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते। ततो भूयऽइव ते तमो यऽउ विद्यायां रताः।।" (यजु. ४०.१२)

अर्थात् जो मनुष्य केवल पदार्थ विज्ञान में ही रत रहते हैं, वे दुःख सागर रूप अन्धकार में डूबते हैं और जो मनुष्य पदार्थ विद्या की नितान्त उपेक्षा करके केवल अध्यात्म विज्ञान में ही रत रहना चाहते हैं, वे और भी अधिक गहन अन्धकार में डूबते हैं। इसका कारण पाठक ऊपर समझ ही गये होंगे। तब, कैसे मनुष्य पूर्ण सुखी हो सकता है इसके उत्तर में वेद पुनः कहता है-

"विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।।" (यजु.४०.१४)

अर्थात् जो मनुष्य पदार्थ विद्या एवं अध्यात्म विद्या दोनों को साथ-२ जानता है, वह मनुष्य पदार्थविद्या के समुचित और सर्वहितकारी उपयोग के द्वारा तथा शरीर और जगत् के नश्वर होने के ज्ञान द्वारा मृत्यु-भय एवं अन्य सभी दुःखों को पार करके यथार्थ अध्यात्म विज्ञान के द्वारा जीवनमुक्त किंवा मुक्ति रूप परमानन्द को प्राप्त होता है।

इस प्रकार संसार की विद्याओं की विविधता, व्यापकता और उनके समन्वित, संतुलित और समुचित उपयोग से मानव स्वयं सर्वविध दुःखों से तरकर अन्य सभी प्राणियों को सुख देने में समर्थ होता है। यही विद्या की उपादेयता है।

ॐ इति द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॐ

तृतीयोऽध्यायः

“

कोई भी सृष्टि के पदार्थों के गुणों को बिना जाने उनसे उपकार नहीं ले सकता है, इससे विद्वानों के संग से पृथिवी से लेके ईश्वरपर्यन्त यथायोग्य सब पदार्थों को जानकर मनुष्यों को चाहिए कि क्रियासिद्धि सदैव करें।

–महर्षि दयानन्द सरस्वती

”

सृष्टि–विज्ञान एवं उसका महत्व

पूर्व अध्याय में हमने जो विविध विद्याओं की चर्चा की है, उन्हें दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है। (१) जो पदार्थ इस सृष्टि के उपादान कारण होते हैं अर्थात् जिनके मेल से यह सकल सृष्टि बनी है। (२) वे पदार्थ जो इस सृष्टि के उपादान कारण न होकर निमित्त कारण मात्र होते हैं। इनमें से प्रथम प्रकार के पदार्थ जड़ होते हैं तथा द्वितीय प्रकार के पदार्थ कुछ जड़ तथा कुछ चेतन होते हैं। **महर्षि दयानन्द सरस्वती** सृष्टि की परिभाषा करते हुए **'आर्योद्देश्यरत्नमाला'** में लिखते हैं-

''जो कर्त्ता की रचना करके कारण द्रव्य किसी संयोग विशेष से अनेक प्रकार कार्यरूप होकर वर्तमान में व्यवहार करने के योग्य है, वह **'सृष्टि'** कहाती है।''

'स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश' में पुनः **महर्षि दयानन्द** लिखते हैं-

''सृष्टि उसको कहते हैं, जो पृथक् द्रव्यों का ज्ञान युक्तिपूर्वक मेल होकर नानारूप बनना।''

इन दोनों परिभाषाओं पर विचार करने से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं-

(१) सृष्टि के पदार्थों को मनुष्य व्यवहार में ला सकता है। उनका यथार्थ विज्ञान प्राप्त कर सकता है। बिना यथार्थ विज्ञान के किसी भी पदार्थ को उचित व्यवहार में लाना सम्भव नहीं हो सकता, इस कारण सृष्टि विज्ञान की यथार्थता मानव जाति के लिए आवश्यक है। सृष्टि हेय नहीं, बल्कि व्यवहार में लाकर सबका उपकार करने के लिए है। सृष्टि के सूक्ष्म से सूक्ष्म व स्थूल से स्थूल पदार्थों अर्थात् सूक्ष्मतम कणों एवं उनसे भी सूक्ष्म प्राणादि पदार्थों से लेकर विशाल लोक लोकान्तर सबके यथार्थ विज्ञान को साक्षात् करके उसका सर्वहितार्थ उपयोग करना चाहिए। यही सृष्टि का प्रयोजन है।

(२) सृष्टि किसी कारण पदार्थ से बनी है। वह कारण पदार्थ अनादि व अनन्त है। वह न कभी बनता है और न कभी नष्ट ही होता है। उस पदार्थ का सदैव भाव रहता है, वह शून्य अर्थात् अवस्तु नहीं है, जैसा कि **महान् तत्ववेत्ता महर्षि कपिल** ने कहा-

नावस्तुनो वस्तुसिद्धिः। (सां.द.१.७८) अर्थात् अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसी को **योगेश्वर महान् वेदविज्ञानी श्रीकृष्ण** ने कहा-

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। (गीता २.१६) अर्थात् असत् की कभी सत्ता नहीं होती और सत्तावान् का कभी विनाश नहीं होता। इसका आशय है कि शून्य (Nothing) से कभी भी किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो सकती तथा जो वस्तु विद्यमान है, उसका कभी भी पूर्ण विनाश नहीं होता। लोक में जो किसी सत्तावान् का विनाश तथा बिना किसी कारण द्रव्य के किसी वस्तु की उत्पति देखी वा सुनी जाती है उसका यथार्थ यह है कि-

नाशः कारणलयः। (सां.द.१.१२१) अर्थात् स्थूल पदार्थों का अपने कारणभूत सूक्ष्म पदार्थों में लय वा परिवर्तित हो जाना ही विनाश कहलाता है। इस प्रकार वस्तु का विनाश यथार्थ में नहीं होता है, बल्कि उसका रूप इतना सूक्ष्म हो जाता है कि उसका हमें बोध नहीं हो सकता, यही विनाश वा प्रलय कहा जाता है। इसके विपरीत जब उस अदृश्य, अस्पृश्य, अविज्ञेय कारण पदार्थ के स्थूल रूप में परिवर्तित होकर किसी वस्तु का निर्माण होता दिखाई देता है, उसे ही किसी वस्तु का उत्पन्न होना माना जाता है। वस्तुतः सृष्टि व प्रलय पदार्थ की दो प्रकार की अवस्थाओं का नाम है। यह भी ध्यान रखने योग्य है कि यह सृष्टि-प्रलय वा कार्य-कारण अवस्था भी सापेक्ष होती है। एक पदार्थ किसी अन्य पदार्थ का उपादान कारण हो सकता है, तो वही पदार्थ किसी अन्य सूक्ष्म पदार्थ का कार्यरूप भी हो सकता है।

सृष्टि पृथक्-२ सूक्ष्म पदार्थों के संयोग विशेष से बनी है। यहाँ **'विशेष'** शब्द यह बतलाता है कि सृष्टि के विभिन्न पदार्थों (सूक्ष्म वा स्थूल) का निर्माण यदृच्छया संयोग (Random combination) से नहीं, बल्कि ज्ञान व युक्तिपूर्वक सम्यक् संयोग से ही होता है। संसार में जो भी हमें अव्यवस्था, यदृच्छा दिखाई देती है, वह हमारे अल्पज्ञान के कारण ही हमें प्रतीत होती है, जबकि उस अव्यवस्था के अन्दर भी एक सुन्दर सोद्देश्य व्यवस्था होती है, जिसे हम अपने अल्प ज्ञान के कारण जान नहीं पा रहे। समस्त सृष्टि पूर्ण व्यवस्थित, ज्ञानपूर्वक रची हुई, ज्ञानपूर्वक व सोद्देश्य संचालित है।

अब क्योंकि समस्त सृष्टि सोद्देश्य व ज्ञानपूर्वक रची हुयी है, इस कारण यह अनिवार्य है कि उसको रचने वाला कोई महान् सामर्थ्य वाला, महान् ज्ञानी-विज्ञानी, अनादि व अनन्त कर्त्ता अदृष्टरूपेण सर्वत्र विद्यमान है। इस कर्त्ता पूर्णज्ञानी तत्व के साथ-२ चेतन भोक्ता तत्व के अस्तित्व की अनिवार्यता एवं यथार्थ स्वरूप की चर्चा इस ग्रन्थ का उद्देश्य नहीं है। **विज्ञ पाठक सृष्टि में ईश्वर तत्व के अस्तित्व की वैज्ञानिकता पर विचार करके स्वयं ही भोक्तारूप चेतन जीव-तत्व के अस्तित्व की वैज्ञानिकता का अनुभव कर सकेंगे।**

इस प्रकार हमने **'सृष्टि'** शब्द की परिभाषा की चर्चा की। अब इस सृष्टि के पर्यायवाची दो शब्दों **'जगत्'** व **'संसार'** पर भी विचार करते हैं। इन दोनों शब्दों का अर्थ है, जो निरन्तर गतिशील अर्थात् परिवर्तनशील है, उसे जगत् वा संसार कहते हैं। इस सृष्टि में कुछ भी स्थिर वा स्थायी नहीं है और जो स्थिर, निर्विकार वा स्थायी है, वह इस सृष्टि का उपादान तत्व अथवा इसका अंगभूत तत्व नहीं है। समस्त जगत् के सूक्ष्मतम से लेकर स्थूलतम पदार्थ निरन्तर गति कर रहे हैं, वहीं वे निरन्तर इस गति के कारण अपने स्वरूप को भी सतत परिवर्तित कर रहे हैं। यह परिवर्तन सर्वत्र व सर्वदा होने वाले संयोग व वियोग के कारण ही हो रहा है और संयोग वियोग का भी कारण गति है। यह संयोग वियोग भी ज्ञानपूर्वक ही हो रहा है। इस **समस्त संयोग वियोग रूपी सृष्टि के समस्त व्यवहार व गुणों का व्यवस्थित व विशिष्ट ज्ञान ही सृष्टि विज्ञान कहलाता है।**

अध्यात्म विज्ञान के अतिरिक्त संसार के अन्य सभी विज्ञान सृष्टि विज्ञान की ही विविध शाखाएं हैं। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण पदार्थ विज्ञान (Physical Science) सृष्टि विज्ञान के अन्तर्गत आ जाता है किन्तु लोक में विभिन्न लोक लोकान्तरों की रचना के विज्ञान को ही सृष्टि विज्ञान कहते हैं। इसे आंग्ल भाषा में Cosmology कहते हैं। वर्तमान वैज्ञानिक इतना अवश्य मानते व जानते हैं कि इस Cosmology से सौर भौतिकी (Solar Physics), प्लाज्मा भौतिकी (plasma physics), खगोल भौतिकी (Astro physics), खगोल विज्ञान (Astronomy), Quantum Field Theory एवं String Theory आदि का न केवल अति निकट सम्बध है, अपितु ये सभी सृष्टि विज्ञान की शाखाएं हैं। इसके अतिरिक्त कण-परमाणु-नाभिकीय भौतिकी Particle–Atomic–Nuclear Physics के बिना Cosmology की कल्पना भी सम्भव नहीं। ऊष्मा, प्रकाश, विद्युत्, चुम्बक आदि का विज्ञान भी Cosmology को समझाने में आवश्यक है। इस प्रकार ये सभी विज्ञान-शाखाएं सृष्टि विज्ञान का ही भाग हैं। वैसे इन सबके लिए भौतिक विज्ञान physics शब्द भी बहुत सार्थक है। **विज्ञान की अन्य शाखाएं रसायन, भूगर्भ विज्ञान, प्राणि विज्ञान, वनस्पति विज्ञान आदि सभी बिना भौतिक विज्ञान के अपूर्ण हैं किंवा भौतिक विज्ञान रसायन आदि अनेक शाखाओं वा विधाओं का मूल है।** इस प्रकार वर्तमान विज्ञान की लगभग सभी शाखायें सृष्टि विज्ञान का ही अंग हैं। वैसे वास्तविकता तो यह है कि **अध्यात्म विज्ञान के बिना सम्पूर्ण सृष्टि विज्ञान अपूर्ण ही है।** इस बात की चर्चा हम आगे ईश्वर अस्तित्व व स्वरूप विषयक अध्याय में करेंगे।

सृष्टि-विज्ञान की उपयोगिता

आज अनेक अध्यात्मवादी विज्ञान व तकनीक की निन्दा करते हैं, जबकि उनमें से अनेक तो स्वयं उच्च तकनीक का प्रचुर प्रयोग करते हैं। हम ऐसे महानुभावों से कहना चाहेंगे कि पदार्थ विज्ञान अर्थात् समग्र सृष्टि विज्ञान न केवल संसार में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य है, अपितु मुमुक्षु विरक्तजनों के मोक्ष के लिए भी समस्त सृष्टि का ज्ञान अनिवार्य है क्योंकि बिना सृष्टि ज्ञान के इसके सृजेता परमात्मा का ज्ञान हो ही नहीं सकता। जब उसका ज्ञान वा भान ही नहीं होगा, तो उसकी प्राप्ति के लिए उत्कट इच्छा व ध्यानादि साधनों का प्राप्त होना कदापि सम्भव नहीं है। इसी कारण **महर्षि दयानन्द** ने अपने वेदभाष्य में सृष्टि विद्या पर बहुत बल दिया है। विद्या की परिभाषा में ही उन्होंने दोनों प्रकार की विद्याओं (अध्यात्मिक एवं पदार्थ विद्या) के सम्मिलित रूप को ही विद्या बताया है। यहां हम महर्षि के वेदभाष्य से कुछ विचारों को उद्धृत करते हैं-

१. **न हि कश्चिदपि सृष्टि पदार्थानां गुणविज्ञानेन विनोपकारान् ग्रहीतुं शक्नोति तस्माद्विदुषां संगेन पृथिवीमारभ्य परमेश्वर पर्य्यन्तान् पदार्थान् ज्ञात्वा मनुष्यैः क्रियासिद्धिः सदैव कार्या।। (भावार्थ ऋग्वेद १.६१.१६)**

अर्थात् कोई भी सृष्टि के पदार्थों के गुणों को बिना जाने उनसे उपकार नहीं ले सकता है, इससे विद्वानों के संग से पृथिवी से लेके ईश्वरपर्यन्त यथायोग्य सब पदार्थों को जानकर मनुष्यों को चाहिए कि क्रियासिद्धि सदैव करें।

२. **अस्मिन् जगति यस्य सृष्टिपदार्थविज्ञानं यादृशं स्यात्तादृशं सद्योऽन्यान् ग्राहयेत्। यदि न ग्राहयेत् तर्हि तन्नष्टं सदन्यैः प्राप्तुमशक्यं स्यात्। (भावार्थ यजुर्वेद १२.४८)**

अर्थात् इस जगत् में जिसको सृष्टि के पदार्थों का विज्ञान जैसा होवे, वैसा ही शीघ्र दूसरों को बतावे। जो कदाचित् दूसरों को न बतावे, तो वह नष्ट हुआ किसी को प्राप्त न हो सके।

इस विषय में **महर्षि दयानन्द सरस्वती** के योगविद्या के शिष्य श्री स्वामी लक्ष्मणानन्द अपने ध्यान-योग-प्रकाश नामक ग्रन्थ में लिखते हैं-

''जब तक लोगों की रुचि और परीक्षा विद्वानों के संग में तथा ईश्वर और उसकी रचना में नहीं होती, तब तक उनका विज्ञान कभी नहीं बढ़ सकता, प्रत्युत सदा भ्रमजाल में पड़े रहते हैं।'' (ध्यान योग प्रकाश, पृष्ठ.७५)

प्रश्न- यह सृष्टि विज्ञान आदि विषय केवल प्रेयमार्गी सांसारिक जनों के लिए तो उचित है परन्तु श्रेयमार्गी मुमुक्षु जनों को पदार्थ विज्ञान अपने मुख्य लक्ष्य से भटकाने वाला ही है। इस कारण उन्हें इसकी उपेक्षा ही करनी चाहिए।

उत्तर- इस विषय में कुछ संकेत हम पूर्व में कर चुके हैं। अब हम **महर्षि दयानन्द सरस्वती,** जो इस युग के एक प्रसिद्ध योगी थे, के विचार जानने का प्रयास करते हैं। वे सत्यार्थ प्रकाश के मुक्ति विषयक नवम समुल्लास में मुक्ति के साधनों में सर्वप्रथम **विवेक** के बारे में वर्णन करते हुए शरीर के पंचकोषों तथा चार प्रकार के शरीरों का वर्णन करते हैं। क्या यह वर्णन सृष्टि विज्ञान के अन्तर्गत नहीं आता? क्या प्राण, सूक्ष्मभूत, इन्द्रियां, मन आदि का ज्ञान सृष्टि विज्ञान का एक भाग नहीं है? क्या ऐसे विज्ञान जिसे ऋषि ने विवेक कहा है, के बिना वैराग्य का होना कभी सम्भव है? फिर **वैराग्य** का अर्थ भी वे सत्यार्थ प्रकाश में उसी समुल्लास में करते हुए कहते हैं- ''जो पृथिवी से लेकर परमेश्वर पर्य्यन्त पदार्थों के गुण, कर्म, स्वभाव से जानकर उसकी आज्ञा पालन और उपासना में तत्पर होना, उससे विरुद्ध न चलना, सृष्टि से उपकार लेना **वैराग्य** कहलाता है।'' क्या यह वैराग्य सृष्टि विज्ञान से जुड़ा हुआ नहीं हैं? महर्षि के योगविद्या के शिष्य स्वामी लक्ष्मणानन्द ध्यान-योग-प्रकाश नामक ग्रन्थ में पृ.१३२ पर लिखते हैं- ''अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता होने के लिए जीव को उचित है कि प्रकृतिजन्य स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों को क्रमशः ध्येय करके जाने। सो ध्यान-योग की धारणा और ध्यान से उन सब पदार्थों का ज्ञान होता है।'' अपने वेदभाष्य में **महर्षि दयानन्द** योगी होने के लिए सृष्टि विज्ञान की अनिवार्यता बतलाते हैं-

''त एव जना योगिनस्सिद्धाश्च भवितुं शक्नुवन्ति ये योगविद्याभ्यासं कृत्वेश्वरमारभ्य भूमिपर्य्यन्तान् पदार्थान् साक्षात्कर्तुं प्रयतन्ते यमादिसाधनान्विताश्च योगे रमन्ते ये चैतान्सेवन्ते तेऽप्येतत्सर्वं प्राप्नुवन्ति नेतरे।'' (यजुर्वेद भावार्थ ७.८)

अर्थात् वे ही लोग पूर्ण योगी और सिद्ध हो सकते हैं जो कि योगविद्याभ्यास करके ईश्वर से लेके पृथिवी पर्यन्त पदार्थों को साक्षात् करने का यत्न किया करते और यम नियम आदि साधनों से युक्त योग में रम रहे हैं और जो इन सिद्धों का सेवन करते हैं, वे भी इस योगसिद्धि को प्राप्त होते हैं, अन्य नहीं।

वे अन्यत्र लिखते हैं-

"ये यथावत्सृष्टिक्रमं जानन्ति ते विद्वांसः सर्वतः पूज्यन्ते ये चैतं न जानन्ति ते सर्वतस्तिरस्कृता भवन्ति।" (भावार्थ ऋग्वेद १.१६४.३६)

अर्थात् जो ठीक प्रकार से सृष्टिक्रम को जानते हैं, वे विद्वान् सर्वत्र पूजे जाते हैं और जो इसे नहीं जानते हैं, वे सब ओर से तिरस्कृत होते हैं। **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** के **'वेदविषयविचार'** नामक अध्याय में **महर्षि दयानन्द** अपरा विद्या अर्थात् सृष्टि विद्या अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थ विज्ञान, पराविद्या अर्थात् अध्यात्म विद्या का मूल है और पराविद्या उस अपरा का फल है। इस बात से यह स्पष्ट होता है कि बिना पदार्थ विज्ञान के अध्यात्म ज्ञान, योग और मुक्ति का होना कदापि सम्भव नहीं हैं।

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि **महर्षि दयानन्द सरस्वती** समस्त पदार्थविज्ञान को मानवमात्र के लिए उपयोगी व आवश्यक मानते थे। वस्तुतः जो भी मानव इस संसार में जीना चाहता है, उसे विज्ञान को जानना ही होगा। बिना विज्ञान के उसे लोक व्यवहार, खाना, पीना, रहना, आरोग्य प्राप्त करना, यत्र-तत्र गमनागमन व्यवहार करना आदि कुछ भी सम्भव नहीं है। जब यह सब करने में सक्षम नहीं होगा, तब वह सुखी क्योंकर हो सकता है? **भगवत्पाद पतंजलि** ने अपने **योगशास्त्र** में **"प्रकाशक्रियास्थितिशीलंभूतेन्द्रियात्मकंभोगापवर्गार्थंदृश्यम्" (२.१८)** में इस सम्पूर्ण सृष्टि का प्रयोजन ही समस्त सुखों का उपभोग एवं मोक्ष प्राप्ति ही बतलाया है। यदि कोई मनुष्य इस सृष्टि के यथार्थ विज्ञान को न जानेगा, तब वह उसका यथार्थ उपयोग कैसे कर सकेगा? और यदि उपयोग नहीं कर सकेगा, तब वह सृष्टि जिस प्रयोजन के लिए बनी है, वह प्रयोजन (समस्त सुख एवं अन्तिम परम प्रयोजन मुक्ति) कैसे सिद्ध हो सकेगा?

इस कारण संसार में मानवमात्र को चाहिए कि वह अपना जीवन सार्थक करने के लिए संसार के सभी पदार्थों का यथार्थ विज्ञान प्राप्त करके उनसे अपना व दूसरों का यथावत् उपकार करने का प्रयत्न करता रहे। ऐसा करते हुए ही वह अन्त में यथार्थ अध्यात्म विज्ञान अर्थात् आत्मा व परमात्मा का यथार्थ विज्ञान प्राप्त करके मुक्ति को भी प्राप्त करने में समर्थ हो सकेगा।

मानव जिज्ञासा एवं सृष्टि विज्ञान

सृष्टि के इसी प्रयोजन को समझकर यह मानव प्राणी जब से इस पृथिवी पर आया है, तभी से सृष्टि के रहस्यों को समझने का प्रयत्न करता रहा है। वेद, मनुस्मृति, विभिन्न ब्राह्मण ग्रन्थ, महाभारत, सूत्र-ग्रन्थ, दर्शन, उपनिषद्, आदि सम्पूर्ण प्राचीन वैदिक वाङ्मय में सृष्टि के यथार्थ विज्ञान पर विस्तार से गम्भीर विचार किया गया है। जब इन ग्रन्थों की रचना हुयी, उस समय इस भूतल पर अन्य किसी सम्प्रदाय का लगभग आविर्भाव भी नहीं हुआ था। महाभारत युद्ध के पश्चात् इस संसार में विभिन्न मत-मतान्तर प्रचलित हुए और उनमें अपने-२ ढंग से सृष्टि-उत्पत्ति विषय पर विचार किया गया है। हमारा मत है कि जितना विस्तृत व सूक्ष्म सृष्टि विज्ञान वैदिक वाङ्मय में है, उतना संसार भर के किसी भी सम्प्रदाय वा दर्शन में नहीं होगा। संसार के विभिन्न सम्प्रदायों ने वैदिक वाङ्मय से ही कुछ-२ विचारों को ग्रहण करके अपना-२ पृथक् दर्शन बनाया है। पारसी, बौद्धमत, जैनमत, यहूदी, ईसाई, इस्लाम आदि विभिन्न सम्प्रदायों के दर्शन में वैदिक मान्यताओं से ही कुछ-२ प्रेरणा ली गयी है। कुरान एवं बाईबिल में सृष्टि उत्पत्ति के विषय में अनेक विचार वैदिक ब्राह्मण ग्रन्थों (ऐतरेय, शतपथ आदि) से रूढ़ार्थ में लिए गये हैं। इन सम्प्रदायों के प्रवर्तक इन ग्रन्थों के विचारों का यौगिक अर्थ (यथार्थ) नहीं जान सके, बल्कि उस समय संसार में प्रचलित वैदिक आख्यानों के रूढ़ार्थ में प्रचलित धारणाओं के संकेतों को ग्रहण करके उसी पर अपने-२ सृष्टि विज्ञान का भवन खड़ा करने का प्रयास किया गया। भारतीय अर्वाचीन भागवतादि पुराणों ने भी इसी प्रकार वैदिक आख्यानों को रूढ़ार्थ में ही ग्रहण करके अपने-२ मतों का प्रवर्तन कर दिया। बौद्ध व जैन मत वैदिक दर्शन के रूढ़ार्थ को लेकर प्रचलित हुए वीभत्स कर्मकाण्डों की प्रतिक्रिया में उदित हुए, इस कारण वे अनीश्वरवाद की ओर प्रवृत्त हुए, जबकि अन्य देशी व विदेशी मत ईश्वरवादी ही रहे, फिर चाहे उनका ईश्वर कैसा भी क्यों न हो। वस्तुतः वैदिक सनातन मत के यथार्थ को न जान कर जो भी मान्यताएं सृष्टि विज्ञान के विषय में प्रचलित हुई हैं, उनमें अधिकांशतः कल्पनाप्रसूत भाग है और वास्तविकता कम। यद्यपि बौद्ध व जैन मत में सृष्टिविद्या

पर कुछ गम्भीर विचार भी किया गया है, पुनरपि वे वास्तविकता से कहीं-२ अति दूर चले गये हैं। आधुनिक पुराण ग्रन्थों में वायु, मत्स्य, ब्रह्माण्ड, विष्णु आदि पुराणों में जो भी सृष्टि विद्या है, वह महत्वपूर्ण है तथा प्राचीन वैदिक वाङ्मय ही इसका मूलस्रोत है। अन्य शिवपुराणादि में कुछ गम्भीर, तो कुछ काल्पनिक विचारों का समावेश है। बाईबिल व कुरान में इस पर विस्तृत विचार नहीं है और न वहाँ कोई क्रम व युक्तिसंगतता प्रतीत होती है। वर्तमान में हिन्दी भाषा में जो भी इनके अनुवाद उपलब्ध हैं, उनमें चमत्कारी ईश्वर ने कथनमात्र से सृष्टि की रचना कर दी, बतायी गयी है। वस्तुतः इन दोनों ग्रन्थों पर ब्राह्मण ग्रन्थों के कुछ प्रचलित आख्यानों की रूढ़ परम्परा का कुछ प्रभाव तो है परन्तु वे उन आख्यानों का यथार्थ नहीं समझ पाये हैं और रूढ़ार्थ का ग्रहण कर बैठे हैं। यही बात वर्तमान प्रचलित पुराणों के विषय में भी उचित मानी जा सकती है। आधुनिक पुराणों में भी न केवल सृष्टि विज्ञान को कहीं-२ चमत्कारी ईश्वर की कलाबाजी के रूप में चित्रित किया है, अपितु उस चमत्कारी ईश्वर को भी विभिन्न योनियों में जन्म लेकर भाँति-२ के चमत्कार करते हुए विभिन्न चित्र विचित्र रूपों में वर्णित करके एक बाजीगर जैसा प्रचारित कर दिया है।

इन सब मान्यताओं के बीच विगत कुछ शताब्दियों में आधुनिक विज्ञान का जन्म हुआ और इसने सृष्टि को समझने का अति महत्वपूर्ण प्रयास प्रारम्भ किया। यद्यपि आधुनिक विज्ञान के उदय के पूर्व पश्चिमी देशों में ईसाई, इस्लाम आदि सम्प्रदायिक **सृष्टि विद्या विषयक** विचारों के अतिरिक्त अरस्तू, प्लेटो आदि विचारकों के सृष्टिविद्या सम्बन्धी विविध विचारों का प्रादुर्भाव हो चुका था। जिसे हम आधुनिक वैज्ञानिक युग का उदय कह सकते हैं, वह कॉपरनीकस, गैलीलियो से प्रारम्भ होता है। इसके उपरान्त अपने समय के महान् ब्रिटिश वैज्ञानिक सर आइजक न्यूटन से आधुनिक सृष्टि विज्ञान के महान् युग का प्रारम्भ हुआ। इसके पश्चात् महान् वैज्ञानिक सर अल्बर्ट आइंस्टीन तक वर्तमान विज्ञान ने अनेक क्रान्तिकारी अनुसंधान किए। सृष्टि के अनेक गम्भीर रहस्यों को समझा व जाना। इस काल में आधुनिक विज्ञान ने अत्युच्च तकनीक का ऐसा विकास किया कि उसके सहारे इस ब्रह्माण्ड के अनेक रहस्यों से पर्दा उठने लगा। सर आइंस्टीन के पश्चात् आज तक ब्रह्माण्ड को समझने की अनेक तकनीकें विकसित हुई। अनेक विचार जो कभी नये व क्रान्तिकारी माने जाते थे, को पुराना व अविकसित समझ कर त्यागा वा संशोधित किया जाने लगा। सारे संसार के वैज्ञानिक व इंजीनियर इस ब्रह्माण्ड को समझने में मिलकर साझा प्रयास कर रहे हैं। इधर विभिन्न सम्प्रदाय मानो इस विषय में अप्रासंगिक होते जा रहे हैं। तो कहीं-२ वे भी आधुनिक विज्ञान का विवेकहीन वा कहीं-२ कुछ विचारपूर्वक अनुकरण का प्रयास करते देखे जाते हैं। जिस वेदविद्या को इस ब्रह्माण्ड के विज्ञान विषय में एक अनुपम व पूर्ण विद्या के रूप में कभी माना जाता था, वह भी मध्यकालीन अविद्या के दुष्प्रभाव से अपने को बचा नहीं सकी, ऐसा हमारा मत है। यद्यपि फाल्गुन कृष्णा दशमी वि.सं. १८८१ तदनुसार १२ फरवरी १८२५ को भारत वर्ष में जन्मे **महर्षि दयानन्द सरस्वती** ने सनातन वैदिक विद्या को पुनर्जीवित करने का महान् प्रयत्न किया परन्तु कुटिल काल की गति ने उन्हें न तो पूर्ण आयुभर जीने दिया और न उन्हें अपने अल्पायु काल में भी पूर्ण मनोयोग से वेदोद्धार का कार्य ही करने दिया। इस कारण वैदिक सृष्टि विद्या का अपेक्षित व यथार्थ स्वरूप प्रकाशित नहीं हो सका और जो भी कुछ हुआ, वह भी सांकेतिक ही रह गया, जिसे पूर्णतः समझना हर विद्वान् विचारक का सामर्थ्य नहीं है।

हमारी दृष्टि में सृष्टि विज्ञान के क्षेत्र में दो ही पक्ष हैं, जिन पर यहाँ विचार करना अपेक्षित है और वे हैं- **१. आधुनिक विज्ञान की मान्यताएं २. वैदिक मान्यताओं का यथार्थ स्वरूप**, जिन पर हम आगे विचार करने का प्रयास करेंगे।

ॐ इति तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ॐ

चतुर्थोऽध्यायः

संसार में भाषा एवं ज्ञान विज्ञान की उत्पत्ति

संसार के सभी प्राणियों में मनुष्य सर्वश्रेष्ठ एवं विशिष्ट है। अन्य प्राणी जन्म से मरण पर्यन्त अपनी बोली, रहन-सहन आदि का ज्ञान कहीं बाहर से नहीं सीखते, बल्कि उनके अन्दर स्वभावतः यह उत्पन्न हो जाता है। हाँ, उनके बच्चों को उनकी माँ कुछ-२ सिखाती है। वैसे यदि वह न भी सिखाये, तो भी विभिन्न पशु-पक्षियों के बच्चे एकाकी रहकर भी बोलना, चलना, भोजन करना, शिकार करना, सन्तानोत्पत्ति करना, अपने घर-घोंसला-मांद बनाना, बलवान् से डरना व निर्बल को डराना आदि स्वयं सीख लेते हैं। उनके जीवन यापन सिखाने के लिए किसी प्रशिक्षक, विद्यालय वा विश्वविद्यालय की आवश्यकता नहीं पड़ती। उनके ज्ञान व भाषा में बचपन से लेकर मृत्यु तक कोई विशेष विकास वा परिष्कार देखने में नहीं आता। हाँ, कुछ-२ परिवर्तन ही देखने में आता है, जैसे बड़ी आयु के हाथी, चिम्पैंजी, कई बंदर, शेर आदि अपने बच्चों से कुछ अधिक समझदार व अनुभवी होते हैं, पुनरपि वे कितने भी समझदार हो जाएं परन्तु वे अतिमूढ़ मनुष्य की बराबरी भी कदापि नहीं कर सकते। तब प्रश्न यह उठता है कि क्या मनुष्य जाति में भाषा व ज्ञान की उत्पत्ति वा विकास हुआ? संसार में हजारों भाषाएं बोली जाती हैं तथा संसार भर के लगभग सात अरब मनुष्यों ने अपने ज्ञान-विज्ञान का आश्चर्यजनक विकास किया है। आश्चर्य की बात तो यह है कि संसारभर के विविध जातियों वाले पशु पक्षी अपनी-२ जाति के अनुसार लगभग एक जैसा ज्ञान व भाषा को जानते हैं। उनमें पृथक्-२ स्तर नहीं होते। एक ही जाति के बन्दर वा कोई भी पशु पक्षी स्थान वा काल के भेद से पृथक्-२ बोली बोलते हों वा उनके ज्ञान व व्यवहार में भिन्नता हो, ऐसा हमारी जानकारी में नहीं है, जबकि मनुष्य जाति में ऐसा नहीं है। भाई-२ में भी ज्ञान का बहुत भेद सम्भव है। यदि शिशु को एकाकी रखा जाए तो वह कोई भी मानवीय व्यवहार नहीं जान सकता। यह सब क्यों व कैसे होता है, इस विषय में वर्तमान विद्वान् प्रायः वर्तमान विज्ञान के विकासवादी सिद्धान्त का ही आश्रय लेते देखे जाते हैं।

विकासवाद की समीक्षा

स्थान व काल के भेद से विभिन्न प्राणियों के शरीरों की संरचना में भेद को वर्तमान वैज्ञानिक वा प्रबुद्धवर्ग विकासवाद की ही देन मानकर इस प्रकार बोलता देखा जाता है- ''अमुक प्राणी ने अपने शरीर में पर्यावरण व परिस्थिति के अनुकूल अमुक-२ परिवर्तन कर लिये, पंख उगा लिये, पैरों का विकास कर लिया, चमड़ी को कठोर बना लिया, चमड़ी पर बाल व ऊन का विकास कर लिया, पूँछ लुप्त कर ली, हाथों वा टांगों का विकास कर लिया, खाने-पीने की शैली में परिवर्तन कर लिया। सूंड का विकास हो गया, परिस्थिति के अनुकूल गर्दन लम्बी कर ली। सभी प्राणियों का एक ही मूल स्रोत एक कोशीय जीव था, उससे विकास यात्रा करते-२ यह प्रबुद्ध व विकसिततम प्राणी मनुष्य हो गया.... आदि।'' वर्तमान प्रबुद्ध जनों, जो स्वयं को वैज्ञानिक मेधासम्पन्न मानते हैं, को पता नहीं क्यों यह भ्रम हो गया है कि सभी प्राणी एक ही जाति से विकसित हुए हैं। पता नहीं क्यों, उन्हें इस संसार के नियामक, निर्माता परमात्म तत्व के अस्तित्व को स्वीकार करने में भय वा संकोच होता है? ईश्वर व जीवात्मा के अस्तित्व व स्वरूप पर हम आगे चर्चा करेंगे। मुझे विश्वास है कि सुधी पाठक उस विषय को समझ कर विकासवाद की असारता का स्वयं भी कुछ बोध कर ही लेंगे। यहाँ यह विषय हमारे ग्रन्थ से सम्बंधित नहीं है, अतः हम इस पर विस्तार से लिखना अप्रासंगिक एवं अनावश्यक समझते हैं। पुनरपि हम विकासवादियों से इतना अवश्य जानना चाहते हैं कि आप शरीरों में क्रमिक परिवर्तन की बातें करते हैं, वह परिवर्तन मनुष्य में आकर क्यों रुक गया? उड़ने की आवश्यकता होने पर पक्षियों के पंख उग आये, जबकि उनके पूर्वजों के पंख होना आप नहीं मानते, तब लाखों वर्षों से मनुष्य भी अन्तरिक्ष में उड़ने का प्रयास करता रहा है, उस ऐसे मनुष्य के पंख क्यों नहीं आये? महाभारत, रामायण व इससे पूर्व भी वायुयान बनाना मानव ने सीखा था। न केवल सीखा था, अपितु यह विज्ञान अति उत्कृष्ट भी था। जब आपके विकासवाद ने पक्षियों के पंख उगा दिये, तब मनुष्य के लगाने में कौन सी बाधा आ गयी? यदि ऐसा हो जाता, तो मानव को आवागमन के साधनों की तकनीक का अविष्कार नहीं करना पड़ता। आप मानते हैं कि ठंडे प्रदेशों में ऊन वा बड़े-२ बाल स्वयं उग आये, तब मानव के क्यों नहीं उगे? यदि ऐसा हो जाता, तो ऊनी वस्त्रों के अविष्कार की आवश्यकता नहीं होती। आज मानव छोटे-२ पशु-पक्षियों को देखकर नानाविध तकनीकों का आविष्कार कर रहा है और

पशु-पक्षियों में सब कुछ स्वयं हो गया और मनुष्य पर आते ही विकास को मानो पूर्ण विराम लग गया, यह अत्यन्त हास्यास्पद तथा अवैज्ञानिक कल्पनाएं हैं। **दुर्भाग्य से ये कल्पनाएं विज्ञान के नाम से गढ़ी, पढ़ी व प्रचारित की जा रही हैं।** वस्तुतः चेतन तत्व के अस्तित्व व स्वरूप की वैज्ञानिकता को समझे बिना वर्तमान विज्ञान इसी प्रकार की मिथ्या व अवैज्ञानिक धारणाओं में जकड़ा रहेगा। **यह वर्तमान विज्ञान का नितान्त रूढ़िवाद वा अन्धविश्वासमात्र है, जो ईश्वर, आत्मा जैसे अनिवार्य चेतन तत्वों को सर्वथा भूला हुआ है।** हमने यहां तक शरीर व बोली के विकास की बात की, अब हम ज्ञान विकास की संक्षिप्त चर्चा करते हैं-

कथित विकासवादी महानुभाव मनुष्येतर प्राणियों में शरीर के क्रमिक परिवर्तनरूपी विकास की बात करते हैं, जो मानव जाति में नहीं देखा जाता, जबकि मानव में जिस भाषा व ज्ञान के विकास की बात की जाती है, वह मनुष्येतर किसी प्राणी में प्रायः नहीं देखा जाता। एक पतंगा जब से इस धरती पर आया है, तब से अर्थात् करोड़ों वर्ष से दीपक के पास आकर अपने प्राण गंवाता रहा है। उसमें आज तक भी केवल इतना भी ज्ञान का विकास नहीं हुआ कि जलने से बच जाए, जबकि मानव विकसित होकर बन्दर तो क्या अमीबा की बुद्धि से ऊँचा उठकर अन्तरिक्ष की अतिदूर की उड़ानें उड़ने, भाँति-२ की उच्च तकनीक विकसित करने में सक्षम हो गया? यह विकासवाद में ऐसा विरोध क्यों है? कहीं मनुष्य में दिखाई देता है, तो कहीं मनुष्येतर प्राणियों में। वस्तुतः विकासवादियों के पास इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं है। मनुष्येतर किसी प्राणी फिर चाहे वह वानरों की सर्वाधिक बुद्धिमान् प्रजाति चिम्पैंजी, ओरेंगुटान आदि क्यों न हों, उन्हें लाखों प्रयत्न करने पर भी मनुष्य की भाँति बोलना व अन्य प्रकार के बौद्धिक कार्यों से युक्त नहीं बनाया जा सकता। इधर मनुष्य के विषय में कहा जाता है कि इसने यों ही भाषा व ज्ञान-विज्ञान का विकास कर लिया। यदि प्राकृतिक ध्वनियों, प्राणियों की आवाजों व व्यवहार का अनुकरण करके परस्पर मिलजुल कर समृद्ध भाषा व ज्ञान का विकास शनैः-२ हो जाता, तो संसार के अनेक वनवासी समूह भी भाषा विज्ञान, भौतिकी आदि पदार्थ विज्ञान, उच्च तकनीक एवं सुसंस्कृत समाज का निर्माण कर लेते परन्तु ऐसा नहीं हुआ। किसी सुसंस्कृत तथा अति समृद्ध प्रबुद्ध माता पिता से उत्पन्न बालक को भी यदि जन्मते ही एकाकी वन्य पशुओं के साथ रख दिया जाए। केवल छुप-२ कर उसकी सुरक्षा व देखभाल ही की जाए, तो वह बालक यदि जीवित बच गया, तो पशुओं की भाँति ही समस्त व्यवहार करेगा, भले ही उसमें जीन्स किसी वैज्ञानिक वा शिक्षाविद् के क्यों न हों। वह जैसे पशुओं वा वन्य मानव जातियों, वा गूंगी धाइयों के बीच रखा जाएगा, वह वैसा ही व्यवहार उनसे सीख लेगा। अपने माता पिता का कोई व्यवहार उसमें नहीं आ पाएगा। दूसरी ओर पालतू पशु लाखों करोड़ों वर्ष से मानवजाति के साथ रह रहे हैं परन्तु अब तक उन्होंने एक भी व्यवहार मानव से नहीं सीखा है। यह मनुष्य व अन्य प्राणियों में मौलिक भेद सभी जानते हैं, पुनरपि विकासवाद की पट्टी बांध कर यह सोचने विचारने का प्रयत्न नहीं किया जाता कि ऐसा क्यों है?

हमारे मत में मनुष्येतर सभी प्राणियों में केवल स्वाभाविक ज्ञान ही प्रधान होता है, जबकि नैमित्तिक ज्ञान, जो माता-पिता से सीखने को मिलता है, वह अत्यल्प ही होता है, वह भी बहुत कम जातियों में। मनुष्य में स्वाभाविक ज्ञान बहुत कम, जबकि नैमित्तिक ज्ञान ही प्रधानता से अपनी भूमिका निभाता है। मनुष्य बिना नैमित्तिक ज्ञान के पशुओं से भी अधिक मूर्ख होता है। पशुओं के बच्चे भले ही वे जलविहीन रेगिस्तान में जन्मे हों, वे भी तालाब में अकस्मात् छोड़ने पर तैरने लगेंगे, जबकि कुशल तैराकों, गोताखोरों के बच्चे भी बिना सीखे व सिखाये सहसा पानी में छोड़ने पर निश्चित ही डूब मरेंगे। मनुष्येतर प्राणियों के बच्चे जन्मते ही अपनी बोली बोलने लग जाते हैं और वही बोली मरते दम तक बोलते रहते हैं, जबकि मनुष्य का बच्चा जन्मते समय रोना, हंसना आदि ही कर पाता है और समाज में रहकर विभिन्न भाषाओं का महान् ज्ञाता, वैज्ञानिक, साहित्यकार आदि हो सकता है।

ऐसे में प्रश्न उठता है कि जब सर्वप्रथम मानव की उत्पत्ति हुई होगी, तब उसने केवल पशु-पक्षियों, जलचरों को ही देखा था, उनकी ही बोली सुनी थी, उनका ही व्यवहार देखा था, तब इस मानव जाति की प्रथम पीढ़ी जिसके कि कोई माता-पिता भी नहीं थे, इस कारण उनके जीन्स भी मानव व्यवहार का किसी प्रकार संवहन करने वाले नहीं थे, तब उनमें भाषा व ज्ञान का विकास कैसे हुआ? उनमें इनकी उत्पत्ति कैसे हुई? धीरे-२ आपस में मिलजुलकर तो सम्भव नहीं क्योंकि यदि ऐसा हो सकता, तो पृथिवी के किसी कोने पर असभ्य व जंगली मानवशरीरधारी आज विद्यमान ही नहीं होता। मानव केवल बाहरी

परिवेश से ही सब कुछ सीखता है। कोई उसे सिखाने वाला हो, तभी सीखता है। तब कौन सिखाने वाला ऐसा था, जो इस मानव जाति से भी अति योग्य था। यदि वह भी कोई प्राणी था, तो उसमें ज्ञान व भाषा का विकास कैसे हुआ, यह प्रश्न उठेगा ही। जो पाठक डार्विन के विकासवाद की विस्तार से परीक्षा करके इसकी असारता समझना चाहें, वे आर्य विद्वान् श्री पं.रघुनन्दन शर्मा कृत **'वैदिक सम्पत्ति'**, स्वामी विद्यानन्द सरस्वती कृत **'वेद मीमांसा'** आदि पुस्तकों का गम्भीर स्वाध्याय कर सकते हैं। मैं इस विषय की गहराई में जाकर विषयान्तर नहीं होना चाहता। इस कारण भाषा व ज्ञान की उत्पत्ति के वैदिक सनातन मत की चर्चा प्रारम्भ करते हैं।

भाषा व ज्ञान की उत्पत्ति का वैदिक सिद्धान्त

हम सातवें अध्याय में वैदिक सृष्टि-उत्पत्ति विज्ञान नामक अध्याय में विचार करेंगे कि सृष्टि निर्माण के विभिन्न चरणों में विभिन्न वैदिक छन्दों (मंत्रों) की उत्पति होती चली गयी। वे सभी छन्द, जो विभिन्न प्राण व वाक् (ध्वनि) रूप ही थे। वे इस सृष्टि के उपादान कारण थे, तो मूल प्रकृति के कार्यरूप ही थे। मानव की ही नहीं, अपितु इस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के पूर्व ही सम्पूर्ण आकाश पूर्णतः वैदिक छन्दों (तरंगों, ध्वनियों वा प्राणों) से एकरस भर गया था, इसी कारण आर्य समाज के संस्थापक **महर्षि दयानन्द सरस्वती** ने अपनी **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** के वेदनित्यत्व विषय में लिखा-

शब्द की नित्यता

''किन्तु आकाश में शब्द की प्राप्ति होने से शब्द तो अखण्ड एकरस सर्वत्र भर रहे हैं। शब्द नित्य हैं। वेदों के शब्द सब प्रकार से नित्य बने रहते हैं।''

हमारे मत में वैदिक शब्दों की नित्यता सृष्टिकाल पर्यन्त ही माननी चाहिए। प्रलयकाल में शब्दों का यह रूप नहीं रह सकता। हाँ, उनका पृथक्-२ अक्षर रूप बीजवत् परावस्था में सदैव बना रहता है। सृष्टि उत्पत्ति के प्रारम्भ होते ही अक्षरों के प्रकट होने पर शनैः-२ वैदिक पद, पुनः छन्द भी प्रकट वा उत्पन्न होने लगते हैं। हाँ, **महर्षि दयानन्द** का यह कथन कि वैदिक शब्द परमेश्वर के ज्ञान में नित्य ही रहते हैं अर्थात् प्रलयकाल में भी यथावत् बने रहते हैं, सत्य है।

सृष्टि जब से बननी प्रारम्भ हुई, उसी समय प्रारम्भिक वैदिक दैवी छन्द **'ओम्'** की उत्पत्ति सर्वप्रथम इस ब्रह्माण्ड में सर्वत्र हुई। इसके पश्चात् अन्य गायत्र्यादि छन्दों के विभिन्न रूपों की उत्पत्ति इस ब्रह्माण्ड में होती चली गयी। ये छन्द विभिन्न प्रकार की प्राण रश्मियों के ही रूप थे। इसका तात्पर्य है कि विभिन्न प्रकार की सूक्ष्म वायुरूप ये छन्द रश्मियां सारे ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु में भर गयीं, किंवा इन्हीं के स्थूल रूप से स्थूल वायु, अग्नि आदि की उत्पत्ति होती है। प्रत्येक पदार्थ इन्हीं का सघन रूप है। जब मनुष्य की उत्पत्ति इस पृथिवी पर हुयी, तब मानव पीढ़ी में से सर्वश्रेष्ठ संस्कारों से युक्त चार ऋषियों, जिनका नाम **अग्नि, वायु, आदित्य** व **अंगिरा** था, ने आकाश में विद्यमान उन छान्दस तंरगों को समाधि, विशेषकर सम्प्रज्ञात समाधि में अनुभूत किया। इस समय जैसे विभिन्न रेडियो तरंगें सम्पूर्ण आकाश में विद्यमान हैं परन्तु सभी उनका अनुभव नहीं कर सकते। जिस किसी के पास मोबाइल आदि इलेक्ट्रानिक उपकरण हो, दूरदर्शन, रेडियो, इण्टरनेट आदि व्यवस्थाएं हों, वे ही इन रेडियो तरंगों में से एक व्यवस्था के अनुसार इच्छित तरंगों का ग्रहण कर सकते हैं। जिन छान्दस तंरगों की हम चर्चा कर रहे हैं, वे इन रेडियो तंरगों से भी सूक्ष्म होती हैं। उन्हें इन यन्त्रों के द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता। तब उन केवल चार ऋषियों, जो प्रथम मानव पीढ़ी में से कुछ विशिष्ट योग्यताधारी व्यक्ति थे, ने सम्प्रज्ञात समाधि में अन्तःकरण की रश्मियों के द्वारा परमात्मा के सानिध्य के साहाय्य से उन सर्वतोव्याप्त छान्दस तरंगों में से तरंगों को आकर्षित वा ग्रहण करना प्रारम्भ किया। उस समय जन्मे अन्य मनुष्यों का यह सामर्थ्य नहीं था कि वे उन्हें ग्रहण कर सकें। आज भी ब्रह्माण्ड में लाखों वर्षों पूर्व की भी विभिन्न ध्वनि तरंगें अति सूक्ष्म अवस्था में विद्यमान हैं। यदि मानव ऐसी तकनीक विकसित कर सके कि रामायण, महाभारत आदि कालों में बोली गयी विभिन्न ध्वनियों के सूक्ष्मरूप को सुन सके,

तो उन ध्वनियों को सुनना कदाचित् सम्भव है। वैदिक छन्द इन ध्वनि तरंगों से भी सूक्ष्मरूप में विद्यमान होते हैं। ऋग्वेद में वैदिकी वाक् को ग्रहण करने का सुन्दर विज्ञान इस प्रकार दर्शाया है-

वेद का प्रादुर्भाव

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः।।१।।

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि।।२।।

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्तरेभा अभि सं नवन्ते।।३।। (ऋ.१०.७१.१-३)

इन ऋचाओं से अग्न्यादि चार ऋषियों के द्वारा वैदिकी वाक् ग्रहण करने का गम्भीर विज्ञान इस प्रकार प्रकाशित होता है-

बृहस्पति अर्थात् विशाल ब्रह्माण्ड के पालक व रक्षक परमात्मा की प्राथमिक व विस्तृत वेद वाणी पदार्थमात्र तथा उनके व्यवहारों को धारण करती है। वे ही ऋचाएं बाधक पदार्थों से मुक्त शुद्धावस्था में ऋषियों के गुहा रूप हृदय में प्रकट होती हैं।।

वे ऋचाएं जब आकाश में व्याप्त रहती हैं, तब वे ऋषि चालनी में सत्तू के समान अपने योगारूढ़ मन के द्वारा छानकर पवित्र करते हुए उन ऋचाओं को अपने अन्दर धारण करते हैं।।

वे ऋचाएं यज्ञ रूपी परमात्मा के सहाय से क्रमशः उन ऋषियों में प्रविष्ट होती हैं। इसके पूर्व वे ऋचाएं अन्तरिक्षस्थ ऋषि रूप प्राण रश्मियों के अन्दर छन्दरूप में विद्यमान रहती हैं।।

इन मंत्रों से स्पष्ट होता है कि आकाश में अनेक ऋचाएं छन्दरूपी प्राण रश्मियों के रूप में उत्पन्न होकर विद्यमान रहती हैं, तब **अग्नि, वायु, आदित्य** व **अंगिरा** ऋषि समाधि अवस्था में परमात्मा की कृपा से **उन अन्तरिक्षस्थ ऋचाओं में से मानव जीवन हेतु आवश्यक ऋचाओं को समाहित चित्त द्वारा छान-२ कर अपने चित्त में संगृहीत करते हैं।** वे ऋचाएं ही क्रमशः **ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद** और **अथर्ववेद** का रूप होती हैं। ये चारों ऋषि न केवल उन ऋचाओं का संग्रह करते हैं, अपितु परमात्मा की कृपा से वे ऋषि उन ऋचाओं अर्थात् वाणियों के अर्थ को भी समझ लेते हैं। वे चारों ऋषि इस ज्ञान को महर्षि आद्य ब्रह्मा को प्रदान करते हैं। इस प्रकार संसार में आगे ज्ञान का प्रवाह चलता रहता है।
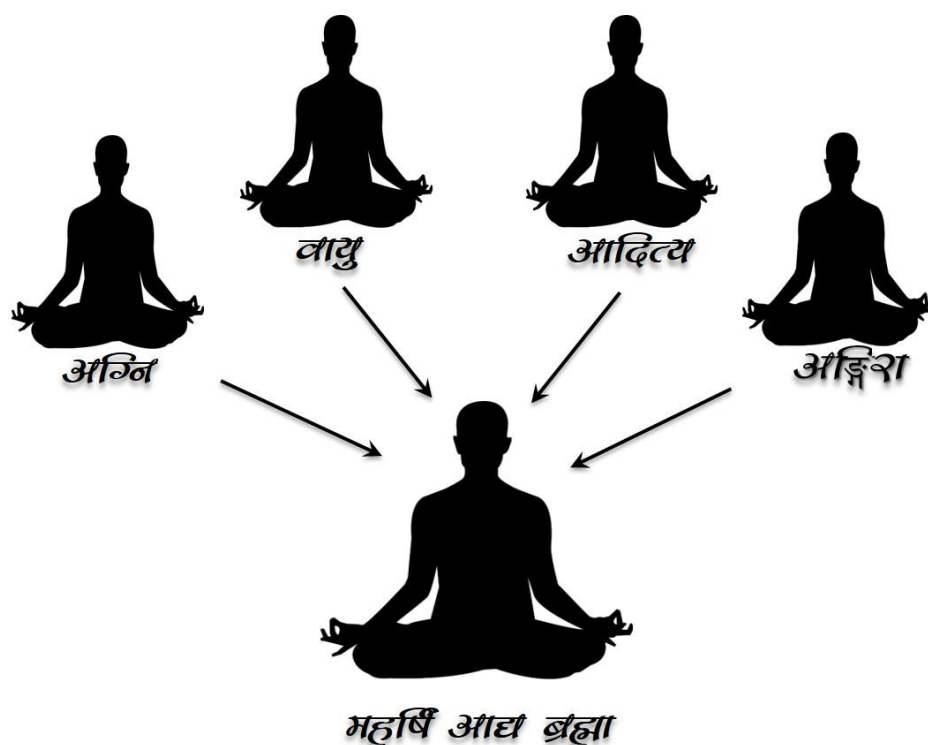
प्रश्न- अग्नि, वायु, आदित्य एवं **अंगिरा** नामक ऋषि क्या इसी सृष्टि में उत्पन्न हुए किंवा प्रत्येक सृष्टि में इन्हीं नाम के ऋषि ही वेद को ग्रहण करते हैं?

उत्तर- हमारे मत में प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में जिन चार ऋषियों के द्वारा आकाश से वैदिक छन्दों को ग्रहण किया जाता है, उनके ये ही नाम होते हैं। ये नाम रूढ़ नहीं, बल्कि योगरूढ़ हैं।

वाणी के चार प्रकार

विद्वानों ने वाणी के चार रूप बताये हैं। ऋग्वेद के-

च॒त्वारि॒ वाक्परि॑मिता प॒दानि॒ तानि॑ विदुर्ब्राह्म॒णा ये म॑नी॒षिणः॑।
गुहा॒ त्रीणि॒ निहि॑ता॒ नेङ्ग॑यन्ति तु॒रीयं॑ वा॒चो म॑नु॒ष्या॑ वदन्ति॥ (ऋ.१.१६४.४५)

के भाष्य में **महर्षि दयानन्द** ने चार प्रकार की वाणी वैयाकरणों की दृष्टि से नाम, आख्यात, उपसर्ग एवं निपात के रूप में वर्गीकृत की है। आचार्य सायण ने इसके भाष्य में वाणी का वर्गीकरण वैयाकरणों की दृष्टि के अतिरिक्त नैरुक्तों आदि की दृष्टि को लेकर भी किया है। इसमें एक वर्गीकरण है- **परा,**

पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी। इसमें से वैखरी वाणी ही मानव व्यवहार में आती है, शेष तीन प्रकार की वाणी को केवल योगी पुरुष ही देख वा जान पाते हैं।
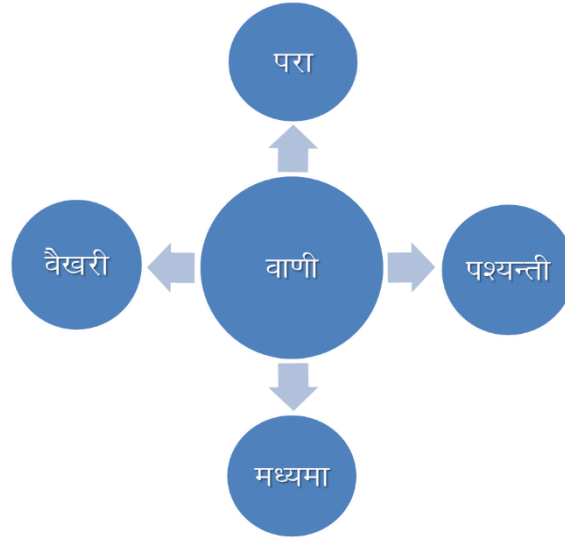
महर्षि प्रवर यास्क ने **निरुक्त १३.६** में इसी मंत्र के व्याख्यान में वाणी का वर्गीकरण निम्न प्रकार किया है-

"चत्वारि वाचः परिमितानि पदानि। तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मेधाविनः। गुहायां त्रीणि निहितानि। नार्थं वेदयन्ते। गुहा गूहतेः। तुरीयं त्वरतेः। कतमानि तानि चत्वारि पदानि। ओंकारो महाव्याहृतयश्चेत्यार्षम्। नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः। मन्त्रः कल्पो ब्राह्मणं चतुर्थी व्यवहारिकीति याज्ञिकः। ऋचो यजूंषि सामानि चतुर्थी व्यवहारिकीति नैरुक्ताः। सर्पाणां वाग्वयसां क्षुद्रस्य सरीसृपस्य चतुर्थी व्यवहारिकीत्येके। पशुषु तूणवेषु मृगेष्वात्मनि चेत्यात्मप्रवादाः। अथापि ब्राह्मणं भवति।।"

यहाँ वर्गीकरण निम्नानुसार है-

(१) **आर्षमत-** ओंकार और भूः, भुवः, स्वः महाव्याहृतियां।

भगवान् मनु महाराज भी कहते हैं-

"अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः। वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवः स्वरितीति च।।" (मनु.०२.७६)

अर्थात् प्रजापति ने वेद से इन चार पदों को दुहा है- ओम्, भूः, भुवः एवं स्वः। यही वेदों का सार है।

(२) **वैयाकरण मत-** नाम, आख्यात, उपसर्ग एवं निपात।
(३) **याज्ञिक मत-** मंत्र, कल्प, ब्राह्मण एवं व्यवहारिकी अर्थात् लोक भाषा।
(४) **नैरुक्त मत-** ऋक्, यजुः, साम एवं व्यवहारिकी अर्थात् लोक भाषा।
(५) **अन्यमत-** सर्पों की वाक्, पक्षियों की वाक्, क्षुद्र रेंगने वालों की वाक् तथा व्यवहारिकी (मानव-लोकभाषा)।
(६) **आत्मवादी मत-** पशुओं में, वादित्रों में, सिंह आदि में एवं आत्मा में अर्थात् मनुष्यों की व्यवहारिक वाणी।

इनके अतिरिक्त **निरुक्तकार** (१३.६, पं. भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर भाष्य) वाणी की अन्य श्रेणी को बताने हेतु **मैत्रायणी संहिता** को उद्धृत करते हुए कहते हैं-

"अथापि ब्राह्मणं भवति-

सा वै वाक् सृष्टा चतुर्धा व्यभवत्। एष्वेव लोकेषु त्रीणि। पशुषु तुरीयम्। या पृथिव्यां साग्नौ सा रथन्तरे। याऽन्तरिक्षे सा वायौ सा वामदेव्ये। या दिवि सादित्ये सा बृहती सा स्तनयित्नौ। अथ पशुषु। ततो या वागत्यरिच्यत तां ब्राह्मणेष्वदधुः। तस्माद् ब्राह्मणा उभयीं वाचं वदन्ति या च देवानां या च मनुष्याणाम्। (मै.१.११.५) इति''

हमें **मैत्रायणी संहिता** में पाठ इस प्रकार मिला-

सा वै वाक् सृष्टा चतुर्धा व्यभवत्, एषु लोकेषु त्रीणि तुरीयाणि, पशुषु तुरीयꣳ, या पृथिव्याꣳ साग्नौ सा रथन्तरे, यान्तरिक्षे सा वाते सा वामदेव्ये। या दिवि सा बृहती सा स्तनयित्ला, अथ पशुषु। ततो या वागत्यरिच्यत तां ब्राह्मणे न्वदधु, स्तस्माद् ब्राह्मण उभयीꣳ वाचꣳ वदति यश्च देव यश्च न,....। अर्थात् वह उत्पन्न की गयी वाणी चार प्रकार की है। **भूः, भुवः** व **स्वः** इन तीन लोक वा सूक्ष्म छन्द रश्मियों के रूप में तीन प्रकार से तथा पशु अर्थात् विभिन्न मरुत् व छन्द रश्मियों के रूप में **{पशवो वै मरुतः मै.४.६.८}** चौथे प्रकार से। जो वाणी पृथिवी में है, वही अग्नि में तथा वही रथन्तर साम में है। इसका तात्पर्य है कि जो वाणी अप्रकाशित परमाणुओं में होती है, वही ऊष्मा व विद्युत्-संयुक्त कणों में होती है तथा वही वाणी रथन्तर साम अर्थात् ऐसे तीव्र विकिरणों, जो रमणीय होते हुए भी तीक्ष्ण भेदक तथा विभिन्न कणों को तारने वाले होते हैं, में भी विद्यमान होती है। जो वाणी अन्तरिक्ष में होती है, वही वाणी वायु (सूक्ष्म व स्थूल) में भी विद्यमान होती है। यहाँ सूक्ष्म वायु से तात्पर्य विभिन्न प्रकार के प्राणों से भी है। वही वाणी वामदेव्य अर्थात् विभिन्न सृजन-प्रजनन कर्मों में भाग लेने वाले प्रशस्य व प्रकाशमान प्राण तत्व में भी विद्यमान होती है। जो वाणी द्युलोक अर्थात् सूर्य्यादि तारों में होती है, वही उनकी किरणों में तथा वैसी ही वाणी स्तनयित्नु अर्थात् शब्द करती हुयी विद्युत् में भी होती है। इसके अनन्तर अन्य वाणी पशु अर्थात् मनुष्यों की व्यवहारिकी=लोक भाषा की वाणी होती है। इसके अतिरिक्त भी जो भी वाणी है, उसे परमात्मा ने ब्राह्मणों में धारण किया। यहाँ **'ब्राह्मण'** का अर्थ है अत्युच्च स्तर के योगी पुरुष, जो परमब्रह्म परमात्मा में सदैव रमण करते हैं। ऐसे ब्रह्मवेत्ता महापुरुष दोनों प्रकार की (कुल चार प्रकार की) वाणियों, जो चाहे विभिन्न देवों (लोकों आदि) में विद्यमान हों अथवा मनुष्यों की बोलचाल की वाणी हों, को जानते हैं। ऐसी ब्राह्मण की अक्षर स्तुति हैं।'' यहाँ **निरुक्तकार** स्वमत तथा **मैत्रायणी संहिता** के मत से वाक्-तत्व के गम्भीर व व्यापक स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं।

वर्तमान वैज्ञानिक भी अनेक प्रकार की ध्वनियों को जानते हैं। सुपरनोवा के विस्फोट से उत्पन्न अति शक्तिशाली तरंगों को वैज्ञानिक Shock waves कहते हैं। यू.एस.ए. के खगोल भौतिकशास्त्री John Gribbin डार्क मैटर तथा कॉस्मिक किरणों में भी सूक्ष्म ध्वनि तंरगों का होना मानते हैं। यह बात उन्होंने अपनी पुस्तक The origins of the future- ten questions for the next ten years पृष्ठ १३० व १३४ पर लिखी है। आज सृष्टि उत्पत्ति के महाविस्फोट वाले सिद्धान्त Big Bang Theory, हम जिसकी समीक्षा अगले अध्याय में करेंगे, में जो Background radiation, 2.7 °K ठंडा होता है, की सत्ता को माना जाता है। उस अत्यन्त ठंडे radiation में भी उस समय उतार-चढ़ाव Fluctuations का होना मानते हैं, जब यह ब्रह्माण्ड अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही था। यह उतार-चढ़ाव ध्वनि तरंगों के द्वारा होना मानते हैं। The trouble with Physics नामक पुस्तक में Lee Smolin पृष्ठ-२०५ पर लिखते हैं-

"Over the last decades, the temperature fluctuations of the microwave background have been mapped by satellites, balloon borne detectors, and ground based detectors, one way to understand what these experiments measure is to think of the fluctuations as if they were sound waves in the early universe."

स्पष्ट ही यहाँ सूक्ष्म ध्वनि तरंगों की चर्चा है। सूर्य में होने वाले विस्फोट तथा सामान्य अवस्था में भी, पृथिवी के अन्दर विभिन्न गतिविधियों एवं अन्तरिक्ष में cosmic rays की टक्कर से भी ध्वनि तरंगों का उत्पन्न होना वैज्ञानिक मानते व जानते ही हैं। जो बात वैज्ञानिक आज जानते हैं, उससे भी सूक्ष्म विज्ञान को **यास्क** व **मैत्रायणी संहिताकार** ने सहस्रों वर्ष पूर्व जाना था। वैदिक साहित्य में वाक् का

विज्ञान अतीव विस्तृत व गम्भीर है। यह ध्वनि वास्तव में क्या है, इसको वैज्ञानिक अभी तक पूर्णतः जान नहीं पाये हैं। ध्वनि के विषय में वैज्ञानिकों का कथन है-

'Sound is an alteration in pressure, stress, particle displacement or particle velocity, which is propogated in an elastic material, or the superposition of such propogated vibrations- (definition recommended by American Standard Association)– "Acoustics" By Joseph L. Hunter

यहाँ निश्चित ही ध्वनि का स्पष्ट व उत्तम स्वरूप नहीं बताया गया है, बल्कि किसी पदार्थ में उत्पन्न दाब के रूप में ही ध्वनि तरंगों का ग्रहण किया गया है। यह अति साधारण बात है। वह दाब क्यों व कैसे उत्पन्न होता है, यह बात वर्तमान विज्ञान कुछ भी स्पष्ट नहीं कर पाता है।

वर्तमान वैज्ञानिक प्रकाशादि विकिरणों की भाँति ध्वनि के कण की भी कल्पना करते है। Q is for Quantum particle physics from A to Z नामक पुस्तक के पृष्ठ २८१ पर John Gribbin ध्वनिकण Phonon विषय में लिखते हैं-

"Phonon – A particle of sound travelling through a crystal lattice. The idea of a sound wave can be replaced by the idea of phonons in an analogous way to the description of light in terms of photons."

यहाँ ध्वनि के कण की अवधारणा स्पष्ट है। वैदिक विचारधारा में भी शब्द तन्मात्रा की मान्यता सनातन से चली आयी है।

यहाँ तक हम वाणी के विभिन्न रूपों की चर्चा करने के पश्चात् परा, पश्यती, मध्यमा तथा वैखरी, इन चार रूपों पर विशेष चर्चा करते हैं। वाणी का यह विभाग, जो आचार्य सायण ने किया है, की प्रामाणिकता पर कुछ आर्य विद्वान् प्रश्न खड़े कर सकते हैं। यद्यपि वैदिक ग्रन्थों को समझने की सायण की शैली बहुत दोषपूर्ण किंवा मूर्खतापूर्ण है। जिस ऐतरेय ब्राह्मण का मैं वैज्ञानिक व्याख्यान लिख रहा हूँ, उसमें सायण भाष्य की लगभग उपेक्षा की है, क्योंकि उनका भाष्य सर्वथा दोषपूर्ण, कहीं-२ वीभत्स, अश्लील, मूर्खतापूर्ण तथा वैदिक दृष्टि के सर्वथा विपरीत है। इतने पर भी हमें यह स्वीकार्य नहीं है कि सायणचार्य की किसी उचित बात को भी स्वीकार न किया जाये। इस विषय में प्रख्यात आर्य विद्वान् पं. भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने अपने **निरुक्त भाष्य १३.९** में लिखा है-

"परावाक् का सिद्धान्त नया नहीं है। देवकी पुत्र **भगवान् कृष्ण** ने इसका वर्णन **साम्ब पञ्चाशिका** के तीसरे श्लोक में किया है।"

इस प्रकार **महद् वेदविज्ञानी योगेश्वर श्रीकृष्ण** का मत हमें सर्वथा स्वीकार्य है। जो विद्वान् इस पर भी शंका करे, उनका कोई उपाय नहीं।

परा, पश्यन्ती आदि वाणी के चारों रूपों की चर्चा व्याकरण महाभाष्य के भाष्य प्रदीप में **आचार्य कैयट** तथा **नागेश भट्ट** ने भी की है। इन्होंने **"वाक्यपदीयम्"** के कई श्लोकों को भी उद्धृत किया है?

हम वाणी के इन चारों स्वरूपों पर कुछ विचार करते हैं-

(१) परा- परावाणी सबसे सूक्ष्म परन्तु सर्वाधिक प्रकृष्ट तथा सभी वाणियों का उच्चतम मूलस्वरूप है। 'परा' एक अव्यय पद है, जिसका प्रयोग आप्टे संस्कृत-हिन्दी कोष में कई अर्थों में दर्शाया है, जिसमें जाना, सामना करना, पराक्रम, आधिक्य, पराधीनता, मुक्ति, एक ओर रख देना आदि मुख्य हैं। **महर्षि दयानन्द सरस्वती** ने इस अव्यय का प्रयोग उपरिभावे, दूरार्थे, पृथक्, प्रकृष्टार्थे, दूरीकरणे, पराजयार्थे आदि में किया है। (देखें- **वैदिक कोष** - आचार्य राजवीर शास्त्री।)

यद्यपि यहाँ हम 'परा' उपसर्ग अव्यय पद की चर्चा नहीं कर रहे हैं, पुनरपि इन अर्थों से 'परा' पद का अर्थ विदित होने से 'परावाक्' के स्वरूप का भी बोध हो जाता है। **संस्कृत व्याकरण का प्रयोग**

करके किसी भी शब्द के अर्थ का सम्बन्ध व तद्-वाच्य पदार्थ का स्वरूप बोध कराना ही व्याकरण शास्त्र की वैज्ञानिकता है। इस प्रकार **परावाक्** एक ऐसी सूक्ष्म वाणी है, जो सर्वाधिक सूक्ष्म, सर्वतोव्याप्त, अत्यधिक मात्रा में विद्यमान, सबको अपने साथ बांधने वाली परन्तु स्वयं सबसे मुक्त एवं सबसे उच्चतम अवस्था वाली है। यह सूक्ष्मतमा होने से कर्णगोचर कदापि नहीं हो सकती। यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में सूक्ष्मतमरूप में व्याप्त रहकर प्रत्येक कण-२ को अपने से समन्वित रखती है। इसे अत्युत्कृष्ट योगी पुरुष ही अनुभव कर सकते हैं। इसे किसी वैज्ञानिक तकनीक से नहीं जाना जा सकता। **हमारे मत में मनुष्य जिस वैखरी वाणी को सुनता है, वह वाणी आत्म तत्त्व द्वारा परा अवस्था में ही ग्रहण की जाती है।**

(२) **पश्यन्ती-** इस शब्द का रूप ही बता रहा है कि यह वाणी परा की अपेक्षा स्थूल तथा यह विभिन्न वर्णों को देखती हुयी अर्थात् उनको उनका स्वरूप प्रदान करती हुयी बीजवत् होती है। यह परावाणी से स्थूल एवं मध्यमा से सूक्ष्म होती है। **साम्बपञ्चाशिका** के चौथे श्लोक-

"या सा मित्रावरुणसदनादुच्चरन्ती त्रिषष्टिं
वर्णान्तः प्रकटकरणैः प्राण सङ्गात् प्रसूते।।"

की व्याख्या में क्षेमराज ने कहा है-

"तत्र चिज्ज्योतिषि गुणीभूत सूक्ष्मप्राणसङ्गात् पश्यन्ताम्।"

अर्थात् पश्यन्ती में चिज्ज्योति की प्रधानता और सूक्ष्मप्राण गौण रहता है, उस दशा में भी वर्ण उत्पन्न होते हैं। (देखें- **महात्मा भर्तृहरि** रचित **वाक्यपदीयम्** के ब्रह्म काण्ड पर पं. शिवशंकर अवस्थी की टीका. पृ. ४२३-२४)

{मित्रावरुणौ = मनो मैत्रावरुणः (श.१२.८.२.२३), यज्ञो वै मैत्रावरुणः (कौ.ब्रा.१३.२), प्राणापानौ मित्रावरुणौ (तां.६.१०.५), प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ (श.१.८.३.१२)। सदनम् = गर्भस्थानम् (म.द.य. भा.१२.३६)} हमारे मत में इस श्लोक का भाव है कि पश्यन्ती वाक् संयोज्य मनस्तत्व के आधार किंवा उसी में उत्पन्न होती है। प्राण, अपान व उदानादि रश्मियों का गर्भरूप यही पश्यन्ती वाक् तत्त्व होता है अर्थात् सभी प्राण व छन्द रश्मियां इसी वाक् तत्व से एवं इसी में उत्पन्न होते हैं। यहाँ "**प्राण सङ्गात् प्रसूते**" में प्राण का अर्थ मनस्तत्त्व मानना चाहिए। परा के अतिरिक्त तीन प्रकार की वाणियों की उत्पति ही यहाँ साम्बपञ्चाशिका के इस श्लोक से होती प्रतीत हो रही है। परावाणी में तिरेसठ वर्णों का अस्तित्व नहीं होता। क्षेमराज के कथन से यही स्पष्ट होता है कि चेतना जब मनरूप सूक्ष्म प्राण से संयोग करती है अर्थात् जब चेतना की प्रधानता तथा वह सूक्ष्मप्राण गौण होता है, तब इस पश्यन्ती वाक् की उत्पत्ति होती है। यह पश्यन्ती वाक् सभी वर्णों के मूलरूप को समेटे हुए होती है। **सम्भवतः इस वाणी को भविष्य में कभी किसी सूक्ष्म तकनीक से ग्रहण किया जा सकेगा, ऐसा हमारा मत है।** यहाँ ऐसा प्रतीत हो रहा है कि वाणी का वर्णरूप इस पश्यन्ती अवस्था में ही मूलरूप में प्रकट हो पाता है। परावाक् सर्वथा अव्यक्त रूप में होती है। हमारे मत में परावाणी में भी अक्षरों का संस्कार, सूक्ष्मतम रूप में विद्यमान अवश्य होता है और उसी से मूलरूप पश्यन्तीवाक् की उत्पत्ति होती है किंवा परावाक् ही पश्यन्ती वाक् के रूप में परिवर्तित होती है। ध्यातव्य है कि पश्यन्ती में भी वर्णों का स्पष्ट रूप विद्यमान नहीं होता।

डां. शिवशंकर अवस्थी ने **वाक्यपदीयम्** की टीका पृ.सं.७४ में एक अज्ञातरचित श्लोक उद्धृत किया है

वैखरी शब्दनिष्पत्तिर्मध्यमा श्रुतिगोचरा। द्योतितार्था च पश्यन्ती सूक्ष्मा वागनपायिनी।।

यह श्लोक कुछ पाठ भेद से व्याकरण के **भाष्यप्रदीपकार नागेश भट्ट** ने भी **'चत्वारि वाक्परिमिता (ऋ.१.१६४.४५)** मंत्र के व्याख्यान में दिया है।

इसमें पश्यन्ती के स्वरूप की विवेचना में अवस्थी का कथन उचित ही है कि इसमें श्रोता की बुद्धि में अर्थ का द्योतन होता है। जब कोई व्यक्ति कर्ण द्वारा कोई बात सुनता है, तब कानों की तंत्रिकाओं द्वारा संवेदना मस्तिष्क पुनः मनस्तत्त्व को पहुंचती है। उस संवेदना में वर्णों की विद्यमानता में ही मन के सहयोग से मस्तिष्क वर्णों की पहिचान करता है। यदि उन संवेदनों में यदि वर्णों का सर्वथा अभाव होता, तो मस्तिष्क वा मनस्तत्त्व वाणी को कदापि नहीं पहचान सकते। वही वाणी पश्यन्ती है, जो कान से तो सुनाई नहीं देती परन्तु मस्तिष्क के माध्यम से मनस्तत्त्व जिसे अनुभव करता है।
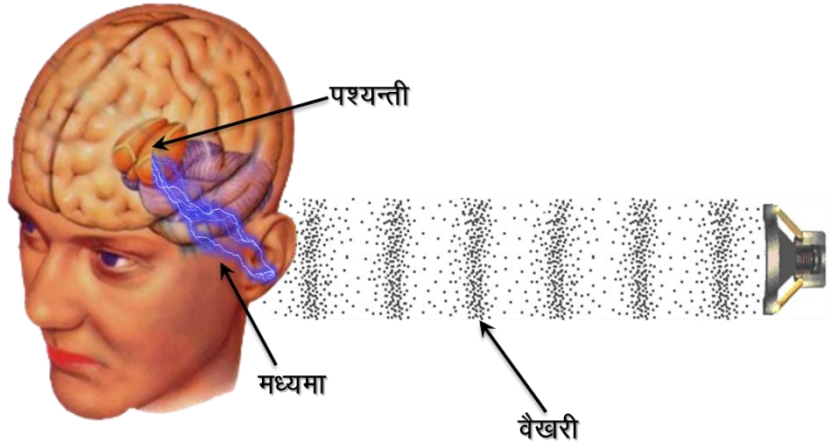
(३) **मध्यमा-** **साम्बपञ्चाशिका** के उपर्युद्धृत श्लोक की व्याख्या में क्षेमराज लिखते हैं-

"गुणीभूत चित्सूक्ष्मप्राणसङ्गान्मध्यमायाम्।" इस पर डॉ. अवस्थी पृ.सं.४२४ लिखते हैं कि मध्यमा वाणी में चिज्ज्योति गौण तथा सूक्ष्मप्राण प्रधान होता है। इस वाक् को पश्यन्ती से स्थूल व वैखरी से सूक्ष्म माना जाता है। उपर्युक्त अज्ञातरचित श्लोक की व्याख्या में डॉ. अवस्थी का कहना है कि जो वाणी श्रोता के कर्णों द्वारा सुनी जाती है, वह मध्यमा होती है। इससे हमें यह प्रतीत होता है कि कर्णपटल पर जो ध्वनि सुनाई देती है, वह जिस स्वरूप को प्राप्त कर लेती है, वह मध्यमा होती है। मस्तिष्क व कानों के मध्य जिस वाणी का संचरण होता है, वह यही होती है। इसमें वर्णों का रूप पश्यन्ती की अपेक्षा स्थूल एवं वैखरी की अपेक्षा सूक्ष्म होता है। इसमें चेतन के सानिध्य की भी पश्यन्ती की भाँति अनिवार्यता परन्तु तदपेक्षा कुछ न्यून होती है।

(४) **वैखरी-** यह वह स्थूल वाणी है, जिसे हम बोलते हैं। 'वैखरी' शब्द का निर्वचन आप्टे ने अपने कोष में किया है- "विशेषेण खं राति" अर्थात् जो विशेषरूपेण आकाश में मिल जाती है। यही वाणी वक्ता व श्रोता के बीच गमन करती है, जो अन्त में श्रोता के मस्तिष्क में जाकर पश्यन्ती का रूप में लेती है। इसके विषय में उपर्युद्धृत **साम्बपञ्चाशिका** के श्लोक की व्याख्या में क्षेमराज लिखते हैं- "स्थूल प्राणसङ्गाद्वैखर्यां वर्णा जायन्ते।" अर्थात् स्थूल प्राण के संग से वैखरी में वर्णों की उत्पत्ति होती है। यहाँ वक्ता के स्वरयन्त्र से विभिन्न आभ्यान्तर व बाह्य प्रयत्नों से जो ध्वनि रूप वर्णों की उत्पत्ति होती है, वही संकेत है। यह ही लोक भाषा है।

अब वाणी के चार रूपों पर सायणाचार्य का मत उद्धृत करते हैं-

"परापश्यन्ती मध्यमा वैखरीति चत्वारीति। एकैव नादात्मिका वाग्मूलाधारादुदिता सती परेत्युच्यते। नादस्य च सूक्ष्मत्वेन दुर्निरूपत्वात् सैव हृदयगामिनी पश्यन्तीत्युच्यते योगिभिर्द्रष्टुं शक्यत्वात्। सैव बुद्धिं गता विवक्षां प्राप्ता मध्यमेत्युच्यते मध्ये हृदयाख्य उदीयमानत्वान्मध्यमायाः। अथ यदा सैव वक्त्रे स्थिता ताल्वोष्ठादिव्यापारेण वहिर्निर्गच्छति तदा वैखरीत्युच्यते...।।" **(ऋग्वेद भाष्य.१.१६४.४५)**

अर्थात् जब कोई मनुष्य वाणी का उच्चारण करता है, तब सर्वप्रथम नादरूप वाक् मूलाधार चक्र में उत्पन्न होकर ऊपर उठने लगती है। यही वाणी का सूक्ष्मतम परारूप है। इसका निरूपण सम्भव नहीं है अर्थात् अति दुष्कर है। जब यही परावाणी हृदय चक्र में आती है, तब वहाँ यही पश्यन्ती वाक् का

रूप ले लेती है। यही वाणी जब बुद्धि तत्व से सम्पर्क में आती है, तब मध्यमा रूप में प्रकट होकर कण्ठ में स्थित तालु-ओष्ठादि के प्रयत्न से वैखरी का रूप धारण करके बाहर निकलती है।

यहाँ विचारणीय है कि वक्ता व श्रोता दोनों में वाणी के चार रूप पृथक्-२ स्थानों में प्रकट होते हैं। सामान्य व्यक्ति के सुनने व कहने योग्य वाणी वैखरी ही है, यह सुनिश्चित है।

अब प्रश्न यह उठता है कि जब सर्वप्रथम चार ऋषियों ने अन्तरिक्ष से ईश्वरीय सहायता से सम्प्रज्ञात समाधि के अन्दर वैदिक छन्दों को ग्रहण किया, तब वे छन्द ब्रह्माण्ड में वाणी के इन चार रूपों में से किस रूप में व्याप्त थे? क्या जैसे वेद पाठी आज वैखरी वाणी में वेदपाठ करते हैं, वैसे ही आकाश में शब्द व्याप्त थे? हमारे मत में ऐसा सम्भव नहीं। बिना ताल्वादि प्रयत्नों के ऐसे शब्दों अर्थात् वैखरी वाणी का उत्पन्न होना सम्भव नहीं। अतः हमारे मत में ये सभी छन्द परा एवं पश्यन्ती वाणी के रूप में सर्वतः व्याप्त थे। वर्णत्व का बीज तो विद्यमान था परन्तु श्रव्य अवस्था में नहीं। अब इस पश्यन्ती वाक् को ऋषियों ने कैसे ग्रहण किया? इसकी चर्चा हम इसी अध्याय के प्रारम्भ में लिख चुके हैं। इसी विषय में **महात्मा भर्तृहरि** के **वाक्यपदीयम्** के ब्रह्म काण्ड का १३६ वां श्लोक पर्याप्त संकेत देता है-

"आविभागाद् विवृत्तानामभिख्या स्वप्नवच्छ्रुतौ।
भावतत्त्वं तु विज्ञाय लिङ्गेभ्यो विहिता स्मृतिः।।"

इसका आशय है कि अखण्ड परमेश्वर अथवा परावाक् रूप एकाक्षर **'ओम्'** पद वाचक से विस्तारित व प्रकट हुए विभिन्न छन्दों, जो पश्यन्ती रूप में विद्यमान होते हैं, का स्वप्न के समान ज्ञान होता है। इसका तात्पर्य यह कि जिस प्रकार बिना श्रोत्रेन्द्रिय के सहाय के किसी भी व्यक्ति को सूक्ष्म शरीर द्वारा विभिन्न वाणियां सुनाई देती हैं, उसी प्रकार सविचार समाधि, जिसमें कि योगी सूक्ष्म विषयों का विचार करता है, में इन छन्दों को अपने सूक्ष्म शरीर किंवा अन्तः करण से ग्रहण करके अपने चित्त में **अग्नि, वायु** आदि चार ऋषियों ने संचित कर लिया।

प्रश्न- आपने **भगवद्यास्क** द्वारा निरुक्त शास्त्र में दर्शाये वाणी सम्बन्धी छः प्रकार के वर्गीकरण की उपेक्षा करके आचार्य सायण किंवा **साम्बपञ्चाशिका** में **भगवान् श्रीकृष्ण** अथवा व्याकरण महाभाष्य के भाष्य प्रदीपकार **आचार्य कैयट** व **आचार्य नागेशभट्ट** को प्रमाण मानकर परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी इस वर्गीकरण को क्यों स्वीकार किया? इस युग के महान् वेदवेत्ता **महर्षि दयानन्द सरस्वती** ने वैयाकरणों के मतानुसार ही प्राक् वर्णित **ऋ.१.१६४.४५** का भाष्य किया है, पुनरपि आपने **महर्षि दयानन्द** की उपेक्षा, क्या इस कारण की, क्योंकि इससे आपके छन्द विज्ञान एवं उनको अग्न्यादि चार ऋषियों को ग्रहण करने की कल्पित प्रक्रिया की पुष्टि नहीं हो सकती थी। **महर्षि दयानन्द** अपनी **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** एवं **सत्यार्थप्रकाशादि** ग्रन्थों में स्पष्ट लिखते हैं कि परमात्मा ने उन अग्न्यादि चार ऋषियों के आत्मा में वेदों का प्रकाश किया। क्या आपकी वेदज्ञान के आविर्भाव की प्रकिया इसके विपरीत मनगढ़न्त नहीं है?

उत्तर- वाक् के वर्गीकरण पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि **निरुक्त** ने वर्गीकरण के जिन मतों का वर्णन किया है, उस प्रकार का वर्गीकरण परा, पश्यन्ती आदि नहीं है। आपकी शंका के समाधानार्थ हम सभी वर्गीकरणों पर क्रमशः विचार करते हैं।

(१) **आर्षमत**- ओंकार, भूः, भुवः, स्वः।

जैसा कि हम पूर्व में दर्शा चुके हैं कि यह मत **भगवान् मनु महाराज** ने भी दर्शाया है। इसको आर्षमत कहने के पीछे हमें दो प्रमुख हेतु दिखाई देते हैं।

(क) **भगवान् मनु** से लेकर सभी महर्षि भगवन्तों के मत में वाणी का यह वर्गीकरण मान्य रहा है। इस कारण इसे आर्षमत कहा गया है।

(ख) विभिन्न ऋषि प्राणों में चार छन्द **'ओम्', 'भूः', 'भुवः', 'स्वः'** विद्यमान होते हैं किंवा इन्हीं से सभी

ऋषि अर्थात् प्राणों की उत्पत्ति होती है। इस कारण भी इसे आर्ष मत कहा जाता है, ऐसा हमारा मत है। ऋषि प्राण क्या होता है, यह हम वैदिक सृष्टि उत्पत्ति विज्ञान नामक अध्याय में लिखेंगे।

वाणी का यह वर्गीकरण ध्वनि उत्पत्ति के विशेषतया उसके चरणों का वर्णन नहीं, बल्कि वाक् के प्रकारों का वर्णन करता है। हाँ, **'ओम्'** मूल वाक् है, यह अवश्य है। इस वर्गीकरण से वाक् के ग्राह्यत्व के चरण वा सामर्थ्य का कोई स्पष्टीकरण नहीं होता। ये सभी छन्द हैं, जो सृष्टि प्रारम्भ में उत्पन्न हुए थे और आज भी सर्वतोव्याप्त हैं। परा, पश्यन्ती आदि चारों रूपों में ये चारों छन्द **'ओम्', 'भूः'** आदि होते हैं वा हो सकते हैं। इसे इस प्रकार समझ सकते हैं कि कोई गायक क्रमशः निश्चित चार भजन गाता है और वे भजन ऐसे हैं, जो उसके आगे गाए जाने वाले भजनों की मानो भूमिका का रूप होते हैं अथवा वह सर्वप्रथम चार छन्द 'दोहा', 'सोरठा', 'चौपाई', व 'कवित्त' गाता है, परन्तु उन्हें चार प्रकार के स्तरों वा ध्वनि तरंग की आवृत्तियों में गाता है। तब चार स्तर एवं चार छन्द दोनों प्रकार का वर्गीकरण पृथक्-२ स्तर से है। इसी प्रकार प्रत्येक छन्द वा वाक् तत्त्व परा, पश्यन्ती आदि चार रूपों में होता है।

(२) **वैयाकरण मत-** नाम, आख्यात, उपसर्ग व निपात। ये चारों ही वाक् के ही रूप हैं, परन्तु चारों ही परा, पश्यन्ती आदि के स्तर पर होते हैं। इनका परस्पर कोई विरोध नहीं है।

इसी प्रकार पूर्वोक्त याज्ञिक, नैरुक्त आदि सभी मतों के विषय में जानें। **परा, पश्यन्ती आदि वर्गीकरण वस्तुतः वक्ता व श्रोता के बोलने व सुनने की प्रक्रिया को चरणबद्ध तरीके से व्याख्यात करता है** और अन्य वर्गीकरण इस आधार पर हैं कि वक्ता व श्रोता क्या बोल वा सुन रहा है। यह विभिन्न वर्गीकरणों में परस्पर सम्बन्ध है।

अब क्योंकि हम पूर्व महर्षियों द्वारा वैदिक छन्दों के ग्रहण करने का वर्णन कर रहे हैं अर्थात् उस प्रक्रिया की वैज्ञानिकता को समझने का प्रयास कर रहे हैं, तब वाणी का अन्य कोई वर्णन यहाँ महत्व नहीं रखता, बल्कि परा, पश्यन्ती रूपों का वर्णन ही प्रासंगिक व महत्वपूर्ण है। इसी कारण हमने प्रसंगानुकूल इसी की चर्चा की है। जहाँ तक **महर्षि दयानन्द** के उस मत का प्रश्न है, जिसमें उन्होंने अग्नयादि चार ऋषियों के आत्मा में वेद के प्रकाश की चर्चा की है, उसे हमारा मत पूर्णतः वर्णित होने के बाद ही समझा जा सकेगा। इस कारण हम अपने पूर्व प्रसंग पर पुनः आते हैं- जब चार ऋषियों के चित्त में वैदिक छन्द पश्यन्ती वाक् की अवस्था में संचित हो गये, तब उससे आगे की प्रक्रिया के विषय में हम वेद के विषय में **महर्षि दयानन्द** के मत पर आगे विचार करते हैं। **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** में वेदोत्पत्तिविषय नामक अध्याय में **'वेद'** शब्द का अर्थ करते हुए लिखते हैं- **"वेदः = विदन्ति=जानन्ति, विद्यन्ते= भवन्ति, विन्दन्ति विन्दते= लभन्ते, विन्दते= विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्या यैर्येषु वा तथा विद्वांश्च भवन्ति ते वेदाः"** अर्थात् जिनके पढ़ने से यथार्थ विद्या का विज्ञान होता है, जिनको पढ़ के विद्वान् होते हैं, जिनमें सब सुखों का लाभ होता हैं, और जिनसे ठीक-ठीक सत्यासत्य का विचार मनुष्यों को होता है, इससे ऋक् संहितादि का **'वेद'** नाम है। इसमें विद् ज्ञाने, विद्लृ लाभे, विद् सत्तायाम्, एवं विद् विचारणे चार धातुओं से **'वेद'** शब्द की व्युत्पत्ति दर्शायी है। हम इन्हीं चार धातुओं से कुछ अन्य प्रकार का अर्थ भी ग्रहण करेंगे। विद् ज्ञाने से, जो ज्ञान रूप है तथा जिससे सब मनुष्यों को सत्यासत्य का पूर्ण ज्ञान होता है। विद् सत्तायाम् से वह ज्ञान ऐसा होता है, जिसकी सदैव सत्ता रहती है अर्थात् इससे सभी सत्य विद्याओं का ही ज्ञान होता है, किसी अनित्य इतिहास आदि विषयों का ज्ञान इससे नहीं होता। विद्लृ लाभे, अर्थात् उस वेद के ज्ञान से मानव मात्र को किंवा मानवमात्र के उसे उपयोग में लाने से प्राणिमात्र को सब यथार्थ सुखों का लाभ होता है। विद् विचारणे से अर्थात् जो ज्ञान **अग्नि, वायु, आदित्य** व **अंगिरा** इन चार ऋषियों को सविचार सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तर्गत होता है, वह ज्ञान विचार अर्थात् पूर्णतः संशय रहित होता है।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'वेदोत्पत्तिविषय' नामक अध्याय में **महर्षि दयानन्द** उद्धृत करते हैं-

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऽऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दाᳬसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत।। (यजु.३१.७)

एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसित मेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः।। (श.१४. ५.४.१०)

अर्थात् तस्माद् यज्ञात् सच्चिदानन्दादिलक्षणात् पूर्णात् पुरुषात् सर्वहुतात् सर्वपूज्यात् सर्वोपास्यात् सर्वशक्तिमतः परब्रह्मणः ऋग्वेदः, यजुर्वेदः, सामवेदः, अथर्ववेदश्च चत्वारो वेदास्तेनैव प्रकाशिता इति वेद्यम्।

महत आकाशादपि बृहतः परमेश्वरस्यैव सकाशाद् ऋग्वेदादिवेदचतुष्टयं निःश्वासवत् सहजतया निःसृतमस्तीति वेद्यम्। यथा शरीराच्छ्वासो निःसृत्य पुनः तदेव प्रविशति, तथैवेश्वराद् वेदानां प्रादुर्भावतिरोभावौ भवत इति निश्चयः।।

अर्थात् उस सच्चिदानन्दस्वरूप पूर्ण पुरुष परमात्मा से ही ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद उन चार ऋषियों के हृदय में प्रकाशित हुए हैं। अब वे कैसे प्रकाशित होते हैं, इसकी प्रक्रिया समझाने के लिए **महर्षि दयानन्द शतपथ ब्राह्मण** में कहे **महर्षि याज्ञवल्क्य** के वचन को उद्धृत करते हैं, जिसका भाव है कि परमेश्वर, जो आकाशादि से भी बहुत बड़ा है, से चारों वेद उन चार ऋषियों में ऐसे प्रकाशित हुए किंवा समस्त ब्रह्माण्ड में ऐसे उत्पन्न हुए, जैसे कोई प्राणी सहजतया श्वास लेता व छोड़ता है। जिस प्रकार प्राणी को श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया में कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा द्वारा छन्द रूप वेद इस ब्रह्माण्ड में सर्गोत्पत्ति के समय प्रसारित किये जाते हैं।

यहाँ **भगवान् याज्ञवल्क्य** ने जो उपमा दी है, वह बहुत महत्वपूर्ण है। जैसे चेतन प्राणी जड़ प्राण को श्वास प्रश्वास प्रक्रिया में ग्रहण करता व त्यागता है, उसी प्रकार चेतन परमात्मा जड़ प्रकृति से छन्दों की उत्पत्ति व प्रलय करता है। इससे हमारे मत में वेद के उन महर्षियों के आत्मा वा चित में प्रकाशित होने का एक और विज्ञान भी उद्घाटित हो रहा है। वह इस प्रकार है- जब वे ऋषि सम्प्रज्ञात सविचार समाधि में होते हैं, तब परमात्मा ब्रह्माण्ड में उस समय व्याप्त विभिन्न वैदिक छन्दों को उन ऋषियों के अन्दर श्वास के समान प्रवेश करा देता है और उन छन्दों में से जो जो भी उन महर्षियों को ऐसे प्रतीत होते हैं, जिनके अर्थ का प्रकाश मानव वा प्राणिजाति के लिए आवश्यक होता है, उसे ग्रहण कर लेते हैं, तथा शेष को प्रश्वासवत् ब्रह्माण्ड में निःसारित कर देते है। जिस प्रकार प्राणी वायुमण्डल से वायु को ग्रहण करके उसमें से ऑक्सीजन को फेफड़ों के द्वारा ग्रहण कर लेते हैं तथा शेष वायु को बाहर निकाल देते हैं, उसी प्रकार वैदिक छन्दों का ग्रहण व विसर्जन होता है।

वेद संहिता से इतर छन्द

प्रश्न- क्या कुछ वैदिक छन्द परमात्मा ने अनावश्यक भी बनाए हैं, जिन्हें वे ऋषि ग्रहण नहीं करते हैं। यदि हाँ, तो परमात्मा ने निरर्थक मंत्रों (छन्दों) की रचना क्यों की?

उत्तर- आपका प्रश्न उत्तम व स्वाभाविक है। हम आगामी **''वैदिकसृष्टिउत्पत्तिविज्ञान''** नामक अध्याय

में बतायेंगे कि वैदिक छन्द प्राण तत्व के रूप में असंख्य मात्रा में उत्पन्न होते हैं। **परमात्मा का सामर्थ्य व ज्ञान अनन्त है। चार वेद संहिताओं का ज्ञान अनन्त नहीं है।** इनमें उतना ही ज्ञान है, जो मानव जाति के लिए अनिवार्य है। मानव के ज्ञान ग्रहण सामर्थ्य की सीमा तक सभी विज्ञान वेदों में सांकेतिक वा मूल रूप में विद्यमान है। इससे हमें यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि परमब्रह्म परमात्मा में इससे अधिक ज्ञान नहीं हो सकता। इसी प्रकार यह भी सिद्ध हुआ कि चारों संहिताओं में जितने छन्द वा मंत्र हैं, इस ब्रह्माण्ड में प्राण-तत्व के रूप में केवल उतने ही विद्यमान नहीं है, बल्कि उनसे भी अधिक हैं। ये अधिक छन्द हमारी आवश्यकताओं से अधिक होने से तथा उन मानव ऋषियों की सामर्थ्य-सीमा के कारण भी उन्हें ऋषि प्रश्वासवत् बाहर निकाल देते हैं। जिस प्रकार प्राणी के प्रश्वास के द्वारा निकला वायु (कार्बन डाई आक्साइड आदि) उस प्राणी के लिए अनावश्यक होते हुए भी सृष्टि में वनस्पति आदि के लिए आवश्यक होता है, उसी प्रकार मानव ऋषियों द्वारा अगृहीत छन्द सर्गप्रक्रिया में आवश्यक होते हैं, जिनका ज्ञानरूप भी परमेश्वर में सदैव विद्यमान रहता है अर्थात् वे छन्द भी निरर्थक नहीं होते हैं।

अब तक हमने विभिन्न वैदिक छन्दों को सृष्टि के आदि में चार मानव ऋषियों द्वारा ग्रहण करने की प्रक्रिया का वर्णन किया, अब आगे उन छन्दों से **'वेद'** शब्द की सार्थकता प्रमाणित करने वाले ज्ञान व भाषा की उत्पत्ति की प्रक्रिया को स्पष्ट करेंगे। जैसा कि हम लिख चुके हैं कि वे छन्द पश्यन्ती वाक् के रूप में अर्थात् सूक्ष्मप्राण के रूप में परमेश्वर की चेतना की विद्यमानता में ऋषियों की आत्मिक चेतना ने चित्ततत्व में संगृहीत किये।

हम इसे निम्न प्रकार समझने का प्रयास करते हैं। जब हम किसी शब्द को सुनते हैं अथवा उसकी रेडियो तरंगों को किसी उपकरण द्वारा ग्रहण करते है, तब उस शब्द के तीन प्रकार के प्रभाव होते हैं-

१. रेडियो तरंगों का जड़ व चेतन जगत् पर भौतिक प्रभाव। इससे प्राणियों को शारीरिक व मानसिक क्षति भी होती वा हो सकती है। आज मोबाइल आदि संचार साधनों से उत्पन्न रेडियो तरंगों से अनेक रोगों से आक्रान्त होकर कई पक्षी व कीट-पतंगों की प्रजातियां लुप्त हो रही हैं। मनुष्यों में भी मानसिक अवसाद, ब्रेन ट्यूमर, चर्म विकार आदि अनेक रोगों की उत्पत्ति हो रही है, तब जड़ जगत् पर भी जड़ तरंगें प्रभाव डालेंगी ही।

२. उन रेडियो तरंगों को जब ध्वनि तंरगों में परिवर्तित कर दिया जाता है अथवा जो सीधे ध्वनि तरंग के रूप में ही शब्द सुने जाते हैं, उनसे सम्पूर्ण शरीर पर ध्वनि की तीव्रता, आवृत्ति आदि के भेद से पृथक्-२ प्रभाव पड़ता है। कर्कश तीक्ष्ण ध्वनि अनेक रोग उत्पन्न करती है, उत्तेजक संगीत भी मन-मस्तिष्क व शरीर पर विपरीत प्रभाव डालता है, वहीं मधुर-शान्त-भक्ति संगीत शरीर की रोगप्रतिरोधी क्षमता को बढ़ाता है।

३. ध्वनि तरंगों, जो छन्द व व्यक्त वाक् के रूप में ही होती हैं, मस्तिष्क उन्हें समझ कर उनका अर्थ जानता है। तब उस ध्वनि वा रेडियो तरंगों का अन्तिम परिणाम ज्ञान के लाभ के रूप में होता है। तदनन्तर उस ज्ञान को व्यवहार में लाकर सभी सुखों का लाभ होता है। यदि वह ध्वनि वा शब्द विपरीत ज्ञानोत्पत्ति का संवाहक वा उत्पादक होता है, तब उसे व्यवहार में लाकर दुःखों की प्राप्ति रूपी अन्तिम फल होता है।

इस प्रकार तीन प्रभावों को दृष्टिगत रखकर वैदिक छन्दों के प्रभाव की चर्चा को आगे बढ़ाते हैं।

जब उन मानव ऋषियों ने वैदिक छन्दों को पश्यन्ती अवस्था में संगृहीत किया, तब उन छन्दों का अर्थ बताने वाली न तो कोई परम्परा ही थी और न कोई व्यक्ति विशेष गुरु के रूप में विद्यमान था। वह मानव सृष्टि की प्रथम पीढ़ी थी। तब उन शब्दों के अर्थ का बोध कौन कराये? इसके समाधान में ही **महर्षि दयानन्द** ने **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** में कहा है कि अर्थों का बोध परमात्मा, जिसने कि उन छन्दों को ब्रह्माण्ड में व्याप्त किया था और जिसने उन छन्दों को ऋषियों के चित्त में प्रविष्ट भी कराया था, उसी परमब्रह्म परमात्मा ने ही उनके आत्मा में उन छन्दों के अर्थ का बोध भी कराया, महर्षि के कथन का यही भाव है।

इसी कारण वैदिक परम्परा ज्ञान व भाषा का मूल स्रोत परमब्रह्म परमात्मा को ही मानती है और यही एकमात्र वैज्ञानिक पद्धति है। इसी से जहाँ उन चार ऋषियों को वेद ज्ञान प्राप्त हुआ, वहीं उन्होंने भाषा को बोलना अर्थात् उन छन्दों की पश्यन्ती अवस्था को वैखरी रूप प्रदान करके मुख से बोलना प्रारम्भ किया, जिस प्रकार आज हम अपने विचारों के रूप में मस्तिष्कगत ज्ञान को परा-पश्यन्ती, मध्यमा स्तरों से गुजार कर वैखरी रूप में मुख से उच्चारित करते हैं।

इस विषय में आर्य विद्वान् पं. भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' प्रथम भाग के प्रथम अध्याय में लिखते हैं-

''वेद-वाक् दैवी वाक् है। यह वाक् मानव की उत्पत्ति से बहुत पूर्व अन्तरिक्षस्थ तथा द्युलोकस्थ देवों और ऋषियों अर्थात् ईश्वर की भौतिक विभूतियों द्वारा प्रकट हो चुकी थी। ओम्, अथ, व्याहृतियां और मंत्र हिरण्यगर्भ आदि से तन्मात्रारूप वागिन्द्रिय द्वारा उच्चारे जा चुके थे। वह वाक् क्षीण नहीं हुई, परम व्योम आकाश में स्थिर रही। मानव सृष्टि के आरम्भ में जब ऋषियों ने आदि शरीर धारण किए, तो वह **दैवी वाक् ईश्वर-प्रेरणा से उनमें प्रविष्ट हुई, उसे उन्होंने सुना। इस कारण वेदवाक् का एक नाम श्रुति है।** उसी काल में वैदिक शब्दों के आधार पर ऋषियों ने व्यवहार की भाषा को जन्म दिया। वह भाषा आदि में मानव मात्र की भाषा थी और अत्यन्त विस्तृत और समृद्ध थी। तब भूमि पर ब्राह्मण ही था (अर्थात् सभी वैदिक विद्वान् थे)। भाषा की उत्पत्ति और भाषा के उत्तरोत्तर इतिहास का यह एक मात्र वैज्ञानिक पक्ष **औपमन्यव, औदुम्बरायण, यास्क, द्वैपायन व्यास, व्याडि, उपवर्ष, पाणिनि, पतंजलि और भर्तृहरि** को सर्वथा ज्ञात था। भर्तृहरि के पश्चात् गत दो सहस्र वर्षों में यह लुप्त-प्रायः रहा।.....
...

मिश्र और यूनान आदि के अतिप्राचीन लोग देवों और उनकी विभूतियों को थोड़ा सा समझते थे।

(क) मिश्र के प्राचीन विश्वास के विषय में मर्सर लिखता है-

Egyptians had their 'sacred writing'— 'writings of the words of the gods' often kept in a "house of sacred writings" (P.12, the religion of Ancient Egypt, mercer)

अर्थात् मिश्र के लोग अपने पवित्र लेख रखते थे। 'देवों के शब्दों का लेख' जिसे वे प्रायः 'पवित्र लेखों का घर' में रखते थे।

(ग) यूनान का प्रसिद्ध प्राचीन लेखक होमर (ईसा से ८०० वर्ष पूर्व) देवों की भाषा और मानवी भाषा का वर्णन अपने लेख में करता है- (The language of gods and of men – P.299-303, Asianic elements in Greek Civilization, Ramsay)

''अरस्तू देवों आदि के विषय को पूरा नहीं समझ पाया तत्पश्चात् देवविद्या योरोप से सर्वथा विलुप्त हो गयी।''

इसी सन्दर्भ में **महर्षि दयानन्द सरस्वती सत्यार्थ प्रकाश** के एकादश समुल्लास में लिखते हैं- **''जितनी विद्या भूगोल में फैली है, वह सब आर्यावर्त (भारत) देश से मिश्रवालों, उनसे यूनानी, उनसे रोम और उनसे यूरोप देश में उनसे अमेरिका आदि देशों में फैली है''** इसी कारण फ्रैंच विद्वान् जैकालयट ने कहा है- ''सब विद्या और भलाइयों का भण्डार आर्यावर्त देश है और सब विद्या तथा मत इसी देश से फैले हैं'' (बाइबल इन इण्डिया) -सत्यार्थ प्रकाश से उद्धृत।

वेद ज्ञान संस्कृत भाषा में ही क्यों

प्रश्न- परमात्मा ने सृष्टि की प्रथम पीढ़ी के अनेक मनुष्यों में केवल चार ऋषियों को ही ज्ञान क्यों दिया? क्या ईश्वर पक्षपाती है? फिर यह भी प्रश्न है कि परमात्मा ने अपना ज्ञान वैदिक भाषा अर्थात् संस्कृत भाषा में ही क्यों दिया? क्या इससे अन्य भाषा वालों के साथ भेदभाव वा दोष परमेश्वर पर नहीं आता है?

उत्तर- यह सत्य है कि सृष्टि की प्रथम पीढ़ी में अनेक स्त्री-पुरुष जोड़े उत्पन्न होते हैं। वे भी पूर्ण युवावस्था में पृथिवी रूपी गर्भ से उत्पन्न होते हैं। जो महानुभाव पूर्ण युवावस्था व भूमि से उत्पत्ति पर शंका करें, उन्हें **महर्षि दयानन्द** कृत **'सत्यार्थ-प्रकाश'** तथा मद्रचित **'सत्यार्थ प्रकाश उभरते प्रश्न-गरजते उत्तर'** नामक ग्रन्थों को पढ़ने का प्रयास करना चाहिए। विस्तारभय से हम इस विषय को यहाँ छोड़ रहे हैं। वैसे प्रत्येक वैज्ञानिक सोच वाला पाठक यह मानेगा कि प्रथम पीढ़ी की उत्पत्ति केवल इसी प्रकार सम्भव है।

उस प्रथम पीढ़ी में वे चार ऋषि ही सर्वोच्च योग्यता व सामर्थ्य वाले थे। इस कारण उन्हें ही ज्ञान दिया, जिससे कि वे सभी को ज्ञान प्रदान कर सकें। रही शंका संस्कृत-भाषा में ज्ञान देने की, तो तद्विषय में ज्ञातव्य है कि उस समय सम्पूर्ण मानव जाति में भाषा की उत्पत्ति हुयी ही नहीं थी। जो उत्पत्ति हुयी वह केवल संस्कृत वैदिक भाषा ही थी, वह भी वैदिक छन्दों के रूप में। बाद में उन ऋषियों ने इस भाषा को बोलचाल की भाषा में प्रयुक्त किया। कालान्तर में संस्कृत भाषा से अपभ्रष्ट होकर धीरे-२ विश्व में अनेक भाषाओं की उत्पत्ति हुई। अब तक सम्पूर्ण भूमण्डल पर संस्कृत भाषा ने ही सर्वाधिक शासन किया है। आज विश्व भर में यह तो सर्वमान्य तथ्य है कि संस्कृत भाषा ही सभी मानव भाषाओं की जननी है। इस कारण संस्कृत भाषा में ही ज्ञान देना अनिवार्यता भी थी और निष्पक्षता भी।

प्रश्न- यदि छन्द अन्य किसी भाषा हिन्दी, अंग्रेजी, चीनी, अरबी आदि में से किसी एक भाषा में होते और उस भाषा से अन्य भाषाओं की उत्पत्ति हो जाती, तो क्या कठिनाई थी? संस्कृत भाषा से ही ईश्वर को क्यों प्रेम था? क्या यह संस्कृत भाषाविदों की निजी कल्पना व पूर्वाग्रह नहीं है।

उत्तर- हाँ, जहाँ तक किसी एक भाषा की प्रथम उत्पत्ति का प्रश्न है, वहाँ तक तो आपका प्रश्न उचित व स्वाभाविक है। हम '**वैदिक सृष्टि उत्पत्ति विज्ञान**' नामक अध्याय में स्पष्ट करेंगे कि वैदिक संस्कृत भाषा के शब्दों का उसके अर्थ के साथ सम्बन्ध नित्य है। जिस शब्द का जो अर्थ होता है, वह अर्थ किसी मानव ने स्वकल्पना से मान नहीं लिया है, बल्कि **वह अर्थ उस शब्द से नित्य सम्बन्ध रखता है।** वह वस्तु विशेष, जब सर्गप्रकिया में निर्मित हो रही थी, तभी उस शब्द विशेष की उत्पत्ति भी हो रही थी। इस प्रकार **वैदिक संस्कृत भाषा में वाचक व वाच्य का सम्बन्ध नित्य है, प्राकृतिक है, ईश्वरीय है, मानवीय कदापि नहीं। यह विशेषता किसी भी अन्य भाषा में नहीं है। इस प्रकार वैदिक शब्द ही नित्य हैं, अन्य किसी भाषा के शब्द नहीं।** वैदिक शब्द ही प्राण रूप होकर सृष्टि के सभी पदार्थों के उपादान कारण भी हैं, जबकि यह विशेषता नाममात्र को भी किसी मानवीय भाषा में नहीं। इस कारण **वैदिक संस्कृत भाषा किसी वर्ग, देश वा सम्प्रदाय, यहां तक कि केवल पृथिवीस्थ मानव जाति की भाषा नहीं है, अपितु यह ब्रह्माण्डीय भाषा है।** वैदिक छन्द सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में प्राणवायु Vibrations के रूप में व्याप्त हैं। विभिन्न सूक्ष्म कणों की उत्पत्ति भी इन्हीं से हुई है। इस प्रकार **वैदिक संस्कृत भाषा पूर्ण वैज्ञानिक, शाश्वत व सार्वदेशिक होने से अत्यन्त व्यवस्थित है।** इसका व्याकरण अन्य किसी भी भाषा के व्याकरण की अपेक्षा व्यवस्थित है। आधुनिक काल में उपलब्ध एकमात्र प्रामाणिक व्याकरण आधार ग्रन्थ पाणिनीय अष्टाध्यायी आज भी विश्व भर के भाषा विज्ञानियों के लिए आश्चर्यजनक आदर्श है। इस अष्टाध्यायी के महत्व को वर्णित करने वाले कुछ कथन हम 'अष्टाध्यायी भाष्य प्रथमावृत्ति- पं. ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, संस्करण २०४२ विं.स. सन् १९८५ के प्राक्कथन से संक्षेप में उद्धृत करते हैं-

(१) तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुं किं पुनरियता सूत्रेण (महाभाष्य-१.१.१ चौखम्बा संस्करण)

अर्थात् उनका अर्थात् **भगवत् पाणिनि** का एक वर्ण भी अनर्थक नहीं, फिर इतने बड़े सूत्र की तो बात ही क्या? **महर्षि पतंजलि** पुनः कहते हैं-

सामर्थ्ययोगान्नहि किञ्चिदस्मिन् पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात् अर्थात् शास्त्र के सामर्थ्य से मैं इस शास्त्र में कुछ भी (कोई भी वर्ण या पद) ऐसा नहीं देखता, जो कि अनर्थक हो।

(२) चीनी यात्री ह्वेनसाङ्ग- शब्द एवं अक्षर विषयक कोई भी ज्ञान इससे शेष नहीं बचा।

(३) मोनियर विलियम्स- अष्टाध्यायी ग्रन्थ मानव मस्तिष्क की प्रतिभा का आश्चर्यतम भाग है, जो मानव मस्तिष्क के सामने आया।

(४) हण्टर- मानव मस्तिष्क का अतीव महत्वपूर्ण अविष्कार यह अष्टाध्यायी है।

(५) लेनिनग्राड के प्रो.टी.वात्सकी- मानव मस्तिष्क की यह अष्टाध्यायी सर्वश्रेष्ठ रचना है।

इस प्रकार संस्कृत भाषा के व्याकरण का यह ग्रन्थ विश्व में आज भी सबके सम्मान का पात्र है। इस ग्रन्थ से भी पूर्व अनेक वैयाकरण हुए हैं। कई वैयाकरणों का नाम **भगवत् पाणिनि** ने स्वयं अपनी अष्टाध्यायी में उल्लिखित किया है। जिस किसी भाषा का व्याकरण संसार में सर्वाधिक व्यवस्थित व चमत्कार का कारण हो, वही भाषा तो परमात्मा के द्वारा प्रथम उत्पन्न प्राकृतिक ब्रह्माण्डीय भाषा हो सकती है। इस कारण **संसार के सुविज्ञ जनों को चाहिए कि वे संस्कृत व वेद की ओर अवश्य बढ़ने का भारी प्रयास करें। इन पर मानव मात्र का साझा अधिकार है। संसार को आर्य्यावर्त्तीयों (भारतवासियों) का इसके लिए धन्यवाद करना चाहिए कि उन्होंने कम से कम इनको कुछ तो सुरक्षित रखा ही। इसके साथ ही वेदपाठी ब्राह्मणों का भी संसार को ऋणी होना चाहिए कि जिन्होंने इस महती सम्पदा को अपने कंठों में सुरक्षित रखकर विनाश से बचा लिया।**

इस प्रकार हम यह सिद्ध कर चुके कि **अग्नि, वायु** आदि चार ऋषियों में सर्वसृष्टा परमात्मा ने वैदिक छन्दों के माध्यम से ज्ञान व भाषा की उत्पत्ति की। इसी बात को **भगवान् मनु महाराज** ने कहा-

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञ सिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्।। (मनु.१.२३)

इसका अर्थ करते हुए **महर्षि दयानन्द** ने **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** एवं **सत्यार्थ प्रकाश** में लिखा- **अग्नि, वायु, आदित्य** एवं **अंगिरा** चार ऋषियों को ज्ञान दिया। यहाँ प्रायः प्रश्न उठाया जाता है कि वेद तीन हैं वा चार? इस पर हम चर्चा करके ग्रन्थ वा कलेवर नहीं बढ़ाना चाहते। इस पर महर्षि दयानन्दकृत ग्रन्थों के साथ अनेक आर्य विद्वानों ने पर्याप्त एवं निश्चयात्मक लिखा है। पाठक वहाँ देख सकते हैं। हाँ, वैदिक विद्या अवश्य ऋक, यजुः व साम इन तीन लक्षणों वाली है। इसका वैज्ञानिक अर्थात् आधिदैविक रूप हमारे इस ग्रन्थ में पदे-२ मिलेगा। यहाँ एक शंका विद्वानों में अवश्य ही उपस्थित हो सकती है, जिसका समाधान कदाचित् आर्य विद्वानों ने भी कहीं नहीं किया है, ऐसी हमारी जानकारी है। वह शंका यह कि **महर्षि दयानन्द** ने यहाँ **'अग्नि', 'वायु'** व **'रवि'** इन तीन नामों से **अग्नि, वायु, आदित्य** व **अंगिरा** इन चार का ग्रहण क्योंकर कर लिया? इसी प्रकार **सत्यार्थ प्रकाश** ग्रन्थ में **शतपथ** के प्रमाण से **अग्नि, वायु** व **सूर्य** से **'अग्नि, वायु, आदित्य** व **अंगिरा** इन चार नामों का ग्रहण क्योंकर किया? क्या यह मनमानी व पूर्वाग्रहग्रस्तता का प्रमाण नहीं है। वेद चार हैं व ऋषि भी चार हैं, इसके अनेक प्रमाण अन्यत्र अवश्य उपलब्ध हैं, परन्तु यहाँ दोनों स्थानों पर केवल तीन ही नाम हैं। वेद तो शैली भेद से चार के स्थान पर तीन मान लिए जाएं परन्तु व्यक्ति वाचक नामों में तीन से चार का ग्रहण कैसे होगा? दूसरा प्रश्न यह भी उठता है कि क्या किसी व्यक्ति के नाम के स्थान पर उसके पर्यायवाची शब्द का भी प्रयोग किया जा सकता है? ऐसा तो कदापि सम्भव नहीं है। तब यह **सूर्य** अथवा **रवि** का प्रयोग **आदित्य** के स्थान पर कैसे हुआ है?

वास्तव में दोनों ही शंकाए गम्भीर व महत्वपूर्ण हैं। हमारे विचार में इसका समाधान निम्नानुसार है-

आर्ष ग्रन्थों में यद्यपि प्रायः सर्वत्र एवं स्वयं वेद सहिताओं में भी चार प्रकार के वेद का वर्णन होने से वेद का तीन होना तो सम्भव नहीं है। अनेकत्र चार वेद के ज्ञान का चार ऋषियों के द्वारा ग्रहण करने का भी वर्णन है परन्तु यहाँ मनुस्मृति तथा सत्यार्थप्रकाश में उद्धृत प्रमाण में तीन ही नाम हैं। यहाँ वेद विद्या का शैलीगत विभाग तीन प्रकार से किया है, तब उनको चार नामों के साथ कैसे संगत करें, यह भी समस्या है। इसी कारण **'रवि'** व **'सूर्य'** दोनों में प्रत्येक शब्द से **आदित्य** व **अंगिरा** का ग्रहण किया प्रतीत होता है। यहाँ दोनों ही स्थानों पर **'आदित्य'** शब्द का प्रयोग नहीं है। यौगिक अर्थ की दृष्टि से आदित्य के पर्यायवाची रवि व सूर्य दोनों हैं तथा अंगिरा प्राण को कहते हैं। **''प्राणो**

वा अंगिरा" (श.६.१.२.२८)। महर्षि दयानन्द ने **यजुर्वेद ११.१५** में अंगिरा का अर्थ सूर्य किया है। सूर्य प्राणतत्व का सबसे बड़ा भण्डार है, इस कारण भी सूर्य से अंगिरा का ग्रहण किया। सूर्य में अनेक प्रकार की तीव्र विस्फोटजन्य ध्वनियां होते रहने से उसे रवि कहते हैं। इस प्रकार से **'रवि'** व **'सूर्य'** पदों से आदित्य व अंगिरा दोनों ऋषियों का ग्रहण त्रयी विद्या से सामंजस्य हेतु किया गया है। वस्तुतः अथर्ववेद में तीनों प्रकार की विद्या है। तब उसको केवल किसी एक विद्या से निर्दिष्ट करना सम्भव नहीं है, अतः विद्या की शैली की दृष्टि से वेद तीन ही दर्शाने पड़े। अब यह प्रश्न कि क्या व्यक्तियों के नामों में पर्यायवाची का प्रयोग साधु है? **हमारी दृष्टि में अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा ये व्यक्ति विशेष नहीं हैं, बल्कि जिन ऋषियों को क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद व अथर्ववेद का ज्ञान प्राप्त होता है, उनके नाम अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा ही होते हैं। ऐसा हर सृष्टि के आदि में होता है। इस प्रकार ये नाम यौगिक न सही परन्तु योगरूढ़ तो हैं ही, मानो ये नाम उनकी उपाधि हैं।** इस परिस्थिति में त्रयी विद्या के सामंजस्य में तीन पदों से चार पदों का ग्रहण पर्यायवाची के रूप में भी ग्रहण करना अनुचित नहीं है। फिर आर्ष प्रयोग साधु ही समझने चाहिए, वह वैदिक परम्परा है। हम मानवीय इतिहास में भी ऐसे कुछ प्रयोगों को देख सकते हैं। जहाँ '**राम**' शब्द से तीन महापुरुषों का ग्रहण होते देखा जाता है। वे तीन व्यक्ति हैं- **मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम, महर्षि परशुराम एवं वसुदेव पुत्र बलराम।** यहाँ 'रवि' वा 'सूर्य' से भी इसी प्रकार **आदित्य** व **अङ्गिरा** दोनों महर्षियों का ग्रहण करना चाहिए। अस्तु।

वेद विद्या के विषय में **भगवद् व्यास महर्षि महाभारत** शान्तिपर्व अध्याय २३२ में **शुकदेव** को कहते हैं-

अनादिनिधना विद्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।।२४
ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु सृष्टयः। नानारूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्त्तनम्।।२५
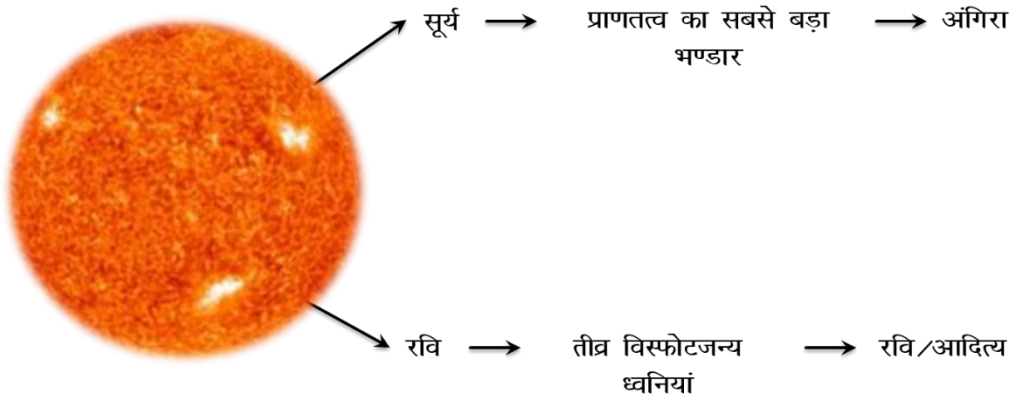
वेदशब्देभ्य एवादौ निर्मिमीते स ईश्वरः।।२६

अर्थात् परमब्रह्म परमात्मा ने अनादि वेदवाणी को उत्पन्न किया। यहाँ **'उत्सृष्ट'** शब्द वही संकेत कर रह है, जो **महर्षि याज्ञवल्क्य** ने **शतपथ ब्राह्मण** में ब्रह्म से श्वास-प्रश्वासवत् वाणी की उत्पत्ति बतायी है। यहाँ 'विद्या-वाक्' का तात्पर्य है कि वह वाणी, जिसमें यथार्थ ज्ञान भी हो अर्थात् वेदवाणी।।२४।।

विभिन्न ऋषियों के नाम अर्थात् ब्रह्माण्डस्थ ऋषि प्राणों के नाम, जिनसे मानव ऋषियों ने अपने नाम रखे। सृष्टि के जो-२ पदार्थ वैदिक छन्दरूप प्राणों में रचे गये, विभिन्न पदार्थों व प्राणियों के नाना रूप एवं उनके कर्मों को आदि सृष्टि में ईश्वर वैदिक शब्दों वा छन्दों से ही रचता है एवं उन्हीं के माध्यम से उनका वर्णन भी करता है।।२५-२६।।

यहाँ न केवल भाषा व ज्ञान के स्रोत वेद की चर्चा है, अपितु उस वेद अर्थात् प्राण (छन्द) समूहरूप वेद का भी संकेत है, जिससे सम्पूर्ण पदार्थों की उत्पत्ति होती है। वस्तुतः ये दोनों एक हैं। हम यह चर्चा **'वैदिक सृष्टि उत्पत्ति विज्ञान'** नामक अध्याय में करेंगे। यदि ऐसा न होता तो, **'भूतानां नानारूपं'** ये पद नहीं होते। कर्मों का प्रवर्त्तन तो भाषा व ज्ञान से हुआ परन्तु प्राणियों व पदार्थों का

रूप तो जड़ उपादान से ही बन सकेगा। कदाचित् **भगवान् व्यास** के इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर महाविद्वान् **भर्तृहरि** अपने **वाक्यपदीयम्** ग्रन्थ के ब्रह्म काण्ड के प्रथम श्लोक में लिखते हैं।

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्वं यदक्षरम्। विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।।

अर्थात् अनादि व अमर, अविनाशी शब्दतत्त्व रूप जो ब्रह्म है, वह अर्थ के भाव से विवर्त को प्राप्त होता है। इसका आशय है कि शब्द ब्रह्म अर्थात् मूल शब्द ओंकार सृष्टि रचना के प्रयोजन से विभिन्न वाणियों-छन्दों में परब्रह्म परमात्मा के द्वारा विस्तारित किया जाता है, पहिले सर्वत्र ओंकार रूपी वाक् व्याप्त हो जाती है, तदनन्तर समस्त वैदिक छन्द व्याप्त हो जाते हैं। इससे जगन्निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। उधर उस वेद-वाक् से समस्त मानव जगत् के व्यवहारों की प्रक्रिया भी चल पड़ती है। आर्षग्रन्थों के अधिक प्रमाण इस कारण नहीं दे रहे कि दुर्भाग्य से इन ग्रन्थों का आज संसार में तो क्या, भारत में भी सम्मान नहीं बचा है। **हम अपना ग्रन्थ विशेषकर उन विद्वानों के लिए लिख रहे हैं, जो विज्ञान व तर्क के ही सहारे आगे बढ़ने की वकालत करते हैं और अपने वैज्ञानिक वा बौद्धिक दम्भ में भरकर वेद वा आर्ष ग्रन्थों का उपहास वा निन्दा करने में अपना गौरव समझते हैं, अस्तु।**

इन चार ऋषियों ने सर्वप्रथम ज्ञान **महर्षि ब्रह्मा** को दिया। इससे यह स्पष्ट है कि **महर्षि ब्रह्मा** उसी आदि सृष्टि में भूमि से उत्पन्न हुए। **महर्षि ब्रह्मा** इन चार ऋषियों से ज्ञान प्राप्त करके विश्व में सर्वप्रथम चतुर्वेदवित् ऋषि हुए। फिर ज्ञान विज्ञान की परम्परा **महर्षि ब्रह्मा** से अद्य पर्यन्त सतत चली आ रही है। क्योंकि **महर्षि ब्रह्मा** ही प्रथम चतुर्वेदवित् थे, इस कारण उन्हें ही विद्या परम्परा का भारतीय परम्परा में आद्य पुरुष मान लिया गया है। इस परम्परा में **भगवान् मनु, भगवान् शिव, भगवान् विष्णु, देवराज इन्द्र, देवगुरु महर्षि बृहस्पति, सनत्कुमार, नारद, वसिष्ठ, अगस्त्य, भरद्वाज, वाल्मीकि, विश्वामित्र, व्यास, गोतम, पतंजलि, कणाद, यास्क, पाणिनि, जैमिनी,** आदि अनेकों ऋषि मुनियों के द्वारा विस्तृत ज्ञान विज्ञान से समृद्ध साहित्य सृजित हुआ था। इस प्रकार साहित्य शृंखला में अपौरुषेय चार वेद संहिताओं के पश्चात् अनेकों शाखा ग्रन्थ, मनुस्मृति, वाल्मीकि रामायण, महाभारत, ऐतरेय-शतपथ-गोपथ आदि ब्राह्मण ग्रन्थ, निरुक्त, व्याकरण, शिक्षा, कल्प, छः दर्शनशास्त्र (न्याय, सांख्य, वैशेषिक, योग, वेदान्त, मीमांसा) उपनिषद्, अनेक नीतिग्रन्थ आदि की अति समृद्ध परम्परा चलती रही। विश्वभर में वेदों से ज्ञान व भाषा का विकास हुआ है। इसके इतिहास के लिए पं.भगवद्दत्त रिसर्चस्कॉलर कृत 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' तथा पं. रघुनन्दन शर्मा कृत 'वैदिक सम्पत्ति' ग्रन्थ विशेष पठनीय व मननीय है। हमारा इस अध्याय को लिखने का प्रयोजन मात्र यही था कि ज्ञान व भाषा की प्रथम उत्पत्ति कहाँ से व कैसे होती है, जिस पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है।

यह तथ्य सर्वविदित है कि संसार का कोई भी देश अपनी विद्या व सभ्यता की परम्परा को मानव सृष्टिकाल से जोड़ने का साहस कभी नहीं करता। वर्तमान में विकासवाद का मिथ्या प्रचार, जो विज्ञान के नाम से प्रचलित है, के रहते सभी मानो स्वयं को पशुओं का वंशज मान कर मूर्ख पूर्वजों की सन्तान मानने को विवश हैं। **यह बात हमारी समझ में नहीं आती कि वर्तमान विज्ञान के अति आवेश में मानव स्वयं को पशुओं तथा जंगली मनुष्यों का वंशज कहलाने का हठ क्यों करता है? क्या ऐसा तो नहीं है कि पश्चिमी देशों के वैज्ञानिक अपने शोधकार्य को भी अपने साम्प्रदायिक सोच के दुराग्रह से मुक्त रख कर निष्पक्ष दृष्टि से विचारने का साहस नहीं कर पाते। कहीं वे इससे भयभीत तो नहीं होते कि स्वयं को महान् मनीषियों की संतान सिद्ध करने से उनके सम्प्रदाय की मान्यताएं ध्वस्त तथा वैदिक व भारतीय मान्यताएं सत्य सिद्ध हो जाएंगी।** वस्तुतः वेद विद्या के यथावत् बोध के न होने से वैदिक परम्परा को केवल हिन्दुओं अथवा भारतीय परम्परा मानकर साम्प्रदायिक वा क्षेत्रीय दृष्टि से ही देखा जाता है। दुर्भाग्य से इस देश के कथित वेदानुरागी वैदिक विद्वानों के साथ-२ कथित प्रबुद्ध वर्ग एवं राजनीति ही इस सबके लिए अधिक उत्तरादायी है। इसका वर्णन करना इस ग्रन्थ का प्रयोजन नहीं है। विवेकशील निष्पक्ष मनुष्य ज्ञान व भाषा की परम्परा के प्रारम्भ सम्बन्धी वर्तमान जगत् में प्रचलित विविध मतों से हमारे वैदिक मत की तुलना करके स्वयं ही सत्य का अनुभव कर सकेंगे।

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥

पञ्चमोऽध्यायः

आधुनिक सृष्टि उत्पत्ति विज्ञान समीक्षा

इस पृथिवी पर जब से मनुष्य ने जन्म लिया है, तभी से वह सृष्टि की उत्पत्ति एवं संचालन प्रक्रिया के विषय में जानने का प्रयास निरन्तर करता रहा है। इस समय भी पृथिवी पर जहाँ-२ भी मनुष्य बसते हैं, वे चाहे पढ़े लिखे हों अथवा अनपढ़, सभी किसी न किसी स्तर पर इस ब्रह्माण्ड के विषय में विचारते ही हैं। यह विचार उनके विभिन्न बौद्धिक स्तरों की दृष्टि से भिन्न-२ होता है। सभी सम्प्रदाय अपने पृथक्-२ दर्शनों द्वारा इस सृष्टि पर नाना प्रकार की कल्पनाएं लिए हुए हैं। उधर वर्तमान विज्ञान ने पिछले लगभग २००-३०० वर्षों से इस सृष्टि पर पर्याप्त विचार किया है। इस दिशा में सम्पूर्ण विश्व के वैज्ञानिक अहर्निश संगठित होकर भारी पुरुषार्थ कर रहे हैं। पुनरपि वर्तमान वैज्ञानिक जगत् में भी सृष्टि उत्पत्ति का कोई एक सर्वमान्य सिद्धान्त स्थापित नहीं हो सका है। **यह बड़े विस्मय एवं दुःख की बात है कि जो वर्तमान विज्ञान प्रेक्षण, प्रयोग एवं गणित का आश्रय लेकर पूर्ण सत्य को उद्घाटित करने का दावा करता है, वह भी भाँति-२ के गुटों, कल्पनाओं, दुराग्रहों में विभाजित हुआ प्रतीत होता है। गुटबन्दी व कल्पनाओं की किलेबन्दी के लिए तो विश्व के विभिन्न सम्प्रदाय ही बहुत हैं, कम से कम विज्ञान को तो ऐसी भ्रान्त धारणाओं से ग्रस्त नहीं होना चाहिए। वैज्ञानिक प्रयोग, प्रेक्षण व गणित का आश्रय लेने वाले विभिन्न गुट, क्यों अभी तक एक ध्रुव सत्य की खोज नहीं कर पाए हैं?** क्यों उनके भी पृथक्-२ मार्ग बने हुए हैं? क्यों उनमें भी सत्य ग्रहण व असत्य परित्याग की भावना नहीं है? क्यों उनमें अपनी दुर्बलता व दूसरे मत की सबलता को स्वीकार करने की उदारता नहीं है? **क्या आधुनिक विज्ञान की अनुसंधान प्रक्रिया भी दोषपूर्ण है?** यदि हाँ, तो उसे कैसे सत्यान्वेषी माना जाये? कैसे प्रयोग, प्रेक्षण व गणितीय निष्कर्षों को असंदिग्ध मान लिया जाये? कैसे इसे विज्ञान ही कहा जाये? जो प्रबुद्ध वा वैज्ञानिकता के पक्षधर महानुभाव हम अध्यात्मवादियों किंवा भारतीय संस्कृति, सभ्यता एवं वेदादि शास्त्रों पर गर्व करने वालों से वैदिक धर्म व दर्शन की वैज्ञानिकता के बारे में प्रश्न करते हैं, वे इसे बिना विचारे अवैज्ञानिक, रूढ़िवादी वा अन्धविश्वास आदि नाना विशेषणों से भूषित करते हैं, क्या वे अपने विज्ञान की वैज्ञानिकता को तलस्पर्शी विधि से जानने का प्रयास भी करते हैं? क्या वे कभी वर्तमान वैज्ञानिक मान्यताओं पर कोई प्रश्न खड़ा करने की इच्छा भी रखते हैं? अथवा उस पर बुद्धि के नेत्र बन्द करके पूर्ण विश्वास कर लेते हैं। यदि हाँ, तो इसी का नाम है, अंधविश्वास, इसी का नाम है, रूढ़िवाद। कम से कम विज्ञान के क्षेत्र में तो ऐसा नहीं होना चाहिए। इस क्षेत्र में पक्षपात, हठ व दुराग्रह नहीं होना चाहिए। खेद है कि आज विकसित विज्ञान में भी यह सब कुछ हो रहा है।

वैज्ञानिक तथ्य सर्वथा असंदिग्ध नहीं

इस विषय में सर्वप्रथम हम प्रयोग, प्रेक्षण व गणित की असंदिग्धता पर वर्तमान महान् वैज्ञानिकों के विचार ही उद्धृत् करते हैं-

प्रसिद्ध ब्रिटिश भौतिक शास्त्री Stephen Hawking का कथन है-

"Any physical theory is always provisional in the sense that it is only a hypothesis, you can never prove it. No matter how many times the result of experiments agree with some theory. you can never be sure that the next time a result will not contradict the theory, on the other hand you can disprove a theory by finding even a single observation that disagree with the predictions." (A Briefer History of Time- P.14)

इसका भाव यह है कि कोई भी भौतिक सिद्धान्त अस्थायी होता है। वस्तुतः एक परिकल्पना ही होता है। आप उसे कभी सिद्ध नहीं कर सकते, भले ही उसे आपने कई बार प्रयोगों से परीक्षित कर लिया हो। आप इसे सुनिश्चित नहीं कर सकते कि आगामी किसी प्रयोग में विपरीत निष्कर्ष प्राप्त न होवे। आपका कोई एक भी विपरीत निष्कर्ष आपकी कई भविष्यवाणियों को असिद्ध कर सकता है।

इसी प्रकार का विचार विश्वप्रसिद्ध भौतिक शास्त्री सर अल्बर्ट आइंस्टीन ने व्यक्त करते हुए लिखा है-

"No amount of experimentation can ever prove me right, a single experiment can prove me wrong." (Meeting the standards in primary science- By Lymn D. Newton, p.21 से उद्धृत)

इसी पुस्तक का लेखक पृ.सं. २१ पर ही ऑस्ट्रिया के दार्शनिक Karl Pooper को उद्धृत करते हुए लिखता है-

.....you can never prove or verify a theory, you can only ever disprove it. So investigations and experiments serve the purpose of testing the idea but not to prove it to be true.

यहाँ भी वर्तमान विज्ञान की असंदिग्धता पर प्रश्न चिह्न लगाया गया है।

Stephen Hawking के ही साथी Roger Penrose का भी यही मत है, वे लिखते हैं-

"One might have thought that there is no real danger here because if the direction is wrong the experiment would disprove it, so that some new direction would be forced upon us. this is the traditional picture of how science progresses- But I fear that this is too stringent a criterion and definitely too idealistic a view of science in this modern world of 'Big Science'. (The Road To Reality- P.1020)

इसका आशय यह है कि कोई वैज्ञानिक यह विचार सकता है कि विज्ञान में कोई संकट नहीं है अर्थात् उसके सभी निष्कर्ष सत्य ही होते हैं। वह मान सकता है कि यदि निष्कर्ष गलत होता, तो उसे प्रयोग व परीक्षण ही असिद्ध कर देते और दूसरी पृथक् निष्कर्षयुक्त दिशा प्राप्त हो जाती। इस पर लेखक लिखता है कि आधुनिक विज्ञान का यह विचार अधिक ही कट्टर और आदर्शवादी है।

विज्ञान की प्रायोगिकता के विषय में इन दो वैज्ञानिकों की टिप्पणी के पश्चात् इसके गणितीय आधार पर भी हम प्रख्यात अमरीकी वैज्ञानिक Richard P. Feynman के विचारों को उद्धृत करते हैं-

"But mathematical definitions can never work in the real world. A mathematical definition will be good for mathematics, in which all the logic can be followed out completely, but the physical world is complex. (Lectures on Physics- P.148)

अर्थात् गणितीय व्याख्याएं कभी भी वास्तविक संसार में कार्य नहीं करतीं। ये व्याख्याएं गणित के लिए तो अच्छी हैं, जहाँ ये व्याख्याएं पूर्णतः तर्क का अनुसरण करती हैं परन्तु भौतिक संसार बहुत जटिल है।

इन तीनों वैज्ञानिकों के मत से सहमति रखते हुए एक अन्य वैज्ञानिक James Clerk Maxwell का कथन है-

"The true logic of the world is in the calcululs of probabilities" (वही पृ.६४)

इसका भाव यह है कि संसार वास्तव में सम्भावनाओं का गणित है।

Feynman बड़े ही स्पष्ट शब्दों में स्वीकारते हैं-

"We do not yet known all basic laws. There is an expanding frontier of ignorance. (वही पृ. ०१)

अर्थात् अभी तक वैज्ञानिक विज्ञान के मूल सिद्धान्तों को नहीं जान पाये हैं।

अब वर्तमान विज्ञान का एक विचित्र लक्षण भी देखें। Stephen Hawking ने अपनी वेबसाइट www.hawking.org.uk पर एक स्थान पर लिखा है-

One can not ask whether the model represents reality, only whether it works. A model is a good model if first it interprets a wide range of observations, in terms of a simple and elegant model. And second, if the model makes definite predictions that can be tested and possibly falsified by observation.

यहाँ हॉकिंग स्वयं वर्तमान विज्ञान के खोखलेपन किंवा अनेकत्र मिथ्यापन को न केवल स्वीकार कर रहे हैं, अपितु प्रेक्षणों द्वारा मिथ्या सिद्ध हो सकने को विज्ञान का एक लक्षण वा विशेषता भी घोषित कर रहे हैं। **ऐसा मिथ्या सिद्ध हो सकने वाला विज्ञान कैसे किसी सत्यपिपासु वा सत्यव्रती के लिए प्रमाण बन सकता है? क्या हम वैदिक वैज्ञानिकों को ऐसे विज्ञान से सत्यता का प्रमाणपत्र लेने की आवश्यकता है?**

यहाँ इस सबको उद्धृत् करने का अभिप्राय यह है कि आधुनिक प्रबुद्ध वर्तमान विज्ञान के प्रवाह में प्राचीन ज्ञान विज्ञान का उपहास करते हैं, उन्हें यह बोध हो जाये कि विज्ञान के सभी सिद्धान्त सर्वथा असंदिग्ध एवं पूर्ण नहीं हैं। इतना कहने के उपरान्त भी मेरा तात्पर्य विज्ञान के प्रयोगों, प्रेक्षणों वा गणितीय व्याख्याओं की अनावश्यकता सिद्ध करना नहीं, बल्कि केवल यही बतलाना मात्र है कि विज्ञान के निष्कर्ष भी सर्वांश में प्रामाणिक नहीं होते। जैसे-२ प्रयोग परीक्षणों की तकनीक विकसित होती जाती है तथा गणित का उच्च व उच्चतर विकास होता जाता है, वैसे-२ विज्ञान के निष्कर्ष संशोधित वा परिवर्तित होते चले जाते हैं। यह विज्ञान की गतिशीलता वा परिवर्तनशीलता है, जो अच्छी बात अवश्य है परन्तु यह कोई गौरव की बात नहीं है। **वस्तुतः वर्तमान विज्ञान निरन्तर भूलें करने, फिर उन्हें सुधारने का प्रयास करने में धन व श्रम का व्यय करता रहता है और यही उसकी विडम्बना है।** अपनी इसी परम्परा पर गतिमान विज्ञान जो भी अनुसंधान कर रहा है, उससे सुविधाओं के साथ दुविधाओं को भी निरन्तर संगृहीत करता जा रहा है।

अब हम सृष्टिउत्पत्ति के आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्तों की चर्चा प्रारम्भ करते हैं।

बिग बैंग सिद्धान्त की परीक्षा

वर्तमान में विश्व में सर्वाधिक प्रसिद्ध अर्थात् प्रचलित सिद्धान्त है- ''महाविस्फोट का सिद्धान्त'' (Big Bang Theory) इस सिद्धान्त पर हम संक्षिप्त चर्चा करते हैं-

१९२९ में अमरीकी वैज्ञानिक एडविन हबल ने यह खोज की कि इस ब्रह्माण्ड में विभिन्न गैलेक्सियां एक-दूसरे से दूर भाग रही हैं। वस्तुतः उन्हें यह ज्ञात हुआ कि विभिन्न गैलेक्सियों से आने वाले प्रकाश की आवृत्ति निरन्तर न्यूनतर हो रही है। इससे उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि डॉप्लर प्रभाव के कारण प्रकाश की आवृत्ति न्यूनतर होती जा रही है। इससे उन्होंने घोषणा की कि सभी गैलेक्सियां निरन्तर एक-दूसरे से दूर भाग रही हैं। इस खोज के पश्चात् वैज्ञानिकों को प्रतीत हुआ कि ब्रह्माण्ड के इस निरन्तर प्रसार से यह सिद्ध है कि ये सभी गैलेक्सियां सर्वप्रथम एक ही स्थान पर एकत्रित थीं। यहाँ तक कि समूचा ब्रह्माण्ड एक बिन्दु रूप में विद्यमान था, जिसमें अकस्मात् महाविस्फोट होने से सम्पूर्ण पदार्थ दूर-२ बिखर कर भागने लगा और तभी से ये गैलेक्सियां दूर भागती
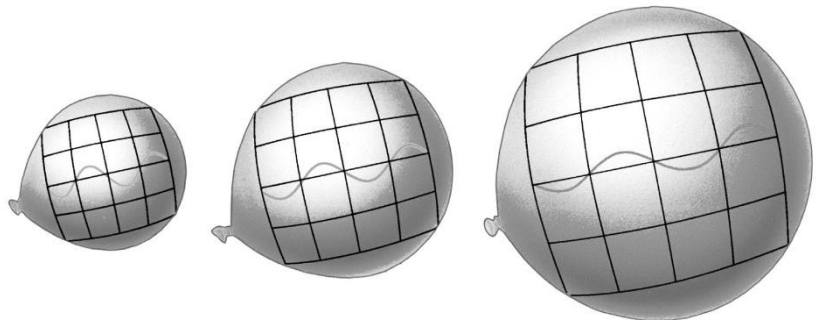
चली आ रही हैं। गैलेक्सियों के परस्पर भागने का वेग V=HL माना जाता है

जहाँ H = हबल स्थिरांक, V = वेग तथा L = दो गैलेक्सियों के मध्य दूरी

(Cosmology- the Science of the Universe, second edition P.280 By- Edward Harrison)

इस खोज के उपरान्त ही संसार के वैज्ञानिक जगत् में Big Bang की कल्पना प्रारम्भ हो गयी। इस खोज को विश्व में एक महती उपलब्धि के रूप में देखा व जाना गया। ब्रह्माण्ड के प्रसारण के सिद्धान्त पर नोबेल पुरस्कार भी मिले। वर्तमान सृष्टिविज्ञानियों में शीर्ष अमरीकी वैज्ञानिक Alan Guth के मत को रेखांकित करते हुए Stephen Hawking ने "A Briefer History of Time" के पृष्ठ १३४ पर लिखा है-

"Alan Guth, suggested that the early universe might have gone through a period of very rapid expansion ...... According to Guth, the radius of the universe increased by a million million million million million (10^{30}) times in only tiny fraction of a second. Guth suggested that the universe started out from the big bang in a very hot, but rather chaotic state."

अब बिग बैंग के समय की स्थिति पर वर्तमान विज्ञान का मत इस प्रकार है-

आयतन= शून्य। इस विषय में Stephen Hawking का मत है-

"The entire universe was squashed into single point with zero size like a sphere of radius zero." (A Briefer History of Time- P.68)

Hawking अपनी पुस्तक Brief History of Time के पृष्ठ १२३ पर भी लिखते हैं-

"At the Big Bang itself, the universe is thought to have had zero size, and so to have been infinitely hot."

अनेक वैज्ञानिकों ने इसे स्वीकार किया है। दिनांक १६.१२.२००६ को येरुशलम विश्वविद्यालय में Hawking ने अपने मत में आंशिक संशोधन इस प्रकार किया-

"A point of infinite density." इससे संकेत मिलता है कि यहाँ आयतन शून्य के स्थान पर ब्रह्माण्ड को point size वाला मान रहे हैं। यहाँ Hawking ने इस point को शून्य त्रिज्या वाला नहीं कहा है परन्तु कोई माप भी नहीं बताई है।

इसके पश्चात् जुलाई २०१० में डिस्कवरी टी.वी. चैनल पर हॉकिंग ने उसका आकार Atom से भी सूक्ष्म कहा। हमें ऐसा प्रतीत होता है, जब भारतीय खगोलशास्त्री प्रो. आभास मित्रा ने सन २००४ में अपने एक शोध पत्र, जो अन्तर्राष्ट्रिय वैज्ञानिक पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ, में यह निष्कर्ष दिया कि कोई भी Black Hole कभी भी शून्य आकार को प्राप्त नहीं कर सकता। यदि ऐसा हुआ तो उसका द्रव्यमान भी शून्य ही होगा। वैज्ञानिक तो प्रारम्भिक ब्रह्माण्ड का द्रव्यमान अनन्त मानते हैं, तब उसका आयतन शून्य कैसे मानें? इस कारण प्रतीत होता है कि हॉकिंग शनैः-२ बिग बैंग के समय आयतन को शून्य कहने से बचने लगे। उसी समय अगस्त २००४ में World Congress of Vaidic Science, Banglore में अपने पत्र वाचन में मैंने सिद्ध किया कि शून्य आयतन में अनन्त द्रव्यमान वा अनन्त ऊर्जा का होना सम्भव ही नहीं, बल्कि शून्य आयतन में किंचिदपि द्रव्यमान व ऊर्जा का होना सम्भव नहीं है। Big Bang Theory का खण्डन करने वाला मैं उस Congress में एकमात्र वक्ता था। इसी के पश्चात् मैंने प्रो. मित्रा जी से भेंट की थी। बिग बैंग थ्योरी के खण्डन में लिखी अपनी एक पुस्तक १६ अप्रैल २००६ में Stephen Hawking को भी भेजी थी। हम अनुभव करते हैं कि उसके

पश्चात् हॉंकिंग साहब का मत कुछ-२ परिवर्तित होता गया है। उधर Arthur Beiser का भी कथन है-

"The observed uniform expansion of the universe points to a big bang around 13 billion years ago that started from a singularity in spacetime, a point whose energy, density and spacetime curvature were both infinite." (Concepts of Modern Physics P.498)

अब हम इस पर विचार करते हैं कि यदि कभी बिग बैंग हुआ भी, तो उस समय बीज रूप ब्रह्माण्ड का आकार शून्य आयतन वाला क्यों नहीं हो सकता? वर्तमान विज्ञान की मान्यता के अनुसार उस समय

$$V = 0, \quad M = \infty, \quad \rho = \infty, \quad T = \infty$$

अर्थात् आयतन शून्य तथा द्रव्यमान, घनत्व तथा ताप-ऊर्जा अनन्त थे। मैं यह बात दृढ़ता से कहना चाहूंगा कि शून्य आयतन में द्रव्यमान, ऊर्जा, ताप आदि का परिमाण शून्य ही हो सकता है। अनन्त की तो बात ही क्या, बल्कि वहाँ इनकी विद्यमानता ही सम्भव नहीं। मैं पूछता हूँ कि क्या शून्य आयतन का अर्थ emptiness अर्थात् nothing नहीं है? उस nothing में अनन्त अर्थात् everything समाना तो दूर, बल्कि something भी नहीं समा सकता। क्या द्रव्यमान व ऊर्जा के लिए space की आवश्यकता नहीं है? यहाँ space का अर्थ हम कोई पदार्थ नहीं, बल्कि खाली स्थान emptiness ही ग्रहण करेंगे। वर्तमान विज्ञान मानता है कि ऊर्जा के quantas के लिए स्थान की आवश्यकता विशेष नहीं होती। एक ही स्थान पर अनेक quantas समा सकते हैं परन्तु किसी भी कण के विषय में ऐसा सम्भव नहीं है। हमारे मत में बिना किसी स्थान के कोई quanta भी नहीं रह सकता। यहाँ हमारा प्रश्न यह है कि उस समय ऊर्जा किस रूप में विद्यमान थी? वस्तुतः वर्तमान विज्ञान ऊर्जा के स्वरूप के विषय में पूर्ण स्पष्ट नहीं है। Richard P. Feynman का मत है-

"It is important to realize that in physics today, we have no knowledge of what energy is?" (Lectures on Physics- P. 40)

अर्थात् वर्तमान विज्ञान यह नहीं जानता कि energy क्या है? उसका स्वरूप क्या है? जब किसी पदार्थ के स्वरूप का यथावत् बोध न हो, तब हम उस पदार्थ के विषय में असंदिग्ध रूप से कैसे कह सकते हैं कि वह पदार्थ अनन्त मात्रा में बिना किसी अवकाश के रह सकता है। यहाँ कोई सज्जन यह तर्क कर सकते हैं कि अनन्त आवृत्ति की ऊर्जा तरंग की तरंग दैर्ध्य शून्य होगी, इस कारण उस तरंग के लिए अवकाश वा space की आवश्यकता नहीं होगी। ऐसी अनन्त आवृत्ति की अनन्त तरंगों के लिए भी space अथवा अवकाश की आवश्यकता नहीं रहेगी। इस कारण अनन्त ऊर्जा भी शून्य आयतन में समा सकती है। दुर्जनतोष न्याय से यदि इसे मान भी लें, तब प्रश्न यह है कि इस अनन्त ऊर्जा के साथ-२ अनन्त द्रव्यमान भी माना जाता है, तब क्या द्रव्यमान हेतु भी space वा अवकाश की आवश्यकता नहीं होगी? तब द्रव्यमान ऊर्जा का होगा वा द्रव्य का? यदि वह अनन्त द्रव्यमान किसी द्रव्य का है, तब द्रव्य तो कथमपि बिना अवकाश वा आकाश के नहीं रह सकता। ऐसी स्थिति में शून्य आयतन में तो द्रव्य का अस्तित्व ही सम्भव नहीं है। यदि कोई यह माने कि यह द्रव्यमान ऊर्जा में ही विद्यमान होता है, तब हमारा प्रश्न यह है कि वर्तमान विज्ञान किसी भी quanta का विराम द्रव्यमान शून्य मानता है। यहाँ शून्य द्रव्यमान के लिए विराम अवस्था का होना अनिवार्य है। इसका तात्पर्य है कि गतिशील quanta का द्रव्यमान शून्य नहीं हो सकता। अब शून्य आयतन में विद्यमान ऊर्जा पर विचार करें। क्या वहाँ ऊर्जा तरंग रूप में गतिशील अवस्था में होती है, जिससे उसमें द्रव्यमान विद्यमान होता है और वह भी अनन्त मात्रा में? यदि हाँ, तब बिना space वा अवकाश के गति वा तरंग का होना सम्भव नहीं। यदि ऊर्जा विराम अवस्था में मानें, तब उसका द्रव्यमान शून्य ही होगा, अनन्त कदापि नहीं। इसके साथ ही घनत्व भी शून्य होगा। इस प्रकार वर्तमान विज्ञान की शून्य आयतन में अनन्त ऊर्जा, अनन्त द्रव्यमान एवं अनन्त घनत्व की अवधारणा किसी भी प्रकार पुष्ट नहीं हो पाती और Big Bang Theory का मूल आधार ही मिथ्या है। इस सिद्धान्त से ऐसा आभास होता है कि

इस विचारधारा के वैज्ञानिक अभाव से भाव की उत्पत्ति मानते हैं, शून्य से ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति मानते हैं। इस बात को छुपाने हेतु वे अनन्त ऊर्जा, अनन्त द्रव्यमान व अनन्त घनत्व की बात करते हैं, परन्तु शून्य अर्थात् अभाव से भाव की उत्पत्ति सम्भव ही नहीं है। इसी मत पर आगे कुछ और चर्चा प्रारम्भ करते हैं-

जब बिंग बैंग समर्थकों से यह प्रश्न किया जाता है कि बिग बैंग से ठीक पूर्व क्या था? तब ये वैज्ञानिक कहते हैं कि बिग बैंग से पूर्व काल व आकाश दोनों ही नहीं थे, तब यह प्रश्न व्यर्थ है कि बिग बैंग से पूर्व क्या था? **मैं जानना चाहता हूँ कि आकाश व काल के न होने का क्या अर्थ है? काल एवं आकाश के विषय में अभी तक विज्ञान अंधेरे में है।** इसी मत को पुष्ट करते हुए Richard P. Feynman ने भी लिखा है-

"In the first place, what do you mean by time and space? It turns out that these deep philosophical questions have to be analyzed very carefully in physics, and this is not so easy to do" (Lectures on Physics- P. 96)

जब काल व आकाश का स्वरूप ही निश्चित नहीं, तब कैसे कह सकते हैं कि बिग बैंग से पूर्व इन दोनों का ही अभाव था। काल व आकाश के वे कौन से लक्षण होते हैं, जो बिग बैंग से पूर्व विद्यमान नहीं थे? तब, उनकी अविद्यमानता को हम कैसे जान सकते हैं? बिग बैंग क्यों हुआ? **काल व आकाश की उत्पत्ति बिग बैंग के साथ कैसे व किसने की?** इस बात का कोई उत्तर इस मत के मानने वालों के पास नहीं है। मैं इस मत के समर्थकों से पूछना चाहता हूँ कि महाविस्फोट किसमें हुआ? क्या शून्य में? उस समय जब काल व आकाश दोनों नहीं थे, तब उस शून्य आयतन में अनन्त द्रव्यमान एवं अनन्त ऊर्जा वाले पदार्थ में कोई क्रिया, गति आदि का होना सम्भव नहीं क्योंकि क्रिया व गति आदि के लिए space वा अवकाश व काल का होना भी अनिवार्य है। इन दोनों के न होने पर किसी विस्फोट की सम्भावना ही कैसे हो सकती है? किसी भी पदार्थ में विस्फोट से ठीक पूर्व कुछ तो हलचल होगी। जब काल व आकाश ही नहीं, तो हल्की हलचल भी उत्पन्न कैसे व किसमें होगी? इस विषय पर प्रख्यात भारतीय खगोलशास्त्री प्रो. आभास मित्रा के साथ पत्राचार के समय उन्होंने मुझे एक पत्र में बिग बैंग पर प्रतिक्रिया देते हुए लिखा-

"Big Bang began from a singularity. The question would arise then what happened before big bang? To avoid this question big bang supporters after this cyclic logic. There was no time, no space before big bang, so one can not question 'what was there before B.B.' Indeed if there was nothing not even time and space why should B.B. happen. B.B. supporters avoid this with various crooked and pseudo philosophical answer....."

इससे स्पष्ट होता है कि प्रो. आभास मित्रा बिग बैंग समर्थकों के इस मत कि काल व आकाश नहीं थे, को बेईमानी भरा व मिथ्या उत्तर मानते हैं। इस पर कोई महानुभाव यह न विचारे कि मैंने मित्रा साहब की टिप्पणी के कारण ही बिग बैंग पर पूर्वोक्त प्रश्न उपस्थित किया है। वस्तुतः तो मैंने मित्रा साहब के इस पत्र के पूर्व ही २६.०८.२०१३ को बारह प्रश्न जिनमें से एक प्रश्न पूर्वोक्त प्रकार का भी था, विश्व के अनेक देशों के वैज्ञानिकों वा वैज्ञानिक संस्थानों को भेजे थे। मैंने बिग बैंग समर्थकों से उन बारह प्रश्नों में से एक प्रश्न पर यही टिप्पणी की थी, जो मित्रा साहब ने की है। यह बात स्वयं मित्रा साहब जानते हैं कि मैं सन् २००४ से ही बिग बैंग सिद्धान्त पर अनेक गम्भीर प्रश्न खड़े करता रहा हूँ। अब यदि यह भी मान लें कि शून्य में ही विस्फोट हो गया, तब भी अनेक प्रश्न अनुत्तरित रह जाते हैं। जिस स्थान विशेष, जो **बिग बैंग समर्थकों के मत में शून्य ही था, में विस्फोट हुआ, तब जो पदार्थ बिखरा, वहाँ बिना अवकाश वा space के कहाँ बिखरा?** जिसमें विस्फोट हुआ वहाँ भी स्थान शून्य था और उसके बाहर भी space नहीं था, तब वह पदार्थ कहाँ व कैसे फैला? यह प्रश्न उत्तर की अपेक्षा रखता है। वर्तमान विज्ञान की दृष्टि में बिग बैंग के पूर्व अथवा तुरन्त पश्चात् की अवस्था पर भौतिकी के नियम प्रकाश नहीं डाल सकते। **वर्तमान विज्ञान अनेक स्थिरांकों में बंधा हुआ स्वयं को ऐसा**

बंधक बना लेता है, जहाँ उसे उन बंधनों से मुक्त होने का विचार भी नहीं आता। प्लांक समय, प्लांक दूरी के आगे वह अपनी बुद्धि को अनावश्यक रूप से स्वयं ही असमर्थ मान लेता है, यह बड़े अज्ञान की बात है। जहाँ हमारी तकनीक की सीमा नहीं हो, वहाँ तर्क का प्रयोग तो करना ही चाहिए। बिग बैंग के प्लांक समय अर्थात् 10^{-43} सेकण्ड पश्चात् से भौतिकी के नियम प्रारम्भ होते हैं। अमरीकी वैज्ञानिक J.H. Weaver ने The World of Physics में 10^{-43} sec. समय पश्चात् ब्रह्माण्ड का आकार 10^{-15} m. तथा घनत्व 10^{94} gm/cm^3 बताया है। इससे स्पष्ट है कि विस्फोट के समय पदार्थ के प्रसार की गति 10^{28} m/sec. थी। इधर वर्तमान विज्ञान के अनुसार किसी भी पदार्थ की गति प्रकाश की गति 10^8 m/sec. से अधिक नहीं हो सकती। इस दुविधा को मिटाने हेतु बिग बैंग समर्थक एक नई कल्पना को प्रस्तुत करते हैं। इस विषय में अमेरिकी खगोल वैज्ञानिक John Gribbin ने लिखा है-

"This inflation is that in a sense it proceeds faster than light..... This is possible because it is space itself that is expanding- nothing is travelling 'through space' at this speed." (The Origin of The Future- Ten Questions for the next ten Questions, P. 61)

अर्थात् बिग बैंग के समय ब्रह्माण्ड का फैलाव प्रकाश की गति की अपेक्षा बहुत अधिक तीव्र गति से होता है। ऐसा इस कारण सम्भव हो पाता है क्योंकि बिग बैंग में पदार्थ नहीं, बल्कि space ही फैलता है। इस कथन से निम्न निष्कर्ष प्राप्त होता है-

(१) space के प्रसार में सापेक्षता के सिद्धान्त का उल्लंघन होता है।

(२) space स्वयं एक पदार्थ है, जिसमें आकुंचन व प्रसारण दोनों ही कर्म होते हैं। यदि यह पदार्थ है, तब पदार्थ के रहने के लिए अवकाश अवश्य चाहिए। कोई भी पदार्थ बिना अवकाश के कैसे रहे? जिस बिन्दु विशेष में विस्फोट हुआ, उसके बाहर यदि अवकाश (emptiness) नहीं था, तो space नामक पदार्थ का फैलाव कैसे हुआ? यदि ये कहें कि Big Bang के समय space व time नहीं थे परन्तु अकस्मात् धमाके के साथ दोनों की उत्पत्ति हो गयी। आश्चर्य है कि यह सिद्धान्त ऊर्जा, द्रव्यमान से युक्त पदार्थ की सत्ता को तो मानता है परन्तु space एवं time की सत्ता को स्वीकार नहीं करता। क्या यहाँ अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं मानी जा रही? कारण-कार्य के नियम के विषय में Arthur Beiser का कथन है-

"cause and effect are still related in quantum machanics, but what they concern needs careful interpretation." (Concepts of Modern Physics- P. 161)

इससे संकेत मिलता है कि कारण-कार्य का नियम वर्तमान क्वाण्टम फिजिक्स को भी स्वीकार्य है, तब बिग बैंग के समय अभाव से आकाश व काल की उत्पत्ति कैसे मानी जाती है? यहाँ कोई बिग बैंग समर्थक यह कह सकता है कि बिग बैंग के समय अथवा उसके पूर्व भौतिकी के कोई नियम काम नहीं करते। इस कारण क्वाण्टम फिजिक्स में मान्य कारण-कार्य का नियम भी वहाँ काम नहीं करता, इससे अभाव से भाव की उत्पत्ति में कोई बाधा नहीं। आश्चर्य है कि भौतिकी के नियमों के साथ तर्क को अपना आधार बताने वाला **वैज्ञानिक बिग बैंग मॉडल की हठ में भौतिक के मूलभूत नियमों के साथ तर्क को भी उपेक्षित कर देते हैं और अध्यात्मवादियों से तर्क व विज्ञान को अपनाने की बात करते हैं। यह सत्यान्वेषक विज्ञान के लिए उचित नहीं है।**

यहाँ तक हमने केवल विस्फोट प्रक्रिया व उसके प्रारम्भ पर ही आपत्ति की है, जिसका समाधान पिछले लगभग ११-१२ वर्षों में मुम्बई के भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र एवं टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ फण्डामेण्टल रिसर्च तथा अन्यत्र अनेक अन्य वैज्ञानिकों के साथ प्रत्यक्ष संवाद में नहीं मिला। अब हम एक वैज्ञानिक Steven Weinberg जिन्हें १९७९ में नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया था, Big Bang के विषय में एक अन्य कथन उद्धृत् करते हैं-

"in the beginning there was an explosion. Not an explosion like those familiar on earth, starting from a definite centre and spreading out to engulf more and more of the circumambient air, but an explosion which occurred simultaneously everywhere, filling all space from the beginning, with every particle of matter rushing apart from every other particle. All space in this context may mean either all of an infinite universe, or all of a finite universe which curves back on itself like the surface of a sphere." (The First Three Minutes- A Modern view of the Origin of the Universe P. 14)

यहाँ बिग बैंग का एक सर्वथा पृथक् व नवीन स्वरूप ही प्रकट किया गया है। इसमें शून्य आयतन में अनन्त द्रव्यमान, अनन्त ऊर्जा व अनन्त घनत्व की कोई चर्चा नहीं है। यहाँ सर्वत्र एक साथ ही अकस्मात् असंख्य विस्फोट होकर पदार्थ में तीव्र विक्षोभ व संघर्षण होता है। इस कथन के साथ ही इसी पुस्तक में Steven Weinberg ब्रह्माण्ड के प्रसार पर भी विस्तार से प्रकाश डालते हैं। इतना होने पर भी वे बड़ी स्पष्टता से लिखते हैं-

"I do not want to give the impression that everyone agrees with this interpretation of the red shift. we do not actually observe galaxies rushing away from us, all we are sure of is that the lines in there spectra are shifted to the red, i.e. towards longer wavelengths. There are eminent astronomers who doubts that red shifts have anything to do with Doppler shifts or with an expansion of the universe. (वही- पृ. ३७)

इससे संकेत मिलता है कि वे ब्रह्माण्ड के प्रसार के सिद्धान्त पर दृढ़ता से विश्वास नहीं करते हैं तथा अनेक वैज्ञानिकों की ब्रह्माण्ड प्रसार के सिद्धान्त की धारणा पर शंका की ओर भी संकेत करते हैं। वे वैज्ञानिक red shift का कारण ब्रह्माण्ड के प्रसार के कारण उत्पन्न Doppler effect का होना नहीं मानते हैं।

वस्तुतः एडविन हबल द्वारा देखी गयी red shift का कारण Doppler effect को माना जाता है और इससे ब्रह्माण्ड के प्रसार की पुष्टि की जाती है।

ऊर्जा व द्रव्य के संरक्षण सिद्धान्त का भंग होना

अब हम कथित Big Bang के पश्चात् पदार्थ के वेग की मीमांसा करते हैं। Steven Weinberg के मॉडल में ब्रह्माण्ड के प्रसार की गति प्रकाश वेग से अधिक होने की कोई आवश्यकता ही अनुभव नहीं होती। इस कारण वे अपनी पूर्वोक्त पुस्तक में Big Bang के प्रारम्भ के विषय में स्पष्ट लिखते हैं-

"Unfortunately, I can not start the film at zero time and infinite temperature. Above a threshold temperature of fifteen hundred thousand million degrees kelvin (1.5×10^{12} °K) the universe would contain large numbers of the particles....." (P. 102)

स्पष्टतः यहाँ अन्य बिग बैंग समर्थक वैज्ञानिकों की भाँति अनन्त ऊर्जा-ताप व अनन्त द्रव्यमान से बिग बैंग के प्रारम्भ होने की चर्चा से बचना ही उचित समझा है। प्लांक समय 10^{-43} सेकण्ड से ब्रह्माण्ड की स्थिति जहाँ ताप 10^{32} °K माना जाता है, के वर्णन की चर्चा भी यहाँ नहीं की गयी है।

Steven Weinberg अपनी पुस्तक में ब्रह्माण्ड के प्रसार की चर्चा करते हुए भी पदार्थ का वेग प्रकाश वेग से अधिक नहीं मानते हैं, जबकि पूर्वोक्त प्रचलित बिग बैंग सिद्धान्त में यह प्रारम्भिक वेग

10^{28} m/sec. माना गया है। यह वेग किसी कण वा क्वाण्टा का नहीं हो सकता, इसके कारण बिग बैंग की कल्पना को पुष्ट करने हेतु space के प्रसार की नई कल्पना गढ़ ली गयी। एक मिथ्या को छुपाने के लिए अन्य मिथ्या बात का आश्रय लेना पड़ा। ऐसा क्यों करना पड़ा? इस विषय में हमारा मत है कि ऐसा न करने से प्लांक समय अर्थात् 10^{-43} sec. में प्रकाश वेग से ब्रह्माण्ड का आकार प्लांक लम्बाई 10^{-35} m. अर्थात् त्रिज्या का मानना पड़ता, जिससे द्रव्य-ऊर्जा संरक्षण का सिद्धान्त, जो वर्तमान विज्ञान की दृष्टि में प्रमाणभूत माना जाता है, नितान्त मिथ्या सिद्ध हो जाता। आइये, हम इसे इस प्रकार समझें-

10^{-43} sec. में ब्रह्माण्ड की त्रिज्या $= 10^{-35}$ m.

तब आयतन $= \sim 10^{-105}$ m³

घनत्व $= 10^{94}$ gm/cm³ अर्थात् 10^{97} kg/m³

द्रव्यमान $= 10^{-105} \times 10^{97} = 10^{-8}$ kg

उधर वर्तमान समय में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का द्रव्यमान लगभग 10^{54} kg मानते हैं। इस विषय में Richard L. Amoroso, Louis H. Kauffman, Petter Rowland अपनी पुस्तक "The Physics of Reality" के पृष्ठ ४३७ पर लिखते हैं-

"the mass of universe at the time of decoupling or recombination including atomic matter, dark matter, photons and neutrino is 1.2 $\times 10^{54}$ kg."

इस प्रकार 10^{-43} sec. समय पर ब्रह्माण्ड का जो द्रव्यमान था, वह अब बढ़कर $\frac{10^{54}}{10^{-8}} = 10^{62}$ गुना हो गया।

द्रव्यमान में इतनी भारी वृद्धि कैसे हो गयी? कोई कहे कि उस समय ऊर्जा की मात्रा अत्यधिक होने से फोटोन्स का बड़ा भाग विभिन्न कणों में परिवर्तित होकर द्रव्यमान में 10^{62} गुणी वृद्धि हो गयी। अब इस तर्क की भी परीक्षा करें।

Steven Weinberg ने पूर्वोक्त पुस्तक में पृष्ठ ६६ पर लिखा है-

"The number of photons in a given volume is proportional to the cube of the temperature."

इसके साथ ही इसी पुस्तक में पृष्ठ ७७ पर लिखा है-

"For a temperature of precisely 1⁰K there would be 20,282.9 photons per litre, so the 3⁰K radiation background contains about 5,50,000 photons per litre."

इस आधार पर 10^{-43} sec. के पश्चात् 10^{32} ⁰K ताप पर फोटोन्स का घनत्व $= 20{,}283 \times (10^{32})^3 = 20{,}283 \times 10^{96}$/litre। उस समय आयतन यदि प्लांक दूरी त्रिज्या मानें तो $10^{-105}\, m^3 = 10^{-102}$ litre होगा, तब उस समय कुल फोटोन्स की संख्या

$$= 20{,}283 \times 10^{96} \times 10^{-102}$$

$$= 20{,}283 \times 10^{-6}$$

अर्थात् 10^{-43} sec. समय पर 10^{32} ⁰K ताप होने पर भी गणना करने पर एक भी फोटोन प्राप्त नहीं होता। वर्तमान में Baryons : Photons का अनुपात John Gribbin ने The Origin

of the Future- ten questions for the next ten years के पृष्ठ ८१ पर $1:10^9$ बताया है। इस समय सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का द्रव्यमान लगभग 10^{54} kg माना जाता है। अनुमान की दृष्टि से हम एक बेरियॉन का द्रव्यमान औसत 10^{-27} kg मान लें, तब सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में वर्तमान में

$$\text{कुल बेरियॉन्स की संख्या} \sim \frac{10^{54}}{10^{-27}} = 10^{81}$$

$$\text{तब वर्तमान में कुल फोटोन्स की संख्या} \sim 10^{90}।$$

अब पाठक विचारें कि द्रव्यमान में वृद्धि हुई 10^{62} गुनी

$$\text{ऊर्जा में वृद्धि हुई} = \frac{10^{90}}{20{,}283 \times 10^{-6}} = \sim 10^{92} \text{ गुनी}$$

तब ऊर्जा व द्रव्य दोनों में कल्पनातीत वृद्धि से द्रव्य व ऊर्जा का संरक्षण का सिद्धान्त बड़ा ही हास्यास्पद स्थिति में होता, इसी कारण बिग बैंग समर्थकों ने पूर्वोक्तानुसार पदार्थ के स्थान पर space का 10^{28} m/sec. वेग से प्रसारित होना माना तथा इसी आधार पर 10^{-43}sec. बाद ब्रह्माण्ड की त्रिज्या 10^{-15} m. स्वीकार की गयी। space के प्रसारण पर हम अपनी आपत्ति व्यक्त कर ही चुके हैं।

अब हम इस धारणा पर भी संरक्षण सिद्धान्त की परीक्षा करते हैं-

पूर्वोक्तानुसार 10^{-43} sec. बाद ब्रह्माण्ड की त्रिज्या 10^{-15} m. मानने पर आयतन= $\sim(10^{-15})^3 = 10^{-45}\, m^3 = 10^{-42}$ litre। जैसा कि हम जानते हैं कि उस समय ताप माना जाता है $= 10^{32}\ {}^0$K

$$\text{इस कारण उस समय फोटोन्स का घनत्व} = 20{,}283 \times 10^{96}/\text{litre}$$

$$10^{-43} \text{ sec पर कुल फोटोन्स} = 20{,}283 \times 10^{96} \times 10^{-42}$$

$$= 20{,}283 \times 10^{54}$$

जब हम वर्तमान में ब्रह्माण्ड में फोटोन्स की कुल संख्या $\sim 10^{90}$ सिद्ध कर चुके हैं। इस प्रकार ऊर्जा में 10^{-43} sec से अब तक फोटोन्स की संख्या में

$$\frac{10^{90}}{20{,}283 \times 10^{54}} = \sim 10^{90-58} = \sim 10^{32}$$

गुनी वृद्धि हुई। अब इस पक्ष में द्रव्यमान में परिवर्तन पर विचार करते हैं-

$$10^{-43} \text{ sec. पश्चात् ब्रह्माण्ड का आयतन माना जाता है-}$$

$$\Rightarrow \quad \sim(-10^{15})^3 = \sim 10^{-45} \text{ घन मीटर}$$

$$\Rightarrow \quad \text{उस समय द्रव्यमान} \sim 10^{97} \times 10^{-45} = 10^{52} \text{ kg}$$

$$\text{एवं उस समय प्रसार की गति} = 10^{28} \text{ m/sec.}$$

अब पाठक विचारें कि वर्तमान ब्रह्माण्ड का द्रव्यमान $\sim 10^{54}$ kg माना जाता है, जिसे किसी प्रकार लगभग 10^{52} kg के बराबर कोई खींचतान करके मान भी ले परन्तु फोटोन्स की संख्या में 10^{34} गुनी वृद्धि कैसे हो गयी?

उधर अन्य कुछ वैज्ञानिकों का कथन है-

"our universe entirely made up of the small excess of matter the remained after annihilation." (Physics– vol.II P. 1189– Robert Resnik and Prof. David Halliday)

इससे यह स्पष्ट होता है कि ब्रह्माण्ड का द्रव्यमान पहिले अधिक था, जो बहुत कुछ ऊर्जा में परिवर्तित हो गया। शेष बचे भाग से ही ब्रह्माण्ड की रचना हुई है। इससे तो ब्रह्माण्ड का द्रव्यमान पूर्वापेक्षा कम होना चाहिए था परन्तु यहाँ बढ़ा ही है, वह भी अत्यधिक। **द्रव्यमान व ऊर्जा का संरक्षण सिद्धान्त ऐसी दुर्गति को प्राप्त कैसे करता है? इसका उत्तर बिग बैंग सिद्धान्त के पास नहीं है।**

इस प्रकार बिग बैंग सिद्धान्त, जिसमें कि शून्य आयतन से सृष्टि का प्रारम्भ माना जाता है, में 10^{-43} sec. पश्चात् से अब वर्तमान समय के बीच पदार्थ का संरक्षण किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता, भले ही विस्फोट में पदार्थ प्रकाश वेग से फैले, अथवा space स्वयं 10^{28} m/sec की गति से फैले।

आएं, अब शून्य समय से 10^{-43} sec. के मध्य ऊर्जा व द्रव्य के संरक्षण पर भी कुछ दृष्टि डालें-

बिग बैंग के समय

आयतन = 0, द्रव्यमान = ∞, ताप व ऊर्जा = ∞

फोटोन्स = ∞, घनत्व = ∞

विस्फोट के 10^{-43} sec. पश्चात्

आयतन = 10^{-105} m^3 अथवा 10^{-45} m^3 (पूर्वोक्त दोनों पक्षों में)

पूर्वोक्त दोनों पक्षों में द्रव्यमान = 10^{-8} kg अथवा 10^{52} kg

घनत्व = 10^{97} kg/m^3

ताप = 10^{32} ^{0}K

अब पाठक विचारें कि इस 10^{-43} sec. समयान्तराल में आयतन में वृद्धि के साथ-२ ऊर्जा, घनत्व, द्रव्यमान, ताप सबमें न्यूनता ही आयी है, तब ऊर्जा व द्रव्यमान का संरक्षण यहाँ भी भंग हो रहा है। तब, ऐसी स्थिति में यदि आधुनिक विज्ञान द्रव्यमान व ऊर्जा के संरक्षण के सिद्धान्त को सत्य मानता है, तब शून्य आयतन, अनन्त द्रव्यमान, ताप, ऊर्जा व घनत्व के कल्पित बिन्दु में महाविस्फोट का सिद्धान्त उपर्युक्त दोनों ही परिस्थितियों में मिथ्या सिद्ध हो जाता है। हाँ, यदि विज्ञान ऊर्जा व द्रव्य दोनों के कोई अन्य कारणभूत सूक्ष्म पदार्थ की सत्ता मानता है, तब वह विचारणीय अवश्य है, परन्तु विज्ञान ऐसा कुछ मानता नहीं है, ऐसी हमारी जानकारी है। बिग बैंग सिद्धान्त में ऊर्जा व द्रव्य के संरक्षण-भंग के अतिरिक्त हम अन्य ढंग से इस पर विचार करते हैं।

विस्फोट का कारण

जब सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड शून्य आयतन में समाया था और अनन्त ताप, ऊर्जा, द्रव्यमान व घनत्व को अपने अन्दर समेटे था। तब प्रश्न यह उठता है कि उस ऐसे अनिर्वचनीय पदार्थ में विस्फोट कैसे, किसने व क्यों किया? **आधुनिक विज्ञान क्यों, किसने एवं किसके लिए इन तीन प्रश्नों का उत्तर नहीं देता।** इस बात पर हम विचार ईश्वर तत्व के अस्तित्व की वैज्ञानिकता के प्रसंग में करेंगे। यहाँ इन प्रश्नों को उपेक्षित करते हुये भी यह तो विचार करेंगे ही कि बिग बैंग के ठीक पूर्व पदार्थ इतना सघन व गर्म कैसे होता है? इसके उत्तर में वैज्ञानिकों का कथन है कि उस समय grand unified force की ऐसी प्रबलता होती है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को संकुचित वा सघन करते हुए शून्य आयतन में बांधे

रखता है। तब ऐसी स्थिति में उस बल को अनन्त मानना होगा। अब अनन्त आकर्षण बल युक्त पदार्थ में विस्फोट कैसे हो सकता है? वैज्ञानिक इसके उत्तर में कहते हैं कि असीम शक्ति वाली डार्क एनर्जी के कारण उस अति सघन पदार्थ में अकस्मात् पूर्वोक्त महाविस्फोट हो जाता है। यहाँ प्रश्न यह है कि जब आकाश व काल की सत्ता भी नहीं मानी जाती है, तब डार्क एनर्जी की सत्ता कैसे व कहाँ मानी जा सकती है? वह डार्क एनर्जी उस पदार्थ के बाहर विद्यमान होती है वा उसके अन्दर? यदि डार्क एनर्जी उस असीम घनत्व वाले पदार्थ से बाहर थी, तब क्या बाहर अवकाश था? यदि मानें कि डार्क एनर्जी के लिए भी अवकाश वा space की आवश्यकता नहीं होती है, तब बाहर से डार्क एनर्जी का प्रक्षेपक व प्रतिकर्षक बल कैसे कार्य करेगा? इसे इस चित्र द्वारा समझने का प्रयास करें-

जब पदार्थ के बाहर डार्क एनर्जी विद्यमान होगी, तो वह उस सघन ब्रह्माण्ड रूप पदार्थ को सब ओर से तीक्ष्ण बल से प्रतिकर्षित करेगी। इससे सभी ओर से बल सन्तुलित हो जावेगा, जिससे उस पदार्थ पर परिणामी शून्य बल लगेगा। इस प्रकार पदार्थ में विस्फोट बाहरी डार्क एनर्जी के कारण कभी नहीं होगा। यदि यह माना जाए, कि डार्क एनर्जी उस अनन्त बल के विपरीत पदार्थ को अपनी ओर खींचकर तीव्रता से बिखेर देती है, तब प्रश्न यह है कि डार्क एनर्जी बिग बैंग के समय अकस्मात् कहाँ से उत्पन्न होती है? यदि वह उस पदार्थ के साथ-२ अनादि किंवा अवधि विशेष से विद्यमान होती है, तब विस्फोट एक निश्चित समय पर क्यों होता है? यदि वह बिग बैंग के समय ही उत्पन्न होती है, तो उसकी उत्पत्ति का क्या कारण है? फिर इसकी उत्पत्ति भी अकस्मात् एक निश्चित समय पर ही कैसे होती है? मुझे प्रतीत होता है कि इन प्रश्नों के उत्तर वर्तमान विज्ञान के पास नहीं हैं। यदि डार्क एनर्जी को उस पदार्थ के अन्दर ही मिश्रित मानें, तब यह एनर्जी उस अनन्त बल को निष्प्रभावी बना देगी, जिससे पदार्थ बिखर सकता है परन्तु, तब प्रश्न यह उठेगा कि उस पदार्थ के अन्दर डार्क एनर्जी की सत्ता कब से विद्यमान थी? यदि पूर्व से विद्यमान थी, तब उस पदार्थ का सघन रूप बन ही नहीं सकता। ऐसी स्थिति में ब्रह्माण्ड कोई point size, zero size अथवा किसी भी size वाला हो ही नहीं सकता। इस प्रकार बिग बैंग की धारणा किसी भी प्रकार सत्य नहीं हो सकती। उधर हमारा प्रश्न यह भी है कि जब आपने बिग बैंग से पूर्व आकाश व काल की सत्ता को नकारा है? तब क्या आप जानते हैं कि काल व आकाश कोई पदार्थ विशेष हैं किंवा केवल काल्पनिक पदार्थ हैं? यदि इनकी वास्तविक सत्ता है, तो उसका स्वरूप आपको ज्ञात नहीं, पुनरपि भ्रान्त धारणा बना ली कि उस समय काल व आकाश की सत्ता ही नहीं थी।
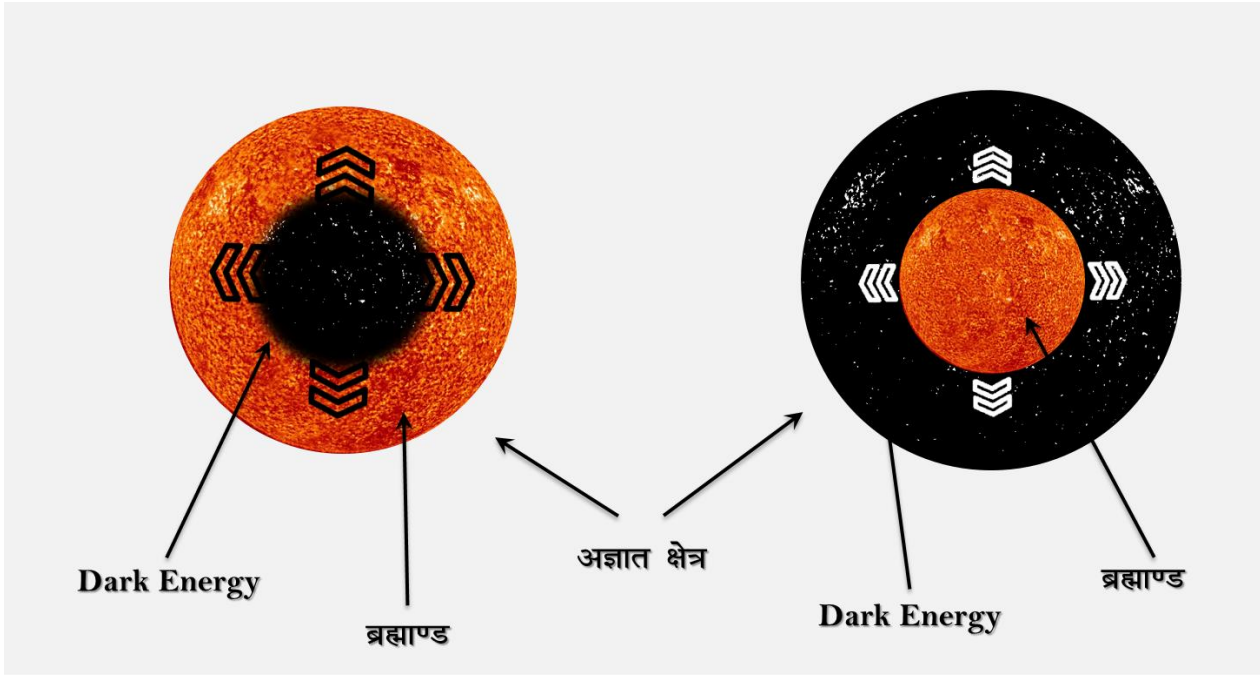
अब हम Steven Weinberg के बिग बैंग मॉडल पर भी विचार करते हैं-

यह मॉडल शून्य आयतन के स्थान पर पदार्थ का सर्वत्र भरा होना तथा उसमें अकस्मात् सर्वत्र एक साथ असंख्य विस्फोट मानता है। उस परिस्थिति में भी प्रश्न यही उपस्थित होता है कि विस्फोट अकस्मात् कैसे होते हैं? यदि डार्क एनर्जी के कारण होते हैं, तब वह डार्क एनर्जी कहाँ से प्रकट होती है? वह अकस्मात् ही क्यों उत्पन्न होती है? यदि ईश्वर की सत्ता स्वीकार की जाए, तब ऐसा होना सम्भव है परन्तु यह प्रश्न फिर भी उठेगा कि यह विस्फोट वाली स्थिति को प्रारम्भिक स्थिति कैसे माना जाए?

महाविस्फोट सिद्धान्त में कुछ अन्य समस्याएं

(१) हम ब्रह्माण्ड की रचना पर विचार करते हैं, तब स्पष्ट होता है कि ब्रह्माण्ड में गैलेक्सी, तारे आदि में विद्यमान तथा अन्तरिक्ष में विद्यमान पदार्थ समान रूप से बिखरा नहीं होता अर्थात् ब्रह्माण्ड Flat नहीं है, बल्कि अनियमित रूप में विद्यमान है। इस विषय में रूसी वैज्ञानिक Yurij Baryshev तथा फिनलैंड के वैज्ञानिक Pekka Teerikorpi का कथन है-

"The concept of the fractal grasps an essential aspect of Nature which was previously overlooked even its rough features have hidden regularities. It also means that apparently chaotic phenomena may have deep structure. The word 'fractal' was coined by mandelbrot in 1975. He explains that it comes from the Latin objective 'fractus' which derives from the verb 'to break' or to create irregular fragments." (Discovery of Cosmic Fractals- P. 231)

प्रो. आभास मित्रा भी अपने एक लेख "An Astrophysical peek into Einstein's Static Universe: No Dark Energy" में लिखते हैं-

".....for the universe centre is everywhere and there is no boundry, no exterior solution and no density discontinuity."

परन्तु इसके साथ ही वे अपने इसी लेख में लिखते हैं-

"Indeed galaxies and structures are found to be distributed in discrete, lumpy and inhomogeneous manner even at the largest scale."

इसका आशय यह है कि ब्रह्माण्ड में विद्यमान पदार्थ सर्वत्र व्याप्त होने पर भी अनियमित रूप से बिखरा हुआ रहता है। यह smooth or flat state में नहीं होता। यदि ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति महाविस्फोट से अकस्मात् होती है और पदार्थ तीव्रता से फैलने लगता है। वस्तुतः वह पदार्थ नहीं, बल्कि आकाश तत्व फैलने लगता है, ऐसा वर्तमान विज्ञान मानता है और यदि यह प्रक्रिया वास्तव में होती है, तब ब्रह्माण्ड fractal रूप न होकर smooth रूप में होना चाहिए। प्रो. आभास मित्रा ब्रह्माण्ड को fractal रूप में मानते हैं तथा वे Big Bang Theory का तीव्र प्रतिवाद करते हैं। उधर २६ नवम्बर २०१५ को टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ फण्डामेण्टल रिसर्च, मुम्बई के खगोल वैज्ञानिक प्रो. पंकज भाई जोशी से इस विषय पर मेरी चर्चा हुई, तो उन्होंने बताया कि यद्यपि ब्रह्माण्ड fractal रूप है अर्थात् असमान रूप में विद्यमान है, पुनरपि इस ब्रह्माण्ड में १०० प्रकाश वर्ष व्यास के प्रत्येक क्षेत्र का द्रव्यमान लगभग समान होता है, इस कारण बृहत् स्तर पर ब्रह्माण्ड smooth ही माना जा सकता है, जिससे Big Bang Theory की वैधता प्रभावित नहीं होती। हम प्रो. जोशी के इस तर्क से सहमत नहीं हैं। **जहाँ तक १०० प्रकाश वर्ष व्यास वाले सभी क्षेत्रों का द्रव्यमान समान होने का प्रश्न है, उसका समाधान भी बिग बैंग से नहीं, बल्कि सृष्टि के मूल उपादान कारण के सर्वत्र समान रूप से व्याप्त होने के वैदिक सिद्धान्त से ही सम्भव है।** हम यह जानना चाहते हैं कि १०० प्रकाश वर्ष क्षेत्र का Big Bang से क्या सम्बन्ध है? १०० प्रकाश वर्ष क्षेत्र में पदार्थ का संघनन fractal रूप में कैसे होता है? डार्क एनर्जी एवं

गुरुत्वाकर्षण बल के मध्य यह उतार-चढ़ाव का खेल क्यों व कौन करता है? इसका समाधान बिग बैंग सिद्धान्तवादियों के पास नहीं है। वास्तविकता यह है कि Big Bang का कोई भी model हो, ब्रह्माण्ड के fractal, homogeneous, smooth तथा isotropic सभी रूपों में सामंजस्य बिठाना कठिन है, जबकि वैदिक सृष्टि विज्ञान इसे सहजता से करने में सक्षम है। वैदिक मत को जानकर विज्ञ पाठक स्वयं यह अनुभव कर सकते हैं।

(२) ब्रह्माण्ड के प्रसार के समर्थक वैज्ञानिक मानते हैं कि ब्रह्माण्ड का प्रसार वस्तुतः डार्क एनर्जी के प्रभाव से space स्वयं के प्रसार के कारण होता है। इससे सिद्ध होता है कि वैज्ञानिकों की दृष्टि में गैलेक्सियां स्वयं गति नहीं कर रहीं, बल्कि space के फैलने से उनके मध्य निरन्तर तीव्र गति से दूरी बढ़ती जा रही है। इस विषय में हमारा प्रश्न यह है कि यदि space का प्रसार होता है, तब दूरी केवल गैलेक्सियों के मध्य ही नहीं बढ़नी चाहिए, अपितु स्थूल लोकों से लेकर सूक्ष्म कणों के संसार तक यह दूरी बढ़ती रहनी चाहिए। जिस प्रकार गैलेक्सियों के मध्य परस्पर दूरी बढ़ रही मानी जाती है, उसी प्रकार उन गैलेक्सियों के भीतर विभिन्न तारों, ग्रहों, उपग्रहों एवं अन्य पिण्डों के मध्य भी दूरी निरन्तर बढ़ती रहनी चाहिए। उन लोकों में विद्यमान पदार्थ भी डार्क एनर्जी के प्रभाव से बिखरते जाना चाहिए। अणुओं, परमाणुओं के मध्य भी दूरी बढ़नी चाहिये। इसके साथ ही उनके भी भीतर इलेक्ट्रॉन्स की कक्षाओं के आकार में निरन्तर वृद्धि होती रहनी चाहिए। atom के नाभिक के अन्दर Nucleons के मध्य भी दूरी बढ़ती रहनी चाहिये, यहाँ तक कि quarks आदि के मध्य में अन्तराल बढ़कर सम्पूर्ण पदार्थ ही बिखर जाना चाहिए। यदि कोई कहे कि यह दूरी भी निरन्तर बढ़ रही है, तब उस वृद्धि की गति क्या है? क्या वह भी 10^{28} m/sec. की दर से बढ़ रही है? यदि ऐसा है, तो अब तक ब्रह्माण्ड बिखर कर समाप्त हो गया होता। यदि यह न हो पाता, तो विभिन्न कणों का व्यवहार निरन्तर परिवर्तित होकर भौतिकी के सभी नियम निरन्तर परिवर्तित होते जाते। रासायनिक, जैविक, भौतिक, भूगर्भिक, खगोलीय आदि सभी क्रियाएं निरन्तर नाना रूपों में प्रकट होती रहतीं, लेकिन ऐसा ब्रह्माण्ड में कहीं भी नहीं देखा जा रहा, तब space का प्रसार कैसे माना जाये?

यदि कोई कहे कि सूक्ष्म कणों के स्तर पर डार्क एनर्जी के कारण space का प्रसार नहीं होता क्योंकि वहाँ विद्युत् चुम्बकीय बल, प्रबल नाभिकीय बल आदि की प्रबलता होती है। मेरे साथ संवाद में ऐसा मत एक मित्र वैज्ञानिक ने व्यक्त भी किया था। यहाँ इस पर हमारी आपत्ति यह है कि Big Bang के ठीक पूर्व grand unified force बल का परिमाण अनन्त होता है, जिसके कारण सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड सिकुड़कर शून्य आयतन को प्राप्त किये होता है। तब ऐसी स्थिति में इस सृष्टि का कोई भी बल उस समय विद्यमान बल की समता नहीं कर सकता। यदि प्रबल नाभिकीय बल, क्वार्क्स के मध्य कार्यरत बल उस प्रबलतम बल की अपेक्षा तीव्रता में अधिक वा समान होते, तो न्यूक्लियॉन्स व न्यूक्लियस भी सिकुड़कर शून्य आयतन प्राप्त कर लेते परन्तु ऐसा नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि **बिग बैंग के ठीक पूर्व विद्यमान आकर्षण बल इस सृष्टि का सबसे बड़ा बल है। जब इस बल को नष्ट करके डार्क एनर्जी महाविस्फोट के द्वारा space को 10^{28}m/sec. गति प्रदान कर सकती है, तब Atoms, Molecules, Nucleons तथा Quarks आदि को क्यों नहीं परस्पर एक-दूसरे से दूर हटाकर पदार्थ की अवस्था को छिन्न-भिन्न कर सकती?** क्यों इन कणों का भी स्वरूप नष्ट नहीं हो जाता? जो डार्क एनर्जी पदार्थ वा ऊर्जा व द्रव्य की सर्वाधिक सघन अनन्त घनत्व वाली अवस्था को बिखेर सकती है, वह भला इस सृष्टि में किस सघन लोक वा कण को नष्ट करने वा बिखेरने में समर्थ नहीं हो सकती? अर्थात् वह सबका विनाश करने में सक्षम होनी चाहिए परन्तु ऐसा होता नहीं है। इससे स्पष्ट होता है कि space का प्रसार नहीं हो रहा है।

प्रश्न- वस्तुतः डार्क एनर्जी का स्वरूप गुरुत्वाकर्षण बल के विपरीत होता है, इस कारण जैसे गुरुत्वाकर्षण बल बड़े पैमाने पर कार्य करता है, जबकि सूक्ष्मकणों के स्तर पर कार्य नहीं करता, इसी प्रकार डार्क एनर्जी भी एटम, मॉलीक्यूल्स वा इनसे सूक्ष्म कणों के स्तर पर कार्य नहीं करती। इस कारण इनके बीच आकाश का प्रसार नहीं होता।

उत्तर- सर्वप्रथम तो हम कहना चाहते हैं कि न तो आधुनिक विज्ञान गुरुत्वाकर्षण बल के विषय में कुछ जानता और न डार्क एनर्जी के विषय में, पुनरपि दुराग्रहग्रस्त होकर दोनों का कार्य क्षेत्र समान परन्तु प्रभाव विपरीत कहकर ब्रह्माण्ड के फैलने की पुष्टि करने का प्रयास करते हुए ठपह Bang Model को खींचतान करके पुष्ट करना चाहता है। वस्तुतः वह एक भूल को सत्य सिद्ध करने के प्रयास में निरन्तर भूलों पर भूलें कर रहा है। यदि इस भ्रामक विचार को सत्य मान भी लिया जाये, तब पृथिवी के जन्म से अब तक उसकी सूर्य से दूरी हबल के नियम से ही लगभग १ लाख किमी बढ़ गयी होती। ऐसी स्थिति में सभी ग्रहों, उपग्रहों व तारों की कक्षाएं अस्तव्यस्त हो जातीं परन्तु ऐसा नहीं हुआ। उधर एटम, मॉलीक्यूल्स एवं और अधिक सूक्ष्म स्तर पर भी सभी कण भी बिखर जाते परन्तु यह भी नहीं हुआ। वर्तमान विज्ञान कणों के स्तर पर तो प्रबल बलों का बहाना करके डार्क एनर्जी के प्रभाव को टालना चाहता है परन्तु तारों, ग्रहों व उपग्रहों के स्तर पर जहाँ गुरुत्वाकर्षण बल ही कार्य करता है, कोई बहाना नहीं चल पायेगा। इस कारण आकाश के प्रसार का विचार ही काल्पनिक सिद्ध होता है।

(३) जब बिग बैंग के पश्चात् space का अत्यन्त तीव्रता से प्रसार होने लगता है, तब शून्य में समाया हुआ पदार्थ space के साथ-२ फैलने लगता है। यह स्थिति इस प्रकार प्राप्त होती है, मानो किसी रबर की बनी सड़क पर दो कारें खड़ी हों और किसी ने उस सड़क को तीव्र वेग से दोनों ओर से खींचा हो। उस समय विराम अवस्था में उस सड़क पर खड़ी दोनों कारें एक-दूसरे से दूर भागती दिखाई देंगी। उनके बीच सड़क के प्रसार की गति से दूरी निरन्तर बढ़ती जाएगी। उस समय उन कारों का परस्पर टकराना कदापि सम्भव नहीं होगा। यदि उन कारों को मिलाना हो, तो एक ऐसी ऊर्जा की आवश्यकता होगी, जो या तो सड़क के प्रसार को रोक कर उसे सिकोड़ना प्रारम्भ कर दे अथवा उन दोनों कारों को सड़क के प्रसार वेग की दिशा के विपरीत घसीटता हुआ एक-दूसरे को मिला दे। जब तक ऐसी बाहरी शक्ति प्रकट नहीं होगी, वे कारें परस्पर कभी नहीं मिल पाएंगी।

इस उदाहरण को दृष्टिगत रखते हुए हम बिग बैंग सिद्धान्त एवं ब्रह्माण्ड के प्रसार पर विचार करते हैं।

जब space का प्रसार होने लगता है, वह भी इस सृष्टि से सर्वाधिक प्रबल वेग 10^{28} m/sec. की दर से, तब उस space में विद्यमान पदार्थ space के सापेक्ष स्थिरतापूर्वक ही विद्यमान रहेगा, पुनरपि space के फैलने से वह पदार्थ निरन्तर विरल से विरलतर रूप धारण करता रहेगा। ऐसी स्थिति में उस सूक्ष्मतम पदार्थ में संघनन प्रक्रिया क्योंकर प्रारम्भ हो सकती है? जब संघनन की प्रक्रिया प्रारम्भ ही नहीं हो सकती, तब लेप्टॉन, क्वार्क्स, ग्लूऑन्स पुनः न्यूक्लिऑन्स आदि का निर्माण कैसे हो सकता है? निश्चित ही ये सूक्ष्म कण शून्य आयतन में नहीं समाये हो सकते? इसके लिए space व emptiness का होना अनिवार्य है। जब ये सूक्ष्म कण ही नहीं बन सकते, तब Atoms, Molecules, Cosmic dust आदि का निर्माण होकर शनैः-२ विशाल लोकान्तर व गैलेक्सियां बनकर Cosmic Fractals का निर्माण कदापि नहीं हो सकता। इस कारण भी space का प्रसार मान्य नहीं हो सकता।

(४) यदि ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति Big Bang से हुई है, तब पदार्थ का फैलाव निरन्तर बढ़ते वेग के साथ होना चाहिए। हमें इसका कारण यह प्रतीत होता है कि जो डार्क एनर्जी अनन्त घनत्व, अनन्त द्रव्यमान व अनन्त ऊर्जा युक्त पदार्थ को छिन्न-भिन्न कर सकती है, वह ऐसी प्रबलतम शक्ति वाली डार्क एनर्जी उस पदार्थ को छिन्न-भिन्न करने के पश्चात् दुर्बल कैसे हो सकती है? वही डार्क एनर्जी बिखरे व दूर-२ भागते हुए पदार्थ को कभी संघनित भी नहीं होने देगी, यह बात हम पूर्व में लिख चुके हैं। यह स्थिति तब बनेगी, जब डार्क एनर्जी Big Bang के पूर्व विद्यमान पदार्थ के बाहर व्याप्त वा उत्पन्न होती हो। यदि डार्क एनर्जी उस अनन्त घनत्व वाले पदार्थ के अन्दर अकस्मात् उत्पन्न हो, तब अवश्य उसकी प्रबलता सतत क्षीण होती जाएगी। ऐसी स्थिति में पदार्थ का वेग निरन्तर कम होता चला जाएगा। ऐसी स्थिति में पदार्थ में संघनन का प्रारम्भ होने की किंचित् सम्भावना हो सकती है, पुनरपि हमारी दृष्टि में तब तक पदार्थ के मध्य अवकाश इतना अधिक हो जाएगा कि उसका संघनित होना कदाचित् ही हो सके। इस स्थिति में भी हमारी पूर्वोक्त आपत्ति यही होगी कि शून्य आयतन वाले पदार्थ में विस्फोटक डार्क एनर्जी, कहाँ से अकस्मात् प्रकट हो सकेगी? जब प्रकट ही नहीं हो सकेगी, तब उसमें विस्फोट

ही कैसे होगा? इसके अतिरिक्त विज्ञान गैलेक्सियों के वेग को निरन्तर घटने वाला नहीं, बल्कि सतत बढ़ने वाला मानता है, तब पदार्थ किसी भी बल के कारण कभी संघनित नहीं हो सकता। जब संघनित ही नहीं होगा, तो कण वा लोक कैसे उत्पन्न हो सकते हैं?

Big Bang Cycle

बिग बैंग मॉडल पर एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उपस्थित होता है कि शून्य वा सूक्ष्म आकार में अनन्त द्रव्यमान, ऊर्जा वाला पदार्थ आया कहाँ से? क्या वह पदार्थ अनादि काल से उसी स्थिति में था? यदि नहीं तो कहाँ से तथा कब आया? क्या विस्फोट से ठीक पूर्व आया अथवा उससे पहले आया? यदि पहले आया, तो विस्फोट उसी समय क्यों नहीं हुआ? यदि उसी समय आया तो कहाँ से आकर अनन्त बल में अकस्मात् कैसे बंधा और फिर कैसे विस्फोट हुआ?

इसके उत्तर में कुछ वैज्ञानिक Big Bang Cycle की कल्पना प्रस्तुत करते हैं। उनका मानना है कि समस्त ब्रह्माण्ड एक समय शून्य आयतन में समा जायेगा, जिसमें विस्फोट होकर पुनः ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति प्रारम्भ हो जायेगी। पुनः वह ब्रह्माण्ड एक समय शून्य आयतन में संघनित हो जायेगा। इस प्रकार यह चक्र अनन्त काल तक चलता रहेगा। इस प्रकार यह चक्र अनादि व अनन्त है। जब पदार्थ संघनित होता है, तब डार्क एनर्जी का प्रभाव न्यून तथा गुरुत्व बल का प्रभाव अधिक होता चला जाता है। जब विस्फोट के माध्यम से पदार्थ फैलने लगता है, तब गुरुत्व बल का प्रभाव न्यून तथा डार्क एनर्जी का प्रभाव अधिक होने लगता है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि डार्क एनर्जी की अति प्रबलता के चलते गुरुत्व बल की अति प्रबलता होकर संघनन क्रिया कैसे प्रारम्भ होती है और गुरुत्व बल की अति प्रबलता की स्थिति में डार्क एनर्जी कैसे अकस्मात् उत्पन्न व अति प्रबल वेग से क्रियाशील होने लगती है? यह सब क्यों होता है और इसे कौन सी सर्वोच्च शक्ति नियन्त्रित व संचालित करती है? **ध्यातव्य है कि grand unified force से सर्वप्रथम गुरुत्व बल ही पृथक् होता है,** इस कारण हमने यहाँ इसी गुरुत्व बल की चर्चा की है। जो Big Bang Cycle को नहीं मानते, वे भी प्रारम्भ में अति तीव्र वेग से प्रसार (inflation), पुनः गुरुत्व बल के अवरोध के उत्पन्न होने से अपेक्षाकृत अति मंद वेग से expansion होना मानते हैं। उन्हें इस प्रश्न का उत्तर देने में कोई रुचि नहीं कि vaccuum energy, gravitation force, dark energy क्या हैं, व कैसे उत्पन्न होते हैं। वस्तुतः कल्पनाओं के जाल बुनता हुआ यह विज्ञान मृगतृष्णा में भटक रहा है।

अन्य समस्या- सम्पादक प्रियवर विशाल आर्य (अग्नियश वेदार्थी)ने बताया कि string theory की मान्यता के अनुसार t=0 पर space व time की singularity थी। उसके पूर्व ऋणात्मक काल में ब्रह्माण्ड सिकुड़ रहा था, जो शून्य टाइम में लगभग शून्य आयतन को प्राप्त कर गया। उसके पश्चात् अकस्मात् बिग बैंग हुआ और टाइम धनात्मक रूप में आगे बढ़ता गया और इसके साथ ही आकाश तेजी से फैलने लगा। उसके कुछ समय पश्चात् गैलेक्सियां हबल वेग से दूर भागने लगीं। यह फैलाव आज भी सतत जारी है।

समाधान- String theory की यह धारणा वस्तुतः Big Bang Cycle की पुष्टि करती प्रतीत होती है, भले ही वे इसे न मानें। आज तक कोई भी वैज्ञानिक काल की परिभाषा व स्वरूप को किंचिदपि स्पष्ट नहीं कर सका है और न ही आकाश के बारे में, ऐसी स्थिति में काल का ऋणात्मक, शून्य व धनात्मक होना तथा आकाश का सिकुड़ना व फैलना आदि वक्तव्य नितान्त महत्त्वहीन है। आश्चर्य है कि वर्तमान कॉस्मोलॉजी इन्हीं महत्त्वहीन कुतर्कों, गणितीय संकल्पनाओं एवं प्रेक्षणों के मिथ्या निष्कर्षों में भटक रही प्रतीत होती है। मैं पूछता हूँ कि काल का शून्य होना अथवा आकाश व काल के न होने का क्या अर्थ है? शून्य टाइम अर्थात् Big Bang के ठीक पूर्व ब्रह्माण्ड वा आकाश higher dimension में सिकुड़ रहा होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि पहले ब्रह्माण्ड अनन्त ऋणात्मक टाइम में अनन्त में फैला हुआ था। क्या कोई वैज्ञानिक बता सकता है कि पहले यह ब्रह्माण्ड क्यों सिकुड़ रहा था? क्या वह सिकुड़ता हुआ ब्रह्माण्ड पहले ऐसा ही था, जैसा आज है? यदि हाँ, तो उसे कौन सिकोड़ता तथा

पुनः फैलाता है? उस अनन्त विस्तृत ब्रह्माण्ड को सिकोड़ने तथा उसे पुनः फैलाने हेतु बल वा ऊर्जा कहाँ से आते हैं? यह चक्र कौन चलाता है। प्रिय विशाल आर्य (अग्नियश वेदार्थी) ने स्ट्रिंग थ्योरिस्टों का मत बताया कि वे Big Bang से बहुत पूर्व ब्रह्माण्ड को अनन्त, फ्लैट तथा अत्यन्त शीतल मानते हैं। उस ऐसे ब्रह्माण्ड में अनन्त संकुचन, अनन्त ताप व शून्यवत् आयतन की अवस्था कैसे व क्यों होती है? इसके साथ ही बिग बैंग के समय आकाश अत्यधिक तीव्र गति 10^{28} km/sec से फैला परन्तु शीघ्र ही उसकी गति अत्यधिक न्यून होकर हबल वेग के बराबर हो गयी, यह बात भी प्रत्यक्ष धोखाधड़ी व हठधर्मिता का उदाहरण है। वर्तमान में हबल के द्वारा देखी गयी Red shift से 10^{28}km/sec वेग की संगति नहीं बैठ सकती, इस कारण गैलेक्सियों का वेग हबल वेग के बराबर मान लिया तथा पहले हबल वेग तो क्या, प्रकाश वेग से भी ऊर्जा-द्रव्यमान का संरक्षण किंचिदपि भी न रह पाता, इस कारण आकाश का 10^{28}km/sec वेग से फैलना मान लिया। कैसे भी करके इन्हें Big Bang को सिद्ध करना है। **मैं नहीं समझ पाया कि इन्हें Big Bang की इतनी हठ क्यों है?** हाँ, Red shift का यथार्थ कारण प्रतीत न होने से Big Bang व space expansion के पीछे भागने की इनकी विवशता हो गयी है। इसमें भी गणितीय संकल्पनाओं से स्वयं भ्रान्त होकर संसार को भी भ्रान्त कर रहे हैं।

ब्रह्माण्ड के प्रसार की प्रतीति का कारण

अब हम उस कारण पर विचार करते हैं, जिसके कारण एडविन हबल को ब्रह्माण्ड फैलता हुआ अनुभव हुआ। वस्तुतः गैलेक्सियों का दूर भागना प्रत्यक्ष नहीं देखा जा सकता। उन्होंने गैलेक्सियों के प्रेक्षण के समय Red Shift का अनुभव किया। Red Shift को परिभाषित करते हुए Alan Isaacs ने लिखा है-

"A displacement of the lines in the spectra of certain galaxies towards the red end of the visible spectrum." (Oxford Dictionary of Physics- P. 414)

इस प्रभाव से यह सिद्ध होता है कि गैलेक्सियों से आने वाली विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की ऊर्जा-आवृत्ति में निरन्तर सूक्ष्म रूप से न्यूनता आती जा रही है। वैज्ञानिकों के इस प्रेक्षण से असहमत होने का कोई कारण नहीं है। उन्होंने Red Shift का प्रेक्षण किया है, तो सत्य ही होगा। इसका निष्कर्ष, कि विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की आवृत्ति घट रही है, भी स्पष्टतः सत्य सिद्ध हुआ परन्तु आवृत्ति के घटने के कारण की मीमांसा अवश्य करनी चाहिये।

इस Red Shift वा गैलेक्सियों से आने वाली विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की आवृत्ति में कमी होते जाने का कारण, वैज्ञानिक विशेषकर Big Bang समर्थक वैज्ञानिक डॉप्लर प्रभाव को मानते हैं। इस कारण ही वे कल्पना करते हैं कि सभी गैलेक्सियां परस्पर दूर भागती जा रही हैं। जब हम पूर्वोक्त कई कारण दर्शा चुके हैं, जिनसे ब्रह्माण्ड का प्रसार असिद्ध होता है। तब वैज्ञानिकों को Red Shift के अन्य कारणों पर भी विचार करने का प्रयत्न करना चाहिये। अनेक वैज्ञानिकों ने इस विषय में विचार किया भी है। ये वैज्ञानिक Red Shift के अनेक वैकल्पिक कारण बतलाते हैं-

(१) Tired Light- इस विषय में Edward Harrison का कथन है-

"The expansion interpretation of galactic redshift through dilightfully simple, has challanged many times. Fritz Zwicky, a famed astronomer who, among many other things pioneered the study of supernovas, advanced in 1929 the theory that light steadily loses energy while traveling across large regions of extra galactic space. This 'tired light' has been resurrected repeatedly since Zwicky first proposed it......(Cosmology- the science of the universe- IInd edition P. 312)

इससे स्पष्ट है कि ब्रह्माण्ड में विद्युत् चुम्बकीय तरंगें अपनी यात्रा के दौरान दीर्घकालोपरान्त

धीरे-२ अपनी कुछ-२ ऊर्जा को खोने लगती हैं अर्थात् उनकी ऊर्जा-आवृत्ति में कुछ कमी आने लगती है। यही कमी Red Shift का कारण बनती है।

वर्तमान वैज्ञानिक विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के अति दुर्बल रूप की विद्यमानता को Cosmic Microwave Background Radiation के रूप में स्वीकार करते हैं। इसकी खोज पर नोबेल पुरस्कार भी मिला है तथा इन विकिरणों को Big Bang का प्रमाण भी मानते हैं। वस्तुतः इसकी खोज के पश्चात् ही Big Bang Theory को एक नया बल मिला है। इस विकिरण के विषय में John Gribbin लिखते हैं-

"This radiation is interpreted as a leftover heat from the cosmic fireball in which the universe was born, the big bang itself. As the universe has expanded, this radiation has been redshifted and cooled until today it has a temperature only 2.7 degrees above the absolute zero of temperature, corresponding to minus 270.3 degrees on the familiar celsius scale...." (The Birth of Time- P.177)

इससे स्पष्ट है कि ऊष्मा विकिरण ठण्डे होकर कालान्तर में अत्यन्त ठंडे होकर Microwave Background Radiation का रूप धारण कर लेते हैं, तब विभिन्न गैलेक्सियों से आने वाला प्रकाश क्यों नहीं कम आवृत्ति का हो सकता? क्या Microwave Background Radiation भी tired raditation का उदाहरण नहीं है?

हमारी दृष्टि में Microwave Background Radiation की खोज से Big Bang Theory की पुष्टि नहीं, बल्कि उससे tired light की संकल्पना की पुष्टि होकर ब्रह्माण्ड के प्रसार का सिद्धान्त खण्डित होता है, जिससे Big Bang का आधार ही समाप्त हो जाता है।

जहाँ तक Microwave Background Radiation का प्रश्न है, तो वह पूर्व में गर्म विकिरणों के अस्तित्व की तो पुष्टि करता है, किसी विस्फोट की पुष्टि भी कर सकता है, अनेक बार अनेकत्र विस्फोट भी होते रहते हैं परन्तु उन्हें पूर्वोक्त अनेक कारणों से ब्रह्माण्ड की सर्वप्रथम अवस्था कहना उचित नहीं। हम अनेक विस्फोटों की चर्चा वैदिक सृष्टि उत्पत्ति प्रक्रिया विषय में करने का प्रयत्न करेंगे। इस विकिरण के विषय में प्रो. आभास मित्रा का मानना है-

"The microwave background radiation here is of no primordial origin.... This microwave radiation emanating from nearest massive ECO." (A New Case for an Eternally Odd Infinite Universe- By Dr. A.K. Mitra)

हम प्रो. मित्रा के इस उपर्युक्त कथन से इतना तो सहमत हैं कि Cosmic Background Radiation आदिम विकिरण का रूपान्तरण नहीं हैं क्योंकि इस मत पर हमारी पूर्वोक्त अनेक आपत्तियां हैं। यह मित्रा जी द्वारा परिकल्पित MECO जैसे किसी लोक से उत्सर्जित होते हैं वा नहीं, इस विषय में हम कुछ नहीं कह सकते परन्तु इतना फिर भी कहेंगे कि ये विकिरण किन्हीं लोक विशेषों से ही उत्सर्जित होते रहते हैं वा हुये हैं और निःसन्देह ऐसे **वे लोक इस सृष्टि का मूल उपादान कारण नहीं हैं।**

Tired Light: समस्या व समाधान

हाँ, Tired Light के विषय में Edward Harrison ने अपनी पूर्वोक्त Cosmology नामक पुस्तक में एक आपत्ति व्यक्त करते हुए लिखा है-

"A more subtle question is where all the entropy of the cosmic background radiation remains constant. But in a static universe, in which radiation suffers from

growing fatigue and is reddened by old age. the entropy declines and no tired light advocate has yet been able to say where it all goes." (P. 312)

इसका आशय है कि tired light के विचार को स्वीकार करने में एक प्रश्न यह है कि इसमें Entropy की स्थिरता नहीं रह पाती अर्थात् विकिरणों से क्षय हुई ऊर्जा कहाँ चली जाती है? इसका उत्तर tired light की वकालत करने वालों के पास नहीं है। निश्चित ही यह Big Bang मतवादियों का एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। यद्यपि वे Big Bang Theory पर उठायी जाने वाली पूर्वोक्त अनेक आपत्तियों को अपने प्रबल दुराग्रह वा पूर्वाग्रह एवं अपने पक्ष के संख्या बल के आधार पर अस्वीकार कर देते हैं। बिग बैंग से पूर्व काल व आकाश ही नहीं थे, इसीलिए उससे पूर्व क्या था? विस्फोट किसमें हुआ? ऐसे प्रश्न अनावश्यक व मिथ्या हैं, ऐसा अस्वीकरणीय व जालसाजी भरा उत्तर देते हैं। बिग बैंग से 10^{-43} sec. तक भौतिकी के नियम काम नहीं करते, इस कारण इस समयान्तराल की बात भी मत पूछो, ऐसे उत्तर भी वे देते हैं परन्तु tired light के पक्षधरों से entropy constant रखने के सिद्धान्त की दृढ़तया आशा करते हैं। विभिन्न बलों की कार्यप्रणाली में Virtual Particles के Vacuum energy से उत्पन्न व उसी में विलीन होने तथा इस प्रक्रिया में ऊर्जा व द्रव्यमान के संरक्षित न रह पाने के प्रश्न को सुन मौन रह जाते हैं परन्तु हमसे प्रत्येक प्रश्न के उत्तर की आशा अवश्य करते हैं। कोई बात नहीं, हम उनकी इस आशा को अवश्य पूर्ण करना चाहेंगे।
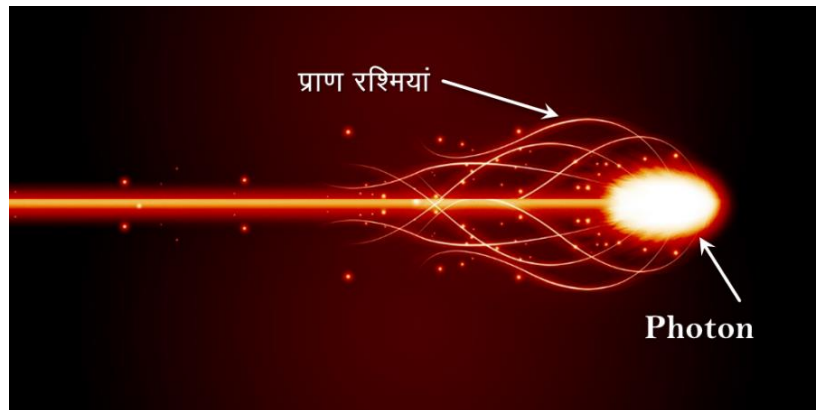
हमारी दृष्टि में **न केवल photons, अपितु सृष्टि का प्रत्येक कथित मूलकण यथा quarks, leptons आदि न तो अनादि हैं और न ही अनन्त काल तक इनका अस्तित्व ही रहेगा।** इसकी विस्तृत चर्चा हम इसी अध्याय में आगे करेंगे। वर्तमान विज्ञान द्वारा जानी गयी **ऊर्जा अथवा सूक्ष्म कथित मूलकण विभिन्न प्राण व छन्द रश्मियों से ही उत्पन्न होते हैं और समय आने पर उन्हीं में लीन भी हो जाते हैं। tired light से क्षय हुई ऊर्जा उन्हीं प्राण रश्मियों में परिवर्तित हो जाती है। इस कारण tired light के सिद्धान्त पर entropy constant न रह पाने की आपत्ति निरर्थक है।** वर्तमान विज्ञान के नाना प्रेक्षण व प्रयोग आधुनिक तकनीक द्वारा ज्ञात सूक्ष्मतम पदार्थ अर्थात् विद्युत् चुम्बकीय तरंगों व कथित मूलकणों तक ही सीमित रहते हैं, उससे अधिक नहीं। Stephen Hawking ने 'The Grand Design' में Tired light की चर्चा तो की है परन्तु इसे बिना कोई कारण बताये उपेक्षित करके Big Bang का ही पक्ष लिया है। इस कारण हॉकिंग की भी यह उपेक्षावृत्ति किसी भी प्रकार से उचित नहीं मानी जा सकती।

(२) Compton Effect- Red Shift का द्वितीय कारण यह हो सकता है। गैलेक्सियों से आने वाला प्रकाश अपने मार्ग में अन्तरिक्षस्थ विभिन्न कणों से टकराता हुआ आता है, इससे भी उसकी ऊर्जा में निरन्तर कुछ क्षीणता आती रहती है। हम जानते हैं कि हमारे सूर्य के नाभिक में हाइड्रोजन के संलयन से प्रबल ऊर्जा वाली विद्युत् चुम्बकीय तरंगें 'गामा' उत्पन्न होती हैं। वे गामा तरंगें लाखों वर्ष तक सूर्य में भटकती हुई, अनेक कणों से टकराती हुई बाहर उत्सर्जित होकर अन्तरिक्ष में यात्रा के लिए निकल पड़ती हैं। जब वे सूर्य की बाहरी सतह से बाहर आती हैं, तब तक उनकी ऊर्जा में भारी क्षीणता होकर वे गामा किरणें दृश्य प्रकाश एवं अवरक्त किरणों में परिवर्तित हो जाती हैं। यह सब भी Compton

effect के कारण ही होता है। इसी प्रकार सुदूर गैलेक्सियों से आने वाली प्रकाश तरंगों में भी ऊर्जा की क्षीणता होकर Red Shift का प्रभाव दिखाई दे सकता है। यहाँ कोई पाठक यह प्रश्न उपस्थित कर सकता है कि सूर्य में तो पदार्थ की भारी मात्रा विद्यमान रहती है, इस कारण उसमें से गुजरने पर प्रकाश तरंगों की ऊर्जा में कमी आ सकती है परन्तु गैलेक्सियों से आने वाला प्रकाश अन्तरिक्ष में से गुजरता हुआ पृथिवी तक पहुंचता है, तब उसकी ऊर्जा कैसे कम हो सकती है? इस प्रश्न के उत्तर में हमारा मत है कि गैलेक्सियों से आने वाला प्रकाश अन्तरिक्ष में बहुत लम्बी यात्रा करता है। अन्तरिक्ष में सर्वत्र ही पदार्थ सूक्ष्म रूप से भरा रहता है। वर्तमान वैज्ञानिक दो गैलेक्सियों के मध्य भी गर्म हाइड्रोजन का भरा होना मानते हैं। जब दूरस्थ गैलेक्सियों से प्रकाश आता है, तब वह इस हाइड्रोजन आदि पदार्थ के परमाणुओं से टकराता हुआ ही आता है, इस कारण Compton Effect से उसकी ऊर्जा में कमी होती जाती है, यही Red Shift का कारण है।

प्रश्न- आपकी Compton effect के कारण Red shift की बात उचित नहीं है क्योंकि यह effect तो सतत बना रहेगा, तब प्रकाश सदैव समान आवृत्ति का ही आयेगा, जैसे कि सूर्य का प्रकाश सतत समान आवृत्ति का ही आता है।

उत्तर- यह कारण पृथिवी पर सूर्य से आने वाले प्रकाश के विषय में तो सत्य है क्योंकि इनके मध्य दूरी लगभग स्थिर रहती है और जब इसमें परिवर्तन होता भी है, तो प्रकाश की आवृत्ति में भी परिवर्तन आता है। उधर व्यापक आकाश की दृष्टि से विचार करें, तो ज्ञात होगा कि पृथिवी अपने अक्ष पर 1600 km/h की गति से घूर्णन करती है तथा लगभग एक लाख किमी प्रति घंटा की गति से सूर्य के चारों ओर परिक्रमण करती है। इसके साथ लगभग ७ लाख किमी प्रति घंटा की गति से सूर्य अपनी आकाशगंगा के केन्द्र का परिक्रमण करता है। इससे स्पष्ट है कि यह गति पृथिव्यादि ग्रहों के साथ भी जुड़ जाती है। तब कोई भी ग्रह इन तीन प्रकार की गतियों से युक्त होता है, जिनमें से सूर्य की गति सबके साथ समान होती है, जब अन्य दो प्रकार की गतियां सबके लिए पृथक्-२ होती हैं। इन तीन गतियों के अतिरिक्त हम एक और गति की बात करते हैं, जो इन तीनों में से अधिकतम की अपेक्षा बहुत अधिक होती है। मेरी जानकारी, जो मुझे अनेक वैज्ञानिकों के साथ प्रत्यक्ष संवाद में मिली, के अनुसार वैज्ञानिक अनेकों गैलेक्सियों को एक विशाल केन्द्र के चारों ओर परिक्रमा करते हुए नहीं मानते लेकिन हमारे मत में ऐसा होता है। यह परिक्रमण गति किसी तारे के द्वारा अपनी गेलेक्सी के चारों ओर घूमने की गति से बहुत अधिक होती है। इस प्रकार प्रत्येक ग्रह की गति में यह चौथी सबसे बड़ी गति और जुड़ जाती है। इसके कारण किसी भी ग्रह आदि लोक पर किसी बाहरी गेलेक्सी के किसी तारे विशेष से दूरी भी सतत परिवर्तित होती रहती है। इस परिवर्तन के साथ-२ ग्रह एवं उस तारे के मध्य विद्यमान पदार्थ की मात्रा में भी सतत परिवर्तन होता रहता है। इस कारण compton effect भी कार्य करता है और Doppler effect भी। यहाँ डॉप्लर प्रभाव से गैलेक्सियों के परस्पर दूर भागने की पुष्टि नहीं होती बल्कि इन गतियों के कारण लोकों की दूरी सतत परिवर्तित होने मात्र की पुष्टि होती है। इस प्रकार इन दो प्रभावों के साथ-२ tired light का प्रभाव भी पूर्वोक्तवत् होता ही है, इससे Red shift की प्रतीति होने से ब्रह्माण्ड के फैलने का भ्रम उत्पन्न होता है। मुझे श्री विशाल आर्य (अग्नियश वेदार्थी)ने बताया कि एडविन हबल ने ४६ गैलेक्सियों के अध्ययन से Red shift की पुष्टि की थी। हम इन सबके अन्दर लक्षित तारों से प्राप्त Red shift का यही कारण मान सकते हैं। सभी के बीच दूरी बढ़ना अर्थात् प्रकाश की आवृत्ति में न्यूनता आना एक संयोग ही माना जा सकता है, जो हबल के साथ हुआ। हबल ने बीस वर्ष प्रयोग करने के उपरान्त यह निष्कर्ष निकाला था। वास्तव में २० वर्ष खगोलीय घटनाओं के लिए कुछ भी नहीं है। हमारा सूर्य ही अपनी गेलेक्सी के केन्द्र की एक परिक्रमा लगभग २० करोड़ वर्ष में करता है, तब हबल का परीक्षण काल बीस वर्ष कोई महत्व नहीं रखता।

(३) Gravitational Effect- दूरस्थ गैलेक्सियों से आने वाला प्रकाश अपनी लम्बी यात्रा में अनेकों पृथक्-२ गुरुत्वीय क्षेत्रों से गुजरता हुआ आता है। इस कारण भी उस प्रकाश की ऊर्जा में किंचित् न्यूनता का होना सम्भव है। इस बात से वर्तमान विज्ञान भी सहमत है कि गुरुत्वीय क्षेत्र विद्युत् चुम्बकीय तरंगों को interact करता है, इस कारण वह interaction विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की ऊर्जा को भी

प्रभावित कर सकता है, ऐसा हमारा मत है। Discovery of Cosmic Fractals नामक पुस्तक के पृष्ठ १६५ पर Yurij Baryshav and Pekka Teerikorpi ने भी gravitational प्रभाव से Redshift प्रभाव का होना स्वीकार किया है। हमारे मत में सभी प्रकार के बल वा Fields एक-दूसरे को अवश्य प्रभावित करते हैं, भले ही वह प्रभाव अत्यल्प हो, इसी कारण विद्युत् चुम्बकीय तरंगें भी गुरुत्वीय क्षेत्र से अवश्य ही प्रभावित होती हैं, इससे उन तरंगों की ऊर्जा कुछ मात्रा में क्षीण हो जाती है, जो Red Shift का कारण बनती है।

यहाँ भी विभिन्न लोकों, गैलेक्सियों की गतियों के परिवर्तन को पूर्व बिन्दुवत् ध्यान रखना आवश्यक है।

इन उपर्युक्त तीन कारणों से Red Shift का प्रभाव हमें दिखाई देता है। इसी प्रभाव को देखकर एडविन हबल को यह भ्रम हो गया कि गैलेक्सियां परस्पर दूर भाग रही हैं। कालान्तर में इस भ्रम से दूसरा महाभ्रम यह उत्पन्न हुआ कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एक महाधमाके, वह भी शून्य में, से अकस्मात् उत्पन्न हुआ। Cosmic background Radiation की खोज ने Big Bang के महाभ्रम को और भी पुष्ट कर दिया, जबकि इस radiation की उत्पत्ति की प्रक्रिया भी भ्रामक ही थी। यह भ्रम परम्परा अद्यतन न केवल जारी है, अपितु सृष्टि उत्पत्ति के अन्य सभी सिद्धान्तों को अपने मिथ्या प्रभाव से प्रभावित वा अभिभूत कर रही है। इस परम्परा के वैज्ञानिक अन्य किसी भी पक्ष के विचार तक सुनने को उद्यत नहीं हैं और न उनके आक्षेपों का उत्तर देने में समर्थ हैं। ब्रह्माण्ड के प्रसार के विषय में इन उपर्युक्त प्रश्नों के चलते अनेक वैज्ञानिक इसे कल्पना वा भौतिकी जगत् की एक बड़ी समस्या भी मान रहे हैं। Yurij Baryshev तथा Pekka Teerikorpi का इस विषय में कथन है-

"In 1995, at the conference on key problems in Astronomy and Astrophysics held at the Canary Islands, Allan Sandage presented a list of 23 astronomy problems for the next three decades, in a form analogous to Hilbert's famous 23 problem in mathematics. The first problem in cosmology was: Is the expansion real? (Discovery of Cosmic Fractals- P. 194)

इससे स्पष्ट है कि ब्रह्माण्ड का प्रसार भौतिक विज्ञान की एक अनसुलझी समस्या है। इसे २३ अनसुलझी समस्याओं में से प्रथम समस्या माना है। इतने पर भी ब्रह्माण्ड के प्रसार को यथार्थ मानकर Big Bang को सत्य मानना वैज्ञानिक जगत् के लिए दुर्भाग्य ही माना जायेगा।

मेरी इस विषय में वैज्ञानिकों से व्यापक चर्चा वर्षों से होती रही है। भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र (BARC) एवं टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ फण्डामेण्टल रिसर्च, मुम्बई में मैं वर्षों से जाता रहा हूँ। इससे मुझे अनुभव हुआ है कि Big Bang सिद्धान्त पर हमारे प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं है। यद्यपि अनेक शीर्ष वैज्ञानिक स्वयं बिग बैंग मॉडल पर प्रश्न उठाते हैं परन्तु ऐसा माना जाता है कि यह मॉडल सृष्टि उत्पत्ति तथा मूलभूत भौतिकी की कई समस्याओं का समाधान करने में सक्षम है। इसी कारण वे उभरते प्रश्नों के उपरान्त भी Big Bang की हठ करते हैं। इसके साथ ही इस हठ को पुष्ट करने हेतु अनेक आधारहीन कल्पनाएं करते रहते हैं। यदि इसे मान भी लें, तब भी **बिग बैंग मॉडल पर उठने वाली आपत्तियों की नितान्त उपेक्षा करके अन्य पक्षों को नकारना सत्यान्वेषक माने जाने वाले विज्ञान को कदापि उचित नहीं है।** गणित का कोई एक सूत्र अनेक प्रश्नों को हल करने में समर्थ होने पर भी उसी प्रकार के अन्य एक भी प्रश्न को हल न कर पाने की स्थिति में असिद्ध माना जाता है और असिद्ध माना जाना भी चाहिये, इसी प्रकार भले ही बिग बैंग मॉडल से कुछ समाधान प्राप्त होते हों, पुनरपि बिग बैंग के मूल पर ही उठ रही आपत्तियों का उत्तर यदि नहीं मिल पाये, तो बिग बैंग की हठ को छोड़कर अन्य पक्षों पर खुले मस्तिष्क से विचार करना चाहिये, यही विज्ञान सम्मत कहा जायेगा। जब Stephen Hawking अनेक प्रयोगों से सिद्ध सिद्धान्त को मात्र एक अन्य विपरीत प्रयोग से उस सिद्धान्त को असिद्ध मानते हैं, तब यहाँ क्यों अनेकों अनसुलझे प्रश्नों के रहते हुए भी वे तथा संसार के अन्य प्रख्यात् वैज्ञानिक Big Bang को हठपूर्वक स्वीकार करते हैं?

अनादि विकसित अनन्त ब्रह्माण्ड सिद्धान्त
(Eternally Evolving Infinite Universe Theory)

ब्रह्माण्ड का यह मॉडल सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अनादि व अनन्त मानता है। इस पक्ष के वैज्ञानिकों का मत है कि यह ब्रह्माण्ड अनादि है और अनन्त काल तक बना रहेगा। यद्यपि विभिन्न गैलेक्सियों एवं उनके अन्दर तारों का निर्माण व विनाश सतत चलता रहेगा परन्तु इस ब्रह्माण्ड का एक साथ सम्पूर्ण विनाश कभी नहीं होगा। इससे मिलती जुलती अवधारणा को १९४८ में इंग्लैण्ड के तीन वैज्ञानिकों- हॉयल, बॉण्डी और गोल्ड ने Quasi Steady State Theory नाम से प्रस्तुत किया था, ऐसा भारतीय खगोलज्ञ डॉ. जयन्त विष्णु नार्लीकर ने **'विज्ञान, मानव और ब्रह्माण्ड'** नामक पुस्तक के पृष्ठ संख्या ५० पर लिखा है। वस्तुतः बिग बैंग सिद्धान्त में अनेक अनसुलझे प्रश्न उठने के कारण उसकी प्रतिक्रियावश इस मत की उत्पत्ति हुई है, ऐसा हमें प्रतीत होता है। प्रो. आभास मित्रा इस मत के प्रबल प्रस्तोता हैं, उन्होंने इस विषय में जगद्विख्यात् कार्य किया है। एतद्विषयक उनके अनेक महत्वपूर्ण आलेख मेरे पास विद्यमान हैं, जो समय-२ पर उन्होंने मुझे भेजे हैं। कथित ब्लैक होल के स्थान पर MECO नामक विशाल लोक की परिकल्पना तथा Big Bang से प्रारम्भ होने वाले ब्रह्माण्ड के स्थान पर Eternal Universe की परिकल्पना, उनके ये दो कार्य विश्वचर्चित व महत्वपूर्ण हैं। प्रो. मित्रा MECO अर्थात् Magnetic Eternal Collapsing Objects में क्वार्क, ग्लूऑन एवं इलेक्ट्रॉन-पॉजिट्रॉन प्लाज्मा तथा बेरियॉन्स का मिश्रण मानते हैं। उनके मतानुसार MECO से निरन्तर इन सूक्ष्म पदार्थों का अन्तरिक्ष में प्रक्षेपण होता रहता है, जिससे नाना लोक, गैलेक्सी आदि का निर्माण होता रहता है। उन्होंने मुझे भेजे एक लेख A New Case for an Eternally Old Infinite Universe में इस विषय में लिखा है-

"At the same time ECOs also accrete preexisting gas from the ISM (infinite static model). Thus a stellar mass ECO acts as the fundamental churning pot of cosmic matter."

इससे स्पष्ट है कि वे MECO's को इस ब्रह्माण्ड के निर्माण हेतु मूल पदार्थ का भण्डार मानते हैं। इस लेख में उन्होंने इसकी विस्तृत प्रक्रिया को चरणबद्ध रूप से दर्शाया है। यह सम्पूर्ण प्रक्रिया अनादि काल से चलती आयी है और अनन्त काल तक चलती रहेगी।

समीक्षा- यह सृष्टि शून्य से अकस्मात् उत्पन्न नहीं हुई, बल्कि सदैव विद्यमान सूक्ष्म पदार्थ से ही इसका निर्माण हुआ है तथा इसका विनाश होकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उस सूक्ष्म पदार्थ में ही परिवर्तित हो जाता है, यह सिद्धान्त तो सत्य व युक्तिसंगत है परन्तु इसमें भी कुछ प्रश्न इस प्रकार उपस्थित होते हैं-

(१) क्या ग्लूऑन-क्वार्क्स, इलेक्ट्रॉन्स-पॉजिट्रॉन्स प्लाज्मा एवं विभिन्न बेरियॉन्स तथा इनसे निर्मित MECOs अनादि हो सकते हैं?

(२) क्या यह सम्पूर्ण प्रक्रिया बिना किसी चेतन कर्त्ता के स्वयमेव होती रह सकती व हो सकती है?

इन प्रश्नों पर हम क्रमशः विचार करते हैं-

(१) हमारे विचार में कोई भी संयोगजन्य पदार्थ अनादि नहीं हो सकता है। **महर्षि दयानन्द सरस्वती** ने **सत्यार्थ प्रकाश** नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ के अष्टम समुल्लास में यथार्थ ही लिखा है-

संयोगजन्य पदार्थ अनादि नहीं

"बिना कर्त्ता के कोई भी क्रिया वा क्रियाजन्य पदार्थ नहीं बन सकता..... जो संयोग से बनता है, वह संयोग से पूर्व नहीं होता और वियोग के अन्त में नहीं रहता....." (**सत्यार्थ प्रकाश** पृ.२१८)। MECOs अथवा कोई भी लोक विभिन्न कणों वा क्वाण्टाज् के संघात से बने होने से अनादि नहीं हो सकते। जिन्हें वर्तमान विज्ञान मूल कण मानता है, **वे क्वार्क, ग्लूऑन, लेप्टॉन्स, बेरिऑन्स, फोटोन्स आदि में से कोई भी कण संरचना विहीन नहीं है। वर्तमान विज्ञान इन कणों वा क्वाण्टाज् की संरचना के विषय में अनभिज्ञ होने से इन्हें ही मूल पदार्थ मानने को विवश है।** हम इस विषय में आगे पंचमहाभूत प्रकरण में प्रकाश डालेंगे। यहाँ हमारा तात्पर्य यह है कि ये पदार्थ स्वयं सूक्ष्म प्राण व छन्द रश्मियों के विविध संयोगों से बने हैं, इस कारण इनमें से कोई कण वा क्वाण्टा अनादि व अविनाशी नहीं हो सकता। प्रश्न यह है कि संयोगजन्य पदार्थ अनादि क्यों नहीं हो सकता? इसका कारण यह है कि विभिन्न सूक्ष्म कारणभूत पदार्थों से मिलकर जब कोई कण निर्मित होता है, तब उन कारणरूप सूक्ष्म रश्मि आदि पदार्थों के मध्य विशेष परिस्थितिजन्य उत्पन्न बलों का बंधन कार्य करता है। जब किसी कारणवश वह परिस्थिति समाप्त हो जाती है, तब वे बंधक बल भी समाप्त हो जाते हैं, जिससे कण बिखर कर उन सूक्ष्म कारणरूप सूक्ष्म रश्मि आदि पदार्थों में परिवर्तित हो जाता है, जिनसे कि उसका निर्माण हुआ होता है। उसके पश्चात् फिर जब कभी वह परिस्थिति किसी के द्वारा उत्पन्न की जाती है, तब पुनः वे सूक्ष्म कारणरूप रश्मि आदि पदार्थ बंधक बलों से युक्त होकर विभिन्न कणों वा क्वाण्टाज् को उत्पन्न करते हैं।

यहाँ प्रश्न यह उपस्थित किया जा सकता है कि संयोगजन्य वस्तु को अनादि क्यों नहीं माना जा सकता? इसके उत्तर में हमारा मत यह है कि संयोगजन्य वस्तु के कारणरूप सूक्ष्म पदार्थ परस्पर उपर्युक्त बंधक बलों से बंधे हुए होते हैं। यदि यह बंधक बल न होवें, तब संयोग ही सम्पन्न नहीं हो सकें। अब हम यह विचार करते हैं कि दो वा दो से अधिक पदार्थों के मध्य बन्धक=आकर्षण बल कैसे उत्पन्न होता है? यद्यपि हम इस विषय पर अन्य किसी ग्रन्थ में प्रकाश डालेंगे, पुनरपि यहाँ इतना अवश्य कहेंगे कि दो आकर्षित कणों व तरंगों के मध्य अति सूक्ष्म रश्मि आदि पदार्थों का विनिमय वा संचरण होता है। उनके कारण आकाश तत्व प्रभावित होकर दोनों कण वा तरंग परस्पर आकर्षित होकर बंध जाते हैं। वर्तमान विज्ञान की बल की अवधारणा अपूर्ण व अस्पष्ट है, पुनरपि वह इतना तो मानता है कि आकर्षित होने वाले दो कणों में से सूक्ष्म फील्ड रश्मियां सतत उत्सर्जित होती हैं, जिनके कारण ही आकर्षण=बन्धक बल उत्पन्न होता है। जो फील्ड रश्मियां उत्सर्जित होती हैं, वे उन सूक्ष्म कणों के अन्दर सदैव भरी रहती हैं, अन्यथा वे उनसे उत्सर्जित ही नहीं हो सकेंगी। **अब यह विचारें कि जब प्रत्येक कण के अन्दर ये रश्मियां भरी रहती हैं, तो वे कभी न कभी खाली भी हो सकती हैं अर्थात् उनमें अनन्त रश्मियों का भण्डार नहीं हो सकता। जब वह भण्डार समाप्त हो जायेगा, तब वह कण भी विनाश को प्राप्त होकर उन कारणभूत रश्मियों में परिवर्तित हो जायेगा। इसी कारण कोई भी सूक्ष्मतम कण अनादि/अजन्मा व अनन्त/अविनाशी नहीं हो सकता,** ऐसा हमारा दृढ़ मत है। यदि कोई कहे कि आकर्षित कणों के मध्य फील्ड रश्मियों का विनिमय होता है, जिससे वे रश्मियां एक चक्र के समान दोनों कणों में घूमती रहती हैं और इससे वे कभी समाप्त नहीं होती है। इस विषय में हमारा मत यह है कि चक्रवत् घूमने वाली रश्मियां दोनों कणों में एक समान न होकर पृथक्-२ होती हैं, इसके साथ ही उन रश्मियों का अति सूक्ष्म भाग आकाश तत्व में रिसता भी रहता है, **इस कारण प्रत्येक संयोगजन्य पदार्थ अर्थात् कण, क्वाण्टा आदि की आयु अनन्त नहीं है।** वर्तमान विज्ञान इलेक्ट्रॉन व फोटोन आदि की आयु अनन्त मानता है, वह उचित नहीं है। यह भ्रम इस कारण उत्पन्न हुआ है क्योंकि विज्ञान को फोटोन्स की संरचना व उत्पत्ति प्रक्रिया का किंचिद् भी ज्ञान नहीं है। यद्यपि वर्तमान में कुछ वैज्ञानिक इलेक्ट्रॉन को Cloud of tiny particles मानते हैं परन्तु इस विषय में भी अभी अपूर्ण व अस्पष्ट ज्ञान ही है। जिस दिन वर्तमान विज्ञान को कणों, क्वाण्टाज् एवं उनके मध्य कार्यरत बलों का यथार्थ स्वरूप विदित हो जायेगा, तब वे हमारे इस मत से सहमत हो सकेंगे कि कोई भी कण वा क्वाण्टा न तो अनादि/अजन्मा हो सकता है और न अविनाशी/अनन्त। हाँ, **जिस पदार्थ की कोई आन्तरिक संरचना नहीं हो, वह पदार्थ अनादि व अनन्त हो सकता है।** उस पदार्थ से ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एक निश्चित समय में बनता है और निश्चित समय पर विनष्ट होकर मूल कारण पदार्थ में परिवर्तित

भी हो जाता है। **मूल पदार्थ अनादि व अनन्त है परन्तु यह ब्रह्माण्ड न तो अनादि है और न अनन्त परन्तु निर्माण व विनाश का प्रवाह चक्र अनादि व अनन्त है।** मूल कणों व क्वाण्टाज् को अनादि व अनन्त मानने के अतिरिक्त प्रो. मित्रा साहब के अन्य रचना क्रम पर हमें विशेष आपत्ति नहीं है। हाँ इतना अवश्य है कि उनकी यह प्रक्रिया सर्वथा अपूर्ण है। वर्तमान में कुछ आधुनिक भौतिक वैज्ञानिक भी मूलकण माने जाने वाले कणों को मूलकण मानने में संदेह करने लगे हैं। जर्मनी के वैज्ञानिक Walter Greiner तथा Andereas Schofer का कथन है-

"The nonexistence of the decays n = p+e$^-$ and n = γ+γ also indicates the presence of a new quantum number. The proton and neutron are given a baryonic charge B=1 and the electron B=0. Similarly the electron is assigned leptonic charge L=1, the nucleons L=0. From the principle of simplicity it appears very unsatisfactory to regard all observed particles as elementary. (Quantum-chromodynamics-P. 1)

इससे स्पष्ट है कि वर्तमान वैज्ञानिक न केवल प्रोटोन व न्यूट्रॉन अपितु इलेक्ट्रॉन, म्यूऑन, न्यूट्रिनो आदि कणों को भी मूल पदार्थ मानने में संदेह करने लगे हैं। यही मत हम ऊपर व्यक्त कर चुके हैं। इस पर विशेष चर्चा **वैदिक सृष्टि उत्पत्ति प्रक्रिया** प्रकरण में करेंगे।

(२) इस रचना क्रम व प्रक्रिया में चेतन कर्त्ता की अनिवार्यता की चर्चा हम **'ईश्वर अस्तित्व व स्वरूप की वैज्ञानिकता'** नामक अध्याय में करेंगे।

String Theory

इस विषय में John Gribbin लिखते हैं-

"Any of a class of theories in physics that describe the fundamental particles and their interactions in terms of tiny one dimensional entities- strings. These strings from loops which are much smaller then particles such as protons, but the important point is that they are not mathematical points- even the electrons previously regarded as a point like entity, can be described in terms of string." (Q is for Quantum- particle physics from A to Z, P. 379)

वे पुनः इसी पुस्तक के पृष्ठ ३८३ पर लिखते हैं-

"The central idea of all subsequent string theories is that the conventional picture of fundamental particles (leptons and quarks) as points with no extension in any direction is replaced by the idea of particles as objects which have extension in one dimension like a line drawn on a piece of paper or the thinnest of strings. The extension is very small about 10^{-35}m. It would take 10^{20} such strings, laid end to end, to stretch across the diameter of a proton."

इन दोनों कथनों से यह संकेत मिलता है कि इस सृष्टि के जो कण मूल कण के रूप में माने जाते हैं, वे वस्तुतः सूक्ष्म strings के संघनित रूप हैं। इनमें से प्रत्येक string शून्य मोटाई वाली तथा 10^{-35} m. लम्बी होती है।

वस्तुतः यह थ्योरी सृष्टि उत्पत्ति के किसी सिद्धान्त विशेष को नहीं दर्शाती है, बल्कि यह विभिन्न कणों, क्वाण्टाज् एवं उनके मध्य कार्यरत विभिन्न प्रकार के बलों की उत्तम रीति से व्याख्या करती है,

ऐसा वैज्ञानिकों का मानना है। यह थ्योरी भी Big Bang मॉडल को ही अपने ढंग से व्याख्यात करती है। इस विषय में वैज्ञानिक कहते हैं-

"In the theory of inflation, the rapid initial expansion of the universe is caused by a hypothetical particle called the inflaton. the exact properties of this particle are not fixed by the theory but should ultimately be derived from a more fundamental theory such as string theory. Indeed there have been a number of attempts to identify an inflation within the spectrum of particles described by string theory and to study inflation using string theory. While these approaches might eventually find support in observational data such as measurement of the cosmic microwave background, the application of string theory to cosmology is still in its early stages." (String theory- Cosmology- from Wikipedia-Becker, Becker and Schwarz 2007, P.533, 539-43)

इससे स्पष्ट होता है कि वैज्ञानिक string theory से Big Bang Theory की ही व्याख्या करते हैं। इसमें ब्रह्माण्ड का प्रसार cosmic background radiation आदि सभी की व्याख्या की जाती है। इस कारण यह थ्योरी सृष्टि उत्पत्ति विषय में कोई नई थ्योरी प्रस्तुत नहीं करती है बल्कि बिग बैंग की ही पुष्टि करती है। इस कारण इसकी सृष्टि उत्पत्ति एवं सृष्टि के मूल उपादान कारण के विषय में समीक्षा तब अनावश्यक है, जबकि हम बिग बैंग, ब्रह्माण्ड का प्रसार आदि की समीक्षा कर ही चुके हैं। जहाँ तक विभिन्न कथित मूलकणों को एक string के समान मानने का प्रश्न है, यह हमें परम्परागत point particle की अपेक्षा कुछ अधिक उपयुक्त प्रतीत है। ये strings कैसे व किसमें उत्पन्न होती है, यह सब अंधेरे में हैं। यद्यपि यह भी एक तथ्य है कि string theory को वर्तमान में अनेक वैज्ञानिक स्वीकार नहीं कर पा रहे हैं। ब्रिटिश वैज्ञानिक Lee Smolin ने तीन वैज्ञानिकों को उद्धृत करते हुये लिखा है-

(1) "Gerard't Huf a noble prize winner for his work in elementary physics has characterized the state of string theory this way! 'Actually, I would not even be prepared to call string theory a 'theory' rather a 'model' or not even that: just a hunch" (The trouble with physics: Introduction P. XV)
(2) David Gross, a noble laureate for his work on the standard model, has since become one of the most aggressive and formidable champions of string theory- says- "we don't know what we are taking about?" (id. P-XV)
(3) Brian Greene (String theorist) अपनी latest book 'The Fabric of the Cosmos' में लिखते हैं-

"Even today, more than three decades after its initial articulation, more string practitioners believe we still don't have a comprehensive answer to the rudimentary question, what is string theory? (id. P. XV)

इन तीनों वैज्ञानिकों के कथनों से यही निष्कर्ष निकलता है कि वर्तमान वैज्ञानिक string theory के प्रति निराशा व संदेह की स्थिति में हैं। पुस्तक के लेखक Lee Smolin ने भी अपनी उपर्युक्त पुस्तक के Introduction में लिखा है कि पिछले तीस वर्ष में विज्ञान ने string theory के क्षेत्र में कोई महत्वपूर्ण खोज नहीं की है।

मेरी string theory पर चर्चा पिछले कई वर्षों से कई भारतीय वैज्ञानिकों से हुई है परन्तु इसके विषय में इनकी प्रायः अनभिज्ञता, अरुचि वा सन्देह ही देखा है परन्तु मैं कई वर्ष से इसको महत्व की दृष्टि से देखता रहा हूँ। सन् २०१२ में भारतीय वैज्ञानिक प्रो. अशोक सेन को string theory के क्षेत्र में अनुसंधान करने पर अन्तर्राष्ट्रिय स्तर का Fundamental Physics पुरस्कार मिला, जिससे मेरे

string theory के प्रति दृष्टिकोण को बल मिला। यद्यपि मैं विज्ञान के क्षेत्र में हो रहे नाना शोध कार्यों और उन पर मिल रहे नोबेल आदि पुरस्कारों से सर्वथा अप्रभावित रहते हुये ही अपना कार्य करता हूँ। नोबेल पुरस्कार तो बिग बैंग थ्योरी के क्षेत्र में भी मिल चुके हैं परन्तु मेरे मस्तिष्क ने बिग बैंग थ्योरी को कभी स्वीकार नहीं किया। इसके विपरीत string theory की कुछ बातों को मैंने कभी सर्वथा नकारा नहीं। **जब तक यह थ्योरी स्पष्ट व विस्तृत रूप में प्रकाशित नहीं हो जाती, तब तक इस पर विशेष समीक्षा करना उचित नहीं है।** यदि यह थ्योरी आधुनिक विज्ञान के कई रहस्य सुलझाने का दावा करती है, तब इसका स्वागत ही किया जाना चाहिये। हाँ, इतना अवश्य है कि इस थ्योरी की तार्किक समीक्षा तो करनी ही चाहिये। सम्प्रति इतना तो विचार करना ही चाहिए कि जिन strings से elementary particles का निर्माण माना जाता है, उन strings का निर्माण कब व कैसे होता है? इनकी लम्बाई प्लांक दूरी के बराबर माना जाता है, तब क्या इनमें कम्पन इस लम्बाई से कम दूरी में होता है? क्या string की ऊर्जा h से न्यून होती है? हमारे मत में ऐसा ही होना चाहिए। इनको ऊर्जा कहाँ से कौन प्रदान करता है, जिससे ये विभिन्न मूलकणों, फोटोन्स व space का निर्माण करने में समर्थ होती हैं।

वस्तुतः string व point दोनों के मध्य की स्थिति अधिक वैज्ञानिक है, इस विषय में हम मूलकणों की उत्पत्ति व संरचना के बारे में किसी पृथक् ग्रन्थ में चर्चा करते हुये करेंगे। वैसे विज्ञ पाठक इस ग्रन्थ में भी इसे जान सकते हैं।

इस प्रकार सृष्टि उत्पत्ति के वर्तमान विज्ञान मुख्य दो ही सिद्धान्त मानता है, जिनकी विस्तृत समीक्षा हम कर चुके हैं। M-Theory भी Big Bang का ही एक भाग है। यह theory, theory of everything अर्थात् unified theory का दावा तो करती है परन्तु यह स्वयं कल्पना मात्र है। **Unified theory अर्थात् Theory of Everything केवल वैदिक विज्ञान के पास है,** जिसकी चर्चा आगे की जायेगी। सुधी पाठक इससे समझ सकेंगे कि सृष्टि उत्पत्ति की प्रारम्भिक स्थिति के विषय में वर्तमान विज्ञान अंधेरे में है। हाँ, आगे की प्रक्रिया पर वर्तमान विज्ञान विस्तार से अच्छा प्रकाश डालता है, जिसकी चर्चा यहाँ करना हम अप्रासंगिक समझते हैं, पुनरपि हम इतना अवश्य कहना चाहते हैं कि सम्पूर्ण वर्तमान विज्ञान में भी अनेक ऐसे गम्भीर प्रश्न हैं, जिनका समाधान अभी तक सम्भव नहीं हो पाया है। ऐसे प्रश्नों पर विचार हम आगामी अध्यायों में करेंगे। इसके साथ ही उनका समाधान वैदिक विज्ञान के द्वारा करने का प्रयत्न करेंगे। इति।

M-Theory: The Theory of Everything

M-Theory के विषय में Stephen Hawking लिखते हैं-

> "M-Theory has solutions that allow for many different internal spaces, perhaps as many as 10^{500}, which means it allows for 10^{500}different universes, each with its own laws." (The Grand Design- P. 118)

M-Theory की व्याख्या करते हुये हॉकिंग इसी पुस्तक में लिखते हैं-

> "That more fundamental theory is called M-theory, as we mentioned earlier. No one seems to know what the 'M' stands for, but it may be 'master', 'miracle' or 'mystery'. It seems to be all three." (id. P.117)

इससे स्पष्ट है कि हॉकिंग M-Theory को सबसे मूलभूत, रहस्यमयी, आश्चर्यजनक एवं प्रामाणिक थ्योरी मानते हैं।

समीक्षा- यहाँ हॉकिंग ने ब्रह्माण्ड की जो संख्या बताई है, वह 10^{500} संख्या अत्यन्त बड़ी व विचित्र है। यहाँ सर्वप्रथम प्रश्न यह उठता है कि हॉकिंग ब्रह्माण्ड की क्या परिभाषा करते हैं? उनके कथन से यह प्रतीत होता है कि वे ऐसे क्षेत्र को एक ब्रह्माण्ड मानते हैं, जिनमें भौतिकी के समान नियम कार्य करते हैं। वर्तमान में लगभग अरबों गैलेक्सियों वाले क्षेत्र विशेष में भौतिकी के समान नियम कार्य कर रहे हैं, उसे यदि एक ब्रह्माण्ड मानें, तब 10^{500} संख्या में ब्रह्माण्ड का होना आश्चर्य का विषय है। प्रथम तो अभी तक इसी ब्रह्माण्ड की परिमितता वा अपरिमितता का निश्चय नहीं हुआ है। वर्तमान दृश्य ब्रह्माण्ड की त्रिज्या वर्तमान वैज्ञानिक 10^{26}m. मानते हैं। उधर एक इलेक्ट्रॉन की त्रिज्या 10^{-16}m. मानते हैं। यदि यह भी कल्पना करें कि इलेक्ट्रॉन्स को इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में अत्यधिक निकटता से भर दिया जाये, कहीं भी रिक्त स्थान किंचित् भी न रह पाये, तब इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में मात्र $(10^{26})^3/(10^{-16})^3 = 10^{126}$ इलेक्ट्रॉन्स ही समा सकेंगे। ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण सृष्टि के सापेक्ष अपने ब्रह्माण्ड का आयतन इलेक्ट्रॉन की अपेक्षा $10^{500-126} = 10^{374}$ वां भाग ही माना जा सकेगा। हमें आश्चर्य है कि हॉकिंग साहब ने 10^{500} संख्या की कल्पना ही कैसे कर डाली? ऐसा माना जाता है कि इस गणना का आधार String Theory ही है। आश्चर्य यह है कि इन सभी ब्रह्माण्डों में 10^{500} प्रकार के भौतिकी के पृथक्-२ नियम माने जा रहे हैं। अभी वैज्ञानिकों को इस एक ब्रह्माण्ड में कार्य करने वाले भौतिकी के पृथक्-२ नियम ही पूर्ण रूप से ज्ञात नहीं, तब 10^{500} प्रकार के ब्रह्माण्डों के 10^{500} प्रकार के नियम कैसे जान पाएंगे? क्या कहीं नाभिकीय बल गुरुत्व बल की तुलना में अति न्यून भी होगा, तब पदार्थ का निर्माण कैसे होगा? क्या कहीं प्रकाश की गति सबसे न्यून और किसी शरीरधारी प्राणी की गति प्रकाश की गति से लाखों गुनी अधिक भी होगी? तब उस ब्रह्माण्ड का स्थायित्व व प्रकाशन कैसे होगा? ऐसे असंख्य प्रश्न हो सकते हैं। इस ब्रह्माण्ड के असंख्य नियम यदि 10^{500} प्रकार के विकल्प हों, तब व्यवस्था नाम की कोई वस्तु नहीं होगी। वैज्ञानिक क्षमा करें, हॉकिंग साहब की The Grand Design पुस्तक में कल्पनाओं की ही भरमार है, जबकि वे नाना सम्प्रदायों की ईश्वर सम्बन्धी कल्पनाओं पर व्यंग्य कर रहे हैं। इस पुस्तक में वैज्ञानिकता कहीं से भी दिखाई नहीं देती।

आश्चर्य है कि ऐसी हास्यास्पद पुस्तक का इस संसार में इतना प्रचार हुआ मानो इस पुस्तक से ईश्वर का अस्तित्व ही नष्ट हो गया। **इस M-Theory को बहुत चमत्कारी बताया। वस्तुतः विभिन्न सम्प्रदायों के कथित चमत्कारों से बड़ी चमत्कारी यह थ्योरी है। इसे थ्योरी नाम देना ही उचित नहीं। इसे केवल मिथ्या कल्पना कहना ही युक्तिसंगत है।** इस M-Theory को ही Hawking ने Theory of Everything कहा है। The Grand Design में इन्होंने string theory को अनुभवहीनता का परिणाम बताया है, जबकि इसी के आधार पर ब्रह्माण्डों की संख्या 10^{500} भी मान ली है। यह हॉकिंग का बचकानापन ही है। आजकल वे नित नई कल्पनाएं दे कर सुर्खियों में बने रहना चाहते हैं। हम इसे वर्तमान वैज्ञानिक जगत् के पतन की ही संज्ञा देंगे। वे किसी की भी आपत्ति का कभी उत्तर नहीं देते, आश्चर्य!

हमने यहाँ आधुनिक सृष्टि विज्ञान की संक्षिप्त समीक्षा की है। हम इस पर प्रचलित विभिन्न मॉडल्स को विस्तार से प्रस्तुत करके अधिक विस्तृत समीक्षा लिख सकते थे परन्तु ऐसा करके ग्रन्थ का आकार बढ़ाना उचित नहीं समझा। सत्यपिपासु इतने से ही सत्य का अनुमान कर लेंगे।

ॐ इति पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ॐ

षष्ठोऽध्यायः

“

शून्य से ईश्वर भी सृष्टि की रचना नहीं कर सकता है। सृष्टि रचना के लिए अनादि जड़ उपादान कारण की आवश्यकता अवश्य होती है परन्तु जड़ पदार्थ में स्वयं गति, क्रिया नहीं होती, इस कारण इन्हें उत्पन्न करने में ईश्वर की भूमिका अवश्य होती है।

”

जब से मनुष्य इस पृथिवी पर जन्मा है, तभी से उसे ईश्वर तत्व के विषय में कुतूहल रहा है और प्रायः मनुष्य ईश्वर को किसी न किसी प्रकार से मानता भी रहा है। वैदिक मत, जो महाभारत काल तक इस पृथिवी पर एकमात्र सत्य व सार्वकालिक धर्म के रूप में प्रचलित था, ईश्वर तत्व का सुन्दर व वैज्ञानिक स्वरूप प्रस्तुत करता है। महाभारत युद्ध के उपरान्त वैदिक धर्म का पतन होते-२ भूमण्डल पर अनेकों मत मतान्तरों का जन्म हुआ और उन्होंने ईश्वर तत्व के सत्य स्वरूप के स्थान पर अपनी-२ कल्पना के अनुसार नाना प्रकार के ईश्वरों की विभिन्न मान्यताओं का प्रचार किया। नाना कल्पित ईश्वरों की मान्यता ने इस संसार में अनेक परस्पर विरुद्ध कल्पित मत-सम्प्रदायों को जन्म दिया। इनमें से अनेक मत दूसरे मतों के विरुद्ध प्रतिक्रियावश उत्पन्न होते गये। संसार में चार्वाक, बौद्ध व जैन आदि नास्तिक मत कुछ कल्पित ईश्वरवादी मतों के पशुबलि आदि पापों के विरुद्ध प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न हुए। उधर इस्लाम आदि मत विकृत वैदिक धर्म के मूर्तिपूजा, बहुदेववादादि भ्रान्त धारणाओं की प्रतिक्रियावश उत्पन्न हुये। सिख आदि कुछ मत सामाजिक समरसता व मत मतान्तरों की एकता के उद्देश्य से चलाये गये। सार यह है कि भूमण्डल में सर्वमान्य एकमात्र सत्य सनातन वैदिक मत के स्थान पर हजारों मत-मतान्तर उत्पन्न हो गये और सम्पूर्ण मानवता खण्ड-२ हो गयी। अपनी-२ अंध आस्थाओं के आधार पर नाना ईश्वरों की पूजा नाना प्रकार से इस संसार में हो रही है, तो कुछ ईश्वर की सत्ता को ही अस्वीकार कर रहे हैं। ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार करने वाले चार्वाक, जैन व बौद्ध मत का दार्शनिक व वैज्ञानिक दृष्टि से कोई विशेष महत्व नहीं है परन्तु वर्तमान विकसित विज्ञान का नितान्त भोगवादी प्रवाह धर्म व ईश्वर की सत्ता को विशेष चुनौती दे रहा है। इस चुनौती को स्वीकार करने का सामर्थ्य ईश्वरवादी मतों पौराणिक मत (वैदिक धर्म का विकृत रूप, जिसे आज हिन्दू वा सनातन धर्म नाम दिया जाता है), ईसाई, इस्लामी, सिख, यहूदी आदि किसी के भी पास दिखाई नहीं देता। यही कारण है कि इन मतों के दृढ़ अनुयायी भी वर्तमान विज्ञान की चकाचौंध में पाश्चात्य भोगवादी विचारधारा के प्रवाह में तीव्र वेग से बहे जा रहे हैं। सभी ईश्वरवादी मत अपने-२ कर्मकाण्डों का निर्वहन भले ही करते प्रतीत हो रहे हों, अन्दर से ईश्वर के प्रति अविश्वास से भरते जा रहे हैं। कुछ कट्टरपंथियों के अतिरिक्त अधिकांश ईश्वरवादी अपने-२ शास्त्रों का न तो गम्भीर अध्ययन करते हैं और न उन पर दृढ़ता से विश्वास करते हैं। अमरीका वा यूरोप आदि देश भले ही संसार भर में ईसाई मिशनरी भेजकर ईसाईकरण का षड्यन्त्र चला रहे हैं परन्तु अन्दर से वहाँ युवा पीढ़ी बाईबिल की शिक्षाओं से दूर होकर आधुनिक भोगवादी दलदल में पूर्णरूप से फंस चुकी है। इस्लामी देशों में भी ऐसी हवा चलने लगी है। जो कट्टरवादी हैं, वे कुरान के प्रति कट्टरवादी होते हुए भी आधुनिकता से बच नहीं पा रहे हैं। वे अपने कल्पनाप्रसूत जेहाद के आवेग में कुरान को भी यथार्थ रूप में समझ नहीं पा रहे हैं। वे केवल क्रूरतापूर्वक हिंसा-रक्तपात को ही ईश्वरीय आदेश मानकर सम्पूर्ण संसार को आतंकित करने में ही अपनी जन्नत समझ रहे हैं। कथित हिन्दू वेद शास्त्रों व ईश्वर के नाम पर मूर्तिपूजा, अवतारवाद, छूआछूत, घृणा, नारी शोषण आदि पापों को शताब्दियों से ढोकर वैदिक सत्य सनातन धर्म का नाश करते रहे हैं। वेद के स्थान पर नाना कल्पित ग्रन्थ, कथित धर्मगुरु व अवतारों की धारणा से वैदिक धर्म व संस्कृति का भयंकर विकृत रूप प्रचलित हो गया। **हिन्दुओं में ईश्वर की स्थिति सर्वाधिक हास्यास्पद, विकृत, मूर्खतापूर्ण व भयंकर है। यहाँ कोई भी चालाक व्यक्ति स्वयं को ईश्वर का अवतार घोषित करके नादान जनता को ठग सकता है। मनुष्य ही नहीं, अपितु पशु, पक्षी, सरीसृप आदि भी इस अभागे भारत में ईश्वर का अवतार मान लिए गये। आज ईश्वर व धर्म को मात्र आस्था व विश्वास का विषय मान लिया है, इस कारण करोड़ों लोगों की आस्थाएं परस्पर टकराती रही हैं, एक-दूसरे का खून बहाती रही हैं। इस संसार में जितना रक्त ईश्वर व धर्म के नाम पर बहा है, उतना कदाचित् ही अन्य कारणों से बहा हो।** अस्तु।

ईश्वर के अस्तित्व की वैज्ञानिकता

अब हम ईश्वर तत्व पर निष्पक्ष वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करते हैं। इस विवेचना से पूर्व पाठकों को **'आधुनिक सृष्टि उत्पत्ति विज्ञान समीक्षा'** अध्याय को गम्भीरता से पढ़ना अनिवार्य है, अन्यथा इस अध्याय को उचित प्रकार से नहीं समझा जा सकेगा। हम संसार के समस्त ईश्वरवादियों से पूछना चाहते हैं कि क्या ईश्वर नाम का कोई पदार्थ इस सृष्टि में विद्यमान है, भी वा नहीं? जैसे कोई अज्ञानी व्यक्ति

भी सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, तारे, आकाशगंगाओं, वनस्पति एवं प्राणियों के अस्तित्व पर कोई शंका नहीं करेगा, क्या वैसे ही इन सब वास्तविक पदार्थों के मूल निर्माता व संचालक ईश्वर तत्व पर सभी ईश्वरवादी शंका वा संदेह से रहित हैं? **क्या संसार के विभिन्न पदार्थों का अस्तित्व व स्वरूप किसी की आस्था व विश्वास पर निर्भर करता है? यदि नहीं तब इन पदार्थों का निर्माता माने जाने वाला ईश्वर क्यों किसी की आस्था व विश्वास के आश्रय पर निर्भर है?** हमारी आस्था न होने से क्या ईश्वर नहीं रहेगा? हमारी आस्था से संसार का कोई छोटे से छोटा पदार्थ भी न तो बन सकता है और न आस्था के समाप्त होने से किसी पदार्थ की सत्ता नष्ट हो सकती है, तब हमारी आस्थाओं से ईश्वर क्योंकर बन सकता है और क्यों हमारी आस्था समाप्त होने से ईश्वर मिट सकता है? क्या हमारी आस्था से सृष्टि के किसी भी पदार्थ का स्वरूप बदल सकता है? यदि नहीं, तो क्यों हम अपनी-२ आस्थाओं के कारण ईश्वर के रूप बदलने की बात कहते हैं? **संसार की सभी भौतिक क्रियाओं के विषय में कहीं किसी का विरोध नहीं, कहीं आस्था, विश्वास की बैसाखी की आवश्यकता नहीं, तब क्यों ईश्वर को ऐसा दुर्बल व असहाय बना दिया, जो हमारी आस्थाओं में बंटा हुआ मानव और मानव के मध्य विरोध, हिंसा व द्वेष को बढ़ावा दे रहा है।** हम सूर्य को एक मान सकते हैं, पृथिवी आदि लोकों, अपने-२ शरीरों को एक समान मानकर आधुनिक भौतिक विद्याओं को मिलजुल कर पढ़ व पढ़ा सकते हैं, तब क्यों हम ईश्वर और उसके नियमों को एक समान मानकर परस्पर मिलजुल कर नहीं रह सकते? हम ईश्वर की बनाई हुई सृष्टि एवं उसके नियमों पर बिना किसी पूर्वाग्रह के संवाद व तर्क-वितर्क प्रेमपूर्वक करते हैं, तब क्यों इस सृष्टि के रचयिता ईश्वर तत्व पर किसी चर्चा, तर्क से घबराते हैं? क्यों किंचित् मतभेद होने मात्र से फतवे जारी करते हैं; आगजनी, हिंसा पर उतारू हो जाते हैं। **क्या सृष्टि के निर्माता ईश्वर तत्व की सत्ता किसी की शंका व तर्क मात्र से हिल जायेगी, मिट जायेगी?**

यदि ईश्वर तर्क, विज्ञान वा विरोधी पक्ष की आस्था व विश्वास तथा अपने पक्ष की अनास्था व अविश्वास से मिट जाता है, तब ऐसे ईश्वर का मूल्य ही क्या है? ऐसे परजीवी, दुर्बल, असहाय ईश्वर की पूजा करने से क्या लाभ? उसे क्यों माना जाये? क्यों उस कल्पित ईश्वर और उसके नाम से प्रचलित कल्पित धर्मों में व्यर्थ माथापच्ची करके धन, समय व श्रम का अपव्यय किया जाये?

ईश्वरप्रसूत भौतिकी के नियम

मेरे प्रबुद्ध पाठकगण! जरा विचारें कि **यदि ईश्वर नाम की कोई सत्ता वास्तव में संसार में विद्यमान है, तो वह हमारे विश्वास, आस्थाओं के सहारे जीवित नहीं रहेगी। वह सत्ता निरपेक्ष रूप से यथार्थ विज्ञान के द्वारा जानने योग्य भी होगी।** उसका एक निश्चित स्वरूप होगा, उसके निश्चित नियम होंगे। ईश्वर के भौतिक नियमों के विषय में Richard P. Feynman का कथन है-

"We can imagine that this complicated array of moving things which constitutes 'the world' is something like a great chess game being played by the gods, and we are observers of the game. We do not know what the rules of the games are, all we are allowed to do is to watch the playing. Of course, if we watch long enough, we may eventually catch on to a few rules. The rules of the game are what we mean by fundamental physics." (Lectures on Physics- P. 13)

इसका आशय यह है कि यह संसार निश्चित नियमों से बना व चल रहा है। वे नियम ईश्वर द्वारा बनाये गये हैं और वही उनको लागू करके संसार को बनाता व चलाता है। वैज्ञानिक उन असंख्य नियमों में से कुछ को जान भर सकते हैं, उन्हें बना वा लागू नहीं कर सकते। यहाँ फाइनमेन ने एक भारी भूल अवश्य कर दी, जो 'God' के स्थान पर 'gods' लिख दिया। यदि नियम बनाने वाले अनेक 'gods' होंगे, तो उन नियमों में सामंजस्य नहीं बैठेगा। सभी 'gods' को समन्वित व नियन्त्रित करने वाला कोई 'Supreme god' अर्थात् 'God' की सत्ता अवश्य माननी होगी और मूलभूत भौतिकी के नियम बनाने वाला एक ही 'God' होगा।

अब हम विचारें कि उस 'God' अर्थात् ईश्वर के भौतिक नियम ही मूलभूत भौतिक विज्ञान नाम से जाने जाते हैं। इसी विज्ञान पर सम्पूर्ण भौतिक विज्ञान, खगोल, रसायन, जीव, वनस्पति, भूगर्भ, इंजीनियरिंग, मेडिकल सायंस आदि सभी शाखाएं आश्रित हैं। मूलभूत भौतिकी के बिना संसार में विज्ञान का अस्तित्व ही सम्भव नहीं है। **जब ईश्वर के भौतिक नियम, जिनसे इस संसार को जाना जाता है, ब्रह्माण्ड भर के बुद्धिवादी प्राणी वा मनुष्यों के लिए समान हैं, तब उस ईश्वर को जानने के लिए आवश्यक उसी के बनाये आध्यात्मिक नियम अर्थात् अध्यात्म विज्ञान (जिसे प्रायः धर्म कहा जाता है।) भी तो सभी मनुष्यों के लिए समान ही होंगे।** आश्चर्य है कि इस साधारण तर्क को समझने की भी बुद्धि ईश्वरवादियों में नहीं रही, तब निश्चित ही यह उनकी कल्पनाप्रसूत ईश्वरीय धारणा व कल्पित उपासना-पूजा पद्धति का ही फल है, जहाँ सत्य के अन्वेषण की वैज्ञानिक मेधा कहीं पलायन कर गयी है।

ईश्वरवादी वैज्ञानिक केवल Feynman ही नहीं है, अपितु अनेक प्रतिभाशाली वैज्ञानिक ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते रहे हैं व करते हैं। क्योंकि वर्तमान विज्ञान केवल प्रयोगों, प्रेक्षणों व गणितीय व्याख्याओं के सहारे ही जीता है और यही उसका स्वरूप भी है। इस कारण वह ईश्वर की व्याख्या इनके सहारे तो, नहीं कर सकता और न वह इसकी व्याख्या की इच्छा करता है। उधर Stephen Hawking ने तो 'The Grand Design' पुस्तक में मानो संसार के सभी ईश्वरवादियों को मूर्ख समझकर निरर्थक व्यंग्य किये हैं। **विज्ञान का नाम लेकर स्वयं अवैज्ञानिकता का ही परिचय दिया है।** इस पुस्तक से पूर्व उन्हीं की पुस्तकों में वे ईश्वर की सत्ता स्वीकार करते हैं, फिर मानो अकस्मात् वे भारी खोज करके संसार में घोषणा करते हैं कि ईश्वर नाम की कोई सत्ता ब्रह्माण्ड में नहीं है। उधर आज संसार में ऐसा भयंकर पाप प्रवाह चल रहा है कि ईश्वरवादी कहाने वाले भी ऐसा व्यवहार कर रहे हैं, मानो उनके ऊपर ईश्वर नाम की कोई सत्ता न हो, वे अहंकारी मानव स्वयं को ही सर्वोच्च सत्ता की भांति व्यवहार का प्रदर्शन करते देखे जाते हैं। इस कारण हम संसार भर के वैज्ञानिक अनीश्वरवादियों व ईश्वरवादियों दोनों का ही आह्वान करना चाहेंगे कि वे ईश्वर की सत्ता पर खुले मस्तिष्क से विचार करने को उद्यत हो जाएं। आज अनेक ईश्वरवादी विद्वान् ईश्वरवादी वैज्ञानिकों के प्रमाण देते देखे वा सुने जाते हैं, परन्तु हम ईश्वरीय सत्ता का प्रमाण किसी वैज्ञानिक से लेना आवश्यक नहीं समझते। अब वह समय आयेगा, जब वर्तमान वैज्ञानिक हम वैदिक वैज्ञानिकों को प्रमाण मानना प्रारम्भ करके नये वैज्ञानिक युग का सूत्रपात करेंगे अर्थात् हमारे साथ मिलकर कार्य करेंगे। हम आज विश्वभर के समस्त प्रबुद्ध समाज से घोषणापूर्वक कहना चाहेंगे कि **यदि ईश्वर नहीं है, तो सब झंझट छोड़कर नितान्त नास्तिक व स्वच्छन्द बन जाएं और यदि ईश्वर सिद्ध होता है; तो उसकी आज्ञा में चलकर मर्यादित जीवन जीते हुये संसार को सुखी बनाने का प्रयत्न करें, क्योंकि सम्पूर्ण संसार उसी ईश्वर की रचना है और इस कारण सभी मानव ही नहीं, अपितु प्राणिमात्र परस्पर भाई-२ हैं।**

अब हम ईश्वर के अस्तित्व पर नये सिरे से विचार करते हैं-

हमने अब तक वैज्ञानिकों से जो भी चर्चा सृष्टि विज्ञान पर की है, उससे एक विचार यह सामने आता है कि वैज्ञानिक **'क्यों'** प्रश्न का उत्तर नहीं देते, क्योंकि उनकी दृष्टि में यह विज्ञान का विषय नहीं है। हम संसार में नाना स्तरों पर कुछ प्रश्नवाचक शब्दों का सामना करते हैं- **(१) क्यों (२) किसने (३) किसके लिए (४) क्या (५) कैसे** आदि

इन प्रश्नों में से **'क्या', 'कैसे'** के उत्तर के विषय में वर्तमान विज्ञान विचार करने का प्रयास करता प्रतीत हो रहा है। यद्यपि इन दोनों ही प्रश्नों का पूर्ण समाधान तो विज्ञान के पास नहीं परन्तु प्रयास अवश्य ईमानदारी से हो रहा है। अन्य प्रश्न **'क्या', 'किसने'** एवं **'किसके लिए'** इन तीन प्रश्नों के विषय में विचार करना भी आधुनिक विज्ञान के लिए किंचिदपि रुचि का विषय नहीं है। हम इन प्रश्नों के आशय पर क्रमशः विचार करते हैं-

(१) क्यों- यह प्रश्न प्रयोजन की खोज के लिए प्रेरित करता है। हम निःसन्देह सारे जीवन नाना प्रकार के कर्मों को करते एवं नाना द्रव्यों का संग्रह करते हैं। इन सबका कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होता है। कोई भी बुद्धिमान् प्राणी किसी न किसी प्रयोजन हेतु ही कोई प्रवृत्ति रखता है। मूर्ख मनुष्य भले ही निष्प्रयोजन कर्मों में प्रवृत्त रहता हो, बुद्धिमान् तो कदापि ऐसा नहीं करेगा। **संसार पर विचारें कि यह**

क्यों बना व क्यों संचालित हो रहा है? इसकी प्रत्येक गतिविधि का कोई न कोई प्रयोजन अवश्य है। 'क्यों' प्रश्न की उपेक्षा करने वाला कोई वैज्ञानिक क्या यह मानता है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड निष्प्रयोजन रचना है? हमारे विचार से प्रत्येक मनुष्य को सर्वप्रथम 'क्यों' प्रश्न का उत्तर ही खोजने का यत्न करना चाहिये। जिस प्रकार वह कोई कर्म करने से पूर्व उसका प्रयोजन जानता है, उसी प्रकार इस सृष्टि के उत्पन्न होने, किसी शरीरधारी के जन्म लेने का प्रयोजन जानने का भी प्रयत्न करना चाहिये। वर्तमान विज्ञान के इस प्रश्न से दूर रहने से ही आज वह अनेकों अनुसन्धान करते हुए भी उनके प्रयोजन व दुष्प्रभाव पर विचार नहीं करता है। इसी कारण मानव को अपने विविध क्रियाकलापों, यहाँ तक कि जीने के भी प्रयोजन का ज्ञान नहीं होने से भोगों की अति तृष्णा में भटकता हुआ अशान्ति व दुःखों के जाल में फंसता जा रहा है।

(२) **किसने-** यह प्रश्न **'क्यों'** से जुड़ा हुआ है। कोई कार्य किस प्रयोजन के लिए हो रहा है, इसके साथ ही इससे जुड़ा हुआ अन्य प्रश्न यह भी उपस्थित होता है कि उस कार्य को किसने सम्पन्न किया अथवा कौन सम्पन्न कर रहा है अर्थात् उसका प्रायोजक कौन है? **इस सृष्टि की प्रत्येक क्रिया का एक निश्चित प्रयोजन है, साथ ही उसका प्रायोजक कोई चेतन तत्व है। कोई जड़ पदार्थ प्रायोजक नहीं होता। जड़ पदार्थ प्रयोजन की सामग्री तो बन सकता है परन्तु उसका कर्त्ता अर्थात् प्रायोजक नहीं।** चेतन तत्व ही जड़ तत्व पर साम्राज्य व नियन्त्रण करता है। चेतन तत्व स्वतन्त्र होने से कर्त्तापन का अधिकारी है, जबकि जड़ पदार्थ स्वतन्त्र नहीं होने से कर्त्तृत्व सम्पन्न नहीं हो सकता।

(३) **किसके लिए-** यह प्रश्न इस बात का विचार करता है कि किसी कर्त्ता ने कोई कार्य किया वा कर रहा है, तो क्या वह कार्य स्वयं के लिए किया वा कर रहा है अथवा अन्य किसी चेतन तत्व के लिए कर रहा है? यहाँ कोई उपभोक्ता होगा और **उपभोक्ता भी चेतन ही होता है। जड़ पदार्थ कभी भी न तो स्वयं का उपभोग कर सकता है और न वह दूसरे जड़ पदार्थों का उपभोग कर सकता है।**

(४) **क्या-** यह प्रश्न पदार्थ के स्वरूप की पूर्णतः व्याख्या करता है। जगत् क्या है? इसका स्वरूप क्या है? मूल कण क्या हैं? ऊर्जा व द्रव्य क्या है? बल क्या है? इन सब प्रश्नों का समाधान इस क्षेत्र का विषय है। वर्तमान विज्ञान तथा दर्शन शास्त्र दोनों इस प्रश्न का उत्तर देने का यथासम्भव प्रयास करते हैं। इसका क्षेत्र बहुत व्यापक है। वर्तमान विज्ञान इस प्रश्न का सम्पूर्ण उत्तर देने में समर्थ नहीं है। **जहाँ विज्ञान असमर्थ हो जाता है, वहाँ वैदिक विज्ञान किंवा दर्शन शास्त्र इसका उत्तर देता है।**

(५) **कैसे-** कोई भी क्रिया कैसे सम्पन्न होती है? जगत् कैसे बना है? द्रव्य व ऊर्जा कैसे व्यवहार करते हैं? बल कैसे कार्य करता है? इन सभी प्रश्नों का समाधान इस क्षेत्र का विषय है। वर्तमान विज्ञान इस क्षेत्र में कार्य करता है परन्तु इसका भी पूर्ण सन्तोषप्रद उत्तर इसके पास नहीं है। अन्य प्रश्नों के उत्तर जाने बिना इसका सन्तोषप्रद उत्तर मिल भी नहीं सकता।

इन पांच प्रश्नों के अतिरिक्त अन्य कुछ प्रश्न भी हैं, जिनका समायोजन इन पांचों प्रश्नों में ही प्रायः हो सकता है।

अब हम सृष्टि उत्पत्ति के सन्दर्भ में क्यों व किसने प्रश्नों पर क्रमशः विचार करते हैं-

(क) Big Bang Theory के सन्दर्भ में

पूर्वोक्त Big Bang Theory में अनेक प्रश्न निम्नानुसार उपस्थित होते हैं-

(१) अनन्त सघन व अनन्त तापयुक्त शून्य आयतन वाले पदार्थ में अकस्मात् विस्फोट क्यों हुआ तथा इसे किसने किया?

(२) यदि Steven Weinberg के Big Bang पर विचार करें तो, वहाँ भी क्यों व किसने प्रश्न उपस्थित होंगे ही। यदि चेतन नियन्त्रक सत्ता को स्वीकार किया जाये, तो कहा जा सकता है कि उसने किया और बुद्धिमत्तापूर्ण जीवों के उपयोग में आने योग्य सृष्टि का निर्माण करने के लिए विस्फोट किया परन्तु अनीश्वरवादी इसका उत्तर कभी नहीं दे सकते। एक वैज्ञानिक ने मुझे पूछा कि यदि ईश्वर मानें, तो भी यह प्रश्न उठेगा कि ईश्वर ने अकस्मात् आज से लगभग १३.८ अरब वर्ष पूर्व ही क्यों विस्फोट

किया? तो इसके उत्तर में ईश्वरवादी तो उचित उत्तर दे सकता है। **चेतन तत्व इच्छा व ज्ञान शक्ति से सम्पन्न होता है। वह किसी कार्य का समय व प्रयोजन अपनी बुद्धि विवेक से निश्चित कर सकता है।** कोई चिड़िया पेड़ से अमुक समय पर क्यों उड़ी? मैं अमुक समय पर अमुक कार्य क्यों करने बैठा? मैं भूख न लगने पर भोजन करूँ वा नहीं करूँ, यह मेरी इच्छा व विवेक का विषय है, यहाँ 'क्यों' प्रश्न उचित नहीं है परन्तु वृक्ष से पत्ता क्यों गिरा? बादल अभी क्यों बरसने लगे? पानी नीचे की ओर क्यों बह रहा है? इन प्रश्नों का उत्तर अवश्य देने योग्य है। यहाँ इच्छा एवं विवेक नहीं है। इस कारण ईश्वरवादी Big Bang के समय व प्रयोजन के औचित्य को सिद्ध कर सकता है, अनीश्वरवादी कभी नहीं। मेरे यह कहने का प्रयोजन यह नहीं है कि ईश्वर के द्वारा Big Bang सम्भव है अर्थात् यदि बिग बैंग थ्योरिस्ट ईश्वर की सत्ता को मान लें, तो Big Bang Theory सत्य हो सकती है। नहीं, ईश्वर तत्व भी वर्तमान वैज्ञानिकों वाले Big Bang को सम्पन्न नहीं कर सकता है। Big Bang कैसे होता है? इसका समाधान ईश्वरवाद से भी नहीं मिल सकता है। ईश्वर भी अपने नियमों अर्थात् मूलभूत भौतिकी के नियमों के विरुद्ध कार्य नहीं कर सकता। हमने Big Bang Theory की समीक्षा में दर्शाया है कि इस थ्योरी में भौतिकी के कितने मूलभूत नियमों का उल्लंघन होता है? हाँ, यदि किसी लोक में विस्फोट माना जाये, वह लोक भी अनादि न माना जाये, साथ ही भौतिकी के पूर्वोक्त नियमों का उल्लंघन न हो, तब ईश्वर द्वारा विस्फोट किया जा सकता है परन्तु उस एक विस्फोट से ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का निर्माण होना सम्भव नहीं है। **शून्य से ईश्वर भी सृष्टि की रचना नहीं कर सकता है। सृष्टि रचना के लिए अनादि जड़ उपादान कारण की आवश्यकता अवश्य होती है परन्तु जड़ पदार्थ में स्वयं गति, क्रिया नहीं होती, इस कारण इन्हें उत्पन्न करने में ईश्वर की भूमिका अवश्य होती है।** अनन्त पदार्थ (अनन्त ताप, अनन्त द्रव्यमान) से सान्त ऊर्जा व सान्त द्रव्यमान वाले ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति क्यों होती है? इसका उत्तर अनीश्वरवादी नहीं दे सकता, जबकि ईश्वरवादी इसका उत्तर देते हुए कह सकता है कि ईश्वर अपने प्रयोजनानुसार अनन्त पदार्थ से कुछ पदार्थ को उपयोग में लाकर ब्रह्माण्ड की रचना कर सकता है। जिस प्रकार लोक में कोई व्यक्ति पदार्थ विशेष से कुछ भाग लेकर अपनी इच्छा वा प्रयोजनानुसार किसी वस्तु विशेष का निर्माण करने के लिए स्वतंत्र है, उसकी इच्छा वा प्रयोजन पर कोई अन्य व्यक्ति प्रश्न उपस्थित नहीं कर सकता, उसी प्रकार अनन्त पदार्थ से कुछ पदार्थ लेकर परमात्मा सान्त द्रव्यमान व ऊर्जा वाले ब्रह्माण्ड की रचना करता है। हम इस पर यह प्रश्न नहीं कर सकते कि उसके अनन्त पदार्थ का शेष भाग का उपयोग क्यों नहीं किया अथवा अनन्त द्रव्यमान वा ऊर्जा से युक्त ब्रह्माण्ड क्यों नहीं बनाया? वैसे अभी तो यह भी प्रश्न अनुत्तरित है कि ब्रह्माण्ड सान्त है वा अनन्त? हमारी दृष्टि में ब्रह्माण्ड ईश्वर की अपेक्षा सान्त तथा हमारी अपेक्षा अनन्त है। **हम जिस पदार्थ को ऐसा समझते हैं कि वह ब्रह्माण्ड बनाने में काम में नहीं आया, वह हमारी अल्पज्ञता ही है। वस्तुतः जो पदार्थ ऐसा है, वह भी ब्रह्माण्ड के संचालन आदि में परोक्ष भूमिका निभाता है। वह पदार्थ ही प्राण, मन, छन्द व मूल प्रकृति के रूप में विद्यमान रहता है।** दूसरी बात यह भी है कि प्रारम्भ में द्रव्यमान, ऊर्जा जैसे लक्षण विद्यमान ही नहीं होते।

(३) दूर बिखरता हुआ पदार्थ संघनित होना कैसे प्रारम्भ करता है? अनीश्वरवादी दूर भागते हुए पदार्थ के संघनित होने का यथार्थ कारण नहीं बता सकता परन्तु ईश्वरवादी इसका इस प्रकार समाधान कर सकता है कि दूर भागते हुए पदार्थ को ईश्वर सृष्टि सृजन हेतु उससे सूक्ष्म तरंग रूप शक्तिशाली पदार्थ के द्वारा रोककर संघनित कर सकता है अर्थात् संघनन की प्रक्रिया प्रारम्भ कर सकता है।

(ख) Eternal Universe

इस मत पर हमने एकमात्र प्रश्न यह उठाया था कि कोई भी कण वा क्वाण्टा, जिसमें किसी भी प्रकार का बल अथवा क्रिया विद्यमान होती है, वह अनादि नहीं हो सकता। साथ ही हमने यह भी कहा था कि जो पदार्थ किसी अन्य सूक्ष्मतर पदार्थ के संयोग से बना है, वह अनादि नहीं हो सकता। इसका कारण भी हम इस सिद्धान्त की समीक्षा के समय बतला चुके हैं। अब हम सृष्टि के अनादित्व पर कुछ अन्य ढंग से विचार करते हैं-

क्या गति अनादि है- 'सृष्टि' शब्द का अर्थ है- **''नाना पदार्थों के बुद्धिपूर्वक मेल से नवीन-२ पदार्थों की उत्पत्ति का होना''** इस मेल की क्रिया में बल और गति का होना अनिवार्य है। प्रश्न यह है कि

क्या जड़ पदार्थ में स्वयं बल अथवा गति का होना सम्भव है? इस सृष्टि में जो भी बल व गति दिखाई पड़ रहे हैं, क्या वे मूलतः उसके अपने ही हैं? इस विषय में **महर्षि वेदव्यास** का कथन है- **''प्रवृत्तेश्च (अनुपपत्तेः)'' (ब्र.सू.२.२.२)**

अर्थात् **जड़ पदार्थ में स्वतः कोई क्रिया व गति आदि नहीं हो सकती। उसमें गति व क्रिया को उत्पन्न करने वाला कोई चेतन तत्व अवश्य होता है।** हम अपने चतुर्दिक नाना प्रकार की गतियां निरन्तर देखते हैं, जिनमें से किन्हीं वस्तुओं को गति देने वाला चालक दिखाई देता है, तो किन्हीं गतियों का चालक दिखाई नहीं देता। अब हम विचार करते हैं कि कौन-२ से पदार्थ हैं, जिनका चालक दिखाई नहीं देता और कौन-२ से पदार्थ ऐसे हैं, जिनका चालक दिखाई देता है, किंवा दिखाई दे सकता है। हम बस, रेलगाड़ी, कार आदि वाहनों के चालक को प्रत्यक्ष देखते हैं, उनकी इच्छा वा प्रयत्न आदि क्रियाओं को अनुभव करते हैं। हम वाहन की गति को प्रारम्भ करने वाले चेतन वाहन चालक को देखते हैं परन्तु वाहन के इंजन में हो रही क्रियाओं को मात्र ईंधन से उत्पन्न मान लेते हैं। ईंधन वा उससे उत्पन्न ऊर्जा वाहन को कैसे गति देती है, विद्युत् बड़े-२ यन्त्रों को कैसे चलाती है, विद्युत् चुम्बकीय बल कैसे कार्य करते हैं, ऊर्जा व बल क्या है? इन प्रश्नों का हमें स्पष्ट ज्ञान नहीं है। वर्तमान वैज्ञानिक भी इस बात को स्वीकार करते हैं। Richard P. Feynman लिखते हैं-

"It is important to realize that in physics today, we have no knowledge of what energy is." (Lectures on Physics- P. 40)

"If you insist upon a precise definition of force, you will never get it." (id. P. 147)

"Why things remains in motion when they are moving or why there is a law of gravitation was, of course not known." (id. P.15)

इससे यह स्पष्ट होता है कि **आधुनिक भौतिक विज्ञान बल एवं ऊर्जा को ठीक-२ समझ नहीं पा रहा है। वे कैसे कार्य करते हैं, यह अज्ञात है। जो सूक्ष्म परमाणु, अणु अथवा तरंगें कैसे सतत चल रही हैं? यह भी सर्वथा अज्ञात है।** Feynman की यह स्पष्ट स्वीकारोक्ति सराहनीय है। वस्तुतः वर्तमान विज्ञान की कार्यशैली की एक सीमा होती है।

विज्ञान क्या है

Science शब्द का अर्थ करते हुए Chambers Dictionary में लिखा है-

"Knowledge ascertained by observation and experiment, critically tested, systematized and brought under general principles, esp in relation to the physical world, a department or a branch of such knowledge or study."

Oxford advanced learners dictionary के Indian Edition में Science का अर्थ इस प्रकार किया है-

"Organized knowledge esp when obtained by observation and testing of facts, about the physical world, natural laws."

इन दोनों परिभाषाओं से स्पष्ट है कि भौतिक जगत् का जो ज्ञान प्रयोगों, प्रेक्षणों और विविध परीक्षणों से सुपरीक्षित एवं व्यवस्थित होता है, वह आधुनिक विज्ञान की सीमा में माना जाता है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि हमारे पास परीक्षण के जितने अधिक साधन उपलब्ध हों, हमारा विज्ञान उतना अधिक परीक्षण करके सृष्टि के पदार्थों को जान सकता है। अपने तकनीकी साधनों की सीमा के बाहर विद्यमान कोई भी पदार्थ, चाहे कितना भी यथार्थ क्यों न हो, उसे विज्ञान स्वीकार नहीं कर सकता। पश्चिमी देशों के विज्ञान को आइजक न्यूटन से पूर्व गुरुत्वाकर्षण बल का पता नहीं था, गैलीलियो

एवं कॉपरनिकस के पूर्व पृथिवी के आकार व परिक्रमण का ज्ञान नहीं था, तब तक उनके लिए गुरुत्वाकर्षण बल, पृथिवी का गोलाकार होना तथा सूर्य के चारों ओर परिक्रमण करना आदि विषय विज्ञान के क्षेत्र में नहीं आते थे अर्थात् ये सभी तथ्य कल्पनामात्र थे। परन्तु जब इन वैज्ञानिकों ने इन पर प्रेक्षण व प्रयोग किये, तो ये सभी तथ्य वैज्ञानिक सत्य रूप में प्रतिष्ठित हो गये। आज संसार में जो भी नये-२ आविष्कार हो रहे हैं, वे अब से पूर्व कल्पना के विषय थे परन्तु अब विज्ञान व तकनीक बन गये। इसी कारण कहा जाता है कि **विज्ञान परिवर्तनशील है। इसे वर्तमान विज्ञान की विशेषता कहें वा अपूर्णता, यह वैज्ञानिकों को स्वयं विचारना चाहिये। मैं सूर्य को देख पाऊँ वा नहीं, इससे सूर्य और उसके विज्ञान में कोई परिवर्तन नहीं आयेगा, तब मैं इसे अपने प्रेक्षणों व प्रयोगों की सीमा में कठोरतापूर्वक क्यों बांधने का हठ करूँ?** स्थूल रूप से ज्ञान के भी दो क्षेत्र हैं। एक वह है, जिसके प्रेक्षण व प्रयोग की तकनीक वर्तमान में उपलब्ध हैं, दूसरा वह है, जिसके प्रयोग व परीक्षण की तकनीक मनुष्य द्वारा विकसित किये जाने की सम्भावना हो सकती है। इसके अतिरिक्त ज्ञान का एक क्षेत्र ऐसा भी है, जिसका प्रयोग व परीक्षण किसी तकनीक से सम्भव नहीं, बल्कि जिसे योग साधनाजन्य दिव्यदृष्टि से ही जाना जा सकता है। इन तीनों प्रकार के ज्ञान में उचित तर्क का होना अनिवार्य है। जो बात सामान्य सुतर्क तथा ऊहा की दृष्टि से ही असम्भव प्रतीत हो, वह उपर्युक्त तीनों प्रकार के ज्ञान में से एक भी ज्ञान के क्षेत्र में नहीं आयेगी। **यहाँ ऊहा व तर्क का यथार्थ आशय भी गम्भीर विचारक ही जान सकते हैं, सामान्य व्यक्ति नहीं।** जिस-२ व्यक्ति की प्रतिभा, साधना जितनी-२ अधिक होगी, उस उसकी तर्क व ऊहा शक्ति उतनी-२ अधिक यथार्थ होगी। इस कारण वर्तमान विज्ञान को अपने क्षेत्र के बाहर जाकर सुतर्क व ऊहा की दृष्टि से भी विचारना चाहिये। यदि कोई सज्जन यह कहे, कि सुतर्क व ऊहा का विज्ञान के क्षेत्र में कोई महत्व नहीं है, मैं उस सज्जन को कहना चाहूंगा कि **विज्ञान का जन्म सुतर्क एवं ऊहा रूप दर्शन से ही होता है और जहाँ विज्ञान का सामर्थ्य वा क्षेत्र समाप्त हो जाता है, वहाँ उसकी समाप्ति सुतर्क व ऊहा रूप दर्शन में ही होती है किंवा विज्ञान की चरम सीमा से परे दर्शन की सीमा पुनः प्रारम्भ होती है।** हम इस बिन्दु को निम्न प्रकार समझने का प्रयत्न करते हैं-

दर्शन व वैदिक विज्ञान

जब न्यूटन ने सेब के फल को वृक्ष से नीचे गिरते देखा था, उस समय उसके मन में इस ऊहा व तर्क की उत्पत्ति हुई कि सेब नीचे ही क्यों गिरा? उनके इसी विचार से गुरुत्वाकर्षण की खोज और एतदर्थ किये प्रयोग, परीक्षण वा प्रयोगों की नींव रखी गयी। सेब गिरते अनेक लोग देखते हैं वा उस समय भी देखते थे परन्तु यह विचार न्यूटन के मस्तिष्क में ही आया, क्योंकि वे तर्क व ऊहा सम्पन्न व्यक्ति थे। दर्शन को आंग्ल भाषा में Philosophy कहा जाता है, जिसकी परिभाषा करते हुए Chambers Dictionary में लिखा है-

"In pursuit of wisdom and knowledge, investigation contemplation of the nature of being knowledge of the causes and laws of all things, the principles underlying any sphere of knowledge, reasoning."

Oxford Advanced Learners dictionary में इसे इस प्रकार परिभाषित किया है-

"Search for knowledge and understanding of the nature and meaning of the universe and human life."

अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में विद्यमान विभिन्न वस्तुओं, उनके कारण तथा कार्य करने के सिद्धान्तों आदि को तर्क व ऊहा के आधार पर जानने का प्रयत्न करना ही दर्शन कहलाता है।

इससे स्पष्ट होता है कि विज्ञान व दर्शन दोनों का उद्देश्य ब्रह्माण्ड को जानने का प्रयास करना है। दोनों प्रक्रियाओं में कुछ भेद अवश्य है परन्तु दोनों का उद्देश्य समान है। **विज्ञान का क्षेत्र मानव तकनीक के सामर्थ्य तक सीमित है और दर्शन का क्षेत्र चिन्तन, मनन, ऊहा की सीमाओं तक फैला है। कहीं विज्ञान प्रेक्षणादि कर्मों की विद्यमानता में भी मूल कारण वा नियमादि विषयों में भ्रमित हो**

सकता है, तो कहीं दर्शन भी दार्शनिकों (विशेषकर परम सिद्ध योगियों के अतिरिक्त) की कल्पनाओं के वेग में बहकर भ्रान्त हो सकता है। हमें दोनों ही विधाओं का विवेक सम्मत उपयोग करने का प्रयत्न करना चाहिये।

अब हम पाठकों के समक्ष विज्ञान व दर्शन की सीमा और समन्वय को दर्शाते हुए सृष्टि के एक नियम पर विचार करते हैं-

जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि एक धनावेशित वस्तु दूसरी ऋणावेशित वस्तु को क्यों आकर्षित करती है? तब इस ज्ञान की प्रक्रिया में सर्वप्रथम हमें यह अनुभव होता है कि विपरीत आवेश वाली कोई भी वस्तु एक-दूसरे को आकर्षित करती हैं। यहाँ आकर्षण बल है, तो उसका कारण भी होगा, यह विचार करना दर्शन का क्षेत्र है। कोई दो वस्तुएं परस्पर निकट आ रही हैं, तब उनके मध्य कोई आकर्षण बल कार्य कर रहा होगा, यह जानना भी दर्शन का क्षेत्र है। अब उन आकर्षित हो रही वस्तुओं पर विपरीत वैद्युत आवेश है, यह बताना विज्ञान का कार्य है। यह आवेश कैसे काम करता है? यह बताना भी विज्ञान का कार्य है। वर्तमान विज्ञान ने जाना कि जब दो विपरीत आवेश वाले कण जब निकट आते हैं, तब उनके मध्य Virtual Photons उत्पन्न और संचरित होने लगते हैं। ये Particles (Photons) ही आकर्षण बल का कारण बनते हैं। ये Particles, वर्तमान विज्ञान के मत में उन दोनों कणों के मध्य विद्यमान space को संकुचित करके उन कणों को परस्पर निकट लाने का कार्य करते हैं। इस प्रक्रिया को जानना विज्ञान का काम है। कदाचित् वर्तमान विज्ञान की सीमा यहाँ समाप्त हो जाती है। इसके आगे दर्शन वा वैदिक विज्ञान की सीमा प्रारम्भ होती है।

जब मैं पूछता हूँ कि धन व ऋण वैद्युत आवेश युक्त कणों के परस्पर निकट आते ही Virtual Particles कहाँ से व क्यों प्रकट हो जाते हैं? तब वैज्ञानिक उत्तर देते हैं कि इसका उत्तर हम नहीं जानते। जहाँ वर्तमान विज्ञान के पास उत्तर नहीं मिलता, वहाँ वैदिक विज्ञान वा दर्शन उत्तर देता है। यह उत्तर वैदिक ऋषियों वा वेद के महान् विज्ञान से मिलेगा, जिसे हम किसी पृथक् पुस्तक में स्पष्ट करेंगे। यहाँ हम कहना यह चाहते हैं कि वर्तमान विज्ञान किसी बल के कार्य करने की प्रक्रिया को बतलाता है, जबकि वैदिक विज्ञान किंवा दर्शन उसके आगे जाकर यह बतलाते हैं कि वह बल की प्रक्रिया क्यों हो रही है और मूल प्रेरक बल क्या है? वहाँ हम यह सिद्ध करेंगे कि सभी जड़ बलों का मूल प्रेरक बल चेतन परमात्म तत्व का बल है। यहाँ वर्तमान विज्ञान न तो हमारे प्रश्नों का उत्तर देता है और न ईश्वर तत्व के मूल प्रेरक बल की सत्ता को ही स्वीकार करता है। यह दुराग्रह वैज्ञानिक के लिए उचित नहीं है। **उसे या तो समस्याओं का समाधान करना चाहिये अथवा वैदिक वैज्ञानिकों से समाधान पूछना चाहिए।**

यहाँ हम चर्चा कर रहे थे कि ब्रह्माण्ड में आधुनिक विज्ञान द्वारा माने व जाने जाने वाले मूलकण अनादि नहीं हो सकते और तब उनमें होने वाली किसी भी प्रकार की क्रिया वा गति भी अनादि नहीं हो सकती। यदि कोई यह हठ करे कि मान लीजिये कि मूलकण प्राणादि सूक्ष्म पदार्थ वा प्रकृति रूप सूक्ष्मतम पदार्थ से बने हैं, तब भी उस सूक्ष्म वा सूक्ष्मतम कारण पदार्थ में गति अनादि क्यों नहीं हो सकती? क्यों इसके लिए चेतन ईश्वर तत्व की आवश्यकता होती है?

इस विषय पर हम इस प्रकार विचार करते हैं-

इस सृष्टि में जो भी गति एवं बल का अस्तित्व है, वह पदार्थ की सूक्ष्मतम अवस्था तक प्रभावी होता है। पदार्थ के अणुओं में होने वाली कोई भी क्रिया, बल आदि का प्रभाव उसमें विद्यमान आयन्स तक होता है। आयन्स में होने वाली प्रत्येक गति व बल आदि का प्रभाव वा सम्बन्ध इलेक्ट्रॉन्स, प्रोटोन्स, न्यूट्रॉन्स वा क्वार्क्स व ग्लूऑन्स तक होता है। हमारा विश्वास है कि वर्तमान विज्ञान भी इसे मिथ्या नहीं कहेगा। इन सूक्ष्म कणों की संरचना व स्वरूप के विषय में वर्तमान विज्ञान अनभिज्ञ है, इस कारण इनमें होने वाली गति-क्रिया-बल आदि के प्रभाव की व्यापकता के विषय में वह अनभिज्ञ है। यह प्रभाव प्राण, मन व वाक् तत्वों तक व्याप्त होता है, जो मूल प्रकृति व ईश्वर में समाप्त हो जाता है। **वस्तुतः ईश्वर तत्व में कोई क्रिया नहीं होती और प्रकृति में क्रिया ईश्वरीय प्रेरणा से होती है,** परन्तु उससे प्रकृ

ति का मूल स्वरूप परिवर्तित हो जाता है। यह सब ज्ञान वर्तमान विज्ञान वा तकनीक के द्वारा होना सम्भव नहीं है।

गति व बल की व्याप्ति के पश्चात् हम यह भी विचार करें कि **इस ब्रह्माण्ड में हो रही प्रत्येक क्रिया अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्ण ढंग से हो रही है। समस्त सृष्टि अनायास किसी क्रिया का परिणाम नहीं है, बल्कि प्रत्येक बल वा क्रिया अत्यन्त व्यवस्थित व विशेष प्रयोजनानुसार हो रही है।** मूलकण, क्वाण्टा आदि सूक्ष्म पदार्थ किंवा विभिन्न विशाल लोक लोकान्तर आदि पदार्थ जड़ होने से न तो बुद्धिमत्तापूर्ण क्रियाएं कर सकते हैं और न वे अपनी क्रियाओं का प्रयोजन ही समझ सकते हैं।

Stephen Hawking, जिन्होंने अपनी पुस्तक 'The Grand Design' में ईश्वर की सत्ता को अपने अवैज्ञानिक कुतर्कों के द्वारा नकारने का असफल प्रयास किया है, वहीं शरीर में जीवात्मा की सत्ता को भी अस्वीकार करने का असफल प्रयत्न किया है। वे उसमें रोबोट एवं परग्रही जीव में भेद भी करते हैं, पुनरपि परग्रही जीव में स्वतन्त्र इच्छा व बुद्धियुक्त आत्मा को नहीं मानते। यही हठ वर्तमान विज्ञान को विनाशकारी भोगवादी मार्ग पर ले जा रही है। वे लिखते हैं-

"How can one tell if a being has free will? If one encounters an alien, how can one tell if it is just a robot or it has a mind of its own? The behaviour of a robot would be completely determined, unlike that of a being with free will. Thus one could in principle detect a robot as a being whose actions can be predicted. As we said in Chapter 2, this may be impossibly difficult if the being is large and complex. We cannot even solve exactly the equations for three or more particles interacting with each other. Since an alien the size of a human would contain about a thousand trillion trillion particles even if the alien were a robot, it would be impossible to solve the equations and predict what it would do. We would therefore have to say that any complex being has free will- not as a fundamental feature, but as an effective theory, an admission of our inability to do the calculations that would enable us to predict its actions." (The Grand Design- P. 178)

यहाँ पाठक विचारें कि यदि Thousand trillion trillion particles ही बुद्धि, इच्छा की उत्पत्ति का कारण हो सकते हैं, तब क्या रोबोट में इतने कण नहीं होते? वह भी उन्हीं मूलकणों से बना है, जिससे हमारा शरीर बना है। अणुओं के स्तर पर ही भेद है, अन्यथा लगभग परमाणुओं के स्तर पर कोई भेद नहीं है, मूलकण स्तर पर तो नितान्त समानता है। तब कैसे कणों की संख्या मात्र के कारण भेद को मान लेते हैं और जीव के व्यवहार को केवल इसी आधार पर अज्ञेय बता देते हैं। आज एक मनुष्य अनेकों स्वचालित रोबोट्स का निर्माण कर सकता है परन्तु क्या अनेकों रोबोट्स मिलकर भी बिना मनुष्य की प्रेरणा व नियन्त्रण के एक मनुष्य तो क्या, स्वयं एक रोबोट का निर्माण भी कर सकते हैं? इस अवैज्ञानिकता व दम्भपूर्ण पुस्तक में जन्म, मरण, इच्छा आदि को जिस प्रकार समझाया है, वह वास्तव में **हॉकिंग साहब को वैज्ञानिक के स्थान पर मात्र एक प्रतिक्रियावादी दुराग्रही नास्तिक दार्शनिक के रूप में प्रस्तुत करता है।** इसे पढ़कर मेरे मन में इनके प्रति जो सम्मान था, वह लगभग समाप्त हो गया है। उनके प्रत्येक तर्क का उत्तर सरलता से दिया जा सकता है परन्तु इस ग्रन्थ में जीव की सत्ता की सिद्धि आवश्यक नहीं है, पुनरपि यहाँ हम संक्षेप में कुछ विचार कर रहे हैं।

रोबोट में इच्छा, ज्ञान, प्रयत्न, द्वेष, सुख व दुःख ये कोई गुण नहीं होते। वह किसी मनुष्य द्वारा निर्मित व संचालित होता है। उधर कोई भी जीवित प्राणी किसी अन्य द्वारा संचालित नहीं होता है, बल्कि प्रत्येक कर्म को करने में स्वतन्त्र होता है। आज हॉकिंग साहब जैसे जो कोई वैज्ञानिक इच्छा, ज्ञान आदि गुणों से युक्त व्यवहार की कथित वैज्ञानिक व्याख्या करके जीवात्मा की सत्ता को नकारने का प्रयास करते हैं वह वस्तुतः इस प्रकार ही है, जैसे कोई व्यक्ति किसी हलवाई द्वारा बनाये जा रहे व्यंजनों की व्याख्या में आग, पानी, आटा, शक्कर, दूध, घी, कड़ाही, चम्मच आदि सबके कार्यों को बता रहा हो, इन खाद्य पदार्थों में नाना परिवर्तनों की रासायनिक प्रक्रिया बता रहा हो परन्तु हलवाई की

चर्चा ही न कर रहा हो, बल्कि उसके अस्तित्व को ही नकार रहा हो। **ऐसी कथित वैज्ञानिक व्याख्याएं वास्तव में अवैज्ञानिक व दुराग्रहपूर्ण ही होती हैं।**

ये वैज्ञानिक इसी प्रकार इस सृष्टि की वैज्ञानिक व्याख्या करते समय उसके निर्माता, नियन्त्रक वा संचालक असीम बुद्धि व बल सम्पन्न चेतन परमात्मतत्व की उपेक्षा ही नहीं करते, बल्कि उसके अस्तित्व को ही नकारने में एड़ी से चोटी तक का जोर लगाते हैं। हम निःसन्देह वैज्ञानिकों की इन वैज्ञानिक व्याख्याओं की सराहना करते हैं। निश्चित ही वे मूल भौतिकी के क्षेत्र में सतत गम्भीर अनुसंधान कर रहे हैं और करना भी चाहिये परन्तु इस **सम्पूर्ण उपक्रम में चेतन नियन्त्रक, नियामक तत्व को सर्वथा उपेक्षित कर देते हैं। यही कारण है कि विज्ञान वर्तमान मूल भौतिकी की अनेक समस्याओं को आज तक सुलझा नहीं पाया है। इसी कारण विज्ञान की History of the time में भारी त्रुटियां हैं, ऊर्जा-द्रव्य संरक्षण के भंग होने की समस्या है, 'क्यों' व 'क्या' जैसे प्रश्नों का उत्तर न मिल पाना समस्या है, वस्तुतः सर्वत्र समस्याएं ही समस्याएं हैं।**

इस सबके लिखने का अभिप्राय यही है कि सम्पूर्ण जड़ जगत् में जो भी बल व गति विद्यमान है, उस सबके पीछे चेतन ईश्वर तत्व की ही मूल भूमिका है, उधर प्राणियों के शरीर में आत्मा की भूमिका रहती है। प्रत्येक गति के पीछे किसी न किसी बल की भूमिका होती है। केवल बल की भूमिका से गति यदृच्छया, निष्प्रयोजन एवं अव्यवस्थित होगी परन्तु **सृष्टि एक व्यवस्थित, बुद्धिगम्य व सप्रयोजन रचना है, इस कारण इसमें बल के साथ महती प्रज्ञा की भी भूमिका अवश्य है।** बल व बुद्धि किंवा इच्छा, ज्ञान आदि का होना केवल चेतन में ही सम्भव है। यही चेतन तत्व ईश्वर कहलाता है। इस तत्व पर विचार करना वर्तमान विज्ञान के सामर्थ्य की बात नहीं है, इस कारण वर्तमान वैज्ञानिकों को भौतिक विज्ञान के साथ-२ दर्शन शास्त्र, जहाँ ईश्वर, जीव रूपी सूक्ष्मतम चेतन एवं प्रकृति, मन, प्राण आदि सूक्ष्मतर जड़ पदार्थों का विचार किया जाता है, पर भी गम्भीर चिन्तन करना चाहिए, इससे वर्तमान भौतिक विज्ञान की अनेक समस्याओं का समाधान करने में सहयोग मिलेगा।

महर्षि गोतम ने किसी सिद्धान्त (Theory) के निरूपण के उपायों के पांच अवयव बतलाये हैं- **"प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः" (न्या.द.१.१.३२)**

अर्थात् ये पांच अवयव इस प्रकार हैं-

(१) प्रतिज्ञा= गति अनित्य है।
(२) हेतु= क्योंकि हम इसे उत्पन्न व नष्ट होते देखते हैं।
(३) उदाहरण= जैसे लोक में जड़ पदार्थों वा चेतन प्राणियों द्वारा नाना प्रकार की गतियों का उत्पन्न होना देखा जाता है, साथ ही उन गतियों का विराम भी चेतन द्वारा होना देखा जाता है।
(४) उपनय= उसी प्रकार अन्य गतियां भी अनित्य हैं।
(५) निगमन= सभी दृष्ट वा अदृष्ट गतियां अनित्य हैं।

गति की अनित्यता की सिद्धि के साथ इसी प्रकार गति के पीछे चेतन कर्त्ता के अस्तित्व की सिद्धि करते हैं-

(१) प्रतिज्ञा= गति मूलतः चेतन के बल द्वारा उत्पन्न व नियन्त्रित होती है।
(२) हेतु= हम जगत् में विभिन्न गतियों को विभिन्न चेतन प्राणियों द्वारा उत्पन्न व नियन्त्रित होना देखते हैं।
(३) उदाहरण= जैसे हम स्वयं नाना गतियों को उत्पन्न व नियन्त्रित करते हैं।
(४) उपनय= उसी प्रकार अन्य गतियां, जिनका कोई प्रेरक व नियंत्रक साक्षात् दिखाई नहीं देता, वे भी किसी अदृष्ट चेतन तत्व (ईश्वर आदि) द्वारा नियन्त्रित व प्रेरित होती हैं।
(५) निगमन= सभी प्रकार की गतियों को उत्पन्न, प्रेरित व नियन्त्रित करने वाला कोई न कोई चेतन तत्व (ईश्वर अथवा जीव) अवश्य होता है अर्थात् बिना चेतन के गति उत्पन्न, नियन्त्रित व संचालित नहीं हो सकती।

इसी प्रकार बल के विषय में विचार करते हैं-

(१) प्रतिज्ञा= प्रत्येक बल के पीछे चेतन तत्व की भूमिका है।
(२) हेतु= क्योंकि हम चेतन प्राणियों में बल का होना देखते हैं।
(३) उदाहरण= जैसे लोक में हम नाना क्रियाओं में अपने बल का उपयोग करते हैं।
(४) उपनय= उसी प्रकार सृष्टि में जो विभिन्न प्रकार के बल देखे जाते हैं, उन सबमें किसी अदृष्ट चेतन की भूमिका होती है।
(५) निगमन= प्रत्येक बल के पीछे किसी न किसी चेतन (ईश्वर अथवा जीव) की मूल भूमिका अवश्य होती है किंवा वह बल उस चेतन का ही होता है। जड़ पदार्थ में अपना कोई बल नहीं होता है।

अब बुद्धिगम्य कार्यों में चेतन तत्व की भूमिका पर विचार करते हैं-

(१) प्रतिज्ञा= प्रत्येक बुद्धिगम्य, व्यवस्थित रचना के पीछे चेतन तत्व की भूमिका होती है।
(२) हेतु= क्योंकि हम चेतन प्राणियों द्वारा बुद्धिगम्य कार्य करते देखते हैं।
(३) उदाहरण= जैसे हम अपनी बुद्धि के द्वारा नाना प्रकार के कार्यों को सिद्ध करते हैं।
(४) उपनय= उसी प्रकार सृष्टि में विभिन्न बुद्धिगम्य रचनाओं के पीछे ईश्वर रूपी अदृष्ट चेतन की भूमिका होती है।
(५) निगमन= सभी प्रकार की बुद्धिगम्य रचनाओं किंवा सम्पूर्ण सृष्टि की प्रत्येक क्रिया के पीछे चेतन तत्व की अनिवार्य भूमिका होती है।

इस प्रकार गति व संयोगजन्य पदार्थों के अनादि व अनन्त न हो सकने के साथ-२ विभिन्न गति, बल व बुद्धिमत्तापूर्ण रचनाओं के पीछे चेतन तत्व की अनिवार्य भूमिका होती है। कुछ कार्यों में जीव रूपी चेतन की भूमिका होती है। इसी कारण **महर्षि वेदव्यास** ने लिखा- **"सा च प्रशासनात्" (ब्र.सू.१.३.११)** अर्थात् इस **सम्पूर्ण सृष्टि की नाना क्रियाएं उस ब्रह्म के प्रशासन से ही सम्पन्न होती हैं।**

इस प्रकार पाठक यह समझ गये होंगे कि जो भी पदार्थ सूक्ष्म कारण पदार्थों के संयोग से बनता है, तथा जो किसी अन्य से प्रेरित गति, बल, क्रिया आदि गुणों से युक्त होता है, वह पदार्थ अनादि नहीं हो सकता, जबकि जो पदार्थ ऐसे सूक्ष्मतम रूप में विद्यमान होता है, जिसका कोई अन्य कारण विद्यमान नहीं हो, वह अनादि हो सकता है। इससे प्रकट हुआ कि **मूल प्रकृति रूप पदार्थ में जहाँ कोई गति आदि गुण विद्यमान नहीं रहते, अनादि होता है। इसी अनादि पदार्थ से सर्वोच्च नियंत्रक, नियामक, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक व सर्वज्ञ ईश्वर तत्व इस सृष्टि की रचना समय-२ पर करता रहता है। कभी सृष्टि, तो कभी प्रलय होती रहती है। इस सृष्टि-प्रलय के चक्र का न तो कभी आदि है और न कभी अन्त। न तो कोई सृष्टि अनादि व अनन्त हो सकती है और न प्रलय परन्तु इनका चक्र अवश्य अनादि व अनन्त है।**

इस प्रकार हमने Big Bang Theory एवं Eternal Universe इन दोनों ही मान्यताओं को लेकर सृष्टि के रचयिता चेतन ईश्वर तत्व के अस्तित्व की अनिवार्यता को सिद्ध किया। String Theory एवं M-Theory दोनों ही Big Bang में ही विश्वास करती है, इसी कारण इनको लेकर पृथक् से ईश्वर तत्व की सिद्धि आवश्यक नहीं है। प्रबुद्ध एवं प्रज्ञावान् पाठकों को चाहिये कि वे अपने-२ हठ, दुराग्रह व अहंकार को त्यागकर सच्ची वैज्ञानिकता का परिचय दें।

सामान्यतः ईश्वर का अनुभव क्यों नहीं होता?

यहाँ कुछ पाठक यह प्रश्न कर सकते हैं कि सृष्टि की विभिन्न क्रियाओं के कर्त्ता के रूप में हमें ईश्वर का अनुभव क्यों नहीं होता? आइये इस प्रश्न पर विस्तार से विचार करते हैं-

यहाँ सर्वप्रथम हम विचारें कि किसी क्रिया के संचालक वा कर्त्ता का अनुभव किन-२ परिस्थितियों में होता है?

(१) कर्त्ता के साकार होने पर किसी को भी उसका प्रत्यक्ष हो सकता है।
(२) क्रिया के प्रारम्भ व समाप्ति के लक्षणों का अनुभव होने पर ही कर्त्ता का बोध सहज होता है।
(३) कर्त्ता स्वयं में किसी हलचल विशेष से भी उसके कर्त्तापन का अनुभव होता है।

(४) कर्त्ता के अनुभव के लिए क्रिया की विविध गतिविधियों वा लक्षणों को पहचानने का ज्ञान अनिवार्य है।
(५) कर्त्ता के निराकार होने पर सिद्धान्त निरूपण के उपाय के पांचों अवयवों का सम्यग् ज्ञान अनिवार्य है।

अब उपर्युक्त बिन्दुओं पर क्रमशः विचार करते हैं-

(१) कर्त्ता के साकार होने पर उसका प्रत्यक्ष होना सरल है। हम लोक में विभिन्न क्रियाओं के संचालक, नियन्त्रक एवं विभिन्न वस्तुओं के निर्माताओं को प्रत्यक्ष देख सकते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है। सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर तत्व साकार नहीं होने से नेत्रों से प्रत्यक्ष नहीं होता। इसी प्रकार वह स्वाद, गन्ध, स्पर्श व शब्द का विषय नहीं होने से रसना, घ्राण, त्वचा व श्रोत्र से भी प्रत्यक्ष नहीं होता।

(२) लोक में होने वाली अनेक क्रियाओं को प्रारम्भ व समाप्त होते हम प्रत्यक्ष देखते हैं, इस कारण उन क्रियाओं के प्रारम्भ व समापन के कर्त्ता का बोध सहजता से हो जाता है। सृष्टि की वे क्रियाएं, जिनको प्रारम्भ होते अथवा समाप्त होते, हम देख नहीं सकते अर्थात् जिन क्रियाओं को हम अपने जन्म से लेकर मरण तक यथावत् देखते व सुनते हैं, उन क्रियाओं के प्रारम्भ व समाप्त होने का हमें विचार ही नहीं आता। आकाश में विभिन्न लोकों का भ्रमण, प्रकाशन, अणु वा परमाणुओं की गतियां आदि हमने जन्म से ही जैसी देखी व सुनी हैं, वैसी ही अब तक चल रही हैं और हमारे जीवन काल में वैसी ही बनी रहेंगी। इस कारण इनके कर्त्ता, नियन्त्रक, संचालक आदि गुणों से युक्त किसी चेतन कर्त्ता की साधारणतः कल्पना ही नहीं होती। यदि कोई अत्यल्पायु जीव किसी वाहन को केवल चलता हुआ ही देखे, उसको कभी विराम अवस्था में नहीं देखे, तब उसके मन में यह विषय ही नहीं आयेगा कि इसे किसी कर्त्ता ने चलाया वा चला रहा भी है।
(३) जब कोई साकार कर्त्ता भी यदि किसी वाहन आदि यन्त्र के पास बैठा रहे परन्तु अपने शरीर में कोई हलचल भी न करे, तब भी किसी प्रत्यक्षदर्शी को ऐसा बोध नहीं हो सकता कि वह कर्त्ता (चालक) उस वाहन को चला रहा है, बल्कि उसे ऐसा प्रतीत होगा कि वाहन स्वतः ही चल रहा है।
(४) जब तक किसी को क्रिया के आदि, अन्त व मध्य में प्रतीत होने वाले नाना लक्षणों का ज्ञान न हो सके, तब तक उसे कर्त्ता का बोध नहीं हो सकता। किसी पशु को इस बात का बोध नहीं हो सकता कि कोई व्यक्ति बस, रेल, हवाई जहाज आदि को चलाता है। वह इन वाहनों को चलते व रुकते भी देख सकता है, उसमें बैठे चालक को भी देख सकता, पुनरपि उसे यह बोध नहीं हो सकता कि वह चालक ही इन वाहनों को चला रहा वा रोक रहा है।
(५) उपर्युक्त चारों बिन्दु साकार कर्त्ता से ही सम्बन्धित हैं। यदि कर्त्ता निराकार हो, तब उस स्थिति में सिद्धान्त निरूपण के सभी पांचों अवयवों को समझने हेतु प्रतिभा का होना भी अनिवार्य है, अन्यथा ईश्वर तत्व के अस्तित्व का बोध नहीं हो पायेगा। **वर्तमान विज्ञान केवल प्रयोग, प्रेक्षण वा परीक्षणों में ही विश्वास करता है, गणितीय व्याख्याओं में विश्वास करता है, इस कारण उसे ईश्वर के अस्तित्व का बोध नहीं होता। जहाँ उसकी सीमा समाप्त हो जाती है, वहाँ वह कह देता है कि यह हम नहीं जानते। यह बात तो सत्य है कि आप नहीं जानते परन्तु क्या आपको जानने का यत्न भी नहीं करना चाहिये? क्या आपको यहाँ वैदिक विज्ञान वा दर्शन का आश्रय नहीं लेना चाहिये? आप यह क्यों समझते हैं कि जो वर्तमान विज्ञान से सिद्ध होने योग्य है, वही सत्य है, अन्य सब मिथ्या है।** इस विषय में Richard P. Feynman ने उचित ही लिखा है-

"Mathematics is not a science from our point of view, in the sense that it is not a natural science. The test of its validity is not experiment. We must incidentally, make it clear from the beginning that if a thing is not science, it is not necessarily bad. For example, love is not a science. so, if something is said not to be a science, it does not mean that there is something wrong with it, it just means that it is not a science." (Lectures on Physics- P. 27)

अर्थात् जिसे वर्तमान विज्ञान की सीमा में नहीं माना जा सकता, वह मिथ्या है, यह मानना उचित नहीं है। उसे मात्र यह कहना चाहिये कि यह विज्ञान नहीं है।

वस्तुतः फाइनमैन ने Modern Science की परिभाषा के आधार पर ही यह बात कही है, पुनरपि वे विज्ञान से बाहर के विषयों को मिथ्या व अनावश्यक नहीं मानते। हम वर्तमान विज्ञान एवं दर्शन दोनों की ही परिभाषाओं को स्पष्ट कर चुके हैं। अब हम **वैदिक दृष्टि से विज्ञान की परिभाषा** पर विचार करते हैं। **महर्षि दयानन्द सरस्वती** लिखते हैं-

''विज्ञान उसको कहते हैं कि जो कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनों से यथावत् उपयोग लेना और परमेश्वर से लेकर तृण पर्यन्त पदार्थों के साक्षाद् बोध का होना, उनसे यथावत् उपयोग का करना।'' (वेद विषय विचार- ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका)

इसके संस्कृत भाग में **''पृथिवीतृणमारभ्य प्रकृतिपर्य्यन्तानां पदार्थानां ज्ञानेन यथावदुपकारग्रहणम्.....।'' कहकर प्रकृतिपर्यन्त अर्थात् स्थूलतम से लेकर सूक्ष्मतम पदार्थों के यथावत् ज्ञान को विज्ञान कहा है।** इसमें ईश्वर व जीव का भी यथार्थ ज्ञान सम्मिलित है। यह यथार्थ ज्ञान कैसे प्राप्त करना, इस विषय में कहा है कि ज्ञान, कर्म व उपासना से यथार्थ विज्ञान प्राप्त होता है। इसका तात्पर्य है कि सत्यशास्त्रों के गम्भीर अध्ययन के पश्चात् उसे कर्म अर्थात् प्रयोग, प्रेक्षण व परीक्षणों से पुष्ट करना, जिसे आज का विज्ञान भी करता है। जो विषय प्रयोग वा प्रेक्षणों से सिद्ध वा साक्षात् नहीं हो सकते, उनके लिए उपासना को विशेष साधन रूप बतलाया है। **योग साधना से प्राप्त अन्तर्दृष्टि वैदिक ऋषियों की वह विशिष्ट देन है, जिसके बल पर उन ऋषियों ने सृष्टि के साथ-२ जीव व ईश्वर जैसे निराकार चेतन पदार्थों का साक्षात् करके यथार्थ विज्ञान को प्राप्त किया था।** यह ज्ञान प्रायः निर्भ्रान्त होता है। इसी अन्तर्दृष्टि के द्वारा प्राप्त यथार्थ विज्ञान को उन महर्षियों ने कल्प सूत्रों, ब्राह्मण ग्रन्थों, मनुस्मृति, षड्दर्शनों, उपनिषदों, रामायण व महाभारत आदि ग्रन्थों में लिपिबद्ध किया। **वे परमयोगिजन अपनी उपासना=समाधि के द्वारा बड़े-लोक लोकान्तरों से लेकर सूक्ष्म मूलकणों व क्वाण्टाज् एवं इनसे भी सूक्ष्मतम प्राण, छन्द व मरुद् आदि पदार्थों में अपने मन वा बुद्धितत्व को प्रविष्ट कराकर उनका अनुभव बिना किसी बाह्य तकनीक के किया करते थे। इससे आगे वे स्वयं अपने आत्म स्वरूप एवं सबसे सूक्ष्म व अनन्त तत्व ईश्वर का साक्षात् अनुभव किया करते थे। इस प्रकार वैदिक विज्ञान का क्षेत्र वर्तमान विज्ञान की अपेक्षा बहुत व्यापक है।** हमने ऐतरेय ब्राह्मण के वैज्ञानिक व्याख्यान करते समय **महर्षि ऐतरेय महीदास** की योगदृष्टि से जाने गये सृष्टि के गूढ़ रहस्यों को स्वयं अनुभव किया है। आश्चर्य होता है कि कैसे महर्षि भगवन्त अपनी अन्तर्दृष्टि से सृष्टि विज्ञान के सूक्ष्म व गम्भीर रहस्यों को साक्षात् किया करते थे। यह अन्तर्दृष्टि भी बिना ईश्वर कृपा के नहीं मिल पाती। इस सम्पूर्ण ग्रन्थ में ईश्वरीय सत्ता के संकेत देने वाले अनेक प्रसंग आगे आएंगे।

ईश्वर का वैज्ञानिक स्वरूप

सृष्टिकर्त्ता- इस सृष्टि के रचयिता, नियन्त्रक व संचालक के रूप में चेतन तत्व ईश्वर की सिद्धि के उपरान्त हम यह विचार करते हैं कि वह वैज्ञानिक दृष्टि से सिद्ध किया हुआ ईश्वर स्वयं कैसा है? इस पर भी वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करते हैं-

सत् स्वरूप- सर्वप्रथम वह ईश्वर नित्य होना चाहिये। यदि वह ईश्वर अनित्य हो गया, तब उसे बनाने वाली कोई उससे भी महती चेतन सत्ता विद्यमान होनी चाहिये, जो किसी अनित्य ईश्वर नामक पदार्थ को उत्पन्न कर सके। यदि ऐसा हो भी, तब वह महती चेतन सत्ता अवश्य अनादि, नित्य होनी चाहिये। यदि ऐसा मानें तो उस अनादि चेतन सत्ता को ही ईश्वर नाम दिया जाये, न कि अनित्य सत्ता को अनादि माना जाये। इस कारण ईश्वर सत् स्वरूप सिद्ध होता है। ध्यातव्य है कि कोई भी चेतन सत्ता कभी किसी के द्वारा नहीं बनाई जा सकती और न स्वयं ही बनती है, बल्कि वह निश्चित रूप से अनादि ही होती है।

चित् स्वरूप- वह ईश्वर सत् स्वरूप होने के साथ चेतन भी होना चाहिये, क्योंकि चेतन सत्ता ही इच्छा, ज्ञान व प्रयत्न इन तीनों गुणों से युक्त होकर नाना प्रकार की रचनाओं को सम्पादित कर सकती है।

आनन्द स्वरूप- इसके साथ वह सत्ता आनन्द स्वरूप भी होनी चाहिये। इसका कारण यह है कि सम्पूर्ण सृष्टि को रचने में उसे किंचित् भी क्लेश, दुःख आदि नहीं होना चाहिये। यदि वह सत्ता दुःख व क्लेश से युक्त होने की आशंका से ग्रस्त हो जाये, तब वह सृष्टि रचना जैसे महान् कर्म को नहीं कर सकेगी। इसलिए ईश्वर तत्व की परिभाषा करते हुए **महर्षि पतंजलि** ने कहा है-

"क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" (यो.द.१.२४) अर्थात् अविद्यादि क्लेशों, पाप-पुण्य आदि कर्मों एवं उसके फलों, वासनाओं से पृथक् पुरुष अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में शयन करने वाला=व्याप्त रहने वाला चेतन तत्व ईश्वर कहाता है। इस कारण वह सदैव आनन्द स्वरूप ही है। इसीलिए **महर्षि दयानन्द** ने ईश्वर को सच्चिदानन्द कहा है।

सर्वव्यापक- हम जानते हैं कि हमारी सृष्टि में वर्तमान वैज्ञानिक कदाचित् दो अरब गैलेक्सियों को देख वा अनुभव कर चुके हैं। हमारी ही गैलेक्सी में लगभग दो अरब तारे हैं। वैज्ञानिक अब तक देखे गये ब्रह्माण्ड की त्रिज्या 10^{26}m मानते हैं। दो गैलेक्सियों के मध्य अरबों-खरबों किलोमीटर क्षेत्र में कोई लोक नहीं होता, पुनरपि सम्पूर्ण रिक्त स्थान में सूक्ष्म हाइड्रोजन गैस अत्यन्त विरल अवस्था में भरी रहती है। उसके मध्य भी Vacuum energy भरी रहती है। सारांश यह है कि इतने बड़े ब्रह्माण्ड में नितान्त रिक्त स्थान कहीं नहीं है। इसमें हमारे सूर्य से करोड़ों गुने बड़े तारे भी विद्यमान हैं, तो सूक्ष्म लेप्टॉन, क्वार्क्स एवं क्वाण्टाज् भी विद्यमान हैं। इनके अतिरिक्त इनसे भी सूक्ष्म प्राण, छन्द व मनस्तत्वादि पदार्थ विद्यमान हैं। इन सभी स्थूल व सूक्ष्म पदार्थों में गति व बल की विद्यमानता है। सबमें सृजन व विनाश का खेल हो रहा है। इस कारण जहाँ-२ यह खेल चल रहा है, वहाँ-२ ईश्वर तत्व भी विद्यमान होना चाहिये। इसका आशय यह है कि ईश्वर सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थों में भी विद्यमान है तथा स्थूल से स्थूलतम पदार्थों में भी विद्यमान है। इसी कारण **कठ उपनिषद्** के ऋषि ने कहा- **"अणोरणीयान् महतो महीयान्" (कठ.उ.२.२०)**

अर्थात् वह परमात्मा सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान् है। इस कारण वह सर्वव्यापक है।

यजुर्वेद ने कहा है- **"ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्" (यजु.४०.१)**

अर्थात् वह ईश्वर इस सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त होकर उसे आच्छादित किये हुए है। इस प्रकार वह ईश्वर सर्वव्यापक सिद्ध होता है। वह एकदेशी कभी नहीं हो सकता।

सर्वशक्तिमान्- इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को बनाने, चलाने व नियन्त्रित करने वाला सर्वव्यापक ईश्वर तत्व सर्वशक्तिमान् ही होना चाहिये। आज का विज्ञान इस बात से अवगत है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड कितना विशाल है? सूक्ष्म कणों से लेकर विशाल लोकों की रचना करना, उन्हें गतियां प्रदान करना, सभी बलों व ऊर्जाओं को भी बल व ऊर्जा प्रदान करना, किसी सामान्य शक्ति वाले तत्व का सामर्थ्य नहीं है। इस कारण वह ईश्वर तत्व सर्वशक्तिमान् ही हो सकता है। यहाँ ध्यातव्य है कि **'सर्वशक्तिमान्'** का अर्थ यह नहीं है कि ईश्वर बिना किसी उपादान पदार्थ के शून्य से सृष्टि रचना कर सकता है अथवा वह बिना किसी नियम के चमत्कार-पूर्वक कुछ भी कर सकता है, उसके लिए किसी भी कार्य का करना असम्भव नहीं है, ऐसा कथन उचित नहीं है। **ईश्वर स्वयं नियामक है, जो अपने ही नियमों के अनुसार कार्य कर सकता है, अन्यथा कार्य नहीं कर सकता। उसकी सर्वशक्तिमत्ता तो इस बात में है कि वह इतनी बड़ी सृष्टि को बिना किसी की सहायता से बनाता, चलाता व समय आने पर उसका प्रलय भी करता है।**

निराकार- अब इस बात पर विचार करें कि जो पदार्थ सर्वशक्तिमान् अर्थात् अनन्त ऊर्जा व बल से युक्त एवं सर्वव्यापक होगा, उसका आकार क्या होगा? हम यह समझते हैं कि इस विषय में सामान्य बुद्धि वाला भी यही कहेगा कि सर्वव्यापक व सर्वशक्तिमती सत्ता का कोई आकार नहीं होगा। वस्तुतः

ऊर्जा व बल जैसे गुण किसी साकार पदार्थ में होते ही नहीं हैं। इस संसार में साकार पदार्थों में जो भी बल वा ऊर्जा दिखाई देती है, वह वस्तुतः उस साकार पदार्थ के अन्दर विद्यमान अन्य निराकार पदार्थ की ही होती है। विभिन्न विशाल वा लघु यन्त्रों में विद्युत्, जो निराकार ही होती है, आदि का ही बल विद्यमान होता है। प्राणियों के शरीरों में चेतन जीवात्मा का भी बल कार्य करता है। निराकार विद्युत् आदि पदार्थों में चेतन परम तत्व ईश्वर का बल कार्य करता है, यह बात हम पूर्व में ही लिख चुके हैं। जो **ईश्वर तत्व प्रत्येक सूक्ष्म व स्थूल पदार्थों में व्याप्त होकर उन्हें बल व ऊर्जा प्रदान कर रहा है, वह केवल निराकार ही हो सकता है, साकार कदापि नहीं।**

प्रश्न- ईश्वर तो निराकार ही होता है, परन्तु दुष्टों को दण्ड व सज्जनों को संरक्षण हेतु कभी-२ शरीर धारण करता है, इसे ईश्वर का अवतार लेना कहा जाता है।

उत्तर-यह बात न केवल वेद एवं आर्ष ग्रन्थों के विरुद्ध है, अपितु विज्ञान व युक्ति के भी सर्वथा विरुद्ध है।

"अकायमव्रणमस्नाविरम्" (यजु.४०.८)
"दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः" (मु.उ.२.२)

यहाँ ईश्वर को अमूर्त (निराकार), कभी भी नस नाड़ी के बन्धन में न आने वाला अर्थात् अशरीरी कहा है। ऐसी स्थिति में वेद, उपनिषदादि ग्रन्थों को मानने वाले पौराणिक (कथित सनातनी) महानुभाव अवतारवाद की धारणा के संवाहक बने हुए हैं, यह बड़े शोक का विषय है। वे कहने भर को वेद को ईश्वरीय ज्ञान व परम प्रमाण मानते हैं, परन्तु वे वास्तव में कथित प्रचलित पुराणों ब्रह्मवैवर्त, भागवत आदि में ही आस्था रखते हैं। इसी मिथ्या धारणा ने सनातन वैदिक धर्म, ज्ञान विज्ञान, सनातन संस्कृति का भारी विनाश कर डाला है, यह बात विगत २-३ सहस्र वर्षों के भारतीय इतिहास से प्रमाणित होती है। इस अवतारवाद की मिथ्या धारणा से मूर्तिपूजा, बहुदेववादादि दोषों ने जन्म लिया, जिनकी प्रतिक्रिया में ही विश्व में अनेक अवैदिक सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ और वैदिक धर्म का भारी अपयश हुआ व निरन्तर हो रहा है। **आज अनेक चालाक व धूर्त व्यक्ति स्वयं को ईश्वर का अवतार घोषित करके धर्मभीरु परन्तु अविवेकीजनों को भ्रमित करके ठगते रहते हैं।**

वेद, उपनिषद् के मत के साथ-२ हम वैज्ञानिक युक्तियों से भी विचार करते हैं। जो महानुभाव यह कहते हैं कि बिना शरीर धारण किये ईश्वर दुष्टों का संहार नहीं कर सकता, वे यह नहीं विचारते कि इस विशाल ब्रह्माण्ड का सम्पूर्ण प्रलय करने किंवा इसकी सृष्टि करने हेतु तो शरीर धारण नहीं करना पड़ता, तब किसी मनुष्य को मारने के लिए ईश्वर को जन्म लेना पड़े, यह नितान्त अज्ञानता की बात है। वह ईश्वर अशरीरी रहकर भी उन दुष्ट व सज्जनों को जन्म दे सकता है, वह ईश्वर क्या अशरीरी रहकर उन दुष्टों को मारकर सज्जनों की रक्षा नहीं कर सकता? इस विषय पर विवेचना से ग्रन्थ का स्तर भी कम होता है, क्योंकि जिन महानुभावों को इतनी सी बात समझ नहीं आती कि सर्वव्यापक, एकरस, निराकार ईश्वर किसी शरीर विशेष में केन्द्रित नहीं हो सकता, वे महानुभाव इस गम्भीर ग्रन्थ को कैसे समझ सकेंगे? इस कारण इस साधारण विषय को हम यहीं विराम देते हैं।

सर्वज्ञ- ईश्वरतत्व की सर्वशक्तिमत्ता के पश्चात् उसकी सर्वज्ञता पर विचार करते हैं। यह सामान्य बुद्धि की बात है कि आधुनिक जगत् में एक-२ यन्त्र बनाने वाला इंजीनियर तथा ब्रह्माण्ड के कुछ रहस्यों को जानने वाला एक वैज्ञानिक बहुत बुद्धिमान् माना जाता है। ऐसी स्थिति में जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को रचता और चलाता है, वह कितना ज्ञानी होगा? वस्तुतः वह ईश्वर सर्वज्ञ ही होता है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड, जिसे जानने का प्रयास यह धरती का सर्वश्रेष्ठ प्राणी मानव करोड़ों वर्षों से करता रहा है और जब तक सृष्टि रहेगी, वह ऐसा प्रयत्न करता भी रहेगा परन्तु उसे कभी पूर्णतः नहीं जान सकेगा। वह ऐसा ब्रह्माण्ड जिसने बनाया है, जो उसे चला रहा है, वह निश्चित ही सर्वज्ञ अर्थात् अनन्त ज्ञान वाला ही होगा।

पवित्र- वह ऐसा ईश्वर कभी भी सृष्टि के उपादान कारण रूप पदार्थ में मिश्रित नहीं होता, इसी कारण उसे पवित्र भी कहते हैं अर्थात् वह सदैव विशुद्ध रूप में विद्यमान रहता है, इसी कारण ईश्वर को सृष्टि का निमित्त कारण माना जाता है, जबकि प्रकृति रूपी मूल पदार्थ इस सृष्टि का उपादान कारण माना जाता है। यही यथार्थता है। इसके साथ ही यह भी तथ्य है कि ईश्वर कभी किसी भी प्रकार के दोष से किंचिदपि ग्रस्त नहीं हो सकता।

सर्वाधार- ऐसा वह ईश्वर ही इस ब्रह्माण्ड को बनाता, चलाता हुआ उसे धारण भी कर रहा है, इस कारण वह सर्वाधार कहलाता है। वर्तमान विज्ञान इसके धारण में गुरुत्वाकर्षण बल तथा डार्क मैटर की भूमिका मानता है। यह सत्य भी है परन्तु इन धारक पदार्थों का धारक स्वयं ईश्वर तत्व ही है।

न्यायकारी-दयालु- ऐसा वह ईश्वर तत्व निश्चित ही सर्वदा सर्वथा पूर्ण व तृप्त वा अकाम होना चाहिये। तब वह इस सृष्टि की रचना स्वयं के लिए नहीं, बल्कि किसी अन्य अपूर्ण चेतन तत्व के उपभोग व मोक्ष हेतु करता है। वह अपूर्ण चेतन तत्व ही जीवात्मा कहाता है। यहाँ 'अपूर्ण' का अर्थ यह समझना चाहिये कि वह बल, ज्ञान व आयतन आदि की दृष्टि से ईश्वर की अपेक्षा अत्यन्त लघु है, क्योंकि वह ईश्वर अपने लिए कुछ भी नहीं चाहता, बल्कि जीवों की भलाई के लिए ही सृष्टि रचना करता है, इस कारण वह दयालु कहलाता है। वह सदैव जीवों को उनके कर्मों के अनुसार ही फल देता है, न उससे अधिक और न न्यून। इसी कारण उसे न्यायकारी भी कहा जाता है। कर्मानुसार फल का मिलना चेतन पदार्थ जगत् में कारण-कार्य के नियम के समान है। जड़ जगत् में हम सर्वत्र कारण-कार्य का नियम देखते हैं। वर्तमान विज्ञान भी जड़ जगत् में कारण-कार्य के नियम को स्वीकार करते हैं। Arthur Beiser लिखते हैं-

"cause and effects are still related in quantum mechanics, but what they concern needs careful interpretation ." (Concepts of Modern Physics- P. 161)

जब जड़ जगत् में कारण-कार्य का नियम सर्वत्र कार्य करता है, भले उसे हम पूर्णतः समझ न पाएं, तब वह चेतन जगत् में क्यों नहीं कार्य करेगा? हमारा मत यह है कि यहाँ कर्मफल व्यवस्था ही कारण-कार्य के नियम के रूप में कार्य करती है। हम इसे पूर्णतः कभी नहीं जान सकते। ईश्वर भी इस व्यवस्था को उपेक्षित नहीं कर सकता। **उसकी प्रार्थना, उपासना आदि करने से भी वह किसी जीव के कर्मों के अनिष्ट फल से उस जीव को नहीं बचा सकता, इसी में उसका न्याय व दया दोनों ही समाहित है।** यदि प्रार्थना से प्रभावित होकर वह जीवों को उनके पापों का दण्ड न दे, तो उसकी सम्पूर्ण कर्म-न्याय-व्यवस्था अस्त व्यस्त हो जाये। किसी अपराधी के अपराध को क्षमा करना न्यायाधीश का न्याय नहीं, बल्कि अन्याय ही होता है। इस क्षमा से वह अपराधी पाप करने हेतु और भी प्रोत्साहित होता तथा इससे वह अनेक जीवों को और भी अधिक दुःख दे सकता है, जिसका फल स्वयं न्यायाधीश को भी भोगना पड़ता है किंवा वही उस पापों का उत्तरदायी होता है। **इस कारण सच्चा न्यायाधीश कभी किसी अपराधी को क्षमा नहीं करता और न क्षमा करना चाहिये। जब कोई सच्चा न्यायाधीश ऐसा नहीं करता, तब वह परमात्मा रूप न्यायाधीश क्यों किसी के अपराध क्षमा करके अपनी न्याय व्यवस्था भंग करेगा?** ईश्वरीय व्यवस्था पूर्णतः व्यवस्थित व स्वाभाविक है, उसमें कभी कोई स्खलन नहीं होता। इस कारण **जो ईश्वरवादी प्रार्थना, याग, तौबा, confession आदि के द्वारा अपने पापमोचन की कामना करते हैं, वे ईश्वर तत्व के विशुद्ध स्वरूप को नहीं समझते।** पाप के फल के विषय में **महादेव शिव भगवती उमा** से कहते हैं-

"द्विधा तु क्रियते पापं सद्भिश्चासद्भिरेव च। अभिसंधाय वा नित्यमन्यथा वा यदृच्छया।।
अभिसंधिकृतस्यैव नैव नाशोऽस्ति कर्मणः। अश्वमेधसहस्रैश्च प्रायश्चित्तशतैरपि।।
अन्यथा यत् कृतं पापं प्रमादाद् वा यदृच्छया। प्रायश्चित्ताश्वमेधाभ्यां श्रेयसा तत् प्रणश्यति।।"
(महाभारत, अनु. पर्व दानधर्मपर्व। अध्याय १४५ दाक्षिणात्य संस्करण)

इसका भाव यह है कि जो पाप प्रमाद वा असावधानी पूर्वक हो जाये, वह प्रायश्चित्त आदि कुछ उपायों से मिट सकता है परन्तु, जो पाप जानकर वा प्रतिज्ञापूर्वक किया गया हो, वह कभी भी नाश को प्राप्त नहीं होता अर्थात् उसका फल अवश्य ही भोगना पड़ता है। यही ईश्वर का सच्चा न्याय व यही सच्ची दया है। **दण्ड देने के पीछे भी ईश्वर का प्रयोजन होता है कि उस पापी प्राणी के पापों से अन्य प्राणियों की रक्षा हो सके और वह पापी प्राणी स्वयं भी भविष्य में पाप में प्रवृत्त न होवे। वह ईश्वर पापी जीव को इसी प्रकार दण्ड देता है, जैसे योग्य माता-पिता अपनी संतान को बुराइयों से बचाने हेतु दयापूर्वक ताड़ना करते हैं, न कि वे क्रोधवश ऐसा करते हैं।** इसी प्रकार वही ईश्वर सभी जीवों का सबसे बड़े माता-पिता के समान पालक, न्यायकारी व दयालु है।

आज संसार में एक सत्य सनातन वैदिक धर्म को त्यागकर मनुष्य समाज नाना सम्प्रदायों में विभाजित होकर नाना ईश्वरों की कल्पना कर रहा है। प्रायः सभी सम्प्रदाय पापों से मुक्ति के कई सरल उपाय बताते हैं। सभी प्रायः ईश्वर को पाप क्षमा करने वाला मानते हैं। एतदर्थ ईश्वर को प्रसन्न करने हेतु नाना प्रकार के पूजाडम्बर, नदी स्नान, नाम स्मरण, कथा स्मरण, व्रत, उपवास, रोजा, प्रार्थना, नमाज, नाना मूर्तियों, पेड़ पौधों वा पशुओं आदि की पूजा आदि अनेकों साधन प्रचारित कर रखे हैं। इनसे पाप तो क्षमा नहीं होते किन्तु इन आडम्बरों के प्रचारकों की आजीविका अवश्य चल रही है। ये आडम्बर जितनी मात्रा में बढ़ रहे हैं, पाप भी उतनी ही मात्रा में निरन्तर बढ़ते जा रहे हैं। इससे सामान्य प्रबुद्ध व्यक्ति का विश्वास न केवल ईश्वर व उसकी कर्मफल व्यवस्था से उठता जा रहा है, अपितु नैतिक मूल्यों का भी निरन्तर क्षरण होता जा रहा है। इस कारण ईश्वर के दयालु व न्यायकारी दोनों ही विशेषणों का समन्वित वैज्ञानिक स्वरूप समझना नितान्त आवश्यक है।

इस प्रकार ईश्वर तत्व के अनन्त गुण, कर्म स्वभाव हैं। हमने यहाँ कुछ गुणों की विवेचना की। **महर्षि दयानन्द सरस्वती** ने आर्य समाज के दूसरे नियम में ईश्वर तत्व के स्वरूप का अत्यन्त सुन्दर विवेचन करते हुए गागर में सागर भर दिया है। वे लिखते हैं-

"ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है। उसी की उपासना करनी योग्य है।"

ईश्वर के स्वरूप का इससे सुन्दर विवेचन कदाचित् ही कहीं मिले। आज संसार में प्रचलित विभिन्न मत सम्प्रदायों में ईश्वर के मिथ्या कल्पित रूपों की भरमार है। ऐसे ही ईश्वरों के अस्तित्व का Stephen Hawking ने The Grand Design नामक पुस्तक में उपहासपूर्वक खण्डन किया है और करना भी चाहिये। यदि Hawking के समक्ष ईश्वर तत्व का यह वैदिक वैज्ञानिक स्वरूप विद्यमान होता, तो उन्हें ईश्वर तत्व की मान्यता को खण्डित करने की आवश्यकता नहीं होती। यह आश्चर्य ही है कि कोई भी ईश्वरवादी Hawking के विचारों को पढ़कर ईश्वर के सत्य स्वरूप को जानने हेतु प्रवृत्त होता नहीं दिखाई दिया, बल्कि ईश्वर की सत्ता को ही नकारने पर जोर दिया गया। आशा है कि आधुनिक वैज्ञानिकों को हमारे ईश्वर विषयक इस प्रकरण से ईश्वरीय सत्ता व स्वरूप का अवश्य बोध होगा और वे Hawking जैसी भूल नहीं दोहराएंगे।

ईश्वर के कार्य करने की प्रणाली

ईश्वरीय सत्ता के अस्तित्व व स्वरूप की वैज्ञानिकता की चर्चा के उपरान्त हम इस बात पर विचार करते हैं कि ईश्वर इस सृष्टि की रचना, संचालन, धारण व प्रलय आदि प्रक्रियाओं में अपनी क्या व कैसी भूमिका निभाता है अर्थात् उसकी कार्यप्रणाली=क्रिया विज्ञान क्या है? संसार भर के ईश्वरवादी नाना प्रकार से ईश्वर की चर्चा तो करते हैं परन्तु इस बात पर विचार भी नहीं करते कि वह ईश्वर अपने कार्यों को सम्पन्न कैसे करता है? हम यह जानते हैं कि इस सृष्टि में जो भी क्रियाएं हो रही हैं, उनके पीछे चेतन तत्व ईश्वर की भूमिका है। वहीं प्राणियों के शरीरों में जीवात्मा रूपी चेतन तत्व की भी भूमिका होती है। हम यहाँ ईश्वर तत्व की भूमिका की चर्चा करते हैं। क्या ईश्वर छोटे-२ कण, क्वाण्टा आदि से लेकर बड़े-२ लोक लोकान्तरों के घूर्णन व परिक्रमण, उनके धारण, आकर्षण,

प्रतिकर्षण बलों का प्रत्यक्ष कारण है? नहीं, ईश्वर सूर्यादि लोकों व इलेक्ट्रॉन्स आदि कणों को पकड़कर नहीं घुमाता वा चलाता है, बल्कि ये सभी पदार्थ उन्हीं विभिन्न बलों, जिन्हें वर्तमान विज्ञान जानता वा जानने का यत्न कर रहा है, के द्वारा अपने-२ कार्य कर रहे हैं। हाँ, इन बलों की उत्पत्ति जिन प्राण व छन्दादि पदार्थों से हुई है, उन्हें वर्तमान विज्ञान किंचिदपि नहीं जानता। इसी कारण वर्तमान विज्ञान द्वारा माने जाने वाले मूलबलों की उत्पत्ति एवं क्रियाविधि की समुचित व्याख्या करने में यह विज्ञान अक्षम है। इन मूल बलों की उत्पत्ति एवं नियन्त्रण इन्हीं विविध प्रकार की प्राण व छन्दादि रश्मियों के द्वारा होता है। बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती, ये प्राण व छन्दादि रश्मियां भी मन एवं सूक्ष्म वाक् तत्व के मिथुन से उत्पन्न व नियन्त्रित होती हैं। इस कारण मन एवं सूक्ष्म वाक् तत्व के स्वरूप व व्यवहार को समझे बिना प्राण व छन्दादि रश्मियों एवं उनसे उत्पन्न विभिन्न कथित मूल बलों (गुरुत्व, विद्युत् चुम्बकीय, नाभिकीय बल एवं दुर्बल बल) के स्वरूप व क्रिया विज्ञान का यथावत् बोध नहीं हो सकेगा।

ध्यातव्य है कि मन व वाक् तत्व भी जड़ होने के कारण स्वतः किसी कार्य में प्रवृत्त होने का सामर्थ्य नहीं रखते। **इन्हें प्रवृत्त करने वाला सबका मूल तत्व चेतन ईश्वर है। वही इन मन एवं सूक्ष्म वाक् तत्व को प्रेरित करता है। इनके मध्य एक काल तत्व भी होता है परन्तु वह भी जड़ होने से ईश्वर तत्व से प्रेरित होकर कार्य करता है।** इस प्रकार कार्य करने किंवा प्रेरक एवं प्रेरित पदार्थों, नियामक व नियम्य तत्वों की श्रंखला इस प्रकार है-

चेतन ईश्वर तत्व काल को प्रेरित करता है। काल तत्व मन-वाक् को प्रेरित करता, पुनः मन एवं वाक् तत्व प्राण व छन्दादि रश्मियों को प्रेरित करते हैं। तदुपरान्त वे प्राण व छन्दादि रश्मियां आधुनिक कथित चार प्रकार के मूल बलों को उत्पन्न व प्रेरित करती हैं, उसके पश्चात् वे चारों बल (वस्तुतः बलों की संख्या बहुत अधिक है, जो सभी प्राणादि रश्मियों के कारण ही उत्पन्न होते हैं) समस्त सृष्टि को उत्पन्न व संचालित करने में सहायक होते हैं।

इस प्रकार ईश्वर तत्व प्रत्येक क्रिया के समय केवल काल वा ओम् छन्द रश्मियों को ही प्रेरित करता है, वे अग्रिम प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हैं। ये इतने सूक्ष्म तत्व हैं कि मनुष्य कभी भी इन्हें किसी प्रयोग-प्रेक्षण के द्वारा नहीं जान सकता। केवल **उच्च कोटि का योगी ही इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को जान व समझ सकता है।** इस ग्रन्थ में महायोगी **महर्षि ऐतरेय महीदास** ने इसी सम्पूर्ण प्रक्रिया को अपने महान् योग बल के द्वारा समझ कर इस महान् रहस्यपूर्ण ग्रन्थ में वर्णित किया है। परमेश्वर की असीम दया से हमने इस ग्रन्थ को समझने में सफलता पाई है। इसमें स्थान-२ पर ईश्वर तत्व की भूमिका का वर्णन किंवा उसके क्रिया विज्ञान का सांकेतिक वर्णन है, जिसे पाठक ग्रन्थ का अध्ययन करके ही जान सकेंगे। सारांशतः **ईश्वर काल, ओम् रश्मि व प्रकृति को प्रेरित करके सृष्टि प्रक्रिया को प्रारम्भ व सम्पादित करता है।** वह किसी क्रिया में जीवात्मा की भांति ऐसा भागीदार नहीं होता कि उसे अपने कर्मों का फल भोगना पड़े। वह सर्वथा अकाम है। केवल जीवों के लिए सब कुछ करता है, इस कारण वह कर्त्ता भी है और अकर्त्ता भी। वह सृष्टि का निमित्त कारण है। **ईश्वर कैसे प्रेरित करता है? उस प्रेरणा वा जागरण का क्रियाविज्ञान क्या है? यह बात हमने आगे कालतत्व प्रकरण में संक्षिप्त रूप में समझायेंगे है, पाठक वहीं देख सकते हैं।**

अद्वैतवाद समीक्षा

इस संसार में जहाँ चार्वाक, बौद्ध व जैन मत आदि ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करते हैं, वहीं कुछ अध्यात्मवादी मानते हैं कि इस सम्पूर्ण सृष्टि में मात्र ईश्वर तत्व की सत्ता है, जीव व प्रकृति आदि की कोई सत्ता नहीं है। यह विचार मध्यकाल में अनेक आचार्यों का रहा है। इन आचार्यों में से आद्य शंकराचार्य को प्रमुख स्थान दिया जाता है। अद्वैतवाद का आधार **महर्षि कृष्ण द्वैपायन बादरायण व्यास** (**महर्षि वेदव्यास**) का **ब्रह्मसूत्र** नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। यह मत संसार के अनेक वैदिक व अवैदिक किंवा भारतीय व विदेशी मत मतान्तरों को प्रभावित करता रहा व कर रहा है। हम इसकी चर्चा न करके मात्र इसी विषय पर विचार करेंगे कि यह मत क्यों वेद विरुद्ध, स्वयं ब्रह्मसूत्रों के विरुद्ध तथा विज्ञान व युक्तियों के विरुद्ध है? ब्रह्मसूत्रों में प्रथम दो सूत्रों से ही अद्वैतवाद खण्डित हो जाता है। वे दो सूत्र इस प्रकार हैं-

"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" (ब्र.सू. १.१.१)
"जन्माद्यस्य यतः" (ब्र.सू. १.१.२)

इन दो सूत्रों से ब्रह्म विषयक चर्चा प्रारम्भ करते हुए कहा है-

"अब हम ब्रह्म को जानने की इच्छा करते हैं। वह ब्रह्म कैसा व कौन है? यह बताते हुए कहते हैं कि जिससे जगत् का जन्मादि (जन्म, स्थिति व प्रलयादि) होता है।"

जरा विचारें कि जिस जगत् का जन्म होता है, उसमें स्थिति होती है तथा समय आने पर ब्रह्म उसका प्रलय भी करता है, वह जगत् कभी मिथ्या नहीं हो सकता। न जाने क्यों, इस ब्रह्म प्रतिपादक महान् ग्रन्थ के आधार पर ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सभी पदार्थों की सत्ता को नकारा जाता है? जबकि यह ग्रन्थ अपने प्रारम्भ में ही जगत् के सभी पदार्थों की वास्तविकता को प्रतिपादित कर रहा है। यह बात पृथक् है कि जगत् ब्रह्म की भाँति नित्य नहीं है परन्तु जगत् मिथ्या (अवास्तविक) भी नहीं है। यहाँ जीव व प्रकृति रूपी मूल उपादान कारण के अस्तित्व का भी निषेध नहीं है। ब्रह्मसूत्र ग्रन्थ के विषय में यह बहुत बड़ी भ्रान्ति हो गयी है, हो रही है। हमने **'वर्ल्ड कांग्रेस ऑन वैदिक सायंसेज'** बैंगलोर में अगस्त २००४ में अनेक वैदिक विद्वानों तथा वर्तमान भौतिक शास्त्रियों को ब्रह्मसूत्र की मिथ्या व्याख्या करते देखा है। अद्वैतवाद की शास्त्रीय समीक्षा हेतु पाठकों को **महर्षि दयानन्द सरस्वती** रचित **'सत्यार्थ प्रकाश'** नामक क्रान्तिकारी ग्रन्थ अवश्य पढ़ना चाहिये। हम यहाँ उसका पिष्टपेषण करना आवश्यक नहीं समझते, बल्कि हम यहाँ वर्तमान विज्ञान का आश्रय लेकर अद्वैतवाद की पुष्टि के प्रयास की समीक्षा अवश्य करेंगे। इस पक्ष के विद्वान् सर्वप्रथम आधुनिक विज्ञान के पदार्थ द्रव्य व ऊर्जा के पारस्परिक रूपान्तरण की चर्चा करते हुए अन्त में इन दोनों को चेतन ऊर्जा में परिवर्तनीय व उससे उत्पन्न सिद्ध करते हैं। सामान्यतः यह विचार वैज्ञानिक सत्य ही प्रतीत होता है परन्तु इस पर विशेष चिन्तन करने पर इसकी असारता स्पष्ट हो जाती है। सर्वप्रथम हम इस बात का विचार करें कि परिवर्तनीय तत्व कौन-२ हो सकते हैं? स्पष्टतः जो पदार्थ विकारी होते हैं, वे ही विकार को प्राप्त होकर रूपान्तरित होने में सक्षम होते हैं। अब प्रश्न उठता है कि विकारी पदार्थ क्या व कैसा होता है? हमारी दृष्टि में **विकारी पदार्थ जड़ ही हो सकता है।** यदि एक-२ सूक्ष्म कण वा क्वाण्टा को जड़ के स्थान पर चेतन मानें, तब प्रश्न यह उठेगा कि क्या प्रत्येक कण वा क्वाण्टा की चेतना पृथक्-२ है वा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की चेतना एक ही है? यदि प्रत्येक कण की चेतना पृथक्-२ है, तब ब्रह्माण्ड भर के सम्पूर्ण पदार्थ को कैसे एक प्रकार के नियमों में बंधा देखा जाता है? जिस प्रकार प्रत्येक प्राणी की ऐच्छिक क्रियाएं, विचार, संस्कार पृथक्-२ होते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक कण व क्वाण्टा को यदि चेतन मानें, तो उनकी क्रियाएं परस्पर समान ही हों, यह आवश्यक नहीं है। वे परस्पर संगत रहें वा नहीं, यह भी आवश्यक नहीं है। प्रत्येक कण की पृथक्-२ चेतन सत्ता होने पर भी वे परस्पर मिलकर इस सृष्टि की रचना हेतु परस्पर अपने नाना समूह बना सकें और सम्पूर्ण सृष्टि के असंख्य नियमों को बना सकें, यह सर्वथा असम्भव है? ऐसा कार्य कोई प्राणी नहीं कर सकता। सर्वाधिक बुद्धिमान् माना जाने वाला प्राणी मनुष्य अपने समाज का निर्माण करता है परन्तु उन समाजों की संरचना ऐसी जटिल नहीं होती, जैसी कि विभिन्न जड़ पदार्थों में उन पदार्थों के अवयवभूत सूक्ष्मकण वा क्वाण्टाज् निर्मित करते हैं। विभिन्न प्राणी अपनी सामाजिक संरचनाओं को समय-२ पर अपनी-२ रुचि व स्वभाव-संस्कार के अनुसार बदलते रहते हैं परन्तु विभिन्न कणों वा क्वाण्टाज् के नियम कभी परिवर्तित नहीं होते।

प्रश्न- जो-२ प्राणी जितना अधिक बुद्धिमान् होता है, उस-उसके संस्कार व रुचियां उतनी-२ अधिक मात्रा में परिवर्तित होती हैं। मनुष्य के सामाजिक नियमों में परिवर्तन बहुत अधिक होता चला आया है वा होता जा सकेगा परन्तु पशुओं, पक्षियों के स्वभाव व संस्कार में परिवर्तन न्यूनतर हुआ है और न्यूनतर ही हो सकेगा। पशु-पक्षियों से भी कम बुद्धि वाले सूक्ष्म जीवों के स्वभाव व संस्कार में और भी न्यूनतर परिवर्तन हो सकेगा वा हुआ है। इस कारण चेतन कण व क्वाण्टाज् के स्वभाव व संस्कार में परिवर्तन इस कारण नहीं होता, क्योंकि उनमें बुद्धि तत्व नगण्य होता है। इस कारण उनमें पृथक्-२ चेतन आत्मा का होना अतार्किक नहीं है।

उत्तर- आपका यह कथन उचित नहीं है। यदि आपके अनुसार प्रत्येक कण व क्वाण्टा को चेतन मानें और बुद्धि तत्व नगण्य मानें, तब वे कण व क्वाण्टा मिलकर इस सृष्टि का निर्माण कदापि नहीं कर सकते। इस सृष्टि के नियमों पर जितना अधिक विचार करें, इसमें उतनी ही अधिक गम्भीर बुद्धिमत्ता दिखाई देती है। सर्वश्रेष्ठ प्राणी मानव जो भी अधिकतम बुद्धिमत्ता के कार्य कर सकता है, उससे सहस्रों गुना बुद्धिमत्ता के कार्य उसके स्वयं के शरीर में एक-२ कोशिका और उसके भी अवयवभूत एटम, मॉलिक्यूल्स तथा इनसे भी सूक्ष्म कण व क्वाण्टाज् वा ऊर्जा के द्वारा सतत सम्पन्न हो रहे हैं, जिसे मानव जानता तक नहीं। तब कैसे कहा जा सकता है कि नगण्य बुद्धि वाले कथित चेतन कणों के स्वभाव व संस्कार उनकी बौद्धिक अक्षमता के कारण ही अपरिवर्तित रहते हैं। वास्तविकता यह है कि संसार की रचना किसी साधारण बुद्धि वाले चेतन की रचना नहीं है, बल्कि अनन्त बुद्धि सम्पन्न चेतन तत्व का चमत्कार है। निश्चित ही यह अनन्त बुद्धि किसी कण वा क्वाण्टा विशेष की नहीं और न ही उन सबके सामूहिक रूप की है, बल्कि वह अनन्त बुद्धिसम्पन्न एक ही चेतन तत्व की है, जो किसी कण वा क्वाण्टा एवं उन सबके कारणभूत प्राणादि पदार्थों तथा उसके भी उपादान कारणरूप प्रकृति से सर्वथा पृथक् होने पर भी उसमें बाहर-भीतर सर्वतः निरन्तर व्यापक है। उसे ही इस विराट् ब्रह्माण्ड की चेतना रूप ईश्वर तत्व कहा जाता है। वह स्वयं अनादि, अनन्त, अजन्मा, अमर होने के साथ-२ निर्विकार होते हुए अनादि-अनन्त, अजन्मा-अमर परन्तु विकारी प्रकृति रूप जड़ पदार्थ के अन्दर समय-२ पर प्रयोजनानुसार विकार उत्पन्न करके सुन्दर सृष्टि की रचना करता रहता है।

प्रश्न- यदि सृष्टि का रचयिता कोई सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक व सर्वज्ञ चेतन ईश्वर है भी, तब वह इस सृष्टि को क्यों रचता है? उसके रचन-समय, प्रलय आदि के समय का निर्धारण कैसे करता है? यदि वह यह कार्य न करे, तब उसको क्या हानि है?

उत्तर- हम यह पूर्व में आधुनिक विज्ञान के सृष्टि उत्पत्ति सिद्धान्त की समीक्षा के प्रकरण में लिख चुके हैं कि **'क्यों'** प्रश्न का उत्तर जड़वादी नहीं दे सकते, जबकि ईश्वरवादी वा आत्मवादी ही इसका उत्तर दे सकते हैं। **'क्यों'** प्रश्न किसी कार्य का प्रयोजन वा उद्देश्य पूछता है। प्रयोजन केवल चेतन तत्व ही समझता है और वही समझ भी सकता है। जब हम चेतन तत्व की सत्ता को अस्वीकार करते हैं, उस समय यह प्रश्न अवश्य उत्पन्न होता है, कि जड़ ऊर्जा व द्रव्यादि पदार्थ में विकार क्यों उत्पन्न होता है? क्यों समय विशेष पर सृष्टि उत्पत्ति प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है? क्यों फिर प्रलय प्रारम्भ होता है? वस्तुतः जड़ पदार्थ, न तो स्वयं कोई प्रवृत्ति रखता वा रख सकता है और न ही वह बुद्धिहीन होने के कारण किसी प्रवृत्ति का प्रयोजन समझ सकता है।

इस सम्पूर्ण सृष्टि पर विचार करें तो स्पष्ट होता है कि प्रत्येक जड़ पदार्थ स्वयं अपने लिए नहीं बना है, बल्कि वह किसी चेतन बुद्धिमान् तत्व के उपभोग के लिए बना है। ईश्वर नामक जो चेतन तत्व है, वह सर्वथा पूर्ण व अकाम है। उसे अपने लिए इस सृष्टि से कोई प्रयोजन नहीं हो सकता है। इस कारण एक और चेतन तत्व इस सृष्टि में अवश्य होना चाहिये, जो ज्ञान व क्रिया से युक्त हो, अल्पज्ञ, एकदेशी, अल्पशक्ति वाला हो। उसी चेतन तत्व को जीवात्मा कहा जाता है। ये मात्रा में असंख्य होते हैं। इन्हीं के उपभोग के लिए ईश्वर तत्व प्रकृति रूप पदार्थ से सृष्टि की रचना करता है। इसकी विशेष विवेचना यहाँ आवश्यक नहीं है, पुनरपि हम इतना अवश्य लिखना चाहते हैं कि ईश्वर पूर्ण व अकाम होने के कारण स्वयं के लिए सृष्टि की रचना नहीं करता और प्रकृति जड़ होने के कारण स्वयं ही भोक्ता नहीं हो सकती। वह केवल भोग्या के रूप में ही होती **है। ईश्वर ऐसा मूर्ख भी नहीं है, जो कुतूहलवश निष्प्रयोजन सृष्टि की रचना और प्रलय करता रहे।**

अब प्रश्न यह है कि जीवात्मा के लिए भी वह ईश्वर इस सृष्टि की रचना क्यों करता है? न करे, तो क्या हानि होवे? इसके उत्तर में संक्षेप में हम इतना कहेंगे कि प्रलयावस्था में अल्पज्ञ जीवात्मा, जो स्वयं अजन्मा, अमर होते हैं, पूर्ण निष्क्रिय यथा तथा एवं यत्र-तत्र महाप्रलय रूप प्रकृति-पदार्थ में पड़े रहते हैं। केवल मुक्तात्मा ही परमात्मा के आनन्द में रमण करते हैं। यदि परमात्मा सृष्टि की रचना न करे, तो निष्क्रिय जीवों का अस्तित्व ही निरर्थक रहे, उन्हें कभी ज्ञान, आनन्द आदि का अनुभव न हो सके। उधर सम्पूर्ण पदार्थ, जिससे सृष्टि का निर्माण होता है, भी सर्वथा निष्प्रयोजन हो जाये और स्वयं ईश्वर की सत्ता, शक्ति व ज्ञान भी निरर्थक हो जायें। इस कारण अपने साथ-२ जीवात्मा व प्रकृति

रूपी पदार्थ की सत्ता एवं उनके गुणों को सार्थक करने तथा **जीवात्माओं को सांसारिक सुख भोग के साथ मोक्ष प्राप्ति के उपाय करने हेतु सृष्टि रचना करता है। ऐसा करना उसका नियत व निरन्तर स्वभाव है,** जैसे आंख का स्वभाव देखना तथा श्रोत्र का स्वभाव सुनना है, वैसे ही जीवों के उपकार हेतु सृष्टि रचना और समय पर प्रलय करना उसका स्वभाव है।

यहाँ हमने ईश्वर तत्व विषय पर संक्षेप में चर्चा की है। वस्तुतः यह सब हमको अपने ऐतरेय ब्राह्मण के व्याख्यान भाग में अनेकत्र ईश्वर तत्व का संकेत होने के कारण करनी पड़ी। ऐतरेय ब्राह्मण ग्रन्थ में ईश्वर तत्व का विशद् विवेचन नहीं है, पुनरपि हमारी दृष्टि में **ईश्वर तत्व के विषय में यथार्थ ज्ञान होना सम्पूर्ण मानव जाति किंवा प्राणिमात्र के कल्याण हेतु अनिवार्य है।** आज संसार में जितनी भ्रांति इस विषय में है, उतनी अन्य किसी विषय में नहीं। **ईश्वर विषयक भ्रान्ति ने धर्म विषय में बड़ी-२ भ्रान्तियों को जन्म देकर मानव जाति को एक वैज्ञानिक मानव धर्म (वैदिक धर्म) से विमुख करके नाना मत मतान्तरों में बांट कर ईर्ष्या, द्वेष, वैर, रक्तरंजित क्रूर हिंसा से ग्रस्त करके नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। उधर ईश्वर के कल्पित रूपों ने वैज्ञानिक प्रतिभासम्पन्न ही नहीं, अपितु सामान्य प्रबुद्ध व्यक्ति को भी ईश्वर तत्व से विमुख करके उसे नितान्त भोगवादी, स्वच्छन्द, दुराचारी एवं अराजक बना दिया है, जिसके कारण मानव न केवल संसार के जीवों को अपना भक्ष्य बनाकर त्रास दे रहा है, अपितु वह स्वयं को भी बेरोक और गलाकाट प्रतिस्पर्धी बनाकर संसार में अशान्ति, संघर्ष, घृणा, असमानता, वर्गभेद आदि पापों में धकेल रहा है, जहाँ से बाहर निकलने का रास्ता किसी को भी दिखाई नहीं दे रहा।**

हमें आशा है कि इस अध्याय पर गम्भीरता से मनन करके स्वयं अपनी प्रज्ञा से इस अध्याय को विस्तार देकर ईश्वर विषयक भ्रान्तियों से संसार के प्रबुद्ध मानव बच सकेंगे।

॥ इति षष्ठोऽध्यायः समाप्तः ॥

सप्तमोऽध्यायः
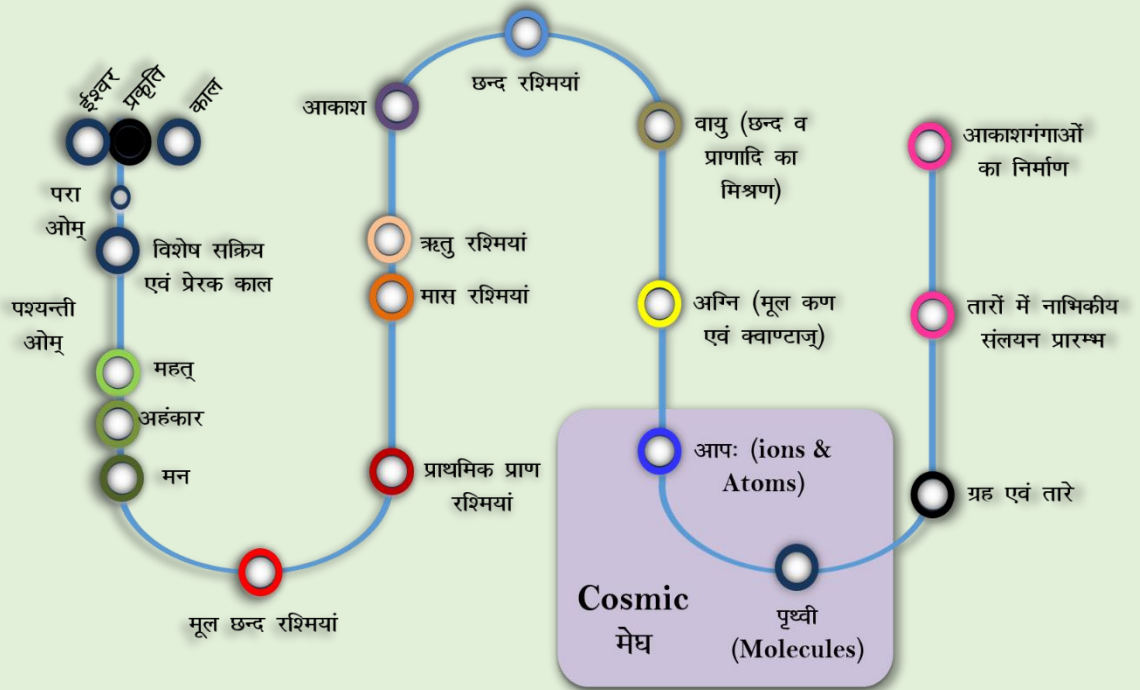
वैदिक सृष्टि उत्पत्ति विज्ञान

आधुनिक सृष्टि उत्पत्ति विज्ञान की समीक्षा तथा ईश्वर-तत्व मीमांसा के उपरान्त हम वैदिक सृष्टि उत्पत्ति विज्ञान पर चर्चा प्रारम्भ करते हैं। इस क्रम में सर्वप्रथम इस बात पर गम्भीरता से विचार करते हैं कि जिस मूल पदार्थ से ईश्वर सृष्टि की रचना करता है, वह मूल पदार्थ क्या है? उसका स्वरूप क्या है? ध्यातव्य है कि **वैदिक विज्ञान शून्य से सृष्टि की उत्पत्ति को स्वीकार नहीं करता और न ही सृष्टि को अनादि मानता है, बल्कि वैदिक विज्ञान की दृष्टि से यह सृष्टि एक जड़ पदार्थ, जिसे मुख्यतः प्रकृति नाम दिया जाता है, से उत्पन्न होती है।** यहाँ **'प्रकृति'** शब्द संकेत करता है कि यह पदार्थ किसी भी जड़ पदार्थ की सबसे सूक्ष्म, प्रारम्भिक एवं स्वाभाविक अवस्था है। यह समूचा ब्रह्माण्ड, इसमें विद्यमान असंख्य विशालतम तारे से लेकर सूक्ष्मतम कण वा रश्मि आदि पदार्थ सभी इसी प्रकृति रूपी स्वाभाविक अवस्था वाले पदार्थ से उत्पन्न हुए हैं, उसी में स्थित हैं और एक निश्चित समयान्तराल के पश्चात् उसी स्वाभाविक अवस्था वाले पदार्थ में लीन भी हो जाएंगे।

प्रकृति

अब हम इस बात पर विचार करते हैं कि प्रकृति किसे कहते हैं? इसका स्वरूप क्या है? इस विषय में **महादेव शिव** अपनी धर्मपत्नी **भगवती उमा** से कहते हैं-

"नित्यमेकमणु व्यापि क्रियाहीनमहेतुकम्। अग्राह्यमिन्द्रियैः सर्वैरेतदव्यक्त लक्षणम्।।
अव्यक्तं प्रकृतिर्मूलं प्रधानं योनिरव्ययम्। अव्यक्तस्यैव नामानि शब्दैः पर्यायवाचकैः।।"
(महाभारत अनुशासन पर्व-दानधर्मपर्व १४५ वां अध्याय, पृष्ठ संख्या ६०१४)

उधर **महर्षि ब्रह्मा** कहते हैं-

"तमो व्यक्तं शिवं धाम रजो योनिः सनातनः। प्रकृतिर्विकारः प्रलयः प्रधानं प्रभवाप्ययौ।।२३।।
अनुद्रिक्तमनूनं वाप्यकम्पमचलं ध्रुवम्। सदसच्चैव तत् सर्वमव्यक्तं त्रिगुणं स्मृतम्।
ज्ञेयानि नामधेयानि नरैरध्यात्मचिन्तकैः।।२४।।" (महाभारत आश्वमेधिक पर्व अनुगीता पर्व अध्याय-३६)

इन श्लोकों से प्रकृति रूप पदार्थ के निम्न गुणों का प्रकाश होता है-

(१) नित्य- यह पदार्थ सदैव विद्यमान रहता है अर्थात् इसका कभी भी अभाव नहीं होता। यह अजन्मा एवं अविनाशी रूप होता है।

(२) एक- महाप्रलय काल में अर्थात् ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति से पूर्व यह पदार्थ सम्पूर्ण अवकाश रूप आकाश में सर्वथा एकरस भरा रहता है, उसमें कोई भी उतार-चढ़ाव अर्थात् सघनता व विरलता का भेद (fluctuation) प्रलयावस्था में नहीं होता।

(३) अणु- यह जड़ पदार्थ की सबसे सूक्ष्म अवस्था में विद्यमान होता है। इससे सूक्ष्म जड़ पदार्थ की अवस्था की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

(४) व्यापी- यह पदार्थ सम्पूर्ण अवकाश रूप आकाश में व्याप्त होता है। कहीं भी अवकाश नहीं रहता।

(५) क्रियाहीन- महाप्रलयावस्था में यह पदार्थ पूर्ण निष्क्रिय होता है।

(६) अहेतुक- इस पदार्थ का कोई भी कारण नहीं होता, इसका तात्पर्य यह है कि यह पदार्थ ईश्वरादि द्वारा निर्मित नहीं होता, बल्कि स्वयम्भू रूप होता है। सृष्टि का हेतु ईश्वर इसे प्रेरित व विकृत अवश्य करता है, परन्तु उसे बनाता नहीं है।

(७) अग्राह्य- यह पदार्थ की वह स्थिति है, जिसे किसी इन्द्रियादि साधनों से कभी भी जाना वा ग्रहण नहीं किया जा सकता।

(८) अव्यक्त- इसे किसी प्रकार से व्यक्त नहीं किया जा सकता। व्यक्त का लक्षण बताते हुए **महर्षि व्यास** ने लिखा- **''प्रोक्तं तद्व्यक्तमित्येव जायते वर्धते च यत्। जीर्यतेम्रियते चैव, चतुर्भिर्लक्षणैर्युतम्।।'' (महा.शा.प.। मो.प.। अ.२३६। श्लोक ३०)** इसके जो विपरीत हो, वह अव्यक्त कहाता है। इससे सिद्ध हुआ कि प्रकृति रूपी पदार्थ न जन्म लेता है, न वृद्धि को प्राप्त करता है, न पुराना होता है और न नष्ट होता है।

(९) मूल- इस सृष्टि में जो भी जड़ पदार्थ विद्यमान था, है वा होगा, उस सबकी उत्पत्ति का मूल उपादान कारण यही जड़ पदार्थ है।

(१०) प्रधान- यह सूक्ष्मतम पदार्थ सम्पूर्ण जड़ पदार्थ का अच्छी प्रकार धारण व पोषण करने वाला है। यह बात पृथक् है कि ईश्वर तत्व इस पदार्थ को भी धारण करता है।

(११) योनि- यह पदार्थ जहाँ सबकी उत्पत्ति का कारण है, वहीं यह पदार्थ सबका निवास व उत्पत्ति स्थान भी है। सम्पूर्ण सृष्टि इसी पदार्थ से बनी एवं इसी में उत्पन्न भी होती है।

(१२) अव्यय- यह पदार्थ कभी क्षीण वा न्यून नहीं होता अर्थात् यह पदार्थ सृष्टि एवं प्रलय सभी अवस्था में सदैव संरक्षित रहता है।

(१३) तम- यह पदार्थ ऐसे अन्धकार रूप में विद्यमान होता है, वैसा अन्धकार अन्य किसी भी अवस्था में नहीं हो सकता।

(१४) व्यक्त- यहाँ अव्यक्त प्रकृति का व्यक्त विशेषण हमारी दृष्टि में यह संकेत दे रहा है कि सत्व, रजस् एवं तमस् इन तीनों गुणों में से सत्व व रजस् का तो कोई लक्षण महाप्रलय में विद्यमान नहीं होता किन्तु तमस् गुण का एक लक्षण अंधकार अवश्य व्यक्त रहता है। सर्वत्र अव्यक्त कही जाने वाली प्रकृति का यहाँ व्यक्त विशेषण इसी कारण बतलाया गया प्रतीत होता है। इसके साथ ही इसका आशय यह भी है कि वह अव्यक्त प्रकृति ही व्यक्त जगत् के रूप में प्रकट होती है।

(१५) शिवधाम- शेतेऽसौ शिवः (उ.को.१.१५३) से संकेत मिलता है कि यह सूक्ष्मतम पदार्थ सोया हुआ सा होता है। यह पदार्थ प्रत्येक जड़ पदार्थ का धाम है अर्थात् सभी पदार्थ इसी में रहते हैं।

(१६) रजोयोनि- सृष्टि उत्पत्ति के प्रारम्भ से लेकर प्रलय के प्रारम्भ होने तक प्रत्येक रजोगुणी प्रवृत्ति इसी कारण रूप पदार्थ में ही उत्पन्न होती है। इससे बाहर कोई भी उत्पत्ति आदि क्रियाएं कभी नहीं हो सकती।

(१७) सनातन- यह पदार्थ सनातन है अर्थात् इसका कभी अभाव नहीं हो सकता। न यह कभी उत्पन्न हो सकता है और न कभी नष्ट हो सकता है।

(१८) विकार- यह पदार्थ ही विकार को प्राप्त करके सृष्टि में नाना पदार्थों के रूप में प्रकट होता रहता है। इस पदार्थ के अतिरिक्त कोई अन्य पदार्थ अर्थात् ईश्वर व जीवात्मा नामक दोनों चेतन पदार्थों में कभी विकृति नहीं आ सकती, इस कारण वे दोनों पदार्थ किसी भी पदार्थ के उपादान कारण नहीं हो सकते।

(१९) प्रलय- इस सृष्टि में जो भी पदार्थ नष्ट होने योग्य है, वह नष्ट होकर अपने कारणरूप प्रकृति पदार्थ में ही लीन हो जाता है। **महर्षि कपिलमुनि** ने इसे ही नाश कहते हुए कहा है- **{''नाशः कारणलयः'' सां.द.१.८६(१२१)}**

(२०) प्रभव- इसका तात्पर्य है कि इस सृष्टि में जो भी पदार्थ उत्पन्न हुआ है, होता है वा आगे होगा, वह इसी पदार्थ से उत्पन्न होगा। जीवात्मा चेतन होते हुए भी इसके बिना भोग व मोक्ष दोनों में से किसी को भी प्राप्त नहीं कर सकता।

(२१) अप्यय- इस पदार्थ में ही सृष्टि के सभी उत्पन्न पदार्थ विनाश के समय मिल जाते हैं, इसके साथ सृष्टि काल में भी इसमें ही समाहित रहकर परस्पर मिले हुए रहते हैं।

(२२) **अनुद्रिक्त-** इस अवस्था में स्पष्टतादि किन्हीं लक्षणों की विद्यमानता नहीं होती।

(२३) **अनून-** यह पदार्थ कभी भी अभाव को प्राप्त नहीं होता।

(२४) **अकम्प-** इस अवस्था में कोई कम्पन विद्यमान नहीं होता और न हो सकता।

(२५) **अचल-** इस अवस्था में कभी कोई गति नहीं होती।

(२६) **ध्रुव-** यह पदार्थ पूर्ण स्थिर ही होता है।

(२७) **सत्+असत्-** यह पदार्थ सदैव सत्तावान् होते हुए भी प्रलयकाल में अर्थात् प्रकृति रूप में सदैव अविद्यमान के समान होता है।

(२८) **सर्व-** यह पदार्थ सृष्टिनिर्माणार्थ पूर्ण ही होता है अर्थात् इसके अतिरिक्त अन्य किसी उपादान पदार्थ की आवश्यकता नहीं होती।

(२९) **त्रिगुण-** यह पदार्थ सत्व-रजस्-तमस् गुणों की साम्यावस्था के रूप में होता है।

(३०) **प्रकृति-** यह पदार्थ की स्वाभाविक अवस्था होती है, जिसे हम पूर्व में दर्शा चुके हैं।

इसके अतिरिक्त **महा.शा.प., मोक्षधर्म पर्व** के ३०७ वें अध्याय के द्वितीय श्लोक में **महर्षि वसिष्ठ** ने अव्यक्त प्रकृति को **अविद्या** भी कहा है। इससे संकेत मिलता है कि वह अविद्या रूप वह प्रकृति न जानने, न उपयोग में लेने और न विचारने के योग्य होती है। वह विद्यमान होते हुए भी अविद्यमानवत् होती है।

आज का विज्ञान सृष्टि उत्पत्ति के कई परस्पर विरोधी सिद्धान्तों को प्रस्तुत करता है। उन सबमें सबसे बड़ी समस्या है कि वर्तमान विज्ञान सृष्टि उत्पत्ति के मूल कारण एवं उसकी स्थिति के विषय में नितान्त अनभिज्ञ है। वह केवल प्रयोग-परीक्षणों पर ही आश्रित है। सामान्य तार्किकता व ऊहाशक्ति का प्रयोग करना नहीं चाहता, तब मूलस्थिति के बारे में उसकी अनभिज्ञता कभी दूर नहीं होगी। वैदिक विज्ञान में शब्द प्रमाण का भी बहुत महत्व होता है। मैं नहीं कहता कि वर्तमान विज्ञान शब्द प्रमाण को प्रमाण माने, परन्तु तर्क, ऊहा की उपेक्षा तो, उसे नहीं करनी चाहिये।

वैदिक विज्ञान की दृष्टि से सृष्टि उत्पत्ति से पूर्व अर्थात् प्रलय काल में मूल पदार्थ किस अवस्था में विद्यमान रहता है, यह बात पूर्वोक्त प्रकृति के विभिन्न नामों से जानी जा सकती है। इस प्रकार **सृष्टि का मूल पदार्थ सर्वत्र अर्थात् अनन्त आयतन में ऐसी विरल अवस्था में एकरस होकर फैला वा व्याप्त रहता है, जैसा इस सृष्टि काल में कभी व कहीं नहीं रह सकता। उस समय अनन्त अन्धकार विद्यमान होता है। अनन्त शीतलता लिए हुए वह पदार्थ नितान्त शून्य द्रव्यमान, शून्य घनत्व एवं सर्वथा ऊर्जारहित होता है अर्थात् उस समय ऊर्जा, प्रकाश, ताप, द्रव्यमान, गति, बल, आकाश, ध्वनि, सूक्ष्माति सूक्ष्म कम्पनादि कुछ भी विद्यमान नहीं होता।** इस बात का संकेत **भगवान् मनु** ने भी किया है-

"आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्। अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः।" (मनु.१.५)

वेद ने कहा-

"गीर्णं भुवनं तमसापगूळ्हम्.....।" (ऋ. १०.८८.२)
"तम आसीत्तमसागूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलम्..." (ऋ.१०.१२९.३)

इन प्रमाणों से भी उस मूल पदार्थ का ऐसा ही स्वरूप सिद्ध होता है, जिसे किसी भी प्रकार जाना व व्यक्त नहीं किया जा सकता। उसमें कोई लक्षण विद्यमान नहीं होता और न उसके स्वरूप पर तर्क वितर्क ही हो सकता है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मानो उस अव्यक्त प्रकृति में लीन होकर गहन अनुपमेय अन्धकार में डूबा हुआ था। पदार्थ विद्यमान अवश्य होता है परन्तु उसकी विद्यमानता का कोई भी लक्षण, क्रिया, बल आदि की किंचिदपि विद्यमानता नहीं होती। इससे निष्कर्ष निकलता है कि प्रलयावस्था में वर्तमान विज्ञान द्वारा जाने व माने जा रहे द्रव्यमान, ऊर्जा, बल, आकाश तत्व आदि का सर्वथा अभाव रहता है। आप विचार करें कि तब पदार्थ का कैसा रूप विद्यमान रहता है? वस्तुतः उस समय

वर्तमान विज्ञान द्वारा परिभाषित Elemantry particles, Quantas, Vacuum energy, Dark energy, Dark matter, आदि कुछ भी विद्यमान नहीं होता, तब उनके मध्य किसी प्रकार का मूल बल भी विद्यमान नहीं होता, इसी कारण वह पदार्थ पूर्ण निष्क्रिय होता है। **वह पदार्थ न कण रूप में होता है और न तरंग रूप में होता है। आकाश नामक पदार्थ, जिसे space कहा जाता है, जो गुरुत्व वा अन्य बलों के द्वारा curve होता है, वह भी उस समय नहीं होता, बल्कि उस समय विद्यमान पदार्थ इन सबसे बहुत सूक्ष्म होता है, जिससे सूक्ष्म अवस्था कदापि सम्भव नहीं हो सकती।** इस अवस्था वाले पदार्थ का मुख्य नाम **प्रकृति** है। इसे **त्रिगुण** भी कहा गया है। इसे वेद में भी **''त्रितस्य धारया'' (ऋ.६.१०२.३), ''त्रिधातु'' (ऋ.१.१५४.४)** कहकर त्रिगुणा ही सिद्ध किया है। ये तीन गुण किस अवस्था में रहते हैं, यह बताते हुए **महर्षि कपिल** ने कहा- **''सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः'' {सां. द.१.२६(६१)}** अर्थात् सत्व, रजस् व तमस् की साम्यावस्था को प्रकृति कहा जाता है। हम सर्वप्रथम **'साम्य'** शब्द पर विचार करते हैं। **साम्यम्=सम+ष्यञ् (आप्टेकोश) (सम= सम् अवैक्लव्ये+अच्- आप्टेकोश)**। इससे स्पष्ट है कि गुणों की **अविक्षुब्ध वा निष्क्रिय अवस्था को ही साम्यावस्था** कहा जाता है। अब इन तीन गुणों पर विचार करते हैं-

इस विषय में हम सर्वप्रथम **भगवान् ब्रह्मा** के मत को उद्धृत करते हैं-

''तमो रजस्तथा सत्वं गुणानेतान् प्रचक्षते। अन्योऽन्यमिथुनाः सर्वे तथान्योन्यानुजीविनः।।४।।
अन्योन्यापाश्रयाश्चापि तथान्योन्यानुवर्तिनः। अन्योन्यव्यतिषक्ताश्च त्रिगुणाः पञ्चधातवः।।५।।
तमसो मिथुनं सत्वं सत्वस्य मिथुनं रजः। रजसश्चापि सत्वं स्यात् सत्वस्य मिथुनं तमः।।६।।
नियम्यते तमो यत्र रजस्तत्र प्रवर्तते। नियम्यते रजो यत्र सत्त्वं तत्र प्रवर्तते।।७।।
नैशात्मकं तमो विद्यात् त्रिगुणं मोहसंज्ञितम्। अधर्मलक्षणं चैव नियतं पापकर्मसु।
तामसं रूपमेतत् तु दृश्यते चापि सङ्गतम्।।८।।
प्रकृत्यात्मकमेवाहु रजः पर्यायकारकम्। प्रवृत्तं सर्वभूतेषु दृश्यमुत्पत्तिलक्षणम्।।९।।
प्रकाशं सर्वभूतेषु लाघवं श्रद्दधानता। सात्विकं रूपमेवं तु लाघवं साधुसम्मितम्।।१०।। (महाभा. आश्व.प., अनुगीता पर्व अध्याय ३६)

यहाँ स्पष्ट है कि तीनों गुण परस्पर एक दूसरे के साथ युग्म बनाने वाले, एक दूसरे के आश्रित, एक दूसरे के सहारे रहने, एक दूसरे का अनुसरण करने और परस्पर मिश्रित रहने वाले हैं।।४-५।।

तमोगुण का मिथुन सत्त्व के साथ, सत्त्व का रजस् के साथ, रजस् का सत्त्व के साथ, सत्त्व का तमस् के साथ मिथुन रहता है।।६।।

तमोगुण के नियन्त्रण से रजोगुण बढ़ता तथा रजोगुण को नियन्त्रित करने पर सत्त्वगुण में वृद्धि होती है।।७।।

यह तीनों गुणों का पारस्परिक सम्बन्ध बताया, उसके साथ आगे श्लोकों में बताया तमस् अंधकारयुक्त एवं अधर्मयुक्त होता, साथ ही अन्य दोनों गुणों के कुछ अंश से सदैव युक्त होता है। इसे **'मोह'** भी कहा जाता है अर्थात् यह जड़ता रूप होता है। रजोगुण प्रकृति अर्थात् विशेष क्रियाशीलता से युक्त होता तथा सम्पूर्ण दृश्य जगत् उसी के कारण उत्पन्न होता है। सत्त्व के कारण प्रकाश, लघुता (हल्कापन) एवं धारण गुण से युक्त होता है।

पातंजल योगदर्शन के सूत्र-

''प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्'' (२.१८)

की व्याख्या में **महर्षि व्यास** लिखते हैं-

''प्रकाशशीलं सत्वम्। क्रियाशीलं रजः। स्थितिशीलं तम इति। एते गुणाः परस्परोपरक्तप्रविभागाः परिणामिन संयोगवियोगधर्माण इतरेतरोपाश्रयेणोपार्जितमूर्तयः परस्पराङ्गाङ्गित्वेऽप्यसंभिन्नशक्तिप्रविभागास्तुल्य जातीया तुल्यजातीयशक्तिभेदानुपातिनः.....।''

उधर **महर्षि कपिल** का **सांख्य दर्शन** में कथन है-

"प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैर्गुणानामन्योऽन्यं वैधर्म्यम्।।" {१.६२(१२७)}

इन आर्ष वचनों को दृष्टिगत रखकर हम इन तीनों गुणों पर विस्तार से चर्चा करते हैं-

सत्त्व वह गुण है, जिसके कारण प्रकाश एवं प्रीति अर्थात् आकर्षण व धारण बल आदि की उत्पत्ति होती है। किसी पदार्थ का हल्कापन भी इसी सत्त्व गुण की ही देन है। इस कारण इस सृष्टि में जहाँ-२ भी प्रकाश, लघुत्व एवं आकर्षण-धारण आदि बल विद्यमान हैं, वहाँ प्रकृति के सत्त्व गुण की ही महिमा समझनी चाहिए।

रजोगुण के कारण अप्रीति अर्थात् प्रतिकर्षण-प्रक्षेपक बल एवं गतिशीलता की उत्पत्ति होती है अर्थात् इन गुणों का मूल कारण रजोगुण ही होता है।

तमोगुण के कारण अंधकार, जड़ता, गुरुता, निष्क्रियता, द्रव्यमान आदि गुणों की उत्पत्ति होती है।

ध्यातव्य है कि यहाँ इन गुणों के कारण चेतन प्राणियों में हर्ष, शोक, द्रोह आदि गुणों की चर्चा हम नहीं कर रहे हैं, क्योंकि इस सम्पूर्ण ग्रन्थ में चेतन जीव जगत् के व्यवहार की चर्चा नहीं है। सृष्टि के प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ में ये तीनों ही गुण न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान होते हैं। हमने ऊपर **भगवान् ब्रह्मा** के वचन द्वारा दर्शाया है कि इन तीनों गुणों का सदैव सम्मिश्रण विद्यमान रहता है।

प्रश्न- क्या उत्पन्न सभी पदार्थों में इन तीनों गुणों की विद्यमानता अनिवार्य होती है, जैसा कि ऊपर **भगवान् ब्रह्मा** का वचन उद्धृत किया गया है?

उत्तर- काल तत्व के अतिरिक्त सभी पदार्थों में तीनों गुणों की विद्यमानता अनिवार्य होती है। यहाँ प्रश्न यह भी उपस्थित हो सकता है, कि जब इन तीनों का परस्पर मिथुन ही रहता है, तब काल तत्व में ऐसा ही क्यों न माना जाये? इसके उत्तर में **भगवान् ब्रह्मा** का एक वचन और उद्धृत् करते हैं-

"यावत्सत्त्वं रजस्तावत् वर्तते नात्र संशयः। यावत्तमश्च सत्त्वं च रजस्तावदिहोच्यते।।"
(महाभारत आश्वमेधिक पर्व, अनुगीता पर्व ३६.३)

अर्थात् जब तक सत्त्व गुण विद्यमान रहता है, तब तक निश्चित ही रजोगुण भी विद्यमान रहता है। जब तक तमोगुण विद्यमान रहता है, तब तक निश्चित ही सतोगुण व रजोगुण दोनों की ही विद्यमानता अवश्य रहती है। यहाँ स्पष्ट संकेत मिलता है कि सत्त्व व रजस्, तो बिना तमोगुण के विद्यमान रह सकते हैं अर्थात् सतोगुण तो, तमोगुण के बिना विद्यमान रह सकता है परन्तु तमोगुण की विद्यमानता के लिए सतोगुण व रजोगुण दोनों का विद्यमान रहना अनिवार्य है। हमारे मत में केवल काल तत्त्व में ही दो गुण सत्त्व व रजस् विद्यमान होते हैं। इसकी चर्चा आगे की जाएगी।

यहाँ हम अन्य प्रकार से इन तीनों गुणों पर चर्चा करते हैं-

इस सृष्टि में जिस वस्तु में प्रकाश व बल आदि गुणों की विद्यमानता होती है, उनमें क्रिया वा गतिशीलता एवं यत्किंचित् मात्रा में जड़त्व वा द्रव्यमान आदि गुण विद्यमान होते हैं। वर्तमान विज्ञान विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के क्वाण्टाज् में rest mass नहीं मानता। आश्चर्य यह है कि जो पदार्थ कभी rest में रहता ही नहीं, उसका rest mass=0 कैसे सिद्ध कर लिया? फिर इससे यह भी तो अर्थापत्ति से सिद्ध हो जाता है कि सदैव गतिशील रहने वाले क्वाण्टाज् में द्रव्यमान अवश्य होता है। इस प्रकार क्वाण्टाज् में तीनों गुणों की विद्यमानता अनिवार्यतः सिद्ध हो जाती है। उधर किसी मूलकण पर विचार करें तो, उसमें द्रव्यमान के साथ-२ गति एवं यत्किंचिद् मात्रा में दीप्ति भी विद्यमान होती है, इस कारण वे भी त्रिगुण युक्त सिद्ध होते हैं।

अब वर्तमान विज्ञान के space पर विचार करें। विज्ञान space में किसी mass वा electric charge द्वारा संकुचन का होना मानता है, इस कारण **space में भी सूक्ष्माति सूक्ष्म मात्रा में ही सही**

बल, क्रिया व जड़त्व का होना सिद्ध होता है। यदि space में बल, क्रिया व जड़त्व का सर्वथा अभाव होता, तब space इन गुणों से युक्त पदार्थों से प्रभावित ही नहीं होता। वास्तव में space में प्रत्यक्ष जड़त्व तो नहीं परन्तु उसके कारणरूप तमोगुण की विद्यमानता होती है, जिसके कारण वह mass से प्रभावित होता है। अन्य दोनों गुणों की भी विद्यमानता उसमें अनिवार्यतः होती है।

अब इन गुणों पर नियन्त्रण सम्बन्धी प्रक्रिया, जो **भगवान् ब्रह्मा** द्वारा बतलाई गई है, उसे वर्तमान स्थूल विज्ञान की दृष्टि से देखें। तमोगुण पर नियन्त्रण से रजोगुण में वृद्धि बताई गई है। इधर लोक में देखें तो, किसी वस्तु के जड़त्व को नियन्त्रित करने से उसकी क्रियाशीलता में वृद्धि देखी ही जाती है तथा किसी कण की गति को अवरुद्ध करके उससे प्रकाश आदि ऊर्जा की वृद्धि भी सर्वविदित है। उदाहरणतः उल्कापिण्ड का वायुमण्डल में प्रवेश करने पर चमकना तथा किसी इलेक्ट्रॉन प्रवाह में प्रतिरोध उत्पन्न करने पर प्रकाश व ऊष्मा का उत्पन्न होना (Bremsstrahlung)। इसी बात का संकेत करते हुए **भगवान् ब्रह्मा** ने कहा कि रजोगुण के नियन्त्रण से सतोगुण में वृद्धि होती है।

इस प्रकार इन तीनों गुणों का पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट होता है।

प्रश्न- सत्त्व, रजस् व तमस् को कुछ विद्वान् गुण न मानकर गुणी अर्थात् द्रव्य मानते हैं, जिनके समान परिमाण को प्रकृति कहा जाता है।

उत्तर- यह बात बालपन की है। इन तीनों ही पदार्थों को वेदादि शास्त्रों में भी द्रव्य न कहने पर भी कुछ सज्जन इन्हें द्रव्य-कण मानने की हठ करते हमने भी देखे हैं। बालप्रलापवत् इस प्रश्न का समाधान अप्रैल २००५ में अपनी प्रथम प्रकाशित पुस्तक **'सृष्टि का मूल उपादान कारण'** में विस्तार से किया गया है। जो पाठक इसे देखना चाहें, वे उस पुस्तक को हमारी वेबसाइट पर देख सकते हैं। यहाँ हमारा ऐसा मानना है कि, जो सज्जन इन गुणों को गुण न मानकर कण मानते हैं और उन्हें इसी बात को विस्तार से समझने की आवश्यकता अनुभव होती है, वे इस गूढ़ ग्रन्थ को कदापि नहीं समझ पाएंगे। इस कारण इस प्रश्न का उत्तर देकर इस ग्रन्थ के कलेवर में वृद्धि करना अनावश्यक प्रतीत होता है। यह **सांख्यदर्शन** की व्याख्या नहीं है, जो उसके प्रत्येक सूत्र की विस्तृत व्याख्या की जाए। फिर **सांख्यदर्शन, योगदर्शन** आदि सभी आर्ष ग्रन्थ इन्हें कण वा द्रव्य न कहकर प्रकृति के गुण कह रहे हैं, ऐसी स्थिति में यदि दर्शनों के कुछ अध्येता, जिनका **ब्राह्मण ग्रन्थों** से कोई सम्बन्ध नहीं रहा, **महाभारत** जैसा महान् ग्रन्थ, जिनके लिए सर्वथा उपेक्षणीय बना हुआ है, **निरुक्त** व **वर्तमान विज्ञान** को गम्भीरता से समझने का भी प्रयास कभी करते नहीं और न इन्हें समझने की क्षमता रखते हैं तथा वैदिक पदों की गहराइयों में जाने के स्थान पर, अपने मन से ही विभिन्न पदों का अर्थ निकालने का प्रयास करते हैं, को सन्तुष्ट करने से ग्रन्थ का आकार ही बढ़ेगा। जब वे इस ग्रन्थ को पढ़ेंगे, तब ऐसे विचारकों के मन में केवल अनावश्यक प्रश्न ही उत्पन्न होंगे, आशय किसी कण्डिका का भी समझ नहीं आ पाएगा, ऐसा हमारा मत है। ऐसी स्थिति में, मैं उनके समझने योग्य इस ग्रन्थ को बना सकूं, यह सम्भव नहीं है। विषय कठिन है, तो उसे बहुत साधारण नहीं बनाया जा सकता। यदि ऐसा प्रयास किया भी जाए, तो ग्रन्थ का आकार कम से कम दो गुणा तो बढ़ ही सकता है और मेरे सम्मुख एक निश्चित समय सीमा है। उसके बाहर जाना सम्भव नहीं है। वैसे भी यह प्रश्न इस ग्रन्थ के स्तर का नहीं है। पाठक जरा विचारें कि यदि कोई कहे कि सत्त्व, रजस् व तमस् गुण नहीं, बल्कि कर्म हैं, तब क्या मैं इसका भी उत्तर देने में समय व्यर्थ करूँ? जिन्हें ऋषियों से अधिक अपने अल्पश्रुत गुरुओं पर विश्वास है, उनको समझाने से क्या लाभ है? इस कारण ऐसे साधारण एवं निराधार प्रश्नों का उत्तर देने में समय व्यतीत करना उचित नहीं है। पाठक इसे अन्यथा न लें, अस्तु।

अब तक के प्रकरण से यह स्पष्ट होता है कि सृष्टि उत्पत्ति प्रक्रिया के प्रारम्भ में प्रकृति रूपी मूल उपादान पदार्थ में प्रकाश क्रियादि सभी गुणों में से कोई भी गुण विद्यमान नहीं होता किंवा उनका बीजरूप भी विद्यमान नहीं रहता। इस कारण उस समय विद्यमान मूल पदार्थ को न द्रव्य, न ऊर्जा और न space ही कहा जा सकता है। vacuum energy, dark energy वा dark matter आदि भी उस समय विद्यमान नहीं होता। इस प्रकार वह पदार्थ निम्नलिखित स्वरूप वाला होता है-

१. पदार्थ का आयतन अनन्त होता है।

२. पदार्थ का द्रव्यमान शून्य होता है।
३. शीतलता अनन्त परिमाण में होती है।
४. घनत्व शून्य होता है।
५. किसी भी प्रकार के बल अथवा क्रियाएँ पूर्णतः अविद्यमान होती हैं। इससे वह पदार्थ पूर्णतः शान्त एवं अनन्त आयतन में पूर्णतः एकरस होकर भरा रहता है।
६. वह न कण रूप, न तरंग रूप, न space रूप और न string रूप में होता है।

इस प्रकार वह सर्वथा अनिर्वचनीय, अलक्षण, अज्ञेय व अप्रतर्क्य अवस्था में होता है। वैदिक विज्ञान का मूल पदार्थ वर्तमान बिग बैंग सिद्धान्त की प्रारम्भिक अवस्था से प्रायः विपरीत है। समानता यह अवश्य है, वर्तमान विज्ञान भी 0 समय से 10^{-43} sec. तक समयान्तराल में पदार्थ की अवस्था को अनिर्वचनीय व अज्ञेय मानता है। उसकी दृष्टि में ज्ञेय अवस्था का प्रादुर्भाव प्लांक समय पर ही होता है, पुनरपि अज्ञेय अवस्था में कल्पित शून्य आयतन, अनन्त ताप, अनन्त ऊर्जा, अनन्त द्रव्यमान व अनन्त घनत्व की धारणाएं वैदिक विज्ञान की धारणा के साथ-२ सामान्य युक्तियों के भी सर्वथा विपरीत हैं।

काल तत्त्व

काम

यह उपर्युक्त अवस्था महाप्रलय की होती है। जब सृष्टि का समय आता है, उस समय सर्वप्रथम जो क्रिया उत्पन्न होती है, उसके विषय में वेद ने कहा-

"कामस्तदग्रे समवर्त्तत...." (अथर्व. १९.५२.१)

अर्थात् सर्वप्रथम ईश्वर तत्व में सृष्टि उत्पन्न करने की कामना उत्पन्न होती है। यह बात हम पूर्व में अवगत करा चुके हैं कि जड़ पदार्थ में कोई भी प्रवृत्ति स्वतः नहीं होती। इस कारण प्रकृतिरूप महाप्रलयावस्था में सृष्टि उत्पत्ति की स्वतः प्रवृत्ति नहीं होती और न ही हो सकती। इस प्रवृत्ति को प्रारम्भ करने हेतु ईश्वर तत्व में इच्छा उत्पन्न होती है। यह सर्वप्रथम चरण है। अथर्ववेद में १९.५२ काम सूक्त कहलाता है तथा इससे अगला सूक्त कालसूक्त कहाता है।

काल का स्वरूप

हमने 'ईश्वर-तत्व मीमांसा' नामक अध्याय में लिखा है कि ईश्वर सर्वप्रथम काल तत्व को प्रेरित करता है। यहाँ बड़ा विकट प्रश्न यह है कि क्या काल किसी पदार्थ को कहते हैं? किसी भी विद्वान् ने काल के विषय में कुछ स्पष्ट लिखा हो, ऐसा हमारी जानकारी में नहीं आया। अब तक मैंने अनेक महान् वैज्ञानिकों की संगति की है परन्तु काल क्या है? यह कभी किसी ने स्पष्ट नहीं किया है। हमने काल के विषय में अनेक वैज्ञानिक पुस्तकों को कुतूहलपूर्वक पढ़ा कि देखा जाए कि वर्तमान भौतिक वैज्ञानिक काल का क्या स्वरूप बताते हैं? खेद है कि मुझे इन सबसे निराशा हुई। History of Time की चर्चा करके बिग बैंग का इतिहास सुनाने लग जाते हैं। काल पर बड़ी-२ पुस्तकें लिखी गयीं परन्तु कहीं यह न बताया कि काल है, क्या? कुछ पौराणिक विशेषकर मातायें सत्यनारायण की कथा करती हैं। पूरी कथा में सत्यनारायण कथा की महिमा बताती हैं परन्तु उस कथा में यह कहीं नहीं कहा जाता कि वह कथा क्या है? ऐसी कथा वर्तमान वैज्ञानिकों की काल के विषय में है और कुछ अंश तक आकाश तत्व के विषय में भी यही स्थिति है। वे काल (time) को आकाश (space) के साथ जोड़कर देखते हैं। वे space के तीन dimension के साथ time का एक चौथा dimension मानते हैं। वर्तमान विज्ञान न तो space के बारे में कुछ स्पष्ट करता है और न time के विषय में ही। क्या ये

दोनों शब्द व्यवहार में प्रयोग लाने मात्र हेतु ही हैं अथवा ये किसी पदार्थ के नाम हैं, जिनकी इस सर्ग रचना में भूमिका होती है। **महर्षि कणाद वैशेषिक दर्शन** में छः प्रकार के पदार्थों की सत्ता मानते हैं-

"धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्वज्ञानान्निःश्रेयसम्" (१.१.४)।

यहाँ हम इस सम्पूर्ण सूत्र पर विचार नहीं कर रहे। हम केवल यह बताना चाह रहे हैं कि **महर्षि कणाद** न केवल द्रव्य को पदार्थ मान रहे हैं अपितु उनके गुण, कर्म आदि को भी पृथक् पदार्थ के रूप में माना है। अब द्रव्य के विषय में कहा-

"पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि" (वै.द.१.१.५)

यहाँ नौ द्रव्यों में काल व आकाश को भी द्रव्य के रूप में माना है। अब वे द्रव्य का लक्षण बताते हुए कहते हैं-

"क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्" (वै.द.१.१.१५)

अर्थात् जो पदार्थ क्रिया व गुणों का आश्रय होते हैं अर्थात् जिनमें क्रिया व गुण विद्यमान होते वा हो सकते हैं तथा किसी कार्यरूप पदार्थ का समवाय कारण होते हैं, वे द्रव्य कहलाते हैं। यहाँ समवाय कारण का अर्थ है कि ये द्रव्य उनसे उत्पन्न कार्यरूप पदार्थ में सदैव मिश्रित रहते हैं। यहाँ सभी द्रव्यों पर विचार न करके प्रसंगानुसार केवल '**काल**' नामक द्रव्य पर विचार करते हैं। **महर्षि कणाद** ने काल, आकाश व दिशा के विषय में अन्य द्रव्यों से भेद करते हुए लिखा-

"दिक्कालावाकाशं च क्रियावद्वैधर्म्यान्निष्क्रियाणि" (वै.द.५.२.२१)

अर्थात् काल, आकाश व दिशा निष्क्रिय द्रव्य हैं। काल का लक्षण बताते हुए लिखा-

"अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि" (वै.द.२.२.६)

अर्थात् छोटा, बड़ा, साथ-२, शीघ्र व देर से आदि व्यवहार होना काल का लक्षण है।

यहाँ प्रश्न यह है कि क्या काल सर्वथा निष्क्रिय एवं केवल व्यवहार में प्रयोग आने वाला काल्पनिक द्रव्य है? पहले **महर्षि कणाद** ने द्रव्य को क्रिया व गुण वाला कहा, पुनः इनमें से तीन द्रव्यों काल, आकाश व दिशा को निष्क्रिय कहा, इसका रहस्य क्या है? यह बात गम्भीर अन्वेषण की है। इस विषय पर विचार करने हेतु परम प्रमाण वेद के कुछ वचनों को यहाँ उद्धृत करते हैं-

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः।। (अथर्व.१९.५३.१)
सप्त चक्रान् वहति काल एष सप्तास्य नाभीरमृतं न्वक्षः।
स इमा विश्वा भुवनान्यञ्जत् कालः स ईयते प्रथमो नु देवः।। (अथर्व.१९.५३.२)
स एव सं भुवनान्याभरत् स एव सं भुवनानि पर्यैत्।
पिता सन्नभवत् पुत्र एषां तस्माद्वै नान्यत् परमस्ति तेजः।। (अथर्व.१९.५३.४)
कालः प्रजा असृजत। (अथर्व.१९.५३.१०)
कालो यज्ञं समैरयद्देवेभ्यो भागमक्षितम्। (अथर्व.१९.५४.४)

वेद के इन वचनों में काल को कर्त्ता तथा 'वहति', 'अञ्जत्', 'ईयते', 'आभरत्', 'पर्यैत्', 'अभवत्', 'असृजत', 'समैरयत्' को क्रियापद के रूप में दर्शाया है। ये क्रियापद मात्र व्यवहारार्थक नहीं है। काल सूक्तों में अन्य भी ऐसे उदाहरण विद्यमान हैं, ऐसी स्थिति में काल को सर्वथा क्रियारहित नहीं माना जा सकता। ऐसी स्थिति में प्रश्न यह उठता है कि काल कैसा द्रव्य है, जो **महर्षि कणाद** की दृष्टि से क्रियावान् होने के साथ-२ निष्क्रिय भी कहाता है। यद्यपि किसी आर्ष ग्रन्थ में इसके स्वरूप का वर्णन हमें नहीं मिला है। काल के अवयवरूप पल, निमेष, मुहूर्त, दिन-रात, मास, ॠतु, व संवत्सर आदि के

बारे में पढ़ने में तो आता है परन्तु ये सभी पदार्थ क्या हैं? इनका स्वरूप क्या है? यह रहस्य ही बना हुआ है।

हमने इस रहस्य को उद्घाटित करने हेतु पर्याप्त चिन्तन किया और अपने मनन व ध्यान से ईशकृपा से जो भी हमें विचार आया, उसे हम प्रतिभासम्पन्न वैज्ञानिक विचारकों के समक्ष रख रहे हैं-

'कालः' पद को आप्टे संस्कृत-हिन्दी कोश में **'कल्+णिच्+अच्'** से व्युत्पन्न माना है अर्थात् चुरादि. **'कल्'** धातु के अर्थ **'धारण करना, प्रेरणा करना, अधिकार में रखना, जाना, आसक्त होना'** आदि दिये हैं। **महर्षि यास्क** ने लिखा है- **''कालः कालयतेर्गतिकर्मणः'' (नि.२.२५)**

इससे स्पष्ट है कि काल वह पदार्थ है, जिसमें प्रेरण, धारण, गमन, अधिग्रहण आदि कर्म विद्यमान होते हैं।

अब गम्भीर प्रश्न यह है कि ऐसा पदार्थ काल वस्तुतः क्या है? उसका स्वरूप क्या है? इस विषय में हमारा मत है कि **मूल प्रकृति तत्व में ईश्वर तत्व, जब सूक्ष्मतम परा 'ओम्' रश्मि को उत्पन्न वा जाग्रत करता है, तब वह 'ओम्' का सबसे सूक्ष्मतमरूप मूल प्रकृति से सम्पृक्त होकर ही काल का रूप धारण करता है। काल तत्व चेतन नहीं है।** चेतन तत्व केवल ईश्वर व जीवात्मा हैं। जड़ तत्व को पूर्वोक्त प्रमाणों के अनुसार भी हम एक ही सिद्ध कर चुके हैं। उधर वैदिक त्रैतवाद सर्वविख्यात है। इस कारण काल तत्व को प्रकृति से पृथक् नहीं माना जाता परन्तु यह केवल प्रकृति का भाग है, यह भी पूर्ण सत्य नहीं। ईश्वर में सृष्टि की इच्छा होने पर अर्थात् काम = संकल्प उत्पन्न होने पर वह **ईश्वर मूल प्रकृति पदार्थ में 'ओम्' रश्मि की सूक्ष्मतम परा अवस्था उत्पन्न वा जाग्रत करके अति सूक्ष्मतम बल को उत्पन्न कर देता है। इस समय भी प्रकृति की साम्यावस्था सर्वथा भंग नहीं हो पाती। यह अवस्था ही काल कहलाती है। 'ओम्'** रश्मि सम्पूर्ण मूल पदार्थ में काम को उत्पन्न करने में सक्षम होती है। यह **'ओम्'** रश्मि ईश्वर द्वारा उत्पन्न होती है, इसका ईश्वरतत्व से ही साक्षात् सम्बन्ध होता है, इस कारण यह प्रकृति में काम वा इच्छा को उत्पन्न करने में सक्षम होती है। इस अवस्था में उत्पन्न **'ओम्' रश्मि का प्रकृति से मेल होना और पदार्थ की उस अवस्था को ही काल कहते हैं। यह अवस्था प्रकृति में उत्पन्न होती है, इस कारण यह जड़ पदार्थ है परन्तु क्योंकि यह ईश्वर तत्व के साक्षात् सम्बन्धित है, इस कारण यह चेतनवत् व्यवहार करता है।** इसी बात का संकेत **वेद** से मिलता है-

''स ईयते प्रथमो नु देवः'' (अथर्व.१९.५३.२)

अर्थात् वह काल तत्व प्रथम देव अर्थात् परमात्मा के समान व्यवहार करता है। यहाँ **'ईयते'** क्रियापद का प्रयोग है, जो **'ई गतौ'** धातु का रूप है। इस धातु के आप्टे संस्कृत-हिन्दी कोश में अनेक अर्थ दिये हैं- **जाना, चमकना, व्याप्त होना, कामना करना, फैंकना, खाना** आदि। ये सभी अर्थ काल व ईश्वर के व्यवहार को दर्शाते हैं। यहाँ 'चमकना' प्रकृति का भी व्यवहार है। काल तत्व सतत गति करता है, यह कभी रुकता नहीं, इस कारण ऐसा प्रतीत होता है कि इस तत्व में प्रकृति का केवल सत्व व रजस् गुण विद्यमान होता है। इसमें तमोगुण का सर्वथा अभाव होता है। वर्तमान वैज्ञानिक कथित ब्लैक होल पर काल के रुकने की, जो कल्पना करते हैं, वह उनका नितान्त भ्रम है। यदि ब्लैक होल पर प्रकाश के रुकने की उनकी कल्पना को भी सत्य मान लें, तब भी इससे काल का रुकना सिद्ध नहीं हो जाता। प्रकाशादि किसी भी पदार्थ की गति रुकने से काल की गति का रुकना कैसे माना जा सकता है? वस्तुतः किसी की गति का रुकना किसी प्रतिरोधी बल के कारण सम्भव है। **काल तो सर्वव्यापक, सतत गमन करने वाला एकरस तत्व है, जो प्रत्येक पदार्थ को प्रेरित करता है परन्तु स्वयं ईश्वर के अतिरिक्त किसी भी पदार्थ से प्रेरित नहीं होता। यह काल परमात्मा में ही सदैव आश्रित रहता है।** इसे ही वेद ने कहा-

कालं तमाहुः परमे व्योमन् (अथर्व.१९.५३.३)

यहाँ 'परम व्योम' परमात्मा को कहा गया है, जैसा कि **महर्षि दयानन्द** ने **'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्।' (ऋ.१.१६४.३९)** के भाष्य में माना है। **श्वेताश्वर उपनिषद्** में इसी भाव को प्रकट करते हुए कहा है-

"येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविधः" (श्वे.उ.६.२)

यहाँ सबके नित्य आच्छादक एवं व्यापक सर्वज्ञ परमेश्वर को कालतत्व को प्रकट व धारण करने वाला कहा है।

जिस **'ओम्'** रश्मि को हमने कालतत्व का मुख्य भाग माना है, उसके विषय में ऋषियों का कथन है-

त ओङ्कारं ब्रह्माणः पुत्रं ज्येष्ठं ददृशुः। (गो.पू.१.२३)
रस ओङ्कारः। (जै.ब्रा.२.७८-ब्रा.उ.को.से उद्धृत)
ओमिति ब्रह्म। ओमितीदꣳ सर्वम्। (तै.आ.७.८.१; तै.उ.१.८.१)

इस प्रकार यहाँ **'ओम्'** को ब्रह्म अर्थात् परमात्मा का रस वा पुत्र माना तथा उसे सर्वव्यापक कहा, उसी प्रकार काल को भी परमात्मा से उत्पन्न तथा सर्वव्यापक माना। इससे दोनों का सम्बन्ध स्पष्ट हुआ।

अब पुनः हम काल तत्व के विषय में वेद मत को उद्धृत करते हैं-

काले मनः काले प्राणः काले नाम समाहितम्। कालेन सर्वानन्दन्त्यागतेन प्रजा इमाः।। (अथर्व.१९.५३.७)

अब ओम् के विषय में देखें-

वागेवर्क् प्राणः सामोमित्येतदक्षरमुद्गीथः। तद्वा एतन्मिथुनं यद् वाक् च प्राणश्चर्क् च साम च।।५।।

तदेतन्मिथुनमोमित्येतस्मिन्नक्षरे सꣳसृज्यते यदा वै मिथुनौ समागच्छत आपयतो वै तावन्योन्यस्य कामम्।।६।। (छां.उ.१.१)

इन दोनों प्रमाणों से **'काल'** व **'ओम्'** का सम्बन्ध प्रकट होता है। वेद ने काल में मन, प्राण व नाम अर्थात् छन्द रश्मियों का विद्यमान होना किंवा उनका काल तत्व में ही आश्रित होना लिखा है और इन सबसे नाना प्रजा अर्थात् पदार्थों का प्रसन्न, तृप्त वा उत्पन्न होना कहा है। उधर उपनिषद् ने भी छन्द व प्राण रश्मियों के मिथुनों का उद्गीथ=ओम् में ही आश्रित एवं उसी में रहकर नाना मिथुन बनाकर परस्पर तृप्त होने किंवा नाना पदार्थों को उत्पन्न करने में समर्थ होना लिखा है।

दोनों ही प्रमाणों से काल तत्व एवं **'ओम्'** तत्व का सम्बन्ध प्रकट होकर हमारी काल सम्बन्धी अवधारणा पुष्ट होती है। इस प्रकार काल तत्व वह पदार्थ है, जिसमें महत्, अहंकार से लेकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड व्याप्त, आश्रित एवं उसके द्वारा ही संचालित है। इसी का संकेत वेद ने किया है-

कालो भूतिमसृजत काले तपति सूर्यः। काले ह विश्वा भूतानि काले चक्षुर्वि पश्यति।।६।।
तेनेषितं तेन जातं तदु तस्मिन् प्रतिष्ठितम्। कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्ति परमेष्ठिनम्।।९।। (अथर्व.१९.५३)
कालेन वातः पवते कालेन पृथिवी मही। द्यौर्मही काल आहिता।।२।।
कालो ह भूतं भव्यं च पुत्रो अजनयत् पुरा। कालादृचः समभवन् यजुः कालादजायत।।३।। (अथर्व.१९.५४)

सारांशतः इस सृष्टि में सूक्ष्मतम से लेकर स्थूलतम पदार्थ तक सभी पदार्थ काल से ही उत्पन्न एवं काल से ही प्रेरित हैं। यह काल परमेश्वर का पुत्र रूप है। इससे **'ओम्'** रश्मि का काल से सम्बन्ध भी स्पष्ट हो रहा है। **महर्षि कणाद** ने **"कारणेन कालः" (वै.द.५.२.२६)** एवं **"कारणे कालः" (वै.द.७.१.२५)** के द्वारा संकेत किया कि कारण रूप प्रकृति व **'ओम्'** रश्मि के द्वारा ही काल प्रकट होता है तथा यह कारण रूप प्रकृति व ईश्वर में ही स्थित रहता है। **आचार्य प्रशस्तपाद** ने लिखा है-

"कारणे काल इतिवचनात् परममहत्परिमाणम्" अर्थात् वह काल ईश्वर व प्रकृति के समान परम महत्परिमाण वाला होता है। वैशेषिक के इन दो सूत्रों का आशय वर्तमान भाष्यकारों ने किंचिदपि नहीं समझा।

प्रश्न- जब ईश्वरतत्व द्वारा **'ओम्'** रश्मि के माध्यम से प्रेरित व सक्रिय प्रकृति ही काल तत्व का रूप है, तब वह काल किसे प्रेरित करके सृष्टि को उत्पन्न व संचालित करता है? क्या प्रकृति के अतिरिक्त कोई अन्य जड़ पदार्थ भी है, जिसे काल रूपी प्रकृति प्रेरित व संचालित करती है और ऐसा करके वह इस सृष्टि को प्रकट वा उत्पन्न करती है?

उत्तर- वस्तुतः प्रकृति के अतिरिक्त अन्य किसी जड़ पदार्थ की सत्ता नहीं है। काल तत्व, जो प्रकृति की उपर्युक्त अवस्था है, ही त्रिगुणा प्रकृति को महत् तत्वादि में परिवर्तित करके पुनः उसे ही प्रेरित करता है। इस प्रक्रिया में काल तत्व प्रकृति के तमोगुण को भी जाग्रत वा सक्रिय करके महत् तत्वादि पदार्थों का निर्माण करता है। काल के अतिरिक्त अन्य सभी पदार्थों में तीनों ही गुणों की न्यूनाधिक अनिवार्यतः विद्यमानता होती है। इस प्रकार वह विभिन्न पदार्थों को अपनी प्रेरणा द्वारा उत्पन्न भी करता है और फिर उन्हें प्रेरित व धारण भी करता है। किसी पदार्थ द्वारा अन्य पदार्थ को उत्पन्न व धारण करने के अन्य उदाहरण हम प्रस्तुत करते हैं-

"मनसो हि वाक् प्रजायते" (जै.ब्रा.१.३२०)
"मनसा हि वाग्धृता" (तै.सं.६.१.७.२; काठ.२४.३)
"वागिति मनः" (जै.उ.४.११.१.११)

इन तीनों वचनों से सिद्ध होता है कि वाक् तत्व मनस्तत्व द्वारा उत्पन्न होता है। मनस्तत्व ही वाक् तत्व को धारण करता है तथा वाक् तत्व मनस्तत्व का ही रूप है। इसी प्रकार काल तत्व रूपी प्रकृति की अवस्था से ही सभी पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उसी के द्वारा प्रेरित व धारण किये जाते हैं एवं उसी का ही रूप होते हैं।

आधुनिक विज्ञान भी द्रव्य को ऊर्जा द्वारा निर्मित, प्रेरित मानता है, साथ ही ऊर्जा द्वारा द्रव्य को धारण करना व उसी का रूप भी मानता है परन्तु काल का व्यवहार इससे किंचित् भिन्न समझना चाहिए।

प्रश्न- काल तत्व एक विशेष प्रकृति रूप है परन्तु इसका स्वरूप क्या है, इसके साथ ही अहोरात्र, मास, अर्धमास, ऋतु आदि किस प्रकार के पदार्थ हैं?

उत्तर- जैसा कि हम पूर्व में लिख चुके हैं कि काल तत्व प्रकृति की वह लगभग अव्यक्त (पूर्ण व्यक्त नहीं) अवस्था का नाम है, जिसमें ईश्वर तत्व द्वारा **'ओम्'** रश्मि के सर्वाधिक सूक्ष्म रूप का अव्यक्त संचरण किया जा चुका होता है, जिससे प्रकृति के सत्त्व व रजोगुण तो अत्यन्त सूक्ष्म रूप से व्यक्त हो जाते हैं परन्तु तमोगुण सर्वथा अव्यक्त ही रहता है। इस प्रक्रिया के साथ-२ सम्पूर्ण प्रकृति में विक्षोभ के विषय में वेद ने संकेत किया है-

"यानि॒ त्रीणि॑ बृह॒न्ति॒ येषां॑ चतु॒र्थं वि॑यु॒नक्ति॒ वाच॑म्" (अथर्व.८.६.३)

इसका तात्पर्य है कि प्रकृति के सत्त्व, रजस् व तमस् इन तीन गुणों में परमात्मा वाक् तत्व को विशेष रूप से संयुक्त अर्थात् संचरित करता है। यहाँ **'ओम्'** रश्मि के सर्वाधिक सूक्ष्म रूप ही वाक् तत्व है। यह वाक् तत्व ही उन तीनों गुणों को जाग्रत वा सक्रिय करता है। इनमें भी सर्वप्रथम काल तत्व को प्रकट करने हेतु सत्त्व व रजस् इन दो गुणों को ही जाग्रत करता है। इन दो गुणों के प्रकट होते ही काल तत्व चक्रवत् सतत घूमने लगता है। यह सतत प्रवृत्तमान काल तत्व त्रिगुणा प्रकृति को जगाने अर्थात् सक्रिय करने लगता है। **यह काल तत्व दो गुणों से युक्त प्रकृति पदार्थ में अव्यक्त भाव से संचरित 'ओम्' रश्मियों के रूप में होता है। इसमें मूल प्रकृति की भांति गुणों की साम्यावस्था नहीं रहती, इस कारण इसे सर्वथा अव्यक्त नहीं माना जा सकता।**

काल के स्वरूप के विषय में अथर्ववेद के पूर्वोक्त मंत्रों में विद्यमान निम्नलिखित पदों पर विचार करते हैं-

१. **सहस्राक्ष-** अनेक अक्षर रूप अवयव वाक् तत्व, जिसका आधार होते हैं, किंवा इनके ऊपर **'ओम्'** रश्मि का परारूप गमन करता है। मूल प्रकृति पदार्थ में सभी अक्षर रश्मि रूप में प्रकट नहीं हो पाते हैं किंवा अव्यक्त अवस्था में विद्यमान होते हैं। परारूप **'ओम्'** रश्मि इन सभी अक्षरों के ऊपर व्याप्त होकर गमन करती हुई उन्हें परस्पर नाना पदरूप रश्मियों के रूप में प्रकट करती है। यह **'ओम्'** रश्मि ही कालरूप है, जो मूल प्रकृति के साथ मिश्रित होती है।

२. **सप्तरश्मि-** **'भूः', 'भुवः', 'स्वः', 'महः', 'जनः', 'तपः', 'सत्यम्',** ये सात प्रकार की सूक्ष्म छन्द रश्मियां सर्वप्रथम इस कालरूप **'ओम्'** रश्मि से ही उत्पन्न वा प्रकट होती हैं। यह परारूप **'ओम्'** किसी भी छन्द रश्मि का उपादान कारण नहीं होती, बल्कि निमित्त कारण होती हैं, जो त्रिगुणा प्रकृति तथा मनस् तत्त्वादि को प्रेरित करके नाना छन्द रश्मियों को उत्पन्न करती है। हमारे मत में परारूप **'ओम्'** रश्मि कालरूप होकर सत्त्व व रजस्, इन दो गुणों में रमण करती हुई प्रकृति के तीनों गुणों को प्रकट करके महत्-मनस् तत्त्वादि को उत्पन्न करती है। इसका आशय है कि काल तत्त्व ही महत् आदि को उत्पन्न करता है। इसके पश्चात् काल तत्व मनस् तत्व आदि को प्रेरित करके भूरादि सात व्याहृति रूप रश्मियों को उत्पन्न करता है। इन्हीं सात रश्मियों के द्वारा काल तत्व अग्रिम रश्मियों को उत्पन्न करता है। इसी कारण काल को **'सप्तरश्मि'** कहा गया है अर्थात् जिससे भूरादि सात रश्मियां उत्पन्न होती हैं किंवा जो भूरादि सात रश्मियों को साधन रूप में प्रयोग करता है, वह काल तत्व **सप्तरश्मि** कहलाता है। इस पद में 'सप्त' संख्यावाची पद का एक विशिष्ट महत्व है। **महर्षि यास्क** का कथन है- **''सप्त सृप्ता संख्या'' (नि.४.२६)** इससे संकेत मिलता है कि काल से उत्पन्न सात रश्मियां किंवा काल की साधन रूप भूरादि रश्मियां परावस्था रूप होकर फैली हुई सी होती हैं। यहाँ ऐसा संकेत मिल रहा है कि ये रश्मियां अग्रिम उत्पन्न पश्यन्ती रूप भूरादि वा अन्य रश्मियों की अपेक्षा फैली हुई एकरसवत् होती हैं। उन ऐसी रश्मियों का काल तत्व से साक्षात् सम्बन्ध होता है।

३. **अश्व-** यह पद स्पष्ट करता है कि कालरूप परा **'ओम्'** रश्मियां तीव्रगामिनी तथा एकरसवत् सर्वतः व्याप्त होती हैं। यहाँ प्रश्न यह उठ सकता है कि जब काल रश्मियां अर्थात् परारूप **'ओम्'** रश्मियां एकरसवत् व्याप्त होती हैं, तब वे गतिशील कैसे हो सकती हैं? गति तो एकदेशी पदार्थ में ही हो सकती है, व्यापक पदार्थ में नहीं, तब काल को आशुगामी क्यों कहा? इस विषय में हमारा मत है- ईश्वर तत्व से प्रकृति पदार्थ में परारूप **'ओम्'** रश्मि, जो कालरूप होती है, अतितीव्रवेग से सतत सर्वत्र प्रकट होती रहती हैं, इसी कारण काल को अश्व कहा गया है। यह पदार्थ भी मूल प्रकृतिवत् लगभग अव्यक्त ही होता है।

४. **अजर-** परारूप **'ओम्'** रश्मि सहित प्रकृति पदार्थ, जो काल तत्व कहलाता है, वह कभी जीर्ण नहीं होता। प्रलयावस्था में भी प्रकृति को प्रेरित न करते हुए अव्यक्त रूप में यह तत्व यथावत् विद्यमान रहता है।

५. **भूरिरेता-** यह काल तत्व ही अनेक प्रकार के पदार्थों व कर्मों का बीजरूप है। सृष्टि के सभी द्रव्य, बल, कर्म, गुण आदि का बीज यही तत्व है, जो सबके मूल ईश्वर तत्व से उत्पन्न होता है।

६. **सप्तचक्र व सप्तनाभि-** प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, धनंजय व सूत्रात्मा वायु का सप्तक किंवा सात प्रकार की छन्द रश्मियों के चक्र को यह काल तत्व ही उत्पन्न एवं वहन करता है। इन सात चक्रों को चलाने हेतु ईश्वर तत्व भूरादि सात छन्द रश्मियों को नाभि अर्थात् केन्द्ररूप में प्रयुक्त करता है। इस कारण काल की सात नाभियां बतलायी गयी हैं? ये नाभिरूप रश्मियां ही उन प्राणादि सात रश्मियों को एक रश्मि रूप में बांधे रखकर गति भी प्रदान करती हैं किंवा ये उन्हें परमात्म तत्व से जोड़े रखती हैं।

'कालः' पद की व्युत्पत्ति करते हुए आप्टे संस्कृत-हिन्दी कोश में कहा है-

"कु ईषत् कृष्णत्वं लाति ला+क, कोः कादेशः"

यद्यपि आप्टे ने यहाँ 'कालः' का अर्थ 'काला' ग्रहण किया है तथा एतदर्थ कृष्ण का अर्थ काला ही माना है परन्तु हम यहाँ 'कृष्णत्वम्' से आकर्षण बलशीलता का ग्रहण करके अति सूक्ष्म आकर्षण बल किंवा **बल व गति के प्रारम्भ से युक्त प्रकृति पदार्थ की पूर्वोक्त अवस्था का नाम ही काल है, जो सम्पूर्ण प्रकृति एवं उससे उत्पन्न पदार्थों में प्रारम्भिक बल सदैव उत्पन्न करता रहता है**, ऐसा मानते हैं। शेष मास वा प्राणापानादि रश्मियां काल की मापक होने के साथ-२ त्रिगुणा प्रकृति के विकार महत् वा मनस् तत्व से उत्पन्न होती हैं। ये पदार्थ ही इन रश्मियों के उपादान तथा काल व ईश्वर निमित्त कारण हैं। इन रश्मियों में तमोगुण की मात्रा अन्य रश्मियों की अपेक्षा न्यून होती है। इनके विषय में आगे विस्तार से लिखा जाएगा। अब हम प्राणतत्व के सम्बन्ध में प्राण सूक्त के कुछ मंत्रों को उद्धृत करते हैं-

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे। यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम्।।१।।
प्राणः प्रजा अनु वस्ते पिता पुत्रमिव प्रियम्। प्राणो ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणति यच्च न।।१०।।
प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्रीं प्राणं सर्व उपासते। प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमाः प्राणमाहुः प्रजापतिम्।।१२।।
प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते। प्राणे ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।।१५।। (अथर्व. ११.४)

यहाँ प्राणतत्व सभी उत्पन्न पदार्थों को नियन्त्रित व धारण करने वाला, उन्हें सतत आच्छादित करने वाला, सूर्य, चन्द्र आदि लोकों एवं प्रजापति अर्थात् वाक् एवं मनस्तत्व किंवा नाना संयोगादि क्रियाओं, अन्तरिक्ष में शयन करने वाले वायु तत्व एवं भूत एवं भविष्यत् आदि कालों में उत्पन्न विभिन्न पदार्थों में प्रतिष्ठित बताया है।

यहाँ प्राण तत्व का स्वरूप पूर्वोक्त काल तत्व के स्वरूप से प्रायः मेल खाता है। इसी कारण अहोरात्र रूप प्राणापानोदान रश्मियां भी काल तत्व का ही रूप हैं किंवा उसका एक मापक परिमाण विशेष हैं। इसी प्रकार मास, ऋतु आदि को भी समझा जा सकता है, क्योंकि ये सभी प्राण रश्मियों का ही रूप हैं। प्राण रश्मियों के विषय में हम आगे चर्चा करेंगे।

महाप्रलय में काल तत्व

प्रश्न- आपके अनुसार प्रकृति पदार्थ में **'ओम्'** रश्मि के सबसे सूक्ष्म स्वरूप के उत्पन्न होने पर वह पदार्थ काल के रूप में प्रकट होता है अर्थात् सर्वप्रथम एवं सर्वाधिक सूक्ष्म बल व क्रिया की उत्पत्ति होती है। तब महाप्रलय काल में काल का अस्तित्व सर्वथा असिद्ध हो जाता है, ऐसी स्थिति में प्रलय काल में मुक्तात्माओं का गमनागमन तथा सृष्टि के प्रारम्भ होने के काल का ज्ञान कैसे होता है अर्थात् ईश्वर तत्व कैसे उचित व निश्चित समय पर सर्ग रचना प्रारम्भ कर पाता है?

उत्तर- आपका प्रश्न स्वाभाविक है। वस्तुतः **'ओम्'** के सूक्ष्मतम स्वरूप तथा विभिन्न अक्षररूप वाक् तत्व का कभी पूर्ण विनाश नहीं होता, इसी कारण इन्हें अक्षर रश्मि कहा जाता है। हाँ, महाप्रलय काल में इस सर्वथा अव्यक्त अक्षर **'ओम्'** का प्रकृति रूप पदार्थ से साक्षात् सक्रिय सम्बन्ध नहीं होता। ईश्वर तत्व की दृष्टि में **'ओम्'** रश्मि का वह रूप सदैव बना रहता है, क्योंकि ईश्वर अर्थात् **'ओम्'** वाचक परमात्म तत्व सदैव जाग्रत रहता है। बद्ध व मुक्तात्माओं के सम्पर्क में यह ओम् रश्मिमय पदार्थ अर्थात् काल तत्व अवश्य अपने अव्यक्ततम रूप में बना रहता है। यह प्रलयकाल तक इसी रूप में बना रहता है तथा अन्य प्रकृति रूप पदार्थ में यह परमेश्वर में बीजरूप में अनादि एवं अनन्त रूप में सदैव विद्यमान रहता है। इस अजर काल चक्र के कारण ही सृष्टि-प्रलय का चक्र नियमित व निरन्तर चलता रहता है।

प्रश्न– **महर्षि दयानन्द** ने **सत्यार्थप्रकाश** के तृतीय समुल्लास में **वैशेषिक दर्शन** के सूत्र '**नित्येष्वभावादनित्येषु भावात्कारणे कालाख्येति।**' **(वै.द.२.२.६)** का भाष्य करते हुए लिखा है– "जो नित्य पदार्थों में न हो और अनित्यों में हो, इसलिये कारण में ही काल संज्ञा है।"

यहाँ काल का नित्य पदार्थ (ईश्वर, जीव तथा प्रकृति) में विद्यमान न होना लिखा है, तब आपने काल को प्रलय काल में जीवात्माओं के सम्पर्क में रहने वाला क्यों लिखा है?

उत्तर– हमारे कथन का महर्षि के इस कथन का कोई विरोध नहीं है। हमने कहीं नहीं लिखा कि जीवात्माओं के अन्दर काल तत्व विद्यमान होता है, बल्कि लिखा कि कालतत्व उनके सम्पर्क में रहता है। **'ओम्'** रश्मि के परारूप मूलप्रकृति से सम्पृक्त रूप को काल कहा है। यहाँ नित्य पदार्थ में काल के निषेध तथा अनित्य पदार्थों में विद्यमान होने का आशय यही है कि काल तत्व नित्य पदार्थों को जीर्ण नहीं करता है और न कर ही सकता है, जबकि अनित्य पदार्थों में काल व्याप्त होकर उन्हें निरन्तर जीर्ण करता रहता है।

प्रश्न– काल अनित्य पदार्थों को जीर्ण कैसे करता है? जो काल सभी पदार्थों को प्रेरित व सक्रिय करता है, उसी काल के कारण सभी अनित्य पदार्थ जीर्ण कैसे हो जाते हैं?

उत्तर– आपका प्रश्न स्वाभाविक भी है और महत्वपूर्ण भी। हम जानते हैं कि कोई भी अनित्य पदार्थ मूल प्रकृति का विकार ही होता है और विकार सदैव संयोगजन्य होता है। कोई भी संयोगजन्य पदार्थ अनादि क्यों नहीं हो सकता? यह बात हम **"आधुनिक वैज्ञानिक सृष्टि उत्पत्ति-समीक्षा"** प्रकरण में लिख चुके हैं। पाठक वहाँ इस विषय पर गम्भीरता से चिन्तन करें, तो विदित होगा कि किसी भी संयोगजन्य पदार्थ को क्षीण करने वाली उसमें से रिसती हुई सूक्ष्म रश्मियों को भी तो काल ही प्रेरित करता है। यह सम्पूर्ण व्यवस्था ईश्वर तत्व के प्रेरण व निर्देशन में ही होती है, अन्यथा काल ऐसा नहीं कर सकता।

प्रश्न– जब काल तत्व से महत् से लेकर विशाल लोक लोकान्तरों तक की उत्पत्ति होती है और वह प्रकृति की एक अवस्था विशेष का नाम है, तब वह सृष्टि का उपादान कारण है वा निमित्त? काल का क्रिया विज्ञान क्या है?

उत्तर– जैसा कि हम लिख चुके हैं कि काल तत्व त्रिगुणयुक्त प्रकृति पदार्थ को प्रेरित व सक्रिय करता है, परन्तु स्वयं किसी भी उत्पन्न पदार्थ का उपादान कभी नहीं बनता। ध्यातव्य है कि काल तत्व स्वयं भी मूल चेतन प्रेरक ईश्वर तत्व द्वारा सतत प्रेरित होता रहता है। वह काल तत्व कभी भी ईश्वर तत्व की प्रेरणा से पृथक् नहीं हो सकता। काल द्वारा प्रेरित त्रिगुणा प्रकृति महत् तत्व को जन्म देती है। यह महत् तत्व भी काल द्वारा प्रेरित व धारण किया जाता है। इसका धारण स्थान त्रिगुणा प्रकृति ही होता है। तदुपरान्त महत् तत्व से आगामी पदार्थों की उत्पत्ति प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। इस सम्पूर्ण श्रंखला में ईश्वर द्वारा प्रेरित काल तत्व की प्रेरणा सदैव बनी रहती है। न सृष्टि के पदार्थों में कहीं काल तत्व की अविद्यमानता होती है, तब ईश्वर तत्व की अविद्यमानता का प्रश्न ही नहीं है। ये दोनों तत्व अर्थात् ईश्वर व काल दोनों ही निमित्त कारण के रूप में ही कार्य करते हैं, उपादान रूप में कदापि नहीं।

काल का क्रिया विज्ञान

अब रहा प्रश्न यह कि कालतत्व का क्रियाविज्ञान क्या है? इसके उत्तर में हमारा मत यह है कि **'ओम्'** रश्मि रूप काल रश्मियां सर्वप्रथम मूल प्रकृति तत्व को सृष्टि के सबसे सूक्ष्म प्रेरण से युक्त करके उसे विकृत करना प्रारम्भ करती हैं। प्रकृति में अव्यक्त रूप में विद्यमान विभिन्न अक्षर रूप वाक् तत्व जाग्रत होकर मूल प्रकृति को महत्, अहंकार व मनस्तत्व के रूप में प्रकट करता है, परन्तु सत्व व रजस् गुणों से युक्त प्रकृति तथा **'ओम्'** का कालरूप स्वयं सदैव अविकृत रहकर तमोगुण के साथ

अन्य दोनों गुणों से सम्पृक्त प्रकृति को ही सृष्टि रचना हेतु प्रेरित व विकृत करता है। वह काल तत्व **'ओम्'** के पश्यन्ती रूप को प्रकट करके मनस्तत्व में स्पन्दन व क्रियाशीलता उत्पन्न करके भूरादि सप्त सूक्ष्म रश्मियों को प्रकट करता है। इसके पश्चात् इन भूरादि रश्मियों को साधन बनाकर प्राणापानादि सात मुख्य प्राण रश्मियों, पुनः अन्य प्राण, मरुत् व छन्द रश्मियों को प्रकट करके सृष्टि चक्र को आगे बढ़ाता है। वर्तमान में भी काल तत्व प्रत्येक पदार्थ- मूलकणों, तरंगों, space आदि के अन्दर विद्यमान रहकर उनमें विद्यमान **'ओम्'** के पश्यन्ती रूप, भूरादि से लेकर सभी रश्मियों को प्रेरित करके सबको सक्रिय करता है, साथ ही उनमें उचित जीर्णता भी लाता रहता है।

प्रश्न- आपने प्रेरण, जागरण आदि शब्दों का प्रयोग किया है। ईश्वर काल को प्रेरित करता है, काल प्रकृति को, पुनः प्रेरण व जागरण क्रिया आगे चलती रहती है। यह प्रेरण व जागरण कर्म का स्वरूप क्या है? क्या ईश्वर व काल आदि पदार्थ अग्रिम पदार्थों में ऊर्जा का संचरण करते हैं? क्या ये स्वयं ऊर्जायुक्त पदार्थ हैं किंवा स्वयं ही ऊर्जास्वरूप हैं?

उत्तर- यह प्रश्न वर्तमान परम्परा के वैज्ञानिकों के मस्तिष्क में अवश्य उत्पन्न होता है। हमारे एक न्यासी प्रो. वसन्त मदनसुरे, जो एक विश्वविद्यालय में इंजीनियरिंग के प्रोफेसर रहे हैं तथा इस ग्रन्थ के सम्पादक हमारे उपाचार्य विशाल आर्य (अग्नियश वेदार्थी) ने अपनी चर्चाओं में ऐसा प्रश्न उठाया है। मुझे प्रतीत होता है कि अन्य अनेकों के मन में भी यह प्रश्न उन्हें उलझन में फंसाये रहेगा, इस कारण इसका समाधान करना आवश्यक समझा है। वर्तमान विज्ञान पदार्थ के तीन स्वरूपों पर ही चर्चा करता है। वे स्वरूप हैं- द्रव्य (matter), ऊर्जा (energy) एवं आकाश (space)। इनमें आकाश के विषय में उसे नगण्य ज्ञान ही है। शेष दो पदार्थों में ऊर्जा का स्वरूप द्रव्य की अपेक्षा सूक्ष्म है। यद्यपि वर्तमान विज्ञान ऊर्जा के स्वरूप के विषय में भी विशेष ज्ञान नहीं रखता, भले ही वह संसार में इसका अपार दोहन व उपयोग कर रहा है। vacuum energy व dark energy के विषय में उसे अभी नितान्त अन्धकार वा भ्रम ही दिखाई देता है। विद्युत् चुम्बकीय तरंगों व ध्वनि ऊर्जा से परिचित होते हुए भी इनका भी पूर्ण स्वरूप वर्तमान विज्ञान को अभी अज्ञात है। इस कारण वह इन ऊर्जाओं से परे कोई पदार्थ होता है, इसकी उसे कल्पना भी नहीं हो सकती। वह समझता है कि जैसे विद्युत् प्रेरण, चुम्बकीय प्रेरण अथवा यान्त्रिक आदि प्रेरण होता है, वैसे ही ईश्वर व काल जैसे सूक्ष्म पदार्थों द्वारा प्रेरण होना चाहिए। वैसे ही शरीर में जीवात्मा द्वारा सूक्ष्म शरीर व स्थूल शरीर में प्रेरण होना चाहिए। हम इस विषय पर विचार करते हैं-

हम लोक में प्रेरणा वा जागरण के भिन्न-२ रूप देखते हैं। एक व्यक्ति किसी पशु को डंडे से हांकता है, तब वह उस पशु को डंडे से किसी कार्य को करने की प्रेरणा ही करता है। पिता अपने उद्दण्ड पुत्र को ताड़ना से ही प्रेरणा करता है, उसे धक्का मार-२ कर कहीं भेजता है। उस प्रेरणा के उपरान्त वह पुत्र जाने वा कार्य करने को विवश होता है। वही पिता अपने बुद्धिमान् तथा आज्ञाकारी पुत्र को आंख के संकेत मात्र से प्रेरणा करके त्वरित क्रियाशील बना देता है। इन दोनों ही प्रक्रियाओं में क्या वैज्ञानिक यह कहेगा कि वह व्यक्ति पशु को अथवा पिता अपने पुत्र में कोई ऊर्जा संचरित कर रहा है? जड़ वस्तुओं में प्रेरण का तात्पर्य ऊर्जा संचरण हो सकता है परन्तु चेतन के स्तर पर ऐसा विचार अपरिपक्व है। जब चेतन अन्य चेतन प्राणी को प्रेरणा देता है, तब कोई ऊर्जा संचरण तो नहीं होता, बल्कि मन की रश्मियों के द्वारा प्रेरणा अवश्य होती है। मन की रश्मियों को कोई भौतिक विज्ञानी न तो देख सकता है और न अनुभव कर सकता है। मन की इन सूक्ष्म रश्मियों का प्रेरण ही अन्य प्राणियों को सक्रियता प्रदान करता है। उसकी क्रियाशीलता के लिए आवश्यक ऊर्जा उसके शरीर में ही विद्यमान होती है, जिसे अन्य प्राणी की मन तरंगों ने प्रेरित मात्र किया। **यह प्रेरणा आधुनिक विज्ञान के क्षेत्र का विषय नहीं। इसी प्रकार ईश्वर द्वारा काल को प्रेरित करना वर्तमान विज्ञान की सीमा के बाहर का विषय है। काल द्वारा प्रकृति, मन व प्राण तत्व को प्रेरित करना भी वर्तमान विज्ञान की दृष्टि के बाहर की बात है।** वर्तमान विज्ञान की दृष्टि विद्युत् के उत्पन्न होने के पश्चात् प्रारम्भ होती है, इसके पूर्व के कार्यों को वर्तमान विज्ञान की दृष्टि से न तो विचार सकते हैं और न परिभाषित वा व्यक्त कर सकते हैं। मान लें एक व्यक्ति किसी कार्य को तीव्रता से करते हुए किसी शोक समाचार से आहत होकर अपने को दुर्बल समझकर बैठ जाता है, वह वास्तव में दुर्बल हो भी जाता है। यदि कोई कहे

कि उसकी ऊर्जा कहाँ संचरित हो गयी। वह कार्य क्यों नहीं कर पा रहा, तो वर्तमान भौतिकी के आधार पर कोई ऊर्जा विज्ञानी क्या उत्तर देगा? वह जो भी उत्तर देगा, वह वर्तमान भौतिकी से कुछ हटकर ही देगा। आशा है विज्ञ पाठक इतने मात्र से प्रेरणा व जागरण का भाव समझ जायेंगे। पुनरपि सारांशतः **ईश्वर काल को अव्यक्त व अज्ञेय भाव से प्रेरित व उत्पन्न करता है। पुनः काल प्रकृति में सूक्ष्म प्रेरण व स्पन्दन प्रारम्भ करता है। इस कार्य में ईश्वरीय प्रेरणा व बल अवश्य विद्यमान रहता है। पुनः प्रकृति स्पन्दित व विकृत होकर महत्-अहंकार व मनस्तत्व में परिवर्तित हो जाती है।** उसके पश्चात् यह प्रेरण स्पन्दन प्रक्रिया आगे चलती है। किसी भी पदार्थ में उसके पूर्ववर्ती पदार्थ का प्रेरण अवश्य विद्यमान होता है। इस प्रकार सभी सूक्ष्म से स्थूल पदार्थ परस्पर ईश्वर व काल के प्रेरण द्वारा एक श्रंखला में बंधकर कार्य करते हैं। क्या विद्युत्, प्रेरण आदि को भी कोई भौतिकविद् मुझे पूर्णरूप से समझा सकता है? कदाचित् नहीं, तब काल व ईश्वर वा मनस्तत्वादि का प्रेरण कर्म तो अति सूक्ष्म है, उसे स्पष्ट व्याख्यात करना सम्भव नहीं है।

प्रश्न- वर्तमान वैज्ञानिक काल को आकाश से जोड़ कर अनेक गणितीय संकल्पनाओं को प्रस्तुत करते हैं तथा इनको प्रकाश की तरंगों से सम्बद्ध करके काल व आकाश की singularity की चर्चा करते हैं। काल के रुकने, धीमे व तीव्र गति से चलने की बात करते हैं, उस विषय में आपका क्या मत है?

उत्तर- वर्तमान विज्ञान काल व आकाश ही नहीं, अपितु विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की आन्तरिक संरचना व स्वरूप के विषय में प्रायः अनभिज्ञ है। इस अनभिज्ञता से तीनों का असंगत व अस्वाभाविक मेल करने का असफल प्रयास करता है, इस कारण अनेक मिथ्या धारणाओं को प्रस्तुत करता है। काल तत्व, आकाश तत्व से अति सूक्ष्म तत्व है। आकाश प्राण व सूक्ष्म छन्द रश्मियों से निर्मित पदार्थ है, जिसके विषय में आगे यथा स्थान लिखा जायेगा। प्रबल गुरुत्वाकर्षण क्षेत्र में किसी पदार्थ की गति कम होने व बन्द होने का अर्थ यह नहीं है कि वहाँ काल रुक गया है, बल्कि उसका आशय यह है कि वहाँ वर्तमान वह प्रबल बल फिर चाहे, वह गुरुत्वाकर्षण बल हो अथवा अन्य कोई बल, उस पदार्थ की गति को रोक अथवा प्रभावित कर सकता है। कोई व्यक्ति चलती साईकिल के पहिये को थाम ले, इसका आशय यह नहीं कि वहाँ काल रुक गया। यह वर्तमान वैज्ञानिकों को भारी भ्रम है। आकाश तत्व विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के गमन करने का एक आधार है, जैसे किसी कार को चलने हेतु सड़क एक आधार है। इस कारण इन रश्मियों का आकाश तत्व से सम्बन्ध अवश्य है। काल तो वैसे ही सबके साथ निरपेक्ष व समान सम्बन्ध रखता ही है, अन्यथा किसी भी वस्तु में कोई क्रिया न हो सके, अस्तु।

प्रश्न- वर्तमान वैज्ञानिक काल के आगे व पीछे जाने की चर्चा करते हैं, इससे वे किसी घटना के भविष्य व भूत में जाने पर अनुसंधान कर रहे हैं। इस विषय में आपका क्या कहना है?

उत्तर- इस प्रश्न पर हमारा प्रतिप्रश्न यह है कि काल के पीछे जाने अर्थात् भूत में जाने का अर्थ क्या है? क्या कोई वृद्ध वैज्ञानिक काल को पीछे ले जाकर अपने पूर्व युवा वा शिशु रूप को प्राप्त कर सकता है? क्या वह दिवंगत व्यक्तियों का साक्षात् कर सकता है? क्या रामायण, महाभारत काल में जाकर इस धरती पर उस युग व उसमें विद्यमान मनुष्यों, देवों व अन्य सम्पूर्ण परिस्थिति को वापिस ला सकता है? हमारा निश्चित मत है कि ऐसा सम्भव नहीं है। यदि यह सम्भव नहीं है, तब काल का पीछे जाने का अर्थ ही क्या रह जाता है। हाँ, हम यह तो स्वीकार करते हैं कि कोई योगी भूत की घटनाओं को अपने योगबल से जान सकता है। कभी भविष्य में वैज्ञानिक किसी तकनीक का आविष्कार करके महाभारत युद्ध की ध्वनि व रूपों को देख भी सकते हैं, परन्तु वास्तव में वे उन योद्धाओं को पुनर्जीवित नहीं कर सकते और न इस पृथिवी पर उसी परिस्थिति को वास्तव में उत्पन्न कर सकते हैं। किसी रसायन के प्रयोग से वृद्ध व्यक्ति युवा भी बन सकता है परन्तु इसका भी यह अर्थ नहीं है कि काल वापिस लौट आया है। काल के लौटने से नदी, पर्वत, वृक्ष, सम्पूर्ण भौगोलिक, पर्यावरणीय तंत्र सभी कुछ भूतकाल जैसा हो जाना चाहिए, क्या कोई ऐसा कर सकता है? कदापि नहीं। विज्ञान बल व ऊर्जा की किसी विशेष तकनीक के आधार पर किसी पदार्थ विशेष में होने वाली प्रक्रियाओं को मन्द वा तीव्र तो कर सकता है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि काल की गति को नियन्त्रित करके ऐसा किया गया।

जब आप यह ही नहीं जानते कि काल किस वस्तु का नाम है, तब उसके तीव्र वा मन्द होने की चर्चा करके क्या दर्शाना चाह रहे हैं?

अब भविष्य में जाने को लेकर कुछ विचार करें। हम यह जानना चाहते हैं कि इसका क्या अर्थ है? क्या आप इससे यह बताना चाहते हैं कि आप भविष्य में जाकर किसी शिशु के पौत्र का विवाह कर सकते हैं? भविष्य में होने वाली हर परिस्थिति को प्रत्यक्ष कर सकते हैं? तो, यह निरी कल्पना है। भूत तो निश्चित भी होता है परन्तु भविष्य तो निश्चित भी नहीं, तब उसका साक्षात् कैसे होगा? कोई उच्च कोटि का योगी भविष्य का कुछ ज्ञान कर ले, यह सम्भव है, परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होगा कि उसने काल को आगे खिसका दिया। क्या कोई व्यक्ति काल को आगे खिसका कर स्वयं को चिता में जलते देख सकता है? क्या क्षण भर में भविष्य के भूगोल को साक्षात् कर सकता है? **वस्तुतः गणित के मिथ्या मकड़जाल में फंसकर काल को बिना समझे वर्तमान विज्ञान स्वयं उपहास का पात्र बन रहा है।** वर्तमान वैज्ञानिक आइंस्टीन के सापेक्षता के सिद्धान्त का भारी दुरुपयोग करते प्रतीत हो रहे हैं। **काल को आकाश से जोड़कर वैज्ञानिक भारी भ्रान्ति में जी रहे हैं। वे दोनों के स्वरूप को जानते नहीं, तब भी दोनों का घालमेल करके छेड़छाड़ कर रहे हैं, फिर इसका परिणाम तो उल्टा ही होगा।** वे काल और अवधि के अन्तर को भी नहीं समझ पा रहे हैं। यदि कोई व्यक्ति लम्बाई, चौड़ाई, ऊंचाई को अथवा उनके मापक मीटर, फीट आदि को ही आकाश मान ले, तो क्या यह उसका भारी भ्रम वा मूर्खता नहीं होगी? यही स्थिति घण्टा, मिनट, सेकण्ड आदि अवधि मापी मापकों को काल मानने से होगी। इस पर भी इन्हें आपस में जोड़ने से कोढ़ में खाज जैसी स्थिति बन जायेगी। वैदिक विज्ञान से अनभिज्ञ वर्तमान विज्ञान ऐसी भूलें सदियों से कर रहा है और आगे भी करता रहेगा।

महत्, अहंकार, मन

यह काल तत्व सर्वप्रथम जिस तत्त्व को उत्पन्न करता है, उसे ब्राह्मण ग्रन्थों में **'प्रजापति'** कहा गया है। इसके साथ ही **महत् वा मनस्तत्व** को भी प्रजापति कहा गया है। इस विषय में ऋषियों का कथन है-

"प्रजापतये मनवे स्वाहा" (तै.सं.४.१.६.१; मै.२.७.७)
"प्रजापतिर्वाव महान्" (तां.४.१०.२)
"प्रजापतिर्वै मनः" (कौ.ब्रा.१०.१;२६.३; श.४.१.१.२२)
"मन इव वै प्रजापतिः" (काठ.३१.१५;३५.१७)
"महद्रूपो वै प्रजापतिः" (जै.ब्रा.२.१२)

इन प्रमाणों से महत् तत्व एवं मनस्तत्व का प्रजापति रूप होना सिद्ध होता है। इस सृष्टि में यही वह प्राथमिक पदार्थ है, जो बल, क्रिया आदि का बीजरूप तथा प्रकृति के प्रायः अव्यक्त भाव से युक्त होता है तथा जो विकार को प्राप्त होकर नाना पदार्थों के रूप में प्रकट होता है। **सुश्रुत संहिता** में कहा गया है-

"तस्मादव्यक्तान्महानुत्पद्यते तल्लिङ्ग एव" (शारीरस्थानम् १.४)

अर्थात् महत् तत्व भी अव्यक्त प्रकृति के लक्षण से युक्त अर्थात् अव्यक्तवत् ही होता है। हमारे मत में यह सर्वथा अव्यक्त नहीं होता। हमारे मत की पुष्टि आगे उद्धृत महाभारत के प्रमाण से होती है। **सांख्यदर्शन** में **महर्षि कपिल** ने महत्, अहंकार एवं मन तीन पदार्थों को पृथक्-२ माना है। यद्यपि सांख्य दर्शन के सूत्र-

"महदाख्यमाद्यं कार्यं तन्मनः" {१.३६(७१)}

से ऐसा संकेत भी मिलता है कि यहाँ महत् को मन ही कहा गया है। जो आन्तर इन्द्रिय रूप मन है, वह इससे पृथक् इनका कार्यरूप आगामी पदार्थ है। महत् अर्थात् मनस्तत्व को बुद्धि नाम भी दिया गया है तथा उसका लक्षण करते हुए कहा-

"अध्यवसायो बुद्धिः" (सां.द.२.१३)

इसका अर्थ है कि यह सतत प्रयत्न करने के धर्म से युक्त होता है।

महत् तत्व के विषय में **भगवान् ब्रह्मा** का कथन है-

अव्यक्तात्पूर्वमुत्पन्नो महानात्मा महामतिः। आदिर्गुणानां सर्वेषां प्रथमः सर्ग उच्यते।।१।।

महानात्मामतिर्विष्णुर्जिष्णुः शम्भुश्चवीर्यवान्। बुद्धिः प्रज्ञोपलब्धिश्च तथा ख्यातिर्धृतिः स्मृतिः।।२।। (महाभारत आश्वमेधिक पर्व, अनुगीतापर्व अध्याय ४०)

यहाँ **महत् तत्व** के अनेक पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख है, जिनकी व्याख्या हम निम्नानुसार कर रहे हैं-

(१) महान् = अत्यन्त व्यापक होने से महान् कहाता है।

(२) आत्मा = यह सृष्टि के सभी जड़ पदार्थों के भीतर आत्मा के समान विचरने से आत्मा कहाता है।

(३) मतिः = {मन्यते इति कान्तिकर्मा (निघं.२.६), मन्यते इति अर्चतिकर्मा (निघं.३.१४)} यह पदार्थ सूक्ष्म परन्तु व्यापक बल तथा अति मन्द अव्यक्त दीप्ति से युक्त होता है। इस पदार्थ में वाक् तत्व अर्थात् सूक्ष्मतम **'ओम्'** रश्मियां एकरस होकर व्याप्त वा विचरती रहती हैं, इसी कारण **महर्षि याज्ञवल्क्य** ने वाक् तत्व को भी मति कहते हुए लिखा है-

"वाग्वै मतिर्वाचा हीदं सर्वं मनुते" (श.८.१.२.७)

(४) विष्णुः = {विष्णुः= व्याप्तुशीलं विद्युद्रूपाग्निः (तु.म.द.य.भा.१२.५), यज्ञो वै विष्णुः (श.१.६.३.६)} यही महत् तत्व सर्वप्रथम संयोग- वियोगादि गुणों से युक्त होकर नाना पदार्थों का निर्माण प्रारम्भ करता है। **महर्षि दयानन्द** की दृष्टि में कदाचित् कारण विद्युत् भी यही है, जो एकरस प्रकृति अवस्था के किंचित् विक्षुब्ध रूप में विद्यमान होती है।

(५) जिष्णुः = यह पदार्थ सभी पदार्थों को नियन्त्रित करने के स्वभाव वाला होता है अर्थात् किंचिद् व्यक्त बल की उत्पत्ति सर्वप्रथम यहीं होती है।

(६) शम्भुः = यह पदार्थ सृष्टि की विभिन्न अवस्थाओं में उत्पन्न क्षोभकारी अनिष्ट रश्मि आदि पदार्थों को शान्त करने में अन्तिम भूमिका निभाता है।

(७) वीर्यवान् = यह पदार्थ विभिन्न पदार्थों की उत्पत्ति प्रक्रियाओं का बीजारोपण करता है।

(८) बुद्धिः = इसी तत्व के कारण प्राणियों में निश्चय करने का सामर्थ्य प्राप्त होता है अर्थात् जिस प्राणी के अन्दर इस तत्व का जितना अधिक भाग विद्यमान होता है, वह प्राणी उतनी ही अधिक विचार शक्ति से सम्पन्न होता है।

(९) प्रज्ञाः = इसी के कारण प्राणी प्रकृष्ट ज्ञान सम्पन्न होते हैं।

(१०) उपलब्धिः = यह पदार्थ अपने निकटस्थ पदार्थों को ग्रहण करने के स्वभाव वाला होता है।

(११) ख्यातिः = यहीं से जड़ पदार्थ मानो प्रकटावस्था में आना प्रारम्भ करता है अर्थात् प्रकृति की अव्यक्तावस्था भंग हो जाती है।

(१२) धृतिः = यह पदार्थ सभी पदार्थों को धारण करने में समर्थ होता है।

(१३) स्मृतिः = {स्मृतिः=(स्मृप्रीतिसेवनयोः, प्रीतिचलनयोर्वा)} इसके कारण ही प्रत्येक पदार्थ संरक्षित व गतिशील रह पाता है। वह अपनी रक्षा के स्वभाव से भी युक्त होता है तथा इसी के कारण प्राणी स्मरण शक्ति से युक्त होते हैं।

अहंकार तत्व के विषय में **भगवान् ब्रह्मा** कहते हैं-

य उत्पन्नो महान् पूर्वमहंकारः स उच्यते। अहमित्येव सम्भूतो द्वितीयः सर्ग उच्यते।।१।।
अहंकारश्च भूतादिर्वैकारिक इति स्मृतः। तेजसश्चेतना धातुः प्रजासर्गः प्रजापतिः।।२।।
देवानां प्रभवो देवो मनसश्च त्रिलोककृत्। अहमित्येव तत्सर्वमभिमन्ता स उच्यते।।३।। (महाभारत आश्वमेधिक पर्व, अनुगीतापर्व, अध्याय ४१)

अर्थात् पूर्वोत्पन्न महत् तत्व ही उस समय अहंकार कहलाता है, जब यह अपनी प्रकटावस्था रूप द्वितीय सृष्टि के रूप में होता है। यह तत्व पंचभूतों का कारण होने से वैकारिक कहलाता है। यह तेज का धारणकर्त्ता व आत्मा वा परमात्मा के द्वारा धारण किया जाता है। इससे नाना पदार्थ उत्पन्न होने से इसे प्रजापति भी कहते हैं। इससे नाना देव पदार्थ अर्थात् विभिन्न प्राण, इन्द्रियां व मन (आन्तर इन्द्रिय), एवं **{लोकः=छन्दांसि वै सर्वेलोकाः (जै.ब्रा.१.३३२), एता वै व्याहृतय इमे लोकाः (तै.ब्रा.२.२.४.३)}** भूरादि तीन व्याहृति रूप सूक्ष्म छन्द रश्मियों रूपी लोक उत्पन्न होते हैं, साथ ही सभी छन्द रश्मियां इसी से उत्पन्न होती हैं। यह सम्पूर्ण सृष्टि अहंकार रूप ही है तथा उसी के द्वारा नाना कामनाओं अर्थात् आकषर्णादि बलों से युक्त होती है। इसीलिए **महर्षि कपिल** ने कहा है-

"अभिमानोऽहंकारः" (सां.द.२.१६)

अहंकार के भेद

{अभिमानः= (अभि+मनू= कामना करना, लालायित होना, चोट पहुँचाना वा पहुँचाने का प्रयत्न करना - आप्टेकोश)} इसका तात्पर्य है कि इस पदार्थ में सर्वत्र आकर्षण एवं भेदक बल उत्पन्न होकर क्रियाशीलता उत्पन्न होने लगती है। महत् तत्व का चरम रूप ही अहंकार कहलाता है, इसकी पुष्टि **महर्षि कपिल** भी करते हैं-

"चरमोऽहङ्कारः" {सां.द.१.३७(६२)}

इस तत्व के तीन प्रकार बतलाते हुए **महर्षि सुश्रुत** ने लिखा है-

"तल्लिङ्गाच्च महतस्तल्लक्षण एवाहङ्कार उत्पद्यते, स त्रिविधो वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति।।" (सु.सं., शारीरस्थानम् १.४)

उधर **महर्षि कपिल** का कथन है-

"एकादशपंचतन्मात्रं तत्कार्यम्। सात्विकमेकादशं प्रवर्त्तते वैकृतादहंकारात्।।" (सां.द.२.१७-१८)

इसे और स्पष्ट करते हुए **महर्षि सुश्रुत** ने कहा है-

"तत्र वैकारिकादहङ्कारात्तैजससहायात्तल्लक्षणान्येवैकादशेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते।। भूतादेरपि तैजससहायात्तल्लक्षणान्येव पञ्च तन्मात्राण्युत्पद्यन्ते। तद्यथा-शब्दतन्मात्रं, स्पर्शतन्मात्रं, रूपतन्मात्रं, रसतन्मात्रं, गन्धतन्मात्रमिति। तेषां विशेषाः- शब्द- स्पर्श- रूप- रस- गन्धाः, तेभ्यो भूतानि व्योमानिलानलजलोर्व्यः, एवमेषा तत्त्वचतुर्विंशतिर्व्याख्याता।।" (सु.सं., शारीरस्थानम् १.५,७)

इससे स्पष्ट है कि अहंकार तत्व सत्व, रजस् व तमस् की प्रधानता से क्रमशः वैकारिक, तैजस एवं भूतादि नाम वाला होता है। वैकारिक अहंकार से आन्तर इन्द्रिय संज्ञक मन एवं दसों इन्द्रियां उत्पन्न

होती हैं, परन्तु इस क्रिया में तैजस अहंकार का भी योग रहता है। इसका आशय यह है कि इन्द्रियां सत्व व रजस् प्रधान होती हैं। यद्यपि यहाँ तमोगुण का कोई उल्लेख नहीं है, पुनरपि हमारा मत है कि **काल तत्व के अतिरिक्त सर्वत्र ही तमोगुण की मात्रा न्यूनाधिक अवश्य रहती है,** इस कारण यहाँ भी तमोगुण की स्वल्प मात्रा की विद्यमानता माननी चाहिये। ध्यातव्य है कि तमोगुण की सर्वथा अविद्यमानता से कोई भी पदार्थ सदैव गतिशील ही रहेगा। इस सृष्टि में काल तत्व के अतिरिक्त अन्य कोई भी ऐसा जड़ पदार्थ नहीं है, जो सदैव गतिशील रहता हो, इस कारण इन्द्रियों में तमोगुण की अतिन्यून मात्रा में विद्यमानता आवश्यक है।

उधर तमोगुण प्रधान भूतादि अहंकार से तैजस अहंकार के सहाय-संयोग से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की चरणबद्ध ढंग से उत्पत्ति होती है। हम यहाँ उस क्रम का वर्णन अभी नहीं कर रहे हैं।

यहाँ हम **अहंकार वा महत् तत्व** के स्वरूप पर विचारें, तो स्पष्ट होता है कि वर्तमान विज्ञान द्वारा परिकल्पित कोई भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थ इनसे साम्य नहीं रखता। **इसमें विद्युत् आवेश, द्रव्यमान एवं स्पष्ट व अपेक्षित गतिशीलता आदि का प्रादुर्भाव नहीं होता। ऐसी स्थिति में वर्तमान विज्ञान की भाषा में यह भी न द्रव्य है, न ऊर्जा और न space नामक आकाश। वैदिक भाषा में इसे द्रव्य व ऊर्जा दोनों ही कह सकते हैं परन्तु वर्तमान विज्ञान की भाषा में यह पदार्थ अभी कल्पनातीत ही माना जा सकता है।**

प्रश्न– प्रकृति पदार्थ से महत्, अहंकार वा मन की अवस्था उत्पन्न होने की प्रक्रिया क्या है? मन तथा महत्-अहंकार में क्या भेद है?

उत्तर– **काल तत्व** सक्रिय होते ही सम्पूर्ण त्रिगुणा प्रकृति में एक सूक्ष्म परिवर्तन करने के लिए ईश्वर तत्व **'ओम्'** रश्मियों की परा अवस्था को अव्यक्त भाव से सर्वत्र संचरित करने लगता है अर्थात् काल तत्व सम्पूर्ण प्रकृति में संचरण करने लगता है। यह संचरण ऐसा होता है, कि सत्वादि तीनों गुण सक्रिय हो उठते है, यही अवस्था **महत्** कहलाती है। **'ओम्'** का परास्वरूप जब सत्व व रजस्, इन दो गुणों को ही सक्रिय करता है, तब **मूल प्रकृति** काल तत्व का रूप धारण करती है और जब **'ओम्'** का परारूप जो **काल तत्व** में विद्यमान होता है, उस समय मूल प्रकृति के तीनों गुणों को सक्रिय करता है, तब **महत् तत्व** का रूप धारण करती है। यह तत्व सम्पूर्ण अवकाश रूप आकाश में एकरस होकर भरा रहता है अर्थात् इसमें भी प्रायः कोई उतार-चढ़ाव (fluctuation) नहीं होता। **'ओम्'** रश्मियों की परा अवस्था सम्पूर्ण पदार्थ में एक साथ व्याप्त रहती है, जिससे तीनों गुण सबसे सूक्ष्म रूप में सक्रिय वा जाग्रत होने लगते हैं। इससे उस पदार्थ में ऐसी मन्दतम दीप्ति होती है, जो सम्पूर्ण सृष्टि में अन्यत्र कहीं नहीं होती। इस सृष्टि में जो भी गहन अंधकार होता है, उससे भी गहन अंधकार महत् तत्व में होता है। **महत् की चरमावस्था रूप अहंकार** भी ऐसे ही अंधकार से युक्त होता है। इसमें महत् तत्व की पूर्णता होती है। इस समय परारूप **'ओम्'** रश्मि के अतिरिक्त कोई भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म रश्मि उत्पन्न नहीं हो पाती। **जब सर्वतोव्याप्त अहंकार तत्व में ईश्वरीय प्रेरणा से काल तत्व 'ओम्' छन्द रश्मि के पश्यन्ती रूप का संचरण करता है, तब अहंकार की वह अवस्था ही मनस्तत्व वा प्रजापति नाम से जानी जाती है।** इसके विषय में ऋषियों का कथन है–

"अनिरुक्तं हि मनः" (श.१.४.४.५)
"अनन्तं वै मनः" (श.१४.६.१.११)
"मनसा वा ऽ इदᳪ सर्वमाप्तम्" (श.१.७.४.२२)
"वाक् च वै मनश्च देवानां मिथुनम्" (ऐ.५.२३)
"मनसा हि वाग्धृता" (क.३७.४)
"मनसो रेतो वाग्वाचो रेतः कर्म" (ऐ.आ.२.१.३)
"अथो द्वे एव धुरौ मनश्चैव वाक् च। मनसो हि वाक् प्रजायते" (जै.ब्रा.१.३२०)

इन वचनों से स्पष्ट होता है कि मन भी महत्तत्व वा अहंकार की भाँति सर्वत्र व्याप्त होता है। यह अपने से उत्पन्न प्रत्येक पदार्थ को भी बाहर भीतर से व्याप्त करता है। यह पदार्थ **'ओम्'** रश्मि के पश्यन्ती रूप के साथ मिथुन बना कर उसे अपने साथ धारण किये रहता है। मनस्तत्व का सार वाक् अर्थात् **'ओम्'** का पश्यन्ती रूप है तथा इस वाक् तत्व से ही सभी कर्म उत्पन्न होते हैं किंवा क्रियाशीलता

इस वाक् तत्व का सार है। वस्तुतः इस **'ओम्'** रश्मि के कारण ही मनस्तत्व सक्रिय होता है किंवा अहंकार तत्व मनस्तत्व का रूप धारण करता है। यदि महत् तत्व, मनस्तत्व को एक सूक्ष्म ऊर्जा की भांति मानकर विचार करें, तब ऐसा प्रतीत होता है कि यह अदृश्य व अग्राह्य ऊर्जा नगण्य शक्ति की होती है, जो एकरसवत् सर्वत्र भरी रहती है। इसकी रश्मियां लगभग शून्य किंवा अत्यल्प आवृत्ति एवं अनन्त के समकक्ष तरंगदैर्ध्य वाली होती हैं। इससे यह तत्व भी प्रायः अचल रूप में सर्वत्र व्याप्तवत् रहता है। उधर शरीरधारियों में जो महत्, अहंकार व मन होता है, वह व्यष्टि रूप तीव्र गति विचरने वाला होता है। मनस्तत्व के अन्दर सभी संयोग-वियोग आदि क्रियाएं इसी रश्मि के कारण प्रारम्भ होती हैं। इसी कारण कहा गया है-

"ओमिति वै स्वर्गोलोकः" (ऐ.५.३२)

उधर अन्य ऋषियों ने स्वर्गलोक की व्याख्या में कहा-

"एष ह वै स्वर्गो लोको यद् यज्ञायज्ञीयम्" (जै.ब्रा.२.४२५)
"स्वर्गो वै लोको यज्ञः" (कौ.ब्रा.१४.१)

इससे संकेत मिलता है कि यह **'ओम्'** रश्मि रूप वाक् तत्व ही मनस्तत्व को सर्ग प्रक्रिया प्रारम्भ करने योग्य बनाता है अर्थात् उसे सक्रिय करता है। इसीलिए **महर्षि याज्ञवल्क्य** ने कहा है-

"मनश्च ह वै वाक् च युजौ देवेभ्यो यज्ञं वहतः" (श.१.४.४.१)

महर्षि ऐतरेय महीदास का कथन है-

"वृषा वा ऋषभो योषा सुब्रह्मण्या, तन्मिथुनं, तस्म मिथुनस्य प्रजात्या इति।।" (ऐ.६.३)

यहाँ **"वृषा हि मनः" (श.१.४.४.३)** एवं **"वाग्वै सुब्रह्मण्या" (ऐ.६.३)** से यह स्पष्ट होता है कि वाक् व मन के योग से ही सभी पदार्थों की सृष्टि होती है।

इस प्रकार सम्पूर्ण अवकाशरूप आकाश उस समय मनस्तत्व एवं **'ओम्'** के पश्यन्ती रूप के मिश्रण से भर जाता है। उस समय सम्पूर्ण पदार्थ में पूर्वापेक्षा कुछ व्यक्त परन्तु मानवदृष्टि में अव्यक्त दीप्ति व सूक्ष्मतम हलचल की विद्यमानता होती है। **यह अवस्था भी वर्तमान विज्ञान द्वारा परिभाषित द्रव्य, ऊर्जा व space से भिन्न तथा उससे पूर्व की है।** यहाँ मनस्तत्व आगामी पदार्थों की उत्पत्ति हेतु समर्थ हो चुका होता है। इस पदार्थ में अभी भी एकरसता भंग नहीं हुई है परन्तु होने के लिए अनुकूल स्थिति बन चुकी है। ध्यातव्य है कि यह अवस्था समष्टि बुद्धि-अहंकार व मन की ही माननी चाहिये। विभिन्न प्राणियों के अन्तःकरण के रूप में जो बुद्धि, अहंकार व मन होते हैं, वे इन्हीं समष्टि बुद्धि आदि के ही अवयव रूप में विद्यमान होते हैं। जिस प्रकार समष्टि पदार्थों का सम्बन्ध ईश्वर से होता है, उसी प्रकार व्यष्टि पदार्थों का सम्बन्ध जीवात्मा से होता है। **महर्षि दयानन्द** ने **यजु.१७.३२** में सूत्रात्मा वायु से पूर्व जिस **दिव्य वायु** के उत्पन्न होने की चर्चा की है, वह **मन वा अहंकार तत्व** ही है, ऐसा हमारा मत है।

प्राण व छन्द तत्त्व

जब **'ओम्'** रश्मि के पश्यन्ती रूप की तीव्रता बढ़ती है, उस समय प्रायः एकरसवत् मनस्तत्व में स्पन्दन होने लगते हैं। ये स्पन्दन ही भूरादि व्याहृति रश्मियां एवं प्राथमिक प्राणों का रूप होते हैं। इस विषय में **महर्षि ऐतरेय महीदास** ने लिखा है-

"प्रजापतिरकामयत प्रजायेय भूयान् स्यामिति, स तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वेमं द्वादशाहमपश्यदात्मन एवाङ्गेषु च प्राणेषु च, तमात्मान एवाङ्गेभ्यश्च प्राणेभ्यश्च द्वादशधा निरमिमीत....।।" (ऐ.४.२३)

इस कण्डिका के विषय में विस्तृत व्याख्यान पाठक इस ग्रन्थ में देख सकते हैं। यहाँ संक्षेप चर्चा यह है कि परमात्म तत्व काल तत्व के द्वारा सम्पूर्ण मनस्तत्व में **'ओम्'** रश्मियों के द्वारा एक साथ

स्पन्दन (fluctuation) उत्पन्न करने लगता है। यह क्रिया सहसैव अति तीव्र गति से होती है। ये स्पन्दन ही भूरादि व्याहृति रूप एवं प्राणादि प्राणरूप होते हैं। पाठक इस विषय में **ऐतरेय** के **२.१५, ४.७** एवं **४.२५** खण्डों को गम्भीरता से पढ़ें। जहाँ विस्तार से इनकी उत्पत्ति प्रक्रिया बतलाई गई है। **महर्षि व्यास** का प्राण तत्व के विषय में कथन है-

"प्राणः कम्पनात्" (ब्र.सू.१.३.३६)
"अणवश्च" (ब्र.सू.२.४.७)

इन सूत्रों से स्पष्ट है कि प्राण सूक्ष्म स्पन्दन वाले होते हैं। ईश्वर तत्व काल तत्व के द्वारा सम्पूर्ण महत्तत्व-अहंकार वा मनस्तत्व के विशाल सागर, जो सर्वत्र एकरसवत् भरा रहता है, को सूक्ष्म पश्यन्ती **'ओम्'** वाक् रश्मियों से ऐसे स्पन्दित करता रहता है, मानो कोई शक्ति किसी महासागर में एक साथ तीव्र गति से भांति-२ की सूक्ष्म-स्थूल लहरें उत्पन्न कर रही हो, उसी प्रकार ईश्वर अपनी शक्ति रूप कालवाची **'ओम्'** रश्मि के द्वारा मनस् वा अहंकार तत्व में प्राण व छन्द रश्मियों रूपी लहरें निरन्तर उत्पन्न करता रहता है। ध्यातव्य है कि किसी भी पदार्थ से अग्रिम पदार्थ बनते समय कुछ पदार्थ मूलरूप में ही सुरक्षित रहता है, जो अग्रिम पीढ़ी के पदार्थों को सम्पीडित करके उससे अग्रिम पीढ़ी के पदार्थों का निर्माण ईश्वर, काल तत्व एवं ओम् रश्मि से प्रेरित होकर करता है। जब इनकी उत्पत्ति की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है, तब वह प्रक्रिया अकस्मात् अत्यन्त तीव्र गति से होती है। ये लहरें (रश्मियां) मुख्यतः चार प्रकार की होती है-

(अ) मूल छन्द रश्मियां,
(ब) प्राथमिक प्राण रश्मियां,
(स) मास व ऋतु रश्मियां,
(द) अन्य छन्द व मरुद् रश्मियां।

सभी प्रकार की रश्मियां अक्षर रूप सूक्ष्म अवयवों से निर्मित होती हैं। इस कारण सर्वप्रथम अक्षर रूप पदार्थ पर विचार करते हैं। इस विषय में ऋषियों का कथन है-

"अक्षरं वाङ्नाम" (निघं.१.११)
"अक्षरं न क्षरति, न क्षीयते वा वाक् क्षयो भवति, वाचोऽक्ष इति वा" (नि.१३.१२)
"तद् यदक्षरत्तस्मादक्षरम्" (श.६.१.३.६)
"यद्वेवाक्षरं नाक्षीयत तस्मादक्षरयम्। अक्षयं ह वै नामैतत्। तदक्षरमिति परोक्षमाचक्षते।।" (जै.उ.१.७.२.२)
"महत्तत्वाख्यम्" (म.द.ऋ.भा.३.५५.१)

इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि महत् तत्व ही अक्षर रूप होता है। हम पूर्व में लिख चुके हैं कि महत् तत्व में **'ओम्'** छन्द रश्मि परा रूप में उत्पन्न होती है। उसके पूर्व महत् तत्व अक्षर तथा मूल प्रकृति में अक्षर रूप रश्मियां नितान्त अव्यक्तावस्था में विद्यमान होती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि काल की उत्पत्ति के समय ही साम्यावस्था में ही अक्षर रश्मियों का बीज रूप अव्यक्त रूप में प्रकट होता है, जो **'ओम्'** रश्मि के परारूप में संचरित होते ही व्यक्त हो जाता है। ये रश्मियां पूर्णतया कभी भी अविद्यमान नहीं होतीं, भले ही वह महाप्रलयावस्था क्यों न होवे। ये रश्मियां छन्द रूप धारण तभी करती हैं, जब वे शब्द रूप धारण कर लेती हैं। ये अक्षर रश्मियां दो प्रकार की होती हैं-

अक्षर रश्मियां

(१) स्वर- इस विषय में कहा है-

"स्वयं राजन्त इति स्वराः" (महाभाष्य अ.१/पा.२/सू.२६/आ.१- वर्णोच्चारण शिक्षा से उद्धृत)

ये लघु रश्मियां स्वयं प्रकाशित होती हैं परन्तु ये निरन्तर लम्बी दूरी तक गतिमान नहीं रह पातीं। प्रशान्त मनस्तत्व वा महत् तत्व के अन्दर ये अत्यन्त लघु कम्पन, जो सर्वाधिक सूक्ष्म होता है,

विद्यमान रहती हैं। ये अक्षर छन्द रश्मियों की भांति बल, गति वा प्रकाश का स्रोत नहीं होते किन्तु अन्य अक्षरों विशेषकर व्यंजन रश्मि के साथ मिलकर ही छन्द रूप धारण कर पाते हैं। ये व्यंजनों का वहन करने में समर्थ होते हैं। वस्तुतः महत् तत्व में स्वर रश्मियों को किसी भी प्रकार पृथक्-२ जाना नहीं जा सकता। स्वर के विषय में ऋषियों ने कहा है-

"स्वर वाङ्नाम" (निघं.१.११)
"प्रजापतिः स्वरः" (ष.३.७)
"अनन्तो वै स्वरः" (तां.१७.१२.३)

अर्थात् स्वर वाक् तत्व का ही अति सूक्ष्म अंशरूप है, जो परिमाण में अनन्त होता है और यही सभी प्रकार के रश्मि आदि पदार्थों का जनक व रक्षक होता है। वस्तुतः यह रश्मि स्वरूप व्यवहार को प्रकट नहीं करता। रश्मि रूप व्यवहार सर्वप्रथम **'ओम्'** छन्द रश्मि से प्रकट हो पाता है। स्वर रश्मियां वर्णों की भांति ह्रस्व, दीर्घ व प्लुत तीन प्रकार की होती हैं। ये क्रमशः उत्तरोत्तर दीर्घाकार होती जाती हैं। ये तीनों पुनः उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित तीन प्रकार की होती हैं अर्थात् ये क्रमशः तीव्र, मन्द एवं मध्यम शक्ति वाली होती हैं। इस प्रकार एक स्वर नौ प्रकार के रूपों में पाया जा सकता है। ये नौ स्वर भी सानुनासिक एवं निरनुनासिक भेद से क्रमशः बंधी हुई अपेक्षाकृत दुर्बल शक्ति व अधिक शक्ति वाले होते हैं। इस प्रकार एक स्वर रश्मि कुल अठारह भेद वाली हो सकती है।

(२) **व्यञ्जन-** इसके विषय में कहा गया है-

"अन्वग्भवति व्यञ्जनमिति" (म.अ.१/पा.२/सू.२९/आ.१- वर्णोच्चारण शिक्षा म.द.भाष्य से उद्धृत)

अर्थात् वे अव्यक्त सूक्ष्मतम अवयव भी प्रकृति रूप पुनः प्रायः महत्तत्व का ही रूप होते हैं, जो सदैव स्वरों पर आश्रित अर्थात् उन्हीं के साथ संयुक्त होकर गतिशील हो पाते हैं। महत् वा अहंकार में अकस्मात् सूक्ष्मतम स्फोट रूप में प्रकट व्यंजन, जो एक स्थान पर उत्पन्न होकर रह जाता है। वह किसी स्वररूपी सूक्ष्म कम्पन के साथ मिलने पर गति, बल व प्रकाश के अव्यक्त रूप से युक्त हो उठता है। यह स्वर के साथ मिलकर सूक्ष्म छन्द का रूप धारण कर लेता है। **'ओम्', 'भूः',** आदि छन्द रश्मियां इसके उदाहरण हैं।

अब हम विभिन्न अक्षरों के विषय में कुछ और तथ्यों को प्रकाशित करना चाहते हैं। **सभी वैदिक पद सार्थक होते हैं तथा प्रत्येक पद का उनके अर्थरूप पदार्थ से नित्य सम्बन्ध रहता है। जब प्रत्येक पद वा शब्द का उसके वाच्य किसी पदार्थ से नित्य सम्बन्ध है, तब उस पद के अवयवरूप अक्षर भी निरर्थक नहीं होते।** इस कारण प्रत्येक अक्षर का भी अपने अर्थरूप पदार्थ के साथ नित्य सम्बन्ध सिद्ध होता है। इस अक्षर विज्ञान को विस्तार से जानने हेतु पाठक आर्य विद्वान् पं. रघुनन्दन शर्मा कृत **"वैदिक सम्पत्ति"** नामक ग्रन्थ का स्वाध्याय करें, विस्तारभय से हम यहाँ उस विषय पर विस्तृत नहीं लिख सकते। इस ग्रन्थ से संस्कृत भाषा एवं देवनागरी लिपि का गम्भीर विज्ञान प्रकाशित हो सकेगा। हम पाठकों की जानकारी के लिए उसी ग्रन्थ से विभिन्न अक्षरों का अर्थ सार रूप में उद्धृत करते हैं-

अ- सब, पूर्ण, व्यापक, अव्यय, एक, अखण्ड, अभाव, शून्य।
इ- वाला (जैसे मकानवाला) गति, निकट।
ए- नहीं गति, गतिहीन, निश्चल, पूर्ण, अव्यय।
उ- ऊपर, दूर, वह, तथा और आदि।
ओ- अन्य नहीं, वही, दूसरा नहीं।
ऋ- सत्य, गति, बाहर।
लृ- सत्य, गति, भीतर।
०, ञ, न, ङ्, ७ं- नहीं, अभाव, शून्य।
:, ह- निश्चय, अन्त, अभाव, संकोच, निषेध।

क- बाँधना, बलवान्, बड़ा, प्रभावशाली, सुख।
ख- आकाश, पोल, खुला, छिद्र।
ग- गमन, हटना, स्थान छोड़ना, पृथक् होना।
घ- रुकावट, ठहराव, एकाग्रता।
च- फिर, पुनः, बाद, दूसरा, अन्य, भिन्न, अपूर्ण, अङ्गहीन, खण्ड।
छ- छाया, आच्छादन, छत्र, परिच्छद, अखण्ड आदि।
ज- पैदा होना, जन्म लेना, उत्पन्न होना, नूतनत्व, गति।
झ- नाश होना।
ट- मध्यम, साधारण, निर्बल, संकोच, इच्छाविरुद्ध।
ठ- निश्चय, प्रगल्भता, पूर्णता।
ड- क्रिया, प्रकृति, अचेतन, जड़।
ढ- निश्चित, निश्चल, धारित, चेतन।
त- तलभाग, नीचे, इधर, आधार, इस पार, किनारा, अन्तिम स्थान।
थ- ठहरना, आधेय, ऊपर, उधर, उस पार।
द- गति, देना, कम करना।
ध- न देना, धारण करना, रख लेना।
प- रक्षा।
फ- खोलना, खुलना।
ब- घुसना, समाना, छिपना।
भ- प्रकट, जाहिर, बाहर, प्रकाश।
य- पूर्ण गति, जो, भिन्न वस्तु।
र- देना, रमण करना।
ल- लेना, रमण करना।
व- अन्य, पूर्ण भिन्न, अथवा, गति, गन्ध।
ष- ज्ञान, **श-**प्रकाश, **स-**साथ, शब्द, वह।
क्ष- बन्ध ज्ञान, अज्ञान, निर्जीव, नाश, मृत्यु।
त्र- नीचे तक जाना, कुल देना, सब देना, कुल, सब, सर्व, समग्र।
ज्ञ- अजन्मा, नित्य, कर्म, ज्ञान।
ळ- वाणी।

(३) ओम्- इसमें 'अ', 'उ' दो स्वर तथा 'म्' व्यंजन का योग होता है। यद्यपि 'म्' व्यंजन 'अ' एवं 'उ' इन दो स्वरों के साथ पृथक्-२ संयुक्त होकर 'म' तथा 'अम्' एवं 'मु' तथा 'उम्' छन्द का निर्माण कर सकता है परन्तु 'अ+उ'='ओ' के साथ 'म्' संगत होकर जो 'ओम्' छन्द रश्मि उत्पन्न होती है, वह सर्वाधिक व्यापक बल व गति से सम्पन्न होती है। इसका प्रभाव 'म्+अ+उ'='मो' से भिन्न होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि महत्=अहंकार वा मनस्तत्व में जब कोई स्वररूप कम्पन उत्पन्न होता है, उसके तुरन्त पश्चात् व्यंजनरूपी कम्पन उत्पन्न होकर उस स्वर से संयुक्त होकर छन्द बनाता है, वह छन्द उस छन्द से अधिक शक्तिशाली एवं व्यापक होता है, जो छन्द पहले व्यंजन एवं उसके तुरन्त पश्चात् उत्पन्न स्वर व व्यंजन के साथ संयुक्त होने पर बनता है। इस कारण 'अम्', 'उम्' छन्द एवं 'ओम्' क्रमशः 'म', 'मु' तथा 'मो' की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होते हैं। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि **'ओम्' छन्द में मनस् तत्व वा महत्तत्व की मात्रा अन्य किसी भी दैवी गायत्री छन्द की अपेक्षा अधिक होने से इसकी व्यापकता सर्वाधिक होती है।** यद्यपि दीर्घ छन्दों में मनस्तत्व की मात्रा और भी अधिक होती है परन्तु वे कई सूक्ष्म छन्द रश्मियों का योग होते हैं, जबकि **'ओम्'** तीन अक्षरों का युग्म होकर भी एक दैवी गायत्री छन्द रश्मि का रूप होकर भी अक्षर रूप होती है। इस छन्द रश्मि का **'ओम्'** वाची ईश्वर तत्व से सर्वप्रथम एवं साक्षात् सम्बन्ध होने से भी यह सदैव ईश्वर तत्व द्वारा प्रेरित होती रहकर अन्य रश्मियों को प्रेरित करती रहती है।

इस छन्द के विषय में जैमिनि ऋषि का कथन है-

"एतद् (ओमिति) एवाक्षरं त्रयी विद्या" (जै.उ.१.४.४.१०)
"एतद्ध (ओमिति) वा इदं सर्वमक्षरम्" (जै.ब्रा.२.१०)
"ओमिति मनः" (जै.उ.१.२.२.२)
"रस ओङ्कारः" (जै.ब्रा.२.७८, ब्रा.उ.को. से उद्धृत)

इन वचनों से प्रमाणित है कि यह छन्द रश्मि सर्वाधिक सूक्ष्म परन्तु व्यापक होने से सम्पूर्ण मनस्तत्व में विद्यमान होती है। यह अन्य सभी रश्मियों का रस अर्थात् बीज रूप है। सभी प्राण एवं छन्द रश्मियां इसी से उत्पन्न व प्रेरित होती हैं। यह रश्मि मनस्तत्व को स्पन्दित करके सभी प्रकार के रश्मि आदि पदार्थों को उत्पन्न करती है। यही रश्मि सम्पूर्ण सृष्टि को उत्पन्न भी करती है, साथ ही बांधे भी रखती है। यह **दैवी छन्द रश्मि होते हुए भी अक्षर रूप है, यह इसका वैशिष्ट्य है।** इसके विषय में एक अन्य ऋषि ने बहुत सुन्दर लिखा है-

"ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति।
सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव।।" (माण्डू.उ.१)

इसका आशय यह है कि यह रश्मि **विशेष सक्रिय अवस्थारूप काल** की उत्पत्ति के पूर्व से ही ईश्वर तत्व में नितान्त अव्यक्त रूप से विद्यमान रहती है। सम्पूर्ण सृष्टि उसी का ही विस्तार वा रूप है। मानो यह सृष्टि उसी की महिमा को दर्शा रही है। यही वाक् तत्व का मूल रूप है। **मनस्तत्व में इसकी पश्यन्ती अवस्था विद्यमान रहती है, जबकि महत् वा काल में परा अवस्था में, यह भेद अवश्य है।** यद्यपि वाक् तत्व योषा रूप होता है तथा मन वृषा रूप होता है परन्तु हमारे मत में **'ओम्'** इस वाक् तत्व का परारूप मनस्तत्व के सापेक्ष वृषा रूप है, जो मनस्तत्व को बल प्रदान करके उसे सक्रिय रूप प्रदान करता है। इसके पश्चात् **'ओम्'** का पश्यन्ती रूप मनस्तत्व के सापेक्ष योषा रूप हो जाता है। पाठक इसके कार्यों के विषय में इस ग्रन्थ में अनेकत्र पढ़ेंगे।

अब हम इस अक्षर विज्ञान की दृष्टि से यह जानने का प्रयास करते हैं कि **'ओम्' रश्मि क्यों सर्वाधिक व्यापक व मूल रूप में बलवती होती है?** इस रश्मि में 'अ', 'उ' एवं 'म्' ये तीन अक्षर होते हैं। 'अ' अक्षर के अर्थ उपर्युक्तानुसार 'सब, पूर्ण, व्यापक, अव्यय, एक, अखण्ड, अभाव एवं शून्य हैं। 'उ' अक्षर के अर्थ हैं- दूर, ऊपर आदि। आप्टे संस्कृत-हिन्दी कोश में 'उ' का अर्थ ब्रह्मा दिया है तथा इसे अव्यय कहा है। 'मा' को मापने अर्थ में व्याकरणवित् जानते ही हैं। 'म' के उच्चारण में मुख बन्द हो जाता है, मानो 'म्' से सम्पूर्ण पद को बांध दिया जाता है। इस प्रकार सारांशतः 'अ+उ+म्=ओम्' का अर्थ प्रकट होता है-

महत् वा मनस्तत्व में उत्पन्न यह एक ऐसा स्पन्दन है, जो इतना सूक्ष्म होता है, मानो वह स्पन्दन ही न हो किंवा इसे ऐसी तरंग कह सकते हैं, जिसकी तरंगदैर्ध्य लगभग अनन्त हो, तब आवृत्ति लगभग शून्य हो। हमने यह बात वर्तमान विज्ञान की शैली में की है, वास्तविकता यह है कि इसे अभिव्यक्त करना ही असम्भव है, पुनरपि स्थूलरूपेण हमें ऐसा ही समझना चाहिये। इस प्रकार विज्ञान की भाषा में इसे अत्यन्त क्षीण शक्ति सम्पन्न अव्यक्त सूक्ष्मतम एवं सर्वप्रथम प्रकट ऊर्जा का रूप कह सकते हैं। इतना प्रभाव केवल 'अ' अक्षर का है। 'उ' के प्रभाव से यह रश्मि दूर-२ तक अकस्मात् प्रकट होती तथा सभी बलों, ऊर्जाओं के ऊपर सूक्ष्मतम रूप में अधिष्ठित होती है। इससे सूक्ष्म कोई शक्ति नहीं होती, क्योंकि इसका प्राकट्य स्वयं सर्वोच्च चेतन सत्ता ईश्वर तत्व, जिसे हम ऊर्जा आदि शब्दों के रूप में व्यक्त नहीं कर सकते, से होता है तथा यह निरन्तर उसी से सर्वत्र प्रकट होती रहती है, इस कारण यह भी ईश्वर की भांति सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, अव्यक्त एवं सर्वोच्च नियन्त्रक होती है। ध्यातव्य है कि सूक्ष्मतम ऊर्जा ही स्थूल ऊर्जा को नियन्त्रित कर सकती है। वस्तुतः यह सूक्ष्मतम ऊर्जा अपने अनन्त शक्तिसम्पन्न ईश्वर तत्व रूपी चेतन ऊर्जा से निरन्तर प्रेरित होती रहती है। 'म' के प्रभाव से यह रश्मि अन्य सभी रश्मियों को अपने साथ बांधने में सक्षम होकर सम्पूर्ण सृष्टि को बांधे वा मापे रखती है। इसके अभाव में सभी रश्मि वा कण आदि पदार्थ तत्काल ही बिखरकर महाप्रलय में परिणित हो जाएंगे। पं. रघुनन्दन शर्मा ने 'ओ' के अर्थ 'अन्य नहीं, वही, दूसरा नहीं' किये हैं, जो यहाँ भी पूर्णतः संगत हो रहे हैं। इसी कारण **'ओम्' ऐसी रश्मि है, जो सर्वदा अनुपमेय वा अद्वितीय ही बनी रहती है। यही ब्रह्म का अद्वैतपन कहाता है, कि उसके समकक्ष इस सृष्टि वा प्रलय में कोई**

पदार्थ विद्यमान नहीं होता। 'ओम्' यह वाचक रश्मि जिस पदार्थ को कहती है, वह अर्थ रूप अर्थात् वाच्य रूप ईश्वर पदार्थ मुख्यतः 'ओम्' ही कहाता है, इसी कारण ईश्वर का यही नाम मुख्य है, शेष नाम गौण है। इसकी चर्चा **महर्षि दयानन्द सरस्वती कृत सत्यार्थ प्रकाश** के प्रथम समुल्लास में विस्तार से की गई है। हाँ, वहाँ **'ओम्'** रश्मि की चर्चा नहीं है। विदित रहे कि **'ओम्'** रश्मियों को ऊर्जारूप कहने तथा उनकी आवृत्ति लगभग शून्य कहने से कोई पाठक यह कल्पना न कर ले कि **'ओम्'** रश्मियां वर्तमान विज्ञान द्वारा परिभाषित ऊर्जा के समान ही हैं। वस्तुतः उस समय प्रचलित ऊर्जा के ज्ञात गुणों का सर्वथा अभाव होता है। हमने ऊर्जा से तुलना करके केवल समझाने का प्रयास किया है कि ये रश्मियां सर्वोच्च नियन्त्रक व सबकी उत्पादक रूप में विद्यमान होती हैं। ध्यातव्य है कि **'ओम्'** रश्मियों की तीव्रता व आवृत्ति सदैव समान नहीं रहती। सर्वोच्च सत्ता ईश्वर तत्व सृष्टि के विभिन्न चरणों में प्रयोजनानुसार इन रश्मियों की आवृत्ति व तीव्रता का निर्धारण करता रहता है। यहाँ लगभग शून्य आवृत्ति कहने का आशय यही है कि ये रश्मियां ही सर्वोपरि व्याप्तिसम्पन्न होती हैं, पुनरपि तीव्रता में fluctuation बहुधा होता रहता है, आवृत्ति में अपेक्षाकृत कम होता है।

मूल छन्द रश्मियां

इन अक्षर रश्मियों की उत्पत्ति के उपरान्त निम्नलिखित प्राथमिक छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है-

(अ) व्याहृति रश्मियां

(१) भूः = 'ओम्' छन्द रश्मि के पश्यन्ती रूप की उत्पत्ति के तुरन्त पश्चात् इस व्याहृति रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसके विषय में ऋषियों ने कहा है-

"भूरिति वा ऋचः" (तै.आ.७.५.२; तै.उ.१.५.३)
"भूरिति वै प्रजापतिः। आत्मानमजनयत्" (श.२.१.४.१३)
"प्रजापतिर्यदग्रे व्याहरत् स भूरित्येव व्याहरत्। स इमाम् (पृथिवीं) असृजत" (जै.ब्रा.१.१०१)

इन वचनों से स्पष्ट है कि मनस्तत्व में सर्वप्रथम इसी व्याहृति रश्मि की उत्पत्ति होती है। सक्रिय मनस्तत्व में **'ओम्'** रश्मि के द्वारा स्पन्दन होने पर इस **'भूः'** रूप स्पन्दन (रश्मि) का प्राकट्य होता है। यह रश्मि प्रजापति रूप ही होती है, क्योंकि इसी के पश्चात् अन्य रश्मियां प्रकट होने लगती हैं। व्याहृति संज्ञक होने से यह रश्मि सम्पूर्ण मनस्तत्व में व्यापक रूप से सब ओर प्रकट होती है। जब कभी पृथिवी तत्व वा अप्रकाशित कणों की उत्पत्ति होती है, उनमें इस रश्मि की प्रधानता होती है। **'ऋक्'** संज्ञक छन्द रश्मियों, जिनकी चर्चा इस ग्रन्थ में अनेकत्र की गई है तथा इस अध्याय में भी हम आगे करेंगे, के अन्दर भी इसकी प्रधानता होती है किंवा **'ऋक्'** संज्ञक छन्द रश्मियों की उत्पत्ति में इस व्याहृति रूप रश्मि की विशेष भूमिका होती है। यह रश्मि पदार्थ के संघनन की प्रक्रिया को समृद्ध करने के गुण के कारण ही सूक्ष्मकणों को उत्पन्न करने में अपनी विशेष भूमिका निभा पाती है।

अब हम अक्षर विज्ञान की दृष्टि से इस रश्मि पर और विचार करते हैं-

यह रश्मि **'भूस्' = भ्+ऊ+स्, 'भूर्' = भ्+ऊ+र् तथा 'भूः' = भ्+ऊ+ः** इन तीनों रूपों में पृथक्-२ परिस्थितियों में पाई जा सकती है। पूर्वोक्त अक्षर विज्ञान के प्रकाश में इनका प्रभाव क्रमशः निम्नानुसार होता है-

(क) भूस्= यह दूर तक प्रकट व प्रकाशित होकर नाना रश्मियों को अपने साथ संगत करने में सक्षम होती है। यह उन रश्मियों के बाहर स्थित रह कर उन्हें अपने साथ संगत व प्रकाशित वा सक्रिय करने हेतु शक्ति प्रदान करती है। यह एतदर्थ उन्हें स्पन्दित करती रहती है।

(ख) भूर्= यह दूर तक प्रकट व प्रकाशित होकर नाना रश्मियों के साथ बाहर से संगत होकर व उन्हें प्रकाशित करके सर्वत्र रमण कराने में सहायक है। इस हेतु यह नाना रश्मियों को स्पन्दित करती है।

(ग) भूः = यह पूर्वोक्त प्रभाव दर्शाते हुए बाधक सूक्ष्म रश्मियों को निषिद्ध करके क्रियाओं को निर्बाध बनाती है।

इन तीनों ही रूपों के स्पन्दन न्यूनाधिक समान प्रभाव दर्शाते हैं। वैदिक छन्दों में नाना संधियों का भी अपना विशिष्ट वैज्ञानिक प्रभाव इस सृष्टि प्रक्रिया पर होता है, जिसे हमने यहाँ दर्शाया है।

(२) भुवः = 'भूः' के पश्चात् 'ओम्' रश्मि की प्रेरणा से मनस् तत्व में 'भुवः' छन्द रश्मियां उत्पन्न होने लगती हैं। इसके विषय में ऋषियों का कथन है-

"भुवर् इति यजूंषि" (काठ.संक.४७.५, ब्रा.उ.को. से उद्धृत)
"भुव इत्यन्तरिक्षम्" (तै.आ.७.५.१; तै.उ.१.५.१)
"भुव इति प्रजाम्" (प्रजापतिरजनयत) (श.२.१.४.१२)

इन वचनों से सिद्ध होता है कि ये रश्मियां 'भूः' रश्मियों की प्रजारूप हैं अर्थात् मनस्तत्व में 'भूः' रूप स्पन्दनों को 'ओम्' रश्मि विकृत करके 'भुवः' रश्मियों को प्रकट करती हैं। कालान्तर में ये रश्मियां आकाश (emptiness), space तथा यजुः संज्ञक रश्मियों को उत्पन्न करने में सर्वोपरि भूमिका निभाती हैं। हम space एवं यजुः संज्ञक रश्मियों की चर्चा आगे करेंगे। space नामक पदार्थ विशेष के निर्माण के साथ-२ ये रश्मियां पदार्थ को बिखेरने में सहायक होती हैं, जिससे अवकाश रूप आकाश में महाभूत आकाश तत्व (space) प्रकट होने लगता है।

अब इस रश्मि पर पूर्वोक्त अक्षर विज्ञान की दृष्टि से विचार करते हैं-

यह रश्मि 'भुवः' भ्+उ+व्+अ+स्, भ्+उ+व्+अ+र् एवं भ्+उ+व्+अ+ः इन तीन रूपों में विद्यमान हो सकती है। इनका स्वरूप क्रमशः निम्नानुसार है-

(क) भुवस्= भ्+उ+व्+अ+स्। यह भी दूर-२ तक प्रकट व प्रकाशित होकर अन्य रश्मियों के साथ बाहर से संगत होकर सक्रिय करती है। इस पूर्व रश्मि 'भूस्' से भिन्न किंवा विपरीत गति युक्त होती है। कदाचित् इसकी गति 'भूस' की अपेक्षा कुछ अधिक होती है। यह भी सर्वत्र व्याप्त होती है।

(ख) भुवर्= भ्+उ+व्+अ+र्। इसका प्रभाव 'भुवस्' के लगभग समान परन्तु कुछ अधिक रमणशील होता है।

(ग) भुवः = भ्+उ+व+अ+ः। इसका प्रभाव लगभग उपर्युक्तवत् है परन्तु बाधक सूक्ष्म रश्मियों को निषिद्ध करना इसका अतिरिक्त गुण है।

सारांशतः ये तीनों नाना परिस्थितियों में प्रकट होती हैं परन्तु इनका मूल प्रभाव समान ही होता है।

(३) स्वः = अन्त में तीसरी व्याहृति 'स्वः' छन्द रश्मि उत्पन्न होती है। इसके विषय में ऋषियों का कथन है-

"स्वरिति सामानि" (काठ.संक.४७.६ - ब्रा.उ.को. से उद्धृत)
"स्वः स्वर्गोलोकोऽभवत्" (ष.१.५)
"सुवरित्यसौ (द्यु) लोकः" (तै.आ.७.५.१; तै.उ.१.५.१)
"अन्तो वै स्वः" (ऐ.५.२०)

इन वचनों से स्पष्ट है कि तीनों व्याहृति रश्मियों में ये अन्त में उत्पन्न होती है। 'ओम्' रश्मि के द्वारा मनस्तत्व में 'स्वः' रश्मि रूप स्पन्दन उत्पन्न होते हैं। कालान्तर में क्वाण्टाज् के निर्माण में इन रश्मियों की महती भूमिका होती है। इसके साथ ही 'साम' संज्ञक छन्द रश्मियों की उत्पत्ति में भी इनकी विशेष भूमिका होती है। 'साम' रश्मियों एवं क्वाण्टाज् के विषय में चर्चा आगे की जाएगी।

अब पूर्वोक्त अक्षर विज्ञान की दृष्टि से इस पर विचार करते हैं। यह रश्मि स्वः **स्+व्+अ+स्, स्+व्+अ+र् एवं स्+व्+अ+ः** इन तीनों रूपों में विद्यमान हो सकती है। इनका स्वरूप क्रमशः निम्नानुसार है-

(क) स्वस्= स्+व्+अ+स्। यह पूर्वोक्त दोनों **'भूः'** एवं **'भुवः'** रश्मियों को अपने साथ एक साथ संगत करती हुई उनमें गतिशील रहती है और ऐसा करके तीनों रश्मियां **'भूः', 'भुवः'** एवं **'स्वः'** विभिन्न छन्दादि रश्मियों के साथ संगत होकर उन्हें संगत व शक्तिशाली बनाती हैं।

(ख) स्वर्= स्+व्+अ+र्। इसका प्रभाव भी उपर्युक्तवत् परन्तु गति में कुछ वृद्धि।

(ग) स्वः = स्+व्+अ+ः। प्रभाव पूर्ववत् समझें परन्तु बाधक सूक्ष्म रश्मियों के निषेध का सामर्थ्य विशिष्ट है।

सारांशतः इन तीनों का प्रभाव एक ही होता है। नाना परिस्थिति वा संधियों में इनके ये रूप एक-दूसरे में परिवर्तित होते रहते हैं। **यह वैदिक भाषा का एक आश्चर्यतम विशिष्ट विज्ञान है।** तीनों व्याहृति रूपी रश्मियों के क्रिया विज्ञान के विषय में खण्ड **८.७** विशेष रूप से पठनीय है।

इन तीनों व्याहृति रश्मियों को **देवपत्नी** भी कहा जाता है। इस ग्रन्थ में अनेकत्र देव पदार्थों, विभिन्न छन्दादि रश्मियों की रक्षिका शक्तियों के रूप में इनका व्यवहार पाठक जान सकते हैं। **महर्षि ऐतरेय महीदास** का कथन है-

"एतानि ह वै वेदानामन्तःश्लेषणानि यदेता व्याहृतयः....." (ऐ.५.३२)

अर्थात् ये रश्मियां विभिन्न वेद-ऋचाओं रूपी छन्द रश्मियों को परस्पर जोड़ने व सुरक्षित रूप प्रदान करने में सहायक होती हैं। इस विषय में विस्तार से जानने हेतु पाठक इस ग्रन्थ में खण्ड **५.३२** को ध्यान से पढ़ें। इनके बिना विभिन्न छन्द रश्मियां और उनसे निर्मित विभिन्न कण, तरंगें वा space आदि सभी निर्बल वा नष्ट हो जाएंगे।

यद्यपि इन तीन रश्मियों को ही मुख्य व्याहृतियों के रूप में जाना जाता है पुनरपि हम चार अन्य व्याहृतियों की भी चर्चा प्रसंगतः करते हैं। हम पूर्व में काल तत्त्व के विवेचन में इनकी चर्चा काल के सप्तरश्मि विशेषण की व्याख्या में कर चुके हैं, इस कारण शेष चार व्याहृतियों की विवेचना आवश्यक प्रतीत होती है। वे रश्मियां निम्न प्रकार हैं-

(अ) महः = इसके विषय में ऋषियों का कथन है-

"मह इति। तद् ब्रह्म। स आत्मा.... मह इत्यन्नम्" (तै.उ.१.५.१-३)
"यज्ञो वै देवानां महः" (श.१.६.१.११)

इन वचनों से स्पष्ट है कि यह सूक्ष्म रश्मि अन्य व्याहृति रश्मियों में व्याप्त होकर विचरती रहती है, इसके साथ ही यह अन्य व्याहृति रश्मियों को परस्पर संयुक्त करने में अपनी भूमिका निभाती है। अब अक्षर विज्ञान की दृष्टि से इस पर विचार करते हैं-

यह महः रश्मि म्+अ+ह्+अ+स्, म्+अ+ह्+अ+र् एवं म्+अ+ह्+अ+ः, इन तीन रूपों में विद्यमान हो सकती है। इनका स्वरूप वा प्रभाव निम्नानुसार है-

(क) महस् = म्+अ+ह्+अ+स्। यह रश्मि अन्य व्याहृति रश्मियों को सर्वतः पूर्ण रूप से मापती हुई उन्हें साथ-२ संगत व संकुचित करती हुई उनमें विचरण करती है।

(ख) महर् = म्+अ+ह्+अ+र्। यह अन्य व्याहृति रश्मियों को व्यापक रूप से मापती एवं सम्पीडित करती हुई दूर-२ रमण करती है।

(ग) महः = म्+अ+ह्+अ+ः। उपर्युक्त प्रभाव के साथ-२ बाधक रश्मियों को प्रतिबन्धित करने में सहयोग करती है।

इस प्रकार इस व्याहृति के तीनों रूप लगभग समान प्रभाव दर्शाते हुए अन्य रश्मियों को समृद्ध वा व्यापक बनाते हैं।

(ब) जनः = इसके विषय में ऋषियों का कथन है-

> **"अन्तो वा एषा ऋद्धीनां यज्जनः" (मै.२.२.६)**
> **"जनः वा एतद्यज्ञस्य गच्छति यत् स्कन्दति" (मै.१.४.६)**

इन वचनों से स्पष्ट है कि ये रश्मियां अन्य व्याहृति रश्मियों की समृद्धि की पूर्णता को प्राप्त कराके सम्पूर्ण संगमनीय पदार्थ किंवा व्याहृति तथा अन्य रश्मियों में व्याप्त होकर गमन करती हुई उनका अवशोषण करती रहती है।

अब अक्षर विज्ञान की दृष्टि से इस पर विचार करते हैं-

यह रश्मि ज्+अ+न्+अ+स्, ज्+अ+न्+अ+र् एवं ज्+अ+न्+अ+ः, इन तीनों रूपों में प्राप्त होती है। इनका प्रभाव निम्नानुसार है-

(क) जनस् = ज्+अ+न्+अ+स् = यह रश्मि अन्य रश्मियों में सर्वतः प्रकट होकर उन्हें संगत करके अन्य छन्द रश्मियों को उत्पन्न करती है।

(ख) ज्+अ+न्+अ+र् = यह रश्मि लगभग पूर्वोक्तवत् प्रभाव दर्शाती परन्तु विशेष रमणशील होती है, इसके साथ ही यह अन्य रश्मियों में विशेष उत्पादकता गुण प्रदान करती है।

(ग) ज्+अ+न्+अ+ः = यह रश्मि लगभग पूर्वोक्तवत् प्रभाव दर्शाती हुई बाधक रश्मियों को प्रतिबन्धित करने में विशेष समर्थ होती है।

इस प्रकार इन तीनों रश्मियों का प्रभाव लगभग समान होता है। इनसे छन्द रश्मियों की उत्पत्ति प्रक्रिया विशेष समृद्ध होती है।

(स) तपः = इसके विषय में ऋषियों का कथन है-

> **"तपः स्विष्टकृत्" (श.११.२.७.१८)**
> **"ब्रह्म तपसि (प्रतिष्ठितम्)" (गो.उ.३.२)**
> **"मनो वाव तपः" (जै.ब्रा.३.३३४)**

इन वचनों से प्रकट है कि ये रश्मियां मनस्तत्व से विशेष समृद्ध होतीं तथा विभिन्न संगमन कर्मों को अच्छी प्रकार सम्पादित करने में समर्थ होती हैं। इन रश्मियों के अन्दर 'महः' रश्मियां प्रतिष्ठित होकर अधिक क्रियाशील होती हैं।

अक्षर विज्ञान की दृष्टि से इसके तीनों रूपों पर निम्नानुसार विचार करते हैं-

(क) तपस् = त्+अ+प्+अ+स्। यह रश्मि अन्य व्याहृति रश्मियों के पृष्ठ भाग किंवा किनारों पर स्थित होकर उनमें बहिर्भागों में व्याप्त वा संगत होकर उनकी रक्षा करती है।

(ख) तपर् = त्+अ+प्+अ+र्। यह पूर्वोक्त प्रभाव से युक्त होकर विशेष सक्रिय होती है।

(ग) तपः = त्+अ+प्+अ+:। यह भी पूर्वोक्त प्रभाव के साथ-२ बाधक रश्मियों को विशेष रूप से प्रतिबन्धित करती है।

इस प्रकार ये तीनों रश्मियां लगभग समान प्रभाव दर्शाती हुई अन्य रश्मियों को अधिक सक्रिय समर्थ बनाती हैं।

(द) सत्यम् = यह सातवीं तथा अन्तिम व्याहृति रश्मि है। इसके विषय में ऋषियों का मत है-

"आपः सत्ये (प्रतिष्ठिताः)" (ऐ.३.६; गो.उ.३.२)
"सत्यं वै सुकृतस्य लोकः" (तै.ब्रा.३.३.६.११)
"सत्येनैव जयति" (मै.४.३.८)

इन वचनों से सिद्ध होता है कि यह रश्मि अन्य रश्मियों का सुगमता व सुष्ठुरीत्या धारण करने एवं उन्हें नियन्त्रित करने में सहायक होती है। इस रश्मि के द्वारा ही प्राणापानादि रश्मियों को धारण किया जाता है।

इनका अक्षर विज्ञान इस प्रकार प्रकट होता है-

सत्यम् = स्+अ+त्+य्+अ+म्। यह रश्मि सभी रश्मियों के साथ संगत व पूर्ण व्याप्त होकर उन्हें आधार प्रदान करती हुई उनके बहिर्भागों में स्थित होती है। इसके साथ ही उन्हें पूर्ण गति प्रदान करती हुई मापती है।

अन्य दो सूक्ष्म रश्मियां

इन व्याहृति रश्मियों के पश्चात् लगभग उसी स्तर की दो अन्य छन्द रश्मियां और उत्पन्न होती हैं-

(१) हिम्ः- ये सूक्ष्म रश्मियां दैवी गायत्री रूप ही होती हैं, इस कारण इनका प्रभाव व्याहृति रश्मियों की भांति सूक्ष्म तेज व बल से युक्त ही होता है। ये रश्मियां प्रायः विभिन्न छन्द रश्मियों को परस्पर जोड़े रखने में सहायक होती हैं। इसका उदाहरण पाठक इस ग्रन्थ के खण्ड **४.१२** एवं **४.२६** में देख सकते हैं। इनके विषय में ऋषियों का कथन है-

"वृषा हिङ्कारः" (गो.पू.३.२३)
"एष वै स्तोमस्य योगो यद्धिङ्कारः" (तां.६.८.६)
"वज्रो वै हिङ्कारः" (कौ.ब्रा.३.२)
"स (प्रजापतिः) मन एव हिङ्कारमकरोत्" (जै.उ.१.३.३.५)
"रश्मय एव हिङ्कारः" (जै.उ.१.११.१.६)

इन वचनों से सिद्ध होता है कि **'हिम्'** रश्मियां वृषा रूप होकर विभिन्न छन्द रश्मियों के मध्य स्थित होकर उन्हें बल प्रदान कर संगत रखने में सहायक होती हैं। ये रश्मियां प्रजापति रूप मनस्तत्व से **'ओम्'** रश्मि की प्रेरणा द्वारा उत्पन्न होती हैं। ये रश्मियां वज्र रूप होकर दो छन्द रश्मियों के मध्य किसी अनिष्ट रश्मि का प्रवेश होने से रोकती हैं, जिससे उन संयोज्य छन्द रश्मियों के बन्धन दृढ़ होते वा बने रहते हैं।

अब इसके अक्षर वैज्ञानिक स्वरूप पर विचार करते हैं-

यह रश्मि हिम् **'ह्+इ+म्'** का रूप है। यह रश्मि विभिन्न छन्द रश्मियों के मध्य अति निकट से स्थित होकर कम्पन करती हुई किसी भी बाधक रश्मि को वहाँ आने से प्रतिबन्धित करती है। इस कारण वे छन्द रश्मियां परस्पर निर्बाध रूप से संगत व सुदृढ़ बनी रहती हैं।

(२) घृम्= ये सूक्ष्म रश्मियां भी उपर्युक्तवत् दैवी गायत्री छन्द का ही रूप होती हैं। ये सूक्ष्म रश्मियां इस सृष्टि में नाना पदार्थों को सींचती हुई घृत रूप को उत्पन्न करती हैं। **'घृतम्'** के विषय में ऋषियों का कथन है-

"तेजो वा एतत् पशूनां यद् घृतम्" (ऐ.८.२०)
"तेजो वै घृतम्" (तै.सं.२.२.६.४; मै.१.६.८)
"यदध्रियत (ध्रियत्-मै.) तद् घृतम्" (तै.सं.२.३.१०.१; मै.२.३.४)
"घृतमन्तरिक्षस्य (रूपम्) (श.७.५.१.३)
"वज्रो घृतम्" (काठ.२०.५)
"घृङ्ङकरोत् तद् घृतस्य घृतत्वम्" (काठ.२४.७)

ध्यातव्य है कि यहाँ **'पशुः'** का अर्थ छन्द व मरुद् रश्मियां ग्रहण करना चाहिए। ये **'घृम्'** रश्मियां **'हिम्'** रश्मियों की भांति वज्ररूप तेजस्विनी होकर विभिन्न रश्मि आदि पदार्थों को अपनी तेजस्विता से तेजयुक्त करके बाधक रश्मि आदि पदार्थों को नष्ट वा नियन्त्रित करती हैं। कालान्तर में उत्पन्न आकाश तत्व (space) में इन रश्मियों की प्रचुरता रहती है, जिसके कारण space में विद्यमान विभिन्न छन्दादि रश्मियां अधिक तेजयुक्त होकर space को भी अव्यक्त तेज से युक्त करती हैं। नाना प्रकार के पदार्थ इन रश्मियों को धारण करके अपेक्षाकृत अधिक तेज व बल से युक्त होने लगते हैं अर्थात् ये रश्मियां उनके तेज-बलों की समृद्धि करती हैं। ये रश्मियां सभी रश्मि आदि पदार्थों को सींचती रहती हैं।

अब इस पर पूर्वोक्त अक्षर विज्ञान की दृष्टि से विचार करते हैं। यह **'घृम्'** रश्मि **घ्+ऋ+म्** का रूप है। यह रश्मि विभिन्न रश्मि वा कण आदि पदार्थों के ऊपर बाहरी भाग में एकाग्रता से अपनी वृष्टि करके उनमें सत्य **{सत्यम्= सत्यं ब्रह्म (श.१४.८.५.१), प्राणा वै सत्यम् (श.१४.५.१.२३), सत्यं वै हिरण्यम् (गो.उ.३.१७)।}** का निरन्तर संचरण होने में सहायक होती हैं अर्थात् वे रश्मि व कण आदि पदार्थ नाना प्राण रश्मियों से युक्त होकर व्यापक रूप से तेजस्वी होने लगते हैं। यह रश्मि होने वाली क्रियाओं को विशेष रूप से उत्प्रेरित करने का कार्य करती है।

(ब) प्राथमिक प्राण रश्मियां

उपर्युक्त सूक्ष्म रश्मियों के पश्चात् प्राथमिक प्राण रश्मियों की उत्पत्ति होती है। इनके विषय में **महर्षि याज्ञवल्क्य** ने कहा है-

"अध्रुवं वै तद्यत्प्राणः" (श.१०.२.६.१६)

अर्थात् सभी प्राण रश्मियां कभी स्थिर नहीं रहतीं अर्थात् सतत गमन करती रहती हैं। सभी प्राण रश्मियां छन्द रश्मियों के सापेक्ष वृषा रूप होकर उनके साथ संगत होकर उन्हें प्रेरित करती हैं। सभी प्राण रश्मियां अक्षरों का ही समुदाय होती हैं, एतदर्थ देखें खण्ड **२.२६**। प्राण तत्व, जिसमें सभी प्राथमिक प्राण रश्मियां समाहित हैं, के विषय में ऋषियों का कथन है-

"मनसा हि प्राणो धृतः" (काठ.२७.१; क.४२.१)
"मनो वा अनु प्राणाः" (जै.ब्रा.१.१६)
"मनो वै प्राणानामधिपतिर्मनसि हि सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिताः" (श.१४.३.२.३)
"एषा हीदं देवता सर्वं प्राणयत। तद् यत् प्राणयत तस्मात्प्राणः" (जै.ब्रा.३.३७७)
"तस्मात् सर्वे प्राणा वाचि प्रतिष्ठिताः" (श.१२.८.२.२५)
"प्राण एव रज्जुः। प्राणेन हि मनश्च वाक् चाभिहिते" (काश.३.१.४.२ - ब्रा.उ.को. से उद्धृत)
"प्राणा रश्मयः" (तै.ब्रा.३.२.५.२)
"वाक् प्राणेन संहिता" (ऐ.आ.३.१.६)
"वाक् च वै प्राणश्च मिथुनम्" (श.१.४.१.२)

इन वचनों से स्पष्ट होता है कि प्राण तत्व, जो रश्मि रूप होता है, मनस्तत्व एवं **'ओम्'** रश्मियों के मेल से ही प्रकट होता है। यह मनस्तत्व का ही विकार है और उसी के द्वारा धारण किया जाता तथा उसी का अनुगमन करता है। **'ओम्'** रश्मियों का पश्यन्ती रूप सदैव विचरण करता हुआ इस प्राण तत्व को अपने में प्रतिष्ठित किये रहता है। ये प्राण रश्मियां रस्सी के समान मन एवं वाक् तत्व के मध्य स्पन्दित होती रहती हैं तथा वाक् तत्व (**'ओम्'** रश्मि एवं अन्य मरुद् वा छन्द रश्मियां) के साथ सदैव मिथुन बनाये रखती हैं। **'ओम्'** रश्मियों के अतिरिक्त अन्य छन्दादि रश्मियां योषा तथा प्राण रश्मियां वृषा का कार्य करती हैं। प्राण तत्व के विषय में **महर्षि व्यास** कहते हैं-

"सप्त गतेर्विशेषितत्वाच्च" (ब्र.सू.२.४.५)
"ज्योतिराद्यधिष्ठानम्" (ब्र.सू.२.४.१४)

अर्थात् सात प्रकार की गतियों के कारण प्राण सात प्रकार के होते हैं। हमारे मत में यहाँ प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, सूत्रात्मा वायु एवं धनंजय की ही चर्चा की गई है। ये मुख्य प्राण हैं। इससे हम यह सिद्ध करना चाहते हैं कि प्राण तत्व एक ही है परन्तु उसकी नाना प्रकार की गतियों के कारण नाना भेद हो जाते हैं। ये सभी प्राण रश्मियां प्रकाश, बल आदि गुणों का अधिष्ठान होती हैं। शास्त्रों में अनेकत्र प्राण, अपान एवं व्यान को तीन मुख्य प्राण माना गया है। प्राण रश्मियों के विषय में खण्ड **१.११, ४.३, ४.२३** एवं **५.३१** पठनीय हैं। इनकी उत्पत्ति के विषय में खण्ड **२.२६** द्रष्टव्य है। वस्तुतः ये रश्मियां ग्यारह प्रकार की होती हैं। मनस्तत्व वा अहंकार में **'ओम्'** रश्मि द्वारा उत्पन्न स्पन्दनों की तीव्रता, गति एवं स्वभाव आदि के भेद से एक प्राण तत्व के ही ये ग्यारह रूप हैं।

(१) सूत्रात्मा वायु= महर्षि दयानन्द ने अपने यजुर्वेद **१७.३२** के भाष्य में **'गन्धर्व'** शब्द से सूत्रात्मा वायु का ग्रहण किया है तथा उसकी उत्पत्ति सभी अन्य दस प्राण रश्मियों से पूर्व होती है, ऐसा लिखा है। इसे उन्होंने अपने **ऋ.भा.६.२१.६** तथा **यजु.भा.२७.२५** के भावार्थ में **'सर्वधरम्'** तथा **ऋ.भा.५.४६.३** में **'पालकम्'** विशेषणों से युक्त माना है। हमारे मत में अनेक आर्ष ग्रन्थों में **'आत्मा'** पद से सूत्रात्मा वायु का भी ग्रहण करना योग्य है, क्योंकि यह वायु अन्य सभी प्राण वा छन्दादि रश्मियों में निरन्तर गमन करता रहता है। इस विषय में कहा गया है-

"आत्मा वै देवयजनम्" (मै.३.८.४; क.३८.६)
"आत्मा यजमानः" (कौ.ब्रा.१७.७; तै.आ.१०.६४.१)

इन वचनों से संकेत मिलता है कि सूत्रात्मा वायु रश्मियां विभिन्न प्राण रश्मियों रूपी देवों को परस्पर संगत करने के विशेष गुण से युक्त होती हैं। **'ओम्'** रश्मि के पश्चात् सम्पूर्ण सृष्टि को बांधने में सर्वोच्च भूमिका सूत्रात्मा वायु रश्मियों की ही होती है। हाँ, **'हिम्'** रश्मि अवश्य दो छन्द रश्मियों को परस्पर संगत करने में भूमिका निभाती है। **'ओम्'** रश्मि सूत्रात्मा वायु रश्मियों में व्याप्त होकर ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को बांधती व नियन्त्रित करती है। **'ओम्'** रश्मियों के पश्चात् सर्वाधिक व्यापकता व संयोजकता इन्हीं की होती है।

इसके नाम से ही स्पष्ट होता है कि ये रश्मियां सूत्रवत् सभी पदार्थों में विचरण करती हुई उन्हें बांधती व संगत करती हैं। मनस्तत्व के अन्दर **'ओम्'** रश्मि के द्वारा ये ऐसे अव्यक्त स्पन्दनों के रूप में प्रकट होती हैं, जो परस्पर एक-दूसरे के साथ जाल के समान बुने रहते हैं। इसीलिए ग्रन्थकार का कथन है-

"आत्मा वै समस्तः" (ऐ.२.४०)

अर्थात् सूत्रात्मा वायु रश्मियां परस्पर मिश्रित के समान प्रकट होकर विभिन्न पदार्थों में व्याप्त होती हुई उन्हें परस्पर मिश्रित करती हैं। इस ग्रन्थ के खण्ड **२.६, ३.३०, ३.३५, ४.२३, ५.१-२, ५.४-५** में सूत्रात्मा के गुण व कर्मों के विषय में पाठक विस्तार से पढ़ सकते हैं। खण्ड **३.३८** में एक वेद मन्त्र के प्रभाव को दर्शाते हुए कहा गया है- **"तन्तु तन्वन्"** यहाँ सूत्रात्मा वायु को एक धागे से उपमा दी गई है, जो सभी कण वा रश्मियों को एक-दूसरे के साथ बुने हुए रहता है। पाठक खण्ड **५.८** में पढ़ सकते हैं कि सूत्रात्मा वायु रश्मियां कम्पन करती हुई अपनी क्रियाओं को सम्पादित करती हैं।

खण्ड **५.१३** में दर्शाया है कि जब सूत्रात्मा वायु रश्मियों का धनंजय रश्मियों से मेल होता है, तब सूत्रात्मा वायु रश्मियों की तीव्रता बहुत बढ़ जाती है, इसके साथ ही विभिन्न तरंगों की superposition का कारण भी ये रश्मियां ही होती हैं। खण्ड **५.२५** में बतलाया है कि सभी बलों के पीछे इन रश्मियों की भूमिका भी अनिवार्य होती है। **ये रश्मियां इस प्रकार उत्पन्न होती हैं कि हर रश्मि में से और भी सूक्ष्म रश्मियां उत्सर्जित होकर एक जाल बनाती हैं, इसी कारण सूत्रात्मा वायु रश्मियां अपनी सूक्ष्म शाखा-प्रशाखा रूप सूक्ष्म रश्मि=स्पन्दनों के द्वारा ही अन्य सभी रश्मि आदि पदार्थों को अपने साथ तथा परस्पर बांधे रखती हैं। इनका सम्बन्ध space के साथ अनिवार्य एवं अतिनिकट होता है।** ये किसी पदार्थ को आकार प्रदान करने में भी अनिवार्य भूमिका निभाती हैं। इनकी प्रधानता के प्रभाव हेतु खण्ड **५.६-१०** देखें।

(२) **धनंजय=** मनस्तत्व में **'ओम्'** रश्मियों के द्वारा सूक्ष्म स्पन्दन के रूप में उत्पन्न यह रश्मि सूत्रात्मा वायु के पश्चात् प्रथम स्थान रखती है अर्थात् इसकी उत्पत्ति सूत्रात्मा वायु के तुरन्त पश्चात् होती है। ये रश्मियां मनस्तत्व में सर्वाधिक तीव्र गति वाले स्पन्दनों के रूप में उत्पन्न होती हैं तथा ये सूत्रात्मा वायु रश्मियों को भी स्पन्दित करके प्रायः उनमें मिश्रित सी हो जाती हैं किन्तु कहीं-२ ये कुछ पृथक्पन के साथ ही अतितीव्रता से गमन करती हैं। धनंजय रश्मियों की प्रधानता के प्रभाव को खण्ड **५.२०-२१** में दर्शाया गया है, पाठक वहाँ देख सकते हैं।

इन प्राण रश्मियों की गति प्रकाश की गति की अपेक्षा चार गुनी अर्थात् लगभग बारह लाख किमी प्रति सेकण्ड होती है। इस समूचे ब्रह्माण्ड में इससे अधिक किसी भी पदार्थ की गति नहीं होती। इन रश्मियों के संयोग वा आच्छादन से किसी भी रश्मि वा कण आदि पदार्थ की गति तीव्र हो जाती है। **प्रकाश वा कोई भी विद्युत् चुम्बकीय तरंगें इन धनंजय रश्मियों के द्वारा ही खींच कर लाई जाती हैं, इसी कारण उनकी गति व शक्ति तीव्र होती है।** इस विषय में विशेष ज्ञानार्थ इस ग्रन्थ के खण्ड **२.२५, ३.३०, ५.१३, ५.१८** का अध्ययन करें। ये रश्मियां सूत्रात्मा वायु रश्मियों के साथ मिश्रित होकर विभिन्न कण वा तरंगों के मध्य कार्यरत बलों की तीव्रता बढ़ाती है परन्तु सूत्रात्मा वायु के योग से धनंजय रश्मियों की गति में कुछ न्यूनता आ जाती है। इस विषय में खण्ड **५.२** देखें। ये रश्मियां जहाँ विद्युत् चुम्बकीय तरंगों एवं तीव्रगामी सूक्ष्म कणों की गति का कारण होती हैं, **सूत्रात्मा वायु के साथ मिलकर कणों के अक्ष पर घूर्णन का भी कारण होती हैं।**

इन रश्मियों का **'धनंजय'** नाम इस बात का सूचक है कि ये रश्मियां नाना प्रकार धन रूपी कणों को नियन्त्रित करने में अपनी भूमिका निभाती हैं। **'धनम्'** के विषय में ग्रन्थकार का कथन है-

"राष्ट्राणि वै धनानि" (ऐ.८.२६)

अर्थात् तारों के केन्द्रीय भाग में संलयनीय कणों को ही **'धन'** कहते हैं। इन कणों के नियन्त्रण में धनंजय रश्मियों की भी भूमिका होती है। **'धन'** के विषय में अन्य ऋषियों का कथन है-

"धनम् धिनोतीति सतः" (नि.३.६)
"वस्तुमात्रम्" (म.द.य.भा.४०.१)

यहाँ **महर्षि दयानन्द** ने वस्तुमात्र को धन कहा है। **महर्षि यास्क** के निर्वचन में **'धिनोति'** पद **'धिवि प्रीणनार्थ'** धातु से निष्पन्न है। इसके अर्थ हैं- **सन्तुष्ट होना वा करना, समीप जाना वा आना (सं.धा.को. - पं. युधिष्ठिर मीमांसक)**। इसका तात्पर्य है कि **'धन'** उन कणों वा रश्मियों को कह सकते हैं, जो सभी प्रकार के कणों वा तरंगों के निकट जाकर किंवा उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करके उन्हें तृप्त करने में सहायक होती हैं अर्थात् उन कणों वा तरंगों को उनके अभीष्ट कार्य में समुचित बल प्रदान करके सहयोग करती हैं। यहाँ हमारे मत में व्यान रश्मियां ही धनवाची मानी जा सकती हैं। धनंजय रश्मियों को इन व्यान रश्मियों की उपप्राण माना जाता है, इस कारण यह स्पष्ट है कि व्यान रश्मियों के निकट रहकर उन्हें प्रत्येक क्रिया में सहयोग-बल प्रदान करती हैं। यहाँ **'धन'** शब्द से **'ओम्'** रश्मियों का भी ग्रहण कर सकते हैं, जिससे संकेत मिलता है कि जब **'ओम्'** रश्मियां निकटता से मन को स्पन्दित करती हैं, तब धनंजय रश्मियां उत्पन्न होती हैं। इससे स्पष्ट है कि इस सृष्टि में सर्वत्र इन रश्मियों की भूमिका रहती है।

(३) **प्राण=** सभी प्राथमिक प्राणों में इन प्राण रश्मियों का सर्वोच्च स्थान माना जाता है। यह बात इसके नाम से भी सिद्ध होती है कि इसके नाम से ही सभी प्रकार की प्राण रश्मियों का ग्रहण किया जाता है। जब मनस् तत्व में **'ओम्'** छन्द रश्मियां प्रकृष्ट वेग व बल से गमन करती हैं, तब इससे मनस्तत्व में स्पन्दन के रूप में उत्पन्न रश्मियां **'प्राण'** कहलाती हैं। इसमें **'प्र'** उपसर्ग विद्यमान है, इस उपसर्ग के विषय में ऋषियों का कथन है-

"आ इत्यर्वागर्थे, प्र परेत्येतस्य प्रातिलोम्यम्" (नि.१.३)
"अन्तरिक्षं वै प्र" (ऐ.२.४१)
"प्राणो वै प्र" (ऐ.२.४०)

इन वचनों से यह स्पष्ट होता है कि **'आ'** उपसर्ग के निकट अर्थ के विपरीत, जब मनस्तत्व में **'ओम्'** रश्मियां दूर-२ स्पन्दन उत्पन्न करती हैं, तब प्राण नामक प्राथमिक प्राण रश्मियों की उत्पत्ति होती है। इन प्राण रश्मियों से आकाश तत्व सामर्थ्यवान् होता है अर्थात् ये रश्मियां किसी कण वा रश्मि को प्राण तत्व किंवा बल प्रदान करके आकाश तत्व में आवागमन की प्रक्रिया को समृद्ध करती हैं। इनके लिए **महर्षि दयानन्द** ने अपने वेदभाष्य में निम्नलिखित विशेषणों का प्रयोग किया है-

'प्रियम्' (ऋ.भा.६.५०.१), बहुभ्यः कारणेभ्य उत्पन्नः (ऋ.भा.१.२.६), सर्वमित्रोबाह्यगतिः (ऋ.भा.१.१५.६)

इन विशेषणों से प्राण रश्मियों के निम्नलिखित गुणों का संकेत मिलता है-

(१) इनमें आकर्षण बल की प्रधानता होती है।
(२) यह अनेक कारणभूत पदार्थों कदाचित् मन, **'ओम्'** रश्मि, सूत्रात्मा वायु एवं धनंजय रश्मियों के योग से उत्पन्न होता है।
(३) यह सबका आकर्षक बनकर सबको आकर्षण बल से युक्त करता हुआ उन कणों वा तरंगों में भीतर से बाहर निरन्तर संचरित होता रहता है।

अन्य ऋषियों ने भी प्राण रश्मियों के विषय में लिखा है-

"न वै प्राणात् प्रेयः किंचनास्ति" (जै.ब्रा.१.२७२)
"प्राण एव सविता" (गो.पू.१.३३; श.१२.६.१.१६)
"प्राणो वै सविता" (ऐ.१.१६)
"भूरिति वै प्राणः" (तै.आ.७.५.३; तै.उ.१.५.३)

इन वचनों का आशय है कि प्राण नामक प्राण रश्मियों से बढ़कर आकर्षक बलों से युक्त अन्य कोई भी रश्मियां इस स्तर की नहीं होती। ये ही नाना कणों वा तरंगों की प्रेरक एवं उत्पादिका होती हैं। इस सृष्टि में जहाँ कहीं भी आकर्षण बल की सत्ता है, वहाँ इस बल के मूल कारण रूप इस तत्व की सत्ता अवश्य विद्यमान है। ये रश्मियां **'भूः'** व्याहृति रश्मियों के साथ भी साम्यता रखती हैं, इस कारण उनके गुणों के तुल्य गुणों से भी युक्त होती हैं। इन रश्मियों के विषय में इस ग्रन्थ के खण्ड **१.१७, ४.३२** एवं **५.३१** पठनीय हैं।

(४) **अपान=** यह रश्मि मनस्तत्व के अन्दर **'ओम्'** रश्मि के द्वारा ऐसा स्पन्दन है, जिसकी गति प्राण नामक प्राथमिक प्राण की अपेक्षा ठीक विपरीत होती है। प्राण व अपान दोनों रश्मियां साथ-२ रहते हुए भी परस्पर विपरीत दिशा में स्पन्दित होती रहती हैं। इनका सर्वत्र सदैव यही स्वभाव रहता है। अपान शब्द **'अप'** उपसर्ग पूर्वक **'अन्'** धातु से निष्पन्न होता है। इस उपसर्ग के विषय में **महर्षि यास्क** का कथन है-

"समित्येकीभावम् अपेत्येतस्य प्रातिलोम्यम्" (नि.१.३)

इससे प्रतीत होता है कि मनस्तत्व के अन्दर **'ओम्'** रश्मियां ऐसे स्पन्दन उत्पन्न करती हैं, जो विभिन्न स्पन्दनों को पृथक्-२ करने के स्वभाव से युक्त होते हैं। **इस कारण अपान रश्मियां प्रतिकर्षण बलों को उत्पन्न करने का मूल कारण होती हैं।** इन रश्मियों के विषय में भी **महर्षि दयानन्द** ने अपने

ऋ.भा.१.२.६ में प्राण रश्मियों की भांति "बहुभ्यः कारणेभ्यः उत्पन्नः" कहा है, इससे इन दोनों रश्मियों में कुछ समानता प्रतीत होती है, इसी कारण ये दोनों साथ-२ रहती व गमन करती हैं। इन रश्मियों के विषय में ऋषियों का कथन है-

"अपानेन वै प्राणो धृतः" (मै.४.५.६)
"अपानो वै यन्ताऽपानेन ह्ययं यतः प्राणो न पराङ् भवति " (ऐ.२.४०)
"प्राणो वै दक्षोऽपानः क्रतुः" (तै.सं.२.५.२.४)
"बहिर्वै सन्तं प्राणमुपजीवन्त्यन्तः सन्तमपानम्" (जै.ब्रा.१.३७ - ब्रा.उ.को. से उद्धृत)

इन वचनों से निम्न निष्कर्ष प्राप्त होता है-

(१-२) ये रश्मियां प्राण रश्मियों के साथ सदैव ही जुड़ी रहती हैं, मानो ये प्राण रश्मियों को धारण किये रहती हैं। यहाँ यह विशेषता है कि ये रश्मियां विभिन्न रश्मियों को पृथक्-२ करने के स्वभाव से युक्त होती हैं और इसी कारण ये प्रतिकर्षण बल की जननी होती हैं परन्तु ये रश्मियां प्राण रश्मियों को अपने साथ संगत किये रहती हैं अर्थात् उनके प्रति अपान रश्मियों में आकर्षण का भाव होता है। प्राण रश्मियां इनको त्याग कर कहीं नहीं जा सकतीं।
(३) प्राण रश्मियां बल प्रधान तथा अपान रश्मियां क्रिया प्रधान होती हैं।
(४) प्राण रश्मियां किसी कण वा तरंग के अन्दर से बाहर की ओर तथा अपान रश्मियां बाहर से अन्दर संचरित होती हैं।

प्रश्न- आपने प्राण रश्मियों को बल प्रधान तथा अपान रश्मियों को क्रिया प्रधान कहा, इसका क्या कारण वा आशय है? उधर आपने प्राण को आकर्षण तथा अपान को प्रतिकर्षण बल का कारण कहा, इस कारण ये दो परस्पर असंगत विचार प्रतीत होते हैं।

उत्तर- प्राण रश्मियां सत्वप्रधान एवं अपान रश्मियां रजस् प्रधान होती हैं। इसी कारण प्राण व अपान रश्मियां क्रमशः बल व क्रिया प्रधान होती हैं। वस्तुतः ये दोनों प्रकार की रश्मियां परस्पर संयुक्त रहती हैं। कहीं भी इनका पृथक्पन नहीं देखा जाता। इनके संयुक्त प्रभाव से प्रत्येक पदार्थ बल एवं क्रिया दोनों से ही सम्पन्न होता है। जब किसी पदार्थ में प्राण की प्रधानता तथा अपान गौण रूप में विद्यमान होता है, तब उस पदार्थ में आकर्षण बल की प्रधानता परन्तु क्रियाशीलता गौण होती है। जब किसी पदार्थ में अपान की प्रधानता एवं प्राण गौण होता है, तब उस पदार्थ में क्रियाशीलता प्रधान तथा बल की न्यूनता होती है। इस सृष्टि में सभी बल आकर्षण एवं प्रतिकर्षण दोनों ही रूपों में विद्यमान होते हैं परन्तु **गुरुत्वाकर्षण बल केवल आकर्षण का ही प्रभाव रखता है। इस स्थिति में इस बल में प्राण रश्मियों की प्रधानता तथा अपान की अप्रधानता माननी होगी।** इस ग्रन्थ के २.२७.४ में गुरुत्व बल में बृहती एवं पंक्ति छन्द रश्मियों की विद्यमानता दर्शायी है तथा प्राण रश्मियों के विषय में ऋषियों ने कहा है-

"अथ बृहती। योऽयं प्राङ् प्राणः" (जै.ब्रा.१.२५४)
"अथ वै हविष्पङ्क्तिः प्राण एव" (कौ.ब्रा.१३.२)
"प्राणा वै बृहत्यः" (ऐ.३.१४)
"भुव इत्यपानः" (तै.आ.७.५.३; तै.उ.१.५.३)

इन वचनों से सिद्ध होता है कि बृहती व पंक्ति छन्द रश्मियां प्राण प्रधान वा प्राण रश्मियों के समान ही व्यवहार करती हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि गुरुत्व बल में प्राण रश्मियां ही प्रधान होती हैं। वहाँ अपान रश्मियां अत्यन्त न्यून मात्रा में होती हैं, जिनका प्रायः कोई प्रभाव नहीं होता, इसी कारण गुरुत्व बल केवल आकर्षण का ही व्यवहार दर्शाता है। इधर क्रियाशीलता की दृष्टि से विचारें, तो जिस पदार्थ में जितना अधिक गुरुत्वाकर्षण बल किंवा द्रव्यमान होगा, वह उतना ही कम सक्रिय होगा। इस दृष्टि से यहाँ अपान प्राण की न्यूनता वा अविद्यमानता सिद्ध होती है। उधर गुरुत्व बल रश्मियों में केवल आकर्षण बल की विद्यमानता होती है परन्तु उन रश्मियों की क्रियाशीलता बहुत कम होती है, इसी कारण ये अत्यन्त कम आवृत्ति की होती हैं अर्थात् निर्बल होती हैं। ध्यातव्य है कि बल में प्राण तथा क्रिया में अपान की प्रधानता होती है। यहाँ अप्रधानता का तात्पर्य अत्यन्ताभाव नहीं है।

वस्तुतः किंचित् मात्रा में ही सही अप्रधान पदार्थ की विद्यमानता होती ही है। ये रश्मियां **'भुवः'** व्याहृति रश्मि के साथ भी साम्यता रखने से उनके गुणों के तुल्य गुणों से भी युक्त होती हैं। इनकी उत्पत्ति के विषय में खण्ड **२.२६** अवश्य पढ़ें। अपान रश्मियों के विषय में खण्ड **१.१७** एवं **५.३१** भी द्रष्टव्य हैं।

(५) **व्यान**= ये रश्मियां मनस्तत्व के अन्दर **'ओम्'** रश्मियों द्वारा इस प्रकार उत्पन्न होती हैं कि वे प्राण व अपान के मध्य संधि का कार्य कर सकें। इसी बात का संकेत करते हुए उपनिषत्कार ने कहा-

"अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानो यो व्यानः सा वाक्" (छां.उ.१.३.३)

इससे स्पष्ट है कि बिना व्यान रश्मि के प्राण एवं अपान साथ-२ संगत नहीं रह सकतीं। इन रश्मियों का स्पन्दन ही प्राण-अपान रश्मियों को संगत बनाये रखता है। ये रश्मियां मनस्तत्व में **'ओम्'** रश्मि के विशेष व विचित्र प्रकार के स्पन्दनों से निर्मित होती हैं। इनकी गति भी विविध व विचित्र प्रकार की होने से इन्हें व्यान कहा जाता है। इन रश्मियों के विषय में ऋषियों का कथन है-

"व्यानो वरुणः" (श.१२.६.१.१६)
"व्यानस्त्रिष्टुप्" (मै.३.४.४; काठ.२१.१२)
"निक्रीडित इव ह्यं व्यानः" (ष.२.२)
"व्यानो बृहती" (तां.७.३.८)
"सुवरिति व्यानः" (तै.आ.७.५.३; तै.उ.१.५.३)
"व्यानादपानः सन्तनु" (काठ.३६.८)

इन वचनों से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं-

(१) व्यान रश्मियां वरुण रूप होने से न केवल प्राण व अपान का वरण करके उन्हें बांधे रखती हैं, अपितु अन्य रश्मि व कण आदि पदार्थों को बांधने में प्राण व अपान रश्मियों के साथ विशेष भूमिका निभाती हैं।
(२) ये रश्मियां त्रिष्टुप् की भांति व्यवहार करते हुए प्राण व अपान को तीन प्रकार से थामे वा बांधे रखती हैं तथा उन्हें तीव्र तेज व बल से भी सम्पन्न करने में सहायक होती हैं।
(३) ये रश्मियां प्राण व अपान के मध्य निरन्तर नितराम् क्रीड़ा करती हुई सी संचरित होती रहती हैं।
(४) ये बृहती रश्मियों की भांति व्यवहार करके प्राण व अपान रश्मियों को बांधकर उनकी मर्यादा सुनिश्चित करती हैं।
(५) ये रश्मियां **'स्वः'** व्याहृति रश्मियों से साम्यता रखती हैं, इस कारण उनके गुणों के तुल्य गुणों से युक्त भी होती हैं।
(६) क्वाण्टाज् के निर्माण में व्यान रश्मियां अपान रश्मियों को फैलाकर क्वाण्टाज् को कणों की अपेक्षा अति न्यून सघनता प्रदान करता है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रायः सर्वत्र छन्दादि रश्मियों को सघनता प्रदान करने वाली व्यान रश्मियां क्वाण्टाज् को मूलकणों की भांति अति सघन नहीं बनाती, क्योंकि इनमें वे अपान प्राण को फैलाकर उनके पृथक्करण गुण को प्राण रश्मियों के संयोजी गुण की अपेक्षा में कुछ बढ़ा देती हैं। **महर्षि दयानन्द** ने अपने वेद भाष्य में व्यान प्राण के लिए कई विशेषणों का प्रयोग किया है, यथा- **व्यापकम् (ऋ.भा.६.२१.६), पुष्टिकरम् (ऋ.भा.५.४६.३), विविधेषु शरीरसंधिष्वनिति तत् (यजु.भा.१४.८), विविधोत्तमव्यवहर्त्ता (यजु.भा.१३.१६)।**

इन विशेषणों से हमें निम्नलिखित संकेत मिलते हैं-

(१) व्यान रश्मियों का क्षेत्र सूत्रात्मा वायु के पश्चात् सबसे व्यापक होता है।
(२) ये रश्मियां अन्य प्राण रश्मियों के नाना बल व क्रियाओं का पोषण करती हैं।
(३) ये रश्मियां न केवल प्राण व अपान की संधियों, अपितु अन्य प्राण रश्मियों की संधियों में भी विचरण करती हैं। इससे वे रश्मियां भी अपने बल व क्रियाओं की दृष्टि से पुष्ट होती रहती हैं।
(४) ये रश्मियां नाना प्रकार के उत्तम व्यवहारों से युक्त होकर सभी प्राण रश्मियों, विशेषकर प्राण व अपान को भी नाना व्यवहारों से युक्त करती हैं।

व्यान रश्मियों की प्रधानता के प्रभाव को जानने हेतु खण्ड ५.६-८ द्रष्टव्य हैं। व्यान रश्मियों की उत्पत्ति के विषय में खण्ड २.२६ द्रष्टव्य है।

(६) **समान=** जब **'ओम्'** रश्मियां मनस्तत्व के अन्दर सम गति व बल के साथ स्पन्दन उत्पन्न करती हैं, तब उस समय समान नामक प्राण रश्मियां प्रकट होती हैं। ये प्राण रश्मियां विभिन्न प्राण रश्मियों के बल व गति को संतुलित बनाये रखती हैं, विशेषकर प्राण व अपान नामक प्राण रश्मियों के सन्तुलन को बनाये रखने में विशेष भूमिका निभाती हैं। ये रश्मियां समान लय से निरन्तर गमन करती रहती हैं। इनके विषय में ऋषियों का कथन है-

"स्वव्याप्त्यैकरसम्" (म.द.ऋ.भा.१.१३१.२)
"समानयति रसं येन सः" (म.द.य.भा.२२.३३)
"समानं सम्मानमात्रं भवति" (नि.४.२५)
"निरुक्तानिरुक्त इव ह्ययं समानः" (ष.१.२ - वै.को. से उद्धृत)

इन वचनों से निम्न संकेत प्राप्त होते हैं-

(१) ये प्राण रश्मियां भी विभिन्न प्राण रश्मियों में एकरस होकर व्याप्त होती हैं, विशेषकर प्राण व अपान रश्मियों के अन्दर।
(२) यहाँ **{समानयति= (समा+नी= मिलाना, एकता में आबद्ध करना- आप्टे संस्कृत-हिन्दी कोश)}** स्पष्ट किया है कि ये रश्मियां न केवल स्वयं लयबद्ध होकर गमन करती हैं, अपितु अन्य प्राण रश्मियों, विशेषतः प्राण व अपान रश्मियों में एकता व लयबद्धता बनाये रखती हैं। यह प्रक्रिया कैसे होती है, इसका भी संकेत यहाँ किया गया है कि ये रश्मियां इन प्राण रश्मियों के अन्दर रसरूप **'ओम्'** रश्मियों की लयबद्धता बनाये रखने में सहायक होती हैं, जिससे वे प्राण रश्मियां सर्वत्र समान गुण दर्शाती हैं।
(३) ये रश्मियां विभिन्न प्राण रश्मियों की मर्यादा में ही संचरित होती हुई उसे बनाये रखने में सहायक होती हैं।
(४) ये रश्मियां निरुक्त व अनिरुक्त दोनों ही गुणों से युक्त होती हैं। निरुक्त के विषय में **महर्षि याज्ञवल्क्य** ने कहा है- **"परिमितं वै निरुक्तम्" (श.५.४.४.१३)**

इससे संकेत मिलता है कि समान नामक प्राण रश्मियां परिमित तथा अपरिमित दोनों ही व्यवहारों से युक्त होती हैं। हमारे मत में इसका भाव है कि ये रश्मियां विभिन्न प्राण रश्मियों वा उनके कारण रूप मनस्तत्व की अपेक्षा परिमित तथा इनके कार्य रूप वर्तमान विज्ञान द्वारा ज्ञात अथवा ज्ञेय कणों वा तरंगों की अपेक्षा अपरिमित होती हैं। इसकी प्रधानता के प्रभाव को जानने हेतु खण्ड ५.१६-१७ द्रष्टव्य हैं।

(७) **उदान=** जब मनस्तत्व में **'ओम्'** रश्मियों का स्पन्दन इस प्रकार होता है कि मनस्तत्व में उत्क्षेपण गुण का प्रादुर्भाव होने लगता है, उस समय उत्पन्न स्पन्दन ऊर्ध्वगमन वाले होते हैं। इन स्पन्दनों में **'ओम्'** रश्मियां ऊर्ध्वगामिनी होती हुई उत्पन्न होती हैं। इसके साथ ही उनकी गति उत्कृष्ट होती है अर्थात् इनमें **'ओम्'** रश्मियों की गति बहुत तीव्र होती है। ये रश्मियां मनस्तत्व में एक खिंचाव उत्पन्न करती हुई गति करती हैं, इससे उत्पन्न उदान नामक स्पन्दन ऊर्ध्वगमन युक्त होते हैं। ये रश्मियां विभिन्न रश्मियों में उत्क्षेपण गुण उत्पन्न करने में सहायक होती हैं। इन रश्मियों के विषय में ऋषियों का कथन है-

"उदस्त इव ह्ययमुदानः" (ष.२.२)
"उदानो वै नियुतः" (श.६.२.२.६)
"उदानो वै बृहच्छोचाः" (श.१.४.३.३)
"उदानो बृहत्" (जै.ब्रा.१.२२६)
"उदानो यजमानः" (ष.२.७)

इन वचनों से निम्नलिखित तथ्य प्रकाशित होते हैं-

(१) ये उदान रश्मियां मनस्तत्व के अन्दर ऊपर की ओर प्रक्षिप्त हुई सी प्रकट होती हैं अर्थात् इन स्पन्दनों के अन्दर **'ओम्'** रश्मियां ऊर्ध्वगमन करती हुई संचरित होती हैं।
(२) ये रश्मियां नियुत रूप में प्रकट होती हैं। **'नियुतः'** पद का निर्वचन करते हुए **महर्षि यास्क** का कथन है-

"नियुतो नियमनाद्वानियोजनाद्वा" (नि.५.२८)

इससे संकेत मिलता है कि ये रश्मियां नियमित, नियन्त्रित लय के साथ गति करती हैं।

(३) ये रश्मियां व्यापक स्तर पर एक प्रकार की दीप्ति को उत्पन्न करती हैं। यद्यपि यह दीप्ति दृश्य नहीं होती परन्तु इससे यह अवश्य सिद्ध होता है कि जहाँ भी ब्रह्माण्ड में दीप्ति विद्यमान है, वहाँ उदान रश्मियों की अनिवार्य भूमिका होती है।

(४) ये रश्मियां विभिन्न प्राण रश्मियों के बल आदि गुणों को समृद्ध करती हैं।

(५) ये रश्मियां विभिन्न प्राणादि रश्मियों की यजनशीलता=संयोग-वियोग प्रक्रिया को समृद्ध करती हैं।

महर्षि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में उदान रश्मियों के निम्नलिखित गुण दर्शाएं हैं-

"उत्कृष्टम्" (ऋ.भा.६.५०.१), "आभ्यान्तरगतिर्बलसाधकः" (ऋ.भा.१.१५.६)

"ऊर्ध्वबलगमनहेतुः" (ऋ.भा.१.२३.४), "उत्कृष्टंबलम्" (यजु.भा.१३.१६)

इससे भी स्पष्ट होता है कि उदान रश्मियां उत्कृष्ट रूप से प्रकट होकर विभिन्न प्राणादि रश्मियों की आभ्यान्तर गति व बल को सिद्ध व समृद्ध करती हैं। ये विभिन्न प्राण रश्मियों के बलों को ऊर्ध्वगामी बनाने में विशेष सहयोग करती हैं। यहाँ **ऊर्ध्वबल का आशय यह है कि किसी कार्यरत बल के विरुद्ध बल उत्पन्न करना।** इसकी प्रधानता के प्रभाव के विषय में खण्ड **४.३१-३२** द्रष्टव्य हैं।

(८) नाग= यह प्राण नामक प्राण तत्व का उपप्राण है, जो प्राण नामक रश्मियों के क्षुब्ध व अव्यवस्थित होने पर उन्हें नियन्त्रित व व्यवस्थित रूप प्रदान करने में सहायक होता है। **'नागः'** पद का अर्थ है-

"न गच्छतीति नगः नगे भव इति नागः" (वाचस्पत्यम् कोशः)

अर्थात् जो स्थिर पदार्थ में निवास करता है किंवा उससे ही उत्पन्न होता है, वह नाग कहलाता है। हम जानते हैं कि इस सृष्टि में ईश्वर व प्रकृति के अतिरिक्त कोई भी पदार्थ पूर्ण निश्चल नहीं है। किन्तु इन दोनों ही पदार्थों में नाग प्राण रश्मियों का निवास किंवा उनसे उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। ऐसी स्थिति में यही सिद्ध होता है कि नाग प्राण रश्मियों की उत्पत्ति **'ओम्'** छन्द रश्मियों द्वारा मनस्तत्व, जो सभी प्रकार की प्राण रश्मियों के सापेक्ष स्थिर होता है, से होती है तथा ये नाग प्राण रश्मियां स्वयं भी अत्यन्त मन्दगामिनी होती हैं, इसी कारण इन्हें **'नाग'** कहते हैं। क्योंकि सभी प्रकार की प्राण रश्मियों के सापेक्ष मनस्तत्व स्थिर ही होता है, और सभी प्राण रश्मियां मनस्तत्व में ही प्रतिष्ठित रहती हैं, इस कारण केवल **'नगे भवः'** से **'नागः'** शब्द की व्युत्पत्ति मानना उचित नहीं है, अपितु **'न गच्छतीति नागः'** मानना भी अनिवार्य है, जहाँ स्वार्थ में तद्धित प्रत्यय हुआ है। यहाँ **'न'** का अर्थ अत्यन्ताभाव न ग्रहण करके अति मन्दगति मानना समीचीन है।

उधर **महर्षि दयानन्द** ने **उ.को.५.६१** भाष्य में लिखा है-

"दहति दह्यते वा स नगः {ग प्रत्ययोहकारस्य लोपो दकारस्य च नकारादेशः।} बाहुलकान्नकारस्य नाकारः- नागः" अर्थात् जो दहन करता है किंवा जो दहन किया जाता है, वह नाग कहलाता है। इससे संकेत मिलता है कि नाग प्राण रश्मियों की प्रधानता में ही ऊष्मा की उत्पत्ति व वृद्धि होती है। इस विषय की पुष्टि हेतु इसी ग्रन्थ का खण्ड **४.२६** द्रष्टव्य है। इनके स्पन्दन अति सूक्ष्म व मन्द होते हैं, जो अन्य प्राण रश्मियों के सापेक्ष स्थिर जैसे माने जा सकते हैं, पुनरपि ये प्राण नामक रश्मियों को निर्बाध गति व मार्ग प्रदान करने की क्षमता रखते हैं, यह **इनकी अद्भुत् विशेषता है।** ये रश्मियां सदैव प्राण नामक प्राण रश्मियों के निकट ही विद्यमान रहती हैं।

प्रश्न– आपका कथन है कि नाग रश्मियां अन्य प्राण रश्मियों के सापेक्ष अत्यन्त मन्दगामिनी होती हैं, तब ये प्राण नामक प्राण रश्मियों के समीप कैसे बनी रहती हैं? क्या इससे इनकी प्राण नामक प्राण रश्मियों के समान गति वाली नहीं माना जाये?

उत्तर–यह शंका स्वाभाविक है परन्तु इस विषय में हमारा मत यह है कि नाग रश्मियां प्राण रश्मियों के साथ समानान्तर गमन नहीं करती किन्तु उनके साथ सदैव विद्यमान **'ओम्'** रश्मियों के द्वारा मनस्तत्व में सदैव स्पन्दन के रूप में उत्पन्न होती रहती हैं, इससे उनका प्राण नामक प्राण रश्मियों के साथ सामीप्य बना रहता है। किसी कारणवश ज्यों ही प्राण रश्मियों की गति वा मार्ग में कोई बाधा आती है वा अनिष्ट विक्षोभ उत्पन्न होता है, ये उसे व्यवस्थित करने में अपनी भूमिका निभाती हैं। इस कार्य में **'ओम्'** रश्मियां व ईश्वर तत्व सहायक होते हैं।

इनकी प्रधानता के प्रभाव के विषय में खण्ड ४.२६-३० द्रष्टव्य हैं।

(६) **कूर्म=** इसके विषय में ऋषियों का कथन है-

"रसो वै कूर्मः" (श.७.५.१.१)
"स यत्कूर्मो नामः एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा ऽअसृजत यदसृजताकरोत्तद्यदकरोत्तस्मात्कूर्मः कश्यपो कूर्मः" (श.७.५.१.५)
"शिरः कूर्मः" (श.७.५.१.३५)
"मेधो वा एष पशूनां यत् कूर्मः" (तै.सं.५.२.८.५; काठ.२०.७; क.३१.६)
"सुवर्गाय वा एष लोकायोपधीयते यत् कूर्मः" (तै.सं.५.७.८.२)

इन वचनों से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं-

(१) ये प्राण रश्मियां रस रूप होकर अपान रश्मियों को बल व प्रेरण प्रदान करती हैं। हमारे मत में ये रश्मियां अपान प्राण की उपप्राण हैं। एक प्रख्यात आर्य संन्यासी स्वामी सर्वदानन्द सरस्वती ने अपनी पुस्तक 'सन्मार्ग दर्शन' में 'शरीरगतिः' अध्याय में कूर्म प्राण के विषय में लिखा है-

"स्त्री-पुरुष के संयोग से सन्तान की उत्पत्ति होती है। ....संयोगज धर्म में कूर्म के समान जो प्रत्येक वृत्ति और गति का निरोध होता है, इतना विशेष कार्य कूर्म प्राण का है।" (पृ.११४)

यह सर्वविदित है कि इस क्रिया में मुख्य भूमिका अपान प्राण की होती है, क्योंकि नाभि से नीचे अपान प्राण का ही स्थान है, इस कारण कूर्म प्राण का भी स्थान यहीं मानना उचित है। इससे कूर्म प्राण अपान प्राण का उपप्राण सिद्ध होता है। यह अपान प्राण की बिखरी हुई क्रियाओं को निरुद्ध वा प्रयोजनानुसार केन्द्रीभूत करने में अपनी भूमिका निभाता है।

(२) प्रजापति अर्थात् मनस्तत्व प्राण-अपान के विविध कर्मों के द्वारा नाना प्रजारूप रश्मि आदि पदार्थों को उत्पन्न करता है। हम जानते हैं कि अपान प्राण रश्मियां प्रतिकर्षण बल प्रधान होती हैं, पुनरपि व्यान रश्मियों के माध्यम से प्राण रश्मियों के साथ बंधी रहती हैं। यह कूर्म उपप्राण संयोग प्रक्रिया में कच्छप की भांति अर्थात् कछुए की भांति अपान रश्मियों को केन्द्रीभूत करने में सक्षम होता है।

(३) यह प्राण व अपान के मध्य सम्बन्ध को बनाये रखने में शिर के समान श्रेष्ठ स्थान रखता है अर्थात् जिस प्रकार सिर सम्पूर्ण शरीर को नियन्त्रित करता है, उसी प्रकार कूर्म रश्मियां इस सम्बन्ध को बनाये रखने में अपनी भूमिका निभाती हैं।

(४) ये रश्मियां मेघरूप होकर पशुरूप विभिन्न प्राण व छन्द रश्मियों के संगठन में उपयोगी होती हैं। इससे उनकी सूत्रात्मा वायु रश्मियों से कुछ साम्यता सिद्ध होती है। इनकी इस प्रक्रिया को अगले बिन्दु में समझाया गया है।

(५) कूर्म प्राण रश्मियां कैसे अपान प्राण रश्मियों को नियन्त्रित वा व्यवस्थित करती हैं, इसका संकेत यहाँ किया गया है। वह इस प्रकार है कि सुवर्ग लोकों को ये रश्मियां निकटता से धारण करती हैं। यह विदित ही है कि व्यान रश्मियों को ही स्वर्गोलोक कहते हैं, इसका संकेत स्वयं **महर्षि तित्तिर** ने किया है-

"सुवरिति व्यानः" (तै.आ.७.५.३; तै.उ.१.५.३)

उधर **महर्षि जैमिनि** ने कहा है- **''स्वर्गोलोक स्वर्'' (जै.ब्रा.३.६६)**

इस प्रकार कूर्म रश्मियां व्यान रश्मियों को प्राण व अपान को संयुक्त रखने में सहयोग प्रदान करती हैं। इस प्रक्रिया को और स्पष्ट करते हुए पुनः कहा-

''एनं कूर्मः सुवर्गं लोकमञ्जसा नयति'' (तै.सं.५.२.८.५)

अर्थात् कूर्म रश्मियां व्यान रूप रश्मियों को उचित रीति से शीघ्रतापूर्वक अपने साथ युक्त करके व्यवस्थित कर लेती हैं। इससे अपान रश्मियों का व्यान रश्मियों के साथ बंधन होकर प्राण रश्मियों के साथ उचित सामंजस्य बना रहता है। जब मनस्तत्व में **'ओम्'** रश्मियों का स्पन्दन इस प्रकार होता है कि वे अपान व व्यान रश्मियों के साथ सम्बद्ध होकर उपर्युक्त प्रभाव दर्शा सकें, वे स्पन्दन ही कूर्म प्राण का रूप होते हैं। इनकी प्रधानता के प्रभाव को खण्ड **५.१८-१६** में दर्शाया गया है।

(१०) कृकल= यह प्राण तत्व उदान प्राण का उपप्राण है। **'कृकलः'** शब्द का अर्थ है- **'कृकं लातीति'** अर्थात् यह कृक को प्राप्त कराने वाला। **ऋग्वेद १.२६.७** में **'कृकदाश्वम्'** पद के भाष्य में **महर्षि दयानन्द** एवं सायणाचार्य दोनों ने ही **'कृकम्'** का अर्थ **'हिंसनम्'** किया है। इस प्रकार हिंसा वा तीक्ष्णता को प्रदान वा प्राप्त करने वाला प्राण तत्व ही कृकल कहलाता है। इससे स्पष्ट होता है कि जब मनस्तत्व में **'ओम्'** रश्मियां इस प्रकार स्पन्दित होती हैं कि वे उदान प्राण रश्मि रूप स्पन्दनों को आवश्यक होने पर तीक्ष्ण वा हिंसक रूप प्रदान कर सकें, वे स्पन्दन कृकल प्राण रश्मियों का रूप होते हैं। हम अवगत हैं कि उदान प्राण रश्मियां उत्क्षेपण बलयुक्त होती हैं। जब कभी उदान रश्मियों के उत्क्षेपण बल में कुछ रुकावट आती है, तब मनस्तत्व में **'ओम्'** रश्मियों के द्वारा कृकल प्राण रश्मि रूप स्पन्दन अकस्मात् उत्पन्न होकर उदान रश्मियों को धक्के के साथ बल प्रदान करके उसके उत्क्षेपण बल को सक्रिय वा निर्बाध कर देते हैं। इससे उदान रश्मियां अपने कार्य को समुचितरीत्या सम्पादित करने लगती हैं। कृकल प्राण रश्मियों के प्रभाव के विषय में खण्ड **५.१-२** द्रष्टव्य है।

(११) देवदत्त= यह समान प्राण का उपप्राण है। यह विदित ही है कि समान प्राण रश्मियां, प्राण तथा अपान रश्मियों में सन्तुलन बनाये रखने में सहायक होती हैं। इसके कारण समान के साथ-२ प्राण व अपान रश्मियों के पूर्वोक्त कार्य समुचित रीति से सम्पादित होने में सहयोग मिलता है। कहीं किसी का कार्य किसी कारणवश अवरुद्ध हो रहा हो, तो देवदत्त प्राण रश्मियां समान रश्मियों के निकट प्रकट होकर उन्हें समुचित सक्रियता प्रदान करती हैं, जिससे प्राण व अपान रश्मियों में आयी रुकावट धक्के के साथ दूर हो जाती है। सारांशतः ये रश्मियां समान प्राण के साथ समलय से स्पन्दित होती हुई प्राण व अपान की लय बनाये रखती हैं।

इन प्राण रश्मियों का देवदत्त नाम यह संकेत करता है कि ये रश्मियां अन्य प्राण रश्मियों से कुछ वैशिष्ट्य रखती हैं। यदि यहाँ **'देव'** का अर्थ मन एवं वाक् तत्व (**'ओम्'** रश्मि) का ग्रहण किया जाये, और उनके द्वारा प्रदत्त वा निर्मित स्पन्दनों को देवदत्त कहा जाये, तब प्रश्न यह उठ सकता है कि मनस्तत्व के अन्दर **'ओम्'** रश्मियों के द्वारा उत्पन्न स्पन्दनों के रूप में तो सभी प्राण व छन्द रश्मियां उत्पन्न होती ही हैं, तब क्यों न सभी को देवदत्त कहा जाये? किन्तु सबको **'देवदत्त'** नहीं कहा जाता। इस कारण हमारे मत में विभिन्न देव अर्थात् प्राथमिक प्राण रश्मियां **'ओम्'** रश्मियों के द्वारा स्पन्दित होकर अति सूक्ष्म स्पन्दनों को उत्पन्न करती रहती हैं। ये स्पन्दन समान प्राण रूप स्पन्दनों के निकट व्याप्त होकर उन्हें उपर्युक्त कार्यों में सहयोग करते हैं। **इस प्रकार देवदत्त रश्मियों के निर्माण में सभी प्राण रश्मियों का सहयोग होता है, इसी कारण ये देवदत्त कहलाती हैं।** यद्यपि इन रश्मियों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध समान रश्मियों से है किन्तु समान के माध्यम से इनका सम्बन्ध प्राण, अपान, व्यान एवं इनके उपप्राणों से लेकर अन्य छः प्राण रश्मियों से भी हो जाता है अर्थात् ये देवदत्त रश्मियां इन सभी को प्रभावित करती हैं, इस कारण **'देवदत्तः'** शब्द **'देवेभ्यो दत्तः'** तथा **'देवैर्दत्तः'** अर्थात् देवों=प्राणों के लिए तथा देवों (प्राणों) के द्वारा प्रदान किया हुआ, दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है। इसी कारण विभिन्न प्राण रश्मियों की प्रधानता के प्रभाव को दर्शाने वाले प्रकरणों में देवदत्त की प्रधानता वाला प्रकरण सबसे अधिक लम्बा है, जिसे पाठक खण्ड **५.६-१५** तक सात खण्ड़ों में पढ़ सकते हैं।

ज्ञातव्य- विभिन्न उपप्राण रश्मियों=स्पन्दनों की गति की दिशा अपनी-२ प्राण रश्मियों की गति की दिशा से विपरीत होती है, साथ ही इनके स्पन्दन सम्बन्धित प्राण रश्मियों के स्पन्दनों से सूक्ष्म होते हैं, जो उनके पास निरन्तर प्रकट होते रहते हैं।

(स) अहोरात्र, मास व ऋतु रश्मियां

इस वर्ग की रश्मियां काल मापक के रूप में भी मानी जाती हैं।

(क) अहोरात्र

अहोरात्र वस्तुतः प्राण-अपान किंवा प्राण-उदान का वाचक है। इस विषय में ऋषियों का कथन है-

"अहोरात्र वै मित्रावरुणौ" (तै.सं. २.४.१०.१; मै.१.५.१४; काठ.११.१०; क.६.१; तां.२५.१०.१०)

अब मित्रावरुण के विषय में कहा है-

"तौ मित्रावरुणौ प्राणापानौ" (जै.ब्रा.१.१०६)
"प्राणापानौ मित्रावरुणौ" (तां.६.१०.१; तै.ब्रा.३.३.६.६)
"प्राणापानौ वै मित्रावरुणौ" (काठ.२६.१; ३०.३)
"प्राणादानौ वै मित्रावरुणौ" (श.३.६.१.१६)

इन वचनों से सिद्ध है कि 'अहन्' से प्राण तथा 'रात्रि वा रात्र' से अपान व उदान रश्मियों का ग्रहण होता है। इन प्राणापानोदान रश्मियों के विषय में हम पूर्व में लिख चुके हैं।

काल मापी रश्मियां

प्रश्न- इस सृष्टि में अनेक प्रकार की प्राण व छन्द रश्मियां उत्पन्न होती हैं। उन्हें कहीं कालमापक के रूप में नहीं माना जाता। तब क्यों प्राण, अपान, उदान, मास एवं ऋतु रश्मियों को कालमापक के रूप में लोक में प्रयुक्त किया जाता है? इन रश्मियों का काल तत्व से क्या सम्बन्ध है?

उत्तर- इस विषय में हम कुछ चर्चा काल तत्व की चर्चा के समय कर चुके हैं। हम लिख चुके हैं कि काल तत्व एक ऐसा पदार्थ है, जिसमें तमोगुण का सर्वथा अभाव होता है। काल तत्व के पश्चात् कालमापक प्राण, अपान, उदान, मास एवं ऋतु रश्मियां ही ऐसी रश्मियां हैं, जिनमें तमोगुण की मात्रा का सर्वथा अभाव तो नहीं होता परन्तु इसकी मात्रा इतनी न्यून होती है कि ये रश्मियां अन्य सभी रश्मियों की अपेक्षा सतत व निर्बाध गामिनी होती हैं। ये काल तत्व के समान तो सतत व निरपेक्ष गमनकर्त्री नहीं होती परन्तु अन्य रश्मियों की अपेक्षा इनका यही स्वभाव होता है। अब हम ये विचारते हैं कि ये कालमापक कैसे मानी गई हैं? इस विषय में हमारा मत इस प्रकार है-

१. **अहन् (प्राण)** = जितने समय में एक प्राण नामक प्राण रश्मि का स्पन्दन होता है, वह समय एक अहन् वा प्राण कहलाता है। यह रश्मि अक्षरों से निर्मित होती है, इस विषय में खण्ड २.२६ द्रष्टव्य है। इनमें से प्रत्येक अक्षर एक-२ करके स्पन्दित होता है। सभी छः स्पन्दनों का एक संयुक्त स्पन्दन प्राण रश्मि (अहन्) कहा जाता है। जिस प्रकार वर्तमान भौतिकविद् सीजियम-१३३ एटम के transition की ९,१९,२६,३१,७७० आवृत्तियों के समय को एक सेकण्ड कहते हैं। इससे कोई यह नहीं कह सकता कि सेकण्ड ही काल है अथवा काल का एक खण्ड है। वस्तुतः यह काल को मापने का एक विधि है। आकाश को मापने के साधन मीटर, किलोमीटर आदि होते हैं। इसी प्रकार प्राण, अपान आदि जहाँ

पदार्थ (रश्मि) विशेष है, वहीं ये पद काल के मापक भी हैं। वर्तमान भौतिकविद् प्लेटीनियम-इरीडियम की छड़ विशेष की लम्बाई को एक मीटर मानते हैं। वस्तुतः वह छड़ न तो space है और उसकी लम्बाई space है, इसी प्रकार काल के विषय प्राण वा मासादि रश्मियों का मापन कर्म समझें।

२. अपान (रात्रि=रात्र) = जितने समय में एक अपान रश्मि एक बार स्पन्दित होती है, वह समय अपान (रात्रि) कहा जाता है। यह रश्मि सोलह अक्षरों को चार-चार अक्षरों की चार आवृत्तियों से मिलकर बनती है, के रूप में होती है। इस विषय में खण्ड २.२९ द्रष्टव्य है।

लोक प्रचलित अहोरात्र= दिन रात्रि, मास= महीने, ऋतु आदि की इन रश्मियों से तुलना करना इस ग्रन्थ का विषय नहीं है, इस कारण ग्रन्थ के कलेवर वृद्धि के भय से हम इस पर विचार नहीं कर रहे हैं।

(ख) मास रश्मियां

प्रत्येक मास रश्मि प्राण व अपान के संयुक्त रूप के तीस बार स्पन्दित होने से निर्मित होती है। 'मास' के विषय में ऋषियों का कथन है-

"त्रिंशन्मासो रात्रयः" (काठ.३४.९)
"त्रिꣳशिनो मासाः" (तै.सं.७.५.२०.१)
"मासा (संवत्सरस्य) कर्म्मकाराः" (तै.ब्रा.३.११.१०.३)
"मासा रश्मयः" (जै.ब्रा.१.१३७)
"मासा वै वाजाः" (तै.सं.२.५.७.४)
"मासा वै यावाः" (तै.सं.५.३.४.५)
"मासाः सन्धानानि" (तै.सं.७.५.२५.१)
"मासा हवीꣳषि" (श.११.२.७.३ - ब्रा.उ.को. से उद्धृत)

इन वचनों से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलता है-

- एक मास रश्मि में तीस रात्रि अर्थात् अपान रश्मियां होती हैं।
- एक मास में तीस प्राण-अपान युग्म होते हैं।
- ये मास रश्मियां सृष्टि रूपी संवत्सर की कार्यकर्त्री होती हैं अर्थात् इनके बिना सृष्टि वा सूर्यादि लोकों का निर्माण सम्भव नहीं हो सकता।
- मास विशेष प्रकार की रश्मियों का नाम है।
- मास रश्मियां वाजरूप अर्थात् अन्न व बल रूप होती हैं।
- मास रश्मियां विभिन्न पदार्थों के मिश्रण-अमिश्रण कर्मों को सम्पन्न करने वाली होती हैं।
- ये रश्मियां विभिन्न रश्मियों के मध्य सन्धानक का कार्य करती हैं।
- ये रश्मियां हवि रूप होती हैं अर्थात् सृष्टि यज्ञ में निरन्तर अपनी आहुति देकर नाना पदार्थों के निर्माण में उपादान कारण रूप होती हैं। इनके विषय में एक महत्वपूर्ण बात कही गई है-

"उदाना मासाः" (तां.५.१०.३)

इससे यह संकेत मिलता है कि इन रश्मियों में उदान रश्मियों की भांति उत्क्षेपण बल विद्यमान होता है। इससे प्रतीत होता है कि **ये रश्मियां विभिन्न रश्मियों, जो योषा व वृषा रूप में व्यवहार करती हैं, के निश्चित बिन्दु रूप भागों को उत्तेजित वा उत्क्षिप्त करके परस्पर संयोग कराने में सहायक होती हैं।**

अक्षर संयोजन वा प्राण-अपान युग्मों के संयोजन भेद से ये रश्मियां बारह रूपों में उत्पन्न होती हैं। ये बारह रूप वा प्रकार निम्नानुसार सर्वविदित हैं-

(१) मधु, (२) माधव, (३) शुक्र, (४) शुचि, (५) नभस्, (६) नभस्य, (७) ईष्, (८) ऊर्ज, (९) सहस्, (१०) सहस्य, (११) तपस्, (१२) तपस्य।

अब हम प्रत्येक मास रश्मि के विषय में संक्षिप्त परिचय देने का प्रयास करते हैं-

(1.) **मधुमास** = यह प्रथम मास रश्मि है। इसके विषय में ऋषियों का कथन है-

"प्राणो वै मधु" (श.१४.१.३.३०)
"मिथुनं वै मधु" (ऐ.आ.१.३.४)
"विज्ञातं मार्गम्" (तु.म.द.ऋ.भा.४.४५.३)
"परमं वा एतदन्नाद्यं यन् मधु" (तां.१३.११.१७)
"मधु धमतेर्विपरीतस्य" (नि.१०.३१), "धमति गतिकर्मा" (निघं.२.१४), "वधकर्मा" (निघं.२.१६)
"सर्वे वै कामा मधु" (ऐ.आ.१.१.३)

इन वचनों से मधु नामक रश्मियों के निम्नलिखित गुण प्रकट होते हैं-

- मधु मास प्राण रश्मियों का ही रूप है। इसका तात्पर्य है कि इसमें प्राण नामक प्राणरश्मियों की प्रधानता होती है।
- ये रश्मियां संयोग प्रक्रिया को समृद्ध वा उत्पन्न करती हैं।
- ये मास रश्मियां विभिन्न रश्मि आदि पदार्थों को पारस्परिक संगति हेतु प्रकाशित वा सरलतम मार्गों पर लाने में सहायक होती हैं।
- ये रश्मियां अन्य सभी मास रश्मियों की अपेक्षा अधिक संयोगधर्मिणी होती हैं।
- ये रश्मियां संयोजनीय अन्य आवश्यक रश्मियों के सहयोग से रश्मि वा कणों के मार्ग वा संयोग कार्य में आने वाली बाधक रश्मियों का वध करके उन्हें अनुकूल गति प्रदान करती हैं।
- सभी प्रकार के आकर्षण बलों में इन रश्मियों की भी भूमिका होती है।

इन उपर्युक्त गुणों से सम्पन्न रश्मियां 'मधु' कहलाती हैं। प्रश्न यह है कि ये रश्मियां मनस्तत्व के अन्दर **'ओम्'** रश्मियों द्वारा किस प्रकार के स्पन्दनों का रूप होती हैं? हमने पूर्व में प्राण, अपान व व्यान में अक्षर संख्या को दर्शाया था। इन मास रश्मियों का स्वरूप, अक्षर संख्या क्या है, इस विषय पर विचार करते हैं।

हमने इस ग्रन्थ के खण्ड **२.३४** में बारह निविद् रश्मियों का वर्णन है। हमने उन निविद् रश्मियों को ही मास रश्मियां माना है। इस कारण प्रथम निविद् रश्मि **'अग्निर्देवेद्धः'** ही प्रथम मास रश्मि अर्थात् मधु मास रश्मि सिद्ध होती है।

प्रश्न- आपने एक मास रश्मि में तीस प्राण व तीस अपान रश्मियों का होना लिखा है तथा प्राण में कुल छः अक्षर तथा अपान में कुल सोलह अक्षरों का होना लिखा है। यदि वहाँ एक-२ अक्षर आवृत्ति मानें, तब भी प्राण में एक व अपान में चार अक्षर होते हैं। ऐसी स्थिति में इनके तीस युग्मों से **'अग्निर्देवेद्धः'** यह पञ्चाक्षरा मधु मास रश्मि कैसे उत्पन्न होती है?

उत्तर- यह प्रश्न स्वाभाविक है परन्तु हमें यह नहीं विचारना चाहिए किसी छन्द रश्मियों में अक्षरों की संख्या, अन्य छन्द रश्मियों की अक्षर संख्या के योग से उत्पन्न छन्द रश्मि दोनों छन्द रश्मियों की कुल अक्षर संख्या से युक्त होती है। हमारी दृष्टि में छन्द रश्मियों में अक्षर सदैव संरक्षित नहीं रहते हैं। जब **'ओम्'** रश्मियां मनस्तत्व को स्पन्दित करके कुछ रश्मियों को उत्पन्न करती हैं, तब वे उत्पन्न छन्द रश्मियां अन्य छन्द रश्मियों से संयोग करके सर्वथा नवीन छन्द रश्मियों के रूप में प्रकट हो सकती हैं, जिनमें अक्षर संख्या न्यून वा अधिक भी हो सकती है। हमारा मत है कि इस प्रक्रिया में मनस्तत्व की मात्रा अवश्य संरक्षित रह सकती है। इस कारण प्राण अपान के तीस युग्मों से उपर्युक्त मधु मास रश्मि की उत्पत्ति होना सर्वथा सम्भव है। इसमें भी यह विशेष वक्तव्य यह है कि तीस प्राण-अपान युग्मों से बारह मास रश्मियों के निर्माण होने में इन युग्मों का बारह प्रकार से विशेष संयोग ही कारण होता है। यदि ऐसा नहीं होता तो एक ही प्रकार की मास रश्मियां उत्पन्न हो पातीं।

प्रश्न–यदि **'अग्निर्देवेद्ध'** ही मधु मास रश्मि है, तब इसके पूर्वोक्त गुणों की संगति इस छन्द रश्मि के साथ कैसे हो सकेगी?

उत्तर– इस छन्द रश्मि (मधु मास) में निम्न पद विद्यमान हैं– **"अग्निः + देव + इद्धः"**। इनका प्रभाव हम क्रमशः दर्शाते हैं–

(१) **अग्निः**– इस पद के प्रभाव हेतु हम मात्र कुछ शास्त्रीय वचनों को उद्धृत करते हैं–

"अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति। अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते। अङ्गं नयति सन्नममानः" (नि.७.१४)
"अग्निर्वै रक्षसामपहन्ता" (कौ.ब्रा.८.४; १०.३)
"अग्निर्वै देवानां व्रतपतिः" (श.१.१.१.२)

इन वचनों से स्पष्ट होता है कि **'अग्निः'** पद के प्रभाव से मधु मास रश्मि निम्न गुणों से युक्त होती है–

- ये अन्य मास रश्मियों में अग्रगामिनी तथा उनको अपने साथ वहन करने वाली होती हैं।
- संयोग प्रक्रिया के समय सर्वप्रथम इन्हीं का प्रादुर्भाव होता है। इनके अभाव में अन्य मास रश्मियां संयोग प्रक्रिया को सम्पन्न नहीं करा सकतीं।
- किसी संयोग प्रक्रिया के प्रारम्भ में किन्हीं बाधक रश्मियों (डार्क एनर्जी) का प्रहार होने पर, उन्हें नष्ट कर देने की क्षमता विद्यमान होती है।
- ये रश्मियां विभिन्न कणों वा रश्मियों के व्रतों अर्थात् बन्धन बलों की रक्षिका होती हैं।

(२) **देव**– इस पद के प्रभाव के विषय में जानने हेतु हम कुछ आर्ष वचनों को उद्धृत करते हैं–

"देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा" (नि.७.१५)
"देवा यज्ञियाः" (श.१.५.२.३)
"अपहतपाप्मानो देवाः" (श.२.१.३.४)

इन वचनों से निम्न प्रभाव उत्पन्न होता है–

- ये मधु मास रश्मियां संयोग वियोग प्रक्रिया हेतु प्रकाशित वा शुद्ध मार्गों को प्रकट करती हैं।
- ये यजनशील अर्थात् संयोगशील होती हैं।
- इन पर बाधक रश्मियां (डार्क एनर्जी) प्रभाव नहीं डाल सकतीं।

(३) **इद्धः**– इसके प्रभाव से **'अग्निः'** एवं **'देवः'** पद अधिक सक्रिय होकर मधु मास रश्मियों को अन्य रश्मियों की अपेक्षा अधिक सक्रिय करने में सहायक होता है।

यदि पाठक **'अग्निर्देवेद्धः'** के प्रभाव पर विचार करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि मधु मास रश्मियों के जो गुण हमने पूर्व में दर्शाए हैं, वे **'अग्निर्देवेद्धः'** निविद् रश्मियों के गुणों से साम्यता रखते हैं। इस कारण इस निविद् रश्मि को मधु मास रश्मि मानना हमारी दृष्टि में सर्वथा उचित है।

(2.) माधव मास = यह पद **'मधु'** पद से तद्धित करने से सिद्ध होता है। ये रश्मियां मधुमास रश्मियों से मिलती-जुलती होती हैं। **२.३४.१** में निविद् रश्मि **'अग्निर्मन्विद्धः'** ही माधव मास रश्मि कहाती है। इस छन्द रश्मि में भी **'अग्निः'** एवं **'इद्धः'** पदों का अर्थ व प्रभाव पूर्ववत् समझें। यहाँ **'देवः'** के स्थान पर **'मनुः'** शब्द है, जो **'मन्यते अर्चतिकर्मा' (निघं.३.१४)** तथा **'मन्यते कान्तिकर्मा' (निघं.२.६)** से निष्पन्न होता है। तब निश्चित ही **'मनुः'** पद का प्रभाव **'देवः'** के प्रभाव से मेल खाता है। हाँ, इतना अवश्य है कि **'देवः'** पद का प्रभाव कुछ अधिक व्यापक है। इस प्रकार माधव मास रश्मियां मधु रश्मियों के साथ व्यापक स्तर पर समानता रखने से ही माधव कहलाती हैं।

(3.) शुक्रः = यह तृतीय प्रकार की मास रश्मि है। शुक्र के विषय में ऋषियों का कथन है–

"अत्ता वै शुक्रः (ग्रहः)" (श.५.४.४.२०)
"अस्य (अग्निः) एवैतानि (घर्मः, अर्कः, शुक्रः, ज्योतिः, सूर्यः) नामानि" (श.६.४.२.२५)
"यजमानदेवत्यो वै शुक्रः" (काठ.२७.८)
"शुक्र हिरण्यम्" (तै.ब्रा.१.७.६.३)
"यज्ञो वै शुक्रः" (जै.ब्रा.१.६३)

इन प्रमाणों से इन मास रश्मियों की निम्नलिखित विशेषताएं प्रकट होती हैं-

- ये रश्मियां विभिन्न पदार्थों से उत्सर्जित सूक्ष्म रश्मियों का भक्षण करके उन्हें (पदार्थों को) अपनी ओर आकृष्ट करती हैं।
- इन रश्मियों का **'अग्निः'** शब्द से साक्षात् सम्बन्ध है।
- ये रश्मियां संगमनीय होती हैं।
- ये दूसरी रश्मियों का हरण करने वाली होती हैं।
- ये रश्मियां यजनशील होती हैं।

इन पांच गुणों के अतिरिक्त ये अन्य रश्मियों की अपेक्षा शीघ्रकारी होती हैं। उधर बारह निविद् रश्मियों में **'अग्नि सुषमित्'** तृतीय रश्मि होने से यही शुक्र मास रश्मि है। इसके प्रभाव से पूर्व मास रश्मियों में दर्शाए गये 'अग्नि' शब्द के प्रभाव का प्रखर रूप प्रकट होता है, जो इस शुक्र मास रश्मि के उपर्युक्त प्रभावों से मेल खाता है, इस कारण **'अग्निः सुषमित्'** ही शुक्र मास रश्मि है।

(4.) शुचिः = यह चतुर्थ प्रकार की मास रश्मि है। इसके विषय में ऋषियों का कथन है-

"वीर्यं वै शुचिः" (श.२.२.१.८)
"या ते अग्ने शुचिस्तनूर्दिवमन्वाविवेश" (काठ.७.१४; क.६.३)

इन वचनों से इस मास रश्मि के निम्न प्रभाव स्पष्ट होते हैं-

- ये रश्मियां शुक्र मास रश्मियों को तीक्ष्ण बनाती हैं तथा नवीन पदार्थ की उत्पत्ति में सहायक होती हैं।
- यह पूर्वोक्त शुक्र रश्मि का शरीर रूप होती है किंवा इसमें पूर्व मास रश्मि व्याप्त होती है तथा संयोग प्रक्रिया के समय इसमें विभिन्न प्राण रश्मियां प्रविष्ट होने लगती हैं। ये ऊष्मा को समृद्ध करती हैं।

उधर चतुर्थ निविद् रश्मि **'होता देववृतः'** ही चतुर्थ मास रश्मि के रूप में मानी गयी है। इस छन्द (निविद्) रश्मि के प्रभाव से होता-रूप विभिन्न मास रश्मियां विभिन्न देव अर्थात् संयोजनीय रश्मि आदि पदार्थों को आच्छादित करने लगती हैं। इससे अन्य मास रश्मियां तीक्ष्ण अर्थात् संयोजक बलों से अधिक युक्त हो जाती हैं। इन गुणों की शुचि मास रश्मियों के उपर्युक्त गुणों से समानता है। इनमें विद्यमान **'देव'** शब्द इन्हें मधु रश्मियों से संगत करने में सहायक होता है।

(5.) नभस् = यह पांचवीं मास रश्मि है। इसके विषय में ऋषियों का कथन है-

"नभो लोकानां जयति" (जै.ब्रा.१.२६)
"न हि तत्प्राप्य कस्माच्चन बिभेति, तस्मात्तन्नभः" (जै.ब्रा.१.३०)

इन वचनों से इस मास रश्मि के निम्न लक्षण प्रकट होते हैं-

- ये रश्मियां विभिन्न व्याहृति रूप लोकों को नियन्त्रित करके किंवा उनके साथ संगत होकर अन्य रश्मियों को नियंत्रित करके संयोगों को सुदृढ़ करती हैं।
- इनके बंधन में आने के पश्चात् संयोजनीय रश्मि वा कण कम्पित वा विचलित नहीं हो पाते।

'नभः' शब्द **'णह् बन्धने'** धातु से निष्पन्न होने से इसका प्रभाव दृढ़ बन्धन उत्पन्न करने में सहायक होता है। उधर पांचवीं निविद् रश्मि **'होता मनुवृतः'** है। यहाँ होता के विषय में ऋषियों का मत है-

"नाभिर्वा एषा यज्ञस्य यद्धोता" (काठ.२६.१; क.४०.४)
"मध्यं वा एतद्यज्ञस्य यद्धोता" (तै.ब्रा.३.३.८.१०)

इस कारण ये रश्मियां संयोग प्रक्रिया में बन्धन को सुदृढ़ करने हेतु विभिन्न मास रश्मियों के मध्य में व्याप्त हो जाती हैं। यहाँ होता को नाभि कहने से इस निविद् रश्मि का **'नभस्'** मास रश्मियों से सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। यहाँ **'मनु'** शब्द इसे माधव रश्मियों के साथ संगत करने में सहयोग करता है।

(6.) नभस्य = यह छठी मास रश्मि है। ये रश्मियां भी 'नभस्' के समान प्रभावकारी होती हैं। उधर छठी निविद् रश्मि **'प्रणीर्यज्ञानाम्'** मानी गई है। इसके प्रभाव से ये रश्मियां अन्य विभिन्न मास रश्मियों के द्वारा किये जा रहे संगमन-संयोजन कार्यों को प्रकृष्टता से वहन करने में सहायक होती हैं। इनमें विद्यमान **'यज्ञानाम्'** पद पूर्व **'नभस्'** एवं **'शुचि'** मास रश्मियों में विद्यमान 'होता' पद के साथ सामंजस्य बनाये रखने में सहायक होता है।

(7.) ईष = यह सातवीं मास रश्मि है। यह पद **'ईष्'** धातु से निष्पन्न होता है। यह धातु **'ईषति गतिकर्मा' (निघं.२.१४)** तथा **'ईष गतिहिंसादर्शनेषु'** से निष्पन्न होता है। इस कारण यह रश्मि अन्य मास रश्मियों में व्याप्त होती हुई बाधक रश्मियों (डार्क एनर्जी) को नष्ट व नियन्त्रित करके संयोगादि क्रियाओं को गति प्रदान करती है। उधर सातवीं निविद् रश्मि **'रथीरध्वराणाम्'** है। इसके पद **'रथीः'** तथा **'अध्वराणाम्'** भी यही संकेत दे रहे हैं कि यह निविद् रश्मि अन्य मास रश्मियों को हिंसावर्जित रूप प्रदान करके नियन्त्रित वा वहन करने में समर्थ होती हैं, जो **'ईष'** रश्मि का ही परिचायक है।

(8.) ऊर्ज = यह आठवीं मास रश्मि है। **'ऊर्ज'** शब्द के विषय में ऋषियों ने कहा है-

"अन्नमूर्जम्" (कौ.ब्रा.२८.५)
"ऊर्जन्ति सर्वे पदार्था यस्मिन्" (म.द.य.भा.१४.१६)

इन वचनों से स्पष्ट होता है कि यह रश्मि अन्नरूप होती है, जो अन्य मास रश्मियों के साथ संयुक्त होकर किंवा उनके द्वारा अवशोषित होकर उन सभी रश्मियों को बल व ऊर्जा प्रदान करने में सहायक होती है। उधर **'अतूर्तो होता'** आठवीं निविद् रश्मि है। इसके विषय में ऋषियों का कथन है-

"अतूर्तो होतेत्याह न ह्येतं (अग्निम्) कश्चन तरति" (तै.सं.२.५.६.२-३)
"अयं वा अग्निरतूर्तो होतेमं ह न कश्चन तिर्यंच तरति" (ऐ.२.३४)
"न ह्येतꣳ (अग्निम्) रक्षाꣳसि तरन्ति तस्मादाहातूर्तो होतेति" (श.१.४.२.१२)

यहाँ अग्नि को अतूर्त कहा गया है और वही होता भी है। इस प्रभाव के कारण इस मास रश्मि की न केवल पूर्व की मास रश्मियों के साथ सुसंगति होती है, अपितु अग्रवर्णित मास रश्मियों के साथ संगति होकर उन सबको बल व ऊर्जा प्रदान की जाती है। इस रश्मि को कोई भी बाधक रश्मियां (डार्क एनर्जी आदि) पार नहीं कर सकतीं अर्थात् उनका इस मास रश्मि पर कोई प्रभाव नहीं होता, जिसके कारण ही यह सबके साथ संगत होकर उन्हें अधिक सक्रिय करती है। इस कारण यह निविद् रश्मि **'ऊर्ज'** मास रश्मि नाम से जानी जाती है।

(9.) सहस् = यह नवीं मास रश्मि है। **'सहस्'** के विषय में ऋषियों का कथन है-

"सहसः स्वजः" (ऐ.३.२६)
"सहस् बलनाम" (निघं.२.९)
"बलं वै सहः" (श.६.६.२.१४)

इन वचनों से सिद्ध होता है कि ये रश्मियां अच्छे प्रकार गतिशील बलों से युक्त होती हैं, जो डार्क एनर्जी आदि बाधक तत्वों का प्रतिरोध करने एवं उन्हें दूर फैंकने में समर्थ होती हैं। उधर नवीं निविद् रश्मि **'तूर्णिर्हव्यवाट्'** है। **'तूर्णिः'** के विषय में कहा गया है-

"तूर्णि क्षिप्रनाम" (निघं.२.१५), "तूर्णिः कर्म" (नि.७.२७)
"सर्वं ह्येष पाप्मानं तरति तस्मादाह तूर्णिर्हव्यवाडिति" (श.१.४.२.१२)

इससे भी यही प्रभाव उत्पन्न होता है कि यह निविद् रश्मि सभी बाधक रश्मि आदि पदार्थों को दूर करके विभिन्न रश्मि आदि पदार्थों को शीघ्रतापूर्वक परस्पर संगत करके क्रियाशील बनाती हैं। इससे इस निविद् रश्मि का **'सहस्'** नामक मास रश्मि होना सिद्ध है। यहाँ **'हव्यवाट्'** पद अग्नि व होता से सम्बन्धित भी होता है, इस कारण इस मास रश्मि के साथ पूर्व मास रश्मियां सम्यग् रूपेण संगत हो जाती हैं।

(10.) सहस्य = यह दसवीं मास रश्मि है, जो सहस् मास रश्मि के तुल्य प्रभावकारिणी है। उधर **'आ देवो देवान् वक्षत्'** को दसवीं निविद् रश्मि माना गया है। इसके प्रभाव से विभिन्न देव अर्थात् प्राणादि रश्मियों का सर्वतः वहन होकर उन्हें और अधिक सक्रिय व संगमनीय बनाने में सहयोग मिलता है। इसमें विद्यमान **'वक्षत्'** पद पूर्व **'तूर्णिर्हव्यवाट्'** रश्मि के साथ सुसंगत होने में समर्थ होता है, जिससे यह रश्मि पूर्वोक्त **'सहस्'** मास रश्मि के साथ संगत होकर नाना पदार्थों को संगत करने में अधिक सहयोग करती है।

(11) तपस् = यह ग्याहरवीं मास रश्मि है। तपस् के विषय में ऋषियों का कथन है-

"तपो वा अग्निः" (श.३.४.३.२)
"तपो वा एष उपैति यो वाचं यच्छति" (मै.१.८.४)
"एतत् खलु वाव तप इत्याहुर्यः स्वं ददातीति" (तै.सं.६.१.६.३)
"एतत् वाव तपो यत्स्वं ददाति" (क.३७.१)

इन वचनों से निम्न संकेत मिलते हैं-

- इन मास रश्मियों के क्रियाशील होने पर अग्नि तत्व समृद्ध होता है।
- जब दो संयोज्य पदार्थ प्राणापान व मरुद् रश्मि रूपी वाक् को उत्सर्जित करते हैं, उस समय ये मास रश्मियां उन प्राणादि रश्मियों के निकट प्रकट होती हैं।
- इन मास रश्मियों के प्रकट व क्रियाशील होने पर **'स्वः'** अर्थात् व्यान रश्मियां भी क्रियाशील होकर संयोज्य पदार्थों को संयुक्त करने में सहयोग करती हैं।
- उपर्युक्तवत्।

इन बिन्दुओं पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि आधुनिक विज्ञान द्वारा परिकल्पित mediator particles के निर्माण में इन रश्मियों की भी भूमिका विशेषकर पूर्वोक्त अन्य मास रश्मियों की अपेक्षा विशेष होती है। उधर **"यज्ञदग्निर्देवो देवान्"** को ग्यारहवीं निविद् रश्मि माना गया है। इस रश्मि में विद्यमान **'अग्निः', 'देवः'** एवं **'देवान्'** पद पूर्वोक्त मास रश्मियों के साथ इस रश्मि को संगत करने में सहायक होते हैं। इस कार्य में **'यज्ञत्'** शब्द और भी सक्रियता बढ़ाने में सहायक होता है। इस प्रकार यह रश्मि विभिन्न पदार्थों के संयोजन की प्रक्रिया में अन्तिम स्तर की भूमिका निभाती है। इस कारण इस निविद् रश्मि का **'तपस्'** का रूप होना स्पष्ट होता है।

(12.) तपस्य= यह बारहवीं तथा अन्तिम मास रश्मि है। यह पूर्व मास रश्मि **'तपस्'** के लगभग समान ही होती है। उधर **'सो अध्वरा करति जातवेदाः'** को अन्तिम बारहवीं निविद् रश्मि कहा गया है। इसके प्रभाव से सर्वतोव्याप्त विभिन्न प्राण व छन्दादि रश्मियां **{प्राणो वै जातवेदाः (ऐ.२.३६), वायुर्वै जातवेदाः (ऐ.२.३४)}** विभिन्न पदार्थों के संयोजन कर्मों को निर्बाध रूप से सम्पन्न करने में अन्तिम रूप में सहायक होती हैं।

विशेष ज्ञातव्यः- इन बारह रश्मियों के अतिरिक्त एक तेरहवीं मास रश्मि भी होती है, जो सभी मास रश्मियों में व्याप्त होती है। इस विषय में **महर्षि तित्तिर** का कथन है-

"त्रयोदशो मासो विष्टपम्" (तै.ब्रा.३.८.३.३)

इस रश्मि के विषय में विस्तार से कहीं वर्णन नहीं मिलता। **ऐतरेय १.१२.१** में इसके विषय में कुछ वर्णन है।

(ग) ऋतु रश्मियां

ऋतु के विषय में ऋषियों का कथन है-

"रश्मयः ऋतवः" (मै.४.८.८; क.४५.१)
"द्वौ द्वौ हि मासावृतुः" (तां.१०.१२.८), "द्वौ हि मासावृतुः" (श.७.४.२.२६)
"ऋतवो वै मरुतः" (मै.४.६.८)
"ऋतवो वै दिशः प्रजननः" (गो.उ.६.१२)
"तानि वाऽएतानि (भूर्भुवस्स्वरिति) पञ्चाक्षराणि। तान् पञ्चऽर्तूनकुरुत (प्रजापतिः), ते इमे पञ्चर्तवः" (श.११.१.६.५)
"पञ्चर्तवो हेमन्तशिशिरयोः समानेन" (ऐ.१.१)
"धाता षडक्षरेण षड् ऋतूनुदजयत्" (तै.सं.१.७.११.१)
"तद्यानि तानि भूतानि ऋतवस्ते" (श.६.१.३.८)

इन वचनों से निम्न तथ्य प्रकाशित होते हैं-

- ऋतु एक पदार्थ है, जो रश्मियों के रूप में होता है।
- दो-२ मास रश्मियों का युग्म ऋतु कहलाता है।
- उपर्युक्त
- ऋतु रश्मियां सूक्ष्म छन्द (मरुत्) रूप ही होती हैं।
- ऋतु रश्मियां दिशाओं को उत्पन्न करती हैं अर्थात् इनके कारण विभिन्न लोक वा कणों के घूर्णन की दिशाएं निर्धारित होने में सहयोग मिलता है।
- **'भूः', 'भुवः', 'सुवः'** इन तीन महाव्याहृतियों के कुल पांच अक्षर पांच ऋतु रश्मियां हैं।
- हेमन्त व शिशिर को एक मानकर ऋतुएं पांच होती हैं।
- **'ओम्'** रश्मि सहित उपर्युक्त पांच अक्षर मिलाकर छः ऋतु रश्मियों के रूप में होते हैं।
- सभी उत्पन्न पदार्थ भी **'ऋतु'** कहाते हैं, क्योंकि वे सभी निरन्तर गमन करते रहते हैं।

इससे स्पष्ट होता है कि सतत गमन करने वाले पदार्थों की ऋतु संज्ञा होने के उपरान्त भी **'ऋतु'** नामक एक विशिष्ट पदार्थ भी है। वह पदार्थ एकाक्षरा वाग् रश्मियों के रूप के अतिरिक्त दो-२ मास रश्मियों के युग्म के रूप में भी होता है। अब हम ऋतुओं का क्रमशः वर्णन करते हैं-

(1.) वसन्तः = यह प्रथम ऋतु रश्मि है। इसके विषय में ऋषियों ने लिखा है-

"मधुश्च माधवश्च वासन्तिका ऋतू" (मै.२.८.१२)
"मुखं वा एतद् ऋतूनां यद् वसन्तः" (तै.ब्रा.१.१.२.६-७)
"तस्य (संवत्सरस्य) वसन्त एव द्वारं हेमन्तो द्वारम्" (श.१.६.१.१६)
"वसन्तो वै समित्" (श.१.५.३.६)
"वसन्त आग्नीध्रः" (श.११.२.७.३२)
"वसन्त एव भर्गः" (गो.पू.५.१५)

इन वचनों से निम्न संकेत प्राप्त होते हैं-

- पूर्वोक्त मधु व माधव मास रश्मियों का युग्म वसन्त ऋतु रश्मि कहलाता है।
- वसन्त एवं हेमन्त रश्मियां सम्पूर्ण ऋतु रश्मिसमूह का मुखरूप हैं, अर्थात् ये रश्मियां विभिन्न रश्मियों को ग्रहण करके अन्य ऋतु रश्मियों को प्रेषित करने में विशेष रूप से प्रवृत्त होती हैं।
- इन ऋतु रश्मियों के प्रकाशित होते ही अन्य ऋतु रश्मियां प्रकाशित अर्थात् सक्रिय हो उठती हैं। इसके साथ ही ये अन्य मास रश्मियों को मार्ग प्रदान करती हैं।

- वसन्त रश्मियां ही ईंधन रूप होकर सभी ऋतु रश्मियों को सक्रिय वा प्रकाशित करती हैं।
- वसन्त ऋतु रश्मियां अग्नि अर्थात् ऊष्मा व विद्युत् को धारण करने में विशेष सहायक होती हैं।
- वसन्त रश्मियां तेजस्विता की उत्पत्ति में सहायक होती हैं।

पाठकगण पूर्वोक्त मधु एवं माधव रश्मियों के युग्म पर विचार करके उस युग्म की वसन्त ऋतु रश्मियों से स्वयं तुलना करने का प्रयास करें, इसके साथ ही पाठकों को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि कोई भी पदार्थ अपने अवयवों के पृथक्-२ गुणों का संग्रह मात्र नहीं होता, अपितु उसमें अनेक नवीन गुण भी उत्पन्न हो सकते हैं तथा पुराने गुण तिरोहित भी हो सकते हैं। इन रश्मियों को ब्रह्म रूप बताते हुए कहा है-

"ब्रह्म हि वसन्तः" (श.२.१.३.५)

इससे सिद्ध है कि ये रश्मियां अन्य ऋतु रश्मियों को बल व प्रेरण प्रदान करती हैं। इन रश्मियों की प्रधानता में सूक्ष्म अग्नि तत्व की प्रधानता होती है, इसी कारण कहा है-

"आग्नेयीं वसन्ते (आलभेत)" (काठ.१३.१)

(२.) ग्रीष्म= इन ऋतु रश्मियों के विषय में ऋषियों ने कहा है-

"एतावेव (शुक्रश्च शुचिश्च) ग्रैष्मौ (मासौ)। स यदेतयोर्बलिष्ठं तपति ते नो हेतौ शुक्रश्च शुचिश्च" (श.४.३.१.१५)
"ग्रीष्मो ग्रस्यन्तेऽस्मिन्रसाः" (नि.४.२७)

इन वचनों से स्पष्ट है कि ये ऋतु रश्मियां शुक्र एवं शुचि नामक मास रश्मियों के युग्म के रूप में होती हैं। ये रश्मियां विभिन्न रसों अर्थात् प्राणादि रश्मियों को तीव्रता से अवशोषित करती हैं, इस कारण किसी भी पदार्थ के साथ इनके मेल से वह पदार्थ ऊष्मा को तीव्रता से अवशोषित करता है, इस कारण किसी भी पदार्थ के साथ इनके मेल से ऊष्मा की तीव्रता बढ़ती है। इससे इनकी 'शुक्र' एवं 'शुचि' मास रश्मियों के साथ समता प्रदर्शित होती है। इनको क्षत्र रूप बताते हुए कहा है-

"क्षत्रं हि ग्रीष्मः" (श.२.१.३.५)

अर्थात् ये रश्मियां भेदक गुणों से युक्त होती हैं। इन रश्मियों की प्रचुरता में इन्द्र तत्व (विद्युत्) की अधिकता होती है, इसी कारण कहा गया है-

"ग्रीष्मे मध्यन्दिने सः हितामैन्द्रीम् (आलभेत)" (तै.ब्रा.२.१.२.५)

(३.) वर्षा= इस ऋतु रश्मि के विषय में ऋषियों ने कहा है-

"एताव् (नभश्च नभस्यश्च) एव वार्षिकौ (मासौ)" (श.४.३.१.१६)
"विड्ढि वर्षाः" (श.२.१.३.५)
"मरुतो वै वृष्ट्या ईशते" (मै.४.१.१८)

इन वचनों से सिद्ध होता है-

- नभस् एवं नभस्य नामक मास रश्मियों का युग्म रूप वर्षा ऋतु रश्मि कहलाता है।
- ये ऋतु रश्मियां विड् रूप होकर अन्य रश्मियों में प्रविष्ट होकर उन्हें अधिक समृद्ध बनाने में सहायक होती हैं।
- इन रश्मियों के द्वारा विभिन्न मरुद् रश्मियां नियन्त्रण सामर्थ्य से युक्त होती हैं। इससे नाना संयोगादि क्रियाएं समृद्ध होती हैं।

इन रश्मियों की प्रचुरता में पर्जन्य अर्थात् सूक्ष्म मेघरूप पदार्थों का निर्माण होने लगता है, इसी कारण कहा-

"षड्भिः पार्जन्यैर्वा मारुतैर्वा (पशुभिः) वर्षासु (यजते)" (श.१३.५.४.२८)

ये गुण नभ एवं नभस्य मास रश्मियों के संयुक्त रूप से उत्पन्न होते हैं, यह वर्षा ऋतु रश्मियों का सूचक है।

(4.) शरद्= इस ऋतु रश्मि के विषय में ऋषियों ने लिखा है-

"यद्विद्योतते तच्छरदः (रूपम्)" (श.२.२.३.८)
"स्वधा वै शरद्" (श.१३.८.१.४)
"एतावेव शारदौ (मासौ) स यच्छरद्यूर्ग्रसः ओषधयः पच्यन्ते तेनो हैताविषश्चोर्जश्च" (श.४.३.१.१७)
"अन्नं वै शरद्" (मै.१.६.६)

इन वचनों से सिद्ध होता है-

- ये ऋतु रश्मियां प्रकाश उत्पन्न करने में अपनी विशेष भूमिका निभाती हैं।
- ये रश्मियां स्वधा रूप होती हैं, इसका आशय है **{स्वधा= द्यावापृथिव्योर्नाम (निघं.३.३०)}** ये रश्मियां प्रकाशित तथा अप्रकाशित दोनों प्रकार के कणों अथवा कण व क्वाण्टाज् के परस्पर संयोजन-वियोजन में विशेष भूमिका निभाती हैं।
- ये रश्मियां अन्य रश्मियों द्वारा संगत होने किंवा उनके द्वारा अवशोषित होने वाली होती हैं।
- **"षड्भिर्मैत्रावरुणैः (पशुभिः) शरदि (यजते)" (श.१३.५.४.२८)** से संकेत मिलता है कि इन रश्मियों की प्रधानता में **{द्यावापृथिवी वै मित्रावरुणयोः प्रियं धाम। (तां.१४.२.४)}** प्रकाशित व अप्रकाशित पदार्थों अर्थात् कणों व क्वाण्टाज् दोनों की विद्यमानता व संगति भी प्रचुरता से होती है।

इस विषय में पाठक ईष एवं ऊर्ज मास रश्मियों के प्रभावों को भी अवश्य पढ़ें।

(5.) हेमन्त= इसके विषय में ऋषियों का कथन है-

"हेमन्तो हि वरुणः" (मै.१.१०.१२)
"एतौ (सहश्च सहस्यश्च) एव हैमन्तिकौ (मासौ) स यद्धेमन्त इमाः प्रजाः सहसेव स्वं वशमुपनयते तेनो हैतौ सहश्च सहस्यश्च" (श.४.३.१.१८)
"हेमन्तो हिमवान्। हिमं पुनर्हन्तेर्वा। हिनोतेर्वा" (नि.४.२७), (हि गतौ वृद्धौ परितापे च= भेजना, उकसाना, फेंकना, उन्नत वा उत्तेजित करना-आप्टेकोश)

इन वचनों से हेमन्त रश्मियों के निम्न प्रभाव ज्ञात होते हैं-

- ये रश्मियां वरुण रूप होने से अन्य रश्मियों को अपने साथ संगत करने किंवा उन्हें आच्छादित करने में विशेष समर्थ होती हैं।
- ये रश्मियां सहस् एवं सहस्य संज्ञक मास रश्मियों का संयुक्त रूप होती हैं, जो अपने बल से अन्य मासादि रश्मियों को अपनी अनुगामिनी किंवा संगामिनी बनाती हैं।
- ये रश्मियां अन्य रश्मियों को बार-२ उत्तेजित वा प्रक्षिप्त करती हुई विभिन्न कण वा रश्मियों को संगत कराने हेतु प्रेरित करती हैं। इनके विषय में कहा गया है-

"षड्भिरैन्द्रावैष्णवैः (पशुभिः) हेमन्ते (यजते)" (श.१३.५.४.२८)।

इससे संकेत मिलता है कि इन रश्मियों की प्रचुरता में विद्युत् कणों के पारस्परिक संगम की प्रक्रिया तीव्र होती है।

इन रश्मियों का प्रभाव सहस् एवं सहस्य मास रश्मियों के संयुक्त प्रभाव के साथ संगति रखता है।

(6.) शिशिर= इस विषय में ऋषियों का मत है-

"तपश्च तपस्यश्च शैशिरा ऋतू" (मै.२.८.१२)
"शिशिरं प्रतिष्ठानम्" (मै.४.६.१८)
"शिशिरं वा अग्नेर्जन्म,.........सर्वासु दिक्ष्वग्निश्शिशिरे" (काठ.८.१)

"षड्भिरैन्द्राबार्हस्पत्यैः (पशुभिः) शिशिरे (यजते)" (श.१३.५.४.२८)

इन वचनों से निम्न संकेत मिलते हैं-

- तपस् एवं तपस्य नामक रश्मियों का युग्म ही शिशिर नामक ऋतु रश्मि कहाता है।
- ये रश्मियां अन्य ऋतु रश्मियों की आधार रूप होती हैं।
- **अग्नि का जन्म इन्हीं रश्मियों में होता है।** इसका अभिप्राय हमें यह प्रतीत होता है कि **तारों के केन्द्रीय भाग जैसे स्थानों में जहाँ ऊर्जा की उत्पत्ति होती है, वहाँ शिशिर ऋतु रश्मियों की प्रधानता होती है** तथा इनकी प्रधानता में अन्य ऋतु रश्मियों की भी प्रतिष्ठा होती है। विशेषकर तारों के बाहरी विशाल भाग में ऋतु रश्मियों की विशेष प्रधानता होती है, ऐसा इस ग्रन्थ में अनेकत्र हमने दर्शाया है, उस विशाल भाग में गुरुत्वाकर्षण बल के कारण जो ताप उत्पन्न होता है, वहाँ इन्हीं ऋतु रश्मियों की प्रधानता होती है। जब क्वाण्टाज् की उत्पत्ति होती है, उस समय भी इन्हीं रश्मियों की प्रधानता होती है।
- इन रश्मियों की प्रधानता में इन्द्र एवं बृहस्पति की प्रचुरता होती है। इसका तात्पर्य है कि {इन्द्रः = स यस्स आकाश इन्द्र एव सः। (जै.उ.१.६.१.२), इन्द्रो वै यजमानः (श.२.१.२.११), प्राण एवेन्द्रः। (श.१२.६.१.१४), वागिन्द्रः (श.८.७.२.६)} इन रश्मियों की प्रचुरता में सभी प्राण, वाक् एवं आकाश रश्मियां एवं बृहस्पति रूप सूत्रात्मा वायु रश्मियां भी विशेष सक्रिय होकर नाना संयोगादि प्रक्रियाएं समृद्ध होती हैं

पाठक इन ऋतु रश्मियों के प्रभाव से तपस् एवं तपस्य मास रश्मियों के प्रभाव की संगति लगाकर देखें।

छन्द विज्ञान

सामान्य गुण- सृष्टि उत्पत्ति प्रक्रिया में छन्द रश्मियों की भूमिका अहम् होती है। **वस्तुतः सम्पूर्ण सृष्टि छन्द रश्मियों का ही खेल है।** हम पूर्व में मनस्तत्व में अनेक स्पन्दनों के उत्पन्न होने की चर्चा कर चुके हैं। ये स्पन्दन वाक् व प्राण कहलाते हैं। यह वाक् तत्व ही **'छन्द'** कहलाता है अर्थात् छन्द रश्मियां, जो मनस्तत्व के अन्दर स्पन्दन रूप होती हैं, ही वाक् तत्व कहलाती हैं। पूर्व में हम **'ओम्', 'भूः', 'भुवः', 'स्वः'** आदि छन्द रश्मियों एवं प्राथमिक प्राण रूपी रश्मियों की चर्चा कर चुके हैं। वे सभी मनस्तत्व में उत्पन्न सूक्ष्म स्पन्दन हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि **'ओम्'** का परारूप मनस्तत्व से उत्पन्न होने से पूर्व ही उत्पन्न हो चुका होता है। मन व वाक् तत्व के विषय में ऋषियों का कथन है-

"मनो वै पूर्वमथ वाक्" (जै.ब्रा.१.१२८; ३.१२)

"मनसो हि वाक् प्रजायते" (जै.ब्रा.१.३२०)

"मनसा वा अग्रे कीर्तयति, तद् वाचा वदति" (शां.आ.७.२) के द्वारा मनस्तत्व को वाक् तत्व से पूर्वोत्पन्न सिद्ध करते हुए भी कहा गया है-

"तस्यै (वाग्रूपाया गोः) मन एव वत्सः। मनसा वै वाचं पृक्तां दुहे" (जै.ब्रा.१.१६)

"मन एव वत्सः" (श.११.३.१.१)

अर्थात् मनस्तत्व वाक् तत्व से उत्पन्न होता है। यहाँ वाक् तत्व से केवल **'ओम्'** छन्द रश्मि की परावस्था का ग्रहण करना चाहिये, ऐसा हमारा मत है। हम पूर्व में लिख चुके हैं कि **'ओम्'** छन्द रश्मि रूपी वाक् तत्व ही मनस्तत्व में नाना बलों व क्रियाओं का बीज वपन करती है। अन्य सभी वाक् (छन्द) रश्मियां मन के सापेक्ष योषा (स्त्री) रूप व्यवहार करती हैं, जबकि परा रूप में **'ओम्'** रश्मि मन के सापेक्ष वृषा (पुरुष) रूप में व्यवहार करती है। इस ग्रन्थ के २.३८.५ में मन, वाक् व प्राण रश्मियों को जल की तरंगों से तुलना करके व्याख्यात किया गया है। पाठक उस प्रकरण को अवश्य पढ़ें। इस प्रकार मूल पदार्थ रूप में मन व वाक् एक ही हैं, जैसे पानी की लहरें पानी से पृथक् नहीं होती, इसी कारण **महर्षि जैमिनी** का कथन है-

"वागिति मनः" (जै.उ.४.११.१.११)

मनस्तत्व में छन्द रश्मि रूपी वाक् तत्व उत्पन्न करना ईश्वर तत्व का कार्य है, जो **'ओम्'** छन्द रश्मियों के परा रूप किंवा कालतत्व द्वारा निरन्तर करता रहता व उन्हें नियन्त्रित भी करता रहता है। वाक् व मन के मिथुन से ही समस्त सृष्टि का निर्माण व संचालन होता है। इसीलिए कहा गया है-

"वाक् च वै मनश्च देवानां मिथुनम्" (ऐ.५.२३)
"वृषा = वाक्" {वृषा हि स्रुवः (श.१.४.४.३), वृषा स्रुवः (श.१.३.१.६)}
"योषा हि वाक्" (श.१.४.४.४)

इससे स्पष्ट होता है कि समस्त सृष्टि में मनस्तत्व पुरुष रूप तथा वाग् रूप विभिन्न छन्द रश्मियां स्त्री रूप व्यवहार करती हैं। इनके परस्पर संयोग के बिना सृष्टि में कुछ भी निर्माण सम्भव नहीं है। **'ओम्'** का परारूप इससे ठीक विपरीत व्यवहार करता है।

अब छन्द रश्मियों रूपी वाक् तथा प्राथमिक प्राण रश्मियों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में ऋषियों के निम्नलिखित वचनों पर विचार करते हैं-

"वाक् च वै प्राणश्च मिथुनम्" (श.१.४.१.२)
"सर्वे प्राणा वाचि प्रतिष्ठिताः" (श.१२.८.२.२५)

इन वचनों से सिद्ध होता है कि जिस प्रकार मनस्तत्व एवं वाक् तत्व का युग्म होता है, उसी प्रकार प्राण एवं वाक् तत्वों का भी युग्म होता है। इनके संयोग के अभाव में सृष्टि रचना का सम्पन्न होना तो क्या, प्रारम्भ होना भी असम्भव है। सभी प्राथमिक प्राण रश्मियां वाग् अर्थात् छन्द रश्मियों में प्रतिष्ठित रहती हैं। इन दोनों प्रकार की रश्मियों के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए ऋषियों का कथन है-

"प्राणो हि रेतसां विकर्त्ता" (श.१३.३.८.१)
"प्राणो रेतः" (ऐ.२.३८)
"वाग्वाऽइदं कर्म प्राणो वाचस्पतिः" (श.६.३.१.१६)

इन वचनों से संकेत मिलता है कि प्राण रश्मियां वृषा (पुरुष) रूप होकर योषा (स्त्री) रूप छन्द रश्मियों में वीर्यवपन करती रहती हैं अर्थात् उन्हें प्रेरित व गतिशील बनाए रखती हैं। प्राणों के बिना छन्द रश्मियों की कोई भी क्रिया सम्पन्न नहीं हो सकती। इसी प्रकार छन्द रश्मियों के अभाव में प्राण रश्मियां भी सृष्टि रचना की प्रक्रिया को संचालित नहीं कर सकतीं।

अब हम छन्द रश्मि रूपी वाक् तत्व पर विशेष विचार करते हैं। **'छन्दः'** पद के विषय में **महर्षि दयानन्द** लिखते हैं-

'स्वच्छन्दता' (तु.यजु.भा.१६.७४), 'प्रकाशनम्' (यजु.भा.१५.५), 'बलकारि' (यजु.भा.१४.१८), 'बलम्' (यजु.भा.१४.६), 'परिग्रहणम्' (यजु.भा.१४.५), 'संस्थापनम्' (यजु.भा.१५.५), 'ऊर्जनम्' (यजु.भा.१५.४)।

इन प्रमाणों से संकेत मिलता है कि छन्द रश्मियां स्वच्छन्द विचरण करती हुई विभिन्न प्राण रश्मियों को सब ओर से ग्रहण करके बल व ऊर्जा एवं प्रकाश को उत्पन्न करती हुई नाना पदार्थों को धारण व सक्रिय करती हैं। इनके इन्हीं गुणों के कारण नाना कण वा क्वाण्टाज् की उत्पत्ति सम्भव होती है। इन रश्मियों के विषय में अन्य ऋषियों का कथन है-

"छन्दः स्तोतृनाम" (निघं.३.१६), "छन्दति अर्चतिकर्मा" (निघं.३.१४)
"छन्दांसि च्छादनात्" (नि.७.१२), "छन्दांसि छन्दयन्तीति वा" (दै.३.१६)
"छन्दांसि वै वाजिनः" (गो.उ.१.२०)
"प्राणा वै छन्दांसि" (कौ.ब्रा.१७.२)
"छन्दांसि वै धुरः" (जै.ब्रा.३.२१०)
"छन्दोभिर्यज्ञस्तायते" (जै.ब्रा.२.४३१)
"उपबर्हणं ददाति। एतद्वै छन्दांसि रूपम्" (क.४४.४ - ब्रा.उ.को. से उद्धृत)
"छन्दोभिर्हीदꣳ सर्वं वयुनं नद्धम्" (श.८.२.२.८)

{वयुनं वेतेः कान्तिर्वा प्रज्ञा वा (नि.५.१५), वीयते गम्यतेऽत्रेति (उ.को.३.६१)}

इन वचनों से छन्द रश्मियों के निम्न गुणों का प्रकाशन होता है-

- छन्द रश्मियां प्रकाश को उत्पन्न करने वाली होती हैं।
- छन्द रश्मियां किसी परमाणु (कण वा क्वाण्टा) को सर्वतः आच्छादित करने वाली होती हैं।
- ये रश्मियां बलों की संयोजिका एवं उत्पादिका होती हैं।
- ये रश्मियां प्राण रश्मियों के समान भी व्यवहार करती हैं।
- इससे संकेत मिलता है कि इन रश्मियों का व्यवहार अधिकांश में प्राण रश्मियों के समान होता है तथा विभिन्न छन्द रश्मियां अनेक रूपों वाली होकर उनमें से कुछ रश्मियां प्राण के समान वृषा, तो शेष उनके सापेक्ष योषा रूप व्यवहार करती हैं। इसका तात्पर्य है कि इनका पुरुष वा स्त्री रूप होना सापेक्ष व्यवहार है, न कि सर्वथा निरपेक्ष।
- ये रश्मियां विभिन्न कण वा क्वाण्टाज् एवं सभी लोकों की आधार रूप होकर उन्हें धारण करती हैं।
- ये ही इस सृष्टि में सभी संयोग-वियोगादि प्रक्रियाओं को सम्पादित, समृद्ध एवं विस्तृत करती हैं।
- यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड इन्हीं के द्वारा बंधा हुआ है।

छन्द रश्मियों की उत्पत्ति

इनकी उत्पत्ति के विषय में कहा है-

"छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात् (यज्ञात्)" (काठ.संक.१००.१८ - ब्रा.उ.को. से उद्धृत)

उधर 'यज्ञ' के विषय में कहा गया है-

"वाग्वै यज्ञः" (ऐ.५.२४; श.१.१.२.२; ३.१.३.२७)
"आत्मा वै यज्ञः" (श.६.२.१.७)

इन वचनों से स्पष्ट होता है कि आत्मा रूप ईश्वर तत्व **'ओम्'** छन्द रश्मियों के द्वारा मनस्तत्व को स्पन्दित करके विभिन्न छन्द रश्मियों को उत्पन्न करता है। यजुर्वेद के पुरुष सूक्त के भाष्य में **महर्षि दयानन्द** ने वेदोत्पत्ति से सम्बन्धित इस ऋचा में विद्यमान **'यज्ञः'** पद का अर्थ **'परमेश्वर'** किया है। इससे छन्दोत्पत्ति में ईश्वर तत्व की सर्वोपरि भूमिका स्वतः सिद्ध है। इस प्रक्रिया में **'भूः'**, **'भुवः'** एवं **'स्वः'** व्याहृति रश्मियों की अनिवार्य भूमिका होती है। इसका संकेत निम्न कथन से मिलता है-

"स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत्तस्यास्तप्यमानाया रसान्प्रावृहद्। भूरित्यृग्भ्यो भुवरिति यजुर्भ्यः स्वरिति सामभ्यः।।" (छां.उ.४.१७.३)

इससे संकेत मिलता है कि छन्द रश्मियां तीन प्रकार की होती हैं, **'ऋक्', यजुः'** एवं **'साम'**। इन तीनों प्रकार की छन्द रश्मियों के निर्माण में मनस्तत्व एवं **'ओम्'** रश्मियों की भूमिका के साथ-२ क्रमशः **'भूः'**, **'भुवः'** एवं **'स्वः'** की प्रधानता से भूमिका होती है। ये सभी छन्द रश्मियां ऐसे स्पन्दनों के रूप में उत्पन्न होती हैं, जो उत्पन्न होते ही विभिन्न प्राण रश्मियों को आच्छादित करके मिथुन बनाने लगती हैं। अब हम **'ऋक्', 'यजुः'** एवं **'साम'** छन्द रश्मियों पर क्रमशः विचार करते हैं-

(१) **ऋक्** = इन छन्द रश्मियों के विषय में ऋषियों का कथन है-

"ऋक् अर्चनी" (नि.१.८)
"ऋग्भ्यो जाताः सर्वशो मूर्तिमाहुः" (तै.ब्रा.३.१२.६.१)
"ऋग् वा अयं (पृथिवी) लोकः" (जै.ब्रा.२.३८०)
"ज्योतिस्तद्यद् ऋक्" (जै.ब्रा.१.७६)
"कृष्णमृक्" (काठ.२३.३)

"वागेवऽर्चश्च सामानि" (श.४.६.७.५)

इन प्रमाणों से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं-

❍ ये रश्मियां सूक्ष्म दीप्तियुक्त होती हैं। ध्यातव्य है कि पं. युधिष्ठिर मीमांसक ने संस्कृत-धातु-कोष में वेद में **'अर्च'** धातु का अर्थ **'चमकना'** माना है।

❍ इस सृष्टि में जो भी मूर्तिमान् पदार्थ हैं, उन सभी की उत्पत्ति में इन्हीं छन्द रश्मियों की मुख्य भूमिका होती है किंवा ये उन पदार्थों का उपादान कारण होती हैं। यहाँ आधुनिक विज्ञान द्वारा माने जाने वाले मूलकणों को मूर्तिमान् माना जा सकता है।

❍ ये ऋचाएं पार्थिव लोकों अर्थात् अप्रकाशित पदार्थों की उपादान कारणभूत होती हैं। यहाँ अप्रकाशित पदार्थों से उपर्युक्त मूलकणों का ग्रहण करना चाहिए। यहाँ पृथिवी से असुर तत्व का भी ग्रहण करना चाहिए। इसका संकेत निम्न प्रमाणों से मिलता है-

"असुराणां वा इयं पृथिव्यासीत्" (मै.४.१.१०; काठ.३१.८)
"ऋचा वा असुरा आयन् साम्ना देवाः" (जै.ब्रा.१.१५४)

इससे स्पष्ट संकेत मिलता है कि डार्क मैटर व डार्क एनर्जी में ऋक् रूपी छन्द रश्मियों की प्रधानता होती है।

❍ सभी मूर्तिमान् पदार्थ अर्थात् मूलकण वा अप्रकाशित पदार्थ प्रारम्भ में ज्योतियुक्त होते हैं, जो कालान्तर में अप्रकाशित रूप धारण कर लेते हैं। इसी प्रकार असुर तत्व अर्थात् डार्क मैटर एवं डार्क एनर्जी भी पहले प्राण व छन्दादि की सूक्ष्म ज्योति के कारण रूप में ही विद्यमान होते हैं, जो कार्यरूप में परिवर्तित होने पर असुर तत्व का रूप धारण करते हैं। यह सूक्ष्म ज्योति वाला पदार्थ ही शास्त्र में **'प्रजापति'** कहा गया है।

❍ इन रश्मियों से उत्पन्न पदार्थ जब अप्रकाशित वा सघन रूप धारण करता है, उस समय उसमें आकर्षण बल की भी प्रबलता हो जाती है। असुर तत्व (डार्क मैटर एवं डार्क एनर्जी) के विषय में हमारा मत है कि यह पदार्थ प्रबल प्रक्षेपक व प्रतिकर्षण बल से युक्त होने पर भी अति न्यून मात्रा में आकर्षण का भाव भी रखता है। यह आकर्षण का भाव स्वयं के प्रति अर्थात् आसुर परमाणुओं का एक-दूसरे के प्रति अवश्य होता है अन्यथा यह पदार्थ रूप में विद्यमान कदापि नहीं होता, बल्कि पूर्णतः बिखर कर समाप्त हो जाता।

इन छन्द रश्मियों तथा साम रश्मियों में वाक् तत्व अर्थात् **'ओम्'** रश्मियों की प्रधानता (मनस्तत्व के सापेक्ष) होती है। इस कारण ये दोनों प्रकार की रश्मियां बलों से विशेष युक्त होती हैं।

इस प्रकार इन उपर्युक्त गुणों से युक्त छन्द रश्मियां **ऋक्** कहलाती हैं।

(२) **यजुः** = इन छन्द रश्मियों के विषय में ऋषियों का कथन है-

"यजुर्भिर्यजन्ति" (काठ.संक.२७.१, ब्रा.उ.को. से उद्धृत), "यजुर्यजतेः" (नि.७.१२)
"अन्तरिक्षं वै यजुषामायतनम्" (गो.पू.२.२४)
"अन्तरिक्षलोको यजुर्वेदः" (ष.१.५)
"सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्" (तै.ब्रा.३.१२.६.१)
"मन एव यजूंषि" (श.४.६.७.५)

इन प्रमाणों से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं-

❍ ये छन्द रश्मियां यजनशील होती हैं अर्थात् विभिन्न पदार्थों के संयोग में इनकी भूमिका अहम होती है।

❍ आकाश तत्व (space) में इनकी प्रधानता एवं व्यापकता होती है। ध्यातव्य है कि किन्हीं कण वा रश्मि आदि के संयोग में space की अनिवार्य भूमिका वर्तमान वैज्ञानिक क्षेत्र में भी सर्वविदित है।

❍ ये छन्द रश्मियां ही मुख्यतः आकाश तत्व की उपादान कारण हैं। अन्य छन्द रश्मियां गौण रूप में कारण होती हैं।

- इस ब्रह्माण्ड में सभी प्रकार की गति इन्हीं छन्द रश्मियों के अन्दर निरन्तर होती है। इसके साथ ही आकाश तत्व की उपादानभूत ये रश्मियां सतत गति करती रहती हैं।
- इन छन्द रश्मियों में पूर्वोक्त वाक् तत्व की अपेक्षा मनस्तत्व की प्रधानता होती है। इस कारण ये रश्मियां अन्य रश्मियों को आधार प्रदान करती हैं।

(३) **साम=** तीसरे प्रकार की छन्द रश्मियां **'साम'** कहलाती हैं। इनके विषय में ऋषियों ने कहा है-

"अर्चिः (आदित्यस्य) सामानि" (श.१०.५.१.५)
"देवलोको वै सामः" (तै.सं.७.५.१.६), "साम वा असौ (द्यु) लोकः" (तां.४.३.५)
"सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत्" (तै.ब्रा.३.१२.६.२)
"क्षत्रं वै साम" (श.१२.८.३.२३)
"साम वाऽऋचः पतिः" (श.८.१.३.५)
"ऋचि साम गीयते" (श.८.१.३.३)
"साम देवानामन्नम्" (तां.६.४.१३)

इन प्रमाणों से निम्नानुसार परिणाम प्राप्त होते हैं-

- आदित्य रश्मियों में इन रश्मियों की प्रधानता होती है।
- इस सृष्टि में सभी प्रकार के क्वाण्टाज् एवं कथित mediator particles में भी इन्हीं की प्रधानता होती है।
- ब्रह्माण्डस्थ सम्पूर्ण प्रकाश निरन्तर साम रश्मियों से ओत-प्रोत रहता है।
- इन छन्द रश्मियों में भेदन क्षमता विशेष होती है।
- ये रश्मियां पूर्वोक्त ऋक् रश्मियों का रक्षण व पालन करती हैं। वर्तमान विज्ञान द्वारा परिभाषित ऊर्जा भी द्रव्य का पालन व रक्षण करती है।
- साम रश्मियां ऋक् रश्मियों के अन्दर प्रकाशित होती हैं, अर्थात् उन्हें प्रकाशित करती हैं। वर्तमान विज्ञान द्वारा निर्दिष्ट फोटोन्स ही विभिन्न कणों में प्रतिष्ठित होकर उन्हें प्रकाशित करते हैं, अन्यथा वे कण प्रकाशित नहीं हो सकते।
- विभिन्न देव पदार्थ अर्थात् क्वाण्टाज् निरन्तर साम रश्मियों का भक्षण करते रहते हैं।

सभी प्रकार की छन्द रश्मियां, जो मन्त्रों के रूप में वेद संहिताओं में उपलब्ध हैं एवं उनमें से कुछ अनुपलब्ध भी हैं, इस ब्रह्माण्ड में विद्यमान हैं। इनसे ही सम्पूर्ण सृष्टि बनी है। ये सभी प्रकार की मंत्र रूप छन्द रश्मियां उपर्युक्त तीन प्रकार से वर्गीकृत की जाती हैं।

अब हम छन्द रश्मियों के अन्य प्रकार से वर्गीकृत होने पर विस्तार से विचार करते हैं-

इस सृष्टि में छन्द रश्मियां अनन्त वा असंख्य मात्रा में विद्यमान हैं परन्तु गुण व कर्मों के आधार पर उनके प्रमुख रूप से सात विभाग होते हैं। इस विषय में ऋषियों का कथन है-

"सप्त छन्दांसि" (तै.सं.२.४.६.२; जै.ब्रा.१.८६; श.६.५.२.८)
"सप्त वै छन्दांसि" (मै.१.११.८; काठ.१४.८; क.३५.७; कौ.ब्रा.१४.५; शां.आ.२.६)

ये सात छन्द हैं- गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् एवं जगती। ये सातों छन्द रश्मियों के भी दैवी, आसुरी, प्राजापत्या, याजुषी, साम्नी, आर्ची, आर्षी एवं ब्राह्मी, ये आठ भेद माने गये हैं।

अब हम इन सात छन्द रश्मियों के विषय में क्रमशः विचार करते हैं-

(१) गायत्री

यह छन्द रश्मि सबसे प्रथम उत्पन्न होती है। इसके विषय में ऋषियों का कथन है-

"गायत्री गायतेः स्तुतिकर्मणः त्रिगमना वा विपरीता गायतो मुखादुदपतदिति ब्राह्मणम्" (नि.७.१२)

"एतद्धि (गायत्री) छन्द आशिष्ठम्" (श.८.२.३.६)
"गायत्रीमेव प्रातःसवनं संपद्यते" (जै.ब्रा.२.१०१)
"ज्योतिर्वै गायत्री" (तां.१३.७.२)
"तस्य (प्राणस्य) त्वग्गायत्री" (ऐ.आ.२.१.६)
"मुखं गायत्री (छन्दसाम्)" (तां.७.३.७)
"वीर्यं गायत्री" (श.१.३.५.४)
"सा गायत्री समिद्धान्यानि छन्दाꣳसि समिन्धे" (श.१.३.४.६)
"वाग्वै गायत्री" (काठ.२३.५; क.३६.२)

इन प्रमाणों से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं-

❍ जब मनस्तत्व में सूक्ष्म प्रकाश उत्पन्न होने वाला ही होता है अर्थात् **'ओम्'** छन्द रश्मियां, जब मनस्तत्व को प्रेरित करना प्रारम्भ करती ही हैं, उसी समय सर्वप्रथम जो रश्मियां (स्पन्दन) उत्पन्न होती हैं, वे गायत्री छन्द रश्मियां कहलाती हैं। यद्यपि **'ओम्'** रश्मि भी इसी छन्द का सूक्ष्म व व्यापकतम रूप है, किन्तु यह रूप अन्य रश्मियों को उत्पन्न करने हेतु मनस्तत्व को प्रेरित करता है। यह **'ओम्'** रश्मि का सूक्ष्मतम अर्थात् परारूप किंवा कालरूप है। इसके पश्चात् **'ओम्'** का पश्यन्ती रूप मनस्तत्व के साथ मिलकर विविध प्रकार की छन्द रश्मियों में परिणत होता रहता है। इसकी प्रथम परिणति गायत्री छन्दों के रूप में होती है। ये रश्मियां तीन प्रकार की गतियों से युक्त होती हैं। परा **'ओम्'** रश्मि ईश्वर तत्व द्वारा उत्पन्न व प्रेरित होती है।

❍ यह छन्द रश्मि अन्य छन्द रश्मियों की अपेक्षा सूक्ष्मतम परन्तु सर्वाधिक तेजस्विनी होती है। इसकी गति भी अन्य छन्दों की अपेक्षा सर्वाधिक होती है।

❍ ये छन्द रश्मियां प्रातःसवन को सम्पादित करती हैं। इसका तात्पर्य है कि इनका **प्राकट्य सर्वप्रथम अकस्मात् अतिशीघ्रता से होता है।** सृष्टि रचना के प्रथम चरण के समय इनकी ही सर्वाधिक प्रधानता होती है।

❍ इन रश्मियों से प्रकाश की उत्पत्ति होती है। इस सृष्टि में जहाँ कहीं भी मन्द वा तीक्ष्ण प्रकाश व्यक्त वा अव्यक्त अवस्था में विद्यमान है, वहाँ इन छन्द रश्मियों की भूमिका अवश्य है। **आचार्य पिङ्गल** ने अपने **छन्द शास्त्र** में विभिन्न छन्द रश्मियों के प्रकाश के रंगों को दर्शाते हुए कहा है-

"सितसारङ्गपिशङ्गकृष्णनीललोहितगौरा वर्णाः" (३.६५)

इस सूत्र में गायत्री छन्द रश्मियों से उत्पन्न प्रकाश को श्वेत वर्ण वाला कहा है। यह श्वेत वर्ण चन्द्रमा के समान जानना चाहिए। यहाँ **'ज्योतिः'** पद पर आर्ष मत को जानना भी उपयुक्त रहेगा। वह मत इस प्रकार है-

"विद्युतो दीप्तिः" (म.द.य.भा.१८.५०)
"अयमग्निर्ज्योतिः" (श.६.४.२.२२)
"अयं वै (भू) लोको ज्योतिः" (ऐ.४.१५; काठ.३३.३)
"असौ (सूर्यः) वाव ज्योतिः" (ऐ.४.१०)
"इदमेवान्तरिक्षं ज्योतिः" (जै.ब्रा.२.१६६)
"ज्योतिर्वै यज्ञः" (काठ.३१.११)

इन वचनों से स्पष्ट होता है कि इस सृष्टि में जहाँ भी विद्युत्, ऊष्मा, प्रकाश एवं संयोग-वियोग का व्यवहार है, वहाँ सर्वत्र इनकी भूमिका अवश्य होती है। अप्रकाशित लोक वा कणों में इनकी प्रधानता रहती है, पुनरपि आकाश तत्व, विद्युत् चुम्बकीय तरंगों एवं तारों आदि में भी इनकी भूमिका अनिवार्य है। इससे सिद्ध है कि इस सृष्टि में सर्वत्र न्यूनाधिक इनकी भूमिका अवश्य होती है।

❍ गायत्री छन्द रश्मियां विभिन्न प्राण रश्मियों को त्वचा के समान आच्छादित करती हैं। ध्यातव्य है कि प्राण व छन्द अर्थात् वाग् रश्मियां परस्पर मिथुन बना करके ही अपने-२ सामर्थ्य को प्राप्त कर पाती हैं, जैसा कि कहा है-

"वाक् च वै प्राणश्च मिथुनम्" (श.१.४.१.२)

उस मिथुन को ही यहाँ समझाया गया है कि गायत्री रश्मियां प्राण रश्मियों को त्वचा के तुल्य आवरण प्रदान करती हैं। यहाँ प्राण से सभी दस प्राथमिक प्राण रश्मियों, विशेषकर पांच प्राण रश्मियों

का ग्रहण करना चाहिए। यहाँ एक अन्य ऋषि के मत **"प्राणो गायत्री" (तां.७.३.८)** पर विचारने से यह संकेत भी मिलता है कि इन छन्द रश्मियों का सम्बन्ध प्राण नामक प्राथमिक प्राण से विशेष होता है, अन्य प्राण रश्मियों से सम्बन्ध न्यून होता है। इतने पर भी ऐसा समझना उचित नहीं होगा कि अन्य प्राण रश्मियों से इसका सम्बन्ध सर्वथा नहीं होता। इसका कारण यह है कि प्राण नामक प्राथमिक प्राण रश्मियों का भी अन्य छन्द रश्मियों से सम्बन्ध रहता है, जिसे आगे दर्शाया जाएगा।

- ये छन्द रश्मियां अन्य सभी छन्द रश्मियों के मुख के समान होती हैं। इसका तात्पर्य है कि जिस प्रकार मुख से उच्चरित वाणी किसी अन्य व्यक्ति को प्रेरित करती है, उसी प्रकार गायत्री रश्मियां अन्य सभी छन्द रश्मियों को प्रेरित करती हैं। इसके साथ ही ये छन्द रश्मियां अन्य सभी छन्द रश्मियों में सर्वश्रेष्ठ होती हैं।
- ये रश्मियां इस सृष्टि का वीर्य रूप हैं अर्थात् ये ही सम्पूर्ण सृष्टि का बीजवपन करतीं तथा सबको बल प्रदान करने में अग्रणी भूमिका निभाती हैं।
- जब ये रश्मियां समुचित रूप से प्रकाशित वा सक्रिय हो उठती हैं, उसके पश्चात् ही इनके द्वारा अन्य सभी छन्द रश्मियां प्रकाशित वा सक्रिय होती हैं।
- यहाँ गायत्री रश्मियों को वाक् रूप कहा है। यद्यपि सभी छन्द रश्मियां वाक् रूप ही होती हैं परन्तु इन्हें वाक् रूप कहने से हमें यह संकेत मिलता प्रतीत होता है कि इन छन्द रश्मियों में **'ओम्'** रश्मियों की प्रधानता होती है। यद्यपि सृष्टि का कोई भी सूक्ष्म से स्थूल पदार्थ **'ओम्'** रश्मियों से विहीन नहीं होता फिर चाहे वह कण हो अथवा तरंग, पुनरपि यहाँ इन रश्मियों को वाक् रूप कहा है, जो इनमें **'ओम्'** की प्रधानता की पुष्टि करता है।

इस प्रकार इन उपर्युक्त नौ बिन्दुओं से गायत्री छन्द रश्मियों का स्वरूप पर्याप्त रूप से स्पष्ट होता है। **आचार्य पिङ्गल** ने अपने **छन्द शास्त्र** में विभिन्न छन्दों के देवता, स्वर तथा गोत्र की चर्चा निम्नानुसार की है-

> **"अग्निः सविता सोमो बृहस्पतिर्मित्रावरुणाविन्द्रो विश्वेदेवादेवताः" (३.६३)**
> **"स्वराः षड्जर्षभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाः" (३.६४)**
> **"आग्निवेश्यकाश्यपगौतमाङ्गिरसभार्गवकौशिकवासिष्ठानि गोत्राणि" (३.६६)**

ये सभी देवता, स्वर तथा गोत्र गायत्र्यादि छन्दों के क्रमानुसार ही समझने चाहिए। इस कारण गायत्री छन्द रश्मि का देवता अग्नि, स्वर षड्ज तथा गोत्र आग्निवेश्य सिद्ध होता है।

यहाँ गायत्री छन्द का देवता प्रायः अग्नि होने से संकेत मिलता है कि इस छन्द के कारण विद्युत् रूप अग्नि की उत्पत्ति वा समृद्धि होती है। इसका गोत्र आग्निवेश्य भी यही संकेत देता है कि ये रश्मियां विद्युत् अग्नि की उत्पादक व धारक अवस्था को उत्पन्न करती हैं किंवा उस अवस्था में ही स्वयं उत्पन्न होती हैं। इस छन्द को वेदपाठी षड्ज स्वर में गाते हैं, यह इस बात का संकेत करता है कि **{षट्= षट् पुनः सहतेः (नि.४.२७)}** इन रश्मियों में सहस्=बल विशेष होता है। **{सह्= सहन करना, वहन करना, सहारा देना, जीतना, दबाना, धारण करना- आप्टे कोश}** इसका अर्थ है कि ये रश्मियां अन्य रश्मियों को आश्रय देने, नियन्त्रित करने, धारण करने, दबाने एवं वहन करने में सक्षम होती हैं।

जैसा कि हम पूर्व में लिख चुके हैं कि प्रत्येक छन्द रश्मि के आठ रूप होते हैं, जिनकी चर्चा हम गायत्र्यादि सभी छन्द रश्मियों के पश्चात् एक साथ करेंगे।

(२) उष्णिक्

इसके विषय में ऋषियों के कथन निम्नानुसार हैं-

> **"उष्णिक् उष्णिगुत्स्नाता भवति। स्निह्यतेर्वा स्यात्कान्तिकर्मणः" (नि.७.१२)**
> **"उष्णिगुत्स्नानात् स्निह्यतेर्वा कान्तिकर्मणोऽपि वोष्णीषिणो वेत्यौपमिकम्" (दै.३.४)**
> **"आयुर्वा उष्णिक्" (ऐ.१.५), "यजमानच्छन्दसमेवोष्णिक्" (कौ.ब्रा.१७.२)**
> **"ग्रीवा उष्णिहः" (श.८.६.२.११)**

"तस्य (प्राणस्य) उष्णिग्लोमानि" (ऐ.आ.२.१.६)
"चक्षुरुष्णिक्" (श.१०.३.१.१)
"वज्रो वा उष्णिहः" (जै.ब्रा.१.२०६)

इन वचनों से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं-

- ये रश्मियां गायत्री रश्मियों को ऊपर से आवृत्त करतीं, उनमें तथा अन्य छन्द रश्मियों में पारस्परिक आकर्षण का भाव समृद्ध करतीं तथा उन्हें और अधिक कान्तियुक्त करती हैं।
- पूर्ववत्।
- विभिन्न छन्दादि रश्मियों में संयोजकता को बढ़ाती हैं। {आयुः = यज्ञो वा आयुः (तां.६.४.४)}
- ये रश्मियां अन्य रश्मियों को अपने साथ उसी प्रकार जोड़ने में सहायक होती हैं, जिस प्रकार शरीर में गर्दन धड़ तथा सिर को जोड़ती है। इसके साथ ही ये रश्मियां अन्य रश्मियों से उत्सर्जित अति सूक्ष्म रश्मियों को सतत निगलती रहती हैं, इससे ही यजन क्रिया सम्पन्न हो पाती है।
- ये रश्मियां प्राण रश्मियों को आच्छादित करने में त्वचातुल्य गायत्री रश्मियों के ऊपर लोमों (बालों) के सदृश संयुक्त रहती हैं।
- ये अन्य रश्मियों की प्रकाशशीलता को बढ़ाती हैं।
- ये अन्य रश्मियों को तीक्ष्ण बनाने में सहायक होती हैं।

आचार्य पिङ्गल ने इनका देवता सविता, गोत्र काश्यप तथा स्वर ऋषभ माना है, हम इसे गायत्री छन्द के प्रकरण में दर्शा चुके हैं। मैत्रायत्री संहिता २.१३.१४ में इसका देवता पूषा बताया है। इससे संकेत मिलता है कि इन रश्मियों के प्रभाव से गायत्री रश्मियां अधिक सक्रिय होती हैं, जिससे ऊष्णता की भी वृद्धि होती है। इनसे ब्रह्माण्ड में सारंग अर्थात् रंगबिरंगे रूप की उत्पत्ति होने लगती है।

प्रश्न- पूर्व में आपने गायत्री रश्मियों को अन्य सभी छन्द रश्मियों की प्रेरक कहा और यहाँ उष्णिक् को सबकी प्रेरक बताने जैसा संकेत किया है। वस्तुतः गायत्री व उष्णिक् में से कौन प्रेरक तथा कौन प्रेरित है?

उत्तर- वस्तुतः गायत्री रश्मियां ही सबकी प्रेरक होती हैं परन्तु उष्णिक् छन्द रश्मियों की उत्पत्ति के पश्चात् इन दोनों का संयुक्त प्रभाव अधिक सक्रियता व यजनशीलता उत्पन्न करता है। विशेषकर ऊष्णता व यजनशीलता में इसका विशेष योगदान रहता है।

अब इनके काश्यप गोत्र पर विचार करते हैं। महर्षि यास्क का कथन है- "कशः जलम्" (निघं. १.१२) उधर 'जलम्' पद 'जल घातने' व 'जल अपवारणे' धातुओं से निष्पन्न होता है। इससे संकेत मिलता है कि उष्णिक् रश्मियां विभिन्न रश्मि आदि पदार्थों के भेदन, अपवारण व संयोजन आदि कर्मों को करने में सहयोग प्रदान करती हैं, साथ ही इन कर्मों के सम्पादित होते समय इन रश्मियों की प्रधानता होती है।

(३) अनुष्टुप्

इसके विषय में निम्नलिखित आर्ष वचन विचारणीय हैं-

"अनुष्टुबनुस्तोभनात्" (नि.७.१२; दै.३.७)
"गायत्री वै सा या अनुष्टुप्" (कौ.ब्रा.१०.५)
"आनुष्टुभ्भि छन्दसां योनिः" (तां.११.५.१७)
"वाग्वा अनुष्टुप्" (ऐ.१.२८)
"वृषा वै त्रिष्टुब् योषानुष्टुप्" (ऐ.आ.१.३.५)
"अनुष्टुप् (प्राणस्य) स्नावानि" (ऐ.आ.२.१.६)
"क्षत्रं वा अनुष्टुप्" (ऐ.आ.१.१.३)
"प्राणा वा एतानीतराणि छन्दांसि वागनुष्टुप्" (मै.३.१.६)
"यज्ञोऽनुष्टुप्" (काठ.१६.३)

"अनुष्टुब् वा अग्नेः प्रिया तनूः" (काठ.१६.५)

इन वचनों से निम्न परिणाम उपस्थित होते हैं-

- ये छन्द रश्मियां अन्य छन्द रश्मियों को अनुकूलता से थामती हैं।
- ये रश्मियां गायत्री रश्मियों के समान भी व्यवहार करती हैं।
- ये रश्मियां अन्य छन्द रश्मियों की योनि रूप होती हैं, इसका तात्पर्य है कि इन छन्द रश्मियों में सभी छन्द रश्मियां प्रतिष्ठित हो जाती हैं।
- इनमें भी **'ओम्'** रश्मियों की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक होती है।
- ये रश्मियां त्रिष्टुप् के सापेक्ष योषा रूप होती हैं अर्थात् इनके सापेक्ष त्रिष्टुप् वृषा का कार्य करती हैं।
- ये रश्मियां प्राण रश्मियों के स्राव के समान हैं अर्थात् उनसे निरन्तर बहती रहती हैं।
- इनमें भेदन क्षमता होती है।
- ये रश्मियां अन्य छन्द रश्मियों के सापेक्ष वाग् रूप होती हैं अर्थात् अन्य रश्मियां प्राण वा वृषा तथा ये उनके लिए वाक् वा योषा रूप व्यवहार करती हैं।
- ये रश्मियां भेदन सामर्थ्य के साथ-२ यजनशील भी होती हैं।
- इन रश्मियों के द्वारा अग्नि तत्व को धारण किया जाता है किंवा अग्नि तत्व इनके अन्दर विद्यमान रहता है। इसका आशय है कि अग्नि तत्व का विस्तार इनमें विशेष रूप से होता है, चाहे वह अग्नि तत्व विद्युत्, प्रकाश वा ऊष्मा रूप क्यों न हो।

हम पूर्व में गायत्री छन्द के प्रकरण में संकेत कर चुके हैं कि इनका देवता सोम, गोत्र गौतम तथा स्वर गान्धार है। इसका आशय यह है कि इनकी प्रधानता से सोम तत्व सक्रिय होता है, जिससे वह तीव्र रूप से प्रकाशित होने लगता है अर्थात् वह नाना प्रकार की प्रकाश रश्मियों को धारण करने में समर्थ होने लगता है। इनसे पिशङ्ग अर्थात् लाल मिश्रित भूरे रंग की उत्पत्ति होती है।

(४) बृहती

सर्वप्रथम इसके विषय में कुछ आर्ष वचनों को उद्धृत करते हैं-

"बृहती परिबर्हणात्" (नि.७.१२)
"बृहती बृंहतेर्वृद्धिकर्मणः" (दै.३.११)
"बृहती मर्या ययेमान् लोकान् व्यापामेति तद् बृहत्या बृहत्त्वम्" (तां.७.४.३)
"अयं मध्यमो (लोकः = अन्तरिक्षम्) बृहती" (तां.७.३.६)
"बृहती स्वर्गो लोकः" (जै.ब्रा.१.२६०; २.७; श.१०.५.४.६)
"सर्वाणि छन्दांसि बृहतीमभिसंपन्नानि" (जै.ब्रा.१.३१६)
"अथ बृहती। योऽयं प्राङ् प्राण (उपस्थेन्द्रियम्) एष एव सः। ...एतेन ह्ययं प्राणेन करोति रेतश्च सिञ्चति मेहति च" (जै.ब्रा.१.२५४)

इन वचनों से निम्नलिखित संकेत प्राप्त होते हैं-

- ये रश्मियां अन्य रश्मियों को सब ओर से घेरती हुई वर्धमान होती रहती हैं।
- उपर्युक्तवत्।
- ये रश्मियां विभिन्न कणों वा लोकों के निर्माण के समय पदार्थ को सब ओर से आवृत्त व सम्पीडित करती हुई निर्माणाधीन कण वा लोकों की परिधियों के निर्माण में सहायक होती हैं। ये उन लोकों वा कणों को सर्वतः व्याप्त किये रहती हैं।
- आकाश तत्व में इन रश्मियों की प्रधानता होती है। इसी कारण किसी पदार्थ की परिधि के निर्माण व सम्पीडन में आकाश तत्व (space) की भी अनिवार्य भूमिका होती है।

❍ विभिन्न तारे आदि प्रकाशित लोकों के केन्द्रीय भाग में भी इनकी प्रचुरता होती है। उन भागों में विभिन्न कणों के संलयन की प्रक्रिया में इनकी भी भूमिका अनिवार्य होती है। ये संलयित हुए कणों से निर्मित नवीन कण को भी परिधि रूप में व्याप्त करके उसे संघनित किये रहती हैं।

❍ सभी छन्द रश्मियां इन बृहती छन्द रश्मियों के द्वारा ही एकत्र बनी रहती हैं, जिससे अनेक प्रकार के पदार्थों का निर्माण सम्भव हो पाता है।

❍ प्राण रश्मियां इन बृहती रश्मियों की उपस्थेन्द्रिय के समान कार्य करती हैं। इन दोनों के संयोग की सम्मिलित उपस्थेन्द्रिय प्राण रश्मि ही होती है, जिसके माध्यम से नाना उत्पादन कार्य सम्पादित होते हैं। इसी कारण **महर्षि ऐतरेय महीदास** ने बृहती को प्राणरूप भी माना है- **"प्राणो बृहती" (ऐ.आ.२.१.६)**

इनका देवता बृहस्पति, गोत्र आङ्गिरस तथा स्वर मध्यम है, इसे गायत्री के प्रकरण में दर्शा दिया है। इसका तात्पर्य है कि इन रश्मियों की उपस्थिति में प्राण, अपान एवं सूत्रात्मा वायु रूपी बृहस्पति विशेष सक्रिय होकर संघनन व सम्पीडन की क्रिया को समृद्ध करते हैं। यहाँ आङ्गिरस भी सूत्रात्मा वायु का वाचक है। बृहती के कारण ही ज्वालाओं से युक्त अग्नि भी उत्पन्न होता है। ये रश्मियां यद्यपि सबको मर्यादित करने का कार्य करती हैं, पुनरपि ये उनमें सबसे बहिर्भागस्थ नहीं, बल्कि मध्य में स्थित होती हैं। वहीं से सबको बांधे रखती हैं। आचार्य पिङ्गल ने इन्हें कृष्ण वर्ण वाली कहा है।

(५) पंक्ति

आइये, इस विषय में आर्ष मत पर दृष्टि डालें-

"विस्तृता क्रिया" (तु.म.द.य.भा.२३.३३), "पृथुरिव वै पङ्क्तिः" (गो.पू.५.४; श.१२.२.४.६)
"पञ्चपदा पङ्क्ति" (ऐ.५.१८)
"पङ्क्तिर्वा अन्नम्" (ऐ.६.२०)
"यजमानो पङ्क्तिः" (मै.३.३.६)
"पङ्क्तिर्मज्जा" (ऐ.आ.२.१.६)
"श्रोत्रं पङ्क्तिः" (श.१०.३.१.१), "श्रोत्राद् वाचं सन्तनु" (काठ.३६.८)

इन वचनों का आशय निम्नानुसार है-

❍ ये छन्द रश्मियां फैलती हुई सी उत्पन्न होकर नाना प्रकार की क्रियाओं को विस्तृत करती हैं।
❍ इन रश्मियों में पांच प्रकार की गतियां विद्यमान होती हैं।
❍ ये विभिन्न रश्मि वा कण आदि पदार्थों के द्वारा सतत अवशोषित की जाती रहती हैं।
❍ इस कारण ये रश्मियां विशेष यजनशील होती हैं।
❍ ये रश्मियां प्राण रश्मियों की मज्जा के समान कार्य करती हैं। जिस प्रकार शरीर में विद्यमान अस्थिगत मज्जा सम्पूर्ण शरीर के रक्त को जीवन्त बनाकर शरीर की प्रतिरोधी क्षमता को बढ़ाती हैं, उसी प्रकार पंक्ति छन्द रश्मियों की विद्यमानता में प्राण रश्मियों का सामर्थ्य समृद्ध होता है।
❍ ये रश्मियां अन्य छन्द रश्मियों को भी विस्तार प्रदान करके संयोग-वियोगादि क्रियाओं को विस्तृत करती हैं।

इनका देवता मित्रावरुण, गोत्र भार्गव एवं स्वर पञ्चम है। **{मित्रावरुणौ= द्यावापृथिवी वै मित्रावरुणयोः प्रियंधाम (तां.१४.२.४), यज्ञो वै मैत्रावरुणः (कौ.ब्रा.१३.२), प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ (श. १.८.३.१२), प्राणापानौ मित्रावरुणौ (तां.६.१०.५), वायुसवितारौ (म.द.ऋ.भा.५.६३.३)}** इसका आशय है कि इन रश्मियों की प्रचुरता से प्राण, अपान व उदान विशेष समृद्ध होकर विद्युत् व ऊष्मा को शक्तिशाली रूप प्रदान करके प्रकाशित व अप्रकाशित दोनों ही प्रकार के कणों व लोकों को ज्वालामय बनाते हैं। इस कारण वे कण व लोक पञ्चम अर्थात् व्यक्त रूप को प्राप्त करने लगते हैं। इन रश्मियों के प्रभाव से सभी प्रकार की क्रियाएं विस्तार व उत्कर्ष को प्राप्त होती हैं। इनसे नीलवर्ण की उत्पत्ति होती है।

(६) त्रिष्टुप्

सर्वप्रथम हम इन छन्द रश्मियों के विषय में आर्ष मत को उद्धृत करते हैं-

"अथ त्रिष्टुप्। नाभिरेव सा" (जै.ब्रा.१.२५४)
"अथैतदधीतरसं शुक्रियं छन्दो यत्त्रिष्टुप्" (ऐ.६.१२)
"असावुत्तमः (द्युलोकः) त्रिष्टुप्" (तां.७.३.६)
"इन्द्रस्त्रिष्टुप्" (श.६.६.२.७), "इन्द्रियं वीर्यं त्रिष्टुप्" (जै.ब्रा.१.१३२; ३.२०६)
"एते वाव छन्दसां वीर्य्यवत्तमे यद्गायत्री च त्रिष्टुप् च" (तां.२०.१६.८)
"त्रिष्टुप्छन्दा वै राजन्यः" (तै.ब्रा.१.१.९.६)
"त्रिष्टुप् स्तोभ इत्युत्तरपदा का तु त्रिता स्यात्तीर्णतमं छन्दो भवति" (दै.३.१४,१५)
"त्रिष्टुम्मांसम् (प्राणस्य)" (ऐ.आ.२.१.६)
"व्यानस्त्रिष्टुप्" (मै.३.४.४; काठ.२१.१२), "अपानस्त्रिष्टुप्" (तां.७.३.८)
"यत् त्रिस्तोभत् तत् त्रिष्टुभस्त्रिष्टुप्त्वमिति विज्ञायते" (नि.७.१२)
"वज्रस्तेन यत्त्रिष्टुप्" (ऐ.२.१६)
"अन्तरिक्षं त्रिष्टुप्" (जै.उ.१.१७.३.३)
"त्रैष्टुभमन्तरिक्षम्" (श.८.३.४.११)

इन वचनों से हम निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त करते हैं-

- ये छन्द रश्मियां समस्त छन्द रश्मि समूह की नाभिरूप होकर परस्पर बांधे रखती हैं।
- ये छन्द रश्मियां उत्पादक क्षमता से अत्यधिक रूप से सम्पन्न होती हैं।
- तारों के अन्दर विशेषकर उनके केन्द्रीय भाग में इनकी प्रचुरता रहती है।
- इनके कारण तीक्ष्ण विद्युत् तरंगों की उत्पत्ति व समृद्धि होती है। ये तीव्र रूप से भेदक शक्ति सम्पन्न होती हैं?
- ये रश्मियां अन्य छन्द रश्मियों को तीव्र तेज व बल प्रदान करती हैं।
- सभी छन्द रश्मियों में गायत्री तथा त्रिष्टुप् सबसे तीव्र तेज व बल युक्त होती हैं।
- इन छन्द रश्मियों के कारण विभिन्न कण वा रश्मि आदि पदार्थ तीव्र तेज व भेदक शक्तिसम्पन्न होकर देदीप्यमान होते हैं।
- ये रश्मियां दुर्बल रश्मियों को तारने में अर्थात् उन्हें बल प्रदान करने में सर्वाधिक समर्थ होती हैं।
- ये प्राण रश्मियों का मांस रूप होती हैं अर्थात् इनके द्वारा विभिन्न प्राण रश्मियां पूर्ण बल प्राप्त करने में समर्थ होती हैं। इसका संकेत हमें **महर्षि याज्ञवल्क्य** के **'मांसम्'** पद के निर्वचन से मिलता है- **"मांसं वै पुरीषम्" (श.८.६.२.१४)**। उधर **'पुरीषम्'** के विषय में ऋषियों का कथन है- **'पूर्णं बलम्' (म.द.य.भा.१२.४६), 'पुरीषं पृणातेः पूरयतेर्वा' (नि.२.२२)**। इन वचनों से हमारे कथन की पुष्टि होती है।
- इन रश्मियों से अपान व व्यान प्राण रश्मियां विशेष रूप से समृद्ध व सशक्त होती हैं, जिसके कारण पदार्थ की भेदन क्षमता के साथ-२ क्वचित् बन्धन क्षमता भी समृद्ध होती है।
- ये रश्मियां अन्य रश्मि व कण आदि पदार्थों को तीन प्रकार से थामती हैं, इसीलिए इन्हें त्रिष्टुप् कहा जाता है।
- ये रश्मियां अति तीव्र शक्ति वाली होने से वज्र कहलाती हैं। ये असुर पदार्थ अर्थात् डार्क एनर्जी आदि के बाधक प्रभाव को नष्ट करने में सक्षम होती हैं।
- ये रश्मियां आकाश तत्व को थामती व प्रभावित करती हैं। इसके साथ ही आकाश तत्व में भी इनकी प्रचुरता होती है।

इनका देवता इन्द्र, गोत्र कौशिक तथा स्वर धैवत है। कुशिक के विषय में **महर्षि यास्क** का कथन है-

"क्रोशतेः शब्दकर्मणः क्रंशतेर्वा स्यात् प्रकाशयतिकर्मणः साधुविक्रोशयितार्थानामिति वा" (नि.२.२५)

इस सबका तात्पर्य है कि इनके प्रभाव से इन्द्र अर्थात् तीव्र भेदक शक्ति सम्पन्न विद्युत् तरंगों की उत्पत्ति व समृद्धि होने के साथ-२ तीव्र ध्वनियों व प्रकाश की उत्पत्ति व समृद्धि होती है। स्वर के प्रभाव से नाना प्रकार की क्रियाओं में तीव्रता से वृद्धि होती है। इनसे लाल वर्ण की उत्पत्ति होती है।

(७) जगती

इनके विषय में आर्ष मत निम्नानुसार हैं-

"गततमं छन्दः जलचरगतिर्वा, जल्गल्यमानोऽसृजदिति च ब्राह्मणम्" (नि.७.१३)
"तदिदं सर्वं जगदस्यां तेनेयं जगती" (श.१.८.२.११)
"या सिनीवाली सा जगती" (ऐ.३.४७), "सिनीवाली सिनमन्नं भवति सिनाति भूतानि वालं पर्वं वृणोतेः" (नि.११.३१)
"जगती वै छन्दसां परमं पोषं पुष्टा" (तां.२१.१०.६)
"प्रजननं जगती" (जै.ब्रा.१.६३; ष.२.३)
"जगत्यादित्यानां पत्नी" (गो.उ.२.६)
"तदाहुः प्लवमिव वा एतच्छन्दो यज्जगती" (जै.ब्रा.२.३७६)
"अनूकं जगत्यः" (श.८.६.२.३)
"अस्थि (प्राणस्य) जगती" (ऐ.आ.२.१.६)
"दित्यवाहो जगत्यै" (मै.३.१३.१७)

इनसे निम्न परिणाम प्राप्त होते हैं-

- ये रश्मियां सर्वाधिक दूर तक गमन करने वाली होती हैं। इनकी गति जल की लहरों के समान होती है तथा इनकी उत्पत्ति के समय मनस्तत्व विशेष विक्षुब्ध वा सक्रिय नहीं होता। ये रश्मियां सबसे अन्त में उत्पन्न होती हैं।
- सम्पूर्ण जगत् इन्हीं रश्मियों में प्रतिष्ठित है, इस कारण इन्हें जगती कहा जाता है।
- ये रश्मियां विभिन्न संयोज्य कणों वा क्वाण्टाज् को बांधती तथा विभिन्न कणों को संयोगादि प्रक्रिया हेतु समर्थ करती हैं। हमारे मत में विभिन्न कण वा क्वाण्टाज् के अवशोषण व उत्सर्जन की क्रिया हेतु ये रश्मियां उन्हें सामर्थ्य प्रदान करती हैं।
- ये अन्य छन्द रश्मियों को अत्यन्त पुष्ट वा समर्थ बनाती हैं। इसके साथ ही वे स्वयं भी विस्तृत क्षेत्र में अपने प्रभाव को दर्शाने हेतु समर्थ होती हैं।
- ये संयोगादि प्रक्रिया को समर्थ बनाकर नाना पदार्थों को उत्पन्न करने में अपनी भूमिका निभाती हैं। इनकी उपस्थिति में विभिन्न रश्मियों की संयोगादि प्रक्रिया भी समृद्ध होती है।
- ये रश्मियां आदित्य अर्थात् सूर्यादि लोकों की रक्षा में विशेष उपयोगी होती हैं। इसका कारण यह है कि ऊर्जा व इलेक्ट्रॉन के उत्सर्जन व अवशोषण की प्रक्रिया इन्हीं रश्मियों के कारण सम्पन्न होती है।
- ये रश्मियां जल की तरंगों की भांति सुदूरगामी होते हुए भी उछलती-कूदती हुई सी गति करती हैं।
- ये रश्मियां सम्पूर्ण छन्द रश्मि समूह की रीढ़ के समान महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।
- ये प्राण रश्मियों की अस्थि के समान होती हैं। इसका आशय है कि ये रश्मियां सम्पूर्ण प्राण रश्मि समूह को ढांचागत आधार प्रदान करती हैं, जिस पर सभी छन्द रश्मियां आश्रित होती हैं।
- ये रश्मियां खण्डनीय पदार्थों का वहन करने वाली होती हैं। इससे संकेत मिलता है कि सभी कण वा क्वाण्टाज् की गति में इनका भी योगदान रहता है।

इनका देवता विश्वेदेवा, गोत्र वासिष्ठ तथा स्वर निषाद होता है। इसका आशय यह है कि ये रश्मियां विभिन्न देव पदार्थों को बसाने में श्रेष्ठ होकर उनमें नितराम् व्याप्त होती हैं। इनसे गौर वर्ण की उत्पत्ति होती है।

इन सात छन्द रश्मियों के अतिरिक्त भी **अष्टि, शक्वरी** आदि कुछ बड़ी छन्द रश्मियां भी इस ब्रह्माण्ड में विद्यमान होती हैं। इनमें अति तीव्र तेज व बल विद्यमान होता है। इनकी भी सृष्टि रचना में बड़ी भूमिका होती है।

इस प्रकार इन सातों छन्द रश्मियों के स्वरूप का साधारण वर्णन करने के उपरान्त इनके विभिन्न विभागों का वर्णन करते हैं।

छन्द रश्मियों के आठ विभाग

सभी सातों छन्द रश्मियां मुख्यतः आठ प्रकार की होती हैं। इसे हम निम्नलिखित तालिका द्वारा समझ सकते हैं।

छन्दः	गायत्री		उष्णिक्	अनुष्टुप्	बृहती	पंक्तिः	त्रिष्टुप्	जगती
आर्षी	=	=२४	=२८	=३२	=३६	=४०	=४४	=४८
दैवी	३	१	२	३	४	५	६	७
आसुरी	२	१५	१४	१३	१२	११	१०	६
प्राजापत्या	१	८	१२	१६	२०	२४	२८	३२
याजुषी	१	६	७	८	६	१०	११	१२
साम्नी	२	१२	१४	१६	१८	२०	२२	२४
आर्ची	३	१८	२१	२४	२७	३०	३३	३६
ब्राह्मी	=	=३६	=४२	=४८	=५४	=६०	=६६	=७२

ध्यातव्य– यह तालिका चौखम्बा पब्लिशर्स, वाराणसी से प्रकाशित पिंगल-छन्दशास्त्र की हलायुधटीका से उद्धृत की गई है।

ये आठ प्रकार निम्नानुसार हैं-

(१) दैवी

इस ब्रह्माण्ड में सर्वप्रथम इन्हीं छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है। **'ओम्', 'भूः', 'भुवः', 'सुवः'** आदि मूल छन्द रश्मियों, जिनका वर्णन हम पूर्व में कर चुके हैं, तथा कुछ प्राथमिक प्राण रश्मियां दैवी छन्द रश्मियों के अन्तर्गत ही आती हैं। इनके कारण अव्यक्त सूक्ष्मतम ज्योति तथा अति सूक्ष्म बल की उत्पत्ति होती है। इन सूक्ष्मतम रश्मियों का मिश्रण इस सृष्टि का वह सूक्ष्मतम तत्व है, जिसमें अति सूक्ष्म स्पन्दन विद्यमान होते हैं। यह सर्वत्र व्याप्तवत् होता है। इस समय स्पन्दन सर्वत्र एकरसवत् माने जा सकते हैं। इनके मध्य अवकाश नगण्य होता है। पूर्वोक्त सभी सातों छन्द रश्मियों के दैवी रूप में अक्षर संख्या निम्नानुसार होती है-

गायत्री-१, उष्णिक्-२, अनुष्टुप्-३, बृहती-४, पंक्ति-५, त्रिष्टुप्-६ एवं जगती-७ अक्षर होते हैं। छन्द रश्मियों के प्रभाव के विषय में निम्नलिखित कारक महत्वपूर्ण हैं-

(क) छन्द में विद्यमान अक्षर संख्या। ध्यातव्य है कि केवल स्वर रूप अक्षर को ही अक्षर संख्या के रूप में माना जाता है, क्योंकि स्वर ही किसी व्यंजन रूप अक्षर को प्रकाशित वा गतिशील करता है। पूर्वोक्त **'ओम्', 'भूः', 'हिम्', 'घृम्',** ये चार रश्मियां एक-२ स्वर युक्त होने से एकाक्षरा होती हैं। ये सभी दैवी गायत्री छन्द का उदाहरण हैं।

(ख) भिन्न-२ अक्षरयुक्त रश्मियों का प्रभाव भिन्न-२ होता है। हम पूर्व में एकाक्षरा **'ओम्', 'भूः', 'हिम्',** व **'घृम्'** के एकाक्षरा होने पर भी पृथक्-२ प्रभाव दर्शा चुके हैं। विज्ञ पाठक पूर्वोक्तानुसार प्रत्येक अक्षर का पृथक्-२ प्रभाव जानकर सभी छन्द रश्मियों का पूर्ण प्रभाव जान सकते हैं।

(ग) अक्षर संख्या, अक्षर के स्वरूप व प्रकृति के प्रभाव के साथ ही रश्मि के अन्दर अक्षरों के विन्यास पर भी छन्द रश्मि का प्रभाव निर्भर करता है। इसी कारण समान अक्षर संख्या होने पर भी छन्द रश्मि भिन्न-२ प्रकार की हो सकती है। उदाहरणतः- ६ व ७ अक्षर वाली रश्मियां क्रमशः दैवी त्रिष्टुप् एवं दैवी जगती होने के साथ-२ इनसे भिन्न विन्यास वा व्यवस्था होने पर क्रमशः याजुषी गायत्री तथा याजुषी

उष्णिक् का रूप धारण कर सकती हैं। उस समय उनका प्रभाव भिन्न हो जाता है। ऐसे अन्य उदाहरण पूर्वोक्त सारिणी में देख सकते हैं।

सभी प्रकार की दैवी छन्द रश्मियां अपने-२ गायत्र्यादि छन्द रश्मियों के प्रभाव के साथ-२ दैवी प्रभाव भी दर्शाती हैं। इन प्रभावों को सुधी पाठक तत् तत् छन्द के अध्ययन से समझ सकते हैं।

(२) याजुषी

दैवी छन्द रश्मियों के पश्चात् इन छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है। इनके प्रभाव से पूर्वोत्पन्न सूक्ष्म रश्मियों में सूक्ष्म व निरन्तर गति व यजन क्रिया उत्पन्न होने लगती है। इसका संकेत **'यजुः'** संज्ञक छन्द रश्मियों के प्रकरण में पाठक देख सकते हैं। इस समय आकाश तत्व (space) की उत्पत्ति होने लगती है। सम्पूर्ण पदार्थ निरन्तर हलचल करने लगता है। जब गायत्र्यादि विभिन्न छन्द याजुषी रूप में उत्पन्न होते हैं, उस समय उनके पूर्वोक्त प्रभावों के साथ-२ याजुषी रूप के ये प्रभाव भी उनमें प्रकट होने लगते हैं। दैवी छन्द रश्मियों की भांति इन छन्द रश्मियों में भी एक-२ अक्षर की वृद्धि होकर गायत्र्यादि छन्द रश्मियां क्रमशः प्रकट होती हैं, जिसे पाठक पूर्वोक्त तालिका से स्पष्ट समझ सकते हैं। एक अक्षर एक दैवी गायत्री छन्द रश्मि का रूप होने से इनमें दीप्ति व कमनीयता आदि गुणों में क्रमिक वृद्धि होती है परन्तु छन्द की प्रकृति का प्रभाव भी यथावत् प्रकट होता है। एक ही प्रकार की छन्द रश्मियां समान अक्षर संख्या वाली होने पर भी अक्षरों की प्रकृति के भेद से पूर्वोक्तानुसार भिन्न-२ प्रभाव दर्शाती हैं। इसी कारण ८ अक्षर वाली रश्मि विन्यास (व्यवस्था) भेद से याजुषी अनुष्टुप् तथा प्राजापत्या गायत्री दोनों ही रूपों में प्रकट हो सकती है। इन दोनों ही रूपों का प्रभाव भिन्न-२ होता है। इसी प्रकार तालिका देखकर अन्य रूपों का भेद भी समझें।

(३) प्राजापत्या

इन रश्मियों को समझने हेतु सर्वप्रथम हम **'प्रजापति'** शब्द पर आर्ष मत को उद्धृत करते हैं-

"प्रजापतिः यज्ञनाम" (निघं.३.१७), "प्रजापतिर्बन्धुः" (तै.ब्रा.३.७.५.५)
"प्रजापतिः, प्रजानां पाता पालयिता वा" (नि.१०.४२)
"सोमो हि प्रजापतिः" (श.५.१.५.२६)
"प्रजननं प्रजापतिः" (श.५.१.३.१०)

इन वचनों से स्पष्ट होता है कि इन छन्द रश्मियों के उत्पन्न होने पर विभिन्न रश्मियों के संयोग-बन्धन आदि की प्रक्रिया समृद्ध होकर नवीन रश्मियों के उत्पन्न होने की प्रक्रिया भी तीव्र होती है। ये रश्मियां विभिन्न रश्मियों की पालक होती हैं। ये रश्मियां लघु छन्द रूप में ही होने से सोम वा मरुत् कहलाती हैं, जो मन्द-२ गति से गमन करती हैं। अभी तक ऊष्णता की विशेष उत्पत्ति न हो पाने से पदार्थ लगभग ठंडा ही रहता है, पुनरपि मन्द-२ दीप्ति अवश्य सर्वत्र व्याप्त होती है। इनकी विभिन्न छन्द रश्मियों में अक्षरों की संख्या पूर्वोक्त तालिका में द्रष्टव्य है। इनमें अक्षरों की संख्या प्रति छन्द ४-४ की मात्रा में बढ़ती जाती है। यह संख्या एक दैवी बृहती छन्द रश्मि के बराबर है। इससे संकेत मिलता है कि प्रत्येक प्राजापत्या छन्द रश्मि में एक दैवी बृहती छन्द रश्मि के मिलने से अग्रिम प्राजापत्या छन्द रश्मि उत्पन्न होती है। इसके कारण इन छन्द रश्मियों में दैवी बृहती रश्मि के गुण मिश्रित हो जाने से रश्मियों के बन्धन बल में क्रमशः वृद्धि होती है किन्तु यहाँ गायत्री, उष्णिक् आदि छन्द प्रकृति के गुणों का प्रभाव विद्यमान होता है। समान अक्षरों के होते हुए भी छन्द प्रकृति के भेद तथा उनके भिन्न-२ प्रभाव को पाठक पूर्ववत् समझें।

(४) साम्नी

इन रश्मियों के स्वरूप व प्रभाव को समझने हेतु पूर्वोक्त साम रश्मियों के स्वरूप व प्रभाव को जानना आवश्यक है। विभिन्न विद्युत् चुम्बकीय तरंगों, कथित mediator particles आदि की उत्पत्ति में इनकी भूमिका होती है। इसके प्रभाव से प्रकाश, ऊष्मा एवं विभिन्न प्रकार के बलों की समृद्धि होने लगती है। इस कारण ब्रह्माण्डस्थ पदार्थ में तीव्र हलचल होने लगती है। इनमें प्रत्येक छन्द रश्मि में अक्षरों की संख्या में क्रमशः २-२ अक्षरों की वृद्धि होती है। ये दो अक्षर एक दैवी उष्णिक् छन्द रश्मि

के बराबर होते हैं। इससे दैवी उष्णिक् छन्द रश्मियों के प्रभाव की भी क्रमशः वृद्धि होने के साथ-२ सभी छन्द रश्मियां निज प्रकृति व प्रभाव को धारण किये होती हैं। विभिन्न अक्षरों के प्रभाव तथा समान अक्षरों के होने पर भी भिन्न-२ छन्द रश्मियों के उत्पन्न होने को पूर्ववत् समझें। इस समय ब्रह्माण्ड में भेदन-छेदन की क्रियाएं भी तीव्र होती हैं।

(५) आसुरी

इन रश्मियों के प्रभाव से असुर तत्व (डार्क पदार्थ वा डार्क एनर्जी) की उत्पत्ति होती है किंवा रश्मियां स्वयं ही डार्क स्वरूप में विद्यमान होती हैं। इन रश्मियों में पारस्परिक आकर्षण अत्यल्प वा नगण्य होता है, जबकि प्रतिकर्षण वा प्रक्षेपक बल की इनमें प्रधानता होती है। इनमें मनस्तत्व एवं अपान प्राण की प्रधानता भी होती है। वाक् तत्व अर्थात् **'ओम्'** रश्मि की इनमें विरलता होती है। इनमें अक्षरों की संख्या पूर्वोक्त तालिका में देखें। इनमें क्रमशः एक-२ अक्षर अर्थात् एक-२ दैवी गायत्री छन्द की न्यूनता होने से दीप्ति व आकर्षण बल में क्रमशः कमी होती चली जाती है। इस कारण ही उनका प्रतिकर्षण बल बढ़ता जाता है किन्तु इसके साथ छन्द प्रकृति का प्रभाव भी यथावत् बना रहता है। असुर तत्व के विषय में आगे यथास्थान लिखा जाएगा। यह आश्चर्यजनक तथ्य है कि १४ अक्षर वाली साम्नी उष्णिक् रश्मियां १४ अक्षर वाली आसुरी उष्णिक् रश्मियों से गुण व प्रभाव की दृष्टि से नितान्त भिन्न होती हैं। इसी प्रकार १२ अक्षर वाली साम्नी गायत्री, याजुषी जगती, प्राजापत्या उष्णिक् का प्रभाव आसुरी बृहती से सर्वथा भिन्न होता है। इसी प्रकार तालिका से अन्य छन्दों का भेद समझें।

(६) आर्ची

इन छन्द रश्मियों के प्रभाव को समझने से पूर्व पूर्वोक्त **'ऋक्'** नामक छन्द रश्मियों के विषय में अध्ययन करना अनिवार्य है। इन रश्मियों के प्रभाव वा उनकी प्रधानता में विभिन्न अप्रकाशित पदार्थों अर्थात् नाना मूलकणों व लोकों का निर्माण होने लगता है। इस हेतु ये रश्मियां विभिन्न रश्मियों तथा क्वाण्टाज् आदि के संघनन व भेदन की प्रक्रिया को तीव्र बनाती हैं। इनमें क्रमानुसार प्रत्येक छन्द में ३ अक्षरों की वृद्धि अर्थात् एक दैवी अनुष्टुप् की वृद्धि होती है। इससे सभी छन्द रश्मियां अधिक सक्रिय व प्रकाशित होने लगती हैं। समान अक्षर होते हुए छन्द भेद को पूर्ववत् समझें। तालिका से इनमें अक्षरों की संख्या को जानें। इनमें **'ओम्'** व **'भूः'** के साथ-२ प्राण नामक प्राण रश्मि की प्रधानता होती है।

(७) आर्षी

इन छन्द रश्मियों को समझने हेतु **'ऋषि'** शब्द पर विचार करना अनिवार्य है।

''ऋषयः = प्राणादयः पञ्च देवदत्तधनञ्जयौ च'' (म.द.य.भा.१७.७६)
''प्राणा वा ऋषयः'' (ऐ.२.२७), ''प्राणा ऋषयः'' (श.७.२.३.५)
''शब्दप्रापकः'' (म.द.य.भा.१३.५७)
''रूपप्रापकः'' (म.द.य.भा.१३.५६)
''ऋषिर्ह स्म मन्त्रकृत्'' (जै.ब्रा.२.२६६)

इन उपर्युक्त आर्ष वचनों से संकेत मिलता है कि प्राणादि रश्मियों से उत्पन्न छन्द रश्मियां आर्षी कहलाती हैं। इसके साथ ही अनेक अन्य **प्राण रश्मियां, जो इस सृष्टि में नाना अतिसूक्ष्म रश्मियों से उत्पन्न होती हैं, भी ऋषि कहलाती हैं। ये ऋषि रश्मियां अनेक प्रकार की मन्त्र रूप छन्द रश्मियों को उत्पन्न व धारण करती हैं।** इन रश्मियों के उत्पन्न होने पर इस सृष्टि में अनेक प्रकार के रूप आकृतवान् पदार्थसमूह उत्पन्न होकर नाना प्रकार के घोष करने लगते हैं। इससे संकेत मिलता है कि **जब ब्रह्माण्ड में कॉस्मिक मेघ एवं उनसे नाना लोकों के निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है, उस समय आर्षी छन्द रश्मियों की प्रचुरता वा प्रधानता होती है।** इससे यह भी स्पष्ट है कि **इन छन्द रश्मियों का क्षेत्र अति व्यापक है तथा वेदों में इन्हीं की मात्रा सर्वाधिक है।** इस ग्रन्थ में ऐसा ही अनुभव हमारा है। इनमें भी विभिन्न छन्द रश्मियों में क्रमशः ४-४ अक्षर अर्थात् १-१ दैवी बृहती छन्द रश्मि की उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है। समान अक्षर संख्या वाली छन्द रश्मियों में अक्षर विन्यास से छन्द की प्रकृति के भेद को पूर्ववत् समझें।

(८) ब्राह्मी

सर्वप्रथम इन रश्मियों के विषय में आर्ष मत पर विचार करते हैं–

"बलं वै ब्रह्म" (तै.ब्रा.३.८.५.२)
"ब्रह्म परिवृळ्हः श्रुततः ब्रह्म परिवृळ्हं सर्वतः" (नि.१.८)
"ब्रह्म ब्रह्माऽभवत् स्वयम्" (तै.ब्रा.३.१२.९.३)
"बृहद् बलम्" (तु.म.द.ऋ.भा.२.२४.३)

इन वचनों से स्पष्ट होता है कि इन छन्द रश्मियों के उत्पन्न होने पर विभिन्न छन्द रश्मियों का बल सतत विस्तृत होता चला जाता है। सभी रश्मियां इनके प्रभाव से सब ओर बढ़ती हुई चली जाती हैं। इस प्रकार की रश्मियों में ६-६ अक्षर अर्थात् एक दैवी त्रिष्टुप् छन्द रश्मि की उत्तरोत्तर क्रमशः वृद्धि होती है। इनमें अन्य सभी पूर्वोक्त छन्द रश्मियों की अपेक्षा अक्षरों की संख्या सर्वाधिक होती है। इस समय ब्रह्माण्ड में पूर्वोक्त सभी छन्द रश्मियों के सभी कार्य समृद्ध होकर नाना लोकों के निर्माण की प्रक्रिया भी समृद्ध होती है। यहाँ भी अक्षरों की संख्या समान होने पर छन्द भेद का होना पूर्ववत् समझा जा सकता है।

इस प्रकार ये कुल आठ प्रकार के विभाग प्रत्येक गायत्र्यादि छन्दों के होते हैं। इस प्रकार यहाँ तक कुल छप्पन छन्द रश्मियां वर्णित हुई। ध्यातव्य है कि वेदों में गायत्र्यादि सात छन्द रश्मियों के अतिरिक्त **अष्टि, अत्यष्टि, शक्वरी** एवं **अतिशक्वरी** आदि बड़ी छन्द रश्मियां भी वर्णित हैं, जो इस सृष्टि में उत्पन्न होती हैं। इनको इस ग्रन्थ में भी अनेकत्र वर्णित किया गया है। उन छन्द रश्मियों के भी दैवी आदि आठ प्रकार होते हैं। इस प्रकार छन्द रश्मियां ५६ से भी बहुत अधिक संख्या में होती हैं

छन्दों के अन्य उपभेद

अब हम प्रत्येक प्रकार की छन्द रश्मि के अन्य कुछ भेदों की चर्चा करते हैं। उपर्युक्त प्रकार की छन्द रश्मियों के पुनः अक्षर भेद के कारण निम्न प्रकार से भेद होते हैं–

(१) सामान्य छन्द– हमने यहाँ **'सामान्य'** संज्ञा स्वयं की है। जिन छन्द रश्मियों में अक्षरों की संख्या पूर्वोक्तानुसार अर्थात् तालिका में वर्णितानुसार होती है, उन्हें हम सामान्य छन्द कह सकते हैं। उदाहरण स्वरूप- दैवी गायत्री, आर्षी त्रिष्टुप्, ब्राह्मी जगती, दैवी उष्णिक् आदि। इनमें पूर्वोक्त तालिका के अनुसार अक्षर संख्या क्रमशः १, ४४, ७२ एवं २ होती है। इन सबका प्रभाव हम छन्द प्रकरण में अब तक दर्शाते रहे हैं।

(२) भुरिक् छन्द– 'भुरिक्' के विषय में ऋषियों का कथन है–

"भरणाद् भुरिज उच्यते" (दै.३.२१)
"धारकपोषकः" (तु.म.द.ऋ.भा.४.२.१४)
"भुरिजौ बाहुनाम" (निघं.२.४)

इन वचनों से संकेत मिलता है कि इस प्रकार की छन्द रश्मियों की धारक व पोषक क्षमता अन्य प्रकार की छन्द रश्मियों की अपेक्षा विशेष होती है। ये रश्मियां बाहुरूप होने से धारण, आकर्षण, वारण आदि गुणों को अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध करने वाली होती हैं। ध्यातव्य है कि ये रश्मियां जिस-२ छन्द रूप में होती हैं, उन-उनके गुणों के साथ ही अपने गुणों से युक्त भी होती हैं। इस प्रकार की छन्द रश्मियों में उपर्युक्त सामान्य छन्द की अपेक्षा एक अक्षर अधिक होता है। प्रश्न यह है कि जिन छन्द रश्मियों विशेषकर आसुरी रश्मियों, में प्रायः आकर्षण बल नहीं होता, उनके भुरिक् रूप का प्रभाव क्या होगा? इसके उत्तर में हमारा मत यह है कि भुरिक् छन्द रश्मियां अपने आसुरी प्रभाव को ही अधिक पुष्ट रूप में दर्शाने वाली होंगी। ये बाहु रूप में धारक व आकर्षक न होकर प्रतिकर्षक व प्रक्षेपक गुणों से अपेक्षाकृत समृद्ध होंगी।

(३) स्वराट् छन्द– जब किसी छन्द रश्मि में अक्षरों की संख्या सामान्य की अपेक्षा २ अधिक होती है, तब वह छन्द रश्मि स्वराट् का रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार की छन्द रश्मियों में अपने गुणों को अन्य छन्द रश्मियों की अपेक्षा स्वयं प्रकाशित वा प्रकट करने का सामर्थ्य विशेष होता है। इसके साथ ही ये छन्द रश्मियां अन्यों की अपेक्षा 'स्वः' अर्थात् प्रकाश वा वैद्युत प्रभाव को उत्पन्न करने में विशेष समर्थ होती हैं, इस कारण भी ये स्वराट् कहलाती हैं।

(४) विराट् छन्द– जब किसी छन्द रश्मि में सामान्य की अपेक्षा अक्षरों की संख्या २ कम होती है, तब वह छन्द रश्मि विराट् कहलाती है। इस विषय में ऋषियों का कथन है–

"विराड् विराजनाद्वा। विराधनाद्वा। विप्रापणाद्वा। विराजनात्सम्पूर्णाक्षरा। विराधनादूनाक्षरा। विप्रापणादधिकाक्षरा" (नि.७.१३)
"विराड् ढि छन्दसां ज्योतिः" (तां.१०.२.२)
"अन्नं वै विराट्" (श.७.५.२.१६; ऐ.१.५)
"विराड् वै यज्ञः" (श.१.१.१.२२)
"सर्वदेवत्यं वा एतच्छन्दो यद् विराट्" (श.१३.४.१.१३)
"एतद्वै कृत्स्नमन्नाद्यं यद् विराट्" (कौ.ब्रा.१४.२)

इन वचनों से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं–

- यह छन्द रश्मि विविध प्रकार से प्रकाशित होती है। इसके सभी अक्षर विविध प्रकार से प्रकाशित होने में समर्थ होते हैं। कभी-२ यह छन्द सामान्य से न्यून अक्षरों के साथ प्रकट व प्रकाशित होता है, तो कभी अधिक अक्षरों के रूप में भी उसी प्रभाव को दर्शाता है।
- यह छन्द रश्मि अन्य सभी छन्द रश्मियों को अधिक ज्योतिर्मय बनाती है।
- यह छन्द रश्मि अन्य छन्द रश्मियों के प्रति संयोजक गुणों से विशेष रूप से युक्त होती है।
- इस उपर्युक्त कारण से इसकी यजनशीलता विशेष होती है।
- इस छन्द रश्मि का प्रभाव सभी देव पदार्थों पर होता है। गायत्र्यादि सातों छन्द रश्मियों का एक-२ देवता से सम्बन्ध पूर्व में दर्शाया गया है, उसी सन्दर्भ में यहाँ इस छन्द रश्मि का सम्बन्ध सभी देवताओं से बतलाया है। इसका तात्पर्य है कि इसका प्रभाव क्षेत्र अति व्यापक होता है।
- ये छन्द रश्मियां सम्पूर्ण रूप से अन्य छन्द रश्मियों के द्वारा संगमनीय व अवशोष्य होती हैं, जिससे ये उन छन्द रश्मियों को विविध प्रकार से प्रकाशित करती हैं।

(५) निचृत् छन्द– **'निचृत्'** शब्द **'नि'** पूर्वक **'चृती हिंसाग्रन्थनयोः'** से निष्पन्न होता है। इससे संकेत मिलता है कि ये रश्मियां भेदक व बंधक दोनों प्रकार के बलों से नितराम् अर्थात् पूर्णतया युक्त होती हैं। जब सामान्य छन्द रश्मि में से एक अक्षर न्यून हो जाता है, उस समय वह छन्द रश्मि निचृत् रूप धारण कर लेती है अर्थात् उस सामान्य छन्द रश्मि का प्रभाव अधिक तीक्ष्ण भेदक वा बन्धक हो जाता है।

इस प्रकार इस ब्रह्माण्ड में सैकड़ों प्रकार की छन्द रश्मियां विद्यमान रहती हैं। अक्षरों की संख्या व उनमें अक्षर-विन्यास के भेद से छन्द रश्मियों का स्वरूप परिवर्तित होता रहता है। समान अक्षर वाली रश्मियां केवल अक्षर विन्यास भेद से कैसे भिन्न-२ प्रकार के प्रभाव दर्शाती हैं, यह हम अनेकत्र स्पष्ट कर चुके हैं। हम मुख्य-२ छन्द रश्मियों का वर्णन कर चुके हैं, पुनरपि इनके अतिरिक्त अन्य अनेक छन्द रश्मियां इस ब्रह्माण्ड में और भी होती हैं, जिनमें से अनेकों का वर्णन इस ग्रन्थ में हुआ है, जिसे विज्ञ पाठक इस ग्रन्थ में यथास्थान आगे पढ़ सकते हैं।

यहाँ तक हम प्रकृति रूप मूल उपादान पदार्थ से ईश्वर तत्व द्वारा काल व महत्तत्व से लेकर प्राण व छन्दादि नाना सूक्ष्म रश्मियों की उत्पत्ति व स्वरूप के बारे में विस्तार से लिख चुके, अब अग्रिम पदार्थों की उत्पत्ति व स्वरूप पर विचार किया जायेगा। यहाँ हम पाठकों को इतना अवश्य अवगत करवाना चाहते हैं कि यहाँ तक वर्णित की गई सृष्टि प्रक्रिया आधुनिक सृष्टि विज्ञान की प्रक्रिया के प्रारम्भ से पूर्व की प्रक्रिया है। **हमारी वैदिक प्रक्रिया में वर्णित वृहद् छन्द रश्मियों की तुलना वर्तमान**

काल के string theorist अपनी strings से कुछ सीमा तक कर सकते हैं। अधिकांश सृष्टि विज्ञानी मूल उपादान पदार्थ के विषय में नितान्त अनभिज्ञ हैं। वे काल व आकाश की चर्चा बहुत करते हैं, लेकिन उनके स्वरूप वा उत्पत्ति विज्ञान के विषय में वे नितान्त अनभिज्ञ हैं। मूलकणों व क्वाण्टाज् की उत्पत्ति व संरचना भी अभी तक वर्तमान विज्ञान को अज्ञात है। वे string theory इस विषय में कुछ चर्चा अवश्य करते हैं।

पंचमहाभूत प्रकरण

(१) आकाश (Space)

इन रश्मियों के उत्पत्ति काल में ही आकाश की उत्पत्ति होती है। **'आकाश'** पद दो रूपों में प्रयुक्त होता है। प्रथम रूप यह कि एकरस मूल प्रकृति पदार्थ में प्रारम्भिक संकुचन वा संघनन की क्रिया आरम्भ होने पर अवकाश रूप (emptiness) स्थान ही आकाश कहलाता है। इस प्रकार के आकाश के विषय में **महर्षि दयानन्द** अपने **सत्यार्थ प्रकाश** के अष्टम समुल्लास में **तैत्तरीय उपनिषद्** के एक वचन- **''तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः....''** की व्याख्या में लिखते हैं-

''उस परमेश्वर और प्रकृति से आकाश अवकाश अर्थात् जो कारणरूप द्रव्य सर्वत्र फैल रहा था, उसको इकट्ठा करने से अवकाश सा उत्पन्न हो जाता है। वास्तव में आकाश की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि बिना आकाश के प्रकृति और परमाणु कहाँ ठहर सकें?'' **(स.प्र.पृ.२२०)**

अवकाश रूप आकाश अभाव वा शून्य रूप है, इसकी उत्पत्ति व इसका विनाश व्यवहार में ही प्रयुक्त होता है। उधर **द्वितीय आकाश** के विषय में वेद का संकेत है-

''नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्'' (ऋ.१०.१२६.१)

इसका भाष्य करते हुए **महर्षि दयानन्द** अपनी **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** के 'सृष्टिविद्याविषय' नामक अध्याय में लिखते हैं-

''(नासदासी.) यदा कार्यं जगन्नोत्पन्नमासीत् तदाऽसत् सृष्टेः प्राक् शून्यमाकाशमपि नासीत्। कुतः? तद्व्यवहारस्य वर्तमानाभावात्। (नो सदासीत्तदानीं) तस्मिन् काले सत् प्रकृत्यात्मकमव्यक्तं सत्संज्ञकं यज्जगत्कारणं, तदपि नो आसीन्नावर्तत। (नासीद्र.) परमाणवोऽपि नासन्। (नो व्योमापरो यत्) व्योमाकाशम् अपरं यस्मिन् विराडाख्ये, सोऽपि नो आसीत्। किन्तु परब्रह्मणः सामर्थ्याख्यमतीव सूक्ष्मं सर्वस्यास्य परमकारणसंज्ञकमेव तदानीं समवर्त्तत।'' (ऋ.भा.-आर्य समाज शताब्दी संस्करण-प्रथमो भागः पृ.१३४-३५, रा.ला.क.ट्र. बहालगढ़)

यहाँ **महर्षि दयानन्द** दो प्रकार के आकाश का संकेत करते हैं। प्रथम आकाश तो अवकाश रूप है तथा **अपर व्योम नाम से द्वितीय आकाश** का संकेत है। इस पर टिप्पणी करते हुए पं. युधिष्ठिर मीमांसक लिखते हैं-

''पूर्वत्र 'असद्' पद व्याख्याने 'शून्यमाकाशमपि नासीत्' इत्युक्तमिहापि 'व्योमाकाशपरम्' इत्युक्तम्। उभयत्राकाशाभावस्योक्तत्वात् पुनरुक्ति दोष- परिहाराय पूर्वत्र शून्यमाकाशमित्यत्र आकाश पदमवकाशपरम्, इह चाकाशं भूतपरं व्याख्येयम्।''

इससे पंचमहाभूत रूप आकाश एक तत्व सिद्ध होता है। हम इसी आकाश तत्व की उत्पत्ति प्रक्रिया व स्वरूप को दर्शाएंगे।

आकाश की उत्पत्ति

इस विषय में **महर्षि ब्रह्मा** का कथन है-

अहंकारात् प्रसूतानि महाभूतानि पञ्च वै। पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम्।।१।।
अतः परं प्रवक्ष्यामि सर्वं विविधमिन्द्रियम्। आकाशं प्रथमं भूतं श्रोत्रमध्यात्ममुच्यते।।१८।। (महाभारत आश्वमेधिक पर्व, अनुगीता पर्व. अध्याय-४२)

अर्थात् अहंकार (जिसे हम इस ग्रन्थ में अनेकत्र मनस्तत्व के समकक्ष ही वर्णित कर चुके हैं।) से ही पांच महाभूत उत्पन्न होते हैं, जिनमें से आकाश महाभूत की उत्पत्ति सर्वप्रथम होती है। इसी समय श्रोत्र-इन्द्रिय की भी उत्पत्ति होती है।

उधर इस विषय में **महर्षि भृगु** ने **महर्षि भरद्वाज** से कहा है-

पुरा स्तिमितमाकाशमनन्तमचलोपमम्। नष्टचन्द्रार्कपवनं प्रसुप्तमिव सम्बभौ।।६।।
ततः सलिलमुत्पन्नं तमसीवापरं तमः। तस्माच्च सलिलोत्पीडादुदतिष्ठत मारुतः।।१०।। (महाभारत शा.प., मोक्षधर्म पर्व, अध्याय-१८३)

अर्थात् सम्पूर्ण अहंकार (मनस्तत्व) पदार्थ स्थिर अनन्त अवकाशरूप तमोमय आकाश के समान तथा उसी में विद्यमान था। उस समय चन्द्र, सूर्य, वायु आदि सभी पदार्थ नष्ट अर्थात् अपने कारण रूप उस अचल, अनन्त पदार्थ के भीतर सो रहे थे अर्थात् उसी में लीन थे। उस अहंकार वा मनस्तत्व से सलिल **{सलिलम् = आपो ह वा ऽइदमग्रे सलिलमेवास (श.११.१.६.१), अन्तरिक्षम् (म.द.ऋ.भा.७.४६.१), (आपः = अन्तरिक्षनाम - निघं.१.३)}** अर्थात् सबको अपने अन्दर व्याप्त वा लीन करने वाला आकाश नामक महाभूत उत्पन्न हुआ। वह आकाश ऐसा प्रतीत होता था, मानो एक अन्धकार में उसी से दूसरा अन्धकार उत्पन्न हुआ। **उस आकाश तत्व के उत्पीडन अर्थात् सम्पीडन से वायु महाभूत की उत्पत्ति हुई।**

यहाँ अहंकार वा मनस्तत्व से आकाश तत्व की उत्पत्ति की चर्चा है। वर्तमान भौतिक वैज्ञानिक आकाश तत्व (space) के विषय में नितान्त भ्रम वा संशय में हैं। वे space को त्रिविमीय (three dimensional) मानते हैं परन्तु space का स्वरूप क्या है? क्या emptiness ही space है अथवा space कोई पदार्थ है, यह उनकी समझ में नहीं आ रहा। वे गुरुत्वाकर्षण बल अथवा विद्युत् चुम्बकीय बल के द्वारा space का वक्र (curve) वा distort होना मानते हैं परन्तु उसे किसी प्रकार का पदार्थ विशेष कहने से बचते हैं। जब आकाश कोई पदार्थ ही नहीं है, तो बलों के कारण distortion अथवा curvature किस में होगा? **आश्चर्य की बात है कि वर्तमान विकसित माना जाने वाला भौतिक विज्ञान गुरुत्वाकर्षण बल को space curvature के रूप में ही मानता व जानता है परन्तु space क्या है? यह वह नहीं जानता।** इधर वैदिक विज्ञान आकाश तत्व के विषय में व्यापक तथ्य प्रस्तुत करता है। हम उन्हीं तथ्यों के आधार पर आकाश तत्व पर व्यापक विचार करते हैं-

वैदिक वाङ्मय में आकाश व अन्तरिक्ष को समानार्थक माना है। इसी कारण **निघं.१.३** में **'आकाश'** शब्द को अन्तरिक्ष नामों में पढ़ा गया है। अब हम आकाश वा अन्तरिक्ष के विषय में विभिन्न ऋषियों का मत प्रस्तुत करते हैं-

"आवपनमाकाश आकाशे हीदं सर्वं समोप्यते" (ऐ.आ.२.३.१)
"स इमान् प्राणानाकाशानभिनिर्मन्थति" (जै.ब्रा.२.१८)
"अन्तरिक्षमेव विश्वं वायुर्नरः" (श.६.३.१.३)
"अन्तरिक्षं मरीचयः" (ऐ.आ.२.४.१; ऐ.उ.१.१.२)
"अन्तरिक्षेण हीमे द्यावापृथिवी विष्टब्धे" (श.१.२.१.१६)
"अयं मध्यमो (लोकः = अन्तरिक्षम्) बृहती" (तां.७.३.६)
"असदिव वा अन्तरिक्षम्" (तै.सं.५.४.६.४)
"आत्मा ऽअन्तरिक्षम्" (काठ.१६.२)
"छिद्रमिवान्तरिक्षम्" (तां.३.१०.२; २१.७.३)
"त्रैष्टुभम् अन्तरिक्षम्" (तै.सं.५.२.१.१; श.८.३.४.११)

"पशवो ऽन्तरिक्षम्" (काठ.६.८; ७.७; क.३१.१३)
"प्राणो वा अन्तरिक्षम्" (तै.सं.५.६.८.५; जै.ब्रा.१.३०७)
"भुव इत्यन्तरिक्षम्" (तै.आ.७.५.१; तै.उ.१.५.१)
"वागित्यन्तरिक्षम्" (जै.उ.४.११.१.११)
"अन्तरिक्षं वै यजुषामायतनम्" (गो.पू.२.२४)

इन वचनों से आकाश तत्व (space) का स्वरूप सार रूप में निम्नानुसार प्रकाशित होता है-

- आकाश वह पदार्थ है, जिसमें सम्पूर्ण सृष्टि का बीज वपन किया जाता है अर्थात् सभी प्रकार के कण व क्वाण्टाज् आकाश तत्व में ही उत्पन्न होते व उसी में निवास करते हैं।
- आकाश प्राण रश्मियों के रूप में ही विद्यमान होता है, जिसके मन्थन से अग्रिम सृष्टि उत्पन्न होती है।
- वायु अर्थात् विभिन्न छन्द व प्राण रश्मियों का मिश्रण आकाश तत्व का नायक होता है अर्थात् ये वायु रश्मियां आकाश तत्व को curve वा distort करने की क्षमता रखती हैं।
- आकाश स्वयं रश्मि रूप है, ये रश्मियां अत्यन्त सूक्ष्म होती हैं।
- आकाश तत्व विभिन्न कणों वा क्वाण्टाज् को थामने में सहायक होता है।
- इसमें बृहती छन्द रश्मियां प्रचुर मात्रा में विद्यमान होती हैं।
- यह इतना सूक्ष्म होता है कि इसका स्वरूप अभाव वा रिक्तता (emptiness) जैसा प्रतीत होता है।
- इसमें सूत्रात्मा वायु रश्मियों की प्रचुरता होती है तथा यह सभी पदार्थों में व्याप्त रहता है।
- यह छिद्र के समान अर्थात् खोखलेपन के समान व्यवहार करता है।
- इसमें त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों की प्रचुरता होती है।
- इसमें विभिन्न मरुद् व छन्द रश्मियां विद्यमान होती हैं।
- यह प्राण स्वरूप ही होता है, जो सबको गतिशील रहने हेतु अवकाश व मार्ग प्रदान करता है।
- इसकी उत्पत्ति **'भुवः'** नामक मूल छन्द रश्मियों से होती है किंवा ये छन्द रश्मियां इसकी बीजरूप हैं।
- इसमें वाक् अर्थात् **'ओम्'** छन्द रश्मियां प्रचुरता से विद्यमान होती हैं।
- पूर्वोक्त **'यजुः'** संज्ञक छन्द रश्मियां आकाश तत्व में सर्वत्र व्याप्त रहती हैं, जिनके कारण ही विभिन्न पदार्थ आकाश तत्व में निर्बाध गति करने में समर्थ होते हैं।

महर्षि गोतम ने अपने **न्याय दर्शन** में आकाश का धर्म बताते हुए लिखा है-

"अव्यूहाविष्टम्भविभुत्वानि" (न्या.द.२.४.२२)

अर्थात् यह विभिन्न पदार्थों को विशेष रूप से चिह्नित न करने वाला, विशेष अवरोधन न करके सबको मार्ग प्रदान करने वाला तथा सबमें व्याप्त रहने वाला है।

उधर **महर्षि कणाद** ने आकाश का मुख्य लक्षण इस प्रकार बताया है-

"निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिङ्गम्" (वै.द.२.१.२०)

अर्थात् जिसमें से विभिन्न पदार्थों का प्रवेश करना वा निकलना होता है, वह आकाश कहलाता है।

अब हम इस ऐतरेय ब्राह्मण के आधार पर आकाश तत्व पर विचार करते हैं। इस ग्रन्थ के व्याख्यान में हमने अनेकत्र आकाश तत्व की चर्चा की है। हम यहाँ इसी ग्रन्थ से उन कुछ बिन्दुओं को उद्धृत करते हैं, जिनसे आकाश तत्व की उत्पत्ति व स्वरूप का गम्भीर विज्ञान प्रकट होता है-

- **"प्र वो देवायाग्नये........" (ऋ.३.१३.१)** आर्षी भुरिगुष्णिक् छन्द रश्मि में विद्यमान प्राण नामक प्राण रश्मियों से आकाश तत्व की उत्पत्ति होती है। इस छन्द रश्मि के प्रभाव से विभिन्न रश्मि आदि पदार्थों के मध्य आकाश तत्व विस्तृत होता जाता है, जिसके कारण विभिन्न रश्मियों की गति और

सक्रियता बढ़ती जाती है। ये रश्मियां भी उस आकाश तत्व में व्याप्त होती जाती हैं। (देखें- वै.भा.सा. खण्ड २.४१)

❍ सबका धारक आकाश तत्व दैवी अनुष्टुप् छन्द रश्मि रूप ही होता है। ...**उसकी उत्पत्ति सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में अकस्मात् एक साथ नहीं होती, बल्कि स्थान-२ में समय-२ पर होती है।** (देखें- वै.भा.सा. खण्ड २.४१)

❍ प्राण, अपान एवं उदान रश्मियों की एक हजार बार आवृत्ति तथा विभिन्न प्राणों के संगम से अन्य छन्द रश्मियां आकाश तत्व के रूप में प्रकट होती हैं। ....यह आकाश तत्व प्राण तत्वों से मिश्रित विभिन्न छन्द रश्मियों, विशेषकर पंक्ति रश्मियों का रूप है। (देखें- वै.भा.सा. खण्ड ४.७)

❍ आकाश तत्व सर्वथा तेजहीन नहीं होता (देखें- वै.भा.सा. खण्ड ४.७)

❍ आकाश तत्व इनके (प्राण तथा वाक् रश्मियों के) मेल से प्रकट होता और इनके द्वारा व्याप्त होता है। (देखें- वै.भा.सा. खण्ड ५.२)

❍ सूत्रात्मा वायु रश्मियां आकाश तत्व को नियन्त्रित करती हैं। (देखें- वै.भा.सा. खण्ड ५.१३)

❍ सूक्ष्म मरुद् रश्मियां जब निष्कम्प होकर संघात के रूप में प्रकट होती हैं, वे ही आकाश तत्व (space) का रूप धारण करती हैं। (देखें- वै.भा.सा. खण्ड ५.१६)

❍ २४ स्तोम नामक विशेष छन्द रश्मियों की भी आकाश तत्व की उत्पत्ति में भूमिका होती है। (देखें- खण्ड ४.१२)

❍ आकाश तत्व सूक्ष्म प्राण और मरुद् रश्मियों का मिश्र रूप होता है। इसमें भी त्रिष्टुप् और बृहती छन्द रश्मियां प्रचुरता से विद्यमान होती हैं। ....**आकाश में विद्यमान प्राण रश्मियां अत्यन्त शिथिलावस्था में चक्रीय गति से भ्रमण करती रहती हैं। इनमें पारस्परिक बन्धन अति न्यून होता है। इस कारण आकाश तत्व में विभिन्न कण वा विकिरण स्वच्छन्द और निरापद रूप से गति करते रहते हैं।** आकाश तत्व की रश्मियां विभिन्न कणों के संयोग-वियोग में अति सूक्ष्म स्तर पर उन कणों को स्पर्श वा सिंचित करती रहती हैं, परन्तु उनका स्वयं का आकर्षणादि बल नगण्य जैसा होता है। (देखें- वै.भा.सा. खण्ड ६.५)

इन उपर्युक्त नौ बिन्दुओं पर विचार करने से आकाश तत्व का स्वरूप निम्नानुसार प्रकाशित होता है-

सृष्टि प्रक्रिया के अन्तर्गत जब **'ओम्', 'भूः', 'भुवः', 'स्वः'** के अतिरिक्त अन्य दैवी छन्द रश्मियां एवं सूत्रात्मा वायु सहित प्राणापानादि प्राण रश्मियां उत्पन्न हो जाती हैं, उस समय उनमें से कुछ रश्मियों के संघात से **एक सूक्ष्म व प्रायः एकरसवत् पदार्थ की उत्पत्ति होती है।** इस पदार्थ की उत्पत्ति से पूर्व प्राण, अपान एवं उदान की एक सहस्र बार आवृत्ति हो चुकी होती है। तब दैवी अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति व त्रिष्टुप् भी उत्पन्न हो चुकी होती हैं। ये चारों छन्द रश्मियां परस्पर इस प्रकार मिश्रित होती हैं कि दैवी अनुष्टुप् छन्द रश्मियों के समान प्रभाव दर्शाती हैं। विभिन्न प्राण, अपान आदि रश्मियां, विभिन्न दैवी छन्द रश्मियों से मिश्रित होकर ऐसी दैवी अनुष्टुप् छन्द रश्मियों को प्रकट करती हैं, जो प्रायः निष्कम्प होती हैं। ये रश्मियां निज स्थान पर ही स्पन्दित होती रहती हैं, न कि मनस्तत्व में सर्वत्र गमन करती हैं। **आकाश तत्व की अवयवभूत प्राण व मरुद् रश्मियां शिथिलावस्था में पारस्परिक संघात के रूप में विद्यमान होती हैं। इस संघात में विद्यमान वे रश्मियां चक्राकार घूर्णन भी करती रहती हैं अर्थात् उनमें रेखीय गति नहीं होती परन्तु घूर्णन गति अति मन्द वेग से होती रहती है। इनमें अव्यक्त दीप्ति भी विद्यमान रहती है। ये रश्मियां आकाश रश्मियों के रूप में जानी जाती हैं। ये रश्मियां इस अवस्था में ऐसी शिथिल होती हैं कि विभिन्न बृहद् छन्द रश्मियां, कण वा क्वाण्टाज् सरलता से इनके बीच स्वच्छन्द गति कर सकते हैं। गति करते हुए कण, क्वाण्टाज् वा रश्मियां जब आकाश तत्व (space) के बीच गुजरते हैं, तब वे चक्रण करती हुई पूर्वोक्त शिथिल आकाश रश्मियों (प्राण व मरुत्) के बीच सरलता से फिसलते हुए गति करते हैं।** इतने पर भी ये शिथिल रश्मियां सदैव सूत्रात्मा वायु रश्मियों के द्वारा नियन्त्रित रहती हैं। इसी कारण **जब आकाश तत्व किसी बल के द्वारा संकुचित वा distort होता है, तब सूत्रात्मा वायु रश्मियों द्वारा आकाश रश्मियों की घूर्णन गति प्रभावित होने के कारण ही होता है।** विभिन्न मरुद् व प्राण रश्मियां भी सूत्रात्मा वा धनंजय वायु रश्मियों के सानिध्य में

आकाश तत्व को distort वा curve करने में समर्थ होती हैं। **उपरिनिर्दिष्ट** आर्षी भुरिगुष्णिक् अथवा २४ स्तोम रश्मियों के उत्पन्न होने पर आकाश का निर्माण तेजी से होता है।

कुछ तत्ववेत्ता ऋषियों ने एक अति महत्वपूर्ण बात कही-

"अन्तरिक्षं वा अन्तर्यामः (ग्रहः)" (मै.४.५.६; ४.७.१; काठ.२७.२; क.४२.२)

यहाँ अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश तत्व को अन्तर्याम नामक बल कहा गया है। इस बल के विषय में जानने हेतु इस ग्रन्थ का खण्ड **३.१** पठनीय है। वहाँ अन्तर्याम बल को इस प्रकार व्याख्यात किया गया है-

"उदान वा अपान का संयुक्त बल अन्तर्याम कहलाता है। इनमें से उदान प्राण ऊपर और अपान प्राण नीचे संयुक्त होकर किसी पदार्थ के मध्य में संचरित होते रहते हैं। विभिन्न सूक्ष्म मरुद् रश्मियां भी इसी क्षेत्र में संचरित होती हैं। इन सबका संयुक्त बल अन्तर्याम कहलाता है।"

इससे स्पष्ट है कि किसी भी कण वा क्वाण्टाज् के भीतर भी space का अंश विद्यमान रहकर उन्हें धारण किये रहता है। **आचार्य सुश्रुत** ने आकाश को सतोगुण प्रधान बताते हुए कहा है कि **"सत्त्वबहुलमाकाशम्" (सु. सं.- शारीरस्थानम्- १.२७)**। इस कारण यह तत्व सूक्ष्म व अव्यक्त प्रकाशयुक्त, सबसे हल्का अर्थात् नगण्य द्रव्यमान वाला होता है। ध्यातव्य है कि इस तत्व की उत्पत्ति के साथ प्राणियों में विद्यमान श्रोत्र इन्द्रिय की भी सूक्ष्म रश्मि रूप में उत्पत्ति होती है।

प्रश्न- महर्षि कणाद ने अपने **वैशेषिक दर्शन २.१.२७** में शब्द को आकाश का गुण बतलाते हुए कहा है-

"परिशेषाल्लिङ्गमाकाशस्य"

उधर व्याकरण महाभाष्यकार **महर्षि पतंजलि** ने **"आकाशदेशः शब्दः" (महा.अ.१/पा.१/सू. अइउण्/आ.२)** कहकर शब्द को आकाश में रहने वाला बताया है।

इस ऐसे आकाश का आपके द्वारा दर्शाये उपर्युक्त आकाश तत्व का क्या सम्बन्ध है?

उत्तर- ऋषियों के उपर्युक्त दोनों विचार हमारे द्वारा वर्णित उपर्युक्त आकाश तत्व का ही संकेत करते हैं। वस्तुतः हमारा अपना कोई विज्ञान नहीं है, बल्कि ऋषियों के ग्रन्थों का जो भाव हमने ग्रहण किया है, वही हमने दर्शाया है। हमारा वैदिक विज्ञान इस बात को दर्शाता है कि **इस सृष्टि की उत्पत्ति विभिन्न प्राण व छन्द रश्मियों के नाना प्रकार के मेल से ही हुई है। सभी पंच महाभूत पृथिवी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश सभी इन्हीं से बने हैं तथा प्राण व छन्द दोनों ही प्रकार की रश्मियां वस्तुतः एक ही हैं।** ये सभी मूलतः छन्द रश्मियों का ही रूप हैं। उधर सभी छन्द रश्मियां एक प्रकार की शब्द रश्मियां ही हैं। शब्द (वाणी) के चार भेद हम पूर्व में बतला चुके हैं। पृथिवी, जल, अग्नि एवं वायु इन चार महाभूतों के तो गन्ध, रस आदि गुण हैं परन्तु आकाश का इनमें से कोई गुण न होने से मात्र शब्द को आकाश का गुण माना गया है और इसे आकाश में रहने वाला माना गया है। यद्यपि शब्द अन्य महाभूतों का भी गुण होता है तथा यह उन महाभूतों में भी विद्यमान होता है परन्तु वहाँ इसकी विद्यमानता आकाश तत्व की विद्यमानता के कारण ही होती है, आकाश के अभाव में नहीं। इस कारण सभी महर्षि भगवन्तों का मत परस्पर समन्वित एवं एक-दूसरे का पूरक एवं प्रतिपादक ही जानना चाहिए। कहीं विरोध का कोई स्थान नहीं है।

प्रश्न- महर्षि कणाद एवं **महर्षि कपिल** ने आकाश के साथ-२ दिक् एवं काल का भी ग्रहण द्रव्यों में किया है। आपने काल के विषय में तो लिखा परन्तु काल का आकाश के साथ कोई सम्बन्ध नहीं दर्शाया। **आधुनिक भौतिक शास्त्री काल को आकाश के साथ अति निकटता से जोड़ते हैं।** इस विषय में आपका क्या मत है? इसके साथ ही दिशा किसे कहते हैं? क्या यह भी कोई पदार्थ है अथवा केवल व्यावहारार्थ ही इसका उपयोग है?

उत्तर-

काल व आकाश सम्बन्ध

हम यह बात पूर्व में दर्शा चुके हैं कि रिक्त स्थान रूपी आकाश, महाभूत आकाश से पृथक् है। महाभूत आकाश अन्य महाभूतों के प्रवेश व निष्क्रमण का स्थान व आधार है। वर्तमान भौतिकी पंच महाभूतों से सूक्ष्म किसी पदार्थ के विषय में विचार नहीं कर सकती। इस कारण उनकी दृष्टि में आकाश महाभूत (space) से सूक्ष्म एवं निरवयव कोई भी पदार्थ इस सृष्टि में नहीं है। इसी में कोई कण वा तरंग गति करती है और उस गति में कुछ न कुछ काल व्यतीत होता है। इस कारण वे space एवं time को साथ-२ लेते हैं। आधुनिक भौतिकी इन दोनों ही पदार्थों के स्वरूप के विषय में मौन है। वैदिक विज्ञान की दृष्टि से ये दोनों ही जड़ पदार्थ हैं, जिनके बारे में हम पूर्व में चर्चा कर चुके हैं। हमारी दृष्टि में **काल तत्व आकाश की अपेक्षा अति सूक्ष्म है। काल सर्वत्र समान अर्थात् एकरस भरा हुआ प्राणादि सूक्ष्म रश्मियों को प्रेरित करके इनके माध्यम से बड़े-२ लोक लोकान्तरों तक को सतत प्रेरित करता रहता है। उधर महाभूत आकाश, काल द्वारा प्रेरित सभी कणों, तरंगों एवं लोकों को गति=क्रिया हेतु मार्ग प्रदान करता है।** अगर उस काल की चर्चा करें, जो प्रलयकाल में भी बना रहता है अर्थात् निरपेक्ष काल=अव्यक्ततम काल, उसका सम्बन्ध अवकाश रूप आकाश से प्रत्यक्ष रहता है अर्थात् जहाँ भी निरपेक्ष काल है, वहाँ अवकाश रूप आकाश होगा ही और जहाँ अवकाश रूप आकाश विद्यमान है, वहाँ निरपेक्ष काल भी विद्यमान होगा ही। इस प्रकार की तुलना हम प्रचलित वा सक्रिय काल एवं महाभूत आकाश से नहीं कर सकते। महाभूतों के संसार में तो यह उचित भी माना जा सकता है परन्तु महाभूत के कारण रूप प्राणादि पदार्थों के लिए काल व आकाश के सम्बन्ध का कोई औचित्य नहीं है, क्योंकि **उस समय सर्वप्रेरक काल तो विद्यमान होता है परन्तु आकाश महाभूत उत्पन्न ही नहीं हुआ होता है।** वर्तमान विज्ञान space-time के वक्र होने की चर्चा करता है, उस विषय में हमारा मत है **कि space (आकाश महाभूत) का वक्र होना सम्भव है परन्तु काल सदैव एकरस रहता है। उसमें curvature, fluctuation का होना भ्रम है।** किसी कण, तरंग वा लोक की गति का परिस्थिति विशेष में न्यून वा अधिक होना space की वक्रता दर्शा सकता है परन्तु time की वक्रता को नहीं। गति के न्यूनाधिक होने का सम्बन्ध उस समय space में fields का विद्यमान होना है परन्तु time का किसी field से कोई सम्बन्ध नहीं है। time सबको समान रूप से सतत प्रेरित करता रहता है। **किसी गति में ह्रास वा वृद्धि किसी बल पर निर्भर करती है, काल पर नहीं। वही बल space को वक्र वा flat करता वा रखता है।**

अब प्रश्न यह रहा कि फिर **महर्षि कणाद** व **महर्षि कपिल** ने इनका पारस्परिक सम्बन्ध कैसे दर्शाया है? इसका उत्तर पंचभूतों के स्तर पर हम दे चुके हैं। इन ऋषियों का आशय काल के वक्र व सम होना कदापि नहीं है, इस कारण हम वर्तमान विज्ञान की धारणा से इन महर्षियों की धारणा की तुलना नहीं कर सकते। हमें काल की गति तीव्र वा अधिक प्रतीत हो सकती है परन्तु वास्तव में ऐसा होता नहीं। यदि किसी कार में बैठे यात्री को वृक्ष पीछे की ओर चलते प्रतीत होते हैं परन्तु यह प्रतीति भ्रान्ति मात्र है, इसी प्रकार काल के विषय में समझें।

अब हम दिक्-तत्व, जो आकाश के अन्तर्गत ही समाहित है, की चर्चा करते हैं।

दिक्तत्त्व मीमांसा

सर्वप्रथम हम इस विषय में कुछ आर्ष वचनों को उद्धृत करते हैं-

"अथ यत्तच्छ्रोत्रमासीत्ता इमा दिशो ऽभवन्" (जै.उ.२.१.२.४)
"आनुष्टुभीर्दिशः" (तै.सं.५.२.१.१)
"एतद्देवत्या (वायुदेवत्याः) वा इमा दिशः" (मै.२.३.५)
"दश दिशः" (श.६.३.१.२१; ८.४.२.१३)

"दिशः परिधयः" (ऐ.५.२८; काठ.६.६)
"दिशः पादाः" (तै.सं.७.५.२५.१)
"दिशः सप्तहोत्राः" (श.७.४.१.२०)
"दिशो वै परिभूश्छन्दः" (श.८.५.२.३), "छन्दांसि वै दिशः" (श.८.३.१.१२)
"दिशो हरितः" (ऐ.आ.२.१.१)

इन आर्ष वचनों से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं-

❍ श्रोत्र ही दिशाएं हुई। श्रोत्र विषय में भी **महर्षि जैमिनी** का कथन है- **"वागिति श्रोत्रम्" (जै.उ.४.२२.११)**। इससे स्पष्ट है कि विभिन्न वाग् अर्थात् छन्द रश्मियां ही दिक् तत्व का रूप धारण करती हैं। हम आकाश तत्व को भी छन्द रूप लिख चुके हैं।
❍ छन्द रश्मियों में भी **अनुष्टुप् छन्द रश्मियों को दिग्रूप कहा गया है** अर्थात् इनमें अनुष्टुप् छन्द रश्मियों की प्रधानता होती है। हमने आकाश महाभूत के विषय में लिखा था कि इसमें दैवी अनुष्टुप् छन्द रश्मियां प्रचुरता से विद्यमान होती हैं। इस प्रकार इसकी आकाश तत्व से समानता है।
❍ इस तत्व में दिव्य वायु रूप प्राथमिक प्राण रश्मियां विद्यमान होती हैं, यह भी आकाश महाभूत से समानता है।
❍ दिशाएं दश होती हैं- चार दिशा, चार अवान्तर दिशा तथा ऊर्ध्व व ध्रुव दिशा।
❍ छन्द वा प्राण रूप दिक् तत्व विभिन्न कण, तरंग वा लोकों को परिधि रूप में ढके रहता है।
❍ यह तत्व इन पदार्थों को पाद रूप बनाकर घूर्णन गति प्रदान करने में सहायक होने के साथ-२ अन्य क्रियाओं में भी अपनी समुचित भूमिका निभाता है।
❍ इस तत्व में सप्तहोतृरूप प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, सूत्रात्मा वायु व धनंजय रश्मियां विद्यमान होती हैं। इनमें भी सूत्रात्मा वायु प्रधानता से परिधि का निर्माण करता है।
❍ **किसी भी पदार्थ में ऊपर विद्यमान अर्थात् आवरक छन्द रश्मियां ही दिक् तत्व का रूप होती हैं।**
❍ दिग् रूप रश्मियां विभिन्न कणों वा लोकों को अन्य कण वा लोकों से उत्सर्जित रश्मियों का हरण करके उन्हें परस्पर बांधने में सहायक होती हैं।

वस्तुतः **दिक् तत्व आकाश तत्व का वह भाग है, जो किसी कण वा लोक आदि पदार्थ को सब ओर से आवृत्त किये रहता है तथा उस पदार्थ की घूर्णन, संयोजन आदि क्रियाओं को नियन्त्रित करता है।** सभी दश दिशाओं की पृथक्-२ भूमिका होती है। अब हम अपने ऐतरेय व्याख्यान से घूर्णनादि क्रियाओं से सम्बन्धित कुछ बिन्दु उद्धृत करते हैं-

❍ गायत्री छन्द रश्मियों के तीन आवरण के कारण सभी कण अपने अक्ष पर घूर्णन करने में समर्थ होते हैं (देखें खण्ड- २.५)। गायत्री छन्द के विषय में एक ऋषि का कथन है- **"गायत्री वै सा यानुष्टुप्" (कौ.ब्रा.१०.५)**। इससे गायत्री की अनुष्टुप् से समता सिद्ध होकर यहाँ गायत्री रश्मियां दिक् तत्व के रूप में व्यवहार करती हुई सिद्ध होती हैं।
❍ विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्र के द्वारा ही क्वाण्टाज् चक्राकार घूमते एवं नियन्त्रित होते हैं। ध्यातव्य है कि विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्र प्राणापानादि रश्मियों के द्वारा ही निर्मित होता है। (देखें खण्ड- ५.१) इस कारण यहाँ भी विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्र का दिक् तत्व के साथ सम्बन्ध सिद्ध होता है।
❍ धनंजय और सूत्रात्मा वायु रश्मियां.. आकाश तत्व के साथ मिलकर विभिन्न कणों व लोकों को घूर्णन एवं परिक्रमण गतियां प्रदान करने में सहयोग करती हैं। (देखें खण्ड- ५.२) इन रश्मियों का दिक् तत्व के साथ सम्बन्ध स्वयं सिद्ध है।
❍ तारे के घूर्णन कर्म में विद्युत्, गुरुत्व बल एवं व्यान रश्मियों की भूमिका होती है। (देखें खण्ड- ५.१३) इन बलों की रश्मियां प्राण रश्मियों का रूप होने से दिक् तत्व से सम्बन्ध सिद्ध है।
❍ विभिन्न कणों की घूर्णनादि क्रियाओं में सूत्रात्मा वायु एवं आकाश की स्पष्ट भूमिका होती है। (देखें खण्ड- ५.१३)
❍ त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां एवं विद्युत् विभिन्न कणों वा तारों के घूर्णन व परिक्रमण को नियन्त्रित करती हैं। (देखें खण्ड- ५.१७)

❍ विभिन्न लोकों के घूर्णन व परिक्रमण विविध गायत्री छन्द रश्मियों द्वारा प्रभावित होते हैं। (देखें खण्ड- ५.१६)

इस प्रकार सुस्पष्ट है कि **दिक् तत्व भी आकाश महाभूत की भांति रश्मि रूप होता है। काल तत्व इनकी अपेक्षा अति सूक्ष्म पदार्थ है।** इन तीनों पदार्थों का पारस्परिक सम्बन्ध यह है कि ये तीनों महाभूतों को प्रेरित व नियन्त्रित तो करते हैं परन्तु किसी पदार्थ का भाग नहीं बनते अर्थात् उनका उपादान नहीं बनते। अपवाद स्वरूप आकाश महाभूत के सम्पीडन से वायु तत्व का निर्माण अवश्य होता है, लेकिन यह क्रिया सर्वत्रैव नहीं होती। आज समूचे ब्रह्माण्ड में नाना पदार्थों का निर्माण हो रहा है और इस हेतु नाना क्रियाएं हो रही हैं। इन क्रियाओं में ये तीनों पदार्थ प्रत्यक्ष भाग न लेकर परोक्ष रूप से प्रेरणा का कार्य करते रहते हैं। **दिशा व आकाश का सम्बन्ध तो अंग-अंगी के समान है परन्तु काल का इन दोनों से ऐसा सम्बन्ध नहीं है।** इस ग्रन्थ में अनेकत्र अनेक दिशाओं का वर्णन हुआ है, पाठक तत् तत् स्थानों पर पढ़ सकते हैं। यहाँ पुनः उन दिशाओं तथा शेष अन्य दिशाओं का स्वरूप बतलाकर ग्रन्थ के कलेवर में वृद्धि करना हम आवश्यक नहीं समझते। विज्ञ पाठक सुगमता से जान सकते हैं कि आकाश व दिशा के विषय में वैदिक विज्ञान गम्भीर विश्लेषण प्रस्तुत करता है, जबकि वर्तमान भौतिक विज्ञान को इनका साधारण ज्ञान भी नहीं है।

(२) वायु

सर्वप्रथम इसके विषय में हम विभिन्न ऋषियों का मत उद्धृत करते हैं-

"अयं वायुरन्तरिक्षस्य पृष्ठम्" (जै.ब्रा.३.२५२)
"अयं वै वायुर्विश्वकर्मा यो ऽयं पवत ऽ एष हीदꣳ सर्वं करोति" (श.८.१.१.७; ८.६.१.१७)
"न खलु वै किं चन वायुनानभिगतमस्ति" (मै.२.२.७)
"पृथिवी पूर्वरूपम्। द्यौरुत्तररूपम्। आकाशः सन्धिः। वायुः सन्धानम्" (तै.आ.७.३.१-२; तै.उ. १.३.१-२)
"यदिदं सर्वं युते तस्माद् वायुः" (जै.ब्रा.२.५६)
"वायुरस्यन्तरिक्षे श्रितः। दिवः प्रतिष्ठा" (तै.ब्रा.३.११.१.६)
"वायुर्वै देवानामोजिष्ठः क्षेपिष्ठः" (मै.२.५.१)
"वायुर्वै तूर्णिर्हव्यावाड् वायुर्हीदं सर्वं सद्यस्तरति यदिदं किंच" (ऐ.२.३४)
"वायुर्हि प्राणः" (ऐ.२.२६), "प्राणो हि वायुः" (तां.४.६.८), "प्राणा उ वै वायुः" (श.८.४.१.८), "वाग्वै वायुः" (तै.ब्रा.१.८.८.१; तां.१८.८.७), "वायुर्वै निकायश्छन्दः" (श.८.५.२.५)
"वायुर्वै रेतसां विकर्त्ता" (श.१३.३.८.१)
"त्रैष्टुभो हि वायुः" (श.८.७.३.१२)

इन उपर्युक्त आर्ष वचनों के द्वारा हम वायु तत्व के विषय में निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त करते हैं-

❍ वायु तत्व आकाश तत्व का पृष्ठरूप है, इसके यहाँ दो अर्थ हैं। इनमें प्रथम यह है कि पूर्व में अनेकत्र वर्णित **अहंकार रूप दिव्य वायु आकाश तत्व का आधार है।** यह दिव्य वायु ही आकाश तत्व का मूल उपादान कारण होने के साथ-२ उसका आधार भी है। यहाँ दूसरा अर्थ यह है कि वायु तत्व आकाश तत्व के पश्चात् उत्पन्न होता है।

❍ इस सृष्टि के प्रत्येक कर्म वा बल के पीछे वायु रश्मियां ही प्रधान कारण हैं। इसी कारण इसे विश्वकर्मा अर्थात् सबका कर्त्ता कहा जाता है।

❍ इस सृष्टि में प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ वायु तत्व के साथ निकटता से संयुक्त रहता है, साथ ही इसी से उत्पन्न भी होता है।

❍वायु तत्व विभिन्न पदार्थों को जोड़ने का कार्य करता है। इसके अभाव में कोई भी पदार्थ परस्पर सन्धि नहीं कर सकते।

❍ यह तत्व अन्य सभी पदार्थों के साथ मिला हुआ रहकर उन्हें परस्पर मिलाये भी रखता है तथा विभिन्न पदार्थों के वियोजन कर्म में भी यही वायु तत्व अपनी भूमिका निभाता है।

❍ यह वायु तत्व आकाश तत्व में आश्रित रहता हुआ विभिन्न द्युलोकों को प्रतिष्ठा अर्थात् आधार प्रदान करता है। इसके बिना द्युलोकों की उत्पत्ति व स्थिति का होना सम्भव नहीं है। आकाश के अभाव में वायु तत्व का होना सम्भव नहीं।

❍ विभिन्न देव पदार्थों में वायु तत्व सबसे अधिक सम्पीडक वा प्रक्षेपक, आकर्षक वा प्रतिकर्षक बलों से युक्त होता है। वस्तुतः इस सृष्टि में जो भी बल विद्यमान है, वह वायु का ही बल है।

❍ **{तूर्णिः = क्षिप्रनाम (निघं.२.१५), तूर्णिः कर्म (नि.७.२७)}** यह अतिशीघ्र नाना प्रकार के कर्मों को अव्यक्त रूप से सम्पादित करता है। इसकी आवश्यकता को दर्शाते हुए **महर्षि याज्ञवल्क्य** का कथन है- **"अनिरुक्तो हि वायुः" (श.८.७.३.१२)**। अनिरुक्त का अर्थ करते हुए कहा- **"अपरिमितं वाऽ अनिरुक्तम्" (श.५.४.४.१३)**। इससे संकेत मिलता है कि वायु तत्व मानव की दृष्टि में अपरिमित क्षेत्र में व्याप्त होकर सभी कण वा क्वाण्टाज् आदि पदार्थों को प्रत्येक क्रिया में तारता अर्थात् उन्हें समर्थ बनाता है।

❍ यहाँ वायु क्या है? उसका स्वरूप क्या है? यह स्पष्ट किया गया है। पूर्वोक्त विभिन्न प्रकार की प्राण रश्मियां ही वायु रूप हैं। इन प्राण रश्मियों तथा पूर्वोक्त विभिन्न छन्द रश्मियों के समूह का मिश्रण ही वायु तत्व नाम से जाना जाता है। सूक्ष्म प्राण व छन्द रश्मियां आकाश तत्व का निर्माण करती हैं परन्तु आकाश तत्व के निर्माण के पश्चात् उत्पन्न **वृहद् छन्द रश्मियों का प्राण रश्मियों के साथ मिश्रण वायु तत्व नाम से जाना जाता है।**

❍ वायु तत्व विभिन्न पदार्थों के बीज को विविध प्रकार से उत्पन्न व धारण करता है। यह पदार्थों को विकृत वा रूपान्तरित करता हुआ अनेक अन्य पदार्थों का निर्माण करता है। इस प्रकार यह नाना क्रिया वा बलों को उत्पन्न करता रहता है।

❍ इस वचन से संकेत मिलता है कि **ऋषियों ने इस ब्रह्माण्ड में त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के उत्पन्न होने के पूर्व प्राण व छन्द रश्मियों के मिश्रण की वायु संज्ञा नहीं की है। जब त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां उत्पन्न हो जाती हैं, उस समय विभिन्न प्राण व छन्द रश्मियों का मिश्रण वायु नाम से जाना जाने लगता है।** इसके उपरान्त ही वे प्राण व छन्द रश्मियां अधिक तीव्र तेज एवं बलों से युक्त होने लगते हैं।

अब हम वायु के विषय में कुछ अन्य ऋषियों का मत जानने का प्रयास करते हैं। इस विषय में ऋषियों ने कहा है-

"वायुर्वातेर्वेतेर्वा स्यात् गतिकर्मणः" (नि.१०.१)
"स्पर्शवान् वायुः" (वै.द.२.१.४)

इन वचनों से निम्नलिखित विज्ञान प्रकाशित होता है-

❍ वायु शब्द **'वा गतिगन्धनयोः'** धातु से निष्पन्न होता है। गति अर्थ वाली होने से स्पष्ट होता है कि यह तत्व सदैव गतिशील रहता है, जबकि गन्धन अर्थ एक गम्भीर विज्ञान को दर्शाता है। **'गन्धनम्'** पद के आप्टे संस्कृत-हिन्दी कोश में अनेक अर्थ दिये हैं, जैसे- **अविराम प्रयत्न, चोट पहुंचाना, प्रकाशन, संसूचन एवं संकेत आदि**। इन अर्थों से वायु ऐसा तत्व सिद्ध होता है, जो अविराम गति व प्रयत्न करता रहता है। यह विभिन्न पदार्थों के साथ तथा स्वयं के साथ (वायु रश्मियां परस्पर) आकर्षण-प्रतिकर्षण-धारण आदि का भाव रखता है। इसी के कारण सृष्टि के पदार्थों के नाना गुण प्रकाशित होते हैं तथा विभिन्न संदेश-सूचनाओं का माध्यम वा वाहक भी यही तत्व है। **सभी प्रकार के बल एवं फील्ड्स का कारण यह वायु ही है।** सृष्टि के सभी संकेत वायु रश्मियों के रूप में ही आते हैं। जो संकेत विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के माध्यम से आते हैं, उनका भी मूल कारण वायु तत्व ही है। **महर्षि यास्क** के उपर्युक्त वचन में **'वायुः'** पद **'वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु'** धातु से निष्पन्न माना है। इससे स्पष्ट होता है कि वायु रश्मियां सतत गमनशील रहने के साथ-२ विभिन्न पदार्थों को व्याप्त करतीं, उन्हें परिधि रूप में घेरती, उन्हें प्रेरित वा प्रक्षिप्त करती, उन्हें नाना पदार्थों की उत्पत्ति में सक्षम बनाती हैं। सभी पदार्थों की सभी क्रियाएं इस वायु तत्व की रश्मियों के माध्यम से ही होती हैं।

❍ पूर्व में आकाश का गुण **'शब्द'** बतलाया, यहाँ वायु तत्व का गुण **स्पर्श** कहा गया है। **महर्षि दयानन्द** ने **'स्पर्श संस्पर्शने'** धातु के अर्थ **'आलिंगन करना', 'बांधना', 'अनुगत होना'** तथा **'ग्रहण करना'** भी किए हैं। उन्होंने अपने वेदभाष्य में विभिन्न स्थलों पर निम्नानुसार अर्थ ग्रहण किए हैं-

⇒ **स्पृश = अनुगतो भव (यजु.भा.१३.१०)**

⇒ **स्पृश = गृहाण (ऋ.भा.४.३.१५)**

⇒ **स्पृशन्ति = आलिङ्गयन्ति (ऋ.भा.१.६२.११)**

⇒ **स्पृशन्ति = सम्बध्नन्ति (ऋ.भा.१.३६.३)**

इससे भी यही स्पष्ट होता है कि **'स्पर्शवान् वायुः'** का तात्पर्य मात्र छूने वाला नहीं, अपितु प्रत्येक पदार्थ के अन्दर अनुकूलतापूर्वक व्याप्त, उसे ग्रहण करके अधिकार में करने वाला, उसके साथ संयुक्त रहने एवं उसे बांधने-मिलाने वाला भी होता है। इधर हमारे शरीर में स्पर्श करने की क्रिया भी वायु रश्मियों के कारण ही सम्भव होती है।

इस तत्व को **आचार्य सुश्रुत** ने **'रजोबहुलो वायुः' (सु.सं. - शारीरस्थानम् १.२७)** कहकर रजोगुण प्रधान बताया है। इसी कारण यह सदैव क्रियाशील रहता है। इसमें द्रव्यमान नगण्य एवं दीप्ति अतिमन्द होती है।

अब हम **महर्षि ब्रह्मा** एवं **महर्षि भृगु** के विचारों के माध्यम से वायु तत्व की उत्पत्ति प्रक्रिया पर अति संक्षिप्त विचार प्रस्तुत करते हैं-

महर्षि ब्रह्मा उवाच-

द्वितीयं मारुतो भूतं त्वगध्यात्मं च विश्रुता।।
स्प्रष्टव्यमधिभूतं च विद्युत् तत्राधिदैवतम्।।१६।। (महाभारत आश्व.प., अनुगीता पर्व अध्याय-४२)

महर्षि भृगु उवाच-

तस्माच्च सलिलोत्पीडादुदतिष्ठत मारुतः।।१०।।
यथाभाजनमच्छिद्रं निःशब्दमिव लक्ष्यते। तच्चाम्भसा पूर्यमाणं सशब्दं कुरुतेऽनिलः।।११।।
तथा सलिलसंरुद्धे नभसोऽन्ते निरन्तरे। भित्त्वार्णवतलं वायुः समुत्पतति घोषवान्।।१२।।
स एष चरते वायुरर्णवोत्पीडसम्भवः। आकाशस्थानमासाद्य प्रशान्तिं नाधिगच्छति।।१३।। (महाभारत शा.प., मोक्षधर्मपर्व, अध्याय- १८३)

इससे संकेत मिलता है कि आकाश के पश्चात् वायु तत्व की उत्पत्ति होती है। इसी समय प्राणियों की करणरूप स्पर्श इन्द्रिय रूपी सूक्ष्म रश्मियों की उत्पत्ति होती है। वायु तत्व के साथ-२ सूक्ष्म कार्यरूप विद्युत् की भी उत्पत्ति होती है। इसे फील्ड्स का रूप भी कह सकते हैं। आकाश तत्व के सम्पीडन से वायु तत्व की उत्पत्ति हुई। यह वायु तत्व आकाश तत्व के अन्दर उठता हुआ सा उत्पन्न हुआ। इसको उपमा के द्वारा समझाते हुए कहा कि छिद्र रहित कोई पात्र पूर्णतः निःशब्द प्रतीत होता है और जब, उसमें छिद्र करके जल भरा जाता है, उस समय ध्वनि उत्पन्न होती है। इसी प्रकार निःशब्द आकाश तत्व में जब पूर्वोक्त बलवान् वायु तत्व उत्पन्न होता है, तब आकाश तत्व में ध्वनियां उत्पन्न होने लगती हैं। यहाँ यह भी संकेत मिलता है कि जिस प्रकार आकाश तत्व की उत्पत्ति सर्वत्र एक साथ नहीं होती है, उसी प्रकार वायु तत्व भी एक स्थान विशेष पर सर्वप्रथम प्रकट होता है। उसके पश्चात् सम्पूर्ण आकाश तत्व में वायु रश्मियां वेग के साथ प्रकट होकर विचरती हुई नाना घोष उत्पन्न करने लगती हैं।

यहाँ स्पष्ट हो रहा है कि जैसे-२ ब्रह्माण्ड में प्राण व छन्द रश्मियों की तीव्रता बढ़ती जाती है, वैसे-२ सर्वत्र नाना प्रकार की ध्वनि तरंगें उत्पन्न होकर तीव्र भी होती जाती हैं। पाठक इस बात से अवगत हो चुके होंगे कि यह **वायु तत्व लोक विख्यात हवा (Air) नहीं है।** प्रायः सभी दार्शनिकों ने इस विषय में यही भारी भूल की है कि हवा को ही वायु महाभूत मान लिया है। पश्चिमी जगत् के वैज्ञानिकों ने भी दार्शनिकों की चर्चा में वायु महाभूत से Air का ग्रहण करने की भूल की है।

वायु तत्व के विषय में वर्तमान विज्ञान अति स्वल्प ज्ञान ही रखता है। **जिसे आज विभिन्न प्रकार के फील्ड्स कहा जाता है, वे सभी सर्वांश में वायु तो नहीं परन्तु वायु के द्वारा ही निर्मित होते हैं।** फील्ड्स के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ से वर्तमान भौतिक वैज्ञानिक वायु की तुलना नहीं कर सकते। जिस दिन वायु तत्व की नाना छन्द वा प्राण रश्मियों का बोध वैज्ञानिकों को होगा, उस दिन वे फील्ड्स के विषय में अधिक व्यापक एवं गम्भीर ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

प्रश्न– महर्षि दयानन्द ने **सत्यार्थ प्रकाश** के आठवें समुल्लास में लिखा है–

''सबसे सूक्ष्म टुकड़ा अर्थात् जो काटा नहीं जाता, उसका नाम परमाणु, साठ परमाणुओं से मिले हुए का नाम अणु, दो अणु का एक द्वयणुक, जो स्थूल वायु है, तीन द्वयणुक का नाम अग्नि, चार द्वयणुक का नाम जल, पांच द्वयणुक की पृथिवी अर्थात् (हमारे विचार में यहाँ 'अथवा' शब्द होना चाहिए) तीन द्वयणुक का त्रसरेणु और उसका दूना होने से पृथिवी आदि दृश्य पदार्थ होते हैं।'' (मानक संस्करण, उदयपुर)

पंच महाभूतों के इस स्वरूप का आपके द्वारा दर्शाये स्वरूप से क्या संगति है?

उत्तर– हमारे मत में **महर्षि दयानन्द** ने जिसे परमाणु कहा है, वह वस्तुतः एक प्राण/मरुत्/छन्द रश्मि का नाम है। ऐसी साठ रश्मियां मिलकर एक अणु बनाती हैं और दो अणु अर्थात् एक सौ बीस रश्मियां मिलकर स्थूल वायु के अणु को उत्पन्न करती हैं। हम पूर्व में लिख चुके हैं कि प्राण रश्मियां मरुत् वा छन्द रश्मियों के साथ मिथुन करके ही सृष्टि का निर्माण करती हैं। इसके साथ ही विभिन्न प्राण रश्मियां परस्पर तथा विभिन्न छन्द रश्मियां भी परस्पर मिथुन बनाती हैं। **इस प्रकार ६० प्राण रश्मियों का युग्म एक अणु तथा ६० छन्द/मरुत् रश्मियों का युग्म अन्य अणु का निर्माण करती हैं। यहाँ दूसरा विकल्प यह भी सम्भव है कि एक अणु में ३० प्राण व ३० मरुत्/छन्द रश्मियों का युग्म हो तथा इनसे भिन्न ३० प्राण व ३० मरुत्/छन्द रश्मियों का युग्म दूसरा अणु होवे। जब इन दोनों अणुओं का मिथुन होता है, तब वायु तत्व का एक अणु निर्मित होता है। यह वायु स्थूल वायु कहलाता है,** जहाँ त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां भी विद्यमान हो चुकी होती हैं। इससे पूर्व सभी रश्मियां आकाश वा सूक्ष्म वायु के रूप में ही होती हैं। इस प्रकार वायु के एक अणु में कुल १२० परमाणु अर्थात् छन्द, मरुत् व प्राण रश्मियां विद्यमान होती हैं। इन सबका गुच्छ स्वतन्त्र विचरण करता हुआ एक स्वतंत्र इकाई के समान भी व्यवहार करता है। यद्यपि **वायु तत्व वर्तमान विज्ञान की भाषा में कहे जाने वाले किसी भी क्वाण्टा तथा मूलकण से सूक्ष्म होता है,** पुनरपि इसे अणु नाम देने से यही संकेत मिलता है कि वायु तत्व एकरस नहीं होता है, भले ही उसे वर्तमान किसी भी तकनीक से अनुभूत न किया जा सके और सामान्यतः उसे एकरसवत् ही कहने की विवशता हो।

(३) अग्नि

पंचमहाभूतों में वर्णित अग्नि नामक महाभूत विद्युत् आवेश तथा विद्युत् चुम्बकीय तरंग दोनों ही के लिए प्रयुक्त है अर्थात् इन दोनों को ही अग्नि कहा जाता है। **निरुक्त शास्त्र** में इन्हें पृथक्-२ वर्गीकृत किया है, जिस पर विचार हम आगे करेंगे। आइये, सर्वप्रथम हम अग्नि तत्व के विषय में ऋषियों के विचारों को समझने का प्रयास करेंगे। इस क्रम में सर्वप्रथम **महर्षि ब्रह्मा** का कथन है–

तृतीयं ज्योतिरित्याहुश्चक्षुरध्यात्ममुच्यते।।
अधिभूतं ततो रूपं सूर्यस्तत्राधिदैवतम्।।२०।। (महाभारत आश्व.पर्व., अनुगीता पर्व, अध्याय– ४२)

अर्थात् तृतीय महाभूत ज्योतिरूप अग्नि कहलाता है। इसी समय चक्षु इन्द्रिय रूप सूक्ष्म रश्मियां उत्पन्न होती हैं। सूर्य अर्थात् **विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के फोटोन्स अग्नि का ही रूप हैं।**

इस विषय में **महर्षि भृगु** कहते हैं–

तस्मिन् वाय्वम्बुसंघर्षे दीप्ततेजा महाबलः। प्रादुरभूदूर्ध्वशिखः कृत्वा निस्तिमिरं नभः।।१४।। (महाभारत शा.प., मोक्षधर्म पर्व, अध्याय– १८३)

अर्थात् पूर्वोक्त आकाश एवं वायु के संघर्ष से दीप्त तेज एवं बलवान् अग्नि तत्व उत्पन्न हुआ, जिससे सम्पूर्ण आकाश तत्व प्रकाशित हो उठा। अग्नि की रश्मियों की दिशा आकाश के साथ संघर्ष करती हुई वायु रश्मियों की दिशा के विपरीत होती है, इसे ही ऊर्ध्वशिख नाम दिया गया है। यहाँ हमने **'अम्बु'** शब्द का अर्थ जल ग्रहण न करके आकाश महाभूत ग्रहण किया है। यह शब्द इसी प्रकरण में

'सलिल' के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिससे वायु तत्व की उत्पत्ति बतलाई है। जल से वायु की उत्पत्ति सम्भव नहीं है, इस कारण पूर्व में हमने इसका अर्थ आकाश ही ग्रहण किया है, इस कारण उसी सलिल के स्थान पर प्रयुक्त **'अम्बु'** शब्द आकाश का ही वाचक मानना चाहिए, न कि जल का वाचक। **महर्षि दयानन्द** ने **उणादिकोष १.२७** की व्याख्या में **'अम्बु'** पद की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है-

"अमन्ति गच्छन्ति चेष्टन्ते प्राणिनो ये तद् अम्बु"

निश्चित ही प्राण तत्व से उत्पन्न विभिन्न परमाणु आदि पदार्थ आकाश तत्व से प्रेरित होते हैं अर्थात् उनकी प्रत्येक क्रिया-गति आदि में आकाश की अनिवार्य भूमिका होती है। **महर्षि दयानन्द** ने इस शब्द का अर्थ जल किया है, यह बात पृथक् है। इस व्युत्पत्ति से आकाश का ग्रहण करना सर्वथा सम्भव व प्रकरण के अनुकूल है। हमारी दृष्टि में इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार भी सम्भव है-

"अमन्ति गच्छन्ति चेष्टन्ते परमाणवो यस्मिन् तद् अम्बु"

अब अग्नि के विषय में कुछ अन्य ऋषियों के वचनों को उद्धृत करते हैं-

"अग्नयो वै छन्दाꣳसि" (तै.सं.५.७.६.३)
"अग्निं वै पशवः प्रविशन्त्यग्निः पशून्" (मै.१.८.२)
"अग्निः प्रजनयिता" (काठ.६.७; २७.८; क.६.५)
"अग्निः प्रथम इज्यते" (मै.३.८.१)
"अग्निना तपोऽन्वाभवत्" (काठ.३५.१५; क.४७.१३)
"अग्निना वा अनीकेनेन्द्रो वृत्रमहन्" (मै.१.१०.५; काठ.३५.२०; क.४७.१८)
"अग्निरसि पृथिव्याꣳश्रितः। अन्तरिक्षस्य प्रतिष्ठा" (तै.ब्रा.३.११.१.७)
"अग्निरेकाक्षरयोदजयन्मामिमां पृथिवीम्" (मै.१.११.१०)
"अग्निरेकाक्षरया वाचमुदजयत्" (मै.१.११.१०; काठ.१४.४)
"अग्निरु देवानां प्राणः" (श.१०.१.४.१२)
"अग्निर्गायत्रछन्दाः" (काठ.६.१३)
"अग्निं वै विभाजं नाशक्नुवꣳ स्तमश्वेन व्यभजन्" (काठ.८.५)
"अग्निर्वै देवानां पथिकृत्" (मै.१.८.६)
"अग्निर्वै मिथुनस्य कर्त्ता प्रजनयिता" (श.३.४.३.४)
"ते वाऽएते प्राणा एव यद् अग्नयः" (श.२.२.२.१८)
"देवरथो वा अग्नयः" (कौ.ब्रा.५.१०)
"भूरिति वा अग्निः" (तै.आ.७.५.२; तै.उ.१.५.२)
"विश्वकर्मायमग्निः" (श.६.२.२.२)
"मिथुनं वा अग्निश्च सोमश्च सोमो रेतोधा अग्निः प्रजनयिता" (काठ.८.१०; क.७.६)

इन उपर्युक्त वचनों से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं-

- यह पदार्थ पूर्वोक्त छन्द रश्मियों का ही रूप है अर्थात् उन्हीं से निर्मित होता है और उन्हीं में प्रतिष्ठित रहता है।
- विभिन्न पशु **{पशुः = प्राणाः पशवः (श.७.५.२.६; तां.७.३.२८), पशवो मारुतः (मै.३.३.१०; काठ. २१.१०), पशवो वै मरुतः (मै.४.६.८; काठ.३६.१; ऐ.३.१६), पशवो वै छन्दाꣳसि (तै.सं.६.४.१.३), पशवश्छन्दाꣳसि (मै.४.३.५; काठ.१२.८; क.३०.८; ऐ.४.२१; कौ.ब्रा.११.५; तां.१६.५.११)}** अर्थात् प्राण, मरुत् व छन्द रश्मियां अग्नि तत्व में प्रविष्ट होती हैं एवं अग्नि तत्व इन रश्मियों में व्याप्त होता है अर्थात् अग्नि तत्व इन रश्मियों से अन्दर-बाहर पूर्णतः ओतप्रोत रहता है।
- अग्नि तत्व विभिन्न पदार्थों को उत्पन्न करने वाला होता है। इसके अभाव में किसी भी स्थूल पदार्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती।
- परमाणु (कण) रूप में विद्यमान यही पदार्थ है, जिसमें सर्वप्रथम संयोग प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। इससे पूर्व उत्पन्न वायु पदार्थ कण रूप में नहीं, बल्कि सतत प्रवाह के रूप में विद्यमान रश्मि रूप में

विद्यमान होता है, जबकि अग्नि तत्व कण=क्वाण्टा के रूप में भी विद्यमान होता है और उसका संयोग-वियोग वायु रश्मियों के संयोग वियोग से भिन्न होता है।

❍ ऊष्मा की सर्वप्रथम उत्पत्ति अग्नि तत्व के द्वारा अर्थात् इसके रूप में ही होती है। इसके उत्पन्न होने के पूर्व सम्पूर्ण पदार्थ ऊष्मा रहित अवस्था में होता है।

❍ तीक्ष्ण विद्युत् आवेशित तरंगें इस सृष्टि में विभिन्न कॉस्मिक मेघों तथा बाधक डार्क पदार्थ वा डार्क एनर्जी को नष्ट वा नियन्त्रित करती हैं।

❍ विद्युत् आवेश अथवा विद्युत् चुम्बकीय तरंगें किसी कण में आश्रित होती हैं एवं आकाश को अपने अन्दर प्रतिष्ठित किये रहती हैं। ये आकाश में कभी स्थायित्व को प्राप्त नहीं हो सकतीं, बल्कि ये आकाश में निरन्तर गमन करती रहती हैं।

❍ अग्नि तत्व एकाक्षरा वाक् रश्मि अर्थात् **'ओम्'** एवं **'भूः'** आदि के द्वारा सभी प्रकार के पार्थिव परमाणुओं को अपने नियन्त्रण में रखता है। इससे संकेत मिलता है कि विद्युत् आवेशित कण परस्पर अन्योऽन्य क्रिया करते समय तथा विभिन्न क्वाण्टाज् किसी कण को नाना गति व क्रियाओं से युक्त करते समय इन **'ओम्'** एवं **'भूः'** रश्मियों का अनिवार्य योगदान रहता है। यहाँ **'मा'** से पृथिवी तत्व का ही ग्रहण करना चाहिए। इस विषय में कहा गया है- **''अयं वै (पृथिवी) लोको मा अयं लोको मित इव'' (श.८.३.३.५)।**

❍ यह अग्नि तत्व अथवा इसकी अंगभूत प्राण रश्मियां **'ओम्'** एकाक्षरा वाक् रश्मियों के द्वारा ही अन्य वाक् अर्थात् मरुत् व छन्द रश्मियों को नियन्त्रित करती वा रखती हैं। इस कारण अग्नि तत्व के निर्माण किंवा कार्यों में इस एकाक्षरा वाक् रश्मियों की अनिवार्य भूमिका होती है।

❍ यह तत्व विभिन्न प्रकाशित पदार्थों का प्राण रूप है अर्थात् उनको प्रकाशित व गतिशील करने में इसी की भूमिका होती है। इस सृष्टि में अग्नि के अभाव में किसी भी कण व स्थूल पदार्थ का न तो निर्माण हो सकता है और न ही वह कोई क्रिया व गति करने में समर्थ हो सकता है।

❍ अग्नि तत्व में गायत्री छन्द रश्मियों की प्रधानता होती है।

❍ अग्नि के परमाणु आवेशित कण वा क्वाण्टा सामान्यतया विभाजित नहीं हो सकते किन्तु इनके तीव्र ऊर्जा से सम्पन्न होने तथा तीव्र ऊर्जा-क्षेत्र वा तीक्ष्ण बलों से सम्पन्न क्षेत्र में से गुजरने पर इनका विभाजन सम्भव है।

❍ अग्नि तत्व विभिन्न कणों के मार्ग का निर्माण करने वाला होता है अर्थात् किसी कण का मार्ग उस कण की ऊर्जा पर निर्भर रहता है।

❍ अग्नि तत्व विभिन्न प्रकार के कणों के युग्मों को उत्पन्न करके उनसे नाना पदार्थों का निर्माण करने वाला होता है। अग्नि के अभाव में कहीं भी संयोग-वियोग की क्रियाएं सम्भव नहीं हो सकतीं।

❍ अग्नि तत्व प्राण रश्मियों से निर्मित होने से प्राण स्वरूप है। पूर्व में भी इसे छन्द, मरुत् व प्राण रश्मियों से निर्मित कहा है।

❍ अग्नि तत्व विभिन्न प्रकाशित कणों को रथ के समान वहन करने वाला है।

❍ अग्नि तत्व विशेषकर विद्युत् आवेश में **'भूः'** छन्द रश्मि विशेष रूप से विद्यमान होती है।

❍ समस्त सृष्टि में जो भी कर्म हो रहे हैं, उनमें अग्नि तत्व की अनिवार्य भूमिका होती है। ये कर्म वर्तमान भौतिक तकनीक से जानने योग्य ही मानने चाहिए। वायु रश्मियों के स्तर के कर्म अग्नि के द्वारा नहीं होते, इस कारण उन्हें वर्तमान भौतिक तकनीकों से नहीं जाना जा सकता।

❍ **यह सृष्टि अग्नि एवं सोम के मिथुन से ही निर्मित है।** यहाँ सोम का अर्थ अप्रकाशित ठंडा वायु तत्व मानना चाहिए। यह सोम तत्व ही अग्नि तत्व में रेत अर्थात् वीर्य को धारण कराने वाला है अर्थात् ये सोम रश्मियां **(प्राण, छन्द व मरुत्)** अग्नि तत्व में बल व तेज का संचार करती हैं, जिससे अग्नि तत्व आगामी पदार्थों को उत्पन्न करने में समर्थ होता है।

इन उपर्युक्त प्रमाणों से सुविज्ञ पाठकों को विदित हो ही गया होगा कि **अग्नि तत्व विद्युत् आवेश एवं विद्युत् चुम्बकीय तरंगों का ही रूप होता है।** वर्तमान भाषा में विभिन्न विकिरण वा ऊर्जा अग्नि तत्व के ही रूप हैं। इसके विषय में **हमने अब तक जो भी तथ्य अग्नि के विषय में प्रस्तुत किये हैं, उनमें से अनेक विषयों में वर्तमान विज्ञान नितान्त अनभिज्ञ है, तो कुछ विषयों में उसे स्वल्प ज्ञान**

है। अब हम ऐतरेय ब्राह्मण पर अपने वैज्ञानिक व्याख्यान की दृष्टि से अग्नि के परमाणुओं के विषय में जानने हेतु निम्न बिन्दु उद्धृत करते हैं-

- विद्युत् चुम्बकीय तरंगों में अहंकार, मन, सूत्रात्मा वायु, प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान एवं धनंजय प्राण रश्मियां सदैव संचरित होती रहती हैं। (देखें- खण्ड १.१)
- इनमें रूप, दाह, वेग, प्रकाश, धारण, छेदन, आकर्षण आदि गुण विद्यमान होते हैं। (देखें- वहीं)
- किसी भी फोटोन के साथ दो आर्षी गायत्री छन्द, कुछ मरुद् तथा धनंजय आदि रश्मियां सदैव संयुक्त रहती हैं। एक गायत्री फोटोन को प्रकाशित रखने, दूसरी गायत्री उसे आकाश तत्व के साथ जोड़ने में सहायक होती है तथा धनंजय रश्मि, जो सृष्टि का सर्वाधिक गतिमान पदार्थ है, फोटोन्स को तीव्रतम गति प्रदान करती है। (देखें- खण्ड १.१७)
- ऊर्जा के उत्सर्जन व अवशोषण की प्रक्रिया में कुछ छन्द रश्मियों की भूमिका होती है। ऊर्जा सदैव विकिरण प्रवाह के रूप में गमन करती है परन्तु जब वह किसी कण से उत्सर्जित व उसके द्वारा अवशोषित होती है, तब ही वह परमाणु (फोटोन) अर्थात् packet रूप में रूप में प्रकट होती हैं। ऊर्जा को इस रूप में लाने में कुछ छन्द रश्मियों विशेषकर त्रिष्टुप् छन्द की भूमिका होती है। ध्यातव्य है कि **प्रवाह रूप का तात्पर्य यह नहीं है कि उसमें पृथक्-२ मात्रा वाले अवयव विद्यमान नहीं होते। वे अवयव पृथक्-२ विकिरण रूप में विद्यमान अवश्य होते हैं परन्तु वे विकिरण कणीय व्यवहार नहीं करते। यह कणीय व्यवहार ऊर्जा के उत्सर्जन व अवशोषण के समय ही प्रकट होता है,** यहाँ यही आशय ग्रहण करना चाहिए। इस कारण इस ग्रन्थ में प्रवहमान अवयवों को भी हमने फोटोन नाम ही दिया है, जो विशुद्ध रश्मि रूप ही होते हैं। (देखें- खण्ड २.१०)
- इस ब्रह्माण्ड में विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की भिन्न-२ आवृत्ति उन तरंगों में विद्यमान भिन्न-२ प्रकार की छन्द रश्मियों के कारण होती है। **इस प्रकार मूलतः सभी प्रकार की विद्युत् चुम्बकीय तरंगें एक ही हैं परन्तु विभिन्न छन्द रश्मियों के कारण उनकी आवृत्ति में भेद उत्पन्न हो जाने के कारण ही उनके भिन्न प्रकार व स्वरूप हो जाते हैं।** भिन्न-२ कणों के उनके प्रतिकणों से मिलकर ऊर्जा में परिवर्तित होने तथा किसी फोटोन के टूटकर दो कणों के युग्म (कण+प्रतिकण) में परिवर्तित होने में भी विभिन्न छन्द रश्मियों की ही भूमिका होती है। विभिन्न छन्द व प्राण रश्मियां ही सम्पीडित होकर ऊर्जा का रूप धारण करती हैं। (देखें- खण्ड ३.४)
- प्राण, अपान व उदान आदि रश्मियां आकाश तत्व के साथ मिलकर विभिन्न छन्द रश्मियों को सम्पीडित करती हैं, इससे ऊर्जा की उत्पत्ति होती है। विद्युत् चुम्बकीय तरंगों को प्राण-अपान व उदान रश्मियां नियन्त्रित रखती व धनंजय रश्मियां तीव्र गति प्रदान करती हैं। **विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की उत्पत्ति के क्रम में सर्वप्रथम दुर्बल तरंगों की उत्पत्ति होती है, तदुपरान्त उत्तरोत्तर तीव्र तरंगों की उत्पत्ति होती जाती है।** (देखें- खण्ड ४.८)
- कोई भी फोटोन ऊर्जा की एक सूक्ष्मतम इकाई नहीं होता। वह स्वयं अनेक सूक्ष्म अवयवों का संघात होता है। यह किसी कण द्वारा अवशोषित होते समय अपने कुछ अंश को अवशोषण से पृथक् भी रख सकता है। इसका कारण फोटोन का अनेक प्राण व छन्दादि रश्मियों से बना होना है। (देखें- खण्ड १.२१)
- प्रत्येक क्वाण्टा के दोनों ओर प्राण व अपान रश्मियां संचरित होती रहती हैं, जो धनंजय के साथ मिलकर उसे गति प्रदान करती हैं। प्रकाश आदि विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के सरल रेखा में गति करने के पीछे कुछ छन्द रश्मियां उत्तरदायिनी होती हैं। ये छन्द रश्मियां विभिन्न फोटोन्स (प्रवहमान विकिरण) को एक के पीछे एक पंक्तिबद्ध चलाने में सहयोग करती हैं। यदि यह व्यवस्था न होती, तो सृष्टि में दर्शन प्रक्रिया अस्त व्यस्त हो जाती। (देखें खण्ड- १.२१-२२)
- किसी फोटोन की दो समकोण दिशाओं में सूक्ष्म रश्मियों का उत्सर्जन व अवशोषण होता रहता है। जब वह फोटोन किसी इलेक्ट्रॉन आदि कण के साथ संयुक्त होता है, उस समय यह कोण शून्य हो जाता है। समकोणस्थ रश्मि प्रवाह फोटोन को सन्तुलित रखता है। आधुनिक विज्ञान के सन्दर्भ में फोटोन के दो ओर समकोण पर विद्युत् व चुम्बकीय फील्ड इसी का रूप प्रतीत होते हैं। वस्तुतः फोटोन के अन्दर केन्द्र में शक्ति का गुप्त व सूक्ष्म केन्द्र होता है, जो इस रश्मि प्रवाह को बनाये रखता है। (देखें- खण्ड १.३)

❍ **प्रत्येक फोटोन के अन्दर लगभग तीन सौ साठ प्रकार की सूक्ष्म वायु अर्थात् प्राण व छन्द रश्मियां विद्यमान होती हैं।** तथा इनमें **सर्वप्रथम सूक्ष्म द्रव्यमान व गुरुत्व बल उत्पन्न हो जाता है।** (देखें- खण्ड **२.१७**) इसकी सत्यार्थ प्रकाश के अष्टम समुल्लास में दर्शाये अग्नि के एक अणु, जिसमें तीन द्वयणुक अर्थात् कुल ३६० परमाणु अर्थात् प्राण व छन्दादि रश्मियां होती हैं, के साथ पूर्ण संगति है। हमारे मत में **फोटोन्स में सूक्ष्म द्रव्यमान तथा गुरुत्व बल विद्यमान होता है।**

❍ जब गायत्री छन्द रश्मियां सोम अर्थात् मरुद् रश्मियों को अपने अग्र भाग द्वारा पकड़कर गति प्रदान करती हैं किंवा वे स्वयं उनके साथ गमन करती हैं, तब वे प्राण व आकाश रश्मियों द्वारा सम्पीडित होकर विद्युत् चुम्बकीय तरंगों में परिवर्तित हो जाती हैं। (देखें खण्ड- **३.२७**)

❍ **कोई भी फोटोन एक त्रिष्टुप् छन्द रश्मि की सहायता से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में गमन करते हुए अपनी ऊर्जा को प्रायः संरक्षित रखता है।** यहाँ **'प्रायः'** शब्द महत्वपूर्ण है, यह यह दर्शाता है कि फोटोन की ऊर्जा सर्वथा संरक्षित कभी नहीं रह सकती।

वैदिक वाङ्मय में **'अग्नि'** शब्द अति व्यापक अर्थ वाला है। आधिदैविक अर्थों में भी प्रकाश, ऊष्मा आदि ऊर्जा (विद्युत् चुम्बकीय तरंग) के अतिरिक्त विद्युत् आवेशित तरंगें भी अग्नि तत्व के अन्तर्गत समाहित हो जाती हैं। हम विद्युत् चुम्बकीय तरंग रूपी ऊर्जा अर्थात् अग्नि तत्व पर चर्चा कर चुके। अब विद्युदग्नि पर कुछ चर्चा करेंगे। यद्यपि इस विषय में भी प्रारम्भ में १६ बिन्दुओं में से कुछ बिन्दुओं में चर्चा की गई है। ध्यातव्य है कि **मूल विद्युत् जहाँ दो प्रकार के आवेशों की उत्पत्ति नहीं होती, वायु तत्व का ही रूप है,** इसका संकेत हम वायु प्रकरण में कर चुके हैं। **जब विद्युत् दो आवेशों के रूप में प्रकट होती है, तब वह अग्नि तत्व का रूप कहलाती है।** इसका तात्पर्य है कि वर्तमान विज्ञान के मूल कण भी इसी के अन्तर्गत आते हैं। **हमारे मत में इन्हें कारणरूप पार्थिव अणु भी माना जा सकता है।** अब विद्युत् रूपी अग्नि के विषय में इस ग्रन्थ से कुछ बिन्दु उद्धृत करते हैं-

❍ विद्युत् **ऋणावेशित** कण **सौम्य** कहलाते हैं। इसका कारण यह है कि इनमें सोम अर्थात् मरुत् रश्मियों की प्रधानता होती है। ध्यातव्य है कि प्राण व मरुत् रश्मियों के मिथुन के बिना किसी कण का निर्माण सम्भव नहीं है। यहाँ सौम्य का तात्पर्य मरुत् रश्मियों की प्रधानता है, न कि प्राण रश्मियों का सर्वथा अभाव होना। उधर **धनावेशित** कण **आग्नेय** कहलाते हैं, क्योंकि इसमें अग्नि अर्थात् प्राण रश्मियों की प्रधानता होती है तथा मरुत् रश्मियां गौण रूप अर्थात् न्यून मात्रा में विद्यमान होती हैं। (देखें- खण्ड **१.२**) हमारे मत में ये दोनों प्रकार के कण अग्नि महाभूत के अन्तर्गत आते हैं। इनमें परमाणु अर्थात् प्राण वा छन्दादि रश्मियों की संख्या फोटोन्स की अपेक्षा अर्थात् ३६० से कुछ अधिक होती है, परन्तु जल के अणु की अपेक्षा अर्थात् ४८० से न्यून होती है।

❍ **सर्वप्रथम उत्पन्न विद्युत् प्राण व अपान के मेल से प्रकट होती है।** यह धन व ऋण दोनों ही आवेशों से पृथक् व सूक्ष्म होती है। यह विद्युत् अग्नि व वायु दोनों के रूप में मानी जा सकती है। सृष्टि के सभी पदार्थ विद्युत् के कारण ही उत्पन्न, संचालित एवं प्रकाशित होते हैं। (देखें- खण्ड **१.२८**)

❍ इस सृष्टि के प्रत्येक क्वाण्टा वा कण में विद्युत् व्याप्त होती है, भले ही वह धन, ऋण आवेश युक्त किंवा उदासीन क्यों न हो। इस विद्युत् के कारण ही सृष्टि का प्रत्येक कण (दृश्य पदार्थ- visible matter) वा क्वाण्टा रूप, दाह, वेग, प्रकाश, छेदन, धारण, आकर्षण एवं प्रतिकर्षण गुणों से युक्त होता है। **महर्षि दयानन्द** ने **ऋ.१.१.१** के भाष्य में **'पुरोहितम्'** पद का भाष्य करते हुए अग्नि को इन आठ गुणों से युक्त माना है। यहाँ **'अग्नि'** पद इस विद्युत् के लिए ही प्रयुक्त है। सृष्टि के प्रत्येक कण में (डार्क मैटर को छोड़कर) ये आठ गुण यत्किंचिन्मात्रा में विद्यमान होते ही हैं। (देखें- खण्ड **३.३८**)

❍ विभिन्न कणों में विद्युदावेश की मात्रा उन कणों में विद्यमान प्राण व छन्द रश्मियों की मात्रा पर निर्भर करती है। (देखें- खण्ड **५.५**)

❍ विभिन्न कणों के मध्य संयोग प्रक्रिया में विद्युत् आवेश आकाश तत्व को अपने साथ संयुक्त करके कणों को परस्पर निकट लाता है। (देखें- खण्ड **५.६**)

❍ विद्युत् चुम्बकीय तरंगों अर्थात् उनके क्वाण्टाज् में उदासीन विद्युत् की स्वल्प मात्रा विद्यमान होती है, जिसके कारण उनमें परस्पर स्वल्प आकर्षण का भाव विद्यमान होता है। (देखें- खण्ड **५.८**)

❍ **विद्युदावेशित कणों के ऊपर प्राणापान रश्मियां जल की लहरों के समान कम्पन करती रहती हैं।** विद्युदावेश प्राण व मरुद् रश्मियों के कई आवरणों के रूप में विद्यमान होता है। (देखें- खण्ड **५.१६**)

❍ इस सृष्टि की प्रत्येक क्रिया में विद्युत् की अनिवार्य भूमिका होती है। **गुरुत्वाकर्षण बल भी विद्युत् का एक विशेष रूप है, जो वैकुण्ठ इन्द्र नामक सर्वाधिक सूक्ष्म विद्युत् से उत्पन्न होता है। इस विद्युत् का बल ही unified force होता है, जिससे वर्तमान विज्ञान अभी तक अनभिज्ञ है।** (देखें- खण्ड ५.१६ एवं ५.२१)

❍ विद्युत् के अभाव में विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की उत्पत्ति सम्भव नहीं। (देखें- खण्ड ५.२१)

अब हम अग्नि तत्व के गुणों के विषय में कुछ ऋषियों का मत प्रस्तुत करते हैं-

"तेजो रूपस्पर्शवत्" (वै.द.२.१.३)
"अग्ने रूपं स्पर्शाः" (ऐ.आ.३.२.५)

अर्थात् अग्नि तत्व के कारण ही सम्पूर्ण सृष्टि में रूप बनते व दृष्टिगोचर होते हैं। स्पर्श अर्थात् पदार्थों के पारस्परिक बन्धन भी अग्नि तत्व (विद्युत् वा ऊर्जा) के कारण ही सम्पन्न होते हैं। यह गुण मूलतः वायु तत्व का है किन्तु अग्नि तत्व में वायु तत्व की सदैव प्रतिष्ठा रहने से यह गुण अग्नि में भी आ जाता है। वस्तुतः **वायु व आकाश का संघनित रूप ही अग्नि तत्व कहाता है।**

महर्षि यास्क इसके गुणों पर विशेष प्रकाश डालते हुए लिखते हैं-

"अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति। अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते। अङ्गं नयति सन्नममानः। अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः। न क्नोपयति। न स्नेहयति। त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः। इतात्। अक्ताद् दग्धाद्वा। नीतात्। गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा। नीः परः।" (नि.७.१४)

इसका आशय है कि अग्नि सृष्टि के सभी कणों वा लोकों में अग्रगामी होता है अर्थात् वह स्वयं अग्रगामी होकर उन्हें आगे-२ ले जाता है। कणों वा लोकों की संयोग प्रक्रिया में यह सर्वप्रथम आवश्यक होता है अर्थात् विद्युत् अथवा ऊष्मा के अभाव में कोई भी संयोग कर्म संभव नहीं हो सकता। यह तत्व जिस पदार्थ-कण के साथ संयुक्त होता है, उसे अपने गुणों से युक्त करके अपने जैसा बना लेता वा बनाने का प्रयत्न करता है। **महर्षि स्थौलाष्ठीवि** के मत में यह किसी पदार्थ को गीला नहीं करता अर्थात् सबको सुखाता है। **महर्षि शाकपूणि** के मत को **महर्षि यास्क** उद्धृत करते हुए कहते हैं कि यह विभिन्न पदार्थों का प्रापक, वाहक, उनको प्रकट करने अर्थात् दिखाने वाला एवं जलाने वाला है। इन सभी गुणों की व्याख्या विज्ञ पाठक स्वयं कर सकते हैं। यहाँ हमारा प्रयोजन ऐतरेय ब्राह्मण के व्याख्यान तक सीमित रहना है, न कि पंचमहाभूतों पर अति विस्तार से चर्चा करना, इस कारण इतनी व्याख्या पर्याप्त है। ध्यातव्य है कि **महर्षि सुश्रुत** ने **"सत्त्वरजोबहुलोऽग्निः" (सु.सं. - शारीरस्थानम् १.२७)** कहकर इसे सत्व व रजस् प्रधान माना है। इस कारण यह प्रकाश व क्रिया से विशेष युक्त होता है तथा द्रव्यमान अत्यल्प होता है। इसमें धारक गुण भी विशेष होता है।

यहाँ हमने ऊर्जा विशेषकर विद्युत् चुम्बकीय तरंगों तथा विद्युत् के विषय में वैदिक विज्ञान का मत प्रस्तुत किया। यह मत सूत्र रूप में है। इस ग्रन्थ में विद्युत् के स्वरूप, गुणों एवं इसकी उत्पत्ति प्रक्रिया पर पर्याप्त विचार किया गया है। पाठक सम्पूर्ण ग्रन्थ को पढ़कर इसका स्वयं अनुभव कर सकते हैं। **विशेष वैज्ञानिक प्रतिभासम्पन्न पाठक हमारे इस ग्रन्थ को पढ़कर विद्युत् व ऊर्जा के विषय में दशकों तक गम्भीर अनुसंधान कर सकते हैं। उधर वर्तमान विज्ञान को ऊर्जा तथा विद्युत् दोनों ही के विषय में अभी बहुत कुछ जानना शेष है।** रिचर्ड पी. फाइनमेन ने इस सत्य को खुले हृदय से स्वीकार भी किया है-

"We could say that we do not yet know the laws of electricity." (Lectures on Physics- Vol. I p.593)

"It is important to realize that in physics today, we have no knowledge of what energy is." (Lectures on Physics- Vol. I p.40)

फाइनमेन का यह कथन उस समय है, जब वर्तमान विज्ञान ऊर्जा व विद्युत् के विषय में बहुत कुछ जानता है तथा इनका भरपूर उपयोग-उपभोग भी कर रहा है। मुझे प्रतीत होता है कि **इसके अपूर्ण**

ज्ञान पर आधारित तकनीक ही ऊर्जा व विद्युत् के उपभोग में नाना दुष्प्रभाव भी उत्पन्न कर रही है। जब अग्नि तत्व का पूर्ण ज्ञान हो जाएगा, तो सम्भवतः हम वर्तमान दुष्प्रभावों से बच सकेंगे।

(४) जल (आपः)

वैदिक वाङ्मय में इसे प्रायः **'आपः'** नाम से सम्बोधित किया गया है। **न्याय** व **वैशेषिक दर्शन** तथा **उपनिषदों** में **'आपः'** का ही प्रयोग है। **योगदर्शन** के **३.४४** सूत्र के **महर्षि व्यास** भाष्य में **'जलम्'** पद का प्रयोग है। अब सर्वप्रथम हम **'आपः'** किंवा जल के विषय में ऋषियों के मत को उद्धृत करते हैं-

"अग्निः पूर्वरूपम्। आदित्य उत्तररूपम्। आपः सन्धिः। वैद्युतः (अग्निः) सन्धानम्" (तै.आ.७.३.२; तै.उ.१.३.३)
"अग्ने पित्तमपामसि" (तै.सं.४.६.१.२)
"अग्नेरापः" (तै.आ.८.२; तै.उ.२.१.१)
"आपो वै सर्वा देवताः" (तै.सं.२.६.८.३; काठ.२५.३; ऐ.२.१६; कौ.ब्रा.११.४; तै.ब्रा.३.२.४.३)
"आपो वै सर्वे कामाः" (श.१०.५.४.१५)
"आपोऽन्नम्" (ऐ.६.३०)
"आपो ऽसि जन्मना वशा, सा यज्ञं गर्भमधत्थाः" (मै.२.१३.१५)
"आपो ह वाऽइदमग्रे सलिलमेवास" (श.११.१.६.१)
"आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन" (तै.सं.४.१.५.१)
"इन्द्रियं वा आपः" (काठ.३२.२)
"इमे वै लोका अप्सु प्रतिष्ठिताः" (तै.आ.१.२२.८५)
"इयं (पृथिवी) वा एतासां (अपाम्) पात्रम्" (काठ.३२.७)
"चत्वारि वा अपाꣳरूपणि। मेघो विद्युत् स्तनयित्नुर्वृष्टिः" (तै.आ.१.२४.६६)
"ता (आपः) मिथुनमैच्छन्त। ता मित्रावरुणावुपैताम्। ता गर्भमदधत। ततो रेवतयः पशवोऽसृज्यन्त" (जै.ब्रा.१.१४०)
"त्रयीर्वा आपो दिव्याः पार्थिवाः समुद्रियाः" (मै.३.६.३)
"योषा वाऽआपो वृषाग्निः" (श.१.१.१.१८; २.१.१.४)
"विद्युद्वाऽ अपां ज्योतिः" (श.७.५.२.४६)
"अग्निर्वा अपामायतनम्। आपो वा अग्नेरायतनम्" (तै.आ.१.२२.७८,७९)
"अपाꣳ ह्येष गर्भो यदग्निः" (तै.सं.५.१.५.८)

इन उद्धरणों पर विचार करने से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं-

❍ अग्नि अर्थात् विद्युत् चुम्बकीय तरंगों एवं मूलकणों तथा आदित्य (तारा) लोक के निर्माण होने के मध्य आपः अवस्था उत्पन्न होती है। इसीलिए इस अवस्था को सन्धि कहा है। इस अवस्था को उत्पन्न करने में विद्युत् की भूमिका होती है। इस पर गम्भीरता से विचार करें, तो स्पष्ट होता है कि **विभिन्न आयन एवं एटम की अवस्था (Ionic and Atomic state) ही जल (आपः) महाभूत कहलाती है।**

❍ **{पित्तम्= तेजः (म.द.य.भा.१७.६)} 'आपः'** नामक उपर्युक्त अवस्था वाले पदार्थ में जो भी तेज विद्यमान होता है, वह अग्नि अर्थात् विद्युत् अथवा प्रकाशादि विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के कारण ही होता है, न कि अपना स्वयं का। **'आपः'** के परमाणु (Ions or Atoms) में विद्युत् अथवा ऊर्जा के बिना कोई भी क्रिया नहीं हो सकती। इसलिए अग्नि को 'आपः' के परमाणुओं के तेज का रूप कहा है। यहाँ **'आपः'** का अर्थ प्राण रश्मियां भी ग्रहण कर सकते हैं। कहा भी है- **"प्राणा वा आपः" (तां.६.६.४; तै.ब्रा.३.२.५.२; जै.उ.३.२.५.६)** उस स्थिति में अग्नि को प्राणों का तेज अर्थात् प्राण रश्मियों से उत्पन्न तेज मानना चाहिए।

❍ अग्नि महाभूत के पश्चात् तथा उस अग्नि महाभूत से ही आप (जल) महाभूत की उत्पत्ति होती है। इसका आशय है कि विद्युत् चुम्बकीय तरंगों तथा मूलकणों की उत्पत्ति के पश्चात् तथा इनसे ही विभिन्न आयन एवं एटम उत्पन्न होते हैं।

❍ आपः के परमाणुओं (आयन्स/एटम्स) में सभी प्रकार की प्राण व छन्द रश्मियां विद्यमान होती हैं। इनमें पूर्वोक्त आकाश, वायु एवं अग्नि महाभूत भी विद्यमान होते हैं।

❍ सभी प्रकार के आपः परमाणु (Ions and Atoms) सूक्ष्म दीप्ति तथा आकर्षणादि बलों से युक्त होते हैं। वे सदैव परस्पर संयोग हेतु तत्पर रहते हैं अर्थात् वे स्वतंत्र अवस्था में नहीं रहकर नाना युग्म (अणु= molecule) बनाने का प्रयत्न करते रहते हैं।

❍ ये कण उत्पन्न होते ही अपने दीप्ति कामनादि गुणों से युक्त होते हैं। इस कारण ये नाना संयोगादि कर्मों को अपने गर्भ में धारण किये रहते हैं। इन्हीं के अन्दर सम्पूर्ण सृष्टि-यज्ञ का भी गर्भ छुपा रहता है। नाना प्रकार के सघन रूप धारण करके इन्हीं आपः परमाणुओं के द्वारा नाना पदार्थ प्रकट होते हैं।

❍ जब अग्नि महाभूत से इस महाभूत की उत्पत्ति होती है, तब इसके परमाणु रूप Ions and Atoms विभिन्न सलिल रूप में प्रकट होते हैं। इसका आशय है कि उस समय सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में इन आयनों वा एटमों का महासमुद्र जैसा उत्पन्न हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है मानो उस महासमुद्र रूपी सलिल में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड लीन हो रहा हो, जो शनैः-२ प्रकट होने वाला हो। इस महासमुद्र में असंख्य मात्रा में कण सतत गतिमान रहते हैं।

❍ इस प्रकार उस महासमुद्र में विद्यमान आपः परमाणु प्रारम्भ में तीव्र ऊर्जा-बल से सम्पन्न नहीं होते हैं, बल्कि उनमें अग्नि महाभूत धीरे-२ ऊर्जा का संचरण करता जाता है, जिससे वे Ions and Atoms उत्तेजित होते चले जाते हैं और अग्रिम पीढ़ी के पदार्थों का निर्माण करने में सक्षम होते हैं। इसके साथ ही वे उत्तेजित आपः परमाणु अपने द्वारा उत्पन्न अग्रिम पीढ़ी के पदार्थों के परमाणुओं को ऊर्जा प्रदान करने में भी प्रवृत्त होते रहते हैं।

❍ सभी Ions or Atoms इन्द्रिय रूप होते हैं अर्थात् अग्रिम पदार्थों को उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। वे इस हेतु विद्युत् चुम्बकीय आदि बलों से युक्त होते हैं।

❍ ये सभी लोक अर्थात् भूरादि विभिन्न व्याहृति तथा छन्द रूप रश्मियां, इन उपर्युक्त Ions or Atoms में प्रतिष्ठित वा व्याप्त रहती हैं। इसके साथ ही इस ब्रह्माण्ड में नाना लोक, गैलेक्सियां आदि विशाल लोक समूह सब ओर से इन आपः परमाणुओं में ही प्रतिष्ठित हैं। इसका तात्पर्य है कि सभी लोक लोकान्तर आपः परमाणुओं से परितः/सर्वतः व्याप्त रहते हैं तथा उनसे ही निर्मित हैं।

❍ अग्रिम पीढ़ी का महाभूत पृथिवी इन आपः परमाणुओं का आधार है अर्थात् आपः परमाणु पार्थिव परमाणुओं में भरे रहते हैं।

❍ इस सृष्टि में आपः परमाणु चार रूपों में प्राप्त होते हैं-

(अ) मेघ- कुछ परमाणु अन्तरिक्ष में मेघों के रूप में विद्यमान होते हैं, जो Ionic Cloud के रूप में जाने जाते हैं। इससे कालान्तर में नाना लोकों का निर्माण सम्भव होता है।

(ब) विद्युत्- ये आयनों के रूप में नाना लोकों को चारों ओर से व्याप्त करते हैं। लोकों तथा प्राणि-वनस्पतियों के अन्दर ये विद्यमान रहकर नाना रासायनिक क्रियाओं को सम्पादित करके उनका पोषण व रक्षण करते हैं।

(स) स्तनयित्नु- ये मेघरूप पदार्थों में तीव्र गर्जनायुक्त विद्युत् को उत्पन्न करते हैं। बादलों में विद्युत् की गड़गड़ाहट इनके कारण ही होती है। इनकी ऊर्जा तीव्रतर होती है, इस कारण ये प्रबल भेदन शक्ति से सम्पन्न होते हैं।

(द) वृष्टि- ये आपः परमाणु इस अन्तरिक्ष में नाना लोकों से निरन्तर आते-वर्षते रहते हैं। पृथिवी लोक पर गिरने वाले अनेक Cosmic Particles or Ions इन्हीं का ही रूप हैं।

❍ वे आपः परमाणु निरन्तर मिथुन/युग्म बनाने की इच्छा से युक्त होते हैं। प्राण-अपान व व्यान-उदान रश्मियां उनके युग्मों को निर्मित करने में प्रवृत्त होती व उनका युग्म बनाती हैं। इससे वे नाना तेजयुक्त किरणों रूपी गर्भ को धारण करके विविध प्रकार के पशु अर्थात् द्रष्टव्य कणों को उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। वे कण **{रेवत्यः = रेवत्य आपः (श.१.२.२.२)}** नाना गर्जनाओं से युक्त नदीरूप धाराओं का रूप धारण करके इस विशाल अन्तरिक्ष में प्रवाहित होने लगते हैं।
❍ यहाँ आपः परमाणुओं को निम्नानुसार तीन प्रकार का बताया गया है-

(१) दिव्य- जो आयन सूर्यादि प्रकाशित लोकों में विद्यमान होकर उनका पोषण करते हैं, वे दिव्य आपः कहलाते हैं। तारों में ऊर्जा का उत्पादन इन्हीं के संलयन के कारण होता है।

(२) पार्थिव- जो आयन पृथिवी आदि ग्रहों अथवा उपग्रहादि लोकों में विद्यमान रहकर नाना प्रकार की भूगर्भीय एवं जैविक आदि क्रियाओं को सम्पादित करते हैं, वे पार्थिव आपः कहलाते हैं।

(३) समुद्रीय- जो आयन **{समुद्रः = अन्तरिक्षनाम (निघं.१.३)}** अन्तरिक्ष में निरन्तर विचरण करते हैं तथा एक लोक से दूसरे लोक में जिनका आवागमन होता है, वे समुद्रीय आपः कहलाते हैं।

❍ ये आपः परमाणु योषा रूप होकर विद्युत् चुम्बकीय तरंगों रूपी वृषा से निरन्तर संयोग करते रहते हैं। वे विद्युत् चुम्बकीय तरंगें विभिन्न Ions or Atoms को उत्तेजित करके नाना पदार्थों को उत्पन्न करने में सक्षम बनाती हैं।
❍ इसे द्वितीय संख्या पर वर्णित वचन के समान समझें।
❍ अग्नि तत्व इन आपः परमाणुओं का आयतन है अर्थात् ऊर्जा वा विद्युदावेश विभिन्न आयन्स वा एटम्स में रमा हुआ रहता है। इसके साथ ही विभिन्न आयन वा एटम ऊर्जा वा विद्युदावेश में ही रमे रहते हैं अर्थात् ऊर्जा व आवेश इनमें सर्वतः व्याप्त रहता है।
❍ विद्युदावेश वा ऊर्जा विभिन्न आपः परमाणुओं में गर्भरूप होकर स्थित रहती है। इसका तात्पर्य है कि यह ऊर्जा यदि एटम वा आयन में विद्यमान न हो, तो वे किसी भी पदार्थ को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकते। इसके साथ ही वे किन्हीं भी प्रकार की क्रियाओं को सम्पादित नहीं कर सकते।
इन उपर्युक्त अठारह बिन्दुओं पर विचार करने पर यह मत पुष्ट हो जाता है कि **Ionic or Atomic State ही आपः (जल) महाभूत कहलाता है।** अब हम जल व आपः के विषय में **महर्षि दयानन्द** के विचार को उद्धृत करते हैं-

सत्यार्थ प्रकाश के प्रथम समुल्लास में ईश्वर के **'जल'** शब्द की व्युत्पत्ति करते हैं-

"जलति घातयति दुष्टान् संघातयति अव्यक्त परमाण्वादीन् तद् ब्रह्म जलम्"

यह व्युत्पत्ति ब्रह्म रूप जल के लिए है (यहाँ हम जल महाभूत के विषय में विचार करें, तो विभिन्न परमाणुओं को तोड़ने अथवा संयुक्त करने वाला पदार्थ आपः सिद्ध होता है।) यह गुण आयनों (Ions) में सर्वविदित है, इस कारण आयन्स को जल कहना सर्वथा उचित है। उधर **महर्षि दयानन्द यजुर्वेद २७.२६** मंत्र के भाष्य में **'आपः'** पद का अर्थ **'व्याप्तिशीलाः सूक्ष्मास्तन्मात्राः'** किया है। इससे भी हमारे मत की पुष्टि होती है कि Ions or Atoms ही आपः के परमाणु हैं। ये आयन हाइड्रोजन से लेकर भारी तत्वों के भी हो सकते हैं। सत्यार्थ प्रकाश के अष्टम समुल्लास के अनुसार **जल के एक अणु में कुल चार द्वयणुक अर्थात् कुल ४८० प्राण व छन्दादि रश्मियां होती हैं।** इतनी रश्मियों के संघात पर स्वाद गुण प्रकट हो जाता है, ऐसा हमारा मत है। यहाँ रश्मियों की संख्या सबसे लघु आयन अथवा एटम में माननी चाहिए। बड़े आयन व एटम में यह अधिक हो सकती है, परन्तु ६०० अथवा ७२० से न्यून होगी। इसके समान होने पर वह पृथिवी महाभूत का रूप प्राप्त कर लेगा, भले ही वह आयन व एटम रूप में ही क्यों न हो।

प्रश्न- महर्षि कणाद ने आपः महाभूत के गुणों के विवेचन में कहा है-

"रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः" (वै.द.२.१.२)
"अप्सु शीतता" (वै.द.२.२.५)

अर्थात् रूप, रस, स्पर्श, द्रवत्व व स्निग्धता को जल का गुण बतलाया है तथा शीतलता भी इसका एक लक्षण बतलाया है। आयन्स वा एटम्स में ये चार गुण विशेषकर रस व शीतता कैसे सिद्ध होंगे?

उत्तर- सर्वप्रथम हम 'रस' शब्द पर विचार करते हैं-

(१) रसः = अन्ननाम (निघं.२.७)
(२) रसः = सर्वद्रव्यसारः (म.द.य.भा.१८.६)

इन दोनों बिन्दुओं से भी आपः का आयन वा एटमरूप होना सिद्ध है। अन्नत्व अर्थात् संयोजकता गुण इनमें सर्वविदित है। सम्पूर्ण सृष्टि के सभी लोक इन्हीं से बने होने से ये **'आपः'** सम्पूर्ण पदार्थों के सार रूप होने से रस गुण से युक्त सिद्ध होते हैं। यह **'रस'** शब्द **'रस आस्वादनस्नेहनयोः'** धातु से निष्पन्न होता है। इससे आस्वादन व स्नेहन दोनों गुणों का होना सिद्ध होता है। **'स्नेहन'** संयोजन का ही रूप है, जो सिद्ध करता है कि रस गुणयुक्त पदार्थ परस्पर स्नेह अर्थात् आकर्षण युक्त होते हैं। यह हम Ions वा Atoms में सिद्ध कर चुके हैं। यदि स्वाद की बात करें तो, ग्रन्थकार **महर्षि ऐतरेय महीदास** ने कहा है-

"मिथुनं वै स्वादु" (ऐ.आ.१.३.४)

अर्थात् युग्म बनाने का गुण ही स्वाद है, जो हमारे आपः परमाणुओं में अनेकविध सिद्ध किया जा चुका है। यदि कोई पाठक रसना (जिह्वा) द्वारा ग्रहण किये गये स्वादमात्र को ही जल का गुण माने, तब भी हमारा मत है कि यह स्वाद भी हमारी रसना से किसी भी पदार्थ के क्रिया करने पर Ionic अवस्था उत्पन्न होती है और उस अवस्था में ही स्वाद की अनुभूति होती है। हमारे मत में इस सृष्टि के प्रत्येक आयन वा एटम में कोई न कोई स्वाद गुण अवश्य होता है, भले ही वह अति सूक्ष्म वा अव्यक्त ही क्यों न हो। दूसरा तथ्य यह भी है कि स्वाद ग्रहण करने की प्रत्येक प्राणी की अपनी-२ सीमित क्षमता है। जिस स्वाद को हम ग्रहण नहीं कर सकते, उसमें स्वाद ही नहीं होता, यह मानना मिथ्या है। स्वाद क्या होता है? उसके ग्रहण करने का क्या विज्ञान है? वर्तमान विज्ञान इसे यत्किंचित् ही जानता है। रसायनशास्त्र के अन्तरराष्ट्रीय स्तर के एक भारतीय वैज्ञानिक, मेडिकल कॉलेज के फिजियोलॉजी विभाग के अध्यक्ष व प्रोफेसर से भी चर्चा के पश्चात् मेरा यह मत बना है। जब कभी वर्तमान विज्ञान स्वाद एवं उसके विज्ञान को गहराई से कभी जानेगा, तब उसे मेरे मत की सत्यता का बोध होगा कि स्वाद गुण प्रत्येक आयन का होता है। कोई आयुर्वेदज्ञ भी स्वाद को छः की संख्या तक ही सीमित न समझे, बल्कि स्वाद अनेक हो सकते हैं।

रस गुण की चर्चा के पश्चात् हम शीत गुण पर भी विचार करते हैं। इस विषय में हमारा मत है कि यदि किसी आयन वा एटम में ऊर्जा नहीं हो, तो वह निश्चित रूप से शीतल ही होगा, उष्ण कभी नहीं। इस कारण आपः (जल) महाभूत का शीतता स्वाभाविक गुण है। उसमें उष्णता का होना केवल अग्नि के सानिध्य से ही सम्भव होता है। दूसरा पक्ष यह है कि **'शीत'** शब्द **'श्यैङ् गतौ'** धातु से निष्पन्न होता है, इससे सतत गतिशीलता को भी शीतता का पर्यायवाची माना जा सकता है। यही द्रवत्व भी कहलाता है। अन्तिम गुण स्निग्धता अर्थात् स्नेहपन बतलाया गया है। इसका भी आशय यही है कि आपः के परमाणु एक-दूसरे के प्रति आकर्षण का भाव रखते किंवा एक-दूसरे के ऊपर फिसलते हुए गति करते हैं, इस कारण भी Ions or Atoms ही आपः अर्थात् जल महाभूत के परमाणु हैं। प्रायः सभी विद्वानों ने लोकप्रसिद्ध जल (Water) को ही जल (आपः) महाभूत मानने की भ्रान्ति की है, तो कुछ विद्वानों ने प्रत्येक तरल पदार्थ को जल महाभूत मान लिया है। उन्होंने यह नहीं विचारा कि प्रत्येक ठोस पदार्थ भी गर्म होकर तरल अवस्था को प्राप्त कर सकता है और प्रत्येक तरल पदार्थ भी जम कर ठोस हो सकता है। वस्तुतः ब्राह्मण ग्रन्थों एवं वेदों की विभिन्न शाखाओं के गम्भीर अध्ययन के अभाव में दर्शनों को समझने में भारी भ्रान्ति हो रही व होती है।

अब इस महाभूत की उत्पत्ति के विषय में **महर्षि ब्रह्मा** का वचन उद्धृत करते हैं-

चतुर्थमापो विज्ञेयं जिह्वा चाध्यात्ममुच्यते।
अधिभूतं रसश्चात्र सोमस्तत्राधि दैवतम्।।२१।। (महाभारत आश्व.पर्व, अनुगीता पर्व, अ.४२)

अर्थात् चतुर्थ महाभूत आपः कहलाता है। इसकी उत्पत्ति के समय प्राणियों के शरीर में कार्य करने वाली रसनेन्द्रिय की भी उत्पत्ति होती है। इसी समय रस अर्थात् स्वाद गुण (जिसकी चर्चा हम कर चुके हैं) तथा सोम तत्व की भी उत्पत्ति होती है। यहाँ सोम का अर्थ मरुद् रश्मियां नहीं है, बल्कि वृत्रासुर संज्ञक विशाल आसुर मेघ की भी उत्पत्ति होती है। असुर तत्व के विषय में आगे यथास्थान लिखा जायेगा। इस विषय में **महर्षि याज्ञवल्क्य** का कथन है-

"वृत्रो वै सोम आसीत्" (श.३.४.३.१३)

उधर **महर्षि भृगु** का आपः महाभूत की उत्पत्ति के विषय में कथन है-

अग्निः पवनसंयुक्तः खं समाक्षिपते जलम्। सोऽग्निमारुतसंयोगाद् घनत्वमुपपद्यते।।१५।। (महाभारत, शा.प., मोक्षधर्म पर्व, अ.-१८३)

अर्थात् पूर्वोक्त अग्नि तत्व वायु तत्व के साथ संयुक्त होकर घनत्व को प्राप्त करके आकाश में जल महाभूत के रूप में प्रकट होकर अच्छे प्रकार उछलने लगा अर्थात् वह सघन हुआ पदार्थ आकाश में तरल रूप में (द्रव, गैस वा प्लाज्मा अवस्था) बहने लगता है। ध्यातव्य है कि **वर्तमान भौतिक विज्ञान की भाषा में हवा भी तरल का ही रूप होती है, क्योंकि यह भी दबाव में अपना आकार बदलने लगती है। मैंने तरल की यह परिभाषा दिनांक २०.०७.२०१४ को Discovery Science Channel पर भी सुनी थी।**

यहाँ यह ध्यातव्य है कि जल महाभूत उत्पन्न होते समय विशेष उष्ण नहीं था, बल्कि कुछ समय पश्चात् अग्नि तत्व के विशेष संयोग से वह धीरे-२ तप्त होने लगता है। इस प्रक्रिया में **'ओम्'** के साथ-२ अहंकार, आकाश तत्व, विभिन्न प्राण व छन्द रश्मियां आदि सबकी भूमिका होती है। सर्वप्रेरक के रूप में ईश्वर तत्व की सर्वत्र अनिवार्य भूमिका समझें, जो **'ओम्'** रश्मियों के माध्यम से सबका संचालन सतत करता रहता है। **महर्षि सुश्रुत** ने

"सत्त्वतमोबहुला आपः" (सु.सं. - शारीरस्थानम् १.२७)

कह कर विभिन्न Ions and Atoms रूपी आपः महाभूत को सत्व एवं तमोगुण प्रधान बताया है। इस कारण इनमें प्रकाश व द्रव्यमान की मात्रा अधिक तथा क्रियाशीलता अग्नि तत्व से न्यून होती है। इनमें धारण व आकर्षण बल अपेक्षाकृत अधिक होता है।

प्रश्न- आपकी दृष्टि में लोक प्रचलित जल (Water) किस महाभूत के अन्तर्गत आता है?

उत्तर-यद्यपि इसमें Ions के स्थान पर Molecules होते हैं परन्तु यह प्रत्येक विलेय पदार्थ को आयनों में विभाजित करने का प्रयास करता है तथा अन्य सभी गुण जल महाभूत के समान हैं, इस कारण इसे भी जल महाभूत मानना चाहिए।

(५) पृथिवी

अन्त में अन्तिम अर्थात् पंचम महाभूत पृथिवी की उत्पत्ति होती है। इसे वैदिक वाङ्मय में **'भूमि'** नाम से भी जाना जाता है। सर्वप्रथम हम इसके विषय में विभिन्न आर्ष वचनों को उद्धृत करते हैं-

"अद्भिः पृथिवीम् (अन्वाभवत्)" (काठ.४३.४ - ब्रा.उ.को. से उद्धृत)
"अयं लोक ऋग्वेदः" (ष.१.५)

"अयं वै लोकः सुक्षितिः अस्मिन्हि लोके सर्वाणि भूतानि क्षियन्ति" (श.१४.१.२.२४ - ब्रा.उ.को. से उद्धृत)
"आपो वा इदमासन् सलिलमेव, स प्रजापतिर्वराहो भूत्वोपन्यमज्जत्, तस्य यावन्मुखमासीत् तावतीं मृदमुदहरत् सेयं (पृथिवी) अभवत्" (काठ.८.२)
"इयं वा यज्ञायज्ञीयम्" (जै.ब्रा.१.१७३)
"इयं वै वेदिः" (श.७.३.१.१५)
"इयम् उ वै यज्ञो ऽस्याः हि यज्ञस्तायते" (श.६.४.१.६)
"इयम् उ वाऽ एषां लोकानां प्रथमासृज्यत" (श.१.५.३.१ - ब्रा.उ.को. से उद्धृत)
"तद् यद् वै भूः इति तदयं लोकः" (जै.ब्रा.१.३६४)
"पृथिवी वा अन्नानां शमयित्री" (कौ.ब्रा.६.१४)
"पृथिव्यसि जन्मना वशा, सा ऽग्निं गर्भमधत्थाः" (मै.२.१३.१५)
"पृष्ठम् वा अयम् अग्निरस्य लोकस्य" (जै.ब्रा.३.२५२)
"अग्निरेकाक्षरया मामुदजयदिमां पृथिवीम्" (काठ.१४.४)
"पृथिवी समित् तामग्निः समिन्धे" (मै.४.६.२३)
"अयमेव (भूलोकः) गायत्री" (तां.७.३.६), "गायत्री वा ऽ इयं (पृथिवी)" (श.४.३.४.६), "जगती हीयम् (पृथिवी)" (श.२.२.१.२०), "त्रिष्टुभीयम् (पृथिवी)" (श.२.२.१.२०)
इन आर्ष वचनों पर विचार करने पर निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं-

- आपः महाभूत से पृथिवी महाभूत उत्पन्न होता है। हम यह पूर्व में लिख चुके हैं कि विभिन्न Ions or Atoms ही आपः महाभूत हैं। इस कारण इनके संयोग से उत्पन्न कण अणु (Molecules) ही पृथिवी महाभूत का रूप अर्थात् पार्थिव परमाणु कहलाते हैं।
- इस महाभूत के परमाणुओं (Molecules) में पूर्वोक्त **'ऋक्'** छन्द रश्मियों की बहुलता रहती है, अन्य छन्द रश्मियों की न्यूनता रहती है। सत्यार्थ प्रकाश के अनुसार **इसके सूक्ष्मतम रूप में कुल ६०० अथवा ७२० परमाणु अर्थात् रश्मियां विद्यमान होती हैं। इससे अधिक तो हो सकती हैं परन्तु न्यून नहीं।**
- इस महाभूत के परमाणु अन्य सभी महाभूतों का निवास स्थान होते हैं अर्थात् विभिन्न Molecules में सदैव नाना Ions or Atoms ऊर्जा व प्राणादि रश्मियों के साथ आकाश भी विद्यमान होता है। अणुओं के अन्दर ये सभी पदार्थ स्वतंत्रावस्था की अपेक्षा अधिक उत्तम प्रकार से स्थित होते हैं अर्थात् यहाँ उनका चाञ्चल्यादि गुण अपेक्षाकृत न्यून मात्रा में होते हैं।
- ब्रह्माण्ड में इस महाभूत (Molecular State) से पूर्व विभिन्न आयन्स सलिल रूप में विद्यमान होते हैं अर्थात् मानो सभी Molecules (पार्थिव परमाणु) उसी में लीन हो रहे होते हैं। उसी समय प्रजापति रूपी वाक् व मनस्तत्व वराह रूप धारण करते हैं। {वराहः = अङ्गिरसोऽपि वराहा उच्यन्ते (नि.५.४), (अङ्गिराः = सूत्रात्मा प्राणः - तु.म.द.य.भा.२७.४५; अग्निः - तु.म.द.य.भा.११.६१; प्राणबलः - तु.म.द.ऋ.भा.१.६२.५)} इसका तात्पर्य यह है कि उस समय विभिन्न आपः परमाणुओं पर विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की वृष्टि होने के साथ-२ ईश्वर तत्व द्वारा प्रेरित मनस्तत्व सूत्रात्मादि प्राण रश्मियों के घेरे में लेकर उन्हें आकाश के द्वारा सम्पीडित करके अपेक्षाकृत सघन रूप में प्रकट करता है। यही सघन रूप पृथिवी महाभूत अर्थात् Molecular State के रूप में जाना जाता है। वे सूत्रात्मा वायु रश्मियां छोटे-२ पैकेट्स के रूप में आपः के परमाणुओं को बांधकर पार्थिव परमाणुओं में परिवर्तित करने लगती हैं।
- ये परमाणु अर्थात् विभिन्न Molecules संयोग व वियोग की प्रवृत्ति वाले होकर नाना स्थूल पदार्थों व लोकों का निर्माण करते हैं।
- ये परमाणु नाना प्रकार के सूक्ष्म परमाणु वा रश्मि आदि पदार्थों के लिए वेदी रूप होते हैं, क्योंकि इनमें सूक्ष्म पदार्थों की सदैव आहुति दी जाती रहती है। इस आहुति से नाना प्रकार के बड़े Molecules बनते रहते हैं। कालान्तर में इनसे नाना लोकों, विभिन्न प्राणी व वनस्पतियों के शरीरों का निर्माण होता है।

❍ विभिन्न Molecules स्वयं विभिन्न Ions एवं प्राणादि रश्मियों के संघात होने से यज्ञ रूप होते हैं तथा इनसे आगे सम्पूर्ण सृष्टि यज्ञ विस्तृत होता है अर्थात् ये Molecules नाना रश्मि वा कण आदि पदार्थों के साथ संगत होते रहकर नाना पदार्थों का निर्माण करते हैं। संयोगादि प्रक्रिया के अभाव में भी विभिन्न Molecules में से नाना सूक्ष्म रश्मियों का आवागमन निरन्तर होता रहता है।

❍ व्याहृति रश्मि रूप लोकों की उत्पत्ति के क्रम में पार्थिव परमाणुओं में प्रचुरता से विद्यमान रहने वाली **'भूः'** व्याहृति रश्मि व गायत्री छन्द रश्मियों की उत्पत्ति सर्वप्रथम होती है तत्पश्चात् ही **'भुवः'** आदि व्याहृति तथा त्रिष्टुबादि छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है। यहाँ यह भी संकेत स्पष्ट है कि इस ब्रह्माण्ड में **अप्रकाशित ग्रहादि लोक प्रकाशित तारे आदि लोकों से पूर्व उत्पन्न होते हैं।** यह मत वर्तमान सृष्टि विज्ञान के विपरीत है।

❍ विभिन्न Molecules में **'भूः'** व्याहृति रश्मियों की विशेष प्रधानता होती है।

❍ Molecules के अन्दर विद्यमान विभिन्न Ions जो स्वतंत्रावस्था में अति सक्रिय वा क्षुब्ध होते हैं, अपेक्षाकृत बहुत शान्त होते हैं। इनसे पुनः कोई अन्य Ion मिलता है, वह भी शान्त व सन्तुलन को प्राप्त कर लेता है।

❍ कोई भी पार्थिव परमाणु (Molecule) उत्पन्न होते ही आकर्षण बल व सूक्ष्म दीप्ति से युक्त होता है। कोई फोटोन वा इलेक्ट्रॉन उससे मिल कर उसमें गर्भ का रोपण कर देता है, जिससे वह Molecule उत्तेजित हो उठता है। इससे वह अन्य कणों के साथ संगत होने में विशेष प्रवृत्त होकर नाना पदार्थों के निर्माण में सक्षम हो जाता है।

❍ प्रत्येक Molecule सब ओर से ऊर्जा से आवृत्त होता है, जिसके कारण वह सतत गति व कम्पन करता रहता है अर्थात् कभी भी पूर्णतः निष्क्रिय वा गतिहीन नहीं होता। इसके साथ ही ऊर्जा व विद्युत् ही इनका आधार भी होती हैं।

❍ इसकी व्याख्या हम अग्नि महाभूत के प्रकरण में कर चुके हैं।

❍ विभिन्न Molecules ईंधन रूप होते हैं, जिन्हें अग्नि तत्व अर्थात् विद्युत् चुम्बकीय तरंगें जलाती वा प्रकाशित करती हैं। इसका आशय है कि इस सृष्टि में प्रकाशित पदार्थ के रूप में ये Molecules ही होते हैं परन्तु उनमें प्रकाश फोटोन्स का ही होता है, न कि इनका स्वयं का। ध्यातव्य है कि पूर्वोक्त आपः के परमाणु भी इसी भांति प्रकाशित होते हैं।

❍ इनमें गायत्री, त्रिष्टुप् व जगती तीनों छन्द रश्मियां प्रचुर मात्रा में विद्यमान होती हैं, पुनरपि इनमें भी गायत्री छन्द रश्मियां सर्वाधिक मात्रा में होती हैं। ध्यातव्य है कि अनुष्टुप्, उष्णिक् आदि छन्द रश्मियों का यहाँ निषेध नहीं किया गया है। कुछ तत्ववेत्ता ऋषियों ने तो इनमें अनुष्टुप् छन्द रश्मियों की भी प्रचुरता को दर्शाते हुए कहा है- **"इयं (पृथिवी) वा ऽनुष्टुप्" (तां.८.७.२; श.१.३.२.१६)**। सारांशतः इसमें सभी छन्द व प्राण रश्मियां विद्यमान होती हैं।

प्रश्न- महर्षि कणाद ने गन्ध को पृथिवी महाभूत का गुण बतलाते हुए कहा है-

"रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी" (वै.द.२.१.१)
"व्यवस्थितः पृथिव्यां गन्धः" (वै.द.२.२.३)

अर्थात् पृथिवी महाभूत में गन्ध का होना उसका निजीगुण है। शेष शब्द, स्पर्श, रूप व स्वाद गुण अन्य महाभूतों के कारण विद्यमान होते हैं। क्या सभी Molecules गन्धयुक्त होते हैं?

उत्तर- वर्तमान विज्ञान **'गन्ध'** गुण के स्वरूप से अनभिज्ञ है। उसकी दृष्टि में प्रत्येक प्राणी की नासिका में गन्ध ग्रहण करने वाले अतिसूक्ष्म छिद्र होते हैं। जब कोई अणु हवा में उड़कर उन छिद्रों में बैठ जाता है, उस समय गन्ध गुण की अनुभूति मस्तिष्क द्वारा होती है। इसकी एक निश्चित प्रक्रिया है। जब कोई अणु उन छिद्रों में उचित ढंग से बैठ नहीं पाता, तब उस अणु की गन्ध का ज्ञान मस्तिष्क में नहीं हो पाता। माना जाता है कि मनुष्य दस हजार प्रकार की गन्धों का ज्ञान कर सकता है। कुत्ते आदि प्राणी की गन्ध ग्रहण की क्षमता विशेष होती है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि कोई अणु Molecule हमारी नासिका के गन्धग्राही छिद्रों में न समाए, उसकी गन्ध का अनुभव हमें भले ही न हो, किन्तु

इससे यह सिद्ध नहीं हो जाता कि उसमें गन्ध ही नहीं है। ऐसा निष्कर्ष निकालना उसी प्रकार मिथ्या होगा जैसे हमारी तुला में कोई बड़ा पदार्थ न समा सके, तब हम यह कह दें कि उस पदार्थ में भार ही नहीं है, क्योंकि हमारी तुला उसे नहीं तोल पा रही। हमारा मानना है कि इस ब्रह्माण्ड के प्रत्येक अणु में गन्ध अवश्य है, भले ही उसे कोई भी प्राणी अनुभव न कर सके। अपवाद रूप में जिस किसी अणु में गन्ध का गुण नहीं हो, उसे आपः महाभूत की श्रेणी में माना जाना चाहिए। उदाहरण के लिए हम जल (Water) को आपः महाभूत का रूप पूर्व में दर्शा चुके हैं। इधर जिस एटम वा आयन में ६०० अथवा ७२० प्राण व छन्द रश्मियां हों, वह आपः नहीं बल्कि पृथिवी महाभूत की श्रेणी में आयेगा और उसमें गन्ध गुण भी प्रकट हो जायेगा, ऐसा हमारा मत है।

पाठकगण! यह भी ध्यान रहे कि किसी भी महाभूत में उससे पूर्व उत्पन्न सभी महाभूतों का अंश विद्यमान होता है, इस कारण उसमें उससे पूर्व के सभी महाभूतों के गुण भी विद्यमान होते हैं। इसी कारण प्रत्येक Molecule (पार्थिव परमाणु) में गन्ध के अतिरिक्त आकाश का शब्द, वायु का स्पर्श, अग्नि का रूप तथा आपः का रस गुण भी विद्यमान होते हैं।

इसकी उत्पत्ति के विषय में **महर्षि ब्रह्मा** का कथन है-

पृथिवी पञ्चमं भूतं घ्राणश्चाध्यात्ममुच्यते।।
अधिभूतं तथा गन्धो वायुस्तत्राधिदैवतम्।।२२।। (महाभारत, आश्व.पर्व, अनुगीता पर्व, अ. ४२)

अर्थात् पृथिवी अन्तिम एवं पांचवां महाभूत है। इसकी उत्पत्ति के समय ही प्राणियों के शरीर में कार्यरत घ्राण इन्द्रिय की भी उत्पत्ति होती है। उसी समय गन्ध गुण भी प्रकट होता है अर्थात् इस महाभूत की उत्पत्ति के पूर्व इस ब्रह्माण्ड में कहीं भी गन्ध का प्रादुर्भाव नहीं होता है। उसी समय वायु के उत्पन्न होने का अर्थ यह है कि पृथिवी महाभूत की उत्पत्ति से पूर्व सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड विभिन्न Ions and Atoms की प्लाज्मा, गैस वा तरलावस्था से भरा था, वही ब्रह्माण्ड अब Molecules से भर जाता है। सर्वप्रथम वे Molecules गैसीय अवस्था को ही धारण कर शनैः-२ सघन रूप धारण कर पाते हैं। यहाँ उस गैसीय Molecular State को ही वायु नाम दिया गया है। यहाँ किसी को वायु महाभूत का भ्रम नहीं होना चाहिए, यह ध्यातव्य है। इस विषय में **महर्षि भृगु** का कथन है-

तस्याकाशे निपतितः स्नेहस्तिष्ठति योऽपरः। स संघातत्वमापन्नो भूमित्वमनुगच्छति।।१६।। (महाभारत, शा.प., मोक्षधर्म पर्व, अ. १८३)

इसका आशय है कि पूर्वोत्पन्न स्नेहरूप जल महाभूत आकाश, वायु व अग्नि के द्वारा सम्पीडित होकर संघात को प्राप्त होकर पार्थिव परमाणुओं में परिवर्तित होता है। **पातञ्जल योग** सूत्रों के **३.४४** के **व्यास भाष्य** में पृथिवी को **'मूर्तिः भूमिः'** नाम से व्याख्यात किया गया है। इससे स्पष्ट है कि ब्रह्माण्ड में सभी लोक आदि मूर्तिमान् पदार्थ पार्थिव परमाणुओं से ही बने हुए होते हैं। ध्यातव्य है कि **गन्ध गुण ही पृथिवी महाभूत का सर्वोपरि गुण है, मूर्तिमान् होना आदि गुण गौण तथा कालान्तर में उत्पन्न होने वाले हैं। आचार्य सुश्रुत** ने इसे **''तमोबहुला पृथिवी' (सु.सं. - शारीरस्थानम् १.२७)** कहकर तमोगुण प्रधान कहा है। इस कारण इनमें द्रव्यमान सर्वाधिक तथा प्रकाश व क्रियाशीलता अपेक्षाकृत न्यून होती है। इसमें धारण व आकर्षण बल अपेक्षाकृत न्यून होता है। ध्यातव्य है कि इस ग्रन्थ में अनेकत्र हमने 'पृथिवी' से सभी अप्रकाशित कणों अर्थात् मूलकणों का ग्रहण भी किया है। उस सन्दर्भ में पाठक ऐसा ही ग्रहण करें।

इस प्रकार इन पांच महाभूतों से ही सम्पूर्ण सृष्टि निर्मित हुई है। वर्तमान विज्ञान में मूलकण माने जाने वाले क्वार्क्स, लेप्टॉन्स वा फोटोन्स आदि को कहीं अनादि, तो कहीं निर्मित हुआ माना जाता है। Eternal Universe Theory इन्हें अनादि मानती है, जबकि Big Bang Theory इन कणों को मूलकण मानते हुए भी अनादि न मानकर निर्मित होने वाला मानती है परन्तु विज्ञान इस बात से लगभग अनभिज्ञ है कि ये मूलकण बनते कैसे व किससे हैं? मूलकणों से प्रोटोन्स व न्यूट्रॉन्स आदि द्वितीयक कणों के बनने के विषय में वर्तमान विज्ञान अवश्य विचार करता है। इधर हमारा वैदिक विज्ञान वर्तमान विज्ञान के मूलकणों के विषय में अधिक गम्भीरता व सूक्ष्मता से विचार करता है। आइये, हम

अब मूल कण एवं क्वाण्टा की उत्पत्ति प्रक्रिया पर वैदिक भौतिकी का मत प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं।

फोटोन व मूलकणों की उत्पत्ति की वैदिक प्रक्रिया

इस ग्रन्थ में वर्तमान विज्ञान द्वारा मूलकण वा फोटोन्स के निर्माण के विषय में विस्तार से चर्चा है। वर्तमान भौतिकी सृष्टि प्रक्रिया प्रारम्भ होने के समय ही इनके निर्माण को स्वीकार करती है। इसकी दृष्टि में मूलकण व क्वाण्टा से सूक्ष्म तथा इनके उपादान कारणभूत किसी पदार्थ की कोई सम्भावना नहीं है। यहाँ ये ही सर्वप्रथम उत्पन्न सूक्ष्म पदार्थ हैं, जबकि **वैदिक भौतिकी में मूलकण व क्वाण्टा, पंचमहाभूतों की उत्पत्ति प्रक्रिया में अग्नि महाभूत की उत्पत्ति से प्रारम्भ होते हैं किंवा ये सभी इसी के दो प्रकार के रूप हैं।** इनके उत्पन्न होने के पूर्व इस सृष्टि में काल व महत् से लेकर वायु महाभूत तक कितने प्रकार के पदार्थ उत्पन्न होते हैं, इससे पाठक अवगत हो चुके हैं।

अब इस ग्रन्थ के आधार पर मूलकण व क्वाण्टाज़् के निर्माण की प्रक्रिया को संक्षेप से दर्शाते हैं। ये दोनों प्रकार के पदार्थ अग्नि महाभूत का रूप होते हैं, यह बात हम अग्नि महाभूत के प्रकरण में इंगित कर चुके हैं। इन दोनों प्रकार के पदार्थों के निर्माण की प्रक्रिया मौलिक रूप से समान है। इस प्रक्रिया का सार निम्नानुसार है-

हम यह चर्चा पूर्व में कर चुके हैं कि अग्नि महाभूत की उत्पत्ति वायु महाभूत के पश्चात् उस समय तक उत्पन्न पदार्थों के विशिष्ट मेल व संघनन से होती है। मूलकण व विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की उत्पत्ति के पूर्व सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अनेकों प्रकार की प्राण व छन्दादि रश्मियों के रूप में वर्तमान होता है। ये सभी रश्मियां मनस्तत्व वा अहंकार में सूक्ष्मतम छन्द रश्मि **'ओम्'** के कारण उत्पन्न होती हैं। इन रश्मियों की तुलना वर्तमान विज्ञान द्वारा जानी गई किसी भी Waves से नहीं की जा सकती, बल्कि ये उन सभी का कारण हैं। **वायु महाभूत तक की उत्पत्ति-प्रक्रिया वर्तमान विज्ञान की किसी भी सृष्टि प्रक्रिया के प्रारम्भ होने से पूर्व की स्थिति है, जिसका वर्तमान विज्ञान को कोई भान तक नहीं है।** अस्तु।

विभिन्न प्राण व छन्दादि रश्मियों का मिश्रण वायु नाम से सर्वत्र लगभग एकरस भरा रहता है। यहाँ एकरसता का तात्पर्य यह नहीं है कि कहीं कोई गति वा Fluctuation नहीं होता, बल्कि इनके विद्यमान रहते हुए भी पदार्थ कहीं भी न तो सघन रूप को धारण करता है और न ही वह किसी तरंग का व्यवहार करने में समर्थ होता है। **इस समय सर्वनियन्ता ईश्वर तत्व अपने सर्वाधिक निकटस्थ 'ओम्' छन्द रश्मियों किंवा काल तत्व के द्वारा पदार्थ को कण वा क्वाण्टा के निर्माण हेतु वायु तत्व को प्रेरित करने लगता है।** ये **'ओम्'** छन्द रश्मियां सूत्रात्मा वायु, निविद् एवं बृहती छन्द आदि रश्मियों को प्रेरित करके वायु तत्व में असंख्य स्थानों पर चक्रण (spin) उत्पन्न करने लगती हैं। इस प्रक्रिया के तीन चरण होते हैं। जिनमें क्रमशः गायत्री, त्रिष्टुप्-बृहती एवं जगती छन्द की विशेष भूमिका होती है। कणों की अपेक्षा क्वाण्टा में रश्मियों की सघनता व मात्रा न्यून होती है, किन्तु दोनों के बनने की प्रक्रिया लगभग समान होती है। spin प्रारम्भ होने से पूर्व एक निचृत् त्रिष्टुप् छन्द रश्मि सम्पूर्ण वायु तत्व में एक सौ बार सर्वत्र स्पन्दित होती है, उसके पश्चात् ही spin प्रारम्भ होकर अनेक प्रक्रियाओं के चलते रहने के पश्चात् सर्वप्रथम क्वाण्टाज़् उत्पन्न होते हैं। तत्पश्चात् लेप्टॉन व क्वार्क्स आदि अन्य सभी मूलकण कहे जाने वाले कणों की उत्पत्ति होती है। संघनन की इस प्रक्रिया को समझने हेतु इस ग्रन्थ के खण्ड **१.३, २.१४, २.१७** एवं **३.१०** को ध्यान से पढ़ें। वहाँ तीन स्थानों पर पृथक्-२ दृष्टि से संघनन क्रिया एवं इसके द्वारा विभिन्न कण व क्वाण्टा के निर्माण को समझाया गया है। खण्ड **३.१८** में विद्युत् धनावेशित, ऋणावेशित व उदासीन कण वा क्वाण्टा के निर्माण में त्रिष्टुप् व जगती छन्दरश्मि विशेष की भूमिका को रेखांकित किया गया है। ध्यातव्य है कि छन्द रश्मियों को सम्पीडित करने वाली केवल सूत्रात्मा वायु, निविदादि रश्मियां ही नहीं होतीं, अपितु प्राणापान-व्यान आदि प्राण रश्मियां भी इसमें अपनी भूमिका निभाती हैं। **जब ये सम्पीडक प्राण रश्मियां सम्पीड्य रश्मियों की अपेक्षा दुर्बल होती हैं, तब सम्पीडन क्रिया सम्भव नहीं होती और जब वे अतीव सबल होती हैं तब सम्पीडन**

तीव्र होकर मूलकणों को उत्पन्न करती हैं। जब सम्पीडक रश्मियां सम्पीड्य रश्मियों की अपेक्षा सबल तो होती हैं परन्तु अतीव सबल नहीं, तब क्वाण्टाज् का निर्माण होता है। इस विषय में खण्ड ४.१० द्रष्टव्य है। विभिन्न मूलकणों, आकाश तत्व तथा क्वाण्टाज् में अर्थात् सर्वत्र ही विभिन्न छन्द रश्मियां युग्म के रूप में विद्यमान होती हैं। इनमें से क्वाण्टाज् के अन्दर विद्यमान युग्मों में दोनों छन्द रश्मियां समान रूप से तीक्ष्ण सक्रिय व प्रकाशित होती हैं। इसके विपरीत आकाश तत्व एवं मूलकणों में विद्यमान युग्मों में दोनों छन्द रश्मियों की प्रकाशशीलता एवं सक्रियता की मात्रा में कुछ भेद होता है अर्थात् इस दृष्टि से space एवं मूलकणों में कुछ समानता है। **इसी कारण मूलकण अपने द्रव्यमान वा विद्युत् आवेश के द्वारा आकाश तत्व को अधिक प्रभावित कर पाते हैं, अपेक्षाकृत क्वाण्टाज् के। इसी कारण कण व क्वाण्टा तथा क्वाण्टा व आकाश तत्व का पारस्परिक interaction अपेक्षाकृत दुर्बल होता है।** इस विषय में खण्ड ६.२३ द्रष्टव्य है।

वैदिक विज्ञान विभिन्न मूलकणों के विषय में एक महान् रहस्योद्घाटन यह करता है कि इन **कणों व तारों की संरचना में कुछ समानता होती है। दोनों में ही केन्द्रीय भाग शेष विशाल भाग से पृथक् रहकर परस्पर पृथक्-२ गति से घूर्णन करते हैं। दोनों के विभिन्न भागों में प्राणादि रश्मियों की विद्यमानता सर्वथा समान नहीं होती बल्कि कुछ भेद होता है।** इस हेतु खण्ड ८.१४ द्रष्टव्य है।

इस सृष्टि में कहीं-२ एवं कभी-२ विभिन्न क्वाण्टाज् विभिन्न छन्द व मरुद् रश्मियों के साथ संयोग करके विभिन्न कणों का निर्माण भी करते हैं और प्राण, छन्द व मरुद् रश्मियों के सम्पीडन से क्वाण्टाज् का निर्माण हम बतला ही चुके हैं।

क्वाण्टा की द्वैत प्रकृति

क्वाण्टाज् में जगती, त्रिष्टुप्, अनुष्टुप् एवं बृहती छन्द रश्मियों की प्रधानता होती है। इनमें प्राण रश्मियां, कणों की अपेक्षा विचित्र व भिन्न रीति से बंधी रहती हैं, जो तीक्ष्ण रूप से परस्पर संयुक्त व वियुक्त होती रहती हैं। **इसी कारण क्वाण्टाज् तरंग व कण दोनों की भांति व्यवहार करने में समर्थ होते हैं।** इलेक्ट्रॉन जैसे सूक्ष्म कण भी कुछ मात्रा में यही व्यवहार दर्शाते हैं, ऐसा वर्तमान विज्ञान मानता है। वर्तमान विज्ञान द्वैत प्रकृति को मानता तो है परन्तु वह उसके कारण पर शायद विचार नहीं करता। इस विषय में खण्ड ६.५ द्रष्टव्य है।

द्रव्यमान एवं उसका कारण

वर्तमान वैज्ञानिक द्रव्यमान का कारण हिग्स फील्ड को मानते हैं। सन् १९६१ में अमरीकी भौतिक शास्त्री पीटर हिग्स ने विचारा कि इस ब्रह्माण्ड में अनेक प्रकार के कण वा क्वाण्टाज् विद्यमान हैं, उनमें से किन्हीं में द्रव्यमान होता है, तो किसी में नहीं भी होता और जिनमें द्रव्यमान होता है, उनमें भी सबमें समान मात्रा में नहीं होता। इस कारण उन्होंने विचार किया कि इस ब्रह्माण्ड में कोई ऐसा सार्वत्रिक फील्ड होना चाहिए, जिसके कारण ही किसी कण में द्रव्यमान का अस्तित्व होना चाहिए। पीटर हिग्स ने उस कल्पित फील्ड के बोसोन का नाम हिग्स बोसोन रख दिया। अब क्या था, सम्पूर्ण वैज्ञानिक जगत् में हिग्स बोसोन को खोजने की होड़ मची परन्तु अनेक वर्षों तक यह ही समझ नहीं आया कि इसकी खोज कैसे हो? अन्ततः विश्व के वैज्ञानिकों ने संसार में भौतिकी की सबसे बड़ी प्रयोगशाला CERN में L.H.C. मशीन का निर्माण करके सन् २०१२ में हिग्स बोसोन को खोजने का दावा किया। वैज्ञानिक इसका द्रव्यमान प्रोटोन के द्रव्यमान से १३३ गुना मानते हैं। **हमारा संसार के सभी वैज्ञानिकों से प्रश्न है कि यदि सृष्टि के सभी कणों में द्रव्यमान का कारण हिग्स बोसोन है, तब हिग्स बोसोन के द्रव्यमान का क्या कारण है?** भारत के कुछ प्रख्यात भौतिक शास्त्रियों से हमने यह प्रश्न किया भी है, परन्तु इसका कोई उत्तर आधुनिक भौतिक वैज्ञानिकों के पास नहीं है, ऐसा वे भी स्वीकार करते हैं।

हम सर्वप्रथम यह जानना चाहते हैं कि द्रव्यमान, जिसे अंग्रेजी भाषा में mass कहा जाता है, वह क्या है?

प्रख्यात अमरीकी वैज्ञानिक Max Jammer का इस विषय में कथन है-

"mass may be compared with an actor who appears on the stage in various disguises, but never as his true self. Actually mass- like the Deity- has a triune personality. It may appear in the role of gravitational charge or of inertia, or of energy, but nowhere does mass present itself to the senses as its unadorned self. (Introduction, Concept of Mass in classical and modern Physics- p. 2-3)

इसका आशय है कि द्रव्यमान तीन रूपों में अभिव्यक्त माना जाता है। वे तीन रूप हैं- **गुरुत्वाकर्षण, जड़त्व एवं ऊर्जा।** वर्तमान विज्ञान शुद्ध द्रव्यमान के स्वरूप के विषय में मौन है किंवा उसके स्वरूप को इस सृष्टि में सदैव गुप्त ही मानता है।

द्रव्यमान के कारण सम्बन्धी पीटर हिग्स की अवधारणा और इस पर सम्पूर्ण विश्व में विगत लगभग ६० वर्ष के शोधकार्य पर हम जानना चाहते हैं कि यदि Gravitational Charge रूपी द्रव्यमान (mass) जो कि किसी पदार्थ का एक मूल गुण है, के विषय में यह धारणा बनाई गई है कि इसके पीछे कोई फील्ड ही कारण है और उस फील्ड को हिग्स फील्ड कहा गया तथा उसके बोसोन को खोजने का दावा भी किया गया, तब पदार्थ के अन्य ऐसे ही गुण विद्युत् आवेश के विषय में यदि हम यह तर्क प्रस्तुत करें कि इसका कारण भी कोई फील्ड विशेष होना चाहिए। ध्यातव्य है कि विद्युत् चुम्बकीय फील्ड तो स्वयं विद्युदावेश के कारण उत्पन्न होता है, तब विद्युदावेश का कारण क्या है? जब mass को उत्पन्न करने वाला फील्ड होता है, तब क्यों न electric charge को उत्पन्न करने वाला फील्ड भी माना जाना चाहिए? आश्चर्य है कि 8.8×10^{-25} kg द्रव्यमान वाला हिग्स बोसोन 9.1×10^{-31} kg के द्रव्यमान का इलेक्ट्रॉन कारण माना जाता है। जब अत्यल्प द्रव्यमान वाले इलेक्ट्रॉन के द्रव्यमान का कारण हिग्स बोसोन है, तो क्यों उससे अत्यधिक द्रव्यमान वाले हिग्स बोसोन के द्रव्यमान का कोई कारण नहीं होना चाहिए?

वस्तुतः किसी भी पदार्थ का द्रव्यमान व विद्युत् आवेश दोनों ही मौलिक गुण हैं और दोनों के ही अपने कारण हैं। **हमारे मत में द्रव्यमान वा विद्युत् आवेश उस पदार्थ से उत्पन्न होते हैं, जिनमें स्वयं द्रव्यमान वा विद्युत् आवेश नहीं होता।** वैदिक विज्ञान के अनुसार प्रकृति का तमोगुण जड़त्व तथा द्रव्यमान का सबसे मूल कारण होता है परन्तु प्रकृति स्वयं में कोई द्रव्यमान नहीं होता। इस कारण जहाँ-२ तमोगुण है, वहाँ-२ जड़त्व का यत्किंचित् अस्तित्व होता ही है परन्तु यह मात्रा ऐसी होती है कि इसे मानव किसी भी तकनीक से अनुभव नहीं कर सकता। इसी दृष्टिकोण से **क्वाण्टाज् की तो बात क्या space में भी अति स्वल्प मात्रा में द्रव्यमान होता है। यदि ऐसा नहीं होता तो space कभी भी द्रव्यमानयुक्त वस्तु से curve हो ही नहीं सकता था।** वर्तमान विज्ञान जिस द्रव्यमान की बात करता है उसकी उत्पत्ति का कारण हिग्स फील्ड नहीं, बल्कि कथित हिग्स बोसोन आदि सबके द्रव्यमान का कारण इस प्रकार है-

वैकुण्ठ इन्द्र संज्ञक सर्वाधिक सूक्ष्म विद्युत्, जो प्राण व अपान रश्मियों के विशेष योग से उत्पन्न होती है, का प्राण, व्यान व धनंजय रश्मियों के साथ सम्मिश्रण होता है। इनमें त्रिष्टुप् छन्द की विद्यमानता भी रहती है, उस समय द्रव्यमान गुण प्रकट होता है। यहाँ वैकुण्ठ इन्द्र रूप विद्युत् के विषय में खण्ड ५.२१ द्रष्टव्य है। तदपि हम यहाँ यह और अवगत कराना चाहते हैं कि यह विद्युत् विशेष रूप से कुण्ठ अर्थात् सुस्त=मन्द होती है। इस मिश्रण में अपान की अपेक्षा प्राण की प्रधानता होती है। धनंजय मिश्रित व्यान रश्मियों के मेल से प्राण तत्व का आकर्षण बल प्रधान रहकर अपान के प्रतिकर्षण को गौण बना देता है।

जब सूक्ष्म विद्युत्, जिसमें प्राण व अपान रश्मियां विद्यमान होती हैं, प्राण, व्यान, धनंजय व त्रिष्टुप् रश्मियों से संयोग करती है, उस समय धनंजय व त्रिष्टुप् रश्मियां प्राण, व्यान व अपान को

शक्तिशाली बना देती हैं। इनमें भी प्राण की अपान की अपेक्षा अधिकता रहती, साथ में सूत्रात्मा वायु रश्मियों का इन सबके साथ योग होने से आकर्षण बल की प्रधानता रहती है तथा प्रतिकर्षण बल नगण्य होता है। इन रश्मियों का यह ऐसा बन्धन होता है कि इसके कारण कोई भी पदार्थ आकर्षण का ही भाव रखता तथा किसी गति वा स्थिति में परिवर्तन का प्रतिरोध करता है। इस प्रतिरोधी गुण को ही वर्तमान विज्ञान द्रव्यमान (mass) नाम देता है। इसका स्वरूप व क्रियाविज्ञान इस प्रकार है-

अपान एवं उसकी अपेक्षा प्राण की अधिकता के साथ-२ व्यान, इन सभी रश्मियों को त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां तीन दिशाओं से किंवा three dimensional थामती हैं। उसके पश्चात् सूत्रात्मा वायु रश्मियों का जाल सबको सब ओर से घेरकर बांध लेता है। इस प्रकार यह एक संघात रूप धारण करता है। यह संघात कण वा क्वाण्टा दोनों में से कोई भी हो सकता है। जब यह संघात गति करता है, तब आकाश में विद्यमान सूक्ष्म प्राणादि रश्मियों से उस संघात का प्रतिरोध होता है। यद्यपि आकाश तत्व की रश्मियां अर्थात् प्राण व सूक्ष्म मरुदादि रश्मियां अन्य प्राण व छन्दादि रश्मि समूह में से सरलता से आर-पार आवागमन में समर्थ होती हैं, परन्तु सूत्रात्मा व त्रिष्टुप् के विशेष जाल के कारण इसमें उनके प्रति अवरोध उत्पन्न हो जाता है और यह **अवरोध द्रव्यमान कहलाता है। जिस संघात में जितनी अधिक रश्मियां एवं जितनी मात्रा में उस जाल के द्वारा बंधी व घनीभूत हुई होती हैं, उस कण का द्रव्यमान उतना ही अधिक होता है। वर्तमान विज्ञान इस सूक्ष्म विज्ञान को किंचिदपि नहीं समझता।** ध्यातव्य है कि प्रत्येक कण वा क्वाण्टा जैसे किसी भी संघात में बृहती छन्द रश्मियों का भी आवरण कार्य करता है। उधर हम यह भी जानते हैं कि प्रत्येक द्रव्यमान वाली वस्तु में गुरुत्वाकर्षण बल अवश्य ही विद्यमान होता है, जिसमें उपर्युक्त सभी रश्मियों के अतिरिक्त पंक्ति छन्द रश्मियां भी विद्यमान होती हैं, इस कारण यह सिद्ध है कि द्रव्यमान नामक गुण की उत्पत्ति में कहीं न कहीं पंक्ति छन्द रश्मियों की भी भूमिका रहती है। हमारे मत में बृहती व त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां मिलकर पंक्ति छन्द रश्मियों का रूप धारण कर लेती हैं, वा कर सकती हैं।

गुरुत्व बल

इन्हीं सबके कारण द्रव्यमान गुरुत्व बल को उत्पन्न करता है, जो सदैव आकर्षण बल के रूप में ही विद्यमान होता है। हाँ, इतना अवश्य है कि गुरुत्वाकर्षण अथवा कोई भी आकर्षण बल सर्वथा निरपेक्ष नहीं होता है बल्कि कुछ न कुछ मात्रा में प्रतिकर्षण बल विद्यमान होता है। यह प्रतिकर्षण बल अपान अथवा असुर तत्व के कारण सर्वत्र विद्यमान रहता है। यह गुरुत्व बल वैकुण्ठ इन्द्र आदि उन्हीं पदार्थों से उत्पन्न होता है, जिनसे द्रव्यमान की उत्पत्ति होती है; इस कारण यह बल मन्द प्रभाव वाला होता है। गुरुत्व बल में जो वैकुण्ठ इन्द्र संज्ञक विद्युत् होती है, वह सभी प्रकार के बलों में सदैव विद्यमान होती है। अब हम गुरुत्वाकर्षण बल के विषय में इस ग्रन्थ के आधार पर कुछ महत्वपूर्ण बिन्दु यहाँ उद्धृत करते हैं-

गुरुत्वाकर्षण तरंगों में इन उपर्युक्त रश्मियों के मिश्रण के अतिरिक्त पंक्ति व बृहती, जो सूत्रात्मा वायु से आवेष्टित होकर त्रिष्टुप् में परिवर्तित हो जाती हैं तथा अनुष्टुप् छन्द रश्मियां भी विद्यमान होती हैं। वर्तमान विज्ञान द्वारा परिकल्पित **ग्रेविटॉन इन्हीं रश्मियों के मेल से प्रकट हो सकता है।** इस विषय में खण्ड **२.२६, २.२७, २.२८, ३.२८, ४.२५, ४.३२, ५.८, ५.१२, ५.२१** एवं **६.११** अवश्य द्रष्टव्य हैं। **गुरुत्व बल सबसे दुर्बल क्यों होता है?** यह बात भी विज्ञ पाठक वहीं भली प्रकार समझ सकते हैं।

इस प्रकार हम मूलकणों के विषय में चर्चा कर चुके, इसके पश्चात् पूर्वोक्त सम्पीडन क्रिया से अग्रिम पीढ़ी के पदार्थ आपः व पृथिवी अर्थात् आयन, एटम व मॉलिक्यूल्स की उत्पत्ति भी क्रमशः होती जाती है।

असुर आदि बाधक वा प्रक्षेपक पदार्थ

इस सृष्टि में पूर्वोक्त पंचमहाभूत पदार्थों के साथ-२ कुछ ऐसा पदार्थ भी विपुल मात्रा में उत्पन्न होता है, जो प्रायः अप्रकाशित ही रहता है तथा जिसमें प्रतिकर्षण, प्रक्षेपण आदि बलों की प्रधानता होती है। इस पदार्थ को समस्त रूप में असुर नाम से जाना जाता है। कुछ गुणभेद के आधार पर इसके अन्य रूपों की भी क्रमशः चर्चा करेंगे। इस क्रम में सर्वप्रथम हम प्रधान रूप से असुर नाम से जाने जाने वाले तत्व के विषय में ऋषियों के विचार उद्धृत करते हैं-

"उभये वा एते प्रजापतेरध्यसृज्यन्त। देवाश्चासुराश्च" (तै.ब्रा.१.४.१.१)
"कनीयाꣳसि (छन्दांसि) देवेष्वासन् ज्यायाꣳस्यसुरेषु" (मै.४.७.५)
"तेभ्यः (असुरेभ्यः प्रजापतिः) तमश्च मायां च प्रददौ" (श.२.४.२.५)
"तेऽसुरा मनस्वितरा आसन्नमनस्तरा इव देवाः" (काठ.१२.२)
"देवा वै यद् यज्ञेऽकुर्वत तदऽसुराऽकुर्वत" (तै.सं.२.५.४.१)
"नाना रूपा असुराः" (जै.ब्रा.१.२७८)
"प्राचो वै देवान् प्रजापतिरसृजतापाचोऽसुरान्" (काठ.८.४; क.६.६)
"मनो वा असुरम्। तद्ध्यसुषु रमते" (जै.उ.३.६.७.३)
"रूपरहितो वायुः" (तु.म.द.ऋ.भा.३.२९.१४)
"असुषु प्राणेषु रममाणो विद्युदग्निः" (म.द.ऋ.भा.७.५६.२४)

इन वचनों पर विचार करने पर निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं-

- प्रजापति परमात्मा से प्रेरित मनस्तत्व एवं **'ओम्'** छन्दरश्मिरूपी प्रजापति से देव तथा असुर दोनों प्रकार का पदार्थ उत्पन्न होता है। इसका तात्पर्य है कि दृश्य एवं अदृश्य दोनों प्रकार का पदार्थ एक ही उपादान पदार्थ से उत्पन्न होता है।
- इस सृष्टि में छन्द रश्मियां देव पदार्थ के रूप में न्यून मात्रा में तथा असुर पदार्थ के रूप में अधिक मात्रा में विद्यमान होती हैं। यहाँ इसका अन्य आशय यह भी है कि सृष्टि के प्रारम्भ में दैवी छन्द रश्मियां सर्वप्रथम उत्पन्न होती हैं। ये छन्द रश्मियां लघु आकारयुक्त अर्थात् कम अक्षरों वाली होती हैं, जबकि आसुरी रश्मियां वृहद् आकारयुक्त अर्थात् अधिक अक्षरों वाली होती हैं।
- ईश्वर तत्व रूपी प्रजापति से प्रेरित मनस् एवं वाक् तत्व असुर पदार्थ को माया तथा अंधकार प्रदान करते हैं अर्थात् यह पदार्थ माया तथा अंधकार से युक्त होता है। **'माया'** का अर्थ करते हुए **महर्षि दयानन्द** लिखते हैं- **"प्रज्ञापिका विद्युत्" (तु.म.द.य.भा.१३.४४), मात्यन्तर्भवतीति माया (उ.को.४.११०)।** इसका आशय है कि असुर तत्व ऐसी प्रखर विद्युत् से युक्त होता है, जो अन्धकारयुक्त होती हुई उस असुर पदार्थ में समाती किंवा उसमें अन्तर्निहित होती है।
- असुर पदार्थ में मनस्तत्व की मात्रा देव पदार्थ की अपेक्षा अधिक होती है। हमें इसका तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि इस पदार्थ में मनस्तत्व की अधिकता होती है परन्तु उस मनस्तत्व के अन्दर वाक् तत्व (**'ओम्'** रश्मियों) की देव पदार्थ की अपेक्षा न्यूनता होती है, इसी कारण यह पदार्थ देव पदार्थ की अपेक्षा प्रकाशहीन होता है।
- जिस किसी संसर्ग-यजन क्रिया में देव पदार्थ भाग लेते हैं, उसी क्रिया में असुर पदार्थ भी भाग लेते हैं। इसका आशय है कि सृष्टि के प्रत्येक कर्म में आकर्षण व धारण बल के साथ-२ प्रतिकर्षण व प्रक्षेपण बल भी अनिवार्यतः सक्रिय होता है। कहीं-२ इन दोनों पदार्थों का संग्राम किंवा संघर्ष होता है, तो कहीं-२ दोनों पदार्थ मिलकर सृष्टि रचना में अपनी-२ भूमिका साथ-२ भी निभाते हैं। केवल आकर्षण व धारण बल के ही आधार पर सृष्टिरचना कदापि सम्भव नहीं है। इस सृष्टि में कभी भी दो वा दो से अधिक पदार्थ (लोक, कण वा रश्मि आदि) किसी भी प्रबलतम आकर्षण बल के प्रभाव से पूर्णतः मिलकर एक नहीं हो सकते। यहाँ तक कि वे परस्पर सर्वथा स्पर्श भी नहीं कर सकते, बल्कि उनके मध्य कुछ न कुछ अवकाश अवश्य रहता है। इसके साथ ही इस सृष्टि में छेदन, भेदन, संयोजन

एवं वियोजन का क्रम भी सर्वत्र चलता रहता है। इन कर्मों में देव व असुर दोनों ही प्रकार के पदार्थों का योगदान रहता है।

❍ असुर पदार्थ नाना रूपों में विद्यमान होता है। इन रूपों की चर्चा हम प्रधान असुर तत्व के विवेचन के पश्चात् करेंगे।

❍ देव एवं असुर पदार्थ में से देव पदार्थ की उत्पत्ति पहले तथा असुर पदार्थ की उत्पत्ति उसके पश्चात् होती है। देव पदार्थ किसी भी लोक वा कण आदि पदार्थ को प्रकृष्ट गति व आकर्षण बल प्रदान करते हैं, तो असुर पदार्थ इन पदार्थों को दूर हटाने का कार्य करते हैं अर्थात् इनमें प्रक्षेपक वा प्रतिकर्षक बल की अधिकता होती है।

❍ **'ओम्'** रश्मिविहीन मनस्तत्व भी असुर तत्व का रूप होता है, क्योंकि उस स्थिति में यह प्रायः प्रकाशयुक्त नहीं होता। इसके अतिरिक्त यह पदार्थ **'असु'** अर्थात् प्राण रश्मियों में विशेष रूप से रमण करता है अर्थात् प्राण रश्मियों में छन्द रश्मियों की अपेक्षा मनस्तत्व की मात्रा अधिक होती है।

❍ यह पदार्थ रूपरहित वायु अर्थात् अप्रकाशित वायु रूप होता है, जो अपवाद परिस्थितियों के अतिरिक्त कभी प्रकाशित अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकता।

❍ यह ऐसी विद्युत् का रूप होता है, जो केवल प्राण रश्मियों से ही उत्पन्न तथा उन्हीं में रमण करने वाली होती हैं। इसका आशय यह है कि इस पदार्थ में आसुरी छन्द रश्मियों के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की छन्द रश्मियां विद्यमान नहीं होतीं, बल्कि केवल प्राण रश्मियां ही विद्यमान होती हैं।

इन आर्ष वचनों पर विचार करने के उपरान्त हम इस ग्रन्थ के अपने वैज्ञानिक व्याख्यान के आधार पर असुर पदार्थ के विषय में कुछ बिन्दुओं को उद्धृत करते हैं-

❍ जो छन्द रश्मियां मनस्तत्व से प्रेरित नहीं हो पातीं, वे आसुरी रश्मियों के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं। (देखें- खण्ड २.५)

❍ सृष्टि प्रक्रिया में कुछ छन्द रश्मियों का कुछ सार भाग आकाश में रिस जाता है। फिर वे सार भाग से रहित हुई अथवा सार भाग की न्यूनता वाली छन्द रश्मियां ही आसुर तत्व के रूप में प्रकट होती किंवा उस असुर तत्व को उत्पन्न करती हैं। इस बात से यह संकेत मिलता है कि आसुरी रश्मियों का निर्माण अन्य रश्मियों से कुछ सार भाग के रिसने से होता है। (देखें- खण्ड २.२४)

❍ जब व्यान रश्मियां मनस्तत्व के द्वारा पूर्णतः संगत व प्रेरित नहीं होती, तब प्राणापान एवं प्राणोदान रश्मियां असुर रश्मियों का रूप धारण कर लेती हैं। इस दशा में वे अप्रकाशित रहकर प्रतिकर्षण-प्रक्षेपण बलों से विशेष युक्त होती हैं। (देखें- खण्ड २.२८)

❍ इस सृष्टि में जो पदार्थ मन एवं वाक् तत्व (ओम्) रश्मि के मिथुन के द्वारा प्रेरित नहीं होते, वे संयोगादि प्रक्रियाओं से पृथक् अप्रकाशित स्वरूप वाले असुर तत्व का ही रूप होते हैं। (देखें- खण्ड २.३८)

❍ प्रलयकाल की प्रक्रिया प्रारम्भ होने पर असुर पदार्थ निरन्तर बलिष्ठ होना प्रारम्भ हो जाता है तथा उसको नष्ट व नियन्त्रित करने वाली रश्मियां निरन्तर दुर्बल वा नष्ट होती जाती हैं। इससे विभिन्न लोक आदि पदार्थों का विनाश होने लगता है। सुपरनोवा आदि के विस्फोट में भी असुर तत्व प्रबल होता है। (देखें- खण्ड ३.७)

❍ विभिन्न गायत्र्यादि छन्द रश्मियों के साथ सदैव अनुष्टुप् छन्द रश्मियां संयुक्त रहती हैं। जिन छन्द रश्मियों के साथ अनुष्टुप् छन्द रश्मियां संयुक्त नहीं होती, वे रश्मियां असुर रश्मियों में परिवर्तित हो जाती हैं। अनुष्टुप् छन्द रश्मियों के साथ संयुक्त छन्द रश्मियां ही देव (दृश्य) पदार्थ का निर्माण करने में सक्षम होती हैं अन्यथा वे निष्क्रिय रूप में भी इस ब्रह्माण्ड में व्याप्त रह सकती हैं और असुर तत्व के रूप में भी परिवर्तित हो सकती हैं। (देखें- खण्ड ३.१३)

❍ सभी छन्द रश्मियों के साथ मनस्तत्व एवं मूल वाक् तत्व के अतिरिक्त सभी प्राथमिक प्राण रश्मियां विद्यमान होती हैं। इनमें से प्राण व अपान रश्मियां दोनों सिरों पर तथा अन्य प्राण रश्मियां छन्द रश्मियों के मध्य में स्थित होती हैं। **जिन छन्द रश्मियों के साथ प्राण रश्मियां परस्पर बिखरी हुई अवस्था में विद्यमान होती हैं, वे छन्द रश्मियां देव पदार्थ को उत्पन्न करती हैं तथा जिन छन्द रश्मियों में प्राण परस्पर अति निकटता से संयुक्त होता है, वे आसुरी छन्द रश्मियों में परिवर्तित होकर असुर पदार्थ को उत्पन्न करती हैं।** (देखें- खण्ड ४.२४)

❍ प्राण एवं अपान तत्व का पारस्परिक सामंजस्य सृष्टि रचना का महत्वपूर्ण बिन्दु है। जब ऐसा नहीं हो पाता है, उस समय विभिन्न प्राण रश्मियां छन्द रश्मियों के साथ समुचित संयोग नहीं कर पाएंगी और इसके परिणामस्वरूप वे प्राण रश्मियां सूक्ष्म असुर रश्मियों में परिवर्तित हो जाएंगी। (देखें- खण्ड ५.३०)

❍ असुर पदार्थ अपने प्रतिकर्षण बल के प्रभाव से विभिन्न लोकों के मध्य समुचित अवकाश बनाए रखने में सहयोगी बनकर उन्हें धारण वा स्थायित्व प्रदान करने में भी सहयोगी होता है। (देखें- खण्ड ५.३०)

❍ असुर तत्व में भी विशेष प्रकार की विध्वंसक व प्रतिकर्षक विद्युत् विद्यमान होती है। इस ब्रह्माण्ड में इस पदार्थ की भी धाराएं सर्वत्र निरन्तर बहती रहती हैं। (देखें- खण्ड ६.१३)

❍ जो छन्द रश्मियां अपनी धारक धाय्या संज्ञक छन्द रश्मियों से युक्त नहीं हो पातीं तथा जो प्राण रश्मियां मरुद् रश्मियों के साथ युग्म नहीं बना पातीं, वे आसुरी पदार्थ को जन्म देने वाली हो जाती हैं। (देखें- खण्ड ७.६)

इस सम्पूर्ण प्रकरण से यह स्पष्ट होता है कि इस **सृष्टि में उस पदार्थ, जिससे यह सृष्टि बनी है, के अतिरिक्त एक ऐसा पदार्थ भी विद्यमान होता है, जो अदृश्य वा अप्रकाशित होता है। दृश्य पदार्थ सृष्टि में नाना लोकों की सृष्टि का मुख्य उपादान है, जबकि अदृश्य पदार्थ किसी भी लोक का निर्माण नहीं कर सकता। इतना होने पर भी अदृश्य पदार्थ की दृश्य ब्रह्माण्ड बनाने में अनिवार्य भूमिका होती है।** वैदिक वाङ्मय में दृश्य पदार्थ को **देव** तथा अदृश्य पदार्थ को **असुर** कहा जाता है। वर्तमान विज्ञान भी दो प्रकार के पदार्थों को स्वीकार करता है। वह अप्रकाशित पदार्थ को **डार्क मैटर** व **डार्क एनर्जी** नाम देता है। वर्तमान भौतिकी इन डार्क पदार्थों को अभी तक अच्छी प्रकार परिभाषित नहीं कर सकी है और न ही इनके कार्य व अस्तित्व को ही पूर्णतया सिद्ध वा स्पष्ट कर सका है।

Dark Matter के विषय में वर्तमान विज्ञान के मत को दर्शाने हेतु हम कुछ वैज्ञानिकों को उद्धृत करते हैं-

"To explain the lumps of galaxies, one inevitably requires large amounts of invisible dark matter in the form of unusual particles. The most popular models are CDM (Cold Dark Matter) and HDM (Hot Dark Matter)." (Discovery of Cosmic Fractals- P.147 By Yurij Baryshev, Pekka Teerikorpi)

इसी विषय में अमरीकी भौतिकशास्त्री John Gribbin का कथन है-

"Two kinds of dark matter we reffered to earlier are known as 'hot' and 'cold' dark matter. Neutrinos are hot, in the sense that they move around at a sizable fraction of the speed of light. But what we need to explain the pattern of galaxies on the sky is a profusion of particles of slow-moving cold dark matter, or CDM." (The origin of Future- ten questions for the next ten years- P.105)

वर्तमान विज्ञान इस ब्रह्माण्ड में 4% दृश्य पदार्थ व दृश्य ऊर्जा, 26% CDM तथा 70% dark energy मानते हैं। वे जिसे Hot Dark Matter नाम देते हैं, उस neutrino के विषय में CDM की अपेक्षा अधिक जानते हैं। CDM के अनेक कणों की कल्पना करते हैं, जिन्हें weakly interacting massive particles= WIMPs कहते हैं, पुनरपि अभी तक वे किसी भी WIMP को detect नहीं कर पाए हैं। ध्यातव्य है कि डार्क एनर्जी के स्वरूप एवं उत्पत्ति के विषय में वर्तमान विज्ञान स्वयं अन्धकार में ही है। मेरी भारत के अनेक भौतिक शास्त्रियों से चर्चा हुई है परन्तु CDM पर वे यही कहते हैं कि अभी सब कुछ dark अर्थात् अंधेरे में ही है अर्थात् अभी तक कुछ जाना नहीं गया है। वैज्ञानिकों के अनुसार CDM ही सभी लोकों, गैलेक्सियों को थामे हुए है। dark energy के विषय में वैज्ञानिकों का मत है कि यह energy सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का प्रसार कर रही है। Big Bang के समय से ब्रह्माण्ड निरन्तर विस्तृत होता जा रहा है। हम ब्रह्माण्ड के विस्तार की समीक्षा पूर्व में कर चुके हैं।

वर्तमान विज्ञान के dark substance (dark matter & dark energy) की संक्षिप्त चर्चा से यह बात स्पष्ट है कि वर्तमान विज्ञान dark energy के स्वरूप व कार्य के विषय में नितान्त भ्रम में हैं। अब हम अपने वैदिक अप्रकाशित पदार्थ (vaidic dark substance) के विषय में पूर्वोक्त क्रम को आगे बढ़ाते हैं-

हम पूर्वोद्धृत ऐतरेय व्याख्यान के वचनों के आधार पर असुर पदार्थ (vaidic dark substance) को निम्नानुसार वर्गीकृत कर सकते हैं-

- ऐसी छन्द रश्मियां, जो मनस्तत्व किंवा मन एवं वाक् तत्व के मिथुन से सम्यक् प्रकार से प्रेरित नहीं हो पातीं, वे जब प्राण रश्मियों के साथ संयुक्त होती हैं, तब उनसे असुर तत्व की उत्पत्ति होती है।
- ऐसी छन्द रश्मियां जिनका कुछ सार भाग आकाश में रिस गया है, वे जब प्राण रश्मियों के साथ संयुक्त होती हैं, तब भी वे असुर तत्व को उत्पन्न करती हैं।
- ऐसी छन्द रश्मियां जो धाय्या संज्ञक छन्द रश्मि अथवा अनुष्टुप् छन्द रश्मि से रहित होती हैं, वे प्राण रश्मियों के साथ मिलकर असुर तत्व को जन्म देती हैं।
- ऐसी छन्द रश्मियां, जो अव्यवस्थित रूप से विभिन्न प्राण रश्मियों के साथ संयुक्त होती हैं, वे भी असुर तत्व को उत्पन्न करती हैं।
- ऐसी प्राणापान किंवा प्राणोदान रश्मियां, जो मनस्तत्व के साथ सम्यक् संगत नहीं हुए व्यान प्राण के साथ संगत होती हैं, तब वे प्राणापान अथवा प्राणोदान रश्मियां सूक्ष्म असुर रश्मियों को उत्पन्न करती हैं।
- ऐसी प्राण रश्मियां, जो छन्द अथवा मरुत् रश्मियों के साथ संगत नहीं हो पाती हैं, वे भी सूक्ष्म असुर रश्मियों को जन्म देती हैं।

डार्क मैटर के समान पदार्थ

यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि **उपर्युक्त प्रथम चार प्रकार का असुर तत्व कणीय अवस्था को प्राप्त करता है। इन कणों के मध्य आकर्षण बल अत्यल्प मात्रा में होता है। यह वर्तमान विज्ञान के dark matter से मिलता जुलता पदार्थ है।** इनमें छन्द रश्मियां स्वयं दुर्बल बन्धन से युक्त होने के कारण सबल बन्धन युक्त दृश्य पदार्थ (देव पदार्थ) के कणों के प्रति आकर्षण का नगण्य भाव दर्शाती हैं, पुनरपि इनका प्राण रश्मियों के साथ मेल होने से ये सघन रूप प्राप्त करके कणों के रूप में प्रकट अवश्य होती हैं। हमारे मत में इन कणों में ऐसी घनता नहीं होती, जैसी कि दृश्य पदार्थ (देव पदार्थ) के कणों के मध्य होती है। इस कारण ये कण सृष्टि का प्रत्यक्ष अंग नहीं बन पाते। यह पदार्थ दृश्य पदार्थ से आकृष्ट भले ही न हो अथवा नगण्य हो परन्तु इनका परस्पर स्वल्प आकर्षण अवश्य होता है, अन्यथा सम्पूर्ण असुर पदार्थ बिखरकर कुछ भी कार्य सम्पादित नहीं कर पाता। आज डार्क मैटर द्वारा गैलेक्सियों के धारण में सहयोग की बात की जाती है, वह धारण गुण भी उस समय विद्यमान नहीं हो सकता, जब उन कणों में परस्पर आकर्षण बल शून्य होता। ध्यातव्य है कि असुर कणों का दृश्य कणों के साथ भी आकर्षण सर्वथा शून्य नहीं हो सकता। यदि ऐसा हो जाता तब भी उनको धारण करना सम्भव नहीं हो पाता। **इन कणों को detect करना इस कारण कठिन है, क्योंकि इनके कण गुण दुर्बल बन्धन वाली रश्मियों से बने होने से अपेक्षाकृत बहुत कम सघन होते हैं।**

वर्तमान विज्ञान डार्क मैटर के विषय में अभी अनुसंधानरत है। उसे हमारे इस असुर पदार्थ के स्वरूप को समझने से अपने अनुसन्धान में अवश्य सहयोग मिलेगा। सृष्टि के सभी पदार्थ detect हो ही जाएं, यह आवश्यक नहीं है। **विज्ञान को सर्वत्र प्रायोगिक (experimental) बनाने का प्रयास करना तथा उसी सीमा में रहना वास्तविक विज्ञान को संकुचित बनाना है। तर्क, युक्ति आदि के आधार पर भी theoritical physics को पर्याप्त विस्तार दिया जा सकता है।** हाँ, इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि विज्ञान के अनुसंधान से प्रयोग, प्रेक्षण व परीक्षण को ही निकाल देना चाहिए परन्तु इस सीमा से बाहर भी विचार आवश्यक है।

वैदिक विज्ञान में उपरिवर्णित असुर तत्व के प्रथम चार प्रकार का पदार्थ हमने वर्तमान विज्ञान के dark matter के लगभग समकक्ष माना है। वैदिक असुर तत्व (vaidic dark matter) की चार श्रेणी दर्शायी हैं, जबकि वर्तमान विज्ञान के द्वारा परिकल्पित dark matter की श्रेणियों के विषय में अभी कोई मत हमारी जानकारी में नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि वर्तमान विज्ञान Hot Dark Matter नाम से न्यूट्रिनो का ग्रहण करता है तथा शेष डार्क मैटर को CDM नाम देता है। **हमारी दृष्टि में न्यूट्रिनो वैदिक असुर तत्व का भाग नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह संयोज्य शक्ति से रहित नहीं होता।** यद्यपि वह विभिन्न कणों के साथ प्रायः interact नहीं होता परन्तु इलेक्ट्रॉन, म्यूऑन एवं टाउ नामक कणों का उनके अपने-२ न्यूट्रिनो के साथ अति निकट सम्बन्ध होता है। वैदिक असुर तत्व की चार श्रेणी निश्चित ही सर्वथा समान गुण वाली नहीं हो सकतीं। हमारी दृष्टि में प्रथम श्रेणी के रूप में वर्णित असुर तत्व सबसे दुर्बल होता है, क्योंकि वह मन एवं वाक् तत्व से किंचित् भी प्रेरित नहीं होता। हमारी दृष्टि में जब देव पदार्थ एवं असुर पदार्थ का संघर्ष होकर असुर पदार्थ खण्ड-२ होकर आकाश में मिश्रित हो जाता है, उस समय उसका यह दुर्बलतम रूप प्रकट होता है। इसके लिए खण्ड २.७ की प्रथम कण्डिका का व्याख्यान द्रष्टव्य है। हमारी चतुर्थ श्रेणी का असुर तत्व, जिसमें छन्द रश्मियां अव्यवस्थित प्राण रश्मियों के साथ मिलन करती हैं, सर्वाधिक तीक्ष्ण होता है क्योंकि इसमें छन्द रश्मियां अव्यवस्थित प्राण रश्मियों के द्वारा नियन्त्रित नहीं रह पातीं। इस प्रकार के असुर तत्व का देव पदार्थ से अनेकत्र संघर्ष चलता रहता है। शेष दो प्रकार के असुर पदार्थ (क्रमांक २ व ३) दुर्बल होकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त रहते हैं। सम्भव है कि ये अपने द्रव्यमान के कारण विभिन्न लोकों को प्रभावित करके थामने में अपनी भूमिका निभाते हों।

डार्क एनर्जी के समान ऊर्जा

वैदिक असुर तत्व (vaidic dark matter) के पश्चात् अब आसुरी ऊर्जा (vaidic dark energy) की चर्चा करते हैं। असुर पदार्थ के पूर्वोक्त क्रमांक ५ व ६ में वर्णित श्रेणी का पदार्थ आसुरी ऊर्जा का रूप होता है, ऐसा हमारा मत है। इनमें से प्रथम ऊर्जा मन से अनियन्त्रित व्यान से सम्बद्ध प्राणापान व प्राणोदान से निर्मित होती है तथा दूसरी ऊर्जा बिना छन्द रश्मियों के केवल प्राण रश्मियों के रूप में होती है। ये दोनों प्रकार की ऊर्जा अप्रकाशित ऊर्जा का रूप होती है। **वर्तमान विज्ञान जिसे dark energy कहता है, उससे इसकी इतनी साम्यता है कि वैदिक डार्क एनर्जी भी प्रतिकर्षण प्रभाव दर्शाती है।** इसका कारण यह है कि इसमें केवल प्राण रश्मियां ही होती हैं, इनके मिथुन बनाने वाली छन्द रश्मियां विद्यमान नहीं होतीं। वर्तमान विज्ञान dark energy के स्वरूप से अधिकांशतः अपरिचित हैं और न उसे इस बात का ही ज्ञान है कि dark energy का प्रभाव प्रतिकर्षक ही क्यों होता है? हमारा वैदिक विज्ञान इसके विषय में पर्याप्त व स्पष्ट प्रकाश डालता है।

प्रश्न- वैदिक असुर ऊर्जा, जो प्रत्येक संयोग प्रक्रिया में बाधा डालने का प्रयास करती है, का इस सृष्टि रचना में क्या उपयोग है?

उत्तर- असुर ऊर्जा वर्तमान विज्ञान के कथित Big Bang का कारण नहीं होती और न ब्रह्माण्ड के कथित प्रसार के लिए उत्तरदायी होती है। हाँ, यह बड़े-२ लोकों, कॉस्मिक मेघों में विस्फोट वा विभाजन में अपनी भूमिका अवश्य निभाती है। दो सूक्ष्म कणों से लेकर विशाल लोकों तक के मध्य संयोग के समय यह ऊर्जा बाधक बनने का प्रयास करती है परन्तु दृश्य ऊर्जा के प्रहार से इसका प्रयास विफल हो जाता है, पुनरपि कणों वा लोकों के पारस्परिक संघात में भी यह सूक्ष्म ऊर्जा उनके मध्य एक अन्तराल (अवकाश) बनाये रखने में सहायक होती है। यदि ऐसा नहीं होता तो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एक सघनतम संघात को प्राप्त होकर न्यूनतम आयतन को प्राप्त कर लेता।

इस प्रकार **वैदिक डार्क एनर्जी इस सृष्टि रचना के प्रत्येक कर्म में विभाजक, प्रक्षेपक व प्रतिकर्षक प्रभाव के द्वारा सर्वत्र अपनी अनिवार्य भूमिका निभाती है।** जब यह तीक्ष्ण रूप को प्राप्त कर लेती है, तब विस्फोटक एवं बाधक रूप प्राप्त कर लेती है।

प्रश्न– क्या असुर पदार्थ के वैदिक विज्ञान में और भी कुछ रूप वा नाम हैं?

उत्तर– असुर पदार्थ के अन्य भी कुछ नाम वैदिक वाङ्मय में आते हैं। **पाप, राक्षस, भ्रातृव्य** आदि कुछ नाम इस ग्रन्थ में अनेक बार आए हैं। इनके विषय में हमने ग्रन्थ में चर्चा की है, इनके स्वरूप को दर्शाया है। इस कारण हम यहाँ उसका पिष्टपेषण नहीं करना चाहते। ये सभी पदार्थ असुर तत्व के ही रूप हैं।

प्रश्न– आपने देव रश्मियों (छन्द वा प्राण) के द्वारा असुर पदार्थ के बनने की प्रक्रिया दर्शायी है। क्या सम्पूर्ण असुर पदार्थ की इसी प्रकार उत्पत्ति होती है? क्या सभी आसुरी छन्द रश्मियों का निर्माण पूर्वोक्त प्रक्रिया वा किसी विकृति के द्वारा ही होता है किंवा देव पदार्थ (छन्द व प्राण) रश्मियों की भांति आसुरी छन्द रश्मियों का निर्माण भी एक व्यवस्थित प्रक्रिया के द्वारा होता है?

उत्तर– आपका प्रश्न नितान्त उचित व स्वाभाविक है। उचित प्रक्रिया के द्वारा भी आसुरी छन्द रश्मियां उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार असुर तत्व, विशेषकर आसुरी ऊर्जा दोनों प्रकार से उत्पन्न होती है। आसुरी छन्द रश्मियों से उत्पन्न ऊर्जा भी आसुरी ऊर्जा कहलाती है, जिसकी प्रक्रिया देव ऊर्जा (दृश्य ऊर्जा) के निर्माण के समान समझें।

प्रश्न– जिस प्रकार किन्हीं कारणों से उत्पन्न पूर्वोक्त विकृतियों के कारण देव छन्दादि रश्मियां असुर पदार्थ को उत्पन्न करने वाली हो जाती हैं, वैसे क्या इस सृष्टि में कहीं आसुर पदार्थ भी दृश्य (देव) पदार्थ में परिवर्तित होता है?

उत्तर– हाँ, तारों के निर्माण की प्रक्रिया में एक चरण ऐसा भी आता है, जहाँ आसुरी पदार्थ देव पदार्थ में परिवर्तित हो जाता है। इसके लिए खण्ड ५.६ द्रष्टव्य है। ध्यातव्य है कि यह प्रक्रिया कहीं-२ अपवाद रूप में ही होती है, न कि यह एक सामान्य प्रक्रिया है।

विशेष ज्ञातव्य– इस ग्रन्थ में असुर पदार्थ को vaidic dark matter एवं vaidic dark energy के स्थान पर dark matter एवं dark energy ही लिखा गया है। पाठक इससे वर्तमान भौतिक में वर्णित dark matter व dark energy का ग्रहण न करें, यह ध्यान रहे।

विद्युत् का स्वरूप

विद्युत् किंवा आवेश क्या है? यह वर्तमान भौतिकी में स्पष्ट नहीं है। charge के विषय में कहा जाता है–

"A property of some elementary particles that gives rise to an interaction between them." {Oxford dictionary of Physics- P.69}

अर्थात् कुछ मूलकणों के पारस्परिक आकर्षण-प्रतिकर्षण बल का उत्पादक गुण ही आवेश कहलाता है। वर्तमान भौतिक विज्ञान पृथक्-२ स्तरों पर पृथक्-२ प्रकार के charge की कल्पना करता है। वह क्वार्क्स के मध्य कार्यरत charge को flavour charge तथा quarks एवं gluons के मध्य color charge की विद्यमानता की चर्चा करता है। वर्तमान विज्ञान की दृष्टि से mass भी एक प्रकार का charge ही है। ये सभी charge दो वस्तुओं के मध्य interaction का कारण बनते हैं।

उधर विद्युत् की परिभाषा भी वर्तमान विज्ञान में स्पष्ट नहीं है और उसका स्वरूप भी सर्वथा अस्पष्ट है।

अब हम वैदिक भौतिकी की दृष्टि से विद्युत् के विषय में कुछ चर्चा करते हैं। इस विषय में ऋषियों का कथन है-

तपो विद्युत्। (जै.ब्रा.३.३७३)
बलमिति विद्युति। (तै.आ.६.१.२; तै.उ.३.१०.३)
विद्युत् सावित्री। (जै.उ.४.१२.१.६)
वीव वा इदमद्युतदिति। सैषा विद्युदभवत्। (जै.ब्रा.३.३८०)
विद्युद्वा ऽअपां ज्योतिः (श.७.५.२.४६)

इन वचनों से निम्नलिखित आशय प्रकट होता है-

- जिससे क्रियाशीलता व ऊष्मा की उत्पत्ति होती है, उस पदार्थ को विद्युत् कहते हैं। विद्युत् पदार्थ का नाम है और आवेश उसका गुण।
- जिससे बल गुण का उदय होता है, उस पदार्थ को विद्युत् कहते हैं।
- विद्युत् प्रत्येक कण आदि पदार्थ को उत्पन्न व प्रेरित करती है।
- विद्युत् **'वी'** की भाँति द्योतित होने से विद्युत् कहाती है। **महर्षि दयानन्द** ने **'वीव'** शब्द का अर्थ **ऋ. ७.५५.२** के भाष्य में **'पक्षीव'** किया है। इससे संकेत मिलता है कि विद्युदावेशित कणों का व्यवहार पक्षी के समान होता है। जिस प्रकार पक्षी तीव्रता से अकस्मात् उड़ते व संक्षिप्ततम व सरल मार्ग को अपनाते हैं, वही व्यवहार विभिन्न आवेशित कण करते हैं। यहाँ **'वी'** धातु के विभिन्न अर्थों को दृष्टिगत रखकर विद्युत् आवेशित कणों के व्यवहार को समझने का यत्न करते हैं-
  १. **जाना** - इससे गमन-आगमन व्यवहार उपर्युक्तवत् सिद्ध होता है।
  २. **आक्रमण करना** - जिस प्रकार पक्षी किसी अन्य पक्षी पर अकस्मात् तेजी से आक्रमण करता है उसी प्रकार आवेशित कणों में interaction होता है।
  ३. **फैंकना, दौड़ाना** - जैसे पक्षी दूसरे पक्षी को मारकर भगाता है, वैसा ही व्यवहार समान आवेशित कणों में होता है।
  ४. **भक्षण करना** - जिस प्रकार पक्षी अपने भोजन को तत्काल निगल लेता है, उसी प्रकार आवेशित कण अपने संयोज्य लघु कण को अपने में सहसैव अवशोषित कर लेता है।
- विद्युत् **'आपः'** अर्थात् प्राणापानादि रश्मियों की ज्योतिरूप प्रकट होकर भासती है।

विद्युत् के इस स्वरूप पर विचार करें, तो विदित होता है कि इस सृष्टि में विद्युत् पृथक्-२ स्तर पर पृथक्-२ स्तर की होती है। वैदिक विज्ञान महत् तत्त्व से ही आकर्षण आदि गुणों का प्रादुर्भाव मानता है, इसी कारण इसे ही कारण विद्युत्, जो सूक्ष्मतम रूप में होती है, कहा जाता है, उसके पश्चात् प्राण व अपान, प्राण व मरुत्, प्राण व छन्द आदि के मिथुन बनने से कार्य विद्युत् की उत्पत्ति होती है। वर्तमान विज्ञान का किसी भी प्रकार का interaction इन युग्मों से सूक्ष्म किंवा इनके समकक्ष पदार्थों को नहीं मिला सकता। हाँ, जिसे वह field कहता है और उसके field particles को vacuum energy से उत्पन्न होने की कल्पना करता है, वह vacuum energy अवश्य इन पदार्थों का ही सम्मिश्र रूप है। इन मिथुनों से ही इस सृष्टि में आकर्षण-प्रतिकर्षण, धारण-क्षेपण आदि क्रियाओं में वृद्धि होती है। वर्तमान विज्ञान के विभिन्न स्तरों के charge वस्तुतः प्राण व मरुद् वा छन्द रश्मियों के

विभिन्न स्तरों के मेल के कारण ही उत्पन्न वा प्रतीत होते हैं। इन सबके मेल में मूल कारण प्राण व वाक् अर्थात् विभिन्न प्राण रश्मियों का **'ओम्'** छन्द रश्मि से हुआ मिथुन ही है। मूल बल यह **'ओम्'** छन्द रश्मि का ही होता है और यह रश्मि ईश्वर द्वारा प्रेरित व निर्मित होती तथा सतत उससे सम्बन्ध बनाए रखती है। यह सम्बन्ध विच्छेद कभी नहीं हो सकता। जब यह सम्बन्ध विच्छेद हो जायेगा, तब **'ओम्'** रश्मि समाप्त होकर सभी रश्मियां पुनः सभी मूलकण और क्रमशः सम्पूर्ण लोक नष्ट होकर मूल उपादान कारण पदार्थ प्रकृति में परिवर्तित हो जायेंगे। इसलिए विद्युत् की मूल उत्पत्ति ईश्वर तत्व किंवा तदुत्पन्न व तत्प्रेरित **'ओम्'** रश्मि से ही होती है।

पाठकगण! विद्युत् के विषय में कुछ विवेचन अग्नि महाभूत प्रकरण में पढ़ चुके हैं।

ऊर्जा का स्वरूप

वर्तमान वैज्ञानिक जगत् ऊर्जा का भरपूर उपभोग करता है परन्तु वह इसके स्वरूप के विषय में प्रायः अनभिज्ञ है। इस विषय में हम वर्तमान विज्ञान का मत रिचर्ड पी. फाइनमैन के शब्दों में हम **'अग्नि'** महाभूत विषय में उद्धृत कर चुके हैं। ऊर्जा के अनेक रूपों को वर्तमान विज्ञान स्वीकार करता है, यथा- स्थितिज ऊर्जा, गतिज ऊर्जा, विद्युत् चुम्बकीय ऊर्जा, डार्क एनर्जी, वैक्यूम एनर्जी, ध्वनि, ऊष्मा आदि। ये ऊर्जाएं विभिन्न परिस्थितियों में एक-दूसरे में परिवर्तित होती रहती हैं। इस परिवर्तन का क्रियाविज्ञान (mechanism) क्या है, इसे वर्तमान विज्ञान स्पष्ट रूप से नहीं जानता। इस परिवर्तन का कारण क्या है, यह भी विज्ञान नहीं जानता। वस्तुतः जब तक ऊर्जा के स्वरूप व संरचना के विषय में स्पष्ट ज्ञान नहीं होगा, तब तक उसके mechanism को जानना असम्भव है।

ऊर्जा का वैदिक स्वरूप

आइये, हम सर्वप्रथम **'ऊर्जा'** शब्द पर विचार करते हैं। यह शब्द **'ऊर्ज बलप्राणनयोः'** धातु से निष्पन्न होता है। इससे **बल एवं प्राण से युक्त पदार्थ ही ऊर्जा कहलाता है।** अब बल के विषय में ऋषियों के कथन पर विचार करते हैं-

१. बलं कस्मात् बलं भरं भवति विभर्तेः (नि.३.९)
२. बलं वा द्रविणं यदेनेनाभिद्रवन्ति (नि.८.२)
३. आत्मा वै बलम् (काठ.संक.७२.५ - ब्रा.उ.को. से उद्धृत)
४. बलं विश्वेदेवाः। (मै.४.७.८)

इन वचनों का आशय है-

१. बल वह गुण है, जो किसी पदार्थ का धारण व पोषण करता है।
२. बल के कारण पदार्थ उसकी ओर गतिशील होते हैं, विशेषकर आकर्षण बल के कारण।
३. बल किसी पदार्थ के अन्दर आत्मारूप होकर विचरता है।
४. सभी देव अर्थात् प्राण व छन्दादि रश्मियां बलरूप होती हैं। इनके भी मूल में चेतन परमात्मा व आत्मा ही बलरूप होते हैं।

इस प्रकार ऊर्जा वह पदार्थ है, जिसके कारण विभिन्न पदार्थ धारण किये जाते वा गति करते हैं। इसके साथ ही ऊर्जा के ही कारण पदार्थों का अस्तित्व बना वा सार्थक रहता है। यह ऊर्जा मूलतः चेतन तत्व (ईश्वर अथवा जीवात्मा) के द्वारा प्रकृतिरूपी जड़ पदार्थ में उत्पन्न होती है। जड़ जगत् में यह **'ओम्'** रश्मि व मनस्तत्व के रूप में प्रकट होती है। उसके पश्चात् प्राण व छन्द वा मरुदादि रश्मियों के रूप में वैदिक स्वरूप वाली ऊर्जा उत्पन्न होती है। इस ऊर्जा की तुलना वर्तमान भौतिकी द्वारा ज्ञात

वा प्रयुक्त ऊर्जाओं से करना सम्भव नहीं। इनके विषय में हम पूर्व में लिख चुके हैं। प्राण और मरुद् वा छन्द रश्मियों का मिथुन ही वर्तमान विज्ञान द्वारा जानी गई ऊर्जाओं की उत्पत्ति का कारण है।

अब हम वर्तमान विज्ञान द्वारा जानी गयी ऊर्जाओं के विषय में क्रमशः वैदिक दृष्टिकोण से विचार करते हैं-

(१) Vacuum Energy - वर्तमान विज्ञान इसी के अन्दर विभिन्न field particles की उत्पत्ति की बात को स्वीकारता है। ये particles इसी से ही उत्पन्न होते हैं, ऐसा भी माना जाता है परन्तु यह एनर्जी स्वयं किस रूप में किससे निर्मित होती है तथा इससे field particles कैसे निर्मित होते हैं, यह वर्तमान विज्ञान को ज्ञात नहीं है। हमारी दृष्टि में सम्पूर्ण space में सूत्रात्मा वायु एवं विभिन्न प्रकार की प्राण, मरुत् व छन्द रश्मियों का मिश्रण भरा रहता है, जिनकी उत्पत्ति व स्वरूप को पूर्व में वर्णित कर चुके हैं। रश्मियों का यह मिश्रण ही vacuum energy का रूप है। दो संयोजनीय पदार्थों के निकट आने पर उनके मध्य स्थित vacuum energy से कैसे field particles उत्पन्न होते हैं, यह विज्ञान इस ग्रन्थ में अनेकत्र वर्णित है। इस विषय में बल के स्वरूप प्रकरण में किसी पृथक् ग्रन्थ में विस्तार से लिखने का प्रयास करेंगे। यहाँ इतना लिखना ही पर्याप्त है कि दोनों पदार्थों से उत्सर्जित प्राण विशेषकर धनंजय व मरुद् रश्मियां vacuum energy के रूप में विद्यमान प्राण व मरुत् व गायत्र्यादि छन्द रश्मियों के मेल से field particles को उत्पन्न करती हैं। वे particles काल्पनिक (virtual) नहीं होते परन्तु इनकी आयु अत्यल्प होती है। ध्यातव्य है कि प्राण व मरुत् एवं प्राण व छन्द के मिथुन ही बल व ऊर्जा का रूप होते हैं, एकाकी कोई रश्मियां vacuum energy का रूप नहीं हो सकतीं। यह energy सम्पूर्ण space को एकरस रूप में भरे रहती है। इसे vacuum energy इस कारण कहा जाता है क्योंकि यह ब्रह्माण्ड में सम्पूर्ण vacuum अर्थात् रिक्त स्थान को भरे रहती है। सामान्य रूप से इसमें कोई fluctuation नहीं होता परन्तु जैसे ही दो कणों वा पिण्डों के मध्य आकर्षण व प्रतिकर्षण बलों को उत्पन्न करना होता है अर्थात् जैसे ही वे दो पदार्थ परस्पर निकट आते हैं, वैसे ही उनके मध्य विद्यमान vacuum energy में fluctuation होने लगता है। यह fluctuation न होवे, तो आकर्षण व प्रतिकर्षण बल और field particles उत्पन्न ही न हों। इस fluctuation में मूलरूप से चेतन तत्त्व ईश्वर की भूमिका होती है। उसकी प्रेरणा बिना ऐसा होना सम्भव नहीं है।

(२) Dark Energy - इसके विषय में हम पूर्व में असुर ऊर्जा विषय में लिख चुके हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि ब्रह्माण्ड के प्रसार व महाविस्फोट से सृष्टि का प्रारम्भ करने वाली कोई dark energy इस ब्रह्माण्ड में न तो कभी विद्यमान थी और न अब ही है। वैदिक डार्क एनर्जी की संरचना, स्वरूप एवं उसके गुणधर्म का विवेचन हम पूर्व में कर चुके हैं।

(३) स्थितिज ऊर्जा - हम इस बात से अवगत हैं कि प्रत्येक कण वा पिण्ड विभिन्न छन्द, मरुत् व प्राण रश्मियों के मेल से उत्पन्न होता तथा उसी स्वरूप में वह विद्यमान होता है, भले ही वह गतिशील हो वा स्थिर हो। उसमें ये रश्मियां संघात रूप में विद्यमान होती ही हैं। इनके अभाव में उस कण, क्वाण्टा वा पिण्ड का कोई अस्तित्व नहीं है। उस कण वा पिण्ड को सूत्रात्मा वायु व बृहती छन्द रश्मियां सब ओर से आवृत्त किए रहती हैं किंवा ये रश्मियां ही प्राण व छन्दादि रश्मियों को संघनित करके उस कण वा पिण्ड को उत्पन्न करने के लिए उत्तरदायी होती हैं। कोई भी कण वा पिण्ड सदैव उस स्थिति में रहना चाहता है, जिसमें रश्मियों के मध्य न्यूनतम interaction वा तनाव होवे। विराम अवस्था में किसी कण वा पिण्ड के परितः प्राण व अपान रश्मियों की भी विद्यमानता होती है, जिनमें से अपान रश्मियां उसके अन्दर की ओर एवं प्राण रश्मियां बाहर की ओर स्पन्दित होती रहती हैं। जब उस कण वा पिण्ड पर कोई बाहरी बल लगाया जाता है, उस समय बल लगाने वाला कारक उस पिण्ड में ऊर्जा का संचरण करता है। यह ऊर्जा उस कण वा पिण्ड में संचित होकर उनमें विद्यमान प्राण व छन्दादि रश्मियों के विन्यास को प्रभावित व परिवर्तित करती है। जब हम किसी स्प्रिंग को खींचते वा दबाते हैं अथवा किसी पत्थर को हाथ से ऊपर उठाते हैं, उस समय स्प्रिंग वा पत्थर के अन्दर विद्यमान प्राण व छन्द रश्मियों का विन्यास प्रभावित वा परिवर्तित हो जाता है। जब हम स्प्रिंग को छोड़ देते हैं, तब उसके अन्दर विद्यमान प्राण वा छन्दादि रश्मियों का विन्यास पुनः अपने पूर्व रूप को प्राप्त करने का

प्रयास करता है। इस प्रक्रिया के चलते स्प्रिंग में कम्पन होने लगता है। उधर जब हम पत्थर को हाथ से नीचे गिराते हैं तब पृथिवी का गुरुत्वाकर्षण बल उसे नीचे की ओर आकृष्ट करने लगता है अर्थात् उस पिण्ड पर वह बल कार्य करने लगता है। इससे उस पिण्ड के अन्दर व बाहर का रश्मि विन्यास फिर प्रभावित व परिवर्तित होने लगता है। इसे उसकी स्थितिज ऊर्जा गतिज ऊर्जा में परिवर्तित होने लगती है। इस विषय में परिशिष्ट (१) में चित्र (२) द्वारा समझने का प्रयास करें।

(४) गतिज ऊर्जा - उपर्युक्तानुसार जब पत्थर को हम नीचे गिराते हैं अथवा किसी पत्थर को हम फैंकते हैं, उस समय उस पत्थर पर पृथिवी का गुरुत्वाकर्षण बल अथवा हमारा प्रक्षेपक बल कार्य करता है। इससे उस पत्थर में विद्यमान विभिन्न छन्द व प्राणादि रश्मियों का विन्यास परिवर्तित होने लगता है। हमारी दृष्टि में इन दोनों परिस्थितियों में निम्न क्रमानुसार प्रभाव होता है-

(अ) जब पत्थर नीचे की ओर गिरता है, तब पृथिवी के द्रव्यमान व गुरुत्वाकर्षण बल के रूप में विद्यमान प्राण रश्मियां व त्रिष्टुप् छन्दादि रश्मियां पत्थर में विद्यमान अपान रश्मियों को अपनी ओर आकृष्ट करने लगती हैं। इससे जो अपान रश्मियां पत्थर के अन्दर की ओर जाती हुई स्पन्दित हो रही थीं, वे गुरुत्व बल की ओर उन्मुख होती हुई स्पन्दित होने लगती हैं। अपान रश्मियां क्रिया प्रधान होने से वह पत्थर पृथिवी की ओर गति करने लगता है। जैसे-२ वह पत्थर पृथिवी के निकट आता जाता है, वैसे-२ पृथिवी के प्राण व त्रिष्टुप् रश्मियों का पत्थर की अपान रश्मियों के प्रति आकर्षण का गुण बढ़ता जाता है, यही कारण है कि पृथिवी का गुरुत्वाकर्षण बल उस पत्थर में त्वरण उत्पन्न करता है, न कि वह पत्थर समान गति से गिरता है। वर्तमान विज्ञान इस mechanism को नहीं समझ पाया।

(ब) जब हम उस पत्थर को किसी दिशा में फैंकते हैं, तब हमारे हाथ का प्रक्षेपक बल उस पत्थर के बाहर एवं अन्दर विद्यमान रश्मि विन्यास को प्रभावित व परिवर्तित करने लगता है। हमारे प्रक्षेपक बल में अपान रश्मियों की प्रधानता होती है। इससे उस पत्थर का विन्यास इस प्रकार हो जाता है कि पत्थर के अन्दर की ओर स्पन्दित होती हुई अपान रश्मियां प्रक्षेपक बल की दिशा में स्पन्दित होने लगती हैं। इस कारण वह पत्थर उस दिशा में गतिशील हो उठता है। उसके गतिशील रहते हुए पृथिवी के द्रव्यमान व गुरुत्वाकर्षण बल की प्राण व त्रिष्टुप् आदि रश्मियां पूर्वोक्तानुसार अपना प्रभाव दिखलाने लगती हैं, जिससे वह पत्थर वर्तुलाकार (parabolic) मार्ग का अनुसरण करता हुआ अन्ततः नीचे गिर जाता है। इसके लिए परिशिष्ट (१) में चित्र (३) को समझने का प्रयास करें।

प्रश्न- जब पत्थर नीचे गिरता है, तब पृथिवी से टकराने अथवा किसी दीवार पर पत्थर मारने से ऊष्मा, प्रकाश व ध्वनि की भी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार पत्थर की गतिज ऊर्जा ऊष्मा, प्रकाश व ध्वनि ऊर्जा में कैसे परिवर्तित होती है? स्थितिज ऊर्जा के गतिज ऊर्जा में परिवर्तन का mechanism तो आपने ऊपर बताया, इसी प्रकार ध्वनि आदि में इस परिवर्तन का mechanism क्या है?

उत्तर- आइये, इसे इस प्रकार समझें। जब पत्थर किसी वस्तु से टकराता है, तब उस वस्तु के चारों ओर विद्यमान रश्मियों की पत्थर के चारों ओर विद्यमान वस्तु से टक्कर होती है, विशेषकर उस पत्थर के बाहरी भागस्थ क्रियाशील अपान रश्मियां उस वस्तु की रश्मियों से अधिक उलझकर दोनों ही वस्तुओं की सभी रश्मियों को क्षुब्ध कर देती हैं। इस विक्षोभ व संघर्षण में कुछ रश्मियां संघनित होकर फोटोन का रूप धारण करके प्रकाश के रूप में दिखाई देती हैं। कुछ रश्मियां दोनों वस्तुओं के अणुओं को कम्पित करके उन्हें ताप प्रदान करती हैं तो कुछ छन्द रश्मियां परस्पर उलझकर ऐसी वैखरी ध्वनि का रूप धारण करती हैं, जो तीव्र ध्वनि के रूप में सुनाई देती हैं। इस संघर्षण में दोनों ही वस्तुओं के अन्दर रश्मियों का विन्यास व सूत्रात्मा प्राण व बृहती रश्मियों का आवरण विकृत हो जाता है, जिससे वे वस्तुएं टूटी हुई वा विकृत दिखाई देती हैं वा दे सकती हैं।

प्रश्न- हम किसी पत्थर की अपेक्षा किसी कम घनत्व की वस्तु को कम वेग से ही क्यों फैंक पाते हैं, भले ही हम बल समान लगायें?

उत्तर- जैसा कि हम स्पष्ट कर चुके हैं कि किसी पिण्ड को फैंकने पर उस पिण्ड के अन्दर व बाहर विद्यमान प्राण व छन्दादि रश्मियों का विन्यास परिवर्तित हो जाता है। इस परिवर्तन में अपान रश्मियों की दिशा प्रक्षेपक बल की दिशा में होने से उसकी गति उसी दिशा में होती है। जब पिण्ड अधिक सघन होता है, तब उसमें अपान रश्मियों की मात्रा अधिक होने तथा उनके द्वारा प्राण नामक प्राण रश्मियों तथा उनकी अनुचरी छन्द वा मरुद् रश्मियों के भी उन्हीं की ओर उन्मुख होने के कारण सघनतर पिण्ड अधिक वेग से गति करता है। इसके विपरीत जब पिण्ड हल्का होता है, उसमें प्राण तथा छन्दादि रश्मियों की मात्रा व घनत्व कम होते है, परन्तु आकाश किंवा हवा में विद्यमान अवरोधक रश्मियां उतनी ही मात्रा में विद्यमान होती हैं, जितनी मात्रा में पूर्वोक्त अधिक सघन पिण्ड के सम्मुख विद्यमान होती हैं। इस कारण अवरोधक बल तो दोनों पिण्डों पर समान लगता है परन्तु हमारे हाथ द्वारा प्रक्षेपण बल से स्थानान्तरित ऊर्जा की मात्रा न्यून ही हो पाती है। वस्तुतः कम मात्रा में विद्यमान रश्मियां प्रक्षेपक अपान रश्मियों को कम मात्रा में ही संचित कर पाती हैं तथा अपान रश्मियां उस पिण्ड में भी कम मात्रा में होने से वेग की मात्रा सघनतर पिण्ड की अपेक्षा न्यूनतर होती है। इसी प्रकार इस हल्के पिण्ड की टक्कर से ऊष्मा, ध्वनि व प्रभाव की मात्रा भी अपेक्षाकृत न्यून ही होती है।

(५) **ध्वनि ऊर्जा** – **''संसार में भाषा एवं ज्ञान विज्ञान की उत्पत्ति''** नामक अध्याय में वाणी के अनेक रूपों तथा चार स्तरों के विषय में विस्तार से लिख चुके हैं। वर्तमान विज्ञान वाणी के वैखरी रूप को ही ध्वनि ऊर्जा नाम देता है। कोई भी ध्वनि परा, पश्यन्ती और मध्यमा के स्तर से गुजरती हुई वैखरी अवस्था को प्राप्त करती है। हम यहाँ वैखरी की ही संक्षिप्त चर्चा करते हैं। वर्तमान विज्ञान ध्वनि को किसी पदार्थ में दबाव के रूप में ही मानता है। जो पदार्थ जितना सघन होता है, उसमें ध्वनि उतनी ही अधिक गति से प्रवाहित होती है। यह बात उचित है परन्तु वर्तमान विज्ञान को ज्ञात नहीं कि किसी पदार्थ में दबाव अथवा fluctuation को उत्पन्न करने वाला पदार्थ क्या है? दो पिण्डों की टक्कर से ध्वनि कैसे उत्पन्न होती है, यह हम लिख चुके हैं। यहाँ हम विचार करते हैं कि जब हम बोलते हैं, तब वायुमण्डल में दबाव कैसे उत्पन्न होता है? वैदिक विज्ञान की मान्यता है कि हमारा स्वरयन्त्र मध्यमा छन्द रश्मियों को वैखरी में परिवर्तित करके बाहर उत्सर्जित करता है। वे छन्द रश्मियां वायुमण्डल अथवा किसी अन्य पदार्थ रूपी माध्यम में विद्यमान विभिन्न छन्द रश्मियों के साथ संयुक्त होकर वायुमण्डल में दबाव को उत्पन्न करती हैं। इसी दबाव की गति को वर्तमान विज्ञान ध्वनि तरंग कहता है। जब पदार्थ सघन होगा, तब उसमें छन्द रश्मियों की सघनता के कारण दबाव क्षेत्र अधिक बनेंगे, जिससे उनकी गति अधिक प्रतीत होगी अर्थात् ध्वनि तरंग की गति अधिक होगी। जब vacuum होगा, तब उसमें छन्द रश्मियां vacuum में स्थित विरलावस्था में विद्यमान प्राण व छन्दादि रश्मियों में वह दबाव किंवा fluctuation उत्पन्न नहीं कर सकतीं, जो हमें कान द्वारा सुनाई दे सके। इसका कारण यह है कि हमारे कान रश्मियों के fluctuation को ग्रहण नहीं कर पाते हैं, जबकि अणुओं के fluctuation का अनुभव करने में समर्थ होते हैं। इससे हमें यह भ्रम होता है कि ध्वनि के लिए किसी पदार्थ रूपी माध्यम का होना अनिवार्य है। वस्तुतः यह हमारे कान के सुनने की क्षमता की एक सीमा के कारण होता है, यथार्थ में ऐसा नहीं है।

पाठकगण! शेष ऊर्जा यथा- विद्युत् ऊर्जा एवं विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के विषय में अग्नि महाभूत के विषय में पढ़ सकते हैं।

प्रश्न- जब सभी ऊर्जाओं का मूल शक्तिदाता ईश्वर है, तब क्यों न ईश्वर को ऊर्जा ही मान लें?

उत्तर- यदि आपको **'ऊर्जा'** शब्द से इतना अधिक प्रेम है, तो मान सकते हैं कि ईश्वर भी एक प्रकार की ऊर्जा है परन्तु हम पूछते हैं कि क्या ऊर्जा में बुद्धि विवेक भी होता है? क्या ऊर्जा को स्वयं कुछ करने की समझ व करने का प्रयोजन ज्ञात होता है? क्या ऊर्जा में किसी काम को करने की इच्छा व स्वतंत्रता होती है वा हो सकती है? इन प्रश्नों के उत्तर में आप यही कहेंगे कि ब्रह्माण्ड की किसी भी ऊर्जा में ये गुण नहीं है, जबकि इन गुणों के अभाव में इस सृष्टि का तो क्या, एक साधारण पिण्ड का भी निर्माण नहीं हो सकता। यदि हम शरीर की एक कोशिका, एक एटम, क्वार्क, फोटोन आदि किसी

की संरचना पर विचार करें, तो हमें उसमें अप्रतिम बुद्धि का चमत्कार दिखाई देता है। यह अप्रतिम बुद्धि वाला सर्वोच्च तत्व ही ईश्वर कहलाता है। इस विषय में पाठक **"ईश्वर तत्व की मीमांसा"** नामक अध्याय में विस्तार से पढ़ चुके हैं। ऊर्जा ही ईश्वर है, यह कहना नितान्त अज्ञानता है, हाँ, इसे इस रूप में कहें कि ईश्वर ही हर ऊर्जा का मूल प्रेरक वा स्रोत है, तब उचित है। यदि ईश्वर को ऊर्जा कहने का ही हठ हो, तो मान लें परन्तु वह चेतन ऊर्जा है, इसी प्रकार जीवात्मा भी चेतन ऊर्जा है। इस ऊर्जा में न कोई तरंगदैर्ध्य है, न कोई आवृत्ति और न आयाम। ईश्वरीय ऊर्जा सर्वत्र सर्वथा व निरपेक्ष रूप से एकरस भरी है। वही सभी द्रव्य, ऊर्जा, आकाश, प्राण व छन्दादि रश्मियों, मन व **'ओम्'** रश्मियों, काल तत्व व मूल प्रकृति की आधार व नियन्त्रक है। वह स्वाभाविक ज्ञान, बल, क्रिया, इच्छा से सर्वथा परिपूर्ण है। वह पूर्ण, सर्वव्यापक, शाश्वत, सर्वशक्तिशाली है। सबका नियन्त्रक होने से ही उसका नाम ईश्वर है। मैं अपने सुधी पाठकों को परामर्श यही दूंगा कि ईश्वर को ऊर्जा नाम न दें, तभी उचित होगा, भले ही उसे चेतन ऊर्जा ही क्यों न कहें। इससे वर्तमान वैज्ञानिक सोच वाले भ्रमित हो सकते हैं। उच्च विवेकशील पाठक यदि ऐसा कहते हैं, तो दोष नहीं परन्तु पहले ईश्वर के स्वरूप को भलीभांति समझकर मस्तिष्क में बिठा लेवें, अन्यथा नास्तिकता का भाव उत्पन्न हो सकता है।

इन्द्र

पौराणिक प्रचलित कथाओं में इन्द्र को यों तो देवराज कहा जाता है परन्तु उसे लम्पट व कामी के रूप में प्रचारित किया जाता है। वस्तुतः वैदिक वाङ्मय तथा भारतीय इतिहास में **'इन्द्र'** पद तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है-

१. सृष्टि रचयिता ईश्वर तत्व

२. ऐतिहासिक देवराज इन्द्र, जो महान् पराक्रमी, जितेन्द्रिय व धर्मात्मा पुरुष थे।

३. आधिदैविक पदार्थ इन्द्र।

यहाँ हम केवल आधिदैविक इन्द्र पदार्थ की चर्चा करते हैं। इसके विषय में ऋषियों का कथन है-

१. अग्निहोत्रेणदर्शपूर्णमासाभ्यामिन्द्रमसृजत। (कौ.ब्रा.६.१५)
२. अथ यत्र (अग्निः) वर्षिष्ठं ज्वलति तद्धेन्द्रो भवति। (काश.३.१.१.१ - ब्रा.उ.को. से उद्धृत)
३. अयं वाऽइन्द्रो योऽयं (वातः) पवते (श.१४.२.२.६)
४. इन्द्रस्यैवैतच्छन्दो यत् त्रिष्टुप्। (शां.आ.१.२)
५. इन्द्रो बलं बलपतिः। (श.११.४.३.१२; तै.ब्रा.२.५.७.४)
६. इन्द्रो वै देवानामधिराजः। (मै.२.२.११)
७. इन्द्रो देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः। (कौ.ब्रा.६.१४; ऐ.७.१६)
८. इन्द्रो वै मरुतः सान्तपनाः। (गो.उ.१.२३)
९. ऋक्सामे वा इन्द्रस्य हरी। (मै.३.१०.६; ऐ.२.१४)
१०. प्राणापानौ वा अस्य (इन्द्रस्य) हरी तौ हीदं सर्वं हर्तारौ हरतः। (जै.ब्रा.२.७६)
११. क्षत्रं वा इन्द्रः (मै.१.१०.१३; श.२.५.२.२७; क.४६.३)
१२. इन्द्रः इरां दृणातीति वा। इरां ददातीति वा। इरां दधातीति वा। इरां दारयते, इति वा। इरां धारयते, इति वा। इन्दवे द्रवतीति वा। इन्दौ रमते, इति वा। इन्धे भूतानीति वा। (नि.१०.८)
१३. मरुत्वान् वा इन्द्रः। (जै.ब्रा.१.११६)
१४. वाग् इन्द्रः (श.८.७.२.६), प्राण एवेन्द्रः (श.१२.६.१.१४)

इन बिन्दुओं पर विचार करने पर निम्नानुसार निष्कर्ष प्राप्त होता है-

१. दर्शपूर्णमास तथा अग्निहोत्र के मेल से इन्द्र तत्व उत्पन्न होता है। दर्शपूर्णमास के विषय में एक ऋषि का मत है- **"मन एव पूर्णमा.....वागेव दर्शः" (श.११.२.४.७)** उधर अग्निहोत्र के विषय में कहा है- **"अग्निहोत्रं दशहोता" (काठ.९.१३; मै.१.९.५)** इसका आशय है कि मनस्तत्व एवं **'ओम्'** रश्मि रूप वाक् प्राणापानादि दस प्राण रश्मियों **{प्राणो वै दशहोता (मै.१.९.५)}** के साथ मिलकर

इन्द्रतत्व को बनाते हैं। वस्तुतः विद्युत् का तीक्ष्ण रूप ही इन्द्र कहलाता है। **महर्षि दयानन्द** ने **ऋग्वेद भाष्य १.८७.५** में **'इन्द्रम्'** पद का अर्थ 'विद्युदाख्यमग्निम्' किया है, तो **ऋग्वेद भाष्य १.७.१** में **'महाबलवन्तं वायुम्'** अर्थ किया है। इससे संकेत मिलता है **कि ऐसी विद्युत्, जिसमें वायु अर्थात् प्राण रश्मियों की प्रचुरता हो, इन्द्र कहलाती है।** यह इसका मूलरूप है।
२. जब विद्युत् अत्यन्त विशाल स्तर पर जलने लगती है, उस स्वरूप को इन्द्र कहते हैं।
३. इन्द्र तत्व निरन्तर प्रवहमान वायु अर्थात् प्राण व छन्दादि रश्मियों के रूप में वर्तमान होता है।
४. इसमें त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों की प्रधानता होती है।
५. यह तत्व अत्यन्त बलवान् होता है तथा अन्य पदार्थों के बलों का रक्षक तथा पालक होता है।
६. यह अन्य सभी प्रकाशित पदार्थों के ऊपर शासन करता है।
७. यह सभी पदार्थों में सर्वाधिक ओज व बल से युक्त होता है।
८. विभिन्न सन्तप्त मरुत् रश्मियां ही इन्द्रस्वरूप होती हैं।
९. ऋक् व साम रश्मियां इन्द्र तत्व की दो हरणशील रस्सियां हैं।
१०. प्राण व अपान रश्मियां इन्द्र तत्व की दो हरणशील रस्सियां हैं।
११. इन्द्र तत्व क्षत्र रूप अर्थात् तीव्र भेदक शक्तिसम्पन्न होता है।
१२. **{इरा = इरा अन्ननाम (निघं.२.७), इरा = इलेति मे मतम्। इला = पशव इला (जै.ब्रा.१.३००,३०७), अयं वै (पृथिवी) लोक इला (जै.ब्रा.१.३०७)}** इन्द्र नामक तीक्ष्ण विद्युत् संयोज्य कणों वा छन्दादि रश्मियों को फाड़ती अर्थात् विखण्डित करती, उन्हें धारण करती तथा सोम अर्थात् सूक्ष्म मरुद् रश्मियों में रमण करती, उनकी ओर उन्मुख होकर दौड़ती है। इसके साथ विभिन्न पदार्थों को जलाती वा प्रकाशित करती है।
१३. इन्द्र नामक विद्युत् में अनेक प्रकार की मरुद् रश्मियां विद्यमान होती हैं।
१४. यह विद्युत् विभिन्न छन्द एवं प्राण रश्मियों के मिथुनों से निर्मित होती तथा उनसे समृद्ध होती है।

सारांशतः विभिन्न विद्युदावेशित किरणें वा विद्युत् चुम्बकीय तरंगें, जब अति तीव्र ऊर्जा से सम्पन्न होकर देदीप्यमान होती हुई विभिन्न एटम्स, मॉलीक्यूल्स आदि कणों तथा बड़े-२ मेघ समूहों, लोकों तक को तोड़ने तक की क्षमता से युक्त होती हैं, तब ऐसी ही तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें इन्द्र कहलाती हैं। ये रश्मियां वैदिक डार्क एनर्जी के तीक्ष्ण व अवांछित प्रहार को नष्ट करतीं तथा कॉस्मिक मेघों को विखण्डित करती हैं। सूर्यादि लोकों के अन्दर ऐसी तीक्ष्ण तरंगों का भण्डार होता है, इस कारण इन देदीप्यमान लोकों को भी इन्द्र कहते हैं। इस विषय में और अधिक जानकारी इस ग्रन्थ को पढ़ने से हो सकेगी।

सोम

इसके विषय में ऋषियों का कथन है-

१. पशवो वै सोम। (तै.सं.६.१.९.७)
२. मिथुनं वा अग्निश्च सोमश्च, सोमो रेतोधा अग्नि प्रजनयिता (काठ.८.१०; क.७.६)
३. प्राणः सोमः (श.७.३.१.२)
४. योऽयं वायुः पवत ऽ एष सोम। (श.७.३.१.१)
५. सोमो रात्रिः (श.३.४.४.१५)
६. इनके अतिरिक्त वेद में भी कहा है- **"सोमः अन्तरिक्षं दाधार" (ऋ.६.४७.४)**

इन वचनों का निष्कर्ष निम्नानुसार प्राप्त होता है-

१. विभिन्न मरुद् रश्मियां ही सोम कहाती हैं।

२. मरुत् रूप सोम रश्मियां विभिन्न प्राण वा विद्युत् चुम्बकीय तरंगों रूपी अग्नि के साथ युग्म बनाती हैं, जिनमें सोम वृषारूप तथा दूसरा पदार्थ (अग्नि) योषा रूप व्यवहार करता है।
३. मरुत् रूप सोम रश्मियां प्राणवत् व्यवहार भी करती हैं।
४. विभिन्न सूक्ष्म छन्द व मरुत् रश्मियां सोम का ही रूप हैं।
५. सोम रूप रश्मियां अप्रकाशित अवस्था में होती हैं।
६. सोम रश्मियां आकाश तत्व को धारण वा आकर्षित करती हैं।

इसके अतिरिक्त अपने वेदभाष्य में **महर्षि दयानन्द** ने **'सोम'** शब्द के निम्नानुसार अर्थ किए हैं-

१. उत्पन्न पदार्थसमूहः (तु.म.द.ऋ.भा.१.२१.१)
२. कारणाख्यो वायुः (म.द.ऋ.भा.१.६३.५)
३. मरुत् (म.द.ऋ.भा.६.७२.३)
४. शान्तगुणयुक्तः (म.द.ऋ.भा.३.३३.१२)
५. विद्युत् (म.द.ऋ.भा.६.७२.२)
६. सर्वोत्पादकः (म.द.ऋ.भा.१.६१.४)

इन वचनों से प्रमाणित होता है कि मरुद् रश्मियों की प्रधानता वाली सोम रश्मियां प्राण नामक प्राण रश्मियों से भी युक्त होती हैं। इन रश्मियों में शान्तगुणयुक्त विद्युत् विद्यमान रहती हैं, जिसे अति सूक्ष्म विद्युत् कह सकते हैं। सोम रश्मियां ऐसे सूक्ष्म रूप में होती हैं, जिन्हें वायु का कारणरूप कहा गया है। इससे सिद्ध है कि इसमें बड़ी छन्द रश्मियां विद्यमान नहीं होती। सोम रश्मियों में ऊष्मा की मात्रा नहीं होती। इन्द्र रूपी तीक्ष्ण विद्युत् चुम्बकीय तरंगें अथवा विद्युदावेशित तरंगें इन्हीं सोम रश्मियों का निरन्तर भक्षण करती हैं, इसे ही इन्द्र का सोमपान कहा जाता है। देवराज इन्द्र सोमरस पीकर मादकता में मस्त रहता है, ऐसी मिथ्या कथाओं के प्रचारकों को वेदविद्या का कुछ भी भान नहीं। शोक है कि ऐसे ही नादान कथित विद्वानों की आज इस देश व विश्व में महिमा हो रही है। यहाँ एक बात उल्लेखनीय है कि जो विद्वान् ऐतरेय ब्राह्मण का मुख्य प्रतिपाद्य विषय सोमयाग मानते हैं, वे यह बात अच्छी प्रकार विचार लें कि ब्राह्मण ग्रन्थों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय सृष्टि विज्ञान है और सोम याग इस सृष्टि को ही कहते हैं। इसका कारण यह है कि मूल प्रकृति से उत्पन्न नाना सोम रश्मियों के यजन, संगमन से ही इस सृष्टि का निर्माण होता है।

सृष्टि उत्पत्ति प्रक्रिया के अन्य ज्ञातव्य तथ्य

अब तक हम वैदिक विज्ञान की दृष्टि से मूल उपादान पदार्थ से लेकर मूलकणों, दृश्य ऊर्जा (अग्नि), एटम्स, मॉलीक्यूल्स एवं डार्क मैटर व डार्क एनर्जी तक (वस्तुतः वैदिक डार्क मैटर एवं वैदिक डार्क एनर्जी) की उत्पत्ति, आन्तरिक संरचना एवं स्वरूप पर संक्षिप्त चर्चा कर चुके हैं। ये ऐसे पदार्थ हैं, जिनके विषय में वर्तमान विज्ञान गहन अन्धकार में है। मूलपदार्थ, काल, दिशा व आकाश के विषय में प्रायः अनजान है, जबकि वैदिक भौतिकी इन विषयों पर गम्भीर प्रकाश डालती है। यहाँ तक पदार्थ का बनना अपेक्षाकृत अत्यन्त जटिल व रहस्यमय होने से हमें उसकी विस्तृत विवेचना करनी पड़ी परन्तु इसके आगे कॉस्मिक मेघों का निर्माण, गैलेक्सियों व तारों का निर्माण, उनका स्थायित्व तथा कक्षीय परिभ्रमण व अक्षीय घूर्णन, तारों व गैलेक्सियों के केन्द्रों की आन्तरिक संरचना आदि के विषय में यद्यपि वर्तमान भौतिकी विस्तृत प्रकाश डालती है परन्तु इन विषयों में भी अनेक समस्याएं विद्यमान हैं, जिनका सफल समाधान वर्तमान भौतिक वैज्ञानिकों के पास नहीं है। कॉस्मिक मेघों का निर्माण कार्य कैसे प्रारम्भ होता है? ब्रह्माण्ड में बिखरे सूक्ष्म पदार्थ में संघनन क्रिया प्रारम्भ होकर तारों के केन्द्रीय बिन्दुओं का निर्माण कैसे प्रारम्भ होता है? कैसे मात्र गुरुत्वाकर्षण बल के कारण यह कार्य हो पाता है? तारों के

केन्द्रीय भागों के निर्माण की प्रारम्भिक प्रक्रिया किसी प्रकार प्रारम्भ हो भी जाये, तो उन भागों में नाभिकीय संलयन के लिए आवश्यक परिस्थितियां कैसे उत्पन्न होती हैं? यह सम्पूर्ण विज्ञान वर्तमान भौतिकविदों को विदित नहीं है। वर्तमान भौतिकी चार प्रकार के बलों यथा- गुरुत्वाकर्षण बल, विद्युत् चुम्बकीय बल, प्रबल नाभिकीय बल एवं निर्बल बल को ही मूल बल मानता है किन्तु उसे इन बलों के गम्भीर क्रियाविज्ञान का पूर्ण बोध नहीं है। इधर **हमारी वैदिक भौतिकी न्यूनतम नौ बलों को मूल बल मानती है, इसके साथ ही उन बलों के सम्पूर्ण क्रियाविज्ञान की भी विवेचना करती है। सभी बल मूलतः ईश्वर तत्व के बल से ही बल प्राप्त करते हैं तथा सभी ऊर्जाएं मूलतः ईश्वर द्वारा ही प्रेरित होती हैं, इस गम्भीर विज्ञान से वर्तमान भौतिकी न केवल नितान्त अनभिज्ञ है, अपितु इस तथ्य का उपहास भी करती है।** यही कारण है कि वर्तमान भौतिकी अपने प्रत्येक सिद्धान्त को एक ऐसे छोर पर ले जाकर खड़ा कर देती है, जहाँ से आगे बढ़कर कुछ जानने का कोई मार्ग उसे नहीं सूझता। तब उसे मूलभूत वा सैद्धान्तिक भौतिकी में अनुसंधान के लिए कुछ भी समझ नहीं आता। यही कारण है कि वर्तमान थ्योरिटीकल फिजीसिस्ट आज निराशा के अंधकार में डूबते जा रहे हैं। वर्तमान भौतिकी विद्युत् चुम्बकीय तरंगों से सूक्ष्म किसी पदार्थ के विषय में विचार भी नहीं करती, जबकि वैदिक भौतिकी के लिए ये तरंगें बहुत स्थूल रचना है।

हमारे विज्ञपाठक! इन सभी विषयों को हम यहाँ समझाएं, यह सम्भव व उचित प्रतीत नहीं होता। इस ग्रन्थ में विभिन्न स्थलों पर इन सभी बिन्दुओं पर विस्तार से चर्चा की गयी है। पाठक अनुक्रमणिका देखकर सभी विषयों का यथावत् अध्ययन कर सकते हैं। ये सभी विषय उतने गूढ़ नहीं हैं, जितने कि मूलकणों से पूर्व की क्रियाओं का विज्ञान। इस कारण हम इन विषयों का विवेचन ग्रन्थ के कलेवर वृद्धि के भय से छोड़ कर इस अध्याय का समापन करते हैं।

ॐ इति सप्तमोऽध्यायः समाप्तः ॐ

अष्टमोऽध्यायः

“

जब बहुतों के आत्माओं में वेदार्थ प्रकाश हुआ, तब ऋषि मुनियों ने वह अर्थ और ऋषि मुनियों के इतिहासपूर्वक ग्रन्थ बनाये, उनका नाम ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्म जो वेद उसका व्याख्यान ग्रन्थ होने से ब्राह्मण नाम हुआ।

–महर्षि दयानन्द सरस्वती

”

ब्राह्मण ग्रन्थों का स्वरूप एवं उनका प्रतिपाद्य विषय

सर्वप्रथम यह जान लेना आवश्यक है कि ब्राह्मण ग्रन्थ क्या हैं? **महर्षि दयानन्द सरस्वती सत्यार्थ प्रकाश** के सप्तम समुल्लास में लिखते हैं-

''जब बहुतों के आत्माओं में वेदार्थ प्रकाश हुआ, तब ऋषि मुनियों ने वह अर्थ और ऋषि मुनियों के इतिहासपूर्वक ग्रन्थ बनाये, उनका नाम ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्म जो वेद उसका व्याख्यान ग्रन्थ होने से ब्राह्मण नाम हुआ''।

महर्षि दयानन्द के शिष्य पं. भीमसेन शर्मा ने **'अनुभ्रमोच्छेदन'** नामक पुस्तक, जो राजा शिव प्रसाद के उत्तर स्वरूप लिखी थी तथा इस पुस्तक को पं. भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने अपने 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' नामक ग्रन्थ के तृतीय भाग के प्रथम अध्याय में ही **महर्षि दयानन्द** द्वारा परिशोधित भी बताया है, में लिखा है- **''ब्रह्मणां वेदानाभिमानि व्याख्यानि ब्राह्मणानि''** (अर्थात् ऐतरेय आदि ग्रन्थ ब्रह्म अर्थात् वेदों का व्याख्यान है, इसी से इसका नाम ब्राह्मण रखा है।)

विभिन्न ग्रन्थों के इतिहास व उनके वर्गीकरण के विषय में मैं अपने पाठकों को पं. भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर द्वारा लिखित **'वैदिक वाङ्मय का इतिहास'** का तृतीय भाग पढ़ने का परामर्श देकर आगे बढ़ना चाहूँगा। वस्तुतः इतिहास विषय मेरा कभी रहा नहीं, अतः मैं उस विषय में अधिकारपूर्वक कुछ विशेष लिखने में स्वयं को असमर्थ पाता हूँ। यह एक स्वतंत्र अनुसंधान व अध्ययन का विषय है। मेरा सम्पूर्ण ध्यान केवल प्राचीन वैदिक वाङ्मय के केवल आधिदैविक Physical Scientific पक्ष को ही प्रकाशित करने पर रहेगा। हाँ, इतना अवश्य लिखना आवश्यक है कि चारों वेदों के जितने भी ब्राह्मण ग्रन्थ हैं, उनमें ऐतरेय ब्राह्मण ही सबसे अधिक प्राचीन है।

पं. भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग ३ में लिखा है- चारों वेदों का प्रकाश सृष्टि में ऋषिजनों के हृदय में हुआ। उन्हीं दिनों से ब्रह्मा आदि महर्षियों ने ब्राह्मणों का प्रवचन प्रारम्भ कर दिया। वही प्रवचन कुल परम्परा वा गुरु परम्परा में सुरक्षित रहा। उसके साथ नवीन प्रवचन भी समय-२ पर होता रहा। सारा प्रवचन महाभारत काल में इन ब्राह्मणों के रूप में संकलित हुआ। यह सारी परम्परा अनवच्छिन्न थी।..." पृष्ठ.१०३, पं. जी सर्वाधिक प्राचीन ऐतरेय ब्राह्मण के संकलन का काल महाभारत काल के लगभग मानते हैं।

पं. युधिष्ठिर मीमांसक ने श्रौत-यज्ञ-मीमांसा पुस्तक पृ.१६४ पर **महर्षि महीदास** का काल महाभारत युद्ध से लगभग १५०० पूर्व अर्थात् आज से लगभग ६६१५ वर्ष पूर्व का मानते हैं।

यह निर्विवाद है कि ऐतरेय ब्राह्मण का संकलन माता **इतरा** के पुत्र **महर्षि महीदास** ने किया था। **इतरा** का पुत्र होने से वे **ऐतरेय महीदास** नाम से विख्यात हुए। ऐतरेय ब्राह्मण के सायणाचार्य से पूर्ववर्ती भाष्यकार **षड्गुरु शिष्य** के अनुसार **महर्षि महीदास** के पिता **महर्षि याज्ञवल्क्य** थे, जिनकी एक पत्नी **इतरा** थीं। ये **याज्ञवल्क्य** शतपथ ब्राह्मणकार **महर्षि याज्ञवल्क्य** से भिन्न हो सकते हैं, क्योंकि बृहदारण्यकोपनिषद् में **महर्षि याज्ञवल्क्य** की दो पत्नियां **मैत्रेयी** व **कात्यायिनी** का वर्णन है।

अतः **इतरा** के पति **याज्ञवल्क्य** कोई अन्य होंगे। वैसे पं.भगवद्दत्त जी ने इसे षड्गुरु शिष्य की कल्पना कहा है, परन्तु उन्होंने **इतरा** के पति के नाम के बारे में कुछ नहीं लिखा। अस्तु

प्रतिपाद्य विषय

ऐतरेय ब्राह्मण के अपने वैज्ञानिक व्याख्यान के आधार पर हम इस बात को दृढ़ता से कह सकते हैं कि ऐतरेय ब्राह्मण सम्पूर्ण रूप से आधिदैविक तत्वों को प्रतिपादित करने वाला ग्रन्थ है। इसके व्याख्यान को करने में हमने शतपथ, कौषीतकि, तैत्तरीय, ताण्ड्य, गोपथ, जैमिनीयोपनिषद् आदि अनेकों ब्राह्मण ग्रन्थों के निर्वचनों एवं प्रकरणों को उद्धृत करते हुए गम्भीरता से विचार किया है। हम ऐसा करके इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि **सभी ब्राह्मण ग्रन्थों में सृष्टि विद्या की विभिन्न शाखाओं, जिन्हें वर्तमान पदार्थविज्ञानी, ऐस्ट्रोफिजिक्स, ऐस्ट्रोनॉमी, पार्टिकल-न्यूक्लिर-एटॉमिक फिजिक्स, सोलर व प्लाज्मा फिजिक्स, कॉस्मोलॉजी, क्वाण्टम फील्ड थ्योरी, स्ट्रिंग थ्योरी आदि नाम देते हैं, उन सबका मिश्रित एवं**

ऐसा अत्युत्कृष्ट स्वरूप इन महान् ग्रन्थों में मिलता है, जिसमें से कई गूढ रहस्यों की अभी विकसित पदार्थ विज्ञान को कल्पना भी नहीं है, तो कई बिन्दुओं पर वह उलझन में फंसा है और वर्तमान वैज्ञानिक जगत् उन्हें सुलझाने में भारी पुरुषार्थ एवं धन का व्यय कर रहा है। हम इस ग्रन्थ में **महर्षि महीदास** के महती वैज्ञानिक दृष्टि को संसार के समक्ष रखेंगे। ऐतरेय ब्राह्मण में कुल ८ पंचिका जिनमें ४० अध्याय हैं। पं. भगवद्दत्त ने शंका प्रकट की है कि इनमें से प्रथम ३० अध्याय **महीदास ऋषि** तथा शेष १० अध्याय **महर्षि शौनक** द्वारा संकलित हैं। हमें यह शंका उचित प्रतीत होती है। ३१ वें अध्याय का प्रारम्भ करते ही हमें यह आभास हुआ था।

हम केवल याज्ञिक कर्मकाण्ड में उलझे पौराणिक (कथित सनातनी) एवं कुछ अपरिपक्व आर्य समाजी विद्वानों से भी कहना चाहेंगे कि ब्राह्मण ग्रन्थ केवल कर्मकाण्ड के ग्रन्थ नहीं है। पं. भगवद्दत्त ने भी अपने ''वैदिक वाङ्मय का इतिहास'' भाग-२ में लिखा है-

''ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रधान विषय आधिदैविक तत्वों का वर्णन करना है। इन आधिदैविक तत्वों का वर्णन करते हुए कहीं-२ प्रसंगतः आध्यात्मिक तत्व भी हो गए हैं।'' (पृष्ठ १४३)

इस बात का कोई व्यक्ति यह अर्थ न निकाले कि ब्राह्मण ग्रन्थकार ऋषि आध्यात्मिक पुरुष नहीं थे। इन ब्राह्मणों के संकलनकर्त्ताओं में से कोई उपनिषदों के भी रचयिता हैं और उपनिषदों को अध्यात्म विद्या का ग्रन्थ, सम्पूर्ण संसार मानता है। तब ब्राह्मण ग्रन्थकारों को अध्यात्म विद्या से विहीन कहने की बात भी कैसे सोची भी जा सकती है? क्या हम इतना भी नहीं समझते कि यदि कोई महान् ईश्वरभक्त भौतिक विज्ञान अथवा गणित का भी विशेषज्ञ हो तथा वह कक्षा में इन विषयों को पढ़ा रहा हो अथवा इन पर कोई ग्रन्थ लिख रहा हो, तब ईश्वर भक्ति की बात को प्रधानता क्यों देगा? अथवा इसकी विशेष चर्चा भी क्यों करेगा? वस्तुतः ऋषि महान् मन्त्रदृष्टा योगी हुआ करते थे और सृष्टि के अनेक गूढ़ रहस्यों को प्रबल योगबल द्वारा ईश्वर के साक्षात्कार के समय ही जाना करते थे। यह अन्तर्दृष्टि ही उनका बहुत बड़ा साधन हुआ करती थी। **ईश्वर विश्वास, ध्यान-मनन एवं निष्काम पुरुषार्थ का क्या परिणाम होता है, यह ऐतरेय ब्राह्मण के व्याख्यान करने में मैं भली प्रकार जान गया हूँ। जो अपनी योग साधना से शास्त्रों वा सृष्टि के गम्भीर रहस्यों को जानने में समर्थ नहीं होते, उन्हें स्वयं की योग साधना, ईश्वर विश्वास, प्रतिभा तथा हृदय की पवित्रता की समीक्षा अवश्य करनी चाहिए।** ध्यातव्य है कि जब कोई प्रतिभासम्पन्न विचारक ब्राह्मण ग्रन्थ अथवा वेदों के माध्यम से सृष्टि विज्ञान पर विचार करता है, तब सर्वत्र ही ईश्वर का अस्तित्व, उसकी कार्यशैली एवं क्रिया विज्ञान उसे साक्षात् अनुभूत होता है। ऐसा अनुभव उन साधकों अथवा स्वयं को योगी कहने वालों को कदापि नहीं हो सकता, जो सृष्टि विज्ञान से परिचित न हों। जो विद्वान् सृष्टि विज्ञान की जितनी गहराई में जाएगा, वह ईश्वर के अस्तित्व व स्वरूप को उतना ही गहराई से जान सकेगा। इस कारण दोनों ही विद्याओं को असम्बद्ध मानना नितान्त अनभिज्ञता वा मूर्खता है।

प्रश्न- विभिन्न ब्राह्मण ग्रन्थों में **सोम यागादि** का वर्णन सुना जाता है, उसको आप क्यों स्वीकार नहीं करते हैं? **आश्वलायन श्रौत सूत्रादि** ग्रन्थों में भी विभिन्न श्रौत-यज्ञों का वर्णन है, तब इन ग्रन्थों से आपके द्वारा उपरिवर्णित पदार्थ विज्ञान की विभिन्न शाखाओं, जिन्हें आधुनिक विज्ञान के उच्चतम शिखर के रूप में मान सकते हैं, को निकालने की कसरत एक सनक मात्र प्रतीत होती है। हजारों वर्षों से चली आ रही श्रौत-यज्ञ परम्परा को सर्वथा नकारने से भला वैदिक वाङ्मय की रक्षा कैसे होगी? जिस अग्निहोत्र को **भगवान् मनु महाराज** ने संन्यासी के अतिरिक्त सभी आश्रमस्थ महिला व पुरुषों का परमकर्तव्य बताया तथा जिस यज्ञ के विषय में **महर्षि दयानन्द** ने **सत्यार्थ प्रकाश** में लिखा- ''आर्यवर शिरोमणि महाशय ऋषि-महर्षि, राजे-महाराजे लोग बहुत सा होम करते और कराते थे। जब तक होम करने का प्रचार रहा, तब तक आर्यावर्त देश रोगों से रहित और सुखों से पूरित था। अब भी प्रचार हो, तो वैसा ही हो जाय।'' (**तृतीय समु. पृष्ठ ४३**) इतने पर भी आप कर्मकाण्ड को व्यर्थ बता रहे हैं।

उत्तर- इसके समाधान के लिए सर्वप्रथम इस बात पर विचार करते हैं कि यज्ञों, जिन्हें **गीता ४.२८** में द्रव्य-यज्ञ नाम दिया है, का प्रचलन कब से प्रारम्भ हुआ? इस विषय में आर्य विद्वान् पं. युधिष्ठिर

मीमांसक का कथन है-

द्रव्ययज्ञों की कल्पना का प्रयोजन

"सृष्टि के आरम्भ में सत्वगुणविशिष्ट योगज-शक्ति-सम्पन्न परावरज्ञ ऋषि लोग अपनी दिव्य मानसिक शक्ति से इस चराचर जगत् के परमाणु से लेकर परम महत् तत्त्व पर्यन्त समस्त पदार्थों को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष कर लेते थे। उनके लिए कोई भी पदार्थ अप्रत्यक्ष नहीं था। उत्तरोत्तर सत्त्वगुण की न्यूनता एवं रजोगुण और तमोगुण की वृद्धि के कारण काम, क्रोध, लोभ और मोह आदि उत्पन्न हुए। उनके वशीभूत होकर मानवी प्रजा ने सुखविशेष की इच्छा से प्राजापत्य शाश्वत नियमों का उल्लंघन करके कृत्रिम जीवनयापन करना प्रारम्भ किया। ज्यों-२ आवश्यकता बढ़ती गई, त्यों-२ जीवनयापन के साधनों में भी कृत्रिमता बढ़ने लगी। इस के साथ ही साथ मानव की मानसिक दिव्य शक्तियों का भी ह्रास होने के कारण सूक्ष्म, दूरस्थ और व्यवहित पदार्थ अज्ञेय बन गये। अतः ब्रह्माण्ड और पिण्ड (=अध्यात्म=शरीर) की रचना कैसी है, यह जानना सर्वसाधरण के लिए जटिल समस्या बन गई। **इस कारण आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक प्रकियानुसारी वेदार्थ भी दुरूह हो गया। ऐसे काल में तात्कालिक साक्षात्कृतधर्मा परावरज्ञ ऋषियों ने ब्रह्माण्ड तथा अध्यात्म की रचना का ज्ञान कराने, और आधिदैविक तथा आध्यात्मिक प्राचीन वेदार्थ को सुरक्षित करने कराने के लिए यज्ञरूपी रूपकों की कल्पना की।** यज्ञ का मूल प्रयोजन दैवत और अध्यात्म का ज्ञान कराना ही है, इस बात की ओर **आचार्य यास्क** ने **निरुक्त १.२०** में संकेत किया है- **याज्ञदैवते पुष्पफले, देवताध्यात्मे वा। अथर्ववेद ११.३.५२-५३** में कहा है- **एतस्माद्वा ओदनात् त्रयस्त्रिंशतं लोकान् निरमिमीत प्रजापतिः। तेषां प्रज्ञानाय यज्ञमसृजत**। अर्थात् प्रजापति ने स्व-सृष्ट लोकों के प्रज्ञान के लिए यज्ञों का सृजन किया।

यास्क के मतानुसार यज्ञ और देवता का ज्ञान क्रमशः पुष्प और फल स्थानीय है अर्थात् जैसे पुष्प फल की निष्पत्ति के कारण होता है, वैसे ही याज्ञिक-प्रक्रिया का ज्ञान दैवत (=ब्रह्माण्ड) के ज्ञान में कारण होता है, जब दैवतज्ञान हो जाता है, तब वह दैवतज्ञान याज्ञिकप्रक्रिया की दृष्टि से फल स्थानीय होता हुआ भी अध्यात्मज्ञान की दृष्टि से पुष्पस्थानीय होता है, अर्थात् अध्यात्म ज्ञान में दैवतज्ञान कारण बनता है। इस दृष्टि से ब्राह्मण ग्रन्थों में याज्ञिक प्रक्रिया की व्याख्या करते हुए अनेक स्थानों में 'इत्यधियज्ञम्' कहकर 'अथाधिदैवत्, अथाध्यात्मम्' के निर्देश द्वारा तीनों की परस्पर समानता दर्शाई है।. ....

उपर्युक्त निर्देशों से यह सुव्यक्त हो जाता है कि यज्ञ की कल्पना ब्रह्माण्ड और पिण्ड की सूक्ष्म रचना का बोध कराने के लिए ही की गई है। यज्ञकर्म में थोड़ा-सा भी हेर-फेर होने पर, यहां तक कि पात्रों के यथास्थान न रखने पर भी कर्म के दुष्ट होने अर्थात् यथावत् फलदायक न होने की कल्पना की गई है। इसे आप सुगमता से इस प्रकार समझ सकते है कि पृथिवी वा आकाशस्थ पदार्थों की स्थिति समझाने के लिए जो भूगोल और खगोल के मानचित्र बनाये जाते हैं, उनमें यदि प्रमादवश नामाङ्कन में थोड़ी-सी भूल हो जावे, तो वे मानचित्र बेकार हो जाते हैं।...........

जिस प्रकार भूमण्डल और नक्षत्रमण्डल के विभिन्न अवयवों की वास्तविक स्थिति का ज्ञान कराने के लिए उनके मानचित्रों की तथा प्राचीन काल की किसी परोक्ष घटना का प्रत्यक्ष ज्ञान कराने के लिए नाटक की कल्पना की जाती है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्माण्ड और पिण्ड की रचना का ज्ञान कराने के लिए यज्ञों की कल्पना की गई अर्थात् यज्ञों की कल्पना भी भूगोल आदि के समान सत्य वैज्ञानिक आधार पर ही हुई है। (श्रौतयज्ञ-मीमांसा - पृ.१३५-१३८)

इससे स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्य यज्ञों का प्रारम्भ क्यों हुआ? हाँ, यह बात भी विशेष उल्लेखनीय है कि यद्यपि सभी द्रव्य यज्ञ सृष्टि विज्ञान के विभिन्न रहस्यों को समझाने के लिए कल्पित किये गये, पुनरपि वे कल्पित यज्ञ भले ही नाटक वा मानचित्र का रूप ही क्यों न हों, पर्यावरण शुद्ध करके शारीरिक व मानसिक उन्नति एवं धनधान्य की समृद्धता का बहुत बड़ा हेतु भी थे। ऋषियों के प्रतीक स्वयं एक अन्य विज्ञान (पर्यावरण-कृषि वा आयुर्विज्ञान) का जीता जागता रूप थे। आज के नाटकों वा मानचित्रों से किसी कथा वा देश आदि के ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कुछ भी लाभ नहीं होता।

वर्तमान संसार में प्रचलित प्रतीकों का अपना कोई विज्ञान नहीं है, केवल कल्पना के आधार पर व्यवहार हेतु गढ़ लिए जाते हैं, परन्तु **ऋषियों की प्रतीकों की कल्पना के पीछे भी एक स्वतंत्र व सर्वोपयोगी विज्ञान का अनायास मिलना ही उनके ऋषित्व का प्रतीक है।** सृष्टि विज्ञानादि का ग्रहण तथा इसके प्रयोजन को समझना तो केवल विद्वानों का ही कार्य है, परन्तु इसको समझने के लिए कल्पित किए गये विभिन्न यज्ञों का भौतिक लाभ तो न केवल विद्वान् अथवा साधारण मनुष्य, अपितु प्राणिमात्र एवं वनस्पति जगत् को भी प्रत्यक्ष मिलता है, तब ऐसे यज्ञों को कौन बुद्धिमान् व्यर्थ कह सकता है? **महर्षि दयानन्द** ने जो यज्ञों की महिमा बतायी है, वह इसी लाभ को दृष्टिगत रखकर बतायी है, यह सुस्पष्ट है परन्तु इससे यह अर्थ तो नहीं निकाला जा सकता कि यज्ञों की प्रक्रियाओं में पदार्थ विज्ञान के गहरे रहस्य छुपे हुए नहीं है और न यही अर्थ है कि ऋषि महर्षियों ने केवल पर्यावरण शोधनार्थ तथा इससे आरोग्य तथा कृषि आदि की समृद्धि हेतु ही यज्ञों का प्रचलन प्रारम्भ किया। यदि यही एकमात्र लक्ष्य होता, तो बिना किसी विशेष प्रक्रिया किंवा कई यज्ञों में अति जटिल प्रक्रियाओं के प्रचलन को क्या केवल संयोगमात्र वा रूढ़ माना जाए अथवा इनसे भी केवल पर्यावरण विज्ञान व द्रव्य के अग्नि में जलने की रासायनिक प्रक्रिया के विज्ञान का ही सम्बन्ध मान लिया जाए? यह हमें तो स्वीकार नहीं है।

यह भारतवर्ष नहीं, अपितु संसार का घोर दुर्भाग्य है कि ऐसे महान् यज्ञों को एक साम्प्रदायिक कर्मकाण्ड के रूप में मानकर जहाँ इन्हें सम्पूर्ण संसार ने सर्वथा त्याग दिया, वहाँ भारतवर्ष का कथित हिन्दू वर्ग भी कहीं-२ केवल परम्परा का निर्वहन मात्र करता प्रतीत हो रहा है। **यज्ञों के पीछे छुपे गम्भीर वैज्ञानिक रहस्य (सृष्टि विज्ञान सम्बंधी) तो सर्वथा इन कर्मकाण्डोपजीवियों के मस्तिष्क से ओझल हो ही चुके हैं, बल्कि पर्यावरण विज्ञान के प्रत्यक्ष लाभों की दृष्टि से भी द्रव्य-यज्ञों के द्रव्यों की गुणवत्ता, शुद्धता व मात्रा का भी कोई ध्यान नहीं रह गया है।** पर्यावरण सम्बन्धी लाभ का पक्ष भी विशेषकर आर्य समाजी ही लेते हैं परन्तु वे भी इस विषय में भी कोई अनुसंधान नहीं कर रहे हैं और न उनकी ऐसी कोई रुचि ही देखी जाती है। यथा तथा दैनिक यज्ञ भी विरले सौभाग्यशाली आर्यजन ही करते देखे जाते हैं। बड़े-२ समृद्ध आश्रमों में यद्यपि दैनिक यज्ञ का नियम होता है, पुनरपि वे भी पर्यावरण विज्ञान सम्बन्धी कोई अनुसंधान करते प्रायः दिखाई नहीं देते हैं। पौराणिक (कथित सनातनी) तो कभी-२ ही विशेष यज्ञ करते हैं परन्तु वे न केवल उन यज्ञों के पीछे छुपे सृष्टि विज्ञान के रहस्यों के बारे में कुछ नहीं समझते-सोचते हैं, अपितु पर्यावरण सम्बन्धी लाभ की चर्चा भी उन्हें विशेषकर रुचिकर नहीं लगती। वे केवल कल्पित स्वर्ग की कामना अथवा पापों को दूर करने की घोर हानिकर एवं मिथ्या भावना से ही भावित होकर यज्ञ करते हैं। हाँ, वे जो भी करते हैं, पूर्ण विश्वास व श्रद्धा से करते हैं। परम्पराओं की पटरी से भी इधर-उधर जाने में भी मात्र नरक के भय से ही डरते हैं। हाँ, आर्य समाजियों को परम्परा एवं यज्ञ पद्धति की एकरूपता आदि की कोई चिन्ता नहीं है। वे सभी पृथक्-२ अपनी-२ पद्धतियां चलाने व **महर्षि दयानन्द** की बतलायी पद्धति की उपेक्षा से किञ्चिन्मात्र भी भयभीत नहीं होते।

सारांशतः वर्तमान में यज्ञों का अति भ्रष्ट व अपूर्ण प्रचलन रह गया है। प्रतीक तक भी सुरक्षित व सफलताकारक नहीं रहे हैं, तब वास्तविक यज्ञ को कौन समझने की चेष्टा करेगा। कुछ महानुभाव कहेंगे कि क्या **महर्षि दयानन्द सरस्वती** ने भी **'यज्ञ'** शब्द से सृष्टि विज्ञान का ग्रहण कहीं किया है? उन्होंने **'यज्ञ'** का अर्थ **शिल्प विद्या** अर्थात् तकनीक तो ग्रहण किया है परन्तु सृष्टि विज्ञान का ग्रहण क्या पं. युधिष्ठिर मीमांसक की निजी कल्पना नहीं मान लिया जाए? इसके उत्तर में निवेदन है कि मीमांसक जी ने इस प्रकरण में अनेक आर्ष ग्रन्थों को भी उद्धृत किया है, पुनरपि यदि **महर्षि दयानन्द** का प्रमाण चाहते हैं, तो देखें- **यजुर्वेद २.२१** के भाष्य में **महर्षि दयानन्द 'यज्ञम्'** पद का अर्थ **'क्रियाकाण्डजन्यं संसारम्', ऋग्वेद १.१८.७** के भाष्य में **'यज्ञः'** पद अर्थ **'संगतः संसारः' यजुर्वेद २६.६** में **'यज्ञानाम्'** पद का अर्थ **'सङ्गन्तव्यानां पदार्थानाम्', ऋग्वेद १.१६४.५०** में **'यज्ञेन'** पद का अर्थ **'अग्न्यादि दिव्यपदार्थसमूहेन'** आदि किया है।

यदि कोई कर्मकाण्डी पौराणिक विद्वान् इन अर्थों को कल्पित व मन गढ़न्त माने, तो हम ब्राह्मण ग्रन्थों, जिनका कि प्रसंग चल ही रहा है, के कुछ प्रमाण देते हैं- **अग्निर्वै यज्ञः (श.३.४.३.१६), वाग्वै यज्ञः (ऐ.५.२४), 'अयं वै यज्ञो योऽयं (वायुः) पवते' (ऐ.५.३३), 'संवत्सरो यज्ञः' (श.११.२.७.१), 'स यः स यज्ञो ऽसौ स आदित्यः' (श.१४.१.१.६), यज्ञो वै भुवनम् (तै.३.३.७.५), 'आपो वै यज्ञः' (ऐ. २.२०)।**

इस प्रकार यहाँ अग्नि, वाक्, वायु, सूर्य, विभिन्न लोक एवं सूक्ष्म अणुओं व जल आदि तत्वों को यज्ञ कहा है। ब्राह्मण ग्रन्थों के अध्ययन के समय सर्वाधिक प्रमाण ब्राह्मण ग्रन्थों के ही माननीय होते हैं। तब **'यज्ञ'** का अर्थ **'सृष्टि'** करना हमारी कल्पना मात्र नहीं, बल्कि यही सत्य है। संसार का प्रत्येक पदार्थ यज्ञ ही है, किंवा यज्ञ अर्थात् विभिन्न सूक्ष्म कणों व तरंगों के संयोग-वियोग की बुद्धिपूर्वक प्रक्रिया का ही परिणाम है अथवा वह प्रक्रिया ही यज्ञ है।

आचार्य सायण ने सभी ब्राह्मणों का भाष्य कर्मकाण्डपरक, वह भी अदृष्ट लाभ की कल्पना-विधानपरक किया है। ऐतरेय में सोमयाग का ही वर्णन माना है, जिसकी भिन्न-२ प्रक्रियाओं में भिन्न मंत्रों की आहुतियों से स्वर्ग, धन, पुत्र, पशु, ऐश्वर्य, आयु आदि के मिलने की मिथ्या कल्पना की गयी है। आर्य विद्वान् पं. भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर भी इसका विषय सोमयाग तथा राज्याभिषेक मानते हैं। हमें इस बात से कोई विरोध नहीं है कि ऐतरेय ब्राह्मण का प्रधान विषय **सोम याग** ही है और जिसका प्रधान परिणाम स्वर्ग प्राप्ति ही है परन्तु हमें सर्वप्रथम यह जानने का प्रयास करना चाहिए कि जिस प्रकार **'यज्ञ'** शब्द का अर्थ केवल प्रचलित होम न होकर **'संसार का प्रत्येक पदार्थ'** भी होता है, उसी प्रकार **'सोम'** का अर्थ **'सोम लता नामक वनस्पति'** ही न होकर अन्य भी बहुत कुछ होता है। हम यह कुछ प्रमाण देते हैं-

महर्षि दयानन्द सरस्वती अपने वेदभाष्य में **'सोम'** शब्द के अनेक अर्थ करते हैं- यथा

'सूयन्ते उत्पद्यन्ते ये ते पदार्थाः (ऋ.१.२.१), पदार्थरसम् (ऋ.१.१५.५), विद्युत् (ऋ.६.७२.२), मरुत् (ऋ.६.७२.३), कारणाख्यो वायुः (ऋ.१.६३.६), प्राणः (ऋ.२.४०.१), बलम् (यजु.३४.२१)।

महर्षि दयानन्द ने ये अर्थ स्व-कल्पना से नहीं किये, बल्कि उनका आधार भी ब्राह्मण ग्रन्थ ही थे। देखें उनके प्रमाण-

'प्राणः सोमः' (श.७.३.१.२; कौ.ब्रा.९.६), योऽयं वायुः पवतऽएव सोमः (श.७.३.१.१), वृत्रो वै सोम आसीत् (श. ३,४.३.१३), इन्द्रः सोमस्य योनिः (मै.३.७.८)।

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि सोम भी वायु, प्राण, बल आदि संसार के पदार्थों का ही नाम है। तब ऐसे **सोमयज्ञ** का सृष्टि विज्ञान से कहाँ विरोध है? यहाँ विरोध नहीं, बल्कि सृष्टि के कण-२ का जो संगतीकरण हो रहा है, वह ही तो मूल **सोमयज्ञ** है। इस महान् यज्ञ के ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु, उद्गाता सभी ऋत्विज् जहाँ संसार में असंख्य परमाणु व तंरगें आदि हैं तथा उनसे बने हुए विभिन्न लोक लोकान्तर आदि हैं, वहीं इनका मुख्य होता, ब्रह्मा आदि सर्गयज्ञ का प्रेरक परब्रह्म परमात्मा है। इसलिए **ऋ.६.९.४** में कहा- **'अयं होता प्रथमः पश्यत इदम्'** इस सृष्टि यज्ञ का सर्वप्रथम होता परब्रह्म परमात्मा है, उसे जानने का प्रयास करें। इस महान् नहीं, बल्कि महत्तम सर्गयज्ञ में सृष्टि का कण-२, तंरग-२ ही हवि है। सूर्यादि तारे ही यज्ञ कुण्ड हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में इस यज्ञ के द्वारा स्वर्ग लोक प्राप्त करने के प्रसंग में वह स्वर्ग लोक कोई कल्पना नहीं बल्कि-

'स्वर्गो वै लोकः सूर्यो ज्योतिरुत्तमम्' (श.१२.९.२.८), अथ यत्परं भाः (सूर्यस्य) प्रजापति र्वा स स्वर्गो लोकः (श.१.९.३.१०), अग्निर्वै स्वर्गस्य लोकस्याधिपतिः (ऐ.३.४२), मध्ये ह संवत्सरस्य स्वर्गो लोकः (श.६.७.४.११)।

यहाँ निश्चित ही सूर्यादि तारों और उनके भी विशेषकर केन्द्रीय भाग, जिसमें ही ऊष्मादि ऊर्जा के बनने की विशाल भट्‌टी जलती रहती है, जहाँ हाइड्रोजन आदि के नाभिकों के संलयन से अपार ऊर्जा उत्पन्न हो रही है, वही मुख्य स्वर्ग लोक है। ऐतरेय ब्राह्मण के सोमयाग अर्थात् विभिन्न पदार्थ कणों के संगतीकरण की परिणति तारों के बनने तथा उनके अन्दर नाभिकीय संलयन की प्रक्रिया प्रारम्भ होने के रूप में होती है और यही उस यज्ञ का अन्तिम परिणाम है और इसी के लिए यह सर्गयज्ञ हो रहा है। इसके बाद की प्रक्रिया का वर्णन ऐतरेय ब्राह्मण में प्रायः नहीं है।

हमने ऐतरेय ब्राह्मण पर ही कार्य किया है, इस कारण हम अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों के विषय व स्वरूप के बारे में विशेष कुछ भी कहना उपयुक्त नहीं समझते परन्तु हमने ऐतरेय पर कार्य करते विभिन्न ब्राह्मण ग्रन्थों के विभिन्न निर्वचनों, कथनों को समझने का प्रयास किया है। ऊपर भी हमने

शतपथ आदि के भी प्रमाण दिए हैं, उनसे स्वतः स्पष्ट है कि सभी ब्राह्मण ग्रन्थों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय सृष्टि विज्ञान ही है, जिसे भाँति-२ के यज्ञों की विविध प्रक्रियाओं द्वारा इंगित करने का प्रयास किया गया है।

ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा व विषय की विवेचना-शैली

हमने जिन-२ ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा को अल्पांश में भी देखा है, उससे विदित होता है कि सभी की भाषा व शैली लगभग समान है। इनका साधारण अनुवाद मात्र करने पर यज्ञीय कर्मकाण्ड, वह भी चित्र-विचित्र एवं वीभत्स व कहीं-२ अश्लील प्रतीत होता है। अनेकत्र पशुबलि एवं अत्यन्त घृणित ढंग से बलिदान किए हुए मांस आदि वस्तुओं का वितरण प्रतीत होता है। अनेकत्र पृथक्-२ प्रकार के यज्ञों का फल दर्शाकर मानो विभिन्न मंत्रों की आहुतियां देने का विधान करके यज्ञकर्त्ता को प्रलोभन दिया गया प्रतीत होता है। कहीं-२ देवों व असुरों के युद्ध का इतिहास प्रतीत होते हुए अनेक ऐसे आख्यान हैं, जो कहीं-२ बड़े अटपटे दिखाई देते हैं। इन सब कारणों से जहाँ अनेक आर्य विद्वान् ब्राह्मण ग्रन्थों में एक भाग को प्रक्षिप्त मानकर निकाल फैंकने की वकालत करते हैं अर्थात् वे सिरदर्द दूर करने हेतु सिर को ही काटने का परामर्श देते हैं, तो पौराणिक (कथित सनातनी) विद्वान् इनका यथावत् अनुवाद करके ब्राह्मण ग्रन्थों किंवा वेदों में अश्लीलता, पशुबलि, मांसाहार आदि पापों की विद्यमानता स्वीकार कर लेते हैं। इस स्वीकारोक्ति को भी इस ढंग से करते हैं कि मानो इस पापों से भी स्वर्ग वा मोक्ष ही प्राप्त होता है। यज्ञ में पशु को इस भावना से मारा जाता है कि मारने वाले व्यक्ति, यज्ञ के विभिन्न ऋत्विज् एवं यजमानादि को स्वर्ग वा मोक्ष मिलने के साथ-२ मारे गये पशु वा मनुष्य को भी स्वर्ग प्राप्त हो जाता है। ये पौराणिक (कथित सनातनी) विद्वान् पूर्ण शाकाहारी एवं सात्विक भोजन के प्रबल पक्षपाती होते हुए भी ब्राह्मण ग्रन्थों वा वेदादि शास्त्रों में पशु व नरबलि जैसे पापों तथा उस बलिदान से प्राप्त मांसादि पदार्थों को खाने को भी पुण्यकारी मानने जैसी मूर्खता वा पाप करते हैं, यह अत्यन्त शोक का विषय है। वे शास्त्रों को न तो स्वयं समझने की क्षमता रखते हैं और न **महर्षि दयानन्द** वा उनके अनुगामी विद्वानों की बात ही सुनना चाहते हैं। **इन सब पापों के कारण ही सम्पूर्ण विश्व में मांस, मछली, मदिरा, उन्मुक्त यौनाचार, पशुबलि, नरबलि, छूआछूत आदि पापों का जन्म व विस्तार हुआ है। दुर्भाग्य से कथित कर्मकाण्डी विद्वान् इस बात को स्वीकार करने को आज भी उद्यत नहीं हैं।**

सारांशतः वर्तमान काल में ब्राह्मण ग्रन्थ विद्वानों के लिए अति दुर्बोध्य, वीभत्स, हिंसा, पशुबलि, नरबलि, अश्लीलता, बर्बरता से पूर्ण आख्यानों वा कर्मकाण्डों के रूप ही हो रहे हैं। आर्य समाज के विद्वानों में प्रख्यात विद्वान् पं. बुद्धदेव विद्यालंकार (स्वामी समर्पणानन्द) ही एक मात्र ऐसे विद्वान् रहे हैं, जिन्होंने ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा को (शतपथ ब्राह्मण का भाष्य करते समय) अपनी बुद्धिमता से कुछ समझ कर व्यवहारोपयोगी सामाजिक संदर्भ के अनुकूल अर्थ किए थे। यद्यपि ऐसा करने में उन्होंने कहीं-२ अर्थों की भारी खींचातान भी की है, तो कहीं-२ **महर्षि दयानन्द सरस्वती** के मन्तव्य के प्रतिकूल भी अर्थ हो गये हैं। इतना होने पर भी हम यह बड़े दुःख के साथ कहने को विवश हैं कि श्री पं. बुद्धदेव विद्यालंकार के **शतपथ भाष्य** के अतिरिक्त किसी आर्य वा पौराणिक विद्वान् का भाष्य, अनुवाद, टीका आदि का कोई मूल्य नहीं है। यद्यपि पं. बुद्धदेव विद्यालंकार भी प्रतिक्रियावादी होकर ही शतपथ ब्राह्मण का भाष्य करने में प्रवृत्त हुए थे। ब्राह्मण ग्रन्थों में मांसाहार एवं बलि आदि के पापों को वे सहन नहीं कर सके, इस कारण वे शतपथ ब्राह्मण को इन पापों से मुक्त करके उस महान् ग्रन्थ को व्यावहारिक रूप प्रदान करना चाहते थे। यह भावना पवित्र थी **पुनरपि किसी प्रतिक्रिया वा पूर्वाग्रह से युक्त होकर किया गया भाष्य ग्रन्थ के साथ पूर्ण न्याय नहीं कर पाता।** इसी कारण वे **शतपथ ब्राह्मण** के महान् विज्ञान को उद्घाटित करने में समर्थ नहीं हो सके। इतने पर भी उनका भाष्य सुसंगत व व्यावहारिक है। सायणाचार्य के ऐतरेय ब्राह्मण के भाष्य को हमने देखा है। अन्य परवर्ती भाष्यकारों ने प्रायः आचार्य सायण की ही नकल की है। विदेशी भाष्यों को हमने नहीं देखा है परन्तु कुछ आर्य विद्वानों द्वारा उनकी कहीं-२ की गयी समीक्षा को देखने से हमें यह अनुमान करने में कोई कठिनाई नहीं होती कि उनकी एतद्विषयक दृष्टि क्या है? इस प्रकार हमें समस्त वैदिक वाङ्मय, विशेषकर ब्राह्मणग्रन्थ ऐसे रहस्यपूर्ण जंगल के समान प्रतीत हो रहे थे, जिनमें कोई मार्ग नहीं सूझ रहा था। हमने जब ऐतरेय ब्राह्मण को

प्रथम बार देखा। आचार्य सायणादि के भाष्यों तथा आर्य विद्वानों के भी कुछ भाष्यों को देखा तो ऐसा प्रतीत हुआ कि वेदों की अपौरुषेयता व सर्वज्ञानमयता को संसार के वैज्ञानिकों के मध्य सिद्ध करने का भीष्म संकल्प लेकर मैं गम्भीर संकट में फंस गया हूँ। यदि ऐतरेय ब्राह्मण किंवा ब्राह्मण ग्रन्थों को समझा नहीं गया, तो वेद को समझना तो स्वप्न ही रहेगा। परिचित किसी भी वरिष्ठ विद्वान् से इस विषय में कोई सहायता, प्रेरणा का संकेत नहीं मिला। ऐसा स्पष्ट विदित हुआ कि वेद-२ की रट लगाने वाले मूर्धन्य माने जाने वाले विद्वान् भी वैदिक वाङ्मय के मूलतत्व को आर्ष दृष्टि से किंचिदपि नहीं समझ पाए हैं।

प्रश्न- क्या आप ब्राह्मण ग्रन्थों को स्वतः प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं और क्या आप इनमें प्रक्षेपों को होना स्वीकार नहीं करते हैं?

उत्तर- हम **महर्षि दयानन्द सरस्वती** की इस बात से पूर्ण सहमत हैं कि वेद संहिताओं के अतिरिक्त संसार के सभी ग्रन्थ परतः प्रमाण हैं। हाँ, आर्ष ग्रन्थों की प्रामाणिकता अनार्ष ग्रन्थों की अपेक्षा बहुत अधिक है, क्योंकि **ऋषि महर्षि महत् सत्वगुण सम्पन्न, वीतराग, पवित्रात्मा, एवं पूर्ण योगी हुआ करते हैं, इस कारण उनकी बुद्धि अत्यन्त सूक्ष्म व पवित्र होती है। वे इच्छित विषय की अधिकतम गहराइयों में जाकर उसका विज्ञान जानने में आधुनिक तकनीक की अपेक्षा भी अधिक सक्षम होते हैं। उनका ज्ञान निर्दोष होता है,** पुनरपि मनुष्य शरीर व मस्तिष्क की अपनी एक सीमा होती है। वह चाहे कितना भी उच्च शिखर पर पहुँचा हो, कभी परमात्मा के समान सर्वज्ञ नहीं हो सकता, अतः कहीं-२ भूलवश त्रुटि हो भी सकती है। इसी कारण आर्ष ग्रन्थ, जिनमें ब्राह्मण ग्रन्थ भी आते हैं, वेद की तुलना में परतः प्रमाण ही हैं, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि हर विद्वान् बिना सोचे समझे विभिन्न टीका व भाष्यों को देखकर उनमें कुछ दोषों को देखकर सहसा ही उन अंशों को प्रक्षिप्त घोषित कर दे।

शास्त्रों में प्रक्षेपों की पहचान

हमें किसी भी शास्त्र में प्रक्षेप जानने वा मानने से पूर्व निम्नलिखित बातों पर ध्यान अवश्य रखना चाहिए-

१. जिस प्रकरण को हम प्रक्षिप्त मान रहे हैं, उसे यदि ग्रन्थ से पृथक् कर दिया जाये, तो क्या ग्रन्थ का विषयक्रम भंग नहीं होगा?
२. कथित प्रक्षेप का ग्रन्थ के किसी अन्य स्थल, जिसे प्रक्षिप्त भी नहीं माना जा सके, से कोई सम्बन्ध तो नहीं है?
३. क्या प्रक्षिप्त प्रतीत होने वाले प्रकरण के विशेष आपत्तिजनक प्रतीत होने वाले पदों वा वाक्यों की व्याख्या उस ग्रन्थ वा अन्य किसी आर्ष ग्रन्थ में दी तो नहीं हुई है, जिससे उस सम्पूर्ण प्रकरण का ही वास्तविक अर्थ सर्वथा निर्दोष व सुन्दर बन जाये?
४. प्रक्षिप्त प्रतीत होने वाले प्रकरण के सम्भावित प्रक्षेप्ता का उस प्रकरण को प्रक्षिप्त करने में क्या प्रयोजन हो सकता है? हम यह मानते हैं कि कोई भी प्रक्षेप्ता संस्कृत भाषा व व्याकरण का तो अच्छा विद्वान् होगा ही, तब वह जो भी प्रक्षेप करेगा, उसका कुछ तो प्रयोजन होगा।
५. जिन्हें हम प्रक्षिप्त मानते हैं, वे प्रकरण जिस शैली से हमने प्रक्षिप्त माने हैं,उस शैली से उन प्रकरणों का अर्थ कुछ बुद्धिगम्य भी तो होना चाहिए। यदि अर्थ नितान्त उन्मत्तप्रलाप जैसा बनता है, तब वह उन्मत्त व्यक्ति संस्कृत भाषा व व्याकरण का पंडित तो नहीं हो सकता और जब भाषा का पंडित नहीं हो सकता, वह प्रक्षेप भी नहीं कर सकता। संस्कृत भाषा का व्याकरण विश्व की सभी भाषाओं की अपेक्षा सर्वश्रेष्ठ व वैज्ञानिक है, तब उसका विद्वान् जो भी प्रक्षेप करेगा, वह भले ही पापों का जनक हो, परन्तु होगा तो बुद्धिगम्य, भले ही वह बुद्धि तामसी ही क्यों न हो। निरर्थक वा उन्मत्तप्रलापवत् प्रक्षेप कोई भी क्यों करेगा?

६. कहीं ऐसा तो नहीं है कि हम प्राचीन काल की भाषा व शब्दों के प्रयोग की शैली अथवा उस समय की गणना की पद्धति अथवा शब्दों की यौगिकता को न समझ कर वर्तमान समय में इन सबका अपने ढंग से अर्थ करने के प्रयास में अर्थ को ही अनर्थ में बदल देते हों और जब ऐसा अर्थ हिंसा, अश्लीलता, पशुबलि, मांस-मदिरादि सेवन जैसे पापों का प्रतिपादक प्रतीत होता हो, उस आधार पर उस प्रकरण को प्रक्षिप्त घोषित कर देते हैं।
७. कहीं हम अपने किसी अल्पबुद्धिजन्य निजी मत विशेष को किसी आर्ष ग्रन्थ में आरोपित करने के प्रयास में अपने मत के प्रतिकूल प्रतीत होने वाले प्रकरणों को प्रक्षिप्त घोषित तो नहीं कर देते हैं?
८. कहीं अपने व्यर्थ हठ व अहंकार के कारण आर्ष ग्रन्थों की प्रामाणिकता को अप्रासंगिक बनाकर अपने काल्पनिक मत का प्रचार करने के प्रयास में बिना विचारे प्रक्षेपों का भय तो उत्पन्न नहीं करते हैं?
९. कहीं हम वेद को नहीं समझ कर वैदिक पदों का ही मिथ्या व रूढ़ अर्थ करके, फिर उससे आर्ष ग्रन्थों की परीक्षा करने के प्रयास में आर्ष ग्रन्थ के किसी दुर्बोध्य, असंगत व दोष-युक्त प्रतीत होने पर उसे वेद विरुद्ध मानकर अप्रामाणिक वा प्रक्षिप्त तो नहीं कह देते हैं? आज हमारे सामान्य आर्य बन्धु भी सहसा ही किसी बात को वेदविरुद्ध कहकर मिथ्या घोषित कर देते हैं। यह एक फैशन बन गया है, जो आर्ष परम्परा के लिए अत्यन्त घातक है। भला, जब तक वेद को हम नहीं समझ पाएंगे, तब तक किसी बात को वेदविरुद्ध कहकर मिथ्या कैसे कह सकते हैं? आज आर्ष ग्रन्थ ही समझ में नहीं आ रहे, **महर्षि दयानन्दकृत सत्यार्थ प्रकाश** व **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** भी पूर्णतः समझ में नहीं आ रहे, तब वेद को कौन समझेगा और वेदविरुद्धता का प्रमाण देगा?
१०. जब हम किसी बात को सृष्टिक्रम के विरुद्ध बताकर मिथ्या घोषित करके प्रक्षिप्त बताते हैं, उस समय भी अत्यन्त सावधानी अनिवार्य है। आजकल आर्य समाज में अथवा कथित प्रबुद्ध वर्ग में किसी बात को अवैज्ञानिक कहकर नकारने की भी अन्धपरम्परा चल पड़ी है। नकारने वाला इस बलपूर्वक अपनी बात को कहता तथा किसी तथ्य को प्रक्षिप्त घोषित करता है, मानो वह सम्पूर्ण सृष्टि के विज्ञान को सूक्ष्मता से जानता है। विचारें कि वर्तमान सूचना तकनीक, अन्तरिक्ष विज्ञान, जीन टैक्नोलॉजी आदि के क्षेत्र में जो भी चमत्कारी खोजें हुई वा हो रही हैं, क्या वे कुछ काल पूर्व तक असम्भव प्रतीत नहीं होती थीं? क्या क्लोन से सन्तति निर्माण को कोई सृष्टि क्रम विरुद्ध नहीं मानता होगा? इस कारण प्रक्षेप जांचने वाले को अपनी योग्यता व ऊहा शक्ति की भी पूर्ण परीक्षा कर लेनी चाहिए। कहीं ऐसा न हो जाए कि उसके द्वारा प्रक्षिप्त घोषित तथ्य इसी सृष्टि में अन्यत्र कहीं प्राकृतिक रूप से सत्य सिद्ध हो जाएं अथवा आगामी विज्ञान व तकनीक उसे सत्य सिद्ध कर दे।
११. भूगोल सम्बन्धी तथ्यों को प्रक्षिप्त सिद्ध करने का प्रयास करने वाले अनुसंधानवेत्ता को यह ध्यान रखना चाहिए कि वर्तमान भूगोल से तुलना करके किसी बात को अनायास मिथ्या वा प्रक्षिप्त घोषित न करे। उसे स्मरण रखना चाहिए कि भूगोल की आन्तरिक व बाह्य संरचना में सतत परिवर्तनों की बात को वर्त्तमान विज्ञानवेत्ता भी स्वीकार कर रहे हैं। पूर्व में सभी महाद्वीप एक थे, जो शनैः-२ पृथक् हो गये, ऐसा वर्त्तमान भूगोलवेत्ता कहते हैं, तब निश्चय ही लाखों वा करोड़ों वर्ष पुराने भूगोल से वर्त्तमान भूगोल के साथ असंगति, प्रक्षेप का ठोस आधार नहीं बन सकती। इसी प्रकार प्राणियों व वनस्पतियों के शरीर के आकार-प्रकार में भी परिवर्तन एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है, जिसे वर्तमान विज्ञान भी स्वीकारता है। पुराकाल में पृथिवी पर ऑक्सीजन की मात्रा अधिक होने तथा खाद्य पदार्थ की गुणवत्ता व संयमित जीवन जीने से शरीर, मन आदि वर्तमान की अपेक्षा श्रेष्ठ बलवान् व सुदीर्घ आकार युक्त हों, यह स्वाभाविक है।
१२. प्रक्षेप का तात्पर्य है कि मूल लेखक का लेख न होना। तब ऐसी स्थिति में कुछ भाग प्रक्षिप्त सिद्ध होने पर यह विचारना चाहिए कि प्रक्षेपकर्त्ता कौन हो सकता है? क्या प्रक्षेपकर्त्ता ऋषि ही था? यदि ऐसा है, तो प्रक्षिप्त होते हुए भी हमारे लिए मिथ्या वा अप्रामणिक कैसे हो सकता है? उदाहरण के लिए **महर्षि दयानन्द सरस्वती** ने **महाभारत** ग्रन्थ के विषय में **सत्यार्थ प्रकाश** के एकादश समुल्लास में पृष्ठ २६८ पर लिखा है।

"व्यास जी ने चार सहस्र चार सौ और उनके शिष्यों ने पांच सहस्र छः सौ श्लोक युक्त अर्थात् सब दश सहस्र श्लोकों के प्रमाण 'भारत' बनाया था। वह महाराज विक्रमादित्य के समय में बीस सहस्र, महाराज भोज कहते हैं कि मेरे पिताजी के समय पच्चीस और मेरी आधी उमर में तीस सहस्र श्लोक युक्त महाभारत का पुस्तक मिलता है। जो ऐसे ही बढ़ता चला तो महाभारत का पुस्तक एक ऊँट का

बोझा हो जाएगा और ऋषि मुनियों के नाम से पुराणादि ग्रन्थ बनावेंगे, तो आर्य्यावर्तीय लोग भ्रम जाल में पड़ के वैदिक धर्म विहीन होके भ्रष्ट हो जाएंगे।''

यहाँ **महर्षि व्यास महाराज** के चार हजार चार सौ श्लोक के स्थान पर आज गीता प्रेस, गोरखपुर के संस्करण में एक लाख दो सौ सत्रह श्लोक है। तब इसमें **भगवान् व्यास** के श्लोकों के अतिरिक्त पिचानवे सहस्र आठ सौ सत्रह श्लोक प्रक्षिप्त हैं, जिनमें से पांच सहस्र छः सौ श्लोक **भगवद् व्यास** के शिष्यों द्वारा प्रक्षिप्त तथा शेष अन्य विद्वानों द्वारा शनैः-२ प्रक्षिप्त किए गये श्लोक हैं।

इस विषय में हमारा मत है कि भगवद् व्यास के शिष्यों द्वारा रचित श्लोक भले ही प्रक्षिप्त की कोटि में आते हैं, पुनरपि वे भी ऋषि पुरुष ही थे, इस कारण वे भी मूल श्लोकों की भांति प्रामाणिक माने जाने चाहिए परन्तु उसके बाद के प्रक्षेप निश्चित ही प्रमाण नहीं हो सकते। हाँ, उनमें भी यदि कोई सत्य व उपयोगी बात प्रतीत होवे, तो उसे प्रक्षिप्त सिद्ध करते हुए भी स्वीकार करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यदि प्रक्षिप्त अनुपयोगी, असत्य, दूषित, अश्लील, हिंसापूर्ण होवे, तो उसका कठोर खण्डन करना चाहिए।

१३. अन्तिम बात अनुसंधानकर्त्ता को यह ध्यान रखनी चाहिए कि किसी प्रकरण के अनेक अंश उचित कारणवश प्रक्षिप्त सिद्ध होने पर भी उस प्रकरण का भाष्य न करके तथा उसके प्रक्षिप्त होने के पर्याप्त कारण देकर भी उस प्रकरण को मूलग्रन्थ में से हटाना नहीं चाहिए। हो सकता है आगामी पीढ़ी का कोई हमसे अधिक प्रज्ञा व ऊहासम्पन्न विद्वान् उस प्रकरण का कोई सुन्दर व वैज्ञानिक अर्थ करने में समर्थ हो जाए। यह बात बहुत ध्यान रखने योग्य है कि हम किसी प्रकरण को निकाल तो सकते हैं परन्तु कभी निकाले वा पूर्व में लुप्त हुए प्रकरणों को क्या कोई व्यक्ति वापिस ला भी सकता है? हमारे अनेक ग्रन्थ काल-कवलित हो चुके हैं, जिनकी कमी हमें आज बहुत कष्ट देती है। यदि शेष आर्ष ग्रन्थों में से हमारी अपनी अज्ञानता से कुछ वास्तविक प्रकरण निकल गए, तो फिर वे सदा के लिए मिट जाएंगे। किसी को मारना सहज है परन्तु मृत को जीवित करना सर्वथा असम्भव है, यह बात बहुत ध्यान रखने की है। किसी विद्वान् को स्वयं को सर्वज्ञ मानकर अपनी मति से प्रक्षिप्त माने गये अंशों को कभी ग्रन्थ से निकाल वा नष्ट करने का अधिकार कदापि नहीं है, ऐसा करना उस ग्रन्थ की हत्या के समान होगा।

पाठकगण! किसी अनुसंधानकर्त्ता को इन तेरह बिन्दुओं पर गम्भीरता से विचार करते हुए ही अनुसंधान करने का प्रयास करना चाहिए, अन्यथा वह शास्त्रों की ऐसी काट छांट कर दुर्गति करेगा, मानो बन्दर के हाथ चाकू देकर कोई किसी रोगी की शल्य क्रिया करवाये अथवा उसे उस्तरा देकर बाल कटवाने का काम करवाये। हम यहाँ एक-एक बिन्दु पर उदाहरण देकर स्पष्टता करने का प्रयास करते हैं-

(१) ऐतरेय ब्राह्मण के अपने अनुभव के आधार पर केवल एक उदाहरण देता हूँ- इसके छठे अध्याय के छठे खण्ड में **'एकधाऽस्य....'** में खण्ड के अन्त तक आचार्य सायण ने पशु बलि का क्रूर वर्णन किया है। इससे पूर्व कण्डिकाओं का भी सायण ने हिंसात्मक अर्थ करते हुए 'पशु को बांधो' आदि वर्णन किया है। तब यदि हम यदि इन्हें प्रक्षिप्त मानें, तो सम्पूर्ण खण्ड को प्रक्षिप्त मानना होगा और फिर पशु बलि प्रतीत होने वाला प्रकरण **२.८** में भी दिखाई देता है। यदि इन दोनों खण्डों को प्रक्षिप्त मानें, तो **२.५** का **२.७** व **२.६** से कोई सामंजस्य नहीं बैठता है, फिर **२.७** में भी हिंसा का संकेत प्रतीत होता है परन्तु **२.६** में चावल की भूसी को पशु के लोम, चावल के छिलके को पशु की त्वचा, पिसे चावल को पशु का मांस आदि कहकर नयी कहानी प्रारम्भ कर दी। तब किस-२ प्रकरण को प्रक्षिप्त सिद्ध व शेष को परस्पर कैसे समन्वित कर पाएंगे? इस सम्पूर्ण प्रकरण पर गम्भीरता से विचारने पर हमें इसमें कुछ भी प्रक्षिप्त प्रतीत नहीं हुआ, बल्कि पूरे प्रकरण को अत्यन्त उच्च स्तरीय खगोल विज्ञान का उद्घाटन करने वाला, हमने सिद्ध किया है, जिसे भाष्य में देखा जा सकता है। हिंसा, बलि की कहीं गन्ध तक नहीं है। यहाँ भूसी, चावल, छिलका, पिसा चावल आदि अर्थों को देखकर अनेक आर्य विद्वानों को अपनी राह सुगम होती दिखाई दी और वे इससे शास्त्रों में मांसाहार आदि प्रतीत होने वाले प्रकरणों से चावल खाना सिद्ध करने में ही शास्त्रों की महिमा मान बैठे। जब खण्ड **२.६** में २६ पसली, कन्धा, वक्ष तो **७.१** में खुर, पूंछ, जिह्वा आदि शब्द और आ गये, तब ये सब चावल के साथ कैसे संगत होंगे? किन-२ की संगति चावल से लगाएंगे। वस्तुतः वेद विद्या से अनभिज्ञ ऐसे ही भ्रमजाल में भटकते

हुए शास्त्रों की दुर्गति करते रहेंगे? **मैं ऐसे आर्य विद्वानों से कहना चाहूंगा कि यदि आपने यह सिद्ध कर भी दिया कि वेदादि शास्त्रों में पशुहिंसा व मांसाहार आदि पाप विद्यमान नहीं हैं, तब क्या इसी से इन शास्त्रों का महत्व बढ़ जाएगा?** जैसे अन्य अनेकों ग्रन्थों में मांसाहार नहीं है, क्या मात्र उतना ही मूल्य वेदादि शास्त्रों का है? यदि यही बात है, तब बौद्ध, जैन मत आदि के ग्रन्थ क्यों महत्वहीन हैं? वेदादि शास्त्रों में ही क्या विशेषता है, जिसके कारण हम इन्हें महत्व देते हैं?

(२) हिंसात्मक प्रतीत होने वाली इन कण्डिकाओं का सम्बन्ध इसी **२.६** खण्ड के **'स्तृणीत बर्हिरित्योषध्यात्मा वै पशुः पशुमेव तत्सर्वात्मानं करोति'** कण्डिका का उपर्युक्त हिंसापरक प्रतीत होने वाले प्रकरणों से स्पष्ट ही साक्षात् सम्बन्ध है। यह हिंसापरक भी प्रतीत नहीं होता, तब इसे प्रक्षिप्त मानने का भी कारण नहीं दिखता। यहाँ पशु के ओषध्यात्मा होने तथा उसे सर्वांग पूर्ण करने की संगति हिंसा से हो ही नहीं सकती। परन्तु प्रकरण एक ही है, खण्ड भी एक ही है, तब हिंसापरक प्रतीत होने वाले प्रकरण को इससे कैसे अलग कर सकते हैं? यदि अलग नहीं करें, तो परस्पर कैसे एक करके सम्पूर्ण भाग को रख वा निकाल सकते हैं? ऐतरेय में अनेकत्र यत्र-तत्र **'पशु'** शब्द का प्रयोग हुआ है, तब किस-२ भाग को कैसे-२ प्रक्षिप्त सिद्ध करेंगे? उन-२ स्थानों में पशु का न तो हिंसा से सम्बन्ध है और न पशुओं के अन्य किसी व्यवहार से उसका कोई विशेष सम्बन्ध प्रतीत होता है, तब उस-२ भाग का क्या किया जाए? इस प्रकार इस सम्पूर्ण प्रकरण को विचारने से मुझे कुछ भी प्रक्षिप्त नहीं लगा, बल्कि इनमें कैसा गम्भीर भौतिक विज्ञान भरा है, यह विज्ञ पाठक उन प्रकरणों को पढ़कर जान सकते हैं।

(३) उपर्युद्धृत प्रकरण में आये पशु, श्येन, वक्षः श्रोणी, त्वक्, वपा, उरू, नाभिः आदि पदों के विभिन्न आर्ष ग्रन्थों में अनेक यौगिक अर्थ विद्यमान हैं, यथा-

(क) **पशुः = दृश्यः, द्रष्टव्यः (म.द.य.भा.२३.१७), पश्यन्तम् (म.द.ऋ.भा.५.६१.५), प्रजा वै पशवः (तै.सं.२.६.४.३), वायुप्रणेत्रा वै पशवः (श.४.४.१.१५), अन्तरिक्ष देवत्याः खलु वै पशवः (तै.ब्रा.३.२.१.३), पशवो वै मरुतः (ऐ.३.१९), प्राणाः पशवः (श.७.५.२.६), वज्रो वै पशवः (श.६.४.४.६), स्तोमो हि पशुः (तां.५.१०.८), पशवो वै छन्दांसि (श.७.५.२.४२), पशवो वै वयांसि (श.९.३.३.७)** आदि।

(ख) **श्येनः = श्येनइव शीघ्रगन्ता (म.द.ऋ.भा.४.१८.१३), प्रवृद्ध वेगः (म.द.ऋ.भा.४.२६.६), श्येन आदित्यो भवति श्यायतेर्गतिकर्मणः (नि.१४.१३)।**

(ग) **वक्षः = प्राप्तं वस्तु (म.द.ऋ.भा.१.१२४.४)।**

(घ) **श्रोणीः = श्रोणिः श्रोणतेर्गतिचलाकर्मणः। श्रोणिश्चलतीव गच्छतः (नि.४.३), जगती छन्दः आदित्यो देवता श्रोणी (श.१०.३.२.६), गायति श्रोण्यां वामदेव्यं (काठ.२१.५; क.३१.२०)।**

(ङ) **त्वक् = त्वचति संवृणोत्यनया सा (म.द.य.भा.१.१९), आच्छादकम् (म.द.ऋ.भा.१.१२९.३), वाक् (म.द.ऋ.भा.४.१७.१४)।**

(च) **वपा = वपन्ति याभिः क्रियाभिस्ताः (म.द.य.भा.२१.३१), वपन्ति यस्यां भूमौ तां (म.द.य.भा.३५.२०), आत्मा वपा (कौ.ब्रा.१०.५), तां यदवपंस्तद्वपायै वपात्वम् (जै.ब्रा.२.२६१)।**

(छ) **उरुः = व्यापकम् (आकाशम) (म.द.ऋ.भा.३.५४.१९), बहुविधम्, उर्विति बहुनामसु पठितम् (निघं.३.१), बहवाच्छादनम् (म.द.य.भा.४.२७)।**

(ज) **नाभिः = मध्याऽऽकर्षणादिबन्धनेनेति नाभिना (म.द.ऋ.भा.६.३९.४), बन्धनामिव (म.द.ऋ.भा.१.१०४.४)।**

इनके अतिरिक्त भी स्वयं ऊहा से व्युत्पत्ति व निर्वचन करके और भी अनेक अर्थ उपरिवर्णित पदों के हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में क्यों प्रचलित रूढ़ार्थों को ही ग्रहण कर प्रकरण को प्रक्षिप्त घोषित किया जाए?

(४) जिस भाग को हम प्रक्षिप्त मान रहे हैं, उस भाग पर गम्भीरता से यह विचार करने का प्रयत्न करना चाहिये कि प्रक्षेप्ता का उस भाग को प्रक्षिप्त करने के पीछे प्रयोजन क्या हो सकता है? ऐतरेय ब्राह्मण **७.१** में **"हनू सजिह्वे प्रस्तोतुः....** कण्डिका में आचार्य सायणादि को **२.६** में बलि हेतु अंग-२ काटे जाते प्रतीत होते पशु के विभिन्न अंगों का जो वितरण किया गया है। उसमें भाष्यकार आचार्य सायण तथा हिन्दी अनुवादक डॉ. सुधाकर मालवीय ने खुर का भाग नेष्टा व पोता को, पसलियां ग्रावस्तुत को तथा पूंछ का भाग पत्नियों को देने की बात कही है। मैं नहीं समझता कि इन भागों को भी कोई मांसाहारी खाता वा खा सकता होगा। आगे लिखा है कि जब मारे पशु का ऐसा २६ प्रकार का विभाग किया जाता है, तब वह पशु स्वर्ग में जाने वाला होता है। यदि अन्य प्रकार से विभाग करेंगे, तो उन यज्ञकर्त्ताओं को पापी कहा है। यह व्यर्थ व बीभत्स प्रलाप प्रक्षेप्ता भी क्यों करेगा? फिर इसी बात को अगले बिन्दु पर और स्पष्ट समझें-

(५) पूर्वोक्त प्रकरण **२.६** में पशु का नृशंस वध कराने की बात कहता प्रतीत होने वाला प्रकरण यदि प्रक्षिप्त है, तो उससे पूर्व प्रक्षेप्ता को पशु के सर्वांग पूर्ण करने वाली बात ध्यान में क्यों नहीं आयी? क्या पशु को बर्बरता से मार कर किसी पशु को सर्वांग पूर्ण किया जा सकता है? यह कैसा उन्मत्त प्रलाप है? तब किसी बुद्धिमान् प्रक्षेप्ता को उस प्रकरण को हटाना चाहिए था, तभी मांसाहारी प्रक्षेप्ता की बात सार्थक होती। क्या वह हटाना भूल गया? पशु ओषध्यात्मा है, इसका अर्थ कहीं पशुवध से मेल खाता प्रतीत नहीं होता, तब इस पर प्रक्षेप्ता की दृष्टि क्यों नहीं पड़ी? उससे पूर्व **"आग्नेयो वाव सर्वः पशुरग्निः हि सोऽनु प्राच्यवेति"** जिसका अर्थ सायणाचार्य व डॉ. मालवीय ने किया है- "उस पशु ने अग्नि का अनुसरण किया इसलिए सभी पशु अग्नि से सम्बन्धित कहे जाते हैं।" उससे पूर्व एक कण्डिका का अर्थ किया "अग्नि उस पशु के आगे चला और वह पशु उस अग्नि के पीछे और अग्नि उसके आगे चले, ऐसी शर्त उस पशु ने देवों के समक्ष रखी थी।" विचारें कि यह क्या लीला हो रही है? ऐसी अटपटी व मूर्खतापूर्ण बातों को कोई प्रक्षेपकर्त्ता क्यों प्रक्षिप्त करेगा? **ऐतरेय २.८** में जो कण्डिकाएं हैं, उनका आधियाज्ञिक वा रूढ़ अर्थ सायण व मालवीय ने जो किया है- उसके कुछ अंश इस प्रकार है-

"आलम्भित मनुष्य से मेध अर्थात् यज्ञयोग्य हविः भाग निकल कर अश्व में प्रविष्ट हो गया। और तब वह मनुष्य किन्नर हो गया। आलम्भित अश्व में से यज्ञ योग्य हविःभाग निकलकर गाय में चला गया तब अश्व नीलगाय हो गया। पुनः आलम्भित गाय में से यज्ञ योग्य हविः भाग निकल कर भेड़ में प्रविष्ट हो गया और गाय बैल बन गयी, फिर भेड़ में से यज्ञ योग्य हविः भाग निकलकर बकरे में चला गया, तब भेड़ ऊँट बन गयी। अन्त में बकरा मेध्य पशु रहा"

इस प्रकार प्राणियों का दूसरे प्राणियों में परिवर्तन का प्रलाप क्या कोई साधारण पुरुष भी करेगा? तब संस्कृत भाषा व व्याकरण का पण्डित ऐसे प्रक्षेप क्यों करेगा? इससे उसका क्या प्रयोजन सिद्ध होगा?

क्या इन सभी प्रकरणों से यह स्पष्ट संकेत नहीं मिलता है कि ये कण्डिकाए प्रक्षिप्त नहीं हैं, बल्कि अति गूढ़ रहस्यों से परिपूर्ण परन्तु साधना, ऊहा व तर्क से हीन कथित पण्डितों के लिए नितान्त दुर्बोध्य हैं।

(६) हमें शास्त्रों का अध्ययन करने में वर्तमान में प्रचलित रूढ़ार्थों को ही मस्तिष्क में बिठा कर अर्थ करने का प्रयास नहीं करना चाहिए, बल्कि उसी ग्रन्थ अथवा उस काल के अन्य आर्ष ग्रन्थों में अथवा ऋषि कोटि के पुरुषों द्वारा उन शब्दों के किए अर्थ को ध्यान में रखकर अपने मस्तिष्क से गम्भीरता विचार करके ही अर्थ करने का प्रयास करना चाहिए। जैसे हमने बिन्दु (३) में पशु तथा उसके अंग प्रतीत होने तथा आचार्य सायणादि द्वारा इसी दुष्ट अर्थ में प्रयुक्त पदों के प्राचीन ब्राह्मणादि आर्ष ग्रन्थों तथा **महर्षि दयानन्द** के वेद भाष्यों से अनेक आधिदैविक (पदार्थ विज्ञान परक) अर्थ दिखलाये हैं, इसी प्रकार ही सर्वत्र प्रयत्न सबको करना योग्य है।

प्राचीन गणनाओं के वाचक पदों को भी इस विचार से देखना चाहिए कि कहीं उस समय यही शब्द किसी अन्य परिमाण के सूचक तो नहीं थे? ब्राह्मण ग्रन्थादि आर्ष ग्रन्थ हजारों वर्ष पूर्व के हैं। भाषा, देश व काल के अनुसार परिवर्तित होती रह सकती है। हम एक उदाहरण यहाँ दे रहे हैं- अंग्रेजी

भाषा में एक 'बिलियन' आज एक अरब संख्या को कहा जाता है, जबकि ब्रिटेन व फ्रांस में १६४८ ईसवी सन् से पूर्व मिलियन मिलियन अर्थात् दस खरब संख्या को एक बिलियन कहा जाता था (देखें Chambers-Dictionary, Oxford English-Hindi Dictionary)। आज दस खरब संख्या के लिए 'ट्रिलियन' शब्द को प्रयोग अंग्रेजी भाषा में किया जाता है, जबकि १६४८ सन् से पूर्व ट्रिलियन संख्या मिलियन मिलियन मिलियन अर्थात् एक करोड़ खरब के रूप में मान्य थी। विचारें कि यह परिवर्तन कैसे व क्यों हुआ? कृषि सम्बन्धी माप रखने वा जानने वाले जानते हैं कि बीघा का परिणाम पृथक्-२ राज्यों वा क्षेत्रों में, पृथक्-२ होता है। अब एकड़ लाकर एकरूपता कर दी। इसी प्रकार प्राचीन शास्त्रों में लक्ष, कोटि, योजन शब्दों से कहीं असम्भव कथन प्रतीत होता हो, तब वह प्रक्षिप्त भी हो सकता है अथवा उस काल में इन शब्दों से किसी अन्य परिमाण का ग्रहण भी हो सकता है। **नकारात्मक सोच व उतावलेपन से ही शास्त्रों का चिन्तन नहीं करना चाहिए, बल्कि अत्यन्त विचारपूर्वक ईश्वर की साधना से प्राप्त निर्मल बुद्धि का आश्रय लेकर ही शास्त्रों का मर्म समझ में आ सकता है।**

(७) शास्त्रों को किसी भी प्रकार के पूर्वाग्रह की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए, बल्कि नितान्त निष्पक्ष परन्तु सत्य के ग्रहण करने के सामर्थ्य से युक्त होकर ही पूर्वोक्त तथा आगे वर्णित बिन्दुओं को ध्यान में रखकर ही चिन्तन करना चाहिए। पूर्वाग्रह वा स्वमताग्रह से देखने से तो संसार के विभिन्न विद्वान् पृथक्-२ के साथ परस्पर विरोधी अर्थ भी निकाल सकते हैं, जो सर्वथा अनुचित होगा। हाँ, अपनी रुचि व योग्यता के अनुसार आधिदैविक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक एवं आधियाज्ञिक अर्थ तो सम्भव हैं और ऐसा होना भी चाहिए, क्योंकि यहाँ विषय भेद है परन्तु एक विषय में परस्पर विरोध नहीं है।

(८) कई बार कुछ विद्वान् स्वयं को ही प्रमाण मानकर अपने ही सामर्थ्य से शास्त्र-वर्णित घटनाओं वा किसी पूर्वज के सामर्थ्य से तुलना करके स्वयं असमर्थ होने से शास्त्रों को ही प्रक्षिप्त मान बैठते हैं, जिससे वे स्वयं को पूर्ण सिद्ध कर अपने भक्तों में प्रसिद्ध हो सकें। उदाहरणतः कोई योग का नाम लेने वाला यदि स्वयं पातंजल योगदर्शन में वर्णित किसी सिद्धि को प्राप्त करने की क्षमता से सम्पन्न न होवे, तो योगदर्शन के विभूतिपाद को ही शंका के घेरे में खड़ा कर दे। प्राचीन काल के महाबली महापुरुषों के बलपौरुष के वर्णन को सर्वथा मिथ्या ही मानकर उनसे सम्बंधित रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों को सर्वथा ही त्याज्य घोषित कर दे। ऐसा करना घोर अपराध है। हाँ, इन ऐतिहासिक ग्रन्थों में भारी प्रक्षेप हैं परन्तु इसी भय से इनका कोई प्रमाण न माना जाए, यह घोर अज्ञानता एवं राष्ट्रिय व अन्तर्राष्ट्रिय विरासत रूप इन महाग्रन्थों के साथ-२ इस गौरवशाली रहे राष्ट्र के साथ भी घोर अपराध व पाप है।

(९) किसी बात को वेद विरुद्ध वा वेदानुकूल सिद्ध करना पूर्ण वेदज्ञ पुरुष का ही सामर्थ्य है। हर किसी विद्वान् को इस प्रकार का दावा करना अनुचित एवं हानिकारक है। तब साधारण व्यक्ति को तो यह अधिकार कैसे मिल सकता है? शेष कुछ चर्चा पूर्व में इसी बिन्दु पर कर चुके हैं।

(१०) इसी प्रकार जिस सृष्टि को पूर्ण रूप से न तो कोई वैज्ञानिक जान सका और न कोई वेदज्ञ पुरुष, तब साधारण व्यक्ति का तो सामर्थ्य ही क्या है? डिस्कवरी आदि वैज्ञानिक चैनलों पर कई दृश्य हमने ऐसे देखे हैं, जिनके बारे में पहिले कभी सुना ही नहीं था। फिर ये चैनल भी नवीनतम जानकारी नहीं बतला पाते हैं। पहले कोई कहता था कि चन्द्रमा पर पानी है, तो कोई नहीं मानता था, परन्तु जब आज भारतीय चन्द्रयान अभियान को जल मिला तो, मानने लगे। **महर्षि दयानन्द** द्वारा **सत्यार्थ प्रकाश** में परग्रही प्राणी मानने को विज्ञान विरुद्ध बताने लगे, परन्तु फिर ब्रिटिश वैज्ञानिक गणितज्ञ **स्टीफन हॉकिंग** के परग्रही जीव मानने से अन्य प्रबुद्धजन भी स्वीकार करने लगे। दुर्भाग्य से कुछ महानुभाव शास्त्रों में अनेक बातों को बिना गम्भीरता से विचारे सृष्टिक्रम के विरुद्ध व असम्भव कह देते हैं। उधर देखें कि वर्तमान विज्ञान में भी क्या-२ प्रचलित है? University of sussex के विजिटिंग फेलो (खगोल विज्ञान विभाग) के प्रोफेसर **जॉन ग्रिबिन** जब अपनी पुस्तक "The Origins of the future-ten questions for the next ten years" जो वर्जीनिया (यू.एस.ए) से प्रकाशित हुई है, में लिखते हैं-

"It is even possible that before too long perhaps in a hundred years or so- we might have the technological ability to create universes in this way, and that our universe,

may have been deliberately created by intelligent beings in another universe, as an experiment of some kind" p.66

भाव यह है कि ये वैज्ञानिक महोदय जिनके परिचय में उन्हें best selling author कहा गया है, मानते हैं कि मनुष्य कभी अपनी तकनीक के बल पर अपने ब्रह्माण्ड जैसा दूसरा ब्रह्माण्ड बना सकता है तथा इनकी दृष्टि में हमारा ब्रह्माण्ड, भी दूसरे किसी ब्रह्माण्ड में रहने वाले किन्हीं बुद्धिमान् प्राणियों ने बनाया हो, ऐसा सम्भव है। इस पुस्तक में यह भी लिखा है कि इस प्रकार की विचारधारा के विषय में अधिक जानकारी इन्हीं द्वारा लिखित पुस्तक In the Beginning तथा एक अन्य वैज्ञानिक Lee Smolin जिन्होंने एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ The Trouble With Physics लिखा है, जो Penguin Group द्वारा अनेक देशों से प्रकाशित हुई है, द्वारा लिखित पुस्तक The Life Of The Cosmos में मिल सकती है।

आजकल स्टीफन हॉकिंग भी पता नहीं क्या करने की योजना अपने विज्ञान के बल पर बनाते रहते हैं, तब भारतीय शास्त्रों वा इतिहास की समीक्षा इस विकसित विज्ञान की दृष्टि में करना अत्यन्त कठिन है। जब मनुष्य ब्रह्माण्ड बना लेगा, ऐसा ये वैज्ञानिक सोच सकते हैं, तब क्या असम्भव रह जायेगा?

पाठक गण! यह लिखने का तात्पर्य यह नहीं है कि मैं इन वैज्ञानिकों से सहमत होकर पौराणिक दन्त कथाओं अथवा रामायण व महाभारत की प्रक्षिप्त कथाओं पर अपनी मुहर लगा रहा हूँ। ऐसा नहीं परन्तु मैं उन आर्य विद्वानों अथवा प्रबुद्ध माने जाने वाले अहंकारी नास्तिक बन्धुओं को सचेत अवश्य कर रहा हूँ कि वे पहले यह समझने का प्रयास करें कि विज्ञान की दृष्टि में सम्भावना एवं असम्भवाना के बीच की सीमा रेखा कितनी सूक्ष्म है?

यह गम्भीर बात है कि वैज्ञानिकों की ऐसी काल्पनिक वा असम्भव बातों पर वर्तमान कथित प्रबुद्ध समाज क्यों मूक रहा? शास्त्रों की हर बात में नुक्ताचीनी करने वाले विज्ञान के नाम पर कुछ भी बोलने पर मौन रहते हैं, यह घोर पक्षपात है। जरा विचारें कि किसी ब्रह्माण्ड के मानव किसी अन्य ब्रह्माण्ड को बना दें, तो कोई अन्य ब्रह्माण्डवासी उसे नष्ट भी कर सकते हैं। तब यह तो सर्वत्र अव्यवस्था फैल सकती है? क्या सबके ऊपर कोई नियन्त्रक भी है वा सभी स्वच्छन्द कुछ भी कर सकते हैं?

(११) इस प्रकरण को पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। हम एक उदाहरण फिर भी देना आवश्यक समझते हैं। वाल्मीकि रामायण में रामसेतु की लम्बाई सौ योजन बताई है, जबकि वर्तमान में भारत की श्रीलंका से दूरी लगभग ३६ किलोमीटर ही बतायी जाती है। केवल इस आधार पर कोई यह न कहे कि यह प्रक्षिप्त है अथवा रामायण ही काल्पनिक है। यहाँ योजन का परिमाण भी भिन्न हो सकता है और उस समय इतनी दूरी में जल भी हो सकता है। दोनों ही सम्भावनाएं हैं।

(१२) यह प्रकरण पूर्व में ही पर्याप्त स्पष्ट किया गया है।

(१३) इस प्रकरण को भी पर्याप्त स्पष्ट किया गया है। फिर भी इतना अवश्य कहना चाहेंगे कि यदि आचार्य सायणादि विद्वान् शास्त्रों को अपनी योग्यतानुसार रूढ़ार्थ में ही देखकर, जैसा कि उन्होंने देखा भी है, अपनी अल्पबुद्धि से प्रक्षिप्तांश छांट कर निकाल फैंकते तथा वेद भाष्य में जो अश्लीलता उन्होंने वा महीधरादि ने प्रस्तुत की है तथा हिंसादि पापों को भी अपने भाष्य में प्रस्तुत किया है, उसे वे प्रक्षिप्त मानकर निकाल देते, तो क्या **महर्षि दयानन्द** तथा हमें **वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक, सूत्र ग्रन्थ** आदि मूल एवं पूर्ण रूप में उपलब्ध हो पाते? यदि ऐसा नहीं होता हमारे **ऋषि दयानन्द** कैसे वेदोद्धार का कार्य कर पाते? कैसे पठन-पाठन विषय पर कुछ विचार कर पाते। हमारे पास क्षत-विक्षत शास्त्र होते, जिनसे किसी भी विद्या का प्रकाश कभी नहीं हो पाता, तो कुछ शास्त्र लुप्त ही हो गये होते।

उधर हम यज्ञों के उन दृश्यों पर विचार करें, जब वेदज्ञ ब्राह्मण कहाने वाले ब्राह्मणरूप धारण करके एक हाथ में शास्त्र और दूसरे हाथ में तलवार लेकर निरीह प्राणियों किंवा मानवों की बलि चढ़ा कर रक्त, मांस से सने हुए यज्ञ करते होंगे, तब यह धरती कैसी भयानक दिखाई देती होगी? यज्ञशालाएं बूचड़खानों का रूप धारण करती होंगी, तब कैसा भयंकर एवं घृणित दृश्य उपस्थित होता होगा? दुराचार,

मदिरापान आदि पाप इस धर्म विशेषकर वैदिक धर्म के नाम पर हुए। शास्त्रों को ही न समझने के कारण नारी व शूद्र वर्ग ने मनमाने कष्ट सहे। इन सब पापों के लिए ये कथित शास्त्रवेत्ता ही उत्तरदायी थे व कुछ (पौराणिक) अब भी हैं। **इस घोर पाप के कारण ही सम्पूर्ण विश्व में वेदादिशास्त्रों का भारी पतन होकर, वैदिक धर्म नष्ट होकर, हजारों कल्पित मत मतान्तर उत्पन्न होकर मानव जाति का अकल्पनीय पतन हुआ, उसके लिए सायण, महीधर आदि भाष्यकारों को यह संसार कभी क्षमा नहीं करेगा। वैसे इसके लिए सायणादि आचार्यों को पूर्ण दोष देना उचित नहीं है, क्योंकि वेद व वैदिक कर्मकाण्डों के नाम पर यह पाप लीला इनसे भी पूर्व इस देश व संसार में व्याप्त हो चुकी थी।** परन्तु इन विद्वानों ने इतने पाप करते हुए भी वैदिक वाङ्मय के मूलरूप को कम से कम बचाये तो रखा, अन्यथा हमारे सभी शास्त्र, जो लाखों करोड़ों वर्ष तक अपने महान् ज्ञान विज्ञान के प्रकाश से भूमण्डल को प्रकाशित करते रहे हैं एवं उसी आर्ष दृष्टि से इन्हें पुनः **भगवद् दयानन्द स्वामी** ने समझा था, आज संसार से सर्वदा के लिए सर्वथा लुप्त हो जाते। इस कारण मानव जाति इस पक्ष में इन विद्वानों की ऋणी भी है। यदि ऐतरेय ब्राह्मण का आचार्य सायण ने जैसा तैसा भाष्य भी नहीं किया होता, तो मैं इस विषय में कुछ लिखने का विचार भी नहीं कर पाता, क्योंकि यह महान् ग्रन्थ ही लुप्त हो गया होता।

प्रश्न– इतने लम्बे प्रकरण से ऐसा प्रतीत हो रहा है कि आप स्वयं **महर्षि दयानन्द** का नाम भी ले रहे हैं और शास्त्रों में प्रक्षेपों की बात को परोक्षरूपेण अस्वीकार भी कर रहे हैं। आर्य समाज के विद्वानों का भी खण्डन कर रहे हैं और सायणादि का भी? वर्तमान प्रबुद्धों की नास्तिकवादी सोच का भी खण्डन कर रहे हैं और वैज्ञानिक सोच, ऊहा की भी वकालत कर रहे है। आखिर आप का स्वयं का मत क्या है? क्या शास्त्रों में प्रक्षेप नहीं हुए हैं? क्या सभी शास्त्र सर्वांश में सत्य हैं? आखिर शास्त्रों का सत्यार्थ कैसे विदित होवे?

उत्तर– इस विषय में **महर्षि दयानन्द** ने अपनी एक लघु परन्तु महत्वपूर्ण पुस्तिका **'व्यवहारभानुः'** में सत्यासत्य परीक्षा के पांच उपाय बताये हुए लिखा है–

"उनमें **प्रथम**– ईश्वर उसके गुण, कर्म, स्वभाव और वेदविद्या। **दूसरा–** सृष्टिक्रम, **तीसरा–** प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण, **चौथा–** आप्तों का आचार, उपदेश ग्रन्थ और सिद्धान्त और **पांचवां–** अपने आत्मा की साक्षी, अनूकूलता, जिज्ञासुता, पवित्रता और विज्ञान। **ईश्वरादि से परीक्षा** करना उसको कहते हैं कि जो-जो ईश्वर के न्याय आदि गुण, पक्षपात रहित सृष्टि बनाने का कर्म और सत्य, न्याय, दयालुता, परोपकारिता आदि स्वभाव और वेदोपदेश से सत्य और धर्म ठहरे, वही सत्य और धर्म और जो-जो असत्य और अधर्म ठहरे, वही असत्य और अधर्म है। जैसे कोई कहे कि बिना कारण और कर्ता के कार्य होता है, सो सर्वथा मिथ्या जानना। इससे यह सिद्ध होता है कि जो सृष्टि की रचना करने हारा पदार्थ है, वही ईश्वर और उसके गुण, कर्म, स्वभाव वेद और सृष्टिक्रम से ही निश्चित जाने जाते हैं। **दूसरा सृष्टिक्रम** उसको कहते हैं कि जो-२ सृष्टिक्रम अर्थात् सृष्टि के गुण-कर्म और स्वभाव से विरुद्ध कहे कि बिना मां-बाप के लड़का, कान से देखना, आंख से बोलना आदि होता वा हुआ है। ऐसी-ऐसी बातें सृष्टिक्रम के विरुद्ध होने और माता-पिता से सन्तान, कान से सुनना और आंख से देखना आदि सृष्टिक्रम के अनुकूल होने से सत्य ही हैं।

तीसरा **प्रत्यक्ष आदि आठ प्रमाणों** से परीक्षा करना उसको है कि जो-२ प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ठीक-२ ठहरे, वह सत्य और जो-२ विरुद्ध ठहरे, वह मिथ्या समझना चाहिए। जैसे किसी ने किसी से कहा कि यह क्या है? दूसरे ने कहा पृथिवी। यह **प्रत्यक्ष** है। इसको देखकर इसके कारण का निश्चय करना **अनुमान**। जैसे बिना बनाने हारे के घर नहीं बन सकता, वैसे ही सृष्टि का बनाने हारा ईश्वर भी बड़ा कारीगर है, यह दृष्टान्त **उपमान** और सत्योपदेष्टाओं का उपदेश वह **शब्द**। भूतकालस्य पुरुषों की चेष्टा आदि पदार्थों की कथा आदि को **ऐतिह्य**। एक बात को सुन कर बिना सुने कहे प्रसंग से दूसरी बात को जान लेना, यह **अर्थापत्ति**। कारण से कार्य होना आदि को **सम्भव** और आठवां **अभाव** अर्थात् किसी ने किसी से कहा कि जल ले आ। उसने वहाँ जल के अभाव को जानकर तर्क से जाना कि जहाँ जल है, वहाँ से लाकर देना चाहिए। यह अभाव प्रमाण कहाता। इन आठ प्रमाणों से जो विपरीत न हों, वह-२ सत्य और जो-२ उल्टा हो, वह मिथ्या है।

आप्तों के आचार और सिद्धान्त से परीक्षा करना उसको कहते हैं कि जो-२ सत्यवादी, सत्यकारी, सत्यमानी, पक्षपातरहित सब के हितैषी विद्वान् सब के सुख के लिए प्रयत्न करें, वे धार्मिक लोग आप्त कहाते हैं। उनके उपदेश, आचार ग्रन्थ, और सिद्धान्त से जो युक्त हो, वह सत्य और जो विपरीत हो, वह मिथ्या है। **आत्मा से परीक्षा** उसको कहते हैं कि जो-२ अपना आत्मा अपने लिए चाहे, सो-२ सबके लिए चाहना और जो-२ न चाहे, सो-२ किसी के लिए न चाहना। जैसा आत्मा में, वैसा मन में, जैसा मन में वैसा क्रिया में होने को, जानने की इच्छा, शुद्ध भाव और विद्या के नेत्र से देखकर सत्य और असत्य का निश्चय करना चाहिए। इस पांच प्रकार की परीक्षाओं से पढ़ने-पढ़ाने हारे तथा सब मनुष्य सत्याऽसत्य का निर्णय करके धर्म का ग्रहण और अधर्म का परित्याग करें और करावें।।''

महर्षि दयानन्द अपनी **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** के 'वेदविषयविचार' नामक अध्याय में **निरुक्त १३.१२** का प्रमाण देते हुए वेदार्थ करने वाले की योग्यता के विषय में लिखते हैं- **''नैते श्रुतितः श्रवणमात्रेणैव तर्कमात्रेण च पृथक्-२ मन्त्रार्था निर्वक्तव्याः। किन्तु प्रकरणानुकूलतया पूर्वापर सम्बन्धेनैव नितरां वक्तव्या। किंच नैवैतेषु मन्त्रेष्वनृषेरतसोऽशुद्धान्तः करणस्या विदुषः प्रत्यक्षं ज्ञानं भवति।......**

अर्थात् वेदों के व्याख्यान करने के विषय में ऐसा समझना कि जब तक सत्य प्रमाण, सुतर्क, वेदों के शब्दों के पूर्वापर प्रकरणों, व्याकरणादि वेदांगों, शतपथ आदि ब्राह्मणों, पूर्व मीमांसा आदि शास्त्रों, और शास्त्रान्तरों का यथावत् बोध न हो, और परमेश्वर का अनुग्रह, उत्तम विद्वानों की शिक्षा, उनके संग से पक्षपात छोड़ के आत्मा की शुद्धि न हो, तथा महर्षि लोगों के लिखे व्याख्यानों को न देखें, तब तक वेदों के अर्थ का यथावत् प्रकाश मनुष्य हृदय में नहीं होता। इसलिए सब आर्य विद्वानों का सिद्धान्त है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से युक्त जो तर्क है, वही मनुष्यों के लिए ऋषि है।'' यहाँ कुछ विशेषताएं वर्णित हैं- १. व्याकरणादि शास्त्रों का पण्डित हो २. प्रकरणवित् होवे ३. ऋषि होवे ४. तपस्वी होवे ५. शुद्ध अन्तःकरण वाला अर्थात् ईर्ष्या, द्वेष, राग, काम, क्रोध, मोह, अहंकार, पक्षपात, मिथ्या, छल-कपट आदि से मुक्त होवे ६. प्रमाणों का ज्ञाता हो, ७. परमात्मा के प्रति समर्पित धर्मात्मा हो, जिससे उस पर परमेश्वर का अनुग्रह होवे। कभी-२ प्रारब्धवश भी सामर्थ्यहीन हो सकता है, तब प्रारब्ध भी अनुकूल हो ८. महर्षि भगवन्तों के व्याख्यानों का जानकार होवे। इन विशेषताओं के साथ व्यवहारभानु के प्रकरण को भी जोड़ कर देखें, पुनः भगवान् मनु महाराज का वचन भी देखें-

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।। (मनुस्मृति २.१३)

अर्थात् **जो विद्वान् धनैश्वर्य में आसक्त एवं अजितेन्द्रिय हो, उसे कभी भी शास्त्रों का ज्ञान नहीं हो सकता। दुर्भाग्य से आज सम्पूर्ण संसार में इन्हीं अवगुणों का ताण्डव है।** गुरुमुख परम्परा से शास्त्राध्ययन की परिपाटी चल रही है। परन्तु इन्हीं व्यसनों के जाल में गुरु-शिष्य दोनों ही फंसे हों, तब शास्त्र कहाँ बचेगा? आज धन, पद, प्रतिष्ठा की आसक्ति से कौन बचा हुआ है? इसी कारण शास्त्रों की चर्चा तो सुनाई भी देती है परन्तु शास्त्र का विज्ञान लुप्त हो चुका है।

यहाँ एक और बात जो अति महत्वपूर्ण है कि निरुक्तकार **महर्षि यास्क ने ऊहा को ब्रह्म तथा तर्क को ऋषि कहा** तथा वेदार्थकर्ता की योग्यता के प्रकरण में ही कहा, तब भी इस बात की चर्चा कथित विद्वान् कभी नहीं करते। गुरुकुल वा विश्वविद्यालयों से उपाधियां एकत्र करने वाले योग्यता का प्रमाण मांगते हैं, वे निरुक्त की अन्तिम सारभूत बात को छुपा लेते हैं, जहाँ ऊहा व तर्क को अनिवार्य बताया है। इनके बिना निरुक्त का यह प्रकरण ही व्यर्थ हो जाता है। **यह ऊहा व सुतर्क की क्षमता परमात्मा की कृपा तथा शुद्धान्तःकरण से ही उत्पन्न होती है। इसी के कारण मनुष्य ऋषि, देव, वैज्ञानिक आदि क्या-२ बन सकता है? बिना ऊहा के न तो शब्दों का यौगिक अर्थ सूझता है और न प्रकरण ही सूझता है।** हम यहाँ प्रकरण देवता व यौगिक अर्थ जानने की प्रक्रिया पर कुछ विचार करते हैं-

(१) प्रकरण ज्ञान में ऊहा की अनिवार्यता- निरुक्तकार के अनुसार वेदार्थ में प्रकरणज्ञान अनिवार्य है। बिना प्रकरण ज्ञान के यत्र-तत्र से कुछ-२ उद्धरण लेकर वैदिक विद्या पर अनुसंधान करना वैदिक वाङ्मय के साथ अन्याय करना ही है। वर्तमान में वेद पर जो अनुसंधान यत्र-कुत्र सुना जा रहा है, वह ऐसा ही हो रहा है। किसी एक ग्रन्थ का आद्यन्त वैज्ञानिक भाष्य करने का प्रयास नहीं हुआ।

टुकड़ों-२ में अर्थ करने से प्रकरण का ज्ञान तो हो ही कैसे सकता है? अब हम यह भी कहना चाहेंगे कि प्रकरणज्ञान सहज कार्य नहीं है। किसी वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ आदि के प्रथम मंत्र वा कण्डिका आदि का प्रकरण कैसे जाना जाये, जबकि उससे पूर्व कुछ है, ही नहीं। वस्तुतः बिना ऊहा व तर्क के प्रकरण ज्ञान असम्भव है। **ऊहा व तर्क से सम्पन्न प्रज्ञावान् एवं निर्मल अन्तःकरणयुक्त पुरुष ग्रन्थ के किसी भी भाग का प्रकरण अनायास ही जानने में सक्षम हो सकता है।** हमें ऐतरेय में कहीं भी प्रकरण को जानने में कभी गम्भीर विचार प्रायः नहीं करना पड़ा। सम्पूर्ण ऐतरेय ब्राह्मण के व्याख्यान में अनायास ही प्रकरण संगति स्वयमेव ईशकृपया लगती चली गयी।

(२) **देवता ज्ञान में ऊहा व तर्क अनिवार्यता-** वेद भाष्य करने अथवा ब्राह्मण ग्रन्थों के भाष्य करने में उस ब्राह्मण में आये विभिन्न वेदमंत्रों के देवता का ज्ञान अनिवार्य होता है। वेद व ब्राह्मण के गम्भीर आधिदैविक रहस्य को समझने में तथा सृष्टि विज्ञान को समझने में वैदिक ऋषि व छन्दों का भी गम्भीर ज्ञान अनिवार्य होता है। इन सबके ज्ञान के लिए ऊहा व तर्क की अनिवार्यता है। इसे हम इस प्रकार समझने का प्रयास करें।

मान लें किसी मंत्र का देवता 'अग्नि' है, तब 'अग्नि' शब्द के वेदार्थ की त्रिविध प्रक्रिया में कई अर्थ सम्भव हैं- यथा- परमात्मा, जीवात्मा, राजा, विद्वान्, सेनापति, आग, विद्युत्, चुम्बक, अन्य प्रकाशादि ऊर्जा आदि। तब इनमें से कौन सा अर्थ ग्रहण किया जाए? यह ज्ञान ऊहा व तर्क से ही हो पाएगा। इस विषय में **महर्षि दयानन्द** ने **सत्यार्थ प्रकाश** के प्रथम समुल्लास में लिखा है- "जहाँ-२ स्तुति, प्रार्थना, उपासना, सर्वज्ञ, व्यापक, शुद्ध, सनातन और सृष्टिकर्ता आदि विशेषण लिखे हैं, वहीं-२ इन नामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है....... जहाँ-२ उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, अल्पज्ञ, जड़, दृश्य आदि विशेषण भी लिखें हो, वहाँ-२ परमेश्वर का ग्रहण नहीं होता।..... जहाँ-२ इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और अल्पज्ञादि विशेषण हों, वहाँ-२ जीव का ग्रहण होता है।" यह कथन सर्वथा सत्य है परन्तु यहाँ भी तर्क व ऊहा की अनिवार्यता है। जब उत्पत्ति-विनाश आदि गुणों से युक्त किसी शब्द से अग्न्यादि किसी पदार्थ का ग्रहण करना हो, तो अग्नि नाम वाले विद्युत्, ऊष्मा, चुम्बक, प्रकाश आदि में से किसी एक का ग्रहण अपनी ऊहा व प्रतिभा के द्वारा ही सम्भव है। यहाँ कोई शास्त्र वा गुरु सहायता नहीं कर पाएगा। शास्त्र व प्रतिभासम्पन्न गुरु संकेत तो कर सकते हैं परन्तु बिना उच्च प्रतिभा के उन्हें समझना सम्भव नहीं है। जिस प्रकार ऊहा व तर्क से युक्त प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति ही महान् वैज्ञानिक बन सकता है, उसी प्रकार ऐसा व्यक्ति ही वैदिक वैज्ञानिक बनने की क्षमता रख सकता है।

(३) **यौगिक अर्थ के ज्ञान में ऊहा व तर्क की आवश्यकता-** इसमें भी ऊहा व तर्क की अनिवार्यता रहती है। मान लें कि **'गो'** एक शब्द है। इसका रूढ़ार्थ है- गाय नामक एक पशु परन्तु यौगिक अर्थों में किरण, पृथिवी, वाणी आदि भी इससे सिद्ध होते हैं। आचार्य सायणादि ने अपने भाष्यों में चाहे, वे वेद भाष्य हों वा ब्राह्मणादि ग्रन्थों के भाष्य हों, अधिकतर रूढ़ार्थों का ही उपयोग किया है। आचार्य सायण ने अपने भाष्यों में आर्ष प्रमाणों का प्रचुर प्रयोग किया है, पुनरपि उन्होंने उन प्रमाणों का भाव कहीं भी नहीं जाना, इस कारण उन प्रमाणों के प्रयोग से भी भाष्यों को रूढ़ार्थ में ही किया। उधर **महर्षि दयानन्द** ने आर्ष प्रमाणों का प्रयोग अपेक्षाकृत कम किया परन्तु उन्होंने उन प्रमाणों की वैज्ञानिकता वा यौगिकता को भली प्रकार समझ कर उनका उपयोग भी किया। यही इन दोनों भाष्यकारों में भेद है। ऐसा भेद क्यों है? क्या हमने कभी विचारा? महर्षि एक सच्चे योगी थे और साथ ही प्रतिभा, ऊहा व तर्क से सम्पन्न पूर्ण निर्मल चित्त प्रज्ञावान् पुरुष भी। इस कारण ही वे वेद का मर्म समझ सके, परन्तु काल के अभाव से वे अपना कार्य पूर्ण मनोयोग से नहीं कर पाए।

आज अनेक वैयाकरण वा नैरुक्त विद्वान् व्युत्पत्ति व निर्वचन करने में तो बहुत दक्ष हैं, और ऐसा होना भी चाहिए परन्तु ऊहा व तर्क के अभाव वा न्यूनता के कारण वे वाचकों अर्थात् शब्दों के जाल ही बुनते रहते हैं। अति गूढ़ व पाण्डित्यपूर्ण व्याख्यान देने में भी कोई-२ दक्ष होते हैं परन्तु वाचकों के आशय को न जानकर वाच्यों अर्थात् पदार्थ से दूर ही रहते हैं, इस कारण आज तक वैदिक विद्याओं का कुछ भी प्रकाश यह आर्ष पठन-पाठन की परम्परा भी नहीं कर पा रही। **वस्तुतः तर्क का ऋषि व ऊहा का ब्रह्म साथ नहीं होगा तथा पवित्र अन्तः करण न होगा, ऐषणाओं का त्याग न होगा, तब तक ईश्वरीय कृपा नहीं हो सकेगी।**

आश्चर्य है कि हमारे विद्वान् **'गो'** शब्द की व्युत्पति व निर्वचन पर ही शास्त्रार्थ करते रहे, जबकि **'गो'** वाचक के वाच्य 'गाय' नामक पशु को देखा व जाना ही नहीं, तब उसका दूध, घृत तो कैसे मिले? उधर जो गाय को Cow कहते हैं, वे Cow का व्युत्पत्ति व निर्वचन पर कभी सोचते नहीं परन्तु वे Cow को पालकर दूध, घृत खाकर पुष्ट हो रहे हैं। इसी कारण शास्त्रियों की दुर्दशा हो रही है। वे विज्ञान की ऊँचाई पर पहुंच रहे हैं और हम वाग्जाल को ही पाण्डित्य मान रहे हैं, यहाँ ऊहा व तर्क रूपी ऋषि की न्यूनता ही नहीं अभाव भी है।

अब जहाँ तक प्रक्षेपों के अस्तित्व का प्रश्न है, तो इस विषय में मेरा मत यह है कि ऐतरेय ब्राह्मण के अपने वैज्ञानिक व्याख्यान से मैं दृढ़तापूर्वक कह रहा हूँ कि **इस महान् व अद्भुत् ग्रन्थ में एक शब्द भी प्रक्षिप्त नहीं है।** मैंने सम्पूर्ण ग्रन्थ का सफलतापूर्वक व्याख्यान किया है। इससे अनुमान सहज है कि अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों व ११ उपनिषदों में यदि कुछ प्रक्षेप होंगे, तो भी बहुत कम। रामायण, महाभारत जैसे ऐतिहासिक ग्रन्थों, मनुस्मृति आदि में प्रक्षेप बहुत अधिक हैं। वर्तमान में प्रचलित १८ महापुराण व अन्य पुराण, उपपुराण, स्मृति अन्य उपनिषद् आदि ग्रन्थ महर्षियों के नाम से कल्पित ही हैं, इनमें से कोई एक ग्रन्थ कदाचित् एक व्यक्ति की रचना नहीं है। समय-२ पर इनमें मिलावट होती रही है। षड्दर्शनों में मुझे कहीं-२ (सांख्यदर्शन में विशेष) प्रक्षेप मिला, तो कहीं-२ योगदर्शन के व्यासभाष्य में कुछ प्रक्षेप प्रतीत होता है। कल्पित पुराणों में से वायु, मत्स्य, ब्रह्माण्ड, विष्णु आदि कुछ पुराण उपयोगी भी हैं परन्तु आर्ष ग्रन्थों के समान प्रामाणिक नहीं। श्रीमद् भागवत, ब्रह्मवैवर्त्त, शिवपुराण, भविष्यादि कुछ पुराण अनेक पापों के भण्डार हैं, भले ही उनमें कुछ विद्या व इतिहास की बातें हैं। इनकी जो कठोर आलोचना **भगवद्दयानन्द स्वामी** को करनी पड़ी, वह अति उचित व आवश्यक है। हमारा यह भी दृढ़ मत है कि आयुर्वेद के शीर्ष ग्रन्थ **चरक संहिता** एवं **सुश्रुत संहिता** में मांसाहार के प्रकरण सम्पूर्ण रूप से प्रक्षिप्त हैं तथा वाजीकरण सम्बन्धी प्रकरण भी कुछ सीमा तक प्रक्षिप्त प्रतीत होते हैं। ये प्रकरण ऋषियों की वैदिक मर्यादा तथा विज्ञान के विपरीत हैं। महान् आध्यात्मिक शक्तिसम्पन्न ईश्वर साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों से यह अपेक्षा नहीं। दुर्भाग्य से आज तक किसी आर्य विद्वान् ने भी कभी इस बात पर विचार नहीं किया और **महर्षि दयानन्द** ने कदाचित् समयाभाव से इस पर कुछ नहीं लिखा, इति।

प्रश्न- आप जिन प्रक्षेपों की चर्चा कर रहे हैं अथवा जिन शास्त्रों को कल्पित व अनार्ष बता रहे हैं, उन प्रक्षेपकारों वा कल्पित शास्त्रकारों का प्रयोजन क्या रहा होगा? वे संस्कृत भाषा एवं व्याकरण के विद्वान् तो होंगे ही, तब उन्होंने अश्लीलता, हिंसा, पशुबलि, मदिरापान आदि को ग्रन्थों में क्यों प्रक्षिप्त किया किंवा ऐसे कुग्रन्थों का निर्माण ही क्यों किया?

उत्तर- मैं अनेक प्रक्षेपों का कारण इस प्रकार मानता हूँ- वेद के कुछ मन्त्रों, जो कहीं-२ आख्यानरूप में हैं, तो कहीं-२ एक मंत्र विशेष के शब्द वा पाद विशेष को लेकर ब्राह्मण ग्रन्थकार महर्षियों ने लम्बे आख्यान व गाथाओं की रचना की। इससे उनका प्रयोजन वेद के आख्यान वा मंत्र विशेष को विस्तार से समझाना था। वह ब्राह्मण- आख्यान भी यौगिक पदों से युक्त था। ब्राह्मण ग्रन्थकार जानते थे कि वेदों में सम्पूर्ण आवश्यक सत्य विद्या बीज रूप में ही है। इस बीजरूप विद्या को प्राचीन अत्यन्त सत्यसम्पन्न महर्षि भगवन्त बिना किसी सहायक ग्रन्थ के महान् गुरुओं के श्री चरणों में बैठकर सुन कर ही समझ जाते थे और फिर वे उस विज्ञान को सुना कर तथा आवश्यक होने पर प्रयोग में लाकर तथा अध्यात्म विद्या को व्यवहार में लाकर पुष्ट कर लिया करते थे। परन्तु धीरे-२ सत्वगुण में न्यूनता आने लगी, तब महर्षियों ने उनके व्याख्यानस्वरूप उस समय के मनुष्यों के बौद्धिक व आत्मिक स्तर के अनुकूल ब्राह्मणादि ग्रन्थों की रचना की। इन ग्रन्थों में भाँति-२ के यज्ञों के द्वारा तथा विविध आख्यान व गाथाओं के द्वारा वेदार्थ के साथ ही समस्त सृष्टि विज्ञान को समझाने का प्रयास किया। उन्होंने भी रूढ़ार्थ करके अति विस्तृत ग्रन्थ न लिखकर अपनी बात को गागर में सागर भरने के समान यथासम्भव संक्षिप्त करने का प्रयास किया। इस यौगिक शैली के ग्रन्थों को आने वाली पीढ़ी के विद्वान् या तो समझ नहीं पाये अथवा उन्होंने जानबूझ कर ऐसे मनगढ़न्त (वर्तमान में प्रचलित पुराणादि) ग्रन्थ रचे, जिनमें अश्लील, असम्भव, अवैज्ञानिक, मूर्खतापूर्ण प्रसंगों, हिंसा, मांसाहार, पशुबलि, नरबलि आदि गम्भीर पापों की भरमार थी। नारी व शूद्र वर्ग की अति उपेक्षा व तिरस्कार, जन्मना वर्णव्यवस्था (कथित जाति

व्यवस्था), एक ईश्वर के स्थान पर कल्पित देवी देवताओं की मूर्तियों की पूजा, मृतक-श्राद्ध, ईश्वर का चित्र-विचित्र योनियों में अवतार लेकर लीलाएं करना आदि दुष्कर्मों को पवित्र सत्य-सनातन वैदिक धर्म के स्थान पर प्रचलित कर दिया। महर्षियों एवं देवों की लम्पटता, क्षत्रिय राजाओं की बर्बरता, मांसाहार-मदिरा सेवन आदि के प्रमाण देने वाले प्रकरणों की दुःखद भरमार थी। यदि वे विद्वान् वेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों की यौगिक शैली को न समझ पाने के कारण ऐसे ग्रन्थ रच बैठे वा अन्य आर्ष ग्रन्थों में प्रक्षेप कर बैठे, तब तो वे बड़े अपराधी श्रेणी में नहीं आते परन्तु यदि जानबूझ कर ऐसे पाप किये, तो वे गम्भीर अपराधी हैं, जिनका फल सम्पूर्ण मानव जाति ने हजारों वर्ष से भोगा है। न केवल मनुष्य जाति, अपितु उन निरीह जीवों ने भी भोगा है, जिनके रक्त से यह धरती स्नान करती रही है। इस्लामादि मतों में भी पशुओं की बलि व हिंसा की जो परम्परा चली है, उसके पीछे भी हम अपने इन कल्पित कुग्रन्थों, जिन्हें आज भी कथित हिन्दू समाज बड़ी श्रद्धा कहें वा मूर्खता, से अपने पवित्र धर्म ग्रन्थ समझता है, को ही दोषी मानते हैं। **जिस आर्य्यावर्त्त (भारत) देश ने कभी सम्पूर्ण विश्व में सच्चे अध्यात्म व पदार्थ विज्ञान का प्रचार प्रसार किया था, उसी भारत से ही ये पाप भी संसार में फैले हैं, ऐसा हमारा दृढ़ मत है।** आज देश में बड़े-२ पण्डित व धर्माचार्य कहाने वाले, वैदिक सनातन धर्म के कथित ध्वजवाहक बनकर इन सब पापों को बिना किसी आपत्ति के स्वीकार किये बैठे हैं। उन्हें संसार के अन्य मतावलम्बियों, कथित प्रबुद्ध जनों के आक्षेप सुनना, वेदादि शास्त्रों व ऋषियों की उनके द्वारा घोर निन्दा सुनना, तो स्वीकार्य है परन्तु ऋषि दयानन्द वा आर्य समाज की सत्य बात को सुनना उन्हें कदापि स्वीकार नहीं। यह बड़े शोक का विषय है।

अब इस प्रश्न कि ऐसे अपराधी लेखकों ग्रन्थकारों का प्रयोजन क्या था? क्यों ये देश व संसार से वेदमत के आदर्श को मिटाना चाहते थे?

इस विषय में हमारा मत है कि वेद व ब्राह्मणादि आर्ष ग्रन्थों की यौगिक शैली को न समझ पाने से संस्कृत भाषा के कुछ पण्डितों का अपनी अज्ञानता के कारण वा ऊहा व तर्क के अभाव में इन पवित्र ग्रन्थों में उपर्युक्त सम्पूर्ण पापों के पोषक प्रतीत होने वाले संकेत मिले और ऐसे पण्डित उन ग्रन्थों पर श्रद्धा तो रखते ही थे परन्तु उन्हें समझते नहीं थे। वे निर्मलचित्त व योगी भी नहीं थे। इस कारण उन्होंने अपने मन से रामायण, मनुस्मृति, व महाभारत आदि सरलभाषा के तथा जनता में अधिक प्रचलित ग्रन्थों में इन पापों के समर्थक अनेक प्रकरण प्रक्षिप्त कर दिये, तो कुछ नवीन कल्पित ग्रन्थ भी रचकर वाममार्ग नामक एक भ्रष्ट मत को प्रारम्भ कर दिया। इसी दुष्ट वाममत के बहुप्रचार से कालान्तर में वेद, मनुस्मृति, ब्राह्मण ग्रन्थों व यज्ञादि के पवित्र स्वरूप के स्थान पर अत्यन्त दूषित स्वरूप प्रचारित कर दिया गया। कुछ काल पश्चात् इनके विरुद्ध महावीर स्वामी, गोतम बुद्ध आदि पवित्रात्माओं ने अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्य आदि प्राचीन वैदिक आदर्शों को नवीन ढंग से प्रचारित करते हुए वाम मार्ग का खण्डन किया। वेद विषय में विशेषकर मौनावलम्बन ही रखा, क्योंकि वेद का यथार्थ उनकी समझ में आया नहीं और जो दूषित नकली स्वरूप प्रचारित था, उसे उनके निर्मल आत्मा ने स्वीकार नहीं किया। इन महापुरुषों के दिवंगत होने के पश्चात् उनके अनुयायियों ने न केवल वाममत का खंडन किया, अपितु वेदादिशास्त्रों का कठोर खण्डन करते हुए पतित हुए ब्राह्मणों का भी भारी विरोध किया। उन्होंने वैदिक साहित्य को भी भारी क्षति पंहुचाई, ऐसा सुना जाता है। हमारे विचार से इन्होंने भी आर्ष ग्रन्थों को बदनाम करने हेतु उनमें कुछ ऐसे भ्रष्ट प्रक्षेप किये हो सकते हैं। हमारे मत में प्रक्षेपों को मुख्यतः पांच भागों में बांटा जा सकता है-

१. जहाँ पशुबलि, मांसाहार, नरबलि, मदिरा, व्यभिचार आदि करने की बात हो, उसे कुछ प्रारम्भिक वाममार्गियों के द्वारा अपनी शास्त्रीय अज्ञानतावश किया गया प्रक्षेप माना जा सकता है, तो उनके अनुवर्ती वाममार्गियों द्वारा इसे जानबूझ कर प्रक्षेप किया गया, माना जा सकता है।
२. जहाँ ऋषियों, वैदिक ब्राह्मणों व क्षत्रिय राजाओं के द्वारा दुराचार, क्रूरता, छूआछूत, शोषण आदि की चर्चा है- यथा- भगवान् श्रीराम द्वारा भगवती सीता का त्याग, निरपराध तपस्वी शम्बूक का वध, व महर्षि गोतम की धर्मपत्नी अहिल्या का पतित होना, देवराज इन्द्र, महादेव शिव, भगवान् विष्णु, महर्षि ब्रह्मा, महर्षि विश्वामित्र आदि के दुराचार, ऋषियों व राजाओं का मांसाहार, शिकार खेलना, बीभत्स अश्लील मिथ्या अश्वमेधादि यज्ञ का अश्लील व क्रूर स्वरूप, द्रोणाचार्य द्वारा एकलव्य का अंगूठा काटना, धर्मराज युधिष्ठिर की पतिव्रता पत्नी द्रोपदी के पांच पति होना, पवित्र माता देवी

कुन्ती द्वारा कुमार्यावस्था में कर्ण को जन्म देना, परम योगेश्वर भगवान् कृष्ण की रासलीला, माखनचोरी, गोपियों से दुष्कर्म, राधा के साथ कुकर्म जैसे प्रक्षेप जानबूझ कर भारतीय वैदिक संस्कृति व धर्म के सच्चे स्वरूप से अनभिज्ञ होकर उनसे घृणा करने वाले वाममार्गी वेद विरोधी मतावलम्बी कुछ आचार्यों का कुकृत्य हो सकता है। हमारा मत है कि वेदमत पर श्रद्धा रखने वाला ब्राह्मण भले ही उनके सत्य स्वरूप को न जानकर इन पापों में लिप्त हो जाए परन्तु अपने पूर्वज पुरुषों को इस प्रकार कलंकित नहीं कर सकता। यह बात अलग है कि वर्तमान में इन ग्रन्थों पर श्रद्धा रखने वाले कथित पण्डित वा सामान्यजन इन पापों को महापुरुषों के लिए पाप ही नहीं मानते किंवा वे इन पापपोषक प्रकरणों को प्रक्षिप्त कहने का साहस नहीं रखते। इस कारण अपने महापुरुषों की निन्दा करना वा सुनना उनकी नियति बन गया है।

३. जहाँ छुआछूत, शूद्र व नारी के ऊपर अत्याचार, जन्मना ब्राह्मण की अति प्रशंसा, गुरु को परमात्मा से बड़ा मानकर अति प्रशंसा आदि प्रकरण हों, वहाँ वे प्रक्षेप भगवान् मनु निर्दिष्ट मनुस्मृति के मूलतत्व को न समझने वाले कथित ब्राह्मणों का पाप है। इसी प्रकार के नकली ब्राह्मणों ने इस भारतवर्ष के साथ-२ सम्पूर्ण विश्व को बहुत बड़ी क्षति पहुंचाई है।

४. जहाँ सृष्टिक्रम विरुद्ध अनर्गल कल्पनाओं यथा- महावीर हनुमान् द्वारा बाल्यावस्था में सूर्य को मुख में रखना, महावैज्ञानिक महर्षि अगस्त्य द्वारा समुद्रों को पी जाना, किसी राक्षस का पृथिवी को लेकर भाग जाना तथा वराह द्वारा पृथिवी का उद्धार आदि का प्रश्न है, उस विषय में हमारा मत है कि कहीं वैदिक आख्यानों को न समझ पाने से मिथ्या कथाओं को नादान ब्राह्मणों ने गढ़ा, तो कहीं अपने पूर्वजों को अतिशय चमत्कारी बताकर उनकी प्रतिमाओं की पूजा से पुष्फल धन व प्रतिष्ठा कमाना प्रयोजन हो सकता है।

५. कुछ प्रक्षेपकर्ता वे हो सकते हैं, जो स्वभावतः मद्यमांसादि दोषों की आसुरी परम्परा के पोषक थे परन्तु वैदिक मत के उत्कर्ष तथा वेदोक्त राजव्यवस्था के भय से ऐसे दूषित प्रक्षेप नहीं कर पा रहे थे परन्तु जैसे ही महाभारत के युद्ध के कुछ काल पश्चात् वेदोक्त राज व्यवस्था एवं विद्या व्यवस्था डांवाडोल हुई, इन्होंने अपने विचारों को आर्ष ग्रन्थों में आरोपित करने का अभियान चला दिया।

प्रश्न- आपने प्रक्षेप व मूल पर विस्तार से चर्चा की, उसमें हमारे अनेक प्रश्नों का समाधान तो हुआ परन्तु प्रश्न यह है कि ब्राह्मण ग्रन्थकारों ने अपने ये ग्रन्थ ऐसी भाषा में क्यों लिखे, जिसका अश्लील, हिंसापरक तथा मूर्खतापूर्ण अर्थ भी हो सकता है? क्या उन महर्षियों ने इतना भी नहीं विचारा कि आगामी पीढ़ी उनके कथनों का दूषित अर्थ निकालकर वैदिक धर्म, संस्कृति एवं मानव इतिहास को ही कलंकित कर देगी। यदि सीधी सरल भाषा में लिखते, तो आचार्य सायणादि भी क्यों दूषित अर्थ करते? जब ऐसे बड़े-२ संस्कृतज्ञ ही भ्रमित हो गये, तब सामान्य व्यक्ति उन ग्रन्थों से क्या सीखता? सभी मनुष्य तो ऋषि नहीं हो सकते?

उत्तर- आपका यह प्रश्न बहुत स्वाभाविक एवं आवश्यक है। यह प्रश्न अनेकों वेदभक्तों के मस्तिष्क में आता होगा, जो आज मृतप्राय वैदिक धर्म व संस्कृति की व्यथा से व्यथित हैं। इन सबका मूल कारण ये प्रक्षेप ही हैं और वस्तुतः प्रक्षेपों का भी एक महत्वपूर्ण मूल कारण इस प्रकार की भाषा का प्रयोग है। यद्यपि अन्य पूर्व वर्णित कारण भी हैं, पुनरपि भाषा की जटिलता बहुत बड़ा कारण है। हमारे मत में इस प्रकार की यौगिक भाषा के पीछे निम्न कारण रहे होंगे-

वेदों में दो प्रकार का विज्ञान है- एक आध्यात्मिक विज्ञान, दूसरा पदार्थ विज्ञान। इसके अतिरिक्त व्यवहारिक ज्ञान तीसरा है। इनमें से आध्यात्मिक व व्यावहारिक ज्ञान मानव मात्र के लिए समान रूप से उपयोगी है। व्यक्ति धर्मात्मा हो वा अधर्मात्मा, गुणवान् हो वा अवगुणी, दोनों प्रकार के व्यक्ति आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक ज्ञान के अधिकारी हैं। अधर्मी वा अवगुणी भी आध्यात्मिक विज्ञान के द्वारा धर्मात्मा व सद्गुणी हो जायेगा। कदाचित् वह ऐसा नहीं भी बन सके, तब भी वह इन विद्याओं का दुरुपयोग करके किसी भी प्राणी की कोई हानि नहीं कर सकेगा। यदि इस विद्या को किसी दूसरे देश, दूसरे लोक का प्राणी भी ले जाए, तब भी उससे कोई हानि नहीं होगी, बल्कि हर दृष्टि से सबका हित ही सधेगा, जबकि भौतिक विज्ञान के विषय में ऐसा नहीं है। भौतिक विज्ञान की सभी शाखाएं एवं उनका तकनीकी व प्रायोगिक रूप मानव जाति को भोगवाद की ओर ले जाने वाला है, यदि उन पर आध्यात्मिक

विज्ञान का नियन्त्रण नहीं होवे। ऐसा भोगवाद न केवल मानव जाति, अपितु समूची प्राणिजाति के लिए घातक होता है, जैसा कि हम आज इस भूमण्डल में देख रहे हैं। आज शिक्षा व तकनीक पर सबका समान अधिकार है। यह समान अधिकार ही अपराधियों, आतंकवादियों को शस्त्रविद्या तथा सूचना तकनीक आदि के द्वारा दुर्दान्त अपराधी बना रहा है। पुलिस वा सेना से भी बढ़कर वे इस विद्या से सम्पन्न होकर शक्तिशाली देशों को भी आतंकित करने में सफल हो रहे हैं। सूचना तकनीक के अधिकार ने विश्व की युवा पीढ़ी को भ्रष्ट कर दिया है। हम डिजीटल होने वा सबको डिजीटल करने में गौरव अनुभव कर रहे हैं परन्तु यह डिजिटलाइजेशन ही सम्पूर्ण मानव जाति को दुराचारी, पापी, अपराधी बनाने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। यदि इस अधिकार के लिए सदाचार व आध्यात्मिकता आदि की योग्यता निर्धारित होती, तब यह विनाश नहीं होता परन्तु ईश्वर व सत्यधर्म से विमुख भोगवादी मृगतृष्णा में फंसे मानव में ऐसा विवेक कैसे जागेगा? आज अधिकारों के लिए उपद्रव हो रहे हैं, कर्त्तव्यों की चर्चा तक नहीं, शोक! सम्भवतः महर्षि भगवन्त चाहते थे कि सृष्टि के जड़ पदार्थों का ज्ञान विज्ञान केवल अधिकारी विद्वान्, जो आध्यात्मिक विज्ञान से युक्त हों, को ही दिया जाना चाहिए। दुष्ट व्यक्ति के हाथ में ऐसी विद्याएं नहीं आएं। मानो वे ऐसे लोगों से उन विद्याओं को छुपाना चाहते थे, इस कारण उन्होंने अपने ग्रन्थ यौगिक शैली में मानो कूट सांकेतिक भाषा में लिखे। उन्होंने यह भी विचारा होगा कि अज्ञानी एवं बर्बर लोग चाहे, वे देशी हों वा विदेशी, स्पष्ट भाषा में लिखे उस विज्ञान के दुरुपयोग के साथ-२ उसको अपनी मूर्खता से नष्ट भी कर सकते हैं, इस कारण भी ऐसी भाषा का प्रयोग किया हो, जिससे दुष्ट आक्रान्ता उन ग्रन्थों को मूर्खों जैसी कहानियां समझ कर न तो उन्हें चुरा कर ले जाने में प्रवृत्त होंगे और न उन्हें नष्ट करने में ही वे रुचि लेंगे। हम यह अनुभव करते हैं कि भारतीय वैदिक ऋषियों के ऐसे ग्रन्थ, जो स्पष्ट भाषा में विज्ञान व तकनीक के उद्घाटक थे, या तो चोरी हो गए वा नष्ट कर दिए गए। कहीं-२ ही कुछ ग्रन्थ कठिनाई से प्राप्त हो पाते वा हो सकते हैं। प्राचीन काल में **महर्षि अगस्त्य, महर्षि भरद्वाज, देवराज इन्द्र, भगवत्पाद ब्रह्मा, महादेव भगवान् शिव, देवर्षि बृहस्पति, भगवान् विष्णु** आदि कितने ही महावैज्ञानिक थे, उनके ग्रन्थ भी थे। वे सब ग्रन्थ कहाँ हैं? बृहद् विमानशास्त्र एक लघु ग्रन्थ **महर्षि भरद्वाज** का उपलब्ध हुआ है। यदि उनके ग्रन्थ भी ब्राह्मणों जैसी कूट व यौगिक भाषा में होते, तो कदाचित् नष्ट व चोरी न हुए होते। उस समय भी असुर लोग अपनी पदार्थ विद्या से संसार को त्रस्त कर ही रहे थे। अनेकत्र देव महापुरुषों से ही वे पदार्थ विज्ञान सीख कर उन्हें ही सताने का प्रयास करते, ऐसा हम इतिहास में पढ़ते हैं। धीरे-२ सत्वगुण और भी मन्द पड़कर तमोगुण-रजोगुण बढ़ता गया। ऐसे काल में ब्राह्मण ग्रन्थों का संकलन हुआ। तब उन ऋषियों ने पर्याप्त विचारपूर्वक कूट भाषा में ग्रन्थ लिखने का निश्चय किया होगा। यह बात इतिहास की है, इस कारण हम पूर्ण निश्चयपूर्वक तो नहीं कह सकते परन्तु हमें यही सम्भावना प्रबल प्रतीत होती है। रहा प्रश्न यह कि ऐसे शब्दों का प्रयोग क्यों किया, जिनका अर्थ अश्लीलता व हिंसापरक सहजतया हो सकता है? कूट व सांकेतिक भाषा लिखना तो उचित सिद्ध हो गया परन्तु शब्दावली दूसरी भी रखी जा सकती थी, तब वैसा ध्यान क्यों नहीं रखा गया?

इसके उत्तर में हमारा विचार है कि उस काल में प्रचलित भाषा में जो धातुएं वा शब्द प्रचलित होंगे, उनमें उन-२ शब्दों का ऐसा अर्थ प्रायः कम निकलता होगा। आज भी उपस्थ, लिंग, योनि आदि शब्दों के अन्य अर्थ भी प्रचलित हैं, ही। धातुओं के विविध अर्थ होते ही हैं। शब्द योगरूढ़ भी होते ही हैं, तब पढ़ने वाले की मनोवृत्ति ही अर्थ करने में विशेष महत्वपूर्ण होती है। अर्थ करने वाले को यह भी विचारना चाहिए कि **ऋषि वही हो सकता है, जो उच्चकोटि का योगी हो और योगी वही हो सकता है, जो अष्टांग योग का पालन करता हो।** अष्टांग योग के एक अंग में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य का समावेश है। तब सिद्ध हुआ कि अष्टांग योग का उच्चकोटि का परिपालक ही योगी बनने का अधिकारी है। इससे सिद्ध हुआ कि ऋषि को ऐसा होना ही होगा। यदि वह ऐसा नहीं होगा, तो वह ऋषि भी नहीं होगा। जब कोई ग्रन्थ किसी ऋषि की रचना है, तब उसमें इन महाव्रतों के विरुद्ध कोई बात हो ही नहीं सकती और न ही ऋषियों वा वेदोक्त राजाओं के इतिहास में ऐसी घटनाएं घट सकतीं। वर्तमान् काल में पृथक्-२ क्षेत्रों की भाषा में भी ऐसे शब्द होते हैं, जो एक क्षेत्र में सुन्दर तो दूसरे क्षेत्र में अश्लील व असभ्य माने जाते हैं। जब एक ही समय में इतना भेद केवल देश भेद से हो सकता है, तब हजारों वर्ष पुराने ब्राह्मणग्रन्थों की भाषा को वर्तमान काल की संस्कृत भाषा से कैसे तोला जा सकता है? दूसरी बात यह है कि जब आर्ष ग्रन्थों व वेदों में अहिंसा की बात कही गयी है,

गाय को अघ्न्या कहा गया है, पशुओं को मारने वाले पापी को मृत्यु दण्ड देने का आदेश है, भगवान् मनु ने मांसाहार में आठ पापी गिनाए हैं, तब उन्हीं ग्रन्थों में हिंसा के आदेश कैसे हो सकते हैं? यदि हैं, तो या तो उनका अर्थ हम नहीं समझ पा रहे अथवा वे प्रक्षिप्त हैं। यहाँ सब उदाहरण देकर समझाने का समय नहीं है। इसके लिए पृथक् ग्रन्थ लिखना अपेक्षित है। वैसे आर्य समाज के अनेक विद्वानों ने इस पर बहुत अच्छा व विस्तार से लिखा है? यहाँ हम इतना अवश्य कहना चाहते हैं कि वैदिक वाङ्मय में स्त्री-पुरुष के शरीरांगों से सृष्टि के कुछ पदार्थों की उपमा दी है। अनेकत्र देवमिथुन का वर्णन है, वह स्वाभाविक है। सृष्टि उत्पत्ति की प्रक्रिया को समझाने में स्त्री-पुरुष के उत्पादक अंगों व प्रजनन कर्मों से तुलना करना दोषपूर्ण नहीं कहा जा सकता। हाँ, इतना अवश्य ध्यातव्य है कि वह उपमा बुद्धिमत्तापूर्ण, शालीन एवं अत्यावश्यक हो। इस उपमा से विद्वान् व योगी गृहस्थ सृष्टि की सूक्ष्म प्रक्रियाओं को अधिक स्पष्टता से समझ सकता है। इसी कारण शरीर की तुलना ब्रह्माण्ड से की जाती है और ब्रह्माण्ड को परमात्मा का शरीर ही कहा जाता है। इस ग्रन्थ में अनेकत्र स्त्री-पुरुष, योषा-वृषा रूप पदार्थों के संयोग की चर्चा की गयी है। इस प्रक्रिया को नर व मादा प्राणियों के प्रजनन कर्म से तुलना करके मेधावी गृहस्थ विद्वान् अथवा शरीर शास्त्र का विशेषज्ञ सृष्टि के विभिन्न पदार्थों, कणों वा तरंगों के संयोग के क्रियाविज्ञान को अधिक सूक्ष्मता से अनुभव कर सकता है। इस कारण यह तुलना स्वाभाविक है।

प्रश्न- जब महर्षि भगवन्तों ने पदार्थ विज्ञान के गूढ़ रहस्यों को तत्कालीन अनधिकारी एवं दुष्ट पुरुषों से छुपाने के लिए कूट व रहस्यमयी भाषा में लिखा, तब आप क्यों वर्तमान जगत्, जो रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाद, दुर्योधन व कंस आदि अपने समय के दुष्ट पुरुषों की अपेक्षा अत्यन्त पतित व घृणित हैं, के लिए यह वैज्ञानिक व्याख्यान कर रहे हैं? क्या वर्तमान तामसी वृत्ति के वैज्ञानिक आपके व्याख्यान के आधार पर भविष्य में कोई ऐसी तकनीक विकसित नहीं कर सकते, जो संसार को विनाश की ओर ले जाये?

उत्तर- यह प्रश्न इस ग्रन्थ के सम्पादक एवं हमारे सुयोग्य शिष्य प्रिय विशाल आर्य (अग्नियश वेदार्थी) का है। इनकी शंका स्वाभाविक भी है और यथार्थ भी। मैं भी इस आंशका को स्वीकार कर रहा हूँ, पुनरपि मैंने इस ग्रन्थ का वैज्ञानिक व्याख्यान किया है, उसका कारण इस प्रकार है-

प्राचीनकाल में वेदविद्या को सुगमतापूर्वक समझने वाले बहुसंख्या में इस भूतल पर विद्यमान थे और तदनुकूल ही पारिवारिक, सामाजिक व राजनैतिक व्यवस्था प्रचलित थी। वेदादि शास्त्रों को सभी प्रमाण के रूप में स्वीकार करते थे। असुर-राक्षसादि जातियां भी इनका प्रमाण्य स्वीकार करती थीं। इस विद्या का कोई विकल्प वा विरोध कहीं नहीं था। तब रहस्यमयी भाषा वाले ब्राह्मणादि ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य भी विशाल वैदिक व आर्ष वाङ्मय इस संसार में विद्यमान था, जिसके आधार पर संसार की व्यवस्थाएं सुचारु रूप से चल रही थीं। ऐसी स्थिति में कुछ विद्याओं विशेषकर भौतिक विद्याओं को छुपाना अभीष्ट था, परन्तु आज संसार की स्थिति अत्यन्त दयनीय व दुःखद है। **आज संसार को ऐसी शिक्षा पद्धति ने जकड़ रखा है, जिसने धर्म, सदाचार, नैतिकता, प्रेम, करुणा, सत्य, न्याय ही नहीं, बल्कि ईश्वर, आत्मा, कर्मफल व्यवस्था, मोक्ष व पुनर्जन्म जैसे अटल व वैज्ञानिक सत्य-तथ्यों से भी प्रबुद्ध मानव को अति दूर कर दिया है।** यह कथित प्रबुद्ध इन तथ्यों को हास्यास्पद व मूर्खतापूर्ण कल्पनाएं मान रहा है। आज जिस पतन की बात कही गयी है, उस पतन का कारण संसार की वर्तमान शिक्षा, ज्ञान-विज्ञान तथा उस पर आधारित वा तत्प्रसूत कुसंस्कारी व्यवस्था है। वर्तमान ज्ञान विज्ञान, जो वास्तव में न केवल अपूर्ण एवं विनाशकारी है, अपितु अनेकत्र मिथ्यापन एवं तज्जन्य भोगवाद का जनक है, अपने अहंकार में चहुँ ओर भयंकर व उन्मत्त गर्जना कर रहा है। इसके सम्मुख सभी सगर्व नतमस्तक दिखाई दे रहे हैं। इस दुर्दशा व मिथ्या अहंकार को देखकर तथा सत्य वेद विद्या का बीजनाश एवं विश्व के भावी विनाश की आशंकावश मेरे मन में हजारों वर्षों से लुप्त वेद विद्या को संसार के समक्ष लाकर विश्व को भावी विनाश से बचाने का विचार हुआ। मैं यह भी अनुभव करता था कि अपने विज्ञान के दम्भ में भरा मानव केवल अध्यात्म की चर्चा नहीं सुनेगा, फिर **अध्यात्म व योग के नाम पर भी नितान्त पाखण्ड का साम्राज्य इस संसार में छा रहा है। लोकैषणा व वित्तैषणा के रोगी एवं विषयों में रमे योग का अभिनय करने वाले संसार को भ्रान्त कर रहे हैं,** तब सच्चे योग व अध्यात्म

को भी कौन सुनेगा? इस कारण पदार्थ विज्ञान के अहंकार में मदमस्त मानव को वैदिक पदार्थ विज्ञान के प्रकाश से ही सुधारने का एकमात्र उपाय मुझे सूझा।

इसी उपाय के अन्तर्गत मैं ब्राह्मण ग्रन्थों के सहस्रों वर्षों से गुप्त पदार्थ विज्ञान को वर्तमान अहंकारी संसार के सम्मुख प्रकाशित करने को प्रवृत्त हुआ हूँ। मेरा मानना है कि इस विज्ञान के प्रकाश से वर्तमान वैज्ञानिकता का अहंकार दूर हो सकेगा तथा वर्तमान जगत् वेद विद्या के इस महान् विज्ञान के सम्मुख नतशिर होकर इसके आध्यात्मिक, सामाजिक, राजनैतिक व आर्थिक क्षेत्र की विद्याओं पर भी विचार करने को विवश होगा। इसके उपरान्त वह भले ही वैदिक पदार्थ विद्याओं का दुरुपयोग करे, तब भी वह वर्तमान विज्ञान के विनाशकारी मार्ग की अपेक्षा तो अच्छा ही रहेगा। उधर संसार के सज्जन महानुभाव, जो वर्तमान पतन से दुःखी व निराश हो गये हैं, उन्हें नूतन प्रकाश व उत्साह मिलेगा। वैसे मुझे यह भी आशा है कि **यदि तामसी वृत्ति के मेधावी वैज्ञानिक भी मेरे इस ग्रन्थ को ध्यान से पढ़ लेंगे, तो उन्हें ईश्वर व उसका क्रिया विज्ञान साक्षात् प्रतीत होगा। उन्हें ईश्वरीय तेज सर्वत्र भासने लगेगा, तब वे इस वेदविद्या के दुरुपयोग की भावना से ग्रस्त नहीं होंगे।**

यदि मैं इस व्याख्यान को नहीं रचता, तो वेदविद्या वर्तमान विज्ञान व नास्तिकता के प्रबल प्रवाह में बहकर सदा के लिए मिट जाती, इस कारण मैं इस व्याख्यान को रचने को प्रवृत्त हुआ हूँ। यदि कोई इसका दुरुपयोग करेगा, तो ईश्वरीय व्यवस्था उसे उचित दण्ड अवश्य देगी। मेरा उद्देश्य तो सकल संसार का हित करना ही है और मेरी भावना को ईश्वर जानता है और वे सज्जन भी अवश्य जानने में सक्षम होंगे, जो इस ग्रन्थ को हृदयंगम करने में सफल होंगे। यदि इस विज्ञान के दुरुपयोग से इस पृथिवी पर पुनः रावण, दुर्योधन जैसे आसुरी प्रवृत्ति के राजा उत्पन्न हो जायें, तब भी मैं यह विचारता हूँ कि ये राजा तो आज के कथित प्रबुद्ध सामर्थ्यवानों की अपेक्षा अनेकांशों में श्रेष्ठ ही थे, अस्तु।

प्रश्न– क्या वेद की भाँति ब्राह्मण ग्रन्थों के भी यौगिक प्रक्रिया से अनेक अर्थ करना सम्भव है अथवा केवल आधिदैविक (पदार्थ विज्ञान सम्बन्धी) अर्थ ही हो सकता है।

उत्तर– हमने केवल ऐतरेय ब्राह्मण पर ही व्याख्यान किया है और वह भी केवल आधिदैविक पक्ष को लेकर, अतः हम अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों तथा अन्य पक्ष के विषय में कुछ भी कहने के लिए विशेष अधिकारी नहीं है, पुनरपि हम यह मानते हैं कि वेद के त्रिविध प्रक्रिया से अर्थ जब सम्भव हैं, तो उन पर व्याख्यान रूप ब्राह्मण ग्रन्थों के भी त्रिविध अर्थ सम्भव हैं। ऐसा सर्वत्र हो ही जायेगा, ऐसा आवश्यक नहीं है परन्तु वेद संहिताओं का अर्थ सर्वत्र त्रिविध हो सकता है, ऐसा हमारा दृढ़ मत है।

अन्त में सारांशतः वक्तव्य है कि ब्राह्मण ग्रन्थ वेद संहिताओं के सर्वाधिक निकट महान् ज्ञान विज्ञान के विशाल भण्डार हैं, जो यद्यपि विभिन्न दुरुह याज्ञिक प्रक्रिया के रूप में दिखाई देते हैं, पुनरपि इन महान् ग्रन्थों में सम्पूर्ण सृष्टि का जो अद्‌भुत् विज्ञान भरा हुआ है, वैसा कदाचित् अन्यत्र दुर्लभ है। ब्राह्मण ग्रन्थों को समझे बिना वेद को समझना सर्वथा असम्भव है।

ॐ इति अष्टमोऽध्यायः समाप्तः ॐ

नवमोऽध्यायः

वेद का प्रत्येक मन्त्र इस सम्पूर्ण सृष्टि में अनेकत्र Vibrations के रूप में विद्यमान है। इन मन्त्रों की इस रूप में उत्पत्ति पृथिव्यादि लोकों की उत्पत्ति से भी पूर्व में हो गयी थी।

अध्याय ४ में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि भाषा व ज्ञान दोनों की उत्पत्ति जगत् के चेतन कर्त्ता परमात्मा द्वारा ही की गयी। इस प्रक्रिया का कुछ विस्तार हम पूर्व में बता चुके हैं कि कैसे सृष्टि उत्पत्ति के समय भिन्न-२ छन्द (Vibration) प्राण उत्पन्न हुए और उन्हें सृष्टि की प्रथम पीढ़ी के चार ऋषियों ने कैसे अन्तरिक्ष से इन छन्दों को ग्रहण किया? इस अध्याय में हम इस विषय की चर्चा करेंगे कि वेद क्या है और ब्रह्माण्ड में इनकी उत्पत्ति कैसे हुयी? वर्तमान में उपलब्ध वेद संहिताओं का स्वरूप क्या है? वेद के छन्द, देवता,ऋषि स्वर आदि क्या है? इनकी वेदार्थ एवं सृष्टि विज्ञान में क्या उपयोगिता है? वेद का मानव जाति के लिए क्या उपयोग है एवं वेद को मानव मात्र के बीच प्रतिष्ठित करने के क्या उपाय हो सकते हैं? इन सब विषयों के साथ वेदार्थ की प्रक्रिया, महर्षि दयानन्द, आचार्य सायण आदि वेद भाष्यकारों के वेदभाष्यों की तुलना आदि विषयों के साथ-२ हमारी त्रिविध वेद भाष्य शैली पर भी प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे।

वेदार्थ मीमांसा

वेद उन छन्द रश्मियों का समूह वा संग्रह है, जो **अग्नि, वायु** आदि चार महर्षियों के द्वारा मानव सृष्टि की उत्पत्ति के प्रारम्भ में इस ब्रह्माण्ड से ग्रहण किया जाता है, यह बात हम **''भाषा व ज्ञान विज्ञान की उत्पत्ति''** नामक अध्याय में विस्तार से लिख चुके हैं। हमने वहाँ इस बात की भी चर्चा की है कि इस ब्रह्माण्ड के निर्माण में ऐसी अनेक छन्द रश्मियां (मंत्र) भी उत्पन्न होती हैं, जिन्हें वे चार महर्षि ग्रहण नहीं करते। वे मन्त्र वेद संहिताओं में विद्यमान नहीं है। ऐसे अनेक मन्त्र ब्राह्मण ग्रन्थों एवं आश्वलायन श्रौत्र सूत्रादि में मिलते हैं। श्री पं. युधिष्ठिर मीमांसक ने अपने **''वैदिक छन्दो-मीमांसा''** नामक ग्रन्थ में ऐसे मन्त्रों को याज्ञिक प्रक्रिया के पोषक आचार्यों की रचना बताकर अवैदिक घोषित किया है। हम पूज्य पण्डित जी की विद्या को नमन करते हुए भी यह कहना चाहते हैं कि यह पण्डित जी का नितान्त भ्रम है। ब्राह्मण ग्रन्थकार महर्षि साधारण आचार्य नहीं थे। वे इस सृष्टि तथा वेद दोनों के ही तलस्पर्शी विद्वान् एवं साक्षात्कृतधर्मा थे। उन्होंने ब्रह्माण्ड में स्पन्दित होती हुई उन ऋचाओं को स्वयं समाधिस्थ अवस्था में ग्रहण करके सृष्टि विज्ञान के गूढ़ रहस्यों को समझा और संसार के सम्मुख प्रस्तुत किया। हमें ऐसा नहीं मान लेना चाहिए कि चार संहिताओं में विद्यमान मन्त्र रूपी छन्द रश्मियां ही इस ब्रह्माण्ड को बनाने हेतु पर्याप्त हैं। वस्तुतः पण्डित जी ने वैदिक छन्द विज्ञान पर कुछ भी चिन्तन नहीं किया अन्यथा उन्हें यह भ्रम नहीं होता। श्री पं. भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने अवश्य इस विषय पर कुछ चिन्तन किया है और उनके चिन्तन से ही मुझे वैदिक छन्द विज्ञान पर गम्भीरता से विचारने की प्रेरणा भी मिली है, पुनरपि सम्भवतः उन्होंने ऐसे विषयों पर विचार नहीं किया। उन्होंने कुछ झलक मात्र इस विषय में दी है, सविस्तार कुछ नहीं कहा।

वेद ब्रह्माण्ड का ग्रन्थ

कुछ सहस्र वर्ष पूर्व से ही वेद का यथार्थ स्वरूप संसार से लुप्त हो गया। इसे इस भारत देश, जिसे कभी आर्य्यावर्त्त कहा जाता था, के साथ-२ कथित हिन्दू जाति एवं उसके कथित धर्म से जोड़कर देखा जाने लगा तथा देखा जा रहा है। इस सबका कारण मात्र यही था कि भारतवर्ष से वेद-ब्राह्मणादि ग्रन्थों का यथार्थ विज्ञान लुप्त हो चुका था। वेद मन्त्रों का उपयोग मात्र कुछ साम्प्रदायिक कर्मकाण्डों तथा कुछ धार्मिक परम्पराओं के निर्वहन की सीमा में संकुचित कर दिया गया।

बड़े शोक का विषय है कि **जो वेद, उन छन्दों का समूह है, जो सृष्टि उत्पत्ति की प्रक्रिया के प्रारम्भ होने के साथ-२ मूल कारण पदार्थ में vibrations के रूप में उत्पन्न हुए थे, उन छन्दों के समूह वेद को वर्ग, देश, सम्प्रदाय के क्रूर बन्धनों में बांध दिया गया। जिन वैदिक ऋचाओं से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड, जिसमें प्राणिमात्र के शरीर भी सम्मिलित हैं, निर्मित हुआ, वह वेद इतना संकुचित वा हेय कैसे बन गया?** यह एक लम्बी दुर्भाग्यपूर्ण कहानी है, जिस पर हम लिखना यहाँ आवश्यक नहीं समझते। **हम संसार के प्रबुद्धजनों को यह अवश्य कहना चाहते हैं कि ब्रह्माण्ड में उत्पन्न विभिन्न लोक, गैलेक्सियां, एटम, मॉलिक्यूल्स, सूक्ष्म कण, विकिरण, प्राणी-शरीर एवं वनस्पति आदि पदार्थ, क्या किसी**

देश, वर्ग, जाति, सम्प्रदाय से बंधे हैं? क्या इनकी विद्या=विज्ञान किसी क्षेत्र, वर्ग आदि तक सीमित है? यदि ऐसा नहीं है, तब इन सबमें व्याप्त तथा इनकी उत्पत्ति की उपादान कारणभूत वैदिक ऋचाएं (छन्द रश्मियों रूप vibrations) को क्यों साम्प्रदायिक वा जातीयता से सम्बद्ध माना जा रहा है? क्यों वेद को ब्रह्माण्ड भर का ग्रन्थ नहीं माना जा रहा है? क्यों **'ओम्'** की पवित्र ध्वनि, जो इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की सर्वप्रथम उत्पन्न एवं सबकी प्रेरक रश्मि है, को हिन्दुओं से जोड़कर साम्प्रदायिक सीमाओं में बांधा जा रहा है? **क्यों इस महान् वैज्ञानिक एवं सबके मूल कारण पदार्थ रूप 'ओम्' रश्मि (vibration) का विरोध किया जा रहा है?** कोई इसे अपने सम्प्रदाय से जोड़ता है, तो कोई इसे पराया मानकर विरोध करता है, यह सब वेदविद्या के स्वरूप के विषय में नितान्त भ्रम व अज्ञान की स्थिति के कारण हो रहा है। अभी हाल में विश्वप्रसिद्ध अमेरिकी वैज्ञानिक संस्थान NASA की रिपोर्ट के विषय में सुना कि उन्होंने ब्रह्माण्ड में **'ओम्'** ध्वनि को व्याप्त हुआ पाया है। हमने इस ग्रन्थ में इससे आगे बढ़कर **'ओम्'** रश्मि के विस्तृत क्रियाविज्ञान का रहस्योद्घाटन किया है, जिसे जानकर विश्व के वैज्ञानिकों को महान् आश्चर्य होगा। हमारा विश्वास है कि जैसे-२ वर्तमान विज्ञान विकसित होता जाएगा, वैसे-२ उन्हें **'ओम्'** के साथ-२ इस ब्रह्माण्ड में सहस्रों वैदिक ऋचाओं की विद्यमानता का भी बोध हो सकेगा। उस समय विश्व का कोई भी वैज्ञानिक किंवा विचार शक्ति वाला व्यक्ति वैदिक पदों को ब्रह्माण्ड में व्याप्त मानने तथा वेद नामक ग्रन्थ को न केवल मानवमात्र, अपितु सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में विद्यमान सभी बुद्धिजीवी प्रजातियों का ग्रन्थ मानने को विवश होगा, इसके साथ ही वह इस महान् ग्रन्थ को अवश्य सश्रद्ध पढ़ना चाहेगा। वह व्यक्ति वेद के साथ-२ इससे प्रसूत विभिन्न आर्षग्रन्थों (मनुस्मृति, ब्राह्मण ग्रन्थ-आरण्यक, उपनिषद्, दर्शन, वाल्मीकीय रामायण, महाभारत, कल्पसूत्रादि ग्रन्थों) में हमारी ही भाँति श्रद्धा रखेगा। तब उसे इस सत्य का भी बोध होगा कि **वैदिक संस्कृत शब्द नित्य रहते हुए सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं, इससे वैदिक संस्कृत भाषा ही ब्रह्माण्ड की एकमात्र मूल भाषा है।** इस कारण इसके पठन, पाठन का भी विश्व के लिए सभी मानव मिलकर उद्योग करेंगे, यह हमारा विश्वास है। इसके लिये संसार भर के प्रबुद्ध महानुभावों को अपने-२ सम्प्रदाय, वर्ग आदि की मान्यताओं की स्वयं निष्पक्ष विवेचना करनी होगी तथा संकुचित मानसिकता को त्यागकर उदार हृदय एवं प्रखर वैज्ञानिक मस्तिष्क से निष्पक्ष चिन्तन करके मानव एकता का मार्ग प्रशस्त करने का पावन संकल्प लेना होगा।

वैदिक ऋचाओं का सृष्टि प्रक्रिया में योगदान

हम यह चर्चा पूर्व में कर चुके हैं कि वैदिक ऋचाएं वस्तुतः सृष्टि के उपादान पदार्थ में उत्पन्न सूक्ष्म vibrations का रूप होती हैं। ये vibrations वा लहरें ही संसार के समस्त मूर्तिमान् पदार्थों का निर्माण करती हैं। जिस प्रकार पूर्ण शान्त जल में किसी बाहरी बल के कारण लहरें उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार प्रकृति-महत्-अहंकार व मनस्तत्त्व में ईश्वर तत्त्व द्वारा प्रेरित सूक्ष्म **'ओम्'** रश्मियों के बल के कारण सूक्ष्म लहरें (vibration) उत्पन्न होती हैं। जिस प्रकार जल में उत्पन्न लहरें जल से पूर्ण तथा उसी से बनी होती हैं, उसी प्रकार वैदिक ऋचा रूपी छन्द रश्मियां मनस्तत्त्वादि में उत्पन्न तथा उसी से पूर्ण होती हैं। जिस प्रकार जल की तरंगों में जल के अतिरिक्त तरंगों को उत्पन्न करने वाली ऊर्जा भी विद्यमान होती है, उसी प्रकार वैदिक ऋचाओं में मनस्तत्त्वादि के अतिरिक्त इन vibrations को उत्पन्न करने वाली **'ओम्'** रश्मियों एवं उनके भी मूल ईश्वर तत्व की विशेष ऊर्जा भी सदैव विद्यमान होती है। इस प्रकार ईश्वर तत्व का मूल बल वा ऊर्जा तो सदैव सबके साथ निश्चित रूप से विद्यमान होती है। यदि वह न हो, तो सृष्टि के किसी जड़ पदार्थ में कोई भी प्रवृत्ति न हो सके।

ऋचाओं का प्रभाव

उधर वैदिक ऋचाओं के विभिन्न छन्दों का इस सृष्टि पर क्या-२ प्रभाव होता है? प्रत्येक पदार्थ इन रश्मियों के द्वारा किस-२ प्रकार निर्मित व प्रभावित होता है? यह हम पूर्व में सविस्तार लिख चुके हैं। अब हम उसी विषय को और अधिक स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं-

किसी ऋचा के छन्द के प्रभाव के साथ-२ उस ऋचा में विद्यमान प्रत्येक पद, उन पदों के प्रत्येक अक्षर का भी अपना विशिष्ट प्रभाव होता है। यदि ऐसा नहीं होता, तो समान छन्द वाली सभी ऋचाओं की सृष्टि निर्माण में समान भूमिका होती। ऐसी स्थिति में सृष्टि उत्पत्ति प्रक्रिया में एक छन्द वाली अनेक ऋचाओं की उत्पत्ति की आवश्यकता ही नहीं होती, जबकि हमें यह अवगत है कि वेद एवं सृष्टि में एक ही छन्द वाली सहस्रों ऋचाएं विद्यमान हैं। इस कारण प्रत्येक ऋचा के छन्द के प्रभाव के साथ-२ प्रत्येक पद व अक्षर की पृथक्-२ भूमिका अनिवार्यतः होती है। ईश्वर का कोई भी कार्य निरर्थक नहीं है, बल्कि सम्पूर्ण सृष्टि उसकी अत्युच्च बुद्धिपूर्वक रचना है।

पदों का प्रभाव

इस सृष्टि में जब कोई पद रूप रश्मि-अवयव उत्पन्न होता है, उस समय वह पद जिस ऋचा (छन्द रश्मि) में विद्यमान होता है, उसके प्रभाव में अपनी भूमिका का निर्वहन करने के साथ-२ अपना स्वतंत्र प्रभाव भी निभाता है। वस्तुतः सभी पदों का स्वतंत्र प्रभाव ही उस ऋचा के प्रभाव के रूप में प्रकट होता है। हाँ, इतना अवश्य है कि पदों के विन्यास व छन्द के भेद की भी भूमिका अनिवार्यतः होती है। हम यहाँ पदों के प्रभाव पर विचार करते हैं। उदाहरण के रूप में मान लें कि इस सृष्टि में उत्पन्न किसी ऋचा में **'अग्निः'** नामक पद विद्यमान है, तब इसके प्रभाव के कारण वह ऋचा अर्थात् छन्द रश्मि अग्नि अर्थात् किसी भी प्रकार की विद्युत् चुम्बकीय तरंगों अथवा विद्युदावेश किंवा ऊष्मा वा प्रकाश को उत्पन्न वा समृद्ध अवश्य करेगी। हमने अग्नि महाभूत के द्वारा जिन-२ भी पदार्थों का ग्रहण किया है, वे-२ पदार्थ **'अग्नि'** पद के प्रभाव से उत्पन्न वा समृद्ध होंगे।

ऋचा व उसके पदों के प्रभाव को जानने की प्रक्रिया

वैदिक ऋचाओं के रूप में उत्पन्न छन्द रश्मियों के सृष्टि पर प्रभाव का उन ऋचाओं के आधिदैविक अर्थ से साक्षात् एवं नित्य सम्बन्ध है। इस कारण किसी ऋचा का आधिदैविक अर्थ जाने बिना उसका सृष्टि प्रक्रिया पर प्रभाव जानना असम्भव है। इस प्रभाव को जानने के चरण निम्नानुसार है-

(१) छान्दस प्रभाव- पूर्व में गायत्री आदि के साथ-२ उसके विभिन्न रूपों का प्रभाव बतला चुके हैं। विज्ञ पाठक उसके आधार पर किसी भी ऋचा का छान्दस प्रभाव स्वयं सहजतया समझ सकते हैं।

(२) दैवत प्रभाव- प्रत्येक ऋचा का देवता उसका प्रतिपाद्य विषय होता है। उस ऋचा के इस सृष्टि पर प्रभाव की दृष्टि से देवतावाची पद यह संकेत देता है कि उस ऋग् रूपी छन्द रश्मि का प्रमुख प्रभाव वा परिणाम क्या होता है? उदाहरण रूप में मान लें, कि किसी ऋचा का देवता अग्नि है, तब इस छन्द रश्मि के प्रभाव से अग्नि महाभूत समृद्ध व सक्रिय होगा और उस ऋचा का प्रमुख प्रभाव वा परिणाम यही होगा। अन्य छान्दस प्रभाव एवं पदों का पृथक्-२ विशेष प्रभाव पृथक् होगा। इतना होने पर भी पदों का प्रभाव देवतावाची पदार्थ को समृद्ध व सक्रिय करने वाला तो, अवश्य ही होगा।

(३) पदों का प्रभाव- यह जानने हेतु प्रत्येक पद का पृथक्-२ आधिदैविक अर्थ जानना अनिवार्य है। इसके साथ ही प्रत्येक पद के प्रत्येक अक्षर का भी प्रभाव जानना अनिवार्य है। ध्यातव्य है कि पद प्रायः शब्द व धातुरूप होते हैं। इन दोनों का ही अर्थ तद्वत् ही प्रभाव दर्शाता है।

प्रश्न- शब्द रूप पद विभिन्न विभक्तियों तथा वचनों में हो सकते हैं तथा विभिन्न धातुरूप भिन्न-२ वचन व पुरुष में हो सकते हैं। ऐसी दृष्टि में उन पदों का आधिदैविक प्रभाव पृथक्-२ कैसे जाना जा सकेगा किंवा सबका प्रभाव समान होगा?

उत्तर- किसी भी ऋचा में जिस पद के जो विभक्ति, वचन वा पुरुष होते हैं, उनका प्रभाव भी प्रायः तद्वत् समझा जाना चाहिए। इसे हम निम्नानुसार समझ सकते हैं-

(१) अग्निः = इस पद के प्रभाव से अग्नि तत्व कर्तृरूप होकर ऋचा की कारणरूप ऋषि प्राण रश्मियों से प्रेरित होता हुआ ऋचा में विद्यमान किसी कर्म कारक में विद्यमान पद रूप पदार्थ को क्रिया पद रूप प्रभाव से युक्त करता है। ये दोनों पदार्थ उस समय सृष्टि में या तो निर्मित हो रहे होते हैं किंवा विद्यमान होते हैं। वहीं यह प्रभाव उत्पन्न होता है।

(२) अग्निम्= इस पद के प्रभाव से अग्नि तत्व उस ऋचा में कर्मरूप में विद्यमान होकर किसी अन्य कर्त्तृरूप पदवाची पदार्थ के द्वारा प्रभावित होता हुआ क्रियापद रूपी प्रभाव से युक्त होता है। इन दोनों प्रकार के पदार्थों के विषय में भी पाठक यथावत् समझें।

(३) अग्निना= इस पद के प्रभाव से अग्नि तत्व उस ऋचा में विद्यमान किसी कर्त्तृरूप पदवाची पदार्थ का साथी वा सहयोगी बनकर कर्मरूप पदवाची पदार्थ पर क्रियापद रूपी प्रभाव को दर्शाता अथवा ऐसा करने में सहयोग प्रदान करता है।

(४) अग्नये= इस पद के प्रभाव से ऋचा में विद्यमान कर्त्तरूप पदवाची पदार्थ अग्नि पदवाची पदार्थ को ऋचा में विद्यमान क्रियापदवाची प्रभाव वा किसी अन्य पदार्थ से युक्त करता है।

(५) अग्नेः = यह पद पंचमी व षष्ठी विभक्ति का एकवचन है। इससे इसके दो प्रभाव होते हैं-

(अ) व्याकरण शास्त्र में पंचमी विभक्ति का जिस-२ रूप में प्रयोग माना गया है, उस-२ रूप में, यह प्रभाव दर्शाता है। उदाहरणस्वरूप अग्नि नामक पदार्थ से किसी कर्त्तृवाची पदरूपी पदार्थ का पृथक् होना, कम्पित होना आदि।

(ब) व्याकरण शास्त्र में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग सम्बन्ध को दर्शाती हैं। अन्य भी अपवादरूप में जो-२ प्रयोग हैं, उस-२ रूप में यह तद्वत् प्रभाव दर्शाता है। ये प्रभाव कर्त्त वा कर्मवाची पद रूप पदार्थों से सम्बन्ध रखता है।

(६) अग्नौ= व्याकरण शास्त्र में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग जहाँ-२, जिस-२ रूप में होता है, वैसा-२ प्रभाव इस **'अग्नौ'** पद का समझना चाहिए। इसका सम्बन्ध ऋचा में विद्यमान कर्त्तृवाची व कर्मवाची पद रूप पदार्थों से निश्चित ही मानना चाहिए।

(७) अग्ने= यह सम्बोधन वाची पद ऋचा में विद्यमान किसी पद वाची पदार्थ किंवा उस ऋचा की कारण रूप ऋषि प्राण रश्मियों के द्वारा प्रेरित वा सक्रिय किया जाता है, यही इस सम्बोधन वाची पद का प्रभाव है।

इस प्रकार हमने शब्द रूप पदों के प्रयोग दर्शाए। अब वचनों के प्रभाव के विषय में हम इतना ही लिखना चाहेंगे कि **'अग्नी'** पद के प्रभाव से दो प्रकार के अग्नि तत्व के उपर्युक्त प्रभाव उत्पन्न होते वा हो सकते हैं। इसी प्रकार अन्य विभक्ति व वचनों में भी समझें।

अब हम क्रियापद वाची प्रभावों पर विचार करते हैं। हम उदाहरण के रूप में **'वह प्रापणे'** धातु से लेकर निम्नानुसार प्रभाव दर्शाते हैं-

वहति- इस क्रियापद के प्रभाव से ऋचा में विद्यमान कर्त्तृ पदवाची पदार्थ कर्मपद वाची पदार्थों को वहन करता किंवा उनमें व्याप्त होने लगता है।

वहसि- इस क्रियापद के प्रभाव से ऋचा में विद्यमान कर्त्तृ पदवाची एवं कर्मपद वाची पदार्थों का उपर्युक्त व्यवहार ऋचा अर्थात् छन्द रश्मि की कारण रूप ऋषि प्राण रश्मियों की प्रेरणा से सम्पादित होते हैं।

वहामि- इस क्रियापद के प्रभाव से ऋचा रूप छन्द रश्मि की कारण रूप ऋषि प्राण रश्मियां ही कर्त्तृ प्रभाव दर्शाती हैं तथा वे रश्मियां छन्द रश्मियों के एक भाग के रूप में व्यवहार करती हैं। ये वर्तमान काल की क्रियाओं के उदाहरण हैं।

यदि क्रिया भूतकाल में हो, तब उससे सिद्ध होगा कि उस ऋचा के उत्पन्न होने पर वह क्रिया अपने प्रभाव को पूर्ण कर चुकेगी। जब क्रिया भविष्यत्काल में हो, तब क्रिया का प्रभाव आगे भी जारी

रहेगा। जब क्रिया लिङ् वा लोट् में हो, तब इसका अर्थ यह होगा कि उस ऋचा की उत्पादिका ऋषि प्राण रश्मियां कर्त्तरूप में पदार्थ को प्रेरित करके **क्रियापदवाची** प्रभाव दर्शाने का प्रयास करेंगी।

विज्ञ पाठक द्विवचन तथा बहुवचन वाची पदों का प्रभाव पूर्ववत् स्वयं समझ सकते हैं।

प्रश्न– वेदों में विभिन्न प्रकार व्यत्यय माने जाते हैं। अनेक कार्य पाणिनीय व्याकरण के विरुद्ध भी होते हैं, ऐसा स्वयं **महर्षि पाणिनि** ने स्वीकार किया है। ऐसी स्थिति में विभिन्न पदों का प्रभाव, क्या व्यत्ययानुसार परिवर्तित भी होता है किंवा सृष्टि प्रक्रिया के प्रभाव में व्यत्ययादि की उपयोगिता वा सत्ता नहीं है।

उत्तर– वेद में व्यत्ययादि का अपना एक गम्भीर विज्ञान है। हम सभी प्रकार के व्यत्ययों का विज्ञान पृथक्-२ वर्णित करके इस ग्रन्थ के कलेवर में वृद्धि नहीं करना चाहते। केवल उदाहरण के रूप में हम क्रियापद में एक व्यत्यय पर यहाँ विचार करते हैं-

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽआसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम्।। (यजुर्वेद २३.१)

यह मन्त्र **यजुर्वेद** में अन्यत्र दो स्थानों **१३.४; २५.१०** पर तथा **ऋग्वेद १०.१२१.१** में भी विद्यमान है। इसमें **'दाधार'** क्रियापद में व्यत्यय है। **यजु. २३.१** के भाष्य में **महर्षि दयानन्द** ने इसका भाष्य **"धृतवान् धरति धरिष्यति वा"** किया है। यह पद लिट् (परोक्ष भूतकाल) लकार का है, जबकि इसका अर्थ तीनों कालों में यथावत् सिद्ध होता है। वेदार्थ की दृष्टि से विचारें, तब यह वेद के अर्थ की गम्भीरता है, क्योंकि एक ही क्रियापद से तीन अर्थ एक साथ प्रकाशित हो रहे हैं। यदि यह व्यत्यय नहीं होता, तो ईश्वर के धारण कर्म को समझाने हेतु तीन क्रियापदों का प्रयोग करना पड़ता। इससे या तो तीन ऋचाओं की आवश्यकता होती किंवा एक ही ऋचा में तीन क्रिया पदों का उपयोग करना पड़ता। इससे ऋचा का छन्द परिवर्तित हो जाता। इस प्रकार **विस्तृत अर्थ प्रकाशित करने हेतु कम से कम पदों के प्रयोग का विज्ञान ही व्यत्यय कहलाता है।** वेद में सभी विज्ञानादि विधाएं सूत्र रूप में होने से व्यत्ययों की अत्यावश्यकता वा अनिवार्यता होती ही है। अब हम यह विचारते हैं कि इससे सृष्टि प्रक्रिया में ऋचा के प्रभाव में क्या अन्तर आएगा? हमारी दृष्टि में यहाँ क्रिया भूतकाल की होने का पूर्वोक्त प्रभाव तो होगा ही, इसके साथ-२ भविष्य व वर्तमान काल का प्रभाव भी दर्शाएगा। इस प्रकार एक ही छन्द रश्मि का दीर्घकालिक प्रभाव होगा। कुछ धारण कर्म सम्पन्न हो चुके, कुछ हो रहे हैं और कुछ होने वाले हैं। यह प्रभाव व्यत्यय विज्ञान के द्वारा केवल **'दाधार'** पद से जाना जा सकता है। यदि यहाँ व्यत्यय नहीं होता, तो ऋचा का प्रभाव विशेषकर धारण कर्म पूर्णता को प्राप्त करने वाला होता। वेद में कहाँ व्यत्यय है, कहाँ नहीं? यह बात शुद्ध-विज्ञानात्मा ऋषि ही जान सकते हैं। हमने **महर्षि दयानन्द** के भाष्य के आधार पर व्यत्यय को स्वीकार किया है। इसके साथ ही सामान्य युक्ति के आधार पर भी यहाँ व्यत्यय सहज सिद्ध हो जाता है।

हमने यहाँ क्रियापद के काल का व्यत्यय दर्शाया है। इसी प्रकार विज्ञ पाठक विभक्ति, वचन, वर्ण आदि सभी प्रकार व्यत्ययों के विज्ञान का यथावत् बोध स्वयं कर सकते हैं।

(4) ऋषि का प्रभाव– हम यह पूर्व में लिख चुके हैं कि ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के समय तथा अन्यत्र भी ऋषि रूप सूक्ष्म प्राण रश्मियों से ही नाना ऋचा अर्थात् छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है। इसका तात्पर्य यह है कि जब कोई ऋचा=छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है, उस समय वा उसके पूर्व ही उसकी कारण रूप कोई ऋषि प्राण रश्मि अवश्य विद्यमान होती है। इस कारण किसी भी छन्द रश्मि में उसकी उपादान कारणभूत ऋषि प्राण रश्मियों का यत्किंचित् प्रभाव भी अवश्य विद्यमान होता है। इसके साथ ही उस छन्द रश्मि के प्रभाव के साथ-२ उसके निकट ही विद्यमान उसकी कारण रूप ऋषि प्राण रश्मियों का भी कुछ न कुछ प्रभाव उस प्रक्रिया पर अवश्य होगा। हमने इस ग्रन्थ में विभिन्न ऋषि प्राण रश्मियों का स्वरूप सार रूप में दर्शाया है, पाठक उसी प्रकार विभिन्न ऋषि प्राण रश्मियों के स्वरूप को जानकर उसका प्रभाव स्वयं जान सकते हैं।

वेदार्थ प्रक्रिया एवं विभिन्न ऋचाओं का प्रभाव

महर्षि दयानन्द की संसार को सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने सहस्रों वर्ष पश्चात् वेदार्थ की यथार्थ प्रक्रिया से संसार को अवगत करवाया। दुर्भाग्यवश उन्हें न तो वेदार्थ हेतु पर्याप्त समय मिला और न ही अनुकूल परिस्थिति, इस कारण वे जैसा चाहते थे, वैसा वेदभाष्य नहीं कर पाए। कुछ पूर्वाग्रही किंवा भावुक महानुभाव मेरी इस बात के यथार्थ को जाने बिना विवादी बनने को समुद्यत रहते हैं। वे नहीं जानते कि **वेद विद्या का गम्भीर अध्ययन व अनुसंधान अति भावुकता एवं पूर्वाग्रहग्रस्तता से नहीं हो सकता। इसके लिए समुचित धैर्य, बौद्धिक उदारता एवं विशेष प्रखरता, पूर्ण निष्पक्षता, गम्भीर तर्क च ऊहा, परमेश्वर पर दृढ़ विश्वास, अर्थ-कामादि के प्रति अनासक्त भाव, व्यापक अध्ययन एवं उचित साधना की अपेक्षा होती है।**

महर्षि दयानन्द के प्यारे अनुयायियो! आप महर्षि के वेदभाष्य को पर्याप्त, पूर्ण व अन्तिम मानकर उनके साथ अन्याय कर रहे हैं। उनकी परिस्थिति को समझे बिना हम अपने अल्पज्ञान के आधार पर तत्काल कोई धारणा बना लेते हैं। उधर अन्य वैदिक विद्वान् वेदार्थ में प्रवेश भी नहीं कर पाए हैं। हमारे इस मत का प्रमाण प्रज्ञावान् पाठकों को आगामी उद्धरणों से स्वतः मिल जाएगा। **महर्षि दयानन्द** की परिस्थिति पर कुछ लिखना आवश्यक समझते हैं।

आर्य विद्वान् आचार्य विश्वश्रवा व्यास ने **'ऋग्वेदमहाभाष्य'** पृष्ठ १४ पर लिखा है-

''(महर्षि दयानन्द की दृष्टि में) इतने अति विस्तृत वेदभाष्य करने में एक-एक वेद पर एक-एक सौ वर्ष लगेगा अर्थात् ऐसा वेदभाष्य करने में चार सौ वर्ष का समय अपेक्षित है।''

उधर आचार्य विश्वश्रवा इसके पूर्व इसी पृष्ठ पर लिखते हैं-

''संवत् १६३३ में नियमित रूप में विस्तृत वेदभाष्य और भूमिका का लेखन कार्य ऋषि ने प्रारम्भ कर दिया।''

हम जानते हैं कि **महर्षि दयानन्द** संवत् १६४० में दिवंगत हुए थे, इस प्रकार उन्हें वेदभाष्य करने हेतु ७-८ वर्ष का समय मिला, जबकि उन्हें ४०० वर्ष का समय अपेक्षित था। ७-८ वर्ष में भी अनेक कार्य करते एवं अनेकत्र भ्रमण करते हुए वेदभाष्य किया। ऐसी स्थिति में इस वेदभाष्य को पूर्ण, पर्याप्त एवं अन्तिम मानकर बैठ जाना, उससे आगे कुछ भी विचार न करना, यह स्वयं ऋषि के साथ-२ वेद विद्या का भी अपमान है। वस्तुतः **महर्षि दयानन्द** का भाष्य सांकेतिक है परन्तु मुझ जैसे अध्येताओं के लिए मार्गदर्शक के समान है। अस्तु।

अब हम वेदार्थ प्रक्रिया पर संक्षिप्त विचार करते हैं।

वेदार्थ में प्रकरण एवं देवता ज्ञान की अनिवार्यता एवं इन दोनों के ज्ञान में ऊहा एवं तर्क की अपरिहार्यता की चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं। वेदार्थ में छन्द, ऋषि एवं षड्जादि स्वरों के ज्ञान की प्रायः आवश्यकता नहीं होती परन्तु आधिदैविक अर्थ करते समय इनका ज्ञान भी कुछ अंशों में परोक्षरूपेण उपयोगी है, इसका संकेत हमारे आधिदैविक भाष्य में मिल जाएगा। अब हम कुछ मंत्रों को उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत करते हैं-

इस क्रम में सर्वप्रथम प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र को उद्धृत करते हैं-

(१) भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्।। (यजु.३६.३)

महर्षि दयानन्द भाष्य

भूः। भुवः। स्वः। तत्। सवितुः। वरेण्यम्। भर्गः। देवस्य। धीमहि।। धियः। यः। नः। प्रचोदयादिति प्रऽचोदयात्।।

पदार्थ– (भूः) कर्मविद्याम् (भुवः) उपासनाविद्याम् (स्वः) ज्ञानविद्याम् (तत्) इन्द्रियैरग्राह्यं परोक्षम् (सवितुः) सकलैश्वर्यप्रदस्येश्वरस्य (वरेण्यम्) स्वीकर्त्तव्यम् (भर्गः) सर्वदुःखप्रणाशकं तेजःस्वरूपम् (देवस्य) कमनीयस्य (धीमहि) ध्यायेम (धियः) प्रज्ञाः (यः) (नः) अस्माकम् (प्रचोदयात्) प्रेरयेत्।।

भावार्थ– अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। ये मनुष्याः कर्मोपासनाज्ञानविद्याः संगृह्याखिलैश्वर्ययुक्तेन परमात्मना सह स्वात्मनो युञ्जतेऽधर्माऽनैश्वर्यदुःखानि विधूय धर्मैश्वर्यसुखानि प्राप्नुवन्ति तानन्तर्यामिजगदीश्वरः स्वयं धर्मानुष्ठानमधर्मत्यागं च कारयितुं सदैवेच्छति।।

पदार्थ– हे मनुष्यो! जैसे हम लोग (भूः) कर्मकाण्ड की विद्या (भुवः) उपासना काण्ड की विद्या और (स्वः) ज्ञानकाण्ड की विद्या को संग्रहपूर्वक पढ़के (यः) जो (नः) हमारी (धियः) धारणावती बुद्धियों को (प्रचोदयात्) प्रेरणा करे उस (देवस्य) कामना के योग्य (सवितुः) समस्त ऐश्वर्य के देनेवाले परमेश्वर के (तत्) उस इन्द्रियों से न ग्रहण करने योग्य परोक्ष (वरेण्यम्) स्वीकार करने योग्य (भर्गः) सब दुःखों के नाशक तेजःस्वरूप का (धीमहि) ध्यान करें, वैसे तुम भी इसका ध्यान करो।।

भावार्थ– इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जो मनुष्य कर्म, उपासना और ज्ञान सम्बन्धिनी विद्याओं का सम्यक् ग्रहण कर सम्पूर्ण ऐश्वर्य से युक्त परमात्मा के साथ अपने आत्मा को युक्त करते हैं तथा अधर्म, अनैश्वर्य और दुःख रूप मलों को छुड़ा के धर्म, ऐश्वर्य और सुखों को प्राप्त होते हैं उनको अन्तर्यामी जगदीश्वर आप ही धर्म के अनुष्ठान और अधर्म का त्याग कराने को सदैव चाहता (ते) है।।

इसका भाष्य Ralph T.H. Griffith ने इस प्रकार किया है–

"May we attain that excellent glory of Savitar the God. So may he stimulate our prayers."

यह भाष्य आध्यात्मिक है परन्तु विज्ञ पाठक स्वयं इसकी तुलना महर्षि दयानन्द के भाष्य से करके ग्रिफिथ के वैदुष्य का स्तर जान सकते हैं।

यह मन्त्र (व्याहृति रहित रूप में) यजु.३.३५; २२.९; ३०.२; ऋ. ३.६२.१०; सामवेद १४६२ में भी विद्यमान है। यह ऐतरेय ब्राह्मण में भी अनेकत्र आया है। इनमें से यजुर्वेद ३०.२ में इस मन्त्र का ऋषि नारायण तथा अन्यत्र विश्वामित्र है। देवता सविता, छन्द निचृद् बृहती एवं स्वर षड्ज है। व्याहृतियों का छन्द दैवी बृहती तथा स्वर व्याहृतियों सहित सम्पूर्ण मन्त्र का मध्यम षड्ज है। महर्षि दयानन्द ने सर्वत्र ही इसका भाष्य आध्यात्मिक किया है। केवल यजुर्वेद ३०.२ के भावार्थ में आधिभौतिक का स्वल्प संकेत भी है; शेष आध्यात्मिक ही है। एक विद्वान् ने कभी हमें कहा था कि गायत्री मन्त्र जैसे कुछ मन्त्रों का आध्यात्मिक के अतिरिक्त अन्य प्रकार से भाष्य हो ही नहीं सकता। **हम संसार के सभी वेदज्ञों को घोषणापूर्वक कहना चाहते हैं कि वेद का प्रत्येक मन्त्र इस सम्पूर्ण सृष्टि में अनेकत्र Vibrations के रूप में विद्यमान है। इन मन्त्रों की इस रूप में उत्पत्ति पृथिव्यादि लोकों की उत्पत्ति से भी पूर्व में हो गयी थी। इस कारण प्रत्येक मन्त्र का आधिदैविक भाष्य अनिवार्यतः होता है। त्रिविध अर्थ प्रक्रिया में सर्वाधिक व सर्वप्रथम सम्भावना इसी प्रकार के अर्थ की होती है। इस कारण इस मंत्र का आधिदैविक अर्थ नहीं हो सकता, ऐसा विचार करना वेद के यथार्थ स्वरूप से नितान्त अनभिज्ञता का परिचायक है।**

मेरा आधिदैविक भाष्य

इस मंत्र का महर्षि दयानन्द द्वारा किया हुआ आध्यात्मिक भाष्य हमने ऊपर उद्धृत किया है। अब हम इसी मंत्र का आधिदैविक भाष्य करते हैं। इस ऋचा का देवता सविता है। सविता के विषय में ऋषियों का कथन है–

"सविता सर्वस्य प्रसविता" (नि.१०.३१)
"सविता वै देवानां प्रसविता" (श.१.१.२.१७)
"सविता वै प्रसवानामीशे" (ऐ.१.३०)
"प्रजापतिर्वै सविता" (तां.१६.५.१७), "मनो वै सविता" (श.६.३.१.१३)
"विद्युदेव सविता" (गो.पू.१.३३)
"पशवो वै सविता" (श.३.२.३.११)
"प्राणो वै सविता" (ऐ.१.१६)
"वेदा एव सविता" (गो.पू.१.३३)
"सविता राष्ट्रं राष्ट्रपतिः" (तै.ब्रा.२.५.७.४)

इससे निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं-

- सविता नामक पदार्थ सबकी उत्पत्ति व प्रेरणा का स्रोत वा साधन है।
- यह सभी प्रकाशित व कामना अर्थात् आकर्षणादि बलों से युक्त कणों का उत्पादक व प्रेरक है।
- यह सभी उत्पन्न पदार्थों का नियन्त्रक है।
- **'ओम्'** रश्मि रूप छन्द रश्मि एवं मनस्तत्व ही सविता है।
- विद्युत् को भी 'सविता' कहते हैं।
- विभिन्न मरुद् रश्मियां एवं दृश्य कण 'सविता' कहलाते हैं।
- विभिन्न प्राण रश्मियां 'सविता' कहलाती हैं।
- सभी छन्द रश्मियां भी 'सविता' हैं।
- तारों के केन्द्रीय भाग रूप राष्ट्र को प्रकाशित व उनका पालन करने वाला सम्पूर्ण तारा भी 'सविता' कहाता है।

यह हम पूर्व में लिख चुके हैं कि देवता किसी भी मंत्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय होता है। इस कारण इस मंत्र का मुख्य प्रतिपाद्य **'ओम्'** छन्द रश्मि, मनस्तत्व, प्राण तत्व एवं सभी छन्द रश्मियां हैं। इस ऋचा की उत्पत्ति विश्वामित्र ऋषि **{वाग् वै विश्वामित्रः (कौ.ब्रा.१०.५), विश्वामित्रः सर्वमित्रः (नि. २.२४)}** अर्थात् सबको आकृष्ट करने में समर्थ **'ओम्'** छन्द रश्मियों से होती है।

आधिदैविक भाष्य- (भूः) 'भूः' नामक छन्द रश्मि किंवा अप्रकाशित कण वा लोक, (भुवः) 'भुवः' नामक रश्मि किंवा आकाश तत्व, (स्वः) 'सुवः' नामक रश्मि किंवा प्रकाशित कण, फोटोन वा सूर्यादि तारे आदि से युक्त। (तत्) उस अगोचर वा दूरस्थ सविता अर्थात् मन, **'ओम्'** रश्मि, सभी छन्द रश्मियां, विद्युत् सूर्यादि आदि पदार्थों को (वरेण्यम् भर्गः देवस्य) सर्वतः आच्छादित करने वाला व्यापक **{भर्गः = अग्निर्वै भर्गः (श.१२.३.४.८), आदित्यो वै भर्गः (जै.उ.४.१२.२.२), वीर्यं वै भर्गऽएष विष्णुर्यज्ञः (श.५.४.५.१), अयं वै (पृथिवी) लोको भर्गः (श.१२.३.४.७)}** आग्नेय तेज, जो सम्पूर्ण पदार्थ को व्याप्त करके अनेक संयोजक व सम्पीडक बलों से युक्त हुआ प्रकाशित व अप्रकाशित लोकों के निर्माण हेतु प्रेरित करने में समर्थ होता है, (धीमहि) प्राप्त होता है अर्थात् वह सम्पूर्ण पदार्थ उस आग्नेय तेज, बल आदि को व्यापक रूप से धारण करता है। (धियः यः नः प्रचोदयात्) जब वह उपर्युक्त आग्नेय तेज उस पदार्थ को व्याप्त कर लेता है, तब विश्वामित्र ऋषि संज्ञक मन व **'ओम्'** रश्मि रूप पदार्थ **{धीः = कर्मनाम (निघं.२.१), प्रज्ञानाम (निघं.३.६), वाग् वै धीः (ऐ.आ.१.१.४)}** नाना प्रकार की वाग् रश्मियों को विविध दीप्तियों व क्रियाओं से युक्त करता हुआ अच्छी प्रकार प्रेरित व नियन्त्रित करने लगता है।

भावार्थ- मन एवं **'ओम्'** रश्मियां व्याहृति रश्मियों से युक्त होकर क्रमशः सभी मरुद्, छन्द आदि रश्मियों को अनुकूलता से सक्रिय करते हुए सभी कण, क्वाण्टा एवं आकाश तत्व को उचित बल व नियन्त्रण से युक्त करती हैं। इससे सभी लोकों तथा अन्तरिक्ष में विद्यमान पदार्थ नियन्त्रित ऊर्जा से युक्त होकर अपनी-२ क्रियाएं समुचित रूपेण सम्पादित करने में समर्थ होते हैं। इससे विद्युत् बल भी सम्यक् नियंत्रित रहते हैं।

सृष्टि में इस ऋचा का प्रभाव- इस ऋचा की उत्पत्ति के पूर्व विश्वामित्र ऋषि अर्थात् **'ओम्'** छन्द रश्मियां विशेष सक्रिय होती हैं। इसका छन्द दैवी बृहती + निचृद् गायत्री होने से इसके छान्दस प्रभाव

से विभिन्न प्रकाशित कण वा रश्मि आदि पदार्थ तीक्ष्ण तेज व बल प्राप्त करके सम्पीडित होने लगते हैं। इसके दैवत प्रभाव से मनस्तत्व एवं **'ओम्'** छन्द रश्मि रूप सूक्ष्मतम पदार्थों से लेकर विभिन्न प्राण, मरुत् छन्द रश्मियां, विद्युत् के साथ-२ सभी दृश्य कण वा क्वाण्टाज् प्रभावित अर्थात् सक्रिय होते हैं। इस प्रक्रिया में **'भूः', 'भुवः'** एवं **'सुवः'** नामक सूक्ष्म छन्द रश्मियां **'ओम्'** छन्द रश्मि के द्वारा विशेष संगत व प्रेरित होती हुई कण, क्वाण्टा, आकाश तत्व तक को प्रभावित करती हैं। इससे इन सभी में बल एवं ऊर्जा की वृद्धि होकर सभी पदार्थ विशेष सक्रियता को प्राप्त होते हैं। इस समय होने वाली सभी क्रियाओं में जो-२ छन्द रश्मियां अपनी भूमिका निभाती हैं, वे सभी विशेष उत्तेजित होकर नाना कर्मों को समृद्ध करती हैं। विभिन्न लोक चाहे, वे तारे आदि प्रकाशित लोक हों अथवा पृथिव्यादि ग्रह वा उपग्रहादि अप्रकाशित लोक हों, सभी की रचना के समय यह छन्द रश्मि अपनी भूमिका निभाती है। इसके प्रभाव से सम्पूर्ण पदार्थ में विद्युत् एवं ऊष्मा की वृद्धि होती है परन्तु इस स्थिति में भी यह छन्द रश्मि विभिन्न कणों वा क्वाण्टाज् को सक्रियता प्रदान करते हुए भी अनुकूलता से नियन्त्रित रखने में सहायक होती है। इस ग्रन्थ के खण्ड **४.३२, ५.५** एवं **५.१३** में पाठक इस ऋचा का ऐसा ही प्रभाव देख सकते हैं। हाँ, वहाँ व्याहृतियों की अविद्यमानता अवश्य है। इसके षड्ज स्वर के प्रभाव से ये रश्मियां अन्य रश्मियों को आश्रय देने, नियन्त्रित करने, दबाने एवं वहन करने में सहायक होती है। व्याहृतियों का मध्यम स्वर इन्हें विभिन्न पदार्थों के मध्य प्रविष्ट होकर अपनी भूमिका निभाने का संकेत देता है। छन्द व स्वर के प्रभाव हेतु पूर्वोक्त छन्द प्रकरण को पढ़ना अनिवार्य है।

मेरा आधिभौतिक भाष्य

आधिदैविक भाष्य व वैज्ञानिक प्रभाव को दर्शाने के पश्चात् हम इस मंत्र के आधिभौतिक अर्थ पर विचार करते हैं-

{भूः = कर्मविद्याम्, भुवः = उपासनाविद्याम्, स्वः = ज्ञानविद्याम् (म.द.य.भा.३६.३)। सविता= योग पदार्थज्ञानस्य प्रसविता (म.द.य.भा.११.३), सविता राष्ट्रं राष्ट्रपतिः (तै.ब्रा.२.५.७.४)} कर्मविद्या, उपासनाविद्या एवं ज्ञानविद्या इन तीनों विद्याओं से सम्पन्न (सवितुः) (देवस्य) दिव्य गुणों से युक्त राजा, माता-पिता किंवा उपदेशक आचार्य अथवा योगी पुरुष के (वरेण्यम्) स्वीकरणीय श्रेष्ठ (भर्गः) पापादि दोषों को नष्ट करने वाले, समाज, राष्ट्र व विश्व में यज्ञ अर्थात् संगठन, त्याग, बलिदान के भावों को समृद्ध करने वाले उपदेश वा विधान को (धीमहि) हम सब मनुष्य धारण करें। (यः) ऐसे जो राजा, योगी, आचार्य वा माता-पिता और उनके विधान वा उपदेश (नः) हमारे (धियः) कर्म एवं बुद्धियों को (प्रचोदयात्) व्यक्तिगत, आध्यात्मिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रिय वा वैश्विक उन्नति के पथ पर अच्छी प्रकार प्रेरित करते हैं।

भावार्थ- उत्तम योगी व विज्ञानी माता-पिता, आचार्य एवं राजा अपनी सन्तान, शिष्य वा प्रजा को अपने श्रेष्ठ उपदेश एवं सर्वहितकारी विधान के द्वारा सभी प्रकार के दुःखों, पापों से मुक्त करके उत्तम मार्ग पर चलाते हैं। ऐसे माता-पिता, आचार्य एवं राजा के प्रति सन्तान, शिष्य व प्रजा अति श्रद्धा भाव रखे, जिससे सम्पूर्ण परिवार, राष्ट्र वा विश्व सर्वविध सुखी रह सके।

(२) त्वं सूंकरस्यं दर्दृहि तवं दर्दर्तु सूकरः।
स्तोतृनिंद्रंस्य रायसि किमस्मान्दुंच्छुनायसे नि षु स्वंप।। (ऋ.७.५५.४)

सायणभाष्यम्

हे सारमेय त्वं सूकरस्य वराहस्य।। द्वितीयार्थे षष्ठी।। दर्दृहि। विदारय। सूकरोऽपि तव दर्दर्तु। विदारयतु। युवयोर्नित्यवैरित्वात्। अस्मान्मा दशेत्यर्थः।। स्तोतृनित्यर्धर्चः पूर्वस्यामृचि व्याख्यातः।।

H.H. Wilson- Do the rend the hog: let the hog rend thee: Why dost thou assail the worshippers of Indra? Why dost thou intimidate us? go quitly to sleep.

Ralph T.H. Griffith- Be on the guard against the boar, and let the boar beware of thee. At Indra's singers barkest thou? Why dost thou seek to terrify us? Go to sleep.

इन दोनों ही विदेशी भाष्यकारों ने सायणाचार्य का ही अनुकरण किया है। वस्तुतः पाश्चात्य वेदभाष्यकारों में यह योग्यता ही नहीं थी कि वे वेदादि शास्त्रों का भाष्य कर सकें। दुर्भाग्यवश न केवल पाश्चात्य देश, अपितु आर्य्यावर्तीय (भारतीय) कथित प्रबुद्ध वर्ग इन्हीं को विशेष प्रामाणिक मानता है। आचार्य सायण की भी वेदार्थ में कोई योग्यता नहीं थी। इन तीनों के भाष्य का सार है-

''हे शूकर व कुत्तो! तुम परस्पर लड़ो, एक-दूसरे को मारो, काटो। इन्द्र के उपासकों वा स्तुति करने वालों पर आक्रमण क्यों करते हो? हमें क्यों कष्ट देते हो। जाओ, चुपचाप सो जाओ।''

मेरे संसार के प्रबुद्धजनो! क्या आपको इन कथित वेदभाष्यकारों के भाष्य में कुछ भी सार्थक बात दिखाई देती है? अब हम इस मंत्र का **महर्षि दयानन्द** का आधिभौतिक भाष्य प्रस्तुत करते हैं-

महर्षि दयानन्द भाष्य

पदार्थ- (त्वम्) (सूकरस्य) यः सुष्ठु करोति (दर्दृहि) भृशं वर्धय (तव) (दर्दर्तु) भृशं वर्द्धताम् (सूकरः) यः सम्यक् करोति (स्तोतॄन्) विदुषः (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यस्य (रायसि) रा इवाचरसि (किम्) (अस्मान्) (दुच्छुनायसे) (नि) (सु) (स्वप)।।४।।

भावार्थ- हे गृहस्थ त्वमैश्वर्यं संचित्य धर्मे व्यवहारे संवीय विदुषः सत्कृत्य श्रीमानिवाचरास्मान् प्रति किमर्थं श्वेवाचरति नीरोगस्सन् प्रतिसमयं सुखेन शयस्व।।४।।

पदार्थ- हे गृहस्थ जिस (सूकरस्य) सुन्दरता से कार्य करने वाले (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य्यवान् (तव) तुम्हारे (सूकरः) कार्य को अच्छे प्रकार करने वाला (दर्दर्तु) निरन्तर बढ़े (त्वम्) आप (रायसि) लक्ष्मी के समान आचरण करते हो और जो सब को (दर्दृहि) निरन्तर उन्नति दें अर्थात् सब की वृद्धि करें (स्तोतॄन्) स्तुति करने वाले विद्वान् (अस्मान्) हम लोगों को (किम्) क्या (दुच्छुनायसे) दुष्ट कुत्तों में जैसे वैसे आचरण से प्राप्त होते हो उस घर में सुख से (नि, षु, ष्वप) निरन्तर सोओ।।४।।

भावार्थ- हे गृहस्थ! आप ऐश्वर्य का संचय कर धर्म व्यवहार में अच्छे प्रकार विस्तार कर और विद्वानों का सत्कार कर श्रीमानों के समान आचरण करो, हम लोगों के प्रति किसलिये कुत्ते के समान आचरण करते हैं, नीरोग होते हुए प्रति समय सुख से सोओ।।४।।

इस मंत्र पर मेरा मत

अब हम इस मंत्र पर विचार करते हैं। इस मंत्र का देवता इन्द्र, ऋषि वसिष्ठ, छन्द बृहती, स्वर मध्यम है। इस ऋचा तथा इसमें आए हुए कुछ पदों पर विचार करते हैं-

सूकरः = यः सुष्ठु करोति (म.द.भा.)
दृ विदारणे= प्रभूत वृद्धि करना {दर्दर्तु= भृशं वद्र्धताम् (म.द.भा.)। दर्दृहि= अत्यन्तं वर्धय (ऋ.३.३०.२१)}
रायसि= रा इवाचरसि (म.द.भा.)
दुच्छुनायसे= दुष्टेष्वेवाचरसि (म.द.ऋ.भा.७.५५.३)
सारमेय= {सरमा= सरणात् (नि.११.२४), या सरति सा सरला नीतिः (म.द.ऋ.भा.४.१६.८), समानरमणा (म.द.ऋ.भा.५.४५.७)} स्वार्थ में तद्धित।

मेरा आधिदैविक भाष्य

(त्वं) सारमेय-पूर्व ऋचा से अनुवृत्त, इन्द्र तत्व के साथ-२ रमण करने वाली मरुद् रश्मियां **{इन्द्रो वै मरुतः क्रीडिनः (गो.उ.१.२३), मरुतो ह वै क्रीडिनो वृत्रᳯं हनिष्यन्तमिन्द्रमागतं तमभितः**

परिचिक्रीडुर्महयन्तः। (श.२.५.३.२०)} (सूकरस्य) जो अपने सभी कार्य अच्छी प्रकार तथा तीव्रतापूर्वक करता है, ऐसे उस इन्द्र तत्व=तीक्ष्ण वायु मिश्रित विद्युत् को (दर्दृहि) प्रभूत मात्रा में समृद्ध करती हैं, इसके साथ ही वे मरुद् रश्मियां, विशेषकर प्राणापान रश्मियां उस तीक्ष्ण इन्द्र तत्व रूपी विद्युत का असुर तत्व आदि बाधक पदार्थों के निवारण हेतु उचित विभाग भी करती हैं, जिससे वह इन्द्र तत्व संयोजक पदार्थों को सम्यक् रूपेण सम्पीडित कर सके। (तव) उन मरुद् रश्मियों को (सूकरः) सुष्ठुकारी व शीघ्रकारी इन्द्र तत्व भी (दर्दर्तु) नाना प्रकार से उपयुक्त दिशाओं में विभक्त करता है, जिससे वे नाना परमाणुओं के मध्य संयोजन क्रियाएं करने में सक्षम बनती हैं। वे मरुद् रश्मियां एवं इन्द्र तत्व (स्तोतृनिन्द्रस्य) उस इन्द्र संज्ञक विद्युत् के द्वारा प्रकाशित व सक्रिय परमाणु आदि पदार्थों को (किम् रायसि) **{रायः = पशवो वै रायः (श.३.३.१.८)}** छन्दादि रश्मियों के समान तरंग के तुल्य व्यवहार करने के लिए क्यों प्रेरित वा विवश करते हैं? इसका उत्तर देते हुए कहा कि (अस्मान् दुच्छुनायसे) हमें, यहाँ से तात्पर्य इस ऋचा का कारण रूप वसिष्ठ ऋषि अर्थात् प्राण नामक प्राण तत्व है, ऐसी प्राण रश्मियां दुष्ट असुर रश्मियों के अन्दर **{इव= पादपूरणार्थ}** सर्वतः विचरती हुई (नि षु स्वप) नितराम् व्याप्त हो जाती हैं, जिससे असुर तत्व क्षीण बल होकर प्रसुप्तवत् आकाश तत्व में लीन हो जाता है।

भावार्थ- इन्द्र रूपी विद्युत् को विभिन्न मरुद् रश्मियां, जो उसके साथ क्रीड़ा करती हुई सी निरन्तर गमन करती हैं, अनुकूलता व प्रचुरतापूर्वक समृद्ध करती हैं। इसके साथ ही विभिन्न पदार्थों के संयोग व वियोग के समय विद्युत् बलों का उचित विभाग भी करती हैं। उधर इन्द्र रूपी विद्युत् भी परमाणुओं के संयोग व वियोग की प्रक्रिया के समय मरुद् रश्मियों का उचित विभाग करती है, जिससे उनके मध्य अनुकूल आकर्षणादि बल उत्पन्न हो सकें। वे मरुद् रश्मियां एवं विद्युत् दोनों ही संयोग वा वियोग करने वाले परमाणुओं को उस प्रक्रिया के समय तरंगीय गति के समान गति प्राप्त कराते हैं। इसके साथ ही इस प्रक्रिया में संयोजक बलों से युक्त प्राण नामक प्राण रश्मियां संयोग प्रक्रिया में बाधक बन रही डार्क एनर्जी के अन्दर व्याप्त होकर उन्हें नितान्त दुर्बल बना देती हैं। इससे वह सर्वथा क्षीणबल डार्क एनर्जी बिखर कर आकाश में मिल कर निष्क्रिय हो जाती है।

इस ऋचा का सृष्टि प्रक्रिया पर प्रभाव-

आर्ष व दैवत प्रभाव- इसकी उत्पत्ति वसिष्ठ अर्थात् प्राण नामक प्राण रश्मियों से होती है। **{वसिष्ठः = प्राणा वै वसिष्ठ ऋषिः (श.८.१.१.६)}** इससे सिद्ध है कि इस छन्द रश्मि के उत्पन्न होने के पूर्व विद्यमान प्राण रश्मियां इस छन्द रश्मि को प्रभावित व सक्रिय करने में भी सहायक होती हैं। इसका देवता इन्द्र होने से इन्द्र तत्व समृद्ध होता है अर्थात् विद्युत् बलों की तीक्ष्णता बढ़ जाती है।

छान्दस प्रभाव- इसका छन्द बृहती होने से यह विभिन्न परमाणुओं को बांधकर अपेक्षाकृत बड़े अणुओं के निर्माण में सहायक होती है। इसका स्वर मध्यम होने से यह छन्द रश्मि संयोज्य परमाणुओं के बाहरी आवरण, जो सूत्रात्मा वायु रश्मियों का होता है, के मध्य प्रविष्ट होकर अपना बंधक प्रभाव दर्शाती हैं।

ऋचा का प्रभाव- जब दो विद्युत् आवेशित कणों को परस्पर निकट लाया जाता है, उस समय उनके चारों ओर विद्युत् चुम्बकीय बल उत्पन्न हो जाता है। उन बल रश्मियों के चारों ओर सूक्ष्म मरुद् रश्मियां निरन्तर क्रीड़ा करती हुई गमन करती हैं। वे ऐसी मरुद् रश्मियां विद्युत् आवेश के उचित बलों को समृद्ध करती हैं। इससे ऋणावेशित कण आकाश तत्व में खिंचाव उत्पन्न करने लगता है। यही ऋण आवेशित कण अपने अन्दर से उत्सर्जित मरुद् रश्मियों को उचित रीति से विभक्त करके धनावेशित कणों से उत्सर्जित धनंजय रश्मियों को आकृष्ट करने में सहयोग करता है। वे रश्मियां अर्थात् फील्ड रश्मियां दोनों संयोज्य कणों को कोई हानि नहीं पहुंचाती हैं, बल्कि वे उन कणों को उस समय तरंग के समान कम्पित (Vibrate) अवश्य करती हैं। इस Vibration में प्राण नामक प्राण रश्मियां, जो धनावेशित कणों से उत्सर्जित होती हैं, कणों के मध्य सूक्ष्म रूप में विद्यमान Dark Energy पर प्रहार करके उसे सर्वथा क्षीण करके आकाश में मिला देती हैं। इससे वह संयोग प्रक्रिया में बाधा नहीं पहुंचा सकती।

मेरा आध्यात्मिक भाष्य

(त्वं=सारमेय) योग साधना में प्रवृत्त मनुष्य के साथ प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति नामक पांच वृत्तियां (सूकरस्य) साधक को शीघ्रतापूर्वक अपने प्रभाव से आच्छादित करने वाले पंच क्लेशों= अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश, को बढ़ाती हैं, तथा (तव) उन पांच वृत्तियों को (सूकरः) वे पंच क्लेश भी समृद्ध करते हैं। (स्तोतृनिन्द्रस्य) इन्द्र अर्थात् परमैश्वर्यवान् परमेश्वर के स्तोता= साधक को ये वृत्तियां एवं क्लेश {रायसि= गच्छसि -सायणभाष्य} योग साधक के चित्त को क्यों चंचल बनाती हैं? इसका उत्तर यह है (दुच्छुनायसे) कि इससे योगपथ का पथिक मनुष्य उन दुष्ट वृत्तियों व क्लेशों के प्रभाव में बहता हुआ (नि षु स्वप) उस साधना से नितराम् उपरत हो जाता है। इस कारण योग साधक को चाहिए कि वह इन दोनों अर्थात् वृत्तियों व क्लेशों को सतत अभ्यास व सम्यक् ज्ञान के द्वारा नियन्त्रित व निर्मूल करके उन्हें प्रसुप्तवत् बनाने का प्रयत्न करता रहे।

भावार्थ- जब कोई योगसाधक योग मार्ग पर अग्रसर होता है, तब प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवं स्मृति नाम वाली पांच वृत्तियां तथा अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश नाम वाले पांच क्लेश उसके मन को बार-२ अस्थिर करने लगते हैं। इससे योगाभ्यासी अपने पथ से उपरत होने लगता है। इस कारण योगाभ्यासी को चाहिए कि वह इन वृत्तियों व क्लेशों से दूर रहने का धैर्यपूर्वक निरन्तर प्रयत्न करता रहे, जिससे उसकी योगमार्ग में प्रवृत्ति सतत बनी रहे।

(३) एतद्वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात्।।६।।

(अथर्व.का.६, पर्याय-३, सूक्त ६ मं.६)

इस मंत्र पर आचार्य सायण ने भाष्य नहीं किया है।

पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर भाष्य

पदार्थ- **एतत् वै उ स्वादीयः =** वह जो स्वादयुक्त है **यत् अधिगवं क्षीरं वा मांसं वा=** जो गौ से प्राप्त होने वाले दूध या अन्य मांसादि पदार्थ हैं **तत् एव न आश्नीयात्=** उसमें से कोई पदार्थ अतिथि के पूर्व भी न खावे।।६।।

इस पर मेरा मत

इसके भाष्य में आर्य विद्वान् प्रो. विश्वनाथ विद्यालंकार ने यहा मांस का अर्थ पनीर किया है, तो पं. क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने मनन साधक (बुद्धिवर्धक) पदार्थ को मांस कहा है। सभी ने इस मंत्र तथा सूक्त के अन्य मंत्रों का विषय अतिथि सत्कार बताया है। इस मंत्र का देवता पं. क्षेमकरणदास त्रिवेदी की दृष्टि में अतिथि व अतिथिपति है, जबकि पं. सातवलेकर ने अतिथि विद्या माना है। पं. सातवलेकर ने इसका ऋषि ब्रह्मा माना है। छन्द पिपीलिका मध्या गायत्री है। **{ब्रह्मा = मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा (श.१४.६.१.७), प्रजापतिर्वै ब्रह्मा (गो.उ.५.८)। अतिथिः = यो वै भवति यः श्रेष्ठतामश्नुते स वा अतिथिर्भवति (ऐ.आ.१.१.१)। अतिथिपतिः = अतिथिपतिर्वावातिथेरीशे (क.४६.४ - ब्रा.उ.को. से उद्धृत)। पिपीलिका = पिपीलिका पेलतेर्गतिकर्मणः (दै.३.६)। स्वादु = प्रजा स्वादु (ऐ.आ.१.३.४), प्रजा वै स्वादुः (जै.ब्रा.२.१४४), मिथुनं वै स्वादु (ऐ.आ.१.३.४)। क्षीरम् = यदत्यक्षरत् तत् क्षीरस्य क्षीरत्वम् (जै.ब्रा.२.२२८)। मांसम् = मांसं वै पुरीषम् (श.८.६.२.१४), मांसं माननं वा मानसं वा मनोऽस्मिन् सीदतीति वा (नि.४.३), मांसं सादनम् (श.८.१.४.५)}**

मेरा आधिदैविक भाष्य

(एतत् वा स्वादीयः) ये अतिथि अर्थात् सतत गन्त्री प्राण, व्यान रश्मियां एवं अतिथिपति अर्थात् प्राणोपान रश्मियों की नियन्त्रक सूत्रात्मा वायु रश्मियां स्वादुयुक्त होती हैं अर्थात् ये विभिन्न छन्दादि रश्मियों के मिथुन बनाकर नाना पदार्थों को उत्पन्न करने में सहायक होती हैं। (यत्) जो प्राणव्यान व सूत्रात्मा वायु

रश्मियां (अधिगवं क्षीरं वा मांसं वा) गो अर्थात् **'ओम्'** छन्द रश्मि रूपी सूक्ष्मतम वाक् तत्व में आश्रित होती हैं, साथ ही अपने पुरीष= पूर्ण संयोज्य बल **{पुरीषम्= पूर्णं बलम् (म.द.य.भा.१२.४६), ऐन्द्रं हि पुरीषम् (श.८.७.३.७), अन्नं पुरीषम् (श.८.१.४.५)}** के साथ निरन्तर नाना रश्मि वा परमाणु आदि पदार्थों के ऊपर झरती रहती हैं। इन **'ओम्'** रश्मियों का झरना ही क्षीरत्व तथा पूर्ण संयोज्यता ही मांसत्व कहलाता है। यहाँ **'मांस'** शब्द यह संकेत देता है, कि ये **'ओम्'** रश्मियां मनस्तत्व से सर्वाधिक रूप से निकटता से सम्बद्ध होती हैं किंवा मनस्तत्व इनमें सर्वाधिक मात्रा में बसा हुआ रहता है। ये **'ओम्'** रश्मियां प्राणव्यान एवं सूत्रात्मा वायु रश्मियों के ऊपर झरती हुई अन्य स्थूल पदार्थों पर गिरती रहती हैं। (तत् एव न अश्नीयात्) इस कारण से विभिन्न रश्मि वा परमाणु आदि पदार्थों के मिथुन बनने की प्रक्रिया नष्ट नहीं होती। यह प्रक्रिया अतिथिरूप प्राणव्यान के मिथुन बनने किंवा इनके द्वारा विभिन्न मरुदादि रश्मियों को आकृष्ट करने की प्रक्रिया शान्त होने से पूर्व नष्ट नहीं होती है, बल्कि उसके पश्चात् अर्थात् दो कणों के संयुक्त होने के पश्चात् और मिथुन बनने की प्रक्रिया नष्ट वा बन्द हो सकती है, यह जानना चाहिए।

इस ऋचा का सृष्टि पर प्रभाव-

आर्ष व दैवत प्रभाव- इसका ऋषि ब्रह्मा होने से संकेत मिलता है कि इसकी उत्पत्ति मन एवं **'ओम्'** रश्मियों के मिथुन से ही होती है। यह मिथुन इस छन्द रश्मि को निरन्तर व निकटता से प्रेरित करता रहता है। इसके दैवत प्रभाव से प्राण, व्यान तथा सूत्रात्मा वायु रश्मियां विशेष सक्रिय होकर नाना संयोग कर्मों को समृद्ध करती हैं।

छान्दस प्रभाव- इसका छन्द **पिपीलिका मध्या गायत्री** होने से यह छन्द रश्मि विभिन्न पदार्थों के संयोग के समय उनके मध्य तीव्र तेज व बल के साथ सतत संचरित होती है। इससे उन पदार्थों के मध्य विभिन्न पदार्थ तेज एवं बल को प्राप्त होते रहते हैं।

ऋचा का प्रभाव- जब दो कणों का संयोग होता है, तब उनके मध्य प्राण, व्यान व सूत्रात्मा वायु रश्मियों का विशेष योगदान होता है। ये रश्मियां विभिन्न मरुद् रश्मियों द्वारा आकुंचित आकाश तत्व को व्याप्त कर लेती हैं। इसी समय इन रश्मियों के ऊपर सूक्ष्म **'ओम्'** रश्मियां अपना सेचन करके इन्हें अधिक बल से युक्त करती हैं। इससे दोनों कणों के मध्य फील्ड निरन्तर प्रभावी होता हुआ उन दोनों कणों को परस्पर संयुक्त कर देता है।

मेरा आधिभौतिक भाष्य

(एतत् वा स्वादीयः) ये जो स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ होते हैं। (यदधिगवं क्षीरं वा) जो गाय से प्राप्त होने वाले दूध, घृत, मक्खन, दही आदि पदार्थ हैं अथवा (मांसम् वा) मनन, चिन्तन आदि कार्यों में उपयोगी फल, मेवे आदि पदार्थ। ✶ (तदेव न अश्नीयात्) उन पदार्थों को अतिथि के खिलाने से पूर्व न खावे अर्थात् अतिथि को खिलाने के पश्चात् ही खाना चाहिए। यहाँ अतिथि से पूर्व न खाने का प्रसंग इसके पूर्व मंत्र से सिद्ध होता है, जहाँ लिखा है- **''अशितावत्यतिथावश्नीयात्'' = अशितावति अतिथौ अश्नीयात्।** इस प्रकरण को पूर्व आधिदैविक भाष्य में भी समझें।

✶ **{'मांसम्' पद की विवेचनाः-** इस विषय में सर्वप्रथम आर्य विद्वान् पं. रघुनन्दन शर्मा कृत ''वैदिक सम्पत्ति'' नामक ग्रन्थ से आयुर्वेद के कुछ ग्रन्थों को उद्धृत करते हुए कहते हैं-

''सुश्रुत में आम के फल का वर्णन करते हुए लिखा है कि-

अपक्वे चूतफले स्नाय्वस्थिमज्जानः सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते पक्वे त्वाऽविर्भूता उपलभ्यन्ते।

अर्थात् आम के कच्चे फल में नसें, हड्डियाँ और मज्जा आदि प्रतीत नहीं होती, किन्तु पकने पर सब आविर्भूत हो जाती हैं।

यहाँ गुठली के तन्तु रोम, गुठली हड्डियाँ, रेशे नसें और चिकना भाग मज्जा कहा गया है। इसी प्रकार का वर्णन भावप्रकाश में भी आया है। वहाँ लिखा है कि-

आम्रास्यानुफले भवन्ति युगपन्मांसास्थिमज्जादयो लक्ष्यन्ते न पृथक् पृथक् तनुतया पुष्टास्त एव स्फुटाः।
एवं गर्भसमुद्भवे त्ववयवाः सर्वे भवन्त्येकदा लक्ष्याः सूक्ष्मतया न ते प्रकटतामायान्ति वृद्धिङ्गताः।

अर्थात् जिस प्रकार कच्चे आम के फल में मांस, अस्थि और मज्जादि पृथक्-पृथक् नहीं दिखलाई पड़ते, किन्तु पकने पर ही ज्ञात होते हैं उसी प्रकार गर्भ के आरम्भ में मनुष्य के अंग भी ज्ञात नहीं होते, किन्तु जब उनकी वृद्धि होती है, तब स्पष्ट हो जाते हैं।

इन दोनों प्रमाणों से प्रकट हो रहा है कि फलों में भी मांस, अस्थि, नाड़ी और मज्जा आदि उसी प्रकार कहे गये हैं, जिस प्रकार प्राणियों के शरीर में। वैद्यक के एक ग्रन्थ में लिखा है कि-

प्रस्थं कुमारिकामांसम्।

अर्थात् एक सेर कुमारिका का मांस। यहाँ घीकुवार को कुमारिका और उसके गूदे को मांस कहा गया है।

कहने का तात्पर्य यह कि जिस प्रकार औषधियों और पशुओं के नाम एक ही शब्द से रखे गये हैं उसी प्रकार औषधियों और पशुओं के शरीरावयव भी एक ही शब्द से कहे गये हैं। इस प्रकार का वर्णन आयुर्वेद के ग्रन्थों में भरा पड़ा है। श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, मुम्बई में छपे हुए 'औषधिकोष' में नीचे लिखे समस्त पशुसंज्ञक नाम और अवयव वनस्पतियों के लिए भी आये हुए दिखलाये गये हैं। हम नमूने के लिए कुछ शब्द उद्धृत करते हैं-

वृषभ- ऋषभकन्द	सिंही- कटेली, वासा	हस्ति- हस्तिकन्द
श्वान- कुत्ताघास, ग्रन्थिपर्ण	खर- खरपर्णिनी	वपा-झिल्ली= बक्कल के भीतर का जाला
मार्जार- बिल्लीघास, चित्ता	काक- काकमाची	अस्थि- गुठली
मयूर- मयूरशिखा	वाराह- वाराहीकन्द	मांस- गूदा, जटांमासी
बीछू- बीछूबूटी	महिष- महिषाक्ष, गुग्गुल	चर्म- बक्कल
सर्प- सर्पिणीबूटी	श्येन- श्येनघंटी (दन्ती)	स्नायु- रेशा
अश्व- अश्वगन्धा, अजमोदा	मेष- जीवशाक	नख- नखबूटी
नकुल- नाकुलीबूटी	कुक्कुट (टी) शाल्मलीवृक्ष	मेद-मेदा
हंस- हंसपदी	नर- सौगन्धिक तृण	लोम(शा)- जटामासी
मत्स्य- मत्स्याक्षी	मातुल- घमरा	हृद- दारचीनी
मूषक- मूषाकर्णी	मृग- सहदेवी, इन्द्रायण, जटामासी, कपूर	पेशी- जटामासी
गो- गौलोमी	पशु- अम्बाड़ा, मोथा	रुधिर- केसर
महाज- बड़ी अजवायन	कुमारी- घीकुमार	आलम्भन- स्पर्श

इस सूची में समस्त पशु पक्षियों और उनके अवयवों के नाम तथा समस्त वनस्पतियों और उनके अवयवों के नाम एक ही शब्द से सूचित किये गये हैं। ऐसी दशा में किसी शब्द से पशु और उसका अवयव ही ग्रहण नहीं किया जा सकता।

विज्ञ पाठक यहाँ विचारें कि ऐसी स्थिति में यहाँ **'मांसम्'** पद से गौ आदि पशुओं वा पक्षियों का मांस ग्रहण करना क्या मूर्खता नहीं है? यहाँ कोई पाश्चात्य शिक्षा से अभिभूत तथा वैदिक वा भारतीय संस्कृति व इतिहास का उपहासकर्ता कथित प्रबुद्ध किंवा मांसाहार का पोषक संस्कृत भाषा के ऐसे नामों पर व्यंग्य न करें, इस कारण हम उन्हें अंग्रेजी भाषा के भी कुछ उदाहरण देते हैं-

१. **Lady Finger भिण्डी को कहते हैं। यदि भोजन विषय में कोई इसका अर्थ किसी महिला की अंगुली करे, तब क्या उसका अपराध नहीं होगा?**
२. **Vegetable किसी भी शाक वा वनस्पति को कहते हैं। उधर Chamber Dictionary में इसका अर्थ Dull understanding person भी दिया है। यदि vegetable खाते हुए किसी व्यक्ति को देखकर कोई उसे मन्दबुद्धि मनुष्य को खाद्य पदार्थ कहे, तब क्या यह मूर्खता नहीं होगी।**
३. **आयुर्वेद में एक पौधा है, गोविष, जिसे हिन्दी में काकमारी तथा अंग्रेजी में Fish Berry कहा जाता है। यदि कोई इसका अर्थ मछली का रस लगाये, तो उसे क्या कहा जाए?**
४. **Potato आलू को कहते हैं, उधर इसका अर्थ A mentally handicapped person भी होता है, तब क्या आलू खाने वाले को मानसिक रोगी मनुष्य को खाने वाला माना जाये?**

५. Hag यह एक प्रकार का फल है, उधर An ugly old woman को भी hag कहा जाता है, तब क्या यहाँ भी कोई Hag फल का अर्थ उलटा ही लगाने का प्रयास करेगा?

अब हम इस पर विचार करते हैं कि फलों के गूदे को मांस क्यों कहा? जैसा कि अपने आधिदैविक भाष्य में लिख चुके हैं कि पूर्णबलयुक्त वा पूर्णबलप्रद पदार्थ को मांस कहा जाता है। संसार में सभी मनुष्य फलों के गूदे का ही प्रयोग करते हैं, अन्य भागों का नहीं, क्योंकि फल का सार भाग वही है। वही भाग बल-वीर्य का भण्डार है अर्थात् उसके भक्षण से बल-वीर्य-बुद्धि आदि की वृद्धि होती है। अब कोई प्रश्न करे कि प्राणियों के शरीर का मांस क्यों मांस कहलाया? इसका उत्तर यह है कि किसी भी प्राणी के शरीर का बल उसकी मांसपेशियों के अन्तर्गत ही निहित है, इस कारण से यह भी मांस कहलाया जाता है। जैसे शाकाहारी प्राणी फलों के गूदे का ही विशेष भक्षण करते हैं, वैसे ही सिंहादि मांसाहारी प्राणी, प्राणी के मांस भाग को ही विशेष रूप से खाते हैं। यह दोनों में समानता है। जो स्थान फलों में गूदे का है, वही स्थान प्राणियों के शरीर में मांस का है। **मनुष्य प्राकृतिक रूप से केवल शाकाहारी व दुग्धाहारी प्राणी है, इस कारण वेदादि शास्त्रों में प्राणियों के मांस खाने की चर्चा वेदादि शास्त्रों की परम्परा से सर्वथा अनभिज्ञता का परिचायक है। ऐसी चर्चा करने वाले कथित वेदज्ञ, चाहे विदेशी हों वा स्वदेशी, हमारी दृष्टि में वे वेदादि शास्त्रों की वर्णमाला भी नहीं जानते, भले वे व्याकरणादि शास्त्रों के कितने ही बड़े अध्येता-अध्यापक क्यों न हों।** मांसाहार के विषय में हम पृथक् से एक ग्रन्थ लिखने पर फिर कभी विचार करेंगे, जिसमें विश्वभर के मांसाहारियों की सभी शंकाओं का समाधान होगा।

प्रश्न- वेद में **'मांसम्'** पद का अर्थ प्राणियों का मांस कदापि नहीं हो सकता, इसे आपका पूर्वाग्रह क्यों न माना जाये; जो केवल शाकाहार के आग्रहवश ही किया गया है?

उत्तर- जिस परम्परा में सामान्य योगसाधक के लिए अहिंसा को प्रथम सोपान कहा गया हो, जहाँ मन, वचन, कर्म से कहीं भी व कभी भी सभी प्राणियों के प्रति वैर त्याग अर्थात् प्रीति का संदेश दिया गया हो, वहाँ सिद्धपुरुष योगियों एवं उसी क्रम में अपनी योगसाधना द्वारा ईश्वर व मंत्रों के साक्षात्कृतधर्मा महर्षियों, उनके ग्रन्थों एवं वेदरूप ईश्वरीय ग्रन्थों से हिंसा का संदेश देना मूर्खता व दुष्टता नहीं है, तो क्या है? जो विद्वान् वैदिक अहिंसा का स्वरूप देखना चाहे, वे **पातंजल योगदर्शन** के **व्यासर्षि भाष्य** को स्वयं पढ़ कर देखें। इस ऐतरेय ब्राह्मण में जहाँ प्रायः सभी भाष्यकारों ने पशुओं का नृशंस वध एवं उसके अंगों के भक्षण का विधान किया है, वहाँ हमने उसका कैसा गूढ़ विज्ञान प्रकाशित किया है, यह पाठक इस ग्रन्थ के सम्पूर्ण अध्ययन से जान सकते हैं। पाठकों की जानकारी के लिए हम वेद से ही कुछ प्रमाण देते हैं-

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम। तं त्वा सीसेन विध्यामः।। (अथर्व.१.१६.४)
अर्थात् तू यदि हमारी गाय, घोड़ा वा मनुष्य को मारेगा, तो हम तुझे सीसे से बेध देंगे।
मा नो हिंसिष्ट द्विपदो मा चतुष्पदः।। (अथर्व.११.२.१)
अर्थात् हमारे मनुष्यों और पशुओं को नष्ट मत कर। अन्यत्र वेद में देखें-
इमं मा हिंसीर्द्विपाद पशुम्। (यजु.१३.४७)
अर्थात् इस दो खुर वाले पशु की हिंसा मत करो।
इमं मा हिंसीरेकशफं पशुम्। (यजु.१३.४८)
अर्थात् इस एक खुर वाले पशु की हिंसा मत करो।
यजमानस्य पशुन् पाहि। (यजु.१.१)
यजमान के पशुओं की रक्षा कर।
आप कहेंगे यह बात यजमान वा किसी मनुष्य विशेष के पालतू पशुओं की हो रही है, न कि हर प्राणी की।
इस भ्रम के निवारणार्थ अन्य प्रमाण-
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। (यजु.३६.१८)
अर्थात् मैं सब प्राणियों को मित्र की भांति देखता हूँ।
मा हिंसीस्तन्वा प्रजाः। (यजु.१२.३२)
इस शरीर से प्राणियों को मत मार।
मा स्रेधत। (ऋ.७.३२.९) अर्थात् हिंसा मत करो।

महर्षि जैमिनी के पश्चात् सबसे महान् वेदवेत्ता **महर्षि दयानन्द** के मांसाहार के विषय में विचारों को भी पाठक पढ़ें-

"मद्यमांसाहारी म्लेच्छ कि जिनका शरीर मद्यमांस के परमाणुओं से ही पूरित है, उनके हाथ का न खावें।"
"इन पशुओं को मारने वाले को सब मनुष्यों की हत्या करने वाले जानियेगा।"
"जब से विदेशी मांसाहारी इस देश में आकर गो आदि पशुओं को मारने वाले मद्यपायी राज्याधिकारी हुए हैं, तब से क्रमशः आर्यों के दुःख की सीमा बढ़ती जाती है। **-सत्यार्थ प्रकाश, दशम समुल्लास**

देखिये दया के सागर **ऋषि दयानन्द** क्या कहते हैं-

"पशुओं के गले छुरे से काटकर जो अपना पेट भरते हैं, सब संसार की हानि करते हैं। क्या संसार में उनसे भी अधिक कोई विश्वासघाती, अनुपकारी, दुःख देने वाले पापीजन होंगे?"

"हे मांसाहारियो! तुम लोग जब कुछ काल के पश्चात् पशु न मिलेंगे, तब मनुष्यों का मांस भी छोड़ोगे वा नहीं?"

"हे धार्मिक लोगो! आप इन पशुओं की रक्षा तन, मन और धन से क्यों नहीं करते?" **(गोकरुणानिधि)**

आशा है बुद्धिमान् एवं निष्पक्ष पाठकों की मांसाहार की भ्रांति निर्मूल हो चुकी होगी।

मेरा आध्यात्मिक भाष्य

{मांसम् = मन्यते ज्ञायतेऽनेन तत् मांसम् (उ.को.३.६४), मांसं पुरीषम् (श.८.७.४.१९), (पुरीषम् = पुरीषं पृणातेः पूरयतेर्वा - नि.२.२२; सर्वत्राऽभिव्याप्तम् - म.द.य.भा.३८.२१; यत् पुरीषं स इन्द्रः - श.१०.४.१.७; स एष प्राण एव यत् पुरीषम् - श.८.७.३.६)}

(एतत् वा उ स्वादीयः) योगी पुरुष के समक्ष परमानन्द का आस्वादन कराने वाले ये पदार्थ विद्यमान रहते हैं, जिनके कारण जीव का परमात्मा के साथ सायुज्य रहता है, (यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा) वे पदार्थ योगी की मन आदि इन्द्रियों में प्रतिष्ठित होते हैं। वे पदार्थ क्या हैं, इसका उत्तर यह है कि सर्वत्र अभिव्याप्त परमैश्वर्य सम्पन्न इन्द्ररूप परमात्मा से झरने वाली **'ओम्'** वा गायत्री आदि वेदों की ऋचाएं ही वे पदार्थ हैं, जो योगी की इन्द्रियों व अन्तःकरण में निरन्तर स्रवित होती रहती हैं। योगी उन आनन्दमयी ऋचाओं का रसास्वादन करने लगता है, तब वह परमानन्द का अनुभव करने लगता है। (तदेव न अश्नीयात्) योगी उन ऋचाओं के आनन्द को उस समय तक अनुभव नहीं कर पाता, जब तक कि अतिथिरूप प्राण तत्व, जो योगी के मस्तिष्क व शरीर में सतत संचरित होते हैं, उन ऋचाओं के साथ संगत नहीं होते हैं। यहाँ अतिथि से पूर्व का प्रकरण पूर्ववत् समझें।

भावार्थ- जब कोई योगी योगसाधना करता है और एतदर्थ प्रणव वा गायत्री आदि का यथाविध जप करता है, तब सर्वत्र अभिव्याप्त परमैश्वर्यवान् इन्द्ररूप ईश्वर से निरन्तर प्रवाहित **'ओम्'** रश्मियां उस योगी के अन्तःकरण तथा प्राणों के अन्दर स्रवित होती रहती है। इससे वह योगी उन रश्मियों का रसास्वादन करता हुआ आनन्द में निमग्न हो जाता है।

(४) न सेशे यस्य रंबतेऽन्तरा सक्थ्या३ कपृत्। सेदीशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृंभते विश्वस्मादिंद्र उत्तरः।। (ऋ.१०.८६.१६)

सायणभाष्य

हे इंद्र स जनो नेशे मैथुनं कर्तुं नेष्टे न शक्नोति यस्य जनस्य कपृच्छेपः सक्थ्या सक्थिनो अंतरा रंबते लंबते। सेत् स एव स्त्रीजन ईशे मैथुनं कर्तुं शक्नोति यस्य जनस्य निषेदुषः शयानस्य रोमशमुपस्थं विजृंभते विवृतं भवति। यस्य च पतिरिंद्रो विश्वास्मादुत्तरः।।

पं. वैद्यनाथ शास्त्री भाष्य

पदार्थ- **(न)** नहीं **(सः)** वह जीव **(ईशे)** अपने इन्द्रिय आदि पर शासन वा वश कर सकता है **(यस्य)** जिसका **(कपृत्)** प्रजनन इन्द्रिय निरन्तर **(सक्थ्याः)** स्त्री के जघनों के **(अन्तरा)** अन्दर **(रम्बते)** लटकता रहता है **(सः)** वह **(इत्)** ही **(ईशे)** वश में रखता है **(निषेदुषः)** सदा दृढ़ स्थिर **(यस्य)** जिसका **(रोमशम्)** प्रजनन इन्द्रिय **(विजृम्भते)** तेज से तमतमाता और स्थिर रहता है। **(इन्द्रः)** परमैश्वर्यवान् परमेश्वर **(विश्वस्माद्)** सब पदार्थों से **(उत्तरः)** सूक्ष्म और उत्कृष्ट है।

भावार्थ- वह मनुष्य वा जीव अपनी इन्द्रियों पर शासन और वश नहीं प्राप्त कर सकता है, जो सदा स्त्री के साथ संभोग में ही लगा रहता है। हाँ, वह वश में इन्द्रियों को कर सकता है, जो ब्रह्मचर्य आदि

तपों से अपनी इन्द्रिय को दृढ़ स्थिर रखता है। परमैश्वर्यवान् प्रभु सब पदार्थों से सूक्ष्म और उत्कृष्ट है।।१६।।

(५) न सेशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृंभते। सेदीशे यस्य रंबतेऽन्तरा सक्थ्या३ कपृद्विश्वस्मादिंद्र उत्तरः।। (ऋ.१०.८६.१७)

सायणभाष्य

स जनो नेशे मैथुनं कर्तुं नेष्टे यस्य जनस्य निषेदुषः शयानस्य रोमशमुपस्थं विजृंभते विवृतं भवति। सेत् स एव जन ईशे मैथुनं कर्तुं शक्नोति यस्य जनस्य कपृत् प्रजननं सक्थ्या सक्थिनी अंतरा रंबते लंबते। सिङ्घमन्यत्। पूर्वोक्तव्यतिरेकोऽत्र द्रष्टव्यः। पूर्वस्यामृचि यियप्सुरिंद्राणींद्रं वदति अत्र त्वयियप्सुरिंद्र इंद्राणीं वदतीत्यविरोधः।।

पं. वैद्यनाथ शास्त्री भाष्य

पदार्थ– **(नः)** नहीं **(सः)** वह **(ईशे)** समर्थ होता है पत्नी के साथ संभोग और सन्तति जनन में **(निषेदुषः)** सोये हुए **(यस्य)** जिस गृहस्थ का **(रोमशम्)** प्रजनन इन्द्रिय **(विजृम्भते)** संभोग से पूर्व ही खुलकर रेतच्युत हो जाता है, **(स इत्)** वह ही इस कार्य में **(ईशे)** समर्थ होता है **(यस्य)** जिसका **(कृपत्)** प्रजनन इन्द्रिय **(सक्थ्या)** सक्थि के **(अन्तरा)** अन्दर **(रम्बते)** लम्बा और खड़ा होकर अन्दर तक पहुंचता है, **(इन्द्रः)** परमैश्वर्यवान् परमेश्वर **(विश्वस्मात्)** सब पदार्थों से **(उत्तरः)** सूक्ष्म और उत्कृष्ट है।

भावार्थ– पत्नी के संभोग और सन्तति जनन में वह नहीं समर्थ होता है कि सोये हुए जिसका इन्द्रिय संभोग से पूर्व क्षरितवीर्य हो जाता है। वह समर्थ होता है जिसका प्रजनन इन्द्रिय योनि के अन्दर लम्बा खड़ा अन्दर तक प्रविष्ट होता है। परमैश्वर्यवान् प्रभु सब पदार्थों से सूक्ष्म और उत्कृष्ट है।।१७।।

स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक भाष्य

सं.अन्वयार्थ– इष्टं गार्हस्थ्यमधिकरोति (यस्य कपृत्) यस्य सुखं पृणाति ददाति यत्तदङ्गम् **"पृणाति दानकर्मा" {निघं.३.२०}** क पूर्वकात् पृ धातो क्विपि रूपं तुकः च (सक्थ्या-अन्तरा रम्बते) सक्थिनी अन्तरा लम्बते (सः-इत्-ईशे) स एव गार्हस्थ्यमधिकरोति (यस्य निषेदुषः) यस्य निषदतो निकटं शयानस्य (रोमशं विजृम्भते) रोमशमङ्गं विजृम्भणं करोति विशिष्टं गात्रविनाम करोति (न सः-ईशे) न हि स खलु गार्हस्थ्यमधिकरोति (यस्य निषेदषुः-रोमशं विजृम्भते) यस्य निकटं शयानस्य रोमशमङ्गं गात्रविनाम करोति (स-इत-ईशे) स एव गार्हस्थ्मधिकरोति (यस्य सक्थ्या-अन्तरा कपृत्-रम्बते) यस्य निकटं शयानस्य सक्थिनी अन्तरा सुखदायकमङ्गं लम्बते रोमशाङ्गस्य विजृम्भणं सुखप्रदाङ्गस्य योनौ लम्बनञ्च।।१६-१७।।

भा.अन्वयार्थ– (न सः-ईशे) वह नहीं स्वामित्व करता है न ही गृहस्थभाव को प्राप्त करता है (यस्य कपृत्) जिसका सुख देनेवाला अंग (सक्थ्या-अन्तरा लम्बते) दोनों सांथलों जंघाओं के मध्य में लम्बित होता है (स-इत्-ईशे) वह ही गृहस्थ कर्म पर अधिकार करता है (यस्य निषेदषुः) जिस निकट शयन करते हुए का (रोमशं विजृम्भते) रोमोंवाला अंग विजृम्भण करता है-फड़कता है (न सः-ईशे) वह गृहस्थ कर्म पर अधिकार नहीं करता है (यस्य निषेदषुः-रोमशं विजृम्भते) जिसके निकट शयन किए हुए का रोमोंवाला अंग फड़कता है (सः-इत्-ईशे) वह ही गृहस्थ कर्म पर अधिकार करता है (यस्य सक्थ्या-अन्तरा कपृत्-लम्बते) जिसका निकट शयन करने पर सांथलों-जंघाओं के बीच में सुखदायक अंग विजृम्भित होता है वह ही गृहस्थ कर्म पर अधिकार करता है।।

बड़े शोक का विषय है कि महर्षि दयानन्द के अनुयायी कहाने वाले इन दोनों आर्य विद्वानों ने वेदभाष्य करने के अति उत्साह में महर्षि दयानन्द की यौगिक शैली का अनुसरण कर पाने की प्रतिभा के अभाव में घोर अश्लील सायणभाष्य का ही यथावत् ग्रहण करके वेद को कलंकित कर डाला। ध्यातव्य

है कि विदेशी भाष्यकार ग्रिफिथ जिसकी वेदार्थ में कोई योग्यता नहीं थी तथा जिसकी वेद एवं भारत के प्रति भावना भी अच्छी नहीं थी, उसने इन मंत्रों के भाष्य को अश्लील एवं असभ्यतापूर्ण समझ कर छोड़ दिया। उसने ऋग्वेद भाष्य के इस सूक्त में पाद टिप्पणी में लिख दिया-

"I pass over stanzas 16 and 17, which I cannot translate into decent English."

आश्चर्य है कि इन उपर्युक्त दोनों आर्य विद्वानों को इसमें असभ्यता व अश्लीलता प्रतीत नहीं हुई। ध्यातव्य है कि यह काम विज्ञान प्रतिपादक कोई गम्भीर अर्थ नहीं है। विज्ञान की अपनी एक भाषा व विषय प्रतिपादन की गम्भीरता होती है, जिसे वैज्ञानिक बुद्धि वाला पुरुष ही जान सकता है, साहित्यिक व्यक्ति उस गम्भीरता को कभी प्राप्त नहीं कर सकता, उसे प्रत्येक अश्लील एवं लम्पटता की बात में काम विज्ञान दिखाई देता है वा दे सकता है। **हम संसार के वेदज्ञ कहे जाने वाले विद्वानों को घोषणापूर्वक कहना चाहते हैं कि ऐसा अर्थ करने वालों ने वेदार्थ में प्रवेश ही नहीं किया है।** अस्तु।

श्री पं. जयदेव शर्मा, विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ भाष्य

भाष्य- (यस्य कपृत्) जिसका सुखग्राही अन्तःकरण (सक्थ्योः अन्तरा) आसक्तिजनक राग द्वेषादि के बीच (रम्बते) लटक जाता, मुग्ध हो जाता है (न सः इत् ईशे) वह शासन नहीं कर सकता। प्रत्युत (निसेदुषः) नित्य और निरन्तर निगूढ़ रूप से विद्यमान (यस्य) जिसका बनाया (रोमशं) हुआ लोम के समान किरणों वाला सूर्य बिम्ब (विजृम्भते) गर्व पूर्वक तमतमाता है, वही (इन्द्रः) सब जगत् का स्वामी (विश्वस्मात् उत्तरः) सबसे उत्कृष्ट है।।१६।।

श्री पं. शिवशंकर जी काव्यतीर्थ "वैदिक इतिहासार्थ निर्णय" ग्रन्थ से

पुनः इन्द्राणी उत्तेजना को बढ़ाती हुई कहती है हे इन्द्र! आपने जो आश्वासनजनक बातें कहीं हैं वे सब ठीक हैं परन्तु विषयी पुरुष संसार में कुछ विशेष कार्य नहीं कर सकता आप उन अज्ञानी पुरुषों के कुकर्मों में इस प्रकार लिप्त हैं कि अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करनी आपके लिये दुस्तर है। ऐ स्वामिन्! देखिये! (सः+न+ईशे) वह पुरुष जगत् का शासन नहीं कर सकता (यस्य+कपृत्+सक्थ्या+अन्तरा+रम्बते) जिसका कपृत् अर्थात् कपाल=शिर सर्वदा नीचे को झुकता है, किन्तु (सः+इत्+ईशे) पुरुष जगत् का शासन करता (निषेदुषः+यस्य+रोमशम्+विजृम्भते) अपने गृह पर बैठे हुए भी जिस पुरुष का ज्ञान पृथिवी पर सूर्यवत् प्रकाशित होता रहता है। (विश्वास्मादिन्द्र उत्तरः) सक्थि= जंघा, जांघ। 'सक्थि क्लीवे पुमानूरुः' कपृत्= कपाल, शिर, माथा। कं सुखं पृणातीति कपृत्= जो सुख का पालन करे। कपाल शब्द का भी यही अर्थ है 'कं सुखं पालयतीति कपालः' कहीं 'क' यह नाम ही शिर का है जैसे केश। अतः कपाल और कपृत् एकार्थक हैं।।१६।।

श्री पं. जयदेव शर्मा, विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ भाष्य

भाष्य- (न सा ईशे) वह प्रकृति अधीश्वरी (यस्य रोमशं) नहीं है, जिसका कि लोम के समान ओषधिवनस्पति वर्ग (विजृम्भते) नाना प्रकार से भूमि पर उगता है। (सः इत् ईशे) वो ही प्रभु सब पर शासन करता है (यस्य) जिसका दिया सुख तथा (क-पृत्) पालन सामग्री (सक्थ्या अन्तरा) परस्पर सम्मिलित आकाश और भूमि दोनों के बीच (रंबते) विद्यमान है। (इन्द्रः विश्वस्मात् उत्तरः) वह प्रभु ही सबसे उत्कृष्ट है।।१७।।

श्री पं. शिवशंकर जी काव्यतीर्थ "वैदिक इतिहासार्थ निर्णय" ग्रन्थ से

पुनः उक्त अर्थ को दूसरे प्रकार से कहती है। यह ऋचा ठीक १६ वीं ऋचा से उल्टी प्रतीत होती है, परन्तु भाव और शब्दार्थ में भेद है। यथा (सः+न+ईशे) वह पुरुष ऐश्वर्यवान् नहीं हो सकता (निषेदुषः+यस्य+रोमशम्+विजृम्भते) बैठे हुए जिस पुरुष का ज्ञान विज्ञान जम्भाई ले रहा है अर्थात् जैसे आलसी पुरुष बैठा हुआ जम्भाई लिया करता है। उससे पुरुषार्थ का कोई कार्य बन नहीं पड़ता, तद्वत् जो विद्वान् पढ़ लिख के भी सदा आलस्य में बैठा हुआ जम्भाई लेता रहता। मानो, उसकी विचारी विद्या भी उसके साथ जम्भाई लेते रहती है, ऐसे पुरुष ऐश्वर्यशाली नहीं हो सकते। किन्तु (सः+ईशे) निश्चय

वही 'ऐश्वर्यशाली' होता है (यस्य+कपृत्+सक्थ्या+अन्तरा+रम्बते) जिसका शिर अर्थात् जिसकी दृष्टि दोनों जांघों के बीच झुकी हुई है अर्थात् केवल विद्या के अध्ययन से कुछ लाभ नहीं किन्तु जिसकी दोनों जंघाओं में पूरा बल पूरा बल है। जिसकी दोनों जंघाएं कभी भ्रष्ट नहीं हुई हैं, जिसका इन्द्रिय दूषित नहीं हुआ है, जो सदा इन्द्रियरक्षार्थ सावधान है, जो सदा देखता रहता है कि मेरा कोई इन्द्रिय कलंकित तो नहीं हुआ, वही ऐश्वर्यशाली हो सकता है इत्यादि। पुरुषार्थसूचक दोनों ऋचाएं हैं।।१७।।

इन आर्य विद्वानों का भाष्य शिष्ट व कुछ ग्राह्य तो है परन्तु इससे भी वेदार्थ की गम्भीरता व्यक्त नहीं होती।

दोनों मंत्रों पर मेरा त्रिविध भाष्य

अब हम इन दोनों मंत्रों पर अपना त्रिविध भाष्य प्रस्तुत करते हैं-

अत्र प्रमाणानि

१. आधिदैविक पक्ष में- इन्द्रः = कालविभागकर्त्तासूर्यलोकः (म.द.ऋ.भा.१.१५.१), विद्युदाख्योभौतिकाऽग्निः (म.द.ऋ.भा.१.१६.३), महाबलवान् वायुः (म.द.ऋ.भा.१.७.१)। इन्द्राणी = इन्द्रस्य सूर्यस्य वायोर्वा शक्तिः (म.द.ऋ.भा.१.२२.१२)। वृषा = वीर्यकारी (म.द.ऋ.भा.३.२.११), वेगवान् (म.द.ऋ.भा.२.१६.६), परशक्तिबन्धकः (म.द.ऋ.भा.२.१६.४)। वृषाकपिः = वृषा चाऽसौकपिः। (कपिः = कम्पतेऽसौ - उ.को.४.१४५; आदित्यः - गो.उ.६.१२)। कपृत् = क+पृत्, "पदादिषु मांस्पृत्स्नूनामुपसंख्यानम्" (वा. अष्टा.६.१.६३) से पृतना को पृत् आदेश। पृतना = सेना (आप्टेकोष) संग्रामनाम (निघं.२.१७), कः = प्राणः (प्राणो वाव कः - जै.उ.४.११.२.४)। सक्थि = सजतीति (उ.को.३.१५४), षंजसंगे = आलिंगन करना, सटे रहना (सं.धा.को. - पं. युधिष्ठिर मीमांसक), (सक्थिभ्यां क्रौञ्चौ-अजायेताम - जै.ब्रा.२.२६७), (क्रौञ्चः = रज्जुः - तां.१३.६.१७), {रज्जुः = रश्मिः। रश्मयः = रज्जवः किरणा वा (म.द.य.भा.२६.४३), रश्मेव= (रश्मा+इव)= किरणवद् रज्जुवद् वा (म.द.ऋ.भा.६.६७.१), प्राणाः रश्मयः (तै.ब्रा.३.२.५.२)} रोमशः = लोमशः (रेफस्य लत्वम्), लोमाः = छन्दांसि वै लोमानि (श.६.४.१.६), पशवो वै लोम (तां.१३.११.११), प्राणा = छन्दांसि (तु.मै.३.१.६)। रम्बते= लम्बते (रेफस्य लत्वम्) क्वचित रम्बते भी रहेगा। निषेदुः = निषण्णाः (नि.१३.१०), नितरां दृढ़स्थित, विश्रान्त, नतमुख, रिवन्न, कष्टग्रस्त। ऋषयः = ज्ञापकाः प्राणाः (म.द.य.भा.१५.११), प्रापका वायवः (तु.म.द.य.भा.१५.१०), बलवन्तः प्राणाः (म.द.य.भा.१५.१३), प्राणा वा ऋषयः (ऐ.२.२७; श.७.२.३.५; ८.४.१.५), धनञ्जयादयः सूक्ष्मस्थूला वायवः प्राणाः (म.द.य.भा.१५.१४)

२.आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक पक्ष में- इन्द्रः = राजा (म.द.ऋ.भा.६.२६.६), विद्वन्मनुष्यः (म.द.य.भा.२६.४), जीवः (म.द.ऋ.भा.३.३२.१०)। कपृत् = कम् सुखनाम (निघं.३.६), अन्नम् (नि.६.३५), उदकनाम (निघं.१.१२), सुखस्वरूपः परमेश्वरः (म.द.य.भा.५.१८)। पृत् = पृत्सु संग्रामनाम (निघं.२.१७)। सेना = सिन्वन्ति बध्नन्ति शत्रून् याभिस्सा (तु.म.द.य.भा.१७.३३)। बलम् (म.द.ऋ.भा.२.३३.११), सेश्वरा समानगतिर्वा (नि.२.११)। क्रौञ्चम्= वाग् वै क्रौञ्चम् (तां.११.१०.१६), रश्मिः = ज्योतिः (म.द.ऋ.भा.१.३५.७), यमनात् (नि.२.१५), अन्नम् (श.८.५.३.३), एते वै विश्वेदेवाः रश्मयः (श.२.३.१.७)। देवः = धनं कामयमानः (म.द.ऋ.भा.७.१.२५)। लोम = अनुकूलवचनम् (म.द.य.भा.२३.३६)। रोमा = रोमाणि औषध्यादीनि (म.द.ऋ.भा.१.६५.४)।

मेरा आधिदैविक भाष्य

१. जब सूर्य के अन्दर (कपृत्) विभिन्न प्रकार के प्राणों की सेना अर्थात् धारा stream एवं उनका संघर्षण interaction उस (अन्तरा सक्थ्या) सूर्य के केन्द्रीय व बहिर्भाग को जोड़ने वाले उत्तरी व दक्षिणी दृढ़ भागों, जिनसे विभिन्न प्रकार के विकिरणों व प्राणों vibrations की धाराएं streams उत्पन्न होती रहती हैं, के बीच (रम्बते=लम्बते) पिछड़ कर ठहर सी जाती है अथवा फैलकर मन्द पड़ जाती है। उस समय (न स ईशे) वह इन्द्रतत्व अर्थात् सूर्य में स्थित बलवान् वैद्युत वायु समस्त सूर्य

किंवा दोनों भागों के बीच की गति व संगति में तालमेल-सामंजस्य रखने में असमर्थ हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि सूर्य के दोनों भागों अर्थात् नाभिकीय संलयन युक्त केन्द्रीय भाग, जिसमें सतत अपार ऊर्जा उत्पन्न होती रहती है, जिसे सूर्य की भट्टी कह सकते हैं एवं बहिर्भाग की जो पृथक्-२ घूर्णन गति होती है और दोनों के मध्य जो एक ऐसा संधि क्षेत्र होता है, जिसके सिरे उत्तरी व दक्षिणी ध्रुव की ओर होते हैं, के बीच सन्तुलन खोने लगता है। इस कारण समस्त सूर्य पर संकट आ सकता है। अब इसी मंत्र में आगे कहते हैं कि ऐसी अनिष्ट स्थिति कब नहीं बनती और कब यह सूर्य सन्तुलित व अनुकूलन की स्थिति में होता है? (यस्य निषेदुषः) जिस निरन्तर दृढ़ तेजस्वी उपर्युक्त इन्द्र के प्राणों की सेना अर्थात् vibrations की streams (रोमशम्=लोमशम्) विभिन्न छन्द रूपी प्राणों तथा मरुत् अर्थात् सूक्ष्म पवनों से अच्छी प्रकार सम्पन्न होकर (विजृम्भते) विशेषरूपेण जागकर अर्थात् सक्रिय होकर अपने बल व तेज से सम्पन्न होती है, (स इत् ईशे) तब यह इन्द्र अर्थात् विद्युदग्नियुक्त वायु सूर्य के दोनों भागों की गति व स्थिति को नियंत्रण रखने में समर्थ होता है। यह प्राण सेना stream उपर्युक्त सक्थि अर्थात् सूर्य के दोनों भागों को मिलाने वाले उत्तरी व दक्षिणी ध्रुवों की ओर स्थित संधि भागस्थ दृढ़ भागों के बीच ही उत्पन्न व सक्रिय होती है। (विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः) यह इन्द्र तत्व अर्थात् विद्युदग्नियुक्त तेजस्वी बलवान् वायु अन्य तेजस्वी पदार्थों की अपेक्षा उत्कृष्ट व बलवत्तम है। यही बलपति है तथा सृष्टि यज्ञ को उत्कृष्टता से तारने वाला है।। **(ऋग्वेद १०.८६.१६)**

भावार्थ- जब सूर्य के केन्द्रीय व बहिर्भाग को जोड़ने वाली दृढ़ स्तम्भ रूपी उत्तरी व दक्षिणी प्राण धाराएं मन्द हो जाती हैं, तब सूर्य के दोनों भागों में संतुलन खोकर सूर्य का अस्तित्व संकटग्रस्त हो सकता है और जब वे दोनों धाराएं विशेष रूप से सक्रिय व सशक्त होती हैं, तब सूर्य का सन्तुलन उचित प्रकार से बना रहता है।

२.जब सूर्य के अन्दर (कपृत्) विद्युदग्नियुक्त वायु के विभिन्न प्राणों की सेना stream उस (अन्तरा सक्थ्या) सूर्य के केन्द्रीय व बहिर्भाग के मध्य स्थित उनको जोड़ने वाले उत्तरी व दक्षिणी दृढ़ भागों, जिनमें विभिन्न प्रकार के प्राणों vibrations की धाराएं उत्पन्न होती रहती हैं, के बीच (रम्बते=लम्बते) चिपक कर, उनको अपने नियंत्रण में लेकर ऊपरी भाग को ऊपर ही लटकाने, धारण करने में समर्थ होती है, तब (स इत् ईशे) वैद्युत अग्नि युक्त वायु रूपी इन्द्र इन्हें अर्थात् सूर्य के दोनों भागों को संतुलित रखने में समर्थ होता है अर्थात् उस समय सूर्य का बहिर्भाग उसके केन्द्रीय भाग, जिसमें नाभिकीय संलयन की प्रक्रिया सतत चलती है, के ऊपर सन्तुलन बनाये रखते हुए सतत फिसलता रहता है परन्तु यदि (रोमशम्=लोमशम्) प्रशस्त बल युक्त छन्द प्राण vibrations व मरुत् अर्थात् सूक्ष्म पवन (विजृम्भते) खुलकर फैल जाते हैं, जिससे उनका प्रभाव मंद पड़ जाता है। जैसे किसी पानी की धारा को जब तीव्र दाब से फैंका जाता है, तो उसमें मारक क्षमता तेज होती है। वह पत्थर को भी छेद सकती है, किसी प्राणी को मार सकती है परन्तु जब वही धारा बड़े छिद्र में से प्रवाहित कर दी जाए, तो वह खुलकर फैल जायेगी और उसका मारक वा छेदक प्रभाव मंद वा बंद पड़ जाता है। उसी मंदता की यहाँ चर्चा है। (न स ईशे) उस समय वह इन्द्र तत्व अर्थात् विद्युदग्नियुक्त वायु सूर्य के उन दोनों मार्गों पर सन्तुलन-सामंजस्य खो सकता है, जिससे सूर्य का अस्तित्व संकट में पड़ सकता है। (विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः) यह इन्द्र तत्व ही अखिल उत्पन्न पदार्थ समूह रूपी संसार में सबसे श्रेष्ठतम व बलवत्तम है तथा यह समस्त अन्न अर्थात् संयोज्य परमाणुओं को उत्कृष्टता से तारते हुए जगद्रचना में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। **(ऋग्वेद १०.८६.१७)**

भावार्थ- जब सूर्य के केन्द्रीय व बहिर्भाग के बीच प्रवाहित उत्तरी व दक्षिणी प्राण धाराएं तीव्र बलवती होती हैं, तब दोनों भागों के बीच की गति व अवकाश का सन्तुलन व सामंजस्य बना रहता है परन्तु जब वे धाराएं इधर-उधर बिखरकर दुर्बल हो जाती हैं, तब दोनों भागों के मध्य असंतुलन उत्पन्न होकर सूर्य के अस्तित्व पर संकट आ सकता है।

इन दोनों ऋचाओं का सृष्टि प्रक्रिया पर प्रभाव

आर्ष व दैवत प्रभाव- इसका ऋषि वृषाकपि इन्द्र तथा इन्द्राणी है। इसका तात्पर्य है कि विद्युद्वायुयुक्त तीव्र बलवान् सूर्यलोक के भीतरी भाग में स्थित प्राथमिक प्राण रश्मियों से इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इस समय प्राथमिक प्राण रश्मियां प्रबलरूप में विद्यमान होने से ये छन्द रश्मियां विशेष बलवती होती हैं, इस कारण इनके प्रभाव से भी विशेष बल उत्पन्न होता है। इनका देवता इन्द्र होने से इन छन्द रश्मियों के द्वारा सूर्यादि तारों के मध्य विभिन्न विद्युत् बलों की समृद्धि होती है अर्थात् विद्युदावेशित कणों की ऊर्जा में भारी वृद्धि होती है।

छान्दस प्रभाव- इनका छन्द निचृत् पंक्ति होने से तारों के बहिर्भाग से विभिन्न कणों को तारों के केन्द्रीय भाग में ले जाया जाता है और ऐसा करते हुए बाहरी व आन्तरिक भाग में भारी क्षोभ उत्पन्न होता है, पुनरपि उन कणों की पारस्परिक संयोज्यता में वृद्धि होती है। इनका पंचम स्वर सभी क्रियाओं को सतत विस्तृत करने में सहायक होता है।

ऋचाओं का प्रभाव- इन दोनों छन्द रश्मियों का प्रभाव तारों के केन्द्रीय भाग, जिसमें नाभिकीय संलयन की क्रिया होती है, तथा उसके ऊपर विद्यमान शेष सम्पूर्ण विशाल भाग के मध्य संधि क्षेत्र में होता है। ये दोनों भाग परस्पर कुछ असमान गति से एक-दूसरे पर फिसलते रहते हैं। संधि भाग के उत्तरी व दक्षिणी भागों में विभिन्न प्राण व छन्द रश्मियों की सुदृढ़ धाराएं विद्यमान रहती हैं, जो दोनों भागों को परस्पर एक मर्यादित दूरी पर बनाये रखने के साथ-२ विशाल भाग को दृढ़ता से थामे रखती हैं। उन धाराओं में इन छन्द रश्मियों की भी विशेष भूमिका होती है। इनके प्रभाव से वे सुदृढ़ धाराएं क्रमशः दुर्बल एवं सबल रूप प्राप्त करती रहती हैं। इस कारण **तारे का विशाल भाग संधि भाग के ऊपर कभी कुछ निकट, तो कभी कुछ दूर होता रहता है अर्थात् दोलन करता रहता है।** इसका तात्पर्य है कि केन्द्रीय भाग एवं शेष विशाल भाग के मध्य विद्यमान संधि भाग स्प्रिंग की भांति सूक्ष्म मात्रा में कभी फैलता, तो कभी सिकुड़ता रहता है। इस क्षेत्र में विद्युत् चुम्बकीय बलों की विशेष प्रधानता व सक्रियता होती है।

मेरा आधिभौतिक भाष्य

१. (यस्य) जिस राजा का (कपृत्) सेनाबल अथवा उसका अन्नधन का भण्डार (सक्थ्या) (अन्तरा) सभी विद्वानों वा धन की कामना करने वाले प्रजाजनों के मध्य उभरते रागद्वेष रूप संघर्ष के मध्य (रम्बते) पिछड़ जाता है अथवा उनकी विशेष आसक्ति का कारण बन जाता है। (स न ईशे) वह ऐश्वर्यहीन राजा अपने देशवासियों पर शासन नहीं कर सकता है अर्थात् उसके राष्ट्र में अराजकता उत्पन्न हो जाती है परन्तु (निषेदुषः) निरन्तर स्थिरता में आश्रित जिस राजा का सेनाबल अथवा अन्नधन संसाधन (रोमशम्) जब प्रशस्तरूपेण सब प्रजाजनों के लिए अनुकूल वचनयुक्त एवं प्रचुर औषधि, पशु आदि से सम्पन्न होता है तथा (विजृम्भते) सब प्रजाजनों के लिये यथायोग्य रीति से वितरित किया जाता है तथा यह वितरण व्यवस्था सदा सुचारुरूपेण चलती रहती है, (स इत् ईशे) वही राजा अपने राष्ट्र पर सब ऐश्वर्यों से युक्त होकर शासन कर सकता है। (विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः) वह ऐसे समग्र ऐश्वर्यसम्पन्न राजा का शासन अन्य सभी व्यवस्थाओं से श्रेष्ठ होता है। **(ऋग्वेद १०.८६.१६)**

भावार्थ- राजा को चाहिए कि वह सम्पूर्ण राष्ट्र के लिये अनुकूल वचनों से युक्त होकर अपनी प्रजा के मध्य पनप रहे रागद्वेषजन्य असन्तोष एवं संघर्ष को दूर करने का सतत प्रयत्न करे, साथ ही अपने बल व धन का सम्पूर्ण प्रजा के हित में यथायोग्य नियोजन करे।

२. (यस्य) (निषेदुषः) जिस विश्रान्त एवं कष्टग्रस्त राजा का (रोमशम्) प्रशस्त अन्न औषधि व पश्वादि संसाधन (विजृम्भते) अव्यवस्थितरूपेण खुला रहता है अर्थात् जिसके राज्य में अपव्ययता व वितरण की अव्यवस्था होती है। (न स ईशे) वह ऐश्वर्यहीन राजा अपने राष्ट्र पर शासन करने में समर्थ नहीं होता है। (स इत् ईशे) वही राजा ऐश्वर्यवान् होकर अपने राष्ट्र वा समुचित रीति से शासन कर सकता है (यस्य कपृत्) जिसका सेनाबल तथा अन्नधन भण्डार (सक्थ्या अन्तरा) सभी विद्वानों व प्रजाजनों के मध्य उत्पन्न रागद्वेषजन्य संघर्ष के मध्य (रम्बते) उस रागद्वेष की भावना को हराकर अर्थात् दूरकर प्रजाजनों को उससे ऊपर उठाता है। फिर वह राजा सभी प्रजाजनों में उस बल व धनादि पालन सामग्री

का दृढ़ता से यथायोग्य वितरण करता हुआ अपने पालन कर्म से सभी प्रजाजनों के हृदय में बस जाता है। (विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः) ऐसा ऐश्वर्यवान् राजा अपने प्रजाजनों को अपने अन्नादि पदार्थों के द्वारा सर्व दुःखों से तारने वाला होता है। **(ऋग्वेद १०.८६.१७)**

भावार्थ- ऐश्वर्य के इच्छुक राजा को चाहिए कि वह अपने राष्ट्र को बाहरी आक्रमणादि कष्टों से सुरक्षित रखते हुए पूर्ण पुरुषार्थ के साथ अपने अन्न-धन आदि पालन सामग्री का अपव्यय वा अव्यवस्थित वितरण कदापि न होने दे, बल्कि अपने प्रजाजनों के अन्दर पनप रहे रागद्वेषजन्य असन्तोष एवं संघर्ष को उचित पालनादि क्रियाओं व आवश्यक होने पर उचित दण्ड का आश्रय लेकर दूर करके सबका हित करने की सदैव चेष्टा करता रहे, जिससे वह सबका पितृवत् प्रिय बना रहे।

मेरा आध्यात्मिक भाष्य

१. (यस्य) जिस विद्वान् पुरुष का (कपृत्) मन एवं सुखकारी प्राणों का समूह (सक्थ्या अन्तरा) रागद्वेषादि द्वन्द्वों में आसक्ति एवं कोलाहल के मध्य (रम्बते) चिपकाया रहता है अर्थात् उन्हीं में रत रहता है, (न स ईशे) वह अपनी इन्द्रियों पर शासन नहीं कर सकता, बल्कि (यस्य निषेदुषः रोमशम्) दृढ़ व ब्रह्मवर्चस् से तेजस्वी होकर अपने अन्तः करण को प्रणव तथा गायत्र्यादि छन्दरूप वेद की पवित्र ऋचाओं में प्रशस्त रूप से रमण करते हुए (विजृम्भते) स्वयं को परमपिता सुखस्वरूप परमेश्वर के आनन्द में विस्तृत कर देता है (स इत् ईशे) वही योगी पुरुष अपनी इन्द्रियों पर शासन कर पाता है। (विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः) ऐसा जितेन्द्रिय विद्वान् अन्य प्राणियों में सबसे श्रेष्ठ होता है। **(ऋग्वेद १०.८६.१६)**

भावार्थ- विद्वान् पुरुष को चाहिए कि अपने को योगयुक्त करके परमपिता परमात्मा में रमण करने के लिए अपने अन्तःकरण को रागद्वेषादि द्वन्द्वों से दूर हटाकर प्रणव तथा गायत्र्यादि ऋचाओं के विधिपूर्वक जप द्वारा परमेश्वर की उपासना करने हेतु अपनी इन्द्रियों पर जय प्राप्त करे।

२.(यस्य निषेदुषः रोमशम्) जिस निरन्तर विश्रान्त व खिन्न रहते हुए विद्वान् पुरुष का अन्तःकरण विभिन्न गायत्र्यादि ऋचाओं का जप करते समय अर्थात् उपासना का अभ्यास करते समय (विजृम्भते) इधर उधर फैलने लगता है अर्थात् अस्थिर होकर इधर उधर भागता है, (न स ईशे) वह विद्वान् अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता है, बल्कि (यस्य कपृत्) जिसका मन तथा सुखकारी प्राण समूह (सक्थ्या अन्तरा) विभिन्न द्वन्द्वों तथा सांसारिक व्यवहार के बीच (रम्बते) स्थिर होकर तपता हुआ एक स्थान पर दृढ़ रहता हुआ निरन्तर परमेश्वर के जप में संलग्न रहता है, (स इत् ईशे) वही विद्वान् योगी बनकर अपनी इन्द्रियों पर शासन करके समग्र ऐश्वर्य को प्राप्त करता है। (विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः) ऐसा योगी स्वयं को सब दुःखों से तारकर अन्य प्राणियों को भी दुःखों से तारने वाला होता है। **(ऋग्वेद १०.८६.१७)**

भावार्थ- मुमुक्षु विद्वान् पुरुष को चाहिए कि ईश्वरोपासना वा जप करते समय मन को एकाग्र करके निरन्तर परमेश्वर में मग्न रहे तथा ऐसा करते हुए अपने सम्पूर्ण द्वन्द्वों को जीतकर स्वयं मोक्ष को प्राप्त करके दूसरे प्राणियों को भी दुःखों से दूर रहने का प्रयत्न करता रहे।

अब हम सुधी विचारकों की सेवा में अथर्ववेद के एक अत्यन्त जटिल माने जाने वाले कुन्ताप सूक्त के चार मंत्रों को उद्धृत करते हैं-

(६-९) त्रीण्युष्ट्रस्य नामानि।।१३।।
हिरण्य इत्येके अब्रवीत्।।१४।।
द्वौ वा ये शिशवः।।१५।।
नीलशिखण्डवाहनः।।१६।। (अथर्व.२०.१३२)

ध्यातव्य है कि आचार्य सायण ने इन मंत्रों का भाष्य नहीं किया है। हमें प्रतीत होता है कि उन्हें इनका कुछ भी भाव समझ में नहीं आया। पं. सातवलेकर ने भी इसी काण्ड के सूक्त १३५ व १३६ वें सूक्तों को अत्यन्त संदिग्ध व क्लिष्ट समझ कर छोड़ दिया है। हम उपर्युद्धृत चार मंत्रों का विभिन्न विद्वानों का भाष्य दर्शाते हैं-

पं. दामोदर सातवलेकर भाष्य

पदार्थ- **त्रीणि उष्ट्रस्य नामानि =** ऊँट के तीन नाम हैं, **हिरण्यं इति एकं अब्रवीत् =** सोना एक है ऐसा उसने कहा।।१३-१४।।

पदार्थ- **द्वे वा यशः शवः =** दो यश और बल ये हैं, **नीलशिखण्डः वा हनत्=** नीले चूड़ोंवाला बजायेगा।।१५-१६।।

आर्य विद्वान् पं. क्षेमकरणदास त्रिवेदी भाष्य

- (उष्ट्रस्य) प्रतापी (परमात्मा) के (त्रीणि) तीन (नामानि) नाम हैं।।१३।।
- (एकम्) एक (हिरण्यम्) हिरण्य (तेजोमय) (वा) और (द्वे) दो (यशः) यश (कीर्ति) तथा (शवः) बल हैं, (इति) ऐसा (अब्रवीत्) (वह; मनुष्य) कहता है।।१४-१५।।
- (नीलशिखण्डः) नील शिखण्ड (नीली निधियों वा निवास स्थानों का पहुंचाने वाला परमेश्वर) (वा) निश्चय करके (हनत्) व्यापक है (हन् गतौ गच्छति व्याप्नोति)।।१६।।

आर्य विद्वान् प्रो. विश्वनाथ विद्यालंकार भाष्य

- (उष्ट्रस्य) सांसारिक दाहों अर्थात् ताप सन्तापों से त्राण करने वाले, बचाने वाले परमेश्वर के (त्रीणि) तीन (नामानि) नाम हैं। {उष्ट्र= उष् (दाहे) + त्र (त्राणकर्त्ता)}।।१३।।
- (एके) कई एक अर्थात् सात्विक-प्रकृति के उपासक कहते हैं कि वह (हिरण्यम्) ''हिरण्य'' नाम वाला है, (अब्रवीत्) ऐसा ही वेद ने भी कहा है। **{हिरण्यम्= हितं च रमणीयं च, हृदयरमणं भवति (नि.२.३.१०)}** अर्थात् परमेश्वर सबका ''हित'' करता है, ''रमणीय'' है, और ''हृदयों में रमता है''। वेद में भी कहा है कि **''हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृक्'' (ऋ.२.३५.१०)** अर्थात् वह परमेश्वर हिरण्य के रूप वाला है, और हिरण्य के सदृश है।}।।१४।।
- (वा) तथा (ये) जो (शिशवः) शिशु बुद्धि के लोग हैं, वे कहते हैं कि (द्वौ) उसके दो नाम हैं। {शिशवः = तामसिक और राजसिक लोग}।।१५।।
- (नीलशिखण्डवाहनः) दो नाम हैं- नीलवाहन और शिखण्डवाहन। {''नील'' पद तमोगुण का द्योतक है, और ''शिखण्ड'' पद रजोगुण का। **''अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्'' (श्वेता.उ.४.५)** में ''अजा'' का अर्थ है- न उत्पन्न होने वाली प्रकृति। ''लोहित''=रजोगुण। शुक्ल= सत्वगुण। कृष्ण= तमोगुण।} तमोगुण को मंत्र में ''नील'' कहा है, और रजोगुण का निर्देश ''शिखण्ड'' पद द्वारा किया गया है। शिखण्ड का अर्थ है- मोर की पूंछ, जो रंग बिरंगी होती है। रजोगुणी व्यक्ति संसार के नानाविध रंग-बिरंगों को चाहता है। शिशु बुद्धि वाले लोग कहते हैं कि परमेश्वर ''नीलवाहन'' है, तमोगुण वाले जगत् का वहन करता है; और वह ''शिखण्डवाहन'' है, रजोगुणी जगत् का वहन करता है। तमोगुणी व्यक्ति को जगत् तमोमय दीखता है, रजोगुणी को रजोमय तथा सत्वगुणी को जगत् में सत्वगुण दीखता है।।१६।।

इन मंत्रों पर मेरा भाष्य

अब हम इन उपर्युद्धृत चार मंत्रों पर अपने विचार एवं भाष्य को प्रस्तुत करते हैं-

(१.) त्रीण्युष्ट्रस्य नामानि।।१३।।

इस ऋचा का सृष्टि प्रक्रिया पर प्रभाव

आर्ष व दैवत प्रभाव-

इन मंत्रों के देवता व छन्द के विषय में केवल पं. क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने ही लिखा है, अन्य भाष्यकार इस विषय में मौन हैं। हमारे मत में इन सभी मंत्रों का ही नहीं, अपितु **अथर्ववेद २०.१२७-१३६** तक कुल दस सूक्तों का ऋषि कुन्ताप है, इसी कारण इन दसों सूक्तों को कुन्ताप कहा जाता है। यह एक ऐसा सूक्ष्म प्राण है, जो वज्ररूप वा वज्रयुक्त विकिरणों को और अधिक तपाता है अर्थात् उन्हें अधिक बलशाली एवं उष्ण बनाता है। इस विषय में पाठक इस ग्रन्थ के खण्ड **६.३२** का गम्भीरता से अवलोकन करें। तारों के अन्दर होने वाली विभिन्न ऐन्द्री क्रियाएं अर्थात् विद्युत् बलों की क्रियाएं इसके आर्ष प्रभाव से तीक्ष्ण होती हैं। इसका देवता प्रजापति है। इस कारण **{प्रजापतिः = स एष संवत्सरः प्रजापतिः (श.१४.४.३.२२), सर्वाणि छन्दांसि प्रजापतिः (श.६.२.१.३०), प्राणो हि प्रजापतिः (श.४.५.५.१३)}** इसके दैवत प्रभाव से तारों के अन्दर विभिन्न प्राण व छन्द रश्मियां तपने व देदीप्यमान होने लगती हैं, जिससे तारों के अन्दर उनके बलों में वृद्धि होने लगती है।

छान्दस प्रभाव- इसका छन्द दैवी जगती है। इसके प्रभाव से विभिन्न देवों अर्थात् प्राण व छन्द रश्मियों के पारस्परिक संयोजन व वियोजन की प्रक्रियाएं समृद्ध होती हैं। ये रश्मियां तारों के अन्दर दूर-२ तक व्याप्त होकर अपना प्रभाव दर्शाती हैं।

ऋचा का प्रभाव- तारों के अन्दर तीन प्रकार की छन्द रश्मियां ऊष्मा को समृद्ध करते हुए विभिन्न परमाणुओं को नाना क्रियाओं में तारने में समर्थ होती हैं। यहाँ तारने का आशय है कि असुरादि बाधक रश्मियों के प्रहार से उन परमाणुओं की रक्षा करती हैं। वे तीन छन्द रश्मियां कौन सी हैं, यह आगामी ऋचाओं के भाष्य में द्रष्टव्य है। यह ऋचा उन तीन ऋचाओं को प्रेरित करती है। हमारे विचार से यह छन्द रश्मि न केवल आगामी तीन छन्द रश्मियों को प्रेरित करती है, अपितु अन्य तीन प्रकार की छन्द रश्मियों को भी प्रेरित करती है।

मेरा आधिदैविक भाष्य

(उष्ट्रस्य) **{उष्ट्रः = ओजति दहतीति (उ.को.४.१६३), (उष दाहे= जलाना, उपभोग करना, खपाना, पीटना, मार डालना -आप्टे संस्कृत-हिंदी कोष)}** तारों के अन्दर विभिन्न प्राण व छन्दादि रश्मियां नाना प्रकार की विद्युत् चुम्बकीय आदि तरंगों एवं कणों को उत्तेजित व प्रेरित करते हुए ताड़ती हैं। इससे उनकी ऊर्जा में वृद्धि होती है। दूसरी ओर उस समय विभिन्न कणों के मध्य संयोजनादि (संलयनादि) क्रियाओं में बाधक बनी असुर रश्मियों किंवा डार्क एनर्जी को ताड़ती एवं नष्ट वा नियन्त्रित करती हैं। उन ऐसी प्रक्रियाओं तथा उन्हें संचालित वा प्रेरित करने वाली रश्मियों को उष्ट्र कहा जाता है। ऐसी उष्ट्र संज्ञक रश्मियां (त्रीणि, नामानि) तीन प्रकार की छन्द रश्मियों के रूप में होती हैं, **{नाम= वाङ्नाम (निघं.१.११)}** ये तीनों प्रकार की छन्द रश्मियां अन्य छन्द रश्मियों को नाना बाधाओं से पार लगाने में समर्थ होती हैं।

भावार्थ- तारों के अन्दर तीन प्रकार की छन्द रश्मियां अन्य छन्द रश्मियों को प्रेरित करके ऊष्मा में वृद्धि करने के साथ डार्क एनर्जी आदि के दुष्प्रभावों को नष्ट करती हैं।

मेरा आधिभौतिक भाष्य

(उष्ट्रस्य) राष्ट्र के शत्रुओं वा प्रजा के अन्दर ही विद्यमान राष्ट्रद्रोही तत्वों को दग्ध करने वाले राजा के (त्रीणि, नामानि) तीन व्यवहार प्रसिद्ध हैं, **{नाम= प्रसिद्धम् व्यवहारम् (म.द.ऋ.भा.६.६६.५)}** राजा के ये व्यवहार राजा को ख्याति प्रदान करने तथा राष्ट्र व प्रजा को शत्रुओं के सन्ताप से तारने वाले होते हैं।

भावार्थ- किसी राष्ट्र का राजा तीन प्रकार के कर्मों के द्वारा प्रजा का रक्षण करके ख्याति को प्राप्त करता है।

(२.) हिरण्य इत्येक अब्रवीत्।।१४।।

सृष्टि प्रक्रिया पर प्रभाव

आर्ष व दैवत प्रभाव- इसका यह प्रभाव पूर्व ऋचा के समान समझें।

छान्दस प्रभाव- पं. क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने इसका छन्द आसुरी जगती माना है परन्तु इसमें **"हिरण्यः"** पद विद्यमान होने से इसका प्रभाव तेजस्वी होने के कारण हम इसे आसुरी छन्द रश्मि नहीं मान सकते। हम इस तथ्य से अवगत हैं कि आसुरी रश्मि आदि पदार्थ अप्रकाशित ही होते हैं, इस कारण इसे हम आसुरी जगती के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते। वस्तुतः यह ऋचा ९ अक्षर वाली होने से याजुषी भुरिक् अनुष्टुप् है। इसके प्रभाव से तारों के अन्दर विभिन्न रश्मि व परमाणु आदि पदार्थों की गति व संयोज्यता में वृद्धि होती है, एतदर्थ आकर्षण-प्रतिकर्षण दोनों बल अनुकूलतापूर्वक समृद्ध होते हैं।

ऋचा का प्रभाव- उपर्युक्त तीन छन्द रश्मियों में से यह एक छन्द रश्मि तारों के अन्दर दूर-२ तक व्याप्त होकर सुवर्ण रंग उत्पन्न करती हुई प्रकाशित व सक्रिय होती है। यह सुवर्ण रंग वाली किंवा इस वर्ण को उत्पन्न करने वाली छन्द रश्मि तीक्ष्ण भेदक बलों को उत्पन्न व समृद्ध करती हुई तारों के अन्दर पदार्थ के अनुकूलता पूर्वक विभाग करती हुई बाधक डार्क एनर्जी आदि अनिष्ट रश्मियों को नष्ट वा नियन्त्रित करती है। **आचार्य पिंगल** ने अनुष्टुप् छन्द का वर्ण पिशंग अर्थात् पीला माना है। निश्चित ही यह हिरण्य वर्ण के साथ समानता रखता है। इसके साथ ही पूर्वोक्त छन्द रश्मि के प्रभाव से तारों में विद्यमान अन्य अनुष्टुप् छन्द रश्मियां भी प्रेरित व सक्रिय होती हैं।

मेरा आधिदैविक भाष्य

(एके) दूर-२ तक व्याप्त होने वाली **{एका= एका इता संख्या (नि.३.१०), एति प्राप्नोतीति एकः (उ. को.३.४३)}** एक छन्द रश्मि तारे के अन्दर दूर-२ तक व्याप्त होती हुई **(हिरण्यः)** सुनहरे रंग वाली **{हिरण्यम्= क्षत्रस्यैतद् रूपं यद्धिरण्यम् (श.१३.२.२.१७), ज्योतिर्वै हिरण्यम् (तां.६.६.१०), प्राणा वै हिरण्यम् (श.७.५.२.८), रेतो हिरण्यम् (तै.ब्रा.३.८.२.४)}** एवं तीक्ष्ण भेदक व आकर्षक बलों वाली होकर नाना प्राण रश्मियों को समृद्ध करके विभिन्न परमाणुओं के संलयन-संयोजन के द्वारा नाना अणुओं के निर्माण का बीजारोपण करने वाली होती है। यहाँ तारों में कणों के संलयन प्रक्रिया का ही संकेत है। (इति) पादपूरणार्थ (अब्रवीत्) वह ऐसी छन्द रश्मि सर्वतः प्रकाशित व सक्रिय होती है।

भावार्थ- तारों के अन्दर सुनहरे रंग की रश्मियां तारों में दूर-२ तक व्याप्त होकर अपनी भेदन क्षमता के द्वारा डार्क एनर्जी को नष्ट वा नियन्त्रित करके अपनी संयोजन क्षमता के द्वारा विभिन्न कणों के संलयन में सहयोग करती हैं।

मेरा आधिभौतिक भाष्य

(एके) उपर्युक्त तीन में से एक व्यवहार यह कि योग्य राजा सम्पूर्ण राष्ट्र की एकता के हित (हिरण्यम्, इति) सुवर्णादि धन-धान्य से सम्पन्न होकर **{हिरण्यम्= हिरण्यं कस्माद् ह्रियते आयम्यमानमिति वा ह्रियते जनाज्जनमिति वा। हितरमणं भवतीति वा हृदयरमणं भवतीति वा। हर्यते वा स्यात् प्रेप्साकर्मणः। (नि.२.१०)}** अपने राष्ट्र की प्रजा का सतत प्रेमपूर्वक हित करता हुआ उसे राष्ट्रोत्थान के कार्यों में प्रेरित वा धारण करने हेतु (अब्रवीत्) अपने मधुर व हितकारी वचनों को कहता है, जिससे राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक राष्ट्रिय एकता व अखण्डता हेतु शत्रु सेना के षड्यन्त्रों के प्रति सचेष्ट रहता है। इसके साथ ही वह ऐसा राजा अपने यश व वैभव के साथ-२ अपनी हितकामना से शत्रु को अनुकूल व युक्तिसंगत वचनों के द्वारा अपनी ओर आकृष्ट कर सकता है।

भावार्थ- सुयोग्य राजा विद्या-यश व सुवर्णादि धन से सम्पन्न होकर अपने सर्वहितकारी वचन व कर्मों के द्वारा अपनी प्रजा के साथ शत्रु राजा वा समाज कण्टकों को भी जीतने में समर्थ हो सकता है। शत्रु वा शत्रुता को जीतने का यह प्रथम प्रकार का व्यवहार है।

(३.) द्वौ वा ये शिशवः।।१५।।

सृष्टि पर प्रभाव

आर्ष व दैवत प्रभाव- पूर्ववत्।

छान्दस एवं ऋचा का अन्य प्रभाव- पं. क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने इसका छन्द याजुषी गायत्री माना है। हमारी दृष्टि में इसका छन्द दैवी त्रिष्टुप् है, इसका संकेत हमारे आधिदैविक भाष्य में मिल जायेगा। इसके प्रभाव से सभी देव अर्थात् प्राण व प्रकाशित परमाणु वा रश्मि आदि पदार्थ तीक्ष्ण तेज व बल से युक्त होते हैं। ये रश्मियां तीव्र वज्ररूप होकर **{त्रिष्टुप् = वज्रस्तेन यत्त्रिष्टुप् (ऐ.२.१६), वज्रस्त्रिष्टुप् (कौ.ब्रा.७.२)}** डार्क एनर्जी को नष्ट वा नियन्त्रित करने में सहायक होती है।

मेरा आधिदैविक भाष्य

(द्वौ वा ये) उपर्युक्त एक छन्द रश्मि किंवा अनुष्टुप् छन्द रश्मि के अतिरिक्त ये दो छन्द रश्मियां भी वज्ररूप कार्य करके आसुर पदार्थ=डार्क एनर्जी आदि को नष्ट वा नियंत्रित करके उपर्युक्त संयोग संयोजनादि कर्मों को समृद्ध करती हैं। वे दो रश्मियां (शिशवः) शिशुरूप होती हैं। **{शिशुः = अयं वा शिशुर्योऽयं मध्यमः प्राणः (श.१४.५.२.२) (मध्यम्= त्रिष्टुप् छन्द इन्द्रो देवता मध्यम् - श.१०.३.२.५), यः श्यति तनूकरोति सः (म.द.य.भा.२२.१९; उ.को.१.२०)}** इन्द्र देवता वाली दो त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां होती हैं। ये रश्मियां तारों के अन्दर विद्यमान पदार्थ को तीक्ष्ण व खण्डित करती हैं।

भावार्थ- उपर्युक्त छन्द रश्मि के अतिरिक्त दो त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां डार्क एनर्जी को अपनी तीक्ष्णता से काटकर नष्ट व नियंत्रित करतीं तथा संयोज्य कणों को अपेक्षित ऊर्जा प्रदान करती हैं।

मेरा आधिभौतिक भाष्य

(द्वौ वा ये) उपर्युक्त व्यवहार के अतिरिक्त कुशल राजा के दुष्ट शत्रु को नियंत्रित करने के लिये दो अन्य व्यवहार ये हैं, (शिशवः) वे दोनों व्यवहार उस शत्रु वा समाज कण्टकों को विदीर्ण वा खण्ड-२ करने में समर्थ होते हैं। **{शिशुः = शिशुः शंसनीयो भवति (नि.१०.३९)}** इसके साथ ही ये व्यवहार प्रजा के द्वारा प्रशंसित होते हैं।

भावार्थ- जब राजा अपने मधुर वचनों व हितकारी व्यवहार से शत्रु को नियन्त्रित वा जीत न सके अर्थात् शत्रु अत्यन्त दुष्ट प्रकृति का हो, तब राजा उन्हें दण्डित व नष्ट करने के दो तीक्ष्ण उपायों का आश्रय लेवे।

(४) नीलशिखण्डवाहनः।।१६।।

सृष्टि पर प्रभाव

आर्ष व दैवत प्रभाव- पूर्ववत्।

छान्दस एवं ऋचा का अन्य प्रभाव- इसका छन्द स्वराट् याजुषी पंक्ति किंवा भुरिक् याजुषी उष्णिक् है। वस्तुतः यह दोनों रूपों में व्यवहार करती है। इसके प्रभाव से पूर्वोक्त दोनों त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां अधिक विस्तृत एवं उष्णता से समृद्ध होती हैं। इस कारण वे तीक्ष्ण वज्र का रूप धारण करके असुर तत्व अर्थात् डार्क एनर्जी को नष्ट वा नियन्त्रित करने में और अधिक सक्षम हो जाती हैं।

मेरा आधिदैविक भाष्य

पूर्वोक्त दोनों त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों को तीक्ष्ण बनाने हेतु दो छन्द रश्मियां, जिनका वर्णन छान्दस प्रभाव के अन्तर्गत किया गया है, उत्पन्न होती हैं। वे हैं, (नीलवाहनः) नील वर्णयुक्त अर्थात् पंक्ति छन्द रश्मि। ध्यातव्य है कि **आचार्य पिंगल** ने पंक्ति छन्द का रंग नीला बताया है। यह छन्द रश्मि उपर्युक्त दो त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों में से एक को धारण करके उसे विस्तार के साथ-२ संयोज्यता व परिपक्वता प्रदान करती है। (शिखण्डवाहन) **{शिखण्डः = मोर की पूंछ (आप्टे कोष)}** दूसरी छन्द रश्मि मोर के पंख की भांति चितकबरे रंग की होती है। **आचार्य पिंगल** ने उष्णिक् छन्द का रंग सारंग अर्थात् चितकबरा लिखा है। हमारे मत में सारंग को ही शिखण्ड मानना चाहिये। इस कारण दूसरी वाहन रूप रश्मि उष्णिक् होती है। यह छन्द रश्मि उपर्युक्त दो त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों में से एक को वहन करके उसे और अधिक उष्ण वज्र रूप बनाती है।

इस कारण इस प्रसंग की प्रथम ऋचा के अनुसार तीन छन्द रश्मियों की उत्पत्ति यहाँ सिद्ध होती है। उनमें से प्रथम अनुष्टुप्, दूसरी त्रिष्टुप्+पंक्ति का युग्म तथा तीसरी त्रिष्टुप्+उष्णिक् का युग्म। ये तीनों मिलकर तारों में उष्णता व संयोज्यता को समृद्ध करते हुए बाधक ऊर्जा (डार्क एनर्जी) को पर्याप्त रूप में नष्ट वा नियंत्रित करने में सहयोग करती हैं।

भावार्थ- पूर्वोक्त दो त्रिष्टुप् रश्मियों को एक-२ करके एक पंक्ति तथा दूसरी उष्णिक् छन्द रश्मि वहन करती है। इससे नीले तथा चितकबरे रंगों का प्राकट्य होता है। इसके साथ-२ दोनों त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों का लाल रंग भी प्रकट होता है। डार्क एनर्जी का प्रक्षेपक व प्रतिकर्षक प्रभाव शान्त होकर कणों के संयोजन व संलयन की क्रिया में विशेष सहयोग मिलता है।

मेरा आधिभौतिक भाष्य

पूर्वोक्त दो दण्ड रूप व्यवहार इस प्रकार हैं (नीलवाहनः) **{नीलः = (नील वर्णे -रंगना, रंगाना - सं. धा.को. - पं. युधिष्ठिर मीमांसक)}** ऐसे युद्धक विमानों=वाहनों से, जो भाँति-२ के रंग व रूपों को प्रकट करने में सक्षम हों, से शत्रु सेना को भ्रमित व भयभीत किया जाये। इससे शत्रु बिना युद्ध किये युद्ध से भाग खड़ा हो सकता है। यदि शत्रु फिर भी युद्ध में डटा रहे, तब दूसरा उपाय है, (शिखण्डवाहनः) **{शिखण्डः = शिखाममति - अम्+ड, शक.पररूपम् (आप्टे कोष), (अम् गतिशब्दसंभक्तिषु)}** दुष्ट शत्रुसेना पर ऐसे युद्धक विमानों, जो नाना प्रकार की चितकबरी ज्वालाओं से युक्त हों तथा वे ज्वालाएं तीव्रगामिनी होने के साथ-२ तीव्र गर्जनाओं एवं विध्वंसक बलों से युक्त हों, से प्रहार करे। इससे दुष्ट शत्रुसेना भाग जाती वा नष्ट हो जाती है। ध्यातव्य है कि धर्मात्मा सज्जन व्यक्ति को कभी शत्रु न माने, बल्कि दुष्ट, अधर्मी, क्रूर, लोकहित के विरुद्ध आचरण करने वाले व्यक्ति व व्यक्तियों के समूह को ही शत्रु समझे।

भावार्थ- जब राजा मधुर वचनों से शत्रु का हृदय जीतने में सफल न हो सके, तब वह शत्रु सेना पर भांति-२ के रंग रूप धारण करने में सक्षम तथा घोर गर्जना एवं रंगबिरंगी विध्वंसक ज्वालाओं को प्रकट करने वाले युद्धक विमानों से प्रहार करे, जिससे शत्रुसेना बिना युद्ध किये भयभीत होकर भाग जाये, अन्यथा नष्ट हो जाये। ध्यान रहे संहारक युद्ध अन्तिम विकल्प होना चाहिये और वह भी केवल लोक शत्रु, दुष्ट, अधर्मी व्यक्ति के साथ, अन्यथा कभी किसी को व्यर्थ दण्ड न दे किंवा व्यक्तिगत लाभ व अहंकार के वशीभूत किसी से युद्ध न करे।

ज्ञातव्य- हमने कुन्ताप सूक्त के इन चार मंत्रों का केवल आधिदैविक एवं आधिभौतिक भाष्य ही किया है। आध्यात्मिक भाष्य हमने नहीं किया है। इसका कारण यह है कि हम प्रो. विश्वनाथ विद्यालंकार के आध्यात्मिक भाष्य को ही एक सीमा तक सन्तोषजनक मानते हैं।

सुधी पाठक महानुभाव! हमने वेदभाष्य की त्रिविध प्रक्रिया के स्वरूप और वैदिक ऋचाओं के सृष्टि पर प्रभाव दर्शाने हेतु नौ ऋचाओं को उदाहरण के रूप में दर्शाया है। हमने किसी भाष्यकार के भाष्य पर कोई टिप्पणी नहीं की है, क्योंकि इससे ग्रन्थ का आकार बढ़ जायेगा। यदि हम इस पर टिप्पणी करते, तो हमें ऐतरेय ब्राह्मण के अन्य भाष्यकारों के भाष्य पर भी कुछ न कुछ टिप्पणी करनी

भी आवश्यक प्रतीत होती, इससे ग्रन्थ का आकार बहुत बढ़ जाता। इस ग्रन्थ के किसी भी भाष्यकार का भाष्य ऐसा नहीं है, जिसे हमारी बुद्धि स्वीकार कर सके, तब कहाँ-२ किस-२ पर टिप्पणी करें? इसी प्रकार वेदभाष्य के इन नौ उदाहरणों के विषय में भी समझें। भूलें न केवल सायण, महीधर, ग्रिफिथ, विल्सन एवं पं. सातवलेकर ने की हैं, अपितु कई आर्य विद्वान् भी **महर्षि दयानन्द** की शैली को न समझ सकने के कारण इन्हीं सायणादि भाष्यकारों के अनुगामी बन गये हैं। एक आर्य संन्यासी, जो रसायनशास्त्र के प्रोफेसर भी रहे, स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती ने अपने ग्रन्थ "प्राचीन भारत के वैज्ञानिक कर्णधार" नामक ग्रन्थ, जिसका शीर्षक बड़ा आकर्षक प्रतीत होता है, में **महर्षि दयानन्द** की नितान्त उपेक्षा करके विल्सन एवं ग्रिफिथ के वेदभाष्य तथा ब्राह्मण ग्रन्थों के पाश्चात्य विद्वानों के भाष्य को यथावत् स्वीकार व उद्धृत करके वैदिक विज्ञान व संस्कृति को महती क्षति पहुंचाने का कार्य किया है। **पाठक हमारे तथा अन्य विद्वानों के भाष्य को ध्यान से पढ़कर स्वयं अपनी मेधा से विचारें कि उनका प्रतिभावान् मस्तिष्क एवं निर्मल-निष्पक्ष हृदय किसे स्वीकार करता है?** हम इन भाष्यों पर इतना अवश्य कहना चाहेंगे कि **महर्षि दयानन्द** के अतिरिक्त कोई भी भाष्यकार वेदार्थ की यौगिक शैली के प्रति अज्ञानता के कारण वेदों के रूढ़ार्थ कर वेद का विनाशक ही सिद्ध हुआ अथवा कहें कि **विद्वान् भले ही वे सायण जैसे बहुश्रुत क्यों न हों, वेदार्थ की यथार्थ प्रक्रिया की गन्ध तक न पा सके, अन्यथा विश्व में आज भी वेदों के महान् विज्ञान की प्रतिष्ठा होती।**

प्रश्न यह उठता है कि **महर्षि दयानन्द** के अतिरिक्त अन्य इन वेद भाष्यकारों से कौन सी भूलें हुईं, जिनके कारण वेद विद्या लुप्त हो गयी किंवा वेद का विकृत वा अनिष्ट रूप संसार के सम्मुख प्रस्तुत हुआ। हमारे मत में ये भूलें निम्नानुसार हैं-

१. वेद की ऋचाओं के स्वरूप व विज्ञान को समझ न पाना।
२. देवता व प्रकरण ज्ञान की उपेक्षा एवं देवता के स्वरूप की वैज्ञानिकता से नितान्त अनभिज्ञता।
३. मंत्र के ऋषि के वैज्ञानिक स्वरूप के प्रति अज्ञानता।
४. पदों के अर्थ करने की यौगिक शैली के स्थान पर रूढ़ अर्थों का ग्रहण करना। ध्यातव्य है कि रूढ़ अर्थ करने में व्याकरण ज्ञान का होना पर्याप्त है, **जबकि यौगिक अर्थ करने हेतु विशेष प्रतिभा, ऊहा-तर्क की विशेष क्षमता के साथ-२ विभिन्न विषयों के विस्तृत ज्ञान का होना अनिवार्य है। इसके साथ ही ईश्वर की कृपा, ध्यान, मनन-साधना का होना भी आवश्यक है। वस्तुतः ईश्वरीय विद्या के प्रकाश हेतु ईश्वरीय कृपा और उस पर पूर्ण विश्वास की महती आवश्यकता होती है।** ध्यातव्य है कि विशेष प्रतिभा, ऊहा व तर्क-क्षमता किसी गुरु के द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती। हमारे मत में यह जन्मजात होने के साथ-२ शुद्ध सात्विक भोजन, सात्विक मनन-श्रवण-दर्शन तथा पूर्ण निष्काम भावना से युक्त शुद्ध ईश्वराराधन से प्राप्त होती है। वर्तमान परिवेश में यह सब अति कठिन कार्य है, परन्तु जो भी विद्वान् वेद वा आर्ष ग्रन्थों के विज्ञान को जानना चाहता है, उसे ऐसा यत्न करना ही होगा।
५. वेदार्थ में पाणिनीय व्याकरण के अनुसार ही हठपूर्वक प्रयास करना। उधर इस व्याकरण में भी व्यापक दृष्टि का अभाव विशेषकर धातु के अनेकार्थों के विज्ञान के प्रति अज्ञानता। वेद में व्यत्यय कार्यों की बहुलता एवं निपातन, वैदिक वा आर्ष प्रयोगों की साधुता, गण पाठ में आकृतिगणों की व्यापकता आदि की उपेक्षा करके प्रसिद्ध प्रयोगों पर ही सदैव दृष्टि रहना। विवेकहीन रूढ़ार्थ का प्रयोग न केवल वेदार्थ में किया जाता रहा है अपितु स्वयं व्याकरण के प्रसिद्ध ग्रन्थ **'महाभाष्य'** के अध्ययन-अध्यापन में भी ऐसी ही अन्ध परम्परा चलती रही है। हम जिज्ञासु पाठकों की जानकारी के लिए प्रसंगतः उस पर भी विचार कर लेते हैं।

व्याकरण महाभाष्य के एक उदाहरण पर मेरा विचार

सभी विज्ञ वैय्याकरण महाभाष्य के इस विषय (उदाहरण) से अच्छी तरह अवगत ही हैं-

"पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः, अतोऽन्ये अभक्ष्याः" तथा

"अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटः, अभक्ष्यो ग्राम्यशूकरः"। आरण्यो भक्ष्य इति।

(व्याकरण महाभाष्य १.१.१, शास्त्रनिर्माणरीति निरुपणाधिकरणम्)

इस विषय में सभी वैयाकरणों की दृष्टि समानरूपेण भ्रमित ही रही है। रूढ़ार्थ का प्रयोग करते हुए उन्होंने इन वाक्यों का अर्थ निम्नानुसार किया है-

''पांच नाखून वाले पांच प्राणियों का मांस खाया जा सकता है, अन्य प्राणियों का मांस नहीं खाना चाहिए। इसी प्रकार ग्राम में रहने वाले शूकर व मुर्गे का मांस नहीं खाना चाहिए, जबकि वन में रहने वाले शूकर व मुर्गे का मांस खाया जा सकता है।''

ऐसा अर्थ करने वाले विद्वानों का मत है कि **महाभाष्यकार महर्षि पतंजलि** ने मांसाहारी मनुष्यों के लिए एक मर्यादा निर्धारित की है, जिससे वे सीमित मांसाहार ही कर सकें। इन विद्वानों का यह तर्क हास्यास्पद है। ऋषियों का जो अष्टांग योग अहिंसा की आधारशिला पर खड़ा है, वे ही ऋषि मांसाहार की अनुमति दें, यह नितान्त भ्रान्तिपूर्ण विचार हैं। क्या मांसाहार की क्रूरता के समान अन्य पापों की भी ये ऋषि मर्यादित अनुमति देंगे? **हम संसार के वेदज्ञों को घोषणापूर्वक कहना चाहते हैं कि वे वेदों वा ऋषियों के पवित्र ग्रन्थों में मांसाहार, व्यभिचार आदि पापों की कुत्सित कल्पना से सर्वथा दूर रहें। इन ग्रन्थों में इनकी गन्ध तक नहीं है।** यदि कहीं किसी को ऐसा प्रतीत होता है, तब या तो उसकी उस प्रसंग का यौगिक अर्थ जानने की योग्यता नहीं है अथवा वह प्रसंग प्रक्षिप्त है।

अब हम इस चर्चा का अतिविस्तार न करते हुए सीधे अपने विषय पर आते हैं-

''पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः, अतोऽन्ये अभक्ष्याः''

के रूढ़ अर्थ का ग्रहण न करके यौगिक अर्थ का ग्रहण करेंगे, जो निम्न प्रकार है-

''महत्, अहंकार, मन, 'ओम्' रश्मि एवं व्याहृति संज्ञक रश्मियों का पंचक अथवा पञ्च अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, इन पांचों का पंचक अथवा मन, वाक्, प्राण, छन्द-मरुत् एवं मास-ऋतु रश्मियों का पंचक।

नखः अर्थात् बंधा हुआ **('नह बन्धने' धातु, औणादिक ख प्रत्यय)।**

'पञ्च' अर्थात् पंच प्राण अथवा पंच महाभूत।

'भक्ष्याः' अर्थात् खाने अर्थात् परस्पर संगमन करने योग्य (हमने यहाँ 'भक्ष्य' का अर्थ संगमन करने योग्य किया है, यतो हि भक्षण (खाने) के समय पदार्थों का या तो नष्ट होना होता है अथवा संगमन (मिश्रण) होता है।)

भावार्थ-

१. (पञ्च) महत्, अहंकार, मन, 'ओम्' रश्मि व व्याहृति के पंचक से (नखा) बंधे हुए (पञ्च) पांच प्राथमिक मुख्य प्राण (भक्ष्याः) परस्पर संगमन करने योग्य होते हैं, इससे वे पंच प्राण इस सृष्टि में नाना बलों को उत्पन्न करते हैं।
२. (पञ्च) प्राणापानादि पंचक से (नखाः) बंधे हुए (पञ्च) पांच महाभूत (भक्ष्याः) परस्पर संगमन करने योग्य होते हैं, जिससे सृष्टि प्रक्रिया निर्विघ्न रूप से चलती है।
३. (पञ्च) मन, वाक्, प्राण, छन्द-मरुत् व मास-ऋतु रश्मियों के पंचक से (नखा) बंधे हुए (पञ्च) पांच महाभूत (भक्ष्याः) परस्पर संगमन करने योग्य है अर्थात् इनके मेल से ही समस्त सृष्टि बनी है।

(अतोऽन्ये) अन्य वे असुरादि पदार्थ, जो छन्द रश्मियों के संगमन में बाधक होते हैं, वे (अभक्ष्याः) संगमन के योग्य नहीं है किंवा उपर्युक्त जड़ पदार्थों के अतिरिक्त ईश्वर व जीव चेतन पदार्थ संगमन योग्य नहीं होते अर्थात् ये पदार्थ संघात को प्राप्त करके किसी पदार्थ को उत्पन्न नहीं करते। वस्तुतः संघात वा विकार केवल जड़ पदार्थों में ही सम्भव है, चेतन में कदापि नहीं।

"अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटः, अभक्ष्यो ग्राम्यशूकरः"। आरण्यो भक्ष्य इति।

इस विषय का आधिदैविक अर्थ-

पदार्थ- ग्रामे भवः ग्राम्यः। ग्रामः **(छन्दांसीव खलु वै ग्रामः - तै.सं.३.४.६.२)** अर्थात् छन्द रश्मियों किंवा अन्य विभिन्न तरंगों में होने वाला पारस्परिक संयोग का कोई भी कार्य ग्राम्य कहाता है। **(ग्राम्यस्य कुक्कुटः) ग्राम्यकुक्कुटः (कुकं परद्रव्यादातारं चोरं शत्रुं वा कुटति येन स यज्ञः (म.द.य.भा.१.१६)** अर्थात् (कुकं) असुरादि बाधक पदार्थों को (कुटः) नष्ट करने वाला वज्ररश्मिसमूह। अभक्ष्यः अर्थात् अभक्ष्य, नष्ट न करने योग्य होता है।

भावार्थ- छन्द रश्मियों के अन्दर किंवा उनके पारस्परिक संगमन में (कुक्कुटः) असुर-रश्मि-संहारक वज्ररूप रश्मिसमूह अभक्ष्य है, क्योंकि यदि वज्र रश्मियों का भक्षण हो जाए, तब छन्द रश्मियों के संगमन में असुर तत्व के द्वारा बाधा पहुंचाने के कारण सृष्टि प्रक्रिया बाधित हो जायेगी।

पदार्थ- **'अभक्ष्यो ग्राम्यशूकरः'** यहाँ (शूकरः) **'शुः क्षिप्रनाम' - निघं.२.१५।** (क्षिप्र) शीघ्रकारी। यहाँ **'कृ'** धातु का अर्थ धारण व आच्छादन करना ग्रहणीय है। 'ग्राम्य' एवं 'अभक्ष्यः' को पूर्ववत् समझें।

भावार्थ- शीघ्रकारी होने से पूर्वोक्त वज्ररश्मिसमूह तथा छन्द रश्मियों को धारण व आच्छादन करने वाली प्राणादि रश्मियां **'शूकर'** कहाती हैं। ये रश्मियां भी **'ग्राम्यः'** अर्थात् छन्द रश्मियों के अन्दर वा उनके पारस्परिक संगमन में उन रश्मियों को धारण करके संगमन की प्रक्रिया को सतत आगे बढ़ाती हैं, अतः वे अभक्ष्य हैं। यदि इनका भक्षण हो जाए, तो छन्द रश्मियों के संगमन में बाधा उपस्थित होकर सृष्टि प्रक्रिया में व्यवधान आने लगेगा।

'आरण्यो भक्ष्यः'

पदार्थ- (आरण्यः) अरण्यस्यायं आरण्यः अर्थात् जो रश्मियां रण अर्थात् संग्राम-संघात की स्थिति में न हों।

भावार्थः- जो रश्मियां रण अर्थात् संग्राम-संघात की स्थिति में न हों, ऐसी स्थिति में विद्यमान वज्रादि रश्मियां 'भक्ष्य' अर्थात् भक्षण करने अथवा दूर करने योग्य हैं, क्योंकि संग्राम-संघात की स्थिति के न रहने पर वज्रादि रश्मियों की आवश्यकता नहीं होती है, ऐसी स्थिति में असुरादि रश्मियों का व्यवधान नहीं होता है। इसके अतिरिक्त जिन रश्मियों के कार्यों में असुर रश्मियां बाधक बनने में समर्थ नहीं हो सकतीं, ऐसी रश्मियां (मन व वागादि एवं प्राणापानादि रश्मियां) भी आरण्य कहलाती हैं। ऐसी रश्मियों में भी वज्रादि रश्मियां भक्ष्य होती हैं। कहीं कहीं अनावश्यक रूप से प्रकट वज्रादि रश्मियां आरण्य रश्मियों को भी बाधा पहुँचा सकती हैं, इस कारण भी यहाँ इन्हें 'भक्ष्य' कहा है।

(प्रकरणानुसार हमने 'भक्ष्' धातु के दो प्रकार के अर्थ किए हैं)

पाठक! विचारें कि इतने उच्च गम्भीर तत्व ज्ञान का प्रदर्शक यह उदाहरण वेदविद्या के मर्म से अनभिज्ञ वैयाकरण मांसाहार का प्रेरक वा समर्थक बनाने का दुर्भाग्यपूर्ण कृत्य करते हैं। ऐसे व्याकरण-ज्ञान की इस संसार को क्या उपयोगिता है? हाँ, वेद व ऋषियों के नाम पर सम्पूर्ण विश्व में पापाचार फैलाने में यह ऐसा व्याकरण ज्ञान, जिसमें ऊहा, तर्क वा विवेक का सर्वथा अभाव है, अवश्य अग्रणी रहा है।

---

६. वेदार्थ में निरुक्त एवं ब्राह्मण ग्रन्थों के निर्वचनों का या तो उपयोग ही न करना अथवा उन निर्वचनों को उद्धृत करते हुए भी उनके विज्ञान के प्रति सर्वथा अज्ञानता का होना।

७. अर्थ व काम आदि में आसक्ति का अभाव न होना। भगवान् मनु का वचन है-

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते। धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।। (मनु.२.१३)

पद, प्रतिष्ठा व धन आदि की आसक्ति में फंसा विद्वान् भी धर्म (विज्ञान) तथा इसके स्रोत वेद के यथार्थ तत्व को नहीं समझ सकता।

हम संसारभर के वेदादिशास्त्रों के गम्भीर अध्येताओं का आह्वान करना चाहते हैं कि वे मिथ्या राग-द्वेषादि विकारों एवं सभी पूर्वाग्रहों को त्यागकर शुद्ध सत्वगुण सम्पन्न होकर पूर्ण निष्काम भावना से वेद वा आर्ष ग्रन्थों के विज्ञान को समझने का प्रयास करें। यदि आप ऐसा कर सकें, तो आपको वेद वा ऋषियों के विज्ञान का अद्भुत प्रकाश प्राप्त हो सकेगा।

ॐ इति नवमोऽध्यायः समाप्तः ॐ

दशमोऽध्यायः

"

प्राचीन आर्य्यावर्त्त (भारतवर्ष) में वेद, स्मृतियों, ब्राह्मण ग्रन्थों, दर्शन, उपनिषद् आदि के महान् ज्ञान विज्ञान से सम्पन्न था। इसमें पदार्थ विज्ञान एवं आध्यात्मिक विज्ञान दोनों की ही चरमावस्था थी। दोनों ही विद्याओं के विज्ञान के उत्कर्ष के कारण यह राष्ट्र न केवल जगद्गुरु था, अपितु चक्रवर्ती सम्राट् भी था। उस प्राचीन ज्ञान विज्ञान को यदि जान लिया जाये, तो आज भी भारत विश्व का गुरु बन सकता है।

"

हमारी व्याख्यान शैली तथा अन्य भाष्यों से तुलना

यह बात हम पूर्व में भी लिख चुके हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा अन्य आर्ष ग्रन्थों की अपेक्षा सर्वाधिक जटिल व प्रतीकात्मक है। कुछ उपनिषदों की भाषा कहीं-२ ब्राह्मण ग्रन्थों से कुछ-२ मिलती जुलती है। इस विषय में हम **''ब्राह्मण ग्रन्थों का स्वरूप एवं उनका प्रतिपाद्य विषय''** नामक अध्याय में पर्याप्त लिख चुके हैं। यहाँ हम ऐतरेय ब्राह्मण के भाष्य को लेकर अपने वैज्ञानिक व्याख्यान की तुलना प्रसिद्ध माने जाने वाले वेदवेत्ता आचार्य सायण के भाष्य से करेंगे, जिससे सुधी पाठक स्वयं हमारे व्याख्यान की महत्ता, सत्यता एवं महती आवश्यकता को जान सकें। इस विषय में दिल्ली के वैदिक स्वाध्याय प्रेमी भौतिक वैज्ञानिक (पूर्व विभागाध्यक्ष, मेडि फिजिक्स, दिल्ली विश्वविद्यालय) प्रोफेसर मदन मोहन जी बजाज का आग्रह था कि आचार्य सायण का सम्पूर्ण भाष्य इस व्याख्यान के साथ प्रकाशित किया जाये, जिससे विद्वान् दोनों ही भाष्यों की अपने विवेक से तुलना कर सकें और इस बात को समझ सकें कि वैदिक विद्या व संस्कृति के साथ-२ भारतीय इतिहास व ज्ञान-विज्ञान कैसे अधोगति को प्राप्त हुआ है? यद्यपि प्रो. बजाज का सुझाव सामयिक है परन्तु इससे ग्रन्थ का आकार बहुत बढ़ जाता, इस कारण हम तुलना की दृष्टि से कुछ खण्डों को ही यहाँ उद्धृत करते हैं-

सर्वप्रथम इस ग्रन्थ के खण्ड **१.१** एवं **१.२** को हम सायण भाष्य के साथ-२ डॉ. सुधाकर मालवीय के हिन्दी अनुवाद को उद्धृत करते हैं-

अतस्तामिष्टिं विधातुं तद्देवतारूपमग्निं विष्णुं चाऽऽदौ प्रशंसति-

अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः।।

योऽयमग्निरस्ति, सोऽयं देवतामध्ये अवमः प्रथमो द्रष्टव्यः। यस्तु 'विष्णुः' सोऽयं 'परमः' उत्तमः। वैशब्द उक्तार्थे मन्त्रप्रसिद्धिद्योतनार्थः। 'अग्निर्मुखं प्रथमो देवतानां संगतानामुत्तमो विष्णुरासीत्' इति हि मन्त्र आम्नायते। यद्वा वैशब्द उपपत्तिप्रसिद्ध्यर्थः। उपपत्तिश्चैवं योजनीया। यद्यपि देवशब्दः साधारणत्वात् सर्वदेवतावाची तथाऽप्यत्र प्रकरणबलादग्निष्टोमाङ्गेषु शस्त्रेषु प्रतीयमानाः प्रधानदेवता विवक्ष्यन्ते। शस्त्राणि च द्वादश। तेष्वाज्यशस्त्रं प्रथमम्, तस्मिंश्च 'भूरग्निर्ज्योतिः' इत्यग्निराम्नातः। आग्निमारुतं शस्त्रमन्तिमम्, तस्मिन् 'विष्णोर्नु कम्' इति विष्णुराम्नातः। एवमग्निष्टोमसंस्थायां शस्त्रपाठापेक्षमग्नेः प्राथम्यं विष्णोरुत्तमत्वं च। यद्वा, सर्वासु संस्थासूक्तन्यायेनाग्नेः प्राथम्यं विष्णोरुत्तमत्वम्, अन्तिमसंस्थायामाप्तोर्यामाख्यायां त्रयस्त्रिंशत् स्तोत्रशस्त्रोपेतायामन्तिमं स्तोत्रं शस्त्रं च वैष्णवमिति तदपेक्षया द्रष्टव्यम्। यद्वा, प्रथमायां दीक्षणीयेष्टावग्निरिज्यते। अन्तिमायामुदवसानीयेष्टौ वैष्णवी पूर्णाहुतिर्वाजसनेयिभिराम्नाता। सर्वथाऽपि स्तोतव्यान् यष्टव्यांश्च देवानपेक्ष्याग्नेः प्राथम्यं विष्णोरुत्तमत्वं च युक्तम्। तदन्तरेण तयोः प्रथमोत्तमयोरग्नाविष्ण्वोर्मध्ये तत्तच्छस्त्रप्रतिपाद्याः 'अन्याः' इन्द्रवाय्वादयः 'सर्वाः' प्रधानदेवताः वर्तन्ते। तस्मात् सर्वदेवतानामुभयतो रक्षकवदवस्थितावग्नाविष्णू प्रशस्तावित्यर्थः।

{सोमयागनिरूपण}

देवताओं के मध्य अग्नि का सबसे आदि का और विष्णु का सबसे अन्त का स्थान है। उन दोनों {अग्नि और विष्णु} के मध्य अन्य {इन्द्र, वायु आदि} सभी प्रधान देवताओं का स्थान है।

सौमिकेषु यष्टव्यासु स्तोतव्यासु च सर्वासु देवतास्वग्नाविष्णू प्रशस्य तद्देवताकामिष्टिं विधत्ते-

आग्नावैष्णवं पुरोळाशं निर्वपन्ति दीक्षणीयमेकादशकपालम्।।

अग्निश्च विष्णुश्चाग्नाविष्णू तावुभौ परस्परव्यासक्तौ यस्य पुरोडाशस्यैका देवता सोऽयमाग्नावैष्णवः। यथोक्त देवतां प्रति हविष्ट्वेन प्रदेयद्रव्यरूपः पक्वः पिष्टपिण्डः पुरोडाश इत्युच्यते। डकारस्यात्र ळकारः, एतच्छाखाध्ययनसंप्रदायेन प्रापितः। शकटावस्थापितव्रीहिसङ्घान्निष्कृष्य मुष्टिचतुष्टयपरिमितानां व्रीहीणां शूर्पे प्रक्षेपो निर्वापः। तत्पूर्वको यागोऽत्र निर्वापेणोपलक्ष्यते। आग्नावैष्णवं पुरोडाशमिति सामानाधिकरण्येनावगतस्य द्रव्यदेवतासम्बन्धस्य यागमन्तरेणानुपपन्नत्वात्। सति तु यागे सम्बन्ध उपपद्यते।

''उद्दिश्य देवतां द्रव्यत्यागो यागोऽभिधीयते।।''

इति यागलक्षणस्य पूर्वाचार्यैरुक्तत्वात्। निर्वपन्तीत्ययं शब्दो न वर्तमानार्थः। किन्तु विध्यर्थः। स च लकारो लिङर्थे लेडिति सूत्रेण विध्यर्थो द्रष्टव्यः। एवं च सति शाखान्तरेण संवादो भवति। तथा च तैत्तिरीया विस्पष्टं विधिमामनन्ति- 'आग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपेद्दीक्षिष्यमाणः' इति। तत्रैकप्रयोगापेक्षमेकवचनम्। अत्र तु बहुप्रयोगगतं सत्रगतं वा यजमानबहुत्वमपेक्ष्य निर्वपन्तीति बहुवचनम्। यद्वा, छान्दसो वचनव्यत्ययः। सोमयागे प्रवृत्तस्य यजमानस्य संस्कारो दीक्षणम्, तस्य च संस्कारस्य हेतुः कर्मविशेषो दीक्षणीयाशब्दवाच्यः। तस्य च कर्मविशेषस्य वाचकेन शब्देन तत्कर्मसाधनमुपलक्ष्यते। ततो दीक्षणीयाख्यकर्मसाधनं पुरोडाशमिति सामानाधिकरण्यमुपपन्नम्। एकादशसु कपालेषु संस्कृतः पुरोडाश एकादशकपालः। तेषु हि पुरोडाशः श्रप्यते।

दीक्षणीया इष्टि में अग्नि एवं विष्णु को ग्यारह कपालों वाला पुरोडाश अर्पित करना चाहिए।

अत्र प्रथमोत्तमयोरग्नाविष्ण्वोः पुरोडाशदेवतात्वे फलितं दर्शयति-

सर्वाभ्य एवैनं तद्देवताभ्योऽनन्तरायं निर्वपन्ति।।

'तत्' तेनाऽऽग्नावैष्णवत्वेन तयोरग्नाविष्ण्वोर्मध्यवर्तिनीनां सौमिकीनां सर्वासां देवतानामुपलक्षितत्वाद् 'अनन्तरायं' निरवशेषं काचिदपि देवताऽविशिष्टा यथा न भवति तथैनं पुरोडाशं यजमानाः निर्वपन्त्येव। अनेन निर्वापेण सर्वा देवतास्तृप्यन्तीत्यर्थः। यथा वैयाकरणाः प्रत्याहारेष्वाद्यन्तयोर्वर्णयोर्ग्रहणेन मध्यपातिनां सर्वेषां वर्णानां ग्रहणमिच्छन्ति। न्यायस्तदीय एवं व्यवह्रियते- 'तन्मव्यपतितस्तग्रहणेन गृह्यते' इति। यथा वा लोके भुञ्जानानामेकपङ्क्तावुपविष्टानामाद्यन्तयोर्ब्राह्मणयोः परितोषेण मध्यवर्तिनः सर्वे परितुष्टा इति निश्चितम्, तथेदं द्रष्टव्यम्।।

सभी देवताओं को इस प्रकार से अर्पित करना चाहिए कि कोई देवता छुटने न पाएं।

नन्वग्नाविष्ण्वोरेव निर्वापे सम्बन्धः श्रूयते, न तु मध्यवर्तिदेवतानाम्, तत्कथं तासां तृप्तिरित्याशङ्क्य तत्सिद्ध्यर्थं तयोरेव सर्वदेवतान्तर्भावं दर्शयति-

अग्निर्वै सर्वा देवता विष्णुः सर्वा देवताः।।

अग्नेः सर्वदेवतारूपत्वे श्रुत्यन्तरप्रसिद्धिद्योतनार्थो वै-शब्दः। तथा च तैत्तिरीयाः पौरोडाशिके काण्डे समामनन्ति- 'ते देवा अग्नौ तनूः सन्यदधत तस्मादाहुः 'अग्निः सर्वा देवताः' इति''। सौमिकेऽपि काण्डे श्रूयते- 'देवासुराः संयत्ता आसन् ते देवा बिभ्यतोऽग्निं प्राविशन् तस्मादाहुः 'अग्निः सर्वा देवताः' इति''- इति। विष्लृ व्याप्तावित्यस्माद्धातोरुत्पन्नो विष्णुशब्दः। व्याप्तिश्च सर्वजगदुपादानकारणत्वेन सर्वात्मकत्वादुपपद्यते। अत एव स्मरन्ति- 'भूतानि विष्णुर्भुवनानि विष्णुः' इति।।

क्योंकि अग्नि ही सब देवता हैं। विष्णु ही सब देवता हैं।

सर्वदेवतात्मकत्वेनाग्नाविष्णू प्रशस्य प्रकारान्तरेण पुनः प्रशंसति-

एते वै यज्ञस्यान्त्ये तन्वौ यदग्निश्च विष्णुश्च तद्यदाग्नावैष्णवं पुरोळाशं निर्वपन्त्यत एव तद्देवानृध्नुवन्ति।।

अग्निश्च विष्णुश्चेत्यनयोर्देवतयोर्यच्छरीरद्वयमस्ति, 'एते' उभौ 'तन्वौ' यज्ञस्यान्त्ये सोमयागस्याऽऽदावन्ते च वर्तमाने। आद्या चान्त्या चेति विवक्षायामेकशेषेणान्त्ये इति भवति। यथा माता च पिता चेत्यत्र पितरावित्येकशेषः, तद्वत्। आद्यन्तवर्तित्वं चाग्निर्वै देवानामवम इत्यत्रैवोपपादितम्। तत्तथा सत्याद्यन्तवर्तित्वे सति तादृशदेवताकं 'पुरोडाशं निर्वपन्तीति यदस्ति तत्तेन यथोक्तनिर्वापेणान्ततो यागस्याऽऽदावन्ते च देवान् सर्वानृध्नुवन्त्येव परिचरन्त्येव। तमेतं सार्थवादं दीक्षणीयेष्टिविधिं **तैत्तिरीयाः** अपि विस्पष्टमामनन्ति- 'आग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपेद्दीक्षिष्यमाणोऽग्निः सर्वा देवता विष्णुर्यज्ञो देवताश्चैव यज्ञं चाऽऽरभतेऽग्निरवमो देवानां विष्णुः परमो यदाग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपति देवता एवोभयतः परिगृह्य यजमानोऽवरुन्धे' इति।

अग्नि और विष्णु देवता के यह जो दो शरीर हैं, वह दोनों ही यज्ञ के दोनों किनारे हैं अर्थात् सोमयाग के आदि और अन्त में रहने वाले हैं।

इदानीं यथोक्तविधौ ब्रह्मवादिचोद्यमुद्भावयति-

तदाहुर्यदेकादशकपालः पुरोळाशो द्वावग्नाविष्णू कैनयोस्तत्र क्लृप्तिः, का विभक्तिरिति।।

'तत्' तत्र कपालसंख्यायां ब्रह्मवादिन आहुश्चोदयन्ति। एकादशसु कपालेषु संस्कृतः पुरोडाश एकमेव द्रव्यम्, तस्य भोक्तारौ 'द्वौ' देवौ। अनयोर्द्वयोः समप्रधानत्वेन विषमांशस्यायुक्तत्वात् 'तत्र' द्रव्ये का क्लृप्तिर्विभागकल्पना निमित्तं किं स्यात्? 'का विभक्तिः' निमित्तविशेषाभावे नैमित्तिको विभागविशेषः कथं घटेत? 'इति' शब्दश्चोद्यसमाप्त्यर्थः।।

यह जो अग्नि एवं विष्णु को पुरोडाश अर्पित करते हैं, वह दोनों ओर से यज्ञ के देवताओं की परिचर्या करते हैं। {अब प्रश्न है कि} जो {यह कहा गया है कि} ग्यारह कपालों वाला पुरोडाश होना चाहिए, तब अग्नि एवं विष्णु दो ही तो देवता हैं, फिर दोनों में बांटने का {=क्लृप्तिः} क्रम क्या होना चाहिए और विभाग कैसे होना चाहिए?

ब्रह्मवादिष्वेव मध्ये अभिज्ञानां चोद्यपरिहारमुद्भावयति-

अष्टाकपाल आग्नेयः, अष्टाक्षरा वै गायत्री, गायत्रमग्नेश्छन्दः, त्रिकपालो वैष्णवः, त्रिर्हीदं विष्णुर्व्यक्रमत, सैनयोस्तत्र क्लृप्तिः सा विभक्तिः।।

अष्टसु कपालेषु संस्कृतः पुरोडाशभागोऽग्नेः संबन्धी। स च संबन्धश्छन्दोद्वारा द्रष्टव्यः। गायत्र्याख्यं छन्दोऽग्नेः संबन्धि तयोरग्निगायत्र्योः प्रजापतिमुखजन्यत्वसाम्यात्। एतच्च मुखजन्यत्वं **तैत्तिरीयाः** सप्तमकाण्डे पठन्ति- 'प्रजापतिरकामयत प्रजायेयेति स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत तमग्निर्देवताऽन्वसृज्यत गायत्रीछन्दः' इति। तस्याश्च गायत्र्याः पादाक्षरेष्वष्टत्वं संख्या दृश्यते। सोऽयं यथोक्तपुरोडाशभागस्याग्नेश्च संबन्धः। त्रिषु कपालेषु संस्कृतः पुरोडाशभागो विष्णोः संबन्धी। 'हि' यस्मात् कारणाद् विष्णुरिदं सर्वं जगत्त्रिर्व्यक्रमत त्रिरावृत्तेन स्वकीयपादविक्षेपेण व्याप्तवान्। तथा च मन्त्र आम्नायते- 'इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्' इति 'त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः' इति च। 'सा' यथोक्ताऽष्टत्वसंख्या त्रित्वसंख्या चैनयोर्देवयोस्तत्र पुरोडाशे क्लृप्तिर्विभागकल्पनाहेतुः। तदनुसारेण विभक्तिस्तादृशो विभागोऽवगन्तव्यः।।

उत्तर यह है कि आठ कपालों से सम्बद्ध भाग अग्नि-देवता के लिए है। गायत्री {छन्द के एक चरण में} आठ अक्षर होते हैं और गायत्री ही अग्नि का छन्द है। तीन कपाल विष्णु के लिए हैं, क्योंकि विष्णु ने इस सृष्टि को तीन पदों में नापा। इनके बांटने का क्रम यही है।

इत्थं सार्थवादेन विधिवाक्येन दीक्षणीयेष्टिं विधाय तस्यामेवेष्टौ प्रतिष्ठाकामस्य पुरोडाशमपोद्य द्रव्यान्तरं विधत्ते-

घृते चरुं निर्वपेत योऽप्रतिष्ठितो मन्येत।। इति।

पुत्रादिप्रजया गवादिपशुभिश्च रहितत्वमप्रतिष्ठितत्वं तादृशोऽहमिति मन्यमानो यजमानः प्रतिष्ठार्थं घृतेन तण्डुलैश्चरुं निष्पादयेत्।।

जो अपने को अप्रतिष्ठित समझे अर्थात् जो अपने को पुत्रादि रूप प्रजा और गवादि रूप पशु से रहित माने वह {प्रतिष्ठार्थ} घृत-युक्त चरु को अर्पित करे।

अप्रतिष्ठितत्वस्याऽऽत्यन्तिकदोषत्वं दर्शयति-

अस्यां वाव स न प्रतितिष्ठति यो न प्रतितिष्ठति।। इति।

'यो' यजमानः प्रजापशुरूपया प्रतिष्ठया वर्जितः 'सोऽस्यां वाव' कृत्स्नायामप्येतस्यां भूमौ 'न प्रतितिष्ठति' श्लाघ्यो न भवति। तस्मादप्रतिष्ठा परिहर्तव्येत्यर्थः।।

जो {यजमान प्रजा व पशु रूप} प्रतिष्ठा से रहित है, वह इस पृथिवी पर प्रशंसित नहीं होता {इसलिए अप्रतिष्ठा का परिहरण करना चाहिए}।

घृतचरुणा तत्परिहारं दर्शयति-

तद्यद्घृतं तत्स्त्रियै पयः, ये तण्डुलास्ते पुंसस्तन्मिथुनं मिथुनेनैवैनं तत्प्रजया पशुभिः प्रजनयति प्रजात्यै।। इति।

तत्तत्र घृतपक्वे चरौ यद्घृतमस्ति तत्स्त्रियै पयः स्त्रियाः शोणितम्। द्रवत्वसाम्येन पयः शब्दः शोणितमुपलक्षयति। विलीनस्य घृतस्येषद्रक्तत्वसाम्येन योषिद्वीर्यत्वमुपचर्यते। चरौ ये तण्डुलाः सन्ति, ते पुंसो रेत इति शेषः। श्वेतत्वं त्वत्र साम्यम्। तद्घृततण्डुलोभयात्मकं चरुद्रव्यं मिथुनसदृशं तत्तस्मात् कारणान्मिथुनरूपेणैव चरुद्रव्येणैवैनं यजमानं पुत्रादिप्रजया गवादिपशुभिश्च प्रजनयति प्रवर्धयति। तस्मादिदं चरुद्रव्यं प्रजात्यै प्रजननाय प्रतिष्ठारूपाय संपद्यत इत्यर्थः।।

{घृत-पक्व चरु में} यह जो घृत है वह स्त्री का दुग्ध है {अर्थात् स्त्री के वीर्यत्व का इसमें उपचरण होता है} और जो {चरु में} चावल हैं, वह पुरुष का {वीर्य} है। इस प्रकार वह {घृत व तण्डुल उभयात्मक चरु} मिथुन सदृश है। इसीलिए मिथुनरूप में ही चरु द्रव्य इस यजमान को पुत्रादि प्रजा व गवादि पशु से समृद्ध करता है। इसलिए यह चरु द्रव्य प्रतिष्ठारूप प्रजनन के लिए है।

चरोः प्रतिष्ठाहेतुत्ववेदनं प्रशंसति-

प्रजायते प्रजया पशुभिर्य एवं वेद।। इति।

तावेतौ पुरोडाशचरुपक्षावापस्तम्बेन दर्शितौ- 'दीक्षणीयायास्तन्त्रं प्रक्रमयति। आग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपत्याग्नावैष्णवं वा घृते चरुं, पुरोडाशो ब्रह्मवर्चसकामस्य, घृते चरुः प्रजाकामस्य पशुकामस्य वाऽऽदित्यं घृते चरुं द्वितीयं प्रजाकामस्य पशुकामस्यैके समामनन्ति' इति।।

जो इस रहस्य को समझता है वह प्रजा और पशुओं से युक्त हो जाता है।

उक्ताया दीक्षणीयेष्टेः कालं विधत्ते-

आरब्धयज्ञो वा एष आरब्धदेवतो यो दर्शपूर्णमासाभ्यां यजत आमावास्येन वा हविषेष्ट्वा पौर्णमासेन वा तस्मिन्नेव हविषि तस्मिन् बर्हिषि दीक्षेतैषा एका दीक्षा।। इति।

यः पुमान् दर्शपूर्णमासाभ्यां यजते तेन सर्वोऽपि यज्ञः प्रारब्धः सर्वस्य तदपेक्षितत्वात्। सोमयागस्य दर्शपूर्णमासविकृतित्वाभावेऽप्यङ्गादीनां दीक्षणीयाप्रायणीयादीनामिष्ठीनां तद्विकृतित्वादस्ति तदपेक्षा। अग्निहोत्रस्य तदङ्गानां च तन्निरपेक्षत्वेऽप्याहवनीयाद्यग्निसापेक्षत्वादग्नीनां च पवमानेष्टिसाध्यत्वादिष्टीनां दर्शपूर्णमासविकृतित्वादस्ति परम्परया तदपेक्षाऽतस्तदनुष्ठानेन सर्वस्यापि यज्ञस्य प्रारम्भः सिध्यति। यद्यपि यज्ञारम्भेणैव तदीयदेवतानां पूजयितुमारम्भः सिद्ध एव तथाऽपि प्राधान्यख्यापनार्थमारब्धदेवत इति पुनर्देवताभिधानम्। यस्माद्दर्शपूर्णमासयाजिना सर्वोऽपि यज्ञ आरब्धप्रायोऽत एव देवतानां पूजाऽप्यारब्धप्राया तस्मादारब्धस्य सोमयागस्यानुष्ठेयत्वाद्दर्शपूर्णमासानुष्ठानादूर्ध्वं दीक्षेत दीक्षणीयेष्टिं कुर्यात्। अमावास्याकाले कर्तव्यं हविरामावास्यं तद्वत् पौर्णमासं च। हविःशब्दोऽत्र यज्ञमुपलक्षयति। वाशब्दौ समुच्चयार्थौ। अमावास्यादिसंबन्धिना पौर्णमासीसंबन्धिना च यज्ञेनेष्ट्वा दीक्षेत। उक्तार्थ एव तस्मिन्नित्यादिना प्रपंच्यते। हविःशब्दवद् बर्हिःशब्दोऽपि यज्ञोपलक्षकः। तस्मिन्नामावास्याख्ये हविषि यज्ञे तस्मिन् पौर्णमासाख्ये बर्हिषि यज्ञेऽनुष्ठिते सति पश्चादेव दीक्षेत। **तदाह आश्वलायनः-** 'दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वेष्टिपशुचातुर्मास्यैरथ सोमेन' इति। यजेतेति शेषः। इष्टिराग्रयणेष्टिः। पशुर्निरूढपशुबन्धः। **आपस्तम्बोऽप्याह-** 'अथ दर्शपूर्णमासावारभते। ताभ्यां संवत्सरमिष्ट्वा सोमेन पशुना वा यजते' इति। एतच्छब्दादुत्तर उकारोऽपिशब्दपर्यायः। एषाऽप्येका दीक्षा। एवमुक्ते सत्यन्याऽपि काचिद्दीक्षाऽस्तीति सूचितं भवति। **अत एवाऽऽश्वलायन** इष्टिपूर्वत्वं सोमपूर्वत्वं चेत्युभौ पक्षावुदाजहार- 'ऊर्ध्वं दर्शपूर्णमासाभ्यां यथोपपत्त्येके प्रागपि सोमेनैके' इति। उपपत्तिर्द्रव्यादिसंपत्तिस्तामनतिक्रम्येति यथोपपत्ति। दर्शपूर्णमासाभ्यामूर्ध्वं द्रव्यादिसंपत्तौ सत्यां सोमेन यजेतेति केषांचिन्मतं ताभ्यां प्रागपि संपत्तौ सोमपानमित्यपरेषां मतम्। **तैत्तिरीया -** श्चेष्टिपूर्वत्वमभिप्रेत्य वसन्तादिकालविशेषेष्वाधानमाम्नाय पुनः सोमपूर्वत्वमभिप्रेत्य कालनियममन्तरेणाऽऽधानमामनन्ति- 'अथो खलु यदैवैनं यज्ञ उपनमेत्। अथाऽऽदधीत सैवास्यर्धिः' इति। **आपस्तम्बो**ऽपीदमेव सोमाधानमभिप्रेत्य वसन्तादिकालविशेषप्रतीक्षां वारयति- 'नर्तून् सूर्क्षेन्न नक्षत्रम्' इति। तस्मात् पक्षद्वयम्।।

(अब उसी दीक्षणीया इष्टि के काल का विधान करते हैं)-

जो {यजमान} दर्श और पूर्णमास का यजन करता है वह यज्ञ का प्रारम्भ करने वाला और देवों {की पूजा} का आरम्भ करने वाला होता है। उसी अमावास्या सम्बन्धी हवि अर्थात् यज्ञ के और उसी पौर्णमासी सम्बन्धी यज्ञ के {=बर्हिषि, अनुष्ठित होने पर दीक्षणीया इष्टि करनी चाहिए। यह भी एक दीक्षा {अर्थात् इष्टि} है। यहाँ 'हवि' और 'बर्हि' शब्द यज्ञ को उपलक्षित करते हैं।}

चोदकप्राप्तां पंचदशसंख्याम् अपवदितुं संख्यान्तरं विधत्ते

सप्तदश सामिधेनीरनुब्रूयात्।। इति।

'प्र वो वाजा अभिद्यव' इत्याद्या एकादशसंख्याका ऋचो वह्निसमिन्धनहेतुत्वात् सामिधेन्य इत्युच्यन्ते। तासु 'त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्' इति वचनात्ताः पंचदश संपद्यन्ते। प्रकृतावेव विहितासु पंचदशस्वृक्षु चोदकप्राप्तासु ये समिध्यमानसमिद्धवत्यौ द्वे ऋचौ तयोर्मध्ये धाय्याभिधेये ऋचौ प्रक्षेप्तव्ये। तथाच **आश्वलायनः-** 'दीक्षणीयायां धाय्ये विराजौ' इति। तत्र 'पृथुपाजा अमर्त्यो' इत्येका 'तं सबाधो यतस्रुचः' इति द्वितीया। एतच्च प्रयोगसंग्रहकारेणोदाहृतम्- 'अथ दीक्षणीयायां धाय्ये भवतः शोचिष्केशस्तमीमहों पृथुपाजास्तं सबाधः' इति। 'अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि' इत्येवमध्वर्युणा प्रेषितो होता सामिधेनीः सप्तदशानुब्रूयात्।।

{उस होता को} सत्रह सामिधेनियों का पाठ करना चाहिए। {सामिधेनी ऋचा=१५ सामिधेनी और २ धाय्या मिलकर १७ सामिधेनी ऋचाएं होती हैं। यह पन्द्रह वस्तुतः ११ ही हैं। प्रथम और अन्तिम मन्त्र के तीन-तीन बार पढ़े जाने से १५ हो जाती हैं। ये १७ सामिधेनी इस प्रकार हैं- (१) प्र वो वाजा (ऋ. ३.२७.१), (२) इसी की आवृत्ति, (३) पुनरावृत्ति, (४) अग्न आ याहि (ऋ. ६.१६.१०), (५) तं त्वा (ऋ. ६.१६.११), (६) स नः पृथु (ऋ. ६.१६.१२), (७) ईळेन्यो (ऋ. ३.२७.१३), (८) वृषो अग्निः (ऋ. ३.२७.१४) (९) वृषणं त्वा (ऋ. ३.२७.१५), (१०) अग्निं दूतम् (ऋ. १.१२.१), (११) समिध्यमानो (ऋ.३.२७.४), (१२) समिद्धो (ऋ. ५.२८.५), (१३) आ जुहोता (ऋ.५.२८.६), (१४) इसी की आवृत्ति, (१५) पुनरावृत्ति। ११ वीं ऋचा समिध्यमान है और १२ वीं ऋचा 'समिद्धवती' है। इन्हीं दो के बीच में धाय्या का पाठ होता है। ये दो धाय्या हैं- १. पृथुपाजा (ऋ.३.२७.५), और २. तं सबाधो (ऋ.३.२७.६)}।

तामेतः संख्यां प्रशंसति-

सप्तदशो वै प्रजापतिर्द्वादश मासाः पंचर्तवो हेमन्तशिशिरयोः समानेन तावान् संवत्सरः संवत्सरः प्रजापतिः।। इति।

सप्तदश चावयवा यस्य प्रजापतेः सोऽयं सप्तदशस्तस्मिन्नर्थे वैशब्दोक्तप्रसिद्धिर्द्वादशेत्यादिना स्पष्टीक्रियते। चैत्राद्या मासा द्वादश प्रसिद्धाः। यद्यपि षड् वा ऋतव इति श्रुत्यन्तराल्लोकप्रसिद्धेश्च वसन्ताद्याः षट्संख्याकास्तथाऽपि शीतत्वसाम्येन हेमन्तशिशिरावेकीकृत्य पंचसंख्योच्यते। द्वादशभिर्मासैस्तन्मेलनात्मकपंचर्तुभिश्च यावान्कालो भवति तावान्कालः संवत्सर इत्युच्यते। स च संवत्सरस्तत्तदृतूचितवर्षादिनिष्पादनेन प्रजानां पालकत्वात् प्रजापतिस्तदीयत्वेन सप्तदशसंख्या प्रशस्तेप्यर्थः।।

क्योंकि प्रजापति सत्रह हैं। बारह महीने और पांच ऋतुएं हैं। हेमन्त और शिशिर दोनों के समान होने से {उन्हें एकीकृत करके पांच ऋतुएं कही गई हैं} इतना काल संवत्सर {=वर्ष} का होता है और {प्रजा का पालन करने से} संवत्सर प्रजापति है।

सप्तदशसंख्यावेदनं प्रशंसति-

प्रजापत्यायतनाभिरेवाऽऽभी राध्नोति य एवं वेद।।१।।

संवत्सरात्मकः प्रजापतिरायतनमाश्रयो यासां सामिधेनीनां ताः प्रजापत्यायतनास्तदीयसंख्योपेतत्वात्तदायतनत्वं तादृशीभिराभिः सामिधेनीभिर्वेदिता राध्नोति समृद्धो भवति। सति वेदने तदनुष्ठानप्रवृत्तेः फलप्राप्तिसमृद्धिरुपपद्यते।

अत्र मीमांसोदाह्रियते। पञ्चमाध्यायस्य चतुर्थपादे द्वयं चिन्तितम्-

''दर्शादीष्ट्वा सोमयागः क्रमोऽयं नियतो न वा।

उक्तेराद्यो न सोमस्याऽऽधानानन्तरताश्रुतेः''।।

दर्शपूर्णमासाविष्ट्वा सोमेन यजेतेति क्त्वाप्रत्ययेनावगम्यमानः क्रमो नियतः इति चेत्, मैवम्। 'सोमेन यक्ष्यमाणोऽग्नीनादधीत' इत्याधानानन्तरताया अपि श्रवणात्। तस्मादिष्टिसोमयोः पौर्वापर्यं न नियतम्।।

''विप्रस्य सोमपूर्वत्वं नियतं वा न वाऽग्रिमः।

उत्कर्षतो मैवमग्नीषोमीयस्यैव तत् श्रुतेः''।।

'इष्टिपूर्वत्वं सोमपूर्वत्वं च विकल्पितम्' इति यदुक्तं तत्र ब्राह्मणस्य सोमपूर्वत्वं नियतम्। कुतः, उत्कर्षश्रवणात्। 'आग्नेयो वै ब्राह्मणो देवतया। स सोमेनेष्ट्वाऽग्नीषोमीयो भवति। यदेवादः पौर्णमासं हविः, तत्तर्ह्यनुनिर्वपेत्। तर्हि स उभयदेवतो भवति' इति। अस्यायमर्थः- 'प्रजापतेर्मुखादग्निर्ब्राह्मणश्चेत्युभावुत्पन्नौ। ततो ब्राह्मणस्याग्निरेक एव देवतेत्याग्नेय एव ब्राह्मणः। न तु सौम्यः, सोमस्य तद्देवतात्वाभावात्। यदा स ब्राह्मणः सोमेन यजेत तदा सोमोऽप्यस्य देवतेत्यग्नीषोमीयो भवति। तस्याग्नीषोमीयस्य ब्राह्मणस्यानुरूपं पौर्णमासमग्नीषोमीयपुरोडाशरूपं हविः सोमादूर्ध्वमनुनिर्वपेत्। तदा स ब्राह्मणो देवताद्वयसंबन्धी भवति' इति। यद्यप्यत्र कर्मान्तरं किंचिद् विधीयते- इति कश्चिन् मन्यते, तथाऽपि 'पौर्णमासं हविः' इति विस्पष्टप्रत्यभिज्ञानान्न कर्मान्तरं किन्तु दर्शपूर्णमासयोः सोमादूर्ध्वमुत्कर्षः। तस्माद् विप्रस्य सोमपूर्वत्वमेव नियतमिति प्राप्ते, **ब्रूमः** नात्र दर्शशब्दः पूर्णमासशब्दो वा कश्चिद् यागवाची श्रूयते। पौर्णमासमित्येतत्तद्धितान्तं हविर्विशेषणत्वेनोपन्यस्यते। तच्च हविरग्नीषोमीयपुरोडाशरूपमिति देवताद्वयेन संस्तवादवगम्यते। तस्मादेकस्यैव हविष उत्कर्षः, न तु कृत्स्नयोर्दर्शपूर्णमासयोः। तथा सति ब्राह्मणस्यैकस्मिन्नेवाग्नीषोमीयपुरोडाशे सोमपूर्वत्वनियमः। इतरत्र क्षत्रियवैश्ययोरिवास्यापीष्टिपूर्वत्वसोमपूर्वत्वे विकल्प्येते।।

तृतीयाध्यायस्य षष्ठे पादे चिन्तितम्-

''सामिधेनीः सप्तदश प्रकृतौ विकृतावुत।
पूर्ववत्प्रकृतौ पांचदश्येनैतद् विकल्प्यते।।
विकृतौ साप्तदश्यं स्यात् प्रकृतौ प्रक्रियाबलात्।
पांचदश्यावरुद्धत्वादाकाङ्क्षाया निवृत्तता।।''

अनारभ्य श्रूयते- 'सप्तदश सामिधेनीरनुब्रूयात्' इति। 'प्र वो वाजा' इत्याद्या अग्निसमिन्धनार्था ऋचः सामिधेन्यः। तासां साप्तदश्यं पूर्वन्यायेन प्रकृतिगतम्, यदि प्रकृतौ 'पंचदश सामिधेनीरन्वाहेति विधिः स्यात् तर्हि पांचदश्यसाप्तदश्ये विकल्पेयातामिति प्राप्ते, **ब्रूमः**- विकृतावेव साप्तदश्य निविशते प्रकृतौ पांचदश्यावरुद्धायां सामिधेनीनां संख्याकाङ्क्षाया अभावात्। न च पांचदश्यसाप्तदश्यवाक्ययोः समानबलत्वादवरोधाभावः- इति शङ्कनीयं पांचदश्ये प्रकरणानुग्रहस्याधिकत्वात्। तस्मान्मित्रविन्दाध्वरकल्पादिविकृतौ साप्तदश्यमवतिष्ठते। न चात्र पूर्वन्यायोऽस्ति, साप्तदश्यस्य चोदकप्राप्त्यभावेन पुनर्विधानदोषाभावात्।

''साप्तदश्यं तु वैश्यस्य विकृतौ प्रकृतावुत।
पूर्ववच्चेन्न संकोचान्नित्यनैमित्तिकोक्तितः।।
गोदोहनेन प्रणयेत्कामीत्येतदुदाहरत्।
भाष्यकारस्तदप्यस्तु न्यायस्यात्र समत्वतः।।

'सप्तदशानुब्रूयाद् वैश्यस्य' इति स्थितं वैश्यनिमित्तकं साप्तदश्यं पूर्वन्यायेन विकृतिगतमिति चेत्, मैवम्। नैमित्तिकेनानेन वचनेन प्रकृतिगतस्य नित्यस्य पांचदश्यस्य वैश्यव्यतिरिक्तविषयतया संकोचनीयत्वात्। नित्यं सामान्यरूपतया सावकाशत्वेन दुर्बलम्। नैमित्तिकं तु विशेषरूपत्वनिरवकाशत्वाभ्यां प्रबलम्। तस्माद् वैश्यनिमित्तकं साप्तदश्यं प्रकृतावतिष्ठते।

अत्र **भाष्यकारो**ऽन्यदुदाजहार- चमसेनापः प्रणयेद् गोदोहनेन पशुकामस्येति। तत्र प्रकृतेश्चमसेनावरुद्धत्वाद् गोदोहनं विकृताविति पूर्वः पक्षः। कामनानिमित्तकेन गोदोहनेन नित्यस्य चमसस्य

निष्कामविषयतया संकोचनीयत्वाद् प्रकृतावेव गोदोहनमिति राद्धान्तः।

दशमाध्यायस्याष्टमपादे चिन्तितम्-

''सामिधेनीसाप्तदश्यं वैमृधादावपूर्वगीः।
संहृतिर्वोपकारस्य क्लृप्त्याऽऽद्योऽस्त्वाज्यभागवत्।।
सामिधेन्यश्चोदकाप्तोः साप्तदश्यं तु वैमृधे।
पुनर्वाक्येन संहार्यमनारभ्योक्तिचोदितम्''।।''

अनारभ्य किंचिदाम्नायते- 'सप्तदश सामिधेनीरनुब्रूयात्' इति। तथा वैमृधेऽध्वरकल्पायां, पशौ चातुर्मास्येषु, मित्रविन्दायामाग्रयणेष्ट्यादौ च पुनः साप्तदश्यं विहितम्। यद्यप्यनारभ्याधीतानां प्रकृतिगामित्वं न्याय्यं तथाऽपि श्रुतेन पांचदश्येनावरुद्धत्वाद् विकृतिष्वेवं निविशते। तथा सति वैमृधादिषु विकृतिष्वनारभ्यवादप्राप्ताः सप्तदश सामिधेन्यः प्राकरणिकेन विधिना पुनर्विधीयमाना गृहमेधीयाज्यभागवत्क्लृप्तोपकारत्वेनेतिकर्तव्यताकाङ्क्षां पूरयन्त्यश्चोदकं लोपयन्त्यो वैमृधादेरपूर्वकर्मतां गमयन्ति। साप्तदश्यं त्वनारभ्यवादप्राप्तमनूद्यत इति प्राप्ते, **ब्रूमः** वैमृधादिषु सामिधेन्य आज्यभागवन्न विधीयन्ते, किन्तु चोदकप्राप्ता अनूद्य साप्तदश्यं विधीयते। तच्च साप्तदश्यं वैमृधादि प्रकरणेष्वाम्नातैर्विधिभिः कासुचिदेव विकृतिषु प्राप्तमनारभ्यवादेन तु सर्वासु विकृतिषु तत्रानारभ्यवादो विलम्बते प्रथमं विधेयस्य साप्तदश्यस्य सामिधेनीसंबन्धमवबोध्य। तत्संबन्धान्यथानुपपत्त्या क्रतुप्रवेशं परिकल्प्य प्रकृतौ पांचदश्यपराहतत्वेन विकृतिषु सर्वासु निवेशः क्रियत इति विलम्बः। प्राकरणिकैर्विधिभिः सामिधेनीसंबन्ध एव बोधनीयः। विकृतौ तद्विशेषे च प्रवेशो न कल्पनीयः प्रत्यक्षप्रकरणपाठेनैव तत्सिद्धेः। तत्र साप्तदश्यस्य वैमृधादिविकृतिविशेषसंबन्धे सहसा प्रतिपन्ने सति तद्विरोधात् सर्वप्रकृतिसंबन्धो न कल्पयितुं शक्यः। अनारभ्यवादस्तु चोदकप्राप्तस्य पांचदश्यस्य बाधकः। सर्वयाऽपि चतुर्धाकरणवदुपसंहारो न त्वाज्यभागवदपूर्वं कर्म।।

जो इस प्रकार {रहस्य को} जानता है, वह {संवत्सरात्मक} प्रजापति के आयतन स्वरूप अर्थात् आश्रयभूत सामिधेनियों से समृद्धि को प्राप्त करता है।।

अथ द्वितीय खण्डः

दीक्षणीयेष्टिं निरूप्य तत्प्रशंसार्थमिष्टिशब्दनिर्वचनं दर्शयति-

यज्ञो वै देवेभ्य उदक्रामत् तमिष्टिभिः प्रैषमैच्छन्यदिष्टिभिः प्रैषमैच्छंस्तदिष्टीनामिष्टित्वं तमन्वविन्दन्।। इति।

ज्योतिष्टोमाभिमानो यज्ञपुरुषः केनापि निमित्तेनापरक्तो देवेभ्योऽपक्रान्तवान्। तं यज्ञं देवा दीक्षणीयाप्रायणीयादिभिरिष्टिभिः प्रैषमन्वेष्टुमैच्छन्। इच्छन्ति यज्ञमाभिरितीष्टिशब्दव्युत्पत्तिः। यजतिधातोरिष्टिशब्दः सर्वत्र प्रसिद्धः। अत्र त्विच्छतिधातोरिति विशेषः। अन्विष्य तं यज्ञमनुक्रमेण लब्धवन्तः।

{अब इष्टि शब्द का निर्वचन करते हैं}- यज्ञ देवों के पास से चला गया। उस {यज्ञ} को दीक्षणीया और प्रायणीयादि इष्टियों द्वारा उन्होंने खोजना चाहा। इष्टियों का इष्टित्व इसलिए है कि उन्होंने इनके द्वारा यज्ञ को खोजने की इच्छा की। उन्होंने उस {यज्ञ} को पा लिया।

तल्लाभवेदनं प्रशंसति-

अनुवित्तयज्ञो राध्नोति य एवं वेद।। इति।

वेदिता तदनुष्ठानेन लब्धयज्ञः फलेन समृद्धो भवति।।

जो इस रहस्य को जानता है, वह {उसके अनुष्ठान से} यज्ञ को पाकर फल से समृद्धि को प्राप्त करता है।

पुनरपि दीक्षणीयादीष्टिप्रशंसार्थं तास्विष्टिषु विद्यमानानामाहुतीनां वाचकं शब्दं निर्वक्ति-

आहूतयो वै नामैता यदाहुतय एताभिर्वै देवान् यजमानो ह्वयति तदाहुतीनामाहूतित्वम्।। इति।

आहुतय इत्युकारेण ह्रस्वेनाऽऽहूतय इत्येवं दीर्घेण युक्तं द्रष्टव्यम्। ह्वयत्याभिरिति तद्व्युत्पत्तिः। जुहोतिधातोरुत्पन्नः शब्दः पूर्वं प्रसिद्धः। अयं तु ह्वयतिधातोरुत्पन्न इति विशेषः।।

वस्तुतः {दीर्घ ऊ वाले} 'आहूति' {=बुलाना} को {ह्रस्व उ वाला} 'आहुति' कहते हैं। क्योंकि इसके द्वारा यजमान देवताओं को बुलाते हैं। यही आहुतियों का आहूतित्व है।

इष्टीराहुतीश्च मिलित्वा प्रकारान्तरेण प्रशंसति-

ऊतयः खलु वै ता नाम याभिर्देवा यजमानस्य हवमायन्ति, ये वै पन्थानो याः स्रुतयस्ता वा ऊतयस्त उ एवैतत्स्वर्गयाणा यजमानस्य भवन्ति।। इति।

हूयन्ते देवा अस्मिन्निति हवोऽत्र सोमयागो याभिरिष्टिभिस्तत्र ताभिराहुतिभिश्च निमित्तभूताभिर्देवा यजमानस्य यज्ञमागच्छन्ति ता इष्टय आहूतयश्चोतय इत्येतन्नाम प्रतिपद्यन्ते। खलुशब्दो वैशब्दश्च प्रसिद्ध्यर्थः। अवन्ति रक्षन्तीत्यवतेर्धातोरूतिशब्दः प्रसिद्धः। आयन्त्यागच्छन्ति याभिरित्याङ्पूर्वस्यायतिधातोर्वा वर्णविकारेणोतिशब्दः। यद्वा तस्मादेव धातोः स्वर्गप्रापकत्वाभिप्रायेण शब्दो व्युत्पाद्यते। ये केचित् पन्थान इष्टिरूपाः स्वर्गस्य प्रौढमार्गाः सन्ति याश्च स्रुतयस्तन्मार्गावयवरूपा आहुतयः सन्ति ता द्विविधा ऊतय इत्युच्यन्ते। त उ एवैतत्त एवैते द्विविधा अपि मार्गा यजमानस्य स्वर्गयाणाः स्वर्गप्रापका भवन्ति।।

{इष्टि और आहुतियाँ मिलकर} ये ऊतियाँ {=रास्ते} हैं, क्योंकि इन्हीं के द्वारा देवता यजमान के बुलाने पर आते हैं। जो कोई भी {इष्टि रूप स्वर्ग के} मार्ग हैं और जो {उस मार्ग को अवयव रूप} आहुतियाँ हैं ये द्विविध रास्ते ऊतियाँ कही गई हैं। इस प्रकार निश्चय ही वे यजमान की स्वर्ग प्रापक {अर्थात् स्वर्ग तक पहुँचने की मार्गस्वरूप} होती हैं {प्रस्तुत स्थल पर 'आहुति' अर्थात् होम और 'आहूति' अर्थात् आह्वान है। दोनों शब्दों की समानता दिखलाई गई है अर्थात् हवन में आहुति देना मानों देवों को बुलाना है}।

पुनरपीष्टिप्रशंसार्थं तदङ्गभूतयोर्याज्यानुवाक्ययोर्वक्तरि प्रयुज्यमानं होतृशब्दं निर्वक्तुं ब्रह्मवादिनां प्रश्नमवतारयति-

तदाहुर्यदन्यो जुहोत्यथ योऽनु चाऽऽह यजति च कस्मात् तं होतेत्याचक्षत इति।। इति।

तत्तास्विष्टिषु किंचिच्चोद्यमाहुः। यद्यस्मात् कारणाद्धोतुरन्योऽध्वर्युर्जुहोति तस्मात् तत्कारणात् तद्धातुनिष्पन्नो होतृशब्दस्तस्याध्वर्योर्युक्तः। याज्ञिकास्तु तमध्वर्युं होतेति नाऽऽचक्षते। अथ यः पुमान् अनु चाऽऽह पुरोनुवाक्यां चानुब्रूते यजति च याज्यां च पठति तं पुमांसमनुवक्तेति यष्टेति चानभिधाय कस्मात् कारणाद्धोतेत्याचक्षते। इतिशब्द प्रश्नसमाप्त्यर्थः।।

{होतृ शब्द के निर्वचन के लिए प्रश्न करते हैं कि-} जब आहुति देने वाला {होता से} दूसरा अर्थात् 'अध्वर्यु' कहलाता है तो अनुवाक्या एवं याज्या {मन्त्रों} के पढ़ने वाले को {यष्टा न कहकर} 'होता' नाम से क्यों पुकारा जाता है?

अभिज्ञानामभिप्रेतं प्रश्नस्योत्तरं दर्शयति-

यद्वाव स तत्र यथाभाजनं देवता अमुमावहामुमावहेत्यावाहयति तदेव होतुर्होतृत्वं होता भवति।। इति।

'यद्वाव' यस्मादेव कारणाद्याज्यानुवाक्ययोर्वक्ता स पुमांस्तत्र यागे यथाभाजनं यथास्थानं सर्वा देवता आवाहयति-अमुमग्निमावह, अमुं सोममावहेति तदेव तस्मादेव कारणाद्याज्ञिकप्रसिद्धस्य होतुस्तन्नाम संपन्नम्। अत्र ण्यन्तस्य वहधातोश्छान्दस्या प्रक्रियया होतृशब्दनिष्पत्तिर्न तु जुहोतिधातोस्तस्माद्धोमकर्तृत्वाभावेऽप्यावाहयितृत्वसद्भावाद्धोतृत्वमुपपन्नमित्ययं याज्यानुवाक्ययोर्वक्ताऽपि होता भवत्येव।।

{उत्तर देते हैं कि} क्योंकि वह सभी देवताओं को यथास्थान यह कहकर बुलाता है कि 'अमुक {अग्नि} को बुलाओ', 'अमुक {सोम} को बुलाओ'। इसीलिए 'होता' का होतृत्व होने से 'होता' यह नाम निष्पन्न है;

होतृत्ववेदनं प्रशंसति-

होतेत्येनमाचक्षते य एवं वेद।।२।। इति।

याज्ञिका एनं वेदितारं होतारं मुख्यो होतेति कथयन्ति। हौत्रे कर्मणि कुशलो भवतीत्यर्थः।।

{याज्ञिक लोग} इस प्रकार जानने वाले उस {आह्वाता} को 'होता' इस नाम से पुकारते हैं।

हमारी समीक्षा

हम सर्वप्रथम सायण भाष्य एवं उसी के प्रकाश में किये गये डॉ. सुधाकर मालवीय के हिन्दी अनुवाद पर विचार करते हैं-

सायण इस ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य विषय सोमयाग मानते हैं। अन्य विविध याग इसी सोमयाग के ही अंग हैं। हमारा भी यही मत है। अब प्रथम कण्डिका में ही **'अग्नि'** एवं **'विष्णु'** देवताओं की स्तुति करते हुए अग्नि को अवम तथा विष्णु को परम कहा है। इसका आशय भी कहा कि अग्नि देवता प्रथम और विष्णु देवता अन्तिम है। इसकी पुष्टि हेतु अनेक आर्ष प्रमाण भी दिये। सायणाचार्य की शैली है कि अपने मत की पुष्टि हेतु अनेक आर्ष प्रमाणों को उद्धृत करना परन्तु उन प्रमाणों का विनियोग कहीं भी नहीं कर पाना सायण की नितान्त असफलता है। अपने वेदभाष्य में भी उन्होंने यही शैली अपनाई है। इससे उनका भाष्य आर्ष प्रमाणों से युक्त प्रतीत होता तो अवश्य है परन्तु उन प्रमाणों का आशय क्या है? यह बात सायण की बुद्धि में कभी भी नहीं आ सकी, इसी कारण उनका भाष्य प्रमाणयुक्त होते हुए भी नितान्त अप्रामाणिक व असंगत हो गया है। उनके प्रत्येक ग्रन्थ की यही दुःखद दशा है।

देवता कौन से पदार्थ हैं? अग्नि उनमें अग्नि प्रथम तथा विष्णु अन्तिम वा अग्नि सबसे छोटा और विष्णु सबसे बड़ा देवता क्यों कहा गया है? अग्नि व विष्णु किस पदार्थ के नाम हैं? यह बात सायण ने कभी नहीं जानी और न जानने का प्रयास ही किया। अग्नि को देवों का मुख क्यों कहा तथा विष्णु को देवों का अन्त क्यों कहा? इस बात पर कोई विचार नहीं किया। सायण ने यज्ञ परम्परा में पहले अग्नि के यजन की तथा अन्त में विष्णु के यजन की चर्चा तो की परन्तु यह नहीं विचारा कि यज्ञ तो किसी विज्ञान विशेष के प्रतीक होते हैं, तब अग्नि व विष्णु की इष्टि में क्रमशः प्रारम्भ व अन्त का क्रम क्यों रखा गया है? इष्टियों का प्रादुर्भाव देवों के पश्चात् ही ऋषियों के द्वारा हुआ, तब देवताओं का आधार ये नाना इष्टियां अर्थात् यज्ञ परम्परा नहीं हो सकती। तब इस यज्ञ परम्परा से पृथक् हटकर, यह क्यों नहीं विचारा जाता कि अग्नि प्रथम वा छोटा एवं विष्णु अन्तिम वा बड़ा देवता क्यों माना गया है?

यही भूल सायणादि आचार्यों एवं उनके अनुवर्ती विद्वानों की रही है, जिसने वेद वा आर्ष ग्रन्थों के ज्ञान विज्ञान को नष्ट करने में मूल का कार्य किया है। जब तक अग्नि व विष्णु का स्वरूप नहीं जाना जायेगा, तब तक याग में पुरोडाशों का अभिप्राय कैसे विदित होगा? इन्द्र, वायु, वरुणादि अनेक देवता क्यों अग्नि व विष्णु में समाहित हो जाते हैं? इसको समझाने के लिए जो प्रमाण सायण ने दिये हैं, उनसे कुछ भी स्पष्टता नहीं होती। इन दोनों देवताओं को यज्ञ के दो किनारे कहना, इनमें पुरोडाशों का विभाजन भी स्पष्ट नहीं है। विभाजन इसी प्रकार क्यों होता है? क्या केवल यज्ञ परम्परा के निर्वहन के लिए? यह परम्परा क्यों प्रारम्भ हुई, इसे कौन समझायेगा?

इस प्रकरण में गवादि व पुत्रादि की कामनायुक्त यजमान को उपाय बताने लग जाना, क्या विषयान्तर नहीं है? इस घृत चावल से यज्ञ करने मात्र से यजमान पशु व पुत्रादि से समृद्ध हो जायेगा, यह क्या यजमान को भ्रमित करना नहीं है? किसी रोग विशेष से आक्रान्त निःसन्तान दम्पति को यज्ञ से सन्तान प्राप्ति तो सम्भव है परन्तु घृत, चावल के यज्ञ से गो, अश्व आदि पशुओं की प्राप्ति कैसे

होगी? मात्र यज्ञ पद्धति को जानने से सब कुछ प्राप्त हो जायेगा, यह बात कितने विनोद वा आश्चर्य की है!

महीने व ऋतुओं को प्रजापति क्यों कहा गया, यह स्पष्ट नहीं है। सत्रह ऋचाओं को सामिधेनी क्यों कहा, यह तो संकेतमात्र भी नहीं समझा, पुनरपि सामिधेनी के लिए प्रमाण अनेकों दे दिये।

सम्पूर्ण खण्ड को पढ़ने पर प्रबुद्ध पाठक क्या विचारे? यह सायण ने नहीं समझा। **ज्ञान काण्ड का रूप माने जाने वाले ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण को मात्र कर्मकाण्ड का विषय बनाना, वह भी ऐसे कर्मकाण्ड, जिसका आशय वा उद्देश्य ही अस्पष्ट, तो कहीं-२ व्यर्थ प्रलापवत् हो, वेद व उनके व्याख्यान ग्रन्थ ब्राह्मण ग्रन्थों के साथ भारी अन्याय करना है।** हम ऐसे भाष्यों से संसार को क्या सन्देश देना चाहते हैं, यह बात आचार्य सायण को प्रमाण मानने वाले विद्वानों को विचारनी चाहिये? हम इनके द्वारा वेद को क्या प्रतिष्ठा दिलाना चाहते हैं, यह गम्भीरता से सोचना चाहिये।

इस भाष्य की समीक्षा के उपरान्त हम अपनी भाष्य शैली को प्रकाशित करने का प्रयत्न करते हैं।

यह बात समझाना कि मैंने अपना व्याख्यान कैसे किया है? कठिन काम है। मेरे पास इस प्रकार के व्याख्यान=भाष्य करने की कोई परम्परा नहीं है, तब मैंने कैसे हजारों वर्ष पुरानी याज्ञिक परम्परा को ठुकराकर अपनी नवीन परम्परा को जन्म दिया है?

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें इसकी पृष्ठभूमि को गम्भीरता से समझना होगा।

वस्तुतः आचार्य सायण ने जो शैली अपने भाष्य में अपनायी है, वही शैली उनसे पूर्व भाष्यकारों षड्गुरुशिष्य आदि आचार्यों की भी थी। सायण ने अनेकत्र उन्हें उद्धृत भी किया है। आर्य समाज के कुछ विद्वानों पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय आदि तथा विदेशी विद्वानों ने भी प्रायः सायणाचार्य के भाष्यों का ही अनुसरण किया है। **महर्षि दयानन्द सरस्वती** ने वेद संहिताओं के जिस भाग का भाष्य नहीं किया अर्थात् सम्पूर्ण सामवेद, अथर्ववेद तथा ऋग्वेद मण्डल ७ के ६१ सूक्त के तृतीय मंत्र से अन्त तक का भाष्य आर्य विद्वानों व पं. दामोदर सातवलेकर आदि ने किया है। इन भाष्यकारों ने भी सायण का अनुसरण अधिक किया है, महर्षि दयानन्द का कम। यही कारण है कि इन सबके भाष्यों में वेद का यथार्थ विज्ञान प्रकट नहीं हुआ बल्कि वेदादि शास्त्र उपहास के पात्र बन गये हैं। यही अन्ध परम्परा अब तक पौराणिक वा आर्य समाज में चल रही है।

हम **वाल्मीकीय रामायण, महाभारत** आदि ऐतिहासिक ग्रन्थों में प्राचीन भारतवर्ष में उच्च स्तरीय विज्ञान व तकनीक का प्रयोग हम देखते हैं। नाना प्रकार की विमान विद्या, अस्त्र-शस्त्र विद्या को हम पढ़ते हैं, **महर्षि भरद्वाज** के **यन्त्रसर्वस्व** व **अंशुबोधिनी** आदि ग्रन्थों के बारे में पढ़ते व सुनते हैं, तब मन में प्रश्न यह उठता है कि उन दिनों विज्ञान व तकनीक की उच्च स्थिति का स्रोत क्या था? हम उन प्राचीन महर्षियों में से **भगवान् मनु, महर्षि यास्क, महर्षि पाणिनि,** दर्शनशास्त्र के प्रणेता **गोतम, कपिल, कणाद, वेदव्यास, पतंजलि** व **जैमिनि** आदि ऋषियों के ग्रन्थों को पढ़ते हैं। आत्मज्ञान पिपासु **देवर्षि नारद** की व्यापक विद्या के विषय में विचार करते हैं और यह भी पढ़ते हैं कि ये सभी भगवन्त महाशय वेद को ही सर्वज्ञान विज्ञान का मूल मानते थे। **महर्षि ब्रह्मा, महादेव शिव, भगवान् विष्णु, भगवान् श्रीराम, देवराज इन्द्र, भगवान् श्रीकृष्ण, महर्षि अगस्त्य, महर्षि विश्वामित्र, महर्षि वसिष्ठ** आदि सभी वेद के द्वारा महान् विज्ञान को प्राप्त कर सके थे, तब प्रश्न यह उठता है कि क्या वेद व इनके व्याख्यान रूप लिखे गये ब्राह्मण ग्रन्थों का वही स्वरूप है, जो आज प्रचलित भाष्यों में प्रदर्शित होता है, तब तो इसकी तुलना कदापि प्राचीन वैदिक वा भारतीय ज्ञान विज्ञान के साथ कदापि नहीं हो सकती। **आज वेदादि शास्त्रों पर जो उपदेश व पठन-पाठन हो रहा है, उससे ऐसी गंध तक नहीं मिलती कि ये ग्रन्थ महान् ज्ञान विज्ञान का केन्द्र हैं।** यही कारण है कि आज हम पश्चिमी भौतिक विज्ञान पर पूर्णतः आश्रित हैं, पुनरपि अपनी संस्कृति, ज्ञान विज्ञान के गौरव का मिथ्या गुणगान करते हैं। ऐसा करके मानो वे अपनी न्यूनता को छिपाना चाहते हैं किन्तु न्यूनता कभी अप्रकट नहीं रहती। हमारी पीढ़ी वेदादि शास्त्रों से पूर्णतः विमुख हो चुकी है।

पाठक महानुभाव! **हम समस्त वैदिक समाज को अपना सन्देश देना चाहते हैं कि क्या आप अपनी वैदिक मान्यताओं व विद्या से संसार में वेदादि शास्त्रों को किंचिदपि प्रतिष्ठा दिला सकते हैं? क्या आप आज बढ़ते ज्ञान विज्ञान के समक्ष वेद वा ब्राह्मण ग्रन्थों की विद्या को कहीं कुछ भी महत्व दिला सकते हैं? यदि नहीं, तो क्या आप ऐसा मानकर चले हैं कि प्राचीन भारतवर्ष अथवा वेदादि शास्त्रों में पदार्थ विद्या है, ही नहीं।**

मैं ऐसे निराश विद्वानों को बड़े आत्मविश्वास के साथ कहना चाहता हूँ कि **प्राचीन आर्य्यावर्त्त (भारतवर्ष) वेद, स्मृतियों, ब्राह्मण ग्रन्थों, दर्शन, उपनिषद् आदि के महान् ज्ञान विज्ञान से सम्पन्न था। इसमें पदार्थ विज्ञान एवं आध्यात्मिक विज्ञान दोनों की ही चरमावस्था थी। दोनों ही विद्याओं के विज्ञान के उत्कर्ष के कारण यह राष्ट्र न केवल जगद्गुरु था, अपितु चक्रवर्ती सम्राट् भी था।** प्राचीन ज्ञान विज्ञान न केवल उस समय के विश्व में उत्कृष्ट स्थान प्राप्त था, अपितु उस ज्ञान विज्ञान को यदि जान लिया जाये, तो आज भी भारत विश्व का गुरु बन सकता है।

अब हम अपने व्याख्यान करने की शैली की चर्चा इस प्रथम खण्ड को लेकर करते हैं-

हम इस विचार से सहमत हैं कि **ऐतरेय ब्राह्मण** का मुख्य प्रतिपाद्य विषय सोम याग है, परन्तु क्या हमने कभी विचार करने का प्रयत्न भी किया कि सोम क्या पदार्थ है, जिसके याग का इस ग्रन्थ में वर्णन है। हमें **'सोम'** शब्द के विषय में विचार करने के लिए सर्वप्रथम वेद की शाखाओं वा ब्राह्मण ग्रन्थों द्वारा ही जानने का प्रयत्न करना चाहिये। देखें, ये ग्रन्थ इस विषय में क्या कहते हैं-

''अनयोर् (द्यावापृथिव्योः) गर्भस्सोमो राजा'' (काठ.३.७.८)
''द्यावापृथिव्योर्वा एष गर्भो यत्सोमोराजा'' (ऐ.१.२६)
अर्थात् द्युलोक एवं पृथिव्यादि लोकों का गर्भ सोमराजा है।
''आदित्यः सोमः'' (काठ.२६.२)
अर्थात् सूर्य लोक ही सोम है।
''इन्द्रः सोमस्य योनिः'' (मै.सं.३.७.८)
अर्थात् इन्द्र अर्थात् विद्युत्-वायु सोम का उत्पत्ति व निवास स्थान है।
''संवत्सरो वै सोमो राजा'' (कौ.ब्रा.७.१०)
अर्थात् सूर्य ही सोमो राजा है।
''सर्वं हि सोमः'' (श.५.५.४.११)
अर्थात् सभी पदार्थ सोम रूप हैं।
उधर महर्षि दयानन्द सरस्वती **'सोमस्य'** पद का अर्थ करते हुए लिखते हैं-
''उत्पन्नस्य जगतः'' (ऋ.१.४६.१२)

इन प्रमाणों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं। हम समझते हैं कि विज्ञ पाठकों के लिए ये ही प्रमाण पर्याप्त हैं। इनसे स्पष्ट होता है कि इस ग्रन्थ में सोम का तात्पर्य सूर्यादि तारे तथा उनको उत्पन्न करने वाले विभिन्न सूक्ष्म कण, तरंग आदि पदार्थ है। यहाँ **'सोम'** से सोमलता आदि औषधियों का ग्रहण नहीं है, जिसे कर्मकाण्डी विद्वान् अपने सोमयाग में प्रयोग करते हैं। ऋग्वेद, जिसमें सृष्टि के सभी पदार्थों का विवेचन=ज्ञान है, उसके व्याख्यान ग्रन्थ इस **ऐतरेय ब्राह्मण** में सृष्टि के पदार्थों का ज्ञान ही होना चाहिये, न कि केवल कर्मकाण्ड वाले सोमयाग वाला वर्णन। सम्भव है, **जब सोम यागादि परम्परा प्रारम्भ हुई, तब ऋषियों ने उस सृष्टि के अन्तर्गत नित्य होने वाले सूक्ष्म कणों के याग से सूर्यादि लोकों के निर्माण की प्रक्रिया को सरलता से समझाने हेतु इस ग्रन्थ से सोमयाग की कल्पना की हो।** उनका उद्देश्य था, सृष्टि के सूक्ष्म रहस्यों को प्रतीकात्मक प्रक्रियाओं के द्वारा समझाना परन्तु वह सृष्टि ज्ञान तो पीछे छूट गया, मात्र प्रतीक रूप सोम याग की प्रक्रियाएं रह गयी, वे भी पशुबलि आदि वीभत्स पापों के समावेश से हिंसादि पापों की संवाहिका मात्र बनकर रह गयीं।

जब **ऐतरेय ब्राह्मण** में ऐसे सोमयाग, विशेषकर तारों के निर्माण तक की सृष्टि प्रक्रिया का वर्णन है, तब अग्नि व विष्णु का क्या अर्थ ग्रहण करना चाहिये, सर्वप्रथम यही विचार करणीय है। यहाँ **अग्नि** वह पदार्थ है, जो कमनीय दीप्ति से युक्त होता है। इसी कारण हमने यहाँ अग्नि का अर्थ विद्युत् ग्रहण

किया है। सृष्टि उत्पत्ति में जब तक विद्युत् की उत्पत्ति नहीं होती, तब तक सृष्टि प्रक्रिया प्रारम्भ ही नहीं हो सकती। वर्तमान विज्ञान यहीं से अपनी प्रक्रिया प्रारम्भ करता वा कर सकता है। उधर **'विष्णु'** शब्द के विषय में हम कुछ आर्ष प्रमाणों को उद्धृत करते हैं-

"स यः स विष्णुर्यज्ञः सः। स यः स यज्ञोऽसौ स आदित्यः" (श.१४.१.१.६)

कदाचित् इसी से प्रेरित होकर **महर्षि दयानन्द** अपने **ऋग्वेद भाष्य १.१५६.४** में **'विष्णुः'** पद का अर्थ **'स्वदीप्त्या व्यापकः सूर्यः'** करते हैं। हमने इसी कारण अपने व्याख्यान में अग्नि से विद्युत् एवं विष्णु से तारे का ग्रहण किया है। जब अग्नि व विष्णु का अर्थ विद्युत् व तारा ग्रहण किया, तब न तो **'पुरोडाश'** का अर्थ 'यज्ञ में काम आने वाला पदार्थ विशेष' हो सकता और न 'कपाल' का अर्थ 'उस पदार्थ को रखने का पात्र विशेष' ही हो सकता है। इस कारण यहाँ ग्रन्थकार का इन पदार्थों की ओर कोई संकेत नहीं है। बल्कि यहाँ **'कपाल'** से प्राण रश्मियां तथा **'पुरोडाश'** से सृष्टि के पदार्थ की वह अवस्था, जो **'कः'** अर्थात् विविध प्राण रश्मियों से परिपूर्ण होती हुई दीप्तिमती हो चुकी होती है। इसे समझने हेतु मेरा व्याख्यान ध्यान से पढ़ें। हमारे व्याख्यान में इस प्रश्न का समुचित उत्तर विद्यमान है कि क्यों अग्नि व विष्णु दोनों को ही सर्वदेवयुक्त कहा गया है। इसके पुनः पिष्टपेषण की आवश्यकता नहीं है। पाठक हमारे व्याख्यान से यह भी जान सकेंगे कि विद्युत् व तारे रूप क्रमशः अग्नि व विष्णु को सृष्टि यज्ञ के दो किनारे का रूप क्यों बताया है। प्राण रश्मियों रूपी पुरोडाश एवं कपाल का विभाग भी यहीं समझ में आ सकता है। हमारा विभाग किसी परम्परा पर निर्भर नहीं है, बल्कि हमारा व्याख्यान स्वयं उस परम्परा का स्रोत है, जिसे याज्ञिक प्रक्रिया से सृष्टि के रहस्यों को जानने व जनाने का प्रयत्न करने वाले ऋषियों ने किया है। विष्णु के तीन पद का रहस्य भी यहीं समझ आ सकता है। इस प्रक्रिया का घृत व चरु के साथ क्या संगति है, यह भी यहीं समझ आता है। विद्युत्, प्राण, तारों की चर्चा में घी व चावल आदि की कहीं संगति नहीं लगती परन्तु हमने व्याख्यान में **'घृतम्'** व **'चरुम्'** का जो अर्थ ग्रहण किया है, उसी से पूर्व कण्डिकाओं के व्याख्यान की संगति लगती है। विद्वानों के समक्ष सबसे बड़ी समस्या यह आती है कि वे किसी पद के सम्मुख आते ही अपने समक्ष उपस्थित रूढ़ अर्थ का ग्रहण करने लग जाते हैं। उन्हें **'घृतम्'** पद को पढ़ते ही घी नामक पदार्थ का विचार आता है, **'चरुम्'** पद से चावल के भात का ही विचार आता है। तब सोमयाग से सोमलता व कर्मकाण्ड विशेष का ही विचार करेंगे। उन्हें विशाल सृष्टि, नाना लोक-लोकान्तर, सूक्ष्मातिसूक्ष्म कण वा तरंगों का विचार भी कैसे आ सकेगा? रूढ़ार्थ के ग्रहण करने पर भले ही सम्पूर्ण ग्रन्थ असंगत, अव्यवस्थित, विद्या-बुद्धि विरुद्ध सिद्ध होवे, इसकी उन्हें कोई चिन्ता नहीं है। इसी अन्ध परम्परा ने सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय का विद्रूप चेहरा संसार के समक्ष प्रस्तुत किया है।

हमने ऊपर **'घृतम्'** व **'चरुम्'** पदों की चर्चा की है। सायण के घी व भात को जलाने से सायण को ही पशु वा पुत्रादि मिले वा नहीं, परन्तु हमारे **घृत** व **चरु** नामक पदार्थ के मिथुन से यजमान अर्थात् संगमनीय कणों में नाना बलादि गुणों की प्रतिष्ठा अवश्य होगी, इसमें कोई विवेकी पाठक संदेह नहीं कर सकता।

सायण को **दर्श** का अर्थ अमावस्या का दिन तथा **पूर्णमास** का अर्थ पूर्णमासी का दिन ही सूझा, उसकी पूर्व व पर के साथ संगति लगे वा नहीं, यह सायण को विचार नहीं करना। हमने वेद के शाखा ग्रन्थों व ब्राह्मण ग्रन्थों में इन दोनों ही पदों से युक्त अनेक प्रमाण उद्धृत किये हैं और उनसे इन पदों के अनेक अर्थ प्रकट होते हैं। हमें उनमें से किस-किसका ग्रहण करना है, जो पूर्वापर संगत हो सके, यह हमारी मेधा को ही विचारना है। पाठक हमारे व्याख्यान में इन पदों की संगति स्वयं विचार कर सकते हैं।

सामिधेनी ऋचाओं को **सामिधेनी** क्यों कहा जाता है? यह भी हमने दर्शाया है। इसके समर्थन में हमने आर्ष प्रमाण भी दिये हैं, न कि अपने मनमानेपन से मान लिया है। जिन ऋचाओं के पाठ का विधान किसी कर्मकाण्ड विशेष में सायणादि विद्वान् मानते हैं, उन ऋचाओं के पाठ के विधान की वैधानिकता सायणादि विद्वानों के भाष्य से सिद्ध नहीं होती और न हो सकती। हमने इसकी वैधानिकता, उनका सामिधेनीपन आदि को सिद्ध किया है। जिन-२ ऋचाओं के पाठ का विधान जिस-२ कर्मकाण्ड में किया जाता है, वस्तुतः उस-२ कर्मकाण्ड के विराड्रूप सृष्टियज्ञ में वे-२ ऋचाएं अन्तरिक्ष में निरन्तर

उत्पन्न होती रहती हैं। इस कारण हमने इन **सामिधेनी** ऋचाओं का सृष्टि यज्ञ में उत्पन्न होना सिद्ध किया है। कौन-२ सी ऋचा किस-२ ऋषि प्राण रश्मि से उत्पन्न होती है? उसके छन्द, देवता तथा नाना पदों का इस सृष्टि के निर्माण में क्या भूमिका होती है, यह भी हमने संक्षेप में अपने व्याख्यान में यह बात समझा दी है।

सायण भाष्य के द्वारा प्रजापति का सप्तदश सिद्ध होना हास्यास्पद है, जबकि हमारे व्याख्यान में इसकी पूर्ण स्पष्टता की गई है।

इस ग्रन्थ में जहाँ-२ **'वेद'** यह क्रियापद आता है, वहाँ सायणादि भाष्यकार किसी कर्म विशेष के फल विशेष से उस यज्ञ कर्म विशेष को जोड़ देते हैं, यही कारण है कि वैदिक कर्मकाण्डों में अदृष्ट फल की कामना ही एकमात्र उद्देश्य के रूप में प्रकट होती है, वही यहाँ भी है। सारी भ्रान्ति **'वेद'** क्रियावाची पद का होना है। इसी कारण इस ग्रन्थ में प्रायः सर्वत्र हमने **'वेद'** पद **'विद् ज्ञाने'** धातु से निष्पन्न न मानकर **'विद् लाभे'** धातु से निष्पन्न माना है। इससे यह आशय प्रकट होता है कि जिस स्थिति वा क्रियाओं की चर्चा चल रही होती है, उसकी अनुकूल वा समुचित अवस्था प्राप्त होने पर सृष्टि यज्ञ में परिणाम विशेष वा उत्पन्न पदार्थ विशेष प्राप्त होता है। इससे सर्ग प्रक्रिया सुष्ठुरीत्या स्पष्ट होती चली जाती है, अन्यथा कई असम्भव मिथ्या फलों के मिलने की हास्यास्पद चर्चाएं हमें लज्जित ही करती हैं।

मेरी चिन्तन प्रक्रिया

कुछ विद्वान् मुझे पूछते रहे हैं कि मुझे ऐसे अर्थ कैसे सूझते हैं? इस कारण मैं अपनी चिन्तन प्रक्रिया को संक्षेप में लिखने का प्रयास कर रहा हूँ-

सर्वप्रथम मैं परमगुरु परमात्मा को अतीव विनम्रता से स्मरण करके ग्रन्थ एवं समूचे ब्रह्माण्ड पर विचार करके इन दोनों को ही समझने की शक्ति देने की प्रार्थना करता हूँ। इसके पश्चात् अनेक प्रत्यक्ष व परोक्ष दृष्टिकोणों से उस ग्रन्थ, जिसे मैं समझना चाह रहा हूँ, के लेखक की महिमा का अनुभव करते हुए ग्रन्थ के स्तर को विचार करके, उसी स्तर से ग्रन्थ के प्रत्येक पद को जानने का उद्देश्य अपने सम्मुख रखता हूँ। इस ग्रन्थ को समझने हेतु एक कण्डिका को ध्यान से पढ़कर उसके प्रत्येक विचारणीय पद के विषय में इसी ग्रन्थ के अतिरिक्त अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों, निरुक्तादि आर्ष ग्रन्थों, महर्षि दयानन्द के वेदभाष्यों में उस पद के निर्वचनों वा व्युत्पत्तियों को मूलग्रन्थों किंवा विभिन्न कोशों के माध्यम से देखता हूँ। ऐसा करते समय कण्डिका के रहस्य का एक चित्र ब्रह्माण्ड में हो रही किसी सम्बन्धित प्रक्रिया के रेखाचित्र के रूप में मेरे मस्तिष्क में शनैः-२ उभरने लगता है। प्रारम्भ में यह चित्र व उसका चिन्तन धुंधला होता है और धीरे-२ स्पष्ट, स्पष्टतर होने लगता है। यह कैसे बनता है, यह मैं स्वयं नहीं जानता, बस यही मान सकता हूँ कि यह ईश्वरीय वरदान है, जिसके बिना ऐसा चित्र उभरना सम्भव नहीं है। किसी पद के पचासों व शतशः सन्दर्भों में से कुछ विशेष उपयोगी सन्दर्भों में से उस पद से व्यक्त हो सकने वाले पदार्थ का चित्र-चिन्तन अन्त में स्पष्टतम होकर पूर्ण संगति को प्राप्त कर लेता है और उसी को मैं अपने व्याख्यान का रूप दे देता हूँ। इस प्रक्रिया में आधुनिक विज्ञान का भी संस्कार साथ-२ बना रहता है। इस प्रक्रिया में कभी-२ ऐसा भी हुआ है कि किसी पद का किसी ग्रन्थ में कोई सन्दर्भ, निर्वचन आदि प्राप्त नहीं हुआ, पुनरपि उस कण्डिका व उससे सम्भावित सम्बन्ध रखने वाली ब्रह्माण्ड की किसी प्रक्रिया का अति धुंधला चित्र मस्तिष्क में उभरा परन्तु वह इतना धुंधला, अस्पष्ट व अव्यवस्थित होता है कि मैं उससे कण्डिका का पूर्ण आशय समझने में असमर्थ रहा। ऐसी स्थिति में मुझे मस्तिष्क पर बहुत बल देना पड़ा, सिरदर्द भी कभी-२ हुआ परन्तु सफलता नहीं मिली। तब मैं स्वयं को एकान्त कक्ष में इस प्रतिज्ञा के साथ बन्द कर लेता कि इस पद का अर्थ जानकर ही बाहर आऊंगा। फिर एकान्त में अपने परम मार्गदर्शक परम पिता परमात्मा से अति गम्भीर होकर स्तुति-प्रार्थना-उपासना पूर्वक विनय करता, बल-बुद्धि मांगता, तदुपरान्त पूर्व में बने अति धुंधले व अस्पष्ट चित्र व चिन्तन में ईश्वर चिन्तन के साथ-२ प्रविष्ट होने का बार-२ प्रयत्न करता। उस प्रयत्न में मस्तिष्क पर बहुत भार अनुभव होता परन्तु साथ में ईश्वर चिन्तन होने से उसे मैं सहन करने में अपने को समर्थ पाता था किंवा उससे मैं सिरदर्द आदि क्लेश का अनुभव नहीं करता। ऐसा करते-२ वह अतिधुंधला चित्र-चिन्तन धीरे-२ स्पष्ट-स्पष्टतर और अन्त में ऐसा स्पष्टतम होता कि मुझे इतना

आनन्द का अनुभव होता, मानो मुझे कोई अपार धन मिल गया वा ब्रह्म की ही अनुभूति हो गयी हो। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में प्रायः २-४ घण्टा का समय लगता था। एक बार अपवाद के अतिरिक्त मेरे प्रभु ने मुझे कभी निराश नहीं किया। अपवाद यह कि एक बार में असमय हठात् बैठ गया, जबकि उस अवधि में नित्यकर्म का भी समय था।

संक्षेप में यह मैंने अपनी प्रक्रिया को शब्दों में अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। वस्तुतः इस प्रकार की प्रक्रिया को शब्दों में अभिव्यक्त करना पूर्ण सम्भव नहीं हो पाता है, पुनरपि पाठकों के ज्ञानार्थ लिखने का प्रयास किया है। पाठक इसका जो भी अर्थ निकालें, वे स्वतंत्र हैं।

अब हम इन पर अपना व्याख्यान प्रस्तुत करते हैं। हमने व्याख्यान कैसे किया, यह समझाने हेतु हम केवल प्रथम खण्ड को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। खण्ड १.१ पर मेरा व्याख्यान इस प्रकार है-

खण्ड १.१ पर मेरा व्याख्यान

१. अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः।।

{देवः = दिव्यो वायुः (तु.म.द.य.भा.२२.१५), मनो देवः (गो.पू.२.११), प्राणा देवाः (श.६.३.२.१५)। अग्निः = व्यापको विद्युत् (तु.म.द.ऋ.भा.१.१२.६)। विष्णुः = स्वदीप्त्या व्यापकः सूर्यः (म.द.ऋ.भा.१.१५६.४), स यः स विष्णुर्यज्ञः सः। स यः स यज्ञोऽसौ स आदित्यः (श.१४.१.१.६)}

व्याख्यानम्- समस्त अवकाशरूप आकाश में सर्गोत्पत्ति के समय सर्वप्रथम दिव्य वायु उत्पन्न होता है। **महर्षि दयानन्द सरस्वती यजुर्वेदभाष्य (१७.३२)** में विभिन्न प्राणों के जन्म का क्रम बताते हैं कि प्रथम जन्म सूत्रात्मा वायु, पुनः धनञ्जय, पुनः प्राणापानव्यानादि प्राण परन्तु इन सबसे पूर्व दिव्य वायु की उत्पत्ति होती है। हमारे मत में दिव्य वायु का तात्पर्य सब प्राणों का मूल कारण अहंकार तत्त्व है, जिसका ही अन्य रूप मन अथवा महत् अर्थात् बुद्धि तत्त्व है। इन सबके विषय में विशेष परिज्ञानार्थ पूर्वपीठिका को देखना चाहिए। जब उस अहंकार वा महत् तत्त्व से समस्त अवकाश पूर्णतः व्याप्त हो जाता है। तब उसके अन्दर प्राथमिक प्राण, सूत्रात्मा, धनञ्जय, पंच प्राणादि भी उत्पन्न हो जाते हैं। उन प्राणों को भी देव कहा जाता है। यहाँ 'देव' शब्द का अर्थ उन समस्त पदार्थों से भी है, जिनमें आकर्षणादि बल, प्रकाशादि गुण उत्पन्न हो जाते हैं। इन ऐसे सभी देव पदार्थों में अग्नि अर्थात् विद्युत् वह पदार्थ है, जो उस अहंकाररूप दिव्य वायु से सर्वप्रथम उत्पन्न होता है। इसके उत्पन्न होते ही सर्ग प्रक्रिया तीव्रतर होने लगती है। इस प्रक्रिया में विष्णु अर्थात् तारे का निर्माण सबसे अन्त में होता है। यहाँ तारे के निर्माण का अर्थ है कि किसी भी आग्नेय पिण्ड वा मेघ में सतत ऊर्जा उत्पत्ति हेतु वर्तमान विज्ञान की दृष्टि में नाभिकीय संलयन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाए। उस संलयन क्रिया से ही अनेक प्रकाशमान वा प्रकाशित होने योग्य पदार्थों के साथ-२ अन्य अनेक तत्त्वों का निर्माण होता है। इस ग्रन्थ का विषय सूर्यादि तारे के निर्माण तक की सृष्टि प्रक्रिया को समझाना है। विद्युत् वा विद्युत् चुम्बकीय तरंगें किंवा ऊर्जा की उत्पत्ति तथा सूर्य आदि तारों की उत्पत्ति के मध्य ब्रह्माण्डस्थ सभी सूक्ष्म व स्थूल पिण्डों अर्थात् पृथिव्यादि लोकों का निर्माण होता रहता है। इसी कारण अग्नि व विष्णु देवों को क्रमशः प्रथम व अन्तिम बतलाकर अन्य सभी देव पदार्थों को इन दोनों के मध्य में उत्पन्न होने वाला कहा है। ध्यातव्य है कि इससे पूर्व प्राणादि में अतीव शक्ति विद्यमान होती है परन्तु उन्हें वर्तमान विज्ञान की भाषा में ऊर्जा कहना उपयुक्त नहीं है। इसे पूर्वपीठिका में विस्तार से जानें।

यहाँ 'अवम' तथा 'परम' शब्दों का अर्थ क्रमशः सबसे छोटा व सबसे बड़ा भी ग्राह्य है।

तब ऋषि कहना चाहते हैं कि आद्य विद्युत् जब उत्पन्न होती है अथवा सर्ग की उपर्युक्त अवस्था में जब ऊर्जा वा विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की उत्पत्ति होती है, उस समय उनकी दीप्ति, शक्ति सब कुछ

चित्र १.१ देव पदार्थ के दो रूप

सबसे न्यून स्तर की होती है। इससे प्रारम्भ होकर जब तारे का निर्माण होता है, तब उसके केन्द्रीय भाग की ऊर्जा, शक्ति, दीप्ति सब कुछ सर्वाधिक उच्च स्तर की होती है। इस कारण भी अग्नि को अवम एवं विष्णु को परम देवता कहा है। अन्य जितनी भी दीप्ति, शक्ति, ऊर्जा आदि, जो भी पदार्थ इस ब्रह्माण्ड में उत्पन्न होते हैं, वे इन दोनों स्तरों के मध्य ही होते हैं। इसी विषय में **महर्षि तित्तिर** का भी कथन है-

अग्निरवमो देवतानां विष्णुः परमः (तै.सं.५.५.१.४)

उधर एक अन्य ऋषि का कथन है-

अग्निर्वै सर्वमाद्यम् (तां.२५.६.३)

महर्षि यास्क ने 'अग्निः' पद का निर्वचन करते हुए इसी मत को व्यक्त किया है-

अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति, अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते (नि.७.१४)

वैज्ञानिक भाष्यसार- सृष्टि उत्पत्ति प्रक्रिया में जब सर्वप्रथम ऊर्जा की उत्पत्ति होती है, तब सबसे प्रथम विद्युत् रूप में तथा सूक्ष्मतम स्तर की अर्थात् न्यूनतम आवृत्ति की विद्युत् चुम्बकीय तरंगें उत्पन्न होती हैं। इस प्रक्रिया में सर्वाधिक शक्तिशाली ऊर्जा तारों के केन्द्रीय भाग में उत्पन्न होती है तथा जो सबसे अन्त में उत्पन्न होती है। पृथिव्यादि लोकों के निर्माण के पश्चात् ही तारों का सम्पूर्ण निर्माण अर्थात् नाभिकीय संलयन प्रक्रिया से युक्त लोकों का निर्माण होता है।

यहाँ **'विष्णु'** शब्द से ऐसे तारे का ग्रहण है, जो नाभिकीय संलयन के साथ-२ अपनी प्रबल आकर्षण शक्ति से अनेक लोकों को बांधने वाला हो। अपना सूर्य अथवा ब्रह्माण्ड का कोई भी तारा, आकाशगंगाओं के केन्द्र आदि सभी **'विष्णु'** शब्द से ही ग्रहण किए जाते हैं। इनकी उत्पत्ति पृथिव्यादि के समान ग्रह आदि लोकों की उत्पत्ति के पश्चात् होती है अथवा इनका विष्णुरूप, इन पृथिव्यादि लोकों के उत्पन्न होने के पश्चात् प्रकट हो पाता है। यह सिद्धान्त वर्तमान विज्ञान की प्रचलित मान्यता के विपरीत है।

उससे पूर्व ऊर्जा अपेक्षाकृत निम्न स्तर अर्थात् कम आवृत्ति की उत्पन्न होती है। यहाँ वैदिक विज्ञान की दृष्टि वर्तमान में बहु प्रचारित महाविस्फोट के सिद्धान्त, जिसमें उच्चतम ऊर्जा से निम्नतर ऊर्जा का उत्पन्न होना स्वीकार किया जाता है, के सर्वथा विपरीत सिद्ध होती है। हम वर्तमान सृष्टि विज्ञान की तार्किक समीक्षा अपनी पूर्वपीठिका में कर ही चुके हैं।।

२. आग्नावैष्णवं पुरोळाशं निर्वपन्ति दीक्षणीयमेकादशकपालम्।।

{पुरोडाशः = य एभ्यो यज्ञं प्रारोचयत्तस्मात् पुरोदाशः, पुरोदाशो ह वै नामैतद् यत् पुरोडाश इति (श.१.६.२.५), अन्नं वै पुरोडाशः (तै.सं.७.१.६.१), यज्ञे हुतः पदार्थः (पुरोडाशम् = यज्ञे हुतं पदार्थम् - म.द.य.भा.२८.४६), यजमानो वै पुरोडाशः (तै.सं.१.५.२.३)। दीक्षा = नियमधारणाऽऽरम्भः (तु.म.द.य.भा.८.५४), प्राणा दीक्षा (श.१३.१.७.२), वाग् दीक्षा। तया प्राणो दीक्षया दीक्षितः (तै.ब्रा.३.७.७.७), दीक्षा पत्नी (तै.आ.३.६.१), तपो दीक्षा (श.३.४.३.२)। कपालः = कं पालयतीति केन पालयितो वा कपालः (प्राणो वाव कः - जै.उ.४.११.२.४; कः = कमनो वा क्रमणो वा - नि.१०.२२; कम् = अन्नम् - नि.६.३५)}

व्याख्यानम्- उपर्युक्त विद्युदग्नि एवं तारे को शक्तिमान् एवं ऊर्जावान् बनाए रखने के लिए किंवा उन्हें अपने कार्य व शक्तियों के नियमन करने के लिए आरम्भ में ग्यारह प्रकार के प्राणों (तरंगों) से युक्त कपाल संज्ञक पुरोडाश अर्थात् ऐसा पदार्थ, जो विद्युत् चुम्बकीय तरंगों तथा तारों का अन्नरूप भक्ष्य है, का सतत संचरण होता रहता है। यहाँ **'पुरोडाश'** उस पदार्थ का नाम है, जो निरन्तर अनेक प्रकार से संयुक्त होकर अनेक प्रक्रियाओं से गुजरता हुआ सृष्टियज्ञ को प्रकृष्टरूपेण चारों ओर से चमकाता हुआ सक्रिय रखता है। उपर्युक्त **तैत्तिरीय संहिता** के प्रमाण से **'पुरोडाश'** अन्न को कहा है। **'अन्न'** का तात्पर्य है, जिसका भक्षण किया जाता है। **तैत्तिरीय संहिता २.५.७.३** में वाज अर्थात् बल को अन्न कहा है। इससे स्पष्ट होता है कि ग्यारह प्रकार के प्राणों के द्वारा ये विद्युत् चुम्बकीय तरंगें तथा तारे अपने स्वरूप के निर्माण तथा उसे बनाए रखने हेतु सक्षम हो पाते हैं।

इन ग्यारह प्राणों को **'कम्'** कहने से तात्पर्य है कि ये **'कमन'** व **'क्रमण'** अर्थात् आकर्षण आदि बल तथा गति से युक्त होते हैं। यहां ११ प्राणों से तात्पर्य सूत्रात्मा वायु के साथ प्राणापान आदि १० प्राणों का ग्रहण किया जा सकता है। परन्तु वस्तुतः यहाँ उन विभिन्न प्राण रश्मियों, जिनका परिगणन हमने **१.१.६** में अग्नि व विष्णु के मध्य इनके विभाग वाले प्रकरण में किया है, का ग्रहण करना ही अधिक उपयुक्त है। इन सभी के स्वरूप को जानने हेतु पूर्वपीठिका पढ़ें। इन ग्यारह प्रकार की रश्मियों के बिना सर्गयज्ञ सम्पन्न नहीं हो सकता है। इस विषय में अन्य ऋषियों का भी कथन है-

"आग्नावैष्णव एकादशकपालः" (मै.२.६.४; ३.१.१०; ४.३.१)
"आग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपति" (तै.सं.१.८.८.१; ५.५.१.४)

वैज्ञानिक भाष्यसार- सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त विभिन्न विद्युत् चुम्बकीय तरंगों में ऊर्जा का स्थायित्व कैसे बना रहता है? तारों के भीतर होने वाली संलयन क्रिया हेतु तारों को पर्याप्त ताप व बल कौन प्रदान करता है? अथवा इन विद्युत् चुम्बकीय तरंगों का निर्माण किस पदार्थ से होता है तथा तारों का निर्माण किस-२ तत्त्व से हो पाता है? इसका उत्तर यहाँ दिया गया है कि उत्पत्ति में कुल ग्यारह प्रकार की प्राण रश्मियों का योगदान होता है। यदि ये रश्मियां न हों, तो विद्युत् चुम्बकीय तरंगों तथा तारों के वास्तविक स्वरूप का विनाश हो जाएगा। इन ग्यारह रश्मियों की आहुति सतत विद्युत् चुम्बकीय तरंगों में डाली जाती रहती है। इन ग्यारह तत्त्वों का अग्नि व विष्णु अर्थात् विद्युत् चुम्बकीय तरंगों तथा सूर्यादि तारों के मध्य विभाग आगे समझाएंगे।।

३. सर्वाभ्य एवैनं तद्देवताभ्योऽनन्तरायं निर्वपन्ति।।

व्याख्यानम्- जिस प्रकार उपर्युक्तानुसार विद्युत् चुम्बकीय तरंगों एवं विभिन्न तारों के अन्दर पूर्वोक्त विभिन्न प्रकार की प्राणरूप रश्मियों का प्रकीर्णन वा संचरण किया जाता है, उसी प्रकार सृष्टि के समस्त प्रकाशमान, दृश्यमान अथवा आकर्षणादि गुणों से युक्त विभिन्न तरंगों अथवा कणों में भी उसी प्रकार प्रकीर्णन वा संचरण किया जाता है। यहाँ **"निर्वपन्ति"** क्रियापद इस बात का सूचक है कि विभिन्न देव पदार्थों के बाहर और अन्दर विभिन्न प्रकार की प्राण रश्मियों का मानो बीजवपन सतत होता रहता है। ये प्राक् वर्णित प्राण रश्मियाँ सारे ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्याप्त होती हैं। इनको वर्तमान विज्ञान की भाषा में

ऐसी किसी ऊर्जा, जिसको मानव अब तक प्रयोग और परीक्षणों के द्वारा जान चुका है, के रूप में नहीं माना जा सकता। इन प्राण रश्मियों से रहित किसी भी दृश्यमान या सक्रिय किसी भी पदार्थ का होना इस ब्रह्माण्ड में सम्भव नहीं है, जब तक यह प्राण संचरण होता रहेगा, तब तक सृष्टिचक्र चलता रहेगा और जब यह संचरण बंद हो जाएगा, तब यह सृष्टिचक्र भी बंद हो जाएगा।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस ब्रह्माण्ड में विभिन्न प्रकार के जो प्राण तत्त्व व्याप्त हैं, वे सृष्टि के समस्त पदार्थों की अक्षय ऊर्जा के स्रोत हैं। **इन्हीं के कारण ब्रह्माण्ड में ऊर्जा संरक्षण का सिद्धान्त काम करता है। एक ऊर्जा के दूसरी ऊर्जा में रूपान्तरित होने में इन्हीं प्राणों की सक्रिय भूमिका रहती है। इन प्राणों में भी सूक्ष्म से सूक्ष्मतर प्राण, स्थूल से स्थूलतर प्राण ही हर प्रकार की क्रिया के लिए उत्तरदायी होता है, न केवल ऊर्जा संरक्षण अपितु वर्त्तमान विज्ञान द्वारा परिभाषित द्रव्य ऊर्जा विनिमय में भी इन्हीं प्राण रश्मियों की भूमिका होती है।** इनके बिना सृष्टि के अन्दर किसी भी प्रकार की गतिविधि का होना संभव नहीं है। **इस ब्रह्माण्ड में जहाँ कहीं भी ऊर्जा संरक्षण का सिद्धान्त भंग होता हुआ प्रतीत होता है, वहाँ ऊर्जा प्राण रश्मियों में ही परिवर्तित होती अथवा उन रश्मियों से प्रकट होती हुई समझनी चाहिए। इसी प्रकार द्रव्य और ऊर्जा दोनों का संयुक्त संरक्षण यदि कहीं भंग होता हुआ प्रतीत होवे, तब भी इन्हीं प्राण रश्मियों की भूमिका माननी चाहिए** किंतु शून्य (vacuum), जिसे nothing भी कह सकते हैं, से किसी भी प्रकार के द्रव्य अथवा ऊर्जा की उत्पत्ति नहीं हो सकती।।

४. अग्निर्वै सर्वा देवता विष्णुः सर्वा देवताः।।

{अग्निर्वै सर्वेषां देवानामात्मा (श.१४.३.२.५), अग्निर्वै देवतानां मुखम् (श.३.९.१.६), अग्निर्वै देवयोनिः (ऐ.१.२२), अग्निरु देवानां प्राणः (श.१०.१.४.१२), यज्ञो वै विष्णुः (श. १.९.३.९)।}

व्याख्यानम्- इस सृष्टि में जितने भी दृश्यमान एवं आकर्षणादि बलों से सम्पन्न कण वा तरंगें विद्यमान हैं, उन सब के भीतर विद्युत् रूप अग्नि अवश्य विद्यमान होती है। यह विद्युत् ही उन सब पदार्थों को गतिशील एवं प्राणवान् बनाये रखती है। इस विद्युत् से ही सभी पदार्थ उत्पन्न होते हैं और इसके कारण ही विभिन्न प्रकार के कण एक दूसरे का भक्षण करते हैं। यह विद्युदग्नि ही सभी पदार्थों का आत्मा है अर्थात् यह विद्युदग्नि सभी पदार्थों में सतत गतिमान अथवा व्याप्त रहता है। इसी कारण महर्षि ने कहा **"अग्निर्वै सर्वा देवताः"** जिसका आशय है कि विद्युत् में सारे देवता विद्यमान हैं किंवा सारे पदार्थ विद्युन्मय हो रहे हैं। उधर सबको अपने आकर्षण और दीप्ति से व्याप्त करने वाला तारारूप विष्णु विशेषकर उसका केन्द्रीय भाग सभी देव पदार्थों का महान् संगम स्थान है। इन तारों के अन्दर ही विभिन्न प्रकार के पदार्थ अणु एवं विभिन्न प्रकार की तरंगें उत्पन्न होती रहती हैं। इसी कारण विष्णु को सभी देव पदार्थों का उत्पत्ति और निवास स्थान बताया है। यहां देवता पद से विभिन्न प्राण रश्मियों का भी ग्रहण करना चाहिए। इस कारण यहाँ ऋषि का कथन यह भी है कि अग्नि के परमाणुओं एवं विद्युन्मय कणों में विभिन्न प्रकार की प्राण व छन्दादि रश्मियां विद्यमान होती हैं और इसी प्रकार से आदित्य लोकों में भी सभी प्रकार की प्राण व छन्दादि रश्मियां विद्यमान होती हैं। यह दोनों में समानता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस ब्रह्माण्ड में विभिन्न प्रकार के प्रकाशमान, दृश्यमान कण अथवा तरंग आदि पदार्थ विद्यमान हैं। उन सबमें विद्युत् चुम्बकीय तरंगें अथवा चुम्बकीय गुण किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान होते हैं। इस कारण मानो सम्पूर्ण सृष्टि विद्युन्मय हो रही है। इन सबकी चरमावस्था तारों के केन्द्रीय भाग में होती है। उस भाग में विद्युत् और ऊष्मा का ऐसा बड़ा भण्डार होता है, जिसमें संसार के अनेक पदार्थ उत्पन्न होते रहते हैं एवं अनेक पदार्थ तरंग वा कण के रूप में सारे ब्रह्माण्ड में फैलते रहते हैं। विभिन्न कणों एवं quantas के साथ-२ तारों में भी सभी प्रकार की प्राण व छन्द

रश्मियां विद्यमान होती हैं। इनसे ही उनकी उत्पत्ति और संचालन आदि कर्म भी संपन्न होते हैं, यहां ऐसा भी समझना चाहिए।।

५. एते वै यज्ञस्यान्त्ये तन्वौ यदग्निश्च विष्णुश्च तद्यदाग्नावैष्णवं पुरोळाशं निर्वपन्त्यत एव तद्देवानृध्नुवन्ति।।

{ऋध्नोति परिचरणकर्मा (निघं.३.५)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त अग्नि एवं विष्णु इस सृष्टियज्ञ के दोनों किनारों पर विद्यमान विस्तृत शरीर के समान हैं, जो दोनों किनारों से इस सृष्टि रचना को विस्तार प्रदान करते रहते हैं। विद्युत् पहला किनारा है और तारा अन्तिम किनारा है। वह विद्युत् प्रथम किनारा होते हुए भी अन्तिम किनारे तारे के निर्माण तक एवं अन्यत्र भी सृष्टियज्ञ को सतत विस्तृत करती रहती है। इसी प्रकार तारों के अन्दर होने वाली नाभिकीय संलयन क्रिया अनेकों पदार्थों का निर्माण करके सृष्टि को विस्तृत करती है एवं इससे उत्पन्न प्रकाश ऊर्जा आदि विकिरण भी सारे ब्रह्माण्ड में फैलकर विभिन्न कर्मों को विस्तृत कर नये-२ पदार्थों की उत्पत्ति का कारण बनते हैं। उन ऐसे अग्नि और विष्णु अर्थात् विद्युत् चुम्बकीय तरंगें एवं तारे आदि को प्राक्वर्णित प्राणापानादि विभिन्न प्राणों से सम्पृक्त एवं सम्पुष्ट करके देदीप्यमान बनाकर विभिन्न प्रकार के देव कणों अर्थात् दृश्यमान, प्रकाशमान आदि पदार्थों को संवर्धित करते हैं, साथ ही उनकी विभिन्न प्रकार से परिचर्या भी करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि ये प्राणादि पदार्थ विद्युत् आदि पदार्थों को परिपुष्ट बनाकर विभिन्न देव पदार्थों को आवश्यक गति एवं बल प्रदान करते हैं, जिससे वे पदार्थ सृष्टिरूपी सोमयाग का सतत संवर्धन करते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- **सृष्टि के आदि में विद्युत् चुम्बकीय तरंगों अथवा ऊर्जा की उत्पत्ति एवं तारे का निर्माण विशेषकर नाभिकीय संलयन से ऊर्जा की उत्पत्ति होना दो बड़ी घटनाएं हैं,** जो इस सृष्टियज्ञ के दो सिरे के समान हैं। इन सिरों से ही सृष्टि-यज्ञरूपी शरीर का विस्तार होता है और इस विस्तार के लिए पूर्ववर्णित प्राणादि रश्मियों का अनिवार्य योगदान होता है।।

विद्युत चुम्बकीय तरंगें

तारा

चित्र १.२ सृष्टि यज्ञ के दो किनारे

६. तदाहुर्यदेकादशकपालः पुरोळाशो द्वावग्नाविष्णू कैनयोस्तत्र क्लृप्तिः, का विभक्तिरिति।।
अष्टाकपाल आग्नेयः, अष्टाक्षरा वै गायत्री, गायत्रमग्नेश्छन्दः, त्रिकपालो वैष्णवः, त्रिर्हीदं विष्णुर्व्यक्रमत, सैनयोस्तत्र क्लृप्तिः सा विभक्तिः।।

व्याख्यानम्- पूर्व में अग्नि एवं विष्णु अर्थात् विद्युत् और सूर्यादि तारों के बीच जो ग्यारह प्रकार के प्राणों के संचरण की चर्चा की है, उस प्रकरण में प्रश्न करते हैं कि इन ग्यारह प्रकार के प्राणों का विभाजन इन दोनों के बीच में किस प्रकार से किया जाता है? अर्थात् विद्युत् चुम्बकीय तरंगों में कितने और कौन-कौन से प्राणों का संचरण होता है तथा सूर्यादि तारों के भीतर कितने और कौन-२ से प्राणों का संचरण होता है और वे किस प्रकार से इनको सामर्थ्य प्रदान करते हैं?

इसके उत्तर में कहते हैं कि विद्युत् चुम्बकीय तरंगों में आठ प्रकार के प्राणों का संचरण होता है तथा विष्णु अर्थात् तारों के अन्दर तीन प्रकार के प्राण समूहों का संचरण होता हैं। अग्नि अर्थात् विद्युत् वा विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के अन्दर संचरित होने वाले प्राण क्रमशः हैं- बुद्धि वा मन वा अहंकार, सूत्रात्मा वायु, धनञ्जय, प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान। सूर्यादि तारों में संचरित होने वाले प्राण हैं- उपर्युक्त आठों प्राणों का समूह, विभिन्न प्रकार के छन्दरूप प्राणों का समूह, मास एवं ऋतुसंज्ञक प्राणों का समूह। ध्यातव्य है कि सूर्य के अन्दर असंख्य प्रकार के प्राण सक्रिय रहते हैं, जिनको हमने तीन मुख्यसमूहों में वर्गीकृत करने का प्रयास किया है। विद्युत् उत्पत्ति के समय आठ उपर्युक्त एकल प्राण ही मुख्यतः संचरित होते हैं। स्मरण रहे कि वर्त्तमान में विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के साथ गायत्री आदि छन्द भी सम्पृक्त रहते हैं। यहाँ गायत्री छन्द रूप प्राण को आठ अक्षर वाला कहा है, जो प्राजापत्या गायत्री का रूप है। प्राजापत्य अवस्था सृष्टि की वह अवस्था होती है, जिसमें पदार्थ में एक दीप्ति विद्यमान होती है और बन्धन बल उत्पन्न होते हैं और इन दोनों का कारण विद्युत् ही होती है। इस कारण यह आठ अक्षर वाला गायत्री छन्द विद्युत् की प्रथम दिव्य अवस्था से सम्बन्धित होता है, किंवा विद्युत् उत्पत्ति में मन, सूत्रात्मा वायु आदि आठ प्राणों का सहभागी होता है। यह गायत्री छन्दरूप प्राण विद्युत् कणों वा तरंगों को आच्छादित किये रहता है। गायत्री आदि छन्दों के विषय में पूर्वपीठिका में विस्तार से जानें।

चित्र १.३ अग्नि अर्थात् विद्युत् के अन्दर संचरित होने वाले प्राण

अब सूर्यादि तारे के विषय में चर्चा करते हैं कि उपर्युक्त तीन प्रकार के प्राण समूहों के द्वारा कोई भी तारारूप विष्णु विशेष एवं विविध प्रकार से अपने गुरुत्वाकर्षण बल एवं प्रकाशादि विभिन्न रश्मियों के माध्यम से सब लोकों को व्याप्त करता है। इन सूर्यादि तारों से मुख्यतः तीन रश्मियां ही सतत उत्सर्जित होती हैं। इस प्रकार से ग्यारह प्रकार के प्राणों का विभाग एवं उनसे विद्युत् और तारे आदि का समर्थ होना यहाँ दर्शाया गया है।।

चित्र १.४ सूर्यादि तारों में संचरित होने वाले प्राण

वैज्ञानिक भाष्यसार- विभिन्न प्रकार की विद्युत् चुम्बकीय तरंगों में अहंकार, मन वा बुद्धि, सूत्रात्मा वायु, धनंजय, प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान आठ प्राथमिक प्राण सदैव संचरित होते रहते हैं तथा विद्युत् वा विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की अवस्था में आठ अक्षर वाला प्राजापत्या गायत्री छन्द प्राण रूपी तरंगें उनको आच्छादित किए रहती हैं। ये तरंगें इन आठ प्राणों से ही निर्मित होती हैं। इन छन्दों के विषय में विशेष जानकारी पूर्वपीठिका में देखें। इन्हीं आठ प्रकार के प्राणों के कारण विद्युदग्नि आठ गुणों से युक्त होता है, जिसका परिगणन **महर्षि दयानन्द** ने **ऋ.भा.१.१.१** में करते हुए लिखा है कि अग्नि रूप, दाह, वेग, प्रकाश, धारण, छेदन, आकर्षण आदि से युक्त होता है। 'आदि' शब्द से हम प्रतिकर्षण बल का ग्रहण करते हैं। उधर तारा तीन प्रकार के प्राण समूहों द्वारा तीन प्रकार के पदार्थों जैसे गुरुत्वबल रश्मियाँ, विद्युत् चुम्बकीय तरंगें एवं अन्य तरंगों यथा इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन, न्यूट्रिनो आदि का उत्सर्जन करता है।।

७. घृते चरुं निर्वपेत योऽप्रतिष्ठितो मन्येत।। अस्यां वाव स न प्रतितिष्ठति यो न प्रतितिष्ठति।।

{घृतम् = संदीप्तं तेजः (म.द.ऋ.भा.२.३.११), जिघर्ति संचलति दीप्यते वा तत् घृतम् (उ. को.३.८६), (घृ क्षरणदीप्त्योः सं.धा.को.), घृतमन्तरिक्षस्य (रूपम्) (श.७.५.१.३), तेजो वै घृतम् (मै.१.६.८), सर्वदेवत्यं वै घृतम् (कौ.ब्रा.२१.४), एतद्वा अग्नेः प्रियं धाम यद् घृतम् (काठ.२०.७; २१.८), घृतमित्युदकनामसु पठितम् (निघं.१.१२), शुद्धं प्रदीप्तमुदकम् (म.द. य.भा.३४.४०)। चरुः = मेघम् (म.द.ऋ.भा.१.७.६), चरुर्मृच्चयो भवति। चरतेर्वा। समुच्चरन्त्यस्मादापः (नि.६.११), (मृत् = मृद्+क्विप्, मृद् = पीसना, स्पर्श करना, जीत लेना, आगे बढ़ जाना - आप्टेकोश), इमे लोकाश्चरुः पञ्चबिलः (मै.१.४.६), बिलम् = भरणम्, धारणम् (म.द.य.भा.११.५६), बिलं भरं भवति बिभर्तेः (नि.२.१७), चर गतौ भक्षणे च (भ्वा) चरति चर्यतेऽग्निना भक्ष्यत इति चरुः (उ.को.१.७)। प्रति = व्याप्तौ अर्थे (म.द.य.भा.२०.३७), वीप्सायाम् (म.द.ऋ.भा.१.१६६.७)। मन्यते इति कान्तिकर्मा (निघं. २.६), मन्यते इति अर्चतिकर्मा (निघं.३.१४), प्राणो वै प्र (ऐ.२.४०), छन्दांसि वै सर्वे लोकाः (जै.ब्रा.१.३३२), अन्तरिक्षं वै प्र (ऐ.२.४१)}

व्याख्यानम्- जब अन्तरिक्ष अर्थात् अवकाशरूप आकाश में स्थित विभिन्न प्रकार के प्राण तत्त्व प्रकृष्ट रूप से अपने बलों के साथ प्रतिष्ठित नहीं हुए होते हैं अर्थात् उनमें विशेष सक्रियता विद्यमान नहीं होती है, किंवा वे प्रायः शिथिल होते हैं, तब परम चेतन तत्त्व परमात्मा उस सम्पूर्ण पदार्थ में कान्ति अर्थात् आकर्षणादि बल एवं अर्चना अर्थात् प्रदीपक गुण उत्पन्न करता है। स्मरण रहे कि 'अर्च' धातु लौकिक संस्कृत भाषा में पूजा अर्थ में प्रयुक्त होता है, जबकि वेद में इसका अर्थ चमकना और प्रकाशित होना भी होता है। इसके लिए देखें पं. युधिष्ठिर मीमांसक-कृत संस्कृत-धातु-कोष। ऐसा करने के लिए चरु अर्थात् ऐसा पदार्थ, जो सारे ब्रह्माण्ड के पीसे हुए अत्यन्त सूक्ष्म रूप में विद्यमान होता है और जो अत्यन्त विशाल मेघ के समान, जिसमें विभिन्न प्रकार के प्राण व्याप्त होकर गतिशील रहते हैं एवं परस्पर एक-दूसरे का भक्षण भी करते रहते हैं तथा वह मेघरूपी पदार्थ भी स्वयं गतिशील होता है, उस ऐसे पदार्थसमूह में संदीप्त तेजयुक्त सूक्ष्म 'घृम्' रश्मियों से युक्त आकाश तत्त्व का निर्वपन किया जाता है। इसका आशय यह है कि सम्पूर्ण पदार्थसमूह को सूक्ष्म 'घृम्' रश्मियों से युक्त आकाश तत्त्व के साथ संपीडित करके ऐसी तेजोमयी अवस्था उत्पन्न की जाती है, जिसमें सम्पूर्ण पदार्थसमूह रिसता वा बहता हुआ परस्पर मिश्रित होता हुआ बहने लगता है।।

इस उपर्युक्त अवस्था में अर्थात् संदीप्त तेज के उत्पन्न होने की पूर्व अवस्था में सर्वत्र व्याप्त पदार्थ अपनी शक्तियों के साथ वर्तमान नहीं होता अर्थात् उपर्युक्त तेज एवं गति को प्राप्त नहीं करता,

किंवा सम्पूर्ण प्राणादि पदार्थों में विशेष तीक्ष्णतादि गुण प्रतिष्ठित नहीं होते, तब तक उसके अन्दर क्रियाशीलतादि गुणों की प्रतिष्ठा नहीं होती है अर्थात् सृष्टिचक्र आगे नहीं बढ़ पाता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्व में सभी प्राणादि रश्मियां अवकाशरूप आकाश में सर्वत्र व्याप्त होती हैं। वह सम्पूर्ण पदार्थ इस ब्रह्माण्ड को बनाने की ऐसी सामग्री है, जिसमें गति गुण तो विद्यमान होता है, परन्तु बल अपने तीक्ष्ण रूप में विद्यमान नहीं होते हैं। उसके पश्चात् उस पदार्थ में, जिसमें कि आकाश तत्त्व भी विद्यमान होता है, बल, क्रिया आदि उत्पन्न होते हैं। स्मरण रहे कि आकाश तत्त्व एक पदार्थ का नाम है न कि केवल अवकाश मात्र। इसके विषय में विशेषरूप से पूर्वपीठिका में पढ़ें। उस आकाश तत्त्व द्वारा प्राणादि पदार्थों के संपीडन से एक ऐसा तेज उत्पन्न होता है, जिससे सम्पूर्ण अवकाशरूप आकाश में प्रकाश, ऊष्मा आदि की उत्पत्ति होती है और उसके पश्चात् सम्पूर्ण पदार्थ तेज से चमकता हुआ परस्पर एक-दूसरे का भक्षण करता हुआ रिसता, बहता हुआ गति करने लगता है।।

८. तद्यद्घृतं तत्स्त्रियै पयः, ये तण्डुलास्ते पुंसस्तन्मिथुनं मिथुनेनैवैनं तत्प्रजया पशुभिः प्रजनयति प्रजात्यै।। प्रजायते प्रजया पशुभिर्य एवं वेद।।

{स्त्री = स्त्यै ष्ट्यै शब्दसंघातयोः (भ्वा), स्त्यायति शब्दयति गुणान् गृह्णाति वा सा स्त्री (उ.को.४.१६७), अवीर्या वै स्त्री (श.२.५.२.३६)। पुंस् = वीर्यं पुमान् (श.२.५.२.३६), पुमान् पुरुमना भवति पुंसतेर्वा (नि.६.१५), पाति रक्षतीति पुमान् (उ.को.४.१७६)। तण्डुलाः = व्रियन्ते लुठ्यन्ते तन्यन्ते ताड्यन्ते वा ते तण्डुलाः, वृजादीनां स्थाने तण्डादेशः (उ.को.५.६)। पशवः = पशवो वै वैश्वदेवम् (शस्त्रम्) (कौ.ब्रा.१६.३), पशवो वै हविष्मन्तः (श.१.४.१.६), पशवो वै मरुतः (ऐ.३.१६), वाजो वै पशवः (ऐ.५.८), प्राणाः पशवः (श.७.५.२.६), पशवो वै छन्दांसि (श.७.५.२.४२)। पयः = पयः रात्रिनाम (निघं.१.७), पयः ज्वलतोनाम (निघं. १.१७, वै.को. से उद्धृत), पयः उदकनाम (निघं.१.१०), पयः अन्ननाम (निघं.२.७), पयः पिबतेर्वा प्यायतेर्वा (नि.२.५), प्राणः पयः (श.६.५.४.१५), पय गतौ, पयस् प्रसृतौ (कण्ड्वादि.)}

व्याख्यानम्- उपरिवर्णित प्रकरण में जब पदार्थ की अवस्था विशेष रूप से तेजस्विनी नहीं होती है तथा जो सारे अवकाशरूप आकाश को घेरे हुए होती है तथा उसमें मन्द ध्वनि भी उत्पन्न हो चुकी होती है। उस अवस्था को उपरिवर्णित संदीप्त तेज रूपी घृत ज्वलनशील एवं प्राणवान् अर्थात् प्रकृष्ट गति से युक्त करता है। उस समय यह अवस्था बहने वाली एवं परस्पर एक-दूसरे का भक्षण करने वाली होती है। इस प्रक्रिया में ईश्वरीय तत्त्व से ताड़ित वा प्रेरित प्रत्येक पदार्थ को आच्छादित करने वाला अतीव विस्तृत एवं सभी प्राणादि तत्त्वों के साथ संश्लिष्ट तण्डुल संज्ञक पदार्थ मनस् तत्त्व अर्थात् मुख्य प्राण (अहंकार) होता है। यद्यपि यह पदार्थ सम्पूर्ण पदार्थ का उपादान कारण होता है, पुनरपि यह अपने द्वारा उत्पन्न पदार्थों के साथ बार-२ मिथुन करके अर्थात् संयुक्त होकर अनेकविध पदार्थों की रचना करता रहता है। इस पदार्थ को यहाँ पुमान् संज्ञा दी है और यह जिस अपने कार्यरूप पदार्थ से संयुक्त होता है, उसे स्त्री की संज्ञा दी है। इस प्रकार इन दोनों के संयोग से यह सृष्टियज्ञ विभिन्न प्रकार के पदार्थों, बलों, छन्दरूप प्राणों, मरुत् रूप सूक्ष्म पवनों और दृश्यमान परमाणुओं से सम्पन्न होता है। इस विषय में **महर्षि आपस्तम्ब** का भी कथन है-

आग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपति, आग्नावैष्णवं वा घृते चरुम्। पुराडाशो ब्रह्मवर्चसकामस्य, घृते चरु प्रजाकामस्य पशुकामस्य वा। आदित्यं घृते चरुं द्वितीयं प्रजाकामपशुकामस्यैके समामनन्ति ।। (आप.श्रौ. १०.४.२-४)

विशेष ध्यातव्य- **इस ग्रन्थ में 'वेद' शब्द विद् लाभे धातु से निष्पन्न प्रथम पुरुष एकवचन का छान्दस प्रयोग है।** इससे तात्पर्य है कि जब उपर्युक्त स्थिति प्राप्त हो जाती है अर्थात् उपर्युक्तवत् मिथुन सम्पन्न होता है, तब यह सृष्टियज्ञ नाना प्रकार के पदार्थों द्वारा प्रकृष्ट रूप से समृद्ध होता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- तेज व ऊष्मा की उत्पत्ति से पूर्व प्राणादि पदार्थ की, जो रश्मियां सर्वत्र व्याप्त होती हैं, वे बिना तेज व ऊष्मा के आगे की सृष्टि प्रक्रिया को संचालित करने में समर्थ नहीं होती हैं। उस समय उन प्राणादि रश्मियों का कारण तत्त्व मन वा अहंकार, जो मुख्य प्राण रूप ही होता है, अपनी कार्यभूत प्राणापानादि प्राण रश्मियों में तेज, ऊष्मा एवं बलों को समृद्ध करता है। वह अहंकार तत्त्व इन प्राणादि तत्त्वों को सम्पीडित करते रहकर उन्हें स्पन्दित करते हुए अनेक प्रकार के कणों व तरंगों का निर्माण करता चला जाता है।।

६. आरब्धयज्ञो वा एष आरब्धदेवतो यो दर्शपूर्णमासाभ्यां यजत आमावास्येन वा हविषेष्ट्वा पौर्णमासेन वा तस्मिन्नेव हविषि तस्मिन् बर्हिषि दीक्षेतैषा एका दीक्षा।।

{आमावस्या = अमावस्या सिनीवाली (तै.सं.३.४.६.६), कामो वा अमावस्या (तै.ब्रा.३.१.५.१५), क्षत्रम् अमावस्या (कौ.ब्रा.४.८), सान्नाय्याभाजना वाऽमावास्या (श.२.४.४.२०) (सान्नाय्य = सम्+नी+ण्यत्), अमावास्या वै सरस्वती (मै.१.४.१५), अपानभाजनाऽमावास्या (जै.ब्रा.२.३६४)। प्रतिष्ठा वै पौर्णमासम् (कौ.ब्रा.५.८; १८.१४)। दर्शपूर्णमासौ = (उदान) ब्रह्म वै पौर्णमासी (कौ.ब्रा.४.८), एव पूर्णमा उदानेन ह्ययं पुरुषः पूर्यतऽइव, प्राण एव दर्शो ददृश इव ह्ययं प्राणः (श.११.२.४.५), अहरेव दर्शोऽहरु हीदं ददृश इव, रात्रिरेव पूर्णमा रात्र्या हीदꣳ सर्वं पूर्णम् (काश.३.२.६.१, ब्रा.उ.को. से उद्धृत), एतौ वै देवानाँ हरी यद् दर्शपूर्णमासौ (तै.सं.२.५.६.२), एष वै देवरथो यद् दर्शपूर्णमासौ (तै.सं.२.५.६.१), मन एव पूर्णमाः, पूर्णमिव हीदं मनो वागेव दर्शो ददृशऽइव हीयं (वाक्) (श.११.२.४.७)। बर्हिः = जलम् (तु.म.द.य.भा.२३.३८), अवकाशः (तु.म.द.ऋ.भा.६.१२.१), बृहन्ते सर्वे पदार्था यस्मिँस्तदन्तरिक्षम् (म.द.य.भा.२.२२), बर्हिः अन्तरिक्षनाम (निघं.१.३), बर्हिः उदकनाम (निघं.१.१२), पशवो वै बर्हिः (ऐ.२.४), (अग्निर्ब्रह्म - काठ.८.४; श.३.२.२.७), क्षत्रं वै सोमः (जै.ब्रा.३.२४; श.३.४.१.१०)}

व्याख्यानम्- जब सृष्टियज्ञ का प्रारम्भ हुआ करता है, उस समय से ही विद्युत् के उत्पन्न न होने पर भी मूल तत्त्व, जो मन-बुद्धि अथवा अहंकार रूपी मुख्य प्राण के रूप में विद्यमान होता है, उस समय से ही उस पदार्थ में दिव्य गुण उत्पन्न होना प्रारम्भ हो जाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि उस दिव्य पदार्थ अहंकार (दिव्य वायु) में गति, कम्पन, दीप्ति, आकर्षणादि बल, परस्पर हल्का संघर्षण, अत्यन्त सूक्ष्म संयोग-वियोग की प्रक्रिया आदि गुण उत्पन्न हो जाते हैं। यदि ऐसा नहीं होवे, तो विद्युत् अग्नि की उत्पत्ति भी कदापि संभव न हो सके। हाँ, यह बात पृथक् है कि विद्युत्-अग्नि की उत्पत्ति होने के पश्चात् उपर्युक्त सभी गुण अधिक तीव्रतर हो उठते हैं। इसके अन्दर वह अहंकार अर्थात् मुख्य प्राणतत्त्व दर्श एवं पूर्णमास के साथ संगत होता है।
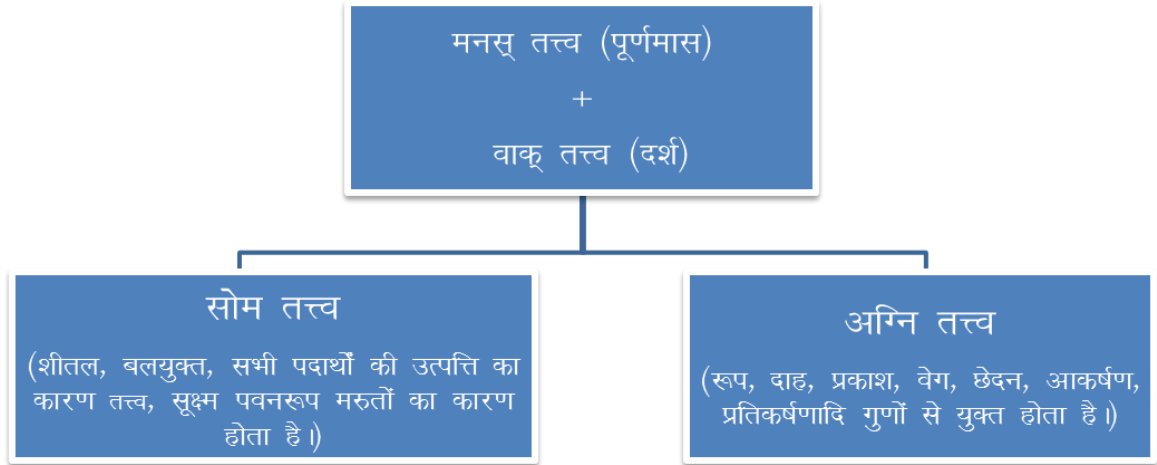
चित्र १.५ मन एवं वाक् तत्त्व के मिथुन से उत्पन्न दो मुख्य पदार्थ

इसका तात्पर्य है कि अहंकार अथवा मनस् तत्त्व, जो सम्पूर्ण अवकाश को भरे रहता है, स्वयं वाक् तत्त्व से संयुक्त हो जाता है। यहाँ वाक् तत्त्व से तात्पर्य ईश्वरीय तेज अथवा **'ओम्'** की ध्वनिरूप (जो परा की अवस्था में होती है) दैवी गायत्री छन्द है। यह गायत्री छन्द सम्पूर्ण मनस् वा अहंकार तत्त्व से संगत हो जाता है। मनस् तत्त्व सर्वत्र व्याप्त होता है, इसलिए इसे **पूर्णमास** कहते हैं और वाक् तत्त्व एक आकर्षण बल अर्थात् कामना उत्पन्न करता है। ध्यातव्य है कि दृशिर् धातु का प्रयोग **महर्षि दयानन्द** ने **(ऋ.भा.१.२४.४)** में इच्छा अर्थ में किया है, इस कारण वाक् तत्त्व को **'दर्श'** कहा गया है। वाक् तत्त्व के साथ प्राण नामक प्राण तत्त्व का अधिक संगम होता है और मनस् तत्त्व के साथ उदान नामक प्राण का अधिक संगम होता है। क्वचित् मनस् तत्त्व के साथ अहः (प्राण नामक प्राण तत्त्व) और वाक् रूपी दैवी गायत्री छन्द के साथ रात्रि (अपान) की प्रधानता अधिक रहती है। ये प्राण-अपान, प्राण-उदान, मन-वाक्, मानो चेतन तत्त्व परमात्मा के हरणशील हाथों के समान काम करते हैं। उस समय सम्पूर्ण पदार्थसमूह मानो दो भागों में व्यक्त हो जाता है- एक भाग **अमावस्या** अर्थात् क्षत्र सोम के रूप में व्यक्त होता है और दूसरा **पूर्णमास** अर्थात् ब्रह्म अर्थात् अग्नि के रूप में व्यक्त होता है। सोम तत्त्व को वायु भी कहते हैं, जैसा कि सोम-बहुसुखप्रसावको वायुः **(ऋ.भा. १.६३.५)** में **महर्षि दयानन्द** संकेत करते हैं। यह अपेक्षाकृत शीतल, बलयुक्त, सभी पदार्थों की उत्पत्ति का कारण तत्त्व, सूक्ष्म पवनरूप मरुतों का कारण होता है और अग्नि पदार्थ रूप, दाह, प्रकाश, वेग, छेदन, आकर्षण, प्रतिकर्षणादि गुणों से युक्त होता है। इस सोम तत्त्व में मन, वाक् पदार्थों की हवि देकर उसके साथ संगत किया जाता है। इसके पश्चात् पूर्णमास अर्थात् अग्नितत्त्व के द्वारा उस हवि, जो कि सम्पूर्ण अवकाशरूप आकाश में विद्यमान होती है, के अन्दर दीक्षा अर्थात् ऊष्मा का प्रादुर्भाव किया जाता है। यह एक प्रकार से अग्नि और सोम के द्वारा आगे की सृष्टि प्रक्रिया के धारण का प्रारम्भ है। इस विषय में अन्य ऋषियों का भी कथन है-

"दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वेष्टिपशुचातुर्मास्यैरथ सोमेन।।"
"ऊर्ध्वं दर्शपूर्णमासाभ्यां यथोपपत्त्येके प्रागपि सोमेनैके।।" (आश्व.श्रौ.४.१.१-२)
"अथ दर्शपूर्णमासावारभते ताभ्यां संवत्सरमिष्ट्वा सोमेन पशुना वा यजते।।" (आप.श्रौ.५.२३.२)

वैज्ञानिक भाष्यसार- सृष्टि के प्रारम्भ में जब सबसे प्रथम अहंकार अर्थात् मनस् तत्त्व रूपी, जो मुख्य प्राण होता है, जहाँ से कि मूल पदार्थ के बीच संगतीकरण का होना प्रारम्भ होता है, उस समय भी सूक्ष्म स्तर की दीप्ति, आकर्षणादि बल, कम्पन, मन्द गति आदि गुण उत्पन्न हो जाते हैं। इसके पश्चात् ही सूत्रात्मा वायु, धनञ्जय, प्राणापानादि, सोमरूप कारणभूत वायु एवं विद्युत्, ऊष्मा आदि की उत्पत्ति होती है। ईश्वरीय चेतन तत्त्व के द्वारा इसी अहंकार व मनस् तत्त्व के अन्दर पश्यन्ती की अवस्था में दैवी गायत्री छन्द **'ओम्'** की उत्पत्ति होती है।

इस शब्द की उस अवस्था को किसी भी भौतिक वैज्ञानिक तकनीक से ग्रहण नहीं किया जा सकता। ऐसे वाक् तत्त्व एवं अहंकार वा मनस् तत्त्व प्राण-अपान वा प्राण-उदान रूपी हरणशील बलों के द्वारा पहले सोम पदार्थ अर्थात् शीतल मन्द वायुरूप अवस्था में विद्यमान पदार्थ के साथ संगत होकर ऊष्मा और प्रकाशयुक्त अग्निरूप पदार्थ के साथ उस वायु पदार्थ को संगत करके सम्पूर्ण आकाश में ऊष्मा का संचरण और संवर्धन करते हैं।

१०. सप्तदश सामिधेनीरनुब्रूयात्।।

{सामिधेनीः = सम्यगिध्यन्ते याभिस्ताः सामिधेनीः (म.द.य.भा.१६.२०), एता हि वाऽइदं सर्वं समिन्धतऽएताभिरिदं सर्वं समिद्धं तस्मात् सामिधेन्यो नाम (श.११.२.७.६), वज्रो वै सामिधेन्यः (कौ.ब्रा.३.२)}

व्याख्यानम्- तदनन्तर बड़े छन्दों की उत्पत्ति प्रारम्भ होती है। इस प्रकार के सत्रह छन्द रूप प्राणों की उत्पत्ति होती है, जिनको सामिधेनी कहा जाता है। आचार्य सायण एवं डॉ. सुधाकर मालवीय के अनुसार सामिधेनी ऋचाएं कुल ग्यारह होती हैं, जिनमें से प्रथम और अन्तिम ऋचा की तीन-२ बार आवृत्ति होती है तथा दो ऋचाएं धाय्या संज्ञक कहलाती हैं। आचार्य सायण और डॉ. मालवीय ने आधियाज्ञिक अर्थ करते हुए इन ऋचाओं के उच्चारण की बात कही है, जबकि हम इस ग्रन्थ का आधिदैविक अर्थ करते हुए सृष्टियज्ञ में होने वाली घटनाओं का वर्णन कर रहे हैं। इस क्रम में विश्वामित्र ऋषिरूप प्राण द्वारा उत्पन्न अग्निदेवताक एवं निचृद् गायत्री छन्दस्क

प्र वो वाजा अभिद्यवो हविष्मन्तो घृताच्या। देवाञ्जिगाति सुम्नयुः।। (ऋ.३.२७.१)

ऋचा की उत्पत्ति परा एवं पुनः पश्यन्ती वाक् अवस्था में होती है। विश्वामित्र ऋषि का तात्पर्य वाक् तत्त्व अर्थात् दैवी गायत्री छन्द **'ओम्'** है, क्योंकि **"वाग् वै विश्वामित्रः" (कौ.ब्रा.१०.५)**। इस ऋचा रूपी तरंगों से विद्युत् की समृद्धि होती है। इस ऋचा का छन्द निचृद् गायत्री होने से इस छन्द की तरंगें विद्युत्, तेज और ऊष्मा की वृद्धि करने के साथ-२ पदार्थ को बांधने और उसका भेदन करने में समक्ष होती हैं। **{निचृत् = नि+चृती हिंसाग्रन्थनयोः}** गायत्री छन्द के विषय में पूर्वपीठिका में विस्तार से समझें। **इसी ऋचा की तीन बार आवृत्ति होती है।** इसके पश्चात् बार्हस्पत्य भरद्वाजरूपी प्राण से उत्पन्न अग्निदेवताक एवं गायत्री छन्दस्क ऋचा

अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये। नि होता सत्सि बर्हिषि।। (ऋ.६.१६.१०)

की उत्पत्ति होती है। {**बृहस्पतिः = बृहतां पालकः सूत्रात्मा (म.द.य.भा.३६.६)**} यहाँ बृहस्पति का तात्पर्य सूत्रात्मा वायु है। इसी सूत्रात्मा वायु से प्राण नामक प्राण तत्त्व रूपी भरद्वाज ऋषि की उत्पत्ति होती है। कहीं-२ मनस्तत्त्व को भी भरद्वाज कहा गया है। यह भरद्वाज नामक तत्त्व परस्पर संयुक्त होकर विभिन्न पदार्थों का निर्माण करता है। इसलिए कहा-

"वाजः अन्ननाम (निघं.२.७), वाजः बलनाम (निघं.२.६), मनो वै भरद्वाज ऋषिरन्नं वाजो यो वै मनो बिभर्त्ति सोऽन्नं वाजं भरति तस्मान्मनो भरद्वाज ऋषिः (श.८.१.१.६)"

यह सामिधेनी ऋचा इसी मनस् तत्त्व से विशेष सम्पन्न प्राण नामक प्राण तत्त्व से उत्पन्न होती है। इस ऋचा के प्रभाव से विद्युत् तत्त्व एवं ऊष्मा आदि की वृद्धि होती है। इसका छन्द गायत्री होने से तीव्र बल और तेज भी समृद्ध होते हैं। इसके उपरान्त उपर्युक्त भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ऋषि के द्वारा ही अग्नि देवता वाली एवं निचृद् गायत्री छन्दस्क

तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि। बृहच्छोचा यविष्ठ्य।। (ऋ.६.१६.११)

की उत्पत्ति होती है। इसका प्रभाव भी पूर्व ऋचा के समान होता है।

छन्द निचृद् गायत्री होने से इस छन्द रूपी तरंगों की भेदन क्षमता अपेक्षाकृत अधिक होती है। इसके उपरान्त इसी ऋषि और देवता वाली साम्नी त्रिष्टुप् छन्दस्क

स नः पृथु श्रवाय्यमच्छा देव विवाससि। बृहदग्ने सुवीर्यम्।। (ऋ.६.१६.१२)

की उत्पत्ति होती है। जिसके प्रभाव से पूर्ववत् परिणाम के अतिरिक्त विशेष हिंसक, भेदक एवं संधानक ज्वालाओं की उत्पत्ति भी होती है। तदुपरान्त विश्वामित्र ऋषि अर्थात् पूर्ववत् वाक् तत्त्व (दैवी गायत्री छन्द **'ओम्'**) द्वारा उत्पन्न अग्निदेवताक एवं विराड् गायत्री छन्दस्क

ईळेन्यो नमस्यस्तिरस्तमांसि दर्शतः। समग्निरिध्यते वृषा।। (ऋ.३.२७.१३)

की उत्पत्ति होती है। ऋषि और देवता का प्रभाव प्रथम सामिधेनी ऋचा के समान समझें। इसका छन्दस्क प्रभाव प्रथम ऋचा के छन्दस्क प्रभाव की अपेक्षा विशेष तेजस्वी एवं सक्रिय होता है। तदन्तर इसी ऋषि और देवता वाली एवं निचृद् गायत्री छन्दस्क दो ऋचाओं की उत्पत्ति होती है। वे दो ऋचाएं हैं–

वृषो अग्निः समिध्यतेऽश्वो न देववाहनः। तं हविष्मन्त ईळते।।
वृषणं त्वा वयं वृषन्वृषणः समिधीमहि। अग्ने दीद्यतं बृहत्।। (ऋ.३.२७.१४-१५)

इन दोनों का प्रभाव प्रथम सामिधेनी ऋचा के समान होता है। इसके पश्चात् काण्वो मेधातिथि ऋषि से उत्पन्न अग्निदेवताक एवं गायत्री छन्दस्क

अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्। अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्।। (ऋ.१.१२.१)

की उत्पत्ति होती है। **{कण्व इति मेधाविनाम (निघं.३.१५)}**। काण्व मेधातिथि ऐसे प्राण का नाम है, जो सबके भीतर निरन्तर व्याप्त रहता एवं जिसमें बुद्धि, अहंकार नामक महाप्राण प्रशस्तरूपेण विद्यमान रहता है। हमारी दृष्टि में ऐसा प्राण सूत्रात्मा वायु एवं धनंजय का संयुक्त रूप हो सकता है। इसी प्राण से इस ऋचा की उत्पत्ति होती है। इस ऋचा के प्रभाव से विद्युत् बल, प्रकाश, ऊष्मा आदि की समृद्धि होती है। तदन्तर विश्वामित्र ऋषि अर्थात् वाक् तत्त्व (दैवी गायत्री छन्द) से अग्निदेवताक एवं विराट् गायत्री छन्दस्क

समिध्यमानो अध्वरे३ऽग्निः पावक ईड्यः। शोचिष्केशस्तमीमहे।। (ऋ.३.२७.४)

की उत्पत्ति होती है। इसके ऋषि और देवता के प्रभाव एवं छान्दस्क प्रभाव से विद्युत् बल, तेज आदि विशेष प्रकाशमान होते हैं। इसके पश्चात् विश्ववारात्रेयी ऋषि से उत्पन्न अग्निदेवताक एवं विराट् गायत्री छन्दस्क दो ऋचाओं की उत्पत्ति होती है। वे दो ऋचाएं हैं–

समिद्धो अग्न आहुत देवान्यक्षि स्वध्वर। त्वं हि हव्यवाळसि।।
आ जुहोता दुवस्यताग्निं प्रयत्यध्वरे। वृणीध्वं हव्यवाहनम्।। (ऋ.५.२८.५-६)।

{**अत्रिः = सततं पुरुषार्थी (म.द.ऋ.भा.५.७.१०), सततं गामी (म.द.ऋ.भा.१.१८३.५), वाक् एव अत्रिः (श.१४.५.२.६)**} {आत्रेयी = अत्रि की पुत्री वा पत्नी इति आप्टेकोश} हमारे मत में **'आत्रेयी'** शब्द में स्वार्थ में ही तद्धित प्रत्यय है, इसलिए अत्रि को ही आत्रेयी कहा गया है। विश्ववारा विशेषण होने से यह प्रतीत होता है कि यह ऋचा सबके अन्दर विद्यमान **'ओम्'** पदरूपी दैवी गायत्री छन्द से व्यापक रूप में उत्पन्न होती है। इन ऋचाओं के प्रभाव से विद्युत्, ऊष्मा, प्रकाश एवं तीव्र बल अतिशय प्रकाशित

होते हैं। इसके उपरान्त **''आ जुहोता'' ऋचा की दो बार और आवृत्ति होती है।** आचार्य सायण ने ऋचा **ऋ.३.२७.४** एवं **ऋ.५.२८.५** को **तैत्तिरीय ब्राह्मण** के प्रमाण से क्रमशः समिध्यमाना एवं समिद्वती कहा है। इसका तात्पर्य हमें यह प्रतीत होता है कि ऋचा

समिध्यमानो अध्वरे३ऽग्निः पावक ईड्यः। शोचिष्केशस्तमीमहे।। (ऋ.३.२७.४) को ऋचा
समिद्धो अग्न आहुत देवान्यक्षि स्वध्वर। त्वं हि हव्यवाळसि।। (ऋ.५.२८.५)

विशेष प्रदीप्त करती है। ये दोनों ऋचा रूप तरंगें अपने मध्य में दो धाय्या संज्ञक ऋचा रूप तरंगों को धारण किये रहती हैं। वे ऋचाएँ हैं- विश्वामित्र ऋषि अर्थात् दैवी गायत्री छन्द **'ओम्'** रूपी वाक् से उत्पन्न अग्निदेवताक एवं क्रमशः विराट् गायत्री एवं गायत्री छन्दस्क-

पृथुपाजा अमर्त्यो घृतनिर्णिक्स्वाहुतः। अग्निर्यज्ञस्य हव्यवाट्।। (ऋ.३.२७.५)
तं सबाधो यतस्रुच इत्था धिया यज्ञवन्तः। आ चक्रुरग्निमूतये।। (ऋ.३.२७.६)

हैं। इनके प्रभाव से भी पूर्ववत् विद्युत्, ऊष्मा व प्रकाश आदि समृद्ध होते हैं। इस प्रकार यह कुल १७ ऋचाएं सारे ब्रह्माण्ड में तरंगों के रूप में व्याप्त होकर ऊष्मा, बल, विद्युत् व प्रकाश आदि की भारी वृद्धि करती हैं। ध्यातव्य है कि आचार्य सायण आदि विद्वानों की परम्परा में भाष्यकारों वा अनुवादकों ने यज्ञ में इन १७ ऋचाओं के पाठ का विधान मात्र किया है। यह पाठ क्यों होता है? इसका सृष्टि विज्ञान से क्या सम्बन्ध है? ब्रह्माण्ड में ये छन्द रूपी तरंगें उत्पन्न भी होती हैं और उनका जो-२ प्रभाव होता है, उस सबका संकेतमात्र भी ज्ञान आचार्य सायण आदि को नहीं रहा है अर्थात् वैदिक वाङ्मय के आधिदैविक ज्ञान से ये विद्वान् नितान्त अनभिज्ञ रहे हैं, पुनरपि ये सामिधेनी ऋचाएं कौन-२ सी हैं एवं इसी प्रकार का अन्य ज्ञान हमें आचार्य सायण आदि के ही ग्रन्थों से हो सकता है। इस कारण हम उनके ऋणी भी हैं। इस विषय में अन्य ऋषियों का भी कथन है-

''पञ्चदश सप्तदश वा सामिधेन्यः'' (आप.श्रौ.१०.४.५)

प्रश्नः- आपने विभिन्न छन्द और देवताओं का सृष्टि प्रक्रिया पर होने वाले प्रभाव को यहाँ विस्तार से दर्शाया है, परन्तु एक ही छन्द वाले अनेक मंत्र होते हैं, तब क्या उनका प्रभाव पूर्णतः समान होता है? यदि ऐसा है, तो समान छन्द वाली अनेक ऋचाओं की उत्पत्ति की आवश्यकता क्या है? ऋचाओं से ज्ञान लाभ के लिए तो भिन्न-२ वर्ण, पद आदि से युक्त समान छन्द वाली ऋचाओं की आवश्यकता तो समझ में आती है, क्योंकि उन सब ऋचाओं का अर्थ भी भिन्न-२ होता है परन्तु जब समान छन्द वाली ऋचाएं समान रूप से ऊष्मा, बल व प्रकाश आदि की ही वृद्धि करती हैं, तो यह काम तो एक ही ऋचा के बार-२ आवृत्त होने से हो सकता है। फिर पृथक्-२ ऋचाओं का क्या प्रयोजन है? हाँ, भिन्न छन्दों वाली ऋचाओं की उत्पत्ति तो समझ में आती है।

उत्तरः- आपका प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण एवं स्वाभाविक है। वस्तुतः समान छन्द वाली ऋचाओं का प्रभाव सर्वथा समान नहीं होता। सृष्टि प्रक्रिया में न केवल छन्दों का प्रभाव होता है, अपितु उसके पदों और वर्णों का भी प्रभाव होता है। जो पद जिस अर्थ का वाचक होता है, उस पदार्थ पर उस पद का प्रत्यक्ष प्रभाव होता है एवं उस पदार्थ की रचना के समय उस पद की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार वैदिक शब्दों के अर्थ का अर्थात् वाचक और वाच्य का सम्बन्ध नित्य है, वैसे इस विषय में पूर्वपीठिका में विस्तार से जान सकते हैं।

अब इन सामिधेनी छन्द रश्मियों का अन्य विशेष प्रभाव पृथक्-२ दर्शाते हैं-

प्रथम रश्मि के प्रभाव से चारों ओर से प्रकाशमान विभिन्न संयोज्य कणों वा तरंगों से युक्त प्राण वा छन्द रश्मियाँ संदीप्त तेज के साथ विभिन्न प्रकाशमान कणों को गति भी प्रदान करती हैं। **{जिगाति गतिकर्मा (निघं.२.१४)}**

द्वितीय रश्मि के प्रभाव से **{बर्हिः अन्तरिक्षनाम (निघं.१.३), उदकनाम (निघं.१.१२), पशवो वै बर्हिः (ऐ.२.४)}** प्राणापानादि पदार्थ अग्नि को प्रकाशमान करते हुए अन्तरिक्ष में विद्यमान विभिन्न मरुद् रूप रश्मियों की व्याप्ति के लिए और विभिन्न कणों के संयोगादि कर्मों को विस्तृत करने के लिए सब ओर से व्याप्त होते हैं।

तृतीय रश्मि के प्रभाव से संयोग-वियोग कराने वालों में श्रेष्ठ सूत्रात्मा वायु विभिन्न प्रदीप्त तेजस्वी किरणों के द्वारा **{शोचति ज्वलतिकर्मा (निघं.१.१६)}** व्यापक ऊष्मा को पैदा करके संगति कर्मों को बढ़ाते हैं।

चतुर्थ रश्मि के प्रभाव से **{विवासति परिचरणकर्मा (निघं.३.५)}** प्रकाशमान और कमनीय अग्नि विशाल तारों के अन्दर श्रेष्ठ बल और तेज से युक्त होकर सब ओर संचरित होता है।

पांचवीं रश्मि के प्रभाव से **{पितरो नमस्याः (श.१.५.२.३)}** सबका पालक, कमनीय, बलवान् एवं प्रकाशमान् अग्नि विभिन्न अन्धकारपूर्ण वायुओं आदि को नियन्त्रित करके सबको प्रकाशित करता है।

छठी रश्मि के प्रभाव से विभिन्न प्रकाशित कणों का वहन करने वाला अग्नि शीघ्रगामी बलवान् रश्मियों के समान प्रकाशित होता है। उसे विभिन्न मास रश्मियों से युक्त पदार्थ प्रकाशित करते हैं। **{मासा हवींषि (श.११.२.७.३), मासा वै रश्मयः (तां.१४.१२.६)}**

सातवीं रश्मि के प्रभाव से महान् बलयुक्त अग्नि विशाल अन्तरिक्ष को प्रकाशित करके सबको बलवान् व प्रकाशमान बनाता है।

आठवीं रश्मि के प्रभाव से वह अग्नि विभिन्न कणों का आदान-प्रदान करने वाला, विभिन्न पदार्थों को वहन करने वाला, सभी पदार्थों में विद्यमान विभिन्न संगमन कर्मों को सिद्ध करता है।

नवमीं रश्मि के प्रभाव से वह अग्नि विभिन्न प्राणों में प्रकाशित होता हुआ तेजस्वी किरणों वाला, सब पदार्थों को पवित्र करने वाला सबके साथ संगत होता है।

दसवीं रश्मि के प्रभाव से वह अग्नि अच्छे प्रकार अहिंसक प्राणों से युक्त सब ओर से प्रज्वलित किया हुआ, विभिन्न पदार्थों का वहन करने वाला सबके साथ संगत होता है।

ग्यारहवीं रश्मि के प्रभाव से वह अग्नि विभिन्न प्रकार के संगति कर्मों में विभिन्न कणों को ले जाने वाला, उन्हें अच्छी प्रकार ग्रहण करके सब ओर संचरित होता है।

बारहवीं (धाय्या) ऋचा के प्रभाव से विस्तृत बलयुक्त अन्तरिक्ष और तेज को शुद्ध करने वाला उपर्युक्त छन्द रश्मियों को धारण करने वाला अविनाशी अग्नि तत्त्व सब ओर अच्छी प्रकार संगत होता है।

तेरहवीं (धाय्या) ऋचा के प्रभाव से वह अग्नि, जो विभिन्न क्रियाशील और संयमित तेजस्वी किरणों एवं वाक् रूप यज्ञ से संयुक्त होता है, विभिन्न क्रियाओं की रक्षा के लिए अपनी धारणा शक्ति से उपर्युक्त ग्यारह रश्मियों को धारण करता है।

वैज्ञानिक भाष्यसार- तदनन्तर इस ब्रह्माण्ड में १३ प्रकार की विशिष्ट छन्दरूप तरंगें उत्पन्न होती हैं। इनमें से दो तरंगें एक ही स्थान पर तीन-२ बार उत्पन्न होने से कुल सत्रह (१७) प्रकार की तरंगें कहलायी जाती हैं। यद्यपि सभी तरंगें सम्पूर्ण पदार्थ में बार-२ आवृत्त होती हैं, परन्तु वे दो तरंगें एक ही स्थान पर तीन-२ बार आवृत्त होती हैं। इन तरंगों के प्रभाव से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में ज्वलनशीलता, प्रकाशशीलता, विद्युत् चुम्बकीय बलों एवं इसके कारण विभिन्न प्रकार के कणों वा तरंगों का बनना आदि क्रियाओं की वृद्धि होती है। इससे विभिन्न मरुद् रूप रश्मियों की व्याप्ति एवं प्रकाशमान अग्नि का सब ओर संचरण होता है। अन्धकारपूर्ण बाधक विद्युत् वायु नियन्त्रित होता और विभिन्न पदार्थों का शोधन होता है। इसके विस्तार को जानने हेतु हमारे व्याख्यान एवं पूर्वपीठिका को पढ़ना अनिवार्य है।

११. सप्तदशो वै प्रजापतिर्द्वादश मासाः पञ्चर्तवो हेमन्तशिशिरयोः समानेन तावान् संवत्सरः संवत्सरः प्रजापतिः।।

व्याख्यानम्- इस ब्रह्माण्ड में सत्रह मूल प्रजापति हैं। जो सम्पूर्ण सृष्टि के कण-२ का पालन और रक्षण सतत करते रहते हैं। इसमें हम सबसे बड़े प्रजापति परमात्मतत्त्व की गणना नहीं कर रहे हैं, क्योंकि वह सृष्टि का उपादान कारण नहीं है, बल्कि निमित्त कारण है। ये सत्रह प्रजापति हैं- मूल प्रकृति, काल, महत्तत्त्व (बुद्धि), मनस् तत्त्व, अहंकार, वाक् तत्त्व, सूत्रात्मा वायु, धनंजय, प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त। इनमें बुद्धि, मन और अहंकार लगभग समान है, पुनरपि व्यवहार के किंचित् भेद के कारण हमने इन्हें तीन भागों में विभक्त किया है। इनमें से मन को महत् अर्थात् बुद्धि में समाविष्ट करने पर दो की पूर्त्ति के लिए पुरुष तत्त्व अर्थात् परमात्मा एवं जीवात्मा का ग्रहण करने योग्य है। संवत्सर अर्थात् सूर्यादि तारे भी बारह मास नामक प्राण रश्मियों एवं पाँच ऋतु संज्ञक रश्मियों से निर्मित होते हैं। उधर यह भी ध्यातव्य है कि मूल सूक्ष्म सत्रह प्रजापति भी सूर्यादि तारों में विद्यमान होते हैं किंवा उपर्युक्त इन मूल प्रजापतियों के द्वारा ही ये मास और ऋतु संज्ञक प्रजापति भी उत्पन्न होते हैं। इसी कारण सूर्यादि तारों को भी प्रजापति कहा जाता है। हेमन्त और शिशिर नामक प्राणों में बहुत समानता होने से इन्हें यहाँ एक ही गिना गया है। इन मास, ऋतु एवं अन्य प्रजापतियों के विषय में विस्तार से जानने के लिए पूर्वपीठिका देखें।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर सत्रह सूक्ष्म तत्त्व मूल प्रकृति, कालतत्त्व, महत्तत्त्व (बुद्धि), मनस् तत्त्व, अहंकार, वाक् तत्त्व, सूत्रात्मा वायु, धनंजय, प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त विभिन्न प्रकार से मिश्रित होकर विभिन्न कणों और तरंगों को उत्पन्न एवं उनका रक्षण और पोषण करते हैं। इन्हीं से उत्पन्न बारह प्रकार की मास-नामक रश्मियां एवं पांच प्रकार की ऋतु रूप प्राण रश्मियां सूर्यादि तारों को उत्पन्न करके उनका रक्षण और पोषण करती हैं। सूर्यादि तारे इन्हीं तत्त्वों के कारण अपने केन्द्र में विविध प्रकार के तत्त्वों का निर्माण व पोषण करते हैं। इन तत्त्वों के वैज्ञानिक स्वरूप को गम्भीरता से समझने के लिए पूर्वपीठिका का गम्भीर अध्ययन अनिवार्य है।

१२. प्रजापत्यायतनाभिरेवाऽऽभी राध्नोति य एवं वेद।।१।।

व्याख्यानम्- उपरिवर्णित प्रकृति, महत् आदि सत्रह प्रजातियों तथा मास एवं ऋतु संज्ञक सत्रह प्राण रश्मिरूप प्रजापतियों के आयतन अर्थात् वह पदार्थ, जिनमें ये पदार्थ विद्यमान होते हैं, उन प्राक् वर्णित सत्रह सामिधेनी नामक प्रज्वलनशील ऋचाओं अथवा सूर्यादि तारे रूप प्रजापतियों के द्वारा यह सर्गयज्ञ समृद्ध होता है, जब ये समृद्ध सत्रह प्रजापति उपरिवर्णितानुसार अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं। यहाँ 'राध् संसिद्धौ' धातु का प्रयोग बतला रहा है कि इन प्रजापतियों और इनके द्वारा वा इनके साथ सत्रह सामिधेनी तरंगों की सक्रिय अवस्था के उत्पन्न होने पर ये तारे आदि लोक समृद्ध होते हैं अथवा ब्रह्माण्ड में सृष्टियज्ञ का सम्यग् विस्तार होता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उपरिवर्णित विभिन्न प्राणसमूहों के भली प्रकार संदीप्त व सक्रिय हो जाने से, जहाँ सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था में सभी तत्त्व तेजी से संगत व निर्मित होते हैं, ऊष्मा व बलों की प्रखरता से ही यह तेजी आती है, वहीं सूर्यादि तारों के निर्माण के समय एवं वर्त्तमान समय भी इन्हीं तत्त्वों के सक्रिय रहते ही तारों का यह रूप संसिद्ध व उनका स्थायित्व रहता है।

खण्ड १.२ पर मेरा व्याख्यान

१. यज्ञो वै देवेभ्य उदक्रामत् तमिष्टिभिः प्रैषमैच्छन्यदिष्टिभिः प्रैषमैच्छंस्तदिष्टीनामिष्टित्वं तमन्वविन्दन्।।

व्याख्यानम्– पूर्ववर्णित सृष्टि की प्रथम अवस्था में जब सत्रह सामिधेनी तरंगों के द्वारा प्राणादि पदार्थों में विक्षोभ और संघर्षण हो रहा था, उस समय भेदन क्रिया प्रबल थी, परन्तु विभिन्न पदार्थों के संयोग की प्रक्रिया या तो मन्द थी वा कहीं-२ बन्द हो रही थी। इसी कारण यह कहा है कि दिव्य पदार्थों से यज्ञ प्रक्रिया दूर चली गई। ऐसा प्रतीत होता है कि ऊष्मा की अत्यधिक वृद्धि से विभिन्न कणों की गतिज ऊर्जा अत्यधिक बढ़ गई। जिसके कारण वे परस्पर संयुक्त होने में असमर्थ होने लगे। हमारी दृष्टि में यह भी एक कारण हो सकता है कि विद्युत् पहले एक ही प्रकार की थी, धन और ऋण इसके दो विभाग नहीं हुए थे, इस कारण भी विभिन्न प्रकार के कणों के मध्य प्रबल आकर्षण बल उत्पन्न नहीं हुआ था। उसके पश्चात् उस समय विद्यमान प्राणादि पदार्थों के बीच विद्यमान अग्नि और सोम पदार्थ अर्थात् विद्युत् चुम्बकीय तरंगें एवं ठण्डे दिव्य वायु के मध्य विद्युत् के दो भाग प्रकट हुए। प्रख्यात आर्य विद्वान् पं. भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने **'वेद विद्या निदर्शन'** नामक ग्रन्थ की भूमिका में पृष्ठ १४ पर **धनावेश को आग्नेय तत्त्व एवं ऋणावेश को आप (सोम) तत्त्व माना है। यह बात विशेष अनुसंधान करने की है कि क्या धनावेशित कणों में से उत्सर्जित होने वाली तरंगें गति, प्रकाश, ऊष्मा एवं बल आदि को विशेषतया उत्पन्न करती हैं एवं ऋणात्मक आवेश वाले कणों में से उत्सर्जित होने वाली तरंगें अपेक्षाकृत शीतल, स्वल्प प्रकाशयुक्त एवं अपेक्षाकृत शान्त होती हैं।** हम पण्डित जी के मत से सहमत हैं। अब इन धन और ऋण आवेशों से युक्त असंख्य कणों के मध्य प्रबल आकर्षण बल उत्पन्न हुआ। इस प्रबल आकर्षण बल रूप इष्टियों के द्वारा देवों अर्थात् विभिन्न प्राणों ने विभिन्न कणों को परस्पर संयुक्त करने का प्रयास किया और संयुक्त होने की प्रबल प्रक्रिया प्रारम्भ हो भी गई।।

वैज्ञानिक भाष्यसार– प्राक्वर्णित तीव्र संतप्त अवस्था में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में आकर्षण बलों की शक्तियाँ न्यून हो गई। उस समय विद्युत् भी धनात्मक और ऋणात्मक रूप में विभक्त नहीं थी। इस कारण भी विभिन्न कणों की संयोग प्रक्रिया मन्द वा बन्द हो गई। उस समय विद्युत् चुम्बकीय तरंगें एवं शीतल सूक्ष्म वायु के द्वारा विद्युत् के क्रमशः धन और ऋण रूप प्रकट हुए। जिनसे संयुक्त होकर ब्रह्माण्ड के सूक्ष्म कण प्रबल आकर्षण बल से युक्त होकर तीव्रता से संयुक्त होने लगे। यहाँ क्वाण्टाज् की उत्पत्ति के पश्चात् उनसे ही विद्युदावेशित कणों के निर्माण का संकेत किया गया है।

२. अनुवित्तयज्ञो राध्नोति य एवं वेद।।

व्याख्यानम्– जब ब्रह्माण्ड में इस प्रकार की अवस्था उत्पन्न हो जाती है, तब सर्वत्र संयोग-वियोग की प्रक्रिया समृद्ध होती चली जाती है।।

३. आहूतयो वै नामैता यदाहुतय एताभिर्वै देवान् यजमानो ह्वयति तदाहुतीनामाहूतित्त्वम्।।

व्याख्यानम्– यहाँ **'आहूतिः'** एवं **'आहुतिः'** दो शब्दों का प्रयोग है। **'आहूतिः'** शब्द **''ह्वेञ् स्पर्धायाम् शब्दे च''** धातु से निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है चारों ओर से बुलाना, आकर्षण करना आदि क्रिया। उधर **'आहुतिः'** शब्द **''हु दानादनयोः। आदाने चेत्येके।''** धातु से निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ है ग्रहण करने और देने की तीव्र क्रिया। अब ध्यातव्य यह है कि जितना आकर्षण बल प्रबल होगा उतनी ही संयोग-नियोग की प्रक्रिया तेज होगी। इसी कारण यहाँ आहूति को ही आहुति कहा गया है, क्योंकि यजमान अर्थात् संयोग की इच्छा करता हुआ कोई भी कण विभिन्न देवों अर्थात् प्राणों को अथवा किसी भी प्रकाशमान वा बलसम्पन्न पदार्थ को इन्हीं आकर्षण बल रूप आहूतियों के द्वारा आकर्षित करता है। इस कारण भी इन्हें आहूति कहा जाता है। वर्त्तमान विज्ञान बलों की उत्पत्ति का कारण मीडियेटर फोटोन के विनिमय को मानता है। इन फोटोन्स की धारा को वैज्ञानिक field कहते हैं। यहाँ भी ऐसा प्रतीत होता है कि फोटोन्स की आहुति का कारण फोटोन्स को ग्रहण व प्रदान करने की इच्छा है। उस इच्छा से ही इष्टि हो पाती है, जो संयोगादि का कारण बनती है। अब फोटोन्स को ग्रहण वा प्रदान की इच्छा
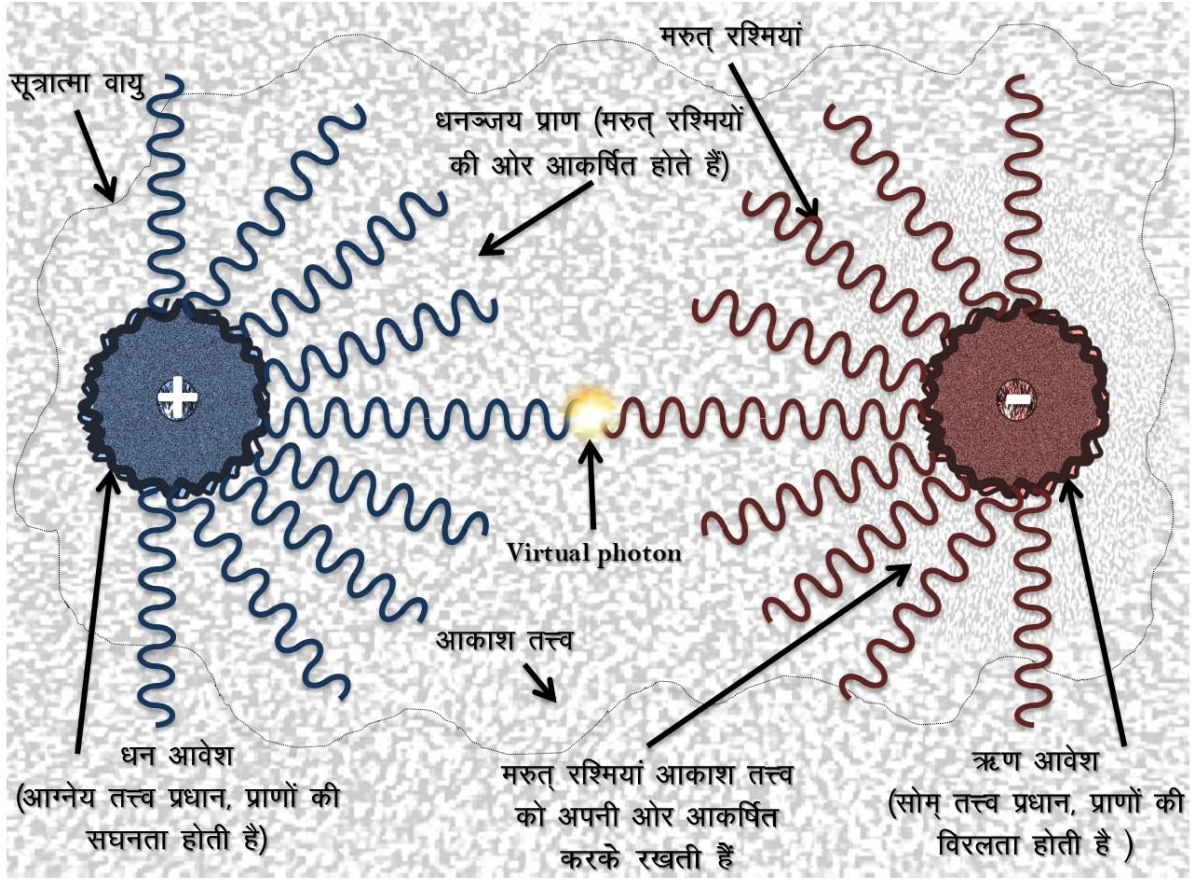
क्यों होती है? इसे आगे स्पष्ट करते हैं-

चित्र १.६ धन एवं ऋण आवेशित कणों के मध्य आकर्षण की प्रक्रिया

हमारे मत में धनावेशित कण अग्नि तत्त्व प्रधान होता है और ऋणावेशित कण सोम तत्त्व प्रधान होता है। सोम तत्त्व शीतल सूक्ष्म प्राणों वा मरुत् नामक पवनों का रूप है। यह सोम तत्त्व आकाश महाभूत को अपने साथ आकर्षित किये रहता है। इसलिए वेद में कहा- **"सोमः अन्तरिक्षं दाधार" (म.द.ऋ.भा.६.२७.४)**। **महर्षि दयानन्द** ने **ऋ.भा.६.७२.३** में **'सोम'** का अर्थ **'मरुत्'** किया एवं इसी वेद के **३.३३.१२** के भाष्य में 'शान्त गुण युक्त' अर्थ किया तथा **ऋ.६.७२.२** के भाष्य में 'विद्युत्' अर्थ भी किया है। इस कारण सोम पदार्थ एवं इसकी प्रधानता वाला ऋणावेशित कण अपनी सूक्ष्म मरुत् रश्मियों द्वारा आकाश तत्त्व को अपनी ओर आकर्षित करके धारण किये रहता है। उधर आकाश तत्त्व अर्थात् अन्तरिक्ष अग्नि तत्त्व को धारण करने वाला होता है, इसलिए कहा- **"अन्तरिक्षमाग्नीध्रम्" (तै.ब्रा.२.१.५.१.), "अन्तरिक्षं वा ऽआग्नीध्रम्" (श.६.२.३.१५)**। इस प्रकार ऋणावेशित और धनावेशित कण परस्पर आकर्षित होते हैं। उधर इन सभी को सूत्रात्मा वायु अपने साथ बांधे रखता है और क्योंकि अग्नि तत्त्व प्रधान अर्थात् धनावेशित कण प्राणादि पदार्थों के संपीडन से ही उत्पन्न होता है। इस कारण उसमें प्राण तत्त्व की सघनता व बलशीलता अधिक होती है। इस कारण वहाँ प्राण तत्त्व के कुछ अंशों को धनंजय प्राण के साथ आकाश तत्त्व में उत्सर्जित करता रहता है। ये प्राण सोम तत्त्व प्रधान जिसमें प्राण तत्त्व की कुछ विरलता रहती है, उस ऋणावेशित कण द्वारा स्वाभाविक रूप से अवशोषित किया जाता है। इसी कारण कहा- **"मिथुनं वा अग्निश्च सोमश्च, सोमो रेतोधा अग्निः प्रजनयिता" (काठ.८.१७; क.७.६)** एवं **"योषा वाऽआपो वृषाऽग्निः" (श.१.१.१.१८; २.१.१.४)**। वर्त्तमान विज्ञान virtual photon मानता है, वह वस्तुतः धनंजय प्राण के साथ संयुक्त प्राणों के रेत अर्थात् सार भाग, जो धनावेशित कणों से उत्सर्जित होता है एवं अन्तरिक्ष को धारण करने वाले ऋणावेशित कणों से उत्सर्जित मरुतों अर्थात् सूक्ष्म पवनों का खेल है किंवा इसी विनिमय से अन्तरिक्षस्थ सूक्ष्म प्राणों के साथ मिलकर वर्त्तमान विज्ञान की भाषा में virtual photon का निर्माण होता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- धनावेशित एवं ऋणावेशित कणों के बीच आकर्षण के लिए वर्त्तमान विज्ञान जिन virtual photons के विनियम को उत्तरदायी मानता है, उन photon के प्रवाह एवं उनकी उत्पत्ति वर्त्तमान विज्ञान जगत् में पूर्णतया अज्ञात है। बल की उत्पत्ति पहले अथवा photons का प्रभाव पहले, इस बात का कोई भी उत्तर वर्त्तमान विज्ञान के पास नहीं है। यदि बल पहले, तो बल की उत्पत्ति क्यों? यदि photons का प्रवाह पहले, तो प्रवाह का प्रारम्भ क्यों? इन सभी अनुत्तरित प्रश्नों का उत्तर यहाँ दिया गया है। जिसे व्याख्यान में सरलता से समझा जा सकता है। आकर्षण की इस प्रक्रिया के विषय में नोबेल पुरस्कार से सम्मानित प्रख्यात अमरीकी भौतिक शास्त्री Richard P. Feynman ने अपनी पुस्तक Lectures on Physics में लिखा है-

"The existence of the positive charge, in some sense distorts or creates a 'condition' in space, so that when we put the negative charge in it feels a force. This potentiality of producing a force is called an electric field." (p. 17, vol. I)

यह वक्तव्य भी किंचित् भेद के साथ हमारे वैदिक मत का ही अनुसरण कर रहा है परन्तु वैदिक मत इसकी अपेक्षा अधिक गम्भीर व स्पष्ट है। प्रसंगतः प्रतिकर्षण बल पर भी चर्चा कर लेते हैं।

चित्र १.७ दोनों ओर धनावेशित कण अर्थात् आग्नेय तत्त्व विद्यमान है, जो यद्यपि सूत्रात्मा वायु के दुर्बल बन्धन से बंधे हुए हैं, परन्तु दोनों कणों में से धनंजय प्राण के साथ अन्य प्राण तत्त्वों का सार भाग उत्सर्जित होता है। जो परस्पर टकराकर वापिस मुड़कर घूम जाता है, जिससे दोनों कणों के बीच आकर्षण न होकर प्रतिकर्षण बल काम करता है।

चित्र १.८ दोनों ऋणावेशित कण अर्थात् आप्य (सोम) तत्त्व विद्यमान हैं, जो सूत्रात्मा वायु के दुर्बल बन्धन से बंधे हुए हैं। दोनों ओर से मरुत् रूपी सूक्ष्म प्राण रश्मियों का उत्सर्जन होता है। ये दोनों ओर की रश्मियाँ आकाश तत्त्व में परस्पर टकराकर घूम कर वापिस लौट जाती हैं, जिसके कारण दोनों कणों के बीच आकर्षण न होकर प्रतिकर्षण बल कार्य करता है।

४. ऊतयः खलु वै ता नाम याभिर्देवा यजमानस्य हवमायन्ति, ये वै पन्थानो याः स्रुतयस्ता वा ऊतयस्त उ एवैतत्स्वर्गयाणा यजमानस्य भवन्ति।।

{ऊतिः = ऊतिरवनात् (नि.५.३)। ऊती = ऊत्या च पथा (च) (नि.१२.२१), अव्+क्तिन् (अव = क्षण-गति-क्रान्ति-प्रीति-तृप्ति-अवगम-प्रवेश-श्रवण-स्वामी-अर्थ-याचन-क्रिया-इच्छा-दीप्ति-अवाप्ति-आलिङ्गन-हिंसा-आदान-भाव-वृद्धिषु)। स्रुतिः = विविधा गतिः (तु.म.द.ऋ. भा.१.१३.१२), स्रवणं गमनं यस्मिन् मार्गे सः (म.द.ऋ.भा.१.४६.११)। स्वर्गः = अपरिमितो वै स्वर्गो लोकः (ऐ.६.२३), अथ यत्परं भाः (सूर्यस्य) प्रजापतिर्वा स स्वर्गो वा लोकः (श. १.६.३.१०), वाजो वै स्वर्गो लोकः (तां.१८.७.१२), मध्ये ह संवत्सरस्य स्वर्गो लोकः (श. ६.७.४.११), स्वर्गो वै लोको यज्ञः (कौ.ब्रा.१४.१)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त इष्टि और आहुति मिलकर अर्थात् आकर्षण बल एवं बलों के कार्य करने की प्रक्रिया विभिन्न कणों के लिए ऊतियाँ अर्थात् मार्गों का निर्माण करते हैं। कोई भी गतिशील कण एक निश्चित मार्ग में, निश्चित गति के साथ अन्य कण को आकर्षित करने की इच्छा से आवश्यक शक्तिसम्पन्न होकर अपने मार्गों को व्याप्त करता हुआ आगे बढ़ता है। इस मार्ग की मुख्य विशेषता यह होती है कि यह पूरी तरह सुरक्षित होता है अर्थात् **जिस मार्ग पर कोई सूक्ष्म कण वा तरंग गति करते हैं, उस मार्ग पर कोई दूसरा कण वा तरंग प्रवेश नहीं कर सकता।** ऐसे मार्गों से ही विभिन्न प्रकाशमान कण वा तरंगें किसी अन्य संयोग के लिए उत्सुक कण के आकर्षित करने पर गति करते हैं, इन्हीं मार्गों को '**स्रुति**' भी कहते हैं, क्योंकि इन्हीं मार्गों से ये कण वा तरंगें बहते हुए से चलते हैं अर्थात् सारे मार्ग को व्याप्त करते हुए आगे बढ़ते हैं। ये स्रुतियाँ अथवा ऊतियों रूपी मार्ग यजमान को स्वर्ग की ओर ले जाने वाले होते हैं। इसका आशय यह है कि इससे संयोग करने के इच्छुक कण वा तरंगें वाज अर्थात् अन्य बलसम्पन्न कण वा तरंगों की ओर आकर्षित होता है, जिससे विभिन्न कण संगत होकर नवीन तत्त्वों का निर्माण करते हैं। इसी प्रकार सूर्यादि तारों के भीतर भी विभिन्न प्रकार के कण सुरक्षित मार्गों से गुजरते हुए सूर्य के केन्द्रीय भाग में पहुँचते हैं एवं सूर्यादि तारों के केन्द्रीय भाग से विभिन्न ऊर्जा तरंगें ऐसे ही सुरक्षित मार्गों द्वारा बाहर की ओर गति करती हैं। गतिशील कणों और तरंगों के मार्ग की सुरक्षा कौन करता है? इस विषय में हमारा मत है कि सबको परिधिरूप में घेरने वाला एवं सर्वत्र व्याप्त होकर एक बन्धन में बांधने वाला प्राण नामक प्राणयुक्त सूत्रात्मा वायु ही मार्ग को सुरक्षा प्रदान करता है। मानो यह हर कण वा तरंग का सुरक्षा कवच होता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- ब्रह्माण्ड में संचरित होने वाली तरंग वा कण एक निश्चित व सुरक्षित मार्ग में ही गमन करते हैं। एटम के अन्दर इलेक्ट्रान अथवा ब्रह्माण्ड में गतिशील विभिन्न तरंगें वा किरणें किसी भी अन्य तरंगों से टकराकर भी अपने मार्ग से भ्रष्ट नहीं होती हैं। आधुनिक विज्ञान तरंगों के क्षणिक मेल को जो सुपर पॉजिशन (Super Position) नाम देता है, उस सुपर पॉजिशन के तुरन्त पश्चात् तरंगें स्वतः ही अपने पूर्व मार्ग पर आगे बढ़ती हैं। यदि ऐसा न होता तो सारे ब्रह्माण्ड की ध्वनि संचार व्यवस्था ठप हो जाती। विभिन्न प्रकाश तरंगों के बाधित होने से कुछ भी स्पष्ट दिखाई न देता, अन्य भी भंयकर उपद्रव हो जाते। एटम्स के अन्दर बहुत बड़ी दुर्घटनाएँ घट सकती थीं। परन्तु सर्वनियन्ता चेतन तत्त्व परमात्मा की सुव्यवस्था के कारण सभी के मार्ग सुरक्षित होते हैं। इस सुरक्षा का कारण है प्राण नामक प्राणयुक्त सूत्रात्मा वायु रूप प्राण।

उपर्युक्त चित्र में प्रथम स्थिति में कण 1 व कण 2 निर्दिष्ट दिशा में आगे बढ़ रहे हैं। सूत्रात्मा वायु तरंग रूप में सबको व्याप्त किया हुआ दिखाई दे रहा है। इसके साथ ही कणों के परितः परिधिरूप में भी सूत्रात्मा वायु विशेषतः विद्यमान है। दोनों ही कणों को धनंजय प्राण निर्दिष्ट दिशा में आगे ले जा रहा है। स्थिति दो में दोनों कण अति निकट पहुँचते हैं, परन्तु वे परस्पर पूर्णरूप से स्पर्श नहीं कर सकते हैं। दोनों के बीच में सूत्रात्मा वायु व अन्य कुछ प्राणों का घेरा कुछ दूरी अवश्य रखता है परन्तु सूत्रात्मा वायु का एक अन्य घेरा दोनों कणों को संयुक्त रूप से आच्छादित कर लेता है, जिसके कारण दोनों कणों की आकृति संयुक्त होकर क्षणभर के लिए परिवर्तित हो जाती है परन्तु उन दोनों की

दिशाओं को धनंजय प्राण बाधित नहीं होने देते हैं, यह संयुक्त आकृति ही सुपर पॉजिशन के रूप में दिखाई देती है। उसके पश्चात् तृतीय स्थिति उत्पन्न होती है, जिसमें दोनों कण पूर्ववत् आकृति एवं दिशा प्राप्त करके बिना किसी परिवर्तन के आगे बढ़ जाते हैं। इसलिए कहा है कि इनके मार्ग सुरक्षित होते हैं। ये मार्ग अनन्त दूरी तक चले जाते हैं और सर्वत्र यही नियम कार्य करता है।
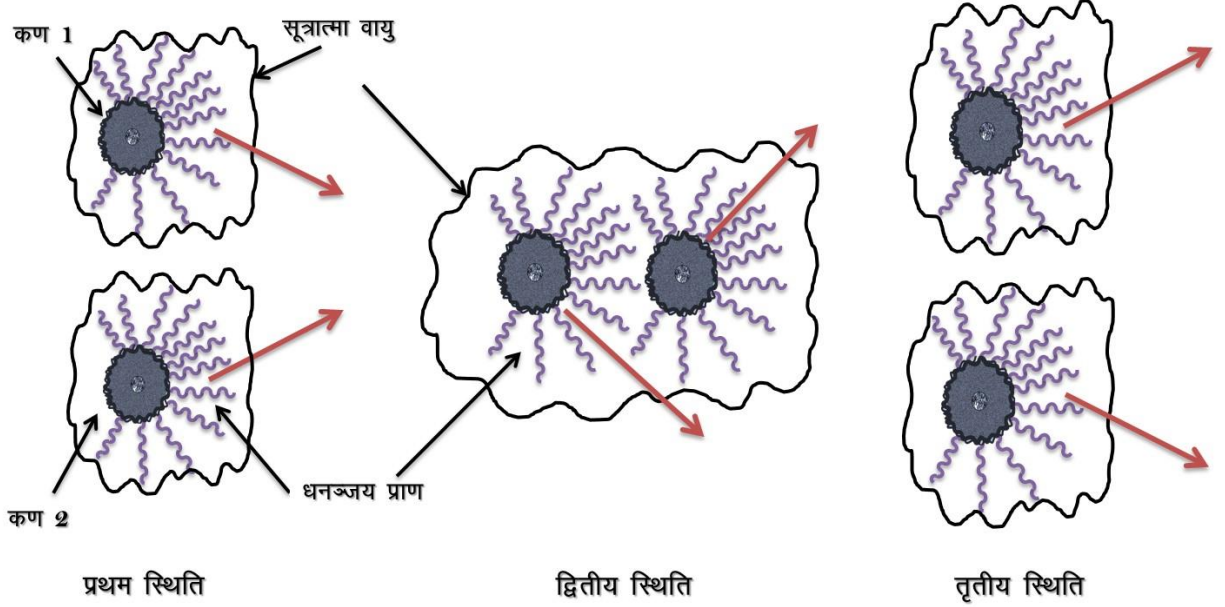
चित्र १.६ तरंगों की Super Position की प्रक्रिया

५. तदाहुर्यदन्यो जुहोत्यथ योऽनु चाऽऽह यजति च कस्मात् तं होतेत्याचक्षत इति।। यद्वाव स तत्र यथाभाजनं देवता अमुमावहामुमावहेत्यावाहयति तदेव होतुर्होतृत्वं होता भवति।।
होतेत्येनमाचक्षते य एवं वेद।।२।।

{अन्यः = नानेयः (नि.१.६)। होता = ह्वाता (तु.नि.७.१५), अग्निर्वै होता (श.१.४.१.२४), वाग्वै होता (कौ.ब्रा.१३.७), मनो होता (तै.ब्रा.२.१.५.६), प्राणो वै होता (ऐ.६.८)}

व्याख्यानम्- पूर्व प्रकरण में जहाँ दो कणों का संयोग वा आकर्षण होता है, वहाँ दो प्रकार के पदार्थों का अस्तित्त्व होता है। प्रथम वे कण, जो परस्पर आकर्षित होते हैं, जैसे- धनावेश (अग्नि प्रधान) एवं ऋणावेश (सोम या आप प्रधान)। दूसरे पदार्थ वे हैं, जिनका इन दोनों के मध्य में विनिमय होता रहता है, जैसे- मरुत् एवं धनंजय प्राण, जिनसे निर्मित घनीभूत प्राण तत्त्व को वर्त्तमान विज्ञान virtual photon नाम देता है। ये virtual photon किंवा धनंजय व मरुत् संयुक्त प्राण अन्य अर्थात् न ग्रहण करने योग्य हुआ करते हैं अर्थात् सामान्यतया किसी तकनीक की सहायता से किसी भी इन्द्रिय द्वारा इनका ग्रहण नहीं किया जा सकता है। ये अपनी आहुति सतत देते रहते हैं, पुनरपि इन्हें होता न कहकर आकर्षित होने वाले आग्नेय और सोम्य अर्थात् धनावेशितत और ऋणावेशितत कणों को होता क्यों कहते हैं?।।

इसका उत्तर देते हुए महर्षि कहते हैं कि ये आग्नेय और सौम्य कण अर्थात् परस्पर आकर्षित होने वाले कण विभिन्न मरुतों और धनंजय पदार्थ से संयुक्त प्राण तत्त्व को उचित विभाग एवं उचित स्थान प्रदान करते हुए बुलाते रहते हैं अर्थात् आकर्षित करते रहते हैं। इस कारण अर्थात् बुलाने वा आकर्षण करने के कारण उन्हें **'होता'** कहा जाता है।।

जिनमें इस प्रकार का गुण विद्यमान होता है, उन सभी को **'होता'** कहा जाता है। इसी कारण मन-प्राण-अग्नि-वाक्-सूर्यादि सभी होता कहलाते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- दो कणों के बीच में आकर्षण बल उत्पन्न करने वाले किंवा उनको बांधने वाले virtual पार्टिकल्स को किसी भी तकनीक से नहीं देखा जा सकता। आकर्षित होने वाले वे पार्टिकल्स विभिन्न प्राण व मरुत् रश्मियों को उचित विभाग और स्थान प्राप्त कराके अपने अन्दर उनका विनिमय कराते रहते हैं।

सायण भाष्य व मालवीय अनुवाद

अब हम खण्ड २.१ पर आचार्य सायण का भाष्य एवं डॉ. सुधाकर मालवीय का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत करते हैं-

यज्ञेन वै देवा ऊर्ध्वाः स्वर्गं लोकमायंस्तेऽबिभयुरिमं नो दृष्ट्वा मनुष्याश्च ऋषयश्चानु प्रज्ञास्यन्तीति; तं वै यूपेनैवायोपयंस्तं यद्यूपेनैवायोपयंस्तद्यूपस्य यूपत्वं; तमवाचीनाग्रं निमित्योर्ध्वा उदायंस्ततो वै मनुष्याश्च ऋषयश्च देवानां यज्ञवास्त्वभ्यायन् यज्ञस्य किंचिदेषिष्यामः प्रज्ञात्या इति; ते वै यूपमेवाविन्दन्नवाचीनाग्रं निमितं; ते विदुरनेन वै देवा यज्ञमयूयुपन्निति, तमुत्खायोर्ध्वं न्यमिन्वंस्ततो वै ते प्र यज्ञमजानन् प्र स्वर्गं लोकम्।। इति।

पुरा कदाचिद्देवा ज्योतिष्टोमं यज्ञमनुष्ठाय तत्फलभूतं स्वर्गं प्राप्तास्तत्र चावस्थाय भीतिं प्राप्ताः। केनाभिप्रायेणेति स उच्यते। ये मनुष्या वर्णाश्रमधर्मप्रवृत्ता ये च ऋषयस्तपसि प्रवृत्तास्ते सर्वेऽप्यस्मदीयमिमं यज्ञं दृष्ट्वा स्वयमप्यनुष्टाय- स्वर्गे समागत्यास्मान् प्रज्ञास्यन्ति ततोऽस्मत्समा भविष्यन्ति। ततस्ते देवा भीता मनुष्याणामृषीणां च व्यामोहाय तमेव स्वकीयं यज्ञं यूपस्तम्भेनैवायोपयन् मिश्रितवन्तः। अन्यथानुष्ठानरूपं भ्रममुत्पादितवन्त इत्यर्थः। यस्मात् कारणाद्यूपेनैव तं यज्ञमयोपयन्नन्यथा कृतवन्तस्तस्माद्योपनसाधनत्वाद्यूपनाम संपन्नम्। केन क्रमेण व्यामोहितवन्त इति। उच्यते- तं यूपं पूर्वमूर्ध्वाग्रं सन्तमिदानीमवाचीनाग्रमधोमुखं निमित्य निखायोर्ध्वाभिमुखा उद्गतास्तदानीं मनुष्या ऋषयश्च देवानां यज्ञवास्तु यज्ञभूमिमागत्य यज्ञस्य संबन्धि चिह्नं यत्किंचिदवगमिष्यामस्तच्च देवानुष्ठितस्य प्रज्ञात्यै संपद्यत इत्यभिप्रेत्य यज्ञभूमिं सर्वतः परीक्ष्य यज्ञचिह्नमिदमिति यूपमेवाविन्दन्नलभन्त। कीदृशं यूपमवाचीनाग्रं निमितमधोमुखत्वेन निखातं ततस्ते मनुस्या ऋषयश्चैवं विदुः। कथमिति, तदुच्यते- अनेनैवाधोमुखेन यूपेन देवा अस्मद्भ्रमाय स्वकीयं यज्ञं मिश्रितवन्त इति। ततस्तमधोमुखं निखातं यूपमुत्खाय पुनरूर्ध्वाभिमुखं न्यमिन्वन्निखातवन्तः। ततो यथाशास्त्रमवस्थितेन यूपेन मनुष्या ऋषयश्च देवैरनुष्ठितं यज्ञं प्रज्ञाय स्वर्गं लोकं प्राजानन्। तं यज्ञमनुष्ठाय स्वर्गं गता इत्यर्थः। सोऽयमर्थः शाखान्तरे संगृहीतः-'यज्ञेन वै देवाः सुवर्गं लोकमायंस्तेऽमन्यन्त मनुष्या नोऽन्वाभविष्यन्तीति ते यूपेन योपयित्वा सुवर्गं लोकमायंस्तमृषयो यूपेनैवानु प्राजानंस्तद्यूपस्य यूपत्वम्' इति।

{पशु इष्टि}-

ii. १ {vi.१} यज्ञ के द्वारा ही देवताओं ने ऊपर के स्वर्गलोक को प्राप्त किया। वे डर गये कि हमारे इस यज्ञ को देखकर {वर्णाश्रम धर्म में प्रवृत्त} मनुष्य और {तपश्चर्या में लगे हुए} ऋषिगण {भी स्वयं अनुष्ठान करके स्वर्ग लोक को प्राप्त करके} हमारे समान हो जायेंगे अतः उन देवताओं ने उस {स्वकीय यूप} को {उन लोगों को भ्रम उत्पन्न करने के लिए} यूप के द्वारा ही मिला दिया अर्थात् उनको रोक दिया। वहाँ जो यूप के द्वारा उन्हें रोका वही यूप के नाम का कारण है {अर्थात् यूप का अर्थ है वह खम्भा जिससे रोका जाये} ऊर्ध्व-लोक को जाते हुए उन देवताओं ने उस यूप के अग्र भाग को नीचे करके पृथिवी में गाड़ दिया। तब मनुष्य और ऋषि भी देवताओं के यज्ञ करने के स्थल पर आकर 'यज्ञ सम्बन्धी चिह्न को कुछ भी जान जाऊँ' यह सोचकर {देवताओं से अनुष्ठित यज्ञ-भूमि का चारों ओर परीक्षण करके 'यह यज्ञ का चिह्न है' ऐसा कहते हुए} उन्होंने पृथिवी में नीचे की ओर मुख करके गड़े हुए मात्र यूप को ही पाया। उन्होंने जान लिया कि इसी {अधोमुख यूप} के द्वारा देवताओं ने अपने यज्ञ को अन्यथा कर दिया {अर्थात् उलट-पुलट करके मिश्रित कर दिया} उन्होंने यूप को उखाड़ कर

उसका सिरा ऊपर की ओर करके गाड़ दिया। इसके बाद शास्त्र के अनुसार अवस्थित यूप के द्वारा मनुष्य और ऋषियों ने देवताओं से अनुष्ठित यज्ञ को जानकर उस यज्ञ का अनुष्ठान करके स्वर्ग लोक को प्राप्त किया।

इदानीं यूपनिखननं विधत्ते-

तद्यद्यूप ऊर्ध्वो निमीयते यज्ञस्य प्रज्ञात्यै, स्वर्गस्य लोकस्यानुख्यात्यै।। इति।

निमीयते निखातव्य इत्यर्थः।।

वह जो यूप को ऊर्ध्वाभिमुख करके गाड़ा जाता है उसका प्रयोजन यही है कि यज्ञ को जानें और स्वर्ग लोक को प्राप्त करें।

तस्य यूपस्य तक्षणेनाष्टाश्रित्वं विधीयते-

वज्रो वा एष यद्यूपः सोऽष्टाश्रिः कर्तव्योऽष्टाश्रिर्वै वज्रस्तं तं प्रहरति द्विषते भ्रातृव्याय वधं योऽस्य स्तृत्यस्तस्मै स्तर्तवै।। इति।

यूपस्य वज्रांशत्वेन वज्रत्वम्। तच्च शाखान्तरे श्रूयते- 'इन्द्रो वृत्राय वज्रं प्राहरत्स त्रेधा व्यभवत्स्फ्यस्तृतीयं रथस्तृतीयं यूपस्तृतीयम्' इति। लोके वज्रस्याष्टकोणत्वात् तद्रूपस्य यूपस्याप्यष्टाश्रित्वं कुर्यात्। 'द्विषते भ्रातृव्याय वधं' द्वेषं कुर्वतः शत्रोर्वधहेतुः तं वज्रं तं यूपं च पुरुषः प्रहरति प्रहारार्थ प्रयुङ्क्ते। अतो वज्रवत्प्रहरणसामर्थ्याद्यूपस्याष्टाश्रित्वं युक्तम्। 'यः' शत्रुः 'अस्य' यजमानस्य 'स्तृत्यो' हिंस्यो भवति 'तस्मै स्तर्तवै' तस्य शत्रोर्हिंसार्थमिदमष्टाश्रित्वम्।।

यह यूप वज्र है, उसे आठ धारों वाला बनाना चाहिए। वज्र में आठ धारें होती हैं। द्वेष करने वाले शत्रु के वध के लिए उस {वज्र} को और उस {यूप} को वह पुरुष प्रहार के लिए प्रयोग करता है {अतः वज्र के समान यूप का भी आठ धार वाला होना युक्तियुक्त है} जो शत्रु इस यजमान का हिंस्य होता है, उस {शत्रु} के मारने के लिए {यह आठ धारों वाला होता है}।

अष्टाश्रित्वसिद्धये यूपस्य यद्वज्रत्वमुक्तं तदेव शत्रोरप्रियहेतुत्वेनोपपादयति-

वज्रो वै यूपः स एष द्विषतो वध उद्यतस्तिष्ठति तस्माद्धाप्येतर्हि यो द्वेष्टि तस्याप्रियं भवत्यमुष्यायं यूपोऽमुष्यायं यूप इति दृष्ट्वा।। इति।

यो यूपोऽस्ति स एव शत्रोर्वधे निमित्तभूते सति स्वयमुद्यतस्तिष्ठत्युद्योगवानवतिष्ठतेऽतो वज्रत्वम्। यस्मादेवं पुराऽऽसीत्तस्मादिदानीमपि यः शत्रुर्यजमानं द्वेष्टि तस्य शत्रोर्विरोधियजमानानां यूपस्य दर्शनेन महदप्रियं भवति। अमुष्य विरोधिनो यूप इति निश्चये सत्यप्रियं न तु यूपमात्रदर्शनेन।।

यूप वज्र है, जो इस द्वेषी-शत्रु के वध के लिए स्वयं उद्योगवान् होकर अवस्थित होता है। {क्योंकि इस प्रकार प्राचीन समय में था} अतः इस समय भी जो {शत्रु इस यजमान से} द्वेष करता है उस शत्रु के विरोधी यजमानों के यूप को देखकर कि 'यह अमुक पुरुष का यूप है' 'यह अमुक पुरुष का यूप है'- महान् अप्रिय को प्राप्त होता है।

अथ कामनाविशेषेण यूपस्य प्रकृतिभूता वृक्षविशेषा वक्तव्याः। तत्राऽऽदौ खदिरवृक्षं विधत्ते-

खादिरं यूपं कुर्वीत स्वर्गकामः खादिरेण वै यूपेन देवाः स्वर्गं लोकमजयंस्तथैवैतद्यजमानः खादिरेण यूपेन स्वर्गं लोकं जयति।। इति।

स्वर्ग की कामना वाले यजमान को खदिर का यूप बनाना चाहिये; वस्तुतः खदिर के यूप के द्वारा देवताओं ने स्वर्ग लोक को जीत लिया उसी प्रकार वह यजमान भी खदिर के यूप के द्वारा स्वर्ग लोक को जीत लेता है।

फलद्वयार्थं बिल्ववृक्षं विधत्ते-

बैल्वं यूपं कुर्वीतान्नाद्यकामः पुष्टिकामः समां समां वै बिल्वो गृभीतस्तदन्नाद्यस्य रूपमामूलाच्छाखाभिरनुचितस्तत्पुष्टेः।। इति।

समां समां तस्मिंस्तस्मिन्संवत्सरे बिल्ववृक्षो गृभीतः फलैर्गृहीतः, तच्च फलग्रहणमदनयोग्यस्यान्नस्य रूपम्। बिल्वफलानि भुंचानैर्भक्ष्यन्ते। मूलमारभ्य शाखाभिरनुक्रमेणोपचितो बिल्ववृक्षस्तत्रोपचयनं पुष्टेः स्वरूपं तस्मात् फलद्वयं युक्तम्।।

अन्न और पुष्टि की कामना वाले यजमान को बिल्व {=बेल} का यूप बनाना चाहिए। बिल्व पर प्रत्येक संवत्सर में फल होता है, इसलिए वह अन्न का रूप है। वह मूल से शाखा तक अनुक्रमेण बढ़ता है अतः वह पुष्टि का द्योतक है। {अतः दोनों फलों का होना इसमें युक्तियुक्त है}।

अध्वर्योर्वेदनं प्रशंसति-

पुष्यति प्रजां च पशूंश्च य एवं विद्वान् बैल्वं यूपं कुरुते।। इति।

जो इस प्रकार जानते हुए बिल्व का यूप बनाता है वह अपनी पुत्रादि प्रजा और पशुओं को पुष्ट करता है।

लोकप्रसिद्ध्या बिल्वस्य प्रशस्ततां द्रढयति-

यदेव बैल्वां३ बिल्वं ज्योतिरिति वा आचक्षते।। इति।

अत्र किंपदमध्याहृत्य योजनीयम्। हे अध्वर्यो किमत्र बैल्वं यूपं कृतवानसि, तत्सम्यग्भवता कृतम्। बिल्ववृक्षस्वरूपं वृक्षमध्ये श्रीवृक्षनामकत्वेन लक्ष्मीस्वरूपत्वात् पूज्यत्वेन ज्योतिर्भवति। प्लुतिस्तु प्रशंसाद्योतकध्वन्यभिनयार्था। यदेव यस्मादेव कारणाद् ब्रह्मवादिन एवमाचक्षते, तस्माद् बैल्वो यूपोऽतिप्रशरत इत्यर्थः।।

{हे अध्वर्यु! तुमने} बिल्व का यूप जो बनाया वह ठीक है क्योंकि बिल्व {वृक्ष 'श्रीवृक्ष' नाम से वृक्षों के मध्य लक्ष्मी रूप में पूजित होने से} ज्योति है- ऐसा इसीलिए ब्रह्मवादी कहते हैं।

एतद्वेदनं प्रशंसति-

ज्योतिः स्वेषु भवति श्रेष्ठः स्वानां भवति य एवं वेद।। इति।

स्वेषु ज्ञातिषु ज्योतिस्तेजस्वी श्रेष्ठः श्रुतवृत्तसंपन्नः।।

जो इस प्रकार जानता है वह स्वजातियों में ज्योति अर्थात् तेजस्वी होता है, और स्वजाति के मध्य श्रेष्ठ होता है।

पुनः फलद्वयाय वृक्षान्तरं विधत्ते-

पालाशं यूपं कुर्वीत तेजस्कामो ब्रह्मवर्चसकामस्तेजो वै ब्रह्मवर्चसं वनस्पतीनां पलाशः।। इति।

तेजः शरीरकान्तिः। ब्रह्मवर्चसं श्रुताध्ययनसंपत्तिः। पुष्पाणामतिरक्तत्वेन पलाशस्य तेजस्त्वं परब्रह्मत्वश्रवणाद् ब्रह्मवर्चसत्वम्। तथा च शाखान्तरे श्रूयते- 'देवा वै ब्रह्मन्नवदन्त तत्पर्णं उपाशृणोत्' इति। एवमादि।।

तेज की कामना वाले और ब्रह्मवर्चस की कामना वाले {यजमान} को पलाश का यूप बनाना चाहिए। वस्तुतः वनस्पतियों में पलाश तेज और ब्रह्मवर्चस् है।

अध्वर्योरेतद्वेदनं प्रशंसति-

तेजस्वी ब्रह्मवर्चसी भवति य एवं विद्वान् पालाशं यूपं कुरुते।। इति।

जो इस प्रकार जानते हुए पलाश का यूप बनाता है वह तेजस्वी और ब्रह्मवर्चस्वी होता है।

बिल्वात् पलाशं प्रशंसति-

यदेव पालाशां३ सर्वेषां वा एष वनस्पतीनां योनिर्यत्पलाशस्तस्मात् पलाशस्यैव पलाशेनाऽऽचक्षतेऽमुष्य पलाशममुष्य पलाशमिति।। इति।

हे अध्वर्यो किं पालाशं यूपं कृतवानसि तत्सम्यक्कृतमिति प्रशंसार्था प्लुतिः। किंच पलाशः सर्ववनस्पतीनां कारणभूतस्तस्माद्योनित्वात् पलाशाख्यस्यैव वृक्षस्य संबन्धिना पलाशशब्देन सर्ववृक्षाणां पत्रमाचक्षते व्यवहरन्ति। अमुष्य न्यग्रोधस्य पलाशं पत्रममुष्य चूतवृक्षस्य पलाशं पत्रमेवं सर्ववृक्षसंग्रहार्था वीप्सा। पलाशशब्दः पुंलिङ्गो वृक्षविशेषवाची। नपुंसकलिङ्गः पत्रवाची। 'पलाशः किंशुकः पर्णः' 'पत्रं पलाशं छदनं दलं पर्णं छदः पुमान्' इत्यभिधानकारैरुक्तत्वात्। यस्मात् प्लुतिप्रयोगो यस्माच्च सर्ववृक्षयोनित्वं तस्मात् पलाशयूपः प्रशस्त इत्यर्थः।।

{हे अध्वर्यु! तुमने} जो पलाश का यूप बनाया वह ठीक ही है क्योंकि यह पलाश सभी वनस्पतियों की योनि है। पलाश वृक्ष के जो पलाश अर्थात् पत्ते हैं उन पत्तों के साम्य से ही प्रत्येक वृक्ष के पत्तों को पलाश कहते हैं। इसीलिए 'यह अमुक वृक्ष का पत्ता है', 'यह अमुक वृक्ष का पत्ता है'- ऐसा व्यवहार करते हैं।

वेदनं प्रशंसति-

सर्वेषां हास्य वनस्पतीनां काम उपाप्तो भवति य एवं वेद।।१।। इति।

जो इस प्रकार जानता है वह सभी वनस्पतियों के सम्बन्ध में जो कामना होती है उसे प्राप्त करता है।।

इस पर मेरा व्याख्यान

इस पर मेरा व्याख्यान इस प्रकार है-

१. यज्ञेन वै देवा ऊर्ध्वाः स्वर्गं लोकमायंस्तेऽबिभयुरिमं नो दृष्ट्वा मनुष्याश्च ऋषयश्चानु प्रज्ञास्यन्तीति; तं वै यूपेनैवायोपयंस्तं यद्यूपेनैवायोपयंस्तद्यूपस्य यूपत्वं; तमवाचीनाग्रं निमित्योर्ध्वा उदायंस्ततो वै मनुष्याश्च ऋषयश्च देवानां यज्ञवास्त्वभ्यायन् यज्ञस्य किंचिदेषिष्यामः प्रज्ञात्या इति; ते वै यूपमेवाविन्दन्नवाचीनाग्रं निमितं; ते विदुरनेन वै देवा यज्ञमयूयुपन्निति, तमुत्खायोर्ध्वं न्यमिन्वंस्ततो वै ते प्र यज्ञमजानन् प्र स्वर्गं लोकम्।।

{यूपः = मिश्रितो व्यवहारयत्नोदयः (म.द.य.भा.१६.१७), वज्रो यूपः (श.३.६.४.१६), यजमानो वै यूपः (ऐ.२.३), मिश्रितामिश्रितो बन्धनः (तु.म.द.य.भा.५.२७), शिखा यूपः (मै. ४.५.६), सर्वदेवत्यो यूपः (काठ.२६.६), गायत्रो हि यूपः (मै.३.६.३)। यज्ञः = वाग्वै यज्ञः (ऐ.५.२४, श.१.१.२.२), अग्निर्वै यज्ञः (श.३.४.३.१६), पशवो यज्ञः (श.३.२.३.११), यज्ञस्सोमो राजा (जै.ब्रा.१.२५६), यज्ञो विष्णुः (मै.४.१.१२)}

व्याख्यानम्- विभिन्न प्रकाशित कण यज्ञ के द्वारा अर्थात् अग्नि, सोम, वाक् तत्त्व आदि के संगतीकरण व सम्मिश्रण के द्वारा ऊर्ध्व स्वर्गलोक अर्थात् विशाल नेब्यूलादि के निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ वा सम्पन्न करते हैं। इस प्रक्रिया में पूर्वोक्त वाक् तत्त्व, विद्युत्, मरुत् आदि के तीक्ष्ण विकिरण रूप हो जाने पर ब्रह्माण्ड में पूर्ववर्णित फैला हुआ देदीप्यमान पदार्थ, जो प्राणापानादि तत्त्वों तथा सोम पदार्थ आदि से मिलकर बनता है, संघनित होने लगता है। यह संघनित रूप ही नेब्यूला आदि के रूप में प्रकट होता

है। इस समय उस पदार्थ में विभिन्न प्रकार के पदार्थ मिश्रित होते हैं। यह पदार्थ संघनित क्यों होता है? किस प्रकार होता है, इसका उत्तर यह है कि यह पदार्थ यूप अर्थात् रोकने की क्षमता से सम्पन्न वज्ररूप विकिरणों के प्रभाव से ऐसा होता है।

{देवाः = अपहतपाप्मानो देवाः (श.२.१.३.४)} यहाँ 'देव' शब्द का तात्पर्य है कि जो प्रकाशित कण अप्रकाशित हिंसक वायु के प्रभाव को निष्क्रिय कर देते हैं किंवा उसे छिन्न-भिन्न वा नियन्त्रित करके उसकी बाधा से मुक्त हो चुके होते हैं, वे देवसंज्ञक पदार्थ कहलाते हैं। ऐसे पदार्थ उक्त वज्ररूप तरंगों की सहायता से किसी भी भावी नेब्यूला के केन्द्रीय भाग में एकत्र होना प्रारम्भ कर देते हैं। ये वज्ररूप तरंगें एक विशेष प्रकार की तरंगें होती हैं, जो प्रकाशित कणों वा अग्नि के परमाणुओं को तेजी से उत्पन्न करने का सामर्थ्य रखती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वोक्त **अग्नि और सोम की सम्मिलित एवं एकरस जैसी अवस्था के किसी विशेष भाग में अथवा केन्द्रीय भाग में वज्ररूप किरणों, जिन्हें यहाँ यूप संज्ञा दी गई है, की अकस्मात् उत्पत्ति होती है।**
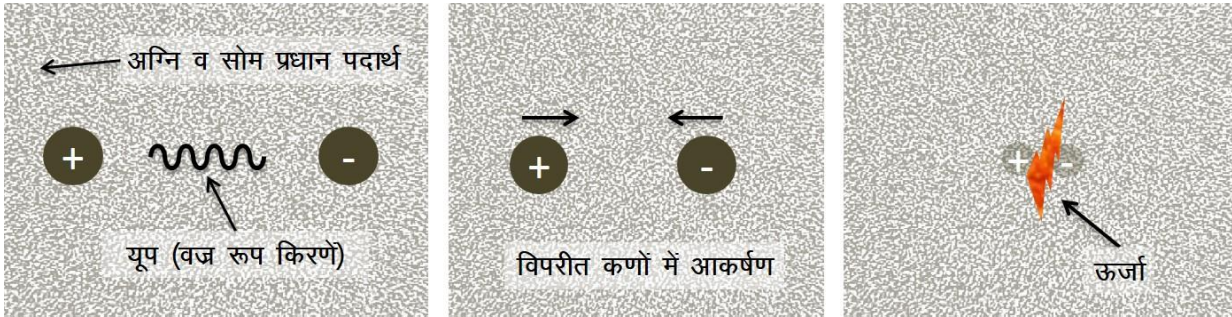
चित्र ६.१

ये किरणें विपरीत प्रकृति वाले कणों को परस्पर मिलाकर अपार ऊर्जा को उत्पन्न करती हैं। उस ऊर्जा के उत्पन्न होने पर केन्द्रीय भाग में कुछ रिक्तता उत्पन्न हो जाती हे। इसके कारण और भी विजातीय गुण वाले परमाणु तेजी से मिलकर ऊर्जा को उत्पन्न करते हैं।

ये विजातीय कण अग्नि और सोम प्रधान होते हैं। उस समय इन दोनों ही प्रकार के कणों की यह स्वाभाविक प्रकृति हो जाती है कि वे अल्प प्रकाशित, अल्पायु वाले मनुष्य नामक कणों एवं विशुद्ध प्राणापानादि सूक्ष्म प्राणों एवं अन्य ऋषि प्राणों के प्रति बहुत कम आकर्षणशील होते हैं। यहाँ देवों का भयभीत होना समझाने की एक शैली मात्र है। इसका आशय यह है कि जब अग्नि और सोम प्रधान पदार्थ नेब्यूला के केन्द्रीय भाग का निर्माण करना प्रारम्भ कर देते हैं और जब उनके संयोग से अत्यधिक ऊर्जा उत्पन्न होकर तेजी से बहिर्गमन करती है, तब वज्ररूप रश्मियाँ भी विपरीत स्वरूप को प्राप्त कर बहिर्मुखी हो उठती हैं और इस बहिर्मुखी होने को ही यूप का उल्टा गाढ़ना कहा गया है। उसके पश्चात् मनुष्य नामक कण और प्राणापानादि एवं अन्य ऋषि प्राण केन्द्रीय भाग की ओर प्रवाहित होते हैं, तब उनकी संगति अग्नि और सोम प्रधान कणों से न होकर विपरीत गति वाले यूप अर्थात् वज्र रूप किरणों से होती है। इनके संसर्ग से वे दोनों पदार्थ प्रकाशित हो उठते हैं और उसके पश्चात् उन वज्ररूप किरणों की दिशा भी वापिस उलटकर केन्द्रीय भाग की तरफ हो जाती है। इसके उपरान्त केन्द्रीय भाग की ओर जाती हुई वज्ररूप किरणों के संसर्ग से अथवा उनके आकर्षण से मनुष्य नामक कण एवं ऋषि नामक प्राण भी केन्द्रीय भाग की ओर प्रवाहित होने लगते हैं तथा अग्नि और सोम प्रधान पदार्थ में मिश्रित हो जाते हैं। इस विषय में महर्षि तित्तिर ने भी उपर्युक्तवत् विज्ञान को दर्शाते हुए लिखा है- "यज्ञेन वै देवाः सुवर्गं लोकमायंस्तेऽमन्यन्त मनुष्या नोऽन्वाभविष्यन्तीति ते यूपेन योपयित्वा सुवर्गं लोकमायंस्तमृषयो यूपेनैवानु प्राजानंस्तद्यूपस्य यूपत्वम्" (तै.सं.६.३.४.७)।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब ब्रह्माण्ड में अग्नि और सोम पदार्थ किंवा धनावेशित वा ऋणावेशित कण सर्वत्र उत्पन्न हो जाते हैं, उस समय **किसी विशेष भाग अथवा केन्द्रीय भाग में अकस्मात् कुछ ऐसी वज्र रूप रश्मियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जो धनावेशित और ऋणावेशित कणों की ऊर्जा को उस स्तर तक ले जाती हैं, जहाँ वे परस्पर मिलकर ऊर्जा में परिवर्तित होने लग जाएं। अन्य कण और प्रतिकण भी मिलकर इसी प्रक्रिया को दोहराते हैं। जब ये ऊर्जा उस नवनिर्मित केन्द्रीय भाग से बाहर की ओर**

प्रवाहित होने लगती है, उस समय वे वज्र रूप किरणें भी उसके साथ बहिर्गमन करने लग जाती हैं। उसके पश्चात् मनुष्य नामक कण जिनकी गति अनियमित होती है तथा जो अल्प प्रकाशवान् एवं अल्पायु होते हैं, वे एवं विभिन्न ऋषि प्राण वज्र रूप किरणों के प्रभाव से देदीप्यमान होकर उन किरणों को वापिस केन्द्रीय भाग की ओर परावर्तित कर देते हैं और फिर वे उनके साथ ही केन्द्रीय भाग की ओर प्रवाहित होने लग जाते हैं। **ब्रह्माण्ड में नेब्यूलाओं का जन्म कैसे होता है? कैसे व्यापक क्षेत्र में फैला हुआ पदार्थ संघनित होने लगता है? कैसे गुरुत्वाकर्षण बल अकस्मात् एक स्थान पर केन्द्रीभूत होने लगता है? इन अति गम्भीर प्रश्नों का अति गम्भीर समाधान यहाँ दिया गया है। कण और प्रतिकणों से मिलकर ऊर्जा में बदलने और फिर उस ऊर्जा के उत्सर्जित होने के कारण हुआ रिक्त स्थान सम्पूर्ण पदार्थ को अपनी ओर आकर्षित करने का कारण बन जाता है** और इन सबका कारण वज्र रूप किरणों का स्वरूप आगे इसी खण्ड में दर्शाया जायेगा।।
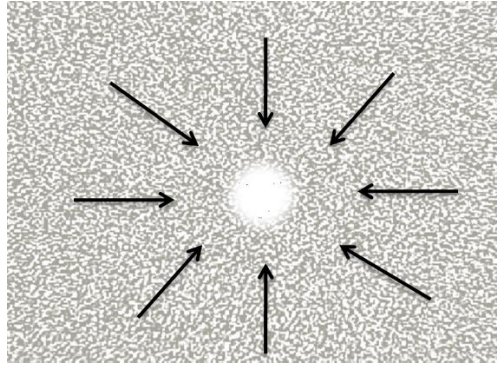
चित्र ६.२ तारों के केन्द्र के निर्माण का प्रारम्भ

२. तद्यद्यूप ऊर्ध्वो निमीयते यज्ञस्य प्रज्ञात्यै, स्वर्गस्य लोकस्यानुख्यात्यै।।
वज्रो वा एष यद्यूपः सोऽष्टाश्रिः कर्तव्योऽष्टाश्रिर्वै वज्रस्तं तं प्रहरति द्विषते भ्रातृव्याय वधं योऽस्य स्तृत्यस्तस्मै स्तर्तवै।।
वज्रो वै यूपः स एष द्विषतो वध उद्यतस्तिष्ठति तस्माद्धाप्येतर्हि यो द्वेष्टि तस्याप्रियं भवत्यमुष्यायं युपोऽमुष्यायं यूप इति दृष्ट्वा।।

{अश्रिः = किनारा, तेज धार, कोण इति आप्टे। आश्रयति तत्रेति अश्रिः (उ.को.४.१३६)। वज्रः = वज्रो वै पशवः (श.६.४.४.६), वज्रो वै चक्रम् (तै.ब्रा.१.४.४.१०), वज्रस् त्रिष्टुप् (श.३.६.४.२२; काठ.२१.२)}

व्याख्यानम्- यूप अर्थात् वज्र नामक किरणें केन्द्रीय भाग की ओर इस कारण प्रवाहित होती हैं कि उस भाग में विभिन्न पदार्थ संगत होकर सृष्टि प्रक्रिया को आगे बढ़ा सकें। यहाँ **'ऊर्ध्व'** का अर्थ केन्द्रीय भाग करने का कारण १.७.६ में जानें। इन्हीं वज्र रश्मियों के कारण नेब्यूला के केन्द्र के निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है और केन्द्र बनने के पश्चात् शेष भाग का निर्माण होता है।।

वज्र रूप रश्मियों को यूप इस कारण कहते हैं, क्योंकि समान प्रकार के परन्तु विपरीत विद्युत् शक्ति वा स्वभाव वाले कणों का संयोगीकरण इन्हीं के कारण होता है एवं इन्हीं के कारण अप्रकाशित हिंसक विद्युत् वायु को वियुक्त वा छिन्न-भिन्न किया जाता है। वे यूप अर्थात् वज्र रूप किरणें इस प्रकार गमन करती हैं कि उनके मार्ग अष्टभुजाकार हो जाते हैं और उनके अष्ट कोण इतने तीक्ष्ण होते हैं कि वे अप्रकाशित हिंसक विद्युत् वायु की तरंगों को नष्ट वा छिन्न-भिन्न कर देते हैं। जब हिंसक अप्रकाशित विद्युत् तरंगें कणों की संयोग प्रक्रिया में बाधक बनती हैं, तब वज्र रूप किरणों का उन पर प्रहार होता है। सप्त छन्दों में त्रिष्टुप् छन्द विशेष रूप से वज्र का काम करता है और इसका क्या स्वरूप होता है? इसके लिये पूर्वपीठिका भी पढ़ें।।

वे वज्र रूप किरणें न केवल तीव्र भेदन शक्तियुक्त होती हैं अपितु विभिन्न कणों को संयुक्त करने में भी सहायक होती हैं। ध्यातव्य है कि जब कोई पदार्थ परस्पर संयुक्त होने लगते हैं, उस समय अप्रकाशित हिंसक विद्युत् वायु अपने तीव्र प्रक्षेपक और प्रतिकर्षक बल के द्वारा उस संयोग प्रक्रिया को अवरुद्ध करके प्रक्षेपण कर्म उत्पन्न करता है। उस स्थिति में ये वज्र रूप किरणें उस अप्रकाशित विद्युत् को छिन्न-भिन्न करके संयोग प्रक्रिया को सम्पन्न कराती हैं। जिस प्रकार नेब्यूला के निर्माण के समय इस प्रकार की प्रक्रिया होती है, उसी प्रकार वर्त्तमान ब्रह्माण्ड में भी हर संयोग प्रक्रिया के साथ यही क्रिया होती है। जब भी अप्रकाशित हिंसक विद्युद्वायु संयोगोन्मुख कणों के बीच अपना तीव्र प्रतिकर्षण बल प्रक्षिप्त करता है, उसी समय उन-उन कणों के निकट विद्यमान वे वज्र रूप किरणें उन-उन कणों के द्वारा आकर्षित होती हुई बाधक पदार्थ को तीव्रता से प्रतिकर्षित करती हैं, जिससे वह दूर हटकर निष्प्रभावी हो जाता है। जब पूर्वोक्त मनुष्य नामक कण एवं ऋषि नामक प्राण निर्मित होते हुए नेब्यूला के केन्द्र की ओर प्रवाहित होते हैं। उस समय भी अप्रकाशित बाधक पदार्थ उनको घेरकर बाधा खड़ी करता है। उस समय भी ये वज्ररूप किरणें उस बाधक पदार्थ को छिन्न-भिन्न करके उन पदार्थों को केन्द्रीय भाग की ओर जाने के लिये सुरक्षित मार्ग प्रदान करती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- वज्र रूप किरणें नेब्यूला के केन्द्रीय भाग के निर्माण में विशेष सहायक होती हैं। वे किरणें ही कण और प्रतिकणों को परस्पर संयुक्त करके ऊर्जा उत्पन्न करने के लिए आवश्यक शक्ति प्रदान करती हैं और ये किरणें ही कण-प्रतिकणों के संयोग में बाधा उत्पन्न करने वाले किंवा पदार्थ के संघनित होने में बाधक बनने वाले अप्रकाशित पदार्थ को दूर करने में सहायक होती हैं। जिस प्रकार नेब्यूला, विभिन्न तारों आदि के निर्माण के समय अप्रकाशित तत्त्व की बाधा इन्हीं वज्र रश्मियों के द्वारा दूर करके विभिन्न नेब्यूला एवं विभिन्न लोकों के निर्माण की प्रक्रिया सम्पन्न होती है, उसी प्रकार इस समय भी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में अप्रकाशित पदार्थ का प्रतिकर्षण बल हर संयोग को बाधित करने का प्रयत्न करता है और उस बाधा को ये ही वज्र रूप किरणें दूर करके संयोग प्रक्रिया को सम्पन्न करने में सहायक होती हैं। वज्र रूप किरणों में अष्टभुजाकार तीक्ष्ण सिरे होते हैं, जो डार्क एनर्जी के दुष्प्रभाव को छिन्न-भिन्न करते हैं।।
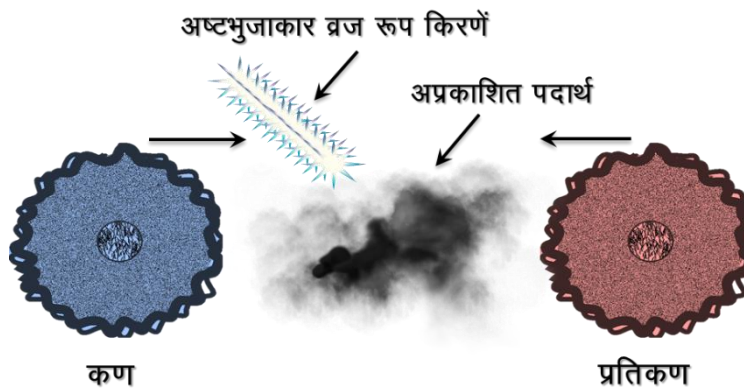
चित्र ६.३ वज्र किरणों द्वारा डार्क एनर्जी का विनाश

३. खादिरं यूपं कुर्वीत स्वर्गकामः खादिरेण वै यूपेन देवाः स्वर्गं लोकमजयंस्तथैवैतद्यजमानः खादिरेण यूपेन स्वर्गं लोकं जयति।।
बैल्वं यूपं कुर्वीतान्नाद्यकामः पुष्टिकामः समां समां वै बिल्वो गृभीतस्तदन्नाद्यस्य रूपमामूलाच्छाखाभिरनुचितस्तत्पुष्टेः।।
पुष्यति प्रजां च पशूंश्च य एवं विद्वान् बैल्वं यूपं कुरुते।।
यदेव बैल्वां३ बिल्वं ज्योतिरिति वा आचक्षते।।
ज्योतिः स्वेषु भवति श्रेष्ठः स्वानां भवति य एवं वेद।।

{खदिरः = खदति हिनस्तीति खदिरः (उ.को.१.५३), खदिरो यदेनेनाखिदत् (श.३.६.२.१२), अस्थिभ्य एवास्य (प्रजापतेः) खदिरः समभवत्। तस्मात् स दारुणः बहुसारः (श.१३.४.४.६), (अस्थि = अस्थिरं चञ्चलं किरणचलनम् - तु.म.द.ऋ.भा.१.८४.१३), अस्थि वा एतत् यत् समिधः (तै.ब्रा.१.१.६.४), अस्यति प्रक्षिपति येन तत् अस्थि (उ.को.३.१५४), अस्थीनि स्पर्शरूपम् (ऐ.आ.३.२.१)। (वषट्कारः = वाक् च वै प्राणापानौ च वषट्कारः - ऐ.३.८), (शिरो वै प्राणानां योनिः - श.७.५.१.२२), वषट्कारो वै गायत्रियै शिरोऽच्छिनत्, तस्यै रसः पराऽपतत्, स पृथिवीं प्राविशत् स खदिरोऽभवत् (तै.सं.३.५.७.१), (खद्+किरच्-खद भक्षणे स्थैर्ये हिंसायाञ्च, खद आच्छादने)। बिल्वः = असौ वा आदित्यो यतोऽजायत ततो बिल्व उदतिष्ठत्, सयोन्येव ब्रह्मवर्चसमवरुन्धे (तै.सं.२.१.८.१-२), प्रजापतिर्मज्जा (तु.श.१३.४.४.८), बिल्+वन् - आप्टे (बिल संवरणे, बिल भेदने)। गृभीतः = गृहीतः (म.द.ऋ.भा.१.२४.१२)। समाः = संवत्सराः (म.द.य.भा.१६.४६), प्रजाः (तु.म.द.य.भा.४०.८), समानां संवत्सराणाम् (नि.११.५), शुद्धाः (तु.म.द.ऋ.भा.४.५७.७)। शाखाः = अंगुलिनाम (निघं.२.५), शाखा खशयाः शक्नोतेर्वा (नि.१.४)}

व्याख्यानम्- पूर्व में जिस वज्ररूप यूप की चर्चा की गयी है, यहाँ उस वज्ररूप यूप के प्रकार बतालाये हैं। इनमें से प्रथम खादिर यूप की चर्चा की गयी है। पूर्व कण्डिकाओं में, विशेषकर इस खण्ड की प्रथम कण्डिका में अनेक गुणों में समान परन्तु किसी एक विशेष गुण की दृष्टि से विपरीत दो प्रकार के कणों के मिलने पर वज्र रूप विशेष किरणों के सहयोग से नेब्यूलाओं के केन्द्र बनने की प्रारम्भिक अवस्था में ऊर्जा के उत्पन्न होने और उसके बहिर्गमन करने से रिक्त स्थान बनने की बात कही गयी है, उस प्रकरण में कौनसी वज्र रूप किरणें इस कार्य को करने में समर्थ होती हैं? इसका यहाँ वर्णन किया गया है। वह वज्र खादिर यूप कहलाता है। खादिर यूप वे तरंगें हैं, जो मनस् तत्त्व के योग से किंवा उसके विकार से उत्पन्न अति चंचल एवं प्रक्षेपक धर्म वाली सूक्ष्म तरंगों से उत्पन्न होती हैं। **{प्राणो वै वषट्कारः - श.४.२.१.२६}** प्राणापान एवं वाक् तत्त्व के द्वारा गायत्री छन्द रश्मियों पर किये गये प्रहार से भी ये किरणें उत्पन्न होती हैं। जब विजातीय किंवा कण और प्रतिकण **१.२.३** में दर्शाये अनुसार धनावेशित और ऋणावेशित कणों की भाँति जब परस्पर निकट आते हैं और उन कणों में आवेश के अतिरिक्त अन्य सभी गुण-धर्म समान होते हैं, तब उनमें एक अद्भुत प्रक्रिया होती है। इनमें एक कण अग्नि प्रधान होता है और दूसरा कण सोम प्रधान होता है। अग्नि प्रधान कण में प्राण तत्त्व सघन रूप में विद्यमान होता है और सोम प्रधान कण में प्राण तत्त्व विरल रूप में विद्यमान होता है। जब दोनों कणों में प्राण एवं मरुतों के मिश्रण की मात्रा असमान होती है, तब उन दोनों के मध्य प्रबल आकर्षण होकर एक-दूसरे के प्रति दृढ़ बन्धन हो जाता है, जिसके फल-स्वरूप एक नया और अपेक्षाकृत स्थूल कण उत्पन्न हो जाता है, जैसा कि **१.२.३** में दर्शाया गया है। यदि दोनों कणों में यह मात्रा पूर्णतः समान होती है और प्राण व मरुतों के अनुपात के आधार पर केवल उनके वैद्युत आवेश में ही गुणात्मक विपरीतता होती है, उस समय एक अद्भुत घटना घटती है। वे दोनों कण पूर्व कणों की भाँति आकर्षित तो होते हैं, परन्तु उनमें आकर्षण बल इतना प्रबल होता है कि उन दोनों के मध्य आकाश तत्त्व का भी आवरण समाप्त होकर उन दोनों कणों का प्राण तत्त्व पूर्ण रूप से मिश्रित हो जाता है। उसी समय उपर्युक्त खादिर यूप रूपी तरंगें चेतन सर्वोच्च परमात्मा सत्ता की प्रेरणा से अकस्मात् प्रकट होकर उन दोनों कणों के संयुक्त रूप को आच्छादित करके अवशोषित कर लेती हैं। इसके साथ ही वे किरणें उस प्राण तत्त्व को एक सीमित व लगभग स्थिर आकार प्रदान करके अत्यन्त गति और भेदन क्षमतासम्पन्न स्वरूप प्रदान करती हैं और यही स्वरूप ही ऊर्जा का एक कण (क्वाण्टा) कहलाता है। कुछ कण विद्युत् आवेशयुक्त न होकर घूर्णन दिशा आदि की दृष्टि से सर्वथा विपरीत परन्तु अन्य दृष्टि से सर्वथा समान रूप वाले होकर कण और प्रतिकण कहलाते हैं। उनका परस्पर संयोग भी इसी प्रकार होता है। विपरीत घूर्णन के होने पर घूर्णन करता हुआ दोनों का प्राण तत्त्व एक दूसरे में फँसकर मिश्रित हो जाता है। खादिर यूप रूपी किरणों की यहाँ भी वही भूमिका रहती है। इसी प्रक्रिया के चलते कण्डिका एक में दर्शाये अनुसार ब्रह्माण्ड में फैले पदार्थ में रिक्त स्थान उत्पन्न होकर नेब्यूलाओं के केन्द्र बनने की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई थी और उस केन्द्र की ओर बहुत बड़ी मात्रा में दिव्य पदार्थ प्रवाहित होने लगा था। उसी

प्रकार आज भी ब्रह्माण्ड में जहाँ कहीं भी दो विपरीत कणों के मिलने से ऊर्जा उत्पन्न होती है, वहाँ यही खादिर यूप रूपी तरंगें उस क्रिया को इसी प्रकार सम्पन्न करती हैं। विशेष समझने के लिए वैज्ञानिक भाष्यसार में दिये हुए चित्रों का अवलोकन करें।।

उपर्युक्त प्रकार से ब्रह्माण्ड के अन्दर ऊर्जा उत्पन्न होकर कुछ स्थानों पर रिक्तता उत्पन्न हो जाती है, उस समय बैल्व यूप नामक अन्य तरंगें उत्पन्न होती हैं। ये तरंगें **{मज्जा = मज्जा यजुः (श. ८.१.४.५), मज्जानो ज्योतिस्तद्धि यजुष्मतीनां रूपम् (श.१०.२.६.१८), मज्जति शुन्धतीति मज्जा (उ. को.१.१५६)}** मनस् तत्त्व किंवा प्राण एवं वाक् तत्त्व से उत्पन्न होने वाली पूर्वोक्त खादिर यूप रूपी तरंगों के अन्दर उसी प्रकार स्थित होती है, जैसे प्राणियों की अस्थियों के मध्य में मज्जा स्थित होती है। ये तरंगें आच्छादक, भेदन, शोधन क्षमता से युक्त ज्योतिरूप होती हैं। इसके साथ ही ये किरणें विभिन्न कणों के संयोग कराने में विशेष भूमिका निभाती हैं। ये किरणें विभिन्न कणों को तीव्र गतिशील भी बनाती हैं। ये किरणें ब्रह्माण्ड में स्थित संवत्सर अर्थात् सन्धानक मास रश्मियों को खोज-खोज कर धारण कर लेती हैं। इन मास रश्मियों के साथ-साथ नेब्यूलाओं के निर्माणाधीन केन्द्रों के चारों ओर विद्यमान पदार्थ आकर्षित होकर तेजी से केन्द्रीय भाग की ओर आने लगता है और इस प्रकार वह नेब्यूला सतत पुष्ट एवं वर्धमान होता रहता है। इसी कारण इन तरंगों को अन्नकाम और पुष्टिकाम कहते हैं अर्थात् ये संयोज्य पदार्थ को आकर्षित करती हैं, जिससे सर्ग प्रक्रिया पुष्ट होती जाती है। उस पुष्टि का प्रकार दर्शाते हुए महर्षि कहते हैं कि ये किरणें उस केन्द्रीय भाग, जो किसी भी नेब्यूला वा तारे का आधार होता है, में उत्पन्न होकर सुदूर आकाश तत्त्व में फैलती जाती हैं। मानो वे क्षेत्र में व्याप्त हो जाती हैं। यह प्रक्रिया अकस्मात् न होकर क्रमशः होती है। इसी कारण नेब्यूलाओं का निर्माण भी धीरे-२ ही होता है।।

ब्रह्माण्ड का जो क्षेत्र उपर्युक्त बिल्व रूप किरणों के वज्र अर्थात् तीक्ष्ण प्रवाह को धारण कर लेता है, उसमें विभिन्न प्रकार के उत्पन्न कण, छन्द वा मरुद् रश्मियाँ एकत्र होने लगती हैं, जिसके कारण वह क्षेत्र नेब्यूला के निर्माण के लिये निरन्तर पुष्ट और समृद्ध होता जाता है।।

ये बिल्व रूप तरंगें एवं उनकी तीव्र धारायें ज्योतिरूप कही जाती हैं। इसके कारण जिस क्षेत्र में ये तरंगें उत्पन्न होकर नेब्यूलाओं के केन्द्र का निर्माण प्रारम्भ करती हैं, वह क्षेत्र अपेक्षाकृत ज्योतिर्मय होता चला जाता है। जो भी बाहरी पदार्थ केन्द्र की ओर आता है, वह भी अधिक प्रकाशमान होता चला जाता है। विभिन्न निर्माणाधीन केन्द्रों में इन तरंगों की मात्रा जितनी अधिक होती है, वह अन्य केन्द्रों की अपेक्षा उतना ही श्रेष्ठ, बलशील और प्रकाशशील होता है। इसी कारण ब्रह्माण्ड में उत्पन्न नेब्यूलाओं, गैलेक्सियों एवं तारों के आकार, तेजस्विता, आकर्षण बल एवं गतियाँ भिन्न-२ होती हैं।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- नेब्यूलाओं के निर्माणाधीन केन्द्रों में कण और प्रतिकणों से मिलकर ऊर्जा की उत्पत्ति एवं बाहरी पदार्थ के केन्द्रों की ओर प्रवाहित होने के गम्भीर विज्ञान का संकेत इन कण्डिकाओं में किया गया है। उपर्युक्त वज्र रूप तरंगों के दो रूपों की चर्चा यहाँ की गई है। **इलेक्ट्रॉन एवं पोजिट्रॉन, क्वार्क एवं प्रतिक्वार्क आदि के संयोग से ऊर्जा क्यों एवं कैसे उत्पन्न होती है? कदाचित् इस विषय में वर्त्तमान विज्ञान मौन है। यहाँ उसी गूढ़ विज्ञान को प्रकट किया गया है।** जब कोई कण और प्रतिकण, उदाहरण के लिए इलेक्ट्रॉन एवं पोजिट्रॉन परस्पर निकट आते हैं, तब निम्न घटना घटित होती है-

पोजिट्रॉन आग्नेय तत्त्व प्रधान होने के कारण प्राणों का अपेक्षाकृत सघन तथा मरुद् रश्मियों का विरल रूप होता है एवं इलेक्ट्रान सोम तत्त्व प्रधान होने के कारण प्राणों का विरल एवं मरुद् रूप रश्मियों का सघन रूप होता है। जब ये दोनों कण निकट आते हैं, तब **१.२.३** में दर्शाये अनुसार प्रबल आकर्षण क्रिया होती है। जब दोनों प्रकार के कण समान मात्रा परन्तु विपरीत गुण वाले आवेश के अतिरिक्त द्रव्यमान आदि गुणों में भी असमान होते हैं, तो वे कण परस्पर एक-दूसरे से बंधकर अपेक्षाकृत एक स्थूल एवं संयुक्त कण का निर्माण करते है। इस प्रकार के कणों को परस्पर कण एवं प्रतिकण नहीं कहा जाता है। जब इलेक्ट्रान व पोजिट्रॉन की भाँति समान मात्रा परन्तु विपरीत विद्युदावेश के अतिरिक्त अन्य सभी गुण समान होते हैं, तब वे कण परस्पर कण-प्रतिकण के रूप में जाने जाते हैं। इनके अर्थात् इलेक्ट्रान, पोजिट्रॉन आदि के संयोग की प्रक्रिया इलेक्ट्रान एवं प्रोट्रॉन के संयोग प्रक्रिया

से भिन्न होती है। इलेक्ट्रॉन जब किसी पोजिट्रॉन के निकट जाता है, तब उनके आकर्षण की प्रक्रिया इतनी तीव्र होती है कि वे दोनों कण परस्पर पूर्ण रूप से मिश्रित हो जाते हैं। उन दोनों के बीच में कोई भी अवकाश वा आकाश तत्त्व विद्यमान नहीं रहता, उस समय इलेक्ट्रॉन की मरुद् रश्मियाँ एवं पोजिट्रॉन की धनंजय आदि प्राण रश्मियाँ तेजी से एक-दूसरे की तरफ प्रवाहित होती हुई सम्पूर्ण पदार्थ को मिश्रित कर देती हैं। उसी समय सर्वोच्च चेतन सत्ता की प्रेरणा से मनस् तत्त्व अथवा प्राणापान एवं वाक् तत्त्व के द्वारा गायत्री छन्द रश्मियों से ऐसी तीव्र भेदक खदिर रूप तरंगें उत्पन्न होती हैं, जो इलेक्ट्रॉन और पोजिट्रॉन अथवा किसी भी कण व प्रतिकण के पूर्ण मिश्रित पदार्थ को एक साथ आच्छादित करके फोटोन का रूप प्रदान करती हैं। यह फोटोन अत्यधिक शक्ति एवं गति से युक्त होता है। **इन तरंगों की अनुपस्थिति में कोई भी कण और प्रतिकण कभी भी फोटोन का रूप धारण नहीं कर सकता। जब निरावेशित न्यूट्रॉन आदि कणों का उनके प्रतिकणों से संयोग होता है, तब उनके विपरीत घूर्णन के कारण उत्पन्न बल दोनों को परस्पर जोड़ देता है।** तदुपरान्त उनसे फोटोन बनने की भी प्रक्रिया उपर्युक्तानुसार ही होती है। इस प्रक्रिया को निम्न चित्रानुसार भी समझें-

चित्र ६.४ इलेक्ट्रॉन व पोजिट्रॉन आदि आवेशित कणों का संयोग
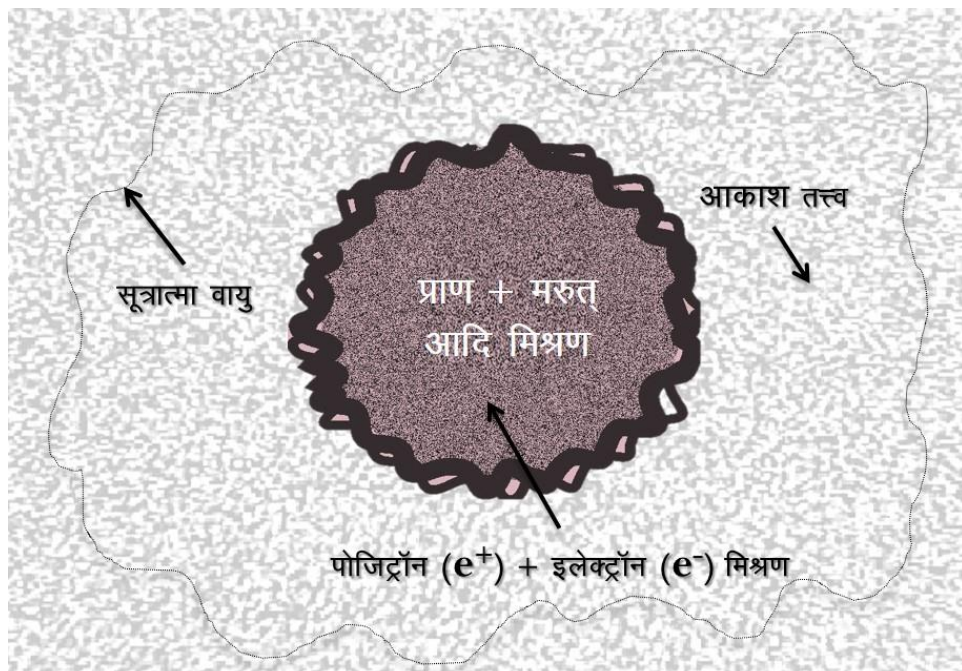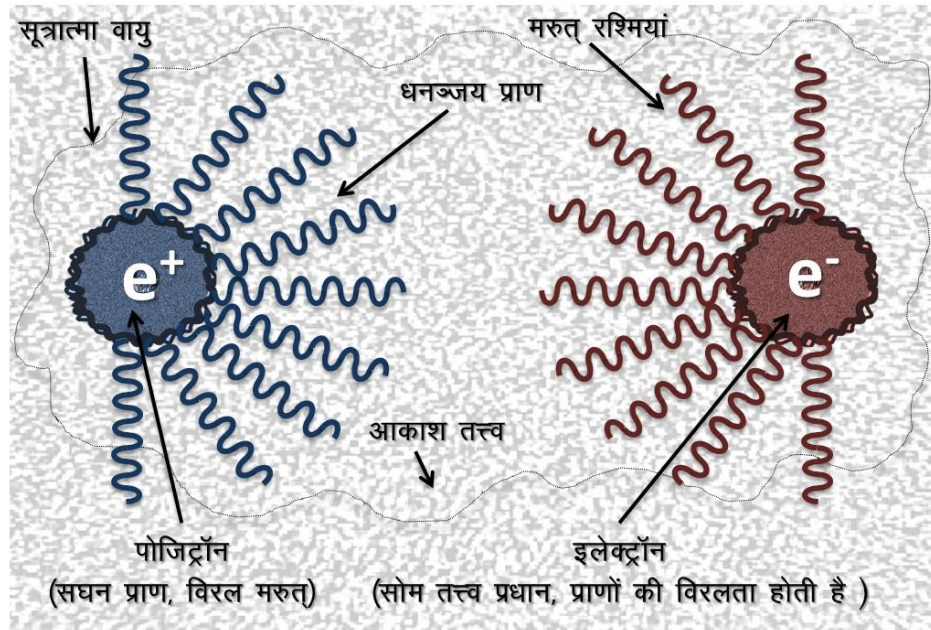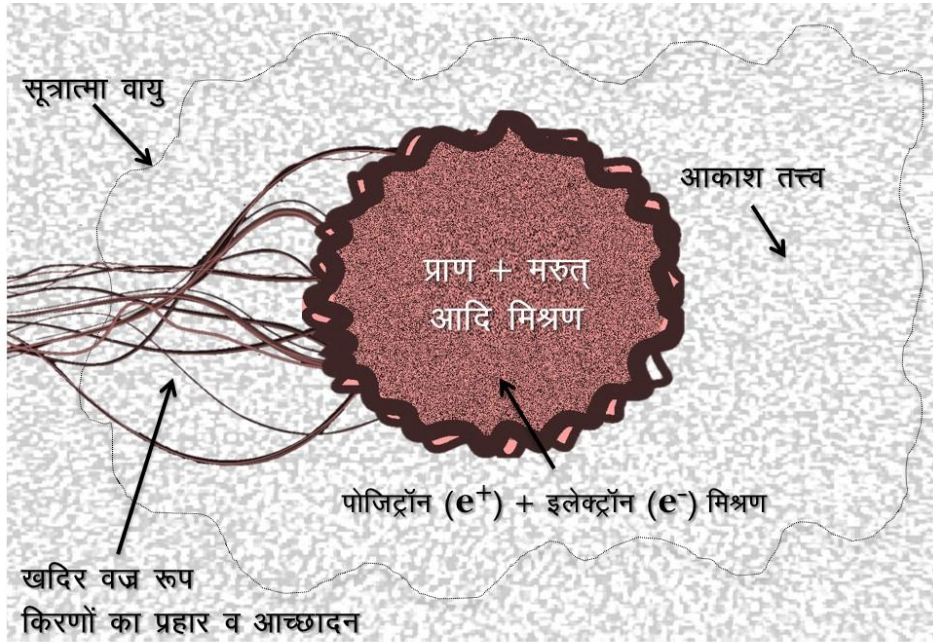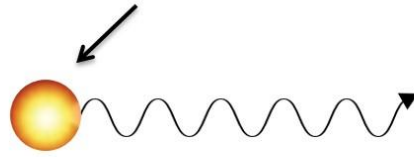
प्राण + मरुत् आदि मिश्रण
आकाश तत्त्व आदि तत्त्व
सूत्रात्मा वायु
n
n̄
न्यूट्रॉन
प्रति न्यूट्रॉन

आकाश तत्त्व
सूत्रात्मा वायु
प्राण + धनञ्जय + मरुत्
आदि मिश्रण
न्यूट्रॉन (n) + प्रति न्यूट्रॉन (n̄) मिश्रण

सूत्रात्मा वायु
आकाश तत्त्व
प्राण + धनञ्जय + मरुत्
आदि मिश्रण
न्यूट्रॉन (n) + प्रति न्यूट्रॉन (n̄) मिश्रण
खदिर वज्र यूप
किरणों का प्रहार व आच्छादन
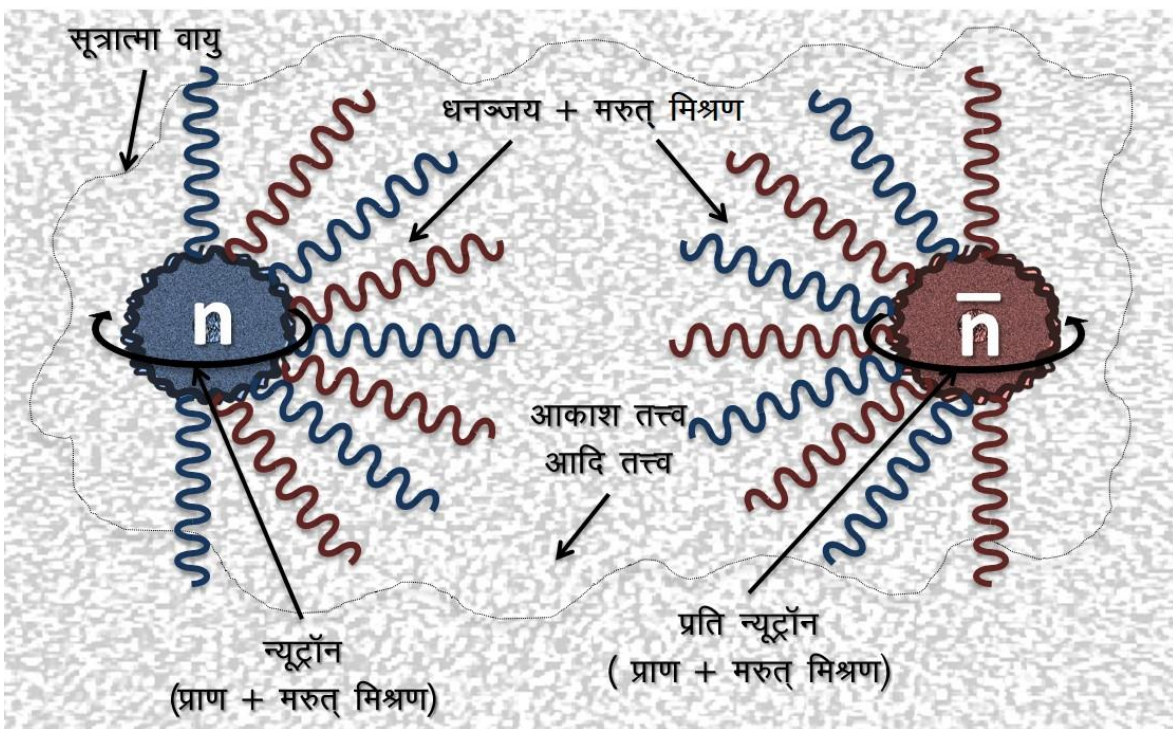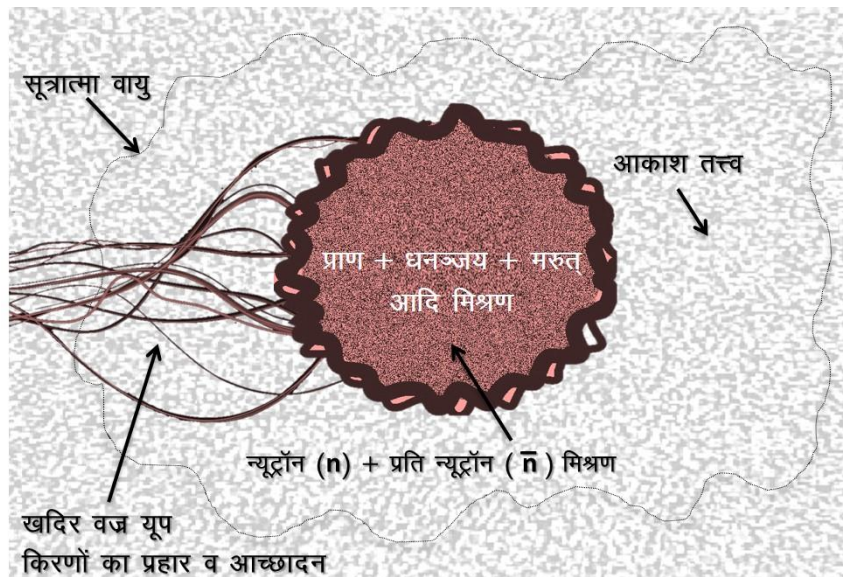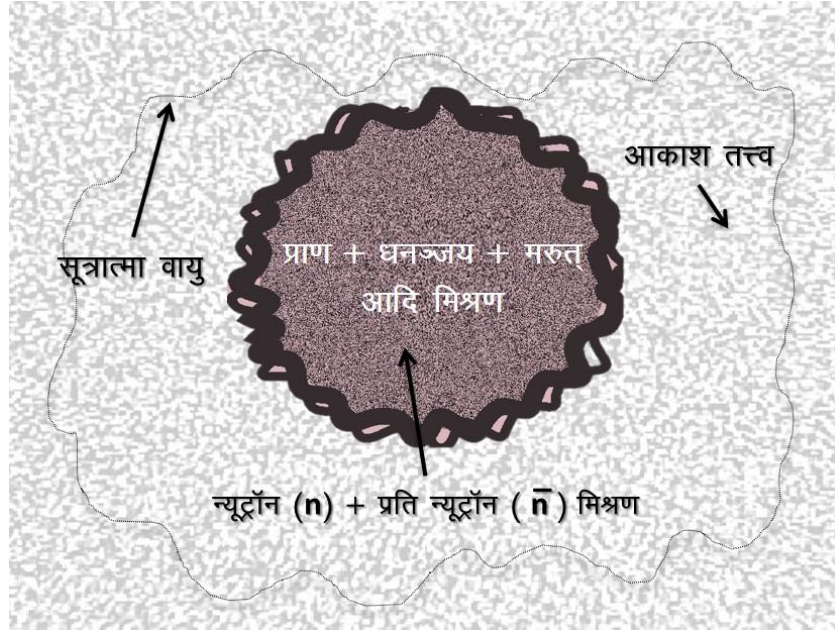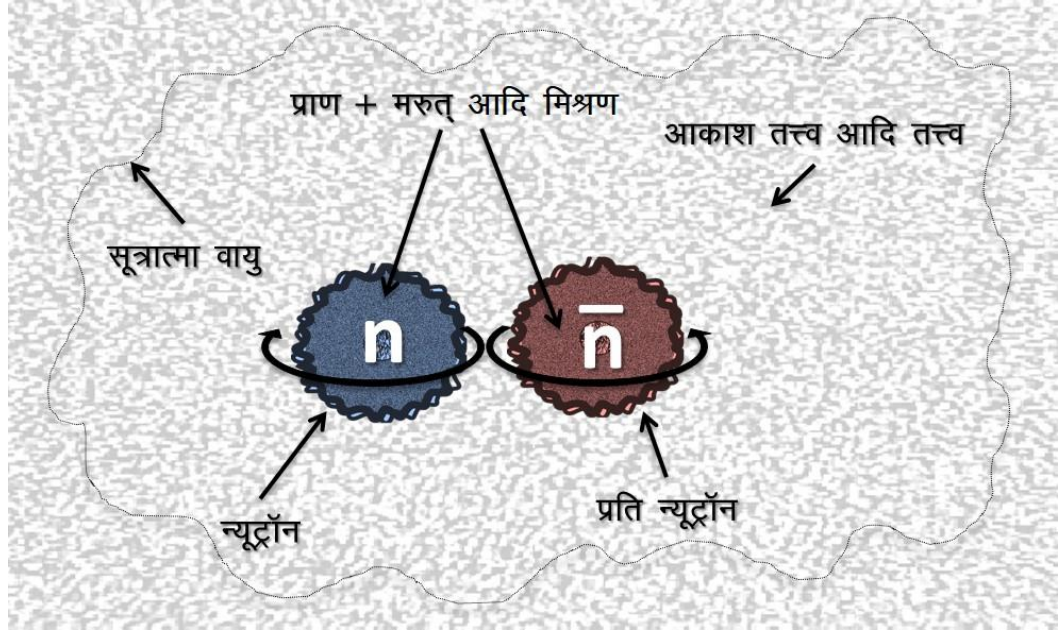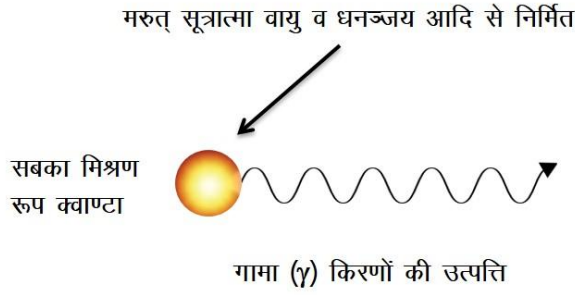
चित्र ६.५ निरावेशित कण-प्रतिकण का संयोग

इस प्रकार गामा किरणें उत्पन्न होकर अति भेदन क्षमता के साथ बहिर्गमन कर जाती हैं तथा उपर्युक्त खदिर रूप किरणों के मध्य स्थित अन्य बिल्व रूप किरणें, जो अति प्रकाशित होते हुए आच्छादक, भेदक एवं शोधक गुणों से युक्त होती हैं, उस केन्द्रीय भाग में व्याप्त हो जाती हैं। ये किरणें आकर्षण बल से विशेष युक्त होने के कारण बाहरी दूर-२ बिखरे पदार्थ को आकर्षित करने के लिए चारों ओर प्रवाहित होने लगती हैं, इस कारण चारों ओर बिखरा पदार्थ धीरे-२ घनीभूत होता चला जाता है। **इन बिल्व रूप किरणों की तीव्रता पर ही किसी नेब्यूला, गैलेक्सियाँ वा तारे का आकार एवं गुरुत्वाकर्षण बल निर्भर करता है, कुछ सीमा तक इनकी तेजस्विता भी इन्हीं किरणों पर निर्भर होती है।।**

४. पालाशं यूपं कुर्वीत तेजस्कामो ब्रह्मवर्चसकामस्तेजो वै ब्रह्मवर्चसं वनस्पतीनां पलाशः।।
तेजस्वी ब्रह्मवर्चसी भवति य एवं विद्वान् पालाशं यूपं कुरुते।।
यदेव पालाशां३ सर्वेषां वा एष वनस्पतीनां योनिर्यत्पलाशस्तस्मात् पलाशस्यैव पलाशेनाऽऽचक्षतेऽमुष्य पलाशममुष्य पलाशमिति।।
सर्वेषां हास्य वनस्पतीनां काम उपाप्तो भवति य एवं वेद।।१।।

{पलाशः = ब्रह्म वै पलाशः (श.१.३.३.१९), मांसेभ्य एवास्य (प्रजापतेः) पलाशः समभवत् तस्मात्स बहुरसो लोहितरसः (श.१३.४.४.१०), सोमो वै पलाशः (कौ.ब्रा.२.२; श.६.६.३.७), पत्रं पलाशम् इति सायणाचार्यः)। वनस्पतिः = वनानां किरणानां पालकः स्वामी सूर्यः (तु.म.द.य.भा.२८.१०), (वनम् = रश्मिनाम - निघं.१.५; उदकनाम - निघं.१.१२), अग्निर्वै वनस्पतिः (कौ.ब्रा.१०.६), प्राणो वै वनस्पतिः (ऐ.२.४)। (मांसम् = मांसं सादनम् - श.८.१.४.५; मांसं वै पुरीषम् - श.८.६.२.१४), (पुरीषम् = उदकनाम - निघं.१.१२; ऐन्द्रं हि पुरीषम् - श.८.७.३.७; पूर्णं बलम् - म.द.य.भा.१२.४६; व्यापनं पालनं वा - म.द.य.भा.३८.२१; पुरीषं पृणातेः पूरयतेर्वा - नि.२.२२)}

व्याख्यानम्- जब नेब्यूलाओं के केन्द्रीय भाग में बिल्व रूप किरणों के द्वारा बाहरी पदार्थ को आकर्षित किया जाता है, उस समय उस पदार्थ में विभिन्न प्रकार के प्राण और मरुतों के अतिरिक्त विभिन्न कण और उनके प्रतिकणों की ही प्रचुरता होती है। उनमें से कण और प्रतिकण के संयोग से पूर्वोक्तानुसार ऊर्जा उत्पन्न हो जाती है। उसके पश्चात् पालाश यूप रूपी तीव्र विकिरणों के समूह उत्पन्न होते हैं। ये किरणें मन, वाक् वा प्राणों के सर्वत्र व्याप्त बल से उत्पन्न होती हैं। इसका आशय यह है कि ये किरणें निर्माणाधीन नेब्यूलाओं के केन्द्रों के चतुर्दिक् बिखरे हुए पदार्थसमूह में **सर्वोच्च चेतन सत्ता परमात्मा की प्रेरणा से अकस्मात् उत्पन्न हो जाती हैं।** इन किरणों के उत्पन्न होने से उस समय विद्यमान पदार्थ से

विभिन्न प्रकार के विद्युदावेशित कण प्रकट होने लगते हैं। ये पलाश रूपी किरणें विभिन्न प्रकार के मरुतों से युक्त विद्युद् रूप होती हैं, जो अन्य पदार्थ से संयुक्त होकर विद्युदावेशित कणों को उत्पन्न करती हैं। इसके कारण उन निर्माणाधीन नेब्यूलाओं में अनेक प्रकार के एवं असंख्य मात्रा में विद्युदावेशित कण उत्पन्न हो जाते हैं, जिसके कारण सम्पूर्ण पदार्थ वैद्युत तेज से भर जाता है। ये सूक्ष्मतम विद्युदावेशित कण पूर्व बिल्व रूप तरंगों के योग से परस्पर संयुक्त होकर अन्य आवेशित कणों को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार ये पलाश रूप किरणें नेब्यूलाओं के विद्युत् तेज एवं तीक्ष्ण ज्योति का कारण होती हैं। यद्यपि पूर्व बिल्व तरंगों से ही सम्पूर्ण पदार्थ ज्योतिर्मय उठता है, परन्तु इन तरंगों से वह ज्योति और भी प्रखर होने के साथ विद्युन्मय भी हो जाती है। जब इस प्रकार की किरणें वा तरंगें सम्पूर्ण क्षेत्र में व्याप्त हो जाती हैं, तब सम्पूर्ण क्षेत्र अग्नि तत्त्व की भारी वृद्धि होकर तीक्ष्ण रूप से देदीप्यमान एवं तीव्र विद्युत् का भण्डार बन जाता है। **{पत्रम् = वाहनम् = पतन्ति गच्छन्ति येन तत् (अष्टा.भा.४.३.१२२) (आचार्य-सुदर्शनदेव-भाष्य)}** जिस प्रकार किसी वृक्ष पर उसके पत्ते ही उस वृक्ष की पहचान कराते हैं तथा वे ही दूर से दिखाई भी देते हैं, उसी प्रकार किसी भी नेब्यूला वा तारे आदि में यह वैद्युत तेज ही दिखाई देता है और वही उनकी मुख्य पहचान भी होता है। यही वैद्युत तेज उनमें व्याप्त होकर उनकी सभी आन्तरिक गतिविधियों को संचालित भी करता है।।+।।

ये किरणें किन्हीं भी नेब्यूलाओं वा तारों में अग्नि तत्त्व की समृद्धि एवं निरन्तरता का एक प्रबल कारण होती हैं। इसके साथ ही ये किरणें उस अग्नि तत्त्व को धारण करने वाली एवं उसको बहिर्गमन के लिए मार्ग प्रदान करने वाली भी होती हैं। विभिन्न तारों वा नेब्यूलाओं के वैद्युत तेज को एवं उसमें विद्यमान तत्त्वों को उनके तेज द्वारा ही जाना जाता है, जिससे विभिन्न तारों वा नेब्यूलाओं के आकार एवं प्रकृति की जानकारी होती है। इन्हीं तरंगों के विद्यमान व व्याप्त होने पर विभिन्न नेब्यूलाओं वा तारों में आकर्षण आदि बल प्रबल होता है।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- तदुपरान्त नेब्यूलाओं के सम्पूर्ण भाग में मन, वाक् वा प्राणों से एक प्रकार की पलाश नामक तरंगें उत्पन्न होती हैं। इनके उत्पन्न होने पर विभिन्न प्रकार के **विद्युदावेशित कण प्रकट होने लगते हैं।** पूर्व बिल्व तरंगों के इनके साथ योग से **सूक्ष्मतम वैद्युत आवेशित कणों का संयोग होकर अन्य स्थूल आवेशित कणों का निर्माण होने लगता है। उदाहरणतया क्वार्क्स के योग से हेड्रॉन्स, मीजोन्स आदि का निर्माण होने लगता है। इसी समय सूक्ष्म नाभिकों की उत्पत्ति होने लगती है।** इस कारण नेब्यूलाओं वा तारों में विद्युदावेशित कणों की संख्या बहुत बढ़ जाती है। **कण प्रतिकणों से मिलकर ऊर्जा उत्पन्न करने का सिलसिला बंद हो जाता है तथा बड़े-२ वैद्युत-क्षेत्र उत्पन्न होने लगते हैं। इन सबके कारण सम्पूर्ण पदार्थ अति तेजस्वी हो उठता है। किसी भी नेब्यूला वा तारों की पृथक्-२ पहिचान उनके द्वारा उत्सर्जित किरणों के द्वारा ही होती है।** ये पलाश किरणें ऊर्जा के उत्पन्न होने, उनको वहन करने वा उचित मार्ग प्रदान करने में बड़ी भूमिका निभाती हैं। अभी तक नाभिकीय संलयन जैसी क्रियाएं प्रारम्भ नहीं हो पाती हैं। इन तरंगों का प्रभाव नेब्यूलाओं वा तारों के आकर्षण बल पर भी होता है।।

चित्र ६.६ सूक्ष्म नाभिकों के निर्माण की प्रक्रिया

सायण भाष्य व मालवीय अनुवाद

अब देखें- खण्ड २.६ की अन्तिम चार कण्डिकाओं पर सायण भाष्य एवं डॉ. सुधाकर मालवीय का हिन्दी अनुवाद-

षष्ठं भागमनूद्य व्याचष्टे-

उदीचीनाँ अस्य पदो निधत्तात् सूर्यं चक्षुर्गमयताद् वातं प्राणमन्ववसृजतादन्तरिक्षमसुं दिशः श्रोत्रं पृथिवीं शरीरमित्येष्वेवैनं तल्लोकेष्वादधाति।। इति।

संज्ञप्यमानस्य पशोः पदः पादानुदीचीनानुत्तरदिग्गतान्निधत्तात् स्थापयत। चक्षुरिन्द्रियं सूर्यदेवतां प्रापयत। प्राणं वायुदेवतां प्रत्यन्ववसृजतात् प्रापयत। असुं जीवमन्तरिक्षं प्रापयत। श्रोत्रं दिग्देवतां प्रापयत। शरीरं पृथिवीं प्रापयत। तद्भागपाठेनैनं पशुमेष्वेव यथोक्तदेवतासंबन्धिषु लोकेषु स्थापयति।।

इसके पैरों को उत्तर की ओर स्थापित करो, चक्षु सूर्य देवता को प्राप्त कराए, प्राण वायुदेवता के प्रति छोड़े, जीव अन्तरिक्ष के लिए, कान दिशाओं के लिए और शरीर पृथिवी के लिए {छोड़े}। वस्तुतः इस प्रकार उस {भाग} के पाठ से इस {पशु} को उन {उन देवताओं} के लोकों में स्थापित करता है।

सप्तमभागमनूद्य व्याचष्टे-

एकधाऽस्य त्वचमाच्छ्यतात् पुरा नाभ्या अपि शसो वपामुत्खिदतादन्तरेवोष्माणं वारयध्वादिति पशुष्वेव तत्प्राणान् दधाति।। इति।

एकधैकविधया विच्छेदराहित्येनास्य त्वचमाच्छ्यतात्समन्ताच्छिन्नां कुरुत। नाभ्या अपि शंसश्छेदात् पूर्वमेव वपामुत्खिदतादुद्धरत। ऊष्माणमुच्छ्वासमन्तरेव वारयध्वान्निवारयत पिहितास्यं संज्ञपयतेत्यर्थः। तद्भागपाठेन पशुष्वेव प्राणान् संपादयति।।

'इसकी सम्पूर्ण त्वचा को {विच्छेदरहित} चारो ओर से उचाड़ लो और नाभि काटने से पूर्व ही वपा अर्थात् अतड़ियों को निकाल लो। इसकी सांस को {मुँह बन्द करके} भीतर ही रोक लो {अर्थात् मुँह बन्द करके संज्ञपन करे}-इस प्रकार होता उस {भाग} के पाठ से पशुओं में ही प्राणों को संपादित करता है।

अष्टमभागमनूद्य व्याचष्टे-

श्येनमस्य वक्षः कृणुतात् प्रशसा बाहू, शला दोषणी, कश्यपेवांसाऽच्छिद्रे श्रोणी, कवषोरू स्रेकपर्णाऽष्ठीवन्ता षड्विंशतिरस्य वङ्क्रयस्ता अनुष्ठ्योच्च्यावयताद् गात्रं गात्रमस्यानूनं कृणुतादित्यङ्गान्येवास्य तद्गात्राणि प्रीणाति।। इति।

श्येनं श्येनाकृतिकमस्य पशोर्वक्षः कुरुत। बाहू प्रशसा प्रकृष्टच्छेदनौ कुरुत। दोषणी प्रकोष्ठौ शला कृणुताच्छलाकाकारौ कुरुत। उभावप्यंसौ कश्यपाकारौ कुरुत। श्रोणी उभे अप्यच्छिद्रे अनूने कुरुत। कवषोरू कवषाकारावूरू स्रेकपर्णा करवीरपत्राकारावष्ठीवन्तावूरू मूलयुक्तौ कुरुत। अस्य पशोर्वङ्क्रयो वक्राणि पार्श्वास्थीनि षड्विंशतिर्भवन्ति। ताः सर्वा अनुष्ठ्यानुक्रमेण स्वस्थानगतान्युच्च्यावयतोद्धरत। गात्रं गात्रं सर्वमप्यदनीयमङ्गमनूनं कृणुतादविकलं कुरुत। तद्भागपाठे तस्य पशोरङ्गान्येवावयवरूपाण्येव गात्राणि प्रीणाति। गात्रशब्दः शरीरे तदवयवे च वर्तते। अतोऽत्रावयवविवक्षां द्योतयितुमङ्गानीति निर्देशः।।

'इसके वक्ष को श्येन {=बाज} पक्षी की आकृति का कर दो। इसकी दोनों भुजाओं को प्रशस {=कुल्हाड़ी} की आकृति का, इसके प्रकोष्ठों {पीछे के दोनों पैरों} को भाले की नोक की आकृति का, इसके कन्धों को कच्छपों की आकृति का, श्रोणी {कूल्हों} को छिद्ररहित, जांघों को कवष {=ढाल या door leaves} के आकार का, दोनों घुटनों को स्रेक वृक्ष {करवीर या कनेर} के पत्तों के आकार का करो। इस पशु की पसली की छब्बीस हड्डियाँ हैं उन्हें अनुक्रम से उनके अपने स्थान से निकाल लो।

इस प्रकार इसके अंग अंग को पूरा रक्खो अर्थात् सभी अंगों को ऐसा निकाले कि वे परिपूर्ण रहें।' -इस प्रकार उस {भाग के पाठ} के द्वारा इस पशु के शरीर के अवयवरूपी अंगों को सन्तुष्ट करता है।

नवमभागमनूद्य व्याचष्टे-

ऊवध्यगोहं पार्थिवं खनतादित्याहौषधं वा ऊवध्यमियं वा ओषधीनां प्रतिष्ठा, तदेनत्स्वायामेव प्रतिष्ठायामन्ततः प्रतिष्ठापयति।। इति।

ऊवध्यगोहं पुरीषगूहनस्थानं पार्थिवं खनतात्पृथिवीसंबन्धमेव खनत। अत्रोवध्यशब्देनौषधमेवोच्यते, पुरीषस्य पशुभक्षितस्यौषधिविकारत्वात्। ओषधीनां चेवमेव भूमिः प्रतिष्ठाऽऽश्रयः। तत्तथा सत्येनमूवध्यं स्वकीयायामेव प्रतिष्ठायां भूमिरूपयामन्ततः पशुविशसनान्ते प्रतिष्ठापयति।।

इस मल को छिपाने के लिए भूमि {में गड्ढा} खोदो। {पशुभक्षित वनस्पति का विकार होने से} ओषधि ही ऊवध्य {=पुरीष} है और यह भूमि ओषधियों का आश्रयस्थान है। इस प्रकार होता ऊवध्य को उस अपने भूमि रूप स्वकीय आश्रय में ही {पशु-मेध के} अन्त में प्रतिष्ठित कर देता है।

मेरा व्याख्यान

इस सम्पूर्ण खण्ड २.६ पर मेरा भाष्य = व्याख्यान इस प्रकार है-

१. दैव्याः शमितार आरभध्वमुत मनुष्या इत्याह।।
ये चैव देवानां शमितारो ये च मनुष्याणां तानेव तत्संशास्ति।।
उपनयत मेध्या दुर आशासाना मेधपतिभ्यां मेधमिति।।
पशुर्वै मेधो यजमानो मेधपतिर्यजमानमेव तत्स्वेन मेधेन समर्धयति।।
अथो खल्वाहुर्यस्यै वाव कस्यै च देवतायै पशुरालभ्यते सैव मेधपतिरिति।।
स यद्येकदेवत्यः पशुः स्यान्मेधपतय इति ब्रूयाद् यदि द्विदेवत्यो मेधपतिभ्यामिति यदि बहुदेवत्यो मेधपतिभ्य इत्येतदेव स्थितम्।।

{शमिता = यज्ञस्य कर्त्ता (म.द.य.भा.२३.३६), यज्ञः (म.द.य.भा.२०.४५), शान्तिकरः (म.द.य.भा.२६.३५), मृत्युः शमिता (तां.२५.१८.४)। आशासाना = (आ+शास् = इच्छा करना, खोजना, निर्देश देना)। आरभध्वम् = (रभन्ते = प्रवर्त्तयन्ति - म.द.ऋ.भा.३.२६.१३; रभसम् = वेगवन्तम् - म.द.य.भा.११.२३; रभसः = महन्नाम - निघं.३.३)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त मन एवं वाक् तत्त्व नेब्यूला वा तारों के अन्दर विभिन्न प्रकाशित कण वा तरंगों एवं अल्प प्रकाशित अनियन्त्रित एवं कम गति वाले मनुष्य नामक कणों को नियन्त्रित करने वाले और थामने वाले होते हैं। ऐसा करके ही वे विभिन्न प्रकार की संयोगादि प्रक्रियाओं को करने में समर्थ होते हैं। वे मन और वाक् तत्त्व उन कणों वा तरंगों को वेगवान् बनाकर परस्पर संयुक्त होने के लिये सब ओर से प्रवृत्त करते हैं। इससे वे सभी कण परस्पर एक दूसरे का चक्कर काटते हुए नृत्य जैसा करते हुए संयुक्त होना प्रारम्भ करते हैं। इसी प्रकार वे मन और वाक् विभिन्न प्रकाशित वा अल्पप्रकाशित लोकों को भी नियन्त्रण में लेकर थामना प्रारम्भ कर देते हैं, जिससे वे लोक भी विभिन्न गतियों से युक्त हुए कम्पायमान होने लगते हैं। यहाँ आचार्य सायण ने **दैव्याः शमितार आरभध्वमुत मनुष्या उपनयत मेध्यादुर आशासाना मेधपतिभ्यां मेधम् (आश्व.श्रौ.३.३.१)** को उद्धृत करते हुए इसे मन्त्र की संज्ञा दी है और **महर्षि ऐतरेय महीदास** ने इन कण्डिकाओं में इसे ही उद्धृत किया है। इस कारण हम यह मानते हैं कि यह छन्द रश्मि उपर्युक्त सृष्टि प्रक्रिया में मन और वाक् तत्त्व से उत्पन्न होती है। इसे

आचार्य सायण ने अध्रिगुः प्रैष मंत्र की संज्ञा दी है। {अध्रिगुः = अग्निरप्यध्रिगुरुच्यते अधृतगमनकर्मवन्, इन्द्रोऽप्यध्रिगुरुच्यते (नि.५.११)} इसका तात्पर्य यह है कि यह छन्द रश्मि तीव्र विद्युत् युक्त वायु एवं ऊष्मा को समृद्ध करती है।।

उपर्युक्त छन्द रश्मि का पूर्वार्ध ही प्रकाशित एवं अप्रकाशित कणों वा तरंगों को मनस् और वाक् तत्त्व के संयोग से नियन्त्रित करने के लिए प्रेरित करता है। इस भाग से प्रेरित मनस् और वाक् तत्त्व अधिक सक्रिय हो उठते हैं, जिसके कारण वे उपर्युक्त दोनों प्रकार के कणों वा तरंगों को थामने के लिए अधिक समर्थ होते हैं।।

इसके उपरान्त उपर्युक्त छन्द रश्मि का उत्तरार्द्ध प्रभावी होता है। यहाँ ऐतरेय महीदास कहते हैं कि पशु ही मेध है, इसका तात्पर्य यह है कि विभिन्न दृश्य कण, छन्द वा मरुद् रश्मियाँ सभी संगमनीय होते हैं। इनके संगमन से ही सृष्टि प्रक्रिया सम्भव हो पाती है और ये पदार्थ ही समय-२ पर विभक्त होकर दूसरे भागों से संगत होते हैं, जिसके कारण ही विभिन्न तत्त्वों का निर्माण होता रहता है। फिर महर्षि कहते हैं कि यजमान ही मेधपति है। इसका तात्पर्य यह है कि विभिन्न तारे वा नेब्यूलादि लोक इन संगमनीय पदार्थों के भण्डार होते हैं तथा वे इनके द्वारा पालित और रक्षित भी होते हैं। इन नेब्यूला वा तारे आदि लोकों के संवर्धन व संचालन के लिए इस ऋचा का द्वितीयार्ध विभिन्न संगमनीय मार्गों और बाधक अप्रकाशित विद्युत् वायु को नियन्त्रित करने वाली तीव्र प्रकाशक रश्मियों तथा विभिन्न संगमनीय कणों और तरंगों को आकर्षित करके परस्पर निकट लाने में सहयोग करता है। इसी प्रकार निर्मित हो रहे विभिन्न लोकों को भी परस्पर जोड़े रखने के लिए उचित स्थान प्रदान करने में सहयोग करता है। इस प्रकार इस रश्मि के उत्तरार्ध से वे कण वा लोक परस्पर समृद्ध व संगत होते हैं।।+।।

इस सन्दर्भ में महर्षि विद्वानों के मत को उद्धृत करते हैं कि जिस प्रकाशित कण के निकट, जो कोई दृश्य कण लाया जाता है, वह प्रकाशित कण ही उस दृश्य कण का नियन्त्रक और रक्षक बन जाता है अथवा जिस प्रकाशित कण के अन्दर जो भी मरुत् और छन्द रश्मियाँ व्याप्त होती हैं, वह प्रकाशित कण ही उनका पालक और रक्षक होता है किंवा वह कण ही उनके द्वारा पालित और रक्षित होता है। इसी प्रकार जिन लोकों में जो भी प्राणादि पदार्थ विद्यमान होते हैं, वे ही उन लोकों के पालक व रक्षक होते हैं।।

यहाँ महर्षि कहते हैं कि जहाँ **'मेधपतये'** शब्द का प्रयोग मिलता है, वहाँ यह समझना चाहिए कि दृश्य कण, छन्द वा मरुद् रश्मियां एक ही लोक से सम्बद्ध हैं और जहाँ **'मेधपतिभ्यां'** तथा **'मेधपतिभ्यः'** पदों का प्रयोग मिलता हैं। वहाँ वे दृश्य कण, छन्द वा मरुद् रश्मियाँ क्रमशः दो एवं अनेक प्रकाशित कण वा लोकों से सम्बद्ध हैं, ऐसा जानना चाहिए।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- मन और वाक् तत्त्व संयुक्त रूप से विभिन्न कण और तरंगों को नियन्त्रित करने वाले और थामने वाले होते हैं, इसी कारण वे विभिन्न संयोग प्रक्रियाओं को सम्भव कर पाते हैं। **जब कोई दो कण परस्पर संयुक्त होने वाले होते हैं, तब वे सीधे संयुक्त न होकर एक-दूसरे का चक्कर काटते हुए नृत्य जैसा करते हुए संयुक्त होते हैं।** इस समय एक छन्द रश्मि उत्पन्न होकर मन और वाक् तत्त्व को और भी अधिक प्रेरित करती है, जिससे संगमन क्रिया और भी तीव्र होती है। ये मन और वाक् तत्त्व इस छन्द रश्मि के द्वारा प्रेरित होकर विभिन्न लोकों को भी परस्पर जोड़े रखने में भी कुछ सहायक होते हैं।।

२. प्रास्मा अग्निं भरतेति।।
पशुर्वै नीयमानः स मृत्युं प्रापश्यत् स देवान्नान्वकामयतैतुं तं देवा अब्रुवन्नेहि स्वर्गं वै त्वा लोकं गमयिष्याम इति स तथेत्यब्रवीत् तस्य वै मे युष्माकमेकः पुरस्तादैत्विति तथेति तस्याग्निः पुरस्तादैत् सोऽग्निमनु प्राच्यवत।।
तस्मादाहुराग्नेयो वाव सर्वः पशुरग्निं हि सोऽनु प्राच्यवतेति।।

तस्माद् वस्याग्निं पुरस्ताद्धरन्ति।।
स्तृणीत बर्हिरित्योषध्यात्मा वै पशुः पशुमेव तत्सर्वात्मानं करोति।।
अन्वेनं माता मन्यतामनु पिताऽनुभ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्य इति जनित्रैरेवैनं तत्समनुमतमालभन्ते।।
उदीचीनाँ अस्य पदो निधत्तात् सूर्यं चक्षुर्गमयताद् वातं प्राणमन्ववसृजतादन्तरिक्षमसुं दिशः श्रोत्रं पृथिवीं शरीरमित्येष्वेवैनं तल्लोकेष्वादधाति।।

{भ्राता = भ्राता मध्यमोऽस्त्यशनः, भ्राता भरतेर्हरतिकर्मणो हरते भागं भर्तव्यो भवतीति वा, तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठोऽस्यायमग्निः(नि.४.२६)। पिता = प्राणो वै पिता (ऐ.२.३८), मनः पितरः (श.१४.४.३.१३), पिता वै प्रयाजाः (तै.सं.२.६.१.६)। माता = मातृवत् परिपालिका वाक् (तु.म.द.ऋ.भा.१.१२१.२), मान्यकारिणी किरणः (तु.म.द.ऋ.भा.१.६२.१), आकाशः (तु.म.द.ऋ.भा.३.२६.११), माता अन्तरिक्षम्, निर्मीयन्तेऽस्मिन् भूतानि (नि.२.८)}

व्याख्यानम्– तदुपरान्त **प्रास्मा अग्निं भरत स्तृणीत बर्हिरन्वेनं माता मन्यतामनु पिताऽनुभ्राता सगर्भ्योऽनुसखा सयूथ्यः। (आश्व.श्रौ.३.३.१)** छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसका छन्द आर्षीबृहती तथा देवता अग्नि प्रतीत होता है। यह ऋचा भी वेदसंहिताओं में विद्यमान नहीं है। इस विषय में हमारा मत पूर्ववत् समझें।

इसके छान्दस और दैवत प्रभाव से अग्नि तत्त्व व्यापक होता है। अन्य प्रभाव का क्रमशः वर्णन कण्डिकाओं में किया गया है। जब दो कणों का परस्पर संयोग होने वाला होता है, तब वह सर्वप्रथम अग्नि अर्थात् विद्युत् को धारण करता है और विद्युत् के द्वारा ही वे परस्पर आकर्षित होते हैं। यह विद्युत् तत्त्व भी पूर्वोक्त नियंत्रक तत्त्व मन और वाक् के द्वारा उत्पन्न होता है और वे ही उस विद्युत् तत्त्व का पोषण भी करते हैं।।

जब कोई कण किसी दूसरे कण के निकट लाया जाता है, तब सर्वप्रथम उसका सामना मृत्यु से होता है। इसका आशय यह है कि सर्वप्रथम अप्रकाशित बाधक हिंसक विद्युत् वायु उसके मार्ग में बाधक के रूप में उपस्थित हो जाता है। इसी प्रकार विभिन्न लोकों छन्दों वा मरुतों आदि सभी की संयोग प्रक्रिया में यही तत्त्व बाधक के रूप में उपस्थित होता है, जिसके कारण संयुक्त होने वाले उपर्युक्त पदार्थों की गति सहसा रुक जाती है। प्राण आदि प्राथमिक प्राण बाधक तत्त्व से प्रभावित हुए बिना गति करने में सक्षम होते हैं। जब संयोज्य कणों की गति रुक जाती है, तब भी प्राणादि पदार्थ गतिशील रहते हैं। इसके उपरान्त भी वह कण अप्रकाशित बाधक हिंसक विद्युत् को भेदकर आगे नहीं बढ़ पाता है। ऐसी स्थिति में प्राणापान आदि से उत्पन्न तीव्र वैद्युत अग्नि वज्ररूप बनकर बाधक विद्युत् को नष्ट वा नियन्त्रित करता है और ऐसा करके वह उस संयोज्य कण के आगे-२ चलाकर सुरक्षित मार्ग प्रदान करता है। इसके पश्चात् वह कण भी वज्ररूप वैद्युत अग्नि के पीछे-२ चलकर सम्मुख विद्यमान कण के साथ संयुक्त होने की दिशा में बढ़ता रहता है। दो कणों के मध्य संयोग प्रक्रिया में विभिन्न प्राण, छन्द रश्मियों रूप प्राण आदि सबका संयोग व सहयोग होता है परन्तु बाधक हिंसक विद्युत् को नियन्त्रित करने में तीव्र विद्युत् युक्त वायु का प्रहार ही सक्षम होता है। इस कारण संयोज्य कण के आगे-२ उसी के गतिशील होने की चर्चा है।।

क्योंकि प्रत्येक संयोज्य कण तीव्र विद्युत् अग्नि का अनुसरण करता है, इस कारण प्रत्येक कण विद्युत् अग्नि से युक्त अवश्य होता है और वह विद्युत् अग्नि ही उन कणों के गमनागमन में साधक बनता है। वह विद्युदग्नि कण के आगे-२ चलता है। **इसका आशय यह है कि किसी कण में से विद्युद् रश्मियां आगे प्रवाहित होती हैं। वे ही सम्मुख उपस्थित कण को आकर्षित करती हैं और वे ही अपने अनुगामी कण को अपने साथ बांधे हुए आगे ले जाती हैं।** मानो वे विद्युद् रश्मियाँ विभिन्न कणों के वाहक का कार्य करती हैं। इसलिए कहा है– **"अग्निर्देवानामभवत् पुरोगाः" (काठ.१६.२०), देवरथो वा**

अग्नयः (कौ.ब्रा.५.१०) अर्थात् यह विद्युदग्नि ही सभी दिव्य कणों का रथ है। इसके अतिरिक्त कहा है **"अग्निरु सर्वेषां पाप्मनामपहन्ता।" (श.७.३.२.१६)** अर्थात् यह विद्युत् अग्नि ही बाधक तत्त्वों को दूर करके संयोगादि प्रक्रियाओं के मार्ग को प्रशस्त करता है। उपर्युक्त प्रक्रियाओं में **"प्रास्मा अग्निं भरत"** इस भाग की भूमिका रहती है।।+।।

तदनन्तर **"स्तृणीत बर्हिः"** के प्रभाव की चर्चा करते हैं-
जब दो संयोज्य कण परस्पर संयुक्त होने के लिए निकट आते हैं, तब उनके आस-पास विशेषकर दोनों के मध्य स्थित आकाश तत्त्व कुछ फैल सा जाता है। उन दोनों में से प्रसारित विद्युत् रश्मियां भी कुछ फैल जाती हैं **{औषधि = ओषधय ओषद्धयन्तीति वा, ओषत्येना धयन्तीति वा, दोषं धयन्तीति वा (नि. ९.२७)}**। इसके प्रभाव से वे संयोज्य कण मानो एक दूसरे से प्रसारित विद्युत् रश्मियों को पीने अर्थात् ग्रहण करने लगते हैं। इसके साथ ही वह विद्युदग्नि उन दोनों कणों के मध्य स्थित अप्रकाशित बाधक विद्युत् रश्मियों को अवशोषित कर लेता वा नष्ट कर देता है। इसके साथ ही वे विद्युद् रश्मियां आत्मरूप होकर दोनों ही कणों के अन्दर सतत विचरने लगती हैं और उन कणों के बाहर भी वे संयुक्त रूप से विचरती हैं। इस प्रकार वे दोनों कण उन विद्युद् रश्मियों से पूर्णतः युक्त और नियन्त्रित हो जाते हैं।।

इसके पश्चात् उन संयोज्य कणों के माता-पिता, भ्राता एवं सखा सभी उन कणों के संयोग के समय सद्यः प्रकाशित वा सक्रिय करते है। इसका आशय यह है कि मनोरूप पिता वाग् रूप माता के साथ संयुक्त होकर संयोज्य कण को प्रकाशित व प्रेरित करते हैं। उधर प्राण रूपी पिता भी वाग्रूपी माता से संयुक्त होकर उन कणों को प्रकाशित व प्रेरित करते हैं। पूर्ववर्णित प्रयाजरूपी छन्द रश्मियों रूपी पिता, याज्या संज्ञक रश्मियों के साथ संयुक्त होकर आकाश तत्त्व रूपी माता के साथ मिलकर उन कणों को प्रकाशित व प्रेरित करते हैं। भ्राता अर्थात् अग्नि और वायु का मिश्रित रूप अथवा कणों को धारण करने व पोषण देने वाला सूत्रात्मा वायु उन कणों को प्रेरित करके बांधने में सहायक होता है। अपने समूह के साथ विभिन्न प्राणों के युग्मरूप सखा उन कणों को प्रेरित और प्रकाशित करते हैं। प्राणों का यह युग्म उन प्राणों के साथ सदैव संयुक्त रहता हैं और ये प्राण, जिनमें छन्दादि प्राण भी सम्मिलित हैं, ही वस्तुतः इन कणों के निर्माता भी होते हैं। इन सबके प्रकाशन और प्रेरण से ही कणों का संयोग और वियोग सम्भव हो पाता हैं।।

{सूर्यम् = सरणशीलं स्वकीयरश्मिगणम् (म.द.ऋ.भा.१.३५.९), प्राणादिसमूहो वायुगणः (म.द.य. भा.३.६), बार्हतो वा एष य एष तपति (कौ.ब्रा.१५.४.२५.४)। चक्षुः = चक्षुर्वै ब्रह्म (श.१४.६.१०.८), चक्षुरुष्णिक् (श.१०.३.१.१), त्रैष्टुभं चक्षुः (तां.२०.१६.५)। असुः = नागादि मरुत् (म.द.य.भा.१८.२), प्रज्ञानाम (निघं.३.९)। श्रोत्रम् = वागिति श्रोत्रम् (जै.उ.४.११.१.११), अवकाशम् (तु.म.द.य.भा.३२. १३), श्रोत्रम् पंक्तिः (श.१०.३.१.१)। दिक् = छन्दांसि वै दिशः (श.८.३.१.१२), दिशो वै परिभूश्छन्दः (श.८.५.२.३), दिशः परिधयः (तै.ब्रा.२.१.५.२)}

जब कोई कण दूसरे कण से संयुक्त होने की दिशा में अग्रसर होता है, तब उस कण का उत्तरी ध्रुव आगे की दिशा में होता है अर्थात् उसकी गति उत्तरी ध्रुव की दिशा में होती चली जाती है। उस कण के अन्दर प्रकाशित त्रिष्टुप और उष्णिक छन्दमय वैद्युत तेज अगले कण के चतुर्दिक् व्याप्त बृहती छन्द एवं इन कणों के चारों ओर व्याप्त प्राणवायु से संयुक्त हो जाते हैं किंवा इनमें व्याप्त हो जाते हैं। उस कण में विद्यमान प्राणापान आदि प्राण कणों के बाहर परिधिरूप में व्याप्त सूत्रात्मा वायु से संयुक्त हो जाते हैं। उन दोनों कणों के बीच विद्यमान आकाश तत्त्व नाग, कूर्म आदि उपप्राणों रूप मरुद् रश्मियों से व्याप्त हो जाता है। उस कण में विद्यमान वाक् तत्त्व एवं तत्प्रेरित पंक्ति छन्द दूसरे कण के चारों ओर विद्यमान किंवा स्वयं के चारों ओर विद्यमान छन्द रश्मियों में व्याप्त हो जाता है और उन कणों के आकार, निकट आते हुए अपेक्षाकृत कुछ विस्तृत हो जाते हैं। इस प्रकार इस छन्द रश्मि भाग के प्रभाव से उन कणों के सम्मिलन की परिस्थितियाँ सम्यक् रूप से निर्मित हो जाती हैं।।

ज्ञातव्य- इस प्रकरण में जो विभिन्न कणों के संयोग की प्रक्रिया बतलायी गयी है, लगभग वैसी ही प्रक्रिया स्थूल और स्थूलतर पदार्थों के संयोग में भी होती है। हमने उसकी चर्चा यहाँ नहीं की है। पाठक स्वयं इस प्रक्रिया को समझकर स्थूल पदार्थों के विलय की प्रक्रिया को समझ सकते हैं।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब दो कणों में परस्पर संयोग होता है, तब मन और वाक् तत्त्व के द्वारा विद्युदावेश सक्रिय हो उठता है। जब कण परस्पर निकट आते हैं, तब उनके मध्य अप्रकाशित ऊर्जा बाधक के रूप में उपस्थित हो जाती है, जिससे उन कणों की गति सहसा रुक जाती है। ध्यातव्य है कि प्राण और अपान आदि की गति को अप्रकाशित ऊर्जा बाधित नहीं कर पाती। प्राण, अपान से उत्पन्न तीव्र विद्युत् उस डार्क एनर्जी को नष्ट वा नियन्त्रित करके उन कणों के आगे-२ चलती है एवं उन्हें सुरक्षित मार्ग भी प्रदान करती जाती है। उस सुरक्षित मार्ग पर वे कण परस्पर एक-दूसरे की ओर गतिशील हो उठते हैं। प्रत्येक संयोज्य कण के साथ विद्युत् धन, ऋण अथवा उदासीन आवेश अवश्य होता है। वह आवेश ही दोनों को परस्पर आकर्षित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। जब वे दोनों कण निकट आते हैं, तो उनके मध्य स्थित आकाश तत्त्व एवं विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्र कुछ फैल जाते हैं। इसके कारण वे दोनों कण एक-दूसरे से प्रसारित विद्युत् चुम्बकीय तरंगों को ग्रहण करने लगते हैं और अप्रकाशित ऊर्जा तरंगों से मुक्त होने लगते हैं। उनके मध्य विद्युद् रश्मियां संयुक्त रूप से विचरती हुई उन्हें अपने नियन्त्रण में ले लेती हैं। इस प्रक्रिया में मन और वाक् तत्त्व का मिथुन रूप पूर्वोक्त प्रयाज छन्द रश्मियों एवं याज्या संज्ञक छन्द रश्मियों का मिथुन, अग्नि और वायु का मिथुन एवं विभिन्न छन्दों का युग्म सभी कुछ एक-दूसरे कणों को प्रभावित और प्रकाशित करने लगते हैं। जब कोई कण संयुक्त होने के लिए आगे बढ़ता है, तो वह अपने उत्तरी ध्रुव की ओर से ही आगे बढ़ता है अर्थात् वह इसी दिशा अथवा दक्षिण दिशा से संयुक्त होता है। इस विषय में १.५.३ भी देखें। इस समय दोनों कणों की छन्द रश्मियां संयुक्त होने लगती हैं। प्राणापान आदि प्राण सूत्रात्मा वायु से संयुक्त होने लगते हैं। नाग, कूर्म आदि मरुद् रश्मियां दोनों कणों के मध्य विद्यमान आकाश तत्त्व में व्याप्त होने लगती हैं और वाक् तत्त्व एवं पंक्ति छन्द रश्मि अन्य छन्द रश्मियों के साथ व्याप्त होने लगती हैं। इस प्रकार दोनों कणों के संयोग की प्रक्रिया आगे बढ़ती रहती है।।

ज्ञातव्य- इस प्रकरण में जो विभिन्न कणों के संयोग की प्रक्रिया बतलायी गयी है। लगभग इसी प्रकार स्थूल कणों, जैसे-अणुओं, अन्य बड़े कणों, आकाशीय पिण्डों एवं विशाल लोकों के विलय की प्रक्रिया भी सम्पन्न होती है, जिसको हमने पृथक् से नहीं दर्शाया है। पाठक इस प्रक्रिया को गम्भीरता से समझकर उस स्थूल प्रक्रिया के विषय में भी स्वयंमेव समझ सकते हैं।
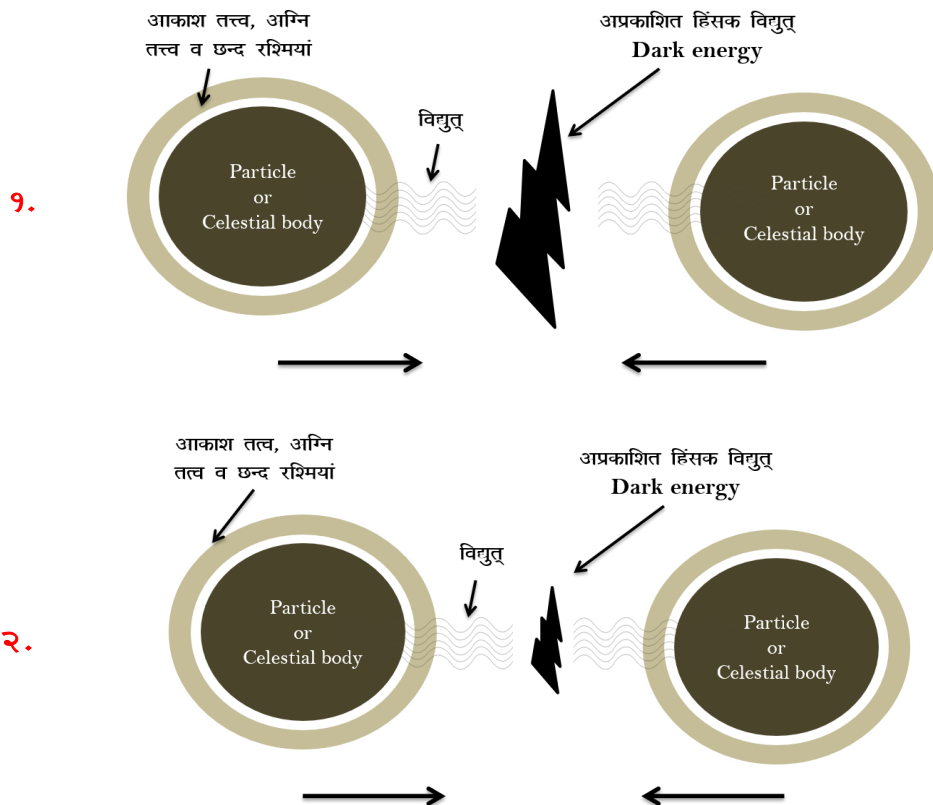
३.
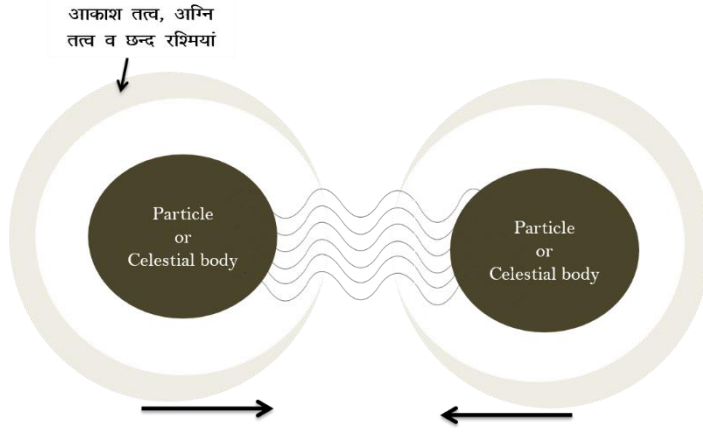
चित्र ६.८ विभिन्न कणों/लोकों के संयोग की प्रक्रिया

३. एकधाऽस्य त्वचमाच्छ्यतात् पुरा नाभ्या अपि शसो वपामुत्खिदतादन्तरेवोष्माणं वारयध्वादिति पशुष्वेव तत्प्राणान् दधाति।।
श्येनमस्य वक्षः कृणुतात् प्रशसा बाहू, शला दोषणी, कश्यपेवांसाऽच्छिद्रे श्रोणी, कवषोरू स्रेकपर्णाऽष्ठीवन्ता षड्विंशतिरस्य वङ्क्रयस्ता अनुष्ठ्योच्च्यावयताद् गात्रं गात्रमस्यानूनं, कृणुतादित्यङ्गान्येवास्य तद्गात्राणि प्रीणाति।।
ऊवध्यगोहं पार्थिवं खनतादित्याहौषधं वा ऊवध्यमियं वा ओषधीनां प्रतिष्ठा, तदेनत्स्वायामेव प्रतिष्ठायामन्ततः प्रतिष्ठापयति।।६।।

{त्वक् = तनोति विस्तृता भवतीति त्वक् (उ.को.२.६४), यस्त्वचति संवृणोति सः (वायुः) (म.द.य.भा.४.३०), आच्छादकः (तु.म.द.ऋ.भा.१.१२६.३)। नाभिः = मध्याकर्षणेन बन्धकम् (म.द.य.भा.२३.६१), आकर्षणेन बन्धनम् (म.द.ऋ.भा.१.१६४.३५), स्तम्भनं, स्थिरीकरणं, प्रबन्धनम् (म.द.य.भा.१७.८६), धारकमङ्गम् (म.द.य.भा.२३.५६), आधारः (प्रज्ञापिका विद्युत् - तु.म.द.य.भा.१३.४४), अथ त्रिष्टुप् नाभिरेव सा (जै.ब्रा.१.२५४)। वपा = वपन्ति याभिः क्रियाभिस्ताः (म.द.य.भा.२१.३१), आत्मा वपा (कौ.ब्रा.१०.५), छिद्रम् (आप्टे कोष)। वक्षः = वक्षो भासोऽध्यूढमिदमपीतरद् वक्ष एतस्मादेवाध्यूढं काये (नि.४.१६), प्राप्तं वस्तु (म.द.ऋ.भा.१.१२४.४), (वक्ष रोषे संघाते च = संचित होना, शक्तिशली होना, वृद्धि को प्राप्त होना-आप्टे कोष)। श्येनः = प्रवृद्धवेगः (म.द.ऋ.भा.४.२६.६), श्येनः शंसनीयं गच्छति (नि.४.२४), श्येन आदित्यो भवति श्यायतेर् गतिकर्मणः (नि.१४.१३)। शलाः = (शल् = हिलाना, क्षुब्ध करना। शल् = जाना, तेज दौड़ना। दोषणी = (दुष वैकृत्ये), प्रकोष्ठौ (सायण भाष्य)। अंसौ = बाहुमूले (म.द.य.भा.२०.८)। कश्यपः = कश्यपो वै कूर्मः (श.७.५.१.५)। श्रोणी = श्रोणिः श्रोणतेर्गतिचलाकर्मणः, श्रोणिश्चलतीव गच्छतः (नि.४.३), जगती-छन्द आदित्यो देवता श्रोणी (श.१०.३.२.६)। कवषः = शब्दं कुर्वन् (म.द.य.भा.२६.५)। उरुः = बहुशक्तिः (म.द.ऋ.भा.२.१३.७)। उरु = व्यापकम् (म.द.ऋ.भा.३.५४.१६), बहुनाम (निघं.३.१)। स्रेक् = जाना, गतिशील होना (आप्टे कोष)। पर्णम् = पक्षम् (म.द.ऋ.भा.१.११६.१५), गायत्रो वै पर्णः (तै.ब्रा.३.२.१.१), सोमो वै पर्णः (श.६.५.५.१), ब्रह्म वै पर्णः (तै.ब्रा.३.२.१.१)। अष्ठिवन्तौ = (ष्ठिवु निरसने (स्वा.) धातोः शतृ. नञ् समासः), वङ्क्रीः = कुटिला गतीः (म.द.य.भा.२५.४१), यह वङ्क्रयः का छान्दस् रूप है।

गात्रम् = गच्छति चेष्टतेऽनेनेति गात्रम् (उ.को.४.१७०)। ऊवध्यम् = वधितुं ताडितुमर्हम् (म.द.ऋ.भा.१.१६२.१०), ऊरू वध्ये येन तत् (रेतः = वीर्यम्) (म.द.य.भा.१६.८४)। गोहम् = संवरणीयं गृहम् (तु.म.द.ऋ.भा.४.२१.६)। ऊष्माणः = य ऊष्माणः स प्राणः (ऐ. आ.२.२.४), अन्तरिक्षस्य रूपम् ऊष्माणः (ऐ.आ.३.२.५)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि जब दो कणों में संयोग होता है, तब उनके निकट आने पर दोनों कणों के परितः विद्यमान विभिन्न छन्द रश्मियां, सूत्रात्मा वायु एवं पूर्व वर्णित प्राणों का जो घेरा होता है, उसी में सर्वप्रथम भारी विक्षोभ होता है। वह घेरा ही किसी कण वा लोक का आच्छादक त्वचारूप होता है। दोनों के निकट आते ही वह आच्छादक घेरा एक बार में ही हट जाता है। वह आवरण हटने के पश्चात् उन कणों वा लोकों के केन्द्रीय भाग भी अति विक्षुब्ध होते हैं परन्तु उनके विक्षोभ से पूर्व कणों वा लोकों का सम्पूर्ण भाग जो कि परस्पर विलीन होने वाले होते हैं, उनमें अति तीव्र भेदन क्रियाएं होने लगती हैं अर्थात् वह सम्पूर्ण भाग ही उथल-पुथल से भर जाता है। मानो उन्हें विभिन्न बलों के द्वारा खोद दिया जाता है। उसके पश्चात् उन कणों वा लोकों के केन्द्रीय भाग में जो विद्युत् अग्नि आदि धारक और आकर्षक तत्त्व विद्यमान होते हैं, वे भी अपने स्थान से च्युत हो जाते हैं। ध्यातव्य है कि कणों वा लोकों के सम्पूर्ण भाग में जो उथल-पुथल होती है, वह ऊपर की दिशा में होती है। इस प्रक्रिया में उन कणों वा लोकों के मध्य भाग में नाभिरूप होकर जो त्रिष्टुप् प्राणादि विद्यमान होते हैं, वे भले ही अपने स्थान से हट जाते हैं परन्तु वे उन कणों वा लोकों के भीतर ही रोक दिये जाते हैं अर्थात् वे बाहर नहीं निकल पाते। इस प्रकार विशेष हलचलयुक्त प्रक्रिया, उन लोकों वा कणों के बाहरी भाग में ही होती है और उन कणों वा लोकों में विद्यमान विभिन्न प्राणादि पदार्थ यथावत् बने रहते हैं।।

जब दो कण वा लोक परस्पर निकट आते हैं, तब उन दोनों की ऊपरी एवं सम्मुख दिशाओं में विद्यमान पदार्थ अति तीव्र वेग से ऊपर की ओर उठता है। उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि मानो उन कणों वा लोकों के अन्य निकटस्थ भागों का पदार्थ भी संचित होकर उसी दिशा में प्रबल वेग से बढ़ा आ रहा हो। यह क्रिया सहसा अति वेग और शक्ति के साथ सम्पन्न होती है। उन दोनों कणों के बाहुरूप वायु और विद्युत् और उनके भी कारणरूप प्राणापान व प्राणोदान एवं अति सूक्ष्म स्तर पर मन और वाक् तत्त्व अति प्रशंसनीयरूप से विशेष सक्रिय होते हैं। ध्यातव्य है कि किसी भी कण वा लोक के धारण और आकर्षण बल, जिन पर कि उनका अस्तित्त्व ही निर्भर होता है, इन वायु, विद्युत् आदि युग्मों से ही उत्पन्न होते हैं। कणों वा लोकों के संयोग के समय यह बल अत्यन्त तीव्र हो जाता है। इस प्रक्रिया में उन कणों वा लोकों के केन्द्रों को मिलाने वाली रेखा के लम्बवत् भाग के निकट विद्यमान जो बाहरी भाग होते हैं, वे संयोग के समय क्षुब्ध होकर विकृत हो जाते हैं। यद्यपि उनकी विकृति पूर्व में मन्द हलचल से प्रारम्भ होती है, उसके पश्चात् तीव्र गति से होती है। उपर्युक्त वायु, विद्युत्, प्राणापान व प्राणोदान के मूल में कूर्म प्राण संयुक्त होता है। वह कूर्म प्राण ही मन और वाक् के अतिरिक्त अन्य तीनों युग्मों को प्रेरित करता है। **उधर चेतन सत्ता परमात्मा रूपी सर्वकर्त्ता कूर्म सभी शक्तियों को मूलरूपेण प्रेरित करता है। उसकी प्रेरणा सबसे अन्तिम प्रेरणा होती है, जिसके बिना इस सम्पूर्ण सृष्टि में किसी भी प्रकार का बल कार्य नहीं कर सकता।** विभिन्न कणों वा लोकों के केन्द्रीय भाग और शेष भाग को जोड़ने वाला क्षेत्र सतत चलायमान रहता है अर्थात् इसी भाग के ऊपर वे दोनों भाग परस्पर फिसलते रहते हैं। यह पद **'श्रोणृ संघाते'** धातु से निष्पन्न होता हैं, जिससे स्पष्ट होता है कि यह भाग कणों वा लोकों को परस्पर बांधे रखता है। वे इस भाग पर फिसलते हुए भी परस्पर कभी पृथक् नहीं हो पाते, बल्कि दृढ़ता से जुड़े रहते हैं। इस श्रोणि भाग में जगती छन्द रश्मियों की प्रधानता रहती है। क्षेत्र अच्छिद्र होता है। इसका तात्पर्य यह है कि **केन्द्रीय भाग और शेष भाग में पदार्थ के आवागमन के लिये निश्चित और स्पष्ट मार्ग नहीं होते, बल्कि पदार्थ रिसता हुआ प्रवाहित होता रहता है। इस प्रक्रिया में व्यापक स्तर पर ध्वनि उत्पन्न होती है अर्थात् तारों वा विभिन्न कणों के अन्दर इस श्रोणि भाग में पदार्थ के विसरण के समय सतत ध्वनि होती रहती है।** इसके दोनों ओर के भागों की गतियाँ अच्युत होती हैं अर्थात् वे दोनों भाग परस्पर निश्चित दूरी पर बंधे हुए, फिसलते हुए, इतस्ततः भ्रष्ट नहीं हो पाते हैं। संयोज्य कणों वा लोकों में छब्बीस प्रकार की कुटिल गतियाँ होती हैं। ऐसा प्रतीत
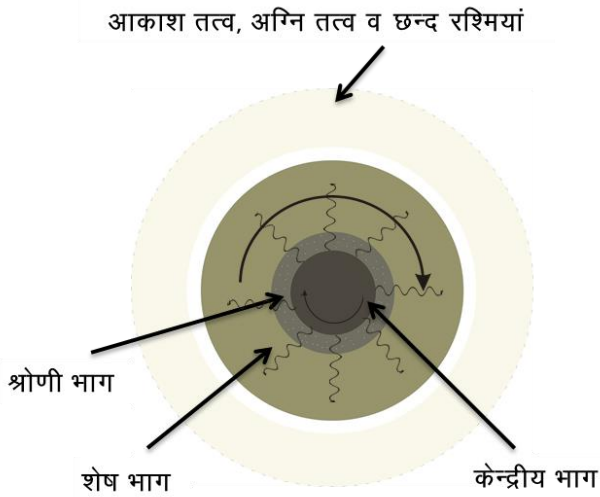
चित्र ६.६ कण की आन्तरिक संरचना

होता है कि **जब दो कणों वा लोकों में परस्पर संयोग होता है, तब उनके अन्दर विद्यमान विभिन्न प्राणादि पदार्थ तीव्र और विचित्र गतियाँ करने लगते हैं और वे गतियाँ ही छब्बीस प्रकार की होती हैं,** ऐसा ही यहाँ सकेत किया गया है। ये सभी गतियाँ वक्रीय ही होती हैं। इनमें से कोई भी सरल रेखीय गति नहीं होती है। उन सभी गतियों के सम्पन्न होने पर पुनः सभी गतिशील पदार्थ अपनी उन कुटिल व अस्थायी गतियों को विराम दे देते हैं और फिर उन लोकों वा कणों के सभी अंग पूर्ववत् साम्यावस्था को प्राप्त करके एक अन्य नवीन पूर्ण कण वा लोक का रूप बन जाते हैं। इस प्रकार उन कणों वा लोकों का प्रत्येक भाग परस्पर एक-दूसरे को आकर्षित करके तृप्त व संतुलित कर लेते हैं।

विशेष- यहाँ हमने श्येन आदि विभिन्न शब्दों का पूर्णतः यौगिक अर्थ ग्रहण किया है। इस कारण विभिन्न कणों वा लोकों के परस्पर संयुक्त होने की प्रक्रिया में जो-जो भी धुंधली आकृतियाँ उभर सकती हैं, उस विषय पर किंचिदपि ध्यान नहीं दिया गया है। इस विषय पर गम्भीरता से विचार करने पर हमें ऐसा भी प्रतीत होता है कि विभिन्न कणों के संयोग की प्रक्रिया में उनके अन्दर विद्यमान विभिन्न सूक्ष्म कणों वा तरंगों तथा दो लोकों के परस्पर संयुक्त होने पर उसमें विद्यमान पदार्थ बिखरकर पुनः संतुलित अवस्था प्राप्त करने के समय कई आकृतियों का निर्माण कर सकता है और वे आकृति श्येन पक्षी, कुल्हाड़ी, भाले की नोंक, कछुआ, ढाल एवम् कनेर के पत्ते जैसी भी हो सकती हैं। कदाचित् इस दृष्टि से भी महर्षि ने इस सांकेतिक भाषा का प्रयोग किया प्रतीत होता है। पुनरपि यह निश्चित है कि इन पदों के यौगिक अर्थ लेकर हमने जो संयोग प्रक्रिया दर्शायी है, वह गम्भीर विज्ञान का परिचायक ही है। आकृतियों के प्रकरण को उसके साथ संयोजित अवश्य किया जा सकता है।।

इस उपर्युक्त प्रक्रिया में व्यापक स्तर पर बाधक बनने वाले पराक्रमी अप्रकाशित हिंसक विद्युद् वायु जिसको कि अनेकत्र दर्शाये अनुसार तेजस्वी विद्युद् वायु रूपी वज्र किरणों से नष्ट वा नियन्त्रित किया जाता है, कहाँ चला जाता है, इसका उत्तर देते हुए महर्षि कहते हैं- इन कणों और लोकों की संयोग प्रक्रिया के समय वह अप्रकाशित बाधक विद्युद्वायु उन दोनों के बीच से हट जाता है और उनके आस-पास विस्तृत आकाश तत्त्व, जो स्वयं उस समय विकृत हो जाता है, वही आकाश तत्त्व उस अप्रकाशित हिंसक विद्युद्वायु को ढक लेता है। इस प्रकार उसकी सामर्थ्य समाप्त हो जाती है और संयोग प्रक्रिया सहजतापूर्वक सम्पन्न हो जाती है। यह अप्रकाशित हिंसक विद्युद्वायु विभिन्न संयोजक शक्तियों को पी जाने अर्थात् नष्ट करने का सामर्थ्य रखता है। इस कारण यह विभिन्न संयोग प्रक्रियाओं को रोक सकता है। उस ऐसे अवरोधक पदार्थ को ग्रन्थ में अनेकत्र रोकने वा नष्ट करने की चर्चा की गयी है, उसी विषय को यहाँ स्पष्ट करते हैं कि वह नियन्त्रित अप्रकाशित हिंसक विद्युद्वायु आकाश तत्त्व में फैलकर मानो विलीन वा दुर्बल हो जाता है। यह आकाश तत्त्व ही उस बाधक पदार्थ का आधार है। इस प्रकार उस पदार्थ को उसके आधारभूत आकाश तत्त्व में ही प्रतिष्ठित कर दिया जाता है। जहाँ-२ भी इस तत्त्व के नियन्त्रण वा विनाश की चर्चा है, वहाँ सर्वत्र ऐसा ही जानना चाहिए।।

ज्ञातव्य- इस खण्ड में वर्णित सभी कण्डिकाओं को आचार्य सायण ने **अभ्रिगुप्रैष** कहा है। इससे संकेत मिलता है कि यहाँ वर्णित सभी क्रियाओं में ऊष्मा एवं विद्युत् की वृद्धि वा तीव्रता होती है।

वैज्ञानिक भाष्यसार- **जब दो कण परस्पर संयुक्त होते हैं, तो सर्वप्रथम उनके परिधि भाग में विद्यमान फील्ड्स् वा प्राणादि तत्त्व आदि में भारी विक्षोभ होता है। उन कणों के परस्पर निकट आने पर वह घेरा तत्काल हट जाता है। उसके पश्चात् आयनों के अन्दर विद्यमान विभिन्न कक्षाओं में चक्रण करते इलेक्ट्रॉन्स आदि की कक्षाएं भी अव्यवस्थित और विक्षुब्ध हो जाती हैं। इसी प्रकार की प्रक्रिया दो लोकों के परस्पर टकराने अथवा गैलेक्सियों के परस्पर मिलने अथवा विभिन्न पिण्डों के संयुक्त होने के समय भी होती है। इसके पश्चात् संयोग प्रक्रिया का प्रभाव आयनों के नाभिक वा अन्य पिण्डों के केन्द्रीय भाग पर भी होता है और उनके केन्द्रीय भाग कुछ विचलित होकर अपने स्थान से कुछ हट जाते हैं,** पुनरपि केन्द्रीय भाग में विद्यमान विद्युत् आवेश, आकर्षण बल, ऊष्मा आदि पदार्थ अति भीषण टक्कर के अतिरिक्त सामान्य सहज संयोग में बहिर्गमन नहीं कर पाते। कुछ समय में वे केन्द्रीय भाग विचलन मुक्त होकर स्थिरता को प्राप्त होते हैं। जब दो कण वा लोक निकट आते हैं, तो उनके सम्मुख भाग में विद्यमान **पदार्थ बहुत तीव्र गति से आकर्षित होकर एक-दूसरे की ओर दौड़ता है, इसके कारण सम्पूर्ण लोक वा कण की आकृति बदल जाती है। इस समय कणों वा लोकों के अन्दर विद्यमान अनेक प्रकार के बल प्रभावित और सक्रिय हो उठते हैं। इन बलों को परस्पर समन्वित रखने का कार्य एक चेतन परमात्म-सत्ता का होता है। विभिन्न Atoms के नाभिक और Atoms का शेष भाग, जिसमें इलेक्ट्रॉन चक्कर लगाते हैं, परस्पर असमान गति से घूर्णन करते हैं। इसी प्रकार विभिन्न लोकों के केन्द्रीय भाग एवं अन्य सम्पूर्ण भाग भी असमान गति से अपने अक्ष पर घूर्णन करते हैं।** कणों वा लोकों के इन दोनों भागों के बीच में जो स्थान होता है, उसमें से सूक्ष्म पदार्थ और शक्तियाँ रिसती हुई एक-दूसरे में प्रवाहित होती है। इस प्रक्रिया में सतत ध्वनि भी उत्पन्न होती रहती है। जब दो कणों वा लोकों में मेल होता है, तब उनके प्रबल आकर्षण बल से उन कणों वा लोकों के अन्दर विद्यमान विभिन्न सूक्ष्म पदार्थों की उथल-पुथल में अनेक प्रकार की गतियाँ उत्पन्न होती हैं। वे सभी गतियाँ वक्रीय होती हैं। इनकी कुल संख्या यहाँ छब्बीस (२६) बतायी गयी है। परस्पर मिलन पूर्ण होने के पश्चात् एक नवीन कण वा लोक बनकर साम्यता को प्राप्त होता है। यहाँ ऐसा भी संकेत प्रतीत होता है कि इन कणों वा लोकों के मिलते समय कुछ अस्पष्ट आकृतियों का भी निर्माण होता है। **इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में अथवा जहाँ कहीं भी डार्क एनर्जी को नियन्त्रित करने की चर्चा आती है, उस समय वह नष्ट वा नियन्त्रित डार्क एनर्जी कहाँ चली जाती है? इसके उत्तर में कहा गया है कि वह आकाश तत्त्व में विलीन होकर निष्प्रभावी हो जाती है और उस डार्क एनर्जी का निवास स्थान आकाश तत्त्व ही है, जिसमें वह गुप्त रूप से सदैव विद्यमान रहती है।।**

सायण भाष्य व मालवीय अनुवाद

२.८ पर सायणभाष्य एवं डॉ. मालवीय का हिन्दी अनुवाद देखें-

अध्रिगुप्रैषं समाप्य पुरोडाशं विधातुं बहुभिः पर्यायैरुपेता काचिदाख्यायिकोच्यते। तत्र प्रथमं पर्यायं दर्शयति-

पुरुषं वै देवाः पशुमालभन्त तस्मादालब्धान्मेध उदक्रामत्, सोऽश्वं प्राविशत् तस्मादश्वो मेध्योऽभवदथैनमुत्क्रान्तमेधमत्यार्जन्त स किंपुरुषोऽभवत्।। इति।

पुरा कदाचिद्देवाः स्वकीये यज्ञे पुरुषं मनुष्यं पशुमालभन्त पशुं कृत्वा तेन पशुना यष्टुमुद्युक्ताः। तस्मादालब्धाद्यंष्टुमुद्युक्तान्मनुष्यपशोर्मेधो मेध्यो यज्ञयोग्यो हविर्भाग उदक्रामन्मनुष्यं परित्यज्यान्यत्रागच्छत्। गत्वा च स भागोऽश्वं प्राविशत्। यस्मादेवं तस्मादश्वो यज्ञयोग्योऽभवत्। अथ तदानीमुत्क्रान्तमेधं परित्यक्तहविर्भागमेनं मनुष्यं देवा अत्यार्जन्तातिशयेन वर्जितवन्तः। तस्मिन्पशुत्वमपि नाकुर्वन्। देवैः स्वीकृत्य परित्यक्तः स मनुष्यः किंपुरुषः किनरावान्तरजातीयः।।

ii. ७ {vi. ७} प्राचीन काल में देवों ने अपने यज्ञ में मनुष्य को पशु बनाकर आलम्भन किया। किन्तु उस आलम्भित {मनुष्य पशु} से मेध अर्थात् यज्ञ के योग्य हविः भाग निकल गया और वह अश्व में प्रविष्ट हो गया। इसीलिए अश्व यज्ञ के योग्य हुआ। तब निकले हुए हविःभाग वाले इस मनुष्य को

देवों ने {यज्ञ पशु बनाने के लिए} अत्यन्त तिरस्कृत कर दिया। वह {देवों के द्वारा स्वीकृत किन्तु परित्यक्त मनुष्य ही} किंपुरुष अर्थात् किन्नर हो गए।

द्वितीयं पर्यायं दर्शयति-

तेऽश्वमालभन्त, सोऽश्वादालब्धादुदक्रामत्, स गां प्राविशत्, तस्माद् गौर्मेध्योऽभवदथैनमुत्क्रान्तमेधमत्यार्जन्त स गौरमृगोऽभवत्।। इति।

आलब्धादश्वान्मेधो यज्ञयोग्यभाग उत्क्रम्य गां प्राविशत्, स गौर्यज्ञयोग्य आसीत्। तदानीमयोग्यत्वेन त्यक्तः सोऽश्वो गौरमृगोऽभवद्, यस्य शङ्गावपि लोमशौ भवतः।।

उन्होंने अश्व का आलम्भन किया। किन्तु उस आलम्भित अश्व से यज्ञ योग्य हविःभाग निकल गया और वह गाय में प्रविष्ट हो गया। इसीलिए गाय यज्ञ योग्य हुई। तब निकले हुए हविभाग वाले इस {अश्व} को देवों ने अयोग्य जानकर उसे भी तिरस्कृत कर दिया। वह {देवों से पहले स्वीकृत किन्तु बाद में परित्यक्त} गौरमृग {=नीलगाय} हो गई।

तृतीयपर्यायं दर्शयति-

ते गामालभन्त, स गोरालब्धादुदक्रामत्, सोऽविं प्राविशत्, तस्मादविर्मेध्योऽभवदथैनमुत्क्रान्त-मेधमत्यार्जन्त, स गवयोऽभवत्, तेऽविमालभन्त सोऽवेरालब्धादुदक्रामत्, सोऽजं प्राविशत्, तस्मादजो मेध्योऽभवदथैनमुत्क्रान्तमेधमत्यार्जन्त, स उष्ट्रोऽभवत्।। इति।

अजादयः प्रसिद्धाः। उष्ट्रो दीर्घग्रीवः।।

उन्होंने गाय का आलम्भन किया। किन्तु उस आलम्भित गौ से मेध निकल गया और वह भेड़ में प्रविष्ट हो गया। इसीलिए भेड़ मेध्य पशु हुआ। तब निकले हुए मेध वाले उस {गाय} को उन्होंने तिरस्कृत कर दिया। तब वह {गौ} गवय {=बैल} हो गया। उन्होंने भेड़ का आलम्भन किया। किन्तु उस आलम्भित भेड़ से मेध निकल गया और वह बकरे में प्रविष्ट हो गया। इसीलिए बकरा मेध्य पशु हुआ। तब उस उत्क्रान्त मेध वाले {भेड़} को उन्होंने तिरस्कृत कर दिया। तब वह ऊँट हो गया।

अजं पुनरपि प्रशंसति-

सोऽजे ज्योक्तमामिवारमत तस्मादेष एतेषां पशूनां प्रयुक्ततमो यदजः।। इति।

स मेधाख्यो यज्ञयोग्यभागस्तस्मिन्नजे ज्योक्तमामिवातिशयेन चिरकालमेवारमत क्रीडितवांस्तस्माच्चिरकालमेव सद्भावाद्योऽयमजोऽस्ति स एष एतेषां पूर्वोक्तानां पशूनां मध्ये प्रयुक्ततमः शिष्टैरतिशयेन प्रयुक्तः।।

उस बकरे में यज्ञ योग्य भाग बहुत दिनों तक रहा। अतः {चिरकाल तक रहने के कारण} जो यह अज है वह इन {पूर्वोक्त} पशुओं के मध्य अत्यन्त प्रयुक्त हुआ।

पंचमं पर्यायं दर्शयति-

तेऽजमालभन्त, सोऽजादालब्धादुदक्रामत्, स इमां प्राविशत्, तस्मादियं मेध्याऽभवदथैनमुत्क्रान्तमेधमत्यार्जन्त, स शरभोऽभवत्।। इति।

इमां पृथिवीम्। शरभोऽष्टभिः पादैरुपेतः सिंहघाती मृगविशेषः।।

उन्होंने अज का आलम्भन किया। किन्तु उस आलम्भित अज से वह निकल गया और वह पृथ्वी में प्रविष्ट हो गया। इसीलिए पृथ्वी मेध्य हुई। तब उस उत्क्रान्त मेध वाले अज को उन देवों ने तिरस्कृत कर दिया। वह शरभ {आठ पैरों वाला सिंह का घातक पशु विशेष} हो गया।

अत्र प्रसंगात् कंचिद्धर्मविशेषं दर्शयति-

त एत उत्क्रान्तमेधा अमेध्याः पशवस्तस्मादेतेषां नाश्नीयात्।। इति।

मनुष्याश्वगोव्यजेभ्यो मेधस्योत्क्रमणक्रमेण निष्पन्नास्त एते किंपुरुषादयो मेधराहित्याद् यज्ञयोग्याः पशवो नाऽऽसन्। अत एतेषां पशूनां संबन्धि मांसं नाश्नीयात्।

उत्क्रान्त-मेध वाले {मनुष्य, अश्व, गो, अवि और अज} वे ये {किंपुरुष आदि} पशु {मेधविहीन होने के कारण} यज्ञ के योग्य नहीं थे। अतः इन पशुओं का मांस नहीं खाना चाहिए।

अत्र पुरोडाशं विधत्ते-

तमस्यामन्वगच्छन्, सोऽनुगतो व्रीहिरभवत्, तद्यत्पशौ पुरोळाशमनुनिर्वपन्ति समेधेन नः पशुनेष्टमसत, केवलेन नः पशुनेष्टमसदिति।। इति।

तं मेधाख्यं हविर्भागमस्यां पृथिव्यां प्रविष्टं ग्रहीतुं देवा अन्वगच्छन्। स च मेधो देवैरनुगत उत्क्रान्तुमशक्तः सन्सहसा व्रीहिरभवत्। तथा सति यदि पशौ पुरोडाशमनुनिर्वपन्ति पश्वालम्भानन्तरमेव निर्वपेयुः, तदानीं नोऽस्माकं समेधेन यज्ञयोग्यहविर्भागयुक्तेन पशुनेष्टमसदिष्टं भवति। पुरोडाशनिर्वापकर्तॄणां कोऽभिप्राय इति, सोऽभिधीयते। नोऽस्माकं केवलेन साधनान्तरनिरपेक्षेण मेधपूर्णेन पशुनेष्टमस्त्विति तदभिप्रायः।।

इस {पृथ्वी} में प्रविष्ट उस मेध को पाने के लिए देवों ने अनुगमन किया। देवों से पीछा किया गया वह {भागने में असमर्थ हो सहसा} व्रीहि {=धान} हो गया। जब उस पश्वालम्भन के पश्चात् पुरोडाश का निर्वपन करते हैं तब हमें यज्ञ योग्य हविभाग से युक्त पशु ही इष्ट होता है। इस प्रकार {पुरोडाश निर्वाप का अभिप्राय है} हम लोगों को साधनान्तर की निरपेक्षा से मेधपूर्ण पशु इष्ट होवे।

वेदनं प्रशंसति-

समेधेन हास्य पशुनेष्टं भवति, केवलेन हास्य पशुनेष्टं भवति य एवं वेद।।८।। इति।

समेधेनेत्यस्यैव वाक्यस्य व्याख्यानं केवलेनेत्यादि। तदेतत् सर्वं श्रुत्यन्तरसंगृहीतम्- 'पशुमालभ्य पुरोडाशं निर्वपति समेधमेवैनमालभते' इति।।

जो इस प्रकार जानता है उसका यज्ञ यज्ञयोग्यहवि व पुरोडाश रूप पशु से इष्ट होता है और इसका यज्ञ साधनान्तर निरपेक्ष से मेधपूर्ण पशु से इष्ट होता है।

यही प्रकरण शतपथ ब्राह्मण में कुछ पाठ भेद से विद्यमान है, जो इस प्रकार है-

पुरुषं ह वै देवा अग्रे पशुमालेभिरे। तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम। सोऽश्वं प्रविवेश। तेऽश्वमालभन्त। तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम। स गां प्रविवेश। ते गामालभन्त। तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम। सोऽविं प्रविवेश। तेऽविमालभन्त। तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम। सोऽजं प्रविवेश। तेऽजमालभन्त। तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम।।६ ।।

स यं पुरुषमालभन्त-स किम्पुरुषोऽभवत्। यावश्वं च गाञ्च तौ गौरश्च गवयश्चाभवताम्। यमविमालभन्त-स उष्ट्रोऽभवत्। यमजमालभन्त-स शरभोऽभवत्। तस्मादेतेषां पशूनां नाशितव्यम्। अपक्रान्तमेधा हैते पशवः।।६।। (श.१.२.३.६,६)

इस पर **पौराणिक विद्वान् पं. मोतीलाल जी शास्त्री** का भाष्य इस प्रकार है-

देवताओं ने सबसे पहिले पुरुषपशु का आलम्भन किया। उस आलब्ध पशु का मेधभाग अपक्रान्त हो गया। वह अश्वपशु में प्रविष्ट हो गया। देवताओं ने (मेधभाग की प्राप्ति के लिए) अश्वपशु का आलम्भन किया। आलब्ध अश्वपशु का मेध अपक्रान्त हो गया। यह गोपशु में प्रविष्ट हो गया। देवताओं ने गोपशु का आलम्भन किया। आलब्ध इस गोपशु का मेध अपक्रान्त हो गया। अपक्रान्त होकर यह अज (भेड़) पशु में प्रविष्ट हो गया। देवताओं ने अविपशु का आलम्भन किया। आलब्ध अविपशु का

मेध अपक्रान्त हो गया। अपक्रान्त होकर यह अज (बकरा) पशु में प्रविष्ट हो गया। देवताओं ने अजपशु का आलम्भन किया। आलब्ध अजपशु का मेध अपक्रान्त हो गया।।६।।

सो जो कि (मेधप्राप्ति की कामना से) देवताओं ने पुरुष का आलम्भन किया, वह किंपुरुष बना। अश्व-गौ के आलम्भन से क्रमशः गौर एवं गवय पशु उत्पन्न हुए। अविपशु के आलम्भन से उष्ट्रपशु उत्पन्न हुए। अजपशु के आलम्भन से शरभपशु उत्पन्न हुआ, इसलिए इन पशुओं का (किंपुरुष-गौर गवय-उष्ट्र-शरभ-पशुओं का मांस नहीं खाना चाहिए। कारण, ये पांचों ही पशु अपक्रान्तमेध हैं। ये अमेध्य पशु हैं।।६।।

ऐसा अनुवाद करने के उपरान्त इस पर अस्पष्ट व्याख्यान दिया गया है, जिसे विस्तारभय से यहाँ उद्धृत करना आवश्यक नहीं समझते और न ही हमें वह उपयोगी ही प्रतीत हुआ।

अब इसी पर **आर्य समाज के प्रख्यात विद्वान् पं. बुद्धदेव जी विद्यालंकार** का भाष्य देखें-

देखो, जब पुरुष वृद्धावस्था अथवा कार्य के अतियोग से थक जाता है तो वह क्या रह जाता है? उसे क्या पुरुष कह सकते हैं? वह काहे का पुरुष है? घोड़ा गौरमृग के समान छोटे दरजे का प्राणी हो जाता है। गाय पहिचानी नहीं जाती कि यह वही है जो किसी दिन बीस सेर दूध देती थी। वह तो अब गोसदृश गवय है। 'निवेशस्त्वज्ञानां सुरभिरिति बुद्धि दृढ़यति।'' गौ नहीं है, गौ सा कोई प्राणी है। भेड़ अब ऊँट के समान शीत से घबराने लगी है। यह बूढ़ी हो गई है। इसकी ऊन मत काटो। बकरी, यह तो ऊँट का बच्चा हो गई है। वह भी अब शीत न सह सकेगी। इन सबसे काम मत लो, इनसे काम तब तक ही लो जब तक यह पुरुष, अश्व, गौ, अवि और अज रहें।

इसी पर ही एक अन्य **आर्य विद्वान् पं. गंगाप्रसादजी उपाध्याय** का भाष्य देखें-

देवों ने पहले-पहल पुरुष रूपी यज्ञ पशु का आलम्भन किया। उस आलम्भन किये पुरुष से मेध चला गया और घोड़े में जा घुसा। उन्होंने घोड़े का आलभन किया। तब मेध घोड़े से निकलकर गाय में घुस गया। तब उन्होंने गाय का आलम्भन किया। तब मेध गाय से निकलकर भेड़ में घुस गया। तब उन्होंने भेड़ का आलम्भन किया। तब मेध भेड़ से निकल कर बकरी में चला गया। तब उन्होंने बकरी का आलम्भन किया। तब मेध बकरी में से निकल भागा।।६।।

जो पुरुष का आलम्भन किया था वह किं-पुरुष हो गया। जो घोड़े का आलम्भन किया और गाय का, वह गौर और गवय बन गये। भेड़ का आलम्भन किया तो ऊँट बन गया। बकरी का आलम्भन किया तो वह शरभ बन गया। इसलिए हमें पांच पशुओं को न खाना चाहिये, क्योंकि इनमें मेध नहीं रहा।।६।।

इसी से मिलता-जुलता पशु संज्ञपन का प्रकरण शतपथ ब्राह्मण के तीसरे काण्ड में विस्तार से दिया है। उसका भाष्य करते हुए आर्य विद्वान् पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय ने विस्तार से पशु बलि का क्रूर वर्णन किया है। वस्तुतः महर्षि दयानन्द सरस्वती के आर्य समाज पर यह एक बड़ा कलंक है।

मेरा व्याख्यान

१. पुरुषं वै देवाः पशुमालभन्त तस्मादालब्धान्मेध उदक्रामत्, सोऽश्वं प्राविशत् तस्मादश्वो मेध्योऽभवदथैनमुत्क्रान्तमेधमत्यार्जन्त स किंपुरुषोऽभवत्।।
तेऽश्वमालभन्त, सोऽश्वादालब्धादुदक्रामत्, स गां प्राविशत् तस्माद् गौर्मेध्योऽभवदथैनमु- त्क्रान्तमेधमत्यार्जन्त स गौरमृगोऽभवत्।।
ते गामालभन्त, स गोरालब्धादुदक्रामत्, सोऽविं प्राविशत्, तस्मादविर्मेध्योऽभवदथैनमुत्क्रान्त- मेधमत्यार्जन्त, स गवयोऽभवत्, तेऽविमालभन्त

सोऽवेरालब्धादुदक्रामत्, सोऽजं प्राविशत् तस्मादजो मेध्योऽभवदथैन-मुत्क्रान्तमेधमत्यार्जन्त, स उष्ट्रोऽभवत्।।
सोऽजे ज्योक्तमामिवारमत तस्मादेष एतेषां पशूनां प्रयुक्ततमो यदजः।।
तेऽजमालभन्त, सोऽजादालब्धादुदक्रामत्, स इमां प्राविशत्, तस्मादियं मेध्याऽभवदथैनमु- त्क्रान्तमेधमत्यार्जन्त, स शरभोऽभवत्।।

{पुरुषः = इमे वै लोका पूरयमेव पुरुषो योऽयं (वायुः) पवते सोऽस्यां पुरि शेते तस्मात्पुरुषः (श.१३.६.२.१), प्राण एष स पुरि शेते स पुरि शेत इति। पुरिशयं सन्तं प्राणं पुरुष इत्याचक्षते (गो.पू.१.३६), स यत् पूर्वोऽस्मात् सर्वस्मात् सर्वान् पाप्मन औषत् तस्मात् पुरुषः (श.१४.४.२.२), पुरुषो वै यज्ञः (जै.उ.४.२.१), पुरुषो वै संवत्सरः (श.१२.२.४.१), पुरत्यग्रं गच्छतीति पुरुषः (उ.को.४.७५)। अश्वम् = व्याप्तुं शीलं (मेघम्) (म.द.य.भा.१३.४२), शुक्लवर्णं वाष्पाख्यम् (ऋ.भा.भू.नौविमानादिविद्याविषयः - उद्धृत वै.को. -आ. राजवीर शास्त्री), अश्व इति महन्नाम (निघं.३.३), आशुगामी वायुरग्निर्वा (म.द.ऋ.भा.१.१६४.२), व्याप्तिशीलोऽग्निः (म.द.ऋ.भा.१.१६२.२२), अश्व इति किरणनाम, (निघं.१.५), अग्निर्वा अश्वः श्वेतः (श.३.६.२.५)। अति+अर्ज प्रतियत्ने = जाने देना, दूर करना (सं.धा.को. -पं. युधिष्ठिर मीमांसक)। किंपुरुषः = किंपुरुषो वै मयुः (श.७.५.२.३२), (मयुः = मिनोति सुशब्दं प्रक्षिपतीति मयुः - उ.को.१.७)। गौरः = गायति शब्दं करोतीति गौरः, अरुणे श्वेते पीते निर्मले च वाच्यलिङ्गः (उ.को.१.६५), गवतेऽव्यक्तं शब्दयतीति गौरः (उ.को.२.२६)। मृगः = मृगो मार्ष्टेर्गतिकर्मणः (नि.१.२०)। गवयः = गोसदृशः (तु.म.द.य.भा.१३.४६), गौरिवायो गमनं प्राप्तिर्वाऽस्येति गवयः, गो-अय-पदयोः समासः (वै.को.-आ.राजवीर शास्त्री)। अजः = क्षेपणशीलः (म.द.य.भा.२६.२३), प्रेरकः (म.द.ऋ.भा.३.४५.२), ब्रह्म वाऽअजः (श.६.४.४.१५), वाग्वाऽ अजः (श.७.५.२.२१), अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकात् (मै.२.७.१७), एषा वा अग्नेः प्रिया तनुर्यदजा (तै.सं.५.१.६.२), तस्या (गायत्र्यै) अग्निस्तेजः प्रायच्छत्, सोऽजोऽभवत् (मै.१.६.४)। उष्ट्र = ओषति दहतीति उष्ट्रः (उ.को.४.१६३), (उष् = उष दाहे = जलना, हिंसा करना, जलाना, उपभोग करना, चोट पहुँचाना -आप्टे कोष)। शरभम् = शल्यकम् (म.द.य.भा.१३.५१), शृणातीति (उ.को.३.१२२), शल्+अभच् = शलभः = शलते गच्छतीति (उ.को.३.१२२) (हमारे मत में लकार को रेफ होकर शलभः का शरभः हुआ है। यहाँ 'शल चलनसंवरणयोः = जाना, चुभना, चलना, आच्छादित करना, ढकना। {व्रीहिः = व्रीहयः शक्वर्यः (जै.ब्रा.१.३३३), (शक्वरीः = शक्तिनिमित्ता गाः - म.द.य.भा. २१.२७), शक्वरी बाहुनाम (निघं.२.४), गोनाम (निघं.२.११), शक्वर्य ऋचः शक्नोतेः, तद् यद् आभिर्वृत्रमशकद् हन्तुं तच्छक्वरीणां शक्वरीत्वमिति विज्ञायते (नि.१.८), पशवः शक्वर्यः (तां.१३.१.३), आपो वै शक्वर्यः (जै.ब्रा.३.६२)। पशवः = पशवो वै हविष्मन्तः (श.१.४.१.६)। उद्+क्रम् = ऊपर होना, परे जाना, परे कदम रखना, उपेक्षा करना - आप्टे कोष}

व्याख्यानम्- अब महर्षि सृष्टि प्रक्रिया के प्रारम्भिक चरणों को क्रमबद्ध व्याख्यात करते हुए कहते हैं कि सर्वप्रथम मन एवं वाक् तत्त्व रूपी प्राथमिक देव पदार्थ समस्त अवकाश रूप आकाश में विद्यमान दिव्य वायु, जो कि प्राणापान आदि प्राथमिक प्राणों के रूप में उस समय वर्तमान रहता है, को पशु रूप में देखते हैं। इसका आशय यह है कि **इस दिव्य वायु में सर्वप्रथम संगतीकरण की क्रिया प्रारम्भ होती है।** उस समय यह दिव्य वायु रूपी पुरुष अप्रकाशित हिंसक विद्युद् वायु आदि बाधक पदार्थों से मुक्त होता है किंवा ऐसे बाधक पदार्थ उस समय उत्पन्न ही नहीं हो पाते हैं अथवा उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाते हैं। उस समय संगतीकरण की प्रक्रिया बिना किसी विघ्न बाधा के इस दिव्य वायु में सर्वतः प्रारम्भ

हो जाती है। उसके पश्चात् संगतीकरण की प्रक्रिया इस दिव्य वायु से ऊपर उठकर आगे बढ़ने लगी अर्थात् इससे उत्पन्न स्थूलतर पदार्थ में भी यह क्रिया व्याप्त होने लगी। ध्यातव्य है कि प्रारम्भिक अवस्था में दिव्य वायु से स्थूल कोई पदार्थ विद्यमान ही नहीं था। तब संयोग प्रक्रिया स्थूल पदार्थों में कैसे व्याप्त हो गयी, इसके उत्तर में हमारा मत यह है कि स्थूल पदार्थ उस दिव्य वायु से ही उत्पन्न हुए। इन स्थूल पदार्थों का नाम **महर्षि ऐतरेय महीदास 'अश्व'** देते हैं। हमारी दृष्टि में **यहाँ 'अश्व' शब्द का अर्थ 'वाजी' अर्थात् छन्द रश्मियां होता है।** इसी कारण कहा है **"वाजिनो ह्यश्वाः" (श.५.१.४.१५) एवं "छन्दांसि वै वाजिनः" (मै.१.१०.६)। ये छन्द भी प्राजापत्य छन्द होते हैं,** इसलिए कहा है **"प्राजापत्यो वा अश्वः" (तै.सं.३.२.६.३; मै.४.४.८)।** इससे यह भी स्वयमेव स्पष्ट हो रहा है कि दैवी छन्द दिव्य वायु के अन्तर्गत ही समाहित होते हैं। दूसरे चरण की संयोग प्रक्रिया इन्हीं प्राजापत्य छन्द रश्मियों में होने लगती है। ये रश्मियां अत्यन्त व्यापक स्तर पर विद्यमान होती और अति आशुगामी भी होती हैं। इसमें संयोग प्रक्रिया उत्पन्न होने पर शेष दिव्य वायु कैसे स्वरूप वाला हो जाता है, इसके उत्तर में महर्षि कहते हैं कि वह **किंपुरुष = मयुः** के रूप में अवस्थित हो जाता है। इसका आशय यह है कि वह शेष **दिव्य वायु एक ऐसे पदार्थ में परिवर्तित हो जाता है, जो दूर तक फैला और मन्द-२ शब्द को उत्पन्न करने होता है अथवा जिसमें शब्द उत्पन्न वा प्रक्षिप्त होते हैं। हमारी दृष्टि में यही तत्त्व आकाश तत्त्व है, जिसका गुण शब्द बतलाया गया है।** यह शब्द गुण वाला आकाश तत्त्व संयोग-वियोग प्रक्रिया से कुछ दूर हो जाता है अथवा उसमें कम भाग लेता है। इस विषय में हमारा एक अन्य मत यह भी है कि यह **मयु (किंपुरुष) नाम का पदार्थ एक ऐसा पदार्थ है, जो अत्यन्त प्रक्षेपक क्षमता से युक्त एवं अत्यन्त व्यापनशील होता है, साथ ही यह सूक्ष्म ध्वनियां भी उत्पन्न करता रहता है। हमारी दृष्टि में यह पदार्थ ही सबसे सूक्ष्म एवं प्रारम्भिक असुर तत्त्व (अप्रकाशित हिंसक बाधक पदार्थ) कहलाता है।** इसमें होने वाली प्रक्रियाएं अत्यन्त तीक्ष्ण होती हैं और इस पदार्थ में कभी भी किसी प्रजा का वास नहीं होता है।।

तदनन्तर वे मन और वाक् तत्त्व रूपी देव उन प्राजापत्य छन्द रश्मियों में सब ओर से व्याप्त हो गये और उनमें संगतीकरण की प्रक्रिया तेज होने लगी परन्तु कुछ काल पश्चात् संयोग प्रक्रिया उपर्युक्त प्राजापत्य छन्द रश्मियों से आगे बढ़कर उनसे उत्पन्न अन्य महद् रश्मियों अर्थात् बड़ी छन्द रश्मियों में व्याप्त हो जाती है। ये छन्द रश्मियाँ लघु छन्द रश्मियों से ही उत्पन्न होती हैं। ये रश्मियाँ अधिक तेजस्वी और बलवती होती हैं। इसी कारण कहा है- **'इन्द्रियं वै वीर्यं गावः' (श.५.४.३.१०), 'गावो वै शक्वर्यः' (जै.ब्रा.३.१०३), 'गौस्त्रिष्टुप्' (तै.सं.७.५.१.५), 'जगती छन्दस्तद् गौः प्रजापतिर्देवता' (मै.२.१३.१४)** इस प्रकार संयोग प्रक्रिया इन तीव्र छन्दों में सब ओर से व्याप्त हो जाती है अर्थात् ये परस्पर संयुक्त होने लगते हैं। इसके साथ ही पूर्वोक्त सूक्ष्म छन्द रश्मियां, जो स्थूल रश्मियों में परिवर्तित होने से शेष रह जाती हैं, वे **गौरमृग** में परिवर्तित हो जाती हैं। इसका तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि **वे रश्मियां अरुण-पीत-श्वेत रंग वाली किरणों के विशाल मेघ के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं। यह वर्ण निर्मल वा स्पष्ट होता है। प्रतीत होता है कि रूपवान् अग्नि तत्त्व की उत्पत्ति यहाँ हो जाती है। इनमें अव्यक्त ध्वनियां भी उत्पन्न होती रहती हैं।** ये रश्मियाँ इस ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्याप्त रहती हुई भी संयोगादि प्रक्रियाओं से अन्य पदार्थ की भाँति परिपूर्ण नहीं होती हैं अर्थात् इनमें वे क्रियाएं न्यूनतर होती हैं।।

{अविः = अविं पशुम् (प्रजापतिः पद्भ्यामेवासृजत - जै.ब्रा.१.६६), इयं (पृथिवी) वाऽअविरियं हीमाः सर्वाः प्रजा अवति (श.६.१.२.३३), नासिकाभ्यामेवास्य (इन्द्रस्य) वीर्यमस्रवत् सोऽविः पशुरभवन्मेषः (श.१२.७.१.३), (नासिका = नासिका नसतेः - नि.६.१७; नसते गतिकर्मा - निघं.२.१४; नासिकेऽउ वै प्राणस्य पन्थाः - श.१२.६.१.१४; यथा वै नासिकैवं यूपः - श.४.२.१.२५)}

तदनन्तर वे मन एवं वाक् तत्त्व रूपी देव उपर्युक्त विभिन्न छन्द रश्मियों में सब ओर से व्याप्त हो गये और उनमें संगतीकरण की क्रिया तीव्र होने लगी परन्तु कुछ कालोपरान्त वह संयोग प्रक्रिया उन छन्द रश्मियों से आगे बढ़कर उनसे उत्पन्न **'अवि'** नामक पदार्थ में विशेषरूपेण व्याप्त हो गयी। यहाँ **'अवि' का तात्पर्य उस व्यापक पदार्थ से है, जो अन्तरिक्ष में फैला रहता व जिसमें अपना प्रकाश नहीं होता है। इसके कण पूर्वोत्पन्न त्रिष्टुबादि छन्द रश्मियों से उत्पन्न इन्द्र तत्त्व अर्थात् तीव्र तेजस्वी विद्युद्वायु से उत्पन्न होते हैं।** उनकी उत्पत्ति की प्रक्रिया **महर्षि याज्ञवल्क्य** अपने **शतपथ ब्राह्मण** में उपर्युक्त उद्धरणों

के माध्यम से बतलाते हुए कहते हैं- **जब विद्युद्वायु के अन्दर प्राणतत्त्व के प्रवाहित होने के मार्ग से कुछ तेजस्वी रश्मियाँ प्रवाहित होने लगती हैं, तब वे रश्मियां अप्रकाशित कणों के रूप में संघनित होने लगती हैं।** **जैमिनीय ब्राह्मण १.६६** के प्रमाण से यह प्रतीत होता है कि इन कणों का निर्माण प्रजापति अर्थात् विभिन्न छन्दरश्मियों के विभिन्न पदों के संयोग से होता है। उन पदों का संयोग उपर्युक्त इन्द्रतत्त्व से प्रवाहित तेजस्वी रश्मियों से ही होता है तथा उससे अप्रकाशित कणों की उत्पत्ति होती है। ये अप्रकाशित कण **'अवि'** इस कारण कहलाते हैं, क्योंकि ये विभिन्न छन्दादि रश्मियों, विभिन्न प्रकाशित तरंगों एवं अन्य अनेक प्राणादि रश्मियों को धारण करने वाले होते हैं तथा उनके कारण ही गति, आकर्षण बलादि से युक्त होते हैं। उधर जब मन, वाक् की संगतीकरण की प्रक्रिया जिन छन्द रश्मियों से दूर हो जाती है किंवा जो छन्द रश्मियां अप्रकाशित कणों में परिवर्तित नहीं हो पाती हैं, वे **'गवय'** में परिवर्तित हो जाती हैं। यहाँ **'गवय' पदार्थ भी गो पदार्थ के समान ही होता है अर्थात् वे रश्मियां छन्द रश्मियों के रूप में ही ब्रह्माण्ड में सर्वत्र प्राप्त वा व्याप्त रहकर अपना कार्य करती रहती हैं।**

इसके पश्चात् मन एवं वाक् तत्त्व ने संगति प्रक्रिया को उन अप्रकाशित कणों के मध्य सब ओर से व्याप्त कर दिया परन्तु कुछ काल पश्चात् वह प्रक्रिया उन कणों से भी आगे बढ़कर उन्हीं से उत्पन्न **'अज'** नामक पदार्थ में व्याप्त हो गयी। इस **'अज'** पदार्थ के स्वरूप पर उपर्युक्त प्रमाणों को दृष्टिगत रखकर विचार करते हैं- **यह पदार्थ ज्वलनशील अग्नि से उत्पन्न होता है तथा इसमें ही अग्नि तत्त्व का विस्तार होता है। इससे प्रतीत हो रहा है कि तेजवर्धक गायत्री एवं त्रिष्टुप् आदि छन्द रश्मियों से इसकी उत्पत्ति होती है।** प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि फिर यहाँ अप्रकाशित कणों से इसकी उत्पत्ति क्यों बतायी है? इसका कारण यह है कि विभिन्न अप्रकाशित कण विभिन्न छन्द रश्मियों के सघन रूप ही होते हैं, साथ ही वे विभिन्न छन्द रश्मियों से आवृत्त भी होते हैं। जब वे अप्रकाशित कण अग्नि तत्त्व के संयोग से देदीप्यमान हो जाते हैं। उस समय उनमें से यह **'अज'** नामक तेजस्वी पदार्थ उत्पन्न हो जाता है। यह पदार्थ तीव्र रूप से प्रक्षेपणशील भी होता है। इसी **'अज'** नामक पदार्थ में मन और वाक् तत्त्व की संगतीकरण-प्रक्रिया व्याप्त हो जाती है, जिससे उसके परमाणु विभिन्न संयोगों को उत्पन्न करके नाना पदार्थों में परिवर्तित होने लगते हैं। उधर जो अप्रकाशित कण संयोगादि प्रक्रियाओं से कुछ वंचित होकर **'अज'** नामक पदार्थ में परिवर्तित नहीं होते हैं, वे **उष्ट्र** रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। यहाँ **उष्ट्र उस पदार्थ का नाम है, जो तीव्र दाहक होता है और जिसकी भेदन क्षमता भी अधिक होती है। इसके कारण यह पदार्थ सबको जलाता हुआ तोड़-फोड़ करता रहता है, परन्तु इसमें संयोग की प्रक्रिया न्यून होने के कारण अन्य पदार्थ से कुछ पृथक् सा रहता है।।**

इसके पश्चात् पूर्वोक्त **अज** नामक तेजस्वी पदार्थ में मन और वाक् तत्त्व के द्वारा संगतीकरण की प्रक्रिया लम्बे काल तक चलती रहती है। **ये पदार्थ ही तेजस्वी और क्षेपणशील होने के कारण सबसे अधिक संयोज्य गुणधर्मी हो जाते हैं।** {ज्योक् = निरन्तरम् (म.द.ऋ.भा.१.१३६.६)} यह पदार्थ अग्नि तत्त्व के साथ अधिक संगमनीय होने के कारण संयोगादि प्रक्रिया के लिये अधिक उपयुक्त रहता है।।

इस कारण मन और वाक् तत्त्व की संगतीकरण की प्रक्रिया इस **'अज'** नामक पदार्थ में सब ओर से व्याप्त हो जाती है परन्तु एक दीर्घकाल के पश्चात् यह प्रक्रिया उनसे भी आगे बढ़ जाती है। वह संगतीकरण प्रक्रिया इस पृथिवी अर्थात् सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में विद्यमान प्रकाशित और अप्रकाशित कणों में व्याप्त हो गयी। उधर उपर्युक्त अज नामक पदार्थ, जिनमें कि संगतीकरण की प्रक्रिया मन्द हो गयी थी, **शरभ** नामक पदार्थ में परिवर्तित हो गये। यहाँ **शरभ उस पदार्थ का नाम है, जो ब्रह्माण्ड में सबको आच्छादित करता हुआ भेदक शक्ति से सम्पन्न सर्वत्र विचरता रहता है। यह पदार्थ संयोग-वियोग की प्रक्रिया की मन्दता के चलते सृजन कार्यों की मुख्य धारा से कुछ पृथक् ही रहता है।।**

वैज्ञानिक भाष्यसार- यहाँ सृष्टि प्रक्रिया के कुछ महत्वपूर्ण चरणों की चर्चा करते हुए कहते हैं कि सर्वप्रथम मन और वाक् तत्त्व प्राणापान आदि प्राथमिक प्राणों में संगतीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ करते हैं। उस समय संगतीकरण की प्रक्रिया में बाधक अप्रकाशित ऊर्जा आदि पदार्थों की उत्पत्ति नहीं हो पाती है, जिसके कारण संगतीकरण की प्रक्रिया निर्बाध और तीव्र गति से चलती है। उसके पश्चात् इस प्रक्रिया से ही विभिन्न सूक्ष्म छन्द रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं और फिर मन और वाक् तत्त्व के द्वारा इन रश्मियों में संगतीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। उधर पूर्व पदार्थ के शेष भाग में जो संगतीकरण

की प्रक्रिया अति मन्द वा बन्द पड़ जाती है, **वही पदार्थ आकाश तत्त्व एवं अप्रकाशित ऊर्जा आदि में परिवर्तित हो जाता है। यही सर्वप्रथम ध्वनि ऊर्जा की उत्पत्ति होती है। आकाश तत्त्व एवं डार्क एनर्जी व मैटर की भी यह प्रथम उत्पत्ति है।** उसके पश्चात् बड़ी एवं तीक्ष्ण छन्द रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं और उनमें मन और वाक् तत्त्व के द्वारा संयोगादि प्रक्रिया होने लगती है। उधर कुछ सूक्ष्म छन्द रश्मियाँ संयोगादि प्रक्रिया की मन्दता की शिकार हो जाती हैं। उस समय **वे लाल, पीले और श्वेत रंगों के मिश्रित परन्तु स्पष्ट और स्वच्छ रूप वाली किरणों के विशाल मेघ के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं। उनमें अव्यक्त ध्वनि तरंगें भी उत्पन्न होती रहती हैं।** उसके पश्चात् बड़ी छन्द रश्मियों से उत्पन्न **तेजस्वी विद्युत् के द्वारा अनेक पदार्थ कण उत्पन्न हो जाते हैं। ये पदार्थ कण विभिन्न विद्युत् चुम्बकीय तरंगों को अवशोषित और उत्सर्जित करने के सामर्थ्य से युक्त होते हैं।** हमारी दृष्टि में आधुनिक विज्ञान द्वारा **क्वार्क** एवं **लैप्टॉन** आदि पदार्थ इसी श्रेणी के अन्तर्गत माने जा सकते हैं। उसके पश्चात् मन और वाक् तत्त्व के द्वारा इनमें संगतीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। उधर संगतीकरण की प्रक्रिया की मन्दता से प्रभावित कुछ बड़ी छन्द रश्मियाँ अपने उसी रूप में इस ब्रह्माण्ड में विचरण करती रहती हैं। उसके पश्चात् उन लैप्टॉन्स और क्वार्क आदि के परस्पर संगत होने से किंवा उनकी विभिन्न छन्द रश्मियों से संगति होने से वे कण अति तीव्र भेदक और क्षेपक शक्तिसम्पन्न हो जाते हैं। कदाचित् न्यूट्रिनो आदि एवं विभिन्न प्रकार की तीव्र ऊर्जा युक्त तरंगें भी इन्हीं से उत्पन्न होती हैं और कुछ लैप्टॉन्स, क्वार्क आदि अपने ही प्रतिकणों से मिलकर अति तीव्र ऊर्जा वाली गामा (γ) तरंगों को उत्पन्न करते हैं। इसके पश्चात् **तीव्र ऊर्जा वाले लैप्टॉन्स और क्वार्क्स लम्बे काल तक मन और वाक् तत्त्व की मूल प्रेरणा से परस्पर संगत होकर विभिन्न न्यूक्लिऑन्स का निर्माण करते रहते हैं।** उसके पश्चात् मन और वाक् तत्त्व के द्वारा संगतीकरण की प्रक्रिया इस ब्रह्माण्ड में विद्यमान समस्त न्यूक्लिऑन्स आदि पदार्थों में व्याप्त हो जाती है और उधर कुछ न्यूक्लिऑन्स इतनी तीव्र ऊर्जा से युक्त हो जाते हैं कि वे परस्पर संयोग ही नहीं कर पाते हैं। ऐसे तीव्र ऊर्जायुक्त न्यूक्लिऑन्स तीव्र भेदक क्षमतासम्पन्न होकर इस ब्रह्माण्ड में सर्वत्र विचरते रहते हैं।।
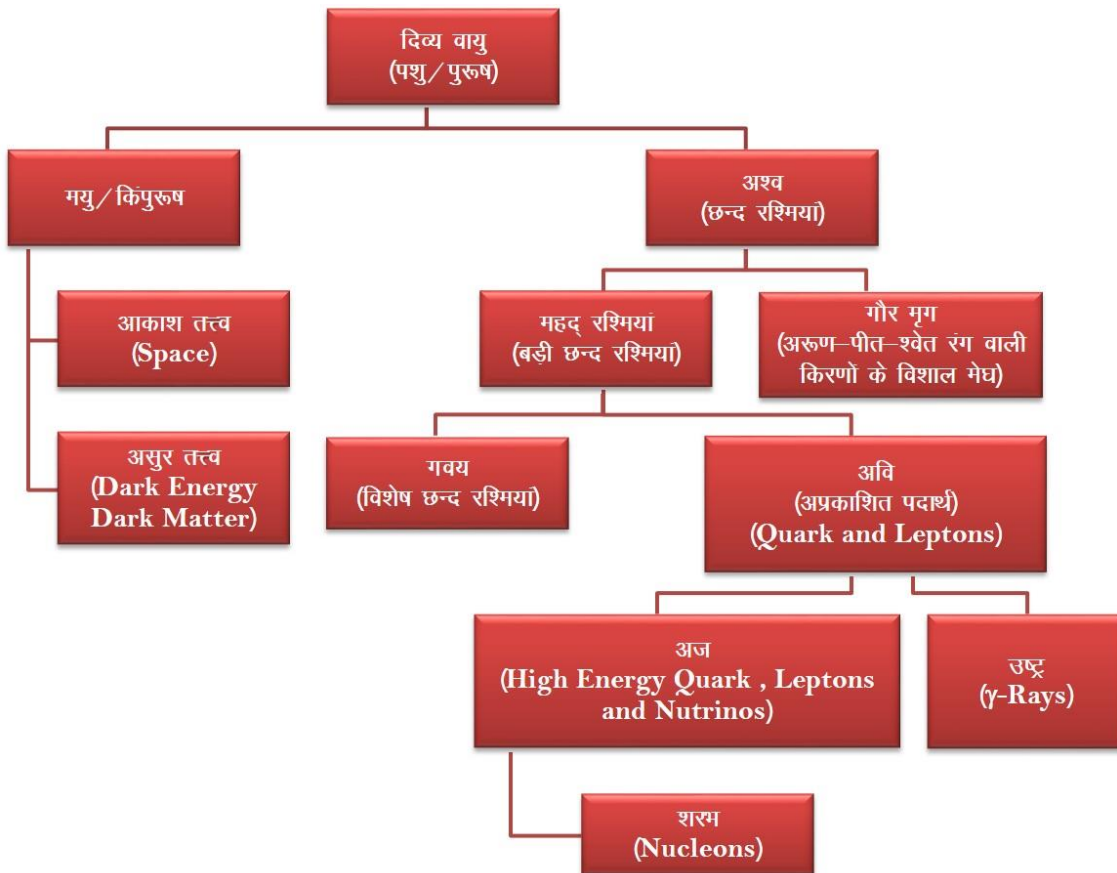
चित्र ६.१० सृष्टि प्रक्रिया के कुछ महत्वपूर्ण चरण

**२. त एत उत्क्रान्तमेधा अमेध्याः पशवस्तस्मादेतेषां नाश्नीयात्।।
तमस्यामन्वगच्छन्, सोऽनुगतो व्रीहिरभवत्, तद्यत्पशौ पुरोळाशमनुनिर्वपन्ति समेधेन नः पशुनेष्टमसत्, केवलेन नः पशुनेष्टमसदिति।।
समेधेन हास्य पशुनेष्टं भवति, केवलेन हास्य पशुनेष्टं भवति य एवं वेद।।८।।**

व्याख्यानम्- उपर्युक्त प्रकरण में जो-जो पदार्थ मन और वाक् तत्त्व की प्रेरणा से होने वाली संगति प्रक्रिया से हीन होते चले जाते हैं, वे सभी पदार्थ अमेध्य कहलाते हैं। ये पदार्थ कौन-कौन से हैं, इनको पुनः दर्शाने की आवश्यकता नहीं है, पाठक इसे वहीं देख सकते हैं। वे सभी अमेध्य पदार्थ परस्पर एक-दूसरे का भक्षण प्रायः नहीं करते हैं अर्थात् वे परस्पर एक-दूसरे के द्वारा अवशोषित वा संयुक्त होकर नवीन पदार्थों का निर्माण नहीं करते हैं, बल्कि हमारी दृष्टि में वे पदार्थ भेदक शक्तिसम्पन्न होने से दूसरे संगमनीय पदार्थों के संयोग में अवश्य सहयोग करते हैं।।

तदनन्तर अग्रिम प्रक्रिया की चर्चा करते हुए महर्षि लिखते हैं कि मन और वाक् तत्त्व द्वारा प्रेरित संगतीकरण की प्रक्रिया जब सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में विद्यमान प्रकाशित और अप्रकाशित सभी तत्त्वों में व्याप्त हो चुकी थी, तब वे सभी तत्त्व सबका वरण करने योग्य अर्थात् संयोज्य गुणधर्म वाले विभिन्न तीक्ष्ण कण वा तरंगों में परिवर्तित हो गये। उन सभी कण वा तरंग अथवा छन्दादि रश्मियों में तीव्र संयोगादि प्रक्रियाएं होने लगीं। उसके पश्चात् उन पशुरूप विभिन्न पदार्थों में व्याप्ति के पश्चात् वे सभी पदार्थ पुरोडाश संज्ञक पदार्थ से युक्त हो जाते हैं। यहाँ **पुरोडाश वह पदार्थ है, जो विद्युत् चुम्बकीय तरंगों अथवा विभिन्न कणों के साथ संयुक्त होता रहता है और इस प्रकार निरन्तर संयुक्त होते रहकर अनेक प्रक्रियाओं से गुजरता हुआ सारे ब्रह्माण्ड में विशेष दीप्ति उत्पन्न करता है।** इस विषय में विशेष जानकारी १.१.२ से प्राप्त करें। इस प्रकार वे सभी पदार्थ संगमनादि गुणों से युक्त होकर सृष्टि प्रक्रिया को निरन्तर बल देते रहते हैं। ऐसे तेजस्वी पदार्थ किसी अन्य बलों की अपेक्षा किये बिना सतत संयुक्त होते रहकर सृष्टि प्रक्रिया को निरन्तरता प्रदान करते हैं।।

जब इस प्रकार की स्थिति इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में उत्पन्न हो जाती है, तो सृष्टि प्रक्रिया उपर्युक्त प्रकार से सहजता से सतत चलती रहती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उपर्युक्त प्रकरण में जिन-२ पदार्थों में परस्पर संयोग करने की प्रवृत्ति न्यून और न्यूनतर होती है, जैसे डार्क एनर्जी आदि, वे पदार्थ परस्पर संयुक्त होकर नवीन तत्त्वों का निर्माण नहीं करते हैं अर्थात् उनका स्वरूप सदैव यथावत् रहता है। हाँ, इतना अवश्य है कि वे पदार्थ दूसरे पदार्थों को तोड़-फोड़कर उनके द्वारा विभिन्न पदार्थों के निर्माण में अवश्य सहयोग करते हैं। वे पदार्थ इस सृष्टि में पूर्णतः निरुपयोगी नहीं होते। उधर जब सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में उपर्युक्त अन्तिम चरण प्रारम्भ होता है, तब सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में एक विशेष चमक उत्पन्न हो जाती है और उसी समय सभी पदार्थ विद्युत् आवेश आदि अनेक गुणों से युक्त होकर परस्पर आकर्षण और प्रतिकर्षणशील हो जाते हैं। इसके कारण सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में तीव्रता से विभिन्न पदार्थों का संयोग और वियोग होकर नये-२ एटम (Atom) मॉलिक्यूल्स (Molecules) आदि बनते चले जाते हैं। फिर यह सृष्टि प्रक्रिया बड़ी सहजता से अग्रसर होती जाती है।।

सायण भाष्य व मालवीय अनुवाद

अब देखें खण्ड २.३५ का सायण भाष्य एवं डॉ. सुधाकर मालवीय का हिन्दी अनुवाद-

निविदो यानि द्वादश पदानि भागरूपाणि तान्युक्तानि। अथ तदनन्तरभाविसूक्तं विधत्ते-

प्र वो देवायाग्नय इत्यनुष्टुभः।।

'प्र वो' इत्यादि सूक्तस्य प्रतीकं तस्मिन् सूक्ते याः सप्तसंख्याका अनुष्टुप्छन्दस्का ऋचः सन्ति ताः शंसेदिति शेषः।।

'हे अध्वर्यु, अग्निदेव को लक्ष्य करके {स्तुति करो}'- इन अनुष्टुभ् छन्दस्क ऋचाओं का शंसन करे। प्रथमायामृचि यौ प्रथमद्वितीयपादौ तयोर्विहरणं विधत्ते-

प्रथमे पदे विहरति तस्मात् स्त्र्युरू विहरति।। इति।

विहरणम्=पृथक्करणम्। द्वयोः पादयोर्मध्ये विहारं विच्छेदं कृत्वा पठेत्। यस्माद् अत्र पादयोः परस्परवियोगः, तस्माल्लोकेऽपि स्त्री संभोगकाले स्वकीये उरू विहरति वियोजयति।।

प्रथम दो पदों के मध्य विच्छेद करके पढ़ना चाहिए। इसीलिए {लोक में भी} स्त्रियां संभोगकाल में अपनी जांघों को अलग करती हैं।

तस्यामृचि तृतीयचतुर्थपादयोरविच्छेदं विधत्ते-

समस्यत्युत्तरे पदे, तस्मात् पुमानूरू समस्यति तन्मिथुनं मिथुनमेव तदुक्थमुखे करोति, प्रजात्यै। इति।।

यस्मात् तृतीयचतुर्थपादयोरुत्तरार्धगतयोः संयोजनं तस्माल्लोकेऽप्युपरिवर्ती पुमान् भोगकाले स्वकीये ऊरू समस्यति संयोजयति तदुभयं मिलित्वा मिथुनं भवति। तस्मादुक्थमुखे शस्त्रस्योपक्रमे मिथुनमेव करोति। तच्च यजमानस्य प्रजननाय संपद्यते।।

उत्तरार्ध के दो पदों को मिलाकर पढ़ना चाहिए। इसीलिए {लोक में भी} पुरुष भोग के समय अपनी दोनों जांघों को मिलाता है। यह मिथुन है। इसलिए इस प्रकार वह आज्यशस्त्र के आरम्भ में मिथुन ही करता है, जो {यजमान के} प्रजनन के लिए होता है।

वेदनं प्रशंसति-

प्रजायते प्रजया पशुभिर्य एवं वेद।। इति।

जो इस प्रकार जानता है वह {पुत्र-पौत्रादि} प्रजा और {गौ आदि} पशुओं से बढ़ता है।

पुनरप्युक्तमेवानूद्य प्रकारान्तरेण प्रशंसति-

प्र वो देवायाग्नय इत्येवानुष्टुभः प्रथमे पदे विहरति वज्रमेव तत्परोवरीयांसं करोति, समस्यत्येवोत्तरे पदे, आरम्भणतो वै वज्रस्याणिमाऽथो दण्डस्याथो परशोर्वज्रमेव तत्प्रहरति द्विषते भ्रातृव्याय वधं योऽस्य स्तृत्यस्तस्मै स्तर्तवै।।३।। इति।

इत्येवानुष्टुभ इति योऽयमेवकारः स पूर्वस्यैवानुवादो न तु नूतनविधिरितिज्ञापनार्थः। परोवरीयांसं परस्युत्तरभागेऽतिशयेन स्थूलमीदृशं वज्रं सूक्तपठनेन संपादयति। प्रथमाया ऋच उत्तरार्धे पदे तत्पादयोः समसनं तदपि वज्रसादृश्यार्थं वज्रस्य ह्यारम्भणतोऽणिमा मूले सौक्ष्म्यमित्यर्थः। वज्रशब्देन खड्गादिरूपमायुधमभिधीयते। तस्य हि मूले मुष्टिबन्धनस्थाने सूक्ष्मता भवत्युपरि तु विस्तारः। दण्डशब्देन गदा विवक्षिता। साऽपि हस्तग्रहणस्थाने मूले सूक्ष्मा प्रहारस्थानेऽग्रे स्थूला। परशुरपि तथाविधः। यथाऽयं त्रिविधो वज्र एवमिदमपि सूक्तं प्रथमार्धर्चपादविहरणेन सूक्ष्ममुत्तरार्धर्चपादसमासेन स्थूलम्। अत ईदृशं सूक्तरूपं वज्रमेव द्वेषं कुर्वतो भ्रातृव्यस्य वधमुद्दिश्य प्रहरति-यः शत्रुरस्य स्तृत्यो हन्तव्यः, तस्मै स्तर्तवं तस्य हिंसायै भवति।।

'प्र वो देवायाग्नये' इत्यादि अनुष्टुभ छन्दस्क ऋचाएं हैं। प्रथम दो पादों के मध्य विच्छेद करता है। इस प्रकार वह उसे उत्तर भाग में अत्यन्त स्थूल वज्र {के समान} ही बनाता है। उत्तरार्ध के दो पादों को वह जोड़ता है; क्योंकि वज्र का प्रारम्भिक भाग सूक्ष्म होता है और ऐसा ही दण्ड अर्थात् गदा और कुठार भी होता है अतः इस प्रकार वह सूक्तरूप वज्र का ही द्वेष करने वाले शत्रु के वधार्थ प्रहार करता है। जो शत्रु इस यजमान का हिंस्य होता है उसकी हिंसा के लिए {ही यह होता है}।

मेरा व्याख्यान

इस पर मेरा भाष्य=व्याख्यान इस प्रकार है-

१. प्र वो देवायाग्नय इत्यनुष्टुभः।।
प्रथमे पदे विहरति तस्मात् स्त्र्युरू विहरति।।
समस्यत्युत्तरे पदे, तस्मात् पुमानूरू समस्यति तन्मिथुनं मिथुनमेव तदुक्थमुखे करोति, प्रजात्यै।।
प्रजायते प्रजया पशुभिर्य एवं वेद।।

{स्त्री = स्त्यायति शब्दयति गुणान् गृह्णाति वा सा स्त्री (उ.को.४.१६७), (गुणः = रस्सी, आवृति - आप्टेकोष), (स्त्यै ष्ट्यै शब्दसंघातयोः (भ्वा.) धातोः स्त्यायतेर्ड्रट् उ.को.४.१६७ सूत्रेण ड्रट्, ततः स्त्रियां ङीप्), अवीर्या वै स्त्री (श.२.५.२.३६), यदेतत् स्त्रियां लोहितं भवति, अग्नेस्तद्रूपम् (ऐ.आ.२.३.७), स्त्री सावित्री (जै.उ.४.१२.१.१७)। उरू = बहुनाम (निघं.३.१), बहाच्छादनं स्वीकरणं वा (म.द.य.भा.४.२७), सक्थ्यावनुष्टुभः (श.८.६.२.६)। समस्यति = (सम्+अस् = मिलना, एकत्र करना, जोड़ना - आप्टेकोष)}

व्याख्यानम्- यहाँ महर्षि खण्ड **२.३३** मे वर्णित विट् सज्ञंक सूक्त (ऋ.३.१३) के विषय में पुनः कुछ चर्चा करते हुए कहते हैं कि जब अनुष्टुप् छन्दस्क

प्र वो॑ दे॒वाया॒ग्नये॒ बर्हि॑ष्ठमर्चास्मै। गम॑द्दे॒वेभि॒रा स नो॒ यजि॑ष्ठो ब॒र्हिरा स॑दत्।। (ऋ.३.१३.१)

इत्यादि सूक्त की उत्पत्ति होती है, तब कुछ विशेष क्रियाएं हुआ करती हैं। इस सूक्त का विस्तृत वर्णन पूर्व में हम कर चुके हैं। अन्य विशेष यहाँ लिखते हैं। इस सूक्त की रश्मियाँ अनुष्टुप् छन्दस्क होने से पूर्वोत्पन्न निविद् रश्मियों के साथ-२ गमन करती हुई उन्हें थाम लेती हैं अर्थात् उनके साथ मिलकर विभिन्न पदार्थ कणों का निर्माण करने लगती हैं।।

जब ये अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं, तब उनके सभी पाद परस्पर दूर-२ स्थित हुए उत्पन्न होते हैं, मानो वे अन्तरिक्ष रूपी पद में पृथक्-२ उत्पन्न होकर किसी शक्ति के द्वारा पकड़े हुए हों अथवा ऐसा प्रतीत होता है कि उन छन्द रश्मियों की उत्पत्ति पादशः होती है। उस समय स्त्री अर्थात न्यून तेज और बल से युक्त प्राणादि पदार्थ किंवा विभिन्न सूक्ष्म कण अपनी ऊरू अर्थात् इन अनुष्टुप् छन्द रश्मियों के पादों के आवरण वा आच्छादन को अपने से दूर ही रखकर पकड़े रहते हैं अर्थात् उन छन्द रश्मियों की अवयवभूत पाद रश्मियां प्राणादि पदार्थों वा कणों से इस प्रकार संयुक्त रहती हैं कि न तो वे पूर्ण रूप से संयुक्त रहती हैं और न सर्वथा पृथक् होती वा नष्ट होती हैं। उस समय सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में एक ध्वनि गूँजने लगती है और विभिन्न प्राणादि पदार्थ वा कण उन वाग् रश्मियों से दूर रहते हुए भी ऐसे जुड़े होते हैं, मानो वे किसी अव्यक्त रस्सी से जुड़े हुए हों और ऐसे जुड़े रहकर ही सूक्ष्म कम्पन करते हुए बार-२ आवृत्त होकर संघात की ओर उन्मुख होने लगते हैं। यहाँ **"प्रथमे पदे"** का अर्थ प्रारम्भिक चरण में अन्तरिक्ष रूपी पद में, ऐसा किया गया है। यहाँ एक विकल्प यह भी सम्भव है कि उपर्युक्त छन्द राशमियों की उत्पत्ति पादशः न मान कर समग्र ऋचाओं के रूप में मान कर पुनः उस प्रत्येक रश्मि को उपर्युक्त व्यवस्था में एक पाद के स्थान पर एक सम्पूर्ण ऋग्रश्मि का ग्रहण करें। वे सभी ऋग्रश्मियाँ विभिन्न प्राणादि रश्मियों वा कणों आदि से उपर्युक्तवत् सम्बद्ध रहती हैं। एक तृतीय पक्ष यह कि **'प्रथमे पदे'** को **"प्रथमं पदम्"** का द्वितीया विभक्ति द्विवचन मानें, तब प्रत्येक ऋचा के प्रथम व द्वितीय पद को परस्पर पृथक्-२ रहते हुए उत्पन्न मानें तथा शेष पद सामान्यावस्था में उत्पन्न मानें। ऐसी स्थिति में उन रश्मियों का विभिन्न प्राणों तथा कणों से सम्बन्ध द्वितीय विकल्प के संयुक्त आलोक में देखना होगा।।

इसके पश्चात् अन्तरिक्ष में उपर्युक्त अनुष्टुप् छन्द रश्मियां, जो उपर्युक्त तीनों प्रकार की व्यवस्थाओं के अनुरूप विद्यमान हो सकती हैं, उनके एकत्रीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। यह प्रक्रिया पुमान् अर्थात् वे तेजस्वी पदार्थ, जो पूर्वोक्त निविद् रश्मियों से युक्त होकर तेजस्वी और बलवान् हो चुके होते हैं, के द्वारा प्रारम्भ की जाती है। वे प्राण अनुष्टुप् छन्द रश्मियों की उपर्युक्त बिखरी हुई अवस्था को समाप्त करके उन्हें अपने साथ मिलाने लगते हैं, जिसके कारण हीनबल और तेज वाले पूर्वोक्त स्त्री रूप प्राणादि पदार्थ आकर्षित होकर इन तेजस्वी प्राणादि पदार्थों के साथ संयुक्त होने लगते हैं। इसके कारण सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में बिखरी अनुष्टुप् छन्द रश्मियों का जाल ऐसे ही एकत्र होने लगता है, मानो लोक में रज्जुओं से बने जाल को खींचकर एकत्र किया जाता है। इस एकत्रीकरण से समस्त ब्रह्माण्ड में विपरीत स्वभाव वाले पदार्थों के युग्म बनने प्रारम्भ हो जाते हैं। इस प्रक्रिया से समस्त पदार्थ जगत् प्राण और अन्न के स्वरूप में परिवर्तित वा प्रतीत होने लगता है, जिसके कारण वे सब परस्पर भक्षक और भक्ष्य रूप धारण करके नाना प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न करने लगते हैं।।

जब ब्रह्माण्ड में इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न होती है, उस समय विभिन्न प्रकार के प्राणापानादि प्राण, मरुद् रश्मियां, छन्द रश्मियां एवं अन्य उत्पन्न विभिन्न प्रकार के पदार्थ संयुक्त होकर नाना तत्त्वों को उत्पन्न करते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- तदनन्तर ७ अनुष्टुप् छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है, जो पूर्वोक्त १२ सूक्ष्म रश्मियों के साथ संयुक्त होकर विभिन्न संयोगादि कर्मों को सम्पादित करती हैं। ये छन्द रश्मियां पूर्वोक्त १२ रश्मियों से असंयुक्त पदार्थ (कण वा तरंगों) से कुछ पृथक् रहते हुए संयुक्त होती हैं। उसके पश्चात् जो प्राणादि पदार्थ वा कण पूर्वोक्त १२ प्रकार की सूक्ष्म रश्मियों से संयुक्त होकर अधिक ऊर्जावान् हो जाते हैं, दूर-२ स्थित छन्द रश्मियों एवं उनके साथ संयुक्त प्राणादि पदार्थ वा कणों को आकर्षित करने लगते हैं। उस समय ब्रह्माण्ड में दोनों प्रकार के पदार्थों के आकर्षण की तीव्र प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है, जिससे नये-२ तत्वों (कणों व तरंगों) का निर्माण होने लगता है। उस समय इन कणों वा तरंगों एवं विभिन्न छन्द रश्मि आदि पदार्थों के घात और प्रतिघातों से इस ब्रह्माण्ड में अव्यक्त ध्वनियाँ गूँजने लगती हैं।।

२. प्र वो देवायाग्नय इत्येवानुष्टुभः प्रथमे पदे विहरति वज्रमेव तत्परोवरीयांसं करोति, समस्यत्येवोत्तरे पदे, आरम्भणतो वै वज्रस्याणिमाऽथो दण्डस्याथो परशोर्वज्रमेव तत्प्रहरति द्विषते भ्रातृव्याय वधं योऽस्य स्तृत्यस्तस्मै स्तर्तवै।।३।।

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त सातों अनुष्टुप् छन्द रश्मियों के विशेष प्रभाव को दर्शाते हुए महर्षि कहते हैं कि जब प्रथम चरण में उन अनुष्टुप् छन्द रश्मियों के पद, पाद अथवा समग्र ऋचा रूप रश्मियाँ दूर-२ अवस्थित होती हैं, उस समय विभिन्न प्राणापानादि पदार्थ अथवा कणों का अनुष्टुप् रश्मियुक्त बाहरी भाग स्थूल एवं विस्तृत होने के साथ-२ वज्रतुल्य तेजस्वी और बलयुक्त होता है। इस प्रकार इन रश्मियों से आच्छादित विभिन्न प्राणादि पदार्थ वा कण भले ही हीनबल वा तेज वाले हों, परन्तु उनकी आच्छादक अनुष्टुप् रश्मियां तेजस्वी विस्तार वाली होती हैं। उसके पश्चात् तेजस्वी और बलवान् प्राणादि पदार्थ वा कण जब उन आवरक और बिखरी हुई अनुष्टुप् छन्द रश्मियों को एकत्र करते हैं, तब उन रश्मियों का प्रारम्भिक भाग सूक्ष्म और तीक्ष्ण होकर दण्ड वा फरसे के समान हो जाता है। साथ ही उसकी तीक्ष्णता अत्यन्त बढ़ जाती है, जिससे वे रश्मियां तीक्ष्ण वज्र रूप होकर घातक असुर तत्व को नष्ट करने में समर्थ होती हैं। यहाँ वे ही असुर रश्मियां नष्ट होती हैं, जो पूर्वोक्त स्त्री और पुमान् संज्ञक पदार्थों के संयोग में अपने तीव्र प्रक्षेपक और प्रतिकर्षक बल के कारण बाधा डालती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब उपर्युक्त ७ अनुष्टुप् छन्द रश्मियां पृथक्-२ स्थित होकर परन्तु अव्यक्त बंधन से बंधे हुए होती हैं, उस समय भी ये तीक्ष्ण और तेजयुक्त होती हैं और जब पूर्वोक्त १२ रश्मियों से युक्त पदार्थ इन्हें एकत्र करने लगता है, उस समय ये अत्यन्त तीक्ष्ण विकिरणों में परिवर्तित

हो जाती हैं। ये ऐसे तीक्ष्ण विकिरण डार्क एनर्जी के उस प्रभाव को नष्ट कर देते हैं, जो विभिन्न पदार्थों के संयोग में बाधा डालता है।

सायण भाष्य व मालवीय अनुवाद

खण्ड ३.३३ पर सायण भाष्य एवं डॉ. मालवीय का हिन्दी अनुवाद-

अथाग्निमारुतशस्त्रं वक्तव्यं तदर्थमादावुपाख्यानमाह-

प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायत्, दिवमित्यन्य आहुः, उषसमित्यन्ये, तामृश्यो भूत्वा रोहितं भूतामभ्यैत्, तं देवा अपश्यन्। अकृतं वै प्रजापतिः करोतीति ते तमैच्छन्, य एनमारिष्यत्येतमन्योन्यस्मिन्नाविन्दन्, तेषां या एव घोरतमास्तन्व आसंस्ता एकधा समभरन्, ताः संभृता एष देवोऽभवत् तदस्यैतद् भूतवन्नाम।। इति।

पुरा कदाचित् प्रजापतिः स्वकीयां दुहितरमभिलक्ष्य भार्यात्वेन ध्यानमकरोत्। तस्यां दुहितरि महर्षीणां मतभेदं आसीत्। अन्ये केचन महर्षयो दिवं द्युलोकदेवतां ध्यातवान् इत्याहुः। अपरे तु महर्षय 'उषसम्' उषःकालदेवतां ध्यातवान् इत्याहुः। ऋश्यो मृगविशेषः। तथाचाभिधानकार आह- 'गोकर्णपृषतैणर्श्यरोहिताश्चमरो मृगाः' इति। स प्रजापतिः तथाविध ऋश्योऽभूत्। सा च दुहिता 'रोहितं' लोहितं 'भूता' प्राप्ता, ऋतुमती जातेत्यर्थः। तादृशीं तां दुहितरम् 'अभ्यैत्' अभिगतवान् मिथुनधर्मं प्राप्तवान् इत्यर्थः। 'तं' दुहितृगामिनं प्रजापतिं देवाः परस्परमिदमब्रुवन्- अयं प्रजापतिः 'अकृतं वै' अकर्तव्यमेव निषिद्धाचरणं करोतीति विचार्य यः पुरुषः 'एनं' प्रजापतिम् 'आरिष्यति' आर्तिं प्रापयितुं क्षमः, तादृशं पुरुषमैच्छन्नन्वेषणं कृतवन्तः; कृत्वा चान्योन्यस्मिन् तेषां मध्ये 'तं' प्रजापतिघातकं 'नाविन्दन्' न अलभन्त- त्वं हन्तुं शक्नोषि, त्वं हन्तुमिति परस्परं पृष्ट्वैकैकस्य शक्तिराहित्यं निश्चितवन्तः। सर्वेषु देवेषु या एव कश्चिद् घोरतमास्तन्वोऽत्युग्राणि शरीराण्यासन्, ताः सर्वाः 'एकधा समभरन्' मेलयित्वैकं शरीरं कृतवन्तः, 'ताः' घोरतमास्तन्वः 'संभृताः' एकत्वेन संपादिताः सत्यः 'एष देवोऽभवत्' एष इति हस्तेन प्रदर्श्य रुद्रोऽभिधीयते। तत् तस्मादेव कारणाद् अस्य रुद्रस्यैतल्लोकप्रसिद्धं 'भूतवद्' भूतशब्दोपेतं नाम संपन्नम्। भूतपतिरिति भूतवन्नाम। तच्च तस्य भवत्यर्थानुगमाद्युक्तम्।।

{आग्निमारुत शस्त्र}-

प्रजापति ने अपनी लड़की को {देखकर भार्या के रूप में} सोचा। इसे कुछ ऋषि द्युलोक की देवता कहते हैं और कुछ अन्य 'उषा' देवता कहते हैं। वे प्रजापति हरिण होकर रोहित {हिरनी या ऋतुमती} हुई {दुहिता} के पास गए। उस {दुहितृगामी प्रजापति} को देवों ने देखा और परस्पर कहा- 'ओह, प्रजापति अकृत-कर्म {निषिद्ध आचरण} करता है'- ऐसा विचार करके उन्होंने {ऐसे पुरुष को} खोजा जो इस {प्रजापति} को मारने में समर्थ होवे। किन्तु अपने लोगों के बीच में किसी को भी नहीं प्राप्त किया। तब उनमें जो घोरतम {उग्र} शरीरांश था उसको उन्होंने एक जगह इकट्ठा किया। वह सब एकीकृत होकर यह देव {रुद्र} उत्पन्न हुए। इसीलिए उस {रुद्र} का 'भूत' शब्द से युक्त {=भूतपति} नाम हुआ।

एतन्नामवेदनं प्रशंसति-

भवति वै स योऽस्येतदेवं नाम वेद।। इति।

वेदिता 'भवति वै' भूतिमानेव संपद्यते।

जो इनके इस नाम को जानता है वह भूतिमान् होता है।

अथ तेन रुद्रेण सह देवानां संवादं दर्शयति-

तं देवा अब्रुवन्। अयं वै प्रजापतिरकृतमकरिमं विध्येति, स तथेत्यब्रवीत् स वै वो वरं वृणा इति; वृणीष्वेति; स एतमेव वरमवृणीत,- पशूनामाधिपत्यं, तदस्यैतत् पशुमन्नाम।। इति।

'तं' रुद्रं देवा एवमब्रुवन्- हे रुद्र! अयं प्रजापतिः 'अकृतम् अकः' निषिद्धाचरणं कृतवांस्तस्मादिमं 'विध्य' बाणेन प्रहरेति। स रुद्रस्तदङ्गीकृत्योत्कोचत्वेन पशूनामाधिपत्यं कृतवान्। तस्मात् कारणादस्य रुद्रस्यैतल्लोकप्रसिद्धं पशुपतिरित्येतादृशं पशुशब्दोपेतं नाम संपन्नम्।।

उन {रुद्र} से देवों ने कहा- 'इस प्रजापति ने आकृत-कर्म किया है अतः इसे विद्ध कर दो।' उन {रुद्र} ने वैसा ही किया। तब उन {रुद्र} ने कहा- ''मैं आप लोगों से एक वर का वरण करता हूँ। उन्होंने कहा- 'वरण कर'। उन {रुद्र} ने यही वर मांगा कि मैं पशुओं का आधिपत्य प्राप्त करूँ। इसीलिए इन {रुद्र} का नाम 'पशु' शब्द से युक्त {=पशुपति} हुआ।

तद्वेदनं प्रशंसति-

पशुमान् भवति योऽस्यैतदेवं नाम वेद।। इति।

जो इनके इस नाम को जानता है वह पशुमान् हो जाता है।

अथ रुद्रप्रजापत्योर्वृत्तान्तं दर्शयति-

तमभ्यायत्याविध्यत् स विद्ध ऊर्ध्व उदप्रपतत्, तमेतं मृग इत्याचक्षते, य उ एव मृगव्याधः स उ एव सः, या रोहित् सा रोहिणी, यो एवेषुस्त्रिकाण्डा सो एवेषुस्त्रिकाण्डा।। इति।

स रुद्रोऽभ्यायत् य बाणयुक्तं धनुरभित आकृष्य तं प्रजापतिमविध्यत्। ऋश्यमृगरूपः स प्रजापतिर्विद्धः सन्नूर्ध्वमुख उदप्रपतत् प्रकर्षेणोत्पतनमकरोत्। तमेतमुत्पतितमृश्यमृगरूपं प्रजापतिमाकाशे दृष्ट्वा सर्वं एव ते जना मृग इत्याचक्षते, रोहिण्यार्द्रयोर्नक्षत्रयोर्मध्येऽवस्थितं मृगशीर्षनक्षत्रं कथयन्ति, नक्षत्ररूपेण निष्पन्न इत्यर्थः। 'य उ एव' यस्तु रुद्रो 'मृगव्याधो' मृगघाती स रुद्र आकाशे दृश्यमानः स उ एव लोकप्रसिद्धो मृगव्याध आसीत्। या दुहिता रोहिता रोहिद् रक्तवर्णा मृगी सेयमाकाशे रोहिणीनक्षत्रमभूत्। यो एव या तु रुद्रेण प्रेरितेषुस्त्रिकाण्डाऽनीकं शल्यस्तेजनमित्यवयवत्रयोपेता सो एव सैव लोकप्रसिद्धा काण्डत्रयोपेतेषुर्बाणोऽभवत्।।

उस {प्रजापति} को {रुद्र ने बाणयुक्त} धनुष को खींचकर मारा। विद्ध हुआ वह प्रजापति ऊपर को उछला। उस {आकाश में ऊपर उछले हुए प्रजापति} को अभिज्ञजन {रोहिणी और आर्द्रा नक्षत्र के मध्य अवस्थित} मृगशिरा नक्षत्र कहते हैं। जिस {मृगघाती रुद्र} ने उसको मारा वह ही मृगव्याध हुआ। जो {दुहिता} लाल वर्ण की {हिरणी} थी वही {आकाश में} रोहिणी हुई। {रुद्र का} जो बाण तीन धारों वाला था, वह ही तीन नोकों वाला बाण हो गया।

अथ मनुष्योत्पत्तिं दर्शयति-

तद्वा इदं प्रजापते रेतः सिक्तमधावत्, तत्सरोऽभवत्, ते देवा अब्रुवन्, मेदं प्रजापते रेतो दुषदिति, यदब्रुवन्, मेदं प्रजापते रेतो दुषदिति, तन्मादुषमभवत्, तन्मादुषस्य मादुषत्वं, मादुषं ह वै नामैतद् यन्मानुषं तन्मादुषं सन्मानुषमित्याचक्षते परोक्षेण; परोक्षप्रिया इव हि देवाः।।६।। इति।

मृगरूपेण प्रजापतिना यद् रेतो मृग्यां सिक्तं तदेतदतिबहुत्वाद् भूमौ पतितं सत्प्रवाहरूपेणाधावत्। तच्च क्वचिन्निम्न देशेऽवस्थाय प्रौढं सरोऽभूत्। ते देवा एवमब्रूवन्-प्रजापतेरिदं रेतो 'मा दुषद्' दुष्टमस्पृश्यं मा भूदिति। यस्मान्मा दुषदित्यवदंस्तस्माद् दोषरहितस्य रेतसो 'मादुषमिति' नाम संपन्नम्। जनास्तु दकारस्थाने नकारं प्रक्षिप्य 'मानुषमिति' ब्राह्मणक्षत्रियादिशरीरमाचक्षते। तद् वस्तुतो दैवाचारेण दोषरहितत्वान्मादुषमेव। तथा सति मादुषनामयोग्यमपि तच्छरीरं परोक्षेण नाम्ना व्यवहर्तव्यमित्यभिप्रेत्य वर्णव्यत्ययेन मानुषमित्याचक्षते। यस्माल्लोके देववत्पूज्या उत्तमाः पुरुषाः 'परोक्षप्रिया इव हि' प्रत्यक्षे मातापितृनिर्मिते देवदत्तादिनाम्नि न प्रीतिं कुर्वन्ति, किन्तु उपाध्यायाचार्यस्वामीत्यादिके मातापित्रादीनामक्लृप्तत्वेन परोक्षे नाम्नि प्रीतिं कुर्वन्ति। तस्मात् परोक्षत्वाय नकारप्रक्षेपो युज्यते।।

{मृगरूप} प्रजापति का जो वीर्य {मृगी में} सिक्त हुआ वह {बहुत होने के कारण} बह चला और {इकट्ठा होकर} एक सरोवर बन गया। तब उन देवों ने कहा- 'प्रजापति का यह वीर्य दूषित न हो'। क्योंकि यह कहा कि- 'प्रजापति का यह वीर्य दूषित न हो।' अतः वह मादुष अर्थात् दोषरहित हुआ, इसीलिए इसका नाम मादुष हुआ। यह जो 'मादुषम्' {=दोषरहित} नाम था वही 'मानुषम्' हुआ। {वस्तुतः

देव-आचरण के द्वारा दोषरहित होने से} वह मादुष ही {अपने नाम के योग्य उस शरीर का} परोक्ष रूप से {नाम व्यवहृत हो इस अभिप्राय से एवं वर्णव्यत्यय से} 'मानुषम्' इस नाम से अभिहित हुआ; क्योंकि देव परोक्ष प्रिय होते हैं। {अर्थात् क्योंकि लोक में भी माता पिता द्वारा दिए गए देवदत्त आदि प्रत्यक्ष नाम से देववत् पूज्य पुरुष प्रीति नहीं करते। किन्तु उपाध्याय, आचार्य स्वामी आदि नाम में प्रीति करते हैं। इसीलिए परोक्ष रूप से नकार युक्तियुक्त है}।

मेरा व्याख्यान

इस पर मेरा भाष्य=व्याख्यान इस प्रकार है-

१. प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायत्, दिवमित्यन्य आहुः, उषसमित्यन्ये, तामृश्यो भूत्वा रोहितं भूतामभ्यैत्, तं देवा अपश्यन्। अकृतं वै प्रजापतिः करोतीति ते तमैच्छन्, य एनमारिष्यत्येतमन्योन्यस्मिन्नाविन्दन्, तेषां या एव घोरतमास्तन्व आसंस्ता एकधा समभरन्, ताः संभृता एष देवोऽभवत् तदस्यैतद् भूतवन्नाम।। भवति वै स योऽस्येतदेवं नाम वेद।।

{दुहिता = कन्या इव किरणः (तु.म.द.ऋ.भा.४.५१.१०), (कन्या = कन्या कमनीया भवति, क्वेयं नेतव्येति वा, कमनेनानीयत इति वा, कनतेर्वा स्यात्कान्तिकर्मणः - नि.४.१५), दूरे हिता कान्तिरुषा (तु.म.द.ऋ.भा.१.११६.१७), दुहिता दुर्हिता दूरे हिता दोग्धेर्वा (नि.३.४)। ऋश्यः = ऋषति गच्छतीति ऋष्यः (उ.को.४.११३)। (कण्डिका में मूर्धन्य के स्थान पर तालव्य का प्रयोग छान्दस है।) रोहितः = अंगुलिनाम (निघं.२.५), एतद्वा आसां (गवाम्) बीजं यद्रोहितं रूपम् (मै.४.२.१४), ये (पशवः) प्रथमे ऽसृज्यन्त ते रोहिताः (जै.ब्रा.३.२६३)। मृत्युः = मृत्युर्वै यमः (मै.२.५.६), अपानान्मृत्युः (ऐ.आ.२.४.१)। प्रजापतिः = सोमो हि प्रजापतिः (श.५.१.५.२६)}

व्याख्यानम्- जैसा कि हम अवगत हैं कि अप्रकाशित और शीतल सूक्ष्म सोम पदार्थ से विभिन्न प्रकार की आग्नेय तरंगें उत्पन्न होती हैं। इस कारण ये तरंगें प्रजा और वह सोम पदार्थ प्रजापति कहलाता है। जब ये प्रजारूप तरंगें अपने उत्पादक सोम पदार्थ से दूर स्थित होकर आकर्षण-विकर्षण तथा प्रकाश आदि गुणों से युक्त होती हैं तथा सोम पदार्थ की अति सूक्ष्म रश्मियों को आवश्यक मात्रा में अवशोषित वा आकर्षित करती रहती हैं, ऐसी अवस्था में वे किरणें सोमरूपी प्रजापति की दुहिता कहलाती हैं। यह प्रजापति रूप सोम पदार्थ अति विस्तृत क्षेत्र में फैला हुआ प्रायः अव्यक्त अवस्था में होता है। इसी कारण कहा है- **अनिरुक्त उ वै प्रजापतिः (कौ.ब्रा.२३.२; तां.७.८.३), अपरिमितः प्रजापतिः (तै.सं.१.७.३.२; काठ.८.१३)।**

वस्तुतः यह सोम तत्त्व मनस् तत्त्व एवं सूक्ष्म वाग्रश्मियों का मिश्रण होता है। उधर वे दुहिता रूप तरंगों को कुछ विद्वान् **'दिव'** तो कुछ **'उष'** कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि उन तरंगों में विद्युत्, प्रकाश और ऊष्मा का सम्मिश्रण होता है। **महर्षि ऐतरेय महीदास** उनकी रोहित संज्ञा भी करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वे तरंगें रक्तवर्णीय किंवा ऐसे विकिरणों के बीज के समान होती हैं और इनकी दीप्ति सुन्दर होती है। इस प्रकार का शोभन किरण समूह प्रजापति रूप सोम तत्त्व से दूर स्थित होता है और वह सोम तत्त्व ही उन किरणों की कान्ति का उत्पादक होता है परन्तु वह सम्पूर्ण सोम तत्त्व उन किरणों के साथ सम्पर्क में नहीं आता। यदि ऐसा हो जाये तो सम्पूर्ण किरण समूह अप्रकाशित और शीतल सोम तत्त्व से मिलकर कान्तिहीन हो जाये। जब कभी सृष्टि में इस प्रकार की स्थिति बनती है कि सम्पूर्ण सोम तत्त्व ही उन किरणों की ओर प्रवाहित होने लगे, तो यह क्रिया सृष्टि निर्माण में बाधक सिद्ध होती है। महर्षि ऐसी ही अवाञ्छनीय घटना का यहाँ वर्णन करते हुए कहते हैं कि इस ब्रह्माण्ड में कभी ऐसी घटना घटी, उस समय देवों अर्थात् मन और वाक् तत्त्व से संयुक्त प्राथमिक

प्राणों ने इसे रोकने का प्रयास किया परन्तु वे उस सोम पदार्थ के प्रवाह को नहीं रोक सके। उस समय उन प्राथमिक प्राणों से कुछ ऐसे विकिरण उत्पन्न हुए जो अत्यन्त तीव्र थे। ऐसे वे तीव्रतम विकिरण उन प्राणों के द्वारा एकत्र होकर और भी तीक्ष्ण होने लगे। वे ऐसे विकिरण **भूतवान्** कहलाये क्योंकि वे विभिन्न प्रकार के उत्पन्न सूक्ष्म प्राणों से उत्पन्न हुए थे और उनसे ही युक्त थे। उन ऐसे प्राणों का सोम प्रजापति से किस प्रकार संघर्ष होता है, यह इसी खण्ड में आगे वर्णित है।।

इस प्रकार की स्थिति बनने पर वह देव पदार्थ उपर्युक्त प्रकार से तीक्ष्ण होकर समर्थ और सबल होता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस ब्रह्माण्ड में सूक्ष्म, शीतल और अप्रकाशित मरुद्रश्मियों के सम्पीडित होने से विभिन्न विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की उत्पत्ति होती है। इन तरंगों से युक्त कॉस्मिक पदार्थ जब सुन्दर और लाल वर्ण की कान्ति से युक्त होकर इस ब्रह्माण्ड में भासने लगता है और जिसमें अनेक विद्युदावेशित कणों का विशाल भण्डार होता है, उस समय वह सूक्ष्म मरुद्रश्मियों के द्वारा सतत पोषण प्राप्त करता रहता है। पुनरपि वे सूक्ष्म मरुद्रश्मियां व्यापक स्तर पर उस पदार्थ के साथ संयुक्त नहीं होतीं क्योंकि ऐसा होने पर उस कॉस्मिक पदार्थ की कान्ति व ऊष्मा अत्यन्त क्षीण होने की आशंका रहेगी। दूसरा पक्ष यह भी है कि वह सोम पदार्थ (मरुद्रश्मियां) इस सम्पर्क प्रक्रिया से सम्पीडित होकर ऋणावेशित कणों में वृद्धि कर दे, जिसके कारण वह कॉस्मिक पदार्थ ऋणावेशित रूप प्राप्त कर ले किंवा ऋणावेशित और धनावेशित कण परस्पर संयुक्त होकर ऊर्जा में ही परिवर्तित हो जायें, जिससे लोकों की निर्माण की प्रक्रिया ही भंग हो जाये। जब कभी ब्रह्माण्ड में ऐसी अनिष्ट घटना घटती है, उस समय प्राणादि पदार्थों के द्वारा ऐसे तीक्ष्ण विकिरण उत्पन्न होते हैं, जो घटना को रोकने में समर्थ होते हैं।।

२. तं देवा अब्रुवन्। अयं वै प्रजापतिरकृतमकरिमं विध्येति, स तथेत्यब्रवीत् स वै वो वरं वृणा इति; वृणीष्वेति; स एतमेव वरमवृणीत,-पशूनामाधिपत्यं, तदस्यैतत् पशुमन्नाम।।
पशुमान् भवति योऽस्यैतदेवं नाम वेद।।
तमभ्यायत्याविध्यत् स विद्ध ऊर्ध्व उदप्रपतत्, तमेतं मृग इत्याचक्षते, य उ एव मृगव्याधः स उ एव सः, या रोहित् सा रोहिणी, यो एवेषुस्त्रिकाण्डा सो एवेषुस्त्रिकाण्डा।।
तद्वा इदं प्रजापते रेतः सिक्तमधावत्, तत्सरोऽभवत्, ते देवा अब्रुवन्, मेदं प्रजापते रेतो दुषदिति, यदब्रुवन्, मेदं प्रजापते रेतो दुषदिति, तन्मादुषमभवत्, तन्मादुषस्य मादुषत्वं, मादुषं ह वै नामैतद् यन्मानुषं तन्मादुषं सन्मानुषमित्याचक्षते परोक्षेण; परोक्षप्रिया इव हि देवाः।।६।।

{अभ्यायत्य = (आ+यम् = विस्तार करना, फैलाना, ऊपर खींचना, नियन्त्रित करना - आप्टेकोष)। व्याधः = (वि+आङ्+डुधाञ्, व्यध ताडने)। इषुः = ईषतेर्गतिकर्मणो वधकर्मणो वा (नि.६.१८)। आचक्षते = चष्टे पश्यतिकर्मा (निघं.३.११), चक्षसे दर्शनाय (नि.६.२७)। काण्डम् = काम्यते तत् काण्डम् (तु.उ.को.१.११५)। मानुषम् = यन्मन्द्रं मानुषं तत् (तै.सं. २.५.११.१), पशवो मानुषाः (क.४१.६), (मन्द्रम् = प्रशंसनीयम् - म.द.ऋ.भा.४.२६.६), (मन्द्रा वाङ्नाम - निघं.१.११)। मादुष = दोषरहितं रेत इति सायणः}

व्याख्यानम्- इस कण्डिका में उपर्युक्त भूतवान् विकिरण समूह एवं प्रजापति का संवाद चेतनवत् दर्शाया है, जिसका आशय निम्नानुसार है- उन उपर्युक्त देवों अर्थात् मन-वाक् संयुक्त प्राथमिक प्राणों ने उस

मन्दगामी सोम पदार्थ को नियन्त्रित करने वा रोकने के लिए उन तीक्ष्ण विकिरणों को प्रेरित किया, जिससे कि वह सोम पदार्थ उपरिवर्णित संदीप्त एवं तेजयुक्त कॉस्मिक पदार्थ को निस्तेज न कर सके। तब उन तीक्ष्ण रुद्र रूप विकिरणों ने उन सोम रश्मियों पर प्रहार किया। इस प्रहार की क्रियाविधि और परिणाम अग्रिम कण्डिकाओं में वर्णित है। इस प्रहार के पश्चात् वह रुद्र रूप तीक्ष्ण विकिरण और भी तीक्ष्ण व श्रेष्ठ हो गया। वह विभिन्न मरुद् रूप पशु रश्मियों को सब ओर से नियन्त्रित करने में सक्षम हो गया। इस कारण वह विभिन्न मरुद्रश्मियों से युक्त होकर पशुमान् और पशुपति कहलाया। इस प्रकार की स्थिति बनने पर वे सभी रुद्र संज्ञक विकिरण एवं प्राथमिक प्राणादि पदार्थ विभिन्न मरुद्रश्मियों से युक्त हो जाते हैं।।+।।

जब उन तीक्ष्ण रुद्ररूप विकिरणों ने उन मन्दगामी अप्रकाशित सोम रश्मियों को तोड़ना प्रारम्भ किया किंवा उन पर तीव्र प्रहार किया, तब वे सोम रश्मियां सब ओर फैलकर नियन्त्रित हो गईं और वे सोम रश्मियां उन दुहितारूप किरणों से पृथक् होकर ऊपर की ओर उठने लगी और यह क्रिया अति तीव्र रूप से होने लगी। वे ऊपर उठती हुई सोम रश्मियां **मृग** रूप हो गईं। इसका तात्पर्य यह है कि वे रश्मियां शुद्ध रूप में प्रकाशित होने वाली और अति तीव्रगामी हो गई। इस प्रकार जो सोम रश्मियां स्वयं अप्रकाशित और मन्दगामी थीं, वे तीव्रगामी और प्रकाशवती विकिरणों में परिवर्तित हो गईं। इसके साथ ही जिन रुद्ररूप तीक्ष्ण विकिरणों ने उन सोम रश्मियों पर प्रहार किया था, वे **मृगव्याध** का रूप हो गये। इसका तात्पर्य यह है कि वे ऐसी तेजस्वी, शुद्ध और तीव्रगामी विकिरणों में परिवर्तित हो गये, जो विभिन्न मरुद्रश्मियों को ताड़ने, दबाने, उन्हें नियन्त्रित करने और सब ओर से उन्हें विशेषरूप से प्राप्त करने में सक्षम थे। इसके साथ ही वे दुहिता संज्ञक लाल रंग की तेजस्वी किरणों से परिपूर्ण पदार्थ रोहिणी का रूप हो गया। इसका तात्पर्य यह है कि वह अपने स्थान से कुछ ऊपर उठ गया एवं अनेक प्रकार के परमाणुओं का बीज रूप बन गया। अब महर्षि कहते हैं कि उन रुद्ररूप विकिरणों का इषु अर्थात् तीव्र गतिशील और हिंसक एवं अग्रगामी भाग तीन समूहों में विभक्त होकर तीन दिशाओं में प्रहार कर रहा था, इस कारण उसने सोम पदार्थ का तीन भागों में भेदन कर दिया।।

इस संघर्ष में उन सोम रश्मियों, जो उपर्युक्तानुसार मृगरूप धारण कर चुकी थीं, उनका रेत अर्थात् ऐसी सूक्ष्म तेजस्वी रश्मियां जो विशेष उत्पादन सामर्थ्य से युक्त थीं, पृथक् होकर बह चलीं और अन्तरिक्ष में सूक्ष्म वाग्रश्मियों के रूप में एकत्र होने लगीं। उस समय प्राणादि प्राथमिक प्राणों ने उन रश्मियों को आच्छादित करके अपनी सुरक्षा प्रदान की। इसके कारण वे तेजस्वी वाग्रश्मियां **''मादुष''** कहलाती हैं। इसका अभिप्राय यह है कि वे रश्मियां पूर्णतः निर्दोष अर्थात् शुद्ध रूप में होती हैं और इन्हीं रश्मियों को **''मानुष''** नाम से भी जाना जाता है। ये रश्मियां भी पशुरूप अर्थात् प्रशंसनीय मरुद् रूप ही होती हैं परन्तु उनका तेज ऐसा होता है कि जो किसी तकनीक से प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। इन ऐसी परोक्ष तेज वाली रश्मियों को देव अर्थात् प्राथमिक प्राणादि पदार्थ सदैव आकर्षित किये रहते हैं। वस्तुतः ये देव पदार्थ स्वयं परोक्ष रूप वाले ही होते हैं और इनके प्रत्येक कर्म भी परोक्ष और सूक्ष्म ही होते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उपर्युक्त तीक्ष्ण विकिरणों के द्वारा अप्रकाशित और ठण्डे सोम पदार्थ पर जब तीव्र आघात होता है, उस समय वे तीक्ष्ण विकिरण विभिन्न मरुद्रश्मियों को नियन्त्रित करके उनमें से कुछ रश्मियों को अपने साथ संयुक्त कर लेते हैं और वे सोम रश्मियां, अति तीव्रगामी और दीप्तियुक्त होकर ऊपर की ओर प्रवाहित होने लगती हैं और वे तीक्ष्ण रश्मियां जिन्होंने सोम रश्मियों पर प्रहार किया था और भी अधिक भेदन शक्तिसम्पन्न हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त पूर्ववर्णित लाल रंग की रश्मियों से युक्त कॉस्मिक पदार्थ कुछ ऊपर की ओर उठकर अनेक तत्त्वों के निर्माण का उपादान कारण बन जाता है। उपर्युक्त सोम रश्मियों पर जो हिंसक प्रहार होता है, वह तीन दिशाओं से एक साथ होता है और वह सोम पदार्थ को तीन भागों में विभक्त कर देता है। इस संघर्ष में उन सोम अर्थात् मरुद्रश्मियों का सूक्ष्म बीजरूप रश्मिसमूह अन्तरिक्ष में एकत्र होने लगता है। इस रश्मिसमूह की रश्मियां किसी भी भौतिक तकनीक से प्रत्यक्ष अनुभव में नहीं आ सकती। इन रश्मियों को प्राणापानादि रश्मियां आकर्षित और आच्छादित करके शुद्ध और संरक्षित रूप प्रदान करती हैं। ये प्राणापानादि पदार्थ और उनकी क्रियाएं भी किसी भौतिक तकनीक से अनुभव में नहीं आ सकतीं।।

सायण भाष्य व मालवीय अनुवाद

खण्ड ४.१७ पर सायण भाष्य एवं डॉ. मालवीय का हिन्दी अनुवाद-

संवत्सरसत्रस्यावयवान् मासानभिधाय सत्रं विधत्ते-

गवामयनेन यन्ति; गावो वा आदित्या; आदित्यानामेव तदयनेन यन्ति।। इति।

संवत्सरसत्राणां प्रकृतिभूतस्यैतस्य सत्रस्य 'गवामयनम्' इति नामधेयम्। तेन 'यन्ति' अनुतिष्ठेयुः। गमनसाम्याद् गवामादित्यत्वम्। तथा सत्यादित्यानामेवायनेनानुष्ठानं कृतं भवति।।

{संवत्सरसत्र के प्रकृतिभूत} 'गवामयन' नामक कर्म से अनुष्ठान करते हैं। {गमनसाम्य के कारण} गौ आदित्य हैं। इस प्रकार उस {गवामयन} से 'आदित्य-अयन' से ही वे अनुष्ठान करते हैं।

तदेतद् गवामयनं प्रशंसति-

गावो वै सत्रमासत, शफाञ्शृङ्गाणि सिषासत्यस्तासां दशमे मासि शफाः शृङ्गाण्यजायन्त; ता अब्रुवन् यस्मै कामायादीक्षामह्यापाम तमुत्तिष्ठामेति; ता या उदतिष्ठंस्ता एताः शृङ्गिण्यः।। इति।

पुरा कदाचिद् गवाभिमानिन्यो देवताः स्वकीयानां गोदेहानां पादगतान् 'शफान्' शिरोगतानि 'शृङ्गाणि' च 'सिषासत्यः' प्राप्तुमिच्छन्त्यः सत्रमन्वतिष्ठन्। तासां दशमे मासि तदुभयं संपन्नम्। ततः 'ताः' गावः परस्परमिदमब्रुवन्,-यस्मै कामाय वयम् 'अदीक्षामहि' सत्रदीक्षामाप्तवत्यः, 'तं' कामम् 'आपाम' वयं प्राप्तवत्यः। ततोऽस्मात् सत्रादुत्तिष्ठामेति विचार्योत्थाय गताः। 'ताः' प्रसिद्धा या गाव उदतिष्ठन्; ता इमाः शृङ्गिण्यो दृश्यन्ते। अनेन दशसु मासेष्वनुष्ठेयं गवामयनं प्रशस्तम्।।

गायों {की अभिमानिनी देवता} ने एक बार खुर और सींगों की अभिलाषा से सत्र किया। दसवें माह उनके खुर और सींग निकल आए। उन्होंने कहा जिस कामना से हम लोगों ने सत्र की दीक्षा ली थी वह प्राप्त हो गई है। अब हम {इस सत्र से} उठें वे {गायें} जो उठ खड़ी हुई, वे सींग से युक्त थीं।

द्वादशसु मासेष्वनुष्ठेयं यद् गवामयनमस्ति, तदिदानीं प्रशंसति-

अथ याः समापयिष्यामः संवत्सरमित्यासत, तासामश्रद्धया शृङ्गाणि प्रावर्तन्त; ता एतास्तूपरा ऊर्जं त्वसुन्वंस्तस्माद्‌ ताः सर्वानृतून् प्राप्त्वोत्तरमुत्तिष्ठन्त्यूर्जं ह्यसुन्वन् सर्वस्य वै गावः प्रेमाणं सर्वस्य चारुतां गताः।। इति।

सत्रमनुतिष्ठन्तीनां गवां मध्ये शफशृङ्गार्थिनीनां दशभिर्मासैः सिद्धिर्जाता। यासां तु गवां शृङ्गापेक्षा नास्ति, किन्तु ऊर्गपेक्षैव; तादृश्यो या गाव ऊर्जसिद्ध्यर्थं द्वादशमासात्मकं संवत्सरं समापयिष्याम इत्यभिप्रेत्य, तथैवान्वतिष्ठन्। 'तासां' गवां शृङ्गेष्वश्रद्धया शृङ्गाणि 'प्रावर्त्तन्त' नोत्पन्नानीत्यर्थः। 'ता एताः' गावो लोके 'तूपराः' शृङ्गरहिता दृश्यन्ते। तास्तु शृङ्गरहिता अपि सत्रानुष्ठानेन 'ऊर्जं' बलाधिक्यम् 'असुन्वन्' संपादितवत्यः। 'तस्माद्' बलाधिक्यलक्षणस्य फलस्य सद्भावादेव 'ताः' गावः 'सर्वानृतून्' षट्संख्याकानपि तस्मिन् सत्रानुष्ठाने प्राप्य 'उत्तरम्' ऊर्ध्वकाले सत्रादुत्तिष्ठन्ति। 'हि' यस्माद् 'ऊर्जं' बलातिशयम् 'असुन्वन्' प्राप्तवत्यः, तस्माद् द्वादशमासानुष्ठानं युक्तम्। 'ताः' शृङ्गरहिता गावः प्रहारभयाभावात् 'सर्वस्य' जगतः 'प्रेमाणं' प्रियत्वं गताः। तथा बलाधिक्येन शरीरपुष्ट्या च 'सर्वस्य' भारवहनादिकार्यस्य नेत्रदर्शनस्य चात्यन्तं 'चारुतां' रमणीयतां गताः।।

और जिन्होंने यह सोचते हुए कि 'संवत्सर पर समाप्त करेंगे' सत्र किया; उनकी अश्रद्धा के कारण उन्हें सींग नहीं निकली। वे ही {गायें आज लोक में} सींग विहीन हुई। किन्तु उन्होंने बल प्राप्त किया। इसीलिए {बलाधिक्य के कारण} वे गाएं सभी {छः} ऋतुओं को {उस अनुष्ठान में} प्राप्त करके बाद में सत्र से उठीं। क्योंकि उन्होंने ऊर्जस् प्राप्त किया था; इसलिए वे {शृङ्गविहीन गाएं} सभी की प्रिय हुईं और {पुष्ट शरीर होने से} सभी की {दर्शन जन्य} रमणीयता को प्राप्त हुईं।

वेदनं प्रशंसति-

सर्वस्य प्रेमाणं सर्वस्य चारुतां गच्छति य एवं वेद।। इति।

जो इस प्रकार जानता है वह सभी का प्रिय होता है; और सभी की चारुता को प्राप्त करता है।

अथादित्यानामयनमङ्गिरसामयनं च गवामयनविकृतिरूपमुभयं वक्तुं प्रस्तौति-

आदित्याश्च ह वा अङ्गिरसश्च स्वर्गे लोकेऽस्पर्धन्त वयं पूर्व एष्यामो वयमिति; ते हादित्याः पूर्वे स्वर्गं लोकं जग्मुः; पश्चेवाङ्गिरसः षष्ट्यां वा वर्षेषु।। इति।

आदित्याख्याश्च ये देवाः, ये चाङ्गिरस नामका ऋषयः, तदुभये स्वर्गे लोके परस्परं स्वर्गप्राप्तौ 'अस्पर्धन्त' अस्माकमेव प्रथमं गमनमिति आदित्याः, अङ्गिरसोऽपि तथैव; तत्रादित्याः सहसा प्रथमं स्वर्गं प्रापुः। अङ्गिरसस्तु 'पश्चेव' विलम्बेनैव षष्टिसंख्याकेषु वर्षेस्वतीतेषु स्वर्गं प्राप्ताः। 'वा' शब्देन पक्षान्तरं द्योत्यते। अङ्गिरसां मध्ये तत्तच्छक्त्यनुसारेण केचित् षष्टेः पूर्वं वा गता इत्यर्थः।।

आदित्यों और अङ्गिरसों ने परस्पर स्वर्गप्राप्ति के लिए स्पर्धा की। {सभी ने कहा-} हम पहले पहुचेंगे, हम पहले....। वे आदित्यगण पहले स्वर्गलोक में पहुंच गए। उनके बाद अङ्गिरस साठ वर्षों के बाद पहुंचे।

अथादित्यानामयनेऽहःक्लृप्तिं विधत्ते-

यया वा प्रायणीयोऽतिरात्रश्चतुर्विंश उक्थ्यः, सर्वेऽभिप्लवाः षळहा, आक्ष्यन्त्यन्यान्यहानि; तदादित्या-नामयनम्।। इति।

अत्र 'वा' शब्दो न विकल्पार्थः, किंतु गवामयनप्रकारव्यावृत्त्यर्थः। गवामयने प्रायणीयाख्यं प्रथममहः, अतिरात्रसंस्थं चतुर्विंशमुक्थ्यमहर्द्वितीयम्, तदुभयं तत्र 'यथा' तथैव आदित्यानामयनेऽपि; तत् ऊर्ध्वं विशेषोऽस्ति। सर्वेऽभिप्लवाः षडहाः पूर्वोक्ताभ्यां प्रथमद्वितीयाभ्यामहोभ्यामन्यानि सर्वाण्यहानि 'आक्ष्यन्ति' व्याप्तिं करिष्यन्ति। गवामयन त्वेकैकस्मिन् मासि चत्वार एवाभिप्लवषडहाः। अत इदं वैषम्यम्। तदिदम् 'आदित्यानामयनम्'।।

जैसे {गवामयन में} प्रायणीयाख्य प्रथम दिन होता है; और अतिरात्रिसंस्था रूप चतुर्विंश-उक्थ्य दिन {द्वितीय दिन} होता है; {उसी प्रकार आदित्यों के अयन में भी होता है किन्तु विशेषता यह है कि} सभी पूर्वोक्त अभिप्लव षडह {प्रथम-द्वितीय आदि दिनों से} अन्य सभी दिनों को व्याप्त करेंगे। यही आदित्यों का अयन है।

अथाङ्गिरसामयनस्य क्लृप्तिं दर्शयति-

प्रायणीयोऽतिरात्रश्चतुर्विंश उक्थ्यः, सर्वे पृष्ठ्याः षळहा, आक्ष्यन्त्यन्यान्यहानि; तदङ्गिरसामयनम्।। इति।

प्रथमद्वितीयव्यतिरिक्तानि सर्वाण्यहानि पृष्ठ्यषडहैर्व्याप्तानि, इत्येतावानत्र विशेषः। अथवा 'आक्ष्यन्ति' शब्दोऽहर्विशेषनामधेयम्। तथा च बौधायन आह- 'अभिजिद्विषुवान् विश्वजिद्दशममहर्महाव्रतमुदयनीयोऽतिरात्र इत्येतान्यक्ष्यन्ति भवन्ति' इति। तदेतद् चौधायनस्य मतम्। अन्यदपि यान्यन्यानि पृष्ठ्याभिप्लवेभ्य इति शालिकिराचार्यो मेने। यानि चान्यानि पृष्ठ्याभिप्लवेभ्यो दशमाच्चेत्यौपमन्यव इति। तथा सति प्रायणीयारम्भणीयाभ्यामभिप्लवषडहेभ्यश्चान्यानि यान्यहानि सन्ति, तानि 'आक्ष्यन्ति' एतन्नामकानीत्युभयत्र व्याख्येयम्। सर्वथाऽप्यस्त्येनयोरुभयोरपि गवामयनाद् विशेषः। गवामयने त्वेकस्मिन् मासि चत्वारोऽभिप्लवाः षडहाः, पञ्चमः पृष्ठ्यः षडहः। तथा च आश्वलायन आह- 'अथ गवामयनं सर्वकामाः। प्रायणीयचतुर्विंशे उपेत्य चतुरभिप्लवान् पृष्ठ्यपञ्चमान् पञ्च मासानुपयन्ति' इति। आदित्यानामयने पृष्ठ्यः षडहो नास्ति-इति, अङ्गिरसामयनेऽभिप्लवः षडहो नास्तीति वैषम्यम्।।

{अङ्गिरसों के अयन में} प्रायणीय-अतिरात्र, चतुर्विंश-उक्थ्य और सभी पृष्ठ्य-षडह होते हैं। {पृष्ठ्य-अभिप्लव से} अन्य दिनों को वे व्याप्त करेंगे। यही अङ्गिरसों का अयन है। {इस प्रकार गवामयन

में एक मास में चार अभिप्लव-षडह और पांचवां पृष्ठ्य-षडह होता है। आदित्यों के अयन में पृष्ठ्य-षडह नहीं होता और अङ्गिरसों के अयन में अभिप्लव-षडह नहीं होता}।

अयनद्वयगतमभिप्लवषडहं पृष्ठ्यषडहं च दर्शयति-

सा यथा स्रुतिरञ्जसायन्येवमभिप्लवः षळहः स्वर्गस्य लोकस्याथ यथा महापथः पर्याण एवं पृष्ठ्यः षळहः स्वर्गस्य लोकस्य; तद्यदुभाभ्यां यन्त्युभाभ्यां वै यन्न रिष्यत्युभयोः कामयोरुपाप्त्यै,-यश्चाभिप्लवे षळहे, यश्च पृष्ठ्ये।।३।। इति।

यथा लोकस्य प्रसिद्धा 'स्रुतिः' राजमार्गरूपा 'अञ्जसायनी' दुःखहेतूनां कण्टकपाषाणादीनामभावाद् अञ्जसा सम्यगयनस्य गमनस्य साधनभूता, एवमभिप्लवः षडहः स्वर्गस्य लोकस्य अञ्जसा प्राप्तिहेतुः। अथ पृष्ठ्यषडहस्य दृष्टान्त उच्यते,- यथा लोके 'महापथः' प्रौढ़मार्गः नगरद्वयमध्यवर्ती 'पर्याणः' परितोऽयनस्य गमनस्य साधनभूतः, नगरसमीपेऽरण्यपर्वताद्यभावाद् यस्यां दिशि गन्तुमपेक्षा तत्र गन्तुं शक्यते, एवमयं पृष्ठ्यः षडहः स्वर्गस्य लोकस्य प्राप्तिहेतुः। तथा सत्यनयोरुभयोः 'उभाभ्यां' षडहाभ्यां यन्तीति यदस्ति, तेन 'उभाभ्यां' पादद्वयस्थानीयाभ्यां 'यन्' गच्छन् पुरुषो 'न रिष्यति' न विनश्यति, योऽभिप्लवे कामोऽस्ति, यश्च पृष्ठ्यषडहे; तयोरुभयोः कामयोः प्राप्त्यै षडहद्वयं संपद्यते।।

वह {कंकड-पत्थरों व कांटों से विहीन} राजमार्ग के समान अभिप्लव षडह स्वर्ग लोक का सीधा मार्ग है; और {दो नगरों के मध्य मुख्य मार्ग रूप चारों ओर जाने के लिए महापथ के समान यह पृष्ठ्य षडह स्वर्ग लोक की प्राप्ति का हेतु है। इसलिए जो दोनों {षडहों} से आगे जाते हैं वे {पादद्वय रूप} दोनों से जाते हुए अरिष्ट को नहीं प्राप्त करते हैं; और जो अभिप्लव षडह में और जो पृष्ठ्य षडह में कामनाएं होती हैं उन दोनों कामनाओं की प्राप्ति के लिए षडह-द्वय संपादित होते हैं।

मेरा व्याख्यान

इस पर मेरा भाष्य=व्याख्यान इस प्रकार है-

१. गवामयनेन यन्ति; गावो वा आदित्या; आदित्यानामेव तदयनेन यन्ति।।
गावो वै सत्रमासत, शफाञ्शृङ्गाणि सिषासत्यस्तासां दशमे मासि शफाः शृङ्गाण्यजायन्त; ता अब्रुवन् यस्मै कामायादीक्षामह्यापाम तमुत्तिष्ठामेति; ता या उदतिष्ठंस्ता एताः शृङ्गिण्यः।।
अथ याः समापयिष्यामः संवत्सरमित्यासत, तासामश्रद्धया शृङ्गाणि प्रावर्तन्त; ता एतास्तूपरा ऊर्जं त्वसुन्वंस्तस्मादु ताः सर्वानृतून् प्राप्त्वोत्तरमुत्तिष्ठन्त्यूर्जं ह्यसुन्वन् सर्वस्य वै गावः प्रेमाणं सर्वस्य चारुतां गताः।।
सर्वस्य प्रेमाणं सर्वस्य चारुतां गच्छति य एवं वेद।।

{शफः = शं फणति सः (तु.म.द.ऋ.भा.१.१६३.५), धिष्ण्याः शफाः (मै.२.७.८; काठ.१६.८), (धिष्ण्या = अग्नेरेतास्तन्वो यद् धिष्ण्याः - मै.४.६.६), एतानि (स्वानः, भ्राजः, अङ्घारिः, बम्भारिः, हस्तः, सुहस्तः, कृशानुः), वै धिष्ण्यानां नामानि (श.३.३.३.११ - ब्रा.उ.को. से उद्धृत)। शृङ्गम् = (उपरिभागम्) शृङ्ग इवोच्छ्रितकर्म (तु.म.द.ऋ.भा.१.१६३.११), शृङ्गाणि ज्वलतो नाम (निघं.१.१७), शृङ्गम् = श्रेयतेर्वा शृणातेर्वा शम्नातेर्वा शरणायोद्गतमिति वा शिरसो निर्गतमिति वा (नि.२.७), शृणाति हिनस्ति येन तत् शृङ्गम् (उ.को.१.१२६)।}

व्याख्यानम्- पूर्व में अन्तरिक्ष को **'गौ'** कहा गया है और यहाँ आदित्य को **'गौ'** कहा है। हम यह

जानते हैं कि विभिन्न प्रकार के प्राथमिक प्राण **'आदित्य'** कहलाते हैं, साथ में मास और ऋतु रश्मियां भी **'आदित्य'** संज्ञक होती हैं। इन सभी को यहाँ **'गौ'** कहा जाता है, क्योंकि ये सभी प्राण रश्मियों का रूप होकर सतत गमन करते रहते हैं, ये कभी स्थिर नहीं होते। इसी कारण **महर्षि याज्ञवल्क्य** कहते हैं- **अध्रुवं वै तद्यत्प्राणः (श.१०.२.६.१६)।** पूर्व खण्ड में वर्णित विभिन्न क्रियाओं के सन्दर्भ में इस प्रसंग को देखना चाहिए। इस स्थिति में प्राण, ऋतु वा मास रश्मियों से सम्पूर्ण अन्तरिक्ष एवं अन्य सब लोक व्याप्त हो जाते हैं। इन प्राणादि रश्मियों, साथ ही सभी छन्दादि रश्मियों के अयन अर्थात् उनके मार्ग और गतियाँ परिवर्तित होते रहते हैं अर्थात् उनके मार्ग, गतियाँ और स्थान कभी भी निश्चित अर्थात् स्थिर नहीं रहते हैं। इस कारण **ईश्वरीय चेतना की मुख्य प्रेरणा से मनस्तत्त्वरूपी महाप्राण इन सबकी गति, मार्ग और स्थानों को नियन्त्रित व परिवर्तित करता रहता है।।**

वे **'गो'** संज्ञक उपर्युक्त प्रकार की रश्मियां जब सत्र को प्रारम्भ करती हैं अर्थात् एक दीर्घकालिक संयोग = सृजन प्रक्रिया को आरम्भ करती हैं, तब इनका प्रेरक मनस्तत्त्व किंवा सर्वप्रेरक चेतन तत्त्व परमेश्वर **'शफ'** और **'शृङ्गों'** के निर्माण के उद्देश्य से इन गौ-संज्ञक रश्मियों का सत्र प्रारम्भ करता है। यहाँ **'शफ'** का तात्पर्य उन कणों से है, जो अग्नि तत्त्व का आधार वा शरीर रूप होते हैं एवं जो सारी सृष्टि के व्यवहार को अच्छी प्रकार सम्पादित करते हैं। यहाँ **'शृङ्ग'** शब्द का तात्पर्य है- उन **'शफ'** संज्ञक सात प्रकार के कणों का तीव्र हिंसक एवं उत्कृष्ट परन्तु उपर्युक्त नियन्त्रित बल एवं गतियों से युक्त होकर तेज और ऊष्मा से युक्त हो जाना। ये **'शफ'** संज्ञक कण निम्न नामों से जाने जाते हैं- स्वान, भ्राज, अङ्घारि, बम्भारि, हस्त, सुहस्त, कृशानु। इन सातों प्रकार के कणों के स्वरूप एवं गुणधर्मों के विषय में जानकारी के लिए **३.५.२** अवश्य पठनीय है। हम उसकी पुनरावृत्ति करके पिष्ट-पेषण नहीं करना चाहते। इन्हीं सात प्रकार के कणों में सम्पूर्ण अग्नि तत्त्व विशेषरूप से प्रतिष्ठित हो जाता है।

इन सातों प्रकार के कणों को उत्पन्न करने के लिए जब पूर्व खण्डों में वर्णित किये अनुसार विभिन्न क्रियाएं होने लगती हैं, उस समय ऋतु रश्मियों की उत्पत्ति के पश्चात् जब मास रश्मियों की उत्पत्ति होने लगती है, उस समय दसवीं मास रश्मि की उत्पत्ति के साथ ही ये सात प्रकार के कण उत्पन्न भी हो जाते हैं और तेजस्वी तथा तीक्ष्ण रूप भी प्राप्त कर लेते हैं। उस समय ब्रह्माण्ड में तीव्र तापयुक्त घोर गर्जना सर्वत्र होने लगती है और वे सातों प्रकार के पदार्थ ऊपर की ओर उठने अर्थात् ब्रह्माण्ड में सर्वत्र फैलने लगते हैं। इस प्रकार वह सम्पूर्ण पदार्थ ज्वालाओं से प्रदीप्त होने लगता है अर्थात् उस समय अग्नि तत्त्व की अधिक प्रधानता रहती है और पदार्थ का संघनन होकर बड़े कणों का निर्माण अभी नहीं हो पाता।।

इस क्रिया में जो गौ-संज्ञक रश्मियां सम्पूर्ण क्षेत्र में फैल नहीं पाती हैं **{श्रद्धा = तेज एव श्रद्धा (श.११.३.१.१), श्रद्धा वा आपः (तै.ब्रा.३.२.४.१), श्रद्धा वै सूर्यस्य दुहिता (श.१२.७.३.११)। तूपरः = हिंसकः (म.द.य.भा.२४.१), यत्तूपरस्तदश्वानाम् (रूपम्) (जै.ब्रा.२.३७१)}** अथवा जो छन्दादि गौ रश्मियां पूर्वोक्त सम्पूर्ण क्षेत्र में व्याप्त हो रही थीं और जिनका प्रयोजन सृष्टि की अन्य प्रक्रियाओं में भी भाग लेना होता है, वे अपने अल्प तेज परन्तु तीव्र गति एवं बल के कारण उस क्षेत्र में यत्र-तत्र ऊपर उठकर अपने तीक्ष्णरूप को प्राप्त करके सम्पूर्ण क्षेत्र का तेजी से चक्कर लगाने लगती हैं। उनका स्वरूप अतिभेदक शक्तिसम्पन्न और ऊर्जायुक्त होता है, जिसके कारण वे सभी रश्मियां ऋतु रश्मियों को प्राप्त करके पूर्वोक्त षडह क्षेत्रों में विद्यमान सभी लोकों को आच्छादित करती हुई तेजी से परिक्रमण करती हैं। उसके पश्चात् वे सभी रश्मियां सबको तृप्त करती हुई अपने बल और गति के साथ ऊपर की ओर अर्थात् उस कॉस्मिक क्षेत्र के केन्द्रीय भाग की ओर बढ़ने लगती हैं। वे विभिन्न सृजन प्रक्रियाओं को श्रेष्ठतापूर्वक संपादित करने में सक्षम होती हैं, क्योंकि उनका आकर्षण बल विशेषतः तीव्र होता है। वे रश्मियां उस केन्द्रीय भाग में पूरी तरह व्याप्त हो जाती हैं और उस क्षेत्र को सुन्दर रूप प्रदान करती हैं, जिससे वहाँ सभी प्रकार की संयोग क्रियाएँ उपयुक्त रूप से होने लगती हैं। जब यह स्थिति बन जाती है, तब विभिन्न लोकों के निर्माण की प्रक्रिया अनुकूल एवं श्रेष्ठ स्थिति को प्राप्त हो जाती है।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- विभिन्न लोकों के निर्माण की प्रक्रिया की चर्चा को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि विभिन्न प्रकार की रश्मियों, विशेषकर प्राण और छन्द आदि रश्मियों की गति, स्थान और मार्ग कभी निश्चित अर्थात् स्थिर नहीं रहते। विभिन्न प्रयोजनों के अनुसार विभिन्न परिस्थितियों में ईश्वरीय चेतना

की प्रेरणा के अनुसार मन की सूक्ष्म रश्मियां उनको नियन्त्रित एवं परिवर्तित करती रहती हैं। इन **छन्द वा प्राण आदि रश्मियों के विभिन्न स्वरूपों के कारण सात प्रकार के विभिन्न कणों की उत्पत्ति होती है।** ये सात प्रकार के कण इस ब्रह्माण्ड के वे कण हैं, जो सम्पूर्ण सृष्टि की अधिकांश ऊर्जा को अपने में धारण किये रहते हैं। इन सात प्रकार के कणों के स्वरूप के बारे में ३.५.२ अवश्य पढ़ें, हम इसकी पुनरावृत्ति यहाँ नहीं कर रहे। इन कणों की उत्पत्ति उस समय होती है, जब पूर्व खण्ड के व्याख्यान भाग में वर्णित दो लघु आकृतियों के रूप में विद्यमान पदार्थ का अतिनिकट सम्पर्क होता है। उस सम्पर्क के समय पूर्व खण्ड के अनुसार जब बारह बृहती छन्द रश्मियां उत्पन्न हो रही होती हैं, तब दसवीं छन्द रश्मि के उत्पन्न होने के उपरान्त ही ये सातों प्रकार के कण प्रकट हो जाते हैं। वर्तमान वैज्ञानिकों को वर्त्तमान मूल कणों पर गंभीर अध्ययन करते समय इन कणों के स्वरूप से तुलना करने का प्रयास करना चाहिए। ये सातों प्रकार के कण सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में फैलकर अग्नि की ज्वालाओं को उत्पन्न करते हैं। उस समय कुछ रश्मियां अधिक ऊर्जा और भेदक शक्तिसम्पन्न होकर उस सम्पूर्ण कॉस्मिक पदार्थ का चक्र लगाते हुए विभिन्न कणों से संघर्षण करती हुई उसके केन्द्रीय भाग की ओर प्रवाहित होकर विशेषतः वहीं व्याप्त हो जाती हैं, जिससे उस क्षेत्र में भारी ऊर्जा उत्पन्न होने लगती है और वह पदार्थ केन्द्रीय भाग की ओर आकर्षित होने लगता है।।

२. आदित्याश्च ह वा अङ्गिरसश्च स्वर्गे लोकेऽस्पर्धन्त वयं पूर्व एष्यामो वयमिति; ते हादित्याः पूर्वे स्वर्ग लोकं जग्मुः; पश्चेवाङ्गिरसः षष्ट्यां वा वर्षेषु।।
यथा वा प्रायणीयोऽतिरात्रश्चतुर्विंश उक्थ्यः, सर्वेऽभिप्लवाः षळहा, आक्ष्यन्त्यन्यान्यहानि; तदादित्यानामयनम्।।
प्रायणीयोऽतिरात्रश्चतुर्विंश उक्थ्यः, सर्वे पृष्ठ्याः षळहा, आक्ष्यन्त्यन्यान्यहानि; तदङ्गिरसामयनम्।।
सा यथा स्रुतिरञ्जसायन्येवमभिप्लवः षळहः स्वर्गस्य लोकस्याथ यथा महापथः पर्याण एवं पृष्ठ्यः षळहः स्वर्गस्य लोकस्य; तद्यदुभाभ्यां यन्त्युभाभ्यां वै यन्न रिष्यत्युभयोः कामयोरुपाप्त्यै,-यश्चाभिप्लवे षळहे, यश्च पृष्ठ्ये।।३।।

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त प्रकरण को कुछ आगे बढ़ाते हुए महर्षि कहते हैं कि पूर्व में **'गौ'** शब्द का अर्थ विभिन्न प्रकार की प्राण आदि रश्मियां ग्रहण किया था। अब यहाँ **'गौ'** शब्द से सद्यःनिर्मित विभिन्न लोकों का ग्रहण करके **गवामयन** अर्थात् **उन लोकों के मार्ग और गतियों पर विचार करते हैं।** अन्तरिक्ष स्थित सभी लोक सतत गमन करते रहते हैं। इस कारण उन्हें भी **'गौ'** कहा जाता है। उस समय पूर्वोक्त प्रक्रिया के चलते दो प्रकार के लोकों की उत्पत्ति होती है। इनमें से प्रथम लोक वे होते हैं, जो अति प्रकाशित और स्वयं अपना प्रकाश उत्पन्न करने में सक्षम होते हैं तथा आकार की दृष्टि से भी ये बड़े ही विशाल होते हैं। दूसरे लोक वे होते हैं, जो पहले तो तेजोमय ज्वालाओं से युक्त होते हैं, परन्तु कुछ कालोपरान्त वे बुझे अंगारों की भाँति ठंडे हो जाते हैं, तथापि उनके गर्भ में अग्नि विद्यमान अवश्य होता है। ये दोनों ही प्रकार के लोक सदैव गतिशील होते हैं। इस प्रकार ब्रह्माण्ड का प्रत्येक पदार्थ ही सदैव गतिशील रहता है। इसी कारण **महर्षि याज्ञवल्क्य** ने कहा है- **"इमे वै लोकाः सर्पास्ते हानेन सर्वेण सर्पन्ति यदिदं किं च" (श.७.४.१.२५)**। यहाँ **महर्षि ऐतरेय महीदास** कहते हैं कि प्रारम्भ में ये सभी लोक अव्यवस्थित गतियों से युक्त होते हैं। उनकी कोई निश्चित कक्षा और निश्चित गति नहीं होती। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वे सभी लोक निश्चित कक्षा और गति प्राप्त करने के लिए परस्पर स्पर्द्धा कर रहे हों। विशाल प्रकाशित लोक किसी अन्य अति प्रकाशित लोक के चारों कुछ काल पश्चात् परिक्रमण करने लगते हैं और बुझे हुए अर्थात् अप्रकाशित लोक कुछ काल पश्चात् अपने निकटस्थ किसी प्रकाशित लोक की परिक्रमा करने लगते हैं। स्वर्गलोक के विषय में ऋषियों का कथन है- **"अनन्तोऽसौ स्वर्गो लोकः (गो.उ.६.५), स्वर्गो वै लोकः सूर्यो ज्योतिरुत्तमम् (श.१२.६.२.८), मध्ये ह संवत्सरस्य स्वर्गो लोकः (श.६.७.४.११)।"** इन तीनों वचनों से स्वर्ग लोक के तीन अर्थ प्रकाशित

होते हैं-

१. वे अति विशाल लोक, जिन्हें यहाँ अपरिमित कहा गया है, ऐसे लोक होते हैं, जिनके चारों ओर विभिन्न प्रकाशित लोक परिक्रमण करते रहते हैं।
२. दूसरे स्वर्गलोक वे होते हैं, जो प्रकाशित होते हुए उपर्युक्त अति विशाल स्वर्गलोक की परिक्रमा करते हैं।

३. किसी भी प्रकाशित लोक के केन्द्रीय भाग को भी स्वर्गलोक कहते हैं। इस प्रकार स्वर्ग लोक एक सापेक्ष शब्द है, जो परिस्थितियों के अनुकूल भिन्न-२ अर्थ में ग्रहण किया जाता है। यहाँ महर्षि प्रकाशित और अप्रकाशित (बुझे हुए) लोकों के द्वारा अपने-२ केन्द्र की परिक्रमा करने के लिए निश्चित कक्षा प्राप्त करने में व्यतीत किये जाने वाले समय की तुलना करते हुए कहते हैं कि विभिन्न प्रकाशित लोक जब विशाल प्रकाशित लोक के चारों ओर अस्थिर और अनिश्चित गति और मार्गों पर परिक्रमण कर रहे होते हैं, उस समय वे अपने आकर्षण से बँधे हुए अन्य कुछ अप्रकाशित लोकों को अपने साथ लिए रहते हैं। उस समय वे अप्रकाशित लोक अपने आकर्षण व केन्द्ररूप प्रकाशित लोक के चारों ओर अस्थिर गति और मार्गों पर परिक्रमण कर रहे होते हैं। ये दोनों ही प्रकार के लोक अपनी-२ गति और मार्गों को निश्चित और स्थिर रूप प्रदान करने का पूर्ण यत्न करते रहते हैं। **जब कोई प्रकाशित लोक अपने केन्द्र रूप विशाल प्रकाशित लोक की निश्चित कक्षा में निश्चित गति को प्राप्त कर लेता है और उनकी गति और कक्षा जब स्थिर हो जाती हैं, तब उसके पश्चात् उस प्रकाशित लोक की परिक्रमा करने वाले विभिन्न अप्रकाशित लोक अपने-२ हिसाब से साठ वर्षों में अपनी स्थिर गति और कक्षा को प्राप्त कर लेते हैं। हमारे मत में यह सार्वत्रिक नियम है, न कि हमारी पृथिवी और हमारे सूर्य के लिए।।**

इसका भाष्य करते हुए आचार्य सायण ने लिखा है- "अत्र **'वा'** शब्दो न विकल्पार्थः किंतु गवामयन-प्रकार-व्यावृत्त्यर्थः। गवामयने प्रायणीयाख्यं प्रथममहः, अतिरात्रसंस्थं चतुर्विंशमुक्थ्यमहर्द्वितीयम्...
..। आचार्य सायण का यह भाष्य उनकी अपनी याज्ञिक शैली में है। हमारी दृष्टि में यहाँ महर्षि का आशय यह है कि पदार्थ की अन्धकारमयी अवस्था का अतिक्रमण करके दीप्ति का प्रथम प्रादुर्भाव होना ही **अतिरात्र** है और वह **अतिरात्र** प्राण नामक प्राथमिक प्राण की उत्पत्ति से प्रारम्भ होता है। जैसा कि कहा है- **"प्राणो वै पूर्वोऽतिरात्रः" (काठ.३४.८), "प्राणो एव प्रायणीयः" (काठ.३४.६)**। वैसे **'प्रायणीय'** शब्द का अर्थ सापेक्ष अर्थात् परिस्थिति के अनुकूल होता है। इसी कारण अन्य ऋषि का कथन है- **"गायत्रं प्रायणीयमहः" (तै.सं.७.२.८.१)** यहाँ गायत्री-प्राणमय अवस्था को **'प्रायणीय'** कहा गया है, जिसे **अतिरात्र प्रायणीय** समझना चाहिए। यहाँ प्राण नामक प्राथमिक प्राण और सूक्ष्म गायत्री छन्द रश्मियों की प्रकटावस्था को **प्रायणीय अतिरात्र** अर्थात् सृष्टि प्रक्रिया का प्रथम महत्वपूर्ण चरण मान सकते हैं। **४.१२.१** में जो **चतुर्विंश** अर्थात् २४ छन्द रश्मियों की उत्पत्ति वाला जो आरम्भिक चरण बतलाया गया था, वह वस्तुतः इस प्रकरण में द्वितीय चरण के रूप में मानना चाहिए। ये दोनों ही चरण न्यूनाधिक प्रकाशयुक्त होने के कारण **'अहन्'** कहलाते हैं। **चतुर्विंश** चरण को यहाँ **उक्थ्य** भी कहा है, क्योंकि इसमें विद्यमान गायत्री, उष्णिक् एवं अनुष्टुप् छन्द रश्मियां मरुद् वा छन्द रूप ही होती हैं। इन चरणों के पश्चात् निर्मित पूर्वोक्त **षडह** संज्ञक पदार्थसमूह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में सर्वत्र स्वच्छन्द विचरण करते रहते हैं। उन **षडह** रूप पदार्थ समूह में उपर्युक्त दोनों **अहन्** अर्थात् प्राण नामक प्राथमिक प्राण और **चतुर्विंश** अवस्था की २४ सूक्ष्म छन्द रश्मियां इन **षडह** रूप पदार्थों में व्याप्त होती हैं और **षडह** रूप पदार्थ भी उनके अन्दर व्याप्त होते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि **षडह** रूप पदार्थ जिन मार्गों पर विचरण करते हैं, उन मार्गों पर भी प्राण नामक प्राथमिक प्राण किंवा सभी प्राथमिक प्राण एवं २४ पूर्वोक्त सूक्ष्म छन्द रश्मियां व्याप्त होती हैं। इनके प्रायणीय होने से यह भी संकेत मिलता है कि ये सभी सूक्ष्म रश्मियां इन **षडह** रूप पदार्थ समूह की गति एवं मार्गों को अच्छी प्रकार संपादित करती हैं। ये सूक्ष्म रश्मियां ही **आदित्य** अर्थात् प्रकाशित लोकों के मार्ग और गतियों को भी सम्पादित करती हैं अर्थात् उनके मार्ग में व्याप्त होकर उन्हें परिक्रमणीय गति प्रदान करने में सहयोग करती हैं। इसलिए इनको आदित्यों का अयन कहा गया है।।

{पृष्ठ्यः = अयमेव स्पृष्ट्यो योऽयं (वायुः) पवते एतेन हीदं सर्वं स्पृष्टम्। स्पृष्ट्यो ह वै नामैषः।

तं पृष्ठ्य इति परोक्षमाचक्षते (जै.ब्रा.२.३१), आत्मा वै पृष्ठ्यः षडहः (जै.ब्रा.२.३०५,३०६), पिता वा अभिप्लवः पुत्रः पृष्ठ्यः (गो.पू.४.१७), श्रीः पृष्ठ्यानि (कौ.ब्रा.२१.५)} पूर्वोक्त सभी **षडह** रूप पदार्थ समूह के मार्ग में प्राथमिक प्राण और २४ सूक्ष्म छन्द रश्मियों के व्याप्त होने की, हमने पूर्व कण्डिका में चर्चा की है। यहाँ उपर्युक्त प्रमाण हमारी इस बात का समर्थन करते हैं, जो हमने प्राण नामक प्राथमिक प्राण के ग्रहण करने को लेकर की है। इन सब में भी **आत्मा अर्थात् चेतन तत्त्व परमात्मा मूलतः सर्वव्यापक पदार्थ है।** इसके साथ ही आत्म तत्त्व से सूत्रात्मा वायु का भी ग्रहण करना चाहिए। यह सूत्रात्मा वायु अन्य प्राण रश्मियों को अपने साथ बाँधकर **षडह** रूप पदार्थ समूह का अनुगामी होकर साथ चलता है। इन प्रमाणों में **'षडह अभिप्लव'** में **षडह** को पिता और **पृष्ठ्य** रूप प्राणों को पुत्र कहने का तात्पर्य भी यही है कि जिस प्रकार लोक में पिता का अनुगामी होकर पुत्र चलता है, उसी प्रकार यह प्राण **षडह** रूप पदार्थ समूह के साथ वा पीछे-२ चलते हैं। यहाँ इससे यह भी संकेत मिलता है कि वे **प्राथमिक प्राण रश्मियां षडह रूप पदार्थ समूह से भी उत्सर्जित होती रहती हैं, जिसके कारण वे पुत्र रूप होती हैं।** इस प्रकार सभी प्राथमिक प्राण सूत्रात्मा वायु एवं २४ सूक्ष्म छन्द रश्मियां, सभी **षडह** रूप पदार्थ समूहों के साथ-२ गमन करते हुए उनकी गति और मार्गों को संपादित और नियमित करती हैं। ये सभी पदार्थ **अङ्गिरस** अर्थात् अप्रकाशित लोकों के मार्ग को भी व्याप्त करते हुए उनकी गति और मार्गों को संपादित और नियमित करते हैं। अब यह प्रश्न उठता है कि यहाँ **'पृष्ठ्य'** शब्द का प्रयोग क्यों किया गया है? प्राण रश्मियों का पृष्ठरूप होना तो प्रकाशित लोकों के लिए भी आवश्यक होना चाहिए और पूर्व कंडिका में **'अभिप्लव'** शब्द का प्रयोग क्यों हुआ है? जबकि उसका प्रयोग यहाँ भी होना चाहिए। हमारे मत में इन शब्दों के पीछे एक गभीर वैज्ञानिक रहस्य छुपा हुआ है। वह इस प्रकार है कि जिस प्रकार **षडह** रूपी पदार्थ समूह इस ब्रह्माण्ड में सर्वत्र यदृच्छया गति करता है, उसी प्रकार प्रकाशित लोकों के मार्ग में व्याप्त पूर्वोक्त रश्मियां सब ओर तैरती हुई सी गमन करती हैं और ऐसा करते हुए ही वे उन प्रकाशित लोकों को स्थिर कक्षा और निश्चित गति प्रदान करती हैं। इस रहस्य को पूर्वोक्त कण्डिका के साथ जोड़कर देखना चाहिए। अप्रकाशित लोकों के मार्ग में व्याप्त, वे ही रश्मियां सब ओर तैरती हुई गति के स्थान पर लोकों के निकट उनका आधार बनी हुई गमन करती हैं। यहाँ सूत्रात्मा वायु की पूर्वापेक्षा अधिक मात्रा होती है, जिससे इन अप्रकाशित लोकों की परिधियाँ प्रकाशित लोकों की अपेक्षा बहुत अधिक स्पष्ट होती हैं। इस कारण से प्राणादि रश्मियां प्रकाशित लोकों की अपेक्षा अधिक संकीर्ण मार्गों पर अर्थात् सघनता लिए गति करती हैं। अतएव इनको यहाँ **पृष्ठ** कहा गया है, **अभिप्लव** नहीं। यहाँ एक अन्य तथ्य यह भी प्रकाशित होता है कि यहाँ प्राण, अपान और व्यान किंवा प्राणापानोदान एवं चतुर्विंश की अंगभूत गायत्री, अनुष्टुप् और उष्णिक् छन्द रश्मियां **'षडह'** कहलाती हैं, विशेषकर इस प्रकरण में। इन्हीं छः रश्मियों के **अभिप्लव** और **पृष्ठ्य** रूप को उपर्युक्तानुसार हम समझ सकते हैं।।

उपर्युक्त **अभिप्लवः षडह** अर्थात् प्राथमिक प्राण और २४ सूक्ष्म छन्द रश्मियां, जो प्रकाशित लोकों के मार्ग में तैरती हुई सी गति करती हैं, वह उस मार्ग को शीघ्रगमन के योग्य बनाती हैं, जिससे वे प्रकाशित लोक अपने परिक्रमण पथ के केन्द्ररूप विशाल लोक के चारों ओर सहजतापूर्वक अतितीव्र गति से गमन करने में सक्षम होते हैं। वे प्रकाशित लोक भी गमन करते समय तैरते हुए से जान पड़ते हैं। इन प्रकाशित लोकों का पथ कदाचित् अप्रकाशित लोकों के पथ से कुछ भिन्न होता है। उधर अप्रकाशित लोकों के पथ में उपर्युक्त ही छः रश्मियां सूत्रात्मा वायु को अपना पृष्ठ बनाकर के इस प्रकार गमन करती हैं, मानो वे एक-दूसरे का चक्कर काटती हुई विशाल मार्ग पर आगे बढ़ती जा रही हों। ऐसा लगता है कि इस मार्ग में वे छः रश्मियां, जिनमें ३ प्राण रश्मियां और तीन छन्द रश्मियां सम्मिलित हैं, ये दोनों प्रकार की रश्मियां सूत्रात्मा वायु के सहारे परस्पर बँधी हुई अर्थात् बटी हुई रस्सी के समान प्रतीत होती हुई निरन्तर गतिमान् होकर अप्रकाशित लोकों के मार्ग और गति को स्थापित और संचालित करती हैं। ये लोक अपने निकटस्थ प्रकाशित लोकों की परिक्रमा करते हैं। इस प्रकार जब इन रश्मियों के दोनों ही रूपों के द्वारा अर्थात् **अभिप्लव** और **पृष्ठ्य** नामक इन रश्मियों के द्वारा इस ब्रह्माण्ड के सभी लोक गति करते हैं, तब उन लोकों को कोई क्षति नहीं होती अर्थात् उनके मार्ग और गतियां सभी कुछ निश्चित और व्यवस्थित निरन्तरता के साथ बने रहते हैं और उन लोकों के विभिन्न कमनीय बल भी यथावत् सम्पादित होते और यथावत् बने रहते हैं। इस विषय में **महर्षि याज्ञवल्क्य** का कथन है- **"तऽ आदित्याः। चतुर्भिः स्तोमैश्चतुर्भिःपृष्ठैर्लघुभिः सामभिः स्वर्गं लोकमभ्यप्लवन्त यदभ्यप्लवन्त**

तस्मादभिप्लवाः।। अन्वञ्चऽइवाङ्गिरसः। सर्व्वैः स्तौमैः सर्व्वैः पृष्ठैर्गुरुभिः सामभिः स्वर्ग्गं लोकमस्पृशन्यदस्पृशँस्तस्मात्पृष्ठ्यः।।" (श.१२.२.२.१०-११)। इन प्रमाणों से हमारे उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है कि आदित्य अर्थात् प्रकाशित लोकों के मार्ग में पूर्वोक्त रश्मियां उछल-कूद करती तैरती हुई गमन करती हैं और आंगिरस अर्थात् अप्रकाशित लोकों के मार्ग में ये ही रश्मियां अधिक दृढ़ता से बँधी हुई गमन करती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- यहाँ विभिन्न लोकों की गति और कक्षाओं के विषय में विचार किया गया है। इस ब्रह्माण्ड में अन्तरिक्ष के अतिरिक्त मुख्यतः दो प्रकार के लोक होते हैं।

इनमें से प्रथम लोक वे हैं, जो अत्यन्त तेज और ऊष्मा के पुञ्ज होते हैं, जिन्हें हम तारे कहते हैं। ये तारे जब निर्मित हो रहे होते हैं, उस समय उनमें प्रकाश और ऊष्मा की मात्रा अपेक्षाकृत कम होती है, परन्तु कालान्तर में उनके केन्द्रीय भाग में नाभिकीय संलयन की क्रिया प्रारम्भ होने के पश्चात् ऊष्मा और प्रकाश दोनों की मात्रा बहुत बढ़ जाती है। जब तक वे जीवित रहते हैं, तब तक वे उसी रूप में रहते हैं। ये तारे अपनी-२ आकाश गंगा के केन्द्र में स्थित किसी विशालतम और प्रबलतम तारे की परिक्रमा करते रहते हैं।
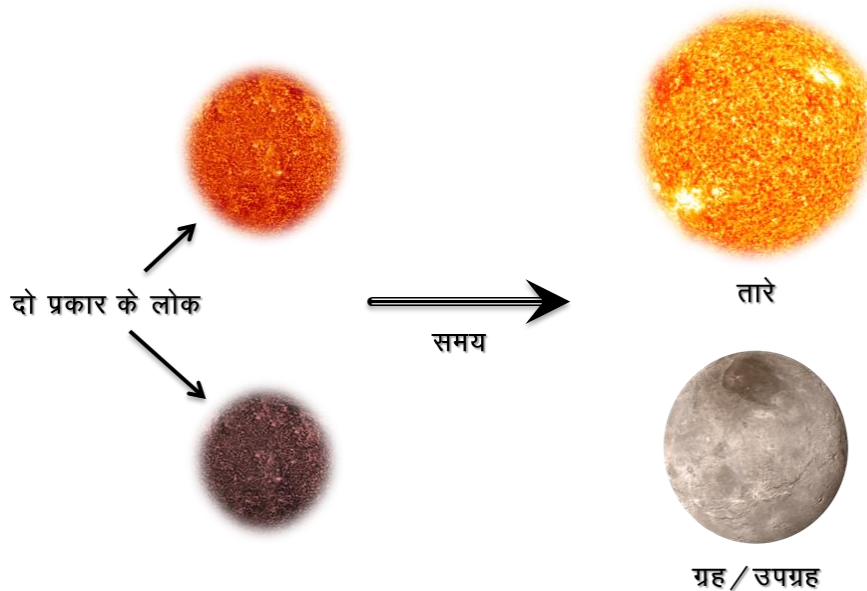
चित्र १८.६ समय के साथ तारों व ग्रहों का निर्माण

दूसरे लोक वे होते हैं, जो निर्माणाधीन अवस्था में अग्नि के पिण्ड के रूप में होते हैं, परन्तु
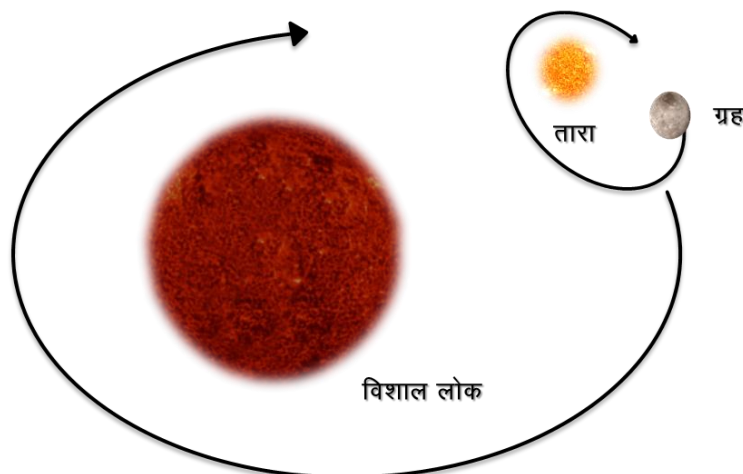
चित्र १८.१० लोकों की परिक्रमण प्रक्रिया

कालान्तर में वे ठंडे होकर ग्रह-उपग्रह आदि में परिवर्तित हो जाते हैं। इनके केन्द्रीय भाग में तीव्र ताप सदा रहता है, परन्तु उसकी तीव्रता इतनी नहीं होती कि वहाँ नाभिकीय संलयन हो सके। सभी ग्रह अपने निकटस्थ किसी तारे के गुरुत्वाकर्षण बल के द्वारा बँधे हुए रहकर उसकी सतत परिक्रमा करते रहते हैं। विभिन्न तारे, ग्रह और उपग्रह आदि लोक अपने उत्पत्ति काल के समय से कुछ काल पश्चात् तक अपने-२ निकटस्थ विशाल लोकों की परिक्रमा निश्चित गति के साथ निश्चित कक्षाओं में नहीं कर पाते हैं, बल्कि उनकी गति और मार्ग दोनों ही अनिश्चित, अव्यवस्थित और अस्थिर होते हैं, परन्तु वे सभी लोक धीरे-२ निश्चित कक्षा और निश्चित गति को प्राप्त करने के लिए सतत प्रयत्नशील रहते हैं।

इन सबको निश्चित गति और कक्षा अथवा व्यवस्थित मार्ग प्राप्त कराने में विभिन्न प्राथमिक प्राण रश्मियां एवं सूक्ष्म छन्द रश्मियां सहयोग करती हैं। ये वे ही तीन सूक्ष्म छन्द रश्मियां हैं, जो ८-८ बार आवृत्ति करके २४ छन्द रश्मियों के रूप में प्रकट होती हैं, जिनके विषय में खण्ड **४.१२** पठनीय है। ये **रश्मियां प्राण, अपान, उदान आदि के साथ तारों के परिक्रमण मार्ग में विरल रूप में विद्यमान रहती हैं। ये रश्मियां तारों के साथ-२ भी गमन करती हैं। इन रश्मियों का गमन इस रूप में होता है कि ये तारों के उपरिभाग में उछलती कूदती तैरती हुई सी प्रतीत होती हैं।** यद्यपि इनमें से प्राथमिक प्राण रश्मियां सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में व्याप्त रहती हैं, परन्तु तारों के आस-पास और उनके मार्ग में ये प्राथमिक प्राण रश्मियां २४ सूक्ष्म छन्द रश्मियों के साथ मिलकर सघन मात्रा में विद्यमान होती हैं। ये दोनों ही रश्मियां प्रारम्भ में तारों को स्थिर गति और कक्षा प्रदान करती है और बाद में **उस गति और कक्षा की सुरक्षा भी करती हैं।** उधर विभिन्न **ग्रहों** और उपग्रहों के मार्ग में भी ये ही रश्मियां विद्यमान होती हैं, परन्तु यहाँ भेद यह है कि वे **रश्मियां यहाँ सूत्रात्मा वायु के साथ कुछ विशेष मिश्रित होकर सघन रूप प्राप्त करती हुई इन लोकों को निश्चित कक्षा और गति के साथ-२ तारों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट परिधि प्राप्त कराती हैं। दूसरा भेद यह है कि यहाँ ये प्राण और छन्द रश्मियां एक-दूसरे के साथ लिपट कर अथवा एक-दूसरे का चक्कर लगाती हुई बटी हुई रस्सी के समान प्रतीत होती हुई संकीर्ण और सघन मार्ग में गति करती हैं।** यहाँ महर्षि इन लोकों के अपनी-२ कक्षा में स्थापित होने के समय की तुलना करते हुए लिखते हैं कि किसी भी तारे के द्वारा आकाशगंगा के केन्द्र के चारों ओर निश्चित कक्षा और स्थिर गति प्राप्त करने के पश्चात् उसके किसी भी ग्रह को उस तारे के चारों ओर परिक्रमा करने के लिए उस ग्रह के हिसाब से ६० वर्ष लगते हैं। हम यह जानते ही हैं कि प्रत्येक ग्रह का वर्ष पृथक्-२ दिनों का होता है, तदनुसार ही इस काल की गणना की जा सकती है। **यह एक महत्वपूर्ण सूत्र है, जिससे ब्रह्माण्ड के लोकों की कक्षाओं के निर्माण और गतियों को समझा जा सकता है। इससे सामान्य सूत्र प्रकट होता है कि सभी ग्रह अपने-२ तारे की ६० परिक्रमा अस्थिर व अनियमित मार्ग पर करने के उपरान्त स्थिर कक्षा व गति को प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं।।**
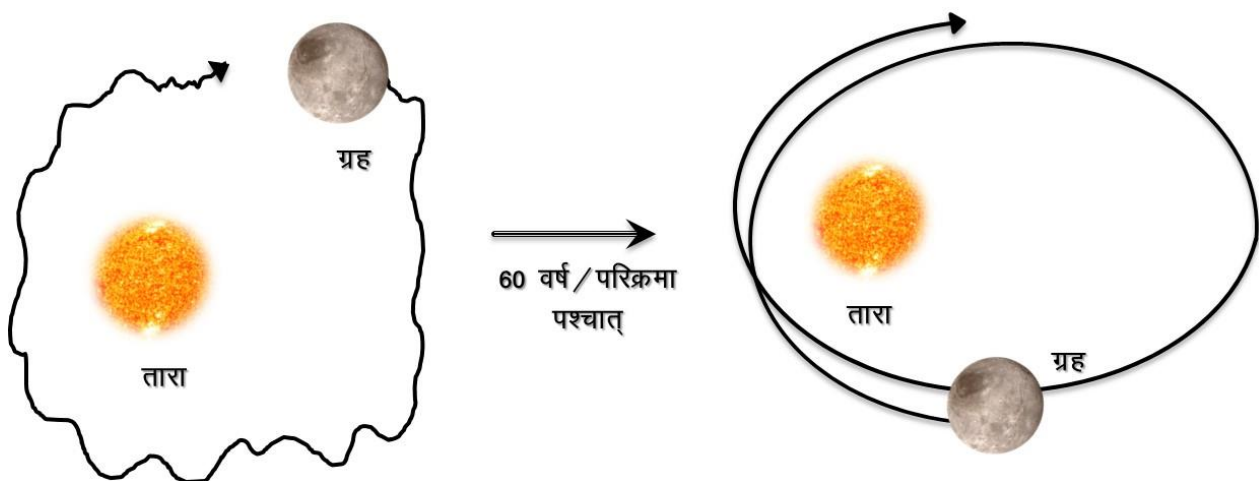
चित्र १८.११ लोकों की कक्षाओं के स्थिरीकरण की प्रक्रिया

सायण भाष्य व मालवीय अनुवाद

खण्ड **५.१४** पर सायण भाष्य एवं डॉ. मालवीय का हिन्दी अनुवाद-

पूर्वोक्ते सूक्तद्वये लिङ्गं दर्शयति-

नाभानेदिष्ठं शंसति।। इति।

नाभानेदिष्ठाख्यः कश्चिन्महर्षिः, तेन दृष्टम्, पूर्वोक्तं सूक्तद्वयं 'नाभानेदिष्ठं' तच्छंसेत्। अतो महर्षिसम्बन्ध एवात्र लिङ्गम्।।

नाभानेदिष्ठ {ऋषि द्वारा दृष्ट पूर्वोक्त सूक्तद्वय} का शंसन करता है।

तदेतत्सूक्तद्वयं प्रशंसितुमुपाख्यानमाह-

नाभानेदिष्ठं वै मानवं ब्रह्मचर्यं वसन्तं भ्रातरो निरभजन् सोऽब्रवीदेत्य किं मह्यमभाक्तेत्येतमेव निष्ठावमववदितारमित्यब्रुवंस्तस्माद्धाप्येतर्हि पितरं पुत्रा निष्ठावोऽववदितेत्येवाचक्षते।। इति।

मनोः पुत्रो नाभानेदिष्ठो नाम बालको गुरुगृहे 'ब्रह्मचर्यं वसति'-उपनीतः सन् वेदमध्येतुं तत्र तिष्ठति। तदानीं तस्य ज्येष्ठभ्रातरो मनोः पितुर्धनं स्वार्थं विभजन्तः, तं बालकं 'निरभजन्' भागरहितमकुर्वन्। बालोऽयं ब्रह्मचारी वेदमेवाभ्यस्यतु किं तस्य धनेनेति मत्वा भागं न दत्तवन्तः। तदानीं 'सः' नाभानेदिष्ठः 'एत्य' वेदाभ्यासं कृत्वा समागत्य भ्रातॄनिदमब्रवीत्- हे भ्रातरः, मह्यं 'किम् अभाक्त' किं नाम वस्तु भागत्वेन यूयं पृथक्त्वेन कृतवन्त इति। ते च भ्रातर 'एतमेव' मनुं पितरं हस्तेन प्रदर्श्य हे नाभानेदिष्ठ! वयं नो जानीमस्तमेव पृच्छेत्यब्रुवन्। कीदृशं मनुम्? 'निष्ठावम्' धनविभागादेर्धर्मरहस्यं निःशेषेण स्थितिर्निर्णयो निष्ठा, सा यस्मिन्नस्ति स निष्ठावः; तादृशं धर्मरहस्यस्य निर्णेतारमित्यर्थः। 'अववदितारम्' ज्येष्ठपुत्रस्यैतावत्, द्वितीयस्यैतावत्, अन्यस्यैतावत्, इत्यवच्छिद्य वेदितुं समर्थोऽववदिता तादृशम्। अयमर्थः- अयं मनुर्धर्मशास्त्रकर्तृत्वाद्धर्मरहस्यनिर्णयवान् पितृत्वेन तवैतावदित्यवच्छिद्य वक्तुं समर्थश्च। तस्मान्मदीयो भागः क इति मनुमेव पृच्छेत्यब्रुवन्। यस्मादस्य भ्रातर एवमुक्तवन्तः, तस्मादिदानीमपि पितरं पुत्रा इत्यनेन प्रकारेण आचक्षते। केन प्रकारेणेति? सोऽभिधीयते-अयं पिता 'निष्ठावः, निर्णयवान्' अस्यैतावदित्यवच्छिद्य वदिता चेति।।

{मनु के पुत्र} नाभानेदिष्ठ मानव जब {वेद पढ़ने के लिए} ब्रह्मचर्याश्रम में निवास कर रहे थे तब उनके {बड़े} भाई ने पिता के धन में भाग देने से उन्हें निराकृत कर दिया। वह {वेदाभ्यास से} आकर {भाइयों से इस प्रकार} बोले- हे भाइयो! मेरे लिए कौन सा भाग अलग किया गया है? {उन भाइयों ने अपने पिता मनु की ओर हाथ दिखाकर} 'इन्हीं धर्मरहस्य-निर्णेता और न्यायप्रदाता {पिता से पूछो}- ऐसा कहा। इसीलिए अभी भी यहाँ पिता को पुत्र इस प्रकार ही 'धर्माधर्म निर्णेता और फैसला करने वाला' कहते हैं।

तत ऊर्ध्वं नाभानेदिष्ठस्य कृत्यं दर्शयति-

स पितरमेत्याब्रवीत्,-त्वां ह वाव मह्यं तताभाक्षुरिति तं पिताऽब्रवीन्मा पुत्रक तदादृथाः,-अङ्गिरसो वा इमे स्वर्गाय लोकाय सत्रमासते, ते षष्ठं षष्ठमेवाहरागत्य मुह्यन्ति, तानेते सूक्ते षष्ठेऽहनि शंसय; तेषां यत्सहस्रं सत्रपरिवेषणं, तत्ते स्वर्यन्तो दास्यन्तीति; तथेति।। इति।

'सः' नाभानेदिष्ठो भ्रातृभिस्तथोक्तः सन् पितरं प्रत्यागत्येदमब्रवीत्,-हे पितर्मह्यं 'त्वां ह वाव' त्वामेव भ्रातरः सर्वेऽपि 'अभाक्षुः' भागमकार्षुः, अतो मदीयो भागस्त्वय्यस्ति, तं मे देहीत्यभिप्रायः। ततः 'तं' नाभानेदिष्ठं 'पिता' मनुरेवमब्रवीत्-हे 'पुत्रक' बालक भ्रातॄणां वचनं 'मा आदृथाः' तस्मिन् वचने आदरं मा कार्षीः। नास्त्येव मद्धस्ते त्वदीयो भागः, सर्वमपि धनं त्वद्भ्रातृभिर्गृहीतम्। तव तु धनप्राप्त्यर्थमेकमुपायं कथयिष्यामि,-अङ्गिरोनामका महर्षयः 'इमे' समीपदेशवर्तिनः स्वर्गार्थं सत्रमनुतिष्ठन्ति, ते पुनः पुनः सत्रमुपक्रम्य, तदा तदा प्राप्तं तत्तत् षष्ठमेवाहरागत्य तत्र तत्र मन्त्रबाहुल्ये 'मुह्यन्ति' भ्रान्ताः सन्तः सत्रसमाप्तिमप्राप्य सर्वदा क्लिश्यन्ति; 'तान्' महर्षीन् षष्ठेऽहनि, त्वं गत्वा 'इदमित्था'-इति 'ये यज्ञेनेति' चैते उभे सूक्ते शंसय; ततः 'तेषाम्' ऋषीणां 'यत्' सहस्रसंख्याकं धनं 'सत्रपरिवेषणं' सत्रार्थं परितः संपादितमस्ति, तत्सर्वमनुष्ठानादूर्ध्वमवशिष्टं धनं 'ते' तुभ्यमङ्गिरसो महर्षयः स्वर्गं प्राप्नुवन्तो दास्यन्तीति। 'तथा' अस्त्विति तत् पितृवचनं नाभानेदिष्ठोऽङ्गीचकार।।

वह {नाभानेदिष्ठ} पिता के पास आकर बोले- हे तात! मेरे भाइयों ने सभी कुछ सम्पत्ति का भाग बांट लिया है और मेरा भाग आपके पास है, उसे दे देवें। उससे पिता {मनु} बोले- हे बालक! भाइयों के वचन का आदर मत करो {मेरे पास तुम्हारा भाग नहीं है; तुम्हारे भाइयों के द्वारा सभी ले लिया गया है। तुम्हारे लिए धन प्राप्त्यर्थ मैं एक उपाय बताता हूँ-} 'ये अङ्गिरा नामक महर्षि {समीपवर्ती देश में} स्वर्ग लोक के लिए सत्र का अनुष्ठान कर रहे हैं। वे पुनः पुनः सत्र का उपक्रम करके {उस-उस समय प्राप्त} उस-उस षष्ठ अहः पर आकर {मन्त्रबाहुल्य के कारण} भ्रान्त हो जाते हैं {अतः सत्र का उपसंहार नहीं कर पाते}। उन महर्षियों को षष्ठ अहः में तुम जाकर इन दो {'इदमित्था' और 'ये यज्ञेन'} सूक्त का शंसन कराओ। उन {ऋषियों} की जो सहस्र संख्याक सत्र की दक्षिणा है उसे {सत्रावसान के बाद} स्वर्गलोक को प्राप्त करते हुए वे तुम्हें {अवशिष्ट धन} दे देंगे।' {उसने कहा-} 'ठीक है।'

अङ्गीकारादूर्ध्वं किं कृतवानित्याशङ्क्य तद्वृत्तान्तं दर्शयति-

तानुपैत्प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधस इति; तमब्रुवन्, किंकामो वदसीतीदमेव वः षष्ठमहः प्रज्ञापयानीत्यब्रवीदथ यद्वा, एतत्सहस्रं सत्रपरिवेषणं, तन्मे स्वर्यन्तो दत्तेति; तथेति; तानेते सूक्ते षष्ठेऽहन्यशंसयत्,-ततो वै ते प्र यज्ञमजानन् प्र स्वर्गं लोकम्।। इति।

'तान्' अङ्गिरसो महर्षीन् 'उपैत्, नाभानेदिष्ठः समीपं प्राप्तवान्, प्राप्य च प्रतिगृभ्णीत'-इत्यादिमन्त्रपादेनैव महर्षीणामग्रे किंचिद्वचनमुक्तवान्। तस्य पादस्यायमर्थः- हे 'सुमेधसः' शोभनमेधायुक्ता अग्निरसः, 'मानवं' मनोः पुत्रं नाभानेदिष्ठाख्यं मां 'प्रतिगृभ्णीत' यूयं स्वीकुरुतेति। तथा वदन्तं नाभानेदिष्ठं प्रति मुनय इदमब्रुवन्,-हे नाभानेदिष्ठ! 'किंकामः' कीदृगपेक्षायुक्तः सन्नस्मान् प्रत्येवं वदसि? इति। ततः स नाभानेदिष्ठोऽब्रवीत्,-हे महर्षयः 'वः' युष्माकमिदमेव षष्ठमहः 'प्रज्ञापयानि' प्रकर्षेण बोधयामीति; 'अथ' बोधनानन्तरं 'सत्रपरिवेषणं' भवद्भिः सत्रार्थं संपादितमनुष्ठानादूर्ध्वमवशिष्टं यदेतत्सहस्रसंख्याकं धनमस्ति, तत् सर्वं यूयं 'मे' मह्यं स्वर्गं प्रति गच्छन्तो दत्तेति। 'तथेति' मुनिभिरङ्गीकृते सति 'तान्' मुनीन्, 'एते' उभे सूक्ते षष्ठेऽहन्यशंसयत्; तत एव 'ते' मुनयो यज्ञं प्रकर्षेण 'अजाजन्' ज्ञातवन्तः; तदनुष्ठानेन स्वर्गं लोकमपि प्राजानन्।।

उन {महर्षियों} के पास {नाभानेदिष्ठ} गए और इस प्रकार कहा- हे शोभन मेधा वाले अङ्गिराओं, मनु के पुत्र {नाभानेदिष्ठ} को आप स्वीकार करें। {इस प्रकार कहते हुए} उनसे मुनियों ने कहा- किस अपेक्षा बुद्धि से तुम इस प्रकार कह रहे हो? तब नाभानेदिष्ठ ने कहा- हे महर्षियों, आप लोगों को 'यही षष्ठ अहः है' ऐसा ज्ञान कराऊंगा और षष्ठ अहः के ज्ञान के बाद आप द्वारा सत्रार्थ सम्पादित अनुष्ठान के बाद अवशिष्ट जो सहस्र संख्याक धन है उस सबको मुझे स्वर्ग के प्रति जाते हुए देवें। उन्होंने कहा- 'ठीक है।' उन मुनियों ने इन दोनों सूक्तों को छठवें दिन शंसन किया। उसके बाद से ही उन मुनियों को यज्ञ का प्रकृष्ट रूप से ज्ञान हुआ और उस अनुष्ठान से स्वर्ग लोक का भी ज्ञान हुआ।

सूक्तद्वयं प्रशस्य तद्विधिं निगमयति-

तद्यदेते सूक्ते षष्ठेऽहनि शंसति, यज्ञस्य प्रज्ञात्यै, स्वर्गस्य लोकस्यानुख्यात्यै।। इति।

यस्मात् सूक्तद्वयशंसनेनाङ्गिरोभिर्यज्ञः स्वर्गश्च प्रज्ञातः, तस्माद्धोता तदुभयं शंसेत्, तच्च यज्ञस्वर्गयोरवगमाय भवति।।

{क्योंकि सूक्त द्वय के शंसन के द्वारा अङ्गिराओं ने यज्ञ और स्वर्ग का ज्ञान प्राप्त किया। इसलिए होता} इन दोनों सूक्तों का शंसन करता है जो यज्ञ के प्रकृष्ट रूप से ज्ञान के लिए और स्वर्गलोक के अवगम के लिए होता है।

पुनरपि सूक्तयोर्महिमानं दर्शयितुमुपाख्यानमेवाह-

तं स्वर्यन्तोऽब्रुवन्नेतत् ते ब्राह्मण सहस्रमिति, तदेनं समाकुर्वाणं पुरुषः कृष्णशवास्युत्तरत उपोत्थायाब्रवीन्मम वा इदं मम वै वास्तुहमिति, सोऽब्रवीन्मह्यं वा इदमदुरिति, तमब्रवीत् तद्वै नौ तवैव पितरि प्रश्न इति; स

पितरमैत् तं पिताऽब्रवीन्ननु ते पुत्रकादूइरित्यदुरेव म इत्यब्रवीत् तत्तु मे पुरुषः कृष्णशवास्युत्तरत उपोदतिष्ठन्मम वा इदं मम वै वास्तुहमित्यादितेति; तं पिताऽब्रवीत्-तस्यैव पुत्रक तत्तु स तुभ्यं दास्यतीति; स पुनरेत्याब्रवीत्-तव ह वाव किल भगव इदमिति मे पिताऽऽहेति सोऽब्रवीत्-तदहं तुभ्यमेव ददामि य एव सत्यमवादीरिति।। इति।

'तं' नाभानेदिष्ठं 'स्वर्यन्तः' स्वर्गं प्राप्नुवन्तोऽङ्गिरसोऽब्रुवन्- हे 'ब्राह्मण' नाभानेदिष्ठ 'एतद्' गोसहस्रं यज्ञभूमाववशिष्टं 'ते' तुभ्यं दत्तमिति शेषः। अत्र शाखान्तरानुसारेण गोसहस्रमित्यर्थो लभ्यते। शाखान्तरे चैवमाम्नायते- 'ते सुवर्गं लोकं यन्तो य एषां पशव आसंस्तानस्मा अददुः इति। 'तद्' गोसहस्रं 'समाकुर्वाणं' सम्यगात्मसांत्कुर्वन्तम् 'एनं' नाभानेदिष्ठं कश्चित्पुरुषो यज्ञभूमेरुत्तरतः 'उपोत्थाय' समीप एवोत्थितो भूत्वेदमब्रवीत्-कीदृशः पुरुषः? 'कृष्णशवासी' अतिशयेन कृष्णं मलिनं वस्त्रं 'कृष्णशं' तद्वस्ते आच्छादयतीति कृष्णशवासी। अत्रायं मलिनवस्त्रः पुरुषः पशुस्वामी रुद्र इत्यवगन्तव्यम्। तथा च शाखान्तरे पठ्यते- 'तं पशुभिश्चरन्तं यज्ञवास्तौ रुद्र आगच्छत्' इति। स रुद्रः किमब्रवीदिति, तदभिधीयते- हे नाभानेदिष्ठ 'इदं' पशुसहस्रं ममैव स्वम्। तत्रेयमुपपत्तिः, 'वास्तुहं' वास्तौ यज्ञभूमौ हीनं कर्मान्ते परित्यक्तं वास्तुहं, तादृशं सर्वं ममैव स्वमिति सर्वत्र स-प्रतिपन्नमिति। एवं पुरुषेणोक्तः स नाभानेदिष्ठः पुनरेनमब्रवीत्- हे रुद्रः मह्यमेवेदं सहस्रमङ्गिरसो दत्तवन्त इति। तं तथा वदन्तं नाभानेदिष्ठं पुनः पुरुषोऽब्रवीत्- हे नाभानेदिष्ठ, 'तद्वै' तस्मिन्नेव त्वदीयं मदीयमिति सन्देहे सति 'नौ' आवयोरुभयोरपि 'तवैव पितरि' मवौ निर्णयार्थ प्रश्नोऽस्त्विति। ततः 'सः' नाभानेदिष्ठः पितरं प्रष्टुम् 'ऐत्' आगतवान्। स पिता तेन पृष्टस्तमब्रवीत्- हे 'पुत्रक' बालक तुभ्यमङ्गिरसो महर्षयः 'अदुः' ननु दत्तवन्तः किम्? प्लुतिः प्रश्नार्था। एवं पित्रा पृष्टः स नाभानेदिष्ठः 'मे' मह्यम् 'अदुरेव' दत्तवन्त एवेत्यब्रवीत्। तर्हि कस्तव विचारः? इत्याशङ्किते स नाभानेदिष्ठ एवमुवाच- ते महर्षयो दत्तवन्त एव, किं तु तद्गोसहस्रं कश्चित्पुरुषो मलिनवस्त्रः सन् यज्ञभूमेरुत्तरत उत्थाय, 'इदं' गोसहस्रं ममैव स्वं, यज्ञवास्तौ हीनत्वादित्यभिधाय 'आदिता' आदानं कृतवान्, अपहृतवानित्यर्थः। तथा ब्रुवन्तं पुत्रं प्रति पिता अब्रवीत्- हे 'पुत्रक' शिशो 'तद्' यज्ञवास्तौ हीनं गोसहस्रं तस्यै रुद्रस्य स्वं, पशुपतित्वात् यज्ञावशिष्टस्वामित्वाच्च; किन्तु तथा सत्यपि तव हानिर्नास्ति, 'सः' रुद्रः 'तद्' गोसहस्रं तुभ्यं दास्यतीति। यज्ञकाले तत्सर्वमङ्गिरसां धनं भवति, समाप्ते तु यज्ञे यदवशिष्टं, तस्य रुद्र एव स्वामीति नाङ्गिरसां दातुमधिकारोऽस्तीत्यभिप्रायः। तथा रुद्रवचनं शाखान्तर एवमाम्नायते- 'न वै तस्य तदीशत इत्यब्रवीद् यज्ञवास्तौ हीयते मम वै तत्' इति। ततो दास्यतीति वचनं श्रुत्वा 'सः' नाभानेदिष्ठः पुनरपि रुद्रस्य समीपमेत्येदमब्रवीत्- हे 'भगवन्' पूज्य! रुद्र! 'तव ह वाव किल' तवैव सर्वम् 'इदं' स्वमिति मदीयः पिता अहेति। ततः 'सः' रुद्रोऽब्रवीत्- हे नाभानेदिष्ठ! 'तत्' सर्वं तुभ्यमेव ददामि, यस्त्वं सत्यमेवावादीः, न त्वनृतमुक्तवानसि, तस्मात् परितोषात् सत्यवादिने तुभ्यमेव ददामीति।।

उस {नाभानेदिष्ठ} से स्वर्ग को जाने के लिए उद्युक्त हुए अङ्गिराओं ने कहा- हे ब्राह्मण! यह {यज्ञभूमि में अवशिष्ट गो-} सहस्र तुम्हारे लिए है। {गो-सहस्र को} सम्यक् रूप से इकट्ठा करने वाले इस {नाभानेदिष्ठ} से अत्यन्त काला कपड़ा पहने हुए यज्ञभूमि के उत्तर की ओर समीप ही उठकर कोई पुरुष बोला- यह मेरा है, यज्ञभूमि में परिव्यक्त वस्तु सभी मेरी है। तब उस {नाभानेदिष्ठ} ने कहा- 'यह मुझे उन {अङ्गिराओं} ने दिया है।' उससे {पुनः पुरुष ने} कहा- हे नाभानेदिष्ठ, तब 'यह हम दोनों का है'- इस संदेह के निर्णयार्थ तुम्हारे पिता से प्रश्न किया जाय। वह पिता के पास आया। {पूंछने पर} पिता ने कहा- हे बालक, तुम्हें क्या अङ्गिराओं ने नहीं दिया? {पिता के इस प्रकार पूंछने पर उसने} 'मुझे दिया ही था'-इस प्रकार कहा। {तब क्या हुआ? ऐसा पूंछने पर उसने कहा} -'एक पुरुष काला वस्त्र पहने हुए उत्तर की ओर से समीप ही उठकर- 'यह मेरा है, यज्ञभूमि में परित्यक्त सभी वस्तु मेरी है'- ऐसा कहते हुए उसे ले लिया। उससे पिता ने कहा- {पशुपति होने से} हे बालक वह {गो सहस्र} उन्हीं {रुद्र} का है। {फिर भी कोई हानि नहीं है} वह तुम्हें ही दे देंगे। वह पुनः रुद्र के समीप आकर बोला-'हे भगवन् रुद्र! तुम्हारी ही सभी वस्तु है' - ऐसा मेरे पिता ने कहा है। तब उन {रुद्र} ने कहा- 'हे नाभानेदिष्ठ, उस सभी को मैं तुम्हें ही देता हूँ क्योंकि तुमने सत्य कहा है।

इत्थमुपाख्यानं परिसमाप्य प्रसङ्गात् पुरुषार्थत्वेन सत्यवदनं विधत्ते-

तस्मादेवंविदुषा सत्यमेव वदितव्यम्।। इति।

'एवं विदुषा' सत्यस्य श्रेयोहेतुत्वं जानता।।

इसलिए विद्वान् को सदैव सत्य ही बोलना चाहिए।

उपाख्यानस्य सर्वस्य तात्पर्यं दर्शयति-

स एष सहस्रसनिर्मन्त्रो यन्नाभानेदिष्ठः।। इति।

नाभानेदिष्ठेन महर्षिणा दृष्टो यो मन्त्रसमूहः, स एषः 'सहस्रसनिः' सहस्रसंख्याकस्य वस्तुनः सनिर्लाभो यस्मिन् मन्त्रे सोऽयं सहस्रसनिः।।

जो नाभानेदिष्ठ महर्षि द्वारा दृष्ट मन्त्रसमूह हैं वह यह सहस्र {संख्याक वस्तु} का लाभ कराने वाले हैं।

वेदनं प्रशंसति-

उपैनं सहस्रं नमति प्र षष्ठेनाह्ना स्वर्गं लोकं जानाति य एवं वेद।।६।। इति।

'एन' वेदितारं सहस्रसंख्याकं धनम् 'उपनमति' प्राप्नोति, स च कालान्तरे षष्ठमहरनुष्ठाय तेन स्वर्गं लोकं प्रजानाति।।

जो इस प्रकार जानता है वह सहस्रसंख्याक धन प्राप्त करता है और षष्ठ अहः का अनुष्ठान करके उससे स्वर्ग लोक का ज्ञान प्राप्त करता है।

मेरा व्याख्यान

इस पर मेरा भाष्य=व्याख्यान इस प्रकार है-

१. नाभानेदिष्ठं शंसति।।
नाभानेदिष्ठं वै मानवं ब्रह्मचर्यं वसन्तं भ्रातरो निरभजन् सोऽब्रवीदेत्य किं मह्यमभाक्तेत्येतमेव निष्ठावमववदितारमित्यब्रुवंस्तस्माद्धाप्येतर्हि पितरं पुत्रा निष्ठावोऽववदितेत्येवाचक्षते।।
स पितरमेत्याब्रवीत्,-त्वां ह वाव मह्यं तताभाक्षुरिति तं पिताऽब्रवीन्मा पुत्रक तदादृथाः,-अङ्गिरसो वा इमे स्वर्गाय लोकाय सत्रमासते, ते षष्ठं षष्ठमेवाहरागत्य मुह्यन्ति, तानेते सूक्ते षष्ठेऽहनि शंसय; तेषां यत्सहस्रं सत्रपरिवेषणं, तत्ते स्वर्यन्तो दास्यन्तीति; तथेति।।

{भ्राता मध्यमोऽस्त्यशनः। भ्राता भरतेर्हरतिकर्मणः। हरते भागं, भर्तव्यो भवतीति वा। तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठोऽस्यायमग्निः (नि.४.२६), भ्राजते दीप्यतेऽसौ भ्राता (उ.को.२.६७)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त **नाभानेदिष्ठ ऋषि प्राण** द्वारा उत्पन्न सूक्त रूप रश्मिसमूहों की उत्पत्ति की चर्चा करने के पश्चात् महर्षि **नाभानेदिष्ठ ऋषि प्राण** के विषय में विस्तार से चर्चा करते हैं।।

नाभानेदिष्ठ ऋषि प्राण, जिसके विषय में हम संक्षिप्त रूप से पूर्व में चर्चा कर चुके हैं, के विषय में विशेष चर्चा प्रारम्भ करते हैं। **'घृम्'** रश्मियों से युक्त प्राण रश्मियों से उत्पन्न होकर यह प्राण रश्मि, ब्रह्मचर्य में वास करती है **{ब्रह्म = प्राणापानो ब्रह्म (गो.पू.२.११), ब्रह्म वै वाचः परमं व्योम (तै.ब्रा.३.६.५.५), तद् इदमन्तरिक्षम् (जै.उ.२.३.३.६)}** अर्थात् प्राणापान रश्मियों से युक्त आकाश तत्त्व में **'ओम्'** इस सूक्ष्मतम छन्द रश्मि के साथ संयुक्त होकर विचरण करती है। उस समय यह रश्मि सूक्ष्म विद्युत् के रूप में विद्यमान होती है, तभी भ्राता नामक पदार्थ अर्थात् कामनाशील बलों और दीप्ति

से युक्त मध्य-स्थानीय वायु अर्थात् अन्तरिक्ष में व्याप्त त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां **{मध्यम् = त्रिष्टुप्छन्द इन्द्रो देवता मध्यम् (श.१०.३.२.५)}** एवं **'घृम्'** रश्मियों के साथ सम्बद्ध हुआ अग्नि इन दोनों भ्रातृ-तत्त्वों के द्वारा वह नाभानेदिष्ठ सूक्ष्म प्राण दूर हटाया अर्थात् प्रतिकर्षित किया जाता है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि जब नाभानेदिष्ठ ऋषि प्राण त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के साथ ही सदैव संयुक्त रहता है, तब वे त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां ही उसे कैसे पृथक् वा प्रतिकर्षित कर सकती हैं? इसके उत्तर में हमारा मत यह है कि जब त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां **'घृम्'** रश्मियों से संयुक्त अग्नि तत्त्व किंवा प्राण रश्मियों के संपर्क में आती हैं, उस समय नाभानेदिष्ठ ऋषि प्राण रश्मियां त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों से कुछ पृथक् रहती हुई आकाश में विचरण करने लगती हैं। उस परिस्थिति में वे त्रिष्टुप् आदि रश्मियां उन नाभानेदिष्ठ रश्मियों को अपने बलादि गुणों से निराकृत कर देती हैं। यहाँ महर्षि ने संवाद की शैली में कहा है, जिसका आशय निम्न प्रकार है- वे नाभानेदिष्ठ ऋषि रश्मियां त्रिष्टुप् आदि छन्द रश्मियों से बल प्राप्त करने के लिए उनकी ओर आकर्षित होने का प्रयास करने लगती हैं, तब वे त्रिष्टुबादि रश्मियां उन नाभानेदिष्ठ रश्मियों को **'निष्ठाव'** एवं **'अववदिता'** नामक पितर की ओर प्रेषित करती है। यहाँ **'निष्ठाव'** और **'अववदिता'** पितर उन्हीं प्राण तत्त्वों के नाम हैं, जिनसे नाभानेदिष्ठ एवं त्रिष्टुबादि रश्मियों की उत्पत्ति होती है। जैसा कि हम पूर्वखण्ड में लिख चुके हैं कि **'घृम्'** रश्मियों से युक्त प्राण रश्मियां ही इन्हें उत्पन्न करती हैं। ये रश्मियां अपने कार्यों में नितराम् दृढ़ होकर असुरादि रश्मियों से सर्वथा अप्रभावित रहते हुए डटी रहती हैं। इस कारण इन्हीं को **'निष्ठाव'** कहा गया है। ये रश्मियां ही विभिन्न रश्मियों को निगृहीत करके गति प्रदान करती हैं, साथ ही ये उनको सक्रिय एवं प्रकाशित भी करती हैं, इस कारण ही इन्हें अववदिता भी कहा गया है। **{अववदिता = (अववादः = सहारा, आश्रय - आप्टेकोष)}** ये रश्मियां उन रश्मियों को आश्रय भी प्रदान करती हैं। यहाँ हमारा यह भी मत है कि ऐसी स्थिति में इन प्राण रश्मियों में मनस्तत्त्व का भाग विशेष होता है, इसी कारण ये रश्मियां अपनी परिव्याप्ति से सर्वत्र गमनशील रहती हैं अथवा सर्वत्र विद्यमान रहती हैं। इस सृष्टि में सभी प्राणादि रश्मियां अपने पितररूप मनस्तत्त्व एवं **'घृम्'** रश्मियों से युक्त प्राण नामक प्राथमिक प्राण रश्मियों की ओर उन्मुख रहती हैं और वे ही मनस्तत्त्व के गुण व प्रभावों को अति सूक्ष्म स्तर पर व्यक्त करने का साधन होती हैं।।+।।

इस कण्डिका में भी **नाभानेदिष्ठ ऋषि प्राण** रश्मियों और इनकी पितररूप प्राण रश्मियों के मध्य संवाद दर्शाया गया है, जिसका हिन्दी अनुवाद करते हुए डॉ. सुधाकर मालवीय ने लिखा है-

''वह (नाभानेदिष्ठ) पिता के पास आकर बोले - हे तात! मेरे भाइयों ने सभी कुछ सम्पत्ति का भाग बांट लिया है और मेरा भाग आपके पास है, उसे दे देवें। उससे पिता (मनु) बोले - हे बालक! भाइयों के वचन का आदर मत करो {मेरे पास तुम्हारा भाग नहीं है, तुम्हारे भाइयों के द्वारा सभी ले लिया गया है। तुम्हारे लिए धन प्राप्त्यर्थ मैं एक उपाय बताता हूँ-} 'ये अङ्गिरा नामक महर्षि {समीपवर्ती देश में} स्वर्ग लोक के लिए सत्र का अनुष्ठान कर रहे हैं। वे पुनः-२ सत्र का उपक्रम करके {उस-२ समय प्राप्त} उस-२ **षष्ठ अहः** में आकर {मन्त्रबाहुल्य के कारण} भ्रान्त हो जाते हैं {अतः सत्र का उपसंहार नहीं कर पाते}। उन महर्षियों को **षष्ठ अहः** में तुम जाकर इन दो {इदमित्था' और 'ये यज्ञेन'} सूक्त का शंसन कराओ। उन {ऋषियों} की जो सहस्र संख्याक सत्र की दक्षिणा है, उसे {सत्रावसान के बाद} स्वर्गलोक को प्राप्त करते हुए वे तुम्हें {अवशिष्ट धन} दे देंगे। {उसने कहा-} ठीक है।।''

इस प्रकार का संवाद प्रस्तुत करके कठिन विषय को सरलता से समझाने की शैली अनेक ऋषियों की रही है। इसी शैली का यह एक उत्तम उदाहरण है, जिसका वास्तविक रहस्य निम्नानुसार है-

पूर्वोक्त नाभानेदिष्ठ ऋषि प्राण रश्मियां, जो त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों एवं **'घृम्'** रश्मिमिश्रित अग्नि तत्त्व द्वारा दूर हटायी गई थीं, वे अपनी उत्पादिका **'घृम्'** रश्मियों एवं मनस्तत्त्व से विशेष सम्पृक्त प्राण रश्मियों की ओर उन्मुख होती हैं। इसके प्रभाव से नाभानेदिष्ठ प्राण रश्मियां अपनी प्रतिकर्षक त्रिष्टुबादि रश्मियों के प्रतिकर्षण बल की उपेक्षा वा तिरस्कार करने में समर्थ होने लगती हैं। इसके साथ ही वे नाभानेदिष्ठ रश्मियां विभिन्न द्युलोकों की निर्माण प्रक्रिया में उत्पन्न हो रही विभिन्न छन्द रश्मियों को उत्पन्न करने वाली प्राण एवं **सूत्रात्मा वायु** की ओर उन्मुख हो जाती हैं। इस **षष्ठ अहन् अर्थात् देवदत्त प्राण** के उत्कर्ष काल में जो छन्द रश्मियां उत्पन्न हो रही होती हैं, वे अनेक देवता एवं अनेक ऋषि प्राणों से उत्पन्न होने तथा संख्या में बहुत अधिक होने के कारण प्रायः भ्रान्त एवं अव्यवस्थित हो जाती हैं। उनमें परस्पर कई बार असंगति उत्पन्न हो जाती है, उस स्थिति में नाभानेदिष्ठ, देवदत्त प्राण एवं

उसके उत्कर्षकाल में उत्पन्न होने वाली विभिन्न छन्द रश्मियों की ओर प्रवाहित होता है। उसके पश्चात् ही पूर्व खण्ड की अन्तिम कण्डिका में वर्णित-

इदमित्था रौद्रं गूर्तवचा ब्रह्म क्रत्वा शच्यामन्तराजौ।
क्राणा यदस्य पितरा मंहनेष्ठाः पर्षत्पक्थे अहन्ना सप्त होतॄन्।।१।।

इत्यादि ऋ.१०.६१. सूक्त एवं

ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानश।
तेभ्यो भद्रमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः।।१।।

इत्यादि ऋ.१०.६२ सूक्त रूप छन्द रश्मिसमूहों की उत्पत्ति इसी नाभानेदिष्ठ प्राण से होती है। इस विषय को अगली कण्डिका में विशेषतया प्रस्तुत किया है। यहाँ इनके संकेत का तात्पर्य यह है कि इन सूक्त रूप रश्मिसमूहों को उत्पन्न करने की प्रेरणा नाभानेदिष्ठ ऋषि प्राण की पूर्वोक्त पितररूप रश्मियों से ही मिलती है। इन रश्मियों के कारण ही असंख्य प्रकार की सृजन व संयोग प्रक्रियाएं सब ओर व्याप्त होती हुई द्युलोकों के केन्द्रीय भाग रूपी स्वर्गलोक को उत्पन्न करने में सहयोग करती हैं।।

विशेष- इसका वैज्ञानिक भाष्यसार खण्ड के अन्त में एक साथ किया जाएगा।

२. तानुपैत्प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधस इति; तमब्रुवन्, किंकामो वदसीतीदमेव वः षष्ठमहः प्रज्ञापयानीत्यब्रवीदथ यद्वा, एतत्सहस्रं सत्रपरिवेषणं, तन्मे स्वर्यन्तो दत्तेति; तथेति; तानेते सूक्ते षष्ठेऽहन्यशंसयत्,-ततो वै ते प्र यज्ञमजानन् प्र स्वर्गं लोकम्।।
तद्यदेते सूक्ते षष्ठेऽहनि शंसति, यज्ञस्य प्रज्ञात्यै, स्वर्गस्य लोकस्यानुख्यात्यै।।
तं स्वर्यन्तोऽब्रुवन्नेतत् ते ब्राह्मण सहस्रमिति तदेनं समाकुर्वाणं पुरुषः कृष्णशवास्युत्तरत उपोत्थायाब्रवीन्मम वा इदं मम वै वास्तुहमिति, सोऽब्रवीन्मह्यं वा इदमदुरिति, तमब्रवीत् तद्वै नौ तवैव पितरि प्रश्न इति; स पितरमैत् तं पिताऽब्रवीन्ननु ते पुत्रकादूश्रित्यदुरेव म इत्यब्रवीत् तत्तु मे पुरुषः कृष्णशवास्युत्तरत उपोदतिष्ठन्मम वा इदं मम वै वास्तुहमित्यादितेति; तं पिताऽब्रवीत तस्यैव पुत्रक तत्तत्तु स तुभ्यं दास्यतीति; स पुनरेत्याब्रवीत्-तव ह वाव किल भगव इदमिति मे पिताऽऽहेति सोऽब्रवीत्-तदहं तुभ्यमेव ददामि य एव सत्यमवादीरिति।।
तस्मादेवंविदुषा सत्यमेव वदितव्यम्।।
स एष सहस्रसनिर्मन्त्रो यन्नाभानेदिष्ठः।।
उपैनं सहस्रं नमति प्र षष्ठेनाह्ना स्वर्गं लोकं जानाति य एवं वेद।।६।।

व्याख्यानम्- नाभानेदिष्ठ ऋषि प्राण द्वारा पूर्वोक्त दोनों सूक्तरूप छन्द रश्मिसमूहों की उत्पत्ति की प्रक्रिया को बतलाते हुए कहते हैं कि सर्वप्रथम नाभानेदिष्ठ ऋषि प्राण पूर्वोक्त देवदत्त आदि अनेक ऋषि प्राण रश्मियों की ओर अग्रसर होते ही

ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानश।
तेभ्यो भद्रमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः।।१।। (ऋ.१०.६२.१)

के भाग **"प्रति गृभ्णीत मानवं सुऽमेधसः"** की उत्पत्ति सर्वप्रथम करता है। इसके प्रभाव से **सूत्रात्मा वायु** रश्मियां उन नाभानेदिष्ठ प्राण रश्मियों को अपने साथ अच्छी प्रकार संगत करने लगती हैं। इसके साथ ही **देवदत्त प्राण** एवं उसके उत्कर्ष काल में सभी सक्रिय ऋषि प्राण रश्मियों के साथ भी नाभानेदिष्ठ प्राण रश्मियों का आकर्षण होने लगता है। इसके फलस्वरूप नाभानेदिष्ठ प्राण रश्मियां द्युलोकों के निर्माण की प्रक्रिया में विभिन्न छन्द रश्मियों की अव्यवस्था एवं असंगतता को दूर करने का प्रयत्न करती हैं। **सूत्रात्मा वायु** एवं देवदत्त आदि ऋषि प्राण रश्मियों के साथ नाभानेदिष्ठ प्राण रश्मियों का संयोग दृढ़तर और व्यापक करने के लिए ही पूर्वोक्त दोनों सूक्त रूप रश्मिसमूहों की उत्पत्ति नाभानेदिष्ठ प्राण रश्मियों से होती है। इसके कारण वे सभी प्राण रश्मियां सभी प्रकार की सृजन प्रक्रियाओं को सम्यग् रूप से सम्पादित करते हुए द्युलोकों के केन्द्रीय भागों का निर्माण सुगमता से करने लगती हैं। इन दोनों ही सूक्त रूप रश्मिसमूहों के उत्पन्न होने पर ही **देवदत्त प्राण** के उत्कर्ष काल में उत्पन्न होने वाली सभी छन्दादि रश्मियां पूर्ण संगति के साथ प्रकाशित होती हुई नाना पदार्थों को उत्पन्न करने में समर्थ हो पाती हैं और फिर इसके कारण ही द्युलोकों के केन्द्रीय भागों में विद्यमान पदार्थ अनुकूल तेज और बल को प्राप्त करके अपनी घूर्णन दिशाओं को भी निर्धारित और व्यवस्थित करने में सहयोग प्राप्त करता है, जिसके कारण कालान्तर में सम्पूर्ण द्युलोक विधिवत् निर्मित और प्रकाशित तथा गतिशील हो पाते हैं। इन सभी क्रियाओं में उपर्युक्त दोनों ही सूक्त रूप रश्मिसमूहों का विशेष योगदान है, जिसके कारण ही सम्पूर्ण पदार्थ में संसर्ग प्रक्रियाएं तीव्रता से होने लगती हैं।।+।।

जब **नाभानेदिष्ठ ऋषि प्राण** पूर्वोक्त दोनों सूक्त रूप रश्मिसमूहों को उत्पन्न कर देते हैं, तब **नाभानेदिष्ठ प्राण** तत्त्व का क्या होता है, इस बात को यहाँ स्पष्ट किया गया है। **{सहस्रम् = बहुनाम (निघं.३.१), सहस्वत् (नि.३.१०), पशवः सहस्रम् (तां.१६.१०.१२), परमं सहस्रम् (तां.१६.६.२)} षष्ठ अहन् अर्थात् देवदत्त प्राण** के उत्कर्ष काल में जब पूर्वोक्त क्रियाएं सुसंगत और सुव्यवस्थित होने लगती हैं और नाभानेदिष्ठ प्राण रश्मियां अनेक बलवती मरुद् व छन्द रश्मियों को एकत्र करना प्रारम्भ करती हैं, तब कृष्ण-शवासी अर्थात् ऐसे ज्योतिर्मय विकिरण, जो आकर्षण शक्ति से सम्पन्न होते हैं अथवा ऐसे अप्रकाशित परमाणु, जो तीव्र आकर्षण बलों से सम्पन्न होते हैं, उन लोकों की उत्तर दिशा से आती हुई उन बलयुक्त मरुद् वा छन्द रश्मियों को अपनी ओर तीव्रता से आकर्षित करने लगते हैं। वे अनेक प्रकार के विद्युदग्नि सम्पन्न परमाणुओं को भी अपनी ओर आकृष्ट करने लगते हैं, जिसके कारण वे आकृष्ट होते हुए परमाणु वा रश्मि आदि पदार्थ नाभानेदिष्ठ ऋषि प्राणों के नियन्त्रण से पृथक् होकर कृष्ण-शवासी नामक रश्मियों की ओर द्युलोकों के केन्द्रीय भाग के विपरीत दिशा में चल पड़ते हैं। यहाँ डॉ. सुधाकर मालवीय ने षड्गुरुशिष्य को उदधृत् करते हुए पाद-टिप्पणी में लिखा है- "कृष्णमित्येव मन्य इति धानंजय्य"। षड्गुरुशिष्य के वचन का आशय आचार्य सायण अथवा डॉ. मालवीय ने कुछ भी नहीं समझा। हमारी दृष्टि में षड्गुरुशिष्य के वचन से यह संकेत मिलता है कि कृष्ण-शवासी नामक रश्मियां वा परमाणु आदि पदार्थ धनंजय प्राण रश्मियों के द्वारा प्रेरित और बलवान् होते हैं। ये कृष्ण-शवासी नामक पदार्थ अतितीव्र होते हैं। इस विषय में एक अन्य ऋषि का कथन है- **"ते सुवर्गं लोकं यन्तो य एषां पशव आसन् तानस्मा अददुस्तं पशुभिश्चरन्तं यज्ञवास्तौ रुद्र आऽगच्छत्..." (तै.सं. ३.१.६.५)**। इस कथन से स्पष्ट होता है कि **महर्षि तित्तिर** ने कृष्ण-शवासी नामक पदार्थ को ही यहाँ **'रुद्र'** कहा है। इससे स्पष्ट होता है कि यह पदार्थ अति तीक्ष्ण होता है, जो त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों की भांति विशेष तीव्र बलों से युक्त होता है। रुद्र को पशुपति भी कहते हैं, जैसा कि कहा गया है- **"रुद्र पशुनाम् पते" (तै.ब्रा.३.११.४.२)**। इस विषय में ऋषियों का यह भी कथन है- **(उदीची) वै रुद्रस्य दिक् (तै.ब्रा.१.७.८.६), एषा (उदीची) ह्येतस्य देवस्य (रुद्रस्य) दिक् (श.२.६.२.७)**। इन प्रमाणों से भी यही संकेत मिलता है कि द्युलोकों के अन्दर इन रुद्ररूप कृष्ण-शवासी पदार्थों का स्थान उत्तर दिशा में ही होता है। इस रुद्र पदार्थ के द्वारा आकर्षित परमाणु वा रश्मि आदि पदार्थ द्युलोक के केन्द्र की ओर स्थित नाभानेदिष्ठ ऋषि प्राण और उत्तर दिशा से आते हुए रुद्ररूप कृष्ण-शवासी दोनों की ओर दोलायमान होने लगते हैं। उसके पश्चात् नाभानेदिष्ठ ऋषि के पितृरूप मनस्तत्त्व एवं **'घृम्'** रश्मियों से सम्पृक्त प्राण रश्मियों की प्रेरणा से वह दोलायमान पदार्थ कृष्ण-शवासी पदार्थ के नियन्त्रण में आ जाता है। यहाँ महर्षि ने उस दोलायमान पदार्थ को **'वास्तु'** कहा है। इसके विषय में **महर्षि याज्ञवल्क्य** का कथन है- **"अवीर्यम् वै वास्तु" (श.१.७.३.१७)**।

इससे संकेत मिलता है कि दोलायमान होते पदार्थ अल्पतर तेज और बलयुक्त होते हैं, जिसके

कारण वे नाभानेदिष्ठ और कृष्ण-शवासी दोनों की ओर झूलते रहते हैं। वे नाभानेदिष्ठ की उत्पादिका रश्मियों के बल के कारण ही कृष्ण-शवासी पदार्थ के अधिकार में आते हैं। उसके पश्चात् वे पदार्थ कृष्ण-शवासी पदार्थ से मुक्त होकर नाभानेदिष्ठ ऋषि प्राणों के नियन्त्रण में आकर अन्य छन्दादि रश्मियों से युक्त होकर तेजस्वी रूप धारण करते हुए द्युलोकों के केन्द्रीय भागों की ओर गमन करने लगते हैं। ऐसा क्यों होता हैं? इसके उत्तर में कहा गया है कि **"सत्यवादी"** होने के कारण ही नाभानेदिष्ठ कृष्ण-शवासी पदार्थ से उन पदार्थों को मुक्त कराने में सफल होता है। निघण्टुकार ने **'वद्'** धातु का प्रयोग गत्यर्थ में करते हुए कहा है- **"वदति गतिकर्मा" (निघं.२.१४)**। उधर सत्य के विषय में ऋषियों का कथन है- **प्राणा वै सत्यम् (श.१४.५.१.२३), सत्यमया उ देवाः (कौ.ब्रा.२.८)**। हमारे मत में यहाँ **'सत्य'** का अर्थ मन एवं **'घृम्'** रश्मियों से सम्पृक्त प्राण रश्मियां ही है। जब वह दोलायमान पदार्थ कृष्ण-शवासी पदार्थ की ओर जाता है, उस समय नाभानेदिष्ठ ऋषि अपने इन पितृरूप सत्य-संज्ञक प्राण रश्मियों की ओर गमन करने लगता है और उसके पश्चात् वह सत्यमय होकर विशेष प्राणवान् अर्थात् बलयुक्त हो जाता है, जिसके कारण वह कृष्ण-शवासी पदार्थ की ओर जाते हुए परमाणु आदि पदार्थों को मुक्त करके अपनी ओर आकर्षित करने में सक्षम होता है।।

इस सृष्टि में विद्वान् अर्थात् सभी सत्तावान् देव पदार्थ सत्य अर्थात् मनस्तत्त्व एवं **'घृम्'** रश्मियों से सम्पृक्त प्राण रश्मियों की ओर गमन करते हुए ही प्रकाशित होने का सामर्थ्य प्राप्त करते हैं अन्यथा कोई भी परमाणु आदि पदार्थ प्रकाशयुक्त अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकता।।

नाभानेदिष्ठ ऋषि प्राण द्वारा जो पूर्वोक्त सूक्त रूप रश्मिसमूहों की उत्पत्ति होती है, उससे निर्माणाधीन द्युलोकों में अनेक छन्द व मरुद् रश्मियां बलवती और सक्रिय होकर सम्पूर्ण प्रक्रियाओं को तीव्र करके असंख्य पदार्थों की उत्पत्ति करने वाली होती हैं। द्युलोकों में **षष्ठ अहन् अर्थात् देवदत्त प्राण** के उत्कर्ष काल में विभिन्न छन्दादि रश्मियों की उत्पत्ति के अन्तिम से कुछ पूर्व काल में जब इन दोनों सूक्त रूप रश्मिसमूहों की उत्पत्ति हो जाती है, तब असंख्य प्रकार के बल से युक्त रश्मियां वज्र सम तेजस्वी होकर असंख्य प्रकार के संयोज्य परमाणु आदि पदार्थों को उत्पन्न करती हैं। इस कारण ही सम्पूर्ण पदार्थ देदीप्यमान सूर्यादि लोकों एवं उनके और भी अधिक तेजस्वी केन्द्रीय भागों का निर्माण करने में सक्षम होते हैं।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- **देवदत्त प्राण** के उत्कर्ष काल में विभिन्न तारों की उत्पत्ति प्रक्रिया में पूर्वोक्त अनेक प्रकार की छन्द रश्मियां उत्पन्न होती हैं। उस समय उनके नाना प्रकार के बल एवं गति आदि व्यवहार कार्य करते हैं। उन सबमें अतीव विभिन्नता एवं विविधता होती है। यह प्रक्रिया अत्यन्त जटिल होने के कारण अनेक रश्मियां एवं कण आदि पदार्थ अतीव विक्षोभ को प्राप्त होते हैं। इस भारी विक्षोभ के कारण वे कण और तरंगें अस्त-व्यस्त एवं असंगत होते रहते हैं। उनको संगत करने के लिए एक लम्बी प्रक्रिया तारों के अन्दर हुआ करती है। तारों के अन्दर **प्राण, मन** एवं **'घृम्'** रश्मियों के संयुक्त रूप में एक सूक्ष्म प्राण रश्मि उत्पन्न होती है। वह प्राण रश्मि जब प्राणापान एवं 'ओम्' रश्मियों से युक्त होकर आकाश में अर्थात् तारों के अन्दर विद्यमान पदार्थ में विचरण करती है, तब उनको कुछ रश्मियां प्रतिकर्षित करते हुए दूर-२ हटाने लगती हैं। उसके पश्चात् यह रश्मि अपनी कारण रश्मियों की प्रेरणा से **देवदत्त प्राण** के उत्कर्ष काल में उत्पन्न एवं सक्रिय विभिन्न छन्द रश्मियों की ओर प्रवाहित होती है। तदुपरान्त इस सूक्ष्म रश्मि से पूर्वखण्ड की अन्तिम कण्डिका में दर्शायी हुई ३८ छन्द रश्मियों को उत्पन्न करती है। ये छन्द रश्मियां पूर्व में उत्पन्न अव्यवस्थित और अस्त-व्यस्त विभिन्न कणों और तरंगों को व्यवस्थित करने में सहयोग करती हैं, इस कारण तारों के अन्दर संलयनीय पदार्थ केन्द्रीय भाग की ओर बढ़ने लगता है परन्तु कुछ पदार्थ न्यून ऊर्जा वाला होने से संलयित नहीं हो पाता और वह तारों के उत्तर दिशा अर्थात् उत्तरी ध्रुव की ओर वहाँ विद्यमान तीव्र विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्र की ओर बढ़ने लगता है। उधर तारे के केन्द्र का आकर्षण बल उसे अपनी ओर खींचता है। उपर्युक्त ३८ छन्द रश्मियों की कारणरूप प्राण रश्मियां तीव्र गुरुत्वाकर्षण बल का भी एक कारण बनती हैं। असंलयित पदार्थ दोनों दिशाओं में दोलायमान होने लगता है। ऐसी स्थिति में **मन, प्राण** एवं **'घृम्'** रश्मियों के तीव्र मिश्रित संयोग से उस पदार्थ की ऊर्जा अत्यधिक बढ़ने लगती है, जो केन्द्रीय गुरुत्वाकर्षण की तीव्रता के रूप में प्रकट होती है। उस गुरुत्वाकर्षण की अति तीव्रता से दोलायमान होता हुआ पदार्थ तारों के केन्द्रीय

भागों की ओर पुनः लौटकर नाभिकीय संलयन प्रक्रिया का भाग बनता है।।

सायण भाष्य व मालवीय अनुवाद

अब देखें खण्ड ५.३२ पर सायण भाष्य एवं डॉ. मालवीय का हिन्दी अनुवाद-

अथाग्निहोत्रमन्त्रप्रसंगाद् बुद्धिस्थस्य सर्वप्रायश्चित्तसंपादकस्य व्याहृतित्रयस्य सृष्टिं वक्तुमुपक्रमते-

प्रजापतिरकामयत प्रजायेय भूयान् स्यामिति, स तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वेमाँल्लोकानसृजत-पृथिवीमन्तरिक्षं दिवं, ताँल्लोकानन्यतपत्, तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रीणि ज्योतींष्यजायन्ताग्निरेव पृथिव्या अजायत, वायुरन्तरिक्षादादित्यो दिवस्तानि ज्योतींष्यभ्यतपत्, तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त,-ऋग्वेद एवाग्नेरजायत, यजुर्वेदो वायोः, सामवेद आदित्यात्; तान् वेदानभ्यतपत् तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रीणि शुक्राण्यजायन्त,-भूरित्येव ऋग्वेदादजायत, भुव इति यजुर्वेदात्, स्वरिति सामवेदात्।। इति।

पुरा प्रजापतिरेको भूत्वा प्रजोत्पादनेन बहुविधः स्यामिति कामयित्वा तत्सिद्ध्यर्थं 'तपः' पर्यालोचनम् 'अकरोत्'। इदं वस्त्वीदृशमिति पर्यालोचनरूपं तपः कृत्वा, पर्यालोचितप्रकारेणोत्पद्यतामिति संकल्प्य, तेन संकल्पेन लोकत्रयमसृजत। ताँल्लोकान् पुनरप्यभितः पर्यालोचितवान् किमेषु लोकेषु सारभूतं संपादनीयमिति? पर्यालोचनम्। तथा पर्यालोचितेभ्यो लोकेभ्यः प्रजापतिः संकल्पानुसारेणाग्निवाय्वादित्यरूपाणि 'ज्योतींष्यजायन्त। तत्रापि सारं पर्यालोच्य त्रिभ्यो ज्योतिभ्र्यो वेदत्रयमुत्पादितवान्। तेभ्यश्च वेदेभ्यो व्याहृतित्रयरूपाणि 'शुक्राणि' ज्योतींषि पापाख्यतमोनिवारणसमर्थान्यजायन्त।।

प्रजापति ने कामना की कि मैं प्रजोत्पादन के द्वारा बहुत हो जाऊँ। उन्होंने तप किया। उन्होंने तप करके इन लोकों को उत्पन्न किया- १. पृथिवी को, २. अन्तरिक्ष को और ३. स्वर्ग को। पुनः उन तीनों लोकों की पर्यालोचना की {अर्थात् इन लोकों में क्या सारभूत सम्पादनीय है?}। उन पर्यालोचित लोकों से {प्रजापति के संकल्प के अनुसार अग्नि, वायु और आदित्य रूप} तीन ज्योतियाँ उत्पन्न हुईं। पृथिवी से अग्नि, अन्तरिक्ष से वायु और द्यौ से सूर्य उत्पन्न हुए। उन तीनों ज्योतियों की पुनः पर्यालोचना की। उन पर्यालोचित ज्योतियों से तीन वेद उत्पन्न हुए। अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद और आदित्य से सामवेद उत्पन्न हुए। उन तीनों वेदों की पुनः पर्यालोचना की। उन पर्यालोचित वेदों से {व्याहृति त्रय रूप में पापरूप तम के निवारणार्थ} तीन ज्योतियाँ उत्पन्न हुईं। ऋग्वेद से 'भूः', यजुर्वेद से 'भुवः' और सामवेद से 'स्वः' {नामक व्याहृति} उत्पन्न हुई।

एवं व्याहृतित्रयस्योत्पत्तिमुक्त्वा प्रणवस्योत्पत्तिमाह-

तानि शुक्राण्यभ्यतपत्; तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वर्णा अजायन्ताकार उकारो मकार इति; तानेकधा समभरत् तदेतदो३मिति, तस्मादोमोमिति प्रणौत्योमिति वै स्वर्गो लोक ओमित्यसौ योऽसौ तपति।। इति।

'तानि' 'शुक्राणि' व्याहृतित्रयरूपाणि ज्योतींषि सारोत्पादनाय पर्यालोचितवान्। 'तेभ्यः' पर्यालोचितेभ्यः प्रजापतिसंकल्पाद् वर्णत्रयमजायत। तच्च त्रयम् 'एकधा' संयोजितवान्। 'तदेतद्' एकीभूतं वर्णत्रयम् 'ओम्' इत्येवं संपन्नम्। तस्मात् सर्वसारत्वाद्धोता यः प्रयोगमध्ये 'ओमिति' प्रणवं करोति। सर्वप्रयोगसंग्रहार्था वीप्सा। सोऽयमोंकारः स्वर्गप्राप्तिहेतुत्वात् तदात्मकः। तथा यः 'असौ' आदित्यस्तपति असावप्योंकारस्वरूपः। आदित्यप्राप्तेरप्योंकारसाधनत्वात्। ओंकारस्य सर्वफलहेतुत्वं कठा आमनन्ति-'एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्' इति।।

{उन्होंने} उन {व्याहृति त्रय रूप} ज्योतियों का पुनः पर्यालोचन किया। उन पर्यालोचित ज्योतियों से तीन वर्ण उत्पन्न हुए- अकार, उकार और मकार। उन्होंने उन तीनों को एक साथ संयोजित कर दिया। वह एकीभूत वर्ण त्रय ही 'ओम्' हुआ। इसलिए होता सभी के सार स्वरूप 'ओम्'- इस प्रणव को प्रयोग के मध्य कहता है। वस्तुतः यह सभी प्रयोग के संग्रहार्थ होता है। वह यह 'ओम्' {स्वर्ग प्राप्ति का कारण होने से} स्वर्ग लोक है, तथा जो यह आदित्य तप रहा है वह भी ओंकार स्वरूप ही है {क्योंकि प्रणव आदित्य की प्राप्ति में साधन रूप है}।

अथ प्रायश्चित्तं विधातुमुपयुक्तमुपाख्यानमाह–

स प्रजापतिर्यज्ञमतनुत; तमाहरत्; तेनायजत; स ऋचैव होत्रमकरोद्, यजुषाऽऽध्वर्यवं, साम्नोद्गीथं यदेतत्त्रय्यै विद्यायै शुक्रं, तेन ब्रह्मत्वमकरोत्।। इति।

पुरा 'प्रजापतिः' स्वेच्छया 'यज्ञमतनुत' विस्तारितवान्। केन प्रकारेणेति? सोऽभिधीयते,-'तं' यज्ञसाधनसमूहमाहृत्य तेन साधनेन यागं कृतवान्। वेदत्रयगतैर्मन्त्रैः क्रमेण हौत्राध्वर्यवौद्गात्राणि निष्पाद्य, ततः 'त्रय्यै विद्यायै' वेदत्रयरूपायां विद्यायां यदेतत् 'शुक्रं' सारं व्याहृतित्रयादिरूपम्, तेन सारेण ब्रह्मत्वं कृतवान्।।

प्रजापति ने यज्ञ का विस्तार किया। उन्होंने उस {यज्ञ के साधन} को प्राप्त किया और उससे यजन किया। उन्होंने ऋक् {मन्त्रों} से होता का काम किया। यजुः {मन्त्रों} से अध्वर्यु का, और साम से उद्गाता का। {वेद त्रय रूप} इन तीन विद्याओं में जो व्याहृतित्रय रूप शुक्र {=सारतत्त्व} था उससे ब्रह्मत्व {ब्रह्मा} का कार्य किया।

अथ ब्रह्मयज्ञवद्देवतायज्ञं दर्शयति–

स प्रजापतिर्यज्ञं देवेभ्यः संप्रायच्छत्, ते देवा यज्ञमतन्वत, तमाहरन्त, तेनायजन्त, त ऋचैव हौत्रमकुर्वन् यजुषाऽऽध्वर्यवं, साम्नोद्गीथं, यदेवैतत् त्रय्यै विद्यायै शुक्रं, तेन ब्रह्मत्वमकुर्वन्।। इति।

पूर्ववाक्यवद् व्याख्येयम्।।

उन प्रजापति ने देवों को यज्ञ दिया। उन देवों ने यज्ञ का विस्तार किया। उन्होंने उस {यज्ञ के साधन} को प्राप्त किया और उससे यजन किया। उन्होंने ऋक् {मन्त्रों} से होता का काम किया। यजुः {मन्त्रों} से अध्वर्यु का और साम से उद्गाता का। {वेद त्रय रूप} इन तीनों विद्याओं में जो {व्याहृति त्रय रूप} शुक्र {=सारतत्त्व} था उससे ब्रह्मा का कार्य किया।

अथ प्रश्नोत्तराभ्यां प्रायश्चित्तं विधत्ते–

ते देवा अब्रुवन् प्रजापतिं,-यदि नो यज्ञ ऋक्त आर्तिः स्यात्, यदि यजुष्टो यदि सामतो यद्यविज्ञाता सर्वव्यापद्वा का प्रायश्चित्तिरिति; स प्रजापतिरब्रवीद्देवान्,-यदि वो यज्ञ ऋक्त आर्तिर्भवति, भूरिति गार्हपत्ये जुहवाथ, यदि यजुष्टो, भुव इत्याग्नीध्रीयेऽन्वाहार्यपचने वा हविर्यज्ञेषु, यदि सामतः, स्वरित्याहवनीये; यद्यविज्ञाता सर्वव्यापद्वा भूभुर्वः स्वरिति सर्वा अनुद्रुत्याऽऽहवनीय एव जुहवाथेति।। इति।

'ते देवाः प्रजापतिं' प्रत्येवमपृच्छन्,- 'नः' अस्मदीये 'यज्ञे यदि' कदाचिद् 'ऋक्तः' ऋङ्मन्त्रात् 'आर्तिः' नाशो भवेत्; तथा यजुर्मन्त्रात् साममन्त्राद्वा कदाचिद् आर्त्तिः स्यात्। एताः सर्वा आर्तयोऽस्माभिर्विज्ञाताः, यदि कदाचिदविज्ञाता काचिदार्तिर्भवेत्। यदि वा सर्वथा यद्वेदत्रयमन्त्रनिमित्ताऽस्माभिर्विज्ञाताऽस्माभिरज्ञाता च सर्वाऽप्यार्तिर्भवेत्। इदानीं प्रायश्चित्तिर्वक्तव्येति देवप्रश्नः। ऋङ्मन्त्रवैकल्ये गार्हपत्ये भूरिति होमः। यजुर्मन्त्रवैकल्ये सत्याग्नीध्रीये धिष्णिये भुव इति होमः। सोऽयं सोमयागे द्रष्टव्यः। हविर्यागे आग्नीध्रीयाभावात्। अग्न्याधेयमग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासावाग्रयणं चातुर्मास्यानि दाक्षायणयज्ञः, कौण्डपायिनामयनं सौत्रामणी वा सप्तमी; त एते हविर्यज्ञाः, तेष्वाग्नीध्रीयाभावात् 'अन्वाहार्यपचने' दक्षिणाग्नौ 'जुहवाथ' हे देवा यूयं जुहुत। सामभ्रेषे स्वरित्याहवनीये होमः। यद्यविज्ञातो भ्रेषः यदि वा वेदत्रयभ्रेषसमुच्चयः तत्रोभयत्रापि भूर्भुवः स्वरित्येतास्तिस्रो व्याहृतीः सर्वा 'अनुद्रुत्य, उच्चार्याऽऽहवनीय एव 'जुहुत'।

{प्रश्न} उन देवों ने प्रजापति से पूछा यदि हमसे ऋग्वेद के मन्त्र में कोई भूल-चूक हो जाये अथवा यजुर्वेद के मन्त्र में या सामवेद के मन्त्र में भूल हो जाय; या अज्ञान में किंवा वेद त्रय के मन्त्रों में सर्वथा भूल हो जाय तो क्या प्रायश्चित है? {उत्तर} उन प्रजापति ने देवों से कहा- 'यदि तुम्हारे यज्ञ में ऋग्वेद से कोई भूल हो जाय तो 'भूः' से गार्हपत्य अग्नि में आहुति देनी चाहिए। यदि यजुः से कोई भूल हो तो 'भुवः' से आग्नीध्रीय {वेदी पर} अग्नि में आहुति देनी चाहिए अथवा {अग्न्याधेय, दर्शपूर्णमासादिक सात} हवि यज्ञों में {जहाँ आग्नीध्रीयाभाव होता है वहाँ दक्षिणाग्नि रूप} अन्वाहार्यपचन में आहुति दे। यदि साम से कोई भूल हो जाय तो 'स्वः' से आहवनीय अग्नि में आहुति दे। यदि अनजाने में

अथवा वेद त्रय के मन्त्रों में सर्वथा भूल हो जाय तो आहवनीयाग्नि में ही 'भूः, भुवः, स्वः' तीनों का एक साथ उच्चारण करके आहुति दे।

अनेनार्थवादेन प्रायश्चित्तविधिमुन्नीय व्याहृतिप्रशंसापूर्वकं तं विधिमुपसंहरति-

एतानि ह वै वेदानामन्तःश्लेषणानि यदेता व्याहृतयस्तद् यथाऽऽत्मनाऽऽत्मानं संदध्याद् यथा पर्वणा पर्व, यथा श्लेष्मणा चर्मण्यं वाऽन्यद्वा विश्लिष्टं संश्लेषयेदेवमेवैताभिर्यज्ञस्य विश्लिष्टं संदधाति; सैषा सर्वप्रायश्चित्तिर्यदेता व्याहृतयस्तस्मादेषैव यज्ञे प्रायश्चित्तिः कर्तव्या।।७।।

या एता व्याहृतयः सन्ति, 'एतानि ह वै' त्रीण्येव व्याहृतिरूपाणि, वेदानां सम्बन्धीनि 'अन्तःश्लेषणानि' अन्तर्बन्धनसाधनानि। तत्र दृष्टान्तोऽभिधीयते, यथा लोके 'आत्मनाऽऽत्मानं संदध्यात्' आत्मशब्दः स्वरूपमात्रवाचित्वात् सर्वद्रव्यपरः। एकेन द्रव्येण द्रव्यान्तरं संधीयते। एतच्च छन्दोगैर्विस्पष्टमाम्नातम्- "तद् यथा लवणेन सुवर्णं संदध्यात्, सुवर्णेन रजतम्, रजतेन त्रपु, त्रपुणा सीसम्, सीसेन लोहम्, लोहेन दारु, दारुणा चर्मेति। क्षारादिना सुवर्णादीनां संधानं सुवर्णकारादिषु प्रसिद्धम्। तदेतदभिप्रेत्याऽऽत्मनाऽऽत्मानं संदध्यादित्युक्तम्। यथा च हस्तपादादिष्वेकेन पर्वणा पर्वान्तरं संश्लिष्टं यथा च 'श्लेष्मणा' धात्वन्तरं संश्लिष्टं, चर्मणा च 'चर्मण्यं' पादत्राणादिकम्, 'अन्यद्वा' शकटादिषु किंचिंद्विश्लिष्टमङ्गं, चर्ममय्या रज्ज्वा संश्लेषयेत्। अनेनैव प्रकारेण' एताभिर्व्याहृतिभिर्यज्ञस्य विश्लिष्टमङ्गं संश्लिष्टं भवति। वा एता व्याहृतयः, सैषा सर्वस्य वैकल्यस्य प्रायश्चित्तिः। तस्माद् यज्ञे वैकल्यपरिहारार्थमेषैव प्रायश्चित्तिः कर्तव्या।।

जो ये तीन व्याहृतियाँ हैं वे वेदों के आन्तरिक निबन्ध {के साधन} हैं; जैसे किसी एक वस्तु को दूसरी वस्तु से जोड़ें अथवा जैसे {हाथ-पैर आदि में} एक सन्धि से दूसरी सन्धि को संश्लिष्ट करे या किसी {लोहा आदि} धातु को किसी चर्म से जोड़ें या किसी अन्य {उपानह या गाड़ी आदि में} विश्लिष्ट अंग को {चमड़े की रस्सी से} संश्लिष्ट करें। इसी प्रकार इन {व्याहृतियों} से यज्ञ के विश्लिष्ट अंग को संश्लिष्ट करता है। जो ये व्याहृतियाँ हैं, वे सभी वैकल्य के लिए प्रायश्चित्त हैं। इसलिए यज्ञ में वैकल्य परिहार के लिए इन्हीं से प्रायश्चित्त करना चाहिए।

मेरा व्याख्यान

इस पर मेरा भाष्य=व्याख्यान इस प्रकार है-

१. प्रजापतिरकामयत प्रजायेय भूयान् स्यामिति, स तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वेमाँल्लोकानसृजत-पृथिवीमन्तरिक्षं दिवं, ताँल्लोकानभ्यतपत्, तेभ्योऽ-भितप्तेभ्यस्त्रीणि ज्योतींष्यजायन्ताग्निरेव पृथिव्या अजायत, वायुरन्तरिक्षावादित्यो दिवस्तानि ज्योतींष्यभ्यतपत्, तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त,-ऋग्वेद एवाग्नेरजायत, यजुर्वेदो वायोः, सामवेद आदित्यात्; तान् वेदानभ्यतपत् तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रीणि शुक्राण्यजायन्त,-भूरित्येव ऋग्वेदादजायत, भुव इति यजुर्वेदात्, स्वरिति सामवेदात्।।

व्याख्यानम्- यहाँ प्रकारान्तर से सृष्टि उत्पत्ति का व्याख्यान करते हुए महर्षि लिखते हैं कि सबका पालक परमात्मा प्रकृति की साम्यावस्थारूप महाप्रलय में अकेला ही तत्त्व जाग्रत रहता है। यहाँ ग्रन्थकार ने जीवों के विषय में कोई संकेत इस कारण नहीं दिया है, क्योंकि उनकी इस प्रकरण अथवा इस ग्रन्थ में विशेष प्रासंगिकता नहीं है। प्रलयावस्था में ईश्वर के अतिरिक्त किसी भी क्रियाशील पदार्थ की सत्ता नहीं होती है। प्रकृति सर्वथा निष्क्रिय अवस्था में होती है। इस अवस्था का बहुत सुन्दर वर्णन भगवान् मनु ने इस प्रकार किया है-

"आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्। अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः।" (मनु.१.५)

अर्थात् ''उस समय सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड महाप्रलय के रूप में परिणत था। वह अत्यन्त अंधकार से ढका हुआ, जो किसी के भी द्वारा न जाना गया, न जानने योग्य, बिना लक्षण वा चिह्न वाला, तर्क न करने योग्य तथा सब ओर से सोया हुआ सा था।''

इस स्थिति में ईश्वर तत्त्व में यह कामना होती है कि पदार्थ की जो एकरस प्रकृति अवस्था है, उसको बहुरूप किया जाये अर्थात् सृष्टि उत्पत्ति की प्रक्रिया प्रारम्भ की जाये। क्योंकि एकरस, अव्यक्त, प्रकृतिरूपी पदार्थ में स्वयं किसी क्रिया को करने का सामर्थ्य नहीं होता, इस कारण क्रिया एवं बल आदि का प्रारम्भ ईश्वर तत्त्व द्वारा ही सम्भव होता है। इस तत्त्व की विवेचना इस ग्रन्थ का विषय न होने से ग्रन्थकार ने कहीं भी प्रत्यक्ष विशेष संकेत नहीं किया है। इस विषय में हम अपने इस व्याख्यान में अनेकत्र ईश्वर तत्त्व के कार्यों का संकेत करते रहे हैं। इस विषय में विशेष जानकारी के लिए पूर्वपीठिका अवश्यमेव पठनीय है। उस सर्वथा एवं गहन अन्धकारयुक्त प्रकृति में ईश्वर की कामना के विषय में वेद में कहा है-

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा।।४।। (ऋ.१०.१२९.४)

अर्थात् सर्वप्रथम उस चेतन ब्रह्म में सृष्टि निर्माण की इच्छा का जागरण होता है। उसकी इच्छा, ज्ञान, बल, क्रिया सभी स्वाभाविक होते हैं। इस सबके लिए उसे कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। वही ऐसी शक्ति है, जिसमें ये सब स्वाभाविक होते हैं। इसे ही एक ऋषि ने कहा है-

''स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च'' (श्वेताश्वर उप.६.८) अपनी इस स्वाभाविक ज्ञान, बल व क्रिया से वह ईश्वर तत्त्व तप करता है। इसका आशय यह है कि वह विभिन्न क्रियाओं के द्वारा तीन लोकों को रचता है। वे लोक हैं- **पृथिवी, अन्तरिक्ष** और **द्युलोक**। इनकी उत्पत्ति प्रक्रिया स्थान-२ पर हम इस ग्रन्थ में बतलाते आये हैं। इस प्रक्रिया में सर्वप्रथम **मनस्तत्त्व** की उत्पत्ति होती है, जिसे **महर्षि कपिल** ने सांख्य दर्शन में **'महत्'** नाम दिया है। **महर्षि जैमिनी** ने मन को ही तप कहते हुए लिखा है- **'मनो ह वाव तपः' (जै.ब्रा.३.३३४)**। यह सबसे प्रथम उत्पन्न वह पदार्थ है, जिसमें क्रिया और बलों को ईश्वर द्वारा सर्वप्रथम स्थापित किया जाता है अर्थात् इसी में बल और क्रिया का प्रारम्भ होता है। इसी कारण ऋषियों ने कहा है- **तपो दीक्षा (श.३.४.३.२)**। इस मनस्तत्त्व को **तप** इस कारण कहते हैं, क्योंकि यह इस सृष्टि को तेजस्वी बनाते हुए स्वयं विकारों को प्राप्त होता रहता है। इसी कारण ऋषियों ने कहा है- **''एतत् खलु वाव तप इत्याहुर्यः स्वं ददातीति'' (तै.सं.६.१.६.३) ''एतद् वा तपो यत्स्वं ददाति'' (क.३७.१)**। जहां यह मनस्तत्त्व प्रथम उत्पन्न तत्त्व है, वहीं ये तीनों लोक इस सृष्टि की चरमावस्था हैं। जब पार्थिव लोक उत्पन्न हो रहे होते हैं और इस क्रिया के लिए पदार्थ घनीभूत हो रहा होता है, उस समय उस पदार्थ में अग्नि तत्त्व की, विशेषकर ऊष्मा की उत्पत्ति होती है। आकाश तत्त्व की परिपक्व अवस्था में वायु तत्त्व की उत्पत्ति होती है। इसका तात्पर्य यह है कि इस आकाश तत्त्व में सदैव वायु अर्थात् विभिन्न प्राण व छन्दादि रश्मियों का प्रवाह बना रहता है और उपर्युक्त पृथिवी आदि लोकों के गर्भ में ऊष्मा तथा उसके सभी परमाणु विद्युदग्नि से सदैव परिपूर्ण रहते हैं। वे विद्युदग्नि के द्वारा ही नाना प्रकार के बन्धन उत्पन्न करके इन लोकों का रूप प्राप्त करते हैं। उधर द्युलोक जब परिपक्व अवस्था को प्राप्त करते हैं, तब उनमें आदित्य अर्थात् अग्नि तत्त्व विकिरण के रूप में सतत निर्मित होकर बाहर उत्सर्जित होता रहता है। इसी कारण यहाँ ग्रन्थकार ने अग्नि को पृथिवी की ज्योति, वायु को अन्तरिक्ष की ज्योति एवं आदित्य को द्युलोकों की ज्योति कहा है। इस कथन से यह भी संकेत मिलता है कि **प्रत्येक पार्थिव परमाणु वा लोक अग्नि तत्त्व की सूक्ष्म ज्योति से भी सदैव ज्योतित रहता है, भले ही उस ज्योति को अपने नेत्रों से न देख पायें,** जबकि द्युलोकों की ज्योति को हम अपने नेत्रों से देख सकते हैं। आकाश तत्त्व भी छन्द व प्राणादि रश्मियों के कारण सदैव अव्यक्त और अदृश्य दीप्ति से ज्योतित रहता है। यहाँ **'ज्योति'** शब्द से हम एक सूक्ष्म विद्युत् का भी ग्रहण कर सकते हैं, जो इन तीनों ही लोकों में सदैव अपने भिन्न-२ रूपों में ज्योतित रहती है। अब आगे ग्रन्थकार का कथन है कि इन तीनों ज्योतियों से त्रिविध वेदों की उत्पत्ति होती है। इस क्रम में अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद एवं आदित्य से सामवेद उत्पन्न होता है। इस विषय में हमारा मत यह है कि **पार्थिव लोक वा परमाणुओं में ऋग्वेद की ऋचाएं प्रधानता के आधार पर विद्यमान होती हैं और इन लोक वा कणों से ये ऋचाएं ही विशेष उत्सर्जित भी होती रहती हैं। इन ऋचाओं के द्वारा ही ब्रह्माण्ड में समस्त**

मूर्तिमान् पदार्थ उत्पन्न होते वा हुए हैं। इसी कारण ऋषियों ने कहा है- **"ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः" (तै.ब्रा.३.१२.९.१), ऋग् वा अयं (पृथिवी) लोकः सामासौ (द्युलोकः) (जै.ब्रा.२.३८०)** इन लोकों में प्रकाश की मात्रा नगण्य होने से कहा है- **"कृष्णमृक्" (काठ.२३.३) आकाश तत्त्व विशेषकर उन छन्द रश्मियों से निर्मित होता है, जो यजुः रूप होती हैं, जिन्हें ही यहाँ यजुर्वेद कहा गया है।** ये ऋचाएं पदार्थों के आवागमन में विशेष सहायक होती हैं। इसे ही ऋषियों ने कहा है- **"सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्" (तै.ब्रा.३.१२.९.१)।** इस विषय में अन्य ऋषि का भी कथन है-

"अन्तरिक्ष लोको यजुर्वेदः" (ष.१.५)। महर्षि याज्ञवल्क्य लिखते हैं- **"अन्तरिक्षं यजुषा" (जयति) (श.४.६.७.२)** अब **आदित्य लोक** की चर्चा करते हुए कहते हैं कि इस लोक में **साम रश्मियों की प्रधानता** होती है, जिसके कारण इन लोकों में तीव्र प्रकाश एवं छेदन-भेदन की क्रियाएं तीव्रता से होती रहती हैं। साम रश्मियों का तेजस्विता से सम्बन्ध बतलाते हुए, साथ ही सूर्यादि लोकों से सम्बन्ध के विषय में ऋषियों का कथन है-

"अर्चि सामानि" (श.१०.५.१.५), "तदाहुस्संवत्सर एव सामेति" (जै.उ.१.१२.१.१), "सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत्" (तै.ब्रा.३.१२.९.२)

ध्यातव्य है कि किसी भी लोक में सर्वथा एक ही प्रकार की छन्द रश्मियां विद्यमान नहीं होती, बल्कि सभी प्रकार की छन्द रश्मियां सभी लोकों में विद्यमान होती हैं। यहाँ जो वर्गीकरण किया गया है, वह प्रधानता के आधार पर है, न कि निरपेक्षता के आधार पर ।

अब महर्षि लिखते हैं कि इन तीन प्रकार की छन्द रश्मियों से तीन महाव्याहृतियों **'भूः' 'भुवः'** और **'स्वः'** की उत्पत्ति होती है और यह उत्पत्ति इन तीनों प्रकार की छन्द रश्मियों के अभितप्त होने पर उनके शुक्र रूप में प्रकट होती है। इस विषय में हमारा मन्तव्य है कि ये तीनों ही महाव्याहृतिरूप सूक्ष्म रश्मियां दैवी छन्द रश्मियों का ही रूप हैं, जो सृष्टि प्रक्रिया में बहुत पहले ही उत्पन्न हो जाती हैं। इसे हम इस ग्रन्थ में अनेकत्र लिख भी चुके हैं। पुनरपि, यहाँ इस कथन का तात्पर्य यह है कि **ऋग्वेद की छन्द रश्मियों में भूः नामक छन्द रश्मि की विशेष प्रधानता होती है। यह दैवी छन्द रश्मि इन ऋग्रूप छन्द रश्मियों की विशेष पालिका और रक्षिका शक्ति के रूप में विद्यमान होती हैं।** ऋग्रूप छन्द रश्मियों के अति सक्रिय होने पर यह दैवी छन्द रश्मि विशेष क्रियाशील और **उत्सर्जित** होती रहती है। यह क्रिया पार्थिव लोकों वा परमाणुओं में विशेष रूप से होती है। उधर **आकाश में बहुलता से विद्यमान यजुः छन्द रश्मियों में "भुवः" दैवी छन्द रश्मियों की प्रधानता होती है।** यजुः रश्मियों के अति सक्रिय होने पर ये दैवी छन्द रश्मियां उन यजुः रश्मियों से विशेषतः **उत्सर्जित** होती हैं। ये दैवी छन्द रश्मियां उन यजुः रश्मियों एवं आकाश तत्त्व की पालिका एवं रक्षिका भी होती हैं। इसी प्रकार विभिन्न **साम रश्मियों में 'स्वः' दैवी गायत्री छन्द रश्मि की प्रधानता होती है। साम रश्मियों के विशेष सक्रिय होने पर ये 'स्वः' छन्द रश्मियां उनमें से अधिकता से उत्सर्जित होने लगती हैं।** ये रश्मियां ही साम रश्मियों के साथ-२ विभिन्न आदित्य लोकों के रक्षण और पालन में विशेष भूमिका निभाती हैं। यहाँ इन दैवी छन्द रश्मियों की पृथक्-२ लोकों एवं वेदों से सम्बन्ध की चर्चा का अभिप्राय यह नहीं है कि ये उन्हीं क्षेत्रों तक सीमित होती हैं, बल्कि इनकी विद्यमानता सर्वत्र होती है। यहाँ पृथक्-२ दर्शाने की चर्चा प्रधानता के आधार पर ही समझनी चाहिए। इस प्रकरण से यह भी विदित होता है कि ये तीनों दैवी छन्द रश्मियां सृष्टि के समस्त पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति, पालन एवं संचालन आदि में महती भूमिका निभाती हैं और सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त भी रहती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सृष्टि उत्पत्ति के पूर्व समस्त मूल उपादान पदार्थ सर्वत्र एकरस भरा हुआ सर्वथा शान्त और अन्धकार युक्त होता है। यह सभी प्रकार के लक्षणों से रहित होने के कारण पूर्णतः अज्ञेय होता है। सभी प्रकार के बल आदि गुणों एवं क्रियाओं का सर्वथा अभाव होता है। वर्तमान विज्ञान द्वारा परिकल्पित वा सिद्ध आकाश, ऊर्जा, द्रव्य आदि का उस समय अभाव रहता है। इस अवस्था को वैदिक भाषा में प्रकृति कहते हैं। **सर्व नियन्ता चेतन तत्त्व ईश्वर, प्रकृति के बाहर और भीतर सर्वत्र विद्यमान रहता हुआ एकमात्र जाग्रत तत्त्व होता है। सृष्टि उत्पत्ति की प्रक्रिया प्रारम्भ करने के लिए सर्वप्रथम वही ईश्वर तत्त्व उस प्रकृति में अति सूक्ष्म क्रिया और बल उत्पन्न करके उसे स्पन्दित करता है** और इस स्पन्दन से सर्वप्रथम जो पदार्थ उत्पन्न होता है, उसे **मन** कहते हैं। इसी पदार्थ में सर्वप्रथम बल और

क्रिया आदि गुणों एवं लक्षणों का प्रारम्भ होता है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का यही सबसे प्रथम उत्पन्न कारण पदार्थ है। इसी से सभी तारे, ग्रह-उपग्रह आदि अप्रकाशित लोक, आकाश, सम्पूर्ण द्रव्य और ऊर्जा आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं। ये सभी उत्पन्न पदार्थ मनस्तत्त्व से उत्पन्न होकर उसी में व्याप्त भी रहते हैं। विभिन्न प्रकार की सृजन प्रक्रियाओं के पश्चात् जब अप्रकाशित आकाशीय पिण्डों की उत्पत्ति होती है, तब जैसे-२ वे अपने गुरुत्वीय बल के प्रभाव से संघनित होते जाते हैं, वैसे-२ उनके अन्दर का पदार्थ गर्म होता जाता है। ऐसे सभी लोकों और विभिन्न प्रकार के कणों में ही विद्युत् आवेश भी विद्यमान होता है। विभिन्न निर्माणाधीन तारे जब अपनी परिपक्व अवस्था में पहुंचते हैं, तब उनमें विद्युत् चुम्बकीय तरंगों का उत्पादन और बाहर उत्सर्जन होने लगता है। व्यापक आकाश के अन्दर विभिन्न प्राण और छन्द रश्मियों का सतत प्रवाह होता रहता है।

इस सृष्टि के **सभी मूलकणों एवं उनसे उत्पन्न एटम आदि कणों से भी एक अदृश्य प्रकाश सदैव उत्सर्जित होता रहता है। सम्पूर्ण स्पेस (space) में भी एक सूक्ष्म, अव्यक्त और अज्ञेय ज्योति विद्यमान रहती है। सृष्टि के सभी पदार्थों में सूक्ष्म विद्युत् भी सदैव व्याप्त रहती है।** सृष्टि के सभी कणों में **'ऋक्'** संज्ञक छन्द रश्मियों की प्रधानता होती है, शेष छन्द रश्मियां इनमें गौण होती हैं। आकाश में **'यजु'** संज्ञक छन्द रश्मियों की प्रधानता होती है, जबकि अन्य छन्द रश्मियां गौण होती हैं। उधर तारे आदि लोकों में **'साम'** संज्ञक छन्द रश्मियों की प्रधानता होती है। अन्य छन्द रश्मियां गौण होती हैं।
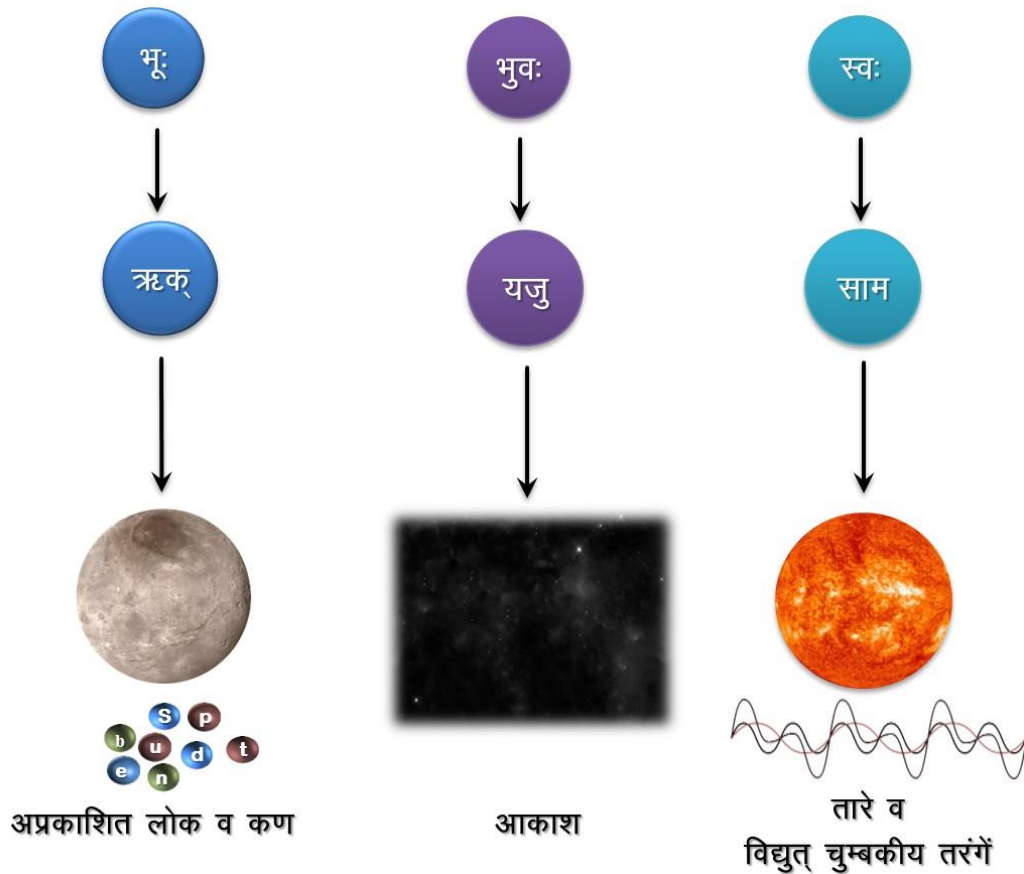
चित्र २५.४ सृष्टि के महत्वपूर्ण त्रिक

'ऋक्' संज्ञक सभी छन्द रश्मियों में **'भूः'** छन्द रश्मियों की प्रधानता होती है एवं अन्य दैवी छन्द रश्मियां गौण होती हैं। यह **'भूः'** छन्द रश्मि ब्रह्माण्ड के सभी कणों और अप्रकाशित लोकों की उत्पत्ति, स्थिति और रक्षा में विशेष भूमिका निभाती है। **'यजुः'** संज्ञक छन्द रश्मियों में **'भुवः'** दैवी छन्द रश्मि की प्रधानता होती है, अन्य दैवी छन्द रश्मियां गौण होती हैं। यह **'भुवः'** छन्द रश्मि सम्पूर्ण आकाश की उत्पत्ति और स्थिति में प्रधानता से भूमिका निभाती है। **'साम'** संज्ञक छन्द रश्मियों में **'स्वः'** दैवी छन्द रश्मि की प्रधानता होती है, शेष दैवी छन्द रश्मियां गौण होती हैं। विभिन्न तारों एवं विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की उत्पत्ति सहित विभिन्न क्रियाओं में इस दैवी छन्द रश्मि की विशेष भूमिका होती है। ये तीनों

ही प्रकार की दैवी छन्द रश्मियां इस सृष्टि में सर्वत्र व्याप्त होती हुई अपनी विशेष और सूक्ष्म भूमिका निभाती हैं। विभिन्न प्रकार की क्रियाओं और बलों के पीछे इनका महत्वपूर्ण योगदान रहता है।।

२. तानि शुक्राण्यभ्यतपत्; तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वर्णा अजायन्ताकार उकारो मकार इति; तानेकधा समभरत् तदेतदो३मिति, तस्मादोमोमिति प्रणौत्योमिति वै स्वर्गो लोक ओमित्यसौ योऽसौ तपति।।
स प्रजापतिर्यज्ञमतनुत; तमाहरत्; तेनायजत; स ऋचैव होत्रमकरोद्, यजुषाऽऽध्वर्यवं साम्नोद्गीथं यदेतत्त्रय्यै विद्यायै शुक्रं, तेन ब्रह्मत्वमकरोत्।।
स प्रजापतिर्यज्ञं देवेभ्यः संप्रायच्छत्, ते देवा यज्ञमतन्वत, तमाहरन्त, तेनायजन्त, त ऋचैव हौत्रमकुर्वन् यजुषाऽऽध्वर्यवं, साम्नोद्गीथं, यदेवैतत् त्रय्यै विद्यायै शुक्रं, तेन ब्रह्मत्वमकुर्वन्।।

व्याख्यानम्– वेदों की विभिन्न ऋचाओं के तपाने से अर्थात् उनके अतिसक्रिय होने पर जो **'भूः'**, **'भुवः'**, और **'स्वः'** नामक दैवी छन्द रश्मियां उत्पन्न हुई थीं, उनके अतिसक्रिय वा तप्त होने पर क्रमशः **'अ' 'उ' 'म्'** अक्षरों रूप रश्मियों की उत्पत्ति होती है। ये तीनों अक्षररूप रश्मियां ही संगृहीत होकर **'ओम्'** छन्द रश्मि के रूप में प्रकट होती हैं। **'ओम्' छन्द रश्मि प्रकृष्ट रूप से स्तुत अर्थात् प्रकाशित होती है।** इस सृष्टि में जो-२ भी जहाँ-२ भी प्रकाश है, उसकी उत्पत्ति में **'ओम्'** छन्द रश्मि की विशेष भूमिका होती है। इस रश्मि को यहाँ स्वर्ग लोक कहा गया है। स्वर्गलोक के विषय में ऋषियों का कथन है–

"अपरिमितो वै स्वर्गो लोकः" (ऐ.६.२३), "अनन्तोऽसौ (स्वर्गः) लोकः" (तां.१७.१२.३), "वाजो वै स्वर्गो लोकः" (तां.१८.७.१२), "स्वर्गो वै लोको यज्ञः" (कौ.ब्रा.१४.१)

इन वचनों से सिद्ध है कि **'ओम्'** छन्द रश्मि का विस्तार अनन्त है। सृष्टि की प्रत्येक छन्द वा प्राण रश्मि और उनके संयोग-वियोगादि की क्रियाएं एवं बल जहां-२ भी विद्यमान हैं, वहाँ-२ **'ओम्'** छन्द रश्मि की अनिवार्य और सबसे मूल भूमिका है। यह **'ओम्'** छन्द रश्मि सभी दैवी छन्द रश्मियों के अतिरिक्त अन्य सभी छन्द रश्मियों का रस के समान वा शुक्र के समान बीजरूप पदार्थ है। इस विषय में **महर्षि जैमिनी** का भी कथन है–

"तासामभिपीडितानां (व्याहृतीनाम्) रसः प्राणेदत्। तदेतदक्षरमभवदोमिति यदेतद्" (जै.उ.१.७.१.७)

ब्रह्माण्ड में प्रकाशित सभी सूर्यादि लोक, जो भी प्रकाश, ऊष्मा आदि उत्पन्न करते हैं, उन सभी क्रियाओं और प्रकाशादि गुणों के पीछे **'ओम्'** छन्द रश्मि की ही मूल भूमिका है। सम्पूर्ण सृष्टि ही मानो **'ओम्'** छन्द रश्मि का ही विस्तार है। इसे ही **महर्षि जैमिनी** ने कहा है– **"एतद्ध (ओमिति) वा इदं सर्वमक्षरम्" (जै.ब्रा.२.१०)**

महर्षि तित्तिर का भी कथन है– **"ओमिति ब्रह्म। ओमितीदꣳसर्वम्" (तै.आ.७.८.१; तै.उ.१.८.१)।**

यह **'ओम्'** छन्द रश्मि जहां सृष्टि के समस्त बल, तेज और क्रिया का मूल कारण है, वहीं यह छन्द रश्मि अन्य छन्द व प्राणादि रश्मियों को धागे के समान परस्पर बांधे रहती है, मानो सभी रश्मियां **'ओम्'** रूपी धागे से बंधी हुई हैं। इसी कारण **महर्षि जैमिनी** का कथन है–

"यथा सूच्या पलाशानि संतृण्णानि स्युरेवमेतेन (ओमिति) अक्षरेणेमे लोकास्सन्तृण्णाः।" (जै.ब्रा.२.१०; जै.उ.१.२.३.३)।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि हम सर्वत्र **'ओम्'** छन्द रश्मि को सबसे सूक्ष्म छन्द रश्मि मानते आये हैं, तब इसकी अवयव रूप **'अ', 'उ',** और **'म्'** अक्षर रश्मियां कैसे हो सकती हैं? इस विषय में हमारा मत यह है कि ये **'अ' 'उ'** तथा **'म्'** अक्षर इतने सूक्ष्म होते हैं कि ये रश्मिरूप में प्रकट नहीं होते, साथ ही ये स्वतन्त्र अवस्था में भी नहीं रह सकते। इसी कारण रश्मिरूप में **'ओम्'** ही सबसे सूक्ष्म और व्यापक छन्द रश्मि है। इसके मात्रा रूप तीन अक्षरों के विषय में एक अन्य महर्षि का कथन है–

"अकारः प्रथमा मात्राऽऽप्तेः" (माण्डू.उ.९)
"उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति" (माण्डू.उ.१०)
"मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा" (माण्डू.उ.११)

इन वचनों से संकेत मिलता है कि **अकार** अक्षर के कारण **'ओम्'** छन्द रश्मि व्यापकता गुण से युक्त होती है। **उकार** अक्षर के कारण निरन्तर उत्कर्ष को प्राप्त करती हुई **'ओम्'** रश्मि के अन्य दोनों अक्षरों को परस्पर जोड़े रखती है। यहाँ उत्कर्ष से तात्पर्य यह है कि इसके कारण **'ओम्'** रश्मि अन्य रश्मि आदि सूक्ष्म पदार्थों को उत्कृष्टता से सदैव आकर्षित और संगत करती रहती है। **मकार** अक्षर के कारण **'ओम्'** छन्द रश्मि **{अपीतिः = अपीति संसर्गम् (अपि+इण्+क्तिन्) (नि.१.३), विनाशः (तु.म.द.ऋ.भा.१.१२१.१०)}** सभी सूक्ष्म रश्मियों को मापती अर्थात् आच्छादित करती, सबके साथ संगत रहती और उनसे विमुख होकर उनका विनाश भी करती तथा दो पदार्थों को परस्पर वियुक्त भी करती है। इस प्रकार **'ओम्'** छन्द रश्मि में इन तीनों अक्षरों के सभी गुण एक साथ विद्यमान होते हैं। इस **'ओम्'** रश्मि के विषय में भगवान् मनु का कथन है-

"अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः। वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवः स्वरितीति च।।" (मनु.२.२७६)

इसका तात्पर्य यह है कि यह रश्मि सभी छन्द रश्मियों एवं प्राण रश्मियों का सार वा बीजरूप है।।

{होता = महाहविर्होता (मै.१.९.१; काठ.९.९; क.८.१२), नाभिर्वा एषा यज्ञस्य यद् होता (काठ. २६.१; क.४०.४)} पूर्वोक्त प्रकरण को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि प्रजापति परमात्मा से प्रेरित मनस्तत्त्व सर्गयज्ञ का विस्तार करता है। इसके लिए वह विभिन्न छन्द और प्राण रश्मियों को उत्पन्न करके अपने अधीन करता है अर्थात् **सभी रश्मियों पर सक्रिय मनस्तत्त्व का अर्थात् मन एवं वाक् तत्त्व के मिथुन का पूर्ण नियन्त्रण रहता है।** वह मनस्तत्त्व उन रश्मियों का विविध प्रकार से यजन करता है। इस क्रम में **ऋक्** रूपी छन्द रश्मियों को होता के रूप में धारण करता है। ये रश्मियां बल और दीप्ति को धारण करने वाली होती हैं तथा ये ही सृष्टि यज्ञ में विभिन्न छन्द रश्मियों के मध्य होता का कार्य करती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि ये छन्द रश्मियां ही सृष्टि यज्ञ में विभिन्न रश्मि आदि पदार्थों के आदान-प्रदान वा संयोग-वियोग में विशेष भूमिका निभाती हैं। ये **ऋक्** छन्द रश्मियां न केवल अन्य छन्द रश्मियों रूपी हवियों का आदान-प्रदान करती हैं अपितु स्वयं भी **महा हविरूप** होती हैं अर्थात् इस सृष्टि प्रक्रिया में ये स्वयं ही सबसे बड़ी हवि होती हैं। इस कारण इनको सर्ग यज्ञ की नाभि अर्थात् केन्द्र कहा गया है। ये छन्द रश्मियां अति बलशालिनी भी होती हैं। इसके पश्चात् वह सक्रिय मनस्तत्त्व **'यजुः'** छन्द रश्मियों को अध्वर्यु के रूप में धारण करता है। जैसा कि हम पूर्व कण्डिका के व्याख्यान में लिख चुके हैं कि **यजुः** छन्द रश्मियां सभी प्रकार की छन्द रश्मियों को गतिशील करती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वे अन्य छन्द रश्मियों को गतिशील बनाने में विशेष सहयोग करके विभिन्न छन्द रश्मियों के आवागमन और संयोग-वियोग को निर्बाध बनाती हैं। ऐसा करने के लिए ये छन्द रश्मियां मानो विभिन्न संसर्ग क्रियाओं को धारण कर लेती हैं। इसी कारण कहा गया है-

"अध्वर्युणा वै यज्ञो विधृतः" (मै.३.८.१०)

वस्तुतः इन अध्वर्यु संज्ञक छन्द रश्मियों में प्राणापान एवं सक्रिय मनस्तत्त्व की प्रधानता होती है। इस कारण कहा गया है-

"प्राणापानावेवाध्वर्य्यू" (गो.पू.२.११), "मनो वा ऽअध्वर्य्युः" (श.१.५.१.२१)

विभिन्न छन्द एवं मरुद् रश्मियां तथा विभिन्न तन्मात्रायें इन अध्वर्यु संज्ञक **यजुः** छन्द रश्मियों का अनुगमन करते हुए सर्वत्र गमन करती है। इस विषय में एक ऋषि का कथन है- **"पशवो ह्यध्वर्युमनु वर्त्तते" (ष.२.८)**

ध्यातव्य है कि सृष्टि उत्पत्ति के लिए जहां बल की आवश्यकता होती है, वहाँ गति की भी आवश्यकता होती है। इसलिए जहां **ऋक्** छन्द रश्मियां बलप्रदात्री होती हैं, वहीं ये **यजुः** छन्द रश्मियां गति प्रदान करती हैं। अब अन्य रश्मियों की चर्चा करते हुए लिखते हैं कि **साम** संज्ञक छन्द रश्मियां उद्गीथरूप होती हैं। इस विषय में **महर्षि जैमिनी** का भी कथन है- **'साम्नोद्गीथः (क्रियते)' (जै.ब्रा.१. ३५८)।** हमारे मत में यहाँ उद्गीथ पद उद्गाता अर्थ में प्रयुक्त है। इस विषय में **महर्षि तित्तिर** का कथन है- **"उद्गीथ एवोद्गातॄणामृचः" (तै.सं.३.२.९.५-६)**

इस कथन से हमारे मत की पुष्टि होती है। ये **साम** छन्द रश्मियां उद्गाता वा उद्गीथ संज्ञक

होने से उत्कृष्ट रूप से तेजस्विनी होती हैं। ये अन्य छन्द रश्मियों के ऊपर स्थित होकर उनको भी उत्कृष्ट रूप से दीप्तियुक्त करती हैं। इसी की ओर संकेत करते हुए **महर्षि जैमिनी** का कथन है- **उदङ्ङासीन उद्गायति (जै.ब्रा.१.७२)**। इसके पश्चात् इन तीनों ही प्रकार की छन्द रश्मियों की शुक्ररूप **'भूः', 'भुवः',** और **'स्वः'**, व्याहृतिरूप दैवी छन्द रश्मियां इस सर्गयज्ञ में ब्रह्मा का कार्य करती हैं। ब्रह्मा के विषय में **महर्षि तित्तिर** का कथन है- **बलं वै ब्रह्मा (तै.ब्रा.३.८.५.२), ब्रह्मैता व्याहृतयः (तै.सं.१.६.१०.२)।** इस प्रकार ये दैवी छन्द रश्मियां इस सृष्टि यज्ञ में अन्य छन्द रश्मियों के ऊपर विराजमान होकर सबको बल प्रदान करती हुई सतत प्रेरित करती रहती हैं। ये उन सभी छन्द रश्मियों का रक्षण और पालन करती हुई उनको संचालित करती रहती हैं।।

ईश्वररूपी प्रजापति से प्रेरित मन एवं वाक् तत्त्व रूपी प्रजापति इस सर्गयज्ञ को देवों को सौंप देते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि यह सर्ग प्रक्रिया सर्वप्रथम प्राथमिक प्राण रश्मि रूपी देवों में प्रारम्भ होती है। इसके पश्चात् वे प्राण रश्मियां पूर्वोक्त विभिन्न छन्द रश्मियों में पूर्वोक्तानुसार ही संगतीकरण की क्रियाओं का विस्तार करती हैं। यहाँ सम्पूर्ण प्रक्रिया पूर्वोक्त कण्डिका के अनुसार ही है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि इस प्रकरण में यह पुनरुक्ति दोष क्यों है? वस्तुतः यह दोष नहीं है, अपितु दो चरणों का स्पष्टीकरण है। इससे यह स्पष्ट होता है कि ईश्वर तत्त्व द्वारा सर्वप्रथम मनस्तत्त्व के अन्दर **'ओम्'** छन्द रश्मि को उत्पन्न करके उसे प्रेरित और सक्रिय किया जाता है। तदुपरान्त मन एवं वाक् तत्त्व का मिथुन, जिसे सक्रिय मनस्तत्त्व भी कहते हैं **'भूः' 'भुवः' 'स्वः'** आदि दैवी छन्द रश्मियों एवं सूत्रात्मा वायु सहित दस प्राथमिक प्राण रश्मियों में सर्ग प्रक्रिया का प्रारम्भ करता है। इसके उपरान्त वे प्राण रश्मियां विभिन्न छन्द रश्मियों में वही क्रियाएं उत्पन्न करती हैं, जिनकी चर्चा **उपरि कण्डिका** में की गयी है। उस कण्डिका में सभी प्रकार की क्रियाओं का कर्त्ता मनस्तत्त्व को बतलाया गया है और यहाँ उन्हीं क्रियाओं में प्राण रश्मियों का कर्त्तापन दर्शाया गया है। क्रियाएं सभी पूर्ववत् ही हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- **'भूः', 'भुवः'** और **'स्वः'** सूक्ष्म छन्द रश्मियां विभिन्न छन्द रश्मियों का बीजरूप होती हैं। ये ही उन छन्द रश्मियों को सदैव प्रेरणा और बल प्रदान करती हैं। इन तीनों छन्द रश्मियों का मूल बीज **'ओम्'** छन्द रश्मि होती है। यह छन्द रश्मि सभी प्रकार के बलों का मूल कारण है। विस्तार की दृष्टि से यह सबसे बड़ी व्यापक छन्द रश्मि है और सूक्ष्मता की दृष्टि से भी इससे सूक्ष्म रश्मि इस ब्रह्माण्ड में कोई नहीं होती है। **इस सृष्टि की प्रत्येक क्रिया, बल, गति एवं प्रकाश आदि गुणों के लिए मूलरूप से यही छन्द रश्मि उत्तरदायिनी होती है। यह सूक्ष्म छन्द रश्मि अन्य सभी छन्द रश्मियों को परस्पर उसी प्रकार जोड़े रखती है, जिस प्रकार किसी धागे में मोती पिरोए होते हैं** अथवा सुई और धागे से जैसे वस्त्रों को सिला जाता है, वैसे ही यह रश्मि विभिन्न रश्मियों को एक-दूसरे के साथ संगत करती है। यह **''ओम्''** छन्द रश्मि **'अ', 'उ'** और **'म्'** अक्षरों (अवयवों) का संयुक्त रूप होती है। ये अक्षर अवयव कभी स्वतन्त्र अवस्था में नहीं रह सकते और न ये रश्मिरूप ही होते हैं। इस कारण **'ओम्'** रश्मि ही सबसे सूक्ष्म और मूल रश्मि मानी जाती है। इसके विशेष गुणों के परिज्ञान के लिए व्याख्यान भाग पठनीय है। सृष्टि उत्पत्ति के प्रारम्भ में ईश्वर तत्त्व मनस्तत्त्व के अन्दर **'ओम्'** छन्द रश्मि को ब्रह्माण्ड के सबसे सूक्ष्म कम्पन के रूप में उत्पन्न करके मनस्तत्त्व को सक्रिय करता है। फिर यह सक्रिय मनस्तत्त्व **ऋक्** छन्द रश्मियों को प्रेरित करता है। ये छन्द रश्मियां अन्य रश्मियों को संयुक्त वियुक्त करने में विशेष भूमिका निभाती हैं, साथ ही ये छन्द रश्मियां ही परस्पर सर्वाधिक संगत होकर मूलकणों से लेकर बड़े-२ लोकों के निर्माण में उपादान द्रव्य का रूप होती हैं। यजुः रश्मियां सक्रिय मन द्वारा प्रेरित होकर आकाश में सर्वत्र विचरती हुई **ऋक्** आदि अन्य छन्द रश्मियों को निरापद गति प्रदान करती हैं। उधर **साम** छन्द रश्मियां अन्य छन्द रश्मियों के ऊपर आच्छादित होकर उन्हें तेज प्रदान करती हैं तथा **'भूः', 'भुवः',** और **'स्वः'** रूपी सूक्ष्म छन्द रश्मियां सक्रिय मनस्तत्त्व द्वारा प्रेरित होकर सभी छन्द रश्मियों के बल, गति और तेज आदि गुणों को सम्यग् रूपेण नियन्त्रित करती रहती हैं। सक्रिय मनस्तत्त्व द्वारा विभिन्न छन्द रश्मियों को प्रेरित व सक्रिय करने में प्राणापान आदि प्राथमिक प्राण रश्मियों और सूत्रात्मा वायु की मध्यस्थ की भूमिका होती है।।

३. ते देवा अब्रुवन् प्रजापतिं,-यदि नो यज्ञ ऋक्त आर्तिः स्यात्, यदि यजुष्टो यदि

सामतो यद्यविज्ञाता सर्वव्यापद्वा का प्रायश्चित्तिरिति; स प्रजापतिरब्रवीद्देवान्-यदि वो यज्ञ ऋक्त आर्तिर्भवति, भूरिति गार्हपत्ये जुहवाथ, यदि यजुष्टो, भुव इत्याग्नीध्रीयेऽन्वाहार्यपचने वा हविर्यज्ञेषु, यदि सामतः, स्वरित्याहवनीये; यद्यविज्ञाता सर्वव्यापद्वा भूर्भुवः स्वरिति सर्वा अनुद्रुत्याऽऽहवनीय एव जुहवाथेति।।
एतानि ह वै वेदानामन्तःश्लेषणानि यदेता व्याहृतयस्तद् यथाऽऽत्मनाऽऽत्मानं संदध्याद् यथा पर्वणा पर्व, यथा श्लेष्मणा चर्मण्यं वाऽन्यद्वा विश्लिष्टं संश्लेषयेदेवमेवैताभिर्यज्ञस्य विश्लिष्टं संदधाति; सैषा सर्वप्रायश्चित्तिर्यदेता व्याहृतयस्तस्मादेषैव यज्ञे प्रायश्चित्तिः कर्तव्या।।७।।

व्याख्यानम्- {गार्हपत्यः = प्राणो वै गार्हपत्यः (जै.ब्रा.१.६१), पशवो वै गार्हपत्यः (काठ.६.४; क.४.३)। आग्निध्रः = अन्तरिक्षमाग्निध्रम् (काठ.२१.८; तै.ब्रा.२.१.५.१), त्रैष्टुभमाग्निध्रम् (मै.३.४.४; काठ.२१.१२)} अन्वाहार्य पचनः = व्यानोऽन्वाहार्यपचनः (श.२.२.२.१८), अन्तरिक्षलोकोऽन्वाहार्यपचनः (जै.ब्रा.१.५१), अन्वाहार्यपचनः यजुः (तै.आ.१०.६३.१)। आहवनीयः = उदान आहवनीयः (श.२.२.२.१८)} यहाँ ग्रन्थकार ने मनरूप प्रजापति एवं प्राथमिक प्राण रश्मि रूप देवों के बीच संवाद के द्वारा चर्चा करते हुए सृष्टि प्रक्रिया की कुछ विशेष स्थितियों की चर्चा की है। वे प्रथम स्थिति की चर्चा करते हुए कहते हैं कि यदि पूर्वोक्त प्रक्रियाओं में से **ऋक्** छन्द रश्मियों के संगमन की क्रियाएं कुछ विकृत हो जायें, तब क्या होता है? इसका समाधान बतलाते हुए ग्रन्थकार का कहना है कि उस परिस्थिति में प्राण नामक प्राथमिक प्राण रश्मियों तथा उन **ऋक्** छन्द रश्मियों में **'भूः'** दैवी छन्द रश्मि की आहुति दी जाती है। इसके प्रभाव से **ऋक्** छन्द रश्मियों की संगतीकरण की प्रक्रिया में आने वाली विकृति दूर हो जाती है। जब **'यजुः'** छन्द रश्मियों में होने वाली क्रियाओं में कोई विकृति उत्पन्न होती है, तब उस समय व्यान रश्मियों एवं उन **'यजुः'** छन्द रश्मियों, जो आग्नीध्र संज्ञक अन्तरिक्ष में व्याप्त होती हैं, के अन्दर **'भुवः'** छन्द रश्मि की आहुति दी जाती है। इसके प्रभाव से व्यान रश्मियां सक्रिय होकर उन विकृत हुई **'यजुः'** छन्द रश्मियों की संसर्ग क्रियाओं को उचित प्रेरणा प्रदान करती हैं, जिसके कारण वे प्रक्रियाएं समुचित रूप से संचालित होने लगती हैं। जब **साम** छन्द रश्मियों की प्रक्रियाओं में कोई विकृति वा निष्क्रियता उत्पन्न हो जाती है, उस समय उन साम रश्मियों एवं उदान रश्मियों में **'स्वः'** छन्द रश्मियों की आहुति प्रदान की जाती है। इससे उदान छन्द रश्मियां सक्रिय होकर **साम** छन्द रश्मियों की विकृत होने वाली प्रक्रियाओं को समुचित रूप प्रदान करती हैं। यदि तीनों प्रकार की छन्द रश्मियों की क्रियाओं में विकृति एक साथ आ जाये, तो उदान प्राण रश्मियों के साथ-२ तीनों प्रकार की छन्द रश्मियों के अन्दर **'भूः', 'भुवः'** एवं **'स्वः'** इन तीनों दैवी छन्द रश्मियों की आहुति दी जाती है। इसके प्रभाव से उदान रश्मियां सक्रिय होकर सभी प्रकार की विकृतियों को दूर करती हैं। इस प्रकार इन तीनों व्याहृतिरूप छन्द रश्मियों के प्रक्षेपण से सर्ग प्रक्रिया की विकृति दूर होती है। इसी कारण **महर्षि जैमिनी** ने कहा है- **"एता वै (भूर्भुवः स्वरिति) व्याहृतयः सर्वप्रायश्चित्तयः" (जै.ब्रा.१.५३,६०; जै.उ.३.४.३.३)**

इसी प्रकरण को **महर्षि आश्वलायन** ने इन शब्दों में व्यक्त किया है-

ऋक्तश्चेद्भूरिति गार्हपत्ये यजुष्टो भुव इति दक्षिण आग्नीध्रीये सोमेषु (आश्व.श्रौ.१.१२.३२)
सामतः स्वरित्याहवनीये सर्वतोऽविज्ञाते भूर्भुवः स्वरित्याहवनीय एव। (आश्व.श्रौ.१.१२.३३)

इन सूत्रों का भी वही भाव है, जो ग्रन्थकार ने इस कण्डिका में व्यक्त किया है। **छान्दोग्योपनिषद्** में भी यह प्रकरण निम्न प्रकार वर्णित है-

"तद्यद्यृक्तो रिष्येद् भूः स्वाहेति गार्हपत्ये जुहुयादृचामेव तद्रसेनर्चां वीर्येणर्चां यज्ञस्य विरिष्टꣳ संदधाति।।

अथ यदि यजुष्टो रिष्येद् भुवः स्वाहेति दक्षिणाग्नौ जुहुयाद्यजुषामेव तद्रसेन यजुषां वीर्येण यजुषां यज्ञस्य विरिष्टꣳ संदधाति।।

अथ यदि सामतो रिष्येत्स्वः स्वाहेत्याहवनीये जुहुयात्साम्नामेव तद्रसेन साम्नां वीर्येण साम्नां यज्ञस्य विरिष्टꣳ संदधाति।।" (छां.उ.४.१७.४-६)

इन वचनों से भी यह सिद्ध होता है कि व्याहृति नामक तीनों छन्द रश्मियां क्रमशः प्राण, व्यान और अपान रश्मियों तथा **ऋक्, यजुः,** और **साम** रश्मियों में प्रक्षिप्त वा संगत होकर उन्हें तेज और

बल से विशेष युक्त कर देती हैं, जिसके प्रभाव से वे छन्द रश्मियां स्वयं ही विकृति से मुक्त हो जाती हैं। इसके साथ ही सर्ग प्रक्रिया पुनः समुचित रूप से चलने लगती है। ध्यातव्य है कि ये सब क्रियाएं मनस्तत्त्व एवं **'ओम्'** छन्द रश्मि रूपी वाक् तत्त्व के नियन्त्रण में सम्पन्न होती हैं।।

अब इन व्याहृति रूपी छन्द रश्मियों की अन्य प्रकार से चर्चा करते हुए कहते हैं कि ये तीनों **भूः, भुवः** और **स्वः** छन्द रश्मियां वेदों अर्थात् **ऋग्, यजुः** एवं **साम** रूप छन्द रश्मियों के आन्तरिक निबन्ध की साधन हैं अर्थात् ये सूक्ष्म छन्द रश्मियां विभिन्न छन्द रश्मियों में अन्दर तक प्रविष्ट होकर उन्हें बांधे रखती हैं। यहाँ **'अन्तः'** शब्द से यह संकेत मिल रहा है कि ये सूक्ष्म छन्द रश्मियां प्रत्येक छन्द रश्मि के भीतर तक प्रविष्ट होकर पहले उसे बांधे रखती हैं, पुनः उसे अन्य छन्द रश्मियों के साथ जोड़े रखने में सहायक होती हैं, जैसे आत्मा अर्थात् सूत्रात्मा वायु अपनी सूक्ष्म संयोजी रश्मियों के द्वारा अन्य सूत्रात्मा वायु की संयोजी रश्मियों को सम्यग् रूप से धारण करके दो पदार्थों को जोड़ती हैं। जैसे शरीर में अस्थियों की विभिन्न संधियां अंगों को जोड़े रखती हैं, जैसे शरीर में चर्म अपने संधानक गुण से सभी अंगों को जोड़े और बाधें रखती है अथवा सृष्टि में कोई भी पदार्थ किसी संधानक पदार्थ से जैसे परस्पर जुड़े रहते हैं, वैसे ही ये व्याहृति संज्ञक छन्द रश्मियां सृष्टि की सभी छन्द रश्मियों को परस्पर जोड़ती, बांधती और धारण किये रहती हैं, जिसके कारण सम्पूर्ण सृष्टि प्रक्रिया इनके द्वारा सम्यग् रूप से धारण की जाती है। यहाँ चर्म के उदाहरण से यह संकेत मिलता है कि न केवल ये रश्मियां उन छन्द रश्मियों के पदों वा पद समूहों के सिरे पर स्थित होकर उन्हें जोड़ती हैं, अपितु उन्हें आच्छादित भी किये रहती हैं। इस प्रकार ये न केवल जोड़ने वाली रस्सी के समान कार्य करती हैं, अपितु शरीर के सभी अंगों को ढकने वाली चर्म के समान आच्छादित करने वाली भी होती हैं। इसके कारण विभिन्न छन्द रश्मियों की विविध क्रियाओं की विकृति दूर होकर न केवल वे छन्द रश्मियां सुरक्षित रहती हैं, अपितु सर्ग प्रक्रिया भी सम्यग् रूप से संचालित होती रहती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सृष्टि प्रक्रिया के चलते कभी-२ उनमें कुछ विकृतियां भी आ जाती हैं। जब **ऋक्** छन्द रश्मियों की क्रियाओं से मूल कणों तथा बड़े-२ पृथिवी आदि अप्रकाशित लोकों के निर्माण प्रक्रिया में कोई विकृति आती है, उस समय **'भूः'** छन्द रश्मि प्रकट होकर प्राण नामक प्राण रश्मियों एवं **ऋक्** छन्द रश्मियों में व्याप्त हो जाती है। इसके कारण प्राण नामक प्राण रश्मि और **ऋक्** छन्द रश्मियां सक्रिय होकर अपनी क्रियाओं की विकृति को दूर करके मूल कणों आदि पदार्थों के निर्माण की प्रक्रिया को उचित रूप प्रदान करती हैं। जब आकाश में विद्यमान यजुः रश्मियों की क्रियाएं विकृत होकर आकाश तत्त्व विकृत होने लगता है तथा इसके दुष्प्रभाव से आकाश में विभिन्न रश्मि आदि पदार्थों के आवागमन की गति और मार्ग भी विकृत होने लगते हैं, उस समय ईश्वर तत्त्व प्रेरित मन एवं **'ओम्'** छन्द रश्मि **'भुवः'** छन्द रश्मि को प्रकट करती है, जो व्यान प्राण रश्मियों एवं यजुः छन्द रश्मियों में व्याप्त होकर उनकी विकृतियों को दूर करके आकाश तत्त्व एवं उसमें होने वाले विभिन्न पदार्थों के गमनागमन कर्मों की विकृति को दूर करती है। इसी प्रकार जब सूर्यादि तेजस्वी लोकों और उसमें **साम** छन्द रश्मियों की क्रियाएं विकृत होने लगती हैं, तब सक्रिय मनस्तत्त्व **'स्वः'** छन्द रश्मियों को प्रकट करके उदान रश्मियों एवं **साम** छन्द रश्मियों में प्रक्षिप्त करता है, जिसके कारण वे रश्मियां सक्रिय होकर सभी विकृतियों से मुक्त हो जाती हैं। इस प्रकार तारों के अन्दर नाभिकीय संलयन और ऊर्जा उत्सर्जन आदि प्रक्रियाएं सम्यग् रूप से होने लगती हैं। ये **'भूः', 'भुवः'** और **'स्वः'** छन्द रश्मियां सम्पूर्ण सृष्टि में विद्यमान विभिन्न छन्द रश्मियों को परस्पर जोड़े और बांधे रखती हैं। ये छन्द रश्मियां उन सबको आच्छादित करती हुई सुरक्षित मार्ग, गति एवं बल प्रदान करती हैं। इस कारण सृष्टि प्रक्रिया में इनकी महती भूमिका होती है।।

सायण भाष्य व मालवीय अनुवाद

अब देखें खण्ड **७.१** पर सायण भाष्य एवं डॉ. सुधाकर मालवीय का हिन्दी अनुवाद-

.......तस्मिन् पशौ कस्य को विभाग इति जिज्ञासायां तद्विभागकथनं प्रतिजानीते-

अथातः पशोर्विभक्तिः, तस्य विभागं वक्ष्यामः।। इति।

'अथ' होतृ-होत्रक-शस्त्रनिर्णयानन्तरं, यतः शस्त्राद्यनुष्ठायिनां सत्रिणां जीवनोपायोऽपेक्षितः, अतः कारणात् सवनोयस्य 'पशोः' विभक्तिः कथ्यते। विभक्तिशब्दस्यैव व्याख्यानं तस्येत्यादि।।

सरला

कालाम्बोधरकान्तिकान्तमनिशं वीरासनाध्यासिनं मुद्रां ज्ञानमयीं दधानमपरं हस्ताम्बुजं जानुनि।

सीतां पार्श्वगतां सरोरुहकरां विद्युन्निमां राघवं पश्यन्तीं मुकुटाङ्गदादिविविधाकल्पोज्ज्वलाङ्गं भजे।।१।।

महिदासैतरेयस्य ब्राह्मणस्य च साम्प्रतम्। चतुर्थे दशकेऽप्यस्मिन् यथापूर्वं यथास्मृतम्।।२।।

श्रीमद्रामकुबेरस्य मालवीयस्य धीमतः। सूनुः सुधाकरः सम्यक् कुरुते परिशोधनम्।।३।।

{सत्र करने वालों का यह धर्म है कि अग्निषोमीय पशु में हविः-शेष का भक्षण सुत्या दिनों में करें। इसके अतिरिक्त धान आदि द्रव्यों के भक्षण से अपनी दिनचर्या का संपादन करें। अतः सवनीय पशु रूप हविःशेष का कौन सा भाग किसका होगा? इसी के समाधान के लिए विभाग का कथन यहाँ किया जा रहा है}-

इस {होतृ एवं होत्रक के शस्त्र कथन} के बाद {शस्त्र आदि का अनुष्ठान करने वाले सत्रियों के जीवन के उपाय की अपेक्षा से सवनीय} पशु की विभक्ति अर्थात् उसके अंगों का विभाग कहेंगे-

वक्ष्याम इति प्रतिज्ञातो यो विभागस्तं दर्शयति-

हनू सजिह्वे प्रस्तोतुः, श्येनं वक्ष उद्गातुः, कण्ठः काकुद्रः प्रतिहर्तुर्दक्षिणा श्रोणिर्होतु, सव्या ब्रह्मणो, दक्षिणं सक्थि मैत्रावरुणस्य सव्यं ब्राह्मणाच्छंसिनो, दक्षिणं पार्श्वं सांसमध्वर्योः, सव्यमुपगातृणां, सव्योंऽसः प्रतिप्रस्थातुर्, दक्षिणं दोर्नेष्टुः, सव्यं पोतुर्, दक्षिण ऊरुरच्छावाकस्य, सव्य आग्नीध्रस्य, दक्षिणो बाहुरात्रेयस्य, सव्यः सदस्यस्य, सदं चानूकं च गृहपतेर्, दक्षिणौ पादौ गृहपतेर्व्रतप्रदस्य, सव्यौ पादौ गृहपतेर्भार्यायै व्रतप्रदस्यौष्ठ एनयोः साधारणो भवति, तं गृहपतिरेवं प्रशिंष्याज्जाघनीं पत्नीभ्यो हरन्ति, तां ब्राह्मणाय दद्युः, स्कन्ध्याश्च मणिकास्तिस्रश्च कीकसा ग्रावस्तुतस्, तिस्रश्चैव, कीकसा अर्धं च वैकर्तस्योन्नेतुरर्धं चैव वैकर्तस्य, क्लोमा च शमितुस्तद्ब्राह्मणाय दद्याद् यद्यब्राह्मणः स्याच्छिरः सुब्रह्मण्यायै, यः श्वःसुत्यां प्राह तस्याजिनमिळा सर्वेषां होतुर्वा।। इति।

जिह्वया सहितं हनुद्वयं प्रस्तोतुर्भागः। श्येनाकारं वक्ष उद्गातुर्भागः। यः कण्ठः, यश्च 'काकुद्रः' काकुदम्, तदुभयं प्रतिहर्तुर्भागः। श्रोणिरूरुमूलम्, तदुभयं दक्षिणसव्यरूपं क्रमेण होतुर्ब्रह्मणोर्भागः। ऊर्वधोभागः 'सक्थि' तच्चोभयं क्रमेण मैत्रावरुणब्राह्मणाच्छंसिनोर्विभागः। दक्षिणांसेन युक्तं दक्षिणं पार्श्वमध्वर्योर्भागः। सव्यं पार्श्वमात्रमुपगातृणां भागः। सव्योंऽसः प्रतिप्रस्थातुर्भागः। 'दोः' बाहुः, तच्चोभयं क्रमेण नेष्टृपोत्रोर्भागः। ऊरुद्वयं क्रमेणाच्छावाकाग्नीध्रयोर्भागः। सक्थिशब्देन अधोभागस्याभिहितत्वात् ऊर्ध्वभाग ऊरुशब्देन विवक्षितः। बाहुद्वयं क्रमेण आत्रेयसदस्ययोर्भागः। दोर्बाहुशब्दयोरर्थैक्येऽप्यधोभागोर्ध्वभागाभ्यां भेदो द्रष्टव्यः। सदानूकशब्दौ पूर्वाचार्यैर्व्याख्यातौ-

''अनूकं मूत्रबस्तिः स्यात्, सास्नेत्येके वदन्ति च।

सदं तु पृष्ठवंशः स्यादेतद्गृहपतेर्द्वयम्''।। इति।

यः पुमान् गृहपतेर्व्रतप्रदा भोजनदायी, तस्य दक्षिणौ पादौ भागः। गृहपतेर्या भार्या, तस्यै च व्रतप्रदो यः पुमांस्तस्यैव सव्यौ पादौ भागः। अत्र पुरोवर्तिनोः पादयोर्बाहुत्वेनाभिहितत्वात्, पश्चात्यावेव पादशब्देन विवक्षितौ। तत्रैकस्मिन्नपि दक्षिणे पादे द्विवचनमवयवापेक्षम्। एवमुतरत्रापि। योऽयमोष्ठः, सोयम् 'एनयोः' व्रतप्रदयोः 'साधारणः' भागो भवति। 'तं' भागं गृहपतिरेव 'प्रशिंष्यात्' तवायं तवायमिति विभज्य प्रदद्यात्। 'जाघनी' पुच्छं तां पत्नीभ्यो 'हरन्ति' दद्युः। ताश्च पत्न्यः 'तां' जाघनीं ब्राह्मणाय कस्मैचिद्दद्युः। स्कन्धे भवाः 'स्कन्ध्याः' मणिसदृशा मांसखण्डा 'मणिकाः' एकस्मिन् पार्श्वे स्थिता मांसशकलास्तिस्रः 'कीकसाः, मणिकाः कीकसाश्चेत्युभयं ग्रावस्तुतो भागः। इतरपार्श्वे स्थितास्तिस्रः कीकसाः, 'वैकर्तः' प्रौढ़ो मांसखण्डः, तस्यार्धं

पूर्वोक्तकीकसात्रयं चोन्नेतुर्भागः। यत्तु वैकर्तस्येतरदर्धं, यश्च हृदयपार्श्ववर्ती क्लोमशब्दाभिधो मांसखण्डस्तदुभयं शमितुर्भागः। अयं शमिता यदि-अब्राह्मणः स्यात्, तदा स्वेन स्वीकृतं तदुभयमन्यस्मै ब्राह्मणाय दद्यात्। यच्छिरोऽस्ति, 'तत्सुब्रह्मण्यायै' सुब्रह्मण्याभिधानर्त्विजे दद्यात्। श्वःसुत्येति निगदनाम तां चाऽऽग्नीध्रो ब्रूते। तथा च आश्वलायन आह-'आग्नीध्रः श्वःसुत्यां प्राह' इति। 'अजिनं' चर्म, तस्याऽऽग्नीध्रस्य भागः। 'इळा' सवनीयपशोः सम्बन्धी योऽयमिळाभागः, स सर्वेषां साधारणः। यद्वा, होतुरसाधारणः।।

जीभ सहित {पशु के} दोनों जबड़े प्रस्तोता का भाग है, श्येन पक्षी के समान वक्ष उद्गाता का, कण्ठ एवं काकुद {कौआ आदि गले का तालु} प्रतिहर्ता का, दाहिनी कमर होता का, बायीं {कमर} ब्रह्मा का, दाहिनी पिण्डली {पैर का निचला भाग} मैत्रावरुण का, बायीं पिण्डली ब्राह्मणाच्छंसी का, कन्धे के साथ दाहिनी बगल अध्वर्यु का, बायाँ {बगल मात्र} उपगाता {जो सामगान करने वालों के साथ गान करते हैं उन} का; बायाँ कन्धा प्रतिप्रस्थाता का, दाहिने नीचे का आगे का बाहु {=पैर का खुर भाग} नेष्टा का, बायाँ पोता का, दाहिना ऊरु {जांघ अर्थात् पैर का ऊपरी भाग} अच्छावाक का, बायाँ आग्नीध्र का, दाहिना बाहु {पैर का ऊपरी भाग} {अत्रि गोत्रज} आत्रेय का {यहाँ यह द्रष्टव्य है कि आत्रेय कोई ऋत्विज नहीं है। फिर भी यह कात्यायन श्रौतसूत्र (१०.२.२१) और कठ संहिता (२८.४) में आते हैं। वस्तुतः इनका कार्य शाङ्खायन श्रौतसूत्र (१६.१८,१६) में देखना चाहिए}, बायाँ सदस्य का, रीढ़ और आसन का भाग गृहपति का, दाहिने दोनों पैर भोजन देने वाले गृहपति {=महराज} का, बांयें दोनों पैर भोजन देने वाले गृहपति {=महराज} की स्त्री का, दोनों ओष्ठ इन दोनों का सामान्य रूप से है, उसे गृहपति ही बाँटेंगे, पुच्छ-भाग को पत्नियों के लिए ले जाते हैं; किन्तु उसे ब्राह्मण को ही दे देना चाहिए। {स्कन्ध पर होने वाले मणि के आकार का माँस पिण्ड} डील, गर्दन के एक बगल में स्थित माँस खण्ड और तीन कीकस अर्थात् पसलियाँ ग्रावस्तुत का, दूसरे पार्श्व में स्थित तीन पसलियाँ और गर्दन के प्रौढ़माँस-खण्ड का आधा उन्नेता का, गर्दन के प्रौढ़ माँसखण्ड का दूसरा आधा भाग और क्लोम अर्थात् हृदय के पास में स्थित माँस खण्ड {फेफड़ा} शमिता {=पशु का आलम्भन करने वाले} का, किन्तु वह {शमिता} यदि ब्राह्मण न हो तो अपने से स्वीकृत दोनों को अन्य ब्राह्मण को दे देना चाहिए। शिर सुब्रह्मण्य को देना चाहिए और जो 'श्वः सुत्याम्' दूसरे दिन के अभिषव को कहता है उस {अध्वर्यु} को चमड़ा देना चाहिए। सवनीय पशु का जो इळाभाग {यज्ञीय हविः} है वह सामान्य रूप से सभी का है, अथवा होता का है।

उक्तानां पशुविभक्तीनां संख्यां प्रशंसति-

ता वा एताः षट्त्रिंशतमेकपदा यज्ञं वहन्ति, षट्त्रिंशदक्षरा वै बृहती, बार्हताः स्वर्गा लोकाः, प्राणांश्चैव तत्स्वर्गांश्च लोकानाप्नुवन्ति, प्राणेषु चैव तत्स्वर्गेषु च लोकेषु प्रतितिष्ठन्तो यन्ति।। इति।

'तां वै' हन्वादय इळान्ताः श्रुत्योक्ता, अस्माभिरपि दृश्यमानाः 'षट्त्रिंशतं' षट्त्रिंशत्संख्याकाः 'एकपदा' हनुजिह्वेत्येवमेकैकेन पदेनाभिधीयमानाः पशुविभक्तयो 'यज्ञं वहन्ति' यज्ञस्य निर्वाहं कुर्वन्ति। संख्या चेयं पूर्वाचार्यैर्व्याख्याता-

> "तत्र (ऊरू) पादौ च तौ द्वौ द्वावन्ये द्वात्रिंशदेव हि।
>
> हन्वादीळान्तमुक्तं ताः षट्त्रिंशद्भक्तयः पशोः"।। इति।

अतः संख्यासाम्यादियं विभक्तिर्बृहतीरूपा। स्वर्गलोकाश्च बृहत्या संपादयितुं शक्यत्वाद् 'बार्हताः' 'तत्' तेन पशुविभागेन सत्रिणः प्राणान् स्वर्गलोकानपि प्राप्नुवन्ति पश्ववयवानां प्राणाधारत्वात्। 'तत्' तेन विभागेन सत्रिणोऽस्मिञ्जन्मनि प्राणेषु प्रतिष्ठिता वर्तन्ते, जन्मान्तरेषु बृहतीद्वारा स्वर्गेषु लोकेषु प्रतिष्ठिता वर्तन्ते।

वे {हनु से लेकर इळा तक के} ये छत्तिस भाग हैं; जिनके एक-एक {हनु, जिह्वा आदि पशु} विभाग से वे यज्ञ का निर्वाह करते हैं। बृहती {छन्द} भी छत्तिस अक्षरों का होता है {अतः संख्यासाम्य से ये विभाग बृहती रूप हैं} और स्वर्ग लोक बृहती से सम्बन्धित है। इस प्रकार वे उस {पशुविभाग} से प्राणों को और स्वर्ग {आदि} लोकों को प्राप्त करते हैं। उस {विभाग} से {इस जन्म में वे सत्र करने वाले} प्राणों में और {जन्मान्तर में बृहती द्वारा} स्वर्ग लोकों में प्रतिष्ठित होते हुए जाते हैं।

पशुं प्रशंसति-

स एष स्वर्ग्यः पशुर्य एनमेवं विभजन्ति।। इति।

'ये' सत्रिणः 'एनं' पशुम् 'एवम्' उक्तेन प्रकारेण विभक्तं कुर्वन्ति, तेषां सत्रिणां स एष पशुः 'स्वर्ग्यः' स्वर्गाय हितो भवति।।

जो {यज्ञ करने वाले} इस {पशु} का इस प्रकार विभाग करते हैं उनके लिए वह यह पशु स्वर्गीय होता है।

प्रकारान्तरेण विभागं निन्दति-

अथ येऽतोऽन्यथा तद्यथा सेळगा वा पापकृतो वा पशुं विमथ्नीरंस्तादृक्तत्।। इति।

'अथ' उक्तविभागप्रशंसानन्तरम्, इतरनिन्दोच्यत इति शेषः। 'ये' सत्रिणः 'अतः' पूर्वोक्तविभागाद् 'अन्यथा' प्रकारान्तरेण, विभजन्त इत्यनुवर्तते, 'तत्' तेषां निदर्शनमुच्यते। इळाशब्देनान्नमुच्यते। तेन सह वर्तत इति सेळमन्नबहुलो देशस्तं गच्छन्तीति 'सेळगाः' विहितकर्माननुष्ठायिनः केवलोदरपोषणपरायणा इत्यर्थः। 'पापकृतः' प्रतिषिद्धकर्मकारिणः। ते च द्विविधा यथा पशुं 'विमथ्नीरन्' केवलं मांसभक्षणार्थमेव हन्युः तादृगेव 'तत्' अन्यथाविभजनं द्रष्टव्यम्।।

और जो पूर्वोक्त विभाग से अन्य प्रकार द्वारा विभाग करते हैं तो यह उसी प्रकार होता है जैसे विहित कर्म का अनुष्ठान न करने वाले {अर्थात् मात्र उदर का पोषण करने वाले} या पाप कर्म करने वाले पशु को मात्र मांसभक्षण के लिए ही मारते हैं।

उक्तं पशुविभागं तद्द्रष्टृमहर्षिद्वारा प्रशंसति-

तां वा एतां पशोर्विभक्तिं श्रौत ऋषिर्देवभागो विदांचकार, तामु हाप्रोच्यैवास्माल्लोकादुच्चक्रामत्।। इति।।

'तामेतां' पूर्वोक्तां पशुविभक्तिं श्रुतनामकस्य मुनेः पुत्रो महर्षिर्देवभागाख्यो महर्षिः 'विदांचकार' ज्ञातवान्। 'तामु ह' तामेव स्वेन ज्ञातां विभक्तिम् 'अप्रोच्यैव' रहस्यविद्येति मत्वा कस्मैचिदप्यकथयित्वैवास्माल्लोकात् 'उच्चक्रामत्' उत्क्रान्तवान् मृत इत्यर्थः।।

उस इस {पूर्वोक्त} पशु के विभाग को श्रुत ऋषि के पुत्र महर्षि देवभाग ने {प्रथमतः} जाना। किन्तु उस {अपने द्वारा ज्ञात विभाग} को {यह गोपनीय है यह मानकर} बिना किसी को बताए ही इस लोक को छोड़ दिया अर्थात् मर गए।

कथं तर्हि तत्संप्रदायः? इत्याशङ्क्याह-

तामु ह गिरिजाय बाभ्रव्यायामनुष्यः प्रोवाच, ततो हैनामेतदर्वाङ् मनुष्या अधीयतेऽधीयते।।१।। इति।

'तामु ह' तामेव पशुविभक्तिम् 'अमनुष्यः' मनुष्यव्यतिरिक्तः, कश्चिद्गन्धर्वादिः 'बाभ्रव्याय' बभ्रोरपत्याय गिरिजनामकाय महर्षये प्रोवाच। 'एतदर्वाङ्मनुष्याः' एतस्माद् गिरिजाख्यात् महर्षेरर्वाचीनाः सर्वे मनुष्याः 'ततः' तस्य गिरिजाख्यस्य सकाशात् 'एनां' पशुविभक्तिमधीयते। पदाभ्यासोऽध्यायसमाप्त्यर्थः।।

पुनः उसी {पशु विभाग} को किसी मनुष्येतर {गन्धर्व आदि} ने बभ्रु के पुत्र गिरिज नामक महर्षि को बताया। उसी {गिरिज नामक महर्षि} से इन सभी अर्वाचीन मनुष्यों ने ज्ञात किया।

मेरा व्याख्यान

इस पर मेरा भाष्य=व्याख्यान इस प्रकार है-

१. अथातः पशोर्विभक्तिः, तस्य विभागं वक्ष्यामः।।
हनू सजिह्वे प्रस्तोतुः, श्येनं वक्ष उद्गातुः, कण्ठः काकुद्रः प्रतिहर्तुर्दक्षिणा श्रोणिर्होतु, सव्या ब्रह्मणो, दक्षिणं सक्थि मैत्रावरुणस्य सव्यं ब्राह्मणाच्छंसिनो, दक्षिणं पार्श्वं सांसमध्वर्योः, सव्यमुपगातॄणां, सव्योंऽसः प्रतिप्रस्थातुर्, दक्षिणं दोर्नेष्टुः, सव्यं पोतुर्,

दक्षिण ऊरुरच्छावाकस्य, सव्य आग्नीध्रस्य, दक्षिणो बाहुरात्रेयस्य, सव्यः सदस्यस्य, सदं चानूकं च गृहपतेर्, दक्षिणौ पादौ गृहपतेर्व्रतप्रदस्य, सव्यौ पादौ गृहपतेर्भार्यायै व्रतप्रदस्यौष्ठ एनयोः साधारणो भवति, तं गृहपतिरेवं प्रशिंष्याज्जाघनीं पत्नीभ्यो हरन्ति, तां ब्राह्मणाय दद्युः, स्कन्ध्याश्च मणिकास्तिस्रश्च कीकसा ग्रावस्तुतस्, तिस्रश्चैव, कीकसा अर्धं च वैकर्तस्योन्नेतुरर्धं चैव वैकर्तस्य, क्लोमा च शमितुस्तद्ब्राह्मणाय दद्याद् यद्यब्राह्मणः स्याच्छिरः सुब्रह्मण्यायै, यः श्वःसुत्यां प्राह तस्याजिनमिळा सर्वेषां होतुर्वा,।।

विशेष ज्ञातव्य- {प्रथम कण्डिका का उत्तरार्ध एवं द्वितीय कण्डिका के सम्पूर्ण भाग को **महर्षि आश्वलायन** ने अपने श्रौतसूत्र के खण्ड **१२.६** में कुल १६ सूत्रों में विभाजित करके लिखा है। इन दोनों ही ग्रंथों में कोई भी पाठभेद नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि ऐतरेय ब्राह्मण के अन्तिम दस अध्याय भी उतने ही प्रामाणिक हैं, जितने कि पूर्वोक्त तीस अध्याय। आर्य समाज के विख्यात वैदिक गवेषक पं. भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने ''वैदिक वाङ्मय का इतिहास'' में ऐतरेय ब्राह्मण के अन्तिम दस अध्यायों को **महर्षि ऐतरेय महीदास** द्वारा रचित न मानकर **महर्षि शौनक** प्रोक्त माना है। हम इस विषय की विशेष समीक्षा की आवश्यकता अनुभव नहीं करते कि ये दस अध्याय **महर्षि ऐतरेय महीदास**-प्रोक्त हैं या **महर्षि शौनक**-प्रोक्त? हमारे लिए दोनों ही ऋषि पूज्य हैं। इस कारण दोनों का ही मत हमारे लिए समान महत्व रखता है। हम इन १० अध्यायों को प्रक्षिप्त कहकर नहीं छोड़ सकते, उस पर भी इन दोनों कण्डिकाओं का **आश्वलायन श्रौतसूत्र** में उपलब्ध होना अति महत्वपूर्ण है। अब तक इस ग्रन्थ में **आश्वलायन श्रौतसूत्र** के अनेक वचनों को प्रमाण रूप में उद्धृत किया है परन्तु यह प्रथम अवसर है, जब सम्पूर्ण कण्डिका **आश्वलायन श्रौतसूत्र** में यथावत् उपलब्ध होती है। इस कारण इन १० अध्यायों की प्रामाणिकता दृढ़ता से पुष्ट होती है।

यहाँ इन कण्डिकाओं में सायण आदि भाष्यकारों ने पशु बलि और उस पशु के मांस का वितरण बड़े ही घृणित और बीभत्स ढंग से दर्शाया है। इसी प्रकार का संकेत इन भाष्यकारों ने इस ग्रन्थ के अनेक भागों में दर्शाया है, विशेषकर खण्ड **२.६** में इसका अत्यन्त क्रूर स्वरूप दर्शाया है। हम यह दृढ़ता से कहना चाहते हैं कि इस ग्रन्थ में अथवा किसी भी वेद वा आर्ष ग्रन्थ में पशुबलि, मांसाहार आदि का किञ्चिन्मात्र भी विधान नहीं है, जो आर्य विद्वान् ऐसे प्रतीत होने वाले प्रसंगों को प्रक्षिप्त मानते हैं, वे भी भारी भ्रम में हैं। इसकी विशेष चर्चा भूमिका में की गयी है। अब तक के हमारे व्याख्यान के आधार पर विज्ञ पाठक स्वयं ही समझ गये होंगे कि जिन प्रसंगों को कुछ विद्वान् प्रक्षिप्त अथवा पशुबलि और मांसाहार का प्रतिपादक मानते हैं, वे कितने अंधकार में हैं और उन प्रसंगों में सृष्टिविद्या (विज्ञान) के कितने गम्भीर रहस्य छुपे हुए हैं, जिन्हें हमने उद्घाटित किया है। यहाँ भी सृष्टिविद्या के ही कुछ गम्भीर रहस्यों का उद्घाटन किया गया है।}

व्याख्यानम्- पूर्व के अनेक अध्यायों में **पशुरूप संवत्सर** अर्थात् आदित्य आदि लोकों के निर्माण की चर्चा की गयी है, यहाँ उसी **आदित्यरूप पशु** के विभागों को दर्शाया गया है। आदित्य लोकों में विद्यमान पदार्थ का विभाजन कैसे-२ होता है, इसका वर्णन अगली कण्डिका में किया गया है।।

{प्रस्तोता = अग्निः प्रस्तोता (तै.सं.३.३.२.१), अपानः प्रस्तोता (कौ.ब्रा.१७.७; गो.उ.५.४)। हनू = हनू वा एते यज्ञस्य यदधिषवणे (तै.सं.६.२.११.३; काठ.२५.६; क.४०.२)} यहाँ ग्रन्थकार ने आदित्य लोक के अन्दर विभिन्न क्षेत्रों का वर्णन किया है, जो क्रमशः निम्नानुसार है-

(१) ज्वालाओं के समान वर्तमान भेदक शक्तिसम्पन्न एवं सबको अपने अन्दर समेटने की क्षमता से युक्त भाग **'हनु'** संज्ञक कहलाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जो छन्दादि रश्मियां इस प्रकार के गुणों से युक्त होती हैं, वे **'हनु'** कहलाती हैं। यहाँ **'हनू'** पद द्विवचनान्त होने से यह संकेत मिलता है कि इस प्रकार की छन्दादि रश्मियां दो प्रकार के स्वरूपों वाली होती हैं। उनमें से कुछ छन्दरश्मियां हिंसक गुणों से युक्त

होती हैं, तो अन्य छन्द रश्मियां उत्क्षेपक वा उत्प्रेरक गुणों से युक्त होती हैं। संस्कृत-हिन्दी आप्टेकोष में **'हन्'** धातु के दोनों ही प्रकार के अर्थ दिये हैं। इस प्रकार की दोनों छन्द आदि रश्मियों का विशेष सम्बन्ध **अपानरूप प्रस्तोता** से होता है, साथ ही इनके कारण अग्नितत्त्व की विशेष समृद्धि होती है। इनके कारण ही विभिन्न प्रकार के संयोगादि कर्मों को भी बल मिलता है क्योंकि इन रश्मियों में भेदक और संयोजक दोनों ही गुणों वाली रश्मियां विद्यमान होती हैं। इसलिए कहा गया है **{प्राजापत्यः प्रस्तोता (मै.४.४.८), (प्राजापत्यो यज्ञः - काठ.३१.१५; जै.ब्रा.२.२६१; तै.ब्रा.३.७.१.२)}**

(२) ये छन्द रश्मियां **{श्येनः = गायत्री वै श्येनः सोमभृत् (मै.३.७.६), श्येनः शंसनीयं गच्छति (नि.४.२४), श्येन आदित्यो भवति श्यायतेर् गतिकर्मणः (नि.१४.१३), यत् संश्याययति तस्माच्छ्येनस्तच्छ्येनस्य श्येनत्वम् (गो.पू.५.१२), एतद्वै वयसामोजिष्ठं बलिष्ठं यच्छ्येनः (श.३.३.४.१५)। वक्षः = वक्षो भासोऽध्यूढ़म् (नि.४.१६), प्राप्तं वस्तु (म.द.ऋ.भा.१.१२४.४) वह प्रापणे।}** कुछ छन्द रश्मियां अतिशीघ्र गमन करने वाली सबसे बलिष्ठ ऊपर की ओर उठती हुई होती हैं। इसमें गायत्री छन्द रश्मियों की प्रधानता होती है। ये रश्मियां विभिन्न परमाणु आदि पदार्थों को वहन करने वाली और सोम रश्मियों को अधिगृहीत करके उनका भरण-पोषण करने में विशेष सक्षम होती हैं। **{उद्गाता = प्राण उद्गाता (कौ.ब्रा.१७.७; गो.उ.५.४; तै.आ.१०.६४.१), सूर्य उद्गाता (गो.पू.१.१३), आदित्यो वा उद्गाता (गो.पू.२.२४)}** ये रश्मियां आदित्य अर्थात् आदित्य रश्मियों में विशेषरूप से विद्यमान होती हैं। इनके कारण ही आदित्य रश्मियां अतिशीघ्र गमन करती हुई ऊपर की ओर निरन्तर उठती और चमकती रहती हैं। इनमें प्राण नामक प्राणतत्त्व की भी प्रधानता होती है तथा ये आदित्य रश्मियां परमाणु आदि पदार्थों को वहन करने में भी सक्षम होती हैं।

(३) **{कण्ठः = कणति येन शब्दं करोतीति कण्ठः (उ.को.१.१०३) (कण शब्दार्थः, कण गतौ)। काकुत् = वाङ्नाम (निघं.१.११)। प्रतिहर्ता = मरुतः प्रतिहर्तारः (तै.सं.३.३.२.१), व्यानः प्रतिहर्त्ता (कौ.ब्रा.१७.७; गो.उ.५.४), रौद्रो वै प्रतिहर्ता (गो.उ.३.१६), पीछे धकेलने वाला एवं दूर करने वाला (आप्टेकोष)। प्रतिहारः = विद्युतम्प्रतिहारं (जै.उ.१.३.३.१), स्तोमम्प्रतिहारम् (जै.उ.१.३.३.३)}** कुछ छन्दरश्मियां श्रव्य ध्वनि से युक्त होकर गमन करती हैं। ये रश्मियां रुद्ररूप अर्थात् घोर कर्म करने वाली होती हैं। ये विद्युत् को तीव्र बनाकर असुरादि बाधक तत्त्वों को दूर धकेलती हैं तथा विभिन्न संयोगादि क्रियाओं को समृद्ध करने में विशेष क्रियाशील होती हैं। इसमें व्यान रश्मियों के साथ-२ प्राणतत्त्व आदि विभिन्न मरुद् रश्मियां भी विद्यमान होती हैं। इनमें त्रिष्टुप् छन्दरश्मियों की भी प्रधानता होती है। इसलिए कहा गया है-

"त्रिष्टुब् रुद्राणां पत्नी" (गो.उ.२.६)
"रुद्रास्त्रिष्टुभं समभरन्" (जै.उ.१.४.४.५)
"रुद्रास्त्वा त्रैष्टुभेन छन्दसा संमृजन्तु" (तां.१.२.७)

{श्रोणी = जगती छन्द आदित्यो देवता श्रोणी (श.१०.३.२.६), श्रोणिः श्रोणतेर्गतिचलाकर्मणः श्रोणिश्चलतीव गच्छतः (नि.४.३)। होता = नाभिर्वा एषा यज्ञस्य यद्धोता (काठ.२६.१), जागतो हि होता (जै.ब्रा.१.३१८)} आदित्य लोक के केन्द्रीय भाग में होतासंज्ञक मन, वाक्, सभी प्राण, विशेषकर प्राण नामक प्राणतत्त्व व छन्दादि रश्मियां विद्यमान रहती हैं। छन्द रश्मियों में जगती छन्द रश्मियों की प्रधानता होती है। केन्द्रीय भाग शेष विशाल भाग से कुछ भिन्न गति से घूर्णन करता हुआ फिसलता रहता है। यह भाग सम्पूर्ण लोक को अपने साथ बांधे रखता है। इसके लिए नाभिरूप आकाश तत्त्व को यह भाग दृढ़ता से बांधे रखता है। यह वर्णन **दक्षिणा श्रोणि** के रूप में किया गया है।

(५) इसी उपर्युक्त **श्रोणिरूप** भाग का उत्तरी भाग **ब्रह्मा {ब्रह्मा = इन्द्र एव ब्रह्माऽऽसीत् (जै.ब्रा.३.३७४)}** अर्थात् इन्द्रतत्त्व की प्रधानता वाला होता है।

(६) **{सक्थि = सक्थि सचतेरासक्तोऽस्मिन् कायः (नि.६.२०)}** आदित्य लोक में **सक्थि**रूप दक्षिणी भाग में **मैत्रावरुण** संज्ञक छन्दरश्मियों की प्रधानता होती है। हम यह जानते हैं कि **मैत्रावरुण** संज्ञक छन्दरश्मियां तृचरूप समूह में होती हैं, जिनका वर्णन खण्ड **६.४** में किया गया है। आदित्य लोकों के **सक्थि** भाग उनके केन्द्रीय भाग तथा शेष भाग से जुड़े रहकर उनके बीच में आवश्यक दूरी बनाये रखते हैं। इस विषय में खण्ड **५.१५** में विस्तार से सचित्र लिखा जा चुका है। ये **सक्थि** भाग उत्तर एवं दक्षिण की ओर दो भागों में विद्यमान होते हैं। इसके दक्षिणी भाग में **मैत्रावरुण-संज्ञक** तृचरश्मियों की प्रधानता बतलायी गयी है। ये तृचरश्मियां गायत्री-छन्दस्क होने से अन्य छन्दरश्मियों को प्राणापान एवं प्राणोदान से संयुक्त करती हुई विशेष तेज और बल से युक्त करती हैं। इसके साथ ही ये **मैत्रावरुण** संज्ञक

छन्दरश्मियां अन्य गायत्री छन्दरश्मियों का वरण करती हुई इस **सक्थि** भाग में पर्याप्त बल को उत्पन्न करने एवं अग्नि तत्त्व को समृद्ध करने में सहायक होती हैं। **मैत्रावरुण** छन्दरश्मियों का गायत्री छन्दरश्मियों से सम्बन्ध बतलाते हुए ऋषियों का कथन है-

"मैत्रावरुणं वृणीते, गायत्रीं तच्छन्दसां वृणीते" (काठ.२६.६; क.४१.७)

इस बात से हम अवगत हैं कि **मैत्रावरुण** तृचरूप रश्मियों की उत्पत्ति प्राणापान वा प्राणोदान से होती है, इस कारण इनके प्रभाव से प्राणापान व प्राणोदान की प्रधानता भी स्वयं सिद्ध है।

(७) उपर्युक्त **सक्थि** के उत्तरी भाग में **ब्राह्मणाच्छंसी** (६.४ में वर्णित) नामक तृचरूप छन्दरश्मिसमूह की प्रधानता होती है। ये छन्दरश्मियां इन्द्रतत्त्व द्वारा उत्पन्न होती हैं। इसी कारण **ब्राह्मणाच्छंसी** का सम्बन्ध इन्द्र से बतलाते हुए ऋषियों ने कहा है- **ऐन्द्रो ब्राह्मणाच्छंसी (तै.ब्रा.१.७.६.१; श.६.४.३.७)** ये **ब्राह्मणाच्छंसी** छन्दरश्मियां गायत्री- छन्दस्क होने पर भी त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के प्रति आकर्षण का विशेष भाव रखती हैं, इसी कारण ऋषियों का कथन है-

"ब्राह्मणाच्छंसिनं वृणीते, त्रिष्टुभं तच्छन्दसां वृणीते।" (काठ.२६.६; क.४१.७)

इस कारण आदित्य लोक के उत्तरी भाग में तीक्ष्ण तेज और बलों की विद्यमानता होती है।

इस प्रकार ये दोनों ही **सक्थिरूप** भाग गायत्री और त्रिष्टुप् आदि छन्द रश्मियों के प्रभाव से अत्यन्त सुदृढ़ होकर आदित्य लोक के दोनों भागों को थामने के लिए अत्यन्त बलवान् स्तम्भरूप में विद्यमान होते हैं, जो सम्पूर्ण आदित्य लोक के अक्ष के भाग के रूप में विद्यमान होते हैं।

(८) **{पार्श्वः = स्पृशति येन स पार्श्वः (उ.को.५.२७)। अंस = बाहुमूलम् (तु.म.द.य.भा.२५.३)। अध्वर्युः = प्राणापानावेवाध्वर्यू (गो.पू.२.११), द्यौरध्वर्युः (मै.१.६.१), आदित्य एवऽध्वर्युः (ष.२.५)}** आदित्य लोक के दक्षिणी ध्रुव के निकटवर्ती क्षेत्र, जो उसके **स्कन्ध एवं बाहुमूल** के समान होता है, में अध्वर्युतत्त्व की प्रधानता होती है। इसका तात्पर्य यह है कि इस क्षेत्र में प्राणापान-रश्मियों एवं प्रकाशित, अप्रकाशित दोनों ही प्रकार के परमाणु, जिनमें भी प्रकाशित परमाणुओं की अधिकता हो, की प्रधानता होती है। इस क्षेत्र में विभिन्न परमाणुओं के मध्य संसर्ग की क्रिया भी अपेक्षाकृत अधिक तेज है।

(९) इसी प्रकार **उत्तरी भाग के पार्श्वरूप** भागों में **उपगाता** संज्ञक पदार्थों की प्रधानता होती है। **{उपगाता = आर्त्तवा उपगातारः (तै.ब्रा.३.१२.९.४), विश्वे देवा उपगातारः (तै.सं.३.३.२.१), ते य एवेमे मुख्याः प्राणा एत एवोद्गातारश्चोऽपगातारश्च (जै.उ.१.६.३.५)}** इसका तात्पर्य यह है कि उन भागों में सभी मुख्य प्राण रश्मियों एवं ऋतु रश्मियों की प्रधानता होती है। इसके साथ ही इन भागों में सभी प्रकार के देव पदार्थ अन्य भागों की अपेक्षा अधिकता में विद्यमान होते हैं।

(१०) उपर्युक्त भाग के **उत्तरी अंसरूप** भाग में **प्रतिप्रस्थातारूप** पदार्थ की प्रधानता होती है। **{प्रतिप्रस्थाता = शार्दूलौ प्रतिप्रस्थाता (काठ.१२.१०), व्याघ्रौ प्रतिप्रस्थाता (मै.२.३.९)}** इसका तात्पर्य यह है कि इस भाग में विद्यमान पदार्थ तीक्ष्ण भेदक-शक्ति-सम्पन्न होता है। ये भेदक शक्तियां इन्द्र और सोम तत्त्व के पारस्परिक मिश्रण से उत्पन्न होती है। इसका संकेत करते हुए ऋषियों का कथन है-

"यत्र वा अद इन्द्रः सोमोऽत्यपवत ततः शार्दूलः समभवत् तस्मादाह सोमस्य त्विषिरसीति" (काश.७.२.४.३ - ब्रा.उ.को से उद्धृत)

"यत्र वै सोम इन्द्रमत्यपवत स यत्ततः शार्दूलः समभवत्तेन सोमस्य त्विषिः" (श.५.३.५.३)

ये तीक्ष्ण पदार्थ विभिन्न परमाणु आदि पदार्थों को अपने साथ धारण वा वहन करने में किंवा उनको अपना अनुकरण कराने में विशेष सक्षम होते हैं। इसी कारण **महर्षि याज्ञवल्क्य** का कथन है-

"कृतानुकर एव प्रतिप्रस्थाता" (श.२.५.२.३४)

(११) **{दोः = भुजस्य बलम् (म.द.ऋ.भा.५.६१.५), दाम्यत्युपशाम्यति यो येन वा स दोः (उ.को.२.७०)। नेष्टा = नयतीति नेष्टा (उ.को.२.९७)}** आदित्य लोक के **दक्षिणी भाग** की ओर विभिन्न परमाणु आदि पदार्थों को वहन करने वाली **नेष्टारूप** विद्युत् की प्रधानता होती है। यह विद्युत् **दक्षिणी ध्रुव** पर विद्यमान बाहुरूप बलों का कार्य करती है। यह विद्युत् अपनी रश्मियों के द्वारा विभिन्न पदार्थों और लोकों का नियमन करने में सहयोग करती है।

(१२) **सव्य अर्थात् उत्तरी ध्रुव** की ओर विद्यमान विभिन्न पदार्थों का शोधक एवं गमयिता अग्नितत्त्व **पोतारूप** में **दूसरी बाहु** के समान कार्य करता है। ये दोनों बाहुरूप अग्नि और इन्द्र नामक पदार्थ परस्पर एक-दूसरे से जुड़े हुए नाना प्रकार के यजन कर्मों को सम्पादित करते हैं। इसी कारण कहा गया है- **"एतौ (नेष्टापोतारौ) सꣳ सचन्ताविव यजतः" (क.४०.४)**

ये दोनों **नेष्टा** और **पोता** संज्ञक विद्युत् और अग्निरूप पदार्थ आदित्य लोकों के **बाहु** वा बलरूप विद्यमान रहकर इन लोकों के **अक्ष** का कार्य करते हैं। इसलिए कहा गया है-

"प्रतिष्ठे वा इन्द्राग्नी" (कौ.ब्रा.३.६; ५.४, शां.आ.२.१३)

"ओजोभृतौ/बलौ वा एतौ देवानां यदिन्द्राग्नी" (तै.सं.६.५.४.१; तै.ब्रा.१.६.४.४)

"इन्द्राग्निभ्यां वा इमौ लोकौ विधृतौ" (तै.सं.५.३.२.१)

(१३) **{ऊरुः = बह्वाच्छादनं स्वीकरणं वा (म.द.य.भा.४.२७), अनुष्टुपुछन्दो विश्वे देवा देवतोरू (श.१०.३.२.६)}** आदित्य लोक के दक्षिण भाग में केन्द्रीय भाग के ऊपर विद्यमान पूर्वोक्त सक्थिरूप भागों को आच्छादित करता हुआ भाग **'ऊरू'** कहलाता है, जो आदित्य लोक के विशाल भाग के आभ्यान्तर भाग के छोर पर स्थित होता है। इस भाग में अनुष्टुप् छन्दरश्मियां ही **ऊरू** अर्थात् ओजरूप बल के रूप में स्थित होकर सक्थिरूप भागों को बल प्रदान करती हैं। इस भाग में पूर्वोक्त **अच्छावाक** नामक तृचरूप छन्दरश्मि समूहों की प्रधानता होती है। ये **अच्छावाक** छन्द रश्मियां गायत्री छन्दस्क होते हुए भी अनुष्टुप् छन्द रश्मियों से विशेष सम्बन्ध रखने के कारण आदित्य लोकों में स्थित अनुष्टुप् छन्द रश्मियों के साथ संगत होती हुई इनके द्वारा अन्य छन्द रश्मियों को अनुकूलता से थामने में सक्षम होती हैं। इसी कारण **महर्षि जैमिनी** का कथन है-

"आनुष्टुभो हि अच्छावाकः" (जै.ब्रा.१.३१६)

"ईर्म इव वा एषा होत्राणां यदच्छावाकः" (जै.ब्रा.२.३७८)

"ईर्म" शब्द का अर्थ करते हुए **महर्षि यास्क** का कथन है-

"ईर्म इति बाहुनाम समीरिततरो भवति" (नि.५.२५)

इसका आशय यह है कि **अच्छावाक** छन्द रश्मियां **होतृरूप** विभिन्न ऋत्विज् रूप रश्मियों की **बाहुरूप** होकर उन्हें निरन्तर प्रेरित करती हुई दूर-२ तक फैली हुई होती हैं। यहाँ ऋत्विज् से तात्पर्य **मैत्रावरुण** आदि सभी ऋत्विज् रूप रश्मियों का ग्रहण करना चाहिए।

(१४) उपर्युक्त **उरु** का **उत्तरी भाग आग्नीध्र** तत्त्व प्रधान होता है। **आग्नीध्र** के विषय में ऋषियों का कथन है-

"त्रैष्टुभम् आग्नीध्रम्" (मै.३.४.४; काठ.२१.१२)

इसका तात्पर्य यह है कि इस क्षेत्र में त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों की विशेष प्रधानता होती है, जिसके कारण विद्युत् कणों की भी अधिकता होती है।

(१५) आदित्य लोक के **दक्षिणी बाहुरूप** क्षेत्र वा रश्मियां **आत्रेय** प्रधान होती हैं। हम पूर्व में **'दोः'** को बाहु अर्थ में ग्रहण कर चुके हैं, जहाँ **नेष्टा** की प्रधानता बतलायी गयी है। यहाँ पुनः बाहु के प्रयोग के विषय में हमारा मत यह है कि यह बाहु **'दोः'** रूप बाहु के अग्रभाग में स्थित रश्मियां होती हैं। इनके ही द्वारा **'दोः'** रूप बाहु विभिन्न परमाणुओं को नियंत्रित और गृहीत करने में सक्षम होते हैं। इन रश्मियों में **आत्रेय** अर्थात् सूत्रात्मा वायु प्रधानता वाली रश्मियां बहुलता से विद्यमान होती हैं। **'दोः'** संज्ञक बाहुरूप रश्मियों में **नेष्टारूप** विद्युत् की प्रधानता बतलायी गयी है और यह विद्युत् भी सूत्रात्मा वायु रश्मियों के कारण ही आकर्षण और धारण का गुण प्राप्त करती है।

(१६) आदित्य लोक के **उत्तरी भाग** में विद्यमान उपर्युक्त **बाहुरूप** क्षेत्रों में **सदस्यरूप** रश्मियों की प्रधानता होती है। **सदस्य** के विषय में **महर्षि तित्तिर** का कथन है।

"सदस्या ऋतवोऽभवन्" (तै.ब्रा.३.१२.६.४)

इसका तात्पर्य यह है कि इस भाग में ऋतु रश्मियां प्रधान होती हैं, जिसके कारण विभिन्न परमाणु आदि पदार्थों के संयोगादि की प्रक्रिया एवं ऊष्मा की मात्रा अधिक होती है।

(१७) **{अनूकम् = अनूकमेवास्य सामिधेन्यः (श.११.२.६.३), बृहतीछन्दो बृहस्पतिर्देवतानूकम् (श.१०.३.२.३)। सदः = ऐन्द्रं वै सदः (काठ.२५.१०; क.४०.३)। गृहपति = अग्निर्गृहपतिरिति हैक आहुः। सोऽस्य लोकस्य (पृथिव्याः) गृहपतिः (ऐ.५.२५), अयं वै लोको गृहपतिः (गो.पू.४.१; श.१२.१.१.१), तप आसीद् गृहपतिः (तै.ब्रा.३.१२.६.३)}** आदित्य लोक में विभिन्न पार्थिव और आग्नेय परमाणु जहाँ तीव्र तप्त होते हैं, उस क्षेत्र में इन्द्र तत्त्व की प्रधानता होने के साथ-२ विभिन्न सामधेनी रश्मियों की प्रधानता भी होती है। हम खण्ड **१.१** में सामिधेनी छन्द रश्मियों का वर्णन कर चुके हैं। इन सामिधेनी रश्मियों के छन्द गायत्री एवं त्रिष्टुप् होने से इन्द्र और अग्नि तत्त्व दोनों ही प्रमुखता से विद्यमान होते हैं। इसके साथ ही यहाँ बृहती छन्द रश्मियों की भी प्रचुरता होती है। इसके कारण यह भाग अपेक्षाकृत अधिक सघन होता है। **'सदः'** का पृथिवी से सम्बन्ध बतलाते हुए अन्य आचार्यों का भी कथन है-

"सदः पृथिव्याः" (मै.३.८.१; काठ.२४.१०)
"सदो हीयम्" (तै.आ.५.६.७)

(१८) {पादः = दिशः पादाः (तै.सं.७.५.२५.१), प्रतिष्ठा वै पादः (श.१३.८.३.८)} आदित्य लोक के दक्षिणी ध्रुव की ओर विद्यमान दो आधाररूप बिन्दुओं, जिन्हें हमारी दृष्टि में दो उपदिशा कहा जा सकता है तथा जो दक्षिण पूर्व और दक्षिण-पश्चिम दिशा कहलाती हैं, में अग्नि और पृथिवी के परमाणुओं को नाना प्रकार के तेज और बलों से युक्त करने वाला सूक्ष्म विद्युदग्नि प्रचुरता से विद्यमान होता है। 'व्रतम्' शब्द का अर्थ करते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन है- "वीर्यं वै व्रतम्" (श.१३.४.१.१५)। यहाँ विद्युदग्नि ही व्रतरूप वीर्य को प्रदान करने वाला है। इसलिए इनका पालक और रक्षक बतलाते हुए ऋषियों ने कहा है-

"अग्निर्वै देवानां व्रतपतिः" (तै.सं.१.६.७.२; मै.१.८.६; श.१.१.१.२)

(१९) इसी प्रकार उपर्युक्तानुसार उत्तरी भाग की दोनों उपदिशा अर्थात् उत्तर-पूर्व एवं उत्तर-पश्चिम, जो पादरूप ही होती हैं, वे गृहपति अर्थात् अग्नि एवं पृथिवी के परमाणुओं की भार्यारूप अर्थात् भरणीया शक्तिरूप पदार्थों से समृद्ध होती हैं और विभिन्न प्रकार के प्राण और सोम रश्मियां ये पदार्थ ही हो सकते हैं।

(२०) {ओष्ठः = ओषति यो दहति येन वा स ओष्ठः (उ.को.२.४)। उपयामः = इयं (पृथिवी) वाऽउपयामः (तै.सं.६.५.८.३; काठ.२६.१०; क.४२.२), उपयाममधरेणौष्ठेन (प्रीणामि) (मै.३.१५.२)} उपर्युक्त व्रतपद नामक (जो विद्युदग्नि रूप व्रतपति का ही सूचक है) अग्नि तत्त्व की उष्णता पूर्वोक्त उत्तरी और दक्षिणी दोनों ही दिशाओं की उपदिशाओं में सामान्यरूप से विद्यमान होती है।

(२१) {जघनम् = हन्ति येन यद् वा हन्यते तत् जघनम् (उ.को.५.३२)} आदित्य लोक में अग्नि तत्त्व का उपर्युक्तवत् वितरण {प्रशिंष्य = (प्र+शिष्लृ विशेषणे)} पूर्वोक्त गृहपति अर्थात् आग्नेय और पार्थिव परमाणुओं का रक्षक वायु ही करता है। उस वायु की रश्मियां उस अग्नि तत्त्व का वहन करके सर्वत्र संचरित करती रहती हैं। वे वायु रश्मियां ब्राह्मण रूप अर्थात् सदैव प्राणापान की अधिकता वाली ही होती हैं। इसके कारण ही आदित्य लोकों में ऊर्जा के संचरण की क्रियाएं संचालित और रक्षित होती हैं। इसमें विद्युदग्नि की ही भूमिका होती है। इसके बिना यह संचरण कदापि संभव नहीं होता।

(२२) {कीकसा = कङ्कते चञ्चलं भवतीति कीकसम् (उ.को.३.११७)। स्कन्धः = स्कन्दते गच्छति चेष्टते शुष्यति वा येन तत् स्कन्धः (उ.को.४.२०८)} तीन मुख्य प्राण रश्मियां अर्थात् प्राण, अपान एवं व्यान रश्मियां आदित्य लोकों में विभिन्न प्रकार की ध्वनियां उत्पन्न करते हुए गमनागमन क्रियाएं करती हुई छन्दादि रश्मियों को निरन्तर शासित करती हैं अर्थात् विभिन्न छन्दादि रश्मियों को नियंत्रित व प्रेरित करने में इन तीन प्राण रश्मियों की सर्वाधिक भूमिका होती है। ये ही प्राण रश्मियां ग्रावस्तुतरूप सूक्ष्म वाग् रश्मियों से निरन्तर संगत होती हुई अपने कार्यों को संपादित करती हैं। ग्रावस्तुत् के विषय में महर्षि जैमिनी का कथन है- "अर्बुदो ग्रावस्तुत्" (जै.ब्रा.३.३७४), (अर्बुदम् = वाग्वा अर्बुदम् - तै.ब्रा.३.८.१६.३) खण्ड ६.१ की प्रथम कण्डिका के व्याख्यान के अनुसार

प्रैते वदन्तु प्र वयं वदाम ग्रावभ्यो वाचं वदता वदद्भ्यः।
यदद्रयः पर्वताः साकमाशवः श्लोकं घोषं भरथेन्द्राय सोमिनः।।११।।

इत्यादि (ऋ.१०.६४) सूक्तरूप रश्मिसमूह को भी ग्रावस्तुत कहा जाता है, जिनके साथ यहाँ इन तीन मुख्य प्राण रश्मियों का विशेष संगम होता है। इनके कारण आदित्य लोकों में विभिन्न प्रकार के मेघरूप पदार्थ समूह उत्पन्न और संचरित होते रहते हैं।

(२३) पूर्वोक्त भागों {उन्नेता = विष्णुर्वा उन्नेता (जै.ब्रा.२.६८)। अर्धम् = वर्धकम् (म.द.ऋ.भा.४.३२.१)। कर्तः = कूपनाम (निघं.२.२३)} में ही मेघरूप पदार्थों में नाना प्रकार के कूप अर्थात् गुफारूप मार्गों को भी पूर्वोक्त प्राणापान-व्यान नामक रश्मियां उत्कृष्ट विद्युत् के बलों द्वारा उत्पन्न करती हैं। ये कूपरूप मार्ग निरन्तर बढ़ते और फैलते रहते हैं।

(२४) {क्लोमा = क्लोमा वरुणः (श.१२.९.१.१५), (वरुणः = अथ यत्रैतत् प्रदीप्ततरो भवति तर्हि हैष (अग्निः) भवति वरुणः - श.२.३.२.१०)} पूर्वोक्त कूपरूप मार्गों में {शमिता = यजमानः (तु.म.द.य.भा.२८.१०)} तीव्र प्रज्वलित अग्नि जलता हुआ नाना प्रकार के परमाणुओं का निरन्तर यजन और विभाजन करता रहता है। वे यजमानरूपी परमाणु ब्राह्मणरूप ही होते हैं अर्थात् उनमें विद्युत् बलों की

विद्यमानता अवश्य होती है। जिन परमाणुओं में ऐसा नहीं होता, उनमें संयोजन और विभाजन की क्रिया नहीं होती।

(२५) **{सुब्रह्मण्या = ब्रह्म वै सुब्रह्मण्या (कौ.ब्रा.२७.६; जै.ब्रा.३.३०७), वाग्वै सुब्रह्मण्या (ऐ.६.३; जै.ब्रा.२.७८)। शिरः = अथ यज्ञायज्ञीयं शिर एव तत् (जै.ब्रा.१.२५४), शिरो हविर्धानं (मै.३.८.८), श्रीः वै शिरः (श.१.४.५.५; २.१.२.८)}** विभिन्न वाग् रश्मियां, विशेषकर ब्रह्मरूप गायत्री छन्दरश्मियां **शिरोरूप** विभिन्न प्राथमिक प्राण रश्मियों के साथ निरन्तर संगत होकर नाना प्रकार के संयोग और विभागों के कार्य को संपादित करती हैं। इस क्रिया में सूत्रात्मा वायुरूप **सुब्रह्मण्या** रश्मियों का भी विशेष योगदान रहता है। यहाँ **'शिर'** शब्द से आदित्य लोकों के केन्द्रीय भाग का भी ग्रहण होता है, जहाँ पर ये क्रियाएं विशेषरूप से होती हैं।

(२६) **{श्वः = श्वो बृहत् (साम) (तै.सं.३.१.७.२)}** पूर्व में अनेकत्र वर्णित **बृहत्** सामरूप रश्मियां, जो नाना प्रकार की भेदन-शक्तियों से संपन्न होती हैं, विभिन्न प्रकार की उत्पादन क्रियाओं को सम्पादित करती हैं अर्थात् वे नाना प्रकार के नवीन तत्त्वाणुओं को उत्पन्न करती हैं। **{अजिनम् = जेतुमयोग्यम् (तु.म.द.य.भा.३०.१५)}** ये उत्पादन क्रियाएं और इनको सम्पन्न करने वाली रश्मियां अति तीव्र होने से अनियम्य होती हैं, वे सम्पूर्ण पदार्थ में भारी विक्षोभ उत्पन्न करती हैं। यह क्रिया भी आदित्य लोकों के केन्द्रीय भागों में ही विशेषकर होती है।

(२७) **इडारूप** विभिन्न संयोज्य परमाणु एवं छन्द रश्मियां **होतारूप** विभिन्न प्राणरश्मियों एवं मनस्तत्त्व के साथ निरन्तर संगत होती हुई सम्पूर्ण आदित्य लोक में विचरण करती हैं। यहाँ **होता** का तात्पर्य प्राण एवं मनस्तत्त्व के अतिरिक्त आदित्य लोक भी है, इसलिए कहा गया है-

"असौ वै होता योऽसौ (सूर्यः) तपति" (गो.उ.६.६)

इस प्रकार सम्पूर्ण आदित्य लोक इनसे पूरी तरह भरा होता है। यहाँ **'इडा'** शब्द से सभी प्रकार की छन्द रश्मियों का ग्रहण किया गया है। हम पूर्वोक्त प्रकरणों में **शिल्प** संज्ञक **नाभानेदिष्ठ, वालखिल्य, वृषाकपि** एवं **एवयामरुत्** सूक्तरूप छन्द रश्मिसमूहों की आदित्य लोकों के निर्माण महती भूमिका को दर्शा चुके हैं, जिनके विषय में पूर्व अध्याय के प्रथम खण्ड में कहा गया है-

"आत्मसंस्कृतिर्वाव शिल्पानि छन्दोमयं वा एतैर्यजमान आत्मान संस्कुरुते।"

अर्थात् ये **शिल्प** संज्ञक रश्मियां सम्पूर्ण आदित्य लोक में सतत विचरण करती रहती हैं। यहाँ **'आत्मा'** शब्द आदित्य का सूचक है। इसी कारण कहा गया है-

"आत्मा वै वृषाकपिः" (ऐ.६.२९; गो.उ.६.८)

इस प्रकार यहाँ आदित्य लोक का सत्ताईस भागों में वर्गीकरण किया गया है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इसका भाष्यसार अगली कण्डिकाओं के साथ देखें।।

२. ता वा एताः षट्त्रिंशतमेकपदा यज्ञं वहन्ति, षट्त्रिंशदक्षरा वै बृहती, बार्हताः स्वर्गा लोकाः, प्राणांश्चैव तत्स्वर्गांश्च लोकानाप्नुवन्ति, प्राणेषु चैव तत्स्वर्गेषु च लोकेषु प्रतितिष्ठन्तो यन्ति।।
स एष स्वर्ग्यः पशुर्य एनमेवं विभजन्ति।।
अथ येऽतोऽन्यथा तद्यथा सेळगा वा पापकृतो वा पशुं विमथ्नीरंस्तादृक्तत्।।
तां वा एतां पशोर्विभक्तिं श्रौत ऋषिर्देवभागो विदांचकार, तामु हाप्रोच्यैवास्मा-ल्लोकादुच्चक्रामत्।।
तामु ह गिरिजाय बाभ्रव्यायामनुष्यः प्रोवाच, ततो हैनामेतदर्वाङ् मनुष्या अधीय-तेऽधीयते।।१।।

व्याख्यानम्- यहाँ आदित्य लोक के उपर्युक्त २७ भागों को ३६ भाग कहा गया है। इसका कारण यह है कि कुछ भागों में दो या दो से अधिक भाग विद्यमान हैं, जैसे प्रथम भाग में **'हनू'** द्विवचनान्त होने से दो भागों में विभक्त है। सत्रहवें भाग में **सदस्** और **अनूकम्** ये दो भाग एक साथ दर्शाये हैं।

अठारहवें में दक्षिणी दो **पादों** को एक भाग के रूप में दर्शाया है। उन्नीसवें भाग में उत्तरी दो **पादों** को एक भाग के रूप में दर्शाया गया है। बीसवें में **ओष्ठरूप** दो भागों को एक भाग के रूप में दर्शाया गया है। बाईसवें भाग के एक भाग में ही पांच भागों को दर्शाया गया है। ये पांच भाग हैं- **स्कन्ध, मणिका** एवं **तीन कीकसा**। इस प्रकार नौ भाग अतिरिक्त होने से २७ भागों के स्थान पर ३६ भागों का यहाँ ग्रहण किया गया है। ये ३६ प्रकार के गुणों के युक्त भाग वा पदार्थ पृथक्-२ मार्गों और क्षेत्रों में अपना-२ प्रभाव दर्शाते हुए सम्पूर्ण आदित्य लोक में एकपदा सर्गयज्ञ को संचालित करते हैं। यहाँ **एकपदा** कहने का तात्पर्य यह है कि सभी प्रकार के पदार्थ एक ही प्रकार के मार्ग पर विचरण करते हैं और वह मार्ग है- आदित्य लोक में नाना प्रकार की संयोगादि प्रक्रियाओं का निरन्तर होना। इधर हम जानते हैं कि बृहती छन्दरश्मियां ३६ अक्षरों से युक्त होती हैं। ये ३६ प्रकार के पदार्थ मिलकर आदित्य लोक में बृहती छन्दरश्मियों जैसा प्रभाव दर्शाते हैं। इसके कारण वे सभी पदार्थ व्यापक क्षेत्र में फैलते हुए आदित्य लोकों को अपनी-२ मर्यादाओं में बांधे रखते हैं। आदित्य लोकों के केन्द्रीय भाग भी बृहती छन्द रश्मियों के द्वारा ही मर्यादायुक्त होते हैं। इन सभी ३६ प्रकार के पदार्थों द्वारा आदित्य लोकों के केन्द्रीय भागों का निर्माण एवं उनकी सभी प्रकार की क्रियाओं का विधिवत् संचालन हो पाता है। इन सभी ३६ प्रकार के पदार्थों के द्वारा आदित्य लोक और उनके केन्द्रीय भाग विभिन्न प्रकार की प्राण और छन्द रश्मियों से परिपूर्ण होते हैं।।

इस प्रकार ३६ विभागों व पदार्थों के द्वारा पशुरूप आदित्य लोक अपने स्वर्गलोक अर्थात् केन्द्रीय भागों के सफल निर्माण में समर्थ होते हैं। यदि ये सभी ३६ प्रकार के पदार्थ समुचित विभागों के रूप में व्यवस्थित रूप में विद्यमान न हों, तो केन्द्रीय भागों का सफल निर्माण सम्भव नहीं हो पाएगा।।

यदि आदित्य लोकों में इन ३६ प्रकार के पदार्थों का विभाग अन्यथा रूप में हो जाए, तब सम्पूर्ण आदित्य लोक अस्त-व्यस्त हो जाता है। उस समय आदित्य लोक में नाना प्रकार के पदार्थों में मंथन और विक्षोभ की अनिष्टकारी क्रियाएं होने लगती हैं। उस समय **'सेडगा' = स+इडा+गाः** अर्थात् विभिन्न संयोज्य परमाणु नाना प्रकार की वाग् रश्मियों से युक्त होते हुए भी सूक्ष्म असुर रश्मियों से आच्छादित हो जाते हैं, जिससे उनमें भारी विक्षोभ होने से सम्पूर्ण आदित्य लोक की क्रियाएं एवं बल विकृत हो जाते हैं। इस प्रकार आदित्य लोक का स्वरूप ही नष्ट वा विकृत हो जाता है।।

आदित्य लोकों में पदार्थ का इस प्रकार विभाजन सर्वप्रथम **महर्षि श्रुत** के पुत्र **महर्षि देवभाग** ने अपने योगबल के द्वारा जाना परन्तु वे इसका ज्ञान दूसरों को कराये बिना ही शरीर त्यागकर चले गये, जिससे यह ज्ञान संसार में अन्य किसी को विदित नहीं हो पाया।।

उसके पश्चात् मनुष्य योनि से इतर योनि अर्थात् देव, गन्धर्व आदि में उत्पन्न **महर्षि बभ्रु** के पुत्र **महर्षि गिरिज** ने इस महान् विज्ञान को अपने योग बल के द्वारा समझा, फिर उन्होंने ही समस्त संसार में इस विज्ञान को फैलाया। उसके बाद परम्परा के द्वारा यह विज्ञान **महर्षि ऐतरेय महीदास** को भी प्राप्त हुआ, जो उन्होंने इस ग्रन्थ में उपर्युक्तानुसार वर्णित किया है।

इस प्रकरण में अन्तिम दो कण्डिकाएं मानव इतिहास से जुड़ी हुई हैं, जिनमें इन ऋषियों का केवल यह इतिहास वर्णित है कि उन्होंने आदित्य लोक के विभाग के इस विज्ञान को समझा। इन ऋषियों के पिता का भी नाम यहाँ वर्णित है। यहाँ ऋषियों के नाम यौगिक नहीं हैं। इस कारण ये नाम किसी प्रकार की प्राणादि रश्मियों के वाचक नहीं है। ब्राह्मण ग्रन्थों में कहीं-२ इसी प्रकार का कुछ मानव इतिहास प्राप्त होता है, अन्यथा सभी ब्राह्मण ग्रन्थों का विषय केवल सृष्टि विज्ञान ही है, जिसे नित्य इतिहास कहा जा सकता है, ऐसा जानना चाहिए।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- यहाँ किसी भी तारे के पदार्थ का ३६ प्रकार से विभाजन किया गया है।
(१) वे छन्दादि रश्मियां वा तरंगें, जिनकी भेदन शक्ति बहुत अधिक होती है तथा जो तारे के अन्दर विभिन्न पदार्थों का विखण्डन करती रहती हैं।
(२) वे किरणें वा छन्दादि रश्मियां, जो विभिन्न कणों को परस्पर जोड़ने का कार्य करती हैं। इनमें प्रेरण बल विशेषरूप से विद्यमान होता है।

(३) गायत्री छन्द एवं प्राणनामक प्राण रश्मियां धनंजय प्राण से युक्त होकर इस सृष्टि में सबसे अधिक आशुगामी रूप धारण करती हैं। ये ही विद्युत् चुम्बकीय तरंगों को विकिरण के रूप में सर्वाधिक तीव्र गति प्रदान करती हैं और अन्तरिक्ष में ये ही उन्हें वहन भी करती हैं।
(४) कुछ छन्द रश्मियां गम्भीर ध्वनि उत्पन्न करती हुई अति तप्त विद्युदावेशित तरंगों के रूप में परिवर्तित होकर डार्क एनर्जी और डार्क मैटर के दुष्प्रभावों को नष्ट करती हैं।।
(५) तारों के केन्द्रीय भाग के **दक्षिणी भाग** में विभिन्न प्राण व छन्दरश्मियों के साथ जगती छन्दरश्मियों की अधिकता होती है, जिसके कारण इस भाग में **ऊर्जा का उत्सर्जन अपेक्षाकृत अधिक होता है।**
(६) तारों के केन्द्रीय भाग के उत्तरी भाग में विद्युत् बलों की अपेक्षाकृत अधिकता होती है। तारों का यह सम्पूर्ण केन्द्रीय भाग शेष विशाल भाग से भिन्न घूर्णन गति वाला होकर पहिए में bearing की भाँति घूमता रहता है।
(७) तारों के केन्द्रीय भाग और शेष विशाल भाग के बीच में उत्तर और दक्षिण दोनों ही ध्रुवों की ओर अत्यन्त बलवती छन्दादि रश्मियों का सघन रूप विद्यमान होकर दोनों ही भागों को जोड़े व थामे रखता है। इनमें से दक्षिणी भाग में ३ गायत्री छन्द रश्मियां अन्य गायत्री छन्द रश्मियों के साथ मिलकर अपेक्षाकृत तीव्र ऊष्मा को उत्पन्न करती हैं।
(८) इसी प्रकार उत्तरी भाग की ओर इसी क्षेत्र में तीन गायत्री छन्द रश्मियां अन्य रश्मियों, विशेषकर त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों को अपने साथ संयुक्त करके तीव्र विद्युत् बलों से युक्त स्तम्भ का निर्माण करती हैं। तारों के दोनों भागों के बीच एक अन्य प्रकार का पदार्थ भरा रहता है, जिस पर ही दोनों भाग फिसलते रहते हैं। उसी भाग में यह स्तम्भ और इससे पूर्व वर्णित रश्मियों के स्तम्भ विद्यमान होते हैं।
(९) तारों के दक्षिणी ध्रुव के आसपास के क्षेत्र में प्राण और अपान रश्मियों की प्रधानता के साथ-२ संयोग-वियोग की प्रक्रियाओं की भी तीव्रता होती है।
(१०) तारों के **उत्तरी ध्रुव** के आस-पास सभी प्रकार की प्राण रश्मियों एवं ऋतु रश्मियों की प्रधानता होती है। इस कारण यह **भाग अपेक्षाकृत कुछ अधिक प्रकाशित होता है**।
(११) तारे के उत्तरी भाग में ही तीव्र भेदक शक्तिसम्पन्न तरंगें भी विद्यमान होती हैं, जो विभिन्न कणों को वहन करने में भी समर्थ होती हैं।
(१२) तारों के **दक्षिणी ध्रुव से निकलने वाली विद्युत् चुम्बकीय तरंगें उस लोक तथा ग्रह आदि लोकों को नियंत्रित करने में सहयोग करती हैं। यह बाहरी सूक्ष्म पदार्थों को भी अपनी ओर आकर्षित करती हैं।**
(१३) तारों के **दक्षिणी भाग में ऊष्मा की अपेक्षाकृत अधिकता होती है।** इन दोनों ही ध्रुवों पर विद्यमान पदार्थ तारों के अन्दर संयुक्तरूप से विभिन्न प्रकार की क्रियाओं को सम्पन्न करता है।
(१४) तारों के केन्द्रीय भाग के बाहर विद्यमान पूर्वोक्त स्तम्भरूप शक्तिशाली विकिरण समूहों के ऊपरी भाग में तीन गायत्री छन्दरश्मियों का समूह विभिन्न अनुष्टुप् छन्दरश्मियों के साथ विद्यमान होता है, जो उन स्तम्भरूप भागों को बल प्रदान करता है।
(१५) इसी प्रकार तारों के उत्तरी भाग में इसी स्थान पर त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां विद्युदावेशित कणों की तीव्र धाराओं को उत्पन्न करके इस दिशा के स्तम्भरूप भाग को दृढ़ता प्रदान करती हैं।
(१६) तारों के दक्षिणी भाग में बारहवें क्रमांक में वर्णित भाग की विद्युत् रश्मियां सूत्रात्मा वायु से जुड़ी रहती हैं, जिससे विद्युत् चुम्बकीय बलों की क्रियाशीलता उत्पन्न होती है।
(१७) तारों में उत्तरी दिशा में उपर्युक्त प्रकार के भाग में ऊष्मा एवं कणों के संयोग-वियोग की प्रक्रिया की प्रधानता होती है।
(१८) तारों में गर्म आयनों की तीव्र धाराएं निरन्तर बहती रहती हैं।
(१९) तारों के अन्दर १३ प्रकार की गायत्री और त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां कुछ आवृत्ति के साथ १७ छन्द रश्मियों में प्रकट होकर सम्पूर्ण तारे में ऊष्मा को समृद्ध करती रहती हैं।
(२०) तारों की दक्षिण-पूर्व उपदिशा में तीव्र तप्त आयनों की धाराएं प्रचुरता से बहती रहती हैं।
(२१) इसी प्रकार तारों की दक्षिण-पश्चिम दिशा में भी इसी प्रकार की धाराएं विद्यमान होती हैं।
(२२) तारों की उत्तर-पूर्व दिशा में विभिन्न प्रकार की प्राण और सोम रश्मियों की प्रधानता होती है, जिससे नवीन कण और क्वाण्टाज् भी उत्पन्न होते हैं।
(२३) इसी प्रकार की स्थिति तारों की उत्तर-पश्चिम दिशा में भी होती है।
(२४) तारों के उत्तरी भाग में ऊष्मा सामान्यरूप से संचरित होती है।
(२५) इसी प्रकार तारों के दक्षिणी भाग में भी समझें।

(२६) तारों के अन्दर सर्वत्र ही विद्युत् एवं उसकी भी उत्पादिका प्राणापानादि रश्मियां व्याप्त रहकर ऊष्मा संचरण की क्रिया को संपादित करती हैं। इनके बिना ऊष्मा का संचरण सम्भव नहीं हो सकता।
(२७) तारों के अन्दर कुछ रश्मियां विभिन्न प्रकार के बलों का मूल आधाररूप होती हैं। हमारे मत में दैवी छन्दरश्मियां इस कोटि में मानी जा सकती हैं।
(२८) कुछ रश्मियां निरन्तर श्रव्य ध्वनियों को उत्पन्न करती रहती हैं।
(२९) प्राण नामक प्राथमिक प्राणरश्मियां, जो आकर्षण बलों में प्रधानता से कार्य करती हैं, सम्पूर्ण लोक में व्याप्त होती है।
(३०) अपान नामक रश्मियां प्रतिकर्षण बलों का मूल रूप होकर तारों में व्याप्त रहती हैं।
(३१) व्यान नामक रश्मियां सम्पूर्ण चेष्टा में अपनी भूमिका निभाती हुई तारों में व्याप्त रहती हैं।
(३२) प्राण, अपान और व्यान रश्मियां संयुक्तरूप से कार्य करते हुए अन्य छन्दादि रश्मियों के साथ मिलकर **तारों के अन्दर नाना प्रकार के विवरों (holes) को उत्पन्न करती हैं। ये विवर लम्बी गुफाओं के आकार के होते हैं तथा निरन्तर अपनी आकृतियां व स्थान बदलते रहते हैं।**
(३३) तारों के अन्दर विद्युदावेशित और निरावेशित दोनों ही प्रकार के कणों की प्रचुरता होती है। इनमें संलयन व संयोजन की क्रिया सदैव आवेशित कणों के बीच ही होती है। इस क्रिया के लिए उच्च ताप की अनिवार्यता भी होती है।
(३४) तारों के केन्द्रीय भाग में प्राण, सूत्रात्मा वायु और गायत्री छन्द रश्मियों का मिश्रण नाभिकीय संलयन की प्रक्रियाओं को सम्पन्न करने में विशेष भूमिका निभाता है।
(३५) तारों के केन्द्रीय भाग में नाभिकीय संलयन की क्रियाओं को सम्पन्न करने में उपर्युक्त रश्मियों के अतिरिक्त दो तीक्ष्ण अनुष्टुप् छन्द रश्मियों की भी भूमिका होती है। नाभिकीय संलयन की यह प्रक्रिया अत्यन्त तीव्र और अनियंत्रित होती है। हाँ, इतना अवश्य है कि उसका विस्तार केन्द्रीय भाग के बाहर नहीं हो पाता।
(३६) तारों के अन्दर पूर्व अध्यायों में वर्णित अनेक प्रकार की छन्दरश्मियां और सभी प्रकार की प्राणरश्मियां निरन्तर सर्वत्र विचरण करती रहती हैं। ये तारे के सम्पूर्ण पदार्थ को परस्पर संयुक्त रखते हुए उनमें एकरूपता बनाये रखती हैं।

तारों के पदार्थ का इस प्रकार से ३६ रूपों में विभाजन किया गया है, यद्यपि विभाजन में कुछ भिन्न शैली भी अपनायी जा सकती है परन्तु जिस पदार्थ की यहाँ जिस भाग में विद्यमानता अथवा प्रधानता बतलायी गयी है, उस पदार्थ की वहीं विद्यमानता वा प्रधानता आवश्यकरूप से होती है। यदि इसमें कोई विकृति आ जाए, तो सम्पूर्ण तारा ही विकृत और अस्त-व्यस्त हो जाता है। तारों का यह सूक्ष्म और गहन विज्ञान ऋषियों के महान् योगबल का परिचायक है। इस विज्ञान को सर्वप्रथम अति प्राचीनकाल में **महर्षि श्रुत** के पुत्र **महर्षि देवभाग** ने अपने योगबल के द्वारा साक्षात् किया था परन्तु वे इस विज्ञान को प्रचारित करने से पूर्व ही दिवंगत हो गये थे, ऐसा ग्रन्थकार का मत है। इस घटना के कुछ काल पश्चात् मनुष्येतर देव अथवा गंधर्व आदि योनि में उत्पन्न **महर्षि बभ्रु** के पुत्र **महर्षि गिरिज** ने अपने योगबल से इस विज्ञान को साक्षात् किया था, जिसके पश्चात् सभी मनुष्यादिकों को इस गम्भीर विज्ञान का प्रकाश हुआ। इसी परम्परा में स्वयं ग्रन्थकार भी इस विज्ञान से अवगत हो सके।।

सायण भाष्य व मालवीय अनुवाद

अब देखें खण्ड ७.१४ पर सायण भाष्य एवं डॉ. सुधाकर मालवीय का हिन्दी अनुवाद-

पुत्रनिमित्तलाभप्रतिपादिका नारदोक्ता दश गाथा उदाहृत्य पुत्रजन्मोपायोपदेशपरं नारदवाक्यमवतारयति-

अथैनमुवाच,-वरुणं राजानमुपधाव, पुत्रो मे जायतां तेन त्वा यजा इति।। इति।

'अथ' पुत्रेच्छानिमित्तकथनानन्तरम् 'एनं' पुत्रार्थिनं हरिश्चन्द्रं नारद उवाच- हे हरिश्चन्द्र, वरुणं राजानम् 'उपधाव' प्रार्थयस्व। येन प्रकारेण प्रार्थनीयः, सोऽभिधीयते। हे वरुण त्वत्प्रसादात् मे पुत्रो जायतां, तनस्तेन पुत्रेण 'त्वां यजे' त्वामुद्दिश्य यज्ञं करवाणीति।।

इस {पुत्रेच्छा रूप कारण के कथन} के बाद इन {पुत्रार्थी राजा हरिश्चन्द्र} से नारद ने इस प्रकार कहा- 'हे हरिश्चन्द्र, राजा वरुण से प्रार्थना करो कि मुझे पुत्र उत्पन्न होए, मैं उससे तुम्हारा यजन करूँगा।'

प्रार्थनाप्रकारं नारदोपदेशमुक्त्वा हरिश्चन्द्रवृत्तान्तं दर्शयति-

तथेति; स वरुणं राजानमुपससार, पुत्रो मे जायतां तेन त्वा यजा इति; तथेति; तस्य ह पुत्रो जज्ञे रोहितो नाम।। इति।

नारदोपदेशमङ्गीकृत्य हरिश्चन्द्रो वरुणम् 'उपससार' प्रार्थयामास। 'सः' वरुणोऽपि तथाऽस्त्विति तदीयपुत्रोत्पत्त्यै वरं दत्तवान्। तेन च वरेणोत्पन्नस्य 'रोहितः'-इत्येतन्नामाभूत्।।

उन्होंने कहा- 'अच्छा।' और {नारद के उपदेश से प्रेरित होकर} उन्होंने राजा वरुण से प्रार्थना की कि 'मुझे पुत्र उत्पन्न होए तो उससे मैं आपका यजन करूँगा। {राजा वरुण ने वर देते हुए कहा}- 'वैसा ही हो।' {उस वर के प्रभाव से} उन्हें रोहित नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ।

अथ बहुभिः पर्यायैर्वरुणस्योक्तिर्हरिश्चन्द्रस्य प्रत्युक्तिश्चेत्युभयं प्रतिपाद्यते। तत्र प्रथमं पर्यायं दर्शयति-

तं होवाचाजनि वै ते पुत्रो यजस्व माऽनेनेति; स होवाच, यदा वै पशुर्निर्दशो भवत्यथ स मेध्यो भवति, निर्दशो न्वस्त्वथ त्वा यजा इति; तथेति।। इति।

'तं' हरिश्चन्द्रं वरुण उवाच- हे हरिश्चन्द्र, ते पुत्रः 'अजनि वै' उत्पन्न एव, अनेन पुत्रेण मामुद्दिश्य यागं कुर्विति। एवं वरुणेनोक्ते हरिश्चन्द्रः पुनः प्रत्युवाच। यागार्थः पशुर्यदा निर्दशो भवति, तदा स पशु 'मेध्या' यागयोग्यो भवति। निर्गतान्यशौचदिनानि दशसंख्याकानि यस्मात् पशोः सोऽयं 'निर्दशः'। तस्मादयं 'नु' क्षिप्रं निर्दशोऽस्तु, 'अथ' अनन्तरं त्वा प्रति अहं 'यजै' इत्येतद्वाक्यम्। वरुणः 'तथाऽस्तु' इत्यङ्गीचकार।।

उन {हरिश्चन्द्र} से वरुण ने कहा- 'हे हरिश्चन्द्र! तुम्हें पुत्र उत्पन्न हो गया। तुम अब इससे मेरे लिए याग करो।' {इस प्रकार वरुण के कहने पर पुनः} हरिश्चन्द्र ने कहा- 'जब याग के लिए पशु दस दिन का {अशौच से निवृत्त} होता है, तब वह पशु याग के योग्य होता है। अतः यह शीघ्र ही दस दिन का हो जाय, तब इससे तुम्हारा यजन करूँ।' वरुण ने कहा- 'वैसा ही हो।'

द्वितीयमुक्तिप्रत्युक्तिपर्यायं दर्शयति-

स ह निर्दश आस तं होवाच निर्दशो न्वभूद्यजस्व माऽनेनेति; स होवाच, यदा वै पशोर्दन्ता जायन्तेऽथ स मेध्यो भवति; दन्ता न्वस्य जायन्तामथ त्वा यजा इति; तथेति।। इति।

दशदिनाशौचापगमे शुद्धत्वाद् यथा यागयोग्यत्वं, तथा दन्तोत्पन्नत्वादवयवसंपूर्त्या यागयोग्यत्वमित्यभिप्रायः। स्पष्टमन्यत्।।

जब वह दस दिन का हो गया तब उन {हरिश्चन्द्र} से वरुण ने कहा- 'यह दस दिन का हो गया अब इससे मेरा यजन करो।' उन {हरिश्चन्द्र} ने कहा- 'जब पशु के दांत हो जाते हैं तब वह {अवयवों के पूर्ति के कारण} यज्ञ के योग्य होता है। अतः उसके दाँत जब निकल आवें, तब मैं आपका यजन करूंगा।' वरुण ने कहा- 'वैसा ही हो।'

तृतीयं पर्यायं दर्शयति-

तस्य ह दन्ता जज्ञिरे; तं होवाचाज्ञत वा अस्य दन्ता यजस्व माऽनेनेति; स होवाच, यदा वै पशोर्दन्ताः पद्यन्तेऽथ स मेध्यो भवति; दन्ता न्वस्य पद्यन्तामथ त्वा यजा इति, तथेति।। इति।

'अज्ञत वै' जाता एव। 'पद्यन्ते' पतन्ति। प्रथमोत्पन्नानां दन्तानामस्थायित्वेन मुख्यपश्ववयवत्वाभावात् तत्पाते सति पशोर्मेध्यत्वम्।।

उसके दाँत निकल आए। उन {हरिश्चन्द्र} से वरुण ने कहा- 'अब इसके दाँत निकल आए। अतः इससे मेरा यजन करो।' उन {हरिश्चन्द्र} ने कहा- 'जब पशु के {प्रथमोत्पन्न} दाँत गिर जाते हैं, तब

वह {मुख्य पशु} यज्ञ के योग्य होता है। अतः इसके {प्रथमतः उत्पन्न दूध के} दाँत जभी गिर जायेंगे, तभी मैं आपका यजन करूँगा।' वरुण ने कहा- 'वैसा ही हो।'

चतुर्थं पर्यायं दर्शयति-

तस्य ह दन्ताः पेदिरे; तं होवाचापत्सत वा अस्य दन्ता, यजस्व माऽनेनेति; स होवाच, यदा वै पशोर्दन्ताः पुनर्जायन्तेऽथ स मेध्यो भवति; दन्ता न्वस्य पुनर्जायन्तामथ त्वा यजा इति, तथेति।। इति।

'अपत्सत वै' पतिताः। पुनरुत्पन्नानां दन्तानां स्थिरत्वेन संपूर्णावयवत्वात् पशोर्मेध्यत्वम्।।

उसके दाँत गिर गए। उन {हरिश्चन्द्र} से वरुण ने कहा- 'अब इसके दाँत गिर गए हैं। अतः इससे मेरा यजन करो।' उन {हरिश्चन्द्र} ने कहा- 'जब पशु के दाँत पुनः निकल आते हैं तब {सम्पूर्ण अवयव होने से} वह यज्ञ के योग्य होता है। अतः इसके पुनः दाँत निकल आएँ, तब मैं इससे आपका यजन करूंगा।' वरुण ने कहा- 'वैसा ही हो।'

पंचमं पर्यायं दर्शयति-

तस्य ह दन्ताः पुनर्जज्ञिरे; तं होवाचाज्ञत वा अस्य पुनर्दन्ता, यजस्व माऽनेनेति; स होवाच, यदा वै क्षत्रियः सान्नाहुको भवत्यथ स मेध्यो भवति; सन्नाहं नु प्राप्नोत्वथ त्वा यजा इति, तथेति।। इति।

'अज्ञत वै' जाता एव। पश्वन्तरस्य पुनर्दन्तोत्पत्तिमात्रेण मेध्यत्वेऽप्यस्य पशोः क्षत्रियत्वात् स्वजात्युचितधनुर्बाणकवचादिसन्नाहशीलित्वे सति जात्युचितव्यापारसंपूर्तौ मेध्यत्वम्, तस्मात् 'नु' क्षिप्रमेवासौ सन्नाहं प्राप्नोतु, अनन्तरमेव यजा इत्युत्तरं वरुणोऽङ्गीचकार।।

उसके दाँत भी पुनः निकल आए। उन {हरिश्चन्द्र} से वरुण ने कहा- 'अब इसके पुनः दाँत भी निकल आए। अतः अब इससे मेरा यजन करो।' उन {हरिश्चन्द्र} ने कहा- 'जब क्षत्रिय {स्व जाति के उचित धनुष, बाण एवं कवच आदि रूप से} शस्त्रधारी हो जाता है तब वह यज्ञ के योग्य हो जाता है। अतः यह शीघ्र ही शस्त्रधारी हो जाय, तब मैं आपका यजन करूँगा।' वरुण ने कहा- 'वैसा ही हो।'

षष्ठं पर्यायं दर्शयति-

स ह सन्नाहं प्रापत्, तं होवाच, सन्नाहं नु प्राप्नोद्यजस्व माऽनेनेति, स तथेत्युक्त्वा पुत्रमामन्त्रयामासः ततायं वै मह्यं त्वामददाद्धन्त त्वयाऽहमिमं यजा इति।। इति।

सन्नाहप्राप्तेरूर्ध्वं 'सः' हरिश्चन्द्रो वरुणोक्तिमङ्गीकृत्य पुत्रमामन्त्र्यैवमुवाच। उपलालनार्थं पुत्रे पितृवाचि ततशब्दप्रयोगः। हे 'तत' हे पुत्र! 'अयम्' एव वरुणो मह्यं 'त्वां' पुत्रवरेण दत्तवान् 'हन्त' दुष्टोऽहम् 'इमं' वरुणं यत् त्वया पुत्रेण 'यजै' यागरूपां पूजां करवाणीति हरिश्चन्द्रस्योक्तिः।।

अब वह शस्त्रधारी हो गया। उन {हरिश्चन्द्र} से वरुण ने कहा- 'अब यह शस्त्रधारी हो गया। अतः इससे मेरा यजन करो।' उन {हरिश्चन्द्र} ने 'ठीक है'- ऐसा कहकर पुत्र को आमन्त्रित किया। हे पुत्र! इन {वरुण} ने तुम्हें मुझे दिया है। अतः पापी मैं तुमसे इन {वरुण} का यजन करूँगा।'

अथ रोहितनाम्नः पुत्रस्य कृत्यं दर्शयति-

स ह नेत्युक्त्वा धनुरादायारण्यमुपातस्थौ; स संवत्सरमरण्ये चचार।।२।। इति।

'स ह' स खलु रोहिताख्यः पुत्रः पितुर्वाक्यं निषिध्य, स्वरक्षणार्थं धनुः स्वीकृत्यारण्यं प्रत्युपगतोऽभूत्। कस्मिंश्चिदरण्ये नैरन्तर्येण 'सः' रोहितः संवत्सरं चचार।।

वह {रोहित नामक पुत्र} अस्वीकार करके धनुष लेकर वन में चला गया। वहाँ किसी अरण्य में वह एक वर्ष तक घूमता रहा।

मेरा व्याख्यान

अब इस पर मेरा भाष्य=व्याख्यान इस प्रकार है-

१. अथैनमुवाच,-वरुणं राजानमुपधाव, पुत्रो मे जायतां तेन त्वा यजा इति।। तथेति; स वरुणं राजानमुपससार, पुत्रो मे जायतां तेन त्वा यजा इति; तथेति; तस्य ह पुत्रो जज्ञे रोहितो नाम।।

व्याख्यानम्- **{रोहितः = रोहितं वै नामैतच्छन्दो यत् पारुच्छेपमेतेन वा इन्द्रः सप्त स्वर्गांल्लोकानरोहत् (ऐ.५.१०), एतद्वा आसां (गवाम्) बीजं यद्रोहितं रूपम् (मै.४.२.१४)}** पूर्वोक्त **हरिश्चन्द्र** नामक रश्मियों अर्थात् उदान मिश्रित सोम रश्मियों को पूर्वोक्त **नारद** नामक प्राण रश्मियां, ऋतु संज्ञक प्राण रश्मियों के साथ मिलकर पूर्वोक्त **पुत्र** संज्ञक अग्नि तत्त्व को उत्पन्न करके आदित्य लोकों के केन्द्रीय भाग को **वरुण** अर्थात् प्राणापान एवं व्यान से युक्त विद्युदग्नि के साथ संगत करके उसे उज्ज्वल और तेजस्वी बनाने के लिए प्रेरित करती हैं।।

उन्हीं **नारदरूप** प्राण रश्मियों की प्रेरणा से अति तेजस्वी **हरिश्चन्द्र** रश्मियां अर्थात् उदान मिश्रित सोम रश्मियां प्राणापानव्यान रश्मियों के चारों ओर व्याप्त होकर अति निकटता से गति करने लगती हैं। उनकी इस गति का उद्देश्य **पुत्र** संज्ञक अग्नि तत्त्व को उत्पन्न करके आदित्य लोकों के केन्द्रीय भाग को उत्पन्न करना होता है। इसी कारण वे उपर्युक्त सोम रश्मियां प्राणापानादि रश्मियों के साथ निकटता से संगत होने लगती हैं। उनके इस संगम से **रोहित** नामक रक्तवर्णीय अग्नि तत्त्व उत्पन्न होता है, जो आदित्य लोक के निर्माण का बीजरूप होता है। वस्तुतः यह अग्नि **रोहित** नामक छन्द रश्मियों, जो उपर्युक्त **हरिश्चन्द्र** एवं **वरुण** संज्ञक सूक्ष्म रश्मियों से उत्पन्न होती हैं, से उत्पन्न होता है। ये **रोहित** छन्द रश्मियां विभिन्न परमाणु वा रश्मि आदि पदार्थों को उत्पन्न करने में बीजरूप होती हैं। **रोहित** छन्द रश्मियां, वे छन्द रश्मियां हैं, जो **परुच्छेप** ऋषि नामक शक्तिशाली ऋषि प्राण रश्मियों से उत्पन्न होती हैं। ये रश्मियां **ऋ.१.१२७-१३९**, इन १३ सूक्तों में वर्णित हैं, जिनमें से यहाँ **रोहित** उन छन्द रश्मियों का नाम है, जिनका वर्णन खण्ड **५०.१०, ५.१२-१३** में किया गया है। इन खण्डों में आदित्य लोकों के निर्माण की प्रक्रिया के अन्तर्गत ही इन छन्द रश्मियों की उत्पत्ति दर्शायी गयी है। इन छन्द रश्मियों के विषय में वे खण्ड ही द्रष्टव्य हैं। इन छन्द रश्मियों के उत्पन्न होने पर आदित्य लोकों के केन्द्रीय भाग को उत्पन्न करने में समर्थ पूर्वोक्त पुत्ररूप अग्नि तत्त्व की उत्पत्ति होने लगती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- विभिन्न तारों के निर्माण कि प्रक्रिया में जब तेजस्विनी सोम रश्मियां प्राणापानादि रश्मियों से विशेष संयुक्त होती हैं, तब अनेकों प्रकार की अति शक्तिशाली छन्द रश्मियां उत्पन्न होने लगती हैं। उस समय **देवदत्त** नामक प्राण रश्मियों का उत्कर्ष भी प्रारम्भ होता है, इससे तारों का केन्द्र एक बिन्दुरूप में प्रारम्भ होने लगता है। उसके पश्चात् वे सभी क्रियाएं प्रारम्भ हो जाती हैं, जो खण्ड ५०.१०, ५.१२-१३ में वर्णित की गयी हैं, जिनके विषय में पाठक वहीं वैज्ञानिक भाष्यसार में देख सकते हैं।।

२. तं होवाचाजनि वै ते पुत्रो यजस्व माऽनेनेति; स होवाच, यदा वै पशुर्निर्दशो भवत्यथ स मेध्यो भवति, निर्दशो न्वस्त्वथ त्वा यजा इति; तथेति।।
स ह निर्दश आस तं होवाच निर्दशो न्वभूद्यजस्व माऽनेनेति; स होवाच, यदा वै पशोर्दन्ता जायन्तेऽथ स मेध्यो भवति; दन्ता न्वस्य जायन्तामथ त्वा यजा इति; तथेति।।
तस्य ह दन्ता जज्ञिरे; तं होवाचाज्ञत वा अस्य दन्ता यजस्व माऽनेनेति; स होवाच, यदा वै पशोर्दन्ताः पद्यन्तेऽथ स मेध्यो भवति; दन्ता न्वस्य पद्यन्तामथ त्वा यजा इति, तथेति।।

तस्य ह दन्ताः पेदिरे; तं होवाचापत्सत वा अस्य दन्ता, यजस्व माऽनेनेति; स होवाच, यदा वै पशोर्दन्ताः पुनर्जायन्तेऽथ स मेध्यो भवति; दन्ता न्वस्य पुनर्जायन्तामथ त्वा यजा इति, तथेति।।
तस्य ह दन्ताः पुनर्जज्ञिरे; तं होवाचाज्ञत वा अस्य पुनर्दन्ता, यजस्व माऽनेनेति; स होवाच, यदा वै क्षत्रियः सान्नाहुको भवत्यथ स मेध्यो भवति; सन्नाहं नु प्राप्नोत्वथ त्वा यजा इति, तथेति।।
स ह सन्नाहं प्रापत्, तं होवाच, सन्नाहं नु प्राप्नोद्यजस्व माऽनेनेति, स तथेत्युक्त्वा पुत्रमामन्त्रयामास; ततायं वै मह्यं त्वामददाद्धन्त त्वयाऽहमिमं यजा इति।।
स ह नेत्युक्त्वा धनुरादायारण्यमुपातस्थौ; स संवत्सरमरण्ये चचार।।२।।

व्याख्यानम्- जब **हरिश्चन्द्र** नामक तेजस्विनी सोम रश्मियां पूर्वोक्त वरुण संज्ञक प्राणापानादि रश्मियों से प्रेरित होकर पूर्वोक्त **रोहित** नामक **पारुच्छेपी** छन्द रश्मियों को उत्पन्न करती हैं, तब वे **वरुण** नामक प्राणादि रश्मियां उन **पारुच्छेपी** छन्द रश्मियों को अपने साथ संगत करने का प्रयास करती हैं। ये **पारुच्छेपी** छन्द रश्मियां ही **हरिश्चन्द्र** रूपी सोम रश्मियों की पुत्ररूपा कही गयी हैं। यद्यपि **पारुच्छेपी** छन्द रश्मियां **परुच्छेप** संज्ञक तीव्र बलयुक्त **ऋषि** प्राण रश्मियों से उत्पन्न होती हैं, पुनरपि यहाँ इनकी उत्पत्ति में **हरिश्चन्द्र** सोम रश्मियों की भी भूमिका होने से इन्हें **हरिश्चन्द्र** की पुत्ररूपा कहा गया है। यहाँ **हरिश्न्द्ररूपी** सोम रश्मियां **वरुण** संज्ञक प्राण रश्मियों एवं **पारुच्छेपी** छन्द रश्मियों के पारस्परिक संगम में बाधा उत्पन्न करती हैं। यहाँ संवाद की शैली में ग्रन्थकार ने लिखा है कि **हरिश्चन्द्र** रश्मियां **वरुण** रश्मियों को **रोहित** संज्ञक छन्द रश्मियों के साथ संगत होने से रोकते हुए उनसे कहती हैं कि **रोहित** रश्मियों के **निर्दश** होने पर इन्हें अपने साथ संगत कर लेना। यहाँ '**निर्दश**' का तात्पर्य यह है कि जब **रोहित** छन्द रश्मियां दस मास रश्मियों के साथ नितराम् सम्पृक्त हो जाती हैं, उस समय ही वे **वरुण** संज्ञक रश्मियों के साथ संयुक्त होकर आदित्य लोक के केन्द्रीय भाग के निर्माण में समर्थ अग्नि तत्त्व को उत्पन्न कर सकती हैं। ध्यातव्य है कि पूर्व खण्ड में भी दस मास रश्मियों के उत्पन्न होने पर पुत्ररूप अग्नि तत्त्व की उत्पत्ति बतलायी है। यहाँ **"निर्"** का प्रयोग **'नितराम्'** के अर्थ में किया गया है। यहाँ इस संवाद की शैली में **हरिश्चन्द्र** नामक रश्मियों ने **वरुण** रश्मियों के समक्ष **रोहित** रश्मियों के साथ संगत होने के लिए यह शर्त रखी है।।

तदुपरान्त दस मास रश्मियां उत्पन्न होकर उन **रोहित** संज्ञक छन्द रश्मियों को अच्छी प्रकार चमकाने और बांधने का कार्य करती हैं। उन ऐसी **रोहित** रश्मियों को **वरुण** रश्मियां पुनः अपने साथ संगत करने का प्रयास करती हैं परन्तु इस बार भी **हरिश्चन्द्र** नामक तेजस्विनी सोम रश्मियां बाधक बनकर **रोहित** रश्मियों को **वरुण** रश्मियों के साथ संगत होने से रोकती हैं। **{दन्तः = दाम्यत्युपशाम्यति यो येन वा स दन्तः (उ.को.३.८६), येन दंशति सः (म.द.ऋ.भा.६.७५.११)}** मानो संवाद की शैली में **हरिश्चन्द्र** रश्मियां **वरुण** रश्मियों के समक्ष एक अन्य शर्त और रखते हुए कहती हैं कि जब **रोहित** छन्द रश्मियां विशेष नियंत्रण एवं छेदन-भेदन युक्त क्षमता से सम्पन्न नहीं होतीं, तब तक वे **वरुण** रश्मियों के साथ संगमनीय नहीं होती। इसका तात्पर्य यह है कि केवल दस मास रश्मियों का उत्पन्न होना ही **वरुण** रश्मियों के साथ संगत होने के लिए पर्याप्त नहीं है, बल्कि उन छन्द रश्मियों का इन दस मास रश्मियों के साथ संगत होकर पर्याप्त तीव्रता को प्राप्त करना भी आवश्यक होता है। इस कारण ही दस मास रश्मियों के साथ **रोहित** रश्मियों के संगत होने के उपरान्त भी **हरिश्चन्द्र** रश्मियां **वरुण** रश्मियों को **रोहित** रश्मियों के साथ संगत नहीं होने देती हैं।।

तदुपरान्त पूर्वोक्त **रोहित** छन्द रश्मियां भेदक और नियंत्रक बलों से युक्त होने लगती हैं, तब पूर्वोक्त **वरुण** रश्मियां उन्हें अपने साथ संगत करने का प्रयास करती हैं परन्तु **हरिश्चन्द्र** नामक सोम रश्मियां पुनः इस प्रयास में बाधक बन जाती हैं। इसमें ग्रन्थकार पुनः इस संयोजन के लिए एक और शर्त **हरिश्चन्द्र** रश्मियों के द्वारा कहलवाते हैं। वह यह है कि जब **रोहित** छन्द रश्मियों की भेदन-छेदन

शक्ति विशेष गतिशील हो जाए अर्थात् विशेष शक्तिशाली हो जाए, तब वे **रोहित** रश्मियां **वरुण** रश्मियों के साथ संगमनीय हो पाती हैं। उसके पश्चात् **हरिश्चन्द्र** सोम रश्मियां उन **रोहित** रश्मियों को विशेष तीक्ष्ण बनाने का प्रयत्न करती हैं।।

तदुपरान्त वे **रोहित** छन्द रश्मियां गतिशील एवं तीक्ष्ण भेदक व नियंत्रक शक्तिसम्पन्न होने लगती हैं। {अपत्सत वै = पतिता इति सायणभाष्यम्} तब पूर्वोक्त **वरुण** रश्मियां उन **रोहित** रश्मियों को अपने साथ संगत करने का प्रयास करती हैं किन्तु पुनः **हरिश्चन्द्र** नामक सोम रश्मियां इस कार्य में बाधक बन जाती हैं। अब पुनः ग्रन्थकार **हरिश्चन्द्र** सोम रश्मियों के माध्यम से एक ओर शर्त रखते हुए कहते हैं कि इन **रोहित** छन्द रश्मियों के छेदक-भेदक और नियंत्रक बल बार-२ उत्पन्न होकर तीक्ष्ण और व्याप्त होने लगते हैं, तभी वे **रोहित** रश्मियां **वरुण** रश्मियों के साथ संगत हो सकती हैं। इस कारण **हरिश्चन्द्र** सोम रश्मियां पुनः उन **रोहित** छन्द रश्मियों को बार-२ उत्पन्न, व्याप्त और गतिशील करने का प्रयास करने लगती हैं अर्थात् उन **रोहित** छन्द रश्मियों की पुनः-२ आवृत्ति होने लगती है।।

उसके पश्चात् वे **रोहित** छन्द रश्मियां बार-२ उत्पन्न तीक्ष्ण और व्याप्त होने लगती हैं। {अज्ञात वै = जातेति सायणः} उस समय **वरुण** रश्मियां उन **रोहित** रश्मियों को अपने साथ संगत करने का पुनः प्रयास करती हैं किन्तु **हरिश्चन्द्र** छन्द रश्मियां पुनः इसमें बाधक हो जाती हैं। अब ग्रन्थकार **हरिश्चन्द्र** सोम रश्मियों के माध्यम से एक ओर शर्त बतलाते हुए कहते हैं कि जब वे **रोहित** छन्द रश्मियां सम्यग् रूप से बन्धक बलों से युक्त होकर क्षत्रियरूप हो जाती हैं अर्थात् विशेष भेदक क्षमतायुक्त हो जाती हैं तथा विभिन्न बाधक पदार्थों को नष्ट करने में सक्षम हो जाती हैं, तभी वे **वरुण** रश्मियों के साथ संगत हो सकती हैं। उसके पश्चात् **हरिश्चन्द्र** सोम रश्मियां उन्हें इन गुणों से सम्पन्न करने का प्रयास करती हैं।।

तदुपरान्त वे **रोहित** छन्द रश्मियां उपर्युक्त प्रकार के तीक्ष्ण बंधक एवं भेदक बलों से युक्त हो जाती हैं, तब **वरुण** रश्मियां उन्हें अपने साथ संगत करने का प्रयास करती हैं। **{हन्त = हन्तेति चन्द्रमा (जै.उ.३.२.१.२)}** उस समय **हरिश्चन्द्र** सोम रश्मियां उन रोहित छन्द रश्मियों को सब ओर से आकर्षित और प्रकाशित करती हुई **वरुण** रश्मियों के साथ संगत करने का प्रयास करने लगती हैं। उस समय वे **रोहित** रश्मियां चन्द्रमा के समान तेजस्विनी हो जाती हैं। वैसी स्थिति में उनको **वरुण** रश्मियों के साथ संगत करने के लिए **वरुण** रश्मियों के अतिरिक्त **हरिश्चन्द्र** सोम रश्मियों का प्रेरक बल भी कार्य करने लगता है।।

इस उपर्युक्त प्रक्रिया के चलते हुए भी वे **रोहित** छन्द रश्मियां अपनी विस्तृत और तेजस्विनी वज्ररूप रश्मियों सहित देदीप्यमान होती हुई **वरुण** रश्मियों के साथ संगत न होकर उनसे दूर चली जाती हैं। **{संवत्सरः = ऋतवः संवत्सरः (तै.ब्रा.३.६.६.१), षडहो वा उ सर्वः संवत्सरः (कौ.ब्रा.१६.१०)। रणः = रणाय रमणीयाय संग्रामाय (नि.४.८), रणाय रमणीयाय (नि.६.२७)}** वे **रोहित** छन्द रश्मियां कमनीय संघातक बलों से दूर होकर **वरुण** एवं **हरिश्चन्द्र** रश्मियों से पृथक् हो जाती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वे **रोहित** छन्द रश्मियां इतने तीक्ष्ण बलों से युक्त हो जाती हैं कि वे किसी प्रकार के संघात, संघनन को संपादित नहीं कर पातीं और विभिन्न संवत्सरों में विचरण करने लगती हैं। यहाँ संवत्सर का तात्पर्य ऋतु रश्मियां तथा विभिन्न अहन् रूपी **नाग** आदि प्राण रश्मियों के उत्कर्ष का काल है, जिनकी चर्चा इस ग्रन्थ के बीसवें (२०) अध्याय में की गई है। यद्यपि ये छन्द रश्मियां षष्ठ अहन् अर्थात् **देवदत्त** प्राण रश्मियों के उत्कर्ष काल में उत्पन्न होती हैं परन्तु वे पूर्वोत्पन्न अहन् रूपी चरणों में विचरण करने लगती हैं। यहाँ उनमें से प्रथम संवत्सर वा अहन् अर्थात् **नाग** प्राण के उत्कर्ष काल में विचरण की चर्चा की गयी है। उस समय ऋतु रश्मियों में **वसन्त** ऋतु रश्मियों की प्रधानता होती है। वस्तुतः **वसन्त** ऋतु रश्मियां ही प्राथमिक ऋतु रश्मियां हैं। इसी कारण **महर्षि याज्ञवल्क्य** कहते हैं-

"तस्य (संवत्सरस्य) वसन्त एव द्वारं हेमन्तो द्वारं
तं वा एतं संवत्सरं स्वर्गं लोकं प्रपद्यते" (श.१.६.१.१६)

उधर **महर्षि तित्तिर** का कथन है-

"मुखं वा एतद् ऋतूनां यद् वसन्तः" (तै.ब्रा.१.१.२.६-७)

इस प्रकार वे **रोहित** छन्द रश्मियां **नाग प्राण** के उत्कर्ष काल की अवस्था तथा वसन्त ऋतु रश्मियों में विचरण करने लगती हैं। यह विचरण काल एक वर्ष, हमारे विचार से एक दिव्य वर्ष अर्थात् ३६० मानव वर्ष तक रहता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त तारों की निर्माण प्रक्रिया में जब विभिन्न पूर्वोक्त शक्तिशाली छन्दरश्मियां उत्पन्न हो जाती हैं, तब उनकी तीव्रता और संयोज्यता विभिन्न चरणों में क्रमबद्धरूप से उत्पन्न और समृद्ध होती है। वे छन्द रश्मियां प्राण, अपान और व्यान रश्मियों से जब तक संयुक्त नहीं होती, तब तक प्रबल विद्युत् चुम्बकीय बलों की उत्पत्ति नहीं होती। इस क्रम में सर्वप्रथम वे छन्दरश्मियां दस मास रश्मियों से युक्त होकर सूक्ष्म आकर्षण बलों को उत्पन्न करती हैं। उसके पश्चात् वे तीक्ष्ण छेदक और भेदक बलों से धीरे-२ विशेषतया युक्त होती जाती हैं। वे छेदक और भेदक बल किंवा वे छन्द रश्मियां बार-२ उत्पन्न और व्याप्त होने लगती हैं और वे बल अति तीव्र भेदक और बंधक बलों में परिवर्तित हो जाते हैं। वस्तुतः इन छन्द रश्मियों और उनके कारण समस्त कॉस्मिक पदार्थ में बलों की तीव्रता विशेष बढ़ जाती है। इस कारण वे कण परस्पर संघात वा संलयन को प्राप्त नहीं हो पाते और वे तीक्ष्ण छन्द रश्मियां सम्पूर्ण कॉस्मिक पदार्थ में विचरण करने लगती हैं। यह विचरण छः चरणों में सम्पन्न होता है। इनमें से प्रथम चरण में **ये छन्द रश्मियां वसन्त प्राण रश्मियों से समृद्ध होकर नाग प्राण रश्मियों की प्रधानता वाले रश्मि आदि पदार्थों में ३६० वर्ष तक विचरण करती रहती हैं।** उस समय तक उस निर्माणाधीन तारे में नाभिकीय संलयन की प्रक्रिया प्रारम्भ नहीं हो पाती। विशेष परिज्ञानार्थ व्याख्यान भाग पठनीय है।।

सायण भाष्य व मालवीय अनुवाद

अब देखें खण्ड ८.५ पर सायण भाष्य एवं डॉ. सुधाकर मालवीय का हिन्दी अनुवाद-

तमेतमभिषेकं प्रतिजानीते-

अथातः पुनरभिषेकस्यैव।। इति।

'अथ' क्रतुसमाप्त्यनन्तरं, यतः क्षत्रियोऽभिषेकमर्हति। 'अथ' कारणात्पुनरभिषेकस्यैव, विधिरुच्यत इति शेषः। राज्ञः पूर्वमभिषिक्तत्वादयं पुनरभिषेको भवति। इतरस्यापि क्षत्रियस्य माहेन्द्रग्रहाय प्रस्तुते साम्न्यभिषेकस्याऽऽध्वर्यवस्य विद्यमानत्वात् अयं पुनरभिषेको भवति।।

{पुनः अभिषेक}

इस {क्रतु की समाप्ति} के बाद {क्योंकि क्षत्रिय अभिषेक के योग्य है} अतः पुनः अभिषेक की ही {विधि कहते हैं}। {राजा का पूर्व में माहेन्द्र साम के बाद अध्वर्यु द्वारा अनुष्ठित अभिषेक होने के कारण यह पुनः अभिषेक होता है}।

तं विधत्ते-

सूयते ह वा अस्य क्षत्रं यो दीक्षते क्षत्रियः सन् स यदाऽवभृथादुदेत्यानूबन्ध्ययेष्ट्वोदवस्यत्यथैनमुदवसानीयायां संस्थितायां पुनरभिषिञ्चन्ति।। इति।

'यः' पुमान् क्षत्रियः सन् 'दीक्षते' दीक्षां प्राप्नोति। 'अस्य' क्षत्त्रस्य पुरुषस्य 'क्षत्त्रं' सर्वेषां प्राणिनां क्षतात् त्राणं 'सूयते' प्रवर्तते 'तस्मात्' क्षत्रियो यदा 'अवभृथादुदेत्य' अवभृथाख्यं कर्म समाप्तं कृत्वा ततो 'अनूबन्ध्यया' तदाख्यया कयाचित्पशुस्थानीयया 'इष्ट्वा' यागं कृत्वा पश्चात् 'उदवस्यति' उदवसानीयाख्ययेष्ट्या कर्मावसानं करोति। 'अथ' तदानीम् 'एनं' क्षत्रियमुदवसानीयेष्टौ समाप्तायां पुनरपि कर्माङ्गत्वेनर्त्विजोऽभिषिञ्चेयुः।।

जो पुरुष क्षत्रिय होकर दीक्षा प्राप्त करता है; उसका क्षत्रियत्व {सभी प्राणियों की रक्षा करना आदि ही} दीक्षित होता है। इसलिए वह क्षत्रिय जब अवभृथ नामक कर्म को समाप्त करके, अनूबन्ध्याख्य {कर्म द्वारा

किसी पशुस्थानीय} याग करके, {उदवसानीयेष्टि नामक कर्म से} समाप्ति करता है। तब इसके बाद इस {क्षत्रिय} को उदवसानीयेष्टि की समाप्ति पर पुनः {कर्म के अंग के रूप में ऋत्विज} अभिषेचन करते हैं।

तस्याभिषेकसाधनानि विधत्ते-

तस्यैते पुरस्तादेव संभारा उपक्लृप्ता भवन्त्यौदुम्बर्यासन्दी; तस्यै प्रादेशमात्राः पादाः स्युररत्निमात्राणि शीर्षण्यानूच्यानि; मौञ्जं विवयनं, व्याघ्रचर्माऽऽस्तरणमौदुम्बरश्चमस, उदुम्बरशाखा; तस्मिन्नेतस्मिंश्चमसेऽ-ष्टातयानि निषुतानि भवन्ति;- दधि मधु सर्पिरातपवर्ष्या आपः शष्पाणि च तोक्मानि च सुरा दूर्वा। इति।

'तस्य' पुनरभिषेकस्य 'एते' वक्ष्यमाणाः 'संभाराः' संपादनीया द्रव्यविशेषाः 'पुरस्तादेवोपक्लृप्ताः' अभिषेककालात् प्रागेव संपादिता भवेयुः। के वस्तुविशेषाः संपादनीयाः? तेऽभिधीयन्ते। उदुम्बरकाष्ठैर्निर्मिता काचिदासन्दी। 'तस्यै' तस्या आसन्द्याश्चत्वारः पादाः प्रादेशपरिमिताः। तेषां पादानां शिरस्युपरिभागेऽवस्थितानि 'शीर्षण्यानि' अन्वक्तिर्यगवस्थितानि काष्ठानि 'अनूच्यानि', तानि शीर्षण्यानूच्यानि अरत्निपरिमितानि। प्रादेशद्वयमरत्निः। 'विवयनं' विविधं वयनं रज्जूनामोतप्रोतरूपेण संयोजनम्। तच्च 'मौञ्जं' मुञ्जतृणेन निर्मितम्। ईदृश्या आसन्द्या उपर्यास्तरणं व्याघ्रचर्म। दध्यादिप्रक्षेपार्थः प्रौढ उदुम्बरकाष्ठनिर्मितश्चमसः। तथा काचित्सूक्ष्मा 'उदुम्बरशाखा'। 'तस्मिन्नेतस्मिन्नौदुम्बरे' प्रौढे चमसे वक्ष्यमाण दध्यादिद्रव्याणि 'अष्टातयानि'। अत्र द्वितयत्रितयादिवत् संख्याया अवयवे 'तयप्' इति सूत्रेण तयप्रत्ययः। अष्टसंख्याका अवयवा येषां दध्यादीनां तान्यष्टातयानि। दीर्घश्छान्दसः। तानि च 'निषुतानि' नितरां सुतानि प्रक्षिप्तानि भवन्ति। चमसे प्रक्षेपणीयाण्यष्ट द्रव्याणि कानीति तान्युच्यन्ते,- दधि, मधु, सर्पिरित्येतानि त्रीणि प्रसिद्धानि;। आतपयुक्तवर्षभवाः 'आतपवर्ष्याः' तादृश्यं आपश्चतुर्थं द्रव्यम्। 'शष्पाणि' श्यामतृणानि, पञ्चमं द्रव्यम्। 'तोक्मानि' अंकुराणि षष्ठं द्रव्यम्। सुरा, दूर्वेति द्रव्यद्वयं प्रसिद्धम्।।

{उन अभिषेक के साधनों को कहते हैं}-

उस {पुनः अभिषेक} के इन {वक्ष्यमाण} संपादनीय द्रव्य विशेषों का {अभिषेक के} पहले ही संपादन कर लेना चाहिए- १. गूलर के काष्ठ का बना हुआ एक सिंहासन। उस सिंहासन के {चारों} पाए प्रादेश परिमित {अंगूठे और उसके पास की अँगुली के स्थान के बराबर} नाप के हों। उन पैरों के सिर के ऊपरी भाग में अवस्थित तिरछे काष्ठ अरत्निमात्र {दो प्रादेश के बराबर} नाप के हों। उसकी बिनावट मूंज की बनी रस्सी से हो; व्याघ्र {=शेर} चर्म का बिछावन हो, {दधि आदि द्रव्यों के प्रक्षेप के लिए एक प्रौढ़} उदुम्बर के काष्ठ से निर्मित चमस और {कोई एक छोटी} गूलर के वृक्ष की शाखा हो। उस इस उदुम्बर के प्रौढ़ चमस में {दधि आदि निम्न} आठ वस्तुएँ डाली जाती हैं- १. दही, २. शहद, ३. घी, ४. धूप में बरसने वाले मेघ का पानी, ५. घास, ६. जौ का अंकुर, ७. सुरा {=शराब} और ८. दूर्वा।

संपादिताया आसन्द्याः प्रतिष्ठापनं विधत्ते-

तद्यैषा दक्षिणा स्फ्यवर्तनिर्वेदेर्भवति, तत्रैतां प्राचीमासन्दीं प्रतिष्ठापयति, तस्या अन्तर्वेदि द्वौ पादौ भवतो बहिर्वेदि द्वावियं वै श्रीस्तस्या एतत्परिमितं रूपं यदन्तर्वेद्यथैष भूमाऽपरिमितो यो बहिर्वेदि; तद्यदस्या अन्तर्वेदि द्वौ पादौ भवतो, बहिर्वेदि द्वा, उभयोः कामयोरुपाप्त्यै यश्चान्तर्वेदि यश्च बहिर्वेदि।।१।।

पुरा वेदिपरिग्रहार्थं स्फ्येन रेखात्रयं कृतं- दक्षिणा 'प्रतीच्युदीची च। तत्र देवयजनदेशे यैषा वेदेः संबन्धिनी दक्षिणा 'स्फ्यवर्तनिः' स्फ्यस्य रेखा भवति 'तत्र' तस्यां रेखायाम् 'एताम्' आसन्दीं 'प्राची' प्रागग्रामवस्थापयेत्। 'तस्याः' च आऽऽसन्द्या उत्तरदिग्गतौ द्वौ पादावन्तर्वेदि तिष्ठतः। दक्षिणदिग्गतौ द्वौ पादौ बहिर्वेदि स्थापनीयौ। 'इयं' भूमिः 'श्रीर्वै' संपद्रूपैव। 'तस्याः' भूमेरन्तर्वेदि यद्रूपमस्ति, एतत् 'परिमितम्' अल्पम्। अथ बहिर्वेदि 'यः' प्रदेशोऽस्ति, एष 'भूमा' बहुलः। अत एव 'अपरिमितः' इयानिति परिच्छेदरहितः। एवं सति वेदेर्मध्ये बहिश्चाऽऽसन्द्या द्वौ द्वौ पादाविति यदस्ति, तदुभयोः कामयोः प्राप्त्यै भवति,- यश्च कामो वेदिमध्ये लभ्यते। यश्चान्यः कामो वेदेर्बहिर्लभ्यते, तदुभयसिद्ध्यर्थमेवं स्थापनम्।।

{पहले वेदी के परिग्रह के लिए स्फ्य से तीन रेखा दक्षिण, पश्चिम और उत्तर में खींची जाती हैं} उस {देवयजन प्रदेश} में जो यह वेदी से सम्बन्धित दक्षिण की स्फ्य से खींची गई रेखा होती है वहाँ {उस रेखा} पर इस सिंहासन को पूर्व की ओर मुख करके स्थापित करता है। उस {सिंहासन} के {उत्तर के}

दो पाए वेदी के भीतर होते हैं और {दक्षिण के} दो वेदी के बाहर। यह {भूमि} समृद्धि रूप ही है, उस {भूमि} के वेदी के भीतर जो रूप है, वह परिमित {=थोड़ा} है, और जो वेदी के बाहर का प्रदेश है वह अपरिमित {अत्यधिक} है। उस वेदी के भीतर जो दो पाए हैं और उस वेदी के बाहर जो दो पाए हैं वे दोनों कामनाओं की प्राप्ति के लिए होते हैं। जो वेदी के मध्य {कामना} होती है और जो वेदी के बाहर {अन्य कामना} होती है {उन दोनों कामनाओं की सिद्धि के लिए उनका स्थापन होता है}।

मेरा व्याख्यान

इस पर मेरा भाष्य=व्याख्यान इस प्रकार है-

१. अथातः पुनरभिषेकस्यैव।।

सूयते ह वा अस्य क्षत्रं यो दीक्षते क्षत्रियः सन् स यदाऽवभृथादुदेत्यानूबन्ध्ययेष्ट्वोदवस्यत्यथैनमुदवसानीयायां संस्थितायां पुनरभिषिञ्चन्ति।।

तस्यैते पुरस्तादेव संभारा उपक्लृप्ता भवन्त्यौदुम्बर्यासन्दी; तस्यै प्रादेशमात्राः पादाः स्युररत्निमात्राणि शीर्षण्यानूच्यानि; मौञ्जं विवयनं, व्याघ्रचर्माऽऽस्तरणमौदुम्ब-रश्चमस, उदुम्बरशाखा; तस्मिन्नेतस्मिंश्चमसेऽष्टातयानि निषुतानि भवन्ति;-दधि मधु सर्पिरातपवर्ष्या आपः शष्पाणि च तोक्मानि च सुरा दूर्वा।।

तद्यैषा दक्षिणा स्फ्यवर्तनिर्वेदेर्भवति, तत्रैतां प्राचीमासन्दीं प्रतिष्ठापयति, तस्या अन्तर्वेदि द्वौ पादौ भवतो बहिर्वेदि द्वावियं वै श्रीस्तस्या एतत्परिमितं रूपं यदन्तर्वेद्यथैष भूमाऽपरिमितो यो बहिर्वेदि; तद्यदस्या अन्तर्वेदि द्वौ पादौ भवतो, बहिर्वेदि द्वा, उभयोः कामयोरुपाप्त्यै यश्चान्तर्वेदि यश्च बहिर्वेदि।।१।।

व्याख्यानम्- पूर्व में **ब्राह्मण क्षत्रिय** आदि पदार्थों के विभिन्न कर्मों की चर्चा करने के पश्चात् आदित्य के केन्द्रीय भाग में **ब्राह्मण** संज्ञक पदार्थों के द्वारा **क्षत्रिय** संज्ञक पदार्थों को अभिसिंचित करके उन्हें तेज और बल से समृद्ध करने की प्रक्रिया का क्रमबद्ध वर्णन आरम्भ करते हैं।

इस अभिसेचन के विषय में **महर्षि याज्ञवल्क्य** का कथन है-

"तं वै माध्यन्दिने सवनेऽभिषिञ्चति। एष वै प्रजापतिर्य एष यज्ञस्तायते यस्मादिमाः प्रजाः प्रजाता एतम्वेवाप्येतर्ह्यनु प्रजायन्ते तदेनं मध्यतऽएवैतस्य प्रजापतेर्दधाति मध्यतः सुवति।" (श.५.३.५.१)

"तं वै प्राञ्चं तिष्ठन्तमभिषिञ्चति। पुरस्ताद्ब्राह्मणोऽभिषिञ्चत्यध्वर्युर्वा योवाऽस्य पुरोहितो भवति पश्चादितरे।" (श.५.४.२.१)

इसका तात्पर्य यह है कि **माध्यन्दिन** सवन की अवस्था में विभिन्न **क्षत्रिय** परमाणु आदि पदार्थों वा रश्मियों को **ब्राह्मण** संज्ञक रश्मि आदि पदार्थ सब ओर से अभिसिंचित करते हैं। इस अभिषेक के पश्चात् ही **क्षत्रिय** संज्ञक पदार्थ नाना प्रकार की संयोगादि क्रियाओं को संपादित करके विभिन्न परमाणु आदि पदार्थों को किंवा **वैश्य** एवं **शूद्र** संज्ञक पदार्थों को उत्पन्न करने में सक्षम होते हैं। ये क्रियाएं केन्द्रीय भाग में विशेषरूप से होती हैं। जब यह अभिसिंचन की क्रिया होती है, तब **ब्राह्मण** संज्ञक रश्मियां **क्षत्रिय** संज्ञक पदार्थों के अभिमुख गमन करती हुई उनके साथ संयुक्त होती हैं। यहाँ **'पुनः'** शब्द इस कारण आया है क्योंकि **ब्रह्म** एवं **क्षत्र** अथवा **ब्राह्मण** एवं **क्षत्रिय** पदार्थों के संगमन की क्रिया को पूर्व में भी संकेत रूप में लिखा ही जा चुका है। अब यहाँ उसी प्रक्रिया को विस्तार से कहने के साथ-२ अध्वर्यु आदि पदार्थों द्वारा भी अभिसेचन की प्रक्रिया का वर्णन है।।

{अवभृथः = तद्यदपोऽभ्यवहरन्ति तस्मादवभृथः (श.४.४.५.१), वरुण्यो वाऽअवभृथः (श.४.४.५.१०), यो ह वाऽअयमपामावर्त्तः स हावभृथः स हैष वरुणस्य पुत्रो वा भ्राता वा (श.१२.६.२.४),

शोधनम् (म.द.य.भा.१६.२८), यो निषेकेण गर्भं बिभर्त्ति सः (म.द.य.भा.८.२७)} इस प्रक्रिया को क्रमबद्ध बतलाते हुए लिखते हैं कि सर्वप्रथम **क्षत्र** संज्ञक पदार्थ **ब्रह्म** संज्ञक वाक् एवं प्राणापान रश्मियों से दीक्षित होता अर्थात् अपनी बल और क्रियाओं को प्रारम्भ करने योग्य होकर पूर्वोक्त **क्षत्रिय** स्वरूप को प्राप्त करता है। उसके पश्चात् वह अन्य प्राण रश्मियों से आच्छादित होकर एवं उनको अवशोषित करके शुद्ध बीजरूप तेज और बल को उत्पन्न वा सेचन करने में समर्थ होता है। इस समय वह प्राणापान एवं व्यान संज्ञक प्राण रश्मियों में स्थित होता है। यह इसका **अवभृथ** रूप कहलाता है। उसके पश्चात् यह बन्धक बलों से विशेष युक्त होकर **अनुबन्ध्य** रूप को प्राप्त करता है। इसके पश्चात् वह **उदवसानीय {उदवस्यति = उद्+अव+सो = (अव+सो = नष्ट करना, समाप्त करना अर्थात् पूरा करना, विफल होना, किनारे पर होना)}** रूप को प्राप्त करता है। इसका तात्पर्य यह है कि वे **क्षत्रिय** परमाणु आदि पदार्थ नाना प्रकार के परमाणु आदि पदार्थों को उत्पन्न करते हुए विभिन्न बाधक रश्मियों को नष्ट करके **ब्रह्म** अर्थात् प्राणापान रश्मियों से उन उत्पन्न परमाणुओं को अभिसिंचित करके आदित्य के केन्द्रीय भाग से ऊपर की ओर अर्थात् बाहरी ओर शनैः-२ उठाते हुए किनारे तक लाते हैं। उसके पश्चात् वे अग्नि आदि के परमाणु आदित्य लोकों से बाहर की ओर जाने के लिए उद्यत हो जाते हैं। जब इन अग्नि के परमाणुओं को बाहर की ओर लाने की प्रक्रिया होती है, उस समय भी **क्षत्रिय** परमाणुओं के ऊपर प्राणापानादि **ब्रह्म** रश्मियों का अभिसिंचन होता है और इस कारण ही वे **क्षत्रिय** परमाणु अग्नि आदि के परमाणुओं को उत्पन्न करने की क्षमता प्राप्त करते हैं।।

इस उपर्युक्त प्रक्रिया के लिए अनेक प्रकार के पदार्थों का सम्पादन पूर्व में ही होना अनिवार्य होता है। इनके बिना उपर्युक्त क्रियाएं सम्भव नहीं हो पाती। ये पदार्थ निम्न प्रकार हैं-

(१) औदुम्बर्यासन्दी - {आसन्दी = इयं (पृथिवी) वाऽआसन्द्यस्याः हीदः सर्वमासन्नम् (श.६.७.१.१२), श्रीरासन्दी (ऐ.आ.१.२.४), समन्ताद्रसप्रापिका (म.द.य.भा.१६.८६)} उदुम्बर संज्ञक ऊर्जा, जो मास रश्मियों से उत्पन्न होती है, के विषय में खण्ड **७.१५** द्रष्टव्य है। उस ऊर्जा की सूक्ष्म रश्मियां आदित्य लोक के केन्द्रीय भाग में विद्यमान आकाश में व्याप्त हो जाती हैं। इन रश्मियों से व्याप्त वह क्षेत्र ही **"औदुम्बर्यासन्दी"** कहलाता है। यह क्षेत्र विभिन्न **क्षत्र** संज्ञक परमाणु आदि पदार्थों को अपना सूक्ष्म रस निरन्तर प्रदान करता रहता है। इसके विषय में खण्ड **७.३२** की प्रथम कण्डिका भी द्रष्टव्य है। **आसन्दी** पद की व्युत्पत्ति के विषय में आचार्य राजवीर शास्त्री ने वैदिक कोश में लिखा है-

"आङ्+षण संभक्तौ (भ्वा.) धातोरौणादिके दप्रत्यये ङीषि च रूपम् अथवा आङ्-पूर्वात् षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु (भ्वा) धातोर्वा साधनीयम्।" इससे संकेत मिलता है कि **औदुम्बरी** रश्मियां विभिन्न **क्षत्रिय** परमाणु आदि पदार्थों को व्याप्त करके उनका सब ओर से सम्यग् विभाजन भी करती हैं, जिससे वे शुद्ध रूप को प्राप्त करने लगते हैं, साथ ही वे सेवनीय वा संयोजक गुणों से भी युक्त होते हैं। इस **आसन्दी** रूपी क्षेत्र के पाद प्रादेशमात्र के परिमाण में होते हैं। इसका अर्थ यह है कि इन **औदुम्बरी** रश्मियों का आधार वा मार्ग उस केन्द्रीय भाग तक ही सीमित होता है, उसके बाहर नहीं। **{अरत्निः = बाहुर्वा ऽअरत्निः (श.६.३.१.३३)}** इस क्षेत्र के ऊपरी उत्तम भाग में अनुकूलता से प्रकाशित होने योग्य आकर्षण और विकर्षण बलों से युक्त पदार्थ विद्यमान होते हैं। **{मुञ्जः = मुञ्जो विमुच्यत इषीकया। इषीका इषतेर्गतिकर्मणः (नि.६.८), यज्ञिया हि मुञ्जाः (श.१२.८.३.६), योनिर्मुञ्जाः (श.६.६.२.१५), योनिरेषाग्नेर्यन्मुञ्जः (श.६.६.१.२३), ऊर्ग्वै मुञ्जाः (तै.सं.५.१.६.४; काठ.१६.१०; क.३०.८)}** उन पदार्थों के अन्दर ऊर्जा को त्यागने अथवा उत्सर्जित करने योग्य अन्य ऊर्जा के उद्गम रूप बलों की रश्मियां बुनी हुई होती हैं। **{व्याघ्रः = व्याघ्रो व्याघ्राणात्। व्यादाय हन्तीति वा (नि.३.१८), (घ्रा गन्धोपादाने = सूंघना, क्वचित् - चूमना (सं.धा.को. - पं. युधिष्ठिर मीमांसक)। चर्म = जिह्वा चर्म (तै.सं.६.२.११.४), चर्म चरतेर्वोच्चृत्तं भवतीति वा (नि.२.५)}** इस क्षेत्र में विशेषरूप से स्पर्श करने वाली तथा विभिन्न पदार्थों को संयुक्त और वियुक्त करने वाली विभिन्न रश्मियुक्त ज्वालाएं उठती रहती हैं। इसके साथ ही पूर्वोक्त **उदुम्बर** रूपी ऊर्जा रश्मियों के चमस रूपी पदार्थ, जिनका वर्णन खण्ड **७.३२** में किया गया है, विद्यमान होते हैं। इन **उदुम्बर** रश्मियों के पुंज केन्द्रीय भाग के बाहर संधि भाग की ओर प्रवाहित होते रहते हैं।

इस प्रकार यह सम्पूर्ण विवरण **औदुम्बरी आसन्दी** का स्वरूप स्पष्ट करता है। इस समय इस क्षेत्र में अर्थात् **उदुम्बरी** रश्मियों में निम्नलिखित ८ प्रकार के पदार्थ और विद्यमान होते हैं-

(१) दधि- इस पदार्थ के विषय में खण्ड ७.२६ की प्रथम कण्डिका द्रष्टव्य है।
(२) मधु- {मधु = प्राणो वै मधु (तै.आ.५.४.११), अन्नं वै मधु (तां.११.१०.३), मिथुनं वै मधु, प्रजा मधु (ऐ.आ.१.३.४)} विभिन्न संयोज्य प्राण रश्मियां एवं उनसे संयुक्त होने वाली विभिन्न छन्दादि रश्मियों के मिथुन मधु कहलाते हैं, जो विभिन्न दीप्तियों को उत्पन्न करते एवं स्वयं भी दीप्त होते हुए अनेक तत्त्वों का निर्माण करते हैं।
(३) सर्पि- ऐसी तेजस्विनी रश्मियां, जो उपर्युक्त उदुम्बर चमसरूप पदार्थों में से निरन्तर प्रवाहित होती रहती हैं।
(४) आतपवर्ष्या आप- केन्द्रीय भाग के चारों ओर अच्छी प्रकार संतप्त उदुम्बर चमस नामक पदार्थों में बाहरी विशाल भाग से निरन्तर बरसती हुई विभिन्न तन्मात्राएं।
(५) शष्पाणि- {शष्पम् = शस्यते हन्यते यत् तत् शष्पम् (उ.को.३.२८), दीर्घलोमानि (तु.म.द.य.भा. १९.८१)} ऐसी दीर्घ छन्द रश्मियां, जो विशेष भेदन शक्तिसम्पन्न होती हैं तथा वे स्वयं भी किन्हीं तीव्र भेदक रश्मियों के आक्रमण से विच्छेदित होती रहती हैं।
(६) तोक्मानि- {तोकं तुद्यतेः इति नि.१०.७} ऐसे उत्पन्न परमाणु, जो निरन्तर कम्पन करते हुए सम्पीडित होते रहते हैं तथा उस क्षेत्र में व्याप्त होकर अन्य तत्त्वों को उत्पन्न करते रहते हैं।
(७) सुरा- {सुरा = सुरा सुनोतेः (नि.१.११), अनृतं पाप्मा तमः सुराः (श.५.१.२.१०), अपां च वाऽएष ओषधीनां च रसो यत्सुरा (श.१२.८.१.४), अन्नं सुरा (तै.ब्रा.१.३.३.५)} विभिन्न अनियंत्रित गति एवं तमोयुक्त ऐसे परमाणु आदि पदार्थ, जो पुनः-२ संयुक्त और पतित होते रहते हैं, साथ ही वे ऊष्मा को उत्पन्न करने में बीज रूप कार्य करते हैं।
(८) दूर्वा- {दूर्वा = धूर्वा ह वै तां दूर्वेत्याचक्षते परोऽक्षम् (श.७.४.२.१२), क्षत्त्रं वा एतदोषधीनां यद् दूर्वा (ऐ.८.८), तदेतत् क्षत्रं प्राणो ह्येष रसो (यद् दूर्वा) (श.७.४.२.१२), लोमभ्यो दूर्वाः (प्रजापतेरजायन्त) (जै.ब्रा.२.२६७)} मनस्तत्त्व से उत्पन्न विभिन्न छन्द रश्मियों के द्वारा निर्मित ऐसी तीक्ष्ण और कंपाने वाली रश्मियां, जो विभिन्न पदार्थों को विक्षुब्ध व विदीर्ण करने में सक्षम होती हैं।

ये कुल ८ प्रकार के पदार्थ आदित्य केन्द्रों में क्षत्रिय संज्ञक पदार्थों के अभिषेक की क्रिया प्रारम्भ होने से पूर्व ही उत्पन्न हो चुके होते हैं। ये उस अभिसेचन क्रिया में साधनरूप होते हैं।।

आदित्य के केन्द्रीय भाग में स्फ्य रूप वज्र रश्मियां भी विद्यमान होती हैं। ये रश्मियां ब्रह्म संज्ञक पदार्थों की साधन रूप होती हैं, जिनके विषय में खण्ड ७.१६ की द्वितीय कण्डिका द्रष्टव्य है। ये वज्र रश्मियां केन्द्रीय भाग की दक्षिण दिशा एवं इसके दोनों ओर पूर्व और पश्चिम दिशा को आच्छादित किये रहती हैं। यहाँ आचार्य सायण ने 'दक्षिणा' शब्द से प्रतीची और उदीची दिशा का भी ग्रहण किया है, इन वज्र रश्मियों के विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन है-

"खादिरः स्फ्यः" (श.३.६.२.१२)

{खदिरः = खादिरं बलकामस्य (ष.४.४), खादिरं स्वर्गकामः (कौ.ब्रा.१०.१)} इससे स्पष्ट होता है कि ये वज्र रश्मियां विभिन्न कमनीय बलों से युक्त होकर विभिन्न परमाणु आदि पदार्थों को आकर्षित करके केन्द्रीय भाग में प्रेषित करने में सहायक होती हैं। यहाँ केन्द्रीय भाग को ही वेदि कहा गया है। इस केन्द्रीय भाग की पूर्व दिशा में उन्मुख होती हुई पूर्वोक्त औदुम्बरी आसन्दी नामक रश्मियां प्रतिष्ठित होती हैं। यद्यपि हम पूर्व में यह लिख चुके हैं कि औदुम्बरी आसन्दी क्षेत्र सम्पूर्ण केन्द्रीय भाग के परिमाण में होता है। तदपि यहाँ प्राची की ओर उन्मुख होना इस बात का संकेत करता है कि इस क्षेत्र में उदुम्बरी ऊर्जा रश्मियों का सम्मुख भाग विशेष तेज और बल से युक्त होता है, इसी कारण ऋषियों का कथन है-

"एषा हि (प्राची दिक्) दिशां वीर्यवत्तमा" (जै.ब्रा.१.७२)
"तेजो वै ब्रह्मवर्चसं प्राची दिक् (ऐ.१.८)
"प्राच्येव भर्गः" (गो.पू.५.१५)
"राज्ञ्यसि प्राची दिक्" (तै.सं.४.३.६.२)

इस आसन्दी क्षेत्र के दो पाद वेदि रूपी केन्द्रीय भाग के अन्दर स्थित होते हैं और दो उस वेदि के बाहर। यह बाहर की दिशा भी दक्षिणी दिशा में विशेष रूप से होती है, इसलिए आदित्य लोकों का दक्षिणी ध्रुव अग्नि से अपेक्षाकृत अधिक युक्त होता है। यह बात खण्ड १.७ में भी स्पष्ट की गयी है। केन्द्रीय भाग के अन्दर का क्षेत्र परिमित होता है, जो 'श्री' रूप होता है। इसका अर्थ यह है {श्रीः =

अथ यत् प्राणा अश्रयन्त तस्मादु प्राणाः श्रियः (श.६.१.१.४), श्रीर्वै पशवः श्री शक्वर्यः (तां.१३.२.२), श्रीः पृष्ठ्यानि (कौ.ब्रा.२१.५), श्रियै पाप्मा (निवर्त्तते) (श.१०.२.६.१९), षड् वा ऋतवस्संवत्सरश्रीः (जै.ब्रा.२.१४२)} कि इस क्षेत्र में विभिन्न प्राण रश्मियां, शक्वरी पर्यन्त सभी छन्द व मरुद् रश्मियां व सभी ऋतु रश्मियां, असुर रश्मियों से मुक्त अवस्था में विद्यमान होती हैं। इस क्षेत्र में विभिन्न पार्थिव परमाणु भी विद्यमान होते हैं। इस क्षेत्र के बाहर विद्यमान आदित्य लोक का भाग, जिसको यहाँ बहिर्वेदि कहा है, केन्द्रीय भाग की अपेक्षा अपरिमित अर्थात् अति विस्तार वाला होता है। तारों के केन्द्र में उत्पन्न अग्नि आदि के परमाणु उस अन्तर्वेदि से निकलकर बहिर्वेदि में प्रविष्ट होते हैं, फिर वे ही शनैः-२ सुदूर असीम अन्तरिक्ष में उत्सर्जित होते रहते हैं। इस कारण भी बहिर्वेदि में आदित्य लोक के विशाल भाग के अतिरिक्त सुदूर अन्तरिक्ष के असीम क्षेत्र को बहिर्वेदि का भाग मानकर अपरिमित कहा गया है। यद्यपि **औदुम्बरी आसन्दी** क्षेत्र केन्द्रीय भाग तक ही सीमित माना गया है, जिसे अन्तर्वेदि भी कहा गया है, पुनरपि इस भाग में उत्पन्न अग्नि आदि के परमाणु अपरिमित क्षेत्र में यात्रा करने के लिए इसी भाग में प्रस्थान करते हैं। इसी कारण इस **आसन्दी** के दो भागों का बहिर्वेदि में स्थित होना कहा गया है। इसका दूसरा आशय यह भी है कि जिस प्रकार ऊर्जा के उत्सर्जन और अवशोषण रूपी दो पाद अर्थात् चरण अन्तर्वेदि में हुआ करते हैं, उसी प्रकार ये दोनों ही चरण वा गुण आदित्य लोक के बाहरी विशाल भाग एवं असीम अन्तरिक्ष में भी हुआ करते हैं। इन दोनों ही भागों अर्थात् अन्तर्वेदि और बहिर्वेदि में ऊर्जा के उत्सर्जन और अवशोषण के लिए आवश्यक बल विद्यमान होते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- तारों के केन्द्रीय भाग में विभिन्न प्राण व छन्द, मास, ऋतु, अति तीक्ष्ण एवं मृदु रश्मियां विद्यमान होती हैं। जब इस भाग में बाहरी भाग से विभिन्न संलयनीय नाभिक प्रविष्ट होने लगते हैं, तब ये सभी रश्मियां उन्हें अभिषिक्त करने लगती हैं, जिसके कारण उस क्षेत्र में ताप की मात्रा उत्तरोत्तर बढ़ने लगती है और उस बढ़े हुए ताप व दाब के कारण उन नाभिकों का बन्धक बल तेजी से बढ़ने लगता है। इसके साथ ही डार्क एनर्जी धीरे-२ समाप्त वा बहिर्गत होने लगती है। जब नाभिक परस्पर संलयन क्रिया को प्रारम्भ करने वाले होते हैं, उस समय सम्पूर्ण केन्द्रीय भाग बाहरी भाग की अपेक्षा पृथक् रूप से अधिक दीप्त होने लगता है। संलयन की क्रिया से उत्पन्न विद्युत् चुम्बकीय तरंगें विभिन्न कणों वा आयनों के द्वारा उत्सर्जित एवं अवशोषित होती हुई धीरे-२ संधि भाग की ओर बढ़ने लगती हैं। इसके पश्चात् इसी प्रक्रिया के द्वारा विद्युत् चुम्बकीय तरंगें सम्पूर्ण तारे को पार करके विशाल अन्तरिक्ष में उत्सर्जित होने लगती हैं। तारों के अन्दर उत्सर्जन और अवशोषण की प्रक्रिया के कारण
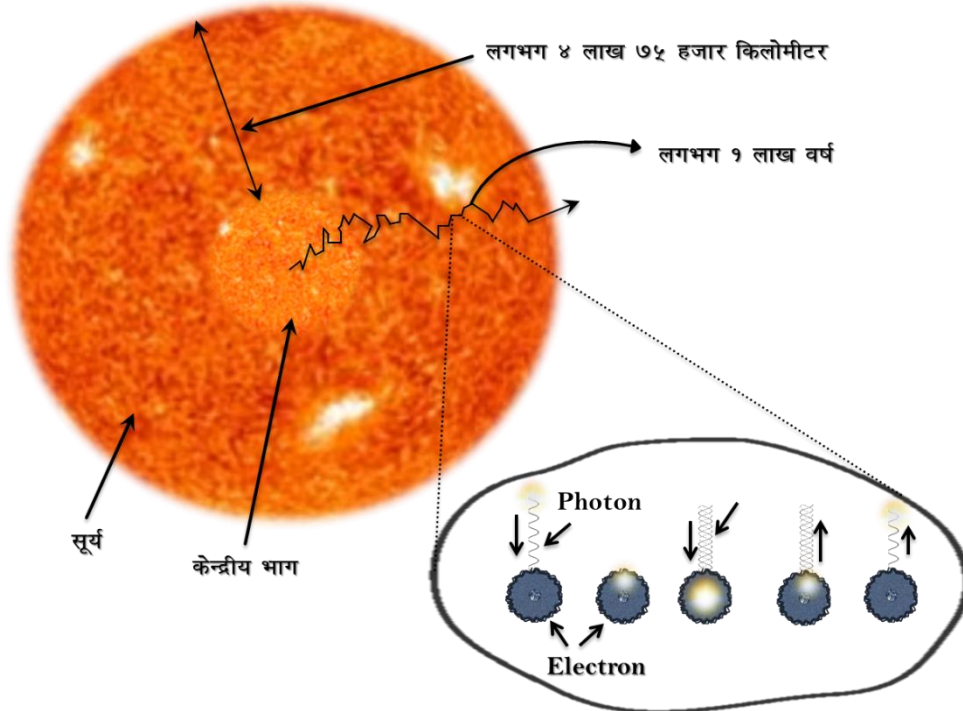
चित्र ३७.१ सूर्य से उत्पन्न विद्युत् चुम्बकीय तरंगों का बहिर्गमन

विद्युत् चुम्बकीय तरंगों का मार्ग अत्यन्त टेढ़ा-मेढ़ा और गति अति मन्द होती है। वर्तमान वैज्ञानिकों के अनुसार सूर्य के केन्द्र से बाहरी तल तक आगे में प्रकाश को लगभग १ लाख वर्ष लगते हैं, जबकि सूर्य के नाभिक के बाहरी भाग से उसके बाहरी तल की दूरी हमारे मतानुसार लगभग ४ लाख ७५ हजार किलोमीटर है, जिसे पार करने में इतना लम्बा समय लगता है। ऊर्जा के उत्सर्जन व अवशोषण की क्रिया में विभिन्न जगती छन्द रश्मियों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक रश्मियों की आवश्यकता होती है। इस क्रिया तथा नाभिकीय संलयन की क्रिया में अनेक ऐसे कण भी अपनी भूमिका निभाते हैं, जिनकी आयु अल्प होती है। तारे के केन्द्र के दक्षिणी भाग में ताप की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक होती है।।

सायण भाष्य व मालवीय अनुवाद

अब देखें खण्ड ८.२८ पर सायण भाष्य एवं डॉ. मालवीय का हिन्दी अनुवाद-

अथोक्तपुरोहितसहितस्य शत्रुरक्षार्थं कंचित्प्रयोगमाह-

अथातो ब्रह्मणः परिमरो, यो ह वै ब्रह्मणः परिमरं वेद, पर्येनं द्विषन्तो भ्रातृव्याः परि सपत्ना म्रियन्ते।। इति।

'अथ' पौरोहित्यविधानानन्तरम्, यतः पुरोहितेन संपाद्यः शत्रुक्षयोऽपेक्षितः 'अतः' कारणाद् 'ब्रह्मणः परिमरः' एतन्नामकः कर्मविशेषः, अभिधीयत इति शेषः। ब्रह्मशब्देनात्र वायुर्विवक्षितः। 'अयं वै ब्रह्म योऽयं पवते' इति वक्ष्यमाणत्वात्। तस्य वायोः परितो विद्युदादीनां मरणप्रकारः 'परिमरः' इत्युच्यते। तद्भावनारूपस्य कर्मविशेषस्य तदेव नामधेयम्। 'यः' पुमान् ब्रह्मणः परिमरं 'वेद' मनसा भावयति। 'एनं परि' एतस्य परितोऽवस्थितासु सर्वासु दिक्षु, 'द्विषन्तः' द्वेषं कुर्वन्तः शत्रवो म्रियन्ते, इदानीमेनं द्विषन्तो जात्या शत्रवः 'सपत्नाः' तेऽपि परितो म्रियन्ते। तस्मादेतद्वेदनं संपादनीयम्।।

इस {पौरोहित्य विधान} के अनन्तर {क्योंकि पुरोहित से संपादित शत्रु का विनाश अपेक्षित है} अतः 'ब्रह्म परिमर' {नामक कर्मविशेष का} अभिधान करते हैं। {यहाँ 'ब्रह्म' शब्द से वायु विवक्षित है उस वायु के चारों ओर विद्युत आदि मरण के प्रकार को 'परिमर' शब्द से कहते हैं}। जो इस 'ब्रह्म परिमर' को जानता है तो इसके चारों ओर सभी दिशाओं में अवस्थित द्वेष करने वाले शत्रु और चारों तरफ के जातिगत शत्रु भी मर जाते हैं।

वेदनस्वरूपमाह-

अयं वै ब्रह्म, योऽयं पवते, तमेताः पञ्च देवताः परिम्रियन्ते,-विद्युद्वृष्टिश्चन्द्रमा आदित्योऽग्निः।। इति।

'यः' अयं वायुः 'पवते' अन्तरिक्षे संचरति, अयमेव ब्रह्मशब्देन विवक्षितः। 'एताः' विद्युदादयः पञ्च देवताः 'तं' वायुं परिम्रियन्ते' तस्य परितो विनाशं गच्छन्ति। तदेतदनुसंधेयस्वरूपम्।।

जो यह {वायु अन्तरिक्ष में} बहता है यही 'ब्रह्म' है। ये {विद्युत आदि} पाँच देवता उस {वायु} के चारों ओर विनाश को प्राप्त होते हैं- १. विद्युत्, २. वृष्टि, ३. चन्द्रमा, ४. आदित्य और ५. अग्नि।

तत्राऽऽदौ विद्युतो मृतिं प्रतिपादयति-

विद्युद्वै विद्युत्य वृष्टिमदुप्रविशति, साऽन्तर्धीयते, तां न निर्जानन्ति।। इति।

येयं विद्युदस्ति सा 'विद्युत्य' प्रकाशं कृत्वा, पश्चाद्वृष्टिमदुप्रविशति। अत एव सा 'अन्तर्धीयते' अस्माभिर्न दृश्यते। 'तां' वृष्टौ प्रविष्टां विद्युतं क्व गता, कुत्र स्थिता? मृतेति मनुष्या निःशेषेण न जानन्ति।।

जो यह विद्युत् है वह प्रकाश करने के बाद वृष्टि में प्रविष्ट कर जाती है अतः वह अन्तर्हित हो जाती है {अर्थात् उसे हम नहीं देख पाते हैं}। उस {वृष्टि में प्रविष्ट विद्युत्} को मनुष्य नहीं जान पाते हैं।

तत्र दृष्टान्तमाह-

यदा वै म्रियतेऽथान्तर्धीयतेऽथैनं न निर्जानन्ति।। इति।

लोके कश्चित्पुरुषो यस्मिन् क्षणे म्रियते, तस्मिन्नेव क्षणेऽव्यैनं दृश्यते। ततो जना विचार्यापि क्व गतः, कुत्रावस्थित इति 'एनं' पुरुषं मृतं 'न निर्जानन्ति'। यद्यपि कुणपं पश्यन्ति; तथाऽपि जीवात्मानं न नानन्त्येव। तथैवं विद्युद्विनाश इति द्रष्टव्यम्।।

{लोक में भी जैसे} कोई पुरुष जब मरता है {वह अन्य लोगों के द्वारा नहीं दिखलाई पड़ता है} और अन्तर्हित हो जाता है। तब इस {मृत पुरुष} को अन्य जीवित पुरुष नहीं जान पाते हैं {वैसे ही विद्युत् का भी विनाश होता है}।

यथोक्तध्यानवतो जप्यमन्त्रमाह-

स ब्रूयाद् विद्युतो मरणे द्विषन् मे म्रियतां, सोऽन्तर्धीयतां, तं मा निर्ज्ञासिषुरिति।। इति।

विद्युतो मरणे सति उपासको द्विषदित्यादिकं मन्त्रं ब्रूयात्। तस्यायमर्थः-इयं विद्युदिव मदीयः शत्रुर्म्रियतां, स पुनः केनापि न दृश्यताम्। अतो विचार्यापि क्व गतः, क्वाऽऽस्ते? इति 'तं' शत्रुं तदीया बन्धवो निःशेषेण मा जानन्त्विति।।

बिजली के विलीन हो जाने पर उस {उपासक} को निम्न मन्त्र कहना चाहिए- 'मेरा शत्रु मर जाय। वह लुप्त हो जाय। उसे कोई भी {उसके बन्धु-बान्धव} न जाने।'

जपफलं दर्शयति-

क्षिप्रं हैवैनं न निर्जानन्ति।। इति।

शीघ्रमेव मृतमेनं शत्रुं तदीया बन्धवो नैव जानन्ति।।

{इस मन्त्र के जप का फल यह है कि} इस {मरे हुए शत्रु} को शीघ्र ही {उनके बन्धु-बान्धव} लोग नहीं ही जानते हैं।

विद्युत इव वृष्टेर्विनाशं दर्शयति-

वृष्टिर्वै वृष्ट्वा चन्द्रमसमनुप्रविशति, साऽन्तर्धीयते, तां न निर्जानन्ति, यदा वै म्रियतेऽथान्तर्धीयतेऽथैनं न निर्जानन्ति, स ब्रूयाद् वृष्टेर्मरणे द्विषन् मे म्रियतां, सोऽन्तर्धीयतां, तं मा निर्ज्ञासिषुरिति, क्षिप्रं हैवैनं न निर्जानन्ति।। इति।

येयं वृष्टिरस्ति, सेयं 'वृष्ट्वा' भूमौ जलं पातयित्वा स्वयमाप्यमण्डलरूपं चन्द्रमसमनुप्रविशति। अन्यत् पूर्ववद्योज्यम्।।

वृष्टि बरस कर चन्द्रमा में प्रविष्ट हो जाती है। वह लुप्त हो जाती है। उसे कोई नहीं जानता। {संसार में} जब कोई मरता है तो वह लुप्त हो जाता है। उसे कोई नहीं जानता है। अतः वृष्टि के मर जाने पर वह {साधक} कहे कि 'मेरा शत्रु मर जाय। वह लुप्त हो जाय। उसे कोई भी न जाने।' इस प्रकार इस {मरे हुए शत्रु} को शीघ्र ही लोग नहीं ही जानते हैं।

चन्द्रमसो विनाशं दर्शयति-

चन्द्रमा वा अमावास्यायामादित्यमनुप्रविशति, सोऽन्तर्धीयते, तं न निर्जानन्ति, यदा वै म्रियतेऽथान्तर्धीयतेऽथैनं न निर्जानन्ति, स ब्रूयाच्चन्द्रमसो मरणे द्विषन् मे म्रियतां, सोऽन्तर्धीयतां, तं मा निर्ज्ञातिषुरिति; क्षिप्रं हैवैनं न निर्जानन्ति।। इति।

अयं चन्द्रमा 'अमावास्यायां' तिथौ साकल्येनाऽऽदित्यमनुप्रविशति। अन्यत्पूर्ववत्।।

अमावस्या के दिन चन्द्रमा आदित्य में प्रविष्ट हो जाता है। वह लुप्त हो जाता है। उसे कोई नहीं जानता है। {दुनिया में} जब कोई मरता है तो वह लुप्त हो जाता है। तब उसे कोई नहीं जानता। चन्द्रमा के

लुप्त हो जाने पर वह {साधक} कहे कि 'मेरा शत्रु मर जाय। वह अन्तर्हित हो जाय। उसे कोई न जाने।' इस प्रकार इस {मरे हुए शत्रु} को शीघ्र ही लोग नहीं ही जानते हैं।

आदित्यस्य विनाशं दर्शयति-

आदित्यो वा अस्तं यन्नग्निमनुप्रविशति, सोऽन्तर्धीयते, तं न निर्जानन्ति; यदा वै म्रियतेऽथान्तर्धीयतेऽथैनं न निर्जानन्ति; स ब्रूयादादित्यस्य मरणे द्विषन् मे म्रियतां, सोऽन्तर्धीयतां, तं मा निर्ज्ञासिषुरिति; क्षिप्रं हैवैनं न निर्जानन्ति।। इति।

आदित्यो यदाऽस्तमेति, तदाऽयमग्निमनुप्रविशति। तदेतत् तैत्तिरीये; समाम्नातम्- ''अग्निं वा आदित्यः सायं प्रविशति, तस्मादग्निर्दूरान्नक्तं ददृशे, उभे हि तेजसी संपद्येते'' इति। अन्यत्पूर्ववत्।।

आदित्य जब अस्तंगत होता है तो वह अग्नि में प्रविष्ट हो जाता है। वह लुप्त हो जाता है। उसे कोई नहीं जानता है। {संसार में} जब कोई मरता है तो वह लुप्त हो जाता है। तब उसे कोई नहीं जानता। आदित्य के अन्तर्हित हो जाने पर वह {साधक} कहे कि 'मेरा शत्रु मर जाय। वह अन्तर्हित हो जाय। उसे कोई न जाने। इस प्रकार इस {मरे हुए शत्रु} को शीघ्र ही लोग नहीं जानते हैं।

अग्नेर्विनाशं दर्शयति-

अग्निर्वा उद्वान् वायुमनुप्रविशति, सोऽन्तर्धीयते, तं न निर्जानन्ति; यदा वै म्रियतेऽथान्तर्धीयतेऽथैनं न निर्जानन्ति, स ब्रूयादग्नेर्मरणे द्विषन्मे म्रियतां, सोऽन्तर्धीयतां, तं मा निर्ज्ञासिषुरिति; क्षिप्रं हैवैनं न निर्जानन्ति।। इति।

'उद्वान्' अग्निरुद्वानमुपशमनं प्राप्नुवन्नग्निर्वायुमनुप्रविशति; वायुबाहुल्ये दीपविनाशदर्शनात्। अन्यत्पूर्ववत्।।

अग्नि बुझ कर वायु में प्रविष्ट हो जाता है। वह अन्तर्हित हो जाता है। उसे कोई नहीं जानता है। {संसार में} जब कोई मरता है तो वह लुप्त हो जाता है। तब उसे कोई नहीं जानता। अग्नि के लुप्त हो जाने पर वह {साधक} कहे कि 'मेरा शत्रु मर जाय। वह अन्तर्हित हो जाय। उसे कोई न जाने।' इस प्रकार इस {मरे हुए शत्रु} को शीघ्र ही लोग नहीं ही जानते हैं।

वायोः परितो म्रियमाणानां देवतानां पुनर्वायोरेव जन्म दर्शयति-

ता वा एता देवता अत एव पुनर्जायन्ते।। इति।

'वायोः' जगत्कारणभूतसूत्रात्मरूपत्वाज्जगदेकदेशानां विद्युदादीनां जन्मविनाशौ वाय्वधीनौ। पूर्वं विद्युदादीनामग्न्यन्तानां क्रमेण विनाशो दर्शितः।।

{वायु के चारों ओर विलुप्त होने वाले} वे ये देवता हैं अत एव वे {वायु से ही} पुनः उत्पन्न होते हैं।

इदानीमग्न्यादीनां विद्युदन्तानां क्रमेणोत्पत्तिं विवक्षुरग्नेरुत्पत्तिं दर्शयति-

वायोरग्निर्जायते; प्राणाद्धि बलान्मथ्यमानोऽधिजायते; तं दृष्ट्वा ब्रूयादग्निर्जायतां मा मे द्विषज्जन्यत एव पराङ्प्रजिघ्यत्वित्यतो हैव पराङ्प्रजिघ्यति।। इति।

योऽयमग्निः, सोऽयं वायोर्जायते। कथमेतदिति? तदुच्यते। 'प्राणाद्' बलात्प्राणवायुसंबन्धिशक्तिवशान्मथ्यमानोऽयमग्निरधिकत्वेन जायते। 'तं' जायमानमग्निं दृष्ट्वा सोऽयमग्न्यादिजन्मध्याताऽग्निरित्यादिकं मन्त्रं जपेत्। अयमग्निर्वायोः साकाशात् सुखेन जायताम्। 'मे' 'द्विषन्' मदीयः शत्रुः 'मा जनिः' मोत्पद्यताम्। अत एव मत्तः 'पराङ्प्रजिघ्यतु' विमुखो भूत्वा प्रकर्षेण गच्छतु। 'इति' एतस्मिन् मन्त्रे जपिते सति 'अतः' जपितुः सकाशाच्छत्रुर्विमुखो भूत्वा दूरे गच्छति।।

वायु से अग्नि उत्पन्न होता है। क्योंकि प्राणु वायु की शक्ति से मथित होकर ही अग्नि उत्पन्न होता है। उस {उत्पन्न अग्नि} को देखकर वह {अग्नि आदि देवों के जन्म का ध्यान करने वाला साधक} कहे कि 'यह अग्नि {वायु के साहाय्य से सुखपूर्वक} भले उत्पन्न हो जाय किन्तु मेरा शत्रु न उत्पन्न

हो। अत एव वह मुझसे पराङ्मुख होकर दूर चला जाय' इस मन्त्र के जप होने पर जपने वाले से शत्रु विमुख होकर दूर चला जाता है।

आदित्यस्योत्पत्ति दर्शयति-

अग्नेर्वा आदित्यो जायते; तं दृष्ट्वा ब्रूयादादित्यो जायतां मा मे द्विषञ्जन्यत एव पराङ्प्रजिघ्यत्वित्यतो हैव पराङ्प्रजिघ्यति।। इति।

रात्रावग्निं प्रविष्ट आदित्यः परेद्युरग्नेर्जायते। अत एवाहन्यग्निस्तेजोरहितः, सूर्योऽधिकतेजा भासते। अन्यत्पूर्ववत्।।

अग्नि से आदित्य उत्पन्न होता है {रात्रि में अग्नि में प्रविष्ट आदित्य दूसरे दिन अग्नि से उत्पन्न होता है इसीलिए दिन में अग्नि तेजरहित होता है}। उस {उत्पन्न आदित्य} को देखकर वह {साधक} कहे कि 'यह आदित्य भले ही उत्पन्न हो जाय किन्तु मेरा शत्रु न उत्पन्न हो। अत एव वह मुझसे पराङ्मुख होकर दूर चला जाय' इस प्रकार मन्त्र के जप से जप करने वाले के पास से शत्रु विमुख होकर दूर चला जाता है।

चन्द्रमस उत्पत्तिं दर्शयति-

आदित्याद्वै चन्द्रमा जायते; तं दृष्ट्वा ब्रूयाच्चन्द्रमा जायतां मा मे द्विषञ्जन्यत एव पराङ्प्रजिघ्यत्वित्यतो हैव पराङ्प्रजिघ्यति।। इति।

तिथावमावास्यायामादित्ये प्रविष्टश्चन्द्रमाः शुक्लपक्षप्रतिपद्यादित्याज्जायते। अन्यत् पूर्ववत्।।

आदित्य से चन्द्रमा उत्पन्न होता है। {अमावस्या तिथि को आदित्य में प्रविष्ट चन्द्रमा शुक्ल पक्ष में प्रतिपदा को उत्पन्न होता है}। उस {उत्पन्न चन्द्रमा} को देखकर वह {साधक} कहे कि 'यह चन्द्रमा भले ही उत्पन्न हो जाय किन्तु मेरा शत्रु न उत्पन्न हो। अत एव वह मुझसे पराङ्मुख होकर दूर चला जाय' इस प्रकार मन्त्र के जप से जप करने वाले के पास से शत्रु विमुख होकर दूर चला जाता है।

वृष्टेरुत्पत्तिं दर्शयति-

चन्द्रमसो वै वृष्टिर्जायते, तां दृष्ट्वा ब्रूयाद् वृष्टिर्जायतां, मा मे द्विषञ्जन्यत एव पराङ्प्रजिघ्यत्वित्यतो हैव पराङ्प्रजिघ्यति।। इति।

जलमये चन्द्रमण्डले प्रविष्टा वृष्टिः कालान्तरे चन्द्राज्जायते। अन्यत्पूर्ववत्।।

{जलमय चन्द्रमण्डल में प्रविष्ट वृष्टि कालान्तर में उसी} चन्द्रमा से वृष्टि उत्पन्न होती है। उस {उत्पन्न वृष्टि} को देखकर वह {साधक} कहे कि 'वृष्टि भले ही उत्पन्न हो जाय किन्तु मेरा शत्रु न उत्पन्न हो। अत एव वह मुझसे पराङ्मुख होकर दूर चला जाय' इस प्रकार मन्त्र के जप से जप करने वाले के पास से शत्रु विमुख होकर दूर चला जाता है।

विद्युदुत्पत्तिं दर्शयति-

वृष्टेर्वै विद्युज्जायते, तां दृष्ट्वा ब्रूयाद् विद्युज्जायतां मा मे द्विषञ्जन्यत एव पराङ्प्रजिघ्यत्वित्यतो हैव पराङ्प्रजिघ्यति।। इति।

वृष्टौ प्रविष्टा विद्युत्पुनरपि कदाचित्प्रसक्ताया वृष्टेर्जायते। अन्यत्पूर्ववत्।।

{कभी वृष्टि में प्रविष्ट हुई} विद्युत् वृष्टि से उत्पन्न होती है। इस {उत्पन्न विद्युत्} को देखकर वह {साधक} कहे कि 'विद्युत् भले ही उत्पन्न हो जाय किन्तु मेरा शत्रु न उत्पन्न हो। अत एव वह मुझसे पराङ्मुख होकर दूर चला जाय' इस प्रकार मन्त्र के जप से जप करने वाले के पास से शत्रु विमुख होकर दूर चला जाता है।

उक्तमर्थमुपसंहरति-

स एष ब्रह्मणः परिमरः।। इति।

यश्च वायुसम्बन्धी परिमरनामकः कर्मविशेष उक्तः, 'स एषः' ध्यानरूपो जपरूपश्च इत्यर्थः।।

वह यह {ध्यान रूप और जप रूप} 'ब्रह्म परिमर' {नामक कर्मविशेष} है।

तमेतं कर्मविशेषमुदाहरणमुखेन प्रशंसति-

तमेतं ब्रह्मणः परिमरं मैत्रेयः कौषारवः सुत्वते कैरिशये भार्गायणाय राज्ञे प्रोवाच; तं ह पञ्च राजानः परिमम्रुस्ततः सुत्वा महज्जगाम।। इति।

उक्तं कर्मविशेषं कुषारवपुत्रो मैत्रेयनामको महर्षिः सुत्वनाम्ने राज्ञे प्रोवाच। कीदृशाय सुत्वने? किरिशस्यापत्यं कैरिशः, तस्मै 'कैरिशये', भर्गस्य गोत्रापत्यं भार्गायणः, तस्मै 'भार्गायणाय'। 'त' सुत्वनामकं राजानं 'परितः' सर्वदिक्षु वर्तमानाः पञ्चसंख्याका द्वेषिणो राजानो 'मम्रुः' मृताः। ततः 'सुत्वा' राजा 'महत्' प्रौढं निःसपत्नं पदं जगाम।।

उस इस 'ब्रह्म परिमर' को कुषारव के पुत्र मैत्रेय नामक महर्षि ने किरिश के पुत्र भर्ग गोत्र में उत्पन्न सुत्वन नामक राजा को बताया था। उसके चारों तरफ पाँच राजा मर गए। तब से 'सुत्वा' नामक राजा बड़े पद को अर्थात् शत्रुविहीन पद को प्राप्त हुए।

उक्तं कर्मविशेषमनुष्ठातुर्व्रतविशेषं विधत्ते-

तस्य व्रतं,-न द्विषतः पूर्वं उपविशेद् यदि तिष्ठन्तं मन्येत तिष्ठेतैव, न द्विषतः पूर्वः संविशेद्, यद्यासीनं मन्येताऽऽसीतैव; न द्विषतः पूर्वः प्रस्वप्याद्, यदि जाग्रतं मन्येत जाग्रियादेव।। इति।

'तस्य' अनुष्ठातुरेतद्व्रतमुच्यते। एतदीयो द्विषन् यदोपविंशति, ततः प्राक् स्वयं न 'उपविशेत्'। किंतु चारमुखेन तदीयं वृत्तान्तं विचारयेत्। यदि द्विषन्तं तिष्ठन्तं मन्येत, तदानीं स्वयमपि 'तिष्ठेतैव'। तथा यदा द्विषञ्शयनं करोति, ततः प्राक् स्वयं न 'संविशेत्' शयनं न कुर्यात्। यदि द्विषन्तमुपविष्टं मन्येत, तदानीं स्वमप्युपविशेदेव। तथा द्विषन् यदा निद्रां करोति, ततः प्राक् स्वयं न 'प्रस्वप्यात्'। किंतु यदि द्विषन्तं जाग्रतं मन्येत तदानीं स्वयमपि जाग्रियादेवेति।।

{अनुष्ठान करने वाले का व्रत}-

उस {अनुष्ठान करने वाले} का व्रत कहते हैं- {साधक} द्वेष करने वाले शत्रु के {बैठने के} पहले न बैठे। यदि ऐसा समझे कि द्वेषी शत्रु खड़ा है तो स्वयं भी खड़ा रहे और द्वेष करने वाले शत्रु के {लेटने से} पहले स्वयं न लेट जाय। यदि ऐसा समझे कि {शत्रु} बैठा है, तब बैठ जाय। विद्वेषी शत्रु के {निद्रा लेने के} पहले न सोए। यदि यह समझे कि शत्रु जागता है तो स्वयं भी जागता रहे।

एवं व्रतमाचरतः फलं दर्शयति-

अपि ह यद्यस्याश्ममूर्धा द्विषन् भवति क्षिप्रं हैवैनं स्तृणुते, स्तृणुते।।५।।

'अस्य' राज्ञोऽनुष्ठातुः 'द्विषन्' शत्रुर्यदि 'अश्ममूर्धा' पाषाणसदृशशिरस्को भवति, अतिप्रबल इत्यर्थः। तथाऽप्ययं कर्मविशेषः शीघ्रमेव 'एनं' शत्रुं 'स्तृणुते' हिनस्तिः अभ्यासोऽध्यायसमाप्त्यर्थः।।

इस प्रकार यदि उस {राजा के अनुष्ठाता} का द्वेषी शत्रु पत्थर के समान भी कड़े सिर वाला हो; तो भी यह {ब्रह्मपरिमर नामक कर्मविशेष} उसे शीघ्र ही मार डालता है।

मेरा व्याख्यान

अब इस पर मेरा भाष्य=व्याख्यान इस प्रकार है-

१. अथातो ब्रह्मणः परिमरो, यो ह वै ब्रह्मणः परिमरं वेद, पर्येनं द्विषन्तो भ्रातृव्याः परि सपत्ना म्रियन्ते।।

अयं वै ब्रह्म, योऽयं पवते, तमेताः पञ्च देवताः परिम्रियन्ते,-विद्युद्वृष्टिश्चन्द्रमा आदित्योऽग्निः।।
विद्युद्वै विद्युत्य वृष्टिमनुप्रविशति, साऽन्तर्धीयते, तां न निर्जानन्ति।।
यदा वै म्रियतेऽथान्तर्धीयतेऽथैनं न निर्जानन्ति।।
स ब्रूयाद् विद्युतो मरणे द्विषन् मे म्रियतां, सोऽन्तर्धीयतां, तं मा निर्ज्ञासिषुरिति।।
क्षिप्रं हैवैनं न निर्जानन्ति।।
वृष्टिर्वै वृष्ट्वा चन्द्रमसमनुप्रविशति, साऽन्तर्धीयते, तां न निर्जानन्ति, यदा वै म्रियतेऽथान्तर्धीयतेऽथैनं न निर्जानन्ति, स ब्रूयाद् वृष्टेर्मरणे द्विषन् मे म्रियतां, सोऽन्तर्धीयतां, तं मा निर्ज्ञासिषुरिति, क्षिप्रं हैवैनं न निर्जानन्ति।।
चन्द्रमा वा अमावास्यायामादित्यमनुप्रविशति, सोऽन्तर्धीयते, तं न निर्जानन्ति, यदा वै म्रियतेऽथान्तर्धीयतेऽथैनं न निर्जानन्ति, स ब्रूयाच्चन्द्रमसो मरणे द्विषन् मे म्रियतां, सोऽन्तर्धीयतां, तं मा निर्ज्ञासिषुरिति; क्षिप्रं हैवैनं न निर्जानन्ति।।
आदित्यो वा अस्तं यन्नग्निमनुप्रविशति, सोऽन्तर्धीयते, तं न निर्जानन्ति; यदा वै म्रियतेऽथान्तर्धीयतेऽथैनं न निर्जानन्ति; स ब्रूयादादित्यस्य मरणे द्विषन् मे म्रियतां, सोऽन्तर्धीयतां, तं मा निर्ज्ञासिषुरिति; क्षिप्रं हैवैनं न निर्जानन्ति।।
अग्निर्वा उद्वान् वायुमनुप्रविशति, सोऽन्तर्धीयते, तं न निर्जानन्ति; यदा वै म्रियतेऽथान्तर्धीयतेऽथैनं न निर्जानन्ति, स ब्रूयादग्नेर्मरणे द्विषन्मे म्रियतां, सोऽन्तर्धीयतां, तं मा निर्ज्ञासिषुरिति; क्षिप्रं हैवैनं न निर्जानन्ति।।
ता वा एता देवता अत एव पुनर्जायन्ते।।

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त **ब्राह्मण** पदार्थों के **पौरोहित्य विज्ञान** के वर्णन के उपरान्त उन **ब्राह्मण** पदार्थों वा ब्रह्मरूप पदार्थों (**ब्राह्मण** पदार्थ के कारणरूप) के **'परिमर'** की चर्चा प्रारम्भ करते हैं। यहाँ **'परिमर'** शब्द का अर्थ है- सब ओर विनाश। यहाँ ग्रन्थकार यह बताना चाहते हैं कि जब **क्षत्रिय** संज्ञक परमाणुओं के चारों ओर जो **ब्राह्मण** संज्ञक पदार्थ विद्यमान रहते हैं, उनका किस प्रकार और किस अनुक्रम से प्रतिकर्षक और बाधक बलों से युक्त संघर्ष होता है और कैसे यह संघर्ष संपूर्ण क्षेत्र में फैलता हुआ सब ओर उन बाधक तत्त्वों अर्थात् असुर पदार्थों का विनाश करता है? इस संपूर्ण क्रिया को ही **ब्रह्मरूप पदार्थ की परिमर क्रिया** कहते हैं। इस विषय में **महर्षि तित्तिर** का भी कथन है-
"तद् ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत। पर्येणं म्रियन्ते द्विषन्तः। परि येऽप्रिया भ्रातृव्याः" (तै.आ.६.१०.४; तै.उ.३.१०.४)

हम इस बात से अवगत ही हैं कि ये असुरादि पदार्थ ही विभिन्न **क्षत्रिय** परमाणुओं के संयोगादि कर्मों को बाधित करके सर्ग प्रक्रिया को अवरुद्ध कर देते हैं। इस प्रक्रिया को सुचारुरूप से संचालित करना ही **ब्राह्मण** संज्ञक पदार्थों का कार्य है। इसी सन्दर्भ में **'परिमर'** कर्म भी आवश्यक और महत्वपूर्ण कर्म है।।

अब **ब्रह्मरूप** पदार्थ का विवेचन करते हुए कहते हैं कि सतत बहने वाला यह सबका शोधक वायु ही **ब्रह्मरूप** कहलाता है। इस विषय में **महर्षि याज्ञवल्क्य** का भी कथन है-

"अथामूर्तं (ब्रह्मणो रूपम्) वायुश्चान्तरिक्षं च" (श.१४.५.३.४)
"अथामूर्तं (ब्रह्मणो रूपम्) प्राणश्च यश्चायमन्तराकाशः" (श.१४.५.३.८)

हमें यह भी अवगत है कि यहाँ वायु से विभिन्न प्राण रश्मियों का ग्रहण करना चाहिए। उस ऐसे वायु के चारों ओर के पांच देव पदार्थों का भी क्रमशः विनाश अर्थात् उनके उपादान कारण में लय होता है। ये पांच देव पदार्थ हैं- विद्युत्, वृष्टि, चन्द्रमा, आदित्य एवं अग्नि। इन पांचों पदार्थों के विषय

में आगे यथास्थान व्याख्यान किया जाएगा।।

{विद्युत् = विद्युद् यज्ञायज्ञीयस्य (ज्योतिः) (जै.ब्रा.१.२६२; २.४३३), बलमिति विद्युति (तै.आ.६.१०.२; तै.उ.३.१०.३)} यहाँ **विद्युत्** उस बल का नाम है, जो किसी संयोज्य परमाणु के अन्य संयोज्य परमाणु के साथ संयोग के समय अथवा किसी संयोज्य परमाणु के किसी असंयोज्य वा न्यूनतर संयोज्य परमाणु के साथ संयोग के समय ज्योति के साथ प्रकट होता है। यह विद्युत् बल ही नाना प्रकार के कर्मों को संपादित करके नाना तत्त्वों को उत्पन्न करता है। इसके साथ ही यह विद्युत् बल उन परमाणुओं को नाना क्रियाओं के लिए प्रेरित करता है, इसी कारण कहा गया है-

"विद्युदेव सविता" (गो.पू.१.३३)

इस विद्युत् के विषय में **महर्षि जैमिनी** का कथन है-

"वीव वा इदमद्युतदिति। सैषा विद्युदभवत्" (जै.ब्रा.३.३८०)

{वीव = पक्षीव (म.द.ऋ.भा.७.५५.२) (वि-इवपदयोः समासः), विरिति शकुनिनाम वेतेर्गतिकर्मणः (नि.२.६)} इसका आशय यह है कि विद्युत् की ज्योति पक्षी के उड़ने के समान अकस्मात् उत्पन्न वा विलीन होती है। दो परमाणुओं के मध्य संयोग के समय विद्युत् के व्यवहार के विषय में ऋषियों का मानना है-

"यथाऽसावन्तरिक्षे विद्युदेवमिदमात्मनि हृदयम्" (ऐ.आ.३.१.२; शां.आ.७.४) इसका आशय यह है कि दो परमाणुओं के संयोग के प्रभावक्षेत्र रूपी आकाश में विद्युत् का वही स्थान होता है, जो किसी प्राणी के शरीर में हृदय का होता है। जैसे हृदय सम्पूर्ण शरीर को रक्त प्रदान करके संचालित व सक्रिय करता है, वैसे ही विद्युत् आकाश तत्त्व में नाना प्रकार की प्राण व छन्दादि रश्मियों के सम्प्रेषण के द्वारा आकाश तत्त्व को संकुचित वा प्रसारित करती है, जिसके कारण दोनों ही परमाणुओं के संयोग और वियोग की प्रक्रिया हो पाती है। यह विद्युत् अपने कारणरूप **वृष्टि** तत्त्व में प्रविष्ट हो जाती है, इसी को इसका मरण कहा गया है। वृष्टि तत्त्व के विषय में ऋषियों का कथन है-

"आनुष्टुभी वै वृष्टिः" (तां.१२.८.८)

"वृष्टिः सम्मार्जनानि" (तै.ब्रा.३.३.१.२)

हमारे मत में पूर्वखण्ड में **ब्राह्मण** रश्मियों को शुद्ध करने वाली **"या ओषधीः सोमराज्ञी.....** इत्यादि दोनों निचृदनुष्टुप् छन्द रश्मियां ही यहाँ वृष्टिरूपा कहाती हैं, यही उपर्युक्त दोनों आर्षवचनों का संकेत है। इनके मार्जन कर्म को हम पूर्व में समझ ही चुके हैं। असुर तत्त्व को नष्ट वा नियंत्रित करने वाली विद्युत् दो परमाणुओं के संयुक्त होते ही इन्हीं अनुष्टुप् छन्द रश्मियों में विलीन हो जाती है। जब तक उन परमाणुओं का संयोग नहीं होता है, तब तक विद्युत् इन दोनों छन्द रश्मियों से आच्छादित रहती हुई भी इनमें लय को प्राप्त नहीं होती है। विद्युत् के इन छन्द रश्मियों में लय होने पर यह उन छन्द रश्मियों में मानो छिप जाती है, जिससे उसका प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता है अर्थात् उसके स्वरूप वा अस्तित्त्व के लक्षण अदृश्य वा शान्त हो जाते हैं।।

जब **विद्युत्** इस प्रकार अदृश्य हो जाती है, उस समय तक विद्युत् के प्रभाव से वह असुर तत्त्व भी नष्ट होकर दूर आकाश तत्त्व में विलीन हो जाता है, जिसके कारण उसका अवरोधक अथवा प्रतिकर्षक स्वरूप भी समाप्त हो जाता है अर्थात् उसके भी सभी लक्षण नष्ट हो जाते हैं। इस कारण परमाणुओं के संयोग की प्रक्रिया निर्बाधरूप से सम्पन्न हो जाती है। स्मरण रहे कि **विद्युत्** के अन्तर्धान के पश्चात् असुर तत्त्व का अन्तर्धान नहीं होता है, बल्कि ये दोनों प्रक्रिया साथ-२ ही सम्पन्न होती हैं अर्थात् इन दोनों ही पदार्थों का मरण साथ-२ होता है, जिससे आकर्षण और प्रतिकर्षण दोनों ही बल संतुलित वा समाप्त हो जाते है। यह क्रिया अतिशीघ्रता से होती है।।+।।+।।

पूर्वोक्त **वृष्टि** संज्ञक शोधक अनुष्टुप् छन्द रश्मियां **ब्राह्मण** पदार्थ को अभिसिंचित कर उन्हें शुद्ध करने के पश्चात् **चन्द्रमा** में प्रविष्ट हो जाती हैं। **{चन्द्रमा = अन्नमु चन्द्रमा (श.८.३.३.११), एष (चन्द्रमा) वै पवमान एष सोमो राजा (जै.ब्रा.२.१४५), चन्द्रमा उ वै सोमः (श.६.५.१.१), चन्द्रमा एव हिङ्कारः (जै.उ.१.१.३.४; ११.१.५)}** इसका तात्पर्य यह है कि वे अनुष्टुप् छन्द रश्मियां **'हिम्'** रश्मियों से युक्त संयोज्य सोम रश्मियों में प्रविष्ट होकर लीन हो जाती हैं। ये सोम रश्मियां कहाँ विद्यमान रहती हैं, इसका संकेत **महर्षि याज्ञवल्क्य** के निम्नलिखित वचनों से होता है-

"अथैष एव वृत्रो यश्चन्द्रमाः" (श.१.६.४.१३,१८)
"चन्द्रमा एव (संवत्सरस्य) द्वारपिधानः" (श.११.१.१.१)

{संवत्सरः = संवत्सरो वै सोमो राजा (कौ.ब्रा.७.१०), संवत्सरो वै सोमः (पितृमान्) (तै.ब्रा.१.६.८.२)} इससे यह सिद्ध होता है कि वे सोम रश्मियां देदीप्यमान **क्षत्रिय** परमाणु के बाहर आवरक के रूप में विद्यमान रहती हैं। जब अनुष्टुप् छन्द रश्मियां इन सोम रश्मियों में प्रविष्ट होकर छिप जाती हैं, उस समय उनके लक्षण भी अदृश्य हो जाते हैं। शेष भाग का व्याख्यान उपर्युक्त अन्तिम तीन कण्डिकाओं के समान विज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते हैं।।

तदुपरान्त वे **चन्द्रमा संज्ञक सोम** रश्मियां अमावस्या में स्थित **आदित्य** नामक पदार्थ में प्रविष्ट हो जाती हैं। **{अमावस्या = क्षत्रं अमावास्या (कौ.ब्रा.४.८), कामो वा अमावास्या (तै.ब्रा.३.१.५.१५), अमावस्या सिनीवाली (तै.सं.३.४.६.६), सिनीवाली = योषा वै सिनीवाली (श.६.५.१.१०)}** यहाँ कमनीय किंवा मिश्रण और अमिश्रण की प्रवृत्ति से युक्त **क्षत्रिय** परमाणु ही **अमावस्या** कहलाते हैं। **{आदित्यः = आदित्यानां जगती (पत्नी) (तै.आ.३.६.१), त्रैष्टुब्जागतो वा आदित्यः (तां.४.६.२३), बार्हतो वासावादित्यः (जै.ब्रा.२.३६), सुवरित्यादित्यः (तै.आ.७.५.२; तै.उ.१.५.२)}** इन **क्षत्रिय** परमाणुओं में **'स्वः'** संज्ञक व्याहृति रश्मियों से विशेष सम्पृक्त बृहती, त्रिष्टुप् एवं जगती छन्द रश्मियां विद्यमान होती हैं। इस छन्द रश्मियों में ही **चन्द्रमा** संज्ञक उपर्युक्त सोम रश्मियां प्रविष्ट हो जाती हैं। इसके साथ ही वे सोम रश्मियां इन छन्द रश्मियों में विलीन होकर अदृश्य हो जाती हैं, जिसके कारण उनके लक्षण भी लुप्त हो जाते हैं। शेष भाग का व्याख्यान उपर्युक्तवत् समझें।।

उपर्युक्त **आदित्य** संज्ञक त्रिष्टुबादि छन्द रश्मियां प्रक्षिप्त होकर **अग्नि** में प्रविष्ट हो जाती हैं। **{अग्निः = अग्निर्वै गायत्री (श.३.६.४.१०), अग्निर्वा अन्नपतिः (तै.सं.५.२.२.१), अग्निर्वै त्रिवृत् (जै.ब्रा.१.२४०; तै.ब्रा.१.५.१०.४), अग्निर्वै पाप्मनोऽपहन्ता (श.२.३.३.१३), भूरिति वा अग्निः (तै.आ.७.५.२; तै.उ.१.५.२), या वाक् सोऽग्निः (गो.उ.४.११), वाग् अग्निः (ऐ.आ.२.१.५), (वाग्वा अनुष्टुप् - ऐ.१.२८)}** इसका तात्पर्य यह है कि वे **आदित्य** संज्ञक छन्द रश्मियां **'भूः'** व्याहृति रश्मियों से सम्पृक्त **त्रिवृत् स्तोमरूपी** गायत्री छन्द रश्मियों में प्रविष्ट हो जाती हैं। ये **त्रिवृत्** गायत्री छन्द रश्मियां ही सूक्ष्म असुर रश्मियों को नष्ट करके अन्नपतिरूप होकर संयोज्य **क्षत्रिय** परमाणुओं की वास्तविक रक्षिका होती हैं। इन गायत्री रश्मियों में प्रविष्ट हुई **आदित्य** संज्ञक छन्द रश्मियां गायत्री रश्मियों में विलीन भी हो जाती हैं, जिससे उनके लक्षण भी विलुप्त हो जाते हैं। शेष भाग का व्याख्यान् पूर्ववत् समझ सकते हैं।।

तदुपरान्त उपर्युक्त **अग्नि** संज्ञक गायत्री **(त्रिवृत्)** रश्मियां {उद्वान् = उपशमनं प्राप्नुवन् (सायणभाष्यम्)} **वायु** में प्रविष्ट हो जाती है। **{वायुः = अयं वायुरन्तरिक्षस्य पृष्ठम् (जै.ब्रा.३.२५२), भुव इत्येव यजुर्वेदस्य (प्रजापतिः) रसमादत्त। तदिदमन्तरिक्षमभवत्। तस्य यो रसः प्राणोदत् स वायुरभवद्रसस्य रसः (जै.उ.१.१.१.४), वायुरेव हिङ्कारः (जै.उ.१.१२.२.६; १८.३.६), प्राणा उ वै वायुः (श.८.४.१.८), वायुर्वै प्राणः (कौ.ब्रा.८.४), वायुर्हि प्राणः (ऐ.२.२६), प्राणो हि वायुः (तां.४.६.८), प्राणो वै वायुः (कौ.ब्रा.५.८; श.४.४.१.१५; गो.उ.१.२६)}** इसका तात्पर्य यह है कि वे **अग्नि** संज्ञक गायत्री छन्द रश्मियों, जिनमें **'भूः'** रश्मियां सम्पृक्त होती हैं, **'भुवः'** व्याहृति रश्मियों से सम्पृक्त विभिन्न प्राण रश्मियों में प्रविष्ट होकर विलीन हो जाती हैं, जिससे उनके लक्षण भी लुप्त हो जाते हैं। यह **वायु** वही ब्रह्मरूप वायु है, जिसकी चर्चा इस खण्ड की द्वितीय कण्डिका में की गयी है। इसी वायु के परितः विद्युत्, वृष्टि, चन्द्रमा, आदित्य एवं अग्नि संज्ञक पांच पदार्थ विद्यमान होते हैं। इन्हीं पदार्थों का पूर्वोक्त **'परिमर'** कर्म उपर्युक्त क्रम एवं प्रक्रिया अनुसार होता है। शेष भाग का व्याख्यान पूर्ववत् समझें।।

ये सभी विद्युदादि पांचों पदार्थ, जो वायु में विलीन होते हैं, वे पुनः-२ वायु से ही उत्पन्न भी होते हैं। इसकी चर्चा अग्रिम कण्डिकाओं में चरणबद्धरूप से की गयी है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस सृष्टि में प्रत्येक मूलकण, Atom अथवा Ion (आयन) विभिन्न प्रकार की सूक्ष्म रश्मियों से छः स्तरों पर आच्छादित रहते हैं। इनमें से कुछ पदार्थ इन कणों के भीतर और बाहर दोनों ही स्थानों पर विद्यमान होते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से ये सभी पदार्थ कणों के भीतर और बाहर

दोनों ही स्थानों पर प्रभावी रहते हैं। जब ये कण किसी अन्य कण के साथ संयोग करते हैं, तब उन दोनों के बीच डार्क एनर्जी का सूक्ष्म रूप प्रकट होकर प्रतिकर्षण बल उत्पन्न करने का प्रयास करता है। उस समय दोनों कणों के मध्य छः स्तर वाला पदार्थ अति विक्षुब्ध हो उठता है। इस क्रम में सर्वप्रथम विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्र विक्षुब्ध होकर दो अनुष्टुप् छन्द रश्मियों में प्रविष्ट हो जाता है और उस समय विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्र के लक्षण अदृश्य हो जाते हैं। यही कारण है कि जब धनावेशित और ऋणावेशित दो कण परस्पर संयुक्त होते हैं, तब उनको दोनों प्रकार का आवेश अदृश्य (लुप्त) होकर विद्युत् आवेश विहीन नवीन कण को जन्म देते हैं। उसके अगले चरण में विद्युत् को अपने अन्दर सोख लेने वाली अनुष्टुप् छन्द रश्मियां सूक्ष्म मरुद् रश्मियों में लीन हो जाती हैं। इन मरुद् रश्मियों में **'हिम्'** रश्मियां भी विद्यमान होती हैं। इस समय अनुष्टुप् छन्द रश्मियों के लक्षण भी समाप्त हो जाते हैं। उसके पश्चात्
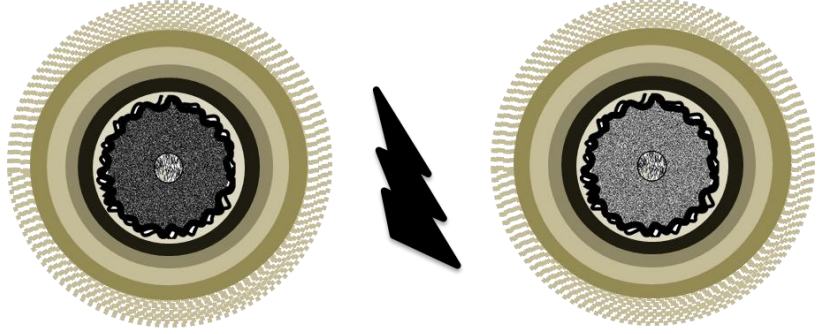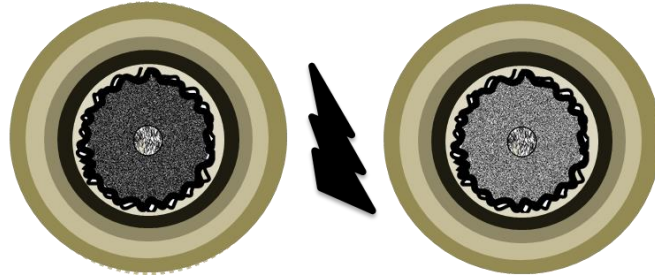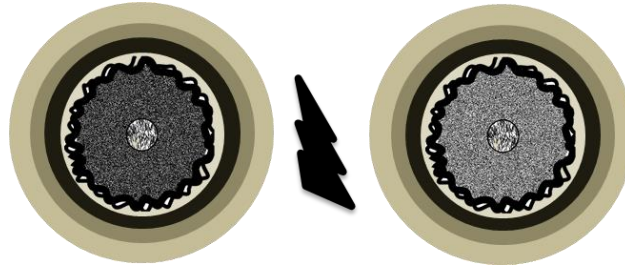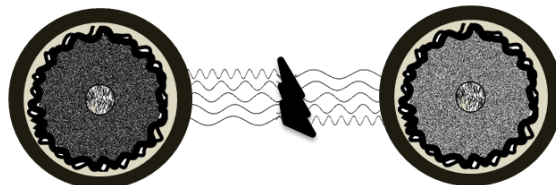
षष्ठ चरण
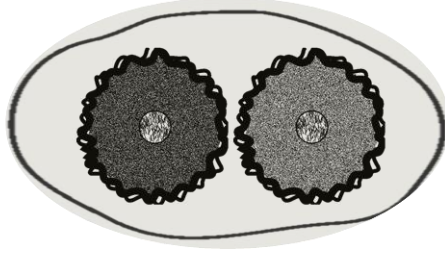
चित्र ४०.१ दो कण अथवा क्वाण्टाज् (Quantas) के संयोग की प्रक्रिया के विभिन्न चरण

'हिम्' रश्मियों से युक्त सोम रश्मियां कणों में विद्यमान बृहती, त्रिष्टुप् एवं जगती, जो स्वः रश्मियों से युक्त होती हैं, में विलीन होकर अपने लक्षणों को त्याग देती हैं। इसके पश्चात् वे बृहती आदि रश्मियां **'भूः'** रश्मियों से सम्पन्न गायत्री छन्द रश्मियों में विलीन होकर निष्क्रिय हो जाती हैं। ये गायत्री छन्द रश्मियां ही डार्क एनर्जी के सूक्ष्म प्रभावों को नष्ट करती हैं। इस प्रकार डार्क एनर्जी का प्रतिकर्षक प्रभाव नष्ट हो जाता है। अन्त में ये गायत्री रश्मियां भी **'भुवः'** रश्मियों से युक्त विभिन्न प्राथमिक प्राण रश्मियों में विलीन हो जाती हैं, जहाँ डार्क एनर्जी का कोई भी प्रभाव नहीं रहता। इस प्रकार दो कण अथवा क्वाण्टाज् (Quantas) के मध्य अथवा इनका स्वयं का पारस्परिक (जैसे कण का कण के साथ एवं क्वाण्टा का क्वाण्टा के साथ) संयोग निर्विघ्न संपन्न हो जाता है। इस संयोग प्रक्रिया के ऐसे गम्भीर और सूक्ष्म रहस्य को वर्तमान विज्ञान किंचिदपि नहीं जानता।।

२. वायोरग्निर्जायते; प्राणाद्धि बलान्मथ्यमानोऽधिजायते; तं दृष्ट्वा ब्रूयादग्निर्जायतां मा मे द्विषञ्जन्यत एव पराङ्प्रजिघ्यत्वित्यतो हैव पराङ्प्रजिघ्यति।।
अग्नेर्वा आदित्यो जायते; तं दृष्ट्वा ब्रूयादादित्यो जायतां मा मे द्विषञ्जन्यत एव पराङ्प्रजिघ्यत्वित्यतो हैव पराङ्प्रजिघ्यति।।
आदित्याद्वै चन्द्रमा जायते; तं दृष्ट्वा ब्रूयाच्चन्द्रमा जायतां मा मे द्विषञ्जन्यत एव पराङ्प्रजिघ्यत्वित्यतो हैव पराङ्प्रजिघ्यति।।
चन्द्रमसो वै वृष्टिर्जायते, तां दृष्ट्वा ब्रूयाद् वृष्टिर्जायतां, मा मे द्विषञ्जन्यत एव पराङ्प्रजिघ्यत्वित्यतो हैव पराङ्प्रजिघ्यति।।
वृष्टेर्वै विद्युज्जायते, तां दृष्ट्वा ब्रूयाद् विद्युज्जायतां मा मे द्विषञ्जन्यत एव पराङ्प्रजिघ्यत्वित्यतो हैव पराङ्प्रजिघ्यति।।
स एष ब्रह्मणः परिमरः।।
तमेतं ब्रह्मणः परिमरं मैत्रेयः कौषारवः सुत्वमे कैरिशये भार्गायणाय राज्ञे प्रोवाच; तं ह पञ्च राजानः परिमम्रुस्ततः सुत्वा महज्जगाम।।
तस्य व्रतं,-न द्विषतः पूर्व उपविशेद् यदि तिष्ठन्तं मन्येत तिष्ठेतैव, न द्विषतः पूर्वः संविशेद्, यद्यासीनं मन्येताऽऽसीतैव; न द्विषतः पूर्वः प्रस्वप्याद्, यदि जाग्रतं मन्येत जाग्रियादेव।।
अपि ह यद्यस्याश्ममूर्धा द्विषन् भवति क्षिप्रं हैवैनं स्तृणुते, स्तृणुते।।५।।

व्याख्यानम्- अब उपर्युक्त पांचों पदार्थों की उत्पत्ति का क्रम और कारण पदार्थ का वर्णन करते हुए कहते हैं कि पूर्वोक्त **वायुरूप पदार्थ से अग्नि की उत्पत्ति होती है।** वायु अर्थात् विभिन्न प्राथमिक प्राण रश्मियों के मध्य जब बलपूर्वक मंथन क्रिया चलती है, उससे ही अग्नि का प्राकट्य होता है। इसलिए कहा गया है-

"प्राणापानौ वा इन्द्राग्नी" (मै.१.५.६; काठ.७.५; ३४.१; ३६.२; गो.उ.२.१) यहाँ अग्नि का तात्पर्य पूर्वोक्त **त्रिवृत्** गायत्री छन्द रश्मियां ही मानना चाहिये। जब विभिन्न प्राथमिक प्राण रश्मियां संपीडित होती हैं, तब गायत्री छन्द रश्मियों के समूह उत्पन्न होते हैं। यह संपीडन **ईश्वर तत्त्व द्वारा प्रेरित 'ओम्' छन्द रश्मि-मय मनस्तत्त्व के द्वारा होता है।** इसी कारण **महर्षि जैमिनी** का कथन है-

"प्राणो वै गायत्रं" (जै.ब्रा.१.१११, जै.उ.१.१२.३.७)
"प्राणो वा एष प्रविशति यद् गायत्रम्" (छन्दः) (जै.ब्रा.२.१८)
"मनो वै गायत्रम्" (जै.ब्रा.३.३०५)

जब प्राथमिक प्राण रश्मियों से गायत्री छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है, उस समय किसी बाधक असुर तत्त्व की उत्पत्ति नहीं होती। जैसा कि हम अवगत हैं कि गायत्री आदि छन्द रश्मियां आसुर भी होती हैं परन्तु उनकी उत्पत्ति इस प्रक्रिया में नहीं होती है। यहाँ ग्रन्थकार का यही प्रयोजन है। यदि कहीं असुर रश्मियां विद्यमान हों, तो भी वे इन वायु और अग्नि तत्त्वों से पराङ्मुख होकर दूर चली जाती हैं।।

उपर्युक्त गायत्री छन्द रूपी अग्नि के सम्पीडन से पूर्वोक्त बृहती, त्रिष्टुप्, जगती छन्द रूपी आदित्य की उत्पत्ति होती है। इसी कारण कहा गया है-

"गायत्री वाव सर्वाणि छन्दांसि।" (तां.८.४.४)
"गायत्री वै छन्दसामग्र्यं ज्यैष्ठ्यम्।" (जै.ब्रा.२.२२७)
"गायत्री वै छन्दसामयातयाम्नी।" (जै.ब्रा.३.३०५)
"गायत्री वै प्रातःसवनं वहति, गायत्री माध्यन्दिनं सवनं, गायत्री तृतीयसवनम्" (जै.ब्रा.१.२८६)

इन वचनों का तात्पर्य यही है कि गायत्री छन्द रश्मियां अन्य सभी छन्द रश्मियों से पूर्व उत्पन्न होती हैं और वे छन्द रश्मियां गायत्री से ही उत्पन्न होकर गायत्री में ही प्रतिष्ठित रहती हैं। शेष भाग का व्याख्यान उपर्युक्तवत् समझें।।

इन उपर्युक्त बृहती, त्रिष्टुप् एवं जगत्यादि छन्द रश्मिरूप आदित्य से पूर्वोक्त **चन्द्रमा** अर्थात् कमनीय एवं सम्पीडक बलों से युक्त सोम रश्मियां उत्पन्न होती हैं, जिनमें **'हिम्'** रश्मियां भी विद्यमान होती हैं। इस बात का संकेत **महर्षि तित्तिर** के इस कथन में भी मिलता है।

"छन्दांसि खलु वै सौमस्य राज्ञः साम्राज्यो लोकः" (तै.सं.३.१.२.१)

इन वचनों से यह भी सिद्ध होता है कि न केवल आदित्य संज्ञक बृहती, त्रिष्टुप् एवं जगती छन्द रश्मियां गायत्री छन्द रश्मियों से उत्पन्न होती हैं, अपितु अन्य छन्द रश्मियां भी गायत्री से ही उत्पन्न होती हैं। शेष भाग का व्याख्यान पूर्ववत्।।

उपर्युक्त **चन्द्रमा** संज्ञक सोम रश्मियों से **वृष्टि** संज्ञक पूर्वोक्त दो निचृदनुष्टुप् छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है। इसका संकेत **"अनुष्टुप् सोमस्य च्छन्दः" (कौ.ब्रा.१५.२; १६.३)** से भी मिलता है। शेष भाग का व्याख्यान पूर्ववत् समझें।।

पूर्वोक्त **वृष्टि** संज्ञक अनुष्टुप् छन्द रश्मियों से **विद्युत्** की उत्पत्ति होती है। इस विद्युत् को स्थूल विद्युत् मानना चाहिए क्योंकि विद्युत् का सूक्ष्मतम रूप प्राथमिक प्राण रश्मियों से ही उत्पन्न हो जाता है। इसी बात को **महर्षि याज्ञवल्क्य** ने इस प्रकार कहा है-

"विद्युद्वाऽअपां ज्योतिः" (श.७.५.२.४६)

यहाँ **आपः** शब्द का अर्थ **महर्षि तित्तिर** के कथन **"आपो वै वृष्टिः" (तै.आ.१.२६.८)** से स्पष्ट हो जाता है। शेष भाग का व्याख्यान पूर्ववत् समझें।।

इस प्रकार इस खण्ड में वायुरूप ब्रह्म के **'परिमर'** कर्म का व्याख्यान किया गया है, जिसमें विद्युदादि पांचों पदार्थों के मरण अर्थात् कारण में लय होने तथा इस लय होने के साथ-२ असुर पदार्थ के नष्ट होने की गंभीर प्रक्रिया के विज्ञान को चरणबद्ध रूप से व्याख्यात किया गया है। इस कण्डिका से पूर्व की पांच कण्डिकाओं में हमने अग्नि, आदित्य आदि पांचों पदार्थों की व्याख्या कुछ संक्षिप्त की

है क्योंकि इनसे पूर्व इन पांचों ही पदार्थों को विस्तार से व्याख्यात किया जा चुका है।।

इसी **परिमर** प्रक्रिया को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि **{मैत्रेयः = मैत्रे मित्रतायां साधुः, मैत्र+ढञ् (आप्टेकोश), (कुषारुः = कु+सृ+ञुण् - उ.को.१.३) इति मे मतम्। किरिः = किरतीति किरिः (उ.को.४.१४४)। शः = शो+ड = काटने वाला, विनाशकर्त्ता (आप्टेकोश)। सुत्वन् = सु+क्वनिप्, तुक् (आप्टेकोश)। भृगुः = भृगुर्वारुणिः (ऐ.३.३४)}** टेढ़ी-मेढ़ी गतियों से युक्त परन्तु सदैव सूक्ष्म आकर्षण बलों से सम्पन्न **"कौषारव मैत्रेय"** नामक ऋषि अर्थात् सूत्रात्मा वायु रश्मियों का एक रूप **पुरोहित ब्राह्मण** के रूप में वरुण रश्मियों से उत्पन्न सोम रश्मियों को अवशोषित करने वाले **किरिश क्षत्रिय** परमाणु, जो बिखरी हुई सोम रश्मियों को अपनी ओर आकर्षित करने की प्रवृत्ति से युक्त होते हैं, को प्रकृष्ट रूप से सक्रिय और सतेज करके पूर्वोक्त प्रक्रियानुसार महाभिषिक्त करते हैं। यहाँ **'भृगु'** शब्द का अर्थ अग्नि की ज्वालाओं में विद्यमान वरुण रश्मियों (व्यान) से उत्पन्न सोम रश्मियां मानना चाहिए। इन **क्षत्रिय** परमाणुओं के अभिषिक्त होने के समय तथा ऐसे परमाणुओं के पारस्परिक संयोग के समय पूर्वोक्त विद्युदादि पांचों प्रकार के तेजस्वी पदार्थों का मरण अर्थात् अपने-२ कारणभूत पदार्थों में विलय होता है, तभी वे **क्षत्रिय** परमाणु बाधक असुर रश्मियों से मुक्त होकर महान् बल को प्राप्त करके अपना विस्तार करते हैं। इसका आशय यह है कि वे नाना प्रकार की संयोगादि क्रियाओं को सम्पन्न करके नाना तत्त्वों का निर्माण करते हैं।।

उपर्युक्त **परिमर** कर्म और संयोगादि प्रक्रिया के विज्ञान, जिसके द्वारा इस समस्त सृष्टि का निर्माण होता है, को उपसंहार की ओर ले जाते हुए कहते हैं कि **{व्रतम् = कर्मनाम (निघं.२.१), वीर्यं वै व्रतम् (श.१३.४.१.१५), अन्नं हि व्रतम् (श.६.६.४.५)}** इस सृष्टि में जहाँ-२ भी संयोगकर्म और उनको संपन्न करने वाले तेज और बल विद्यमान होते हैं, चाहे वे बल पूर्वोक्त विद्युत्, वृष्टि, चन्द्रमा आदि किसी भी पदार्थ के हों, जब तक द्वेषी अर्थात् बाधक असुर तत्त्व संघर्षरत रहता है, तब तक वे उस असुर तत्त्व से सतत संघर्ष करते हैं अर्थात् वे उस संघर्ष करते हुए असुर तत्त्व से पूर्व दुर्बल नहीं होते और न ही वे पदार्थ तब तक **क्षत्रिय** परमाणुओं के निकट जाते हैं। वे विद्युदादि पदार्थ असुर तत्त्व से पूर्व कभी भी एक ही स्थान पर स्थिर नहीं होते हैं। **{आसीनः = (आ+सद् = आक्रमण करना, घात में रहना, निकट बैठना - आप्टेकोश)}** यदि असुर पदार्थ आक्रमण हेतु **क्षत्रिय** परमाणुओं के निकट आता है, तो विद्युदादि पदार्थ भी आक्रमण करने के लिए तुरन्त असुर पदार्थ के निकट पहुंच जाते हैं। यदि असुर पदार्थ पूर्ण निष्क्रिय नहीं हुआ है, तो विद्युदादि पदार्थ भी पूर्ण निष्क्रिय नहीं होते अर्थात् उनका **परिमर** कर्म भी असुर पदार्थों के नष्ट होने के पश्चात् अथवा साथ-२ ही होता है। यदि ऐसा न होवे तो असुर पदार्थों को निष्क्रिय वा नष्ट किया ही नहीं जा सकता और ऐसा किये बिना कोई भी संयोगादि कर्म हो ही नहीं सकते।।

{अश्मा = मेघनाम (निघं.१.१०), स्थिरो वो ऽअश्मा (श.६.१.२.५)} अन्त में महर्षि लिखते हैं कि संयोगादि प्रक्रिया में बाधक बनी असुर रश्मियां दृढ़ मेघरूप में अति उत्कृष्ट अर्थात् तीक्ष्णरूप में क्यों न विद्यमान हों? उपर्युक्त परिमर कर्म के द्वारा शीघ्र ही नष्ट हो जाती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- विभिन्न प्राथमिक प्राण रश्मियों के सम्पीडन से गायत्री छन्द रश्मियां और गायत्री छन्द रश्मियों के सम्पीडन से अन्य छन्द रश्मियां उत्पन्न होती हैं। विभिन्न छन्द रश्मियों के सम्पीडन से धीरे-२ विभिन्न मूलकण, विद्युदावेश और Quantas की उत्पत्ति होती है। इस प्रक्रिया में डार्क एनर्जी की बाधा को तीव्र विद्युत् तरंगों के द्वारा दूर किया जाता है किंवा यहाँ तक डार्क एनर्जी की कोई बाधा सृष्टि प्रक्रिया को अवरुद्ध नहीं कर पाती। प्राण व सूक्ष्म छन्द रश्मियों पर डार्क एनर्जी का कोई प्रभाव नहीं होता है। दो कणों के संयोग के समय डार्क एनर्जी को नष्ट करने वाली प्राणादि रश्मियां वा तीव्र विद्युत् तरंगें डार्क एनर्जी के नष्ट होने तक सक्रिय बनी रहती हैं, चाहे वह डार्क एनर्जी कितनी भी तीक्ष्ण क्यों न हो।।

ॐ इति दशमोऽध्यायः समाप्तः ॐ

।। ओ३म् ।।

अथ प्रथमपञ्चिका

ओ३म्। भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।।
ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं तन्नऽआ सुव।।

संरचना व स्वरूप एवं उसकी उत्पत्ति, उसके उत्सर्जन व अवशोषण की प्रक्रिया, दृश्य व डार्क पदार्थ का संघर्ष, विभिन्न लोकों का निर्माण-विज्ञान वर्णित है।

५. पञ्चमोऽध्यायः

इसमें सोमक्रय, अग्निप्रणयन, हविर्धान आदि के रूप वाक् तत्त्व, विद्युत् चुम्बकीय बल, क्वाण्टा व मूलकण आदि का विज्ञान, दृश्य व डार्क पदार्थ की उत्पत्ति, एटम्स का निर्माण, नेब्यूला आदि का विज्ञान एवं इन सबमें छन्द रश्मियों की भूमिका वर्णित है।

प्रथमोऽध्यायः

गर्भ में भ्रूण के हाथों के मध्य 0° का कोण
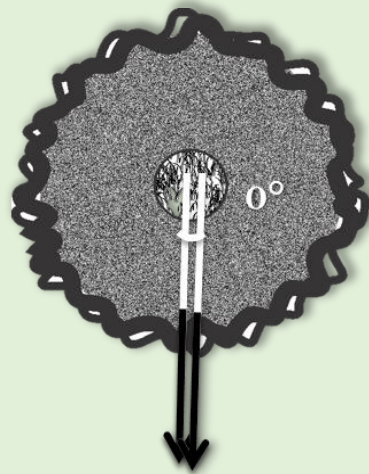
संयोग की अवस्था में कण से विसर्जित वा गृहीत रश्मियां शान्त हो जाती है किंवा उनके बीच समकोण समाप्त होकर लगभग शून्य अंश का कोण बन जाता है।

।। ओ३म् ।।

ओं विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑ सुव। यद्भ॒द्रं तन्न॒ऽआ सु॑व।।

अनुक्रमणिका

꧁ अथ १.१ प्रारभ्यते ꧂

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः।।

{देवः = दिव्यो वायुः (तु.म.द.य.भा.२२.१५), मनो देवः (गो.पू.२.११), प्राणा देवाः (श. ६.३.२.१५)। अग्निः = व्यापको विद्युत् (तु.म.द.ऋ.भा.१.१२.६)। विष्णुः = स्वदीप्त्या व्यापकः सूर्यः (म.द.ऋ.भा.१.१५६.४), स यः स विष्णुर्यज्ञः सः। स यः स यज्ञोऽसौ स आदित्यः (श.१४.१.१.६)}

व्याख्यानम्- समस्त अवकाशरूप आकाश में सर्गोत्पत्ति के समय सर्वप्रथम दिव्य वायु उत्पन्न होता है। **महर्षि दयानन्द सरस्वती यजुर्वेदभाष्य (१७.३२)** में विभिन्न प्राणों के जन्म का क्रम बताते हैं कि प्रथम जन्म सूत्रात्मा वायु, पुनः धनञ्जय, पुनः प्राणापानव्यानादि प्राण परन्तु इन सबसे पूर्व दिव्य वायु की उत्पत्ति होती है। हमारे मत में दिव्य वायु का तात्पर्य सब प्राणों का मूल कारण अहंकार तत्त्व है, जिसका ही अन्य रूप मन अथवा महत् अर्थात् बुद्धि तत्त्व है। इन सबके विषय में विशेष परिज्ञानार्थ पूर्वपीठिका को देखना चाहिए। जब उस अहंकार वा महत् तत्त्व से समस्त अवकाश पूर्णतः व्याप्त हो जाता है। तब उसके अन्दर प्राथमिक प्राण, सूत्रात्मा, धनञ्जय, पंच प्राणादि भी उत्पन्न हो जाते हैं। उन प्राणों को भी देव कहा जाता है। यहाँ 'देव' शब्द का अर्थ उन समस्त पदार्थों से भी है, जिनमें आकर्षणादि बल, प्रकाशादि गुण उत्पन्न हो जाते हैं। इन ऐसे सभी देव पदार्थों में अग्नि अर्थात् विद्युत् वह पदार्थ है, जो उस अहंकाररूप दिव्य वायु से सर्वप्रथम उत्पन्न होता है। इसके उत्पन्न होते ही सर्ग प्रक्रिया तीव्रतर होने लगती है। इस प्रक्रिया में विष्णु अर्थात् तारे का निर्माण सबसे अन्त में होता है। यहाँ तारे के निर्माण का अर्थ है कि किसी भी आग्नेय पिण्ड वा मेघ में सतत ऊर्जा उत्पत्ति हेतु वर्तमान विज्ञान की दृष्टि में नाभिकीय संलयन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाए। उस संलयन क्रिया से ही अनेक प्रकाशमान वा प्रकाशित होने योग्य पदार्थों के साथ-२ अन्य अनेक तत्त्वों का निर्माण होता है। इस ग्रन्थ का विषय सूर्यादि तारे के निर्माण तक की सृष्टि प्रक्रिया को समझाना है। विद्युत् वा विद्युत् चुम्बकीय तरंगें किंवा ऊर्जा की उत्पत्ति तथा सूर्य आदि तारों की उत्पत्ति के मध्य ब्रह्माण्डस्थ सभी सूक्ष्म व स्थूल पिण्डों अर्थात् पृथिव्यादि लोकों का निर्माण होता रहता है। इसी कारण अग्नि व विष्णु देवों को क्रमशः प्रथम व अन्तिम बतलाकर अन्य सभी देव पदार्थों को इन दोनों के मध्य में उत्पन्न होने वाला कहा है। ध्यातव्य है कि इससे पूर्व प्राणादि में अतीव शक्ति विद्यमान होती है परन्तु उन्हें वर्तमान विज्ञान की भाषा में ऊर्जा कहना उपयुक्त नहीं है। इसे पूर्वपीठिका में विस्तार से जानें।

यहाँ 'अवम' तथा 'परम' शब्दों का अर्थ क्रमशः सबसे छोटा व सबसे बड़ा भी ग्राह्य है।

तब ऋषि कहना चाहते हैं कि आद्य विद्युत् जब उत्पन्न होती है अथवा सर्ग की उपर्युक्त अवस्था में जब ऊर्जा वा विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की उत्पत्ति होती है, उस समय उनकी दीप्ति, शक्ति सब कुछ सबसे न्यून स्तर की होती है। इससे प्रारम्भ होकर जब तारे का निर्माण होता है, तब उसके केन्द्रीय भाग की ऊर्जा, शक्ति, दीप्ति सब कुछ सर्वाधिक उच्च स्तर की होती है। इस कारण भी अग्नि को अवम एवं विष्णु को परम देवता कहा है। अन्य जितनी भी दीप्ति, शक्ति, ऊर्जा आदि, जो भी पदार्थ इस ब्रह्माण्ड में उत्पन्न होते हैं, वे इन दोनों स्तरों के मध्य ही होते हैं। इसी विषय में **महर्षि तित्तिर** का भी कथन है-

अग्निरवमो देवतानां विष्णुः परमः (तै.सं.५.५.१.४)

विद्युत्/अग्नि — अवम (सबसे छोटा)

तारा/विष्णु — परम (सबसे बड़ा)
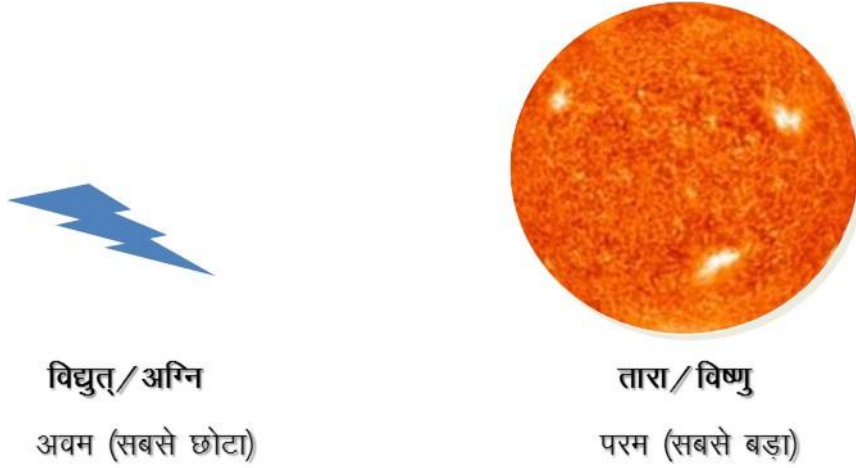
उधर एक अन्य ऋषि का कथन है-

चित्र १.१ देव पदार्थ के दो रूप

अग्निर्वै सर्वमाद्यम् (तां.२५.६.३)

महर्षि यास्क ने 'अग्निः' पद का निर्वचन करते हुए इसी मत को व्यक्त किया है-

अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति, अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते (नि.७.१४)

वैज्ञानिक भाष्यसार- **सृष्टि उत्पत्ति प्रक्रिया में जब सर्वप्रथम ऊर्जा की उत्पत्ति होती है, तब सबसे प्रथम विद्युत् रूप में तथा सूक्ष्मतम स्तर की अर्थात् न्यूनतम आवृत्ति की विद्युत् चुम्बकीय तरंगें उत्पन्न होती हैं। इस प्रक्रिया में सर्वाधिक शक्तिशाली ऊर्जा तारों के केन्द्रीय भाग में उत्पन्न होती है तथा जो सबसे अन्त में उत्पन्न होती है।** पृथिव्यादि लोकों के निर्माण के पश्चात् ही तारों का सम्पूर्ण निर्माण अर्थात् नाभिकीय संलयन प्रक्रिया से युक्त लोकों का निर्माण होता है।

यहाँ **'विष्णु'** शब्द से ऐसे तारे का ग्रहण है, जो नाभिकीय संलयन के साथ-२ अपनी प्रबल आकर्षण शक्ति से अनेक लोकों को बांधने वाला हो। अपना सूर्य अथवा ब्रह्माण्ड का कोई भी तारा, आकाशगंगाओं के केन्द्र आदि सभी **'विष्णु'** शब्द से ही ग्रहण किए जाते हैं। इनकी उत्पत्ति पृथिव्यादि के समान ग्रह आदि लोकों की उत्पत्ति के पश्चात् होती है अथवा इनका विष्णुरूप, इन पृथिव्यादि लोकों के उत्पन्न होने के पश्चात् प्रकट हो पाता है। यह सिद्धान्त वर्तमान विज्ञान की प्रचलित मान्यता के विपरीत है।

उससे पूर्व ऊर्जा अपेक्षाकृत निम्न स्तर अर्थात् कम आवृत्ति की उत्पन्न होती है। यहाँ वैदिक विज्ञान की दृष्टि वर्तमान में बहु प्रचारित महाविस्फोट के सिद्धान्त, जिसमें उच्चतम ऊर्जा से निम्नतर ऊर्जा का उत्पन्न होना स्वीकार किया जाता है, के सर्वथा विपरीत सिद्ध होती है। हम वर्तमान सृष्टि विज्ञान की तार्किक समीक्षा अपनी पूर्वपीठिका में कर ही चुके हैं।।

२. आग्नावैष्णवं पुरोळाशं निर्वपन्ति दीक्षणीयमेकादशकपालम्।।

{पुरोडाशः = य एभ्यो यज्ञं प्रारोचयत्तस्मात् पुरोदाशः, पुरोदाशो ह वै नामैतद् यत् पुरोडाश इति (श.१.६.२.५), अन्नं वै पुरोडाशः (तै.सं.७.१.६.१), यज्ञे हुतः पदार्थः (पुरोडाशम् = यज्ञे हुतं पदार्थम् - म.द.य.भा.२८.४६), यजमानो वै पुरोडाशः (तै.सं.१.५.२.३)। दीक्षा = नियमधारणाऽऽरम्भः (तु.म.द.य.भा.८.५४), प्राणा दीक्षा (श.१३.१.७.२), वागू दीक्षा। तया

प्राणो दीक्षया दीक्षितः (तै.ब्रा.३.७.७.७), दीक्षा पत्नी (तै.आ.३.६.१), तपो दीक्षा (श.३.४.३.२)। कपालः = कं पालयतीति केन पालयितो वा कपालः (प्राणो वाव कः - जै.उ.४.११.२.४; कः = कमनो वा क्रमणो वा - नि.१०.२२; कम् = अन्नम् - नि.६.३५)}

व्याख्यानम्- उपर्युक्त विद्युदग्नि एवं तारे को शक्तिमान् एवं ऊर्जावान् बनाए रखने के लिए किंवा उन्हें अपने कार्य व शक्तियों के नियमन करने के लिए आरम्भ में ग्यारह प्रकार के प्राणों (तरंगों) से युक्त कपाल संज्ञक पुरोडाश अर्थात् ऐसा पदार्थ, जो विद्युत् चुम्बकीय तरंगों तथा तारों का अन्नरूप भक्ष्य है, का सतत संचरण होता रहता है। यहाँ **'पुरोडाश'** उस पदार्थ का नाम है, जो निरन्तर अनेक प्रकार से संयुक्त होकर अनेक प्रक्रियाओं से गुजरता हुआ सृष्टियज्ञ को प्रकृष्टरूपेण चारों ओर से चमकाता हुआ सक्रिय रखता है। उपर्युक्त **तैत्तिरीय संहिता** के प्रमाण से **'पुरोडाश'** अन्न को कहा है। **'अन्न'** का तात्पर्य है, जिसका भक्षण किया जाता है। **तैत्तिरीय संहिता २.५.७.३** में वाज अर्थात् बल को अन्न कहा है। इससे स्पष्ट होता है कि ग्यारह प्रकार के प्राणों के द्वारा ये विद्युत् चुम्बकीय तरंगें तथा तारे अपने स्वरूप के निर्माण तथा उसे बनाए रखने हेतु सक्षम हो पाते हैं।

इन ग्यारह प्राणों को **'कम्'** कहने से तात्पर्य है कि ये **'कमन'** व **'क्रमण'** अर्थात् आकर्षण आदि बल तथा गति से युक्त होते हैं। यहां ११ प्राणों से तात्पर्य सूत्रात्मा वायु के साथ प्राणापान आदि १० प्राणों का ग्रहण किया जा सकता है। परन्तु वस्तुतः यहाँ उन विभिन्न प्राण रश्मियों, जिनका परिगणन हमने **१.१.६** में अग्नि व विष्णु के मध्य इनके विभाग वाले प्रकरण में किया है, का ग्रहण करना ही अधिक उपयुक्त है। इन सभी के स्वरूप को जानने हेतु पूर्वपीठिका पढ़ें। इन ग्यारह प्रकार की रश्मियों के बिना सर्गयज्ञ सम्पन्न नहीं हो सकता है। इस विषय में अन्य ऋषियों का भी कथन है-

"आग्नावैष्णव एकादशकपालः" (मै.२.६.४; ३.१.१०; ४.३.१)
"आग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपति" (तै.सं.१.८.८.१; ५.५.१.४)

वैज्ञानिक भाष्यसार- सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त विभिन्न विद्युत् चुम्बकीय तरंगों में ऊर्जा का स्थायित्व कैसे बना रहता है? तारों के भीतर होने वाली संलयन क्रिया हेतु तारों को पर्याप्त ताप व बल कौन प्रदान करता है? अथवा इन विद्युत् चुम्बकीय तरंगों का निर्माण किस पदार्थ से होता है तथा तारों का निर्माण किस-२ तत्त्व से हो पाता है? इसका उत्तर यहाँ दिया गया है कि उत्पत्ति में कुल ग्यारह प्रकार की प्राण रश्मियों का योगदान होता है। यदि ये रश्मियां न हों, तो विद्युत् चुम्बकीय तरंगें तथा तारों के वास्तविक स्वरूप का विनाश हो जाएगा। इन ग्यारह रश्मियों की आहुति सतत विद्युत् चुम्बकीय तरंगों में डाली जाती रहती है। इन ग्यारह तत्त्वों का अग्नि व विष्णु अर्थात् विद्युत् चुम्बकीय तरंगों तथा सूर्यादि तारों के मध्य विभाग आगे समझाएंगे।।

३. सर्वाभ्य एवैनं तद्देवताभ्योऽनन्तरायं निर्वपन्ति।।

व्याख्यानम्- जिस प्रकार उपर्युक्तानुसार विद्युत् चुम्बकीय तरंगों एवं विभिन्न तारों के अन्दर पूर्वोक्त विभिन्न प्रकार की प्राणरूप रश्मियों का प्रकीर्णन वा संचरण किया जाता है, उसी प्रकार सृष्टि के समस्त प्रकाशमान, दृश्यमान अथवा आकर्षणादि गुणों से युक्त विभिन्न तरंगों अथवा कणों में भी उसी प्रकार प्रकीर्णन वा संचरण किया जाता है। यहाँ **"निर्वपन्ति"** क्रियापद इस बात का सूचक है कि विभिन्न देव पदार्थों के बाहर और अन्दर विभिन्न प्रकार की प्राण रश्मियों का मानो बीजवपन सतत होता रहता है। ये प्राक् वर्णित प्राण रश्मियाँ सारे ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्याप्त होती हैं। इनको वर्तमान विज्ञान की भाषा में ऐसी किसी ऊर्जा, जिसको मानव अब तक प्रयोग और परीक्षणों के द्वारा जान चुका है, के रूप में नहीं माना जा सकता। इन प्राण रश्मियों से रहित किसी भी दृश्यमान या सक्रिय किसी भी पदार्थ का होना इस ब्रह्माण्ड में सम्भव नहीं है, जब तक यह प्राण संचरण होता रहेगा, तब तक सृष्टिचक्र चलता रहेगा और जब यह संचरण बंद हो जाएगा, तब यह सृष्टिचक्र भी बंद हो जाएगा।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस ब्रह्माण्ड में विभिन्न प्रकार के जो प्राण तत्त्व व्याप्त हैं, वे सृष्टि के समस्त पदार्थों की अक्षय ऊर्जा के स्रोत हैं। **इन्हीं के कारण ब्रह्माण्ड में ऊर्जा संरक्षण का सिद्धान्त काम करता है। एक ऊर्जा के दूसरी ऊर्जा में रूपान्तरित होने में इन्हीं प्राणों की सक्रिय भूमिका रहती है। इन प्राणों में भी सूक्ष्म से सूक्ष्मतर प्राण, स्थूल से स्थूलतर प्राण ही हर प्रकार की क्रिया के लिए उत्तरदायी होता है, न केवल ऊर्जा संरक्षण अपितु वर्त्तमान विज्ञान द्वारा परिभाषित द्रव्य ऊर्जा विनिमय में भी इन्हीं प्राण रश्मियों की भूमिका होती है।** इनके बिना सृष्टि के अन्दर किसी भी प्रकार की गतिविधि का होना संभव नहीं है। **इस ब्रह्माण्ड में जहाँ कहीं भी ऊर्जा संरक्षण का सिद्धान्त भंग होता हुआ प्रतीत होता है, वहाँ ऊर्जा प्राण रश्मियों में ही परिवर्तित होती अथवा उन रश्मियों से प्रकट होती हुई समझनी चाहिए। इसी प्रकार द्रव्य और ऊर्जा दोनों का संयुक्त संरक्षण यदि कहीं भंग होता हुआ प्रतीत होवे, तब भी इन्हीं प्राण रश्मियों की भूमिका माननी चाहिए** किंतु शून्य (vacuum), जिसे nothing भी कह सकते हैं, से किसी भी प्रकार के द्रव्य अथवा ऊर्जा की उत्पत्ति नहीं हो सकती।।

४. अग्निर्वै सर्वा देवता विष्णुः सर्वा देवताः।।

{अग्निर्वै सर्वेषां देवानामात्मा (श.१४.३.२.५), अग्निर्वै देवतानां मुखम् (श.३.९.१.६), अग्निर्वै देवयोनिः (ऐ.१.२२), अग्निरु देवानां प्राणः (श.१०.१.४.१२), यज्ञो वै विष्णुः (श. १.९.३.९)।}

व्याख्यानम्- इस सृष्टि में जितने भी दृश्यमान एवं आकर्षणादि बलों से सम्पन्न कण वा तरंगें विद्यमान हैं, उन सब के भीतर विद्युत् रूप अग्नि अवश्य विद्यमान होती है। यह विद्युत् ही उन सब पदार्थों को गतिशील एवं प्राणवान् बनाये रखती है। इस विद्युत् से ही सभी पदार्थ उत्पन्न होते हैं और इसके कारण ही विभिन्न प्रकार के कण एक दूसरे का भक्षण करते हैं। यह विद्युदग्नि ही सभी पदार्थों का आत्मा है अर्थात् यह विद्युदग्नि सभी पदार्थों में सतत गतिमान अथवा व्याप्त रहता है। इसी कारण महर्षि ने कहा **"अग्निर्वै सर्वा देवताः"** जिसका आशय है कि विद्युत् में सारे देवता विद्यमान हैं किंवा सारे पदार्थ विद्युन्मय हो रहे हैं। उधर सबको अपने आकर्षण और दीप्ति से व्याप्त करने वाला तारारूप विष्णु विशेषकर उसका केन्द्रीय भाग सभी देव पदार्थों का महान् संगम स्थान है। इन तारों के अन्दर ही विभिन्न प्रकार के पदार्थ अणु एवं विभिन्न प्रकार की तरंगें उत्पन्न होती रहती हैं। इसी कारण विष्णु को सभी देव पदार्थों का उत्पत्ति और निवास स्थान बताया है। यहां देवता पद से विभिन्न प्राण रश्मियों का भी ग्रहण करना चाहिए। इस कारण यहाँ ऋषि का कथन यह भी है कि अग्नि के परमाणुओं एवं विद्युन्मय कणों में विभिन्न प्रकार की प्राण व छन्दादि रश्मियां विद्यमान होती हैं और इसी प्रकार से आदित्य लोकों में भी सभी प्रकार की प्राण व छन्दादि रश्मियां विद्यमान होती हैं। यह दोनों में समानता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस ब्रह्माण्ड में विभिन्न प्रकार के प्रकाशमान, दृश्यमान कण अथवा तरंग आदि पदार्थ विद्यमान हैं। उन सबमें विद्युत् चुम्बकीय तरंगें अथवा चुम्बकीय गुण किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान होते हैं। इस कारण मानो सम्पूर्ण सृष्टि विद्युन्मय हो रही है। इन सबकी चरमावस्था तारों के केन्द्रीय भाग में होती है। उस भाग में विद्युत् और ऊष्मा का ऐसा बड़ा भण्डार होता है, जिसमें संसार के अनेक पदार्थ उत्पन्न होते रहते हैं एवं अनेक पदार्थ तरंग वा कण के रूप में सारे ब्रह्माण्ड में फैलते रहते हैं। विभिन्न कणों एवं quantas के साथ-२ तारों में भी सभी प्रकार की प्राण व छन्द रश्मियां विद्यमान होती हैं। इनसे ही उनकी उत्पत्ति और संचालन आदि कर्म भी संपन्न होते हैं, यहां ऐसा भी समझना चाहिए।।

५. एते वै यज्ञस्यान्त्ये तन्वौ यदग्निश्च विष्णुश्च तद्यदाग्नावैष्णवं पुरोळाशं निर्वपन्त्यत एव तद्देवानृध्नुवन्ति।।

{ऋध्नोति परिचरणकर्मा (निघं.३.५)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त अग्नि एवं विष्णु इस सृष्टियज्ञ के दोनों किनारों पर विद्यमान विस्तृत शरीर के समान हैं, जो दोनों किनारों से इस सृष्टि रचना को विस्तार प्रदान करते रहते हैं। विद्युत् पहला किनारा है और तारा अन्तिम किनारा है। वह विद्युत् प्रथम किनारा होते हुए भी अन्तिम किनारे तारे के निर्माण तक एवं अन्यत्र भी सृष्टियज्ञ को सतत विस्तृत करती रहती है। इसी प्रकार तारों के अन्दर होने वाली नाभिकीय संलयन क्रिया अनेकों पदार्थों का निर्माण करके सृष्टि को विस्तृत करती है एवं इससे उत्पन्न प्रकाश ऊर्जा आदि विकिरण भी सारे ब्रह्माण्ड में फैलकर विभिन्न कर्मों को विस्तृत कर नये-२ पदार्थों की उत्पत्ति का कारण बनते हैं। उन ऐसे अग्नि और विष्णु अर्थात् विद्युत् चुम्बकीय तरंगें एवं तारे आदि को प्राक्वर्णित प्राणापानादि विभिन्न प्राणों से सम्पृक्त एवं सम्पुष्ट करके देदीप्यमान बनाकर विभिन्न प्रकार के देव कणों अर्थात् दृश्यमान, प्रकाशमान आदि पदार्थों को संवर्धित करते हैं, साथ ही उनकी विभिन्न प्रकार से परिचर्या भी करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि ये प्राणादि पदार्थ विद्युत् आदि पदार्थों को परिपुष्ट बनाकर विभिन्न देव पदार्थों को आवश्यक गति एवं बल प्रदान करते हैं, जिससे वे पदार्थ सृष्टिरूपी सोमयाग का सतत संवर्धन करते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- **सृष्टि के आदि में विद्युत् चुम्बकीय तरंगों अथवा ऊर्जा की उत्पत्ति एवं तारे का निर्माण विशेषकर नाभिकीय संलयन से ऊर्जा की उत्पत्ति होना दो बड़ी घटनाएं हैं,** जो इस सृष्टियज्ञ के दो सिरे के समान हैं। इन सिरों से ही सृष्टि-यज्ञरूपी शरीर का विस्तार होता है और इस विस्तार के लिए पूर्ववर्णित प्राणादि रश्मियों का अनिवार्य योगदान होता है।।

चित्र १.२ सृष्टि यज्ञ के दो किनारे

६. तदाहुर्यदेकादशकपालः पुरोळाशो द्वावग्नाविष्णू कैनयोस्तत्र क्लृप्तिः, का विभक्तिरिति।।
अष्टाकपाल आग्नेयः, अष्टाक्षरा वै गायत्री, गायत्रमग्नेश्छन्दः, त्रिकपालो वैष्णवः, त्रिर्हीदं विष्णुर्व्यक्रमत, सैनयोस्तत्र क्लृप्तिः सा विभक्तिः।।

व्याख्यानम्- पूर्व में अग्नि एवं विष्णु अर्थात् विद्युत् और सूर्यादि तारों के बीच जो ग्यारह प्रकार के प्राणों के संचरण की चर्चा की है, उस प्रकरण में प्रश्न करते हैं कि इन ग्यारह प्रकार के प्राणों का विभाजन इन दोनों के बीच में किस प्रकार से किया जाता है? अर्थात् विद्युत् चुम्बकीय तरंगों में कितने

और कौन-कौन से प्राणों का संचरण होता है तथा सूर्यादि तारों के भीतर कितने और कौन-२ से प्राणों का संचरण होता है और वे किस प्रकार से इनको सामर्थ्य प्रदान करते हैं?

इसके उत्तर में कहते हैं कि विद्युत् चुम्बकीय तरंगों में आठ प्रकार के प्राणों का संचरण होता है तथा विष्णु अर्थात् तारों के अन्दर तीन प्रकार के प्राण समूहों का संचरण होता हैं। अग्नि अर्थात् विद्युत् वा विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के अन्दर संचरित होने वाले प्राण क्रमशः हैं- बुद्धि वा मन वा अहंकार, सूत्रात्मा वायु, धनञ्जय, प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान। सूर्यादि तारों में संचरित होने वाले प्राण हैं- उपर्युक्त आठों प्राणों का समूह, विभिन्न प्रकार के छन्दरूप प्राणों का समूह, मास एवं ऋतुसंज्ञक प्राणों का समूह। ध्यातव्य है कि सूर्य के अन्दर असंख्य प्रकार के प्राण सक्रिय रहते हैं, जिनको हमने तीन मुख्यसमूहों में वर्गीकृत करने का प्रयास किया है। विद्युत् उत्पत्ति के समय आठ उपर्युक्त एकल प्राण ही मुख्यतः संचरित होते हैं। स्मरण रहे कि वर्त्तमान में विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के साथ गायत्री आदि छन्द भी सम्पृक्त रहते हैं। यहाँ गायत्री छन्द रूप प्राण को आठ अक्षर वाला कहा है, जो प्राजापत्या गायत्री का रूप है। प्राजापत्य अवस्था सृष्टि की वह अवस्था होती है, जिसमें पदार्थ में एक दीप्ति विद्यमान होती है और बन्धन बल उत्पन्न होते हैं और इन दोनों का कारण विद्युत् ही होती है। इस कारण यह आठ अक्षर वाला गायत्री छन्द विद्युत् की प्रथम दिव्य अवस्था से सम्बन्धित होता है, किंवा विद्युत् उत्पत्ति में मन, सूत्रात्मा वायु आदि आठ प्राणों का सहभागी होता है। यह गायत्री छन्दरूप प्राण विद्युत् कणों वा तरंगों को आच्छादित किये रहता है। गायत्री आदि छन्दों के विषय में पूर्वपीठिका में विस्तार से जानें। अब सूर्यादि तारे के विषय में चर्चा करते हैं कि उपर्युक्त तीन प्रकार के प्राण समूहों के द्वारा कोई भी तारारूप विष्णु विशेष एवं विविध प्रकार से अपने गुरुत्वाकर्षण बल एवं प्रकाशादि विभिन्न रश्मियों के माध्यम से सब लोकों को व्याप्त करता है। इन सूर्यादि तारों से मुख्यतः तीन रश्मियां ही सतत उत्सर्जित होती हैं। इस प्रकार से ग्यारह प्रकार के प्राणों का विभाग एवं उनसे विद्युत् और तारे आदि का समर्थ होना यहाँ दर्शाया गया है।।

मन/ अहंकार
सूत्रात्मा वायु
धनञ्जय
प्राण
अपान
व्यान
उदान
समान
विद्युत् (अग्नि

चित्र १.३ अग्नि अर्थात् विद्युत् के अन्दर संचरित होने वाले प्राण

वैज्ञानिक भाष्यसार- विभिन्न प्रकार की विद्युत् चुम्बकीय तरंगों में अहंकार, मन वा बुद्धि, सूत्रात्मा वायु, धनंजय, प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान आठ प्राथमिक प्राण सदैव संचरित होते रहते हैं तथा विद्युत् वा विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की अवस्था में आठ अक्षर वाला प्राजापत्या गायत्री छन्द प्राण रूपी तरंगें उनको आच्छादित किए रहती हैं। ये तरंगें इन आठ प्राणों से ही निर्मित होती हैं। इन छन्दों के विषय में विशेष जानकारी

चित्र १.४ सूर्यादि तारों में संचरित होने वाले प्राण

पूर्वपीठिका में देखें। इन्हीं आठ प्रकार के प्राणों के कारण विद्युदग्नि आठ गुणों से युक्त होता है, जिसका परिगणन **महर्षि दयानन्द** ने **ऋ.भा.१.१.१** में करते हुए लिखा है कि अग्नि रूप, दाह, वेग, प्रकाश, धारण, छेदन, आकर्षण आदि से युक्त होता है। 'आदि' शब्द से हम प्रतिकर्षण बल का ग्रहण करते हैं। उधर तारा तीन प्रकार के प्राण समूहों द्वारा तीन प्रकार के पदार्थों जैसे गुरुत्वबल रश्मियाँ, विद्युत् चुम्बकीय तरंगें एवं अन्य तरंगों यथा इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन, न्यूट्रिनो आदि का उत्सर्जन करता है।।

७. घृते चरुं निर्वपेत योऽप्रतिष्ठितो मन्येत।।
अस्यां वाव स न प्रतितिष्ठति यो न प्रतितिष्ठति।।

{घृतम् = संदीप्तं तेजः (म.द.ऋ.भा.२.३.११), जिघर्ति संचलति दीप्यते वा तत् घृतम् (उ. को.३.८६), (घृ क्षरणदीप्त्योः सं.धा.को.), घृतमन्तरिक्षस्य (रूपम्) (श.७.५.१.३), तेजो वै घृतम् (मै.१.६.८), सर्वदेवत्यं वै घृतम् (कौ.ब्रा.२१.४), एतद्वा अग्नेः प्रियं धाम यद् घृतम् (काठ.२०.७; २१.८), घृतमित्युदकनामसु पठितम् (निघं.१.१२), शुद्धं प्रदीप्तमुदकम् (म.द. य.भा.३४.४०)। चरुः = मेघम् (म.द.ऋ.भा.१.७.६), चरुर्मृच्चयो भवति। चरतेर्वा। समुच्चरन्त्यस्मादापः (नि.६.११), (मृत् = मृद्+क्विप्, मृद् = पीसना, स्पर्श करना, जीत लेना, आगे बढ़ जाना - आप्टेकोश), इमे लोकाश्चरुः पञ्चबिलः (मै.१.४.६), बिलम् = भरणम्, धारणम् (म.द.य.भा.११.५६), बिलं भरं भवति बिभर्तेः (नि.२.१७), चर गतौ भक्षणे च (भ्वा) चरति चर्यतेऽग्निना भक्ष्यत इति चरुः (उ.को.१.७)। प्रति = व्याप्तौ अर्थे (म.द.य.भा.२०.३७), वीप्सायाम् (म.द.ऋ.भा.१.१६६.७)। मन्यते इति कान्तिकर्मा (निघं. २.६), मन्यते इति अर्चतिकर्मा (निघं.३.१४), प्राणो वै प्र (ऐ.२.४०), छन्दांसि वै सर्वे लोकाः (जै.ब्रा.१.३३२), अन्तरिक्षं वै प्र (ऐ.२.४१)}

व्याख्यानम्- जब अन्तरिक्ष अर्थात् अवकाशरूप आकाश में स्थित विभिन्न प्रकार के प्राण तत्त्व प्रकृष्ट रूप से अपने बलों के साथ प्रतिष्ठित नहीं हुए होते हैं अर्थात् उनमें विशेष सक्रियता विद्यमान नहीं होती है, किंवा वे प्रायः शिथिल होते हैं, तब परम चेतन तत्त्व परमात्मा उस सम्पूर्ण पदार्थ में कान्ति अर्थात् आकर्षणादि बल एवं अर्चना अर्थात् प्रदीपक गुण उत्पन्न करता है। स्मरण रहे कि 'अर्च' धातु लौकिक संस्कृत भाषा में पूजा अर्थ में प्रयुक्त होता है, जबकि वेद में इसका अर्थ चमकना और प्रकाशित होना भी होता है। इसके लिए देखें पं. युधिष्ठिर मीमांसक-कृत संस्कृत-धातु-कोष। ऐसा करने के लिए चरु अर्थात् ऐसा पदार्थ, जो सारे ब्रह्माण्ड के पीसे हुए अत्यन्त सूक्ष्म रूप में विद्यमान होता है और जो अत्यन्त विशाल मेघ के समान, जिसमें विभिन्न प्रकार के प्राण व्याप्त होकर गतिशील रहते हैं एवं परस्पर एक-दूसरे का भक्षण भी करते रहते हैं तथा वह मेघरूपी पदार्थ भी स्वयं गतिशील होता है, उस ऐसे पदार्थसमूह में संदीप्त तेजयुक्त सूक्ष्म **'घृम्'** रश्मियों से युक्त आकाश तत्त्व का निर्वपन किया जाता है। इसका आशय यह है कि सम्पूर्ण पदार्थसमूह को सूक्ष्म **'घृम्'** रश्मियों से युक्त आकाश तत्त्व के साथ संपीडित करके ऐसी तेजोमयी अवस्था उत्पन्न की जाती है, जिसमें सम्पूर्ण पदार्थसमूह रिसता वा बहता हुआ परस्पर मिश्रित होता हुआ बहने लगता है।।

इस उपर्युक्त अवस्था में अर्थात् संदीप्त तेज के उत्पन्न होने की पूर्व अवस्था में सर्वत्र व्याप्त पदार्थ अपनी शक्तियों के साथ वर्तमान नहीं होता अर्थात् उपर्युक्त तेज एवं गति को प्राप्त नहीं करता, किंवा सम्पूर्ण प्राणादि पदार्थों में विशेष तीक्ष्णतादि गुण प्रतिष्ठित नहीं होते, तब तक उसके अन्दर क्रियाशीलतादि गुणों की प्रतिष्ठा नहीं होती है अर्थात् सृष्टिचक्र आगे नहीं बढ़ पाता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्व में सभी प्राणादि रश्मियां अवकाशरूप आकाश में सर्वत्र व्याप्त होती हैं। वह सम्पूर्ण पदार्थ इस ब्रह्माण्ड को बनाने की ऐसी सामग्री है, जिसमें गति गुण तो विद्यमान होता है, परन्तु

बल अपने तीक्ष्ण रूप में विद्यमान नहीं होते हैं। उसके पश्चात् उस पदार्थ में, जिसमें कि आकाश तत्त्व भी विद्यमान होता है, बल, क्रिया आदि उत्पन्न होते हैं। स्मरण रहे कि आकाश तत्त्व एक पदार्थ का नाम है न कि केवल अवकाश मात्र। इसके विषय में विशेषरूप से पूर्वपीठिका में पढ़ें। उस आकाश तत्त्व द्वारा प्राणादि पदार्थों के संपीडन से एक ऐसा तेज उत्पन्न होता है, जिससे सम्पूर्ण अवकाशरूप आकाश में प्रकाश, ऊष्मा आदि की उत्पत्ति होती है और उसके पश्चात् सम्पूर्ण पदार्थ तेज से चमकता हुआ परस्पर एक-दूसरे का भक्षण करता हुआ रिसता, बहता हुआ गति करने लगता है।।

८. तद्यद्घृतं तत्स्त्रियै पयः, ये तण्डुलास्ते पुंसस्तन्मिथुनं मिथुनेनैवैनं तत्प्रजया पशुभिः प्रजनयति प्रजात्यै।। प्रजायते प्रजया पशुभिर्य एवं वेद।।

{स्त्री = स्त्यै ष्ट्यै शब्दसंघातयोः (भ्वा), स्त्यायति शब्दयति गुणान् गृह्णाति वा सा स्त्री (उ.को.४.१६७), अवीर्या वै स्त्री (श.२.५.२.३६)। पुंस् = वीर्यं पुमान् (श.२.५.२.३६), पुमान् पुरुमना भवति पुंसतेर्वा (नि.६.१५), पाति रक्षतीति पुमान् (उ.को.४.१७६)। तण्डुलाः = ब्रियन्ते लुठ्यन्ते तन्यन्ते ताड्यन्ते वा ते तण्डुलाः, वृत्रादीनां स्थाने तण्डादेशः (उ.को.५.६)। पशवः = पशवो वै वैश्वदेवम् (शस्त्रम्) (कौ.ब्रा.१६.३), पशवो वै हविष्मन्तः (श.१.४.१.६), पशवो वै मरुतः (ऐ.३.१६), वाजो वै पशवः (ऐ.५.८), प्राणाः पशवः (श.७.५.२.६), पशवो वै छन्दांसि (श.७.५.२.४२)। पयः = पयः रात्रिनाम (निघं.१.७), पयः ज्वलतोनाम (निघं.१.१७, वै.को. से उद्धृत), पयः उदकनाम (निघं.१.१०), पयः अन्ननाम (निघं.२.७), पयः पिबतेर्वा प्यायतेर्वा (नि.२.५), प्राणः पयः (श.६.५.४.१५), पय गतौ, पयस् प्रसृतौ (कण्ड्वादि.)}

व्याख्यानम्- उपरिवर्णित प्रकरण में जब पदार्थ की अवस्था विशेष रूप से तेजस्विनी नहीं होती है तथा जो सारे अवकाशरूप आकाश को घेरे हुए होती है तथा उसमें मन्द ध्वनि भी उत्पन्न हो चुकी होती है। उस अवस्था को उपरिवर्णित संदीप्त तेज रूपी घृत ज्वलनशील एवं प्राणवान् अर्थात् प्रकृष्ट गति से युक्त करता है। उस समय यह अवस्था बहने वाली एवं परस्पर एक-दूसरे का भक्षण करने वाली होती है। इस प्रक्रिया में ईश्वरीय तत्त्व से ताड़ित वा प्रेरित प्रत्येक पदार्थ को आच्छादित करने वाला अतीव विस्तृत एवं सभी प्राणादि तत्त्वों के साथ संश्लिष्ट तण्डुल संज्ञक पदार्थ मनस् तत्त्व अर्थात् मुख्य प्राण (अहंकार) होता है। यद्यपि यह पदार्थ सम्पूर्ण पदार्थ का उपादान कारण होता है, पुनरपि यह अपने द्वारा उत्पन्न पदार्थों के साथ बार-२ मिथुन करके अर्थात् संयुक्त होकर अनेकविध पदार्थों की रचना करता रहता है। इस पदार्थ को यहाँ पुमान् संज्ञा दी है और यह जिस अपने कार्यरूप पदार्थ से संयुक्त होता है, उसे स्त्री की संज्ञा दी है। इस प्रकार इन दोनों के संयोग से यह सृष्टियज्ञ विभिन्न प्रकार के पदार्थों, बलों, छन्दरूप प्राणों, मरुत् रूप सूक्ष्म पवनों और दृश्यमान परमाणुओं से सम्पन्न होता है। इस विषय में **महर्षि आपस्तम्ब** का भी कथन है-

आग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपति, आग्नावैष्णवं वा घृते चरुम्। पुराडाशो ब्रह्मवर्चसकामस्य, घृते चरु प्रजाकामस्य पशुकामस्य वा। आदित्यं घृते चरुं द्वितीयं प्रजाकामपशुकामस्यैके समामनन्ति ।। (आप.श्रौ.१०.४.२-४)

विशेष ध्यातव्य- **इस ग्रन्थ में 'वेद' शब्द विद् लाभे धातु से निष्पन्न प्रथम पुरुष एकवचन का छान्दस प्रयोग है।** इससे तात्पर्य है कि जब उपर्युक्त स्थिति प्राप्त हो जाती है अर्थात् उपर्युक्तवत् मिथुन सम्पन्न होता है, तब यह सृष्टियज्ञ नाना प्रकार के पदार्थों द्वारा प्रकृष्ट रूप से समृद्ध होता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार– तेज व ऊष्मा की उत्पत्ति से पूर्व प्राणादि पदार्थ की, जो रश्मियां सर्वत्र व्याप्त होती हैं, वे बिना तेज व ऊष्मा के आगे की सृष्टि प्रक्रिया को संचालित करने में समर्थ नहीं होती हैं। उस समय उन प्राणादि रश्मियों का कारण तत्त्व मन वा अहंकार, जो मुख्य प्राण रूप ही होता है, अपनी कार्यभूत प्राणापानादि प्राण रश्मियों में तेज, ऊष्मा एवं बलों को समृद्ध करता है। वह अहंकार तत्त्व इन प्राणादि तत्त्वों को सम्पीडित करते रहकर उन्हें स्पन्दित करते हुए अनेक प्रकार के कणों व तरंगों का निर्माण करता चला जाता है।।

६. आरब्धयज्ञो वा एष आरब्धदेवतो यो दर्शपूर्णमासाभ्यां यजत आमावास्येन वा हविषेष्ट्वा पौर्णमासेन वा तस्मिन्नेव हविषि तस्मिन् बर्हिषि दीक्षेतैषा एका दीक्षा।।

{आमावस्या = अमावस्या सिनीवाली (तै.सं.३.४.६.६), कामो वा अमावस्या (तै.ब्रा.३.१.५.१५), क्षत्रम् अमावस्या (कौ.ब्रा.४.८), सान्नाय्याभाजना वाऽमावास्या (श.२.४.४.२०) (सान्नाय्य = सम्+नी+ण्यत्), अमावास्या वै सरस्वती (मै.१.४.१५), अपानभाजनाऽमावास्या (जै.ब्रा.२.३६४)। प्रतिष्ठा वै पौर्णमासम् (कौ.ब्रा.५.८; १८.१४)। दर्शपूर्णमासौ = (उदान) ब्रह्म वै पौर्णमासी (कौ.ब्रा.४.८), एव पूर्णमा उदानेन ह्ययं पुरुषः पूर्यतऽइव, प्राण एव दर्शो ददृश इव ह्ययं प्राणः (श.११.२.४.५), अहरेव दर्शोऽहरु हीदं ददृश इव, रात्रिरेव पूर्णमा रात्र्या हीदꣳ सर्वं पूर्णम् (काश.३.२.६.१, ब्रा.उ.को. से उद्धृत), एतौ वै देवानाँ हरी यद् दर्शपूर्णमासौ (तै.सं.२.५.६.२), एष वै देवरथो यद् दर्शपूर्णमासौ (तै.सं.२.५.६.१), मन एव पूर्णमाः, पूर्णमिव हीदं मनो वागेव दर्शो ददृशऽइव हीयं (वाक्) (श.११.२.४.७)। बर्हिः = जलम् (तु.म.द.य.भा.२३.३८), अवकाशः (तु.म.द.ऋ.भा.६.१२.१), बृहन्ते सर्वे पदार्था यस्मिँस्तदन्तरिक्षम् (म.द.य.भा.२.२२), बर्हिः अन्तरिक्षनाम (निघं.१.३), बर्हिः उदकनाम (निघं.१.१२), पशवो वै बर्हिः (ऐ.२.४), (अग्निर्ब्रह्म - काठ.८.४; श.३.२.२.७), क्षत्रं वै सोमः (जै.ब्रा.३.२४; श.३.४.१.१०)}

व्याख्यानम्– जब सृष्टियज्ञ का प्रारम्भ हुआ करता है, उस समय से ही विद्युत् के उत्पन्न न होने पर भी मूल तत्त्व, जो मन-बुद्धि अथवा अहंकार रूपी मुख्य प्राण के रूप में विद्यमान होता है, उस समय से ही उस पदार्थ में दिव्य गुण उत्पन्न होना प्रारम्भ हो जाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि उस दिव्य पदार्थ अहंकार (दिव्य वायु) में गति, कम्पन, दीप्ति, आकर्षणादि बल, परस्पर हल्का संघर्षण, अत्यन्त सूक्ष्म संयोग-वियोग की प्रक्रिया आदि गुण उत्पन्न हो जाते हैं। यदि ऐसा नहीं होवे, तो विद्युत् अग्नि की उत्पत्ति भी कदापि संभव न हो सके। हाँ, यह बात पृथक् है कि विद्युत्-अग्नि की उत्पत्ति होने के

चित्र १.५ मन एवं वाक् तत्त्व के मिथुन से उत्पन्न दो मुख्य पदार्थ

पश्चात् उपर्युक्त सभी गुण अधिक तीव्रतर हो उठते हैं। इसके अन्दर वह अहंकार अर्थात् मुख्य प्राणतत्त्व दर्श एवं पूर्णमास के साथ संगत होता है।

इसका तात्पर्य है कि अहंकार अथवा मनस् तत्त्व, जो सम्पूर्ण अवकाश को भरे रहता है, स्वयं वाक् तत्त्व से संयुक्त हो जाता है। यहाँ वाक् तत्त्व से तात्पर्य ईश्वरीय तेज अथवा **'ओम्'** की ध्वनिरूप (जो पश्यन्ती की अवस्था में होती है) दैवी गायत्री छन्द है। यह गायत्री छन्द सम्पूर्ण मनस् वा अहंकार तत्त्व से संगत हो जाता है। मनस् तत्त्व सर्वत्र व्याप्त होता है, इसलिए इसे **पूर्णमास** कहते हैं और वाक् तत्त्व एक आकर्षण बल अर्थात् कामना उत्पन्न करता है। ध्यातव्य है कि दृशिर् धातु का प्रयोग **महर्षि दयानन्द** ने **(ऋ.भा.१.२४.४)** में इच्छा अर्थ में किया है, इस कारण वाक् तत्त्व को **'दर्श'** कहा गया है। वाक् तत्त्व के साथ प्राण नामक प्राण तत्त्व का अधिक संगम होता है और मनस् तत्त्व के साथ उदान नामक प्राण का अधिक संगम होता है। क्वचित् मनस् तत्त्व के साथ अहः (प्राण नामक प्राण तत्त्व) और वाक् रूपी दैवी गायत्री छन्द के साथ रात्रि (अपान) की प्रधानता अधिक रहती है। ये प्राण-अपान, प्राण-उदान, मन-वाक्, मानो चेतन तत्त्व परमात्मा के हरणशील हाथों के समान काम करते हैं। उस समय सम्पूर्ण पदार्थसमूह मानो दो भागों में व्यक्त हो जाता है- एक भाग **अमावस्या** अर्थात् क्षत्र सोम के रूप में व्यक्त होता है और दूसरा **पूर्णमास** अर्थात् ब्रह्म अर्थात् अग्नि के रूप में व्यक्त होता है। सोम तत्त्व को वायु भी कहते हैं, जैसा कि सोम-बहुसुखप्रसावको वायुः **(ऋ.भा. १.६३.५)** में **महर्षि दयानन्द** संकेत करते हैं। यह अपेक्षाकृत शीतल, बलयुक्त, सभी पदार्थों की उत्पत्ति का कारण तत्त्व, सूक्ष्म पवनरूप मरुतों का कारण होता है और अग्नि पदार्थ रूप, दाह, प्रकाश, वेग, छेदन, आकर्षण, प्रतिकर्षणादि गुणों से युक्त होता है। इस सोम तत्त्व में मन, वाक् पदार्थों की हवि देकर उसके साथ संगत किया जाता है। इसके पश्चात् पूर्णमास अर्थात् अग्नितत्त्व के द्वारा उस हवि, जो कि सम्पूर्ण अवकाशरूप आकाश में विद्यमान होती है, के अन्दर दीक्षा अर्थात् ऊष्मा का प्रादुर्भाव किया जाता है। यह एक प्रकार से अग्नि और सोम के द्वारा आगे की सृष्टि प्रक्रिया के धारण का प्रारम्भ है। इस विषय में अन्य ऋषियों का भी कथन है-

"दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वेष्टिपशुचातुर्मास्यैरथ सोमेन।।"
"ऊर्ध्वं दर्शपूर्णमासाभ्यां यथोपपत्त्येके प्रागपि सोमेनैके।।" (आश्व.श्रौ.४.१.१-२)
"अथ दर्शपूर्णमासावारभते ताभ्यां संवत्सरमिष्ट्वा सोमेन पशुना वा यजते।।" (आप.श्रौ.५.२३.२)

वैज्ञानिक भाष्यसार- सृष्टि के प्रारम्भ में जब सबसे प्रथम अहंकार अर्थात् मनस् तत्त्व रूपी, जो मुख्य प्राण होता है, जहाँ से कि मूल पदार्थ के बीच संगतीकरण का होना प्रारम्भ होता है, उस समय भी सूक्ष्म स्तर की दीप्ति, आकर्षणादि बल, कम्पन, मन्द गति आदि गुण उत्पन्न हो जाते हैं। इसके पश्चात् ही सूत्रात्मा वायु, धनञ्जय, प्राणापानादि, सोमरूप कारणभूत वायु एवं विद्युत्, ऊष्मा आदि की उत्पत्ति होती है। ईश्वरीय चेतन तत्त्व के द्वारा इसी अहंकार व मनस् तत्त्व के अन्दर पश्यन्ती की अवस्था में दैवी गायत्री छन्द **'ओम्'** की उत्पत्ति होती है।

इस शब्द की उस अवस्था को किसी भी भौतिक वैज्ञानिक तकनीक से ग्रहण नहीं किया जा सकता। ऐसे वाक् तत्त्व एवं अहंकार वा मनस् तत्त्व प्राण-अपान वा प्राण-उदान रूपी हरणशील बलों के द्वारा पहले सोम पदार्थ अर्थात् शीतल मन्द वायुरूप अवस्था में विद्यमान पदार्थ के साथ संगत होकर ऊष्मा और प्रकाशयुक्त अग्निरूप पदार्थ के साथ उस वायु पदार्थ को संगत करके सम्पूर्ण आकाश में ऊष्मा का संचरण और संवर्धन करते हैं।

१०. सप्तदश सामिधेनीरनुब्रूयात्।।

{सामिधेनीः = सम्यगिध्यन्ते याभिस्ताः सामिधेनीः (म.द.य.भा.१६.२०), एता हि वाऽइदं सर्वं समिन्धतऽएताभिरिदं सर्वं समिद्धं तस्मात् सामिधेन्यो नाम (श.११.२.७.६), वज्रो वै सामिधेन्यः (कौ.ब्रा.३.२)}

व्याख्यानम्- तदनन्तर बड़े छन्दों की उत्पत्ति प्रारम्भ होती है। इस प्रकार के सत्रह छन्द रूप प्राणों की उत्पत्ति होती है, जिनको सामिधेनी कहा जाता है। आचार्य सायण एवं डॉ. सुधाकर मालवीय के अनुसार सामिधेनी ऋचाएं कुल ग्यारह होती हैं, जिनमें से प्रथम और अन्तिम ऋचा की तीन-२ बार आवृत्ति होती है तथा दो ऋचाएं धाय्या संज्ञक कहलाती हैं। आचार्य सायण और डॉ. मालवीय ने आधियाज्ञिक अर्थ करते हुए इन ऋचाओं के उच्चारण की बात कही है, जबकि हम इस ग्रन्थ का आधिदैविक अर्थ करते हुए सृष्टियज्ञ में होने वाली घटनाओं का वर्णन कर रहे हैं। इस क्रम में विश्वामित्र ऋषिरूप प्राण द्वारा उत्पन्न अग्निदेवताक एवं निचृद् गायत्री छन्दस्क

प्र वो वाजा अभिद्यवो हविष्मन्तो घृताच्या। देवाञ्जिगाति सुम्नयुः।। (ऋ.३.२७.१)

ऋचा की उत्पत्ति परा एवं पुनः पश्यन्ती वाक् अवस्था में होती है। विश्वामित्र ऋषि का तात्पर्य वाक् तत्त्व अर्थात् दैवी गायत्री छन्द **'ओम्'** है, क्योंकि **''वाग् वै विश्वामित्रः'' (कौ.ब्रा.१०.५)**। इस ऋचा रूपी तरंगों से विद्युत् की समृद्धि होती है। इस ऋचा का छन्द निचृद् गायत्री होने से इस छन्द की तरंगें विद्युत्, तेज और ऊष्मा की वृद्धि करने के साथ-२ पदार्थ को बांधने और उसका भेदन करने में समक्ष होती हैं। **{निचृत् = नि+चृती हिंसाग्रन्थनयोः}** गायत्री छन्द के विषय में पूर्वपीठिका में विस्तार से समझें। **इसी ऋचा की तीन बार आवृत्ति होती है।** इसके पश्चात् बार्हस्पत्य भरद्वाजरूपी प्राण से उत्पन्न अग्निदेवताक एवं गायत्री छन्दस्क ऋचा

अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये। नि होता सत्सि बर्हिषि।। (ऋ.६.१६.१०)

की उत्पत्ति होती है। {**बृहस्पतिः = बृहतां पालकः सूत्रात्मा (म.द.य.भा.३६.६)**} यहाँ बृहस्पति का तात्पर्य सूत्रात्मा वायु है। इसी सूत्रात्मा वायु से प्राण नामक प्राण तत्त्व रूपी भरद्वाज ऋषि की उत्पत्ति होती है। कहीं-२ मनस्तत्त्व को भी भरद्वाज कहा गया है। यह भरद्वाज नामक तत्त्व परस्पर संयुक्त होकर विभिन्न पदार्थों का निर्माण करता है। इसलिए कहा-

''वाजः अन्ननाम (निघं.२.७), वाजः बलनाम (निघं.२.९), मनो वै भरद्वाज ऋषिरन्नं वाजो यो वै मनो बिभर्त्ति सोऽन्नं वाजं भरति तस्मान्मनो भरद्वाज ऋषिः (श.८.१.१.९)''

यह सामिधेनी ऋचा इसी मनस् तत्त्व से विशेष सम्पन्न प्राण नामक प्राण तत्त्व से उत्पन्न होती है। इस ऋचा के प्रभाव से विद्युत् तत्त्व एवं ऊष्मा आदि की वृद्धि होती है। इसका छन्द गायत्री होने से तीव्र बल और तेज भी समृद्ध होते हैं। इसके उपरान्त उपर्युक्त भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ऋषि के द्वारा ही अग्नि देवता वाली एवं निचृद् गायत्री छन्दस्क

तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि। बृहच्छोचा यविष्ठ्य।। (ऋ.६.१६.११)

की उत्पत्ति होती है। इसका प्रभाव भी पूर्व ऋचा के समान होता है।

छन्द निचृद् गायत्री होने से इस छन्द रूपी तरंगों की भेदन क्षमता अपेक्षाकृत अधिक होती है। इसके उपरान्त इसी ऋषि और देवता वाली साम्नी त्रिष्टुप् छन्दस्क

स नः पृथु श्रवाय्यमच्छा देव विवाससि। बृहदग्ने सुवीर्यम्।। (ऋ.६.१६.१२)

की उत्पत्ति होती है। जिसके प्रभाव से पूर्ववत् परिणाम के अतिरिक्त विशेष हिंसक, भेदक एवं संधानक ज्वालाओं की उत्पत्ति भी होती है। तदुपरान्त विश्वामित्र ऋषि अर्थात् पूर्ववत् वाक् तत्त्व (दैवी गायत्री छन्द **'ओम्'**) द्वारा उत्पन्न अग्निदेवताक एवं विराड् गायत्री छन्दस्क

ईळेन्यो नमस्यस्तिरस्तमांसि दर्शतः। समग्निरिध्यते वृषा।। (ऋ.३.२७.१३)

की उत्पत्ति होती है। ऋषि और देवता का प्रभाव प्रथम सामिधेनी ऋचा के समान समझें। इसका छन्दस्क प्रभाव प्रथम ऋचा के छन्दस्क प्रभाव की अपेक्षा विशेष तेजस्वी एवं सक्रिय होता है। तदन्तर इसी ऋषि और देवता वाली एवं निचृद् गायत्री छन्दस्क दो ऋचाओं की उत्पत्ति होती है। वे दो ऋचाएं हैं–

वृषो॑ अ॒ग्निः समि॑ध्यतेऽ श्वो॒ न दे॑ववाह॑नः। तं ह॒विष्म॑न्त ईळते॥
वृष॑णं त्वा व॒यं वृ॑षन्वृष॑णः॒ समि॑धीमहि। अग्ने॒ दीद्य॑तं बृहत्॥ (ऋ.३.२७.१४-१५)

इन दोनों का प्रभाव प्रथम सामिधेनी ऋचा के समान होता है। इसके पश्चात् काण्वो मेधातिथि ऋषि से उत्पन्न अग्निदेवताक एवं गायत्री छन्दस्क

अ॒ग्निं दू॒तं वृ॑णीमहे॒ होता॑रं वि॒श्ववे॑दसम्। अ॒स्य य॒ज्ञस्य॑ सु॒क्रतु॑म्॥ (ऋ.१.१२.१)

की उत्पत्ति होती है। **{कण्व इति मेधाविनाम (निघं.३.१५)}**। काण्व मेधातिथि ऐसे प्राण का नाम है, जो सबके भीतर निरन्तर व्याप्त रहता एवं जिसमें बुद्धि, अहंकार नामक महाप्राण प्रशस्तरूपेण विद्यमान रहता है। हमारी दृष्टि में ऐसा प्राण सूत्रात्मा वायु एवं धनंजय का संयुक्त रूप हो सकता है। इसी प्राण से इस ऋचा की उत्पत्ति होती है। इस ऋचा के प्रभाव से विद्युत् बल, प्रकाश, ऊष्मा आदि की समृद्धि होती है। तदन्तर विश्वामित्र ऋषि अर्थात् वाक् तत्त्व (दैवी गायत्री छन्द) से अग्निदेवताक एवं विराट् गायत्री छन्दस्क

स॒मि॒ध्यमा॑नो अध्व॒रे३॑ऽग्निः पा॑व॒क ईड्य॑ः। शो॒चिष्के॑श॒स्तमी॑महे॥ (ऋ.३.२७.४)

की उत्पत्ति होती है। इसके ऋषि और देवता के प्रभाव एवं छान्दस्क प्रभाव से विद्युत् बल, तेज आदि विशेष प्रकाशमान होते हैं। इसके पश्चात् विश्ववारात्रेयी ऋषि से उत्पन्न अग्निदेवताक एवं विराट् गायत्री छन्दस्क दो ऋचाओं की उत्पत्ति होती है। वे दो ऋचाएं हैं–

समि॑द्धो अग्न आहुत दे॒वान्य॑क्षि स्वध्वर। त्वं हि ह॑व्य॒वाळसि॑॥
आ जु॑होता दु॒वस्य॒ताग्निं प्र॑य॒त्य॑ध्व॒रे। वृ॒णी॒ध्वं ह॑व्य॒वाह॑नम्॥ (ऋ.५.२८.५-६)।

{अत्रिः = सततं पुरुषार्थी (म.द.ऋ.भा.५.७.१०), सततं गामी (म.द.ऋ.भा.१.१८३.५), वाक् एव अत्रिः (श.१४.५.२.६)} {आत्रेयी = अत्रि की पुत्री वा पत्नी इति आप्टेकोश} हमारे मत में **'आत्रेयी'** शब्द में स्वार्थ में ही तद्धित प्रत्यय है, इसलिए अत्रि को ही आत्रेयी कहा गया है। विश्ववारा विशेषण होने से यह प्रतीत होता है कि यह ऋचा सबके अन्दर विद्यमान **'ओम्'** पदरूपी दैवी गायत्री छन्द से व्यापक रूप में उत्पन्न होती है। इन ऋचाओं के प्रभाव से विद्युत्, ऊष्मा, प्रकाश एवं तीव्र बल अतिशय प्रकाशित होते हैं। इसके उपरान्त **"आ जुहोता" ऋचा की दो बार और आवृत्ति होती है।** आचार्य सायण ने ऋचा **ऋ.३.२७.४** एवं **ऋ.५.२८.५** को **तैत्तिरीय ब्राह्मण** के प्रमाण से क्रमशः समिध्यमाना एवं समिद्वती कहा है। इसका तात्पर्य हमें यह प्रतीत होता है कि ऋचा

स॒मि॒ध्यमा॑नो अध्व॒रे३॑ऽग्निः पा॑व॒क ईड्य॑ः। शो॒चिष्के॑श॒स्तमी॑महे॥ (ऋ.३.२७.४) को ऋचा
समि॑द्धो अग्न आहुत दे॒वान्य॑क्षि स्वध्वर। त्वं हि ह॑व्य॒वाळसि॑॥ (ऋ.५.२८.५)

विशेष प्रदीप्त करती है। ये दोनों ऋचा रूप तरंगें अपने मध्य में दो धाय्या संज्ञक ऋचा रूप तरंगों को धारण किये रहती हैं। वे ऋचाएँ हैं– विश्वामित्र ऋषि अर्थात् दैवी गायत्री छन्द **'ओम्'** रूपी वाक् से उत्पन्न अग्निदेवताक एवं क्रमशः विराट् गायत्री एवं गायत्री छन्दस्क–

पृ॒थु॒पाजा॒ अम॑र्त्यो घृ॒तनि॑र्णि॒क्स्वा॑हुतः। अ॒ग्निर्य॒ज्ञस्य॑ हव्य॒वाट्॥ (ऋ.३.२७.५)

तं सबाधो यतस्रुच इत्था धिया यज्ञवन्तः। आ चक्रुरग्निमूतये।। (ऋ.३.२७.६)

हैं। इनके प्रभाव से भी पूर्ववत् विद्युत्, ऊष्मा व प्रकाश आदि समृद्ध होते हैं। इस प्रकार यह कुल १७ ऋचाएं सारे ब्रह्माण्ड में तरंगों के रूप में व्याप्त होकर ऊष्मा, बल, विद्युत् व प्रकाश आदि की भारी वृद्धि करती हैं। ध्यातव्य है कि आचार्य सायण आदि विद्वानों की परम्परा में भाष्यकारों वा अनुवादकों ने यज्ञ में इन १७ ऋचाओं के पाठ का विधान मात्र किया है। यह पाठ क्यों होता है? इसका सृष्टि विज्ञान से क्या सम्बन्ध है? ब्रह्माण्ड में ये छन्द रूपी तरंगें उत्पन्न भी होती हैं और उनका जो-२ प्रभाव होता है, उस सबका संकेतमात्र भी ज्ञान आचार्य सायण आदि को नहीं रहा है अर्थात् वैदिक वाङ्मय के आधिदैविक ज्ञान से ये विद्वान् नितान्त अनभिज्ञ रहे हैं, पुनरपि ये सामिधेनी ऋचाएं कौन-२ सी हैं एवं इसी प्रकार का अन्य ज्ञान हमें आचार्य सायण आदि के ही ग्रन्थों से हो सकता है। इस कारण हम उनके ऋणी भी हैं। इस विषय में अन्य ऋषियों का भी कथन है-

"पञ्चदश सप्तदश वा सामिधेन्यः" (आप.श्रौ.१०.४.५)

प्रश्नः- आपने विभिन्न छन्द और देवताओं का सृष्टि प्रक्रिया पर होने वाले प्रभाव को यहाँ विस्तार से दर्शाया है, परन्तु एक ही छन्द वाले अनेक मंत्र होते हैं, तब क्या उनका प्रभाव पूर्णतः समान होता है? यदि ऐसा है, तो समान छन्द वाली अनेक ऋचाओं की उत्पत्ति की आवश्यकता क्या है? ऋचाओं से ज्ञान लाभ के लिए तो भिन्न-२ वर्ण, पद आदि से युक्त समान छन्द वाली ऋचाओं की आवश्यकता तो समझ में आती है, क्योंकि उन सब ऋचाओं का अर्थ भी भिन्न-२ होता है परन्तु जब समान छन्द वाली ऋचाएं समान रूप से ऊष्मा, बल व प्रकाश आदि की ही वृद्धि करती हैं, तो यह काम तो एक ही ऋचा के बार-२ आवृत्त होने से हो सकता है। फिर पृथक्-२ ऋचाओं का क्या प्रयोजन है? हाँ, भिन्न छन्दों वाली ऋचाओं की उत्पत्ति तो समझ में आती है।

उत्तरः- आपका प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण एवं स्वाभाविक है। वस्तुतः समान छन्द वाली ऋचाओं का प्रभाव सर्वथा समान नहीं होता। सृष्टि प्रक्रिया में न केवल छन्दों का प्रभाव होता है, अपितु उसके पदों और वर्णों का भी प्रभाव होता है। जो पद जिस अर्थ का वाचक होता है, उस पदार्थ पर उस पद का प्रत्यक्ष प्रभाव होता है एवं उस पदार्थ की रचना के समय उस पद की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार वैदिक शब्दों के अर्थ का अर्थात् वाचक और वाच्य का सम्बन्ध नित्य है, वैसे इस विषय में पूर्वपीठिका में विस्तार से जान सकते हैं।

अब इन सामिधेनी छन्द रश्मियों का अन्य विशेष प्रभाव पृथक्-२ दर्शाते हैं-

प्रथम रश्मि के प्रभाव से चारों ओर से प्रकाशमान विभिन्न संयोज्य कणों वा तरंगों से युक्त प्राण वा छन्द रश्मियाँ संदीप्त तेज के साथ विभिन्न प्रकाशमान कणों को गति भी प्रदान करती हैं। **{जिगाति गतिकर्मा (निघं.२.१४)}**

द्वितीय रश्मि के प्रभाव से **{बर्हिः अन्तरिक्षनाम (निघं.१.३), उदकनाम (निघं.१.१२), पशवो वै बर्हिः (ऐ.२.४)}** प्राणापानादि पदार्थ अग्नि को प्रकाशमान करते हुए अन्तरिक्ष में विद्यमान विभिन्न मरुद् रूप रश्मियों की व्याप्ति के लिए और विभिन्न कणों के संयोगादि कर्मों को विस्तृत करने के लिए सब ओर से व्याप्त होते हैं।

तृतीय रश्मि के प्रभाव से संयोग-वियोग कराने वालों में श्रेष्ठ सूत्रात्मा वायु विभिन्न प्रदीप्त तेजस्वी किरणों के द्वारा **{शोचति ज्वलतिकर्मा (निघं.१.१६)}** व्यापक ऊष्मा को पैदा करके संगति कर्मों को बढ़ाते हैं।

चतुर्थ रश्मि के प्रभाव से **{विवासति परिचरणकर्मा (निघं.३.५)}** प्रकाशमान और कमनीय अग्नि विशाल तारों के अन्दर श्रेष्ठ बल और तेज से युक्त होकर सब ओर संचरित होता है।

पांचवीं रश्मि के प्रभाव से **{पितरो नमस्याः (श.१.५.२.३)}** सबका पालक, कमनीय, बलवान् एवं प्रकाशमान् अग्नि विभिन्न अन्धकारपूर्ण वायुओं आदि को नियन्त्रित करके सबको प्रकाशित करता है।

छठी रश्मि के प्रभाव से विभिन्न प्रकाशित कणों का वहन करने वाला अग्नि शीघ्रगामी बलवान् रश्मियों के समान प्रकाशित होता है। उसे विभिन्न मास रश्मियों से युक्त पदार्थ प्रकाशित करते हैं। **{मासा हवींषि (श.११.२.७.३), मासा वै रश्मयः (तां.१४.१२.६)}**

सातवीं रश्मि के प्रभाव से महान् बलयुक्त अग्नि विशाल अन्तरिक्ष को प्रकाशित करके सबको बलवान् व प्रकाशमान बनाता है।

आठवीं रश्मि के प्रभाव से वह अग्नि विभिन्न कणों का आदान-प्रदान करने वाला, विभिन्न पदार्थों को वहन करने वाला, सभी पदार्थों में विद्यमान विभिन्न संगमन कर्मों को सिद्ध करता है।

नवमीं रश्मि के प्रभाव से वह अग्नि विभिन्न प्राणों में प्रकाशित होता हुआ तेजस्वी किरणों वाला, सब पदार्थों को पवित्र करने वाला सबके साथ संगत होता है।

दसवीं रश्मि के प्रभाव से वह अग्नि अच्छे प्रकार अहिंसक प्राणों से युक्त सब ओर से प्रज्वलित किया हुआ, विभिन्न पदार्थों का वहन करने वाला सबके साथ संगत होता है।

ग्यारहवीं रश्मि के प्रभाव से वह अग्नि विभिन्न प्रकार के संगति कर्मों में विभिन्न कणों को ले जाने वाला, उन्हें अच्छी प्रकार ग्रहण करके सब ओर संचरित होता है।

बारहवीं (धाय्या) ऋचा के प्रभाव से विस्तृत बलयुक्त अन्तरिक्ष और तेज को शुद्ध करने वाला उपर्युक्त छन्द रश्मियों को धारण करने वाला अविनाशी अग्नि तत्त्व सब ओर अच्छी प्रकार संगत होता है।

तेरहवीं (धाय्या) ऋचा के प्रभाव से वह अग्नि, जो विभिन्न क्रियाशील और संयमित तेजस्वी किरणों एवं वाक् रूप यज्ञ से संयुक्त होता है, विभिन्न क्रियाओं की रक्षा के लिए अपनी धारणा शक्ति से उपर्युक्त ग्यारह रश्मियों को धारण करता है।

वैज्ञानिक भाष्यसार- तदनन्तर इस ब्रह्माण्ड में १३ प्रकार की विशिष्ट छन्दरूप तरंगें उत्पन्न होती हैं। इनमें से दो तरंगें एक ही स्थान पर तीन-२ बार उत्पन्न होने से कुल सत्रह (१७) प्रकार की तरंगें कहलायी जाती हैं। यद्यपि सभी तरंगें सम्पूर्ण पदार्थ में बार-२ आवृत्त होती हैं, परन्तु वे दो तरंगें एक ही स्थान पर तीन-२ बार आवृत्त होती हैं। इन तरंगों के प्रभाव से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में ज्वलनशीलता, प्रकाशशीलता, विद्युत् चुम्बकीय बलों एवं इसके कारण विभिन्न प्रकार के कणों वा तरंगों का बनना आदि क्रियाओं की वृद्धि होती है। इससे विभिन्न मरुद् रूप रश्मियों की व्याप्ति एवं प्रकाशमान अग्नि का सब ओर संचरण होता है। अन्धकारपूर्ण बाधक विद्युत् वायु नियन्त्रित होता और विभिन्न पदार्थों का शोधन होता है। इसके विस्तार को जानने हेतु हमारे व्याख्यान एवं पूर्वपीठिका को पढ़ना अनिवार्य है।

११. सप्तदशो वै प्रजापतिर्द्वादश मासाः पञ्चर्तवो हेमन्तशिशिरयोः समानेन तावान् संवत्सरः संवत्सरः प्रजापतिः।।

व्याख्यानम्- इस ब्रह्माण्ड में सत्रह मूल प्रजापति हैं। जो सम्पूर्ण सृष्टि के कण-२ का पालन और रक्षण सतत करते रहते हैं। इसमें हम सबसे बड़े प्रजापति परमात्मतत्त्व की गणना नहीं कर रहे हैं, क्योंकि वह सृष्टि का उपादान कारण नहीं है, बल्कि निमित्त कारण है। ये सत्रह प्रजापति हैं- मूल प्रकृति, काल, महत्तत्त्व (बुद्धि), मनस् तत्त्व, अहंकार, वाक् तत्त्व, सूत्रात्मा वायु, धनंजय, प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त। इनमें बुद्धि, मन और अहंकार लगभग समान है, पुनरपि व्यवहार के किंचित् भेद के कारण हमने इन्हें तीन भागों में विभक्त किया है। इनमें से मन को महत् अर्थात् बुद्धि में समाविष्ट करने पर दो की पूर्त्ति के लिए पुरुष तत्त्व अर्थात् परमात्मा एवं जीवात्मा का ग्रहण करने योग्य है। संवत्सर अर्थात् सूर्यादि तारे भी बारह मास नामक प्राण रश्मियों एवं पाँच ऋतु संज्ञक रश्मियों से निर्मित होते हैं। उधर यह भी ध्यातव्य है कि मूल सूक्ष्म सत्रह प्रजापति भी सूर्यादि तारों में विद्यमान होते हैं किंवा उपर्युक्त इन मूल प्रजापतियों के द्वारा ही ये मास और ऋतु संज्ञक प्रजापति भी उत्पन्न होते हैं। इसी कारण सूर्यादि तारों को भी प्रजापति कहा जाता है। हेमन्त और शिशिर नामक प्राणों में बहुत समानता होने से इन्हें यहाँ एक ही गिना गया है। इन मास, ऋतु एवं अन्य प्रजापतियों के विषय में विस्तार से जानने के लिए पूर्वपीठिका देखें।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर सत्रह सूक्ष्म तत्त्व मूल प्रकृति, कालतत्त्व, महत्तत्त्व (बुद्धि), मनस् तत्त्व, अहंकार, वाक् तत्त्व, सूत्रात्मा वायु, धनंजय, प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त विभिन्न प्रकार से मिश्रित होकर विभिन्न कणों और तरंगों को उत्पन्न एवं उनका रक्षण और पोषण करते हैं। इन्हीं से उत्पन्न बारह प्रकार की मास-नामक रश्मियां एवं पांच प्रकार की ऋतु रूप प्राण रश्मियां सूर्यादि तारों को उत्पन्न करके उनका रक्षण और पोषण करती हैं। सूर्यादि तारे इन्हीं तत्त्वों के कारण अपने केन्द्र में विविध प्रकार के तत्त्वों का निर्माण व पोषण करते हैं। इन तत्त्वों के वैज्ञानिक स्वरूप को गम्भीरता से समझने के लिए पूर्वपीठिका का गम्भीर अध्ययन अनिवार्य है।

१२. प्रजापत्यायतनाभिरेवाऽऽभी राध्नोति य एवं वेद।।१।।

व्याख्यानम्- उपरिवर्णित प्रकृति, महत् आदि सत्रह प्रजातियों तथा मास एवं ऋतु संज्ञक सत्रह प्राण रश्मिरूप प्रजापतियों के आयतन अर्थात् वह पदार्थ, जिनमें ये पदार्थ विद्यमान होते हैं, उन प्राक् वर्णित सत्रह सामिधेनी नामक प्रज्वलनशील ऋचाओं अथवा सूर्यादि तारे रूप प्रजापतियों के द्वारा यह सर्गयज्ञ समृद्ध होता है, जब ये समृद्ध सत्रह प्रजापति उपरिवर्णितानुसार अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं। यहाँ 'राध् संसिद्धौ' धातु का प्रयोग बतला रहा है कि इन प्रजापतियों और इनके द्वारा वा इनके साथ सत्रह सामिधेनी तरंगों की सक्रिय अवस्था के उत्पन्न होने पर ये तारे आदि लोक समृद्ध होते हैं अथवा ब्रह्माण्ड में सृष्टियज्ञ का सम्यग् विस्तार होता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उपरिवर्णित विभिन्न प्राणसमूहों के भली प्रकार संदीप्त व सक्रिय हो जाने से, जहाँ सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था में सभी तत्त्व तेजी से संगत व निर्मित होते हैं, ऊष्मा व बलों की प्रखरता से ही यह तेजी आती है, वहीं सूर्यादि तारों के निर्माण के समय एवं वर्त्तमान समय भी इन्हीं तत्त्वों के सक्रिय रहते ही तारों का यह रूप संसिद्ध व उनका स्थायित्व रहता है।

ॐ इति १.१ समाप्तः ॐ

ॐ अथ १.२ प्रारभ्यते ॐ

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. यज्ञो वै देवेभ्य उदक्रामत् तमिष्टिभिः प्रैषमैच्छन्यदिष्टिभिः प्रैषमैच्छंस्तदिष्टीनामिष्टित्वं तमन्वविन्दन्।।

व्याख्यानम्– पूर्ववर्णित सृष्टि की प्रथम अवस्था में जब सत्रह सामिधेनी तरंगों के द्वारा प्राणादि पदार्थों में विक्षोभ और संघर्षण हो रहा था, उस समय भेदन क्रिया प्रबल थी, परन्तु विभिन्न पदार्थों के संयोग की प्रक्रिया या तो मन्द थी वा कहीं-२ बन्द हो रही थी। इसी कारण यह कहा है कि दिव्य पदार्थों से यज्ञ प्रक्रिया दूर चली गई। ऐसा प्रतीत होता है कि ऊष्मा की अत्यधिक वृद्धि से विभिन्न कणों की गतिज ऊर्जा अत्यधिक बढ़ गई। जिसके कारण वे परस्पर संयुक्त होने में असमर्थ होने लगे। हमारी दृष्टि में यह भी एक कारण हो सकता है कि विद्युत् पहले एक ही प्रकार की थी, धन और ऋण इसके दो विभाग नहीं हुए थे, इस कारण भी विभिन्न प्रकार के कणों के मध्य प्रबल आकर्षण बल उत्पन्न नहीं हुआ था। उसके पश्चात् उस समय विद्यमान प्राणादि पदार्थों के बीच विद्यमान अग्नि और सोम पदार्थ अर्थात् विद्युत् चुम्बकीय तरंगें एवं ठण्डे दिव्य वायु के मध्य विद्युत् के दो भाग प्रकट हुए। प्रख्यात आर्य विद्वान् पं. भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने **'वेद विद्या निदर्शन'** नामक ग्रन्थ की भूमिका में पृष्ठ १४ पर **धनावेश को आग्नेय तत्त्व एवं ऋणावेश को आप (सोम) तत्त्व माना है। यह बात विशेष अनुसंधान करने की है कि क्या धनावेशित कणों में से उत्सर्जित होने वाली तरंगें गति, प्रकाश, ऊष्मा एवं बल आदि को विशेषतया उत्पन्न करती हैं एवं ऋणात्मक आवेश वाले कणों में से उत्सर्जित होने वाली तरंगें अपेक्षाकृत शीतल, स्वल्प प्रकाशयुक्त एवं अपेक्षाकृत शान्त होती हैं।** हम पण्डित जी के मत से सहमत हैं। अब इन धन और ऋण आवेशों से युक्त असंख्य कणों के मध्य प्रबल आकर्षण बल उत्पन्न हुआ। इस प्रबल आकर्षण बल रूप इष्टियों के द्वारा देवों अर्थात् विभिन्न प्राणों ने विभिन्न कणों को परस्पर संयुक्त करने का प्रयास किया और संयुक्त होने की प्रबल प्रक्रिया प्रारम्भ हो भी गई।।

वैज्ञानिक भाष्यसार– प्राक्वर्णित तीव्र संतप्त अवस्था में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में आकर्षण बलों की शक्तियाँ न्यून हो गई। उस समय विद्युत् भी धनात्मक और ऋणात्मक रूप में विभक्त नहीं थी। इस कारण भी विभिन्न कणों की संयोग प्रक्रिया मन्द वा बन्द हो गई। उस समय विद्युत् चुम्बकीय तरंगें एवं शीतल सूक्ष्म वायु के द्वारा विद्युत् के क्रमशः धन और ऋण रूप प्रकट हुए। जिनसे संयुक्त होकर ब्रह्माण्ड के सूक्ष्म कण प्रबल आकर्षण बल से युक्त होकर तीव्रता से संयुक्त होने लगे। यहाँ क्वाण्टाज् की उत्पत्ति के पश्चात् उनसे ही विद्युदावेशित कणों के निर्माण का संकेत किया गया है।

२. अनुवित्तयज्ञो राध्नोति य एवं वेद।।

व्याख्यानम्– जब ब्रह्माण्ड में इस प्रकार की अवस्था उत्पन्न हो जाती है, तब सर्वत्र संयोग-वियोग की प्रक्रिया समृद्ध होती चली जाती है।।

३. आहूतयो वै नामैता यदाहुतय एताभिर्वै देवान् यजमानो ह्वयति तदाहुतीनामाहूतित्त्वम्।।

व्याख्यानम्- यहाँ '**आहूतिः**' एवं '**आहुतिः**' दो शब्दों का प्रयोग है। '**आहूतिः**' शब्द "**ह्वेञ् स्पर्धायाम् शब्दे च**" धातु से निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है चारों ओर से बुलाना, आकर्षण करना आदि क्रिया। उधर '**आहुतिः**' शब्द "**हु दानादनयोः। आदाने चेत्येके।**" धातु से निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ है ग्रहण करने और देने की तीव्र क्रिया। अब ध्यातव्य यह है कि जितना आकर्षण बल प्रबल होगा उतनी ही संयोग-नियोग की प्रक्रिया तेज होगी। इसी कारण यहाँ आहूति को ही आहुति कहा गया है, क्योंकि यजमान अर्थात् संयोग की इच्छा करता हुआ कोई भी कण विभिन्न देवों अर्थात् प्राणों को अथवा किसी भी प्रकाशमान वा बलसम्पन्न पदार्थ को इन्हीं आकर्षण बल रूप आहूतियों के द्वारा आकर्षित करता है। इस कारण भी इन्हें आहूति कहा जाता है। वर्त्तमान विज्ञान बलों की उत्पत्ति का कारण मीडियेटर फोटोन के विनिमय को मानता है। इन फोटोन्स की धारा को वैज्ञानिक field कहते हैं। यहाँ भी ऐसा प्रतीत होता है कि फोटोन्स की आहुति का कारण फोटोन्स को ग्रहण व प्रदान करने की इच्छा है। उस इच्छा से ही इष्टि हो पाती है, जो संयोगादि का कारण बनती है। अब फोटोन्स को ग्रहण वा प्रदान की इच्छा

चित्र १.६ धन एवं ऋण आवेशित कणों के मध्य आकर्षण की प्रक्रिया

क्यों होती है? इसे आगे स्पष्ट करते हैं-

हमारे मत में धनावेशित कण अग्नि तत्त्व प्रधान होता है और ऋणावेशित कण सोम तत्त्व प्रधान होता है। सोम तत्त्व शीतल सूक्ष्म प्राणों वा मरुत् नामक पवनों का रूप है। यह सोम तत्त्व आकाश महाभूत को अपने साथ आकर्षित किये रहता है। इसलिए वेद में कहा- "**सोमः अन्तरिक्षं दाधार**" (**म.द.ऋ.भा.६.२७.४**)। **महर्षि दयानन्द** ने **ऋ.भा.६.७२.३** में '**सोम**' का अर्थ '**मरुत्**' किया एवं इसी वेद के **३.३३.१२** के भाष्य में 'शान्त गुण युक्त' अर्थ किया तथा **ऋ.६.७२.२** के भाष्य में 'विद्युत्' अर्थ भी किया है। इस कारण सोम पदार्थ एवं इसकी प्रधानता वाला ऋणावेशित कण अपनी सूक्ष्म मरुत् रश्मियों द्वारा आकाश तत्त्व को अपनी ओर आकर्षित करके धारण किये रहता है। उधर आकाश तत्त्व अर्थात् अन्तरिक्ष अग्नि तत्त्व को धारण करने वाला होता है, इसलिए कहा- "**अन्तरिक्षमाग्नीध्रम्**" (**तै.ब्रा.२.१.५.१.**), "**अन्तरिक्षं वा ऽआग्नीध्रम्**" (**श.६.२.३.१५**)। इस प्रकार ऋणावेशित और धनावेशित

कण परस्पर आकर्षित होते हैं। उधर इन सभी को सूत्रात्मा वायु अपने साथ बांधे रखता है और क्योंकि अग्नि तत्त्व प्रधान अर्थात् धनावेशित कण प्राणादि पदार्थों के संपीडन से ही उत्पन्न होता है। इस कारण उसमें प्राण तत्त्व की सघनता व बलशीलता अधिक होती है। इस कारण वहाँ प्राण तत्त्व के कुछ अंशों को धनंजय प्राण के साथ आकाश तत्त्व में उत्सर्जित करता रहता है। ये प्राण सोम तत्त्व प्रधान जिसमें प्राण तत्त्व की कुछ विरलता रहती है, उस ऋणावेशित कण द्वारा स्वाभाविक रूप से अवशोषित किया जाता है। इसी कारण कहा- **"मिथुनं वा अग्निश्च सोमश्च, सोमो रेतोधा अग्निः प्रजनयिता" (काठ.८.१७; क.७.६)** एवं **"योषा वाऽआपो वृषाऽग्निः" (श.१.१.१.१८; २.१.१.४)**। वर्त्तमान विज्ञान virtual photon मानता है, वह वस्तुतः धनंजय प्राण के साथ संयुक्त प्राणों के रेत अर्थात् सार भाग, जो धनावेशित कणों से उत्सर्जित होता है एवं अन्तरिक्ष को धारण करने वाले ऋणावेशित कणों से उत्सर्जित मरुतों अर्थात् सूक्ष्म पवनों का खेल है किंवा इसी विनिमय से अन्तरिक्षस्थ सूक्ष्म प्राणों के साथ मिलकर वर्त्तमान विज्ञान की भाषा में virtual photon का निर्माण होता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- धनावेशित एवं ऋणावेशित कणों के बीच आकर्षण के लिए वर्त्तमान विज्ञान जिन virtual photons के विनिमय को उत्तरदायी मानता है, उन photon के प्रवाह एवं उनकी उत्पत्ति वर्त्तमान विज्ञान जगत् में पूर्णतया अज्ञात है। बल की उत्पत्ति पहले अथवा photons का प्रभाव पहले, इस बात का कोई भी उत्तर वर्त्तमान विज्ञान के पास नहीं है। यदि बल पहले, तो बल की उत्पत्ति क्यों? यदि photons का प्रवाह पहले, तो प्रवाह का प्रारम्भ क्यों? इन सभी अनुत्तरित प्रश्नों का उत्तर यहाँ दिया गया है। जिसे व्याख्यान में सरलता से समझा जा सकता है। आकर्षण की इस प्रक्रिया के विषय में नोबेल पुरस्कार से सम्मानित प्रख्यात अमरीकी भौतिक शास्त्री Richard P. Feynman ने अपनी पुस्तक Lectures on Physics में लिखा है-

"The existence of the positive charge, in some sense distorts or creates a 'condition' in space, so that when we put the negative charge in it feels a force. This potentiality of producing a force is called an electric field." (p. 17, vol. I)

यह वक्तव्य भी किंचित् भेद के साथ हमारे वैदिक मत का ही अनुसरण कर रहा है परन्तु वैदिक मत इसकी अपेक्षा अधिक गम्भीर व स्पष्ट है। प्रसंगतः प्रतिकर्षण बल पर भी चर्चा कर लेते हैं।

चित्र १.७ दोनों ओर धनावेशित कण अर्थात् आग्नेय तत्त्व विद्यमान है, जो यद्यपि सूत्रात्मा वायु के दुर्बल बन्धन से बंधे हुए हैं, परन्तु दोनों कणों में से धनंजय प्राण के साथ अन्य प्राण तत्त्वों का सार भाग उत्सर्जित होता है। जो परस्पर टकराकर वापिस मुड़कर घूम जाता है, जिससे दोनों कणों के बीच आकर्षण न होकर प्रतिकर्षण बल काम करता है।

चित्र १.८ दोनों ऋणावेशित कण अर्थात् आप्य (सोम) तत्त्व विद्यमान हैं, जो सूत्रात्मा वायु के दुर्बल बन्धन से बंधे हुए हैं। दोनों ओर से मरुत् रूपी सूक्ष्म प्राण रश्मियों का उत्सर्जन होता है। ये दोनों ओर की रश्मियाँ आकाश तत्त्व में परस्पर टकराकर घूम कर वापिस लौट जाती हैं, जिसके कारण दोनों कणों के बीच आकर्षण न होकर प्रतिकर्षण बल कार्य करता है।

४. ऊतयः खलु वै ता नाम याभिर्देवा यजमानस्य हवमायन्ति, ये वै पन्थानो याः स्रुतयस्ता वा ऊतयस्त उ एवैतत्स्वर्गयाणा यजमानस्य भवन्ति।।

{ऊतिः = ऊतिरवनात् (नि.५.३)। ऊती = ऊत्या च पथा (च) (नि.१२.२१), अव्+क्तिन् (अव = क्षण-गति-क्रान्ति-प्रीति-तृप्ति-अवगम-प्रवेश-श्रवण-स्वामी-अर्थ-याचन-क्रिया-इच्छा-दीप्ति-अवाप्ति-आलिङ्गन-हिंसा-आदान-भाव-वृद्धिषु)। स्रुतिः = विविधा गतिः (तु.म.द.ऋ.भा.१.१३.१२), स्रवणं गमनं यस्मिन् मार्गे सः (म.द.ऋ.भा.१.४६.११)। स्वर्गः = अपरिमितो वै स्वर्गो लोकः (ऐ.६.२३), अथ यत्परं भाः (सूर्यस्य) प्रजापतिर्वा स स्वर्गो वा लोकः (श.१.६.३.१०), वाजो वै स्वर्गो लोकः (तां.१८.७.१२), मध्ये ह संवत्सरस्य स्वर्गो लोकः (श.६.७.४.११), स्वर्गो वै लोको यज्ञः (कौ.ब्रा.१४.१)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त इष्टि और आहुति मिलकर अर्थात् आकर्षण बल एवं बलों के कार्य करने की प्रक्रिया विभिन्न कणों के लिए ऊतियाँ अर्थात् मार्गों का निर्माण करते हैं। कोई भी गतिशील कण एक निश्चित मार्ग में, निश्चित गति के साथ अन्य कण को आकर्षित करने की इच्छा से आवश्यक शक्तिसम्पन्न होकर अपने मार्गों को व्याप्त करता हुआ आगे बढ़ता है। इस मार्ग की मुख्य विशेषता यह होती है कि यह पूरी तरह सुरक्षित होता है अर्थात् **जिस मार्ग पर कोई सूक्ष्म कण वा तरंग गति करते हैं, उस मार्ग पर कोई दूसरा कण वा तरंग प्रवेश नहीं कर सकता।** ऐसे मार्गों से ही विभिन्न प्रकाशमान कण वा तरंगें किसी अन्य संयोग के लिए उत्सुक कण के आकर्षित करने पर गति करते हैं, इन्हीं मार्गों को '**स्रुति**' भी कहते हैं, क्योंकि इन्हीं मार्गों से ये कण वा तरंगें बहते हुए से चलते हैं

अर्थात् सारे मार्ग को व्याप्त करते हुए आगे बढ़ते हैं। ये स्तुतियाँ अथवा ऊतियों रूपी मार्ग यजमान को स्वर्ग की ओर ले जाने वाले होते हैं। इसका आशय यह है कि इससे संयोग करने के इच्छुक कण वा तरंगें वाज अर्थात् अन्य बलसम्पन्न कण वा तरंगों की ओर आकर्षित होता है, जिससे विभिन्न कण संगत होकर नवीन तत्त्वों का निर्माण करते हैं। इसी प्रकार सूर्यादि तारों के भीतर भी विभिन्न प्रकार के कण सुरक्षित मार्गों से गुजरते हुए सूर्य के केन्द्रीय भाग में पहुँचते हैं एवं सूर्यादि तारों के केन्द्रीय भाग से विभिन्न ऊर्जा तरंगें ऐसे ही सुरक्षित मार्गों द्वारा बाहर की ओर गति करती हैं। गतिशील कणों और तरंगों के मार्ग की सुरक्षा कौन करता है? इस विषय में हमारा मत है कि सबको परिधिरूप में घेरने वाला एवं सर्वत्र व्याप्त होकर एक बन्धन में बांधने वाला प्राण नामक प्राणयुक्त सूत्रात्मा वायु ही मार्ग को सुरक्षा प्रदान करता है। मानो यह हर कण वा तरंग का सुरक्षा कवच होता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- ब्रह्माण्ड में संचरित होने वाली तरंग वा कण एक निश्चित व सुरक्षित मार्ग में ही गमन करते हैं। एटम के अन्दर इलेक्ट्रान अथवा ब्रह्माण्ड में गतिशील विभिन्न तरंगें वा किरणें किसी भी अन्य तरंगों से टकराकर भी अपने मार्ग से भ्रष्ट नहीं होती हैं। आधुनिक विज्ञान तरंगों के क्षणिक मेल को जो सुपर पॉजिशन (Super Position) नाम देता है, उस सुपर पॉजिशन के तुरन्त पश्चात् तरंगें स्वतः ही अपने पूर्व मार्ग पर आगे बढ़ती हैं। यदि ऐसा न होता तो सारे ब्रह्माण्ड की ध्वनि संचार व्यवस्था ठप हो जाती। विभिन्न प्रकाश तरंगों के बाधित होने से कुछ भी स्पष्ट दिखाई न देता, अन्य भी भंयकर उपद्रव हो जाते। एटम्स के अन्दर बहुत बड़ी दुर्घटनाएँ घट सकती थीं। परन्तु सर्वनियन्ता चेतन तत्त्व परमात्मा की सुव्यवस्था के कारण सभी के मार्ग सुरक्षित होते हैं। इस सुरक्षा का कारण है प्राण नामक प्राणयुक्त सूत्रात्मा वायु रूप प्राण।

उपर्युक्त चित्र में प्रथम स्थिति में कण 1 व कण 2 निर्दिष्ट दिशा में आगे बढ़ रहे हैं। सूत्रात्मा वायु तरंग रूप में सबको व्याप्त किया हुआ दिखाई दे रहा है। इसके साथ ही कणों के परितः परिधिरूप में भी सूत्रात्मा वायु विशेषतः विद्यमान है। दोनों ही कणों को धनंजय प्राण निर्दिष्ट दिशा में आगे ले जा रहा है। स्थिति दो में दोनों कण अति निकट पहुँचते हैं, परन्तु वे परस्पर पूर्णरूप से स्पर्श नहीं कर सकते हैं। दोनों के बीच में सूत्रात्मा वायु व अन्य कुछ प्राणों का घेरा कुछ दूरी अवश्य रखता है परन्तु सूत्रात्मा वायु का एक अन्य घेरा दोनों कणों को संयुक्त रूप से आच्छादित कर लेता है, जिसके कारण दोनों कणों की आकृति संयुक्त होकर क्षणभर के लिए परिवर्तित हो जाती है परन्तु उन दोनों की दिशाओं को धनंजय प्राण बाधित नहीं होने देते हैं, यह संयुक्त आकृति ही सुपर पॉजिशन के रूप में

चित्र १.६ तरंगों की Super Position की प्रक्रिया

दिखाई देती है। उसके पश्चात् तृतीय स्थिति उत्पन्न होती है, जिसमें दोनों कण पूर्ववत् आकृति एवं दिशा प्राप्त करके बिना किसी परिवर्तन के आगे बढ़ जाते हैं। इसलिए कहा है कि इनके मार्ग सुरक्षित होते हैं। ये मार्ग अनन्त दूरी तक चले जाते हैं और सर्वत्र यही नियम कार्य करता है।

५. तदाहुर्यदन्यो जुहोत्यथ योऽनु चाऽऽह यजति च कस्मात् तं होतेत्याचक्षत इति।। यद्वाव स तत्र यथाभाजनं देवता अमुमावहामुमावहेत्यावाहयति तदेव होतुर्होतृत्वं होता भवति।।
होतेत्येनमाचक्षते य एवं वेद।।२।।

{अन्यः = नानेयः (नि.१.६)। होता = ह्वाता (तु.नि.७.१५), अग्निर्वै होता (श.१.४.१.२४), वाग्वै होता (कौ.ब्रा.१३.७), मनो होता (तै.ब्रा.२.१.५.६), प्राणो वै होता (ऐ.६.८)}

व्याख्यानम्- पूर्व प्रकरण में जहाँ दो कणों का संयोग वा आकर्षण होता है, वहाँ दो प्रकार के पदार्थों का अस्तित्त्व होता है। प्रथम वे कण, जो परस्पर आकर्षित होते हैं, जैसे- धनावेश (अग्नि प्रधान) एवं ऋणावेश (सोम या आप प्रधान)। दूसरे पदार्थ वे हैं, जिनका इन दोनों के मध्य में विनिमय होता रहता है, जैसे- मरुत् एवं धनंजय प्राण, जिनसे निर्मित घनीभूत प्राण तत्त्व को वर्त्तमान विज्ञान virtual photon नाम देता है। ये virtual photon किंवा धनंजय व मरुत् संयुक्त प्राण अन्य अर्थात् न ग्रहण करने योग्य हुआ करते हैं अर्थात् सामान्यतया किसी तकनीक की सहायता से किसी भी इन्द्रिय द्वारा इनका ग्रहण नहीं किया जा सकता है। ये अपनी आहुति सतत देते रहते हैं, पुनरपि इन्हें होता न कहकर आकर्षित होने वाले आग्नेय और सोम्य अर्थात् धनावेशितत और ऋणावेशितत कणों को होता क्यों कहते हैं?।।

इसका उत्तर देते हुए महर्षि कहते हैं कि ये आग्नेय और सौम्य कण अर्थात् परस्पर आकर्षित होने वाले कण विभिन्न मरुतों और धनंजय पदार्थ से संयुक्त प्राण तत्त्व को उचित विभाग एवं उचित स्थान प्रदान करते हुए बुलाते रहते हैं अर्थात् आकर्षित करते रहते हैं। इस कारण अर्थात् बुलाने वा आकर्षण करने के कारण उन्हें **'होता'** कहा जाता है।।

जिनमें इस प्रकार का गुण विद्यमान होता है, उन सभी को **'होता'** कहा जाता है। इसी कारण मन-प्राण-अग्नि-वाक्-सूर्यादि सभी होता कहलाते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- दो कणों के बीच में आकर्षण बल उत्पन्न करने वाले किंवा उनको बांधने वाले virtual पार्टिकल्स को किसी भी तकनीक से नहीं देखा जा सकता। आकर्षित होने वाले वे पार्टिकल्स विभिन्न प्राण व मरुत् रश्मियों को उचित विभाग और स्थान प्राप्त कराके अपने अन्दर उनका विनिमय कराते रहते हैं।

ॐ इति १.२ समाप्तः ॐ

꧁ अथ १.३ प्रारभ्यते ꧂

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. पुनर्वा एतमृत्विजो गर्भं कुर्वन्ति यं दीक्षयन्ति।।

{ऋत्विक् = प्राणा वा ऋतुयाजाः (ऐ.२.२६; कौ.ब्रा.१३.६), ऋतव ऋत्विजः (श.११.२.७.२), ऋत्विजो (हैव -श.) देवयजनम् (गो.पू.२.१४; श.३.१.१.५), छन्दाँसि वा ऋत्विजः (मै.३.६.८; काठ.२६.६), यदृत्वादसृजत तदृत्विजामृत्विक्त्वम् (तां.१०.३.१)। गर्भः = यो गृह्णाति सः (म.द.ऋ.भा.१.१५२.३), ग्रहीतव्यः (म.द.ऋ.भा.१.१६४.६), आवरकः (म.द.ऋ.भा.१.६५.४), वायव्या गर्भाः (तै.ब्रा.३.६.१७.५ - ब्रा.उ.को. से उद्धृत), इन्द्रियं वै गर्भः (तै.ब्रा.१.८.३.३), (प्राणा इन्द्रियाणि - तां.२.१४.२)}

व्याख्यानम्- पुनः चर्चा प्रारम्भ करते हैं कि जब देव अर्थात् मन, वाक्, प्राणादि तत्त्व जिस पदार्थ कण आदि का निर्माण करके उसे ऊष्मा, वाक् आदि से युक्त करने की प्रक्रिया प्रारम्भ करते हैं अथवा विद्युत् चुम्बकीय तरंगों का निर्माण करके सर्गयज्ञ का प्रारम्भ करते हैं, तब वे वायु अर्थात् प्राणादि पदार्थ को आकाश तत्त्व के द्वारा सम्पीडित कराते हैं। सम्पीडन से वह पदार्थ कुछ सघन हो जाता है। फिर यह सघन पदार्थ गर्भ का रूप धारण कर लेता हैं। इसका तात्पर्य है कि विरल वायु रूप पदार्थ जब सिकुड़ कर सघन हो जाता है, तब उसे आकाश तत्त्व व सूत्रात्मा वायु से घेर लिया जाता है। इस सम्पीडन में अहंकार-मन रूपी मुख्य प्राण ही मुख्य बलकारी होता है। इस प्रकार वह घनीभूत पदार्थ अग्नि वा सोम आदि के परमाणुओं का रूप धारण कर लेता है। इन्हें ही धनावेशित एवं ऋणावेशित कण कहा जाता है। इसी प्रक्रिया से विभिन्न फोटोन्स का भी निर्माण होता है। इस प्रक्रिया की अगली कड़ी में ऋतु संज्ञक प्राण एवं छन्द संज्ञक विभिन्न आच्छादक प्राणादि रश्मियां भी इसी प्रकार सर्वव्याप्त दिव्य वायु रूप पदार्थ को आकाश तत्त्व के साथ घेर कर सम्पीडित करके विभिन्न ऊर्जा व पदार्थ कणों को उत्पन्न करते हैं। स्मरणीय है कि कोई भी सम्पीडन बल के बिना सम्भव नहीं है और बल वायु का ही गुण है। भगवान् यास्क **निरुक्त ७.१०** में लिखते हैं- **"या च का च बलकृतिः। इन्द्रकर्मैव तत्"** अर्थात् इस सृष्टि में जो भी बल है, वह इन्द्र का ही कर्म है। यहाँ इन्द्र का तात्पर्य वायु से आवेष्टित विद्युत् है। **महर्षि दयानन्द** ने **ऋ.भा.१.७.१** तथा **१.८७.५** में इन्द्र को महाबलवान् तथा वायु से युक्त विद्युत् कहा है। यही मान्यता पं. भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर की है। स्मरणीय है कि केवल वायु भी बलवान् व वेगवान् होता है। ऐसा वायु अपने ही भाग विशेष को आकाश तत्त्व के द्वारा सम्पीडित करता है, तब विद्युत् वा अग्नि की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार वह विद्युत् वा अग्नि वायु से आवेष्टित गर्भ का ही रूप होता है। यह आवेष्टन सूत्रात्मा वायु के द्वारा होता है। यह सूत्रात्मा वायु इसे अपने अन्दर धारण कर लेता है, मानो सूत्रात्मा वायु स्वयं उसका गर्भ बन जाता है और सम्पीडित वायु उसका भ्रूणरूप गर्भ बन जाता है। कुत्रचित् छन्दरूपी प्राण सूत्रात्मा वायु के साथ अग्नि वा सोमादि परमाणुओं को आच्छादित कर लेता है, तो कहीं ऋतुसंज्ञक प्राण भी यह कार्य करते हैं। इन सबका वैज्ञानिक स्वरूप पूर्वपीठिका में जानें।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- विभिन्न प्रकार के कणों एवं फोटोन्स के निर्माण की प्रक्रिया को पुनः स्पष्ट करते हुए यहाँ कहते हैं कि जब किसी कण या फोटोन का निर्माण होने वाला होता है, तब सर्वव्याप्त प्राणादि वायु तत्त्व में चेतन तत्त्व परमात्मा की प्रेरणा से संपीडन, उतार-चढ़ाव प्रारम्भ हो जाता है। मनस् वा अहंकार रूप प्राण स्वयं के अंश भूत प्राणादि पदार्थ को आकाश तत्त्व के साथ संपीडित करता है। उस संपीडन से बने हुए छोटे-२ कणों वा फोटोनों को सूत्रात्मा वायु और आकाश तत्त्व घेर लेता है। इस

प्रकार इस ब्रह्माण्ड में विभिन्न फोटोन्स, ऋणावेशित, धनावेशित एवं उदासीन कणों का प्रादुर्भाव हो जाता है।।

२. अद्भिरभिषिञ्चन्ति।। रेतो वा आपः सरेतसमेवैनं तत्कृत्वा दीक्षयन्ति।।

{आपः = प्राणा वा आपः (तै.ब्रा.३.२.५.२), आपः अन्तरिक्षनाम (निघं.१.३), वज्रो वाऽआपः (श.१.१.१.१७), आपो व्यानः (जै.उ.४.११.२२.६), आपो रेतः (तै.ब्रा.३.३.१०.३), आपो वै मरुतः (ऐ.६.३०; कौ.ब्रा.१२.८), (वज्रो वै सामिधेन्यः - कौ.ब्रा.३.२; ७.२)}

व्याख्यानम्- तदनन्तर उन कणों वा फोटोन्स के ऊपर विभिन्न मरुत् रूप सूक्ष्म पवनों एवं तेजस्विनी प्राक् वर्णित सामिधेनी छन्दरूप प्राणों का वर्षण करते हैं, जिससे उन कणों वा फोटोन्स की ऊर्जा बहुत बढ़ जाती है। यहां 'आपः' का तात्पर्य विभिन्न प्राण रश्मियां, जिनमें व्यान नामक रश्मियां विशेषरूपेण विद्यमान हों, भी समझना चाहिये। इनके बिना किसी भी परमाणु के निर्माण एवं समृद्धि की कल्पना भी सम्भव नहीं है।।

इन सभी प्राण व मरुद् रश्मियों तथा सामिधेनीरूप ऋचाओं से उत्पन्न विकिरण समूह भी **'आपः'** कहलाता है, क्योंकि वह सब में व्याप्त हो जाता है। इसके कारण ऊष्मा ही रेत अर्थात् सृष्टियज्ञ के बीज का कार्य करती है। ऊष्मा के बिना कोई भी क्रिया संभव नहीं है। इसलिए इस ऊष्मारूपी बीज से सभी परमाणुओं (कणों) एवं फोटोन्स को संयुक्त करके दीक्षित किया जाता है अर्थात् आगे की सृष्टि प्रक्रिया के लिए उन्हें विनियुक्त किया जाता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- विभिन्न कणों और फोटोन्स की ऊर्जा की वृद्धि के लिए उनके ऊपर प्राण, मरुत् तथा प्राक्वर्णित सामिधेनी छन्दरूप प्राणों की वृष्टि होती रहती है।।

३. नवनीतेनाभ्यञ्जन्ति।।

{नवनीतम् = (नव = न वननीया नावाप्ता वा (नि.३.१०), नौतीति नवन् = णु स्तुतौ - वै.को. आ. राजवीर शास्त्री), एतत् सर्वदेवत्यं यन्नवनीतम् (तै.सं.६.१.१.५), यन्नवमैत्तन्नवनीतमभवत् (तै.सं.२.३.१०.१; मै.२.१.४)}

व्याख्यानम्- उपर्युक्त सामिधेनी प्राणों रूपी विकिरण समूह, जो नवीन उत्पन्न हुआ होता है तथा जो सर्वत्र व्याप्त नहीं हो चुका होता है एवं जिसमें अनेक प्रकार के प्राण विद्यमान होते हैं, उनके द्वारा विभिन्न कण सक्रिय दशा को प्राप्त करते हुए प्रकट हो जाते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सामिधेनी रूप विभिन्न छन्दरूप प्राणों के यत्र-तत्र प्रकट होते ही विभिन्न कण उत्तेजित अवस्था को प्राप्त कर सक्रिय हो उठते हैं।।

४. आज्यं वै देवानां, सुरभि घृतं मनुष्याणाम्, आयुतं पितॄणां, नवनीतं गर्भाणां तद्यन्नवनीतेनाभ्यञ्जन्ति स्वेनैवैनं तद्भागधेयेन समर्धयन्ति।।

{देवाः = अमृता देवाः (श.२.१.३.४), प्राणा देवाः (श.६.३.१.१५), मनो देवः (गो.पू.२.११), वाग् देवः (गो.पू.२.११), अपहतपाप्मानो देवाः (श.२.१.३.४), (पाप्मा = पाप्मा वै वृत्रः - श.८.५.१.६; भ्रातृव्यो वै पाप्मा - जै.ब्रा.१.२६१)। मनुष्यः = बहिः प्राणो वै मनुष्यः (तै.सं.६.१.१.४), तस्य (विवस्वत आदित्यस्य) वा इयं प्रजा यन्मनुष्याः (तै.सं.६.५.६.२),

नैव देवा (प्रजापतेराज्ञाम्) अतिक्रामन्ति। न पितरो न पशवो मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति (श. २.४.२.६), विश्वे हीदं देवाः स्मो यन्मनुष्याः (मै.३.३.८,३.२.२)। पितरः = अनपहतपाप्मानः पितरः (श.२.१.३.४), ऊष्मभागा हि पितरः (तै.ब्रा.१.३.१०.६), पितर ऋतवः (काठ.३६. ११; गो.उ.६.१५), प्राणो वै पिता (ऐ.२.३८), मर्त्याः पितरः (श.२.१.३.४), हरणभागा हि पितरः (तै.ब्रा.१.३.१०.७)। आज्यम् = तेजो वा आज्यम् (तां.१२.१०.१८), अग्नेर्वा एतद्रूपम्, यदाज्यम् (तै.ब्रा.३.८.१४.२), वज्रो वा ऽआज्यम् (कौ.ब्रा.१३.७), वज्र एव वाक् (ऐ.२. २१), प्राणो वा आज्यम् (तै.ब्रा.३.८.१५.२-३)। सुरभिम् = (षुर ऐश्वर्यदीप्त्योः), प्राणा वै स्तोमाः (सुरभयः - तै.ब्रा.३.६.७.५; श.८.४.१.३), छन्दांसि वै सर्वे स्तोमाः (जै.ब्रा.१. ३३२)}

व्याख्यानम्- यहाँ **'देव' शब्द का अर्थ मन, वाक्, प्राण आदि मूल पदार्थों से है**, जिनमें सर्वप्रथम बहुत हल्की दीप्ति और आकर्षणादि बल विद्यमान होता है। उस समय समस्त पदार्थ इन्हीं के रूप में सर्वत्र व्याप्त हुआ होता है। उस समय उसकी दीप्ति का रंग अति मन्द एवं अव्यक्त शुक्ल होता है तथा सर्वत्र एक जैसा होता है। वह पदार्थ ऊष्ण एवं बहुत विक्षोभ वाला नहीं होता है, परन्तु शान्त न होकर सतत गतिशील रहता है। इसलिए कहा- **"देवा एकरूपाः सर्वे शुक्लाः" (जै.ब्रा.१.२७८), "न वै देवाः स्वपन्ति" (श.३.२.२.२२)।** ऐसे उस प्राणसमूह पर जो सर्वप्रथम वृष्टि की जाती है किंवा जिस पदार्थ के द्वारा उस पदार्थ को तेजस्वी और सक्रिय बनाया जाता है, वह **'आज्य'** कहलाता है। जिसे तेज और वज्र भी कहते हैं। यह तेज और वज्र कोई बाहरी पदार्थ नहीं बल्कि उसी के अंगभूत वाक् रूपी पदार्थ ही तेजरूपी वज्र का कार्य करता है और वाक् को तेजस्वी कौन बनाता है? इसका उत्तर केवल यही है कि उसे चेतन, सर्वव्यापक तत्त्व ही तेजस्वी बनाता है। इस तेजस्वी वाक् के संयोग से ही मन, प्राण, सूत्रात्मा वायु आदि सभी देव पदार्थ कार्योन्मुख हो उठते हैं। देव पदार्थ सृष्टि काल में नष्ट नहीं होते हैं एवं इनकी गति नियमित होती है। देव पदार्थों के बीच कोई भी बाधक असुर तत्त्व कार्य नहीं करता है, इस कारण ये निर्विघ्न रूप से सतत सक्रिय रहते हैं। वस्तुतः उस प्रथमावस्था में असुर नामक बाधक तत्त्व निर्मित नहीं हो पाता है। यहां **'वाक्'** तत्त्व से तात्पर्य **'ओम्'** छन्द रश्मि से है, जिसके बिना कोई भी उत्पन्न पदार्थ सक्रिय नहीं हो सकता है। मनस्तत्त्व भी इसी वाक् तत्त्व के उत्पन्न व संगत होने पर ही सक्रिय हो पाता है। **यहाँ 'देव' शब्द से अग्नि के परमाणुओं तथा अन्य नियमित गति व किञ्चित् प्रकाशयुक्त परमाणुओं का भी ग्रहण करना योग्य है।** इनको सक्रिय करने हेतु विभिन्न प्राणरूपी आज्य की अनिवार्यता होती है। **मनुष्य उन कणों का नाम है, जो सूर्यादि तारों से उत्पन्न होते हैं तथा इन तारों के अन्दर भी प्राणापानादि उपर्युक्त देव पदार्थों से उत्पन्न हुआ करते हैं। इन कणों का व्यवहार कुछ अनिश्चित जैसा होता है। ये प्रकाशशील भी होते हैं। इनकी गति भी अनियमित होती है।** इन कणों के चारों ओर विद्यमान प्राणों की गति अधिकतर बाहर की ओर होती है अर्थात् बाहर से आने वाले प्राणों का प्रवेश इन कणों में अत्यल्प होता है। बाहर से आने वाले प्राण इन कणों को स्पर्श करके बाहर की ओर ही वापिस लौट जाते हैं। इस कारण **मनुष्य नामक कण दूसरे कणों के साथ अन्योन्य क्रिया बहुत कम करते हैं।** इन कणों को यथासंभव सक्रिय करने के लिए विभिन्न छान्दस किरणों रूप संदीप्त तेज को आकाश तत्त्व के साथ मिश्रित करके इन पर प्रहार किया जाता है। **पितर उन कणों वा तरंगों का नाम है, जो ऋतु प्राणों के रूप में विद्यमान होते हैं। विभिन्न ऋतु प्राण रश्मियों से सम्पृक्त विभिन्न परमाणु भी मनुष्य कहाते हैं, जो अनियमित गति व स्वल्प प्रकाशयुक्त होते हैं।** ये ऊष्मा को उत्पन्न करने वाले होते हैं, परन्तु इनमें प्रकाश भाग कम होता है। इनको बाधक असुर तत्त्व प्रभावित करता रहता है। इनका आयु भी अपेक्षाकृत कम होता है। इस प्रकार के कणों वा तरंगों को आयुत अर्थात् सब ओर से सभी प्रकार के उत्प्रेरक पदार्थों के मिश्रण के द्वारा सक्रिय किया जाता है। इस मिश्रितरूप में वाक्, छन्दरूपी प्राण आदि सभी मिश्रित होते हैं। पूर्वोक्त गर्भसंज्ञक विभिन्न प्रकार के कणों को सामिधेनी ऋक् प्राणों के द्वारा संदीप्त किया जाता है। इसका तात्पर्य है कि उन कणों को उन्हीं के अशंभूत पदार्थों से संदीप्त किया है, क्योंकि सामिधेनी प्राण भी सूक्ष्म छन्दों एवं प्राणापानादि तत्त्वों के द्वारा निर्मित होते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- मन्, वाक् व प्राण आदि तत्त्व ऐसे मूल पदार्थ हैं, जिनमें सर्वप्रथम बहुत हल्की शुक्ल रंग की दीप्ति, जो एकरस होती है और उसमें हल्का आकर्षण बल भी विद्यमान होता है, विद्यमान होती है। यह पदार्थ मन्द-२ गति वाला होता है एवं एकरस भरा होता है, वर्त्तमान विज्ञान का कोई भी मूलकण इतनी सूक्ष्म अवस्था में विद्यमान नहीं हो सकता। इस स्थिति में सर्वप्रथम चेतन तत्त्व परमात्मा के द्वारा **'ओम्'** रश्मिरूप वाक् तत्त्व सक्रिय होता है और उसके उपरान्त उसी के संयोग से मन-अहंकार, सूत्रात्मा वायु एवं प्राणापान आदि १० प्राण सक्रिय हो उठते हैं, ये पदार्थ सृष्टि काल में नष्ट नहीं होने से अविनाशी देवपदार्थ कहे जा सकते हैं। अनियमित और अनिश्चित व्यवहार वाले तथा अपेक्षाकृत कम आयु एवं कम प्रकाश वाले कण **मनुष्य** कहलाते हैं, इनमें परस्पर आकर्षण आदि कम होता है। जो कण ऊष्मा के उत्पन्न करने वाले कम प्रकाशशील, विनाशी होते हैं, वे **पितर** कहलाते हैं, इन्हें वाक् और छन्द रूपी प्राण आदि सक्रिय करते हैं।।

५. आञ्जन्त्येनम्।।
तेजो वा एतदक्ष्णोर्यदाञ्जनं सतेजसमेवैनं तत्कृत्वा दीक्षयन्ति।।

{अक्षी = अश्नुवते व्याप्नुवन्ति याभ्यां ते (म.द.ऋ.भा.१.७२.१०)}

व्याख्यानम्- उपर्युक्त देव, मनुष्य, पितर एवं गर्भ संज्ञक पदार्थों को तत्-तत् सम्बन्धित प्रेरक आज्य आदि पदार्थों के द्वारा प्रकट अवस्था में लाया जाता है (अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु, **महर्षि दयानन्द** ने अपने **ऋ.भा.६.६३.३** में इस धातु का अर्थ 'कामना' करना भी लिखा है) एवं उन पदार्थों को शुद्ध, आकर्षणादि बलयुक्त गतिशील बनाया जाता है, जिससे वे आने वाली प्रक्रिया को स्पष्ट और सक्रिय रूप से संचालित करने का कारण बन सकें।।

उन प्राणादि देव पदार्थों में एवं व्यक्ततर उपर्युक्त मनुष्य, पितरादि कणों में उपरिवर्णित प्रेरकों द्वारा जो उन्हें सक्रिय किया जाता है, वही उनका तेजस्वी होना है। इसका तात्पर्य यह है कि उन प्रेरकों से प्रेरित होकर सृष्टि के विविध पदार्थ तीक्ष्णता धारण करते हैं, जिससे वे संयोग-वियोग, छेदन-भेदन, धारण-आकर्षणादि गुणों से अधिकाधिक युक्त होते चले जाते हैं और ऐसा करके वे सृष्टि प्रक्रिया को संवर्धित करते हैं।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सृष्टि के विभिन्न कण वा तरंगें किसी विशेष कारणभूत उत्प्रेरकों द्वारा ही विशेष रूप से सक्रिय हुआ करते हैं और उसी समय उनका ताप भी बढ़ जाता है और सक्रियता बढ़ जाने से संयोग-वियोग की प्रक्रिया तेज हुआ करती है।

६. एकविंशत्या दर्भपिञ्जूलैः पावयन्ति।।
शुद्धमेवैनं तत्पूतं दीक्षयन्ति।।

{दर्भाः = मेध्या वै दर्भाः (श.३.१.३.१८), दर्भा वा आप ओषधयः (मै.१.७.२), आपो दर्भाः (श.२.२.३.११), अपां वा एवत् तेजो वर्चः यद्दर्भाः (तै.ब्रा.२.७.६.५), पवित्रं वै दर्भाः (तै. ब्रा.१.३.७.१), दृणाति विदारयतीति दर्भः (उ.को.३.१५१)। पिञ्जूलम् = पिङ्क्ते वर्णयतीति पिञ्जूलम् (उ.को.४.६१)}

शुद्धता की परिभाषा = अग्निना छिन्नाः पृथक् पृथक् परमाणवो भूत्वा वायौ विहरन्ति ते शुद्धा भवन्ति। (म.द.य.भा.१.१२) अर्थात् विभिन्न मिश्रित परमाणु वा रश्मि आदि पदार्थों का अग्नि अथवा प्राणादि रश्मियों के द्वारा छिन्न-भिन्न होकर पृथक्-२ होकर स्पष्ट स्वरूप प्राप्त कर लेना ही शुद्धता कहलाती है। **पवते गतिकर्मा (निघं.२.१४), पवस्व अध्येषणाकर्मा (निघं.३.२१)}**

व्याख्यानम्- तदनन्तर उपर्युक्त पदार्थों को इक्कीस प्रकार की प्राण तरंगों, जो मेध्य अर्थात् संगमनीय एवं विविध रंगों से युक्त होती हैं, के द्वारा शुद्ध एवं गतिशील बनाया जाता है। यहाँ शुद्धता का तात्पर्य यह है कि उनको ऊर्जा प्रदान करके पृथक्-२ रूप प्रदान किया जाता है। ये २१ प्रकार की कौन सी प्राण रश्मियाँ हैं, इस बात का यहाँ कोई संकेत नहीं है परन्तु इतना निश्चित है कि रश्मियाँ प्रबल भेदन क्षमता से युक्त होती हैं।।

यद्यपि इन रश्मियों की उत्पत्ति के पूर्व भी पदार्थ शुद्ध व स्पष्ट रूप में प्रकट हो चुका होता है, पुनरपि उसको इन प्राण रश्मियों के प्रहार से जहाँ और अधिक स्पष्टता एवं गति प्राप्त होती है, वहीं विविध रंग भी स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्व में व्यक्त हुए विविध पदार्थ कणों पर भेदन क्षमता एवं विविध रंगों को उत्पन्न करने वाली संगमनीय प्राण रश्मियों का प्रहार होता है, जिससे वे कण वा तरंगें विविध रंगों को धारण करके अधिक स्पष्ट, उष्ण एवं गतिशील हो जाते हैं, जिससे संयोगादि प्रक्रिया तेज होती चली जाती है।

७. दीक्षितविमितं प्रपादयन्ति।।
योनिर्वा एषा दीक्षितस्य यद्दीक्षितविमितं योनिमेवैनं तत्स्वां प्रपादयन्ति।।

{योनिः = स्थानमाकाशः (तु.म.द.य.भा.१३.३), योनिरन्तरिक्षं महानवयवः परिवीतो वायुना (नि.२.८), परिमण्डला हि योनिः (श.७.१.१.३७)}

व्याख्यानम्- उपर्युक्त यजनशील कणों को एक मर्यादित स्थान व आकार प्रदान किया जाता है। उनको ऐसा नियमबद्ध किया जाता है कि जिसके कारण वे कण व क्वाण्टा अपनी मर्यादा का अतिक्रमण नहीं कर सकते। इसी कारण वर्त्तमान विज्ञान की भाषा में कहे जाने वाले फोटोन वा इलेक्ट्रॉन सदैव अपनी मर्यादा वा कक्षा में ही रहते हैं। उनमें कभी संघात नहीं होता। प्रत्येक फोटोन अन्य फोटोन से पृथक् ही रहता है एवं प्रत्येक इलेक्ट्रॉन की अपनी पृथक्-२ कक्षा वा उपकक्षा वा चक्रण आदि की मर्यादा में ही बंधा होता है। वर्त्तमान विज्ञान भी इस बात को स्वीकार करता है। सन् १९२५ में ऑस्ट्रिया में जन्मे वैज्ञानिक, जिन्हें भौतिकी का नोबल पुरस्कार मिला, **Wolfgang pauli** ने कहा-

> **“No two electrons in an atom can exist in the same quantum state. Each electron must have a different set of quantum numbers n, l, m_l, m_s.” (Concepts of Modern Physics by Arthur Beiser, page No-233)**

इसका आशय वही है, जो हमने अपने व्याख्यान में ऊपर दर्शाया है। पॉली का यह अपवर्जन नियम किसी एटम में केवल इलेक्ट्रॉन के लिए ही लागू होता है, लेकिन हमारी दृष्टि में नाभिक के अन्दर प्रोटोन्स, न्यूट्रॉन्स एवं अन्य इसी प्रकार के कणों पर भी यही सिद्धान्त लागू होता हैं। पॉली का यह नियम वर्त्तमान विज्ञान में संसार भर में ठोस प्रमाण के रूप में माना जाता है।।

उपर्युक्त कोई कण वा क्वाण्टा आदि जिस मर्यादा से युक्त होकर जन्म लेता है अथवा गति कर रहा होता है, वह उसी में नियत रहता है। कोई तरंग जिस दिशा, जिस गति, आयाम व ऊर्जा आदि की होती है, वह प्रायः उसी में रहती है। दूसरी तरंग से मिलकर- super position की स्थिति क्षणिक रूप से भले ही बन जाए, परन्तु उसके तुरन्त पश्चात् पूर्व स्थिति को अवश्य ही प्राप्त हो जाती है। इसे हम पूर्व खण्ड में दर्शा चुके हैं। इलेक्ट्रॉन्स के विषय में भी यह सत्य है कि कोई इलेक्ट्रॉन सदैव अपनी नियत कक्षा में ही रहता है। यदि उसे बाहर से कुछ ऊर्जा दी भी जाए, तो भी वह अत्यल्प काल में ही दी हुई ऊर्जा को उत्सर्जित करके पूर्व कक्षा में आ ही जाता है। यदि ऐसा न होता तो ऊर्जा का उत्सर्जन, संचरण कदापि सम्भव नहीं होता। यहाँ **‘योनि’** शब्द से यह भी स्पष्ट है कि उनका मार्ग

भी परिमण्डलाकार ही होता है। हमारी दृष्टि में फोटोन्स का मार्ग तो परिमण्डलाकार नहीं बल्कि उसका स्वयं का प्रभावक्षेत्र, जिसे क्वाण्टा नाम से मान सकते हैं, परिमण्डलाकार ही होता है। यहाँ 'परिमण्डल' शब्द का एक और भी गम्भीर अर्थ है- परिमण्डल शब्द परि+मण्ड्+कलच् (आप्टेकोश) से व्युत्पन्न है। 'परि' उपसर्ग को निम्न अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है-

उपरिभावे (म.द.ऋ.भा.१.१०५.३), वर्जने (म.द.य.भा.३८.२४), परीति सर्वतो भावं (प्राह) (नि. १.३) आप्टेकोश के अनुसार 'मण्ड्' धातु के अर्थ हैं- घेरना, घेरा डालना, विभक्त करना, वस्त्र धारण करना आदि।

इस प्रकार **'परिमण्डल'** शब्द का अर्थ केवल गोलाकार वा दीर्घवृत्ताकार करना एकांगीपन वा अपरिपक्वता है। किसी भी कण (Atom, electron, proton, photon आदि) के स्वरूप के विषय में यह शब्द सुन्दरता से प्रकाश डालता है। इसके अनुसार कोई भी कण निम्न प्रकार का होता है-

१. प्राणादि सूक्ष्म रश्मिरूप पदार्थ का अपेक्षाकृत सघन, सम्पीडित रूप होता है, जो सब ओर से एक सीमा से घिरा हुआ होता है। वह घेरा सूत्रात्मा वायु का होता है।
२. सूत्रात्मा वायु का घेरा ऊपर ही होता है, अन्दर नहीं।
३. वह सूत्रात्मा वायु उसके अन्दर अवरुद्ध प्राणादि पदार्थ को रोके रहता है अर्थात् उस कण को बिखरने नहीं देता।
४. वह घेरा उस कण को बाहरी सर्वव्याप्त प्राणादि पदार्थ से विभक्त करता है। वह कण उस आवरण को ऐसे धारण किए रहता है, जैसे कोई मनुष्य वस्त्रों को धारण करता है।
५. यह घेरा कोई ठोस वस्तु का तथा स्पष्ट नहीं होता बल्कि यह भी रश्मिरूप सूत्रात्मा वायु का होता है, जिसे प्रायः अनुभव नहीं किया जा सकता।

ऐसे ही कण को **महर्षि कणाद** ने **'नित्यं परिमण्डलम्' (वै.द.७.१.२०)** कहा है। वह परमाणु अपने इस अदृश्य परिमाप का कभी भी उल्लंघन नहीं करता। यदि करेगा भी तो अत्यल्प काल के लिए ही। इसको भी यहाँ दीक्षित को विमित करना लिखा है तथा दीक्षित को अपनी ही योनि अर्थात् मूलस्थान में वापिस लाना कहा है।

आचार्य सायण ने दीक्षित यजमान के अपनी योनि में प्रवेश के प्रसंग में **तैत्तिरीय संहिता ६.१.२.१** को उद्धृत करते हुए लिखा है- **"बहिः पावयित्वाऽन्तः प्रपादयति मनुष्यलोक एवैनं पावयित्वा पूतं देवलोकं प्रणयति।"** आचार्य सायण ने अपने याज्ञिक कर्मकाण्ड को लक्ष्य बनाकर इसे उद्धृत किया है। हमारी दृष्टि में इसमें एक अति गम्भीर वैज्ञानिक रहस्य है। **यहाँ किसी भी कण के बनने तथा उसके वा अन्य किसी भी कण के अपनी कक्षारूप योनि में स्थापित होने का ऐसा गम्भीर विज्ञान प्रकाशित किया है, जिसे आज तक वर्तमान भौतिक विज्ञान नहीं समझ पाया है।** यहाँ कहा गया है कि जब किसी भी कण के निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है, तब सर्वत्र व्याप्त मन व प्राणादि का समुदायरूप दिव्य वायु किसी एक स्थान पर किंवा सर्वत्र पृथक्-२ बिन्दुओं पर बाहरी भाग में चक्रीय गति प्रारम्भ होती है, जिससे एक क्षेत्र विशेष बाहरी क्षेत्र से पृथक् हो जाता है। उसके पश्चात् उसे मनुष्यलोक से देवलोक में ले जाया जाता है। **तैत्तिरीय संहिता ६.१.१.१** में कहा है- **"अन्तर्हितो हि देवलोको मनुष्यलोकात्"** अर्थात् देवलोक मनुष्यलोक के अन्दर स्थित होता है। इससे स्पष्ट है कि वह दिव्य वायु चक्रीय गति के द्वारा जल में बने भंवर के तुल्य बन जाता है, फिर वह वायु तेजी से भीतर की ओर प्रविष्ट होते हुए सम्पीडित होता चला जाता है। इस प्रकार उसको एक कण का स्वरूप मिल जाता है। इसे निम्न प्रकार समझा जा सकता है -
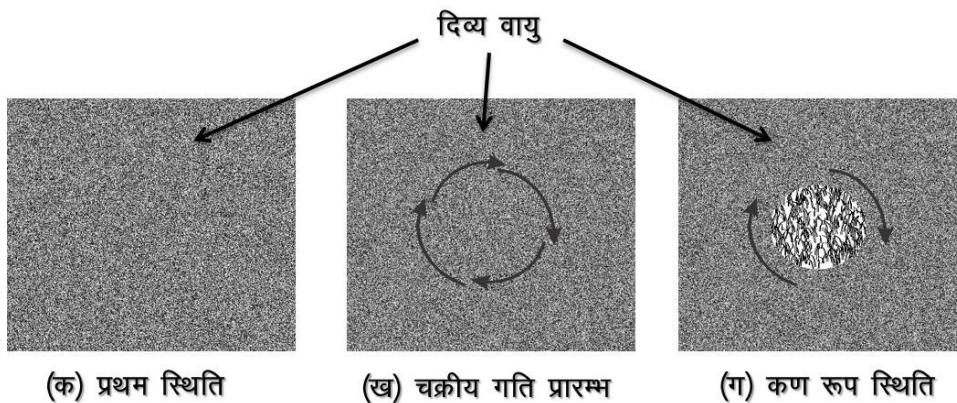
चित्र १.१० दिव्य वायु चक्रीय गति के द्वारा कण बनने की प्रक्रिया

ब्रह्माण्ड के सभी सूक्ष्म कण इसी प्रकार बनते हैं। अब हम इलेक्ट्रॉनादि कणों की कक्षाओं के निर्माण पर विचार करते हैं। उपर्युक्त प्रकार से जब किसी कण (इलेक्ट्रॉनादि) का निर्माण हो जाता है, जब वे कण उस सर्वत्र व्याप्त दिव्य वायु में सूत्रात्मा वायु के सहारे चक्रण करने लगते हैं। वे जिस केन्द्र के चारों ओर चक्रण करते हैं, वह भी सूत्रात्मा वायु से व्याप्त होकर प्राक्वर्णित विधि से उन इलेक्ट्रोनादि को आकर्षित करने लग जाता है। अन्ततः निकटतर आकर उनकी कक्षा निर्धारित हो जाती है। इलेक्ट्रोनादि कणों को सूत्रात्मा वायु ही कक्षा से भटकने नहीं देता और किसी अतिरिक्त ऊर्जा के कारण भटक भी जाये तो मूल कक्षा में ले आता है, उसी की यहाँ चर्चा की गयी है। यह महत्वपूर्ण तथ्य है कि दिव्य वायु में इस चक्रण के प्रारम्भ करने में एक अन्य **सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् चेतन तत्त्व की ही मुख्य प्रेरणा होती है।** ध्यातव्य है कि इन कण वा परमाणुओं के निर्माण में सूत्रात्मा वायु के साथ-२ बृहत्यादि छन्द रश्मियों की भी भूमिका रहती है, जिसे इस ग्रन्थ में आगे अनेकत्र दर्शाया गया है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- किसी भी कण की कक्षा का निर्धारण परिमाण तथा किसी कण, तरंग आदि के स्वरूप, आकार आदि का निर्धारण व नियमन एक व्यवस्था के अन्तर्गत होता है। इसके निश्चित करने में अत्यन्त सूक्ष्म प्राण वायु का विशेष योगदान रहता है। इस प्राण से बनी हुई परिधि अत्यन्त सूक्ष्म एवं सर्वथा अदृश्य ही होती है। इसी के कारण हर कण सूक्ष्म प्राणादि पदार्थ का एक सम्पीडित व संघनित रूप होता है, जिसके आकार के विषय में हम कोई निश्चितता प्रतिपादित नहीं कर सकते। गोलाकार, दीर्घवृत्ताकार आदि निश्चित आकार में बांधना अशक्य है। कणों के निर्माण एवं उनके कक्षाओं के निर्माण की प्रक्रिया व्याख्यान में ही समझें।।

८. तस्माद् ध्रुवाद्योनेरास्ते च चरति च।।
तस्माद् ध्रुवाद्योनेर्गर्भा धीयन्ते च प्र च जायन्ते।।

व्याख्यानम्- उस अपनी व्यापक व स्थिर गति में विद्यमान दिव्य वायु से ही इन कणों (इलेक्ट्रॉन, फोटोन आदि) का निर्माण होता है और वे कण उसी दिव्य वायु में ही स्थित होते हैं। वे उत्पन्न होकर उससे पृथक् अन्यत्र कहीं नहीं जा सकते हैं। इस प्रकार इन कणों का उत्पत्ति व निवास स्थान यह दिव्य वायु है तथा उत्पत्ति का उपादान कारण भी यही है। उत्पन्न होकर वे इसी दिव्य वायु में ही गति करते हैं और इसी दिव्य वायु का ही भक्षण करते रहते हैं। जैसे पानी में बुलबुले पानी से ही बनते, उसी में गतिशील होते और उसी में विद्यमान रहते हैं और जिस प्रकार वायुमण्डल में वायु के द्वारा ही चक्रवात उत्पन्न होते और वायु में ही रहते व घूमते-दौड़ते हैं, उसी प्रकार इन कणों की स्थिति है। ये कण इसी दिव्य वायु से ही सतत पोषण पाते हैं तथा इसी के द्वारा धारण किये जाते हैं। इनका परिक्रमण, घूर्णन, प्रसर्पण, परिप्लवन सभी प्रकार की गतियाँ इसी दिव्य वायु में, इसी के द्वारा हुआ करती हैं। इनकी कक्षाएं इन्हीं दिव्य वायु के द्वारा नियत हुआ करती हैं। इनकी गतियाँ भी प्रायः नियत हुआ करती हैं, साथ ही इनके आकार भी सदा समान बने रहते हैं। इन सबका कारण यह दिव्य वायु ही है।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उपर्युक्तानुसार।।

९. तस्माद् दीक्षितं नान्यत्र दीक्षितविमितादादित्योऽभ्युदियाद्वाऽभ्यस्तमियाद्वाऽपि वाऽभ्याश्रावयेयुः।।

{आदित्यः = अदितावन्तरिक्षे भवः (विद्युदग्निः) (म.द.ऋ.भा.१.१६३.३), कारणरूपेण प्राणः (म.द.ऋ.भा.१.२५.१२), किरणः (तु.म.द.ऋ.भा.भू. प्रकाश्यप्रकाशकविषय), प्राण आदित्यः (तां.१६.१३.२), स यः स यज्ञोऽसौ स आदित्यः (श.१४.१.१.६), ओमित्यादित्यः (जै.उ.३.३.३.१२), अस्तम् = अस्तं गृहनाम (निघं.३.४)। गृहाः = गृहा वै प्रतिष्ठा (श.१.१.१.१६),

गृहाः कस्माद् गृह्णन्तीति सताम् (नि.३.१३)। प्रक्षिप्तम् = प्रक्षिप्तं प्रेरितम् (म.द.ऋ.भा.५.६.१)। अभ्युद्+ इण् गतौ = ऊपर जाना, उठना, समृद्ध होना (आप्टे)}

व्याख्यानम्- उस विमित अर्थात् एक विशेष क्षेत्र में सीमित हुए कणरूप स्थिति को प्राप्त हुए साथ ही सन्तप्त कण के बाहरी क्षेत्र में कारण-प्राण, सूत्रात्मा वायु वा दिव्य वायु उस संगमनीय कण से बहिर्गमन नहीं करता है अर्थात् उस कण में जो सम्पीडित व घनीभूत अवस्था में दिव्य वायु विद्यमान होता है, वह किसी भी स्थिति में उस कण की सीमा के बाहर अन्यत्र कहीं भी नहीं जाता है और न उस कण के सर्वतः घेरा बनाने वाला सूत्रात्मा आदि वायु ही उस परिधि को समाप्त करके बाहर कहीं पलायन करता है।

यहाँ विधिलिङ् का प्रयोग लृट् लकार के स्थान पर व्यत्यय से हुआ है। **'अभ्यस्तामियात्'** में **'अस्तम्'** पद पृथक् है तथा यह गृह का वाचक है साथ ही **'प्रक्षिप्तम्'** अर्थ में भी प्रयुक्त है। **'अभि'** उपसर्ग का **'इयात्'** क्रियावाची पद से पृथक् होना छान्दस् प्रयोग हैं। इसका अर्थ है कि वह सूत्रात्मा वायु वा कण को बनाने वाला दिव्य वायु वा कारण प्राण अपने प्रतिष्ठारूप महत्तत्व का ही अनुसरण करके एकरस होकर बिखर पाता है किंवा संघनित होकर कण का रूप प्राप्त करता है। हमें ऐसा भी प्रतीत होता है कि प्रत्येक कण के मध्य भाग में दिव्य वायु न होकर वहाँ महत्तत्व ही विद्यमान होता है, जो गृह के रूप में होता है। इसका तात्पर्य यह है कि वह महत् वा मनस्तत्त्व गृहरूप होकर सभी प्राण रश्मियों को अपने साथ बांधे रखने में सहायक होता है। बाहर से सूत्रात्मा आदि रश्मियां तथा केन्द्रीय भाग से महत् वा मनस्तत्त्व सभी प्राण रश्मियों को बांधे रखते हैं। यह सभी मिलकर कण वा क्वाण्टा का रूप धारण करता है। उस गृहरूप मनस्तत्त्व में उस कण में विद्यमान संघनित दिव्य वायु प्रवेश नहीं कर पाता है। ध्यातव्य है कि दिव्य वायु के अन्दर भी प्राणापानादि अनेक कारण प्राणों के साथ महत्तत्व भी विद्यमान होता है, परन्तु कणों के केन्द्रीय भाग में मूल प्रकृति के साथ विशुद्ध मन वा महत्तत्व ही विद्यमान होता है। इस प्रकार फोटोन, इलेक्ट्रोन आदि कणों का स्वरूप निम्नानुसार संशोधित होता है-

चित्र १.११ फोटोन, इलेक्ट्रॉन आदि कणों की संरचना
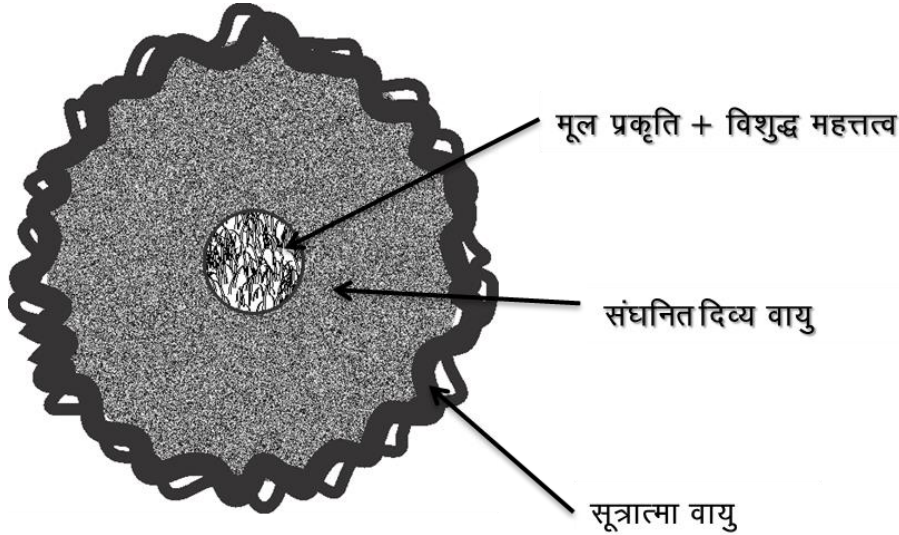
ध्यातव्य है कि किसी भी कण में चित्र में दर्शाये अनुसार स्पष्ट परिधि विद्यमान नहीं होती बल्कि धुंधले-अस्पष्ट बादल जैसी स्थिति होती है। इसके साथ ही कहा कि किसी कण पर अन्य किसी कण, किरणों वा प्राण रश्मियों के प्रहार के समय भी वे रश्मि, किरण वा कण उस लक्षित कण के अन्दर विद्यमान प्राण तत्त्व को विक्षुब्ध करके हिला नहीं पाते हैं अर्थात् उपरिवर्णित दोनों प्रकार की अनिष्ट क्रिया को उत्पन्न नहीं कर पाते हैं। प्राणों में विक्षोभ तो होता है, जिससे उसकी ऊष्मा व तेज बढ़ जाता है परन्तु ऐसा नहीं हो सकता कि उस विक्षोभ से उस कण के अन्दर विद्यमान दिव्य वायु व

सूत्रात्मा वायु बिखर कर कण का ही स्वरूप नष्ट कर दे यदि कदाचित् उस कण के स्थान पर नवीन कण बन भी जाये, तो उसका रूप भी यही होगा।

वैज्ञानिक भाष्यसार- विभिन्न कण किसी अन्य कण से क्रिया करने पर बिखर कर समाप्त कभी नहीं होते बल्कि उनका अस्तित्त्व यथावत् बना रहता है। यदि कभी किसी कण का अस्तित्त्व प्रभावित भी होता है, तो वह तत्काल अन्य कण का रूप धारण कर लेता है, जिसकी रचना भी पूर्व कण के लगभग समान ही होता हैं। विशेष वैज्ञानिक सार व्याख्यान भाग में ही वर्णित है, पाठक वहीं देखें।

१०. वाससा प्रोर्णुवन्ति।।

{वासः = आच्छादकं बलम् (वासय = कलायन्त्रादिषु स्थापय, विद्युद्विद्यया स्थापय वा - म.द.ऋ.भा. १.१३४.३), निकेतनम् (म.द.य.भा.१२.७८), सर्वदेवत्यं वासः (तै.ब्रा.१.१.६.११), ओषधयो वै वासः (श.१.३.१.१४)}

व्याख्यानम्- तदन्तर प्रत्येक कण को सभी प्रकार के प्राणों अर्थात् दिव्य वायु रूपी आच्छादन से आच्छादित किया जाता है। इससे सिद्ध है कि केवल सूत्रात्मा वायु ही आच्छादक नहीं होता अपितु दिव्य वायु का बल भी उसके साथ सम्पृक्त रहता है। वह आच्छादक ही मानो किसी कण का आवास होता है। इससे उस कण में दाह गुण भी उत्पन्न होता है। यहाँ 'प्र' उपसर्ग का प्रयोग यह भी संकेत कर रहा हैं कि इस आवरण में आकाश महाभूत भी विद्यमान होता है, क्योंकि **'अन्तरिक्षं वै प्र' (ऐ.२.४१)**।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इलेक्ट्रॉन, फोटोन, प्रोटोन, आदि सभी कण सूत्रात्मा वायु के साथ दिव्य वायु के आवरण से भी ढके होते हैं। इसके साथ ही हर कण को चारों ओर आकाश भी परिधिरूप में वक्र होकर घेरे रहता है।।

११. उल्बं वा एतद्दीक्षितस्य यद्वास उल्बेनैवैनं तत् प्रोर्णुवन्ति।।

{उल्बम् = उल्बं घृतम् (श. ६.६.२.१५), उल्बं ऊषाः (श.७.१.१.८), (प्राजापत्या वा ऊषाः - मै.१.११.८; पशव ऊषा - श.७.१.१.६)} {उल्बम् = उच्यति समवैतीति (उ.को.४.९६) (उच समवाये = संचय करना, एकत्र करना)}

व्याख्यानम्- उपरिवर्णित आवरण के विषय में स्पष्ट करते हैं। वह आवरण किन-२ अतिरिक्त प्राण रश्मियों का हो सकता है, इसका रहस्य यहाँ खोला गया है। इस आवरण को यहाँ उल्ब कहा है। इसका तात्पर्य है कि यह आवरण अपने अन्दर विद्यमान पदार्थ को संचित किये रहता है। यह आवरण घृत अर्थात् सन्दीप्त तेज उत्पन्न करता है। **{घृतम् = स घृङ्करोत् तद् घृतस्य घृतत्त्वम् (काठ.२४.७; क.३७.८, ब्रा.उ.को. से उद्धृत)}** यह संदीप्त तेज **'घृम्'** रश्मियों के कारण उत्पन्न होता है। ये **'घृम्'** रश्मियां मरुद् रश्मियों के समान व्यवहार करने से मरुद् भी कहलाती हैं। यह तेज उत्पन्न होने के साथ-२ परिधिरूप में सदैव संचरण भी करता रहता है, इसी कारण कहा- **''जिघर्ति संचलति दीप्यते वा तत् घृतम्'' (उ.को.३.८९)**। यह उल्ब नामक आवरण उपरिवर्णित दिव्य वायु एवं सूत्रात्मा वायु के अतिरिक्त दाहजनक दिव्य पशु अर्थात् मरुतों से बना होता है। मरुत् ही पशु कहाते हैं। इस कारण कहा- **''पशवो वै मरुतः'' (ऐ.३.१९)** मरुत् ऐसी सूक्ष्म रश्मियां होती है, जो अति मंद-२ दीप्ति व मंद-२ ध्वनियुक्त होती परन्तु इनकी गति तीव्र होती है, इसी कारण कहा - **''मरुतो रश्मयः'' (तां.१४.१२.९), मरुतो मितराविणो वा मितरोचिनो वा महद् द्रवन्तीति वा (नि.११.१३), ताण्ड्य ब्रा.१७.१.३** में कहा है- **''यानि क्षुद्राणि छन्दांसि तानि मरुताम्''** इसका तात्पर्य है कि जो छोटे-२ छन्दरूप प्राण होते

हैं, वे मरुत् के रूप में ही होते हैं। उधर **मैत्रायणी संहिता १.११.८** में **'ऊषा'** को प्राजापत्या कहने से यह संकेत मिलता है कि प्राजापत्य छन्द और हमारे मत में उनमें भी विशेषकर प्राजापत्या गायत्री, उष्णिक् वा अनुष्टुप् जैसे सूक्ष्म छन्द ही इस उल्ब रूपी तेजस्वी आवरण को बनाने में मुख्य घटक होते हैं। उस आवरण के साथ आकाश तत्त्व को संयुक्त करके उस यजनशील कण को आच्छादित किया जाता है। **महर्षि दयानन्द म.द.ऋ.भा.१.१६.८** में 'मरुत्' का अर्थ 'धनञ्जय नामक सूक्ष्म प्राण' करते हैं। इससे स्पष्ट है कि फोटोन, इलेक्ट्रॉन आदि को गति देने में धनञ्जय प्राण की ही सर्वाधिक भूमिका होती है। ध्यातव्य है कि सभी प्राथमिक प्राण रश्मियां भी मरुत् संज्ञक ही होती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- विभिन्न कणों के बाहर का तेजजनक आवरण दिव्य वायु, सूत्रात्मा वायु, आकाश तत्त्व के साथ-२ विभिन्न छोटे-२ छन्द रश्मि एवं धनंजय नामक प्राण, **'घृम्'** रश्मियों से बना होता है। यह आवरण कण को सुरक्षित आकार प्रदान करता है, यह आवरण कण के चारों ओर घूमता भी रहता है।।
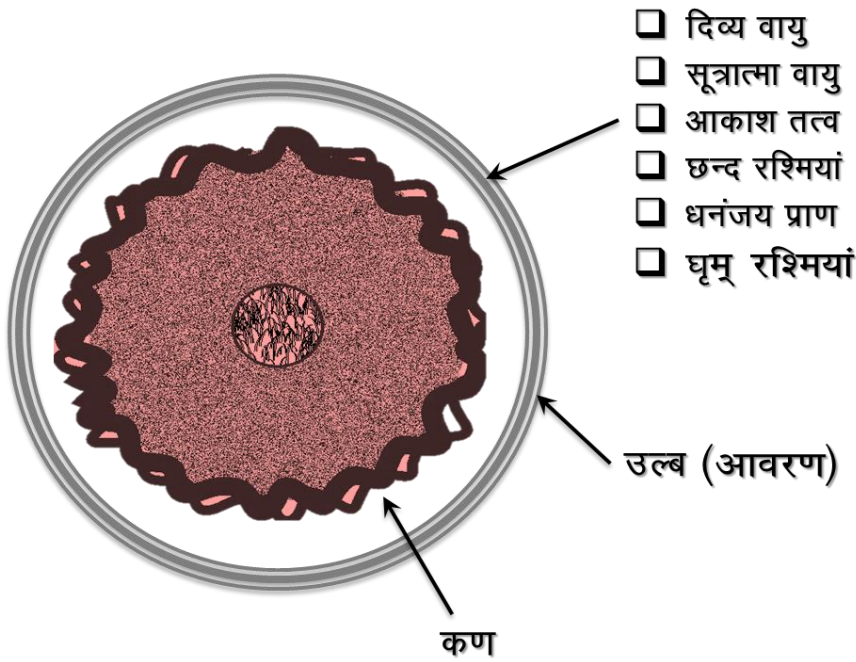
चित्र १.१२ कणों का बाह्य आवरण

१२. कृष्णाजिनमुत्तरं भवति।।

{अजिनम् = जेतुमयोग्यम् (तु.म.द.य.भा.३०.१५)। कृष्णम् = कर्षकम् (म.द.य.भा.१५.६२), आकर्षणकर्त्ता (म.द.ऋ.भा.१.७६.२)। उत्तरम् = उत्तर उद्धततरो भवति (नि.२.११), (अधिक ऊपर को उठा हुआ होता है- इति पं. भगवद्दत्त रिसर्चस्कॉलर भाष्य), उत्तरन्ति येन तत् बलम् (म.द.ऋ.भा.६.१६.१७)}

व्याख्यानम्- उपर्युक्त उल्ब नामक आवरक द्वारा इलेक्ट्रॉन, फोटोन आदि कण कैसे हो जाते हैं, यह रहस्य यहाँ उद्घाटित करते हैं-

उस आवरक तत्त्व के प्रभाव से वे कण श्रेष्ठ तारक आकर्षण बल से युक्त हो जाते हैं, साथ ही वह आवरक घेरा उस कण के क्षेत्र को थोड़ा बढ़ा देता है। उनकी गति अजेय अर्थात् अनियम्य हो जाती है। प्रकाशादि विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की गति अत्यधिक हो जाती है, इसके पीछे इसी आवरक

प्राण तत्त्व की ही महती भूमिका है। इसी कारण विशेष दीप्तियुक्त भी हो जाते हैं। यहाँ यह भी स्पष्ट हो रहा है कि फोटोन्स में दीप्ति व गति के साथ आकर्षण गुण भी विद्यमान होता है। **महर्षि दयानन्द** ने भी अपने **(यजु.भा.१५.६२)** में प्रकाश को आकर्षण बलयुक्त कहा है और यहाँ **महर्षि ऐतरेय महीदास** भी यही संकेत कर रहे हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उपर्युक्तवत् स्पष्ट ही है।।

१३. उत्तरं वा उल्बाज्जरायु जरायुणैवैनं तत् प्रोर्णुवन्ति।।

{जरायुः = (जरते अर्चति कर्मा - निघं.३.१४), जरा स्तुतिर्जरतेः स्तुतिकर्मणः (नि.१०.७)}

व्याख्यानम्- तदनन्तर इलेक्ट्रॉन, फोटोन, आदि कण प्रशंसनीय तेजस्वी आवरण से युक्त हो जाते हैं। यह तेज पूर्वोक्त उल्ब संज्ञक तेजस्वी आवरण के बाहरी भाग में होता है। जिसके कारण यह पूर्वोक्त की अपेक्षा और भी अधिक प्रकाशमान होता है। ध्यातव्य है कि जरायु कोई पृथक् से पदार्थ नहीं है, बल्कि यह उपर्युक्त उल्ब नामक आवरण का अन्तिम परिष्कृत रूप है, जिससे वह कण अपने तेज की उच्चतम अवस्था को प्राप्त कर लेता है। यह उस कण की इस प्रकार से रक्षा करता है, जैसे- जरायुज प्राणियों में भ्रूण की रक्षा जरायु करता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उपर्युक्तानुसार।।

१४. मुष्टी कुरुते।।
मुष्टी वै कृत्वा गर्भोऽन्तः शेते, मुष्टी कृत्वा कुमारो जायते, तद्यन्मुष्टी कुरुते यज्ञं चैव तत्सर्वाश्च देवता मुष्ट्योः कुरुते।।

{मुष्टिः = काशिर्मुष्टिः प्रकाशनात्। मुष्टिर्मोचनाद्वा। मोषणाद्वा। मोहनाद्वा (नि.६.१), राष्ट्रं मुष्टिः (श.१३.२.६.७)। कुमारः = तान्येतान्यष्टौ अग्निरूपाणि, कुमारो नवमः (श.६.१.३.१८), अति चपलो वेगवान् (तु.म.द.य.भा.१७.४८), (कमु कान्तौ, कुमार क्रीडायाम्)}

व्याख्यानम्- तदुपरान्त उपर्युक्त चरणों से गुजरते हुए वे एक ऐसे स्वरूप को प्राप्त करते हैं, जिससे कोई भी फोटोन दो दिशाओं में लगभग समकोण पर कुछ विशेष रश्मियों को उत्सर्जित करता है। उन दिशाओं में उस फोटोन के अन्दर कुछ विशेष प्राणादि देव पदार्थ अव्यक्त रूप से छुपे रहते हैं। जिनको किसी भी प्रकार से इन्द्रियों के द्वारा जानना असंभव है। मानो ये दोनों स्थान उस फोटोन की मुठ्ठी के समान हों।।

इसी खण्ड के प्रारम्भ में वर्णित गर्भ संज्ञक विभिन्न प्रकार के कणों के भीतर विद्यमान दिव्य वायु आदि पदार्थ अपनी दो दिशाओं में विभिन्न शक्तियों को छुपाये हुए शयन करते हैं अथवा विद्यमान रहते हैं। इसका आशय यह है कि जो स्वरूप फोटोन्स का होता है, वही स्वरूप इलेक्ट्रॉन, क्वार्क, न्यूट्रिनो जैसे कणों का भी होता है। इसी प्रकार का स्वरूप 'कुमार' नामक अग्नि का भी होता है। 'कुमार' नामक अग्नि के कण किञ्चित् आकर्षणशील एवं अति चपल वेगवान् होते हैं। ये कण इसी स्वरूप में ही उत्पन्न होते हैं। जब कोई कण फोटोन वा इलेक्ट्रॉन आदि यजनशील होता है अर्थात् किसी अन्य कण से संयुक्त होता है, तब वह अपने दोनों दिशाओं में विद्यमान उन प्राणादि शक्तियों को अपने साथ छुपाये हुए ही किसी अन्य कण से संयुक्त होता है और जब कोई कण इलेक्ट्रॉन वा फोटोन किसी अन्य कण से वियुक्त होता है, तब भी इसी स्वरूप में वियुक्त होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि इनमें से कोई भी कण अपने इसी स्वरूप के कारण ही किसी भी कार्य को करने में

सक्षम होता है। ध्यातव्य है कि यहाँ **'मुष्टि'** शब्द इस रहस्य को उद्घाटित करता है कि ये कण अपने भीतर विभिन्न प्राणादि पदार्थों को एकरस अवस्था में संगृहीत किये हुए नहीं होते हैं, बल्कि उनके अन्दर लगभग समकोण में स्थित दो ऐसे गुप्त केन्द्र विद्यमान होते हैं, जिनमें अव्यक्त शक्तियाँ भरी होती हैं।
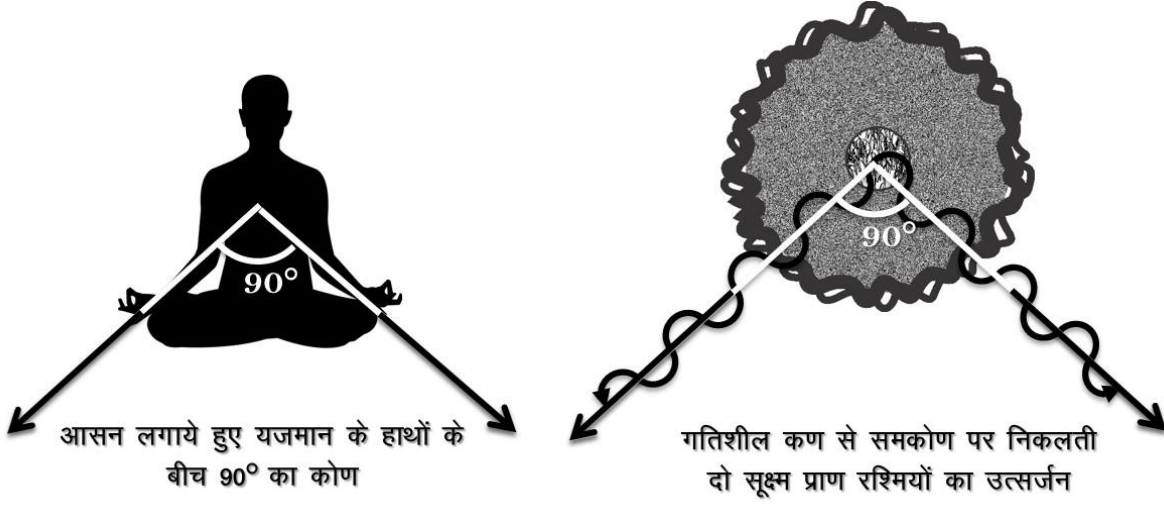
चित्र १.१३

ये कण जहाँ भी जाते हैं, इसी अवस्था में जाते हैं। यहाँ यह बात विशेष ध्यातव्य है कि **महर्षि ऐतरेय महीदास** ने जो उपमा दी है और जिसके आधार पर ही आधियाज्ञिक विद्वान् यजमान से मुट्ठी बंधवाते हैं तथा गर्भ में भ्रूण दोनों मुट्ठी बंद किए रहता है, यह अद्भुत् विज्ञान को दर्शा रहा है।

हम नहीं जानते कि आधुनिक विज्ञान इसे कहाँ तक जानता है? हाँ, हम इतना जानते हैं कि

गर्भ में भ्रूण के हाथों के मध्य 0° का कोण

संयोग की अवस्था में कण से विसर्जित वा गृहीत रश्मियां शान्त हो जाती है किंवा उनके बीच समकोण समाप्त होकर लगभग शून्य अंश का कोण बन जाता है।
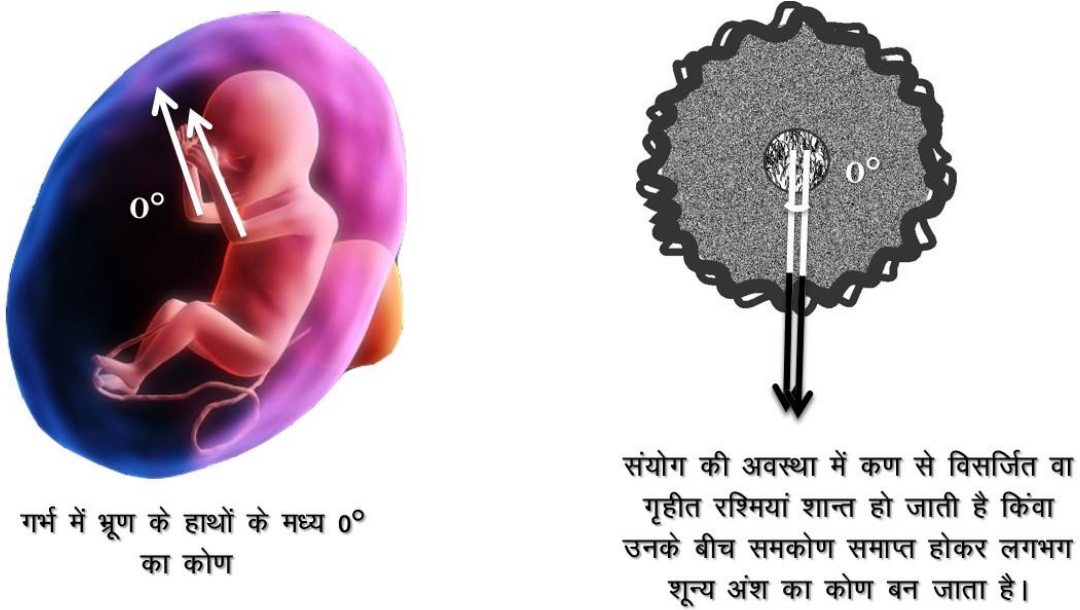
चित्र १.१४

आधुनिक विज्ञान किसी विद्युत् चुम्बकीय तरंग के दोनों ओर वैद्युत क्षेत्र तथा चुम्बकीय क्षेत्र का होना तथा इनका क्रमशः परस्पर लम्बवत् दिशा में परिवर्तित होते हुए चलना स्वीकारता है। ये दोनों प्रकार के क्षेत्र हमारे मॉडल से मेल तो खाते हैं परन्तु वे क्षेत्र परस्पर लम्बवत् दिशा में क्यों बनते हैं, यह ज्ञात नहीं है। हमारी दृष्टि में हमारे मॉडल में दो गुप्त केन्द्रों से अव्यक्त रश्मियों का प्रक्षेपण ही इन वैद्युत व चुम्बकीय क्षेत्र के रूप में होता है। जब यजमान आसन लगाकर घुटनों पर हाथ रख कर मुट्ठी बंद करता है, तब दोनों हाथों के बीच लगभग समकोण ही बनता है। परन्तु जब भ्रूण गर्भ में

होता है, तब मुट्ठियों के बीच यह कोण न्यून होकर लगभग मिल सी जाती है, इस तुलना से **कण भौतिकी का महान् रहस्य प्रकट होता है। वह यह है कि जब कोई कण स्वतंत्र गति करता है,** तब दोनों गुप्त शक्ति केन्द्रों के बीच लगभग समकोण होता है एवं जब वह किसी अन्य कण से संयुक्त हो जाता है, तब इनके मध्य कोण अति संकुचित होकर वे केन्द्र परस्पर निकट आ जाते हैं। हमारे विचार से इन शक्ति केन्द्रों के कोण परिवर्तन किंवा परस्पर स्थान परिवर्तन की क्रिया को धनञ्जय नामक प्राण संचालित करता है और ऐसा करते हुए वह धनंजय प्राण इन्हें गतिशील बनाए रखता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- कोई भी फोटोन अपने भीतर दो परस्पर लम्बवत् दिशाओं में कुछ ऐसी रश्मियों का ग्रहण व विसर्जन करता है, जिन्हें किसी तकनीक से पहचानना सम्भव नहीं है, इन दिशाओं में फोटोन के अन्दर ऐसे गुप्त शक्ति केन्द्र होते हैं, जो उन रश्मियों का ग्रहण व विसर्जन करते हैं, यही स्थिति इलेक्ट्रॉन आदि कणों की भी होती है, जब ये कण किसी अन्य कण से संयोग करते हैं, तो इन दिशाओं में विद्यमान विसर्जित वा गृहीत रश्मियां शान्त हो जाती है किंवा उनके बीच समकोण समाप्त होकर लगभग शून्य अंश का कोण बन जाता है, यही स्थिति उनके संयुक्त रहने तक होती है, समकोण वाली स्थिति मुक्त-गतिशील अवस्था में रहती है।।

१५. तदाहुर्न पूर्वदीक्षिणः संसवोऽस्ति, परिगृहीतो वा एतस्य यज्ञः, परिगृहीता देवता नैतस्याऽऽर्तिरस्त्यपरदीक्षिण एव यथा तथेति।।

{संसवः = (सम्+सवः = सवः = यज्ञ इति आप्टे), सवनं यज्ञनाम (निघं.३.१७), संग्रामः (तु.म.द.य.भा.६.६)। आर्तिः = आ+ऋ+क्तिन् - कष्ट, विध्वंस इति आप्टे}

व्याख्यानम्- यहाँ महर्षि कहते हैं कि पूर्वोक्तानुसार जब कोई कण यजनशील होता है, उस स्थिति में उसके द्वारा संगतीकरण की क्रिया सर्वतः सम्पन्न की जाती है अर्थात् वह पूर्ण सक्रिय होकर विभिन्न कार्यों को सम्पन्न करता है। उसकी संयोग वियोग की प्रक्रिया भी तेज होती है। उस कण के अन्दर विविध प्राणादि देव पदार्थ सम्यक् प्रकारेण संगृहीत रहते हैं तथा जब वह किसी से संयोग कर रहा होता है, उसी समय उसी कण से कोई अन्य कण संयुक्त नहीं हो सकता। इसका कारण भी पूर्वोक्त दो केन्द्रों का होना है। जब कोई एक फोटोन किसी एक इलेक्ट्रॉन से टकराता है, तब उसी समय उसी इलेक्ट्रॉन से दूसरा कोई और फोटोन नहीं टकरा सकता। इस प्रकार इस घटना में दो फोटोन्स का परस्पर संघर्ष वा संयोग कभी नहीं हो सकता। यहाँ इसका कारण फोटोन का पूर्वोक्त स्वरूप वाला होना ही है। इसी प्रकार कोई एक इलेक्ट्रॉन जब किसी अन्य आयन की किसी कक्षा विशेष में जाता है, तब उसी समय कोई अन्य इलेक्ट्रॉन उसी कक्षा व स्थिति को कभी नहीं प्राप्त कर सकता अर्थात् इलेक्ट्रॉन का भी परस्पर संघर्षण नहीं हो सकता। इसके साथ ही यह भी एक सत्य है कि किसी भी आयन से पहले इलेक्ट्रॉन का संयुक्त होना जितना सहज है उतना दूसरे का नहीं। उधर यदि किसी इलेक्ट्रॉन से यदि कोई फोटोन टकराता है और उसके पश्चात् दूसरा फोटोन उसी इलेक्ट्रॉन से टकराता है, तो इलेक्ट्रॉन पूर्व की अपेक्षा अधिक क्षोभ को प्राप्त हो सकता है। किसी एटम के नाभिक से उत्सर्जित होने वाले कणों के विषय में भी यही व्यवस्था समझनी चाहिए।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- फोटोन, इलेक्ट्रॉन आदि की पूर्वोक्त विशिष्ट रचना के कारण **एक इलेक्ट्रॉन से एक समय में एक से अधिक फोटोन एक साथ संयोग नहीं कर सकते।*** **इसी प्रकार किसी आयन से एक समय में एक साथ एक से अधिक इलेक्ट्रॉन संयोग नहीं कर सकते। किसी आयन से संयोग करने वाले इलेक्ट्रॉनों में पहला इलेक्ट्रॉन जिस सहजता से संयोग करता है, उस सहजता से उसके पश्चात् संयोग करने वाले इलेक्ट्रॉनों में से कोई भी संयोग नहीं कर सकता,** इसी प्रकार इलेक्ट्रॉन से फोटोन के उत्सर्जन एवं किसी इलेक्ट्रॉन के उत्सर्जन की प्रक्रिया भी समझी जा सकती है।।

* "A single photon carries an energy hf into the emitter, where it is essentially transferred to single electron." -Physics (Halliday.Resnick.Krane) Vol 2 Pg. No. 1020

१६. उन्मुच्य कृष्णाजिनमवभृथमभ्यवैति, तस्मान्मुक्ता गर्भा जरायोर्जायन्ते।।

{अवभृथः = अवभृथः तद् यदपोऽभ्यवहरन्ति तस्मादवभृथः (श.४.४.५.१), अव = विनिग्रहार्थे (नि.१.३), क्रियार्थे (म.द.ऋ.भा.१.२४.१४), पृथक्करणे (म.द.ऋ.भा.१.२४.१३)}

व्याख्यानम्– जब कोई इलेक्ट्रॉन व फोटोन आदि कण अवभृथ क्रिया करता है अर्थात् वह विभिन्न अन्य कणों से संयुक्त होता है। उस समय वह अपने आच्छादक तेजस्वी एवं आकर्षण करने वाले आवरण को त्याग देता है। इसी कारण जैसे ही कोई फोटोन किसी इलेक्ट्रॉन से संयुक्त होता है, तो उसकी तीव्र गति एवं दीप्ति आदि उस इलेक्ट्रॉन की गति आदि में समाहित होकर अति मन्द पड़ जाती है। इसी प्रकार बाहर से आने वाली इलेक्ट्रॉन तरंगें किसी आयन वा एटम से टकराती हैं, तो अपनी गति, दीप्ति आदि को उस आयन वा एटम को देकर अति मन्द पड़ जाती हैं। इसी प्रकार जब कोई कण अपने प्रति कण से संयोग करता है, तो उन कणों का पूर्व आवरण एवं बल आदि अत्यन्त मन्द होकर एक नवीन कण में परिवर्तित हो जाते हैं। इसके विपरीत क्रिया में भी यही देखा जाता है। जैसे-कोई आयन, कण-प्रतिकण आदि परस्पर पृथक् होते हैं, तो उनका बन्धक आवरक बल समाप्त हो जाता है। इस प्रक्रिया के कारण प्रत्येक गर्भरूपी कण, जो अपने अन्दर विभिन्न प्राणादि तत्त्वों को समेटे हुए होता है, पूर्वोक्त जरायु संज्ञक बाहरी एवं उच्चतम तेज के आवरण को त्याग कर ही जन्म लेता है। इसका आशय यह है कि उस तेज को त्याग कर ही अगली प्रक्रिया को सम्पन्न करता है। यहाँ उपमा भी बहुत यथार्थ प्रतीत होती है कि लोक में जिस प्रकार कोई जरायुज प्राणी का भ्रूण अपनी माता के गर्भ से बाहर आता है, तो वह जरायु को त्यागे हुए ही आता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार– जब कोई इलेक्ट्रॉन अथवा फोटोन किसी अन्य कण से संयुक्त होता है, तो उसके बाहरी आवरण रूप में विद्यमान दीप्ति, बल आदि मन्द पड़कर दूसरे कण से संयुक्त हो जाता है और गति भी मन्द पड़ जाती है। दीप्ति, बल आदि का यह आवरण मुक्त एवं स्वतन्त्र गतिशील अवस्था में ही पूर्ण रूप से विकसित होता है और संयोग के समय ये आवरण दुर्बल हो जाता है।।

१७. सहैव वाससाऽभ्यवैति, तस्मात् सहैवोल्बेन कुमारो जायते।।३।।

व्याख्यानम्– उपर्युक्त संयोग-वियोग की प्रक्रिया के विषय में और स्पष्टीकरण देते हुए लिखते हैं कि संयोग और वियोग की प्रक्रिया में तेज और बल का आवरण पूर्णतः नष्ट नहीं होता बल्कि उसका सबसे ऊपरी सर्वाधिक तेजस्वी आवरण ही नष्ट होता है। जबकि **"वासः"** नामक आवरण जिसकी चर्चा इसी खण्ड में **"वाससा प्रोर्णुवन्ति"** में की गई है, उससे कोई भी कण कभी मुक्त नहीं होता। उस आवरण के साथ ही वह कण आयु भर रहता है। इसी आवरण को 'उल्ब' संज्ञा भी दी है। इसी आवरण के साथ ही पूर्वोक्त **'कुमार'** नामक अग्नि भी उत्पन्न होता है। उपमा की दृष्टि से लोक में भी जरायुज प्राणी भले ही जरायु से पृथक् होकर जन्म लेते हैं पुनरपि वे आवरक एक पतली सी झिल्ली से मुक्त नहीं होते हैं। इसी प्रकार संयुक्त होने वाला कोई भी कण किसी अन्य कण से संयुक्त होते समय अपने तेज और बल से भले ही मुक्त प्रतीत होता हो, पुनरपि उसके साथ उसका तेज और बल अन्य कण के तेज और बल के साथ संयुक्त रूप से सदैव विद्यमान रहता है। यदि ऐसा न होता, तो उस कण के वियुक्त होते समय पूर्ववत् तेज और बल का आवरण कदापि प्राप्त नहीं हो सकता था।।

वैज्ञानिक भाष्यसार– संयोग-वियोग की उपर्युक्त प्रक्रिया में पूर्वोक्त आवरण पूर्ण नष्ट कभी नहीं होता बल्कि वह कण की आयु भर तक उसके साथ ही विद्यमान रहता है। पुनरपि वह आवरण क्षीण अवश्य हो जाता है, जैसे मानो इन कणों के चारों ओर दो आवरण विद्यमान रहते हों, जिनमें से एक आवरण किसी कण की गति और तेज आदि की तीव्रता सुनिश्चित करता है और दूसरा अतिसूक्ष्म आवरण

ऊपरी आवरण को गृहीत वा विसर्जित करने में विशेष भूमिका निभाता हुआ किसी भी कण की विशिष्टता को संरक्षित रखता है। यदि यह आवरण भी संयोग के समय समाप्त हो जाता, तो विभिन्न कणों के वियोग के समय पूर्व कण कभी प्रकट नहीं हो सकते थे। ध्यातव्य है कि कणों के वियोग के समय सूक्ष्म वाला आवरण क्षीण हुए आवरण को पुनः उत्पन्न करके कण के साथ बाहर आता है, जिससे उस कण का पूर्ववत् तेज, बल, गति प्रकट हो जाते हैं।
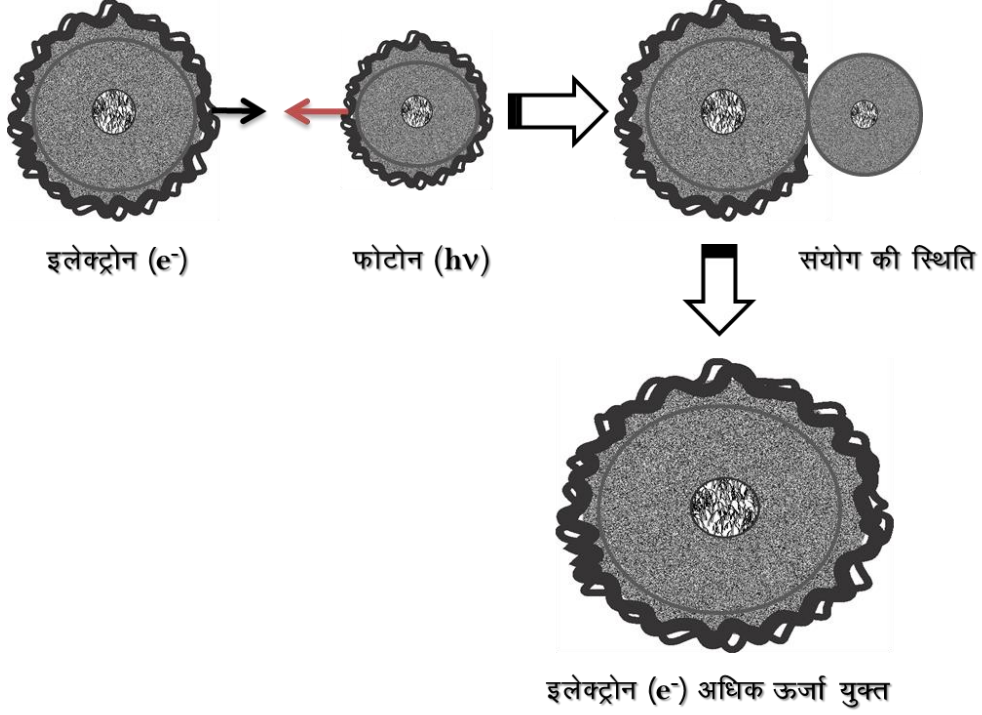
चित्र १.१५ इलेक्ट्रॉन (e-), फोटोन (hν) का संयोजन

❧ इति १.३ समाप्तः ☙

ॐ अथ १.४ प्रारभ्यते ॐ

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. 'त्वमग्ने सप्रथा असि' 'सोम यास्ते मयोभुव' इत्याज्यभागयोः पुरोनुवाक्ये अनुब्रूयाद्यः पूर्वमनीजानः स्यात् तस्मै।।

{पुरोऽनुवाक्या = प्राण एव पुरोऽनुवाक्या (श.१४.६.१.१२), पृथिवी-लोकमेव पुरोऽनुवाक्यया जयति (श.१४.६.१.६)। ईजानः = यजमानः (म.द.ऋ.भा.७.५६.२)। पूर्वम् = पुरस्सरं पूर्णम् (म.द.य.भा.१३.४३)। अत्रिः = सततं गामी (म.द.ऋ.भा.१.१८३.५), वागेवात्रिः (श. १४.५.२.६)। सुतः = सोमः (तु.नि.५.२२)। गोतमः = अतिशयेन स्तोता (तु.म.द.ऋ.भा. १.७६.१०; तु.निघं.३.१६), अतिशयेन गन्ता (तु.म.द.ऋ.भा.१.८५.११)। रहूगणाः = रहवोऽधर्मत्यागिनो गणाः सेविता यैस्ते (म.द.ऋ.भा.१.७८.५)}

व्याख्यानम्- यहाँ **महर्षि ऐतरेय महीदास** कुछ अन्य विद्वानों के मत को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि जो कण पूर्ण रूप से यजनशील नहीं होते हैं अर्थात् संयोग-वियोग की प्रक्रिया जिनकी बाधित होती रहती है, ऐसे कणों को पूर्ण सक्रिय करके संयोग-वियोग आदि प्रक्रिया को सफल बनाने के लिए दो छन्द रूप प्राणों की उत्पत्ति होती है। वे छन्द प्राण हैं-

> **त्वमग्ने सप्रथा असि जुष्टो होता वरेण्यः। त्वया यज्ञं वि तन्वते।।४।। (ऋ.५.१३.४)**
> **सोम यास्ते मयोभुव ऊतयः सन्ति दाशुषे। ताभिर्नोऽविता भव।।६।। (ऋ.१.९१.९)**

इनमें से प्रथम छन्द निचृद् गायत्री तथा अग्निदेवताक है। जिसकी उत्पत्ति 'सुतम्भर आत्रेयः' नामक ऋषि प्राणों से होती है। इससे स्पष्ट होता है कि यह छन्द रूप तरंग वाक् तत्त्व से उत्पन्न सतत गतिशील रहने वाले, सोम तत्त्व (शीतल मन्द गति से चलने वाले वायु) का धारण और पोषण करने वाले सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न एक प्राण विशेष से उत्पन्न होती है। इसके प्रभाव से उस कण का भेदक शक्तिसम्पन्न तेज और बल, जो वैद्युत प्रभाव एवं उष्णतायुक्त होता है, समृद्ध होता है। इस छन्द के विभिन्न पदों के प्रभाव से भी संयोग-वियोग की प्रक्रिया श्रेष्ठ रूप से विस्तृत होती है। छन्द रश्मि **"सोम यास्ते मयोभुव....."** की उत्पत्ति 'रहूगणपुत्रो गोतमः' ऋषि प्राण से होती है। इसका तात्पर्य है कि इस छन्द रूप प्राण की उत्पत्ति धारण शक्तिसम्पन्न (अधर्म अर्थात् धारण शक्ति की हीनता को त्यागने वाले), तीव्रगतिशील और प्रकाशमान (हमारी दृष्टि में) धनञ्जय प्राण से होती है। इसका देवता सोम तथा छन्द निचृद् गायत्री है। जिसके प्रभाव से पूर्ववत् भेदक शक्तिसम्पन्न बल और तेज की उत्पत्ति होती है एवं मन्द गतिशील वायुरूप सोम सक्रिय होता है। इन दोनों छन्द रूप प्राणों को आज्य भाग की पुरोऽनुवाक्या कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि ये दो मन्त्र संदीप्त तेज को बढ़ाने वाले प्राण के रूप में होते हैं, जिनके आश्रय से सोम तत्त्व पर नियन्त्रण करके अथवा ऋणावेशित कणों को अपनी ओर आकर्षित करके संयोग प्रक्रिया गतिशील होती है। इनके द्वारा सोम तत्त्व को नियन्त्रित रखने के लिए पहले आकाश महाभूत को नियन्त्रित किया जाता है और वह आकाश महाभूत अपने साथ सोम तत्त्व को आकर्षित कर लेता है, क्योंकि सोम तत्त्व आकाश तत्त्व में ही निवास करता है। इसीलिए कहा- **"इयं वै सोमस्य योनिरस्याः सोमोऽधि जायते" (मै.४.५.५)**। यहाँ **'इयं'** पद का तात्पर्य है पृथिवी अर्थात् अन्तरिक्ष, क्योंकि **"पृथिवीत्यन्तरिक्षनामसु पठितम्" (निघं.१.३)**।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सृष्टि प्रक्रिया में यदि कुछ कण संयोग-वियोग की प्रक्रिया में किसी बाधा के कारण सफल नहीं होते हैं, तो उस समय उपर्युक्त दो ऋचा रूपी तरंगों की उत्पत्ति होती है, जिसके कारण तेज, बल, ऊष्मा आदि की वृद्धि होकर संगतीकरण की प्रक्रिया तीव्र व सफल होती है, ऐसा मत कुछ विद्वानों का है। ग्रन्थकार इससे सहमत नहीं है, जिसका स्पष्टीकरण आगे किया जायेगा।।

२. त्वया यज्ञं वितन्वत इति यज्ञमेवास्मा एतद् वितनोति।।

व्याख्यानम्- उपर्युक्त प्रथम ऋचा का तृतीय पाद **"त्वया यज्ञं वितन्वते"** के द्वारा संगतीकरण अर्थात् संयोग-वियोग की प्रक्रिया तेज एवं विस्तृत होती है, ऐसा मत भी उन्हीं उपर्युक्त विद्वानों का है, **महर्षि ऐतरेय महीदास** का नहीं।।

३. 'अग्निः प्रत्नेन मन्मना', 'सोम' गीर्भिष्ट्वा वयम्' इति यः पूर्वमीजानः स्यात् तस्मै।।
प्रत्नमिति पूर्वं कर्माभिवदति।।

{प्रत्नः = कारणरूपेणाऽनादिः (तु.म.द.ऋ.भा.१.३६.४), प्रत्नः पुराणः (नि.१२.३२), स्वर्गो वै लोकः प्रत्नः (तै.ब्रा.१.५.७.१), (स्वर्गो वै लोको यज्ञः - कौ.ब्रा.१४.१), अपरिमितो वै स्वर्गो लोकः (ऐ.६.२३)}

व्याख्यानम्- यह मत भी अन्य विद्वानों का है, जिसको **महर्षि ऐतरेय महीदास** उद्धृत कर रहे हैं कि जब कोई कण किसी अन्य कण से संयोग कर लेता है, उसके पश्चात् उस संयोगीकरण प्रक्रिया को अधिक विस्तार देने के लिए दो ऋक् छन्दों की उत्पत्ति होती है। जिनमें से प्रथम अग्निदेवताक एवं विराड् गायत्री छन्दस्क है, जो विरूप आङ्गिरस नामक ऋषि प्राण से उत्पन्न होता है। इसका तात्पर्य यह है कि छन्द रूपी तरंग विविध रूप वाले सूत्रात्मा वायु **(अङ्गिरा = सूत्रात्मा प्राण - तु.म.द.य.भा.२७.४५; प्राणो वा अङ्गिराः - श.६.१.२.२८)** के विकार रूप प्राण अथवा सूत्रात्मा वायु से ही उत्पन्न होती है। इसके प्रभाव से ऊष्मा, वैद्युत बल, विशेषकर तेज आदि समृद्ध होते हैं। यह प्रथम ऋचा है-

अग्निः प्रत्नेन मन्मना शुम्भानस्तन्वं१ स्वाम्। कविर्विप्रेण वावृधे।।१२।। (ऋ.८.४४.१२)

इसका देवता अग्नि तथा छन्द विराड् गायत्री होने से अग्नि तत्त्व विशेष प्रकाशित होता है। इसके अन्य प्रभाव से क्रान्तदर्शी अग्नि तत्त्व सनातन मनस्तत्त्व के द्वारा अपने विस्तार को सुशोभित करता हुआ विप्र अर्थात् सूत्रात्मा वायु के द्वारा समृद्ध होता है। दूसरी ऋचा है-

सोम गीर्भिष्ट्वा वयं वर्धयामो वचोविदः। सुमृळीको न आ विश।।११।। (ऋ.१.९१.११)

इस ऋचा का देवता सोम, छन्द निचृद् गायत्री एवं ऋषि राहूगणपुत्र गोतम है। इसका छान्दस व दैवत प्रभाव और स्वरूप पूर्व पृष्ठ के अनुसार समझें । इसके अन्य प्रभाव से उत्तम प्रभावयुक्त सोम रश्मियां विभिन्न परमाणु आदि पदार्थों में प्रविष्ट होकर विभिन्न वाग् रश्मियों के द्वारा उन्हें समृद्ध करती हैं।।

प्रथम ऋचा में **'प्रत्नम्'** शब्द से पूर्व में हुई संयोग-वियोग प्रक्रिया सतत विस्तृत होती जाती है अर्थात् उसे सब ओर से गति प्राप्त होती है। **(वदति गतिकर्मा - निघं.२.१४ - वै.को. से उद्धृत)**।।

४. तत्तन्नाऽऽदृत्यम्।।
'अग्निर्वृत्राणि जङ्घनत्', 'त्वं सोमासि सत्पतिः' इति वार्त्रघ्नावेव कुर्यात्।।

{वृत्रम् = प्रकाशाऽऽवरकं मेघम् (म.द.य.भा.३३.२६), वृत्रः मेघनाम (निघं.१.१०), वृत्रो वृणोतेर्वा वर्त्ततेर्वा वर्धतेर्वा। यदवृणोत्तदु वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते। यदवर्त्तत तदु वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते। यदवर्धत तदु वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते (नि.२.१७), पाप्मा वै वृत्रः (श.११.१.५.७), वृत्रो वै सोम आसीत् (श.३.४.३.१३)}

व्याख्यानम्- उपर्युक्त दोनों मत आदरणीय नहीं है। यहाँ **महर्षि ऐतरेय महीदास** यह कहना चाहते हैं कि उपर्युक्त परिस्थितियों में उपर्युक्त ऋचाओं का उत्पन्न होना आवश्यक नहीं है। इनके स्थान पर निम्नलिखित दो ऋचाएँ उत्पन्न अवश्य होती है।।

वे दो ऋचाएँ इस प्रकार हैं-

अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद् द्रविणस्युर्विपन्यया। समिद्धः शुक्र आहुतः।। (ऋ.६.१६.३४)
त्वं सोमासि सत्पतिस्त्वं राजोत वृत्रहा। त्वं भद्रो असि क्रतुः।। (ऋ.१.९१.५)।

इसमें प्रथम ऋचा बार्हस्पत्य भरद्वाज नामक ऋषि प्राण से उत्पन्न होती है। इस प्राण के विषय में १.१.१० में देखें, इसका देवता अग्नि व छन्द गायत्री है। इसके प्रभाव से ऊष्मा, तेज और बल समृद्ध होते हैं। द्वितीय ऋचा राहूगणपुत्रो-गोतम नामक ऋषि प्राण से उत्पन्न होती है। इसके विषय में १.४.१ में देखें। इसका देवता सोम व छन्द पादनिचृद् गायत्री है। इसके प्रभाव से सोमतत्त्व तीव्र तेजयुक्त होकर वृत्र नामक आसुर मेघ को नष्ट करता तथा विभिन्न संसर्ग क्रियाओं को समुचितरूपेण सम्पन्न करता हुआ नाना पदार्थों का रक्षक होता है। इन ऋचाओं में **"वृत्राणि जङ्घनत्"** एवं **"वृत्रहा"** पद विद्यमान होने से ये ऋचाएं संयोग प्रक्रिया में बाधक बनने वाले वृत्ररूप आवरक मेघतुल्य आसुर तत्त्व, जो अप्रकाशित वायु का रूप होता है, को नष्ट करने में सहयोग करती हैं। असुर तत्त्वों की वैज्ञानिक विवेचना पूर्वपीठिका में देखें। इन उपर्युक्त छन्द रश्मियों का अन्य प्रभाव क्रमशः निम्नानुसार है-
(१) अग्नि के परमाणु आशुगामी, सम्यक् प्रदीप्त व तीव्ररूप धारण करके आवरक आसुर पदार्थ को नष्ट करके **{विपन्यया = विशिष्टोद्यमेन (म.द.भा)}** नाना परमाणुओं को सब ओर से आकर्षित करते हैं।

(२) विभिन्न सोम रश्मियां अविनाशी प्राण रश्मियों द्वारा पालित व रक्षित होकर तीव्र प्रकाश व बल से युक्त वृत्र अर्थात् आवरक आसुर तत्त्व को नष्ट करके नाना अनुकूल कर्मों को करने में समर्थ होती हैं।

इन दोनों ही ऋचाओं में बाधक आसुर तत्त्व को नष्ट करने का विशेष सामर्थ्य विद्यमान है, जबकि पूर्वोक्त दोनों मतों में दर्शायी छन्द रश्मियों में यह सामर्थ्य नहीं है, इस कारण इन्हीं छन्द रश्मियों की उत्पत्ति ही यहां आवश्यक व प्रासंगिक है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब विभिन्न कणों का परस्पर संयोग होने वाला होता है, तब उनके बीच वृत्र नामक अप्रकाशित सूक्ष्म वायु का मेघ तुल्य घेरा उसमें बाधक बनने लगता है। यह तत्त्व सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। उस समय अर्थात् संयोग के समय उस वृत्र नामक पदार्थ की बाधा दूर करने में इन दो ऋक् रूपी तरंगों की महती भूमिका होती है, जिससे संयोगादि प्रक्रिया निर्विघ्न व सतत वर्धमान व विस्तृत होती चली जाती है। यहाँ वृत्र नामक अप्रकाशित सूक्ष्म पदार्थ के स्वरूप को पूर्वपीठिका में जानें। यहां वृत्र नामक आवरक आसुर पदार्थ वर्तमान विज्ञान का dark matter अथवा dark energy समझा जा सकता है।।

५. वृत्रं वा एष हन्ति यं यज्ञ उपनमति तस्माद् वार्त्रघ्नावेव कर्त्तव्यौ।।

{उप+नम् = उपस्थित करना, प्रस्तुत करना (इति आप्टे)}

व्याख्यानम्– जब विभिन्न कणों में परस्पर संयोग होने वाला होता है और इसके लिए दो कण सामीप्य प्राप्त करने हेतु झुकते हैं, उसी समय वहाँ विद्यमान वृत्र संज्ञक अप्रकाशित वायु उन कणों के संयुक्त होने में बाधा उपस्थित करता है। इस कारण उस समय ऐसी तरंगों की आवश्यकता होती है, जो वज्ररूप बनकर उस वृत्र रूप वायु को नष्ट कर सके अथवा दूर कर सकें। यह काम ये दो ऋक् रूपी प्राण करते हैं, इसलिए वृत्र पदों से युक्त इन प्राणों की ही उत्पत्ति होती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार– जब कोई दो कण परस्पर संयोग करते हैं, तो उस संयोग क्रिया में अप्रकाशित हिंसक विद्युत् युक्त वायु बाधा डालता है, उस बाधा को दूर करने के लिए उपर्युक्त दो ऋग्रूप तरंगों की उत्पत्ति होती है, जिनके कारण ही संयोग सम्भव हो पाता है। व्याख्यान भाग में वर्णित छन्द रश्मियां dark energy के दुष्प्रभाव (प्रतिकर्षक-प्रक्षेपक प्रभाव) को दूर करने में सक्षम होती हैं। इस कारण संयोग प्रक्रिया में इन छन्द रश्मियों की उत्पत्ति आवश्यक है।।
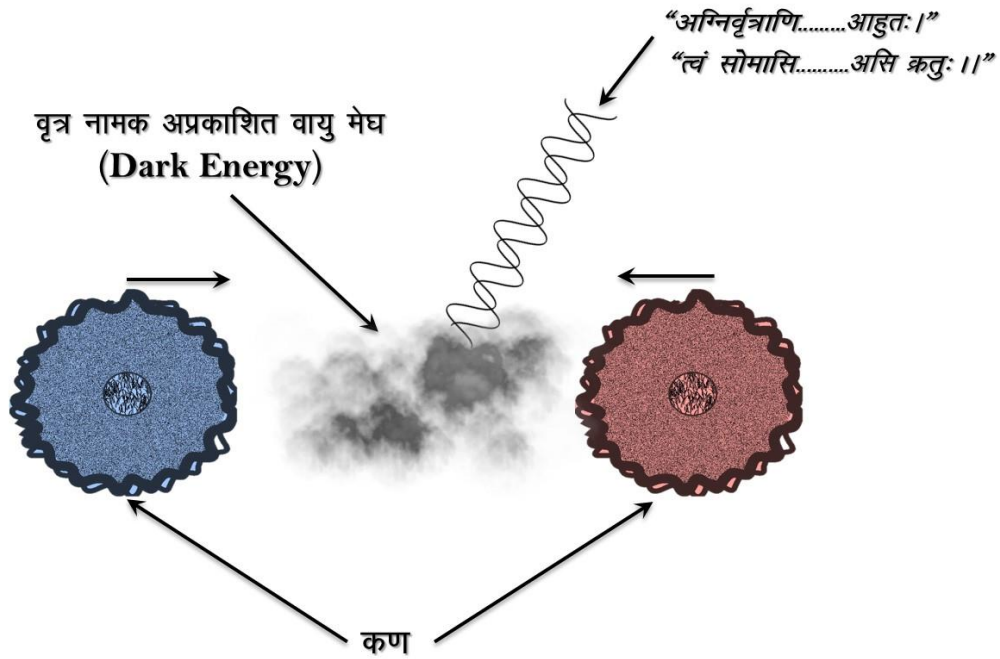
चित्र १.१६ ऋग्रूप तरंगों द्वारा कणों के संयोग में अप्रकाशित हिंसक विद्युत् युक्त वायु की बाधा को दूर करने की प्रक्रिया

६. अग्निर्मुखं प्रथमो देवतानामग्निश्च विष्णो तप उत्तमं मह इत्याग्नावैष्णवस्य हविषो याज्यानुवाक्ये भवतः।।

{याज्याः = यजूँषि याज्याः (काठ.११.१०), वृष्टिर्वै याज्या (ऐ.२.४१), यज्ञक्रियाः (तु.म.द.य.भा.२०.१२)}

व्याख्यानम्– तदुपरान्त दो ऋग् रूप छन्द प्राणों की उत्पत्ति होती है, वो निम्नानुसार हैं-

अग्निर्मुखं प्रथमो देवतानां संगतानामुत्तमो विष्णुरासीत्।
यजमानाय परिगृह्य देवान् दीक्षयेदं हविरागच्छतं नः।।१।।

अग्निश्च विष्णो तप उत्तमं महो दीक्षापालाय वनतं हि शक्रा।

विश्वैर्देवैर्यज्ञियैः संविदानौ दीक्षामस्मै यजमानाय धत्तम्।।२।।

ये दोनों मंत्र किसी भी वेद संहिता में वर्त्तमान में उपलब्ध नहीं हैं, परन्तु **आश्वलायन श्रौतसूत्र ४.२.३** में विद्यमान हैं। इस विषय में हमारा मत पूर्वपीठिका में द्रष्टव्य है। इन मंत्रों का देवता **आश्वलायन श्रौतसूत्र ४.२.२** के अनुसार **'अग्नाविष्णू'** है तथा इसको वहाँ धाय्या संज्ञक ऋचाएँ कहा है। इधर **महर्षि ऐतरेय महीदास** ने इन्हें याज्या और अनुवाक्या नाम दिया है। **आश्वलायन श्रौतसूत्र ३.७.३** के अनुसार- **''सर्वेषामग्रेऽग्रेऽनुवाक्यास्ततो याज्याः''** अर्थात् सर्वत्र ही पहली ऋचा अनुवाक्या और दूसरी याज्या कहाती है। उधर **तैत्तिरीय संहिता २.६.२.३** के अनुसार- **''पुरस्ताल्लक्ष्मा पुरोऽनुवाक्या भवति, जातानेव......। उपरिष्टाल्लक्ष्मा याज्या, जनिष्यमाणानेव इति''।** इन ऋचाओं का छन्द क्रमशः त्रिष्टुप् और भुरिक् त्रिष्टुप् है। **{भुरिक् = धारक एवं पोषक (तु.म.द.ऋ.भा.४.२.१४ एवं भुरिजौ बाहुनाम - निघं.२.४)}** **तैत्तिरीय संहिता** के प्रमाण से यह भी स्पष्ट है कि पुरोऽनुवाक्या को ही अनुवाक्या कहा जाता है। यह पुरोऽनुवाक्या प्रथम उत्पन्न होने वाली होती है तथा बाद में उत्पन्न होने वाली ऋचा को याज्या कहते हैं। इसमें पहला छन्दरूप प्राण पुरोऽनुवाक्या संज्ञक होने से आकाश तत्त्व को नियन्त्रित रखने में सहायक होता है। पुरोऽनुवाक्या की वैज्ञानिकता जानने के लिए **१.४.१** देखें। उधर दूसरा ऋग् रूप छन्द प्राण याज्या संज्ञक होने से संगतीकरण की क्रिया को बढ़ाने वाला होता है। मानो यह प्रथम क्रिया को ही उत्प्रेरित करता है। ये दोनों ऋचाएँ क्योंकि धाय्या संज्ञक भी कही गई हैं, इस कारण ये ऋचाएँ उपर्युक्त वृत्रघ्न नामक दोनों ऋचाओं के मध्य में धारण की जाती हैं, जिसमें वृत्रघ्न ऋचाओं का कार्य अधिक गति से सम्पन्न होता है। इनके दैवत प्रभाव से अग्निविष्णू अर्थात् विद्युत् बल, ऊष्णता, प्रकाश, संगतीकरण की क्रिया तेज होती है। इनका छान्दस प्रभाव बल और तेज को और भी तीव्र, भेदक और धारक स्वरूप प्रदान करता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त ऋचा रूप तरंगों के कार्य को और अधिक गतिशील बनाने के लिए व्याख्यान में दर्शायी गयी दो छन्दरूप तरंगों की उत्पत्ति पूर्व दोनों तरंगों के मध्य स्थित अवकाश में होती है। वे मध्य उत्पन्न दोनों तरंगें आकाश तत्त्व को संकुचित करके दो कणों के मध्य होने वाली संगतीकरण क्रिया को गति प्रदान करती हैं।

७. आग्नावैष्णव्यौ रूपसमृद्धे एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृगभिवदति।।

{रूपम् = रूपं हिरण्यम् (मै.४.८.२), रूपं रोचतेः (नि.२.३), रौति शब्दयतीति रूपम् (उ.को.३.२८)}

व्याख्यानम्- उपर्युक्त अग्निविष्णू-देवताक दोनों ऋचाएँ रूपसमृद्ध कहलाती हैं। रूपसमृद्धि की परिभाषा महर्षि दो प्रकार से बतलाते हैं (१) संगतीकरण की प्रक्रिया ही रूपसमृद्धि कहलाती है। (२) जो भी क्रिया हो रही होती है, वैसा ही मंत्र में वर्णित होता है, यह साम्य भी रूपसमृद्धि कहलाता है। उपर्युक्त दोनों ऋचाओं में अग्नि और विष्णु को क्रमशः प्रथम एवं उत्तम देवता माना है। इधर संयोग क्रिया में भी प्रथम अग्नि अर्थात् तेज, बल और ऊष्मा की समृद्धि होती है। तदुपरान्त विष्णु अर्थात् संगतीकरण की समृद्धि होती है और इन मंत्रों से ही यजनशील कण व्यापक स्तर पर सृष्टियज्ञ को समृद्ध करते हैं, ऐसा ही मंत्रों में भी कहा गया है। इस कारण ये दोनों मंत्र रूपसमृद्ध कहे गये हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- कुछ विशेष नहीं है।

८. अग्निश्च ह वै विष्णुश्च देवानां दीक्षापालौ, तौ दीक्षाया ईशाते, तद्यदाग्नावैष्णवं हविर्भवति

यौ दीक्षाया ईशाते तौ प्रीतौ दीक्षां प्रयच्छतां यौ दीक्षयितारौ तौ दीक्षयेतामिति।। त्रिष्टुभौ भवतः सेन्द्रियत्वाय।।४।।

{इन्द्रियम् = प्राणा इन्द्रियाणि (तां.२.१४.२), दिव्यां वाचम् (म.द.य.भा.१६.७३), इन्द्रियं वै वीर्यं पृष्ठानि (मै.१.११.६; जै.ब्रा.१.२५४), प्रजा वा इन्द्रियम् (तै.सं.६.५.८.४)}

व्याख्यानम्- अग्नि और विष्णु दोनों ही देव ऊष्मा, तेज आदि का पालन और रक्षण करने वाले होते हैं। यहाँ अग्नि का अर्थ विद्युत् चुम्बकीय तरंगें अथवा विद्युत् आवेशयुक्त कण हैं तथा **'विष्णु'** शब्द का अर्थ संगतीकरण की प्रक्रिया अथवा सूर्यादि तारा है। इन दोनों के द्वारा ही विभिन्न पदार्थों के निर्माण की प्रक्रिया संचालित और समृद्ध हुआ करती है। इन्हीं दोनों के द्वारा किंवा इनके अन्दर ही प्राण तत्त्व, वाक् तत्त्व, अप्रकाशित कण, प्रकाशमान कण, आकाश तत्त्व आदि सभी धारण किये जाते हैं। **{प्राणा दीक्षा (श.१३.१.७.२), वाग् दीक्षा (कौ.ब्रा.७.१), पृथिवी दीक्षा (तै.ब्रा.३.७.७.४), अन्तरिक्षं दीक्षा (तै. ब्रा.३.७.७.५), द्यौ दीक्षा (तै.ब्रा.३.७.७.५), तपो दीक्षा (श.३.४.३.२)}** ये दोनों ही मानो इन पदार्थों पर शासन भी करते हैं अर्थात् उनको अपने साथ धारण किये रहते हैं। इस कारण इन विभिन्न पदार्थों को अपने अधिकार में रखने वाले विद्युत् कण, विद्युत् चुम्बकीय तरंगें एवं सूर्यादि तारों को समृद्ध करने वाले अग्निविष्णू-देवताक मंत्रों की हवि जब सृजन प्रक्रिया में दी जाती है, तो उन मंत्ररूप प्राणों से अग्निविष्णू संज्ञक उपर्युक्त पदार्थ तृप्त होकर दीक्षा संज्ञक विभिन्न पदार्थों यथा-प्राण, वाक्, प्रकाशमान आदि विभिन्न कणों को उत्सर्जित करने लगते हैं। इसलिए ही इन देवताओं वाली ऋचाओं की उत्पत्ति होती है, जिससे सूर्यादि तारे एवं विद्युत् चुम्बकीय तरंगें आदि पदार्थ ऊष्मा, प्रकाश, विभिन्न प्राणादि पदार्थ एवं अन्य विभिन्न कणों की उत्पत्ति कर सकें।।

यहाँ उपर्युक्त दोनों ऋचाओं का छन्द त्रिष्टुप् है। इसके कारण इन ऋचा रूप प्राणों से प्राणत्व अर्थात् बल एवं गतिशीलता, वाक् तत्त्व अर्थात् तेजस्विता **{वागेव भर्गः (गो.पू.५.१५)}** की वृद्धि होती है एवं विभिन्न क्रियाओं के करने के सामर्थ्य को एक आधार प्राप्त होता है। इसी कारण कहा है- **"इन्द्रियं वै त्रिष्टुप्" (तै.ब्रा.१.७.६.२ -आचार्य सायण द्वारा उद्धृत)**।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- विद्युत् आवेशित कण, विद्युत् चुम्बकीय तरंगें, सूर्यादि तारे अपने अन्दर वाक् नामक तत्त्व, विभिन्न प्राण, ऊर्जा आदि को धारण करने वाले होते हैं। सूर्यादि तारे इनके अतिरिक्त विभिन्न प्रकाशित और अप्रकाशित कणों को भी धारण करते हैं। ये पदार्थ अपने धारणीय पदार्थों का रक्षण एवं नियन्त्रण भी करते हैं। इस कारण विद्युत् कण व सूर्यादि पदार्थों में उनको शक्ति प्रदान करने वाली तेज और बल से युक्त छन्द तरंगों का प्रक्षेपण किया जाता रहता है, जिससे वे समर्थ होकर अपने धारणीय पदार्थों का सतत उत्सर्जन भी करने में समर्थ होते हैं।।

इति १.४ समाप्तः

௵ अथ १.५ प्रारभ्यते ௸

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. गायत्र्यौ स्विष्टकृतः संयाज्ये कुर्वीत तेजस्कामो ब्रह्मवर्चसकामः।। तेजो वै ब्रह्मवर्चसं गायत्री।।

{ब्रह्म = बृहद् बलम् (तु.म.द.ऋ.भा.२.२४.३), वाग् ब्रह्म (गो.पू.२.११), विद्युद् ह्येव ब्रह्म (श.१४.८.७.१), प्राणापानौ ब्रह्म (गो.पू.२.११)। तेजः = ज्वलतोनाम (निघं.१.१७), प्रागल्भ्यम् (म.द.य.भा.१६.६), तेजतेरुत्साह कर्मणो वा (नि.१०.६)। स्विष्टकृत् = प्रतिष्ठा वै स्विष्टकृत् (ऐ.२.१०; कौ.ब्रा.३.८), अग्निर्हि स्विष्टकृत् (श.१.५.३.२३), एषा (उत्तरा = उदीची हि) दिक् स्विष्टकृत् (श.२.३.१.२३), स हव्यवाळमर्त्योऽग्निर्होता पुरोहित इति स्विष्टकृतः (आश्व.श्रौ.२.१.२१)। संयाज्ये = संयाज्ये इत्युक्ते सौविष्टकृती प्रतीयात् (आश्व.श्रौ.२.१.२१)}

व्याख्यानम्- **आश्वलायन श्रौतसूत्र** के उपर्युक्त उद्धरण को दृष्टिगत रखते हुए अपने भाष्य में आचार्य सायण लिखते हैं- **'स हव्यवाळमर्त्य'** इत्येका गायत्री। **'अग्निर्होता पुरोहित' इत्यपरा गायत्री। ते उभे स्विष्टकृद्यागस्य संयाज्ये कुर्यात्।** वैद्युत बल, तेज अर्थात् तीक्ष्णता और ओजस्विता, वाक् तत्त्व एवं प्राणापान आदि से समृद्ध करके किसी भी कण को संयोगादि क्रियाओं में अग्नि तत्त्व के सभी गुणों में प्रतिष्ठित करने के लिए दो गायत्री छन्दों को उस कण के साथ संयुक्त किया जाता है। उनमें प्रथम छन्द है-

स ह॒व्य॒वाळम॑र्त्य उ॒शिग्दू॒तश्चनो॑हितः। अ॒ग्निर्धि॒या समृ॑ण्वति।।२।। (ऋ.३.११.२) और दूसरा-
अ॒ग्निर्होता॑ पु॒रोहि॑तोऽध्व॒रस्य॒ विच॑र्षणिः। स वे॑द य॒ज्ञमा॑नु॒षक्।।१।। (ऋ.३.११.१)।

इन दोनों छन्द रूप तरंगों की उत्पत्ति विश्वामित्र ऋषि प्राण से होती है। **(विश्वामित्रः = वाग् वै विश्वामित्रः कौ.ब्रा.१०.५)** इसका तात्पर्य है कि इन दोनों छन्द तरंगों की उत्पत्ति वाक् तत्त्व से होती है। इन दोनों का देवता अग्नि और छन्द निचृद् गायत्री है, जिसके प्रभाव से तेज एवं भेदक बलयुक्त अग्नि तत्त्व समृद्ध होता है। इनके पद **'होता', 'हव्यवाट्', 'हितः', 'यज्ञं',** आदि के प्रभाव से इन छन्द तरंगों से संयुक्त कोई भी अग्नि कण विभिन्न पदार्थों के कणों के वहन में सक्षम होता है **'पुरोहित'** शब्द के प्रभाव से वह अग्नि कण **महर्षि दयानन्द** द्वारा **ऋ.१.१.१** के भाष्य में **'पुरोहित'** शब्द के अन्तर्गत दर्शाए आठ गुणों (रूप, दाह, प्रकाश, वेग, धारण, छेदन, आकर्षण एवं प्रतिकर्षण) को सम्यक् प्राप्त करते हुए संयोगादि प्रक्रिया में अनुकूलता से वर्तता हुआ सृष्टि काल तक अविनाशी भाव को प्राप्त करता है। यह भी स्मरणीय है कि यहाँ **"स हव्यवाट् ....।"** छन्दरूप तरंग पुरोऽनुवाक्या का काम करती है एवं दूसरी छन्द रूप तरंग याज्या का काम करती है। याज्या और पुरोऽनुवाक्या के वैज्ञानिक स्वरूप को पृष्ठ ३६ एवं ४३ पर देखें।।

यहाँ गायत्री पद से आचार्य सायण ने

तत्स॑वि॒तुर्वरे॑ण्यं॒ भर्गो॑ दे॒वस्य॑ धीमहि। धियो॒ यो नः॑ प्रचो॒दया॑त्।।१०।। (ऋ.३.६२.१०)

ऋचा का ग्रहण किया है, हमें भी यह मत स्वीकार्य है। इस ऋचा का देवता, ऋषि और छन्द पूर्व दो गायत्री ऋचाओं के समान ही है। इस कारण इसका प्रभाव भी पूर्व ऋचाओं के लगभग समान ही होता है। किन्तु इस ऋचा में **'सवितः'** एवं **'वरेण्यं भर्गः'** पदों के प्रभाव से प्रेरक व उत्पादक बल एवं अत्यन्त श्रेष्ठ तेज विशेषतया समृद्ध होते हैं। इसी कारण इस ऋचा को **'तेजो ब्रह्मवर्चसं'** कहा है। इसके तृतीय पाद के प्रभाव से विभिन्न परमाणुओं की क्रियाएं प्रकृष्टता से प्रेरित होकर निर्बाध रूप से सम्पादित होती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सृष्टि में जहाँ कहीं भी गायत्री छन्द तरंगों की उत्पत्ति होती है, वहाँ विभिन्न कणों की तीक्ष्णता, प्रकाश, ऊर्जा एवं वैद्युत बल आदि अधिक सक्रिय हो उठते हैं और ये छन्द युग्म के रूप में प्रकाशित हुआ करते हैं। गायत्री आदि छन्दों का वैज्ञानिक स्वरूप पूर्वपीठिका में देखें।।

२. तेजस्वी ब्रह्मवर्चसी भवति य एवं विद्वान् गायत्र्यौ कुरुते।।

{विद्वान् = विद्वांसो हि देवाः (श.३.७.३.१०)}

व्याख्यानम्- जब कोई भी देव कण अर्थात् प्रकाशमान कण उपर्युक्त दोनों गायत्री तरंगों को अपने साथ क्रमबद्ध संयुक्त करके गति करता है, तब वह अधिक तेजस्वी और विद्युत् बल आदि से युक्त हो जाता है।।

३. उष्णिहा वाऽऽयुष्कामः कुर्वीत।।
आयुर्वा उष्णिक्।।
सर्वमायुरेति य एवं विद्वानुष्णिहौ कुरुते।।

{उष्णिक् = स्नेहनम् (म.द.य.भा.१४.१८), यद् दुःखानि दहति तम् (म.द.य.भा.१४.१०), उष्णिक् उष्णिगुत्स्नाता भवति। स्निह्यतेर्वा स्यात्कान्तिकर्मणः (नि.७.१२), उष्णिगुत्स्नानात् स्निह्यतेर्वा कान्तिकर्मणोऽपि वोष्णीषिणोवेत्यौपमिकम् (दै.३.४), आयुर्वा उष्णिक् (ऐ.१.५), चक्षुरुष्णिक् (श. १०.३.१.१), ग्रीवा उष्णिहः (श.८.६.२.११), (ग्रीवा उपसदः - मै.३.७.६, ऐ.१.२५, ग्रीवा वा एता यज्ञस्य यदुपसदः - काठ.२५.१, वज्रा वाऽउपसदः श.१०.२.५.२)। आयुः = प्राणो वा आयुः (ऐ.२.३८), अन्नमु वा आयुः (श.६.२.३.१६), आयुश्च वायुरयनः (नि.६.३)}

व्याख्यानम्- आचार्य सायण ने अपने भाष्य में दो उष्णिक् छन्दस्क ऋचाओं को यहाँ उद्धृत किया है-

अग्ने वाजस्य गोमत ईशानः सहसो यहो। अस्मे धेहि जातवेदो महि श्रवः।।४।। (ऋ.१.७६.४)
स इधानो वसुष्कविरग्निरीळेन्यो गिरा। रेवदस्मभ्यं पुर्वणीक दीदिहि।।५।। (ऋ.१.७६.५)

यहाँ प्रथम ऋचा राहूगणो गोतम ऋषि प्राण से उत्पन्न अग्निदेवताक और उष्णिक् छन्दस्क है एवं द्वितीय ऋचा निचृदुष्णिक् छन्दस्क है तथा ऋषि, देवता प्रथम के समान ही है। ऋषि का वैज्ञानिक स्वरूप १.४.१ में देखें। देवता के प्रभाव से अग्नि तत्त्व समृद्ध होता है। विभिन्न देव कणों के द्वारा प्राण एवं अन्न संज्ञक पदार्थों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए इन दो ऋचाओं का उपयोग किया जाता है। इसका आशय है कि ये देव कण जिन सूक्ष्म प्राणों का भक्षण करते हैं एवं अपने से स्थूल कणों द्वारा जो ये अवशोषित होते हैं, इन दोनों प्रक्रियाओं में इन्हीं दोनों उष्णिक् छन्दों की भूमिका विशेष होती है। ये दोनों छन्द रूप प्राण विशेष स्नेहन और उष्णता प्रदान करते हुए बाधक आसुर तत्त्वों को नष्ट करने के लिए देव कणों को आवृत्त कर लेते हैं। मानो वे देव कण इन छन्द रूप तरंगों से स्नान

करते हैं। इनका अन्य छान्दस प्रभाव यह होता है कि इनके द्वारा प्रकाशक और उष्णता गुण समृद्ध होता है। इसका अन्य प्रभाव इस प्रकार है-

प्रथम ऋचा के प्रभाव से विभिन्न उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान अग्नि विभिन्न रश्मियों से युक्त संयोज्य कणों और बलों का स्वामी होता है तथा सबमें बलों को धारण कराता है।

द्वितीय ऋचा के प्रभाव से बहुत से विकिरण समूहों से युक्त प्रकाशमान अग्नि वाक् तत्त्व के द्वारा प्रकाशित होकर अत्यन्त तेजस्वी होता है और विभिन्न पदार्थों को भी प्रकाशित करता है। यहाँ **'ग्रीवा'** शब्द से एक और गम्भीर वैज्ञानिक रहस्य प्रकट होता हुआ प्रतीत होता है कि कोई भी देव कण अपने उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव दिशाओं से ही किसी अन्य कण से संयुक्त वा वियुक्त होता है और उसकी प्रक्रिया भी वैज्ञानिक भाष्यसार में दिये चित्र द्वारा समझी जा सकती है।।+।।
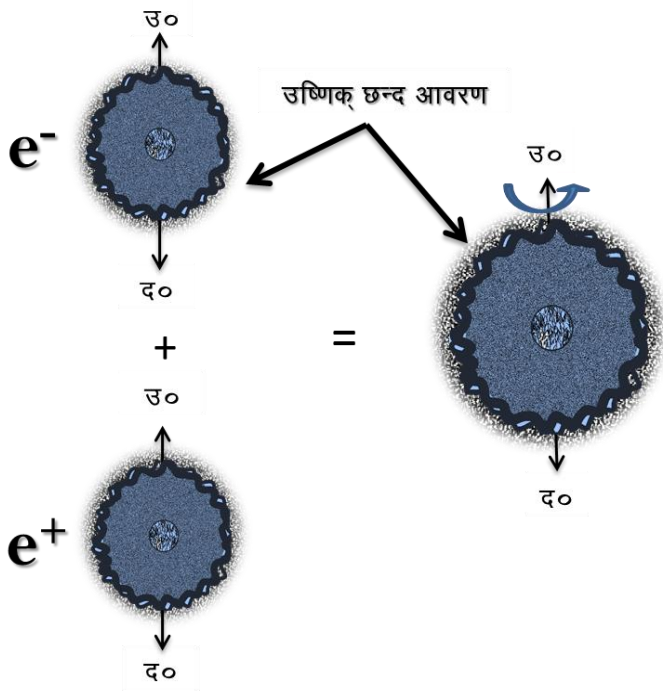
चित्र १.१७ कणों के संयोग की प्रक्रिया
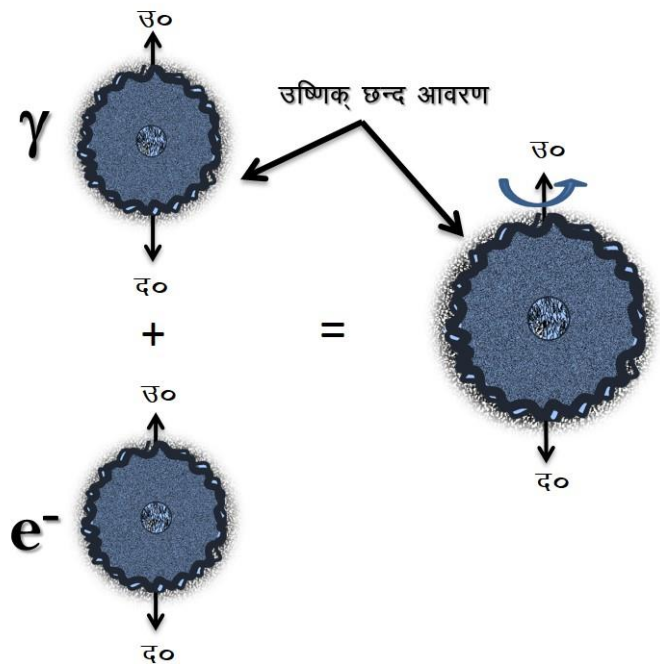
चित्र १.१८ कण व क्वाण्टा का संयोग

जो देव कण इन दो उष्णिक् छान्दस तरंगों से आच्छादित हो जाता है, वह सभी उपयुक्त अन्न और प्राण संज्ञक कणों को प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् इनसे संयुक्त हो जाते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार– विभिन्न फोटोन्स का इलेक्ट्रान आदि से संयोग होने एवं इलेक्ट्रॉन्स के आयनों से संयुक्त होने की प्रक्रिया में उपर्युक्त दो उष्णिक् तरंगों से विशेष तीव्रता आती है। ये दोनों तरंगें फोटोन्स वा इलेक्ट्रॉन्स को सब ओर से आवृत्त कर लेती हैं। संयोग और वियोग की प्रक्रिया में कोई भी कण अपने उत्तरी वा दक्षिणी ध्रुव से संयुक्त वा वियुक्त होता है। हमारे मत में दो संयुक्त होने वाले कणों की विपरीत दिशायें संयुक्त होती हैं और वियोग की प्रक्रिया में समान दिशायें परस्पर वियुक्त होती हैं।

किसी भी एटम से इलेक्ट्रॉन के निकलते समय निकलने वाला वह इलेक्ट्रॉन उष्णिक् छन्दों द्वारा अन्य इलेक्ट्रॉन कक्षा को आकर्षित करता हुआ ग्रीवा के आकार का बना देता है और उसके पश्चात् चित्रानुसार अलग हो जाता है।।
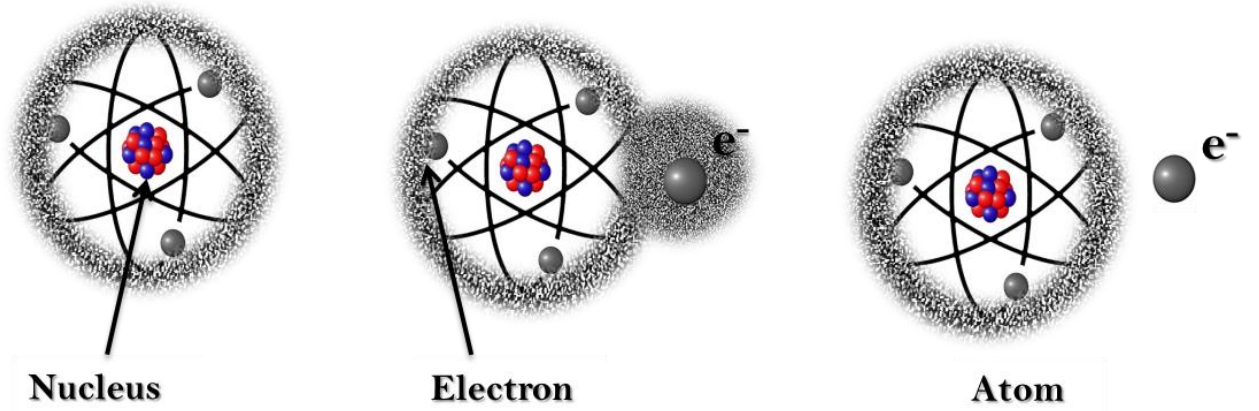
चित्र १.१६ एटम से e^- का उत्क्रमण

४. अनुष्टुभौ स्वर्गकामः कुर्वीत।।

द्वयोर्वा अनुष्टुभोश्चतुःषष्टिरक्षराणि त्रय इम ऊर्ध्वा एकविंशा लोका एकविंशत्यैकविंशत्यैवेमाँल्लोकान् रोहति स्वर्ग एव लोके चतुःषष्टितमेन प्रतितिष्ठति।। प्रतितिष्ठति य एवं विद्वाननुष्टुभौ कुरुते।।

व्याख्यानम्– यहाँ आचार्य सायण ने दो अनुष्टुप् छन्दस्क ऋचाओं के पाठ का विधान किया है। ये दो ऋचाएं हैं–

त्वमग्ने वसूँरिह रुद्राँ आदित्याँ उत। यजा स्वध्वरं जनं मनुजातं घृतप्रुषम्।। (ऋ.१.४५.१)
श्रुष्टीवानो हि दाशुषे देवा अग्ने विचेतसः। तान् रोहिदश्व गिर्वणस्त्रयस्त्रिंशतमा वह।। (ऋ.१.४५.२)

इन दोनों ऋचाओं में कुल ६१ अक्षर हैं जबकि यहाँ ऐतरेय के अनुसार ६४ अक्षर वाले दो अनुष्टुप् छन्द चाहिये। तैत्तिरीय संहिता २.५.१०.३ का जो प्रमाण आचार्य सायण ने दिया है– "श्रुत्यन्तरे 'द्वात्रिंशदक्षराऽनुष्टुप्' इत्यभिधानाद, द्वयोरनुष्टुभोर्मिलित्वा चतुःषष्टिसंख्याकान्यक्षराणि संपद्यन्ते" जिसके अनुसार भी ६४ वर्णों की संख्या पूर्ण होनी चाहिए, जो कि यहाँ नहीं है। यद्यपि ६१ अक्षर से एक विराडनुष्टुप् तथा एक निचृदनुष्टुप् छन्दों का ग्रहण हो सकता था परन्तु तै.सं. के इस प्रमाण को उद्धृत करने के पश्चात् कुल ६१ अक्षर वाले दो अनुष्टुप् छन्दों का ग्रहण उचित नहीं है। अतः हमारी दृष्टि में उपर्युक्त दो मंत्रों का ग्रहण उचित नहीं है। महर्षि दयानन्द ने अपने ऋ.भा. में प्रथम मंत्र को

भुरिगुष्णिक् छन्दस्क माना है, इस कारण यहाँ दो अनुष्टुप् छन्द सिद्ध भी नहीं होते। इस कारण यहाँ अनुष्टुप् छन्दों के युग्म से किन्हीं विशेष छन्दों का ग्रहण न होकर सामान्य निर्देश समझना चाहिए। यहाँ **महर्षि ऐतरेय महीदास** का आशय है कि सूर्यादि तारों के अन्दर जो कण दो अनुष्टुप् छन्द रूप प्राणों से संयुक्त होते हैं, वे ही सूर्यादि तारों के मध्य भाग तक पहुँचने में सफल होते हैं एवं अन्यत्र भी दो अनुष्टुप् छन्दों से संयुक्त कण संयोग-वियोग की अपरिमित प्रक्रिया को प्राप्त कर सकते हैं।

{अनुष्टुप् = गायत्री वै सा यानुष्टुप् (कौ.ब्रा.१०.५), आनुष्टुब्भि छन्दसां योनिः (तां.११.५.१७), वाग्वा अनुष्टुप् (ऐ.१.२८)}

अनुष्टुप् छन्द विभिन्न कणों में वाक् तत्त्व को सक्रिय करता है एवं अन्य अनेक छन्दों को जन्म भी देता है। उधर गायत्री छन्द को सभी छन्दों का मुख कहा है। इस कारण गायत्री छन्द एवं अनुष्टुप् छन्द लगभग समान गुण वाले होते हैं। अनुष्टुप् छन्द सूर्यादि तारों में अत्यन्त व्यापक हो जाता है। इसी कारण कहा- **"प्रजापतिर्वा अनुष्टुप्" (तां.४.८.६), "आपो वा अनुष्टुप्" (कौ.ब्रा.२४.४)।।**

दो अनुष्टुप् छन्दों में कुल मिलाकर ६४ अक्षर होते हैं। **{एकविंशः = एकविंशो वै प्रजापतिर्द्वादशमासाः पञ्चर्त्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंशः (ऐ.१.३०)। लोकाः = एता वै (भूर्भुवः स्वरिति) व्याहृतय इमे (पृथिव्यादयः) लोकाः (तै.ब्रा.२.२.४.३), एवमिव वा एषु लोकेषु पितरो मनुष्या देवाः (क.४१.४)}**

किसी भी तारे में मुख्यतया इक्कीस प्रकार के प्राण तत्त्व होते हैं, जैसे-१२ प्रकार की मास नामक रश्मियाँ, ५ प्रकार की ऋतु नामक रश्मियाँ, ३ प्रकार के भूर्भुवः स्वः नामक महा व्याहृति प्राण और २१ वाँ कारण प्राण (दिव्य वायु)। यहाँ **महर्षि ऐतरेय महीदास** तीनों लोकों, जैसे- पृथिवी लोक, अन्तरिक्ष लोक एवं द्यु लोक को एकविंश कहते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि पृथिवी आदि अप्रकाशित लोकों एवं अन्तरिक्ष दोनों में भी न्यूनाधिक अनुपात में मास आदि २१ प्राण तत्त्व विद्यमान होते हैं। जब कोई कण किसी पृथिवी आदि अप्रकाशित लोक के केन्द्रीय भाग से किंवा धरातल से सूर्यादि तारे के केन्द्रीय भाग तक यात्रा करता है, तब वह तीनों लोकों के विभिन्न अनुपातों वाले २१-२१ तत्त्वों से गुजरता हुआ तारे के केन्द्र तक पहुँचता है। जब कोई कण पृथिवी आदि लोकों के धरातल से यात्रा प्रारम्भ करता है, तब पृथिवी आदि लोकों के २१ तत्त्वों को उसके वायुमण्डल में विद्यमान मानना चाहिए। इसके आगे की यात्रा अन्तरिक्ष में माननी चाहिए। यात्रा करने वाला ऐसा कोई भी कण अन्य आवश्यक प्राण तत्त्वों के साथ दो अनुष्टुप् छन्द रूप तरंगों को भी धारण करके चलता है। इन दोनों अनुष्टुप् छन्दों के ६४ अक्षरों रूप सूक्ष्म रश्मियों के द्वारा तारे के केन्द्रीय भाग में पहुँचता है। इनमें से ६३ अक्षर रश्मियों के द्वारा तीनों लोकों के ६३ उपर्युक्त प्राणादि पदार्थों को पार करता है, उनसे क्रिया-प्रतिक्रिया करते हुए आगे बढ़ता हुआ तारे के केन्दीय भाग के निकटतम स्थान पर पहुँच जाता है और ६४ वें अक्षर के द्वारा तारे के केन्द्र रूप स्वर्ग लोक को प्राप्त कर लेता है। ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न अक्षरों से नवीन-२ छन्द रूप तरंगें उत्पन्न हो करके, उस कण की यात्रा को आगे बढ़ाती जाती हैं। इसलिए ही अनुष्टुप् छन्द को 'छन्दों की योनि' कहा है। और अनुष्टुप् छन्द का प्रभाव गायत्री छन्द, जो कि सबका मूल छन्द है, के समान होने से एवं अनुष्टुप् छन्द की व्यापकता वाक् तत्त्व के समान होने से अनुष्टुप् छन्द युग्म की शक्ति के द्वारा कोई भी कण ग्रहों के केन्द्र से निकलकर तारों के केन्द्र तक अति लम्बी और कठिन यात्रा को सम्पन्न कर पाता है।।

जो देव कण दो अनुष्टुप् छन्दों को अपने साथ धारण करके यात्रा करता है, वह सर्वत्र प्रतिष्ठित होता है अर्थात् सब जगह निर्बाध यात्रा कर सकता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- कुछ कण सम्भवतः **न्यूट्रिनो** आदि अत्यन्त भेदन क्षमता सम्पन्न होते हैं। ये कण पृथिव्यादि ग्रहों को पार करके भी सहजता से चले जाते हैं। **ये कण ग्रहादि लोकों के केन्द्रों में भी उत्पन्न होते हैं। वे वहाँ से यात्रा प्रारम्भ करके सूर्यादि तारों के केन्द्र तक भी निर्विघ्न यात्रा करते हैं तथा सूर्यादि के केन्द्रों में उत्पन्न होने वाले न्यूट्रिनो पृथिव्यादि लोकों को पार करते हुए निर्बाध यात्रा**

करते हैं। ये कण अन्य कणों के प्रति अन्योऽन्य क्रिया प्रायः नहीं करते हैं, इसी कारण इनकी भेदन क्षमता अति तीव्र व यात्रा अति सहज होती है। इस **आश्चर्यजनक शक्ति का मुख्य कारण यही है कि ऐसे कण दो अनुष्टुप् छन्दरूप तरंगों से संयुक्त वा आवृत्त होकर यात्रा करते हैं।** इन अनुष्टुप् छन्द तरंगों में कुल विद्यमान ६४ मनस् वा अहंकार रश्मियां यात्रा के समय सतत रूप से विभिन्न अन्य छन्दरूप तरंगों को उत्पन्न करती व वाक् तत्त्व को समृद्ध करती जाती हैं, जिससे इनके मार्ग में आने वाले प्रत्येक अवरोध व आकर्षण को निष्क्रिय करते जाते हैं किंवा उस अवरोध व आकर्षण को वे नवीन उत्पन्न छन्दरूप प्राणों की रश्मियां अपने दिव्य कवच से दूर किए रहती हैं ओर **वह कण अर्थात् न्यूट्रिनो आदि अति तीव्रता से सबको लांघता हुआ निर्बाध आगे बढ़ता चला जाता है।**

५. बृहत्यौ श्रीकामो यशस्कामः कुर्वीत।।
श्रीर्वै यशश्छन्दसां बृहती।।
श्रियमेव यश आत्मन् धत्ते य एवं विद्वान् बृहत्यौ कुरुते।।

{बृहती = बृहती परिबर्हणात् (नि.७.१२), बृहती बृंहतेर्वृद्धिकर्मणः (दै.३.११)। श्रीः = प्राणाः श्रियः (श.६.१.१.४), श्रीः पृष्ठ्यानि (कौ.ब्रा.२१.५), श्रियै पाप्मा (निवर्त्तते) (श.१०.२.६.१६), प्रजापतिः स्वर्गो लोकः। श्रीस्तत् (जै.ब्रा.२.१६५)। यशः = अश्यते दीव्यते क्रीडादि क्रियते येन तत् यशः (उ.को.४.१६२), यशो वै सोमो राजा (ऐ.१.१३), अन्ननाम (निघं.२.७), धननाम (निघं.२.१०), आदित्य एव यशः (गो.पू.५.१५), प्राणा वै यशो वीर्य्यम् (श.१०.६.५.६), पशवो यशः (श.१२.८.३.१), यशो वै हिरण्यम् (ऐ.७.१८)। वसिष्ठः = तं (प्राणम्) यद् देवा अब्रुवन्नयं वै नः सर्वेषां वसिष्ठ इति तस्माद् वसिष्ठस्तस्माद् वसिष्ठ इत्याचक्षत एतमेव (प्राणम्) सन्तम् (ऐ.आ.२.२.२)}

व्याख्यानम्- विभिन्न प्रकार के उत्पादक प्राण और अन्न संज्ञक पदार्थों की कामना के लिए कोई भी कण दो बृहती प्राणों से संयुक्त होता है। यह प्राण और अन्न क्रमशः अमूर्त्त और मूर्त्त पदार्थों के नाम हैं। ये नाम सापेक्षता से भी होते हैं। जो पदार्थ किसी का भक्षण करते हैं, वे प्राण कहलाते हैं और जो किसी का भक्ष्य बनते हैं, वे अन्न कहलाते हैं। प्रचलित विभिन्न प्राण किसी के लिए प्राण व किसी के लिए अन्न का व्यवहार करते हैं। इसी प्रकार कोई कण किसी के लिए प्राण तो किसी के लिए अन्न का रूप होता है। इस प्रकार दोनों ही प्रकार के पदार्थों की कामना के लिए दो बृहती छन्दरूप प्राण किसी कण के साथ संयुक्त होते हैं। आचार्य सायण ने अपने भाष्य में दो बृहती छन्दस्क मंत्रों को बोलने का विधान किया है, वो बृहती छन्दयुक्त मंत्र जो सायण ने उद्धृत किये हैं, वे हैं-

एना वो अग्निं नमसोर्जो नपातमा हुवे।
प्रियं चेतिष्ठमरतिं स्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम्।। (ऋ.७.१६.१)

उदस्य शोचिरस्थादाजुह्वानस्य मीळहुषः।
उद् धूमासो अरुषासो दिविस्पृशः समग्निमिन्धते नरः।। (ऋ.७.१६.३)

इनमें से प्रथम मंत्र बृहती छन्दस्क न होकर स्वराड् अनुष्टुप् छन्दस्क है। **महर्षि दयानन्द** ने इसे स्वराड् अनुष्टुप् छन्दस्क माना है। इस छन्द का स्वर गान्धार होने तथा प्रथम पाद में आठ अक्षर होने से भी यह छन्द बृहती न होकर अनुष्टुप् ही होगा। इस कारण यहाँ सायण द्वारा इन मंत्रों का विधान करना उचित नहीं है। अतः हमारी दृष्टि एवं हमारी आधिदैविक शैली में उपरिवर्णित गुणों से सम्पन्न कण के साथ किन्हीं भी दो बृहती छन्दस्क मंत्रों का संयोग होना चाहिए। ये बृहती छन्द किसी भी कण वा लोक के सब ओर व्याप्त होकर उसके गुणों को समृद्ध करते हैं।।

बृहती छन्दस्क प्राण अन्य छन्द रूप तरंगों की अपेक्षा अधिक व्यापक और परिधि में घेरने वाले होते हैं। इनके कारण कोई भी कण किसी अन्य कण के द्वारा त्वरित गति से अवशोषित होता है अथवा किसी को त्वरित रूप से अवशोषित करता है। ये छन्द रूप तरंगें जहाँ किसी भी कण को आधार प्रदान करती हैं, वहीं उनको तेजस्वी स्वरूप प्रदान करने में भी सहायक होती हैं। विभिन्न कणों के संघात में भी ये बृहती तरंगें सहायक होती हैं। ये बृहती तरंगें द्युलोक और पृथिवी लोक सबमें व्याप्त होती हैं।।

जब कोई कण किन्हीं दो बृहती प्राणों को धारण करता है, तो वह अपने अन्दर उपर्युक्त सभी गुणों को धारण करने वाला बन जाता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- कोई भी कण जब दो बृहती तरंगों से आच्छादित वा संयुक्त होता है, उस समय उसकी संयोगीकरण की क्षमता बढ़ जाती है। विभिन्न रसों का अवशोषण, जल आदि का वाष्पन, विभिन्न लोकों का एक आकार विशेष ग्रहण करना, प्रकाश आदि ऊर्जा का अवशोषण करना आदि कार्य इन्हीं प्राणों के कारण कुछ सहज हो जाते हैं।

६. पङ्क्ती यज्ञकामः कुर्वीत।।
पाङ्क्तो वै यज्ञः।।
उपैनं यज्ञो नमति य एवं विद्वान् पङ्क्ती कुरुते।।

{यज्ञः = स तायमानो जायते स यन्जायते तस्माद् यञ्जो यञ्जो ह वै नामैतद् यद् यज्ञ इति (श.३.६.४.२३), यज्ञो वै मखः (तै.ब्रा.३.२.८.३), मख इत्येतद् यज्ञनामधेयं छिद्रप्रतिषेधसामर्थ्यात्, छिद्रं खमित्युक्तं तस्य मेति प्रतिषेधः। मा यज्ञं छिद्रं करिष्यतीति (गो. उ.२.५)}

व्याख्यानम्- यहाँ सायणाचार्य ने

अ॒ग्निं तं म॑न्ये॒ यो वसु॒रस्तं॒ यं यन्ति॑ धे॒नवः॑।
अस्त॒मर्व॑न्त आ॒शवोऽ स्तं॒ नित्या॑सो वा॒जिन॒ इषं॑ स्तो॒तृभ्य॒ आ भ॑र।। (ऋ.५.६.१) तथा

सो अ॒ग्निर्यो॒ वसु॑र्गृ॒णे सं यमा॒यन्ति॑ धे॒नवः॑।
समर्व॑न्तो रघु॒द्रुवः॒ सं सु॑जा॒तासः॒ सू॒रय॒ इषं॑ स्तो॒तृभ्य॒ आ भ॑र।। (ऋ.५.६.२)

के प्रयोग का विधान किया है। हम इससे सहमत हैं। इनमें से प्रथम ऋचा का छन्द निचृत्पंक्ति तथा द्वितीय ऋचा का छन्द पंक्ति है। दोनों ऋचाओं का ऋषि 'वसुश्रुत आत्रेय' तथा देवता 'अग्निः' है। इससे स्पष्ट है कि इन ऋक् प्राणों की उत्पत्ति द्रव्यमात्र में व्याप्त रहने वाले सूत्रात्मा वायु से होती है। इनके प्रभाव से अग्नि तत्त्व समृद्ध होता है। इनके छान्दस प्रभाव से सृजन-संयोग प्रक्रिया फैलती हुई उत्पन्न होती जाती है तथा उसका फैलाव इस प्रकार का होता है कि उसमें कहीं छिद्र अर्थात् दोष अथवा अवकाश नहीं होता, उस ऐसी प्रक्रिया को ही यज्ञ कहते हैं। यद्यपि संयोगादि प्रक्रिया पूर्व में ही विस्तार को पा चुकी थी परन्तु यह उसका स्वरूप ऐसा होता है कि उसमें एकरसता व निर्दोषता रहती है, ऐसे स्वरूप को यज्ञ कहते हैं। अतः जब कोई कण इन दो पंक्ति छन्दस्क प्राणों से संयुक्त होता है, तब ऐसी यज्ञ प्रक्रिया प्रारम्भ वा समृद्ध होती है।।

इन ऋचाओं के अन्य कुछ निम्न प्रभाव भी होते हैं-
प्रथम ऋचा के प्रभाव से अग्नि तत्त्व की विभिन्न प्रक्षेपक रश्मियाँ शीघ्रकारी प्रक्षेपक बलों से युक्त होकर विभिन्न संयोज्य कणों को अपने अन्दर धारण करने में समर्थ होती हैं। द्वितीय ऋचा के

प्रभाव से विभिन्न पदार्थ वेगवान् किरणों को अच्छी प्रकार प्राप्त होकर अग्नि के द्वारा सब ओर से धारण किये जाते हैं और वाक् तत्त्व को अपने अन्दर धारण करने वाले होते हैं।

यज्ञ पाङ्क्त होता है इसका आशय है कि इस उपर्युक्त प्रकार की जो प्रक्रिया होती है, वह पंक्ति छन्दस्क प्राणों से ही सम्पन्न हो सकती है। यह प्रक्रिया कुछ अन्य कारणों से भी पाङ्क्त कहलाती है, वे कारण हमारे मतानुसार यह हैं- इस प्रक्रिया में मनस् वा अहंकार तत्त्व, प्राणापानादि, प्राथमिकप्राण, छन्द संज्ञक प्राण, मास व ऋतु संज्ञक प्राण सभी सम्यग् यजनशील हो उठते हैं। दूसरा कारण यह कि पंचमहाभूत इसमें भाग लेते हैं। इससे भी इस प्रकार की प्रक्रिया पाङ्क्त कहलाती है।।

जब कोई देव कण इस प्रकार उपर्युक्त दोनों पंक्ति छन्दस्क ऋचाओं से संयुक्त होता है, तब वह उपर्युक्त प्रकार की विस्तृत व शुद्ध संयोग प्रक्रिया की ओर बढ़ता हुआ सृजन कर्म को विस्तृत, व्यापक एवं निर्दोष बनाता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब कोई कण उपरिवर्णित दो पंक्ति छन्दस्क तरंगों से संयुक्त हो जाता है, तब संगतीकरण की प्रक्रिया विस्तृत होती हुई आगे से आगे उत्पन्न होती चली जाती तथा निर्दोष व एकरसवत् होती जाती है। इससे अभिप्राय यह कि उस प्रक्रिया में कहीं अवकाश, अवरोध नहीं आने पाता। इन छन्द रश्मियों से ऊर्जा तथा द्रव्य की धारणा शक्ति में वृद्धि होती है।

७. त्रिष्टुभौ वीर्यकामः कुर्वीत।।
ओजो वा इन्द्रियं वीर्यं त्रिष्टुप्।।
ओजस्वीन्द्रियवान् वीर्यवान् भवति य एवं विद्वांस्त्रिष्टुभौ कुरुते।।

{ओजः = ओज इति बलनामसु पठितम् (निघं.२.९), वेगवद् बलम् (म.द.ऋ.भा.४.७.१०), वज्रो वा ऽओजः (श.८.४.१.२०)। वीर्यम् = प्राणा वीर्यम् (काठ.१३.७), वीर्यं मरुतः (जै. ब्रा.१.३०३), आकर्षण प्रकाशयुक्तादिकर्म (तु.म.द.ऋ.भा.१.३२.१), पृथिव्यादि लोकानां बलम् (म.द.ऋ.भा.१.६३.४), सर्वाङ्गस्फूर्तिः (म.द.य.भा.१९.९)।} {कुत्सः = विद्युतमिव वज्रम् (तु.म.द.ऋ.भा.७.१९.२), कुत्सः वज्रनाम (निघं.२.२०), कुत्स एतत् कृन्ततेर्ऋषिः कुत्सो भवति, कर्त्ता स्तोमानामित्यौपमन्यवोऽथाप्यस्य वधकर्मैव भवति (नि.३.११)}

व्याख्यानम्- यहाँ आचार्य सायण ने दो त्रिष्टुप् ऋचाओं के पाठ का विधान किया है, वे ऋचाएँ हैं-

द्वे विरूपे चरतः स्वर्थे अन्यान्या वत्समुप धापयेते।
हरिरन्यस्यां भवति स्वधावाञ्छुक्रो अन्यस्यां ददृशे सुवर्चाः।।१।। (ऋ.१.९५.१)

दशेमं त्वष्टुर्जनयन्त गर्भमतन्द्रासो युवतयो विभृत्रम्।
तिग्मानीकं स्वयशसं जनेषु विरोचमानं परि षीं नयन्ति।।२।। (ऋ.१.९५.२)

किसी भी कण द्वारा विशेष बल एवं प्रकाशयुक्त होने के लिए विभिन्न सूक्ष्म प्राणों और मरुतों को प्राप्त करने के लिए दो त्रिष्टुप् छन्दों से संगतीकरण किया जाता है। जिन मंत्रों का विधान सायण अपने याग में करते हैं, उन्हीं मंत्रों की उपर्युक्त कण के साथ संगति होना हम मानते हैं। इन दोनों ऋचाओं की उत्पत्ति 'आङ्गिरस कुत्स' ऋषि प्राण द्वारा होती है। इसका तात्पर्य यह है {अङ्गिराः = सूत्रात्मा प्राण - तु.म.द.य.भा.२७.४५} कि ये दोनों छन्द सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न एवं विद्युत् के समान तीक्ष्ण हिंसक कुत्स नामक प्राण से उत्पन्न होते हैं। इन दोनों छन्दों का देवता शुद्ध अग्नि अथवा सत्वगुण विशिष्ट अग्नि है। इसका तात्पर्य यह है कि इन दोनों छन्द रूप तरंगों के प्रभाव से विद्युत् एवं अविनाशी अग्नि

तत्त्व समृद्ध होता है, जिससे प्रकाश और ऊष्मा की वृद्धि होती है। इनका छन्द क्रमशः विराट् त्रिष्टुप् एवं त्रिष्टुप् होने से तीक्ष्ण बल एवं तेज विशेष रूप से प्रकट होते हैं।

इन ऋचाओं के अन्य कुछ निम्न प्रभाव भी होते हैं-

प्रथम ऋचा के प्रभाव से {वत्सः = स्व व्याप्त्या सर्वाऽऽच्छादकः (म.द.ऋ.भा.१.६५.४), मन एव वत्सः (श.११.३.१.१), जातं संसारम् (म.द.ऋ.भा.१.६५.१)। प्राणापानौ = प्राणापानौ इन्द्राग्नी (मै.१.५.६)। स्वधा = द्यावापृथिव्योर्नाम (निघं.३.३०) स्वकीया धारणाशक्तिः (तु.म.द.ऋ.भा.१.८८.६)} दो परस्पर विरुद्ध रूप वाले प्राण और अपान मनस् तत्त्व का भक्षण करते हुए विचरते हैं। इनमें से प्राण अपनी धारणा शक्ति से आकर्षणयुक्त होकर अपान में स्थित होता है और अपान तेजस्वी और शीघ्रकारी होकर प्राण के अन्दर देखा जाता है। इस प्रकार इस रश्मि के द्वारा दोनों का परस्पर बन्धन दृढ़ होने में सहयोग मिलता है।

द्वितीय ऋचा के प्रभाव से उपर्युक्त दोनों प्राणापान परस्पर मिलकर सृष्टि काल तक रहने वाले तीव्र भेदक सम्पूर्ण तेजस्वी व्यवहारों को धारण करने वाली अनेक प्रकाशमान किरणों को उत्पन्न करते हैं। {दश = दशेति वै सर्वमेतावति हि संख्या (ऐ.आ.२.३.४)}।।

किसी भी त्रिष्टुप् रूप छन्द के प्रभाव से प्राण शक्ति, बल एवं गतिशीलता, प्रकाश एवं धारणशीलता एवं तीव्र भेदनशीलता जैसे गुण उत्पन्न होते हैं।।

जब कोई देव कण उपर्युक्त दोनों छान्दस्क तरंगों से संयुक्त हो जाता है, तब वह उपर्युक्त सभी गुणों से सम्पन्न भी हो जाता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जो कण वा तरंगें अत्यन्त भेदन शक्तिसम्पन्न अथवा तीव्र प्रकाश और ऊष्मा से संयुक्त होती हैं, वे उपर्युक्त दो त्रिष्टुप् छान्दस्क तरंगों को अपने साथ धारण किये रहती हैं। वर्त्तमान विज्ञान **गामा किरणों** को सबसे अधिक ऊर्जावान् मानता है। **हमारी दृष्टि में इनकी महती ऊर्जस्विता का कारण ये दो त्रिष्टुप् छन्दस्क तरंगें ही हो सकती हैं।** विभिन्न क्रियाओं और तेजस्वी विकिरणों के मूल कारण प्राण और अपान के बन्धन अपेक्षाकृत दृढ़ होते हैं। जिसमें संयोग-वियोग आदि की क्रियाएं विशेष तीक्ष्ण और प्रभावशालिनी होती है।

८. जगत्यौ पशुकामः कुर्वीत।।
जागता वै पशवः।।
पशुमान् भवति य एवं विद्वाञ्जगत्यौ कुरुते।।

{पशुः = यो दृश्यते भोग्यपदार्थसमूहः समक्षे स्थापितः सः (म.द.य.भा.३.५७), दृश्यः, द्रष्टव्यः (म.द.य.भा.२३.१७), पशवो वै हविष्मन्तः (श.१.४.१.६), पशवो वै मरुतः (ऐ.३.१६), प्राणाः पशवः (श.७.५.२.६), पशवो वै छन्दांसि (श.७.५.२.४२)}

व्याख्यानम्- आचार्य सायण ने इसके भाष्य में दो जगती ऋचाओं के पाठ का विधान किया है, वे हैं-

जनस्य गोपा अजनिष्ट जागृविरग्निः सुदक्षः सुविताय नव्यसे।
घृतप्रतीको बृहता दिविस्पृशा द्युमद्वि भाति भरतेभ्यः शुचिः।।१।। (ऋ.५.११.१)

यज्ञस्य केतुं प्रथमं पुरोहितमग्निं नरस्त्रिषधस्थे समीधिरे।
इन्द्रेण देवैः सरथं स बर्हिषि सीदन्नि होता यजथाय सुक्रतुः।।२।। (ऋ.५.११.२)

इन दोनों ऋचाओं की उत्पत्ति 'सुतम्भर आत्रेय' ऋषि प्राण से होती है। इसका वैज्ञानिक स्वरूप १.४.१ में देखें। इन दोनों का देवता 'अग्नि' एवं छन्द क्रमशः निचृज्जगती तथा जगती है। इनके प्रभाव से

अग्नि तत्त्व की समृद्धि होती है तथा विभिन्न पद-प्रभावों से विद्युत्, प्रकाश की आवागमन अर्थात् उत्सर्जन एवं अवशोषण की प्रक्रिया तीव्र होती है। इन छन्द रूप तरंगों से विभिन्न अन्य छन्द, विभिन्न मरुत् अर्थात् लघु छन्द रूप सूक्ष्म पवन, देखने योग्य विभिन्न परमाणु आदि के साथ आकर्षण आदि क्रियाएं तीव्र होती हैं। ये सूक्ष्म पवन रूपी मरुत् सृष्टि प्रक्रिया में हवि का काम करते हैं अर्थात् ये विभिन्न कणों द्वारा (जगती छन्दों से संयुक्त होने पर) अवशोषित कर लिए जाते हैं।

इन ऋचाओं के अन्य कुछ प्रभाव भी होते हैं-

प्रथम ऋचा के प्रभाव से {जनः = प्राणः (तु.म.द.य.भा.२५.२३), जातः संसारः (तु.म.द.य.भा.१५.२७)} संसार के उत्पन्न पदार्थों की रक्षा करने एवं उन्हें सक्रिय करने वाला पवित्र और संदीप्त तेजस्वी बलों से युक्त अग्नि विद्युत् के स्पर्श से विभिन्न कणों द्वारा धारण और पोषित होकर बार-२ उत्पन्न होता है।

द्वितीय ऋचा के प्रभाव से विभिन्न नयनकर्त्ता मरुत् वायु प्राण, अपान और व्यान में स्थित होकर सर्वप्रथम अग्नि को उत्तम प्रकार से धारण व प्रकाशित करते हैं। वैसे ही अग्नि इस छन्द रश्मि तथा विद्युद् वायु के साथ मिलकर अन्तरिक्ष में विभिन्न पदार्थों को धारण करता है।

इस प्रकार इन दोनों ही रश्मियों से ऊर्जा का उत्सर्जन और अवशोषण समृद्ध होता है।।

विभिन्न प्रकार के दृश्य कण जगती छन्दों से सम्बद्ध होते हैं किंवा जगती छन्दों के कारण ही वे अपने दृश्य रूप को प्राप्त कर पाते हैं।।

जो देव कण उपर्युक्त दो जगती छन्दस्क तरंगों से संयुक्त होता है, वह विभिन्न अन्य मरुतों और छन्दों से भी संयुक्त हो जाता है। क्वचित् वह देव कण अर्थात् ऊर्जा कण स्थूल रूप धारण करके वर्त्तमान विज्ञान की भाषा में द्रव्य कण के रूप में परिवर्तित हो जाता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब कोई ऊर्जा तरंग (विद्युत् चुम्बकीय तरंग) उपर्युक्त दो जगती छन्दस्क तरंगों से संयुक्त होती है, तब वह अन्य विभिन्न मरुतों और छन्दों को आकर्षित करने में सक्षम हो जाती है और ऐसा करते हुए उन छन्दों के घनीभूत होने से स्थूल द्रव्य कण का रूप भी कभी-२ धारण कर सकती है। इससे ऊर्जा उत्सर्जन व अवशोषण भी समृद्ध होता है।।

६. विराजावन्नाद्यकामः कुर्वीत।।
अन्नं वै विराट्।।
तस्माद्यस्यैवेह भूयिष्ठमन्नं भवति स एव भूयिष्ठं लोके विराजति तद्विराजो विराट्त्वम्।।

{अन्नम् = अनिति जीवयतीति अन्नम् (उ.को.३.१०), अन्नं कस्मात्? आनतम्भूतेभ्यः, अत्तेर्वा (नि.३.६), अन्नं प्राणः (तै.ब्रा.३.२.३.४), अन्नं वा अपां पाथः (श.७.५.२.६०), (पाथः = अन्तरिक्ष मार्गम् - म.द.ऋ.भा.१.११३.८), अन्नं वै वयश्छन्दः (श.८.५.२.६), अन्नं वै गिरश्छन्दः (श.८.५.२.५), अन्नं प्रच्छच्छन्दः (श.८.५.२.४)। वयः = प्रदीपकं तेजः (म.द.ऋ.भा.५.१६.१), प्रजननं प्रापणं वा (म.द.य.भा.१४.१०), येन व्येति व्याप्नोति तत् (म.द.य.भा.२१.१५), प्राणो वै वयः (ऐ.१.२८)। गिरः = गीर्यते निगल्यते यदेनं तत् (म.द.य.भा.१५.५), गीरिति वाङ्नामसु पठितम् (निघं.१.११), वाग्वै गीः (श.७.२.२.५), विशो गिरः (श.३.६.१.२४), गॄ निगरणे (तुदादि.); गॄ शब्दे (क्र्यादि.)। प्रच्छत् = प्र+छद अपवारणे (चुरादि.) धातोः क्विप्; प्रयत्नेन दुष्टस्वभावदूरीकरणार्थं कर्म्म (म.द.य.भा.१५.५)}

व्याख्यानम्- आचार्य सायण ने

"प्रेद्धो अग्न इमो अग्न इति संयाज्ये। विराजावित्युक्त एते प्रतीयात्" (आश्व.श्रौ.२.१.३०)

को उद्धृत करते हुए दो एकादशाक्षरपादैस्त्रिपदा विराड् गायत्री छन्दों-

प्रेद्धो॑ अग्ने दीदिहि पुरो नोऽज॑स्रया सू॒र्म्या॑ यविष्ठ। त्वां शश्व॑न्त॒ उप॑ यन्ति॒ वाजाः॑।। (ऋ.७.१.३)
इ॒मो अ॑ग्ने वी॒तत॑मानि ह॒व्याज॑स्रो वक्षि दे॒वता॑ति॒मच्छ॑। प्रति॑ न ईं सु॒र॒भीणि॑ व्यन्तु।। (ऋ.७.१.१८)

के पाठ का विधान किया है। **आश्वलायन** के अनुसार प्रथम मंत्र 'पुरोऽनुवाक्या' एवं द्वितीय मंत्र 'याज्या' के रूप में प्रयुक्त होता है। इन दोनों मंत्रों का ऋषि वसिष्ठ **{प्रजापतिर्वै वसिष्ठः (कौ.ब्रा.२५.२), स ह वागुवाच। (हे प्राण) यद्वा ऽहं वसिष्ठाऽस्मि त्वं तद् वसिष्ठोऽसीति (श.१४.६.२.१४), प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिः (श.८.१.१.६), तं (प्राणम्) यद् देवा अब्रुवन्नयं वै नः सर्वेषां वसिष्ठ इति तस्मात् वसिष्ठस्तस्मात् वसिष्ठ इत्याचक्षत एतमेव (प्राणम्) सन्तम् (ऐ.आ.२.२.२) }** होने से स्पष्ट है कि इन ऋचाओं की उत्पत्ति मनस् तत्त्व एवं प्राण नामक प्राण के संयोग से होती है। इनका देवता 'अग्नि' होने से ये अग्नि तत्त्व को समृद्ध करते हैं। इन दोनों छन्दों के विभिन्न पदों के प्रभाव से जलता और चमकता हुआ तीक्ष्ण अग्नि निरन्तर प्रवाहित होकर अतिशय रूप से व्याप्त होता चला जाता है। इनमें प्रथम मंत्र पुरोऽनुवाक्या एवं द्वितीय मंत्र याज्या होने से आशय यह है कि प्रथम छन्द रूप तरंग आकाश तत्त्व को आकर्षित करके ठण्डे शुष्क वायु को अपनी ओर आकर्षित करती है एवं द्वितीय छन्द रूप तरंग याज्या संज्ञक होने से उस आकर्षित वायु तत्त्व को संगत और संपीडित करने में सहायक होती है। पुरोऽनुवाक्या के विषय में अधिक जानकारी हेतु **१.४.१** में देखें। इन विराड् गायत्री छन्दस्क ऋचाओं के संयोजन से कोई भी कण अन्नाद्यकामना को पूर्ण कर लेता है। इसका तात्पर्य है कि इन दो विराड्गायत्री छन्दस्क प्राणों से युक्त होकर कोई कण विभिन्न उत्पन्न कणों के प्रति आकर्षण का विशेष भाव रखता है। उसकी ओर विभिन्न आपः अर्थात् सोम (ठंडा वायु) पदार्थ के परमाणु आकृष्ट होने लगते हैं, मानो वह कण सोम कणों के लिए अन्तरिक्ष में एक मार्ग प्रदान करता है। वह कण विविध छन्दों को भी आकर्षित करने वाला बन जाता है। वे ऐसे तीन प्रकार के छन्द विशेषतया ज्ञात हैं। वे हैं- (१) **वयश्छन्द** अर्थात् ऐसे प्राण, जिनमें प्रदीपक तेज होता है तथा जो उत्पादन कर्म को अति व्यापकता प्रदान करते हैं। इनका बल भी विशेष वर्धमान होता है। (२) **गिरश्छन्द** अर्थात् ऐसे आच्छादक प्राण, जो सरलता से दूसरे पदार्थों में प्रवेश कर जाते वा उन्हें अपने में निगल लेते हैं। इसके साथ ही ये वाक्तत्त्व से विशेष सम्पृक्त होते हैं। (३) **प्रच्छच्छन्द** अर्थात् ऐसे आच्छादक प्राण, जो बाधक आसुर तत्त्वों को उस यजनशील कण से दूर रखते हैं अर्थात् उसे संगतीकरण प्रक्रिया में बाधक नहीं बनने देते। इन तीनों ही प्रकार के प्राणों को पूर्वोक्त दो विराड् गायत्री छन्दों से संयुक्त कण प्राप्त करने वाले होते हैं।।

यह उपर्युक्त स्वरूप वाला अन्न तत्त्व जिसमें 'प्राण' व 'अन्न' दोनों ही प्रकार के पदार्थ आ जाते हैं अर्थात् अमूर्त व मूर्त दोनों प्रकार के पदार्थ इसमें समा जाते हैं। यह ऐसा अन्न संज्ञक पदार्थ विविध प्रकार के पदार्थों का विविधरूपेण प्रकाशन करता है अर्थात् उनके सृजनकार्य को सम्पन्न करता है।।

इस कारण इस संसार में जिस कण के साथ उपर्युक्त विविध स्वरूप वाले प्राणों से जो जितनी अधिक मात्रा में संयुक्त होता है अथवा ये ऐसे अन्न पदार्थ जितनी अधिक मात्रा में इस ब्रह्माण्ड में विद्यमान होते हैं, उतनी ही अधिक मात्रा में इस ब्रह्माण्ड में विविध पदार्थों का प्रकाशन वा निर्माण होता है। इसी कारण विराट् छन्दों का विराट्त्व कहाता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- किसी भी कण वा तरंग द्वारा विविध कणों व तरंगों के निर्माण की श्रंखला प्रारम्भ करने के लिए उन कण वा तरंगों से उपर्युक्त दो विराड् गायत्री छन्दों का संयोजन क्रमबद्ध तरीके से किया जाता है। इन छन्दरूप तरंगों की क्रमबद्धता व क्रियाविधि ऊपर व्याख्यान भाग में समझें।

१०. वि स्वेषु राजति, श्रेष्ठः स्वानां भवति य एवं वेद।। ५।।

{स्वः = सर्वचेष्टानिमित्तो व्यानः, प्राणाऽपानव्यानैर्युक्तः सन् (म.द.य.भा.३.३७), अन्तरिक्षम् (म.द.य.भा.३३.७५), प्रकाशस्थांल्लोकान् (म.द.य.भा.२३.८), स्वरादित्यो भवति सु अरणः

सु ईरणः। स्वृतो रसान्। स्वृतो भासं ज्योतिषाम्। स्वृतो भासेति वा। एतेन द्यौर्व्याख्याता (नि. २.१४), देवा वै स्वः (श.१.९.३.१४)}

व्याख्यानम्- जब कोई कण प्राक्वर्णित गायत्री आदि छन्दों के विराट् रूप युग्मों से पूर्वोक्तानुसार यथावत् संयुक्त होता है, तब वह सर्वचेष्टानिमित्त व्यान नामक प्राण से संयुक्त होकर विभिन्न प्रकाशमान लोकों और अन्तरिक्ष आदि स्थानों में विशेष शोभित होता है एवं विभिन्न प्रकार के प्रकाशमान कणों के बीच श्रेष्ठता को प्राप्त होता है।।

ॐ इति १.५ समाप्तः ॐ

ॐ अथ १.६ प्रारभ्यते ॐ

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. अथो पञ्चवीर्यं वा एतच्छन्दो यद्विराट्।।

यत्त्रिपदा तेनोष्णिहागायत्र्यौ यदस्या एकादशाक्षराणि पदानि तेन त्रिष्टुब् यत्त्रयस्त्रिंशदक्षरा तेनानुष्टुभ्, न वा एकेनाक्षरेण च्छन्दांसि वियन्ति न द्वाभ्यां, यद्विराट् तत्पञ्चमम्।।

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त विराड् छन्द की प्रशंसा में कहते हैं कि यह छन्द पाँच प्रकार की विविध शक्तियों से युक्त होता है। विभिन्न प्रकार के बल, प्रकाश, सूक्ष्म पवनों से युक्त यह विराड् गायत्री पाँच प्रकार से व्यवहार करता है। उसको स्पष्ट करते हुए आगे कहते हैं- ।।

क्योंकि यह तीन पदों से युक्त होता है और उष्णिक् तथा गायत्री छन्द भी तीन पदों से युक्त होते हैं। इस कारण यह विराड् छन्द भी उष्णिक् और गायत्री के समान अपना प्रभाव दिखलाता है। इसके एक पाद में ग्यारह अक्षर होते हैं। उधर त्रिष्टुप् छन्द के भी एक पाद में ग्यारह अक्षर होते हैं, इस कारण यह छन्द त्रिष्टुप् के समान शक्तिशाली भी होता है। इस छन्द में कुल २२ अक्षर होते हैं, उधर अनुष्टुप् छन्द में २१ अक्षर होते हैं। यहाँ महर्षि ऐतरेय महीदास कहते हैं कि एक या दो अक्षरों से छन्द परिवर्तित नहीं हुआ करते। इस कारण इस विराड् छन्द का प्रभाव अनुष्टुप् छन्द के समान भी होता है। इस प्रकार इन चारों छन्दों के समान पूर्वोक्त दो विराट् छन्दों का प्रभाव होता है और पांचवां प्रभाव स्वयं अपना होता है। इस प्रकार यह विराड् गायत्री छन्द पाँच प्रकार की शक्तियों से युक्त कहे गये हैं। पूर्वोक्त विराड् गायत्री ऋग्वेद ७.१.३, १८ में क्रमशः २६ व ३२ अक्षर हैं, और विराट् में ३० अक्षर होते हैं, इस कारण इनका छन्द अपरिवर्तित ही माना गया है। विराट् छन्द के विषय में आचार्य पिंगल का कथन है-

"विराजो दिशः" (पिंगल छन्द शास्त्रम् ३/५)

इसका भाष्य करते हुए आचार्य यादव प्रकाश का कथन है-

"दशाक्षराणि विराजः पादः"

हलायुध भट्ट ने भी इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है-

"पाद इत्यनुवर्तते। यत्र क्वचिद्वैराजः पाद इत्युच्यते तत्र दशाक्षरः प्रत्येतव्यः।"

इस प्रकार विराट् छन्द तीस अक्षरों वाला माना गया है। वैसे विराट् छन्द के अन्य भेद भी हैं, जिनकी अक्षर संख्या पृथक्-२ है परन्तु इन उपर्युक्त विराट् गायत्री छन्द रश्मियों की साम्यता तीस अक्षरों वाले विराट् छन्द से ही हो सकती है। गायत्री आदि चार छन्दों के प्रभाव व शक्तियों को पूर्व खण्ड में समझाया गया है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- विभिन्न छन्दरूप तरंगें एक या दो अक्षर रूपी सूक्ष्म प्राण के भेद से भिन्न प्रभाव नहीं दर्शाती अर्थात् उनका प्रभाव समान ही रहता है।।

२. सर्वेषां छन्दसां वीर्यमवरुन्धे, सर्वेषां छन्दसां वीर्यमश्नुते, सर्वेषां छन्दसां सायुज्यं सरूपतां सलोकतामश्नुतेऽन्नादोऽन्नपतिर्भवत्यश्नुते प्रजयाऽन्नाद्यं य एवं विद्वान् विराजौ कुरुते।।

व्याख्यानम्- जो देव कण पूर्वोक्त प्रकार से दोनों विराड् गायत्री छन्दों का क्रमबद्ध और यथोचित प्रयोग करता है, वह अन्य सभी छन्द रूप तरंगों के बल, प्रकाश आदि प्रभावों को रोक कर अपनी ओर आकर्षित करने में समर्थ होता है और फिर ऐसा करके उन सभी छन्दों के बल, पराक्रम, तेज आदि को अपने में समाविष्ट कर लेता है, जिससे वह सभी प्रकार के छन्दों का सामीप्य प्राप्त करके उन सभी के समान रूप प्राप्त कर लेता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वह सभी छन्दों का निवास स्थान हो किंवा मानो एक ही कण में एक ही साथ सभी छन्द प्रतिष्ठित हो गये हों। ऐसा कण इन दो प्रकार के छन्दों को धारण करके विभिन्न प्रकार के अन्न संज्ञक पदार्थों का भोक्ता, पालक एवं रक्षक बन जाता है। इसके साथ ही वह अपने से उत्पन्न विभिन्न पदार्थों को भी अन्न आदि पदार्थों से सम्पन्न कर देता है। यहाँ अन्न संज्ञक पदार्थों का वैज्ञानिक स्वरूप **१.५.६** में देखें।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब कोई इलेक्ट्रॉन वा फोटोन उपर्युक्त प्रकार से दो गायत्री छन्दरूप तरंगों से संयुक्त होता है, तो ये तरंगें अन्य छन्दरूप तरंगों को भी अपने साथ आकर्षित कर लेती हैं, जिससे उनका तेज और बल भी उस इलेक्ट्रॉन, फोटोन आदि के साथ संयुक्त हो जाता है जिससे वे कण और भी सक्रिय हो उठते है।

३. तस्माद् विराजावेव कर्तव्ये।।
प्रेद्धो अग्न इमो अग्न इत्येते।।

व्याख्यानम्- इसलिए पूर्वोक्त **"प्रेद्धो अग्न........" "इमो अग्न.........."** इन दोनों विराड् गायत्री छन्दस्क ऋचाओं का पुरोऽनुवाक्या और याज्या के रूप में संयोजन किया ही जाता है।।+।।

४. ऋतं वाव दीक्षा सत्यं दीक्षा तस्माद्दीक्षितेन सत्यमेव वदितव्यम्।। अथो खल्वाहुः कोऽर्हति मनुष्यः सर्वं सत्यं वदितुं, सत्यसंहिता वै देवा अनृतसंहिता मनुष्या इति।।

{ऋतम् = अव्यभिचारि (म.द.य.भा.११.४७), सत्यं वा ऽऋतम् (श.७.३.१.२३), सत्यं कारणम् (तु.म.द.ऋ.भा.१.१०५.५), ओमित्येतदेवाक्षरमृतम् (जै.उ.३.३.६.५), अयं वा ऽअग्निर्ऋतमसावादित्यः सत्यम् (श.६.४.४.१०), मनो वा ऋतम् (जै.उ.३.६.८.५)। सत्यम् = अव्यभिचारिकर्म (म.द.य.भा.१५.६), अविनाशिगमनागमनाख्यं कर्म (म.द.ऋ.भा.१.३८.७), प्राणा वै सत्यम् (श.१४.५.१.२३)}

व्याख्यानम्- दीक्षा अर्थात् सर्ग के नियमों का धारण कर्म ऋत अर्थात् मूल कारणतत्त्व प्रकृतिरुत्पन्न महद्, मन वा अहंकार तत्त्व से प्रारम्भ हो जाता है। छन्द विषयक यह प्रक्रिया दैवी गायत्री छन्द **'ओंकार'** से प्रारम्भ हो जाती है। यह प्रक्रिया निर्बाध वा अविचलितरूपेण होती रहती है। यही प्रक्रिया सत्य अर्थात् प्राण एवं उनके अविनाशी गमनागमन कर्मों से प्रारम्भ होती है। मूलतः ऋत एवं सत्य एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। कहीं-२ किंचिद् भेद हैं। इस कारण ऋत को सत्य तथा सत्य को ऋत भी कहा है। मूल अग्नि से लेकर तारे के गर्भ तक यही दीक्षा प्रक्रिया चलती रहती है। इस क्रिया से सर्वत्र ऊष्मा, वाक् तत्त्व संवर्धन तथा प्राणादि का व्यापार चलता रहता है। इस कारण जो पदार्थ दीक्षित होता है अर्थात् ऊष्मादि ऊर्जा वा प्राणादि के बलों से युक्त होकर सर्ग नियमों के अन्तर्गत कर्मशील होता है, वह सत्य अर्थात् विभिन्न प्राणों के अविचलित गमनागमनादि कर्मों में ही रमण करता है अर्थात् ऐसे कर्मों में ही गतिमान रहता है। {वदति गतिकर्मा (निघं.२.१४)} इसका आशय यह भी है कि वह पदार्थ ऐसे कर्मों वा प्राणों में वाक् तत्त्व अर्थात् विभिन्न छन्दरूप तरंगों को संयोजित करता रहता है। सम्पूर्ण जगत् में सब कुछ यथार्थ नियमों पर ही सृजन प्रक्रिया अनवरत चलती रहती है।।

अब यहाँ प्रश्न किया जाता है कि कौन से मनुष्य नामक कण जो सम्पूर्णरूप से सत्य अथार्त् विभिन्न प्राणों के अविचलित गमनागमन कर्मों में निर्बाध तथा पूर्ण नियमितरूपेण गमनागमन करने में समर्थ होते हैं? **मनुष्य ऐसे कणों का नाम है, जो सूर्यादि तारों से उत्पन्न होते तथा प्रकाशशील एवं कुछ अनियमित गति वाले होते हैं।** (देखें १.३.४) इसके उत्तर में कहते हैं कि देव अर्थात् मन, वाक्, प्राणादि पदार्थ होते हैं। इनकी गति व व्यवहार नियमित व निर्बाध होता है। इस कारण कहा है कि ये पदार्थ सत्य अर्थात् अविनाशी गमनागमन कर्मों में सदैव प्रतिष्ठित रहते हैं। उधर मनुष्य नामक पूर्वोक्त कण अनृत अर्थात् व्यभिचारी गति व व्यवहार भी कभी-२ कर सकते हैं। यहाँ देव पदार्थ **'दीपनाद्वा, दानाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति' (नि.७.१५)** से प्रकाशयुक्त होते ही हैं, वहीं 'मनुष्य' नामक कण भी **'मन्यते अर्चतिकर्मा' (निघं.३.१४)** से प्रकाश व ज्वलनशील होते हैं। इनकी गति व व्यवहारों का ही यहाँ भेद दर्शाया है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सृष्टि में दो प्रकार के कणों का एक विशेष भेद यहाँ दर्शाया है। कुछ कण वा तरंग ऐसे हैं, जिनमें दीप्ति, प्रकाश, गति आदि हैं परन्तु उनकी गति व व्यवहार सदैव नियमित व अविचलित होता है तथा दूसरे प्रकार के कण प्रकाशमान् तो होते हैं परन्तु उनकी गति व व्यवहार न तो नियमित व अविचलित होता है और न अविनाशी ही होता है। यहाँ यह भी कथन है कि सृष्टि प्रक्रिया को यथावत् चलाने हेतु अविनाशी, नियमित व निर्बाध गति वा क्रिया की ही आवश्यकता होती है। तब ऐसा प्रतीत होता है कि दूसरे प्रकार के कण सर्ग प्रक्रिया में अल्पकाल के लिए निर्मित होते तथा पुनः नष्ट हो जाते हैं, जबकि प्रथम प्रकार के कणों का आयु दीर्घ होता हैं।

५. विचक्षणवतीं वाचं वदेत्।।
चक्षुर्वै विचक्षणं वि ह्येनेन पश्यतीति।।
एतद्ध वै मनुष्येषु सत्यं निहितं यच्चक्षुः।।

{वाक् = सन्स्तुप् छन्दः (श.८.५.२.५), वाग् वै ब्रह्म (ऐ.६.३), वाग् वै विश्वामित्रः (कौ.ब्रा.१०.५), वागेव भर्गः (गो.पू.५.१५), एकाक्षरा वै वाक् (तां.४.३.३)। चक्षुः = चक्षुरसावादित्यः (ऐ.आ.२.१.५), प्रकाशकः (म.द.ऋ.भा.५.५६.३), चक्षुर्वा ऋतम् (ऐ.२.४०), सत्यं वै चक्षुः (श.१.३.१.२७), त्रिवृद् वै चक्षुः शुक्लं कृष्णं लोहितमिति (कौ.ब्रा.३.५), चक्षुर्मैत्रावरुणः (कौ.ब्रा.१३.५), प्राणापानौ मित्रावरुणौ (तां.६.१०.५), प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ (श.१.८.३.१२), मनो मैत्रावरुणः (श.१२.८.२.२३)। पश्यति = इच्छति (तु.म.द.ऋ.भा.१.२४.१)}

व्याख्यानम्- **महर्षि कात्यायन** का कथन है- **''विचक्षणचनसितवतीं वाचम्'' (का.श्रौ.७.५.६)** इसकी टीका करते हुए विद्याधर शर्मा लिखते है- ''विचक्षणां = संस्कृतां, चनसितवतीं सत्यवतीं वाचं वदेद्यजमानः''। यजमान अर्थात् कोई भी यजनशील कण विलक्षण वाक् के साथ गतिशील होता है, जबकि कात्यायन विलक्षण के साथ सत्यमयी वाक् का विधान करते हैं। इसका आशय यह है कि जब कोई कण व्यक्त रूप में प्राण, विद्युद् आवेश, तेज आदि से युक्त हो जाता है और उसका गमनागमन कर्म नियमित हो जाता है, तभी वह आगे की प्रक्रिया में भाग लेने योग्य हो सकता है। प्रकृति रूपी मूल अवस्था में जब सब कुछ अव्यक्त होता है, तब वहाँ कोई भी संयोग-वियोग आदि की प्रक्रिया नहीं होती। जैसे ही उस अव्यक्त स्थिति से व्यक्तावस्था प्रकट होती है, वैसे ही संयोग प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। इसी कारण **महर्षि दयानन्द** सत्यार्थ प्रकाश के आठवें समुल्लास में लिखते है- **''नित्यायाः सत्वरजस्तमसां साम्यावस्थायाः प्रकृतेरुत्पन्नानां परमसूक्ष्माणां पृथक् पृथग्वर्तमानानां तत्त्वपरमाणूनां प्रथमः संयोगारम्भः.....''** अर्थात् नित्यस्वरूप सत्व, रजस् और तमोगुणों की एकावस्थारूप प्रकृति से उत्पन्न जो परमसूक्ष्म पृथक्-२ तत्त्वावयव विद्यमान, उन्हीं का प्रथम ही जो संयोग का आरंभ है। इस स्थिति में बल, तेज आदि पुनः कुछ काल पश्चात् विद्युदावेश आदि सभी व्यक्त अवस्था में आ जाते हैं। यद्यपि कारणरूप

मूल प्रकृति के पश्चात् जो भी मनस्तत्त्वादि पदार्थ उत्पन्न होते हैं, वो प्रकृति के समान अव्यक्त नहीं होते पुनरपि उन्हें किसी मानवीय तकनीक से व्यक्त नहीं किया जा सकता, यह बात भी विशेष ध्यान रखने योग्य है। व्यक्तावस्था उत्पन्न होने के बाद ही संयोगादि प्रक्रिया प्रारम्भ होती है।।

यहाँ 'विचक्षण' शब्द का अर्थ चक्षु दिया हुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि जब वाक् तत्त्व प्रकाशक रूप धारण कर लेता है एवं प्राणापान आदि से संयुक्त हो जाता है एवं नियमित और अविचलित गमनागमन आदि कर्मों को करने में सक्षम हो जाता है। यहाँ चक्षु का त्रिवृत् होना इस बात का संकेत है कि **प्रकृति के तीनों गुण सत्व, रज और तम पूर्णतः अभिव्यक्त हो जाते हैं और तब इस सबके होने पर इच्छा अर्थात् आकर्षण आदि का गुण उत्पन्न हो जाता है, जिससे संयोगादि की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है।।**

मनुष्य नामक कणों में जो सत्य निहित होता है, वही उनका चक्षु है। ऐसे कणों में मनस् तत्त्व एवं दैवी गायत्री छन्द **'ओम्'** ही निर्बाध और अविचलित गति आदि कर्मों का मुख्य प्रेरक है और इन्हीं के कारण प्राणापान आदि सभी प्राण एवं सभी प्रकार के बल उत्पन्न हुआ करते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- कोई भी कण अपनी अवस्था को उस समय प्राप्त कर पाता है, जब उसमें दीप्ति, बल, गति आदि स्पष्ट रूप से व्यक्त हो सकें। जब तक मूल पदार्थ में ये गुण अभिव्यक्त नहीं होते, तब तक कण वा तरंग रूप स्थिति प्राप्त नहीं होती और जब तक ऐसा नहीं हो जाता, तब तक कोई भी सृजन कर्म प्रारम्भ नहीं हो सकता।।

६. तस्मादाचक्षाणमाहुरद्रागिति स यद्यदर्शमित्याहाथास्य श्रद्दधति यद्यु वै स्वयं पश्यति न बहूनां चनान्येषां श्रद्दधाति।।
तस्माद् विचक्षणवतीमेव वाचं वदेत् सत्योत्तरा हैवास्य वागुदिता भवति भवति।।६।।

{श्रत् = श्रत् सत्यनाम (निघं.३.१०)}

व्याख्यानम्- इसका अनुवाद करते हुए डॉ. सुधाकर मालवीय लिखते है- ''इसलिए कहने वाले से मनुष्य कहते हैं 'क्या तुमने देखा है?' यदि वह कहता है कि 'मैंने देखा है' तो वे उस पर विश्वास करते हैं अथवा यदि कोई पुरुष स्वयं ही देखता है, तो वह बहुत से भी अन्य पुरुषों का विश्वास नहीं करता है।''

यहाँ आधिदैविक व्याख्यान में इसका भाव यह है कि जो कण पूर्वोक्त चक्षु अर्थात् प्राणापान आदि तत्त्व, वाक् एवं मनस् तत्त्व आदि से युक्त होकर आकर्षण आदि गुण को धारण कर लेते हैं एवं जो स्पष्ट, नियमित एवं निर्बाध गतिरूपी सत्य चक्षु से युक्त हो जाते हैं, उनके साथ ही अन्य कण, जो स्वयं ऐसे गुणों से युक्त होते हैं, संयुक्त होने लग जाते हैं। यदि ये गुण किसी पदार्थ में नहीं होते हैं, तो उनसे कोई भी पदार्थ क्रिया नहीं करता है। इस प्रकार दोनों ही ओर के कणों में ऐसे गुणों की विद्यमानता अनिवार्य होती है। इस प्रकार के गुणों से युक्त कोई भी कण इन गुणों से विहीन अनेकों कणों की अपेक्षा अधिक सक्रिय होता है अर्थात् जब तक उपादान पदार्थ में प्राण, मन, वाक् आदि अपने स्वरूप में प्रकट नहीं हो पाते हैं किंवा सत्व आदि गुण अभिव्यक्त नहीं हो पाते हैं, तब तक वह पदार्थ अतिशय मात्रा में होते हुए भी उपर्युक्त गुणों से संयुक्त किसी एक भी कण की अपेक्षा कोई भी सृजन कार्य करने में सक्षम नहीं हो पाता है।।

इस कारण पूर्वोक्त विलक्षण वाक् तत्त्व की अभिव्यक्ति सम्पूर्ण पदार्थ में अनिवार्य है किंवा एक ही स्थान पर सत्व आदि गुणों की अभिव्यक्ति होकर पूर्वोक्त गुणों की उत्पत्ति का होना अनिवार्य है। ऐसा होने से शनैः-२ अन्य समस्त पदार्थ में भी सत्य वाक् तत्त्व की उत्पत्ति हो जाती है। यहाँ त्रिगुणों का अभिव्यक्त अवस्था में आना ही मानो वाक् तत्त्व का प्रकट होना है। इसी कारण अथर्ववेद में कहा-

यानि त्रीणि बृहन्ति येषां चतुर्थं वियुनक्ति वाचम्।
ब्रह्मैनद्विद्यात्तपसा विपश्चिद्यस्मिन्नेकं।।३।। (अथर्व.८.६.३)

अर्थात् परमात्मा उन तीन गुणों (सत्व, रजस् व तमस् में वाक् नियुक्त कर देता है।। यहाँ वाक् तत्त्व का तात्पर्य विभिन्न छन्द रश्मियां मानना चाहिए, उनमें भी प्राथमिक वाक् तत्त्व 'ओम्' छन्द रश्मि को कहते हैं, जिसके उत्पन्न होने के उपरान्त ही विभिन्न संयोगादि प्रक्रियाएं प्रारम्भ होती हैं। सत्वादि का स्वरूप पूर्वपीठिका में जानें।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सृष्टि का मूल पदार्थ जब तक अव्यक्त अवस्था में वर्तमान रहता है, तब तक उसमें कोई भी क्रिया नहीं हो सकती। पदार्थ की मात्रा की अपेक्षा पदार्थ में बल, तेज, क्रिया आदि का अभिव्यक्त हो जाना सृजन कर्म के लिए अधिक महत्वपूर्ण है। यह अभिव्यक्ति किसी एक स्थान पर होती है अथवा सर्वत्र, यह यहाँ विषय नहीं है। हाँ, इतना संकेत फिर भी है कि यदि एक स्थान पर ऐसा क्रम प्रारम्भ हो जाता है, तो धीरे-२ यह प्रक्रिया विस्तृत होती चली जाती है।।

इति १.६ समाप्तः

इति प्रथमोऽध्यायः समाप्तः

द्वितीयोऽध्यायः

।। ओ३म् ।।

ओं विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑ सुव। यद्भ॒द्रं त॒न्नऽआ सु॑व।।

अनुक्रमणिका

꧁ अथ २.१ प्रारभ्यते ꧂

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. स्वर्गं वा एतेन लोकमुपप्रयन्ति यत्प्रायणीयस्तत्प्रायणीयस्य प्रायणीयत्वम्।।

{प्रायणीयः = ततिर्वै यज्ञस्य प्रायणीयम् (कौ.ब्रा.७.६)}

व्याख्यानम्- जिस प्रक्रिया से यजनशील कण स्वर्गलोक अर्थात् तारों के निर्माण की प्रक्रिया तक पहुँच सकते हैं, उस प्रक्रिया को **'प्रायणीय'** क्रिया कहते हैं। इस प्रायणीय क्रिया का फल यह होता है कि तारों के केन्द्रीय भाग तक पहुँच कर सृष्टियज्ञ का एक नया विस्तार प्रारम्भ होता है। इसलिये भी इसे प्रायणीय क्रिया कहा जाता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्व अध्याय में वर्णित मूल कणों के बनने और उनमें सृजन क्रिया प्रारम्भ होने के पश्चात् आगे की क्रिया जिसमें विभिन्न तारों के निर्माण तक की प्रक्रिया का प्रारम्भ हो जाता है, उस प्रायणीय क्रिया का यहाँ वर्णन प्रारम्भ होता है।।

२. प्राणो वै प्रायणीय उदान उदयनीयः समानो होता भवति; समानौ हि प्राणोदानौ; प्राणानां क्लृप्त्यै प्राणानां प्रतिप्रज्ञात्यै।।

{उदानः = य ऊर्ध्वमनिति (वायुविशेषः) (म.द.य.भा.६.२०), उदानिति बलयति येन सः (वायुः) (इति मे मतम्), स्फूर्त्तिहेतुरूर्ध्वमन्यते चेष्ट्यते येन सः उत्क्रमणपराक्रमहेतुर्वायुः (तु.म.द.य.भा.१.२०)। प्राणः = सर्वशरीरगामी वायुः (म.द.ऋ.भा.१.६६.१), जीवनहेतुर्बलकारी (वायुः) (म.द.य.भा.६.२१), प्राणम् प्राणिति येन तं जीवनहेतुम् (म.द.य.भा.६.१४)। समानः = समानयति रसं येन सः (म.द.य.भा.२२.३३)}

व्याख्यानम्- किसी भी संयोग-वियोग प्रक्रिया में प्राण नामक प्राथमिक प्राण गति प्रक्रिया को प्रारम्भ करता है, उसे बल देता है और उस प्रक्रिया को धारण किये रहता है। यह सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त होकर विभिन्न कणों वा तरंगों को बल प्रदान करता है। उदान नामक प्राण उदयनीय कहलाता है क्योंकि यह सृष्टि प्रक्रिया में, जो प्राण ने प्रारम्भ की थी, उसे बल प्रदान करके उत्कृष्टता की ओर ले जाता है। यह उदान नामक प्राण किसी बल के विपरीत भी अधिक बल लगाकर किसी भी पदार्थ को ऊपर उठा सकता है। किसी भी क्रियाशील कण को उत्प्रेरित करके और भी क्रियाशील बना देता है। समान नामक प्राण होता का कार्य करता है। यह प्राण और उदान की शक्ति को संतुलित करते हुए एवं उन दोनों के द्वारा प्रदत्त गतियों को व्यवस्थित रूप प्रदान करते हुए संगतिक्रिया का सम्यक् सम्पादन करता है। किसी भी क्रिया में प्राण और उदान दोनों सम अवस्था में रहते हैं, तभी समान प्राण अपने कार्य को विधिवत् सम्पादित करता है और उसी के द्वारा अन्य प्राण भी अपने-२ सामर्थ्य को प्रकट कर पाते हैं और उस सामर्थ्य के प्रकट होने से ही सभी प्राण अभिव्यक्त होकर अपने कार्य व्यापार को सम्यक् स्वरूप प्रदान करते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार– प्राण नामक प्राण रश्मियां किसी भी आकर्षण बल को उत्पन्न प्रेरित व गतिशील करती हैं। उदान रश्मियां किसी बल के विपरीत उठने का सामर्थ्य उत्पन्न करती हैं तथा समान रश्मियां प्राण व उदान रश्मियों को सन्तुलित बनाये रखती हैं। इन तीनों के द्वारा अन्य रश्मियां प्रेरित होती हैं।।
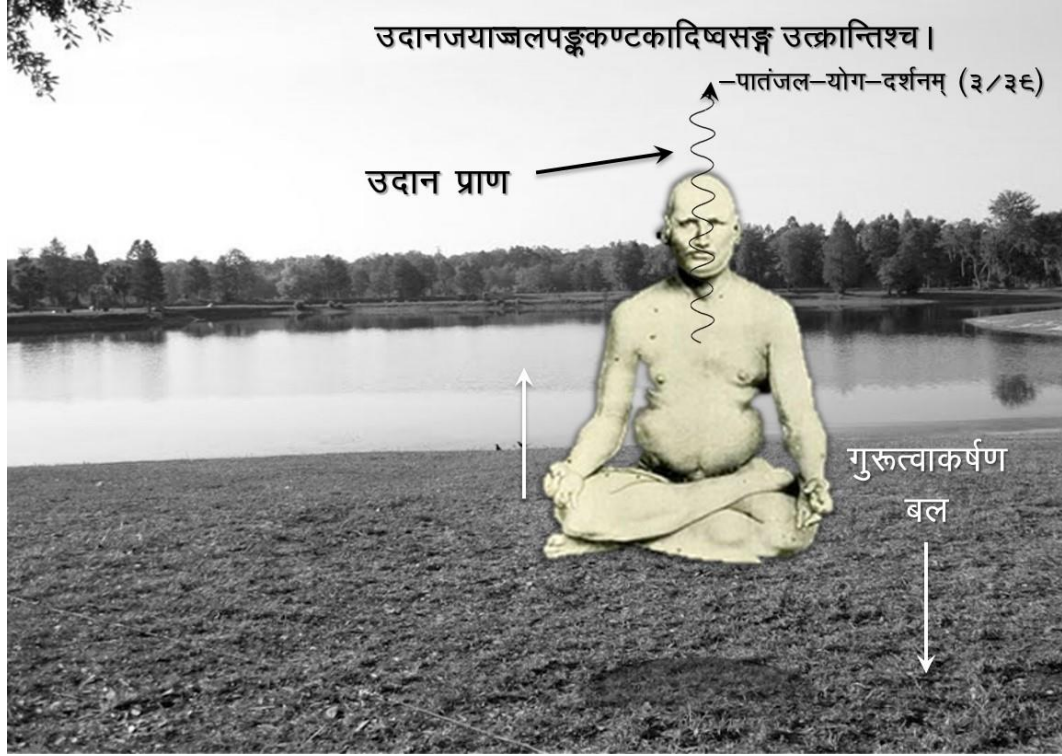
चित्र २.१ उदान प्राण के द्वारा गुरुत्वाकर्षण के विपरीत उत्पन्न बल

३. यज्ञो वै देवेभ्य उपक्रामत् ते देवा न किंचनाशक्नुवन्। कर्तुं न प्राजानंस्तेऽब्रुवन्नदितिं त्वयेमं यज्ञं प्रजानामेति सा तथेत्यब्रवीत् सा वै वो वरं वृणा इति, वृणीष्वेति; सैतमेव वरमवृणीत मत्प्रायणा यज्ञाः सन्तु मदुदयना इति तथेति तस्मादादित्यश्चरुः प्रायणीयो भवत्यादित्य उदयनीयो वरवृतो ह्यस्याः।।

{अदितिः = अदितिरदीना देव माता (नि.४.२२), अदितिः सोमस्य योनिः (मै.३.७.८), अदितिर्हि गौः (श.२.३.४.३४), प्रतिष्ठा वा अदितिः (तै.सं.५.३.४.४), वाग्वाऽअदितिः (श. ६.५.२.२०), यत् तदादत्त तददितिः (काठ.८.२), सर्वं वाऽअत्तीति तददितेरदितित्त्वम् (श. १०.६.५.५)}

व्याख्यानम्– इसका अनुवाद करते हुए डॉ. सुधाकर मालवीय लिखते हैं– ''यज्ञ (सोमयाग का अभिमानी पुरुष किसी कारण से उपरक्त होकर) देवों के पास से चला गया। वे देव कुछ भी न कर सके और वे जान भी नहीं सके (अर्थात् यज्ञ को करने और उसे जानने में अशक्त हो गए)। उन्होंने अदिति से प्रार्थना की– 'तुम्हारे प्रसाद से हम यज्ञ को जानने में समर्थ होवें'। उसने कहा–'अच्छा, किन्तु मैं तुमसे एक वर का वरण करती हूँ।' (उन्होंने कहा) –'वरण करो'। उसने यही वर माँगा कि 'यज्ञ मुझसे ही आरम्भ हों और मुझसे ही समाप्त हों।' (उन्होंने कहा) 'ऐसा ही होगा।' इसलिए प्रायणीय (आरम्भ की) इष्टि में अदिति के लिये प्रथमतः चरु होता है और उदयनीय (अन्त को) इष्टि में भी अदिति के लिए चरु होता है; क्योंकि यही वर उसने माँगा था।''

हमारी दृष्टि में- इस कण्डिका का भाव यह है कि जब सृष्टि प्रक्रिया में प्राणोदानसमानादि विभिन्न प्राणों के संगतीकरण से विभिन्न देदीप्यमान कण उत्पन्न हो गए। अवकाशरूप समस्त आकाश में दीप्ति अवस्था उत्पन्न हो गई। उसके पश्चात् भी उस पदार्थसमूह में सगंतीकरण की प्रक्रिया नहीं हो पा रही थी। विभिन्न देदीप्यमान परमाणु गति, बल, प्रकाश आदि से सम्पन्न भी थे परन्तु परस्पर संगत होकर नये पदार्थ कणों का निर्माण नहीं कर पा रहे थे। तदनन्तर उन प्रकाशित कणों का अपनी मातृ सत्ता, महत्-मनस्तत्त्व अथवा वाक् तत्त्व से सम्पर्क हुआ। यह सम्पर्क इन दोनों ही पदार्थों के ऊपर सर्वोपरि विराजमान चेतन तत्त्व ब्रह्म की प्रेरणा से हुआ। यह वाक् अथवा महत् वा मनस्तत्त्व ही हर प्राणादि देव पदार्थ का मूल उपादान कारण है। यह प्रलय काल में सबका भक्षण कर लेने वाला होने, स्वयं अविनाशी होने एवं अपने से स्थूल पदार्थों के द्वारा सब ओर से ग्रहण किये जाने वाला होने से अदिति कहलाता है। इस पदार्थ से उत्पन्न विभिन्न प्राणादि पदार्थ एवं अग्नि आदि तत्त्व जब भी कोई संगतीकरण की क्रिया करते हैं, तब वे **'ओम्'** छन्द रूपी वाक् अथवा महत् तत्त्व से अवश्य संगत होते हैं। ऐसा नहीं होने पर कोई भी संगतीकरण की क्रिया नहीं हो सकती। स्मरण रहे कि जब भी कोई संगतीकरण की क्रिया होती है, तब वह वाक् एवं महत् तक को प्रभावित करती है। भले ही वह प्रभाव हम किसी भी प्रकार नहीं जान सकें। इसी वाक् वा महत् तत्त्व से ही कोई भी गति वा संगति प्रक्रिया प्रारम्भ होती है और इसी में उसका अन्त भी होता है। इसी में ही प्राण नामक प्राथमिक प्राण के द्वारा प्रारम्भ की गई गति एवं उदान प्राण द्वारा उत्कर्ष को प्राप्त कराई हुई गति इसी अविनाशी तत्त्व में होती है। यही तत्त्व ही मानो समस्त प्राणादि पदार्थों का उनके समस्त गुणों का समुच्चय वा संघात होता है। यद्यपि **'अदिति'** का अर्थ प्रकृति भी होता है, तथा यह प्रत्येक जड़ पदार्थ की आद्य तथा अन्तिम अवस्था भी है परन्तु सृष्टि प्रक्रिया का कोई भी प्रत्यक्ष प्रभाव प्रकृति तक होना सम्भव नहीं है, पुनरपि हमारा मत है कि परोक्ष प्रभाव इस पर भी होता है। प्रत्येक सूक्ष्म क्रिया का आरम्भ व अन्त इसी में मानना चाहिए।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- संसार की सभी प्रकार की गति और संगति की क्रियाएं महत् वा मनस् तत्त्व एवं वाक् तत्त्व से ही प्रारम्भ होती हैं और इसी में इनका अन्त भी होता है। विभिन्न प्रकार के प्राण तत्त्व, इलेक्ट्रॉन वा फोटोन आदि कण, वाक् वा महत् तत्त्व के बिना कोई भी सृजन कर्म नहीं कर सकते हैं। अपेक्षित ऊर्जा वाली कोई भी विद्युत् चुम्बकीय तरंग यदि किसी कण एवं प्रतिकण में परिवर्तित होती है, तो वह वाक् एवं महत् तत्त्व के सम्पर्क के बिना ऐसा नहीं कर सकती है एवं इसकी विपरीत क्रिया भी इसी प्रकार संभव हो पाती है। यद्यपि प्रकृति का एक बड़ा भाग कार्यरूप विभिन्न पदार्थों में परिवर्तित हो चुका है, जिसमें महत् तत्त्व से लेकर प्राणादि पदार्थ एवं ब्रह्माण्ड भर के समस्त लोकलोकान्तर सम्मिलित हैं, पुनरपि मूल प्रकृति का बहुत सारा भाग मूल रूप में ही सर्वत्र व्याप्त है। इसी प्रकार महत्, अहंकार एवं वाक् तत्त्व भी अधिकतर कार्यरूप में परिणित होते हुए भी, मूल रूप में भी सर्वत्र व्याप्त हो रहे हैं। इसी व्याप्त पदार्थ से सम्पर्क करके आगे की क्रियायें सम्पन्न हो पाती है।।

४. अथो एतं वरमवृणीत मयैव प्राचीं दिशं प्रजानाथाग्निना दक्षिणां सोमेन प्रतीचीं सवित्रोदीचीमिति।।

{प्राची = या प्रागञ्चति सा पूर्वा दिक् (म.द.ऋ.भा.३.६.१), प्राची दिगग्निर्देवता (मै.१.५.४, काठ.७.२), तेजो वै ब्रह्मवर्चसं प्राची दिक् (ऐ.१.८), प्राच्येव भर्गः (गो.पू.५.१५), गायत्री वै प्राची दिक् (श.८.३.१.१२)। प्रतीची = प्रत्यञ्चति प्राप्नोति सा (म.द.ऋ.भा.३.६१.३), प्रतीची दिक्सोमो देवता (काठ.७.२), प्रतीची दिङ् मरुतो देवता (मै.१.५.४), ततो वायुरुदतिष्ठत्, सा प्रतीची दिक् (तै.आ.१.२३.६), मनुष्याणां वा एषा दिग् यत्प्रतीची (ष.३.१), जगती प्रतीची (दिक्) (श.८.३.१.१२)। दक्षिणा = दक्षन्ते वर्धन्ते यया सा (उ.को.२.५१), बलकारिणी (म.द.ऋ.भा.२.११.२१), एषा वै (दक्षिणा) दिक् पितृणाम् (श.१.२.५.१७), घोरा वा एषा दिग्दक्षिणा शान्ता इतराः (गो.पू.२.१६), त्रिष्टुब्दक्षिणा (दिक्) (श.८.३.

१.१२)। उदीची = या उदङ्ङुत्तरं देशमञ्चति सा (दिक्) (म.द.य.भा.१५.१३), एषा (उदीची) वै देवमनुष्याणां शान्ता दिक् (तै.ब्रा.२.१.३.५), अथ यदुदीच्यां दिशि तत्सर्वमुद्गीथेनाप्नोति (जै.उ.१.१०.१.७), उदीच्युद्गातुः (दिक्) (श.१३.५.४.२४), आनुष्टुभैषा (उत्तरा) दिक् (श.१३.२.२.१६), उत्तरा ह वै सोमो राजा (ऐ.१.८), एषा (उत्तरा) वै वरुणस्य दिक् (तै.ब्रा.३.८.२०.४), ततो वा इन्द्र उदतिष्ठत्, सोदीची दिक् (तै.आ.१.२३.६), (वायुरेव सविता - गो.पू.१.३३, विद्युदेव सविता - गो.पू.१.३३)}

व्याख्यानम्- अदिति के द्वारा देवों से वर मांगने का अभिप्राय पूर्ववत् समझें। इस कण्डिका का भाव है कि सृष्टि निर्माण प्रक्रिया में यद्यपि सामान्य हलचल सम्पूर्ण पदार्थ में सम्भवतः एक साथ होती है। पुनरपि कॉस्मिक मेघों में एक क्षेत्र विशेष में यह हलचल अपेक्षाकृत अधिक होती है। इस दिशा में अदिति अर्थात् वाक् तत्त्व प्रकट होकर गायत्री छन्द को उत्पन्न करता है। जिससे मृदु तेज और बल उत्पन्न हो जाते हैं। इस अवस्था में विशेष प्रकाश आदि की उत्पत्ति नहीं होती। इस दिशा को देवों की माता अदिति कहा जाता है, क्योंकि यह सबसे पहले अभिव्यक्त होती है। इस कारण इसे प्राची दिशा भी कहते हैं। इसके पश्चात् ऐसी ही प्रक्रिया कुछ आगे बढ़ती है, जहाँ तेज, बल, प्रकाश और ऊष्मा को प्रकट करने के लिए गायत्री छन्द प्राण ही त्रिष्टुप् प्राण में बदल जाते हैं। जिससे इस क्षेत्र में विक्षोभ उत्पन्न होते हैं, क्योंकि इस दिशा में दक्षता, बलशीलता अधिक बढ़ जाती है। इसलिये इसे दक्षिण दिशा कहते हैं। तदुपरान्त यही त्रिष्टुप् छन्द कुछ आगे बढ़ते हैं और इसमें कुछ परिवर्तन होकर जगती छन्द में बदल जाते हैं। जिससे उनकी तीव्रता कुछ कम हो जाती है और उस क्षेत्र में मंद-मंद गति से चलने वाला सोम तत्त्व व्याप्त हो जाता है, जिसके अन्दर अनेक सूक्ष्म पवन रूपी मरुत् उस सोम वायु को ऊपर की ओर उठाते हैं। क्योंकि इस दिशा में सोम वायु अति विस्तृत होता है और बार-२ ऊपर उठता है। इस कारण इसे प्रतीची दिशा कहते हैं। **{प्रति = वीप्सायाम् (म.द.ऋ.भा.१.१६६.७), व्याप्तौ (म.द.य.भा.२०.३७), पुनः पुनः (पा.अ.१.४.८६)}** इसके पश्चात् वह सोम वायु ऊपर उठकर वहाँ उत्पन्न अनुष्टुप् छन्दों के तेज और बल से युक्त होकर सोमराजा के रूप में परिवर्तित हो जाता है अर्थात् वह सोम पदार्थ तेजस्वी हो जाता है। यहाँ अनुष्टुप् छन्द कैसे उत्पन्न होता है? इस विषय में हमारा मत है कि इस क्षेत्र में उद्गीथ अर्थात् दैवी गायत्री छन्द 'ओम्' सब ओर व्याप्त होता है, उससे ही अनुष्टुप् छन्द भी उत्पन्न होते हैं। इन छन्दों से विद्युत् की उत्पत्ति होती है, जो वायु के साथ मिलकर इन्द्र का रूप धारण कर लेती है। यहाँ यह भी स्पष्ट है कि प्राची दिशा में अदिति तत्त्व अर्थात् वाक् तत्त्व, दक्षिण दिशा में अग्नि तत्त्व, पश्चिम दिशा में सोम तत्त्व एवं उत्तर दिशा में सविता अर्थात् विद्युत् तत्त्व की प्रधानता होती है।।

प्रश्न- दिशाएं क्या होती हैं? जब सूर्य का ही निर्माण नहीं हुआ, तो दिशाओं का निर्धारण कैसे हुआ?

उत्तर- {दिशः परिधयः (मै.१.८.७; तै.ब्रा.२.१.५.२), दिशो वै पृष्ठानि (जै.ब्रा.२.२१), दिशः पादाः (तै.सं.७.५.२५.१), दिशो वै परिभूश्छन्दः (श.८.५.२.३)}

दिशा आकाश महाभूत का ही विशेष भाग है। इस कारण ये पदार्थ विशेष का नाम है। यह दिक् तत्त्व प्रत्येक पदार्थ को चारों ओर से घेरे रहता है। यह विभिन्न प्रकार के छन्द रूप प्राणों से निर्मित होता है। ये छन्द प्राण बहुत सूक्ष्म होते हैं, जो प्राण नामक प्राथमिक प्राण से उत्पन्न हुए होते हैं। इसी कारण कहा- **"अथ यत्तच्छ्रोत्रमासीत्ता इमा दिशोऽभवन्" (तु.श.१०.३.३.७)**। यहाँ वाक् तत्त्व एवं विश्वामित्र ऋषि अर्थात् प्राण नामक प्राथमिक प्राण ही श्रोत्र कहलाता है, इसलिये कहा- **"श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषिर्यदेनेन सर्वतः शृणोत्यथो यदस्मै सर्वतो मित्रं भवति तस्माच्छ्रोत्रं विश्वामित्र ऋषिः" (श.८.१.२.६), "वागिति श्रोत्रम्" (जै.उ.४.११.१.११)** यहाँ जिस दिशा में जिस तत्त्व की प्रधानता है, उसी तत्त्व की प्रधानता सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में, सम्पूर्ण लोक-लोकान्तरों, विभिन्न पिण्डों, यहाँ तक की सूक्ष्म कणों में भी अपने-२ स्तर से विद्यमान होती है। दिशा की पहचान के लिए सर्वत्र ही सूर्य के उदय और अस्त का ज्ञान आवश्यक नहीं है, बल्कि किसी भी लोक वा कण के अपने अक्ष पर घूर्णन से दिशा का निर्धारण सहजता से किया जा सकता है। अदिति, अग्नि, सोम, और सविता की विद्यमानता की परीक्षा

करके दिशा का ज्ञान करना अति दुष्कर किंवा असंभव कार्य है। अतः घूर्णन से ही दिशा की परीक्षा करना सबसे सरल उपाय है। दिक् तत्त्व के विषय में संक्षिप्त जानकारी हेतु पूर्वपीठिका द्रष्टव्य है।

दक्षिण हस्त नियम (Right hand rule) के अनुसार अंगूठे की दिशा उत्तर कहलायेगी और उस दिशा के सम्मुख खड़े होने पर दायीं ओर पूर्व और बायीं ओर पश्चिम और पीठ की दिशा दक्षिण कहलायेगी। अंगुलियों की दिशा उस कण वा लोक के स्व अक्ष पर घूर्णन की दिशा होगी।
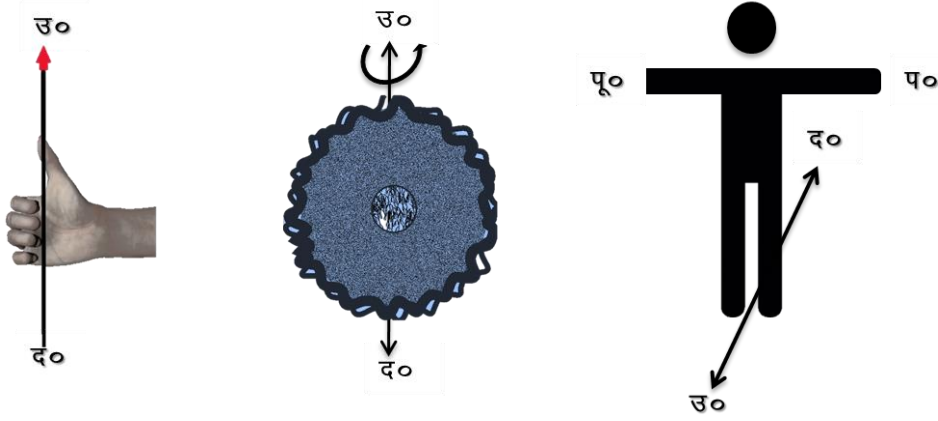
चित्र २.२ दक्षिण हस्त नियम (Right hand rule)

वैज्ञानिक भाष्यसार- सृष्टि प्रक्रिया प्रारम्भ होते समय मूल पदार्थ में सम्भवतः अति सूक्ष्म हलचल सर्वत्र एक साथ होती है परन्तु विभिन्न कॉस्मिक मेघों में विशेष हलचल एक भाग में होती है, जिससे सर्वप्रथम दैवी गायत्री रूप छान्दस तरंगें उत्पन्न होकर अत्यन्त सूक्ष्म बल और तेज उत्पन्न करती हैं परन्तु दृश्य प्रकाश, ऊष्मा आदि की उत्पत्ति नहीं होती। यही दिशा पूर्व दिशा कहलाती है। इसके पश्चात् यह प्रक्रिया आगे बढ़ते हुए तेज और बल की तीव्रता को बढ़ाने के लिए गायत्री तरंगें ही त्रिष्टुप् तरंगों में बदल जाती हैं। यही दक्षिण दिशा होती है। तदुपरान्त ये त्रिष्टुप् तरंगें आगे बढ़कर जगती तरंगों में बदल जाती हैं, जिससे उस क्षेत्र में मन्द-२ गति से चलने वाला सोम पदार्थ उत्पन्न हो जाता है, यह पश्चिम दिशा कहलाती है। उसके बाद सोम वायु ऊपर उठकर अनुष्टुप् तरंगों के साथ मिलकर तेजस्वी हो जाता है, यह उत्तर दिशा कहलाती है। दिशाओं की पहचान का नियम यह है कि दक्षिण हस्त नियम (Right hand rule) के अनुसार अंगूठे की दिशा उत्तर और शेष दिशाएँ उसी के अनुसार निर्धारित की जा सकती हैं।।

५. पथ्यां यजति।।

यत्पथ्यां यजति तस्मादसौ पुर उदेति पश्चाऽस्तमेति पथ्यां ह्येषोऽनुसंचरति।।

{पथ्या = पथिषु साध्वीगतिः (तु.म.द.ऋ.भा.६.६६.७)}

व्याख्यानम्- कोई भी कण वा लोक उचित मार्ग एवं उचित गति से ही सदैव संयुक्त रहता है। इसमें कोई भी परिवर्तन नहीं होता है। यदि कभी ऐसा हो जाए, तो वह अल्पकाल के लिए ही होता है अन्यथा अनिष्ट हो सकता हैं। इसी उचित गति व मार्ग में चलने के निश्चित नियम के कारण ही यह सूर्य लोक पूर्व में उदय तथा पश्चिम में अस्त होता है। इसी के कारण कोई भी कण वा लोक पहिले उत्कर्ष को प्राप्त होता तदुपरान्त अपकर्ष को प्राप्त होता है। यह सृष्टि का शाश्वत व सार्वदेशिक नियम है। कोई भी लोक, प्राणियों के शरीर, वनस्पतियां सभी चराचर जगत् इसी निश्चित नियम पर ही चल रहे हैं। **इस उत्कर्ष व अपकर्ष के मध्य काल में हर पदार्थ एक निश्चित नियम का ही पालन करता हुआ गति करता है। यहाँ यदृच्छया कुछ भी नहीं होता। जो हमें यदृच्छया होता हुआ प्रतीत होता है, वह भी**

वस्तुतः यदृच्छया नहीं बल्कि किसी निश्चित नियम के आधार पर ही होता है, परन्तु हम अपने अल्प सामर्थ्य के कारण उसे जान नहीं पाते। एक अज्ञानी व्यक्ति सृष्टि के हर कार्य को अनियमित वा आकस्मिक ही कहेगा परन्तु प्रबुद्ध विचारशील वैज्ञानिक उसके नियम खोज ही लेता है। **आज संसार का वैज्ञानिक जगत् सृष्टि के नियम बना नहीं रहा है, बल्कि सृष्टि में लागू नियमों को जान भर रहा है। इस जानने को ही खोज कहा जाता है, जिसके लिए संसार में लाखों वैज्ञानिक अहर्निश कार्य कर रहे हैं।** हम ये नियम नहीं जान पायें, इसका अर्थ यह नहीं है, कि सृष्टि बिना नियम कार्य कर रही है।

यहाँ यह भी तात्पर्य है कि हिरण्यगर्भ अर्थात् मूल पदार्थ से सृजन प्रक्रिया चलने के कुछ कालोपरान्त जो सूक्ष्म पदार्थ की मेघरूप अवस्था निर्मित होने को होती है, उसमें सर्वप्रथम विशेष हलचल वा गति पूर्व दिशा में प्रारम्भ होती है किंवा जिधर गति प्रारम्भ होती है, उधर ही पूर्व दिशा निर्मित होती है।

इस कण्डिका के भाष्य में आचार्य सायण ने-
"पथ्या स्वस्तिरग्निः सोमः सवितादितिः। स्वस्तिनः पथ्यासु धन्वस्विति द्वे......" (आश्व.श्रौ.४.३.२)
को उद्धृत करते हुए-

स्व॒स्ति नः॑ प॒थ्या॑सु धन्व॑सु स्व॒स्त्य१॒॑प्सु वृ॒जने॒ स्व॑र्वति।
स्व॒स्ति नः॑ पु॒त्रकृ॒थेषु॒ योनि॑षु स्व॒स्ति रा॒ये म॑रुतो दधातन।। (ऋ.१०.६३.१५)

स्व॒स्तिरिद्धि प्रप॑थे॒ श्रेष्ठा॒ रेक्ण॑स्वत्य॒भि या वा॒ममेति॑।
सा नो॑ अ॒मा सो अर॑णे॒ नि पा॑तु स्वा॒वे॒शा भ॑वतु दे॒वगो॑पा।। (ऋ.१०.६३.१६)

इन दो ऋचाओं को पुरोऽनुवाक्या व याज्या के रूप में प्रयोग करने का विधान किया है। ये छन्द रूप प्राण 'गयः प्लातः' ऋषि नामक प्राण से उत्पन्न होते हैं। **"प्र+अत सातत्यगमने"** धातु से **'प्राततेररन्' (उ.को.५.५६)** से **'प्रातः'** शब्द सिद्ध होता है। जिसका अर्थ **महर्षि दयानन्द** लिखते हैं- **"प्रकृष्टमतति गच्छतीति प्रातः"।** हमारे मत में यहाँ 'प्र' के रेफ को लत्व हो जाने से **'प्लातः'** शब्द सिद्ध होता है। इस प्रकार **{गयः = प्राणा वै गयाः (श.१४.८.१५.७)} 'गयः प्लातः'** ऐसा सूक्ष्म प्राण है, जो प्रकृष्ट रूप से गति करते हुए सब लोकों को प्राप्त होता है। इसी कारण कहा- **"तद् यद्गच्छति तस्माद् गयस् तद्गयस्य गयत्वम्" (गो.पू.५.१४)।** इन दोनों छन्द ऋचाओं का देवता **'पथ्यास्वस्तिः'** होने से ये ऋचाएं किसी भी लोक वा कण की गतियों को संरक्षित मार्ग पर चलाने में सहयोग करती हैं। सायण के अनुसार इनके छन्द क्रमशः जगती अथवा त्रिष्टुप् एवं त्रिष्टुप् हैं। इनका छान्दस प्रभाव इनको उचित बल प्रदान करके उन कणों वा लोकों के मार्गों की रक्षा करता है।

इन ऋचाओं के अन्य कुछ प्रभाव भी होते हैं-

प्रथम ऋचा के प्रभाव से विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म कण वा तरंगें अन्तरिक्ष में विभिन्न प्राणों वा तन्मात्राओं में गमन करते समय अपने गति व मार्ग को संरक्षित रखती हैं। विभिन्न अन्योन्य क्रियाओं में विभिन्न कणों को उत्पन्न करने में अथवा मूल रूप में स्थित रहने में संरक्षित रहते हैं।

द्वितीय ऋचा के प्रभाव से विभिन्न प्रकार के कण वा तरंगें विभिन्न प्राणों से सुरक्षित होकर विभिन्न क्रिया-प्रतिक्रियाओं में संरक्षित मार्ग पर चलते हुए सम्यग्रूप से संरक्षित होती हैं। पुरोऽनुवाक्या व याज्या को **१.४.१** के अनुसार समझें।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- ब्रह्माण्ड का कोई भी कण वा लोक एक निश्चित गति एवं भौतिकी के निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार ही काम करता है, जिसको हम अनिश्चितता अथवा यदृच्छया गति वा नियम कहते हैं, वे मानव की अल्पज्ञता के सन्दर्भ में ही माने जा सकते हैं, वस्तुतः सर्वनियामक और सर्वनिर्माता चेतन तत्त्व परमात्मा की दृष्टि में वे सभी प्रकार की गतियाँ व क्रियाएं नियमित और निश्चित ही होती हैं। हाइजेनबर्ग के अनिश्चितता के विश्व प्रसिद्ध सिद्धान्त को इसी दृष्टि से देखना चाहिए। विभिन्न कणों को उचित गति और मार्ग प्रदान करने में उपर्युक्त जगती एवं त्रिष्टुप् छन्द वाली तरंगें विशेष सहयोग करती है।।

६. अग्निं यजति।।

यदग्निं यजति तस्माद् दक्षिणतोऽग्र ओषधयः पच्यमाना आयन्त्याग्नेय्यो ह्योषधयः।।

{ओषधिः = ओषधयः। ओषद्धयन्तीति वा। ओषत्येना धयन्तीति वा। दोषं धयन्तीति वा। (नि.६.२७), अग्नेर्वा एषा तनूः यदोषधयः (तै.ब्रा.३.२.५.७), जगत्य ओषधयः (श.१.२.२.२), ओषधयः पशवः (मै.२.५.१), देवानां रेत ओषधयः ओषधीनां रेतोऽन्नम् (ऐ.आ.२.१.३)। ओषधिलोको वै पितरः (श.१३.८.१.२०)। अगस्त्यः = अस्तदोषः (म.द.ऋ.भा.७.३३.१०), अपराधरहितो मार्गः (तु.म.द.ऋ.भा.१.१८४.५)। त्रितः = सम्प्लावकः (म.द.ऋ.भा.५.६.५), सन्तारकः (म.द.ऋ.भा.१.१६३.३), त्रितः त्रिस्थानः इन्द्रः (नि.६.२५), मनोवाक्कर्मभ्यः (म.द.ऋ.भा.१.१८७.१), (वीर्यं वै कर्म - श.११.५.४.५, यज्ञो वै कर्म - श.१.१.२.१, वाचोरेतः कर्म - ऐ.आ.२.१.३)}

व्याख्यानम्- दक्षिण दिशा में अग्नि तत्त्व को संगत करने हेतु **आश्वलायन श्रौतसूत्र** के उपर्युक्त प्रमाण से ही

अग्ने नय॑ सु॒पथा॑ रा॒ये अ॒स्मान्विश्वा॑नि देव व॒युना॑नि वि॒द्वान्।
यु॒यो॒ध्य१॒॑स्मज्जु॑हुरा॒णमेनो॒ भूयि॑ष्ठां ते॒ नम॑उक्तिं विधेम।। (ऋ.१.१८९.१) तथा

आ दे॒वाना॒मपि॒ पन्था॑मगन्म॒ यच्छ॒क्नवा॑म॒ तदनु॒ प्रवो॑ळ्हुम्।
अ॒ग्निर्वि॒द्वान्त्स य॑जा॒त्सेदु॒ होता॒ सो अ॑ध्व॒रान्त्स ऋ॒तून्क॑ल्पयाति।। (ऋ.१०.२.३)

इन दो ऋचाओं को किसी कणादि के साथ संगत किया जाता है। इनमें से प्रथम ऋक् छन्द की उत्पत्ति अगस्त्य नामक ऋषि प्राण से होती है। यह ऋषि प्राण ऐसा प्राण है जो अपने मार्ग पर पूर्ण विशुद्ध व विघ्न रहित होकर गमन करता है। इसका देवता अग्नि होने से इसके द्वारा अग्नि तत्त्व समृद्ध होता है तथा छन्द निचृत् त्रिष्टुप् होने से भेदक बल व तेज समृद्ध होते हैं। द्वितीय ऋचा का ऋषि 'त्रितः' होने का तात्पर्य है कि इस छन्द की उत्पत्ति त्रित नामक सूक्ष्म प्राण से होती है। यह त्रित प्राण, मन व वाक् तत्त्व के संयोग प्राणापानव्यान से उत्पन्न होता है, तथा यह सम्यक् रूप से तारने वाला वा गतिशील करने वाला होता है। देवता अग्नि व छन्द त्रिष्टुप् होने से अग्नितत्त्व, तीव्र तेज व बलों की समृद्धि होती है।

इन ऋचाओं के अन्य कुछ निम्न प्रभाव भी होते हैं-

प्रथम ऋचा से **{रायः इति धननाम (निघं.२.१०), पशवो वै रायः (श.३.३.१.८)}** ऊष्मा आदि ऊर्जा विभिन्न तेजस्वी मरुतों की प्राप्ति के लिये विभिन्न बाधक तत्त्वों को नष्ट कर अनुकूल मार्गों पर गमन करती है।

द्वितीय ऋचा के प्रभाव से विभिन्न प्राथमिक प्राणों के अनुकूल मार्ग पर वह ऊर्जा गमन करती है, साथ ही विभिन्न ऋतु रश्मियों का सामर्थ्य बढ़ाकर वे ऊर्जा को समृद्ध और संगत करते हैं।

इन दोनों ऋग्रूप छन्द तरंगों की भी पुरोनुवाक्या एवं याज्या के रूप में ही क्रमशः उत्पत्ति व संगति होती है। पुरोनुवाक्या-याज्या को पूर्ववत् समझें। इन ऋक् तरंगों के कारण दक्षिण दिशा में ऊष्मा तीव्रतर होती है। इस कारण इस भाग में ऊष्मा विशेष से सम्पृक्त पितर नामक कण अथवा ऋतु नामक प्राण विस्तृत होते हुए व्याप्त हो जाते हैं, जिसके कारण इस भाग में भारी हलचल होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस भाग में विद्यमान पदार्थ त्रिष्टुप् छन्दों एवं ऋतु प्राणों को अवशोषित करके अपनी ऊष्मा को बढ़ाते जाते हैं। इसलिये छन्द व ऋतु प्राण रश्मियों को आग्नेयी कहा है।।+।।

७. सोमं यजति।।

यत्सोमं यजति तस्मात् प्रतीच्योऽप्यापो बह्व्यः स्यन्दन्ते सौम्या ह्यापः।।

व्याख्यानम्- यहाँ आचार्य सायण ने **आश्वलायन श्रौतसूत्र** के उपर्युक्त प्रमाण से दो ऋचाओं के पुरोऽनुवाक्या व याज्या के रूप में विधान किया है। ये दो ऋचाएं है-

त्वं सोम प्र चिकितो मनीषा त्वं रजिष्ठमनु नेषि पन्थाम्।
तव प्रणीती पितरो न इन्दो देवेषु रत्नमभजन्त धीराः।। (ऋ.१.९१.१.) तथा

या ते धामानि दिवि या पृथिव्यां या पर्वतेष्वोषधीष्वप्सु।
तेभिर्नो विश्वैः सुमना अहेळन्राजन्त्सोम प्रति हव्या गृभाय।। (ऋ.१.९१.४)।

इन दोनों की उत्पत्ति पूर्वोक्त राहूगणपुत्रो गोतम ऋषि प्राण से होती है। इन ऋक् प्राणों का देवता 'सोम' तथा छन्द 'स्वराट् पंक्ति' होने से सोम तत्त्व अर्थात् ठंडे मन्दगामी वायु का विस्तार होता है। इसके साथ ही यह तत्त्व दीप्त भी होता जाता है। इनमें प्रथम ऋचा में विद्यमान **'रजिष्ठं पन्थामनु नेषि'** के प्रभाव से सोमतत्त्व पश्चिम दिशा में सम्यक् व अनुकूलता से सीधे मार्ग पर बहने लगता है। ये सोम विभिन्न मरुतों का रूप होते हैं, जिनसे विभिन्न आपः अर्थात् सूक्ष्म तन्मात्रायें उत्पन्न होकर इस भाग में बहने लगती हैं। इस छान्दस प्रभाव से मरुतों की परस्पर संगति होकर विभिन्न आपः अर्थात् सूक्ष्म तान्मात्रायें इस सोम तत्त्व के अन्दर उत्पन्न हो जाती हैं।

इन ऋचाओं के अन्य कुछ निम्न प्रभाव भी होते हैं-

प्रथम ऋचा के प्रभाव से **{इन्दुः = यज्ञनाम (निघं.३.१७), इन्दुरिन्धेरुनत्तेर्वा (नि.१०.४१)}** सबको सिंचित करने और मन के साथ गति करने वाला सोम पदार्थ उत्तम प्रकृष्ट मार्गों से धारण करने वाली ऋतु रश्मियों एवं रमणीय प्रकाशित कणों में रमण करता है।

द्वितीय ऋचा के प्रभाव से वही प्रकाशमान सोम प्रकाशित तरंगों, अप्रकाशित कणों, विभिन्न मेघों, ऊष्ण पदार्थों और अन्तरिक्ष में मन के साथ संगत होकर विभिन्न मास रश्मियों को ग्रहण करता है। पुरोऽनुवाक्या तथा याज्या का स्वरूप पूर्ववत् समझें।।+।।

८. सवितारं यजति।।

यत्सवितारं यजति तस्मादुत्तरतः पश्चादयं भूयिष्ठं पवमानः पवते सवितृप्रसूतो ह्येष एतत्पवते।।

{श्यावाश्वः = श्यावा कृष्णशिखाऽग्नयोऽश्वा यस्य सः (तु.म.द.ऋ.भा.५.५२.१), श्यावा = प्राप्तिसाधकौ धारणाकर्षणाख्यावश्विनौ - म.द.ऋ.भा.२.१०.२)}

व्याख्यानम्- यहाँ भी आचार्य सायण ने **आश्वलायन श्रौतसूत्र** के उपर्युक्त प्रमाण के आधार पर

आ विश्वदेवं सत्पतिं सूक्तैरद्या वृणीमहे। सत्यसवं सवितारम्।। (ऋ.५.८२.७)
य इमा विश्वा जातान्याश्रावयति श्लोकेन। प्र च सुवाति सविता।। (ऋ.५.८२.९)

को पुरोऽनुवाक्या एवं याज्या के रूप में विधान किया है। पुरोऽनुवाक्या एवं याज्या विषयक हमारी दृष्टि पूर्ववत् समझें। ये दोनों छन्द रूप तरंगें **"श्यावाश्व आत्रेय"** ऋषि प्राण से उत्पन्न होती हैं। ये ऋषि प्राण अत्रि अर्थात् सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न होते हैं तथा धारण, आकर्षण आदि गुणों से युक्त होते हैं। इनका देवता सविता और छन्द क्रमशः गायत्री और निचृद् गायत्री है, जिनके प्रभाव से वायु संयुक्त विद्युन्मय बल और तेज की समृद्धि होती है।

इन ऋचाओं के अन्य कुछ निम्न प्रभाव भी होते हैं-

प्रथम ऋचा के प्रभाव से **{सूक्तम् = यजमानो हि सूक्तम् (ऐ.६.६), गृहाः सूक्तम् (ऐ.३.२३), पशवः सूक्तम् (कौ.ब्रा.१४.४)}** वह विद्युत् युक्त वायु विभिन्न मरुतों व ऋतु रश्मियों के साथ सबके प्रकाशक एवं अनादि (नित्य) पालक प्राण तत्त्वों के द्वारा समर्थ होता है। इस कारण वह नित्य उत्पादन क्रियाओं को सम्पन्न करता है।

द्वितीय ऋचा के प्रभाव से **{श्लोकः वाङ्नाम (निघं.१.११), श्लोकः श्रृणोतेः (नि.६.६), श्लोकृ संघाते}** वह विद्युत् तत्त्व वाक् तत्त्व के द्वारा सम्पूर्ण उत्पन्न हुए पदार्थों को सब ओर गति कराता है।

ये तरंगें सभी प्रकार के प्रकाशमान पदार्थों को प्रेरित करती हैं। इसके कारण उत्तर और पश्चिम के मध्य में प्रभूत मात्रा में पवित्र होता हुआ सोम वायु आदि पदार्थ अर्थात् विद्युत् अग्नि से पृथक्-२ परमाणुरूप हुआ पदार्थ प्रभूत मात्रा में बहने लगता है। यह सब इन्हीं दो छन्द रूप तरंगों के कारण होता है।।+।।

६. उत्तमामदितिं यजति।।
यदुत्तमामदितिं यजति तस्मादसाविमां वृष्ट्याऽभ्युनत्त्यभिजिघ्रति।।

{भुरिक् = धारकपोषकः (तु.म.द.ऋ.भा.४.२.१४, भुरिजौ बाहूनाम - निघं.२.४)। अथर्वा = अहिंसकः (म.द.य.भा.१५.२२), अहिंसनीयः (म.द.य.भा.८.५६), थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः (नि.११.१८), प्राणो वा ऽअथर्वा (श.६.४.२.१), अथर्वा वै प्रजापतिः (गो.पू.१.४)}

व्याख्यानम्- आचार्य सायण ने **तैत्तिरीय संहिता ६.१.५.२** का प्रमाण देकर उत्तमा का अर्थ ऊर्ध्व दिशा किया है और इस दिशा में अदिति के यजन के लिये

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये।। (ऋ.१०.६३.१०),

महीमू षु मातरं सुव्रतानामृतस्य पत्नीमवसे हवामहे।
तुविक्षत्रामजरन्तीमुरूचीं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्।। (अथर्व.७.६.२)

इन दो पुरोऽनुवाक्या और याज्या ऋचाओं का विधान किया है। इनमें से प्रथम छन्द रूपी तरंग **'गयः प्लातः'** ऋषि प्राण अर्थात् तीव्र गति से सर्वत्र विचरने वाले सूक्ष्म प्राण विशेष से उत्पन्न होती है तथा दूसरी छन्द रूपी तरंग **'अथर्वा'** नामक ऐसे ऋषि प्राण से होती हे, जो न विशेष गतिशील होता है और न किसी का भेदन करता है और न स्वयं किसी से खण्डित होता है। ऐसा प्राण हमारी दृष्टि में नाग ही हो सकता है। इसमें प्रथम ऋचा का देवता 'विश्वेदेवा' और द्वितीय का 'अदिति' है। इसका आशय यह है कि इन ऋचाओं के प्रभाव से वाक् और मनस् तत्त्व से लेकर सभी प्रकाशमान पदार्थ प्रभावित होते हैं और वह प्रभाव इनके छन्दों के कारण होता है, जो क्रमशः पादनिचृज्जगती एवं भुरिक् त्रिष्टुप् हैं। इसके कारण तीव्र तेज, बल उत्पन्न होकर ऊर्जा, उत्सर्जन और अवशोषण की तीव्र क्रियाएं होती हैं।

इन ऋचाओं के अन्य कुछ निम्न प्रभाव भी होते हैं-

प्रथम ऋचा के प्रभाव से तारों के अन्दर सबके तारक अदितिरूप गायत्री व त्रिष्टुप् छन्दों की अविचलित नौका के सहारे विभिन्न छन्द एवं परमाणु आदि तत्त्व गमन करते हैं। यहाँ इस छन्द रश्मि के कारण यह प्रक्रिया तेज, उपद्रव रहित और सुकर होती है।

द्वितीय ऋचा के प्रभाव से अनेक क्रियाओं का पालन करने वाले एवं प्राणादि पदार्थों के पालक अविनाशी मन और वाक् तत्त्व विशाल तारों में उत्तम मार्गों पर गमन करते हैं। यहाँ उत्तम वा ऊर्ध्व

दिशा का तात्पर्य केन्द्रीय भाग से है। इसी कारण सायण द्वारा उद्धृत **आपस्तम्ब श्रौतसूत्र १०.२१.११** में कहा है- **"चतुर आज्यभागान् प्रतिदिशं यजति, पथ्यां स्वस्तिं पुरस्तादग्निं दक्षिणतः सोमं पश्चात् सवितारमुत्तरतो मध्येऽदितिं हविषा......"**। इन दो ऋग्रूप छन्दों के द्वारा मध्य भाग में विद्यमान वाक् एवं मनस् तत्त्व रूपी पदार्थों की बाहर की ओर वर्षा होने लगती है। उस वर्षा का क्रम भी पूर्ववर्णित दिशाओं के क्रम से ही समझना चाहिए। उस वर्षा से बाहरी भागों में मूल पदार्थ की उपलब्धता बनी रहती है और इस प्रकार केन्द्रीय अर्थात् मध्य भाग का बाहरी भागों से सम्पर्क सतत बना रहता है। यहाँ **"अभिजिघ्रति"** का अर्थ **'सब ओर से चूमना या सम्पर्क करना'** है। श्री पं. युधिष्ठिर मीमांसक ने संस्कृत धातु कोष में **"घ्रा गन्धोपादाने"** का अर्थ सूंघने के साथ-२ चूमना भी किया है।।+।।

१०. पञ्च देवता यजति पाङ्क्तो यज्ञः सर्वा दिशः कल्पन्ते कल्पते यज्ञोऽपि।। तस्यै जनताय कल्पते यत्रैवं विद्वान् होता भवति।।१।।

{जनता = जनानां समूहः इति वामन शिवराम आप्टे (जनाः = मनुष्याः प्राणा वा - म.द. य.भा.२५.२३; लोकाः - तु.ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका - उद्धृत वै.को. - आ. राजवीर शास्त्री पृष्ठ सं. - ३७६)}

व्याख्यानम्- उपर्युक्त पाँचों देवताओं के यजन से यह सर्ग प्रक्रिया विस्तृत होती है। ऐसा करने से दिशा रूपी पदार्थ भी समर्थ एवं स्पष्ट होते हैं। साथ-साथ सर्ग प्रक्रिया भी समृद्ध एवं व्यवस्थित होती है और जहाँ सभी देव कण व्यवस्थित दिशा अर्थात् उनकी घूर्णन करने की प्रक्रिया एवं उचित परिमाण में तेज और बल आदि प्राप्त कर लेते हैं, तब वह पदार्थ विभिन्न लोक-लोकान्तरों का निर्माण करने में समर्थ होता है।।+।।

पाँचों देवताओं का वैज्ञानिक भाष्यसार- किसी भी कण वा लोक की गति व मार्ग निश्चित व पृथक्-२ ही होते हैं। इनमें कभी भी अन्तर नहीं हो पाता। इलेक्ट्रॉन, फोटोन, प्रोटोन, मैसोन आदि कणों तथा विभिन्न तारों, ग्रहों व उपग्रहादि लोकों आदि सभी की अपनी-२ पृथक्-२ गति व निश्चित व नियमित कक्षायें होती हैं। यदि ऐसा न हो तो सम्पूर्ण सृष्टि में भयानक संकट आ जायेगा। कणों वा लोकों की इस व्यवस्था को बनाए रखने हेतु दो छन्द तरंग विशेष जिनकी चर्चा **१.७.५** में है, अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इनमें से प्रथम तरंग आकाश तत्त्व को आकृष्ट करती व दूसरी तरंग कण वा लोक विशेष को उससे जोड़े रखने में सहयोग प्रदान करती है। इसके साथ यह भी ज्ञातव्य है कि जब सृष्टि निर्माण का उपादान पदार्थ अति सूक्ष्म कणों की अवस्था में एक अति विशाल मेघ का रूप धारण करता है, उस समय उस मेघ, जिसे वैदिक भाषा में हिरण्यगर्भ कहते हैं, की पूर्व दिशा में किंवा उसी दिशा में बनने वाली पूर्व दिशा, जो उस मेघ के अपने अक्ष पर आगामी घूर्णन के आधार पर **१.७.४** के अनुसार निश्चित होगी, में ही सर्वप्रथम विशेष हलचल प्रारम्भ होती है। इस हलचल में उपर्युक्त दो छन्द तरंगों के संयोजन की अहम भूमिका होती है। यह हलचल भी बड़ी ही व्यवस्थित व निश्चित नियमों के आधार पर होती है।

तदुपरान्त उस विशाल मेघ के दक्षिण भाग किंवा आगामी बनने वाली दक्षिण दिशा में यह हलचल पहुँचते-२ ऊष्मा की अति वृद्धि कर देती है, जिससे इस दिशा में भारी विक्षोभ हो उठता है। इस विक्षोभ व ऊष्मा को उत्पन्न करने में **१.७.५** दर्शायी गयी दो विशेष छन्द तरंगों की भूमिका होती है।

तदुपरान्त यह गति-प्रक्रिया पश्चिम भाग किंवा आगामी बनने वाली पश्चिम दिशा में पहुंचती है। जहाँ तरंगें अपेक्षाकृत शान्त होने से वहाँ शीतल मन्दगामी वायु सर्वत्र व्याप्त हो जाता है। यह वायु **१.७.७** में दर्शायी दो छन्द तरंगों के प्रभाव से केन्द्रीय भाग की ओर उठने वा बहने लगता है।

उसके पश्चात् उत्तर दिशा किंवा आगामी बनने वाली उत्तर दिशा में **१.७.८** में दर्शायी दो छान्दस तरंगें इस हलचल को अपने में समेटती हुयी विद्युत् से युक्त अवस्था का निर्माण करती हैं। यह विद्युद्युक्त वायु इन तरंगों के प्रभाव से केन्द्रीय भाग की ओर बढ़ने लगता है।
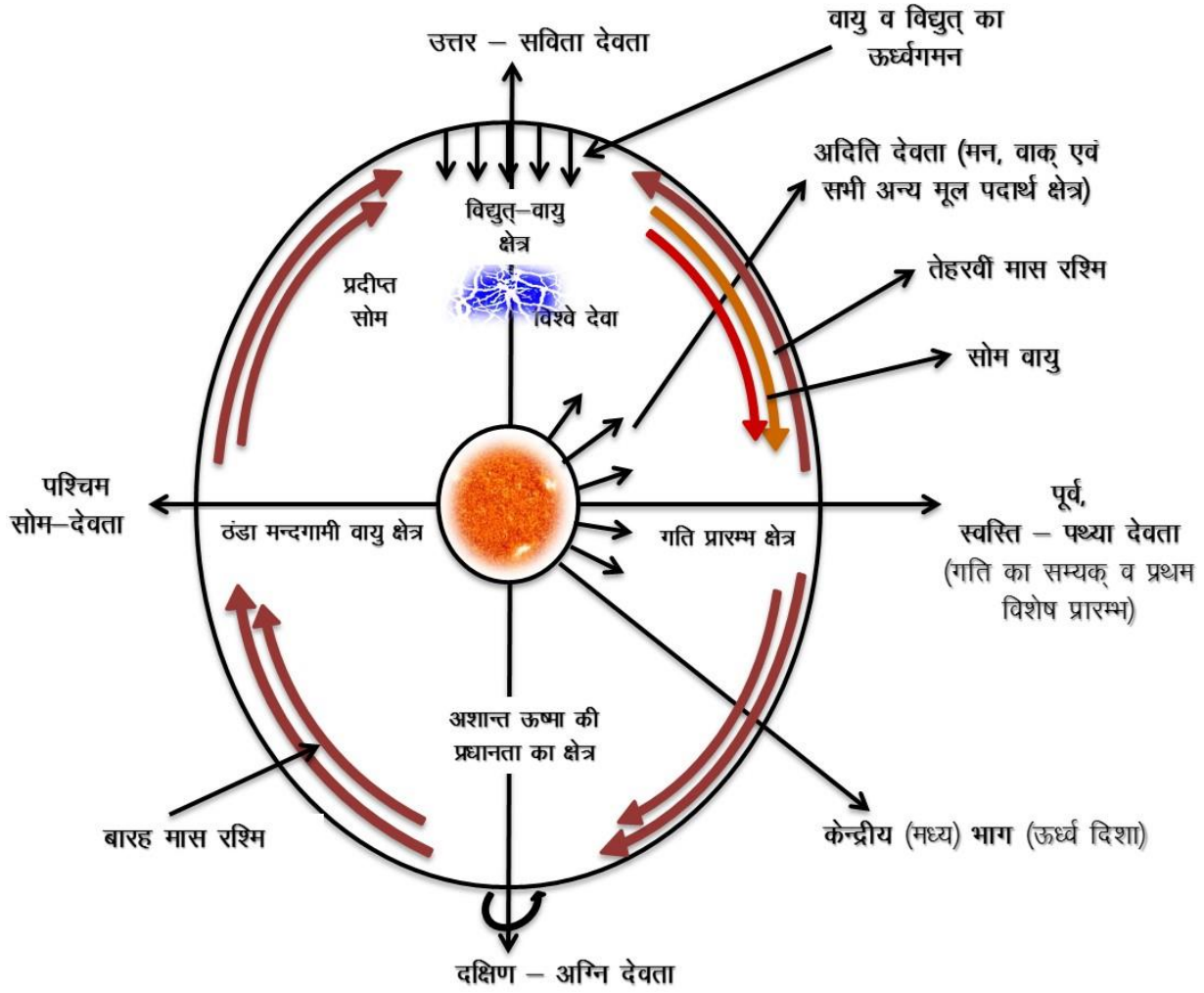
चित्र २.३ हिरण्यगर्भ वा विशाल मेघ

इस सम्पूर्ण प्रक्रिया से वह मेघ अपने अक्ष पर घूर्णन करने लगता है, जिससे ये दिशाएं निश्चित हो जाती हैं। इसके उपरान्त उस मेघ के केन्द्रीय भाग में वह गति पहुँच जाती है। साथ ही वहाँ **१.७.६** में दर्शायी दो छान्दस तरंगें उत्पन्न होती हैं, जिनके प्रभाव से केन्द्रीय भाग में भरा पदार्थ बाहर की ओर बहने लगता है, जिससे बाहर पदार्थ की क्रियाएं समुचितरूपेण चलती रहें। पदार्थ की धाराएं चित्रानुसार ही बहती हैं। इस मेघ से ही कालान्तर में विभिन्न लोक लोकान्तर जन्म लेते हैं। उनके जन्म की प्रक्रिया यहाँ नहीं दर्शायी है।

ॐ इति २.१ समाप्तः ॐ

꧁ अथ २.२ प्रारभ्यते ꧂

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. यस्तेजो ब्रह्मवर्चसमिच्छेत् प्रयाजाहुतिभिः प्राङ्स इयात्, तेजो वै ब्रह्मवर्चसं प्राची दिक्।।
तेजस्वी ब्रह्मवर्चसी भवति य एवं विद्वान् प्राङेति।।

{प्रजायाः = प्राणा वै प्रयाजाः (ऐ.१.११), रेतः सिच्यं वै प्रयाजाः (कौ.ब्रा.१०.३), पञ्च प्रयाजाः। इमऽएवास्य ते शीर्षण्याः पञ्च प्राणाः (श.११.२.६.४), एकादश प्रयाजाः (काठ. २६.६)}

व्याख्यानम्- आचार्य सायण ने पञ्च प्रयाज आहुतियों के विषय में **तैत्तिरीय संहिता २.६.१.१** को उद्धृत किया है, परन्तु हमारी दृष्टि में प्राणापानादि पाँच प्राथमिक प्राण अथवा सूत्रात्मा वायु एवं प्राणापानादि दश प्राण रूपी प्रयाजा अर्थात् प्रकृष्टता से संगत होने वाले प्राणों की आहुति के द्वारा पूर्वोक्त हिरण्यगर्भरूपी मेघ को तेज एवं वैद्युत बल के साथ संगत किया जाता है। जिससे वह दिशा और भी अधिक तेजस्विनी हो जाती है। पूर्व खण्ड में इस दिशा को सर्वप्रथम सक्रिय होना लिखा है। उससे इसकी संगति समझनी चाहिए। यद्यपि प्राणापानादि पञ्च प्राण अथवा ग्यारह प्राण इस अवस्था से बहुत पूर्व से ही विद्यमान होते हैं, परन्तु यहाँ उनकी और भी अधिक सक्रियता अपेक्षित होती है। आचार्य सायणोद्धृत- **"समिधो यजति........हेमन्तमेवावरुन्धे" (तै.सं.२.६.१.१)** एवं **"पञ्च प्रयाजान् प्राचो यजति। प्रतिदिशं वा समिधः पुरस्तात्तनूनपातं दक्षिणत इडः पश्चाद्बर्हिरुत्तरतः स्वाहाकारं मध्ये" (आप.श्रौ.२.१७.१,२)** को दृष्टिगत रखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्व दिशा में पञ्च वा एकादश प्राणों के सक्रिय होने पर पाँच ऋतु नामक प्राण सक्रिय होकर तेज और ऊष्मा आदि को उत्पन्न करते हैं।।

इस प्रकार जो पदार्थ पञ्च प्राणों वा पञ्च ऋतु प्राणों से संयुक्त होकर पूर्व दिशा में व्याप्त हो जाता है, तब वह पूर्व दिशा भी देदीप्यमान हो उठती है, जिसमें वैद्युत तथा प्रकाश दोनों का तेज विद्यमान होता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जहां कहीं भी ऊष्मा और विद्युत्, बल, प्रकाश आदि विद्यमान होते हैं, वहाँ प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय एवं सूत्रात्मा वायु की अपेक्षाकृत अधिक प्रधानता होती है और इनकी प्रधानता से ऋतु संज्ञक प्राण प्रधान होकर ऊष्मा, तेज आदि को उत्पन्न करने में सहायक होते हैं।

२. योऽन्नाद्यमिच्छेत् प्रयाजाहुतिभिर्दक्षिणा स इयादन्नादो वा एषोऽन्नपतिर्यदग्निः।।
अन्नादोऽन्नपतिर्भवत्यश्नुते प्रजयाऽन्नाद्य य एवं विद्वान् दक्षिणैति।।

{अन्नाद्यम् = (अन्नं = अन्नं वा अर्कः - तां.५.१.६; अन्नं रश्मिः - श.८.५.३.३; अन्नं पशवः - श.६.२.१.१५; अन्नं वा आपः - तै.ब्रा.३.८.२.१; अन्नं वै मरुतः - तै.ब्रा.१. ७.३.५) आद्यमन्नम् अर्थात् भक्षणीयमन्नम्}

व्याख्यानम्- जब उपर्युक्त पाँच प्राण वा एकादश प्राण अथवा पञ्च ऋतु प्राण हिरण्यगर्भरूपी मेघ की दक्षिण दिशा में विशेष सक्रिय हो उठते हैं, तब उसके प्रभाव से संगत वा अवशोषित करने योग्य विभिन्न प्रकार के छन्द रूप प्राण, मरुत् रूपी सूक्ष्म पवनों की रश्मियां एवं विभिन्न सूक्ष्म तन्मात्राएं परस्पर संगत होने लगती हैं। पूर्व खण्ड के अनुसार इस भाग में ऊष्मा और विक्षोभ अधिक होता ही है और यह ऊष्मा एवं विद्युत् ही अन्नरूप विभिन्न तरंगों वा कणों की पालक और रक्षक होती हैं तथा ये ही इनका भक्षण अर्थात् अवशोषण भी करती हैं। इसके साथ ही विद्युदग्नि बाधक रश्मियों को नष्ट भी करता है।।

जब यह भाग इस अवस्था को प्राप्त कर लेता है, तब वह अन्नाद एवं अन्नपति बन जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि वहाँ विद्यमान विद्युदग्नि विभिन्न छन्दों, मरुतों और तन्मात्राओं को अवशोषित करके तथा बाधक एवं अनिष्ट तत्त्वों को नष्ट करके विभिन्न नवीन तत्त्वों को उत्पन्न करता है। ये तत्त्व तरंग एवं कण दोनों ही रूपों में विद्यमान होते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उपर्युक्त ११ प्राथमिक प्राण और ५ ऋतु प्राण नेब्यूला अथवा निर्माणाधीन तारों के दक्षिण भाग में विशेष सक्रिय होकर विभिन्न छन्द और मरुत् रूप तरंगों को अपने साथ संयुक्त करके तीव्र ऊष्मा और विद्युत् को उत्पन्न करते हैं एवं बाधक अप्रकाशित हिंसक विद्युत् युक्त वायु को नष्ट भी करते हैं।

३. या पशूनिच्छेत् प्रयाजाहुतिभिः प्रत्यङ् स इयात् पशवो वा एते यदापः।। पशुमान् भवति य एवं विद्वान् प्रत्यङ्ङेति।।

व्याख्यानम्- तदुपरान्त हिरण्यगर्भरूपी मेघ की पश्चिम दिशा में पूर्वोक्त पाँच प्राण, एकादश प्राण अथवा पञ्च ऋतु प्राण विशेष रूप से सक्रिय हो उठते हैं। जिसके कारण इस क्षेत्र में विभिन्न प्रकार के पशु अर्थात् छान्दस तरंगें, मरुत् रूप सूक्ष्म पवन एवं विभिन्न तन्मात्राएं व्याप्त हो जाती हैं। इसलिये इनको **'आपः'** कहा है। जैसा कि हम जानते हैं कि पश्चिम दिशा में सोम तत्त्व अर्थात् मन्दगामी ठण्डा वायु प्रचुर मात्रा में विद्यमान होता है। उसी वायु के साथ ये विशेष संगमनीय प्राणादि तत्त्व संगत होकर इन छन्द आदि पदार्थों को उत्पन्न करते हैं। यहाँ **'पशु'** शब्द का अर्थ देखने योग्य कण भी हो सकता है। इस कारण इस दिशा में भौतिक तकनीक द्वारा देखने योग्य कणों की उत्पत्ति भी होती हुई प्रतीत होती है।।

इस प्रकार की अवस्था के उत्पन्न होने पर पश्चिम दिशा उपर्युक्त विभिन्न पशु संज्ञक पदार्थों से युक्त हो जाती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- हिरण्यगर्भ वा निर्माणाधीन तारे के पश्चिमी भाग में ठण्डा मन्दगामी वायु विशेष रूप से विद्यमान होता है, उससे उपर्युक्त प्राण एवं ऋतु प्राण आदि क्रिया करके ऐसे कणों का निर्माण करते हैं, जिन्हें भौतिक तकनीकों से देखा किंवा अनुभव किया जा सकता है।

४. यः सोमपीथमिच्छेत् प्रयाजाहुतिभिरुदङ् स इयादुत्तरा ह वै सोमो राजा।। प्र सोमपीथमाप्नोति य एवं विद्वानुदङ्ङेति।।

{सोमपीथः = सोमपानः (तु.म.द.य.भा.१६.५१), (पीथः = इन्द्रियं वै सोमपीथः - तै.ब्रा. १.३.१०.२; यः पिबति यं वा स पीथः - उ.को.२.७)}

व्याख्यानम्- जब उत्तर दिशा में उपर्युक्त प्राण वा ऋतु प्राण विशेष सक्रिय होकर संगत होते हैं, तब उस दिशा में विद्यमान देदीप्यमान सोम तत्त्व, जो मूलतः पश्चिम दिशा से आता है और इस दिशा में आकर वह सोम तत्त्व विद्युत् से युक्त हो जाता है। ऐसा सोम तत्त्व इन प्राणों वा ऋतु प्राणों से संगत होकर तेजस्वी और बल से सम्पन्न हो जाता है।।

जब किसी हिरण्यगर्भरूपी मेघ के उत्तरी भाग में इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न होती है, तब वहाँ विद्यमान वायु वैद्युत तेज से सम्पन्न होकर तेजस्वी होता हुआ मध्य भाग की ओर उठने लगता है अर्थात् उस हिरण्यगर्भ रूपी मेघ का उत्तरी भाग कुछ ऊपर की ओर अर्थात् बाहर की ओर किंचित उठकर पुनः केन्द्र की ओर बढ़ने लग जाता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- नेब्यूला अथवा निर्माणाधीन तारे की उत्तर दिशा में पूर्वोक्त मन्दगामी ठण्डा वायु आकर विद्युत् से युक्त हो जाता है, जिससे वह तेजस्वी बन जाता है।।

५. स्वर्ग्यैवोर्ध्वा दिक्सर्वासु दिक्षु राध्नोति।।
सम्यञ्चो वा इमे लोकाः सम्यञ्चोऽस्मा इमे लोकाः श्रियै दीद्यति य एवं वेद।।

{स्वर्गम् = स्वर्गो लोकः सरस्वान् (तां.१६.५.१५), (सरस् = सरन्ति गच्छन्त्यापो यत्र तत् सरः - उ.को.४.१६०; सर इत्युदकनाम - नि.६.२६; वेगः - तु.म.द.ऋ.भा.६.५२.६; अन्तरिक्षम् - तु.म.द.ऋ.भा.६.६१.१०; विज्ञानम् - तु.म.द.य.भा.१८.३७; सरः वाङ्नाम - निघं.१.११), एषः वै स्वर्गो लोको यत्र पशुं संज्ञपयन्ति (श.१३.५.२.२), (संज्ञपयन्ति = सम्+ज्ञा+णिच् पुकागमः, मेल-जोल से रहना, परस्पर सहमत होना, नष्ट होना - आप्टे कोष), स्वर्गो वै लोकोऽभयम् (श.१२.८.१.२२)}

व्याख्यानम्- ऊर्ध्व दिशा अर्थात् हिरण्यगर्भ के केन्द्रीय भाग में जब उपर्युक्त पाँच प्राण वा एकादश प्राण सक्रिय एवं संगत होते हैं, तब मध्य भाग स्वर्गलोक का रूप धारण कर लेता है। यहाँ स्वर्गलोक का तात्पर्य है जहाँ विभिन्न तन्मात्राएं, प्राण तत्त्व, अन्तरिक्ष, विभिन्न प्रकार के छन्द और मरुत् रूपी पवन सभी अत्यन्त सघन मात्रा में वेग के साथ मनस् एवं वाक् तत्त्व से दृढ़ता से बंधे हुए संगत होते हैं। इस भाग में पदार्थ उच्चतम ऊष्मा एवं विद्युत् से युक्त, निष्कम्प परन्तु द्रवीभूत अवस्था में रहता है और यहीं से वह सभी दिशाओं में विद्यमान पदार्थ को अर्थात् सम्पूर्ण हिरण्यगर्भरूपी मेघ को बांधे रखता है। कदाचित् यही स्थिति तारों के केन्द्रीय भाग की भी होती है।।

{लोकाः = छन्दांसि वै सर्वे लोकाः (जै.ब्रा.१.३३२), त्रयो वाव लोकाः। मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति (श.१४.४.३.२४), इमे वै लोकाः (पृथिवी, अन्तरिक्षम्, द्यौः) देवास्साध्याः (मै.३.७.१०)}

जब उपर्युक्तानुसार सभी दिशाओं में सृजन कार्य समुचित रूप से प्रारम्भ हो चुका होता है, तब सभी छन्द रूप प्राण मनुष्य, पितर और देव रूप पदार्थ, अप्रकाशित, प्रकाशित पदार्थ एवं आकाश तत्त्व सभी परस्पर संगत होकर विभिन्न लोकों के निर्माण की प्रक्रिया को आश्रय देते हैं और ऐसा होकर वह सम्पूर्ण हिरण्यगर्भ रूपी मेघ देदीप्यमान हो उठता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- तारों के बाहरी भाग में उपर्युक्त विविध प्रक्रियाएँ सम्पन्न होने के पश्चात् तारा केन्द्रीय भाग की ओर घनीभूत होने लगता है। जिसके कारण तारों का केन्द्रीय भाग उच्चतम ऊष्मा एवं विद्युत् से युक्त निष्कम्प परन्तु द्रवीभूत अवस्था में रहता है और वह भाग सम्पूर्ण तारे को अपने में बांधे रखता है।।

६. पथ्यां यजति तत्पथ्यां यजति वाचमेव तद्यज्ञमुखे संभरति।।

प्राणापानावग्नीषोमौ प्रसवाय सविताप्रतिष्ठित्या अदितिः।।
पथ्यामेव यजति यत्पथ्यामेव यजति वाचैव तद्यज्ञं पन्थामपि नयति।।

व्याख्यानम्- **१.७.५** में हिरण्यगर्भ रूपी मेघ की पूर्व दिशा में पथ्या देवता सम्बन्धी जिन दो ऋचाओं के संगत होने का वर्णन है, उसी को प्रकारान्तर से उठाते हुए लिखते हैं कि जो इन छन्दों का संगतीकरण होता है और जिससे कि विभिन्न पदार्थ कणों की गति एवं उनके मार्ग नियमित एवं व्यवस्थित होते हैं, वह मानो विभिन्न लोक-लोकान्तरों के बनने की प्रक्रियारूपी यज्ञ के मुख में वाक् तत्त्व को रखते हैं अर्थात् वह यज्ञ सक्रिय होना प्रारम्भ कर देता है और इन छन्द रूप तरंगों के द्वारा ही अन्य तरंगों की उत्पत्ति की प्रक्रिया भी संरक्षित होती चली जाती है। यहाँ वाक् तत्त्व को यज्ञ के मुख में रखने का तात्पर्य यह भी है कि उपर्युक्त छन्द रश्मियां विभिन्न छन्द एवं मरुद् रश्मियों को सर्ग प्रक्रिया में अधिकाधिक मात्रा में विनियुक्त करने लगती हैं। यदि विभिन्न कणों की गति व उनके मार्ग नियमित और व्यवस्थित न हों, तो सृष्टियज्ञ का पूर्ण होना कदापि संभव न हो सके ।।

अग्नि और सोम तत्त्व क्रमशः प्राण और अपान के समान है। **कौ.ब्रा.१०.३** में भी लिखा है- **"अहोरात्रे वा अग्नीषोमौ"**। उधर **ऐतरेय आरण्यक २.१.५** में कहा- **"अहरेव प्राणो रात्रिरपानः"**। शरीर में प्रश्वास द्वारा निकलने वाला प्राण एवं श्वास द्वारा बाहर से अन्दर आने वाला अपान कहलाता है। इसी प्रकार अग्नि तत्त्व प्रधान एवं सोम तत्त्व प्रधान कणों के बीच मरुतों का आवागमन होता है अर्थात् धनावेशित कण में से सूक्ष्म प्राण रश्मियां उत्सर्जित होकर ऋणावेशित कण के अन्दर प्रवेश करती हैं और इसी के कारण दोनों कण परस्पर आकर्षित रहते हैं, जैसा कि १.२.२ में वर्णित किया गया है। सविता देवता अर्थात् चेतन तत्त्व परमात्मा इन सब सूक्ष्म पदार्थों को प्रेरणा देकर नवीन सृजन कर्म करता है। अदिति अर्थात् मूल प्रकृति सभी जड़ पदार्थ का आधारभूत तत्त्व है। ध्यातव्य है कि **'सविता'** शब्द का अर्थ यहाँ मन भी ग्रहण किया जा सकता है, जैसा कि कहा- **"मनो ह वाऽअस्य सविता" (श.४.४.१.७), "मनः सावित्रम्" (कौ.ब्रा.१६.४)**। यह मन ही प्राणापान वा अग्नि, सोम को प्रेरित करता है। लेकिन मन को भी प्रेरित करने वाला मूल सविता तत्त्व परमात्मा ही है, जो **'ओम्'** छन्द रश्मियों द्वारा यह कार्य करता रहता है।।

पुनः पथ्यादेवताक छन्दरूप तरंगों के बारे में कहते हैं कि इसी छन्दरूप वाक् तत्त्व के द्वारा सृजन प्रक्रिया समीचीन मार्ग पर चलती है। पथ्या देवता की अति स्तुति इस बात का संकेत है कि विभिन्न कणों की सम्यग् गति एवं निश्चित और नियमित मार्गों का होना अनिवार्य शर्त है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- अग्नि तत्त्व और सोम तत्त्व में क्रमशः प्राण और अपान की प्रधानता होती है, इन सबके विषय में विशेष जानकारी पूर्वपीठिका में देखें। धनावेशित कण अग्नि तत्त्व प्रधान अर्थात् प्राण तत्त्व प्रधान होते हैं और ऋणावेशित कण सोमतत्त्व प्रधान अर्थात् अपान तत्त्व प्रधान होते हैं। इन दोनों के परस्पर निकट आने पर विभिन्न मरुतों का विनिमय होना प्रारम्भ हो जाता है।

७. चक्षुषी एवाग्नीषोमौ प्रसवाय सविता प्रतिष्ठित्या अदितिः।।
चक्षुषा वै देवा यज्ञं प्राजानंश्चक्षुषा वा एतत्प्रज्ञायते यदप्रज्ञेयं तस्मादपि मुग्धश्चरित्वा यदैवानुष्ठ्या चक्षुषा प्रजानात्यथ प्रजानाति।।
यद्वै तद्देवा यज्ञं प्राजानन्नस्यां वाव तत्प्राजानन्नस्यां समभरन्नस्यै वै यज्ञस्तायतेऽस्यै क्रियतेऽस्यै संभ्रियत इयं ह्यदितिस्तदुत्तमामदितिं यजति यदुत्तमामदितिं यजति यज्ञस्य प्रज्ञात्यै स्वर्गस्य लोकस्यानुख्यात्यै।।१।।

{सविता = प्राणो वै सविता (ऐ.१.१६), विद्युदेव सविता (गो.पू.१.३३), वायुरेव सविता (गो.पू.१.३३) (ज्ञा अवबोधने = काम में व्यस्त होना इति आप्टे)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त अग्नि और सोम तत्त्व सृष्टियज्ञ के दो चक्षु अर्थात् प्रकाशक के समान हैं। ये क्रमशः ऊष्ण और शीत होते हैं। दूसरी ओर धनावेश और ऋणावेश इस सृष्टियज्ञ के दो प्रकाशक के समान हैं। इन दोनों के बिना सृष्टि का प्रकाशन सम्भव नहीं। इसी प्रकार प्राण और अपान दोनों सृष्टि के प्रकाशक हैं। उधर सविता अर्थात् दिव्य वायु वा कारण विद्युत् सृष्टि प्रक्रिया को जन्म वा प्रेरणा देने वाली होती है और अदिति अर्थात् मनस्तत्त्व वा अहंकार रूप पदार्थ इस समस्त सृष्टि का आधार है। इस सृष्टि में जो भी क्रियाएं होती है, जो भी संयोग-वियोग, उत्पत्ति-प्रलय, गमनागमन आदि कर्म होते हैं, वे इसी मनस् वा अहंकार तत्त्व में सम्पन्न होते हैं। सभी प्रकार के पदार्थ इसी से जन्मते और इसी में लय हो जाते हैं।।

विभिन्न देव पदार्थ मूल प्राणादि तत्त्व चक्षुओं के द्वारा अर्थात् अग्नि और सोम पदार्थ को उत्पन्न करके उन्हीं के द्वारा सृष्टियज्ञ का क्रियान्वयन करते हैं। इस क्रियान्वयन में प्राणापानरूपी चक्षु की विशेष भूमिका होती है, साथ ही धनावेश और ऋणावेश इस सृष्टियज्ञ के दो प्रकाशक चक्षु हैं। इन सब चक्षुरूपी पदार्थों के उत्पन्न होने पर अव्यक्त मूल एवं सर्वथा अज्ञेय मूल प्रकृति किंवा अज्ञेय महत् वा अहंकार तत्त्व को विज्ञेय पदार्थ के रूप में प्रकट किया जाता है। इसका आशय यह है कि जब तक इन चक्षुरूप पदार्थों का प्रादुर्भाव नहीं होता है, तब तक सभी पदार्थ अज्ञेय ही रहते हैं। चक्षुरूप प्राणापान अथवा धनावेश और ऋणावेश के द्वारा अपने पथ और गति से विचलित हुए कण भी उचित मार्ग और गति को प्राप्त करने में सक्षम हो जाते हैं अर्थात् सम्यक् मार्ग और गति को पहचान लेते हैं।।

उपर्युक्त देव पदार्थ अर्थात् मूल प्राणादि तत्त्व जिस पूर्वोक्त यज्ञ प्रक्रिया को क्रियान्वित करते हैं, वे अदिति रूपी कारण पदार्थ (मूल प्रकृति) में ही करते हैं। यहाँ **'अदिति'** का अर्थ महत्-अहंकार तत्त्व भी लिया जा सकता है। इसी कारण पदार्थ में सृष्टियज्ञ के सभी साधनोपसाधन रूप पदार्थों को एकत्र किया जाता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि साधनोपसाधन भी उसी कारण पदार्थ से ही निर्मित होते हैं, पुनरपि कथन का तात्पर्य है कि वह कारण पदार्थ सर्वत्र भरा रहता है, उसी में सब क्रियाकलाप होता है। कुछ कारण पदार्थ कार्यरूप में परिणत होकर सृष्टि प्रक्रिया के साधनोपसाधन बन जाते हैं, तो कुछ भाग कारणरूप में ही अवस्थित रहता है। इसलिये यहाँ अधिकरण का प्रयोग है। इसी कारणरूप पदार्थ में सारे क्रियाकलापों का विस्तार होता है। (''अस्यै'' में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग सप्तमी अर्थ में है) इसी कारणरूप पदार्थ में सम्पूर्ण सृष्टियज्ञ को धारण किया जाता है और इसी में ही सम्पूर्ण सृष्टियज्ञ को सम्पन्न किया जाता है अथवा महद्-अहंकार अवस्थारूप अदिति को प्राप्त करने के लिये ही चेतन तत्त्व परमात्मा की शक्तियों का धारण व संग्रह किया जाता है। यहाँ ''अस्यै'' चतुर्थी अर्थ में भी मान्य है।

यह कारण पदार्थ ही है, जो हिरण्यगर्भ रूपी मेघ के मध्य (केन्द्रीय) भाग में स्वयं को संगत करता है अर्थात् इस पदार्थ का अपने साथ ही संयोग होता है और ऐसा उस सृष्टियज्ञ के प्रकाशन के लिये ही होता है। १.८.५ में वर्णित स्वर्गलोक रूप सघन केन्द्रीय भाग को बनाने के लिये ही यह यजन कार्य होता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस सम्पूर्ण सृष्टि में प्राण और अपान एवं विद्युत् धनावेश और ऋणावेश दो ऐसे विशिष्ट पदार्थ हैं, जो सबसे अधिक सक्रिय और महत्वपूर्ण होते हैं। जब तक मूल उपादान कारण पदार्थ में अथवा महत् अहंकार आदि सबसे प्रथम उत्पन्न पदार्थ में इन दोनों तत्त्वों की उत्पत्ति नहीं होती, तब तक सृष्टि प्रक्रिया आगे नहीं बढ़ सकती और सभी पदार्थ अज्ञेय ही रहते हैं। मूल पदार्थ की गति व स्थान आदि की पहचान भी इन दोनों के बिना सम्भव नहीं और सृष्टि में जो भी क्रियाकलाप चलता है, वह महत् वा अहंकार रूपी प्राथमिक कार्य पदार्थ से ही प्रारम्भ होता और उसी के अन्तर्गत चलता रहता है। महत् वा अहंकार आदि पदार्थ का कुछ भाग प्राण आदि पदार्थों में परिवर्तित होता हुआ, इस सृष्टि के निर्माण में काम आता है, तो कुछ बचा हुआ पदार्थ अपने स्वरूप में ही सर्वत्र व्याप्त रहता है। इससे सूक्ष्म स्तर पर जाने पर यह ज्ञातव्य है कि महत् वा अहंकार आदि का भी मूल

कारण पदार्थ का बहुत सा भाग महत् आदि में बदलकर सृष्टि प्रक्रिया में काम आता है, तो अन्य शेष बचा मूल प्रकृति पदार्थ सबका आधार बना हुआ सर्वत्र पूर्ण अज्ञेय अवस्था में विद्यमान रहता है।

ॐ इति २.२ समाप्तः ॐ

꧁ अथ २.३ प्रारभ्यते ꧂

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. देवविशः कल्पयितव्या इत्याहुस्ताः कल्पमाना अनु मनुष्यविशः कल्पन्त इति सर्वा विशः कल्पन्ते कल्पते यज्ञोपि।।

{देवविश् = मरुतो ह वै देवविशोऽन्तरिक्षभाजना ईश्वराः (कौ.ब्रा.७.८), स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वे देवा मरुत इति (श. १४.४.२.२४)}

व्याख्यानम्- देवविश अर्थात् वे मरुत् रश्मियां, जो देव अर्थात् प्रकाशित कणों अर्थात् फोन्टोन्स आदि में प्रविष्ट होकर संगत होती हैं, वे अन्तरिक्ष को आधार बनाते हुए सभी अन्य मरुतों की स्वामिनी होती हैं। मरुतों के साथ-२ विभिन्न आवेशित कणों के आकर्षण, प्रतिकर्षण एवं धारण में भी समर्थ होती हैं। जैसा कि पृष्ठ संख्या-२२-२३ में दर्शाया गया है कि विभिन्न मरुतों और धनंजय प्राणों के संयोग से विभिन्न Virtual photons उत्पन्न होकर आकर्षण और प्रतिकर्षण की क्रिया को सम्पन्न करते हैं। इस प्रकार विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्र (इलेक्ट्रो मेग्नेटिक फील्ड) इन देवविशों से ही उत्पन्न होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये मरुत् अन्य मरुतों से सूक्ष्म होते हैं। सम्भव है कि विभिन्न फोटोन्स के मध्य भी कोई ऐसा बल कार्य करता हो, जिसके मध्यस्थ ये देवविश नामक मरुत् ही हों। इन देवविश नामक मरुतों के समर्थ होने पर मनुष्यविश नाम के मरुत् भी समर्थ होते हैं। मनुष्यविश नाम के मरुत् मनुष्य नामक कणों अर्थात् अनियमित गति वाले एवं अल्प प्रकाश वाले कणों के मध्य आकर्षण-प्रतिकर्षण का कारण बनते हैं और इन दोनों के सक्रिय होने से अन्य सभी प्रकार के मरुत् अर्थात् सूक्ष्म पवन समर्थ और सक्रिय होते हैं एवं ऐसा होने पर सम्पूर्ण सृष्टियज्ञ समर्थ होता है। ध्यातव्य है कि मरुतों को **भगवान् यास्क "मध्यम = अन्तरिक्षस्थानी"** ही मानते हैं। उपर्युक्त **कौषीतकि (ब्राह्मण)** में भी अन्तरिक्षभाजना शब्द मरुतों के मध्यमस्थानी होने का ही संकेत मिलता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जो सूक्ष्म पवन रश्मियां फोटोन्स के साथ संगत होती हैं, वे आकाश तत्त्व को आधार बनाकर अन्य ऐसी ही मरुद्नामी पवन रश्मियों पर नियन्त्रण करने वाली होती हैं। वे सूक्ष्मतम पवन रश्मियां न केवल अपने से स्थूल मरुद् रश्मियों को ही, अपितु विभिन्न आवेशित कणों को भी आकर्षित, प्रतिकर्षित व धारण करने में भी समर्थ होती हैं। विशेष **१.२.३** में देखें।

विभिन्न फोटोन्स के मध्य भी इन्हीं मरुतों के कारण सूक्ष्म अन्योन्य क्रियाएं होती हैं। पृथक्-२ स्तर के कणों के मध्य आकर्षण व प्रतिकर्षण का कारण पृथक्-२ मरुद् रश्मियां होती हैं। ये मरुद् रश्मियां एवं धनंजय प्राण रश्मियां ही विभिन्न कणों के मध्य बल के कारण रूप virtual particles को उत्पन्न करती हैं। यह चर्चा हम पूर्व अध्याय में भी कर चुके हैं।

२. तस्यै जनतायै कल्पते यत्रैवं विद्वान् होता भवति।।

व्याख्यानम्- जब इस प्रकार मरुत् समर्थ हो जाते हैं, तब विभिन्न प्रकार के कणों (अणु आदि) एवं लोकों के निर्माण का यज्ञ भी समर्थ और सक्रिय होता है। स्मरण रहे कि विभिन्न मरुतों के दुर्बल होने पर उनसे उत्पन्न होने वाले बल भी दुर्बल ही होंगे और बलों के दुर्बल होने पर अणु-परमाणुओं की उत्पत्ति की प्रक्रिया भी मन्द पड़ जायेगी। जिससे सम्पूर्ण सृष्टि प्रक्रिया बाधित होगी।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उपर्युक्त मरुत् अर्थात् सूक्ष्म पवन रश्मियां जितनी बलवती वा दुर्बल होंगी, उनसे उत्पन्न होने वाले बल उसी अनुपात में बलवान् वा दुर्बल होते हैं।

३. स्वस्ति नः पथ्यासु धन्वस्वित्यन्वाह।।
स्वस्त्यप्सु वृजने स्वर्वति। स्वस्ति नः पुत्रकृथेषु योनिषु स्वस्ति राये मरुतो दधातनेति।।
मरुतो वै देवानां विशः, ता एवैतद्यज्ञमुखेऽचीक्लृपत्।।

व्याख्यानम्- मरुतों को समर्थ बनाने के क्रम में

स्वस्ति नः पथ्यासु धन्वसु स्वत्य१प्सु वृजने स्वर्वति।
स्वस्ति नः पुत्रकृथेषु योनिषु स्वस्ति राये मरुतो दधातन।।१५।। (ऋ.१०.६३.१५)

की उत्पत्ति दो भागों में होती है। पहले इस ऋचा के प्रथम पाद **"स्वस्ति नः पथ्यासु धन्वसु"** की उत्पत्ति पुरोऽनुवाक्या के रूप में होती है। कभी-२ ऋचा का प्रथम पाद ही सम्पूर्ण ऋचा का कार्य करता है। इसके लिये आचार्य सायण ने **"ऋचं पादग्रहणे" (आश्व.श्रौ.१.१.१७)** को उद्धृत किया है। जिस पर वृत्ति लिखते हुए श्री नारायण लिखते है- "पादशब्दोऽत्र मूलवाची। ऋतो मूलग्रहण ऋचं विद्यात्। नान्तमध्ययोर्ग्रहणे।" इससे यह भी स्वतः सिद्ध है कि इस ऋचा के शेष तीन पाद याज्या का कार्य करेंगे। उसके पश्चात् **"स्वस्त्यप्सु वृजने स्वर्ति..........दधातन"** की उत्पत्ति होती है। इस ऋचा की उत्पत्ति **'गयः प्लातः'** नामक ऋषि प्राण से होती है अर्थात् प्रकृष्ट रूप से गति करके लोकों में व्याप्त होने वाले सूक्ष्म प्राण से होती है। इसका देवता **'पथ्या स्वस्तिः'** होने से यह विभिन्न मरुतों की गति एवं मार्गों को संरक्षित करने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इसका छन्द 'जगती वा त्रिष्टुप्' होने से मरुतों का बल तीव्र एवं तेजस्वी होता है। इसके कारण विभिन्न मरुत् अपने उत्पत्ति स्थानों अन्तरिक्ष आदि में सम्यक् रूप से धारण किये जाते हैं। इस ऋचा के पुरोऽनुवाक्यारूप होने से यह अन्तरिक्ष और मरुतों के संयोग वा आकर्षण को व्यवस्थित बनाने में सहयोगी होती है {पुत्रकृथे = पुत्रकरणे (म.द.ऋ.भा.५.६१.३)} यह छन्द रश्मि विभिन्न पदार्थों को उत्पन्न करने एवं उन्हें धारण करने में अनुकूलतापूर्वक समर्थ मरुद् रश्मियों को धारण करती हैं।।+।।

जैसा कि हम पूर्व में यह कह चुके हैं कि मरुत् नामक सूक्ष्म पवन विभिन्न देव कणों अर्थात् प्रकाशित कणों के अन्दर प्रविष्ट होते हैं किंवा देवों अर्थात् प्राणापानादि प्राथमिक प्राणों की प्रजारूप होते हैं अर्थात् उन्हीं से उत्पन्न होते हैं। सर्ग यज्ञ के प्रारम्भ में इस ऋचा रूप छन्द से मरुतों को ही समर्थ और सज्जित किया जाता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उपर्युक्त मरुद् रश्मियों को समर्थ बनाने में उपर्युक्त जगती वा त्रिष्टुप् छन्दस्क ऋग्रूप तरंगें विशेष सहायक होती हैं, जो दो भागों में विभाजित होकर रश्मियों साथ संयुक्त हो जाती हैं। ये रश्मियां प्राण-अपानादि प्राथमिक प्राणों से उत्पन्न होती हैं। ये छन्द रश्मियां Virtual Particles को उत्पन्न करने वाली सूक्ष्म मरुद् रश्मियों को उत्पन्न वा आकर्षित करने में विशेष समर्थ होती हैं।

४. सर्वैश्छन्दोभिर्यजेदित्याहुः; सर्वैर्वै छन्दोभिरिष्ट्वा देवाः स्वर्गं लोकमजयंस्तथैवैतद्यजमानः, सर्वैश्छन्दोभिरिष्ट्वा स्वर्गं लोकं जयति।।

व्याख्यानम्– इस सृष्टि में सभी प्रकार के छन्दरूप प्राणों का उपयोग होता है अर्थात् वे विभिन्न प्रकार से संगत होकर विभिन्न पदार्थों का निर्माण करते हैं। इन छन्दों का विभिन्न परिस्थितियों में पदार्थों के मध्य आदान-प्रदान होता है। विभिन्न प्रकार के प्राणापानादि प्राथमिक प्राण रूपी देव कण स्वर्ग लोक अर्थात् परस्पर संगति एवं बल को प्राप्त करने में विभिन्न छन्दों का भी सहयोग लेते हैं। हमारी दृष्टि में यह सहयोग अधिकांशतः दैवी छन्दों का ही हो सकता है। उधर विभिन्न प्रकार के प्रकाशित वा प्रकाशमान कण विभिन्न प्रकार के छन्दों के साथ संगत होकर स्वर्गलोक अर्थात् हिरण्यगर्भ रूपी मेघ अथवा सूर्यादि तारों के केन्द्रीय भाग को प्राप्त करते हैं। इसका अर्थ यह है कि उस केन्द्रीय भाग में नाभिकीय संलयन प्रारम्भ होने के लिये आवश्यक ऊष्मा की उत्पत्ति के लिये विभिन्न छन्दों के संगतीकरण की आवश्यकता होती है। अब आगे कहते हैं कि जिस प्रकार इन परिस्थितियों में छन्दों का संगत होना आवश्यक है, उसी प्रकार इस सृष्टि में कोई भी यजमान अर्थात् संयोगोन्मुख कण सभी छन्दों के साथ संगत होकर वांछित बल प्राप्त करके किसी अन्य कण से संयुक्त हो पाता है। इस विषय में अन्य ऋषियों का भी ऐसी ही कथन है–

"छन्दोभिर् देवाः स्वर्गं लोकमायन्" (क.४५.५)
"छन्दोभिर्यज्ञस्तायते" (जै.ब्रा.२.४३१)
"छन्दोभिर्वै देवा आदित्यꣳस्वर्गं लोकमहरन्" (तां.१२.१०.६)

वैज्ञानिक भाष्यसार– इस सृष्टि निर्माण में विभिन्न छन्दरूपी तरंगों का योगदान है। ये छन्द रश्मियां ही संगतीकरण करके विविध पदार्थों का निर्माण करती हैं। तारों के केन्द्रीय भाग में भी अनेक छन्द रश्मियां संगत होकर पर्याप्त ऊष्मा उत्पन्न करके नाभिकीय संलयन का प्रारम्भ करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। अन्यत्र विभिन्न कणों के संयोग-वियोग प्रक्रिया में भी छन्द रश्मियों का योगदान रहता है। ये छन्द रश्मियां न केवल विभिन्न कणों के साथ संयुक्त रहती हैं, अपितु ये विभिन्न प्राण रश्मियों के साथ भी संगत रहती हैं। प्राण एवं छन्द रश्मियों के पारस्परिक संगम के बिना दोनों ही प्रकार की रश्मियां अनुपयोगी हो जाती हैं।

५. स्वस्ति नः पथ्यासु धन्वसु स्वस्तिरिद्धि प्रपथे श्रेष्ठेति पथ्यायाः स्वस्तेस्त्रिष्टुभावग्ने नय सुपथा राये अस्माना देवानामपि पन्थामगन्मेत्यग्नेस्त्रिष्टुभौ; त्वं सोम प्रचिकितो मनीषा या ते धामानि दिवि या पृथिव्यामिति सोमस्य त्रिष्टुभावा विश्वदेवं सत्पतिं य इमा विश्वा जातानीति सवितुर्गायत्र्यौ सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं महीमू षु मातरं सुव्रतानामित्यदितेजगत्यौ।।

व्याख्यानम्– इन सभी ऋचाओं के विषय में इसी अध्याय के प्रथम खण्ड में देखें। वहाँ सभी ऋचाएं पृथक्-२ दी गई हैं, जबकि यहाँ एक ही कण्डिका के रूप में उद्धृत किया गया है। इसको पुनरुक्ति दोष इस कारण नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसका संबंध अगली और पिछली कण्डिका से है। पिछली कण्डिका से सम्बन्ध यह है कि वहाँ विद्यमान **'सर्वम्'** शब्द सम्पूर्णता का वाचक न माना जाये अर्थात् इस प्रकरण में पाँच देवताओं अर्थात् **"पथ्या स्वस्तिः'** से लेकर **'अदितिः'** तक प्रयुक्त ऋचाओं के छन्दों को ही **'सर्वम्'** शब्द से गृहीत किया जाये, न कि अन्यत्र कहीं भी आये प्रकरणों में किंवा सृष्टियज्ञ में भाग लेने वाले अन्य अनेक छन्दों का भी ग्रहण किया जाये। **'सर्वम्'** शब्द के विषय में श्री पं. युधिष्ठिर मीमांसक **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** के **"वेद विषय विचार"** नामक अध्याय में सम्पादकीय टिप्पणी में **महर्षि जैमिनी कृत मीमांसा दर्शन** को उद्धृत करते हुए लिखते है– **"सर्वत्वमाधिकारिकम् (मीमांसा १.२.१६)** सर्व का अर्थ कृत्स्न नहीं है, अपितु जिसका जितना अधिकार है, तद्विषयक सर्वत्व समझना चाहिए।" इस कण्डिका का अगली कण्डिका से सम्बन्ध यह है कि अगली कण्डिका में दिये हुए तीन मुख्य छन्दों को इन दस मंत्रों में से इन तीन के अतिरिक्त शेष छन्दों का ही अग्रगामी समझना चाहिए।।

वैज्ञानिक भाष्यसार– विशेष नहीं है। इसका सम्बंध पूर्व व आगामी विषय को संगत करने से है।

६. एतानि वाव सर्वाणि च्छन्दांसि गायत्रं त्रैष्टुभं जागतमन्वन्यान्येतानि हि यज्ञे प्रतमामिव क्रियन्ते।। एतैर्ह वा अस्य च्छन्दोभिर्यजतः सर्वैश्छन्दोभिरिष्टं भवति य एवं वेद।।२।।

व्याख्यानम्- {प्रतमाम् = विशेषरूप से इति आप्टे} उपर्युक्त सभी छन्दों में गायत्री, त्रिष्टुप् एवं जगती ये तीन ही छन्द हैं, अन्य छन्द तो इन तीनों के अनुयायी हैं। पूर्व प्रकरण में केवल चार प्रकार के छन्दों की ही चर्चा है। इनमें विभिन्न गायत्री, त्रिष्टुप् एवं जगती छन्द हैं। शेष में केवल स्वराट् पंक्ति छन्द है। इस कारण इसे इन तीनों का ही अनुयायी कहा गया है। उधर **कौषीतकि ब्रा.१०.५** में **'गायत्री वै सा यानुष्टुप्'** कह कर अनुष्टुप् को गायत्री के समान माना है। सृष्टियज्ञ में विशेष पंच देवताओं वाले पूर्वोक्त छन्दों में मुख्यतः गायत्री, त्रिष्टुप् एवं जगती का ही प्रयोग प्रचुरता से किया जाता है। हमारी दृष्टि में सम्पूर्ण सृष्टि में भी कदाचित् इन तीन छन्दों का प्रयोग ही अधिकतर होता है।।

इस कारण गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती छन्द के ही संगतीकरण से जो सृष्टिकार्य सम्पन्न होता है, उससे ही उपरिवर्णित सभी छन्दों का संगति कार्य हो जाना समझना चाहिए।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सृष्टि में विद्यमान वा उपयोग में आने वाली विभिन्न छन्द तरंगों में से गायत्री, जगती व त्रिष्टुप् ही प्रधान हैं। शेष तरंगें तो इनमें से किसी न किसी की अनुगामिनी होती हैं। हमारी दृष्टि में **इनमें से भी गायत्री सबसे प्रधान है।**

๑ इति २.३ समाप्तः ๑

꧁ अथ २.४ प्रारभ्यते ꧂

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. ता वा एताः प्रवत्यो नेतृमत्यः पथिमत्यः स्वस्तिमत्य एतस्य हविषो याज्यानुवाक्या एताभिर्वा इष्ट्वा देवाः स्वर्गं लोकमजयंस्तथैवैतद् यजमान एताभिरिष्ट्वा स्वर्गं लोकं जयति।।

{प्र = अन्तरिक्षं वै प्र (ऐ.२.४१), प्राणो वै प्र (ऐ.२.४०)। नेता = गमकः (म.द.ऋ.भा. ३.२०.४), नयनकर्ता (म.द.ऋ.भा.३.२३.२), मर्यादायाः स्थापकः (म.द.ऋ.भा.७.५.२), प्रापकः (म.द.ऋ.भा.३.१५.४)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त पञ्च देवताओं के यजन में प्रयुक्त दस मंत्रों में **'प्र, नेतृ, पथि** और **स्वस्ति'** पद विशेष विद्यमान हैं। जिसके कारण इन पदरूप प्राण अवयवों का सृष्टि प्रक्रिया पर विशेष प्रभाव पड़ता है। **'प्र'** के कारण अन्तरिक्षस्थ प्राण प्रकृष्ट रूप से क्रियावान् होते हैं। यह पद प्रत्येक क्रिया को प्रकृष्टता प्रदान करता है। **'नेतृ'** शब्द विभिन्न कणों को अपने साथ व्याप्त करके उनको गति और मार्ग की मर्यादा में बनाये रखते हुए लाने-ले जाने में सहायक होता है। **'पथि'** शब्द विभिन्न कणों वा तरंगों को निश्चित मार्ग प्रदान करते हुए गति प्रदान करने में सहायक होता है एवं **'स्वस्ति'** शब्द इन सबकी क्रियाओं को किंवा सभी पदों, छन्दों के प्रभाव को सम्यग् रूप प्रदान करने में सहायक होता है। इन पदों से युक्त पूर्वोक्त छन्दों को पुरोऽनुवाक्या एवं याज्या के रूप में संगत करके विभिन्न देव पदार्थ पूर्वोक्त स्वर्गलोक रूपी स्थान को प्राप्त करते हैं अर्थात् हिरण्यगर्भरूपी मेघ एवं तारों के केन्द्रीय भाग का निर्माण करते हैं। उसी प्रकार समस्त सृष्टि में यजनशील परमाणु इन्हीं छन्दों के द्वारा स्वर्गलोक अर्थात् परस्पर संयोजन की क्रिया को सम्पन्न करते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- विभिन्न छन्दरूप रश्मियों में विद्यमान अक्षरों और पदों का भी वैज्ञानिक प्रभाव होता है। जिस पद का जो भी अर्थ होता है, उस पदार्थ की उत्पत्ति अथवा समृद्धि के समय ही उस पद की उत्पत्ति होती है। पूर्वखण्ड में वर्णित छन्द रश्मियाँ अपने पदों और छन्दों के प्रभाव से तारों के केन्द्रीय भाग का निर्माण करने में सहायक होती हैं।

२. तासु पदमस्ति स्वस्ति राये मरुतो दधातनेति मरुतो ह व देवविशोऽन्तरिक्षभाजनास्तेभ्यो ह यो निवेद्यः स्वर्गं लोकमेतीश्वरा हैनं नि वा रोद्धोर्वि वा मथितोः; स यदाह स्वस्ति राये मरुतो दधातनेति तं मरुद्भ्यो देवविड्भ्यो यजमानं निवेदयति न ह वा एनं मरुतो देवविशः स्वर्गं लोकं यन्तं निरुन्धते न विमथ्नते।।

{निवेतृः = (नि+विद् = प्रस्तुत करना, उपस्थित होना, दे देना)}

व्याख्यानम्- प्राणापानादि प्राथमिक प्राणरूप देवों से निर्मित सूक्ष्म मरुत्, जो विभिन्न प्रकाशमान कणों के भीतर-बाहर प्रविष्ट होते रहते हैं, वे अन्तरिक्ष में निवास करते हैं। आकाश तत्त्व में उत्पन्न होने वाले, गणों के रूप में विचरने वाले पदार्थों में ये मरुत् सर्वप्रथम निर्मित होते हैं। इसी कारण **महर्षि**

यास्क ने कहा- **"अथातो मध्यस्थाना देवगणाः। तेषां मरुतः प्रथमागामिनो भवन्ति।" (नि.११.१३)** ये मरुत् उन कणों, जो हिरण्यगर्भरूपी मेघ अथवा सूर्यादि तारों के केन्द्रीय भाग की ओर जा रहे होते हैं, के मार्ग में अवरोध पैदा करते हैं। ये उन कणों को रोक सकते हैं, उन्हें मथकर सूक्ष्म रूप में परिवर्तित कर सकते हैं अथवा उन्हें विकृत कर सकते हैं। उस समय इसी कारण **"स्वस्ति नः पथ्यासु धन्वसु... ...स्वस्ति राये मरुतो दधातन"** ऋचा रूप तरंगें उत्पन्न होती हैं, जिनका अन्तिम पाद **"स्वस्ति राये मरुतो दधातन"** उन मरुतों के बाधक प्रभाव को दूर करके उन कणों को अपने लक्ष्य की ओर जाने में सहयोग प्रदान करता है। इसकी प्रक्रिया यह है कि ज्यों ही वे कण केन्द्रीय भाग की ओर बढ़ते हैं, तभी पुरोऽनुवाक्या के रूप में उपर्युक्त ऋग्रूप तरंगें आकाश तत्त्व को आकर्षित करके उसमें प्रवाहित होने वाले उपर्युक्त मरुतों एवं उन कणों के मध्य प्रकट वा प्रस्तुत हो जाते हैं और इस ऋचा के **"स्वस्ति राये मरुतो दधातन"** पदरूप प्राण अवयव उन कणों को ऐसी समुचित गति और मार्ग प्रदान करने में सहायता प्रदान करके उन मरुतों के साथ समुचित संयोजन स्थापित करता है, जिससे वे कण न रुकते हैं और न ही नष्ट होते हैं।
हमारे मत में उपर्युक्त पुरोऽनुवाक्या ऋचा के साथ-२ प्राक् वर्णित ऋचा

स्वस्तिरिद्धि प्रपथे श्रेष्ठा रेक्णस्वत्यभि या वाममेति।
सा नो अमा सो अरणे नि पातु स्वावेशा भवतु देवगोपा (ऋ.१०.६३.१६.)

याज्या के रूप में भी उत्पन्न होती है, जिसके कारण उपर्युक्त क्रिया और भी सरलता से सम्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार दो कणों के संयोग में भी समझना चाहिए।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सूर्यादि तारों के अन्दर बाहरी भाग से हाइड्रोजन के नाभिक आदि पदार्थ केन्द्रीय भाग की ओर जब बढ़ते हैं, तो उनको मरुत् रूपी सूक्ष्म पवन रोकने वा नष्ट करने की क्षमता रखते हैं और ऐसी आशंका उसी समय होती है, जब उन हाइड्रोजन के नाभिकों की गति एवं मार्ग अनियमित होता है। उस समय उनकी गति और मार्ग को नियमित और संरक्षित करने के लिये उपर्युक्त जगती वा त्रिष्टुप् छन्दस्क छन्दरूप तरंगें उत्पन्न होती हैं, जिनके कारण वे हाइड्रोजन के नाभिक आदि पदार्थ संरक्षित गति और मार्ग को प्राप्त करके उन मरुतों के द्वारा नष्ट वा बाधित नहीं हो पाते हैं, बल्कि वे मरुत् ही उनको केन्द्रीय भाग की ओर ले जाने में वाहक का रूप धारण कर लेते हैं। इसी प्रकार संयोग करने वाले कणों के मध्य भी यही प्रक्रिया हुआ करती है।।

३. स्वस्ति हैनमत्यर्जन्ति स्वर्गं लोकमभि य एवं वेद।।

व्याख्यानम्- जो कण इस प्रकार समुचित छन्दों को प्राप्त कर लेते हैं, वे केन्द्रीय भाग की ओर अथवा अन्य संयोज्य कण की ओर जाने के लिये सम्यग् गति एवं मार्ग को अतिशय रूप से प्राप्त कर लेते हैं।।

४. विराजावेतस्य हविषः स्विष्टकृतः संयाज्ये स्यातां ये त्रयस्त्रिंशदक्षरे।। 'सेदग्निरग्नीँरत्यस्त्वन्यान्' 'सेदग्निर्यो वनुष्यतो निपातीत्येते।। विराड्भ्यां वा इष्ट्वा देवाः स्वर्गं लोकमजयंस्तथैवैतद् यजमानो विराड्भ्यामिष्ट्वा स्वर्गं लोकं जयति।।

व्याख्यानम्- उपर्युक्त प्रकरण को आगे बढ़ाते हुए लिखते हैं कि केन्द्रीय भाग में जाने पर अथवा किसी कण के निकट पहुँचने पर

सेदग्निरग्नीँरत्यस्त्वन्यान्यत्र वाजी तनयो वीळुपाणिः।

स॒हस्र॑पाथा अ॒क्षरा॑ स॒मेति॑ ।। (ऋ.७.१.१४)

सेद॒ग्निर्यो व॑नुष्य॒तो नि॒पाति॑ स॒मेद्धार॒मंह॑स उ॒रु॒ष्यात् ।
सु॒जा॒तासः॒ परि॑ चरन्ति वी॒राः ।। (ऋ.७.१.१५)

ऋचाएँ क्रमशः पुरोऽनुवाक्या और याज्या के रूप में उत्पन्न होती हैं। इसके लिए **आश्वलायन श्रौतसूत्र ४.३.२ "सेदग्निरग्नीरत्यस्त्वन्यानिति द्वे संयाज्ये।"** द्रष्टव्य है। ये दोनों ऋग्रूप तरंगें वसिष्ठ ऋषि अर्थात् प्राणरूप प्राथमिक प्राण से उत्पन्न होती हैं। इनका देवता 'अग्नि' होने से अग्नि तत्त्व समृद्ध होता है, जिससे केन्द्रीय भाग में पहुँचे हुए कणों की ऊर्जा अत्यन्त बढ़ जाती है। इनका छन्द **'एकादशाक्षरपादैस्त्रिपदा विराड्गायत्री'** होने से तेज और बलों की समृद्धि होती है। इनके पद **"वाजी, विळुपाणिः, अत्यस्तु, अग्नि, सहस्रपाथाः, समेतृधारम्, वीराः, निपाति** आदि पदों के प्रभाव से वे कण अत्यन्त ऊर्जा वाले होकर सम्यक् प्रकाशित और कम्पायमान होते हुए, विभिन्न बाधकों से अपनी रक्षा करते हुए अनेकों प्रकार से संयोज्य गुण धारण करते हैं। इन ३३-३३ अक्षरों वाले विराड्गायत्री छन्दरूप प्राणों को संगत करके तारों वा हिरण्यगर्भरूपी मेघ के केन्द्रीय भाग में कण सम्यग्रूप से पहुँचकर परस्पर संगत होकर नाभिकीय संलयन की क्रिया को सम्पादित करते हैं। उसी प्रकार अन्यत्र संयोज्यमान कण भी इन्हीं विराट् छन्दों को पुरोऽनुवाक्या और याज्या के रूप में अपने साथ संगत करके संयोगीकरण की क्रिया को सम्पादित करते हैं। ऋचाओं के अक्षरों की संख्या की वैज्ञानिकता को पूर्वपीठिका में समझें। पुरोऽनुवाक्या और याज्या को पूर्ववत् समझें।।+।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार– जब संयोजनीय पदार्थ केन्द्रीय भाग की ओर जाने लगता है अथवा कोई इलेक्ट्रॉन किसी आयन से संयुक्त होने के लिए निकट पहुंचता है, तो उपर्युक्त दो विराट् गायत्री छन्द रश्मियां उसके साथ संगत होकर तारे के केन्द्रीय भाग की ऊर्जा को बढ़ाने में सहयोग करती तथा उसके अन्दर विद्यमान बाधक विकिरणों (हिंसक अप्रकाशित विद्युत् रूप अग्नि) को दूर करने में सहायक होती हैं। इसी प्रकार दो आयनों के संयोग के समय भी ये छन्द रश्मियां सहायक होती हैं।।

५. ते त्रयस्त्रिंशदक्षरे भवतस्त्रयस्त्रिंशद्वै देवा अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशाऽऽदित्याः प्रजापतिश्च वषट्कारश्च तत्प्रथमे यज्ञमुखे देवता अक्षरभाजः करोत्यक्षरेणाक्षरेणैव तद्देवतां प्रीणाति, देवपात्रेणैव तद्देवतास्तर्पयति।।४।।

{देवताः = छन्दांसि वै सर्वा देवताः (जै.ब्रा.१.३४२), छन्दांसि वै साध्या देवाः (ऐ.१.१६)। वसवः = अष्टौ वसवोऽष्टाक्षरा गायत्री (तै.सं.३.४.६.६-७), वसूनां गायत्री (पत्नी) (तै.आ.३.६.१)। रुद्राः = एकादश रुद्रा एकादशाक्षरा त्रिष्टुप् (तै.सं.३.४.६.७), घोरो वै रुद्रः (कौ.ब्रा.१६.७), त्रिष्टुप् रुद्राणां पत्नी (गो.उ.२.६)। आदित्याः = द्वादशादित्या द्वादशाक्षरा जगती (तै.सं.३.४.६.७), आदित्यानां जगती (पत्नी) (तै.आ.३.६.१)। वषट्कारः = वाक् च वै प्राणापानौ च वषट्कारः (ऐ.३.८)। अक्षरम् = अक्षरं वाङ्नाम (निघं.१.११), महत्तत्वाख्यम् (म.द.ऋ.भा.३.५५.१)}

व्याख्यानम्– उपर्युक्त विराट् छन्द तेंतीस अक्षरों से युक्त होते हैं। इधर देवता भी तेंतीस होते हैं। गायत्री छन्द के आठ अक्षर ही आठ वसु हैं। यद्यपि आर्षी गायत्री छन्द में २४ अक्षर होते हैं, जिसके एक पाद में आठ अक्षर होते हैं। जैसा कि हम पूर्व में लिख चुके हैं कि **'ऋचं पादग्रहणे' (आश्व.श्रौ. १.१.१७)** के अनुसार किसी भी ऋचा का प्रथम पाद उस ऋचा के समान ही प्रभावकारी होता है। इस कारण गायत्री छन्द के प्रथम पाद के आठ अक्षर सम्पूर्ण ऋचा के समान प्रभावकारी होते हैं, किंवा वह ऋचा उन आठ अक्षरों की मानो रक्षिका शक्ति के समान कार्य करती है, इसी कारण वसु अर्थात् प्रथम पाद को अक्षरों की पत्नी गायत्री छन्द को बताया है। ये आठ अक्षर ही सबके बसाने वाले हैं। सभी

छन्दों का मूल गायत्री छन्द ही है और सृष्टि में सब कुछ छन्दों से ही निर्मित है। इस कारण इनकी वसु संज्ञा है। उधर ११ रुद्र, जो ध्वनि उत्पन्न करते तथा तीक्ष्ण भेदक व भयंकर होते हैं, वे त्रिष्टुप् छन्द के प्रथम पाद के ११ अक्षर ही हैं। पूर्ववत् यह प्रथम पाद सम्पूर्ण ऋचा का कार्य करता है। इसी कारण त्रिष्टुप् छन्द इन ११ अक्षरों का पत्नी के समान संरक्षक व पालक है। जगती छन्द के प्रथम पाद के १२ अक्षर ही आदित्य संज्ञक १२ देव हैं। पूर्ववत् १२ अक्षरों वाला प्रथम पाद जगती छन्द के समान प्रभावकारी है, इस कारण जगती छन्द को इन १२ अक्षरों से युक्त प्रथम पादरूप आदित्यों की पत्नी कहा है। इनको आदित्य इस कारण कहा जाता है कि ये छन्द सूर्यादि के अन्दर ऊर्जा के उत्सर्जन व अवशोषण में सहायक होते हैं। इसी आधार पर सूर्य को भी आदित्य कहते हुए **महर्षि यास्क** लिखते हैं- **"आदित्यः कस्मात्? आदत्ते रसान्। आदत्ते भासं ज्योतिषाम्। आदीप्तो भासेति।" (नि.२.१३)** **'प्रजापति'** का अर्थ **'मनस्तत्त्व'** तथा **'वषट्कार'** का अर्थ वाक् तत्त्व ग्रहण करना योग्य है। इस प्रकार ये कुल ३३ देवता हैं। जब विराट् गायत्री छन्दों का संयोजन होता है, तो उस छन्द के ३३ अक्षर उपर्युक्त ३३ देवताओं को भी संयुक्त कर लेते हैं और जिससे विराड् गायत्री छन्द के ३३ अक्षर गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती छन्दों, जो भी उस समय विद्यमान होते हैं एवं मनस् तथा वाक् तत्त्व, जो सर्वत्र व्याप्त होते हैं, को तृप्त करके सक्रिय कर देते हैं। किसी भी छन्द का प्रत्येक अक्षर वाक् तत्त्व एवं सूक्ष्मतम तत्त्व महत् का ही रूप हैं, इस कारण प्रत्येक अक्षर मानो प्रत्येक देवता के लिये आधार के समान है। इस कारण विराट् छन्दों के उपयोग से उपर्युक्त तीनों मुख्य छन्द सक्रिय होकर अन्य सभी छन्दों को भी सक्रिय कर देते हैं, जिससे सम्पूर्ण सृष्टि प्रक्रिया तेज हो जाती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- किसी भी छन्द रश्मि का प्रथम पाद सम्पूर्ण छन्द रश्मि का रक्षण करने वाला होता है। गायत्री छन्द रश्मियों का प्रथम पाद अन्य सब छन्दादि पदार्थों को बसाने वाला होता है और त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों का प्रथम पाद तीव्र भेदक क्षमतासम्पन्न होता है। जगती छन्द रश्मियों का प्रथम पाद ऊर्जा के उत्सर्जन और अवशोषण के कार्य में सहायक होता है। मनरूपी सूक्ष्म तत्त्व मुख्य प्राण के रूप में सबका पालक और वाक् तत्त्व सबको अपनी-२ क्रिया में नियुक्त करने में सहायक होता है।

꧁ इति २.४ समाप्तः ꧂

௲ अथ २.५ प्रारभ्यते ௳

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. प्रयाजवदननुयाजं कर्तव्यं प्रायणीयमित्याहुर्हीनमिव वा एतदीङ्खितमिव यत्प्रायणीयस्यानुयाजा इति।।
तत्तन्नाऽऽदृत्यं प्रयाजवदेवानुयाजवत् कर्तव्यम्।।

{प्रयाजाः = पञ्च प्रयाजाः। इमऽएवास्य ते शीर्षण्याः पञ्च प्राणाः (श.११.२.६.४), एकादश प्रयाजाः (काठ.२६.६; क.४१.७), प्राणा वै प्रयाजाः (ऐ.१.११)। अनुयाजाः = अपाना अनुयाजाः (काठ.१२.२), छन्दांसि वाऽनुयाजाः (श.१.८.२.८), पशवो वा ऽनुयाजाः (श.३.८.४.८)। ईङ्खते गतिकर्मा (निघं.२.१४), ईङ्खयन्ति = छेदयन्ति, निपातयन्ति = छिन्न-भिन्न करते और वर्षाते हैं (म.द.ऋ.भा.१.१६.७)}

व्याख्यानम्- कुछ विद्वानों का कथन है कि सर्ग क्रिया के विस्तार अथवा विभिन्न परमाणुओं की संयोग-वियोग की प्रक्रिया को त्वरित गति देने के लिये विभिन्न छन्दों, मरुतों अथवा अपान प्राण के बिना केवल चार अथवा दस मुख्य प्राणों की संगति ही पर्याप्त है, क्योंकि ये प्राण ही सृष्टि प्रक्रिया को चलाने में पर्याप्त भूमिका निभा सकते हैं, उधर छन्द और मरुत् आदि के प्रयोग से सृष्टि प्रक्रिया विलम्बित और विशृङ्खलित हो सकती है, जबकि इनके न होने से सृष्टि प्रक्रिया अपेक्षाकृत तेज और व्यस्थित रह सकती है।।

इसका प्रत्याख्यान करते हुए **महर्षि ऐतरेय महीदास** कहते हैं कि यह मत उचित नहीं। सृष्टि प्रक्रिया के लिये पाँच या ग्यारह प्राण, छन्द एवं मरुत् आदि सभी आवश्यक है।।

२. प्राणा वै प्रयाजाः, प्रजाऽनुयाजा, यत्प्रयाजानन्तरियात् प्राणांस्तद् यजमानस्यान्तरियाद्, यदनुयाजानन्तरियात् प्रजां तद्यजमानस्यान्तरियात्।।
तस्मात् प्रयाजवदेवानुयाजवत् कर्तव्यम्।।

{प्रजाः= उत्पन्नाः पदार्थाः, द्वय्यो ह वा ऽइदमग्रे प्रजा आसुः। आदित्याश्चाङ्गिरसश्च (श.३.५.१.१३)। अंगिराः = प्राणो वा अंगिराः (श.६.१.२.२८), अंगिरा उ ह्यग्निः (श.१.४.१.२५)। विद्युत् (तु.म.द.य.भा.११.६१)}

व्याख्यानम्- उपर्यक्त प्राणापानादि पाँच प्राण अथवा सूत्रात्मा वायु सहित प्राणापानादि ग्यारह प्राण रूपी प्रयाज प्राण का कार्य करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि ये सभी प्राण इस सृष्टि प्रक्रिया में विभिन्न प्रकार की गतियों को उत्पन्न करने वाले होते हैं। किसी भी प्रकार की गति और बल इन्हीं प्राणों के कारण उत्पन्न होते हैं। उधर विभिन्न प्रकार के मरुत् एवं छन्द रूपी तरंगें उपर्युक्त प्राणों से ही उत्पन्न होने के कारण प्रजा कहलाती हैं। ये प्रजारूप छन्द वा मरुत् रश्मियां प्राणादि की सदैव अनुगामिनी होती हैं। इसी कारण इन्हें अनुयाज कहते हैं। इन छन्दों और मरुतों के कारण ही बल और गति तीव्र होती है तथा इनके कारण ऊष्मा, प्रकाश आदि अनेकों पदार्थों का निर्माण संभव होता है, परन्तु इनके मूल

में प्राथमिक प्राण अवश्य होते हैं। यदि सृष्टियज्ञ में प्राथमिक प्राणों को पृथक् कर दिया जाये, तो सृष्टि की सारी गतियाँ और बल समाप्त हो जायेंगे। फिर कोई भी क्रिया सम्भव नहीं होगी और जो बनी हुई सृष्टि है भी, वह भी प्रलय में बदल जायेगी और यदि अनुयाज संज्ञक छन्द और मरुतों को इस सृष्टि से पृथक् कर दिया जाये, तब भी विभिन्न प्रकार के तेज, बल, ऊष्मा, प्रकाशादि ऊर्जाएं समाप्त हो जायेंगी, जिससे संयोग-वियोग की प्रक्रिया भी सम्पन्न नहीं होगी और सृष्टि का समस्त व्यापार बंद हो जायेगा।।

इस विषय में **महर्षि तित्तिर** का भी कथन है-
"आत्मा वै प्रयाजाः प्रजाऽनुयाजा यत् प्रयाजानन्तरियादात्मानमन्तरियाद्यदनूयाजानन्तरियात् प्रजामन्तरियात्।" (तै.सं.६.१.५.४) अर्थात् प्राण रश्मियां आत्मा रूप होकर प्रजारूप छन्दादि रश्मियों में सतत विचरण करती हैं। इन दोनों ही प्रकार की रश्मियों का होना इस सृष्टि के लिए अनिवार्य है।

इसी कारण महर्षि कहते हैं कि सृष्टि प्रक्रिया में प्राथमिक प्राणादि तत्त्व रूपी प्रयाज अर्थात् अग्रगन्ता पदार्थ एवं मरुत् छन्द आदि रूपी अनुयाज अर्थात् अनुगामी तत्त्व इन दोनों की ही आवश्यकता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- प्राण व अपान आदि ५ प्राण अथवा सूत्रात्मा वायु सहित ११ प्राथमिक प्राण, इस सृष्टि की प्रक्रिया को आरम्भिक बल और गति प्रदान करते हैं। इनसे उत्पन्न विभिन्न मरुत् व छन्द आदि रश्मियाँ बल और गतियों को तीव्र करके प्रकाश, ऊष्मा आदि स्थूल तत्त्वों का निर्माण करती हैं। यदि सृष्टि में प्राथमिक प्राणों को पृथक् कर दिया जाये, तो सभी बल और गति आदि गुण समाप्त हो जायेंगे तथा प्रलय हो जायेगा और यदि मरुत् छन्दादि रश्मियों को समाप्त कर दिया जाये, तो भी सभी प्रकार की ऊर्जा समाप्त हो जायेगी, इसलिये दोनों प्रकार के पदार्थों की इस सृष्टि में आवश्यकता होती है।।

चित्र २.४

३. पत्नीर्न संयाजयेत् संस्थितयजुर्न जुहुयात्।। तावतैव यज्ञोऽसंस्थितः।।

{पत्नीः = यस्मिन् द्रव्ये या याः शक्तयः सन्ति तास्तास्तेषां द्रव्याणां पत्न्य इवेत्युच्यन्ते (म.द.ऋ.भा.१.२२.६), अथो अर्द्धो वा एष आत्मनः, यत्पत्नी (तै.ब्रा.३.३.३.५), पत्नी धाय्या (गो.उ.३.२१), पत्नी स्थाली (तै.ब्रा.२.१.३.१), अन्तभाजो वै पत्न्यः (कौ.ब्रा.१६.७), पत्नी हि सर्वस्य मित्रम् (तै.सं.६.२.६.२), यद्वै पत्नी यज्ञे करोति तन् मिथुनम् (तु.तै.सं.६.२.१.१), चतस्रो जाया उपक्लृप्ता भवन्ति। महिषी वावाता परिवृक्ता पालागली (श.१३.४.१.८), (भूरिति महिषी - तै.ब्रा.३.६.४.५; भुव इति वावाता - तै.ब्रा.३.६.४.५)। (परिवृक्ता = सुवरिति परिवृक्ता - तै.ब्रा.३.६.४.५; पालागली = दूतपुत्री - श.१३.४.१.८ आचार्य सायण एवं हरिस्वामी भाष्य)। संस्थितयजुः = प्राणा वै संस्थितयजूंषि (काठ.२६.३)। यजुः = प्राणो वै यजुः प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि युज्यन्ते (श.१४.८.१४.२), मन एव यजूंषि (श.४.६.७.५), सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत् (तै.ब्रा.३.१२.६.१), अन्तरिक्षलोको यजुर्वेदः (ष.१.५)}

व्याख्यानम्- किसी भी पदार्थ के साथ उसकी शक्ति सदैव संयुक्त रहती है। उसके बिना वो पदार्थ किसी प्रकार का कार्य करने में समर्थ नहीं हो सकता। जैसे-इन्द्र के साथ इन्द्राणी, अग्नि के साथ अग्नायी। इस शक्ति को धाय्या भी इस कारण कहते हैं, क्योंकि यह हर द्रव्य के साथ धारण की होती

है। इनका द्रव्यों के साथ शाश्वत सम्बन्ध रहता है। विभिन्न कणों के संगतीकरण में इनकी भी भूमिका होती है। द्रव्यों की शक्तियाँ चार प्रकार की होती हैं। जिनमें से तीन केवल वाक् तत्त्व रूप होती हैं। ये क्रमशः हैं- (१) **महिषी** अर्थात् **'भूः'** नामक दैवी गायत्री छन्द (२) **वावाता** अर्थात् **'भुवः'** रूप दैवी उष्णिक् छन्द (३) **परिवृक्ता** अर्थात् **'स्वः'** रूप दैवी गायत्री छन्द (४) **पालागली** अर्थात् **'दूतपुत्री'**। यहाँ **'दूत'** शब्द का अर्थ विभिन्न पदार्थों को देश-देशान्तर ले जाने वाले अग्नि अथवा वायु है और दूतपुत्री का अर्थ है, इस अग्नि अथवा वायु के बल का पालक। हमारी दृष्टि में सूत्रात्मा वायु रश्मियां अग्नि व वायु की पालक होने से दूतपुत्री कही जा सकती हैं। इस प्रकार किसी द्रव्य की चार शक्तियाँ सिद्ध होती हैं अर्थात् **'भूः, भुवः, स्वः'** नामक दैवी छन्द रूपी प्राण एवं **सूत्रात्मा वायु।** यहाँ भूः, भुवः, स्वः के स्थान पर क्रमशः **प्राण, अपान** एवं **व्यान** का भी ग्रहण हो सकता है। इन चारों प्राणों का विविध प्रकार संयोग होने से विभिन्न द्रव्यों की शक्तियों का निर्माण हुआ करता है। ये शक्तियाँ किसी भी कण में पूर्णतः व्याप्त होती हैं एवं उस कण के स्वभाव को निर्धारित करती हैं। प्राक्वर्णित पथ्या स्वस्ति आदि देवताओं की संगति के साथ अथवा प्रयाज और अनुयाज संज्ञक विभिन्न प्राथमिक प्राणों, मरुत् रूप सूक्ष्म पवनों के संयोग के समय किसी भी कण की शक्ति अर्थात् उसके साथ पूर्णतः संयुक्त उपर्युक्त चार सूक्ष्म प्राण साथ-२ नहीं होते हैं। यद्यपि प्रयाज नामक प्राण भी प्राथमिक प्राण ही है पुनरपि वो किसी भी पदार्थ के शक्तिरूप उपर्युक्त चार सूक्ष्म प्राणों के साथ विभिन्न सूक्ष्म क्रियायें करते हुए भी उन शक्तिरूप सूक्ष्म प्राणों को विक्षुब्ध वा नष्ट करके उस द्रव्य कण से पृथक् नहीं कर पाते हैं। इसी बात को देवताओं के साथ पत्नियों का संगत न होना कहा गया है।

संस्थितयजु का तात्पर्य उस मुख्य प्राण से है, जो किसी भी कण के मध्य भाग में स्थित होता है। यद्यपि मुख्य प्राण सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त है और वही सभी गतियों का मूल कारण है, पुनरपि उस मुख्य प्राण में अनेकों प्राणादि पदार्थ भरे रहते हैं, परन्तु किसी भी कण के केन्द्रीय भाग में भरा हुआ मुख्य प्राण अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित होता है। यह प्राण महत्, मन वा अहंकार रूप तत्त्व ही है। इसकी विशेष जानकारी के लिये पृष्ठ सं. ३४ पर देखें। यह मध्यस्थ मन वा अहंकार रूप तत्त्व किन्हीं भी अन्य प्राणों वा छन्दों की संगति के साथ स्वयं को लिप्त नहीं करता। यद्यपि सर्वत्र व्याप्त महत् तत्त्व हर प्रकार की संगति में भाग लेता है, परन्तु केन्द्रीय भाग में स्थित या तो किसी बाहरी क्रिया में भाग नहीं लेता अथवा यदि भाग लेता भी है तो अपने मूल स्वरूप को सदैव संरक्षित ही रखता है।।

पूर्वोक्त प्रयाज, अनुयाज और प्रायणीय इष्टि की चर्चा को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि केवल इतने मात्र से ही सृष्टियज्ञ सम्यग्रूपेण सिद्ध नहीं होता। इसके लिए कुछ अन्य विशेष क्रियाएं भी आवश्यक हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- ब्रह्माण्ड के विभिन्न कणों जैसे- इलेक्ट्रॉन, क्वार्क, फोटोन आदि के साथ उनके शक्ति रूप कुछ अन्य सूक्ष्म पदार्थ संयुक्त रहते हैं। इन्हीं सूक्ष्म पदार्थों के कारण वर्त्तमान विज्ञान में माने जाने वाले विभिन्न मूल कणों का स्वभाव निश्चित हुआ करता है। ये शक्ति रूप सूक्ष्म पदार्थ **'भूः', 'भूवः', 'स्वः'** नामक सूक्ष्म दैवी छन्द रूप तरंगें एवं सूत्रात्मा वायु रूप सूक्ष्म प्राण के विविध संयोगों से निर्मित होते हैं किंवा प्राण, अपान, व्यान एवं सूत्रात्मा वायु के संयोग से निर्मित होते हैं। ये शक्ति रूप पदार्थ विभिन्न कथित कणों की किसी भी क्रिया से विक्षुब्ध वा नष्ट होकर इन कणों से पृथक् कभी नहीं होते हैं। इसी प्रकार विभिन्न कथित मूल कणों के केन्द्रीय भाग में स्थित **१.३.६** व्याख्यात महत् वा अहंकार रूप मुख्य प्राण तत्त्व भी किसी भी कण से पृथक् नहीं होता है।।

४. प्रायणीयस्य निष्कासं निदध्यात् तमुदयनीयेनाभिनिर्वपेद् यज्ञस्य संतत्यै यज्ञस्याव्यवच्छेदाय।।
अथो खलु यस्यामेव स्थाल्यां प्रायणीयं निर्वपेत् तस्यामुदयनीयं निर्वपेत् तावतैव यज्ञः संततोऽव्यवच्छिन्नो भवति।।

{निष्कासः = निस्+काश् (कास्) + घञ् = निर्गम, अन्तर्धान, प्रभात (आप्टे)। निदध्यात् = (नि+धा = रखना, सौंपना, दबा देना, रोक देना, धारण करना, घेरा डाल देना - आप्टे)। निर्वपेत् = (निस्+वप् = बिखेरना, प्रस्तुत करना)}

व्याख्यानम्- इस सर्गयज्ञ में किसी गति को जब प्रायणीय अर्थात् प्राण नामक प्राथमिक प्राण के द्वारा प्रारम्भ किया जाता है और उसकी गति चारों ओर से विभिन्न कणों को घेर लेती है अर्थात् विभिन्न कण प्राण से अनुप्राणित होकर क्रियाशील हो उठते हैं, उसी समय उदयनीय अर्थात् उदान नामक प्राथमिक प्राण ऊर्ध्वगामी अथवा उत्कृष्ट बल के साथ संयुक्त होकर उन कणों की गति और क्रिया को विशेष बल प्रदान करता है और ऐसा करने से विभिन्न कणों की संगतीकरण की प्रक्रिया बिना किसी व्यवधान के जारी रहती है। यदि प्राण के कारण उत्पन्न गति को उदान नामक प्राण का सहयोग न मिले, तो उसकी गति विशेष बलवती नहीं हो पाती है और उदान प्राण को प्राण नामक प्राण का सहयोग न मिले, तो कदाचित् कणों में गति प्रारम्भ ही न हो पाये। इस कारण विभिन्न क्रियाओं की निरन्तरता बनाये रखने के लिए इन दोनों का परस्पर सहयोग आवश्यक है। इसी कारण तै.सं. में कहा है- "प्रायणीयस्य निष्कास उदयनीयमभिनिर्वपति सैव सा यज्ञस्य सन्ततिः" (तै.सं.६.१.५.५ -आचार्य सायण द्वारा उद्धृत)।।

इसके अनन्तर यह भी आवश्यक है कि जिस क्षेत्र विशेष में प्राण नामक प्राथमिक प्राण प्रादुर्भूत होकर किसी भी क्रिया को प्रारम्भ करता है, तब उदान नामक प्राथमिक प्राण उसी क्षेत्र विशेष में प्रादुर्भूत और सक्रिय होकर पूर्व से गतिशील कणों को ऊर्ध्वगामी बल प्रदान करे। ऐसा होने पर ही संयोगादि प्रक्रिया की निरन्तरता और निर्बाधता बनी रहती है। यदि प्राण और उदान का प्रभाव क्षेत्र पृथक्-२ होगा, तो दोनों का परस्पर सहयोग न होकर सृष्टि प्रक्रिया की निरन्तरता और निर्बाधता समाप्त हो जायेगी किंवा सृष्टि प्रक्रिया फलीभूत भी नहीं हो पायेगी।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस सृष्टि में जब किन्हीं कणों को प्राण नामक तत्त्व से गतिशील बनाया जाता है, तो उसकी प्रक्रिया यह है कि प्राण की गति चारों ओर से विभिन्न कणों को घेर लेती है और उसके बाद उदान नामक प्राण उर्ध्वगामी बल से उन कणों की गति को उत्कृष्ट बना देता है, **इस प्रकार प्राण के बिना गति प्रारम्भ नहीं होती और उदान के बिना वह गति विशेष बलवती नहीं होती।** इसलिए दोनों का परस्पर सामंजस्य आवश्यक है।।
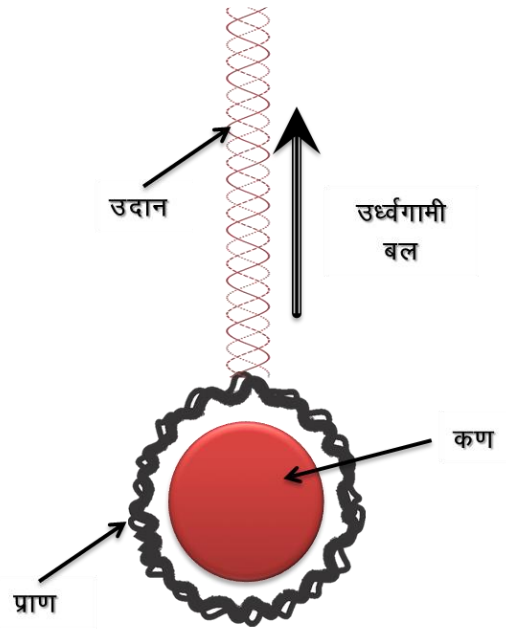
चित्र २.५ उदान प्राण के द्वारा बल का उत्कर्ष

५. अमुष्मिन् वा एतेन लोके राध्नुवन्ति नास्मिन्नित्याहुर्यत्प्रायणीयमिति प्रायणीयमिति निर्वपन्ति प्रायणीयमिति चरन्ति प्रयन्त्येवास्माल्लोकाद् यजमाना इति।। अविद्ययैव तदाहुर्व्यतिषजेद् याज्यानुवाक्याः।।

{व्यतिषजेत् = (वि+अति+सञ्ज् = मिलाना, साथ-साथ जोड़ना इति आप्टे)}

व्याख्यानम्- यहाँ महर्षि किसी अन्य विद्वान् के मत को उद्धृत करते हुए लिखते हैं कि जो कोई कण उपर्युक्त प्राणोदानादि प्राणों की संगति के द्वारा किसी तारे वा हिरण्यगर्भ रूपी मेघ के केन्द्रीय भाग में

पहुँच जाते हैं और वहाँ जाकर किन्हीं अन्य कणों से संयुक्त हो जाते हैं, तब वे उस संयुक्त अवस्था वाले स्वरूप, स्थान एवं छन्द आदि प्राणों से युक्त हो जाते हैं और उसी अवस्था में ही सदैव रहते हैं तथा संयोग पूर्व अथवा केन्द्रीय भाग में पहुँचने के पूर्व की अवस्था के स्वरूप एवं छन्द आदि प्राणों को सर्वथा त्याग देते हैं। जब वे कण प्राण नामक प्राथमिक प्राणों में ही बार-२ चक्कर लगाते हैं, उन्हीं में विचरण करते और उन्हीं के अन्दर व्याप्त हो जाते हैं, तब वे पूर्व स्थिति एवं गुणों को सर्वथा त्याग देते हैं।।

इस मत का प्रत्याख्यान करते हुए महर्षि लिखते हैं कि यह मत अज्ञानता का ही परिणाम है। वस्तुतः कोई भी कण किसी भी संयोग के उपरान्त पूर्व स्वरूप एवं गुणों को कभी नहीं त्यागता, क्योंकि यदि ऐसा होता तो संयुक्त कण के टूटने के पश्चात् बनने वाले कण कभी भी अपनी एकल अवस्था को प्राप्त नहीं कर पाते और न ही अपने पूर्व स्वरूप एवं गुणों को कभी प्राप्त कर सकते थे। संयोग पूर्व जो कण जिन छन्दों और गुणों से युक्त होता है, वह संयुक्त होने के पश्चात् भले ही इतर छन्दों और गुणों से युक्त होता हुआ प्रतीत होवे अथवा हो जाये, परन्तु जैसे ही वह वियुक्त होगा वैसे ही पूर्व स्वरूप और गुणों को तत्काल प्राप्त कर लेगा। इससे सिद्ध है कि कोई भी कण अपने स्वाभाविक एवं मूल गुणों व स्वरूप का त्याग कभी नहीं करता।

{याज्या = अपानो याज्या (श.१४.६.१.१२), इयं याज्या (श.१.७.२.११)}

इसी कारण किसी भी कण के साथ प्राण और अपान दोनों ही तत्त्व साथ-२ संयुक्त रहते हैं और इन दोनों का संयुक्त रूप ही कणों के मूल स्वरूप और गुणों को संरक्षण प्रदान करता है। यहाँ आचार्य सायण ने **"विपरीताश्च याज्यानुवाक्याः" (आश्व.श्रौ.६.१४.४)** को उद्धृत करते हुए याज्या और पुरोनुवाक्या के परस्पर परिवर्तन की बात कहते हुए अपने भाष्य में लिखा है- **"स्वस्ति नः पथ्यास्वित्यारभ्य महीमू षु मातरमित्यन्तानां याज्यानुवाक्यानां व्यतिषङ्गं कुर्यात्।"** इसका तात्पर्य हमारी दृष्टि में यह है कि खण्ड १.७ में जो पुरोनुवाक्या और याज्या संज्ञक मंत्र दिये हैं, वे परस्पर अपना स्थान परिवर्तित करते हुए कणों का मूल स्वरूप सदैव बनाये रखते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- कोई भी कण जब किसी अन्य कण से संयोग करता है, तो अपने मूल गुणधर्मों को कभी भी पूर्णतया नहीं त्यागता। यदि त्याग देता, तो कणों के वियोग होने पर मूल गुण कभी प्रकट नहीं हो सकते थे। विशेष जानकारी के लिए १.३.१७ का व्याख्यान देखें।।

६. याः प्रायणीयस्य पुरोनुवाक्यास्ता उदयनीयस्य याज्याः कुर्याद् या, उदयनीयस्य पुरोनुवाक्यास्ताः प्रायणीयस्य याज्याः कुर्याद्, तद्व्यतिषजत्युभयोर्लोकयोर्ऋद्ध्या उभयोर्लोकयोः प्रतिष्ठित्या, उभयोर्लोकयोर्ऋध्नोत्युभयोर्लोकयोः प्रतितिष्ठति।। प्रतितिष्ठति य एवं वेद।।

{प्राणोदानावेत यत् प्रायणीयोदयनीये (कौ.ब्रा.७.५)}

व्याख्यानम्- पुरोनुवाक्या और याज्या के परस्पर परिवर्तन को स्पष्ट करते हुए महर्षि लिखते हैं कि प्रारम्भ की किसी क्रिया की जो पुरोनुवाक्या संज्ञक ऋचा होती है, वही ऋचा अगली क्रिया की याज्या संज्ञक ऋचा होती है और अगली क्रिया की जो पुरोनुवाक्या संज्ञक होती है, वह पूर्व क्रिया की याज्या संज्ञक ऋचा होती है। इसके साथ ही इसका अन्य रूप यह है कि **संयोग प्रक्रिया के प्रारम्भ के प्राण तत्त्व को अगली क्रिया के अपान तत्त्व के द्वारा ग्रहण किया जाता है और अन्तिम क्रिया के प्राण तत्त्व को पूर्व क्रिया के अपान तत्त्व के द्वारा ग्रहण किया जाता है अर्थात् पूर्व का प्राण अन्त के अपान की भाँति व्यवहार करता है। इसके साथ ही प्राण तत्त्व के साथ संगत प्राण तत्त्व, उदान तत्त्व के साथ संगत अपान तत्त्व के साथ व्यवहार करता है और उदान तत्त्व के साथ संगत प्राण तत्त्व, प्राण तत्त्व के साथ संगत अपान तत्त्व की भाँति व्यवहार करता है।** यहाँ यह भी सम्भव है कि प्राण व अपान की क्रियाओं की श्रृंखला में प्राण अपान के रूप में तथा अपान प्राण के रूप में परिवर्तित हो जाता हो।

इससे सिद्ध है कि **प्राण, अपान, उदान आदि परस्पर सापेक्ष तत्त्व हैं।** स्मरणीय है कि प्राण का स्थान ऊर्ध्व, अपान का स्थान निम्न भाग में होता है। प्राण तत्त्व किसी भी कण को गति देकर दूसरे से मिलाता है और अपान तत्त्व मिलने वाले कण से उचित दूरी प्रदान करता है। इस प्रकार आकर्षण और प्रतिकर्षण क्रमशः इन प्राण और अपान के ही मूलभूत गुण हैं। उदान तत्त्व इनको ऊर्ध्वगामी उत्कृष्ट बल प्रदान करता है। सृष्टियज्ञ को सिद्ध करने के लिये पुरोनुवाक्या और याज्या रूप उपर्युक्त प्राण और छन्द रूप तरंगें परस्पर उलटफेर को प्राप्त होती रहती हैं और इसी उलटफेर से संयोग पूर्व और संयोग उपरान्त विभिन्न कणों के मूल स्वरूप और संयुक्त स्वरूप दोनों ही समृद्ध और संरक्षित रहते हैं।।

जो कण इस प्रकार की अवस्थाओं से गुजरते हैं, वे अपने स्वरूप को आयु भर स्थिरता प्रदान करने में समर्थ होते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- विभिन्न कणों के साथ संयुक्त होने वाली दो छन्दरूप रश्मियाँ तथा प्राण, अपान, उदान आदि परस्पर स्थानान्तरित होते रहते हैं, इसके साथ ही ये परस्पर सापेक्ष तत्त्व हैं और इनकी सापेक्ष स्थानान्तरित संगति विभिन्न क्रियाओं को परस्पर बांधे रखती है। इस प्रकार ये प्राणापानादि रश्मियां एवं छन्दादि रश्मियां परस्पर एक शृंखला बनाते हुए नाना प्रकार की रश्मि वा कणों को बांधे और सक्रिय रखती हैं।।

७. आदित्यश्चरुः प्रायणीयो भवत्यादित्य उदयनीयो यज्ञस्य धृत्य यज्ञस्य बर्सनद्ध्यै यज्ञस्याप्रस्रंसाय।।

तद्यथैवाद इति ह स्माऽऽह तेजन्या उभयतोऽन्तयोरप्रस्रंसाय बर्सौ नह्यत्येवमेवैतद्यज्ञस्योभयतोऽन्तयोरप्रस्रंसाय बर्सौ नह्यति यदादित्यश्चरुः प्रायणीयो भवत्यादित्य उदयनीयः।।

{बर्सः = मण्याकारो ग्रन्थिविशेषः - इति आचार्य सायणः}

व्याख्यानम्- इस अध्याय के प्रथम खण्ड में जो अदिति के लिए चरु की बात कही है और जिसको हम वहाँ विशेष स्पष्ट कर चुके हैं कि इस सृष्टियज्ञ का आरम्भ कारण मूल प्रकृति, पुनः महत् वा मनस्तत्त्व से होता है और सृष्टियज्ञ का अन्त भी महत् व मूल प्रकृति में ही होता है। यह सृष्टि प्रक्रिया किसी भी जड़ पदार्थ की सूक्ष्मतम अवस्था, जिसका विवेचन हम अपनी पूर्वपीठिका में कर चुके हैं, से प्रारम्भ होती है और धीरे-२ प्रलय अवस्था को प्राप्त करके प्रकृतिरूपी मूल अवस्था में परिवर्तित हो जाती है और इसी प्रकार यह सृष्टि प्रक्रिया आरम्भ-अन्त पुनः आरम्भ-अन्त के क्रम में अविच्छिन्नरूपेण चलती रहती है। यदि सृष्टियज्ञ मूल प्रकृति से प्रारम्भ होकर प्रलय अवस्था में मूल प्रकृति में परिवर्तित न हो, तो पुनः सृष्टि-प्रलय क्रम में अनियमितता का दोष उत्पन्न हो जायेगा। इस कारण यह क्रम अदिति से अदिति तक ही चलता है और अदिति ही सारे सृष्टि क्रम को रस्सी की गांठ की भाँति जोड़े रखती है, जिससे सृष्टि प्रक्रिया बिखरने नहीं पाती।।

इसको दृष्टान्त के द्वारा समझाते हुए कहते हैं कि जैसे तेजनी अर्थात् रस्सी (तेजनी रज्जुरिति आचार्य सायणः) के दो सिरों को जब बांध देते हैं, तो वह रस्सी हाथ में से खिसकने नहीं पाती। उसी प्रकार सृष्टियज्ञ की रस्सी भी मानो मूल प्रकृतिरूप गांठ से बांधी रहने के कारण स्खलित नहीं हो पाती। इसलिए सृष्टि प्रक्रिया मूल प्रकृति से प्रारम्भ होकर मूल प्रकृति में ही लय हो जाती है। मानो सृष्टि-प्रलय की शृंखला मूल प्रकृतिरूपी गांठ से बंधकर निरन्तर निर्बाध रूप से चलती रहती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सृष्टि की मूल उपादान कारण अवस्था जड़ पदार्थ की वह सूक्ष्मतम अवस्था है, जिससे सूक्ष्म अवस्था का होना कभी भी सम्भव नहीं है। और सृष्टि का जब प्रलय होता है, तब वह इसी सूक्ष्मतम अवस्था तक होता है और उसी से पुनः सृष्टि निर्माण प्रारम्भ होता है। सृष्टि का मूल उपादान कारण पदार्थ अर्थात् मूल प्रकृति एक ऐसा पदार्थ है, जो सृष्टि और प्रलय दोनों ही अवस्थाओं में विद्यमान रहकर उन दोनों ही अवस्थाओं को परस्पर जोड़े रखता है और यह शृंखला सतत चलती रहती है।।

८. पथ्ययैवेतः स्वस्त्या प्रयन्ति पथ्यां स्वस्तिमभ्युद्यन्ति स्वस्त्येवेतः प्रयन्ति स्वस्त्युद्यन्ति स्वस्त्युद्यन्ति।।५।।

व्याख्यानम्- उपर्युक्त सृष्टि प्रलय की शृंखला पथ्या स्वस्ति अर्थात् साध्वी गति से प्रारम्भ होती है और साध्वी गति से ही प्रलय काल में समाप्त हो जाती है। असाध्वी अर्थात् अनियमित एवं अनियन्त्रित स्वच्छन्द गति से सृष्टि प्रक्रिया कभी सम्पन्न नहीं हो सकती। इसके साथ ही प्रलय प्रक्रिया का भी एक विशेष नियम और क्रम होता है। वहाँ भी नितान्त स्वच्छन्दता नहीं होती। जिस गति को आधुनिक विज्ञान अनियमित एवं यदृच्छया मानता है, वह हमारी बौद्धिक सीमा की परिमितता के कारण ही माना जा सकता है, परन्तु सृष्टि के रचयिता चेतन तत्त्व परमात्मा के साम्राज्य में सभी प्रकार की गतियाँ और बल उसी चेतन तत्त्व के द्वारा सदैव नियमित और नियन्त्रित रहते हैं और सृष्टि यजमानरूप जीवात्माओं के कल्याण के लिये ही प्रारम्भ की जाती है और उचित एवं निश्चित समय पर जीवों के कल्याण के लिये ही इसका प्रलय किया जाता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सृष्टि निर्माण की प्रक्रिया चेतन तत्त्व परमात्मा द्वारा बनाये हुए निश्चित भौतिक सिद्धान्तों पर ही आधारित होती है और सृष्टि का प्रलय भी उन्हीं निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर विपरीत क्रम से होता है।।

ॐ इति २.५ समाप्तः ॐ

ॐ इति द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॐ

तृतीयोऽध्यायः

।। ओ३म् ।।

ओं विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑ सुव। यद्भ॒द्रं तन्न॒ऽआ सु॑व।।

अनुक्रमणिका

꧁ अथ ३.१ प्रारभ्यते ꧂

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. प्राच्यां वै दिशि देवाः सोमं राजानमक्रीणंस्तस्मात् प्राच्यां दिशि क्रीयते।। तं त्रयोदशान् मासादक्रीणंस्तस्मात् त्रयोदशो मासो नानुविद्यते, न वै सोमविक्रय्यनुविद्यते पापो हि सोमविक्रयी।।

{मासः = मासा वै रश्मयः (तां.१४.१२.६), मासा हवींषि (श.११.२.७.३), दक्षिणावृतो मासाः (तै.सं.५.३.२.४), मासाः संधानानि (तै.सं.७.५.२५.१), उदाना मासाः (तां.५.१०.३), मासा वै वाजाः (तै.सं.२.५.७.४)। पापः = पापः पाताऽपेयानां पापत्यमानोऽवाङेव पततीति वा पापत्यतेर्वा स्यात् (नि.५.२)}

व्याख्यानम्– हिरण्यगर्भरूपी मेघ अथवा किसी तारे के निर्माण के समय दिव्यवायु अर्थात् प्राणापानादि प्राथमिक प्राणरूप देव पूर्वी भाग में सोम तत्त्व, जो विद्युन्मय होकर तेजस्वी हो जाता है, को क्रय करते हैं। यहाँ हम खण्ड **१.७** में वर्णित हिरण्यगर्भरूपी मेघ वा तारे के स्वरूप पर पुनः विचार करते हैं। वहीं दिये चित्र पर विचारने से स्पष्ट होता है कि सोम अर्थात् ठंडा मंदगामी वायु पश्चिमी भाग में होता है, जो उत्तर की ओर बढ़ता हुआ प्रकाशमान होकर विद्युत् से युक्त भी हो जाता है। फिर वह उत्तरी भाग की ओर से उर्ध्व दिशा अर्थात् केन्द्रीय भाग की ओर जाने लगता है। पूर्वी भाग में हलचल का प्रारम्भ होता है। इस भाग में सोमतत्त्व अर्थात् ठंडे मंदगामी वायु को लाने की प्रक्रिया यहाँ बतलायी गयी है। यहाँ **'क्रीञ्'** धातु का प्रयोग अति गम्भीर विज्ञान का संकेत करता है। यह धातु द्रव्य के विनिमय अर्थ में प्रयुक्त होती है। **'लेना'** व **'खरीदना'** एवं **'देना'** व **'बेचना'** में भारी अन्तर है। खरीदने के लिये विक्रेता को बदले में कुछ दिया जाता है, जबकि लेने के लिये ऐसा आवश्यक नहीं हैं। यहाँ सोम तत्त्व को पूर्व दिशा में खरीदने की चर्चा है, न कि सोम तत्त्व को लेने वा सोमवायु के पूर्व की ओर प्रवाहित होने की चर्चा है। प्रथम कण्डिका में भूत व वर्तमान दोनों कालों में सोमतत्त्व के क्रय करने की बात से यह संदेश मिलता है कि जिस प्रकार हिरण्यगर्भ वा तारे निर्माण के समय पूर्व दिशा में सोमतत्त्व के क्रय करने की चर्चा है, उसी प्रकार तारों के अन्दर यही प्रक्रिया चलती है।।

यहाँ **'मासात्'** यह पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग है और खरीदने व बेचने में पञ्चमी विभक्ति ही प्रयुक्त होती है। **"प्रतिनिधि प्रतिदाने च यस्मात्" (पा.अ.२.३.११)** इस प्रकार यहाँ 'तेरहवें मास में खरीदा' ऐसा अर्थ सम्भव नहीं। इस कारण यहाँ **'मास'** शब्द प्रचलित कालवाचक नहीं हैं अपितु किसी ऐसे पदार्थ का वाचक है, जो विनिमित हो सकता है। यहाँ उसी मास नामक पदार्थ के बदले में सोमतत्त्व के खरीदने की चर्चा है। यहाँ **'मास'** शब्द एक विशेष प्रकार की रश्मियों का वाचक है। ये रश्मियां विभिन्न प्राणों वा कणों को संयुक्त करने में विशेष भूमिका निभाती हैं। ये हविरूप होने से विभिन्न पदार्थों के साथ संयुक्त व वियुक्त होकर अन्य पदार्थों का निर्माण करती हैं। ये मुख्यतः बारह प्रकार की होती हैं, परन्तु विशेष परिस्थिति में अर्थात् यदा कदा तेरह प्रकार की होती हैं। उदान नामक प्राण को मास कहने से यह संकेत मिलता है कि इनके उपादान प्राणादि प्राथमिक प्राणों में उदान नामक प्राण की मात्रा अधिक होती है किंवा वे मास रश्मियां उदान संज्ञक प्राण रश्मियों की भांति व्यवहार करते हुए किसी बल के विपरीत उत्कृष्ट बल को उत्पन्न करके नाना प्रकार की संयोग क्रियाओं को सम्पन्न करने में सहायक होती हैं। इन तेरह प्रकार की मास नामक प्राणरश्मियों के विषय में जानकारी पूर्वपीठिका में दी गयी है। इन तेरह प्रकार की मास नामक प्राण रश्मियों में से अन्तिम १३ वीं रश्मि के बदले में पूर्व दिशा में देदीप्यमान सोमतत्त्व आता है। हम खण्ड **१.७** में दर्शाये चित्र से जानते हैं कि देदीप्यमान

सोमतत्त्व उत्तर दिशा में ही प्रचुरतया विद्यमान होता है। पूर्व दिशा में प्राथमिक विशेष हलचल होने से वहाँ प्राथमिक प्राणतत्त्व विशेषरूपेण विद्यमान होते हैं। इन प्राथमिक प्राणों से ही मास नामक प्राण रश्मियां उत्पन्न हुआ करती हैं। उत्तरी भाग से देदीप्यमान सोम पूर्वदिशा में तब आता है, जब पूर्व दिशा से १३ वीं प्रकार की मास रश्मियां उत्तर की ओर चल पड़ती हैं। उनके उत्तर की ओर प्रवाहित होते ही उत्तर दिशा से देदीप्यमान सोमतत्त्व पूर्व दिशा की ओर प्रवाहित होने लगता है। **तैत्तिरीय संहिता** के उपर्युक्त प्रमाण से हमारा तात्पर्य यह है कि सभी बारह प्रकार की मास रश्मियां दक्षिणावृत अर्थात् दक्षिणदिशा से ऊपर की ओर उठायी गयी होती हैं। जैसा कि **तैत्तिरीय संहिता** का उपर्युक्त वचन पूर्णरूपेण है....... **''दक्षिणत उपदधाति तस्माद् दक्षिणावृतो मासाः .....''** इससे प्रतीत होता है कि १२ प्रकार की मास रश्मियां हिरण्यगर्भ के दक्षिणी भाग से पश्चिम की ओर दक्षिणावर्त ही ऊपर की ओर प्रवाहित होती हैं, जबकि १३ वीं मास रश्मि इन सबसे विपरीत पूर्वदिशा से चलकर उत्तर की ओर वामावर्त प्रवाहित होती है। यह रश्मि ही उत्तर दिशा में विद्यमान प्रकाशमान सोमवायु को पूर्व की ओर अर्थात् दक्षिणावर्त प्रवाहित कराती है। यह रश्मि उत्तर दिशा में विद्यमान पदार्थ से टकरा कर उसमें से सोमतत्त्व को उत्सर्जित करती है और वह सोम तत्त्व पूर्व की ओर दक्षिणावर्त प्रवाहित होने लगता है। क्योंकि यह रश्मि अन्य १२ प्रकार की मास रश्मियों से विपरीत दिशा में गमन करने वाली होती है, इसी कारण इसे प्रतिकूल विद्यमान रहने वाली कहा है। उधर जब उत्तर दिशा में विद्यमान पदार्थ में से सोमतत्त्व उत्सर्जित होकर पूर्व की ओर प्रवाहित होने लगता है, इस कारण वह सोमविहीन पदार्थ पाप संज्ञक हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि वह पदार्थ अस्थिर होकर बार-२ इधर उधर गिरने भटकने लगता है। इस कारण वह अनुकूलता से अपने स्थन पर विद्यमान वा स्थिर नहीं रह पाता।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- किसी हिरण्यगर्भ वा नेब्यूला अथवा तारों के दक्षिण भाग में से बारह प्रकार की मास नामक रश्मियां पश्चिम दिशा की ओर चलती अर्थात् दक्षिणावर्त चलती हैं और पूर्वी भाग से तेरहवीं मास रश्मि उत्तर की ओर अर्थात् वामावर्त प्रवाहित होकर वहाँ विद्यमान पदार्थ से टकराती है। इस कारण वहाँ विद्यमान सोम पदार्थ, जो देदीप्यमान हो चुका होता है, वह उत्सर्जित होकर पूर्व दिशा की ओर दक्षिणावर्त चलने लगता है। इस कारण उत्तरी भाग में शेष रहे पदार्थ में भारी हलचल होने लगती है। वह बार-२ नीचे ऊपर उठने व गिरने लगता व अस्थिर होकर नृत्य जैसा करने लगता है। किसी एटम से इलेक्ट्रॉन रूपी सोम के निकल जाने से भी ऐसी ही प्रक्रिया होती है। वर्तमान में भी सूर्यादि तारों में यही प्रक्रिया सतत चलती रहती है।।

२. तस्य क्रीतस्य मनुष्यानभ्युपावर्तमानस्य दिशो वीर्याणीन्द्रियाणि व्युदसीदंस्तान्येकयर्चाऽवारुरुत्सन्त तानि नाशक्नुवंस्तानि द्वाभ्यां तानि तिसृभिस्तानि चतसृभिस्तानि पञ्चभिस्तानि षड्भिस्तानि सप्तभिर्नैवावावरुन्धत तान्यष्टाभिरवारुन्ध-ताष्टाभिराश्नुवत यदष्टाभिरवारुन्धताष्टाभिराश्नुवत तदष्टानामष्टत्वम्।।
अश्नुते यद्यत्कामयते य एवं वेद।।
तस्मादेतेषु कर्मस्वष्टावष्टावनूच्यन्त इन्द्रियाणां वीर्याणामवरुद्ध्यै।।१।।

व्याख्यानम्- वे सोमतत्त्वाणु जब पूर्व दिशा की ओर प्रवाहित होते हैं, उस समय वे घूमते, चक्कर काटते हुए जाते हैं। वे मनुष्य नामक अनियमित व अनियन्त्रित कणों के पास पहुँचते हैं, तब उस मनुष्य तत्त्व का आकर्षणादि बल, पराक्रम, प्राणादि सब कुछ सभी दिशाओं में व्याप्त होकर नष्टप्राय हो जाता है। जब मनुष्यनामक वे कण उन सोम कणों को अपने साथ संयुक्त करने का प्रयास करते हैं, तब वे ऐसा करने में समर्थ नहीं हो पाते हैं। उस समय एक ऋग्रूप तरंग उत्पन्न होती है, परन्तु उसके साहाय्य से भी वे उन सोम कणों को संयुक्त नहीं कर पाते हैं। अन्त में आठ ऋग्रूप तरंगें उत्पन्न होकर संयुक्त प्रयास करके उन सोम कणों को मनुष्य नामक कणों के द्वारा रोकने में समर्थ होती हैं। क्योंकि आठ (अष्ट) ऋग्रूप तरंगों के द्वारा सोमकणों को रोककर प्राप्त करने में मनुष्य नामक कण समर्थ हुए, इस

कारण **'अष्ट'** संज्ञक संख्या प्रसिद्ध हुयी। **'अशू अश्नुते'** धातु से यह **'अष्ट'** संख्या सिद्ध होती है। यही अष्ट संख्या का अष्टत्व है।।

जब मनुष्य नामक कण इस प्रकार की स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं, तब जिस-२ सोम कण को चाहते हैं उसे प्राप्त करने में समर्थ होते हैं।।

इस कारण इस कार्य को करने के लिए अर्थात् उन सोम कणों के बल, पराक्रम व प्राणादि को रोकने व उनको अपने साथ संयुक्त करने के लिये आठ ऋग्रूप तरंगों की उत्पत्ति हुआ करती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब हिरण्यगर्भ अर्थात् नेब्यूला वा तारे में सोम अर्थात् मंदगामी शीतल वायु अथवा इलेक्ट्रॉन्स मनुष्य अर्थात् अनियमित व अनियन्त्रित कम प्रकाश वाले कणों की ओर चक्कर काटते, नृत्य सा करते हुए पहुँचते हैं, तब उस सोमतत्त्व के कारण उन मनुष्य नामक कणों का बल, प्रकाश आदि सर्वत्र फैल कर अति मंद पड़ जाता है। यहाँ तक कि वे कण उस सोम तत्त्व को अपने साथ संयुक्त भी नहीं कर सकते वा उनको रोककर धारण करने में समर्थ नहीं हो सकते। उस समय वहाँ आठ प्रकार की विशेष ऋग्रूप प्राण रश्मियां उत्पन्न होती हैं, जिनके कारण उन मनुष्य नामक कणों में बलादि सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है, जिससे वे इलेक्ट्रॉन्स के प्रवाह को रोकने व धारण करने में समर्थ होते हैं। वे आठ ऋग्रूप रश्मियां कौन सी हैं, यह अगले खण्ड में वर्णित है।

ॐ इति ३.१ समाप्तः ॐ

ॐ अथ ३.२ प्रारभ्यते ॐ

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. सोमाय क्रीताय प्रोह्यमाणायानुब्रू३हीत्याहाध्वर्युः।। भद्रादभि श्रेयः प्रेहीत्यन्वाह।।

{अध्वर्युः = वायुर्वा अध्वर्युः (गो.पू.४.५), मनो वाऽध्वर्युः (श.१.५.१.२१), प्राणोदानौ वाऽअध्वर्यू (श.५.५.१.११)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त प्रोह्यमाण क्रीत सोमतत्त्व को आकृष्ट करने हेतु प्राण-उदान दोनों ही मनुष्य नामक कणों को अग्रवर्णित ऋग्रूप प्राणों से संयुक्त करने हेतु प्रेरित करते हैं। यहाँ अध्वर्यु का अर्थ वायु अर्थात् सोमतत्त्व और भी समीचीन प्रतीत होता है। इस सोम तत्त्व में ही वे ऋग्रूप तरंगें उत्पन्न होती हैं। सम्भव है कि ऐसा करने में प्राणोदान एवं मनस्तत्त्व उस सोम तत्त्व को प्रेरित करते हों। संस्कृत धातु कोष में श्री पं. युधिष्ठिर मीमांसक ने **'प्रवि'** पूर्वक **'ऊह्'** धातु का अर्थ **'कुछ काल तक ठहरना'** किया है। हमारी दृष्टि में **'प्र'+'ऊह वितर्के'** धातु का अर्थ भी यही होगा। पूर्वखण्ड में हमने कहा कि सोम मनुष्य नामक कणों से संयुक्त नहीं हो पाते, तब उन्हें संयुक्त करने के लिये ही आठ ऋचा रूप प्राणों की उत्पत्ति होती है। इससे स्पष्ट है कि जब सोम संयुक्त नहीं हो पा रहे हैं, तो वे ठहरे हुए से ही माने जा सकते हैं। **'क्रीत'** शब्द स्पष्ट है ही कि वे उत्तर दिशा से तेरहवें मास संज्ञक प्राण के द्वारा उत्सर्जित किए हुए हैं।।

इन आठ ऋचाओं में प्रथम ऋचा है-

भद्रादधि श्रेयः प्रेहि बृहस्पतिः पुरएता ते अस्तु।
अथेमव स्य वर आ पृथिव्या आरे शत्रून् कृणुहि सर्ववीरः।। (तै.सं.१.२.३.३-४)

यही ऋचा किञ्चित् पाठभेद से अथर्ववेद में भी विद्यमान है-

भद्रादधि श्रेयः प्रेहि बृहस्पतिः पुरएता ते अस्तु।
अथेममस्या वर आ पृथिव्या आरे शत्रुं कृणुहि सर्ववीरम्।। (अथर्व.७.८.१)

तैत्तिरीय संहिता में इस ऋचा का ऋषि 'सोम' तथा अथर्ववेद में पं. श्री दामोदर सातवलेकर ने इसका ऋषि 'उपरिबभ्रवः' माना है। **{बभ्रुः = नकुलसदृशवर्णः (म.द.य.भा.२४.२), धारको पोषको वा (म.द. ऋ.भा.५.३०.१४), सोमो वै बभ्रुः (श.७.२.४.२६), बभ्रुः पिङ्गलो भवति (मै.२.५.१), बभ्रुः सौम्यः (मै. ४.७.८), ये ऽभितप्तादसृज्यन्त ते बभ्रवः (जै.ब्रा.३.२६३)}**

इससे स्पष्ट है कि यह ऋचारूपी तरंग ऊपर अर्थात् उत्तरी दिशा से आये तप्त हुए सोम, जो पीले-भूरे वा लाल-भूरे रंग के होते हैं, से उत्पन्न होती है। इसका देवता पं. सातवलेकर ने 'बृहस्पति' तथा पं. क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने 'आत्मा' दिया है। इससे सिद्ध है कि **{बृहस्पतिः = बृहतां पालको विद्युद्रूपोऽग्निः (म.द.य.भा.२८.१९)}** इस ऋचारूपी तरंग के प्रभाव से मनुष्य नामक कणों में विद्युत् की उत्पत्ति हो जाती है, जिससे वे सोमतत्त्व को अपने साथ संयुक्त करने में समर्थ होते हैं। यदि **'सोम'** शब्द का अर्थ मरुत् रूप मंदगामी वायु ग्रहण किया जाए, तब भी अग्नितत्त्व की वृद्धि होने से मरुतों को नियन्त्रित व संयोजित किया जा सकता है। सोम का अर्थ मरुद् रश्मियां ग्रहण करने पर बृहस्पति

का अर्थ सूत्रात्मा वायु मानना अधिक उपयुक्त है। यह वायु ही सूक्ष्म मरुतों को आकृष्ट वा नियन्त्रित करने में समर्थ होता है। विद्युत् रूपी सोम में भी सूत्रात्मा वायु रश्मियों की भूमिका मूल होती है। इस ऋचा का छन्द त्रिष्टुप् होने से भी तेज व बलों की तीव्रता बढ़ने से सोम अर्थात् मरुतों को रोकने व संयोजित करने में सफलता प्राप्त होती है। विभिन्न एटम्स से इलेक्ट्रॉन्स के उत्सर्जन तथा उस इलेक्ट्रोन के अन्य आयन से जुड़ने के समय भी ये ही आठ तरंगें काम आती हैं। इलेक्ट्रॉन भी सोम प्रधान होने से सोम नाम से अभिहित हो सकता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- किसी निर्माणाधीन तारे के उत्तरी भाग से देदीप्यमान सोम वायु, जो पूर्वी भाग की तरफ लाया जाता है, उस समय उसका रंग पीला-भूरा या लाल-भूरा होता है और उसमें से आठ प्रकार की छान्दस तरंगें उत्पन्न होती हैं, जो पूर्वी भाग में विद्यमान अल्पायु एवं अनियमित मनुष्य नामक कणों में अग्नि तत्त्व की उत्पत्ति कर देती हैं, जिससे वे सोम तत्त्व को आकर्षित करने में समर्थ हो जाते हैं। ये ही छान्दस रश्मियां किसी इलेक्ट्रॉन के किसी धनायन से संयुक्त होते समय भी उत्पन्न होती हैं।।

२. अयं वाव लोको भद्रस्तस्मादसावेव लोकः श्रेयान् स्वर्गमेव तल्लोकं यजमानं गमयति।।
बृहस्पतिः पुर एता ते अस्त्विति ब्रह्म वै बृहस्पतिर्ब्रह्मैवास्मा एतत्पुरोगवमकर्ण वै ब्रह्मण्वद्रिष्यति।।
अथेमवस्य वर आ पृथिव्या इति देवयजनं वै वरं पृथिव्यै देवयजन एवैनं तदवसाययत्यारे शत्रून् कृणुहि सर्ववीर इति द्विषन्तमेवास्मै तत्पाप्मानं भ्रातृव्यमपबाधतेऽधरं पादयति।।

{भद्रः = कल्याणकारकः सेवनीयो वा (म.द.ऋ.भा.१.६१.५), भजनीयं भूतानामभिद्रवणीयम् भवद्रमयतीति वा भाजनवद्वा (नि.४.१०), श्रीर्वै भद्रम् (जै.ब्रा.३.१७२)। ब्रह्म = ब्रह्म वै वाचः परमं व्योम (तै.ब्रा.३.६.५.५), प्राणोदानौ ब्रह्म (गो.पू.२.१०), विद्युद् ह्येव ब्रह्म (श.१४.८.७.१), ब्रह्म वै त्रिवृत् (तां.२.१६.४), तद् ब्रह्म इदमन्तरिक्षम् (जै.उ.२.३.३.६), मन एव ब्रह्मा (कौ.ब्रा.१७.७), बलं वै ब्रह्मा (तै.ब्रा.३.८.५.२)। वीरः = अजति व्याप्नोति शत्रुबलानि यः (म.द.ऋ.भा.१.१८.४), प्रशस्तं बलम् (इति मे मतम्), प्राणा वै दश वीराः (श.१२.८.१.२२), वीरो वीरयत्यमित्रान् वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मणो वीरयतेर्वा (नि.१.७; वी गतिव्याप्तिप्रजनादिषु), अत्ता हि वीरः (श.४.२.१.६)। अधरम् = अधोगतिम् (म.द.य.भा.१८.७०)}

व्याख्यानम्- आचार्य सायण ने उपर्युक्त मंत्र के भाष्य में सोम क्रय देश को भद्र कहा है, आचार्य सायण का कथन उचित ही है। हिरण्यगर्भ वा तारों के उत्तरी भाग में जो सोम तत्त्व विद्यमान होता है अथवा उसके पश्चिम दिशा में जो अपेक्षाकृत शान्त सोम विद्यमान होता है, वह स्थान सोम के लिये भद्र ही होता है। इसका तात्पर्य यह है कि सोम तत्त्व इन स्थानों पर ऐसा विक्षुब्ध वा असंतुलित नहीं होता कि वह वहाँ से बहिर्गमन के लिये विवश होवे। पुनरपि हिरण्यगर्भ रूपी मेघ का केन्द्रीय भाग देदीप्यमान सोम तत्त्व के लिये और भी अधिक अनुकूल होता है। इसी कारण पूर्वोक्त १३ वीं मास नामक रश्मि के प्रहार से उत्तरी भाग से सोम तत्त्व पूर्वी भाग की ओर प्रवाहित होने लगता है और कदाचित् यहीं से उपर्युक्त ऋचा के प्रथम पाद रूपी प्राण तत्त्व की प्रेरणा से केन्द्रीय भाग की ओर प्रवाहित होने लगता है।

इसी प्रकार किसी भी एटम के अन्दर इलेक्ट्रॉन्स व्यवस्थित दशा को प्राप्त हुए ही विद्यमान होते हैं परन्तु उपर्युक्त १३ वीं मास रूपी तरंगों किंवा किसी प्रकाश किरण के प्रहार से अथवा किसी धनायन

के निकट आने से इलेक्ट्रॉन अपनी कक्षा छोड़कर निकटवर्ती आयन के अन्दर प्रवेश कर जाते हैं और वहाँ वे इलेक्ट्रॉन पूर्व एटम की अपेक्षा अधिक अनुकूलतर स्थिति को प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार अनेक प्रकार के विकिरण विभिन्न एटम्स से निकलकर अनन्त यात्रा पर निकल पड़ते हैं और उस अनन्त वा अपरिमित क्षेत्र रूपी स्वर्ग लोक में पूर्व की अपेक्षा अनुकूलतर स्थिति को प्राप्त करते हैं।।

इसका भाष्य करते हुए आचार्य सायण ने लिखा है- **"....एतदेतेन द्वितीयपादपाठेनास्मै यजमानार्थं ब्रह्मैव ब्राह्मणमेव पुरोगवं पुरोगन्तारमकः करोति। ब्रह्मण्वद् ब्राह्मणसहायोपेतं कर्म न वै रिष्यति सर्वथा नाशं न प्राप्नोति।"** हमारी दृष्टि में इसका तात्पर्य है कि जो सोम पदार्थ उपर्युक्त प्रकार से प्रवाहित होता है, तब उसके मार्ग को प्रशस्त करने के लिये उपर्युक्त छन्द का द्वितीय पादरूप प्राण अवयव प्रेरक का कार्य करता है और इसके माध्यम से ब्रह्मरूपी बृहस्पति उस सोम तत्त्व का अग्रगामी होता है। इसका तात्पर्य है कि उस सोम तत्त्व के साथ प्राण और उदान दोनों ही वाक् तत्त्व के साथ अग्रगमन करते हैं और इसी कारण सोम तत्त्व निर्बाध रूप से आगे बढ़ता जाता है और प्राणोदान से उत्पन्न तेजस्वी बल सोम तत्त्व को विभिन्न बाधक तत्त्वों से सुरक्षित रखता है, जिससे वह सोम तत्त्व न तो नष्ट ही होता है और न अपने मार्ग से विचलित ही होता है।

इसी प्रकार कोई इलेक्ट्रॉन किसी एटम से निकल कर किसी अन्य आयन अथवा एटम्स से मिलने के लिये अपनी यात्रा पर निकलता है अथवा कोई विकिरण अन्तरिक्ष में सुदूर गमन करता है, तब प्राणोदान का मिथुन उनका अग्रगामी बनकर सुरक्षित एवं संरक्षित मार्ग प्रदान करता जाता है।।

उपर्युक्त ऋचा के तृतीय पादरूपी प्राण अवयव की प्रेरणा से वह सोम तत्त्व देवयजन नामक स्थान में स्थापित किया जाता है। पूर्व में पृथिवी को सोम विक्रय देश बताया है और सोम तत्त्व के स्वर्ग लोक की ओर जाने की बात भी कही है। इधर देवयजन क्षेत्र पृथिवी पर ही बताया है। अब यहाँ पृथिवी का अर्थ यदि सोम विक्रय देश मानें, तब उसी क्षेत्र अर्थात् नेब्यूला के उत्तरी वा पश्चिमी भाग की ओर ही सोमतत्त्व का पुनः प्रवाहित होना सिद्ध होगा एवं इसी प्रकार किसी इलेक्ट्रॉन अथवा विकिरण का पुनः उसी एटम के अन्दर प्रविष्ट होना सिद्ध होगा, जो कि समीचीन नहीं जान पड़ता। इसलिये हमारी दृष्टि में पृथिवी का अर्थ अन्तरिक्ष एवं सविता अर्थात् हिरण्यगर्भ किंवा तारों का केन्द्रीय भाग अधिक उपयुक्त होगा। इसलिये कहा भी है- **"इयं (पृथिवी) वै सविता" (तै.ब्रा.३.९.१३.२; श.१३.१.४.२), "पृथिवीत्यन्तरिक्षनामसु पठितम्" (निघं.१.३)।** तब उपर्युक्त ऋचा के तृतीय पादरूपी प्राण की प्रेरणा से वह सोम वायु हिरण्यगर्भ के केन्द्रीय भाग में स्थापित होता है। यही केन्द्रीय भाग देवयजन प्रदेश कहलाता है, क्योंकि इसी क्षेत्र में विभिन्न प्रकार के प्राणादि देव संगत होकर विभिन्न तत्त्वों का निर्माण करते हैं।

इसी प्रकार किसी एटम के अन्दर बाहर से आने वाले इलेक्ट्रॉन के लिये उचित एवं अनुकूल कक्षा, जो एटम के नाभिक के आकर्षण बल के कारण सुनिश्चित होती है, देवयजनी कहलाती है और अन्तरिक्ष का वह क्षेत्र देवयजन प्रदेश कहलाता है। इसी क्षेत्र में अर्थात् उपर्युक्त कक्षाओं में इलेक्ट्रॉन्स का स्थापन ही वर्तमान विज्ञान की भाषा में विभिन्न गुण-धर्म वाले तत्त्वों का निर्माण करता है।

उपर्युक्त ऋचा के चौथे पाद **"आरे शत्रून् कृणु सर्ववीरः"** सोम तत्त्व वा इलेक्ट्रॉन आदि की यात्रा में बाधक बनने वाले किसी भी तत्त्व को दूर रखने में सहायक होता है। ये बाधक तत्त्व असुर नामक अप्रकाशित व हिंसक वायु होते हैं, जिनके विषय में विशेष जानकारी पूर्वपीठिका में देखें। इस पादरूपी प्राण अवयव के कारण सोम तत्त्व, इलेक्ट्रॉन वा फोटोन के साथ चलने वाले प्राणापान ही सक्रिय नहीं होते हैं, अपितु सभी दस प्राथमिक प्राण सक्रिय होकर बाधक तत्त्वों को दूर कर देते हैं। यहाँ बाधक तत्त्व तीन प्रकार के बतलाये गये हैं- **(१) द्विषन्तम्** अर्थात् ऐसे तत्त्व जो सोम तत्त्व को प्रतिकर्षित करके अपने से दूर रखना चाहते हैं। **(२) पाप्मा** अर्थात् ऐसे तत्त्व जो सोम तत्त्व, इलेक्ट्रॉन वा फोटोन्स के ऊपर बार-२ गिरकर उसे नष्ट वा विचलित करना चाहते हैं। **(३) भ्रातृव्य** अर्थात् अग्नि और वायु तत्त्व का ऐसा विकार, जो दूसरे कणों का हरण करके अर्थात् उन्हें आकर्षित करके नष्ट करने की प्रवृत्ति रखता है। इन तीनों ही प्रकार के बाधक तत्त्वों को उपर्युक्त ऋचा की चतुर्थ पाद रूपी तरंग दूर करके सोम तत्त्व, इलेक्ट्रॉन्स वा फोटोन्स को संरक्षण प्रदान करती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- नेब्यूला अथवा निर्माणाधीन तारों में सोम तत्त्व अथवा तत्प्रेरित-तद्जनित पदार्थ अपने स्थान पर विशेष विक्षुब्ध वा असंतुलित नहीं होता, पुनरपि केन्द्रीय भाग में अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित होता है। इसी प्रकार इलेक्ट्रॉन किसी तत्त्व के अन्दर मुक्त अवस्था में न होकर किसी एटम की कक्षा में व्यवस्थित होता है, पुनरपि जब दूसरे आयन में चला जाता है, तब वह पूर्व की अपेक्षा अधिक संतुलित होता है। इस सोम तत्त्व वा इलेक्ट्रॉन के साथ प्राण और अपान तथा पूर्वोक्त ऋग्रूप तरंग भी साथ संगत होती है, जो उनको उचित मार्ग और गति प्रदान करते हुए उचित स्थान तक ले जाने में सहयोग करती है और मार्ग में आने वाली बाधक हिंसक विद्युत् (डार्क एनर्जी) को दूर करती है।।
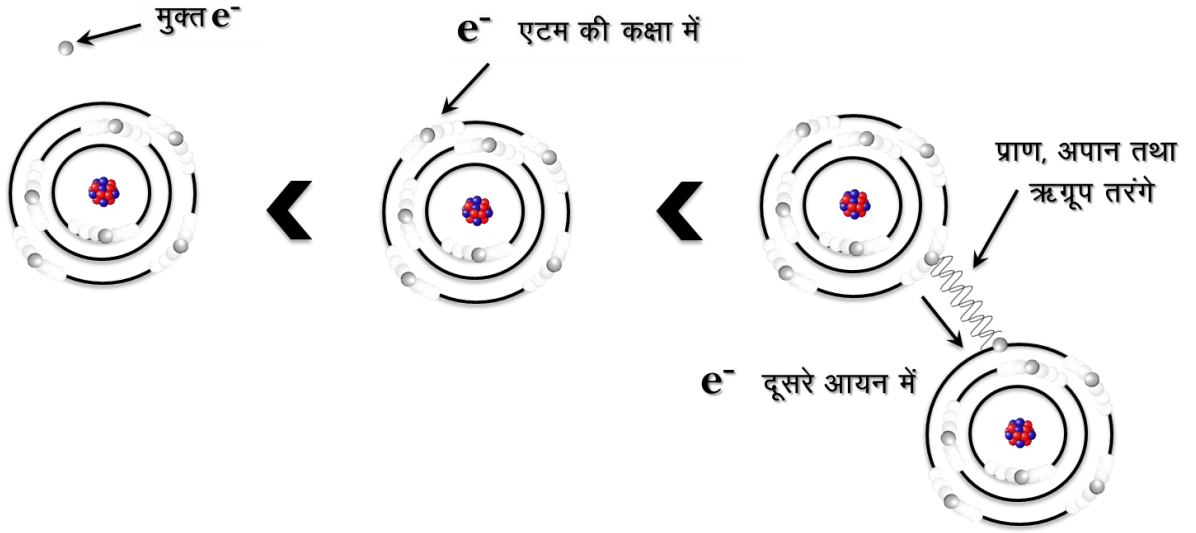
चित्र ३.१ e⁻ के स्थायित्व का क्रम

३. सोम यास्ते मयोभुव इति तृचं सौम्यं गायत्रमन्वाह सोमे राजनि प्रोह्यमाणे स्वयैवैनं तद्देवतया स्वेन च्छन्दसा समर्धयति।।

व्याख्यानम्- सोम तत्त्व की उपर्युक्त प्रवहण क्रिया के समय रहूगणपुत्रो गोतम ऋषि प्राण अर्थात् धनंजय प्राण से तीन ऋग् रूप तरंगों की उत्पत्ति होती है। वे ऋचाएं हैं-

सोम॒ यास्ते॑ मयो॒भुव॑ ऊ॒तयः॒ सन्ति॑ दा॒शुषे॑। ताभि॑र्नोऽवि॒ता भ॑व।। (ऋ.१.९१.९)
इ॒मं य॒ज्ञमि॒दं वचो॑ जुजुषा॒ण उ॒पाग॑हि। सोम॒ त्वं नो॑ वृ॒धे भ॑व।। (ऋ.१.९१.१०)
सोम॑ गी॒र्भिष्ट्वा॑ व॒यं व॒र्धया॑मो वचो॒विद॑ः। सु॒मृ॒ळीको॒ न॒ आ वि॑श (ऋ.१.९१.११)।

इनका देवता सोम तथा छन्द गायत्री एवं निचृद् गायत्री है। इन छन्द रश्मियों का प्रभाव निम्नानुसार होता है-
(१) इसका देवता सोम तथा छन्द निचृद् गायत्री होने से इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से सोम तत्त्व तीक्ष्ण तेज बल से युक्त होता है। अन्य प्रभाव से सोम रश्मियां सहज व समुचित रक्षण, गति आदि क्रियाओं से युक्त होकर नाना प्रकर की दानादि क्रियाओं की समृद्ध करती हैं।
(२) इसका देवता सोम तथा छन्द गायत्री होने से दैवत प्रभाव पूर्वापेक्षा किञ्चिद् मृदु होता है। अन्य प्रभाव से सोम पदार्थ विभिन्न संगमनीय छन्दादि रश्मियों के साथ संगत होते हुए नाना परमाणुओं के साथ संयुक्त होकर उन्हें नाना बल व क्रियाओं से समृद्ध करता है।

(३) इसका देवता, छन्द व दैवत-छान्दस प्रभाव प्रथम ऋचा के समान। अन्य प्रभाव से सोम तत्त्व विभिन्न छन्द रश्मियों में विद्यमान परमाणु आदि पदार्थों में प्रविष्ट होकर विभिन्न सूक्ष्म छन्द रश्मियों के द्वारा समृद्ध उन्हें करता है।

इस प्रकार इन छन्द रश्मियों के द्वारा सोम तत्त्व तेजस्वी, समृद्ध व विशेष प्रभावी रूप को प्राप्त करता है।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उपर्युक्त गायत्री छन्द रश्मियाँ तारों के अन्दर सोम पदार्थ को तारों के केन्द्रीय भाग की ओर तथा किसी इलेक्ट्रॉन को धनायन की ओर ले जाने में सहजता से सुरक्षित मार्ग प्रदान करती हैं। इन तीन छन्द रश्मियों के द्वारा तारों के अन्दर संलयनीय पदार्थ तथा दो आयनों के मध्य संयोग क्रिया में आयनों की ऊर्जा में समुचित वृद्धि होती है। इससे ऋणायन व इलेक्ट्रॉन आदि कण विशेष प्रभावित होते हैं।।

४. सर्वे नन्दन्ति यशसाऽऽगतेनेत्यन्वाह।।

यशो वै सोमो राजा सर्वो ह वा एतेन क्रीयमाणेन नन्दति यश्च यज्ञे लप्स्यमानो भवति यश्च न।।

सभासाहेन संख्या सखाय इत्येष वै ब्राह्मणानां सभासाहः सखा यत्सोमो राजा।।

किल्बिषस्पृदित्येष उ एव किल्बिषस्पृत्।।

{यशः = प्राणा वै यशः (श.१४.५.२.५), पशवो यशः (श.१२.८.३.१), यशो वै हिरण्यम् (ऐ.७.१८), अन्ननाम (निघं.२.७)। ब्राह्मणः = आग्नेयो हि ब्राह्मणः (काठ.२९.१०), ब्राह्मणो हि रक्षसामपहन्ता (श.१.१.४.६), सोमराजानो ब्राह्मणाः (तै.ब्रा.१.७.४.२), ब्रह्म एवं ब्राह्मण इति मे मतम्। सभा = सह भान्ति यस्मिन् यत्र वा सा सभेति मे मतम्। सखा = सखायः समानख्यानाः (नि.७.३०), समानं ख्यातीति सः (उ.को.४.१३८)}

व्याख्यानम्- तदुपरान्त बृहस्पति ऋषि अर्थात् सूत्रात्मा वायु से

सर्वे॑ नन्दन्ति य॒शसाग॑तेन सभा॒साहे॑न॒ सख्या॒ सखा॑यः।
कि॒ल्बि॒ष॒स्पृत्पि॑तु॒षणि॒र्ह्ये॑षा॒मरं॑ हि॒तो भव॑ति वा॒जिना॑य।। (ऋ.१०.७१.१०)

इस ऋग्रूप तरंग की उत्पत्ति होती है। विभिन्न भाष्यकारों ने इस ऋचा का देवता ''ज्ञान'' माना है, परन्तु हमारी दृष्टि में इसका देवता **'वाक्'** होना चाहिये। इसका छन्द **'विराट् त्रिष्टुप्'** है, जिसके कारण वाक् तत्त्व तीव्र बल और तेज से सम्पन्न होकर सोम तत्त्व को प्रभावित करता है, जिसकी प्रक्रिया आगे समझायी गई है। यहाँ **'वाक्'** का तात्पर्य अनुष्टुप् छन्द प्रतीत होता है, इससे यह ऋचा विभिन्न अनुष्टुप् छन्दों को समृद्ध करती है।।

जब सोम तत्त्व नेब्यूला अथवा तारे के केन्द्र में पहुँचता है, तब वह तेजस्वी रूप में होता है। हम इससे भी अवगत हैं कि सोम तत्त्व मन्द-२ ध्वनि करने वाले मन्दगामी मरुत् रूप प्राणों के रूप में होता है, जो केन्द्र की ओर खींचा जाता हुआ लम्बायमान होता है। जिस समय वह वहाँ पहुँचता है, तब जो परमाणु इसके साथ संगत होते हैं, वे परस्पर समृद्ध और संतृप्त होते हैं और यह सोम तत्त्व उस क्षेत्र में विद्यमान जिन परमाणुओं से संयुक्त नहीं होता है, वे भी संतृप्त होते हैं। वस्तुतः सोम तत्त्व का प्रवाह जिस दिशा में होता है, उस दिशा में भारी हलचल प्रारम्भ हो जाती है। उसके बाद उस सोम तत्त्व के पहुँचने पर अपेक्षाकृत संतुलन की स्थिति उत्पन्न होती है। इसी प्रकार जब कोई इलेक्ट्रॉन किसी एटम से निकलकर दूसरे आयन में जाता है, तब वह आयन एक उदासीन एटम का रूप धारण कर लेता है। जब तक वह आयन वांछित इलेक्ट्रॉन नहीं प्राप्त कर लेता है, तब तक वह अपने आवेश

के कारण न केवल स्वयं हलचल में रहता है, अपितु अपने पड़ौसी एटम्स को भी विशेष रूप से interact करके हलचल युक्त करता है। इससे वे सभी तनाव में होते हैं और जब उस आयन को वांछित इलेक्ट्रॉन प्राप्त हो जाते हैं, तब न केवल वह आयन शान्त हो जाता है, अपितु उसके निकटवर्ती एटम्स भी पूर्वापेक्षा तनावमुक्त हो जाते हैं। तारों के केन्द्रीय भाग के विषय में इतना और विशेष ध्यातव्य है कि सोम तत्त्व को मरुतों की घनीभूत अवस्था ऋणावेशित कण इलेक्ट्रॉन्स के रूप में मानें, तब वे इलेक्ट्रॉन्स केन्द्रीय भाग में संलयनीय नाभिकों के धनावेश को संतुलित करके मानो उस प्रदेश में सभी कणों को तृप्त करते हैं और यदि संलयनीय तन्मात्राओं को ही सोम तत्त्व मानें, तो भी वह केन्द्रीय भाग में पहुँचकर वहाँ संलयनीय पदार्थ की कमी होने से उत्पन्न vacuum को भरकर नाभिकीय ईंधन की पूर्ति करता है। यदि ऐसा नहीं होवे, तो तारे का गुरुत्वाकर्षण बल अपने भारी दबाव से सम्पूर्ण तारे में हलचल पैदा करके उसे विनष्ट भी कर सकता है। किन्तु जब सोम तत्त्व किंवा सोम प्रेरित पदार्थ रूपी ईंधन केन्द्रीय भाग में पहुँच जाता है, तो नाभिकीय संलयन प्रारम्भ होकर गुरुत्व बल को संतुलित करके तारे के केन्द्रीय भाग एवं शेष भाग सबको संतुलित करने में सहायक होता है। इस समस्त क्रिया में उपर्युक्त ऋचा का प्रथम पादरूपी प्राण विशेष सहायक होता है।।

इसके उपरान्त वह सोम तत्त्व सभी ब्राह्मणों वा ब्राह्मणों की सभा को उपर्युक्त ऋचा के दूसरे पादरूपी प्राण की सहायता से अभिभूत करता है अर्थात् जो केन्द्रीय भाग में आग्नेय पदार्थ हैं, उन सबको सक्रिय करके उन पर हावी हो जाता है। जिस क्षेत्र में सभी कण साथ-२ चमकते हैं, अग्निमय होते हैं, उस क्षेत्र को ही ब्राह्मणों की सभा कहा जाता है। ये सभी चमकते हुए कण पूर्व में देदीप्यमान सोम तत्त्व से ही बने हुए होते हैं। उधर इसी प्रकार से किसी आयन अथवा एटम में जब कोई वांछित इलेक्ट्रॉन आ जाता है, तब वह अन्य समस्त इलेक्ट्रॉन्स से सामंजस्य स्थापित कर लेता है। यहाँ यदि इलेक्ट्रॉन्स को ब्राह्मण तथा इलेक्ट्रॉन्स की कक्षाओं को ब्राह्मणों की सभा कहा जाये, तो यह स्पष्ट विदित होता है कि 'कक्षाओं में उपस्थित इलेक्ट्रॉन्स' 'मुक्त इलेक्ट्रॉन्स' की अपेक्षा अधिक तेजस्वी होते हैं।।

उपर्युक्त ऋचा का तीसरा पाद सभी प्रकार के किल्बिषों से रक्षा करने में सहयोग करता है। किल्बिष वे बाधक तत्त्व हैं, जिन्हें यत्र-तत्र असुर नाम से जाना जाता है। ये असुर तत्त्व किन्हीं भी कणों के संगतीकरण वा संलयन में अवरोध पैदा करते हैं, उस अवरोध को इस प्राणरूप अवयव के द्वारा ही वह सोम तत्त्व दूर करता है। वर्तमान वैज्ञानिकों के अनुसार जब किसी तारे में केन्द्रीय ईंधन समाप्त होने लगता है, तब वह तारा गुरुत्वबल के कारण सिकुड़ने लगता है और फिर उस गुरुत्व बल की प्रबलता से केन्द्रीय ताप बढ़कर पुनः नाभिकीय संलयन प्रारम्भ हो जाता है। हमारे विचार में सूर्य के बाहरी भाग अथवा नेब्यूला के बाहरी भाग, यहाँ तक कि सुदूर अन्तरिक्ष से भी केन्द्रीय भाग की ओर सोम तत्त्व अथवा तत्प्रेरित विभिन्न परमाणु प्रवाहित होते रहते हैं, जो ईंधन की आपूर्ति करते हैं। सम्भव है कि इस प्रकार की प्रक्रिया मन्द वा बन्द पड़ जाने के उपरान्त ही केन्द्रीय भाग में ईंधन का संकट उत्पन्न होता हो और इसी संकट को किल्बिष उत्पन्न होना कहा गया हो। इसी किल्बिष के कारण संलयन कार्य एवं सूर्य की कान्ति में विघ्न उत्पन्न होगा और विघ्न को उपर्युक्त ऋक् पादरूप प्राण की सहायता से सोम ही दूर करता है। इसीलिये सोम को किल्बिषस्पृत् अर्थात् किल्बिष से रक्षा करने वाला कहा गया है। उधर वांछनीय इलेक्ट्रॉन के न मिलने पर कोई भी आयन विशेष चंचल व अस्थिर होता है। जब इसे वांछनीय इलेक्ट्रॉन प्राप्त हो जाता है, तभी वह आयन शान्त और संतृप्त होता है। इस प्रकार यहाँ भी इलेक्ट्रॉन किल्बिषस्पृत् कहा जायेगा।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उपर्युक्त विराट् त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ जब तारों के केन्द्रीय भाग की ओर जाते हुए पदार्थ के साथ संगत होती हैं और वह पदार्थ उन रश्मियों के साथ जब केन्द्रीय भाग में पहुँचता है, तो वहाँ विद्यमान पदार्थ में भारी हलचल प्रारम्भ होती है। लेकिन उसके पश्चात् सभी कुछ संतुलित हो जाता है, इसी कारण केन्द्रीय भाग में विद्यमान विभिन्न इलेक्ट्रॉन नाभिकों को संतुलित करते रहते हैं। बाहर से आया हुआ पदार्थ भी अति तप्त होकर सभी के समान रूप धारण कर लेता है। उधर कोई इलेक्ट्रॉन जब उपर्युक्त छन्द रश्मि के साथ किसी आयन में प्रवेश करता है, तब उस आयन में विद्यमान अन्य इलेक्ट्रॉन्स में भारी हलचल मच जाती है, लेकिन तत्काल बाद ही इस ऋचा के प्रभाव से सब कुछ संतुलित हो जाता है और वह इलेक्ट्रॉन पूर्व विद्यमान अन्य इलेक्ट्रॉनों के समान स्वरूप

प्राप्त कर लेता है। इसके अतिरिक्त यह ऋचा ही तारों के अथवा आयनों के अन्दर विद्यमान सम्भावित अवरोधों को दूर करने में भी सहयोगिनी होती है। तारों में दूरस्थ क्षेत्रों से कुछ मात्रा में ईंधन रूप कणों की आपूर्ति होती रहती है। जब यह पर्याप्त न होवे, तभी तारा मृत हो पाता है।।

५. यो वै भवति यः श्रेष्ठतामश्नुते स किल्बिषं भवति।।
तस्मादाहुर्माऽनुवोचो मा प्रचारीः किल्बिषं नु मा यातयन्निति।।
पितुषणिरित्यन्नं वै पितु, दक्षिणा वै पितु, तामेनेन सनोत्यन्नसनिमेवैनं तत्करोति।।
अरं हितो भवति वाजिनायेतीन्द्रियं वै वीर्यं वाजिनम्।।
आजरसं हास्मै वाजिनं नापच्छिद्यते य एवं वेद।।

व्याख्यानम्– यहाँ महर्षि किल्बिष का एक बिल्कुल नया रूप प्रस्तुत करते हैं। हमने जिस असुर संज्ञक किल्बिष की चर्चा ऊपर की है, वह बाधक तत्त्व रूप किल्बिष इस ग्रंथ में अनेकत्र वर्णित है। उसी आधार पर हमने उस असुर तत्त्व नामक पदार्थ को किल्बिष मानकर उसको उपर्युक्त ऋचा के तीसरे पाद के द्वारा दूर करने की चर्चा की है। क्योंकि यह ऋचा विराट् त्रिष्टुप् छन्दस्क है एवं इसका देवता वाक् है, अतः वाक् एवं त्रिष्टुप् दोनों ही वज्र रूप होने से इस ऋचा के द्वारा असुर संज्ञक पदार्थ से संगत हो रहे परमाणुओं की रक्षा की जा सकती है। अब हम **महर्षि ऐतरेय महीदास** द्वारा इस कण्डिका में दिये हुए अन्य किल्बिष की चर्चा करते हैं। महर्षि लिखते हैं कि जो श्रेष्ठता को प्राप्त करता है, वह किल्बिष अर्थात् दोषी होता है। हमारी दृष्टि में इसका भाव यह है कि हिरण्यगर्भ अथवा तारे का केन्द्रीय भाग संलयनीय पदार्थ का एक सीमा से ज्यादा संलयन अकस्मात् प्रारम्भ कर दे अथवा कोई आयन आवश्यकता से अधिक इलेक्ट्रॉन्स को आकर्षित करने का प्रयत्न करे, तो यहाँ भारी दोष उपस्थित हो जायेगा। श्रेष्ठता का जो भाव हमने यहाँ ग्रहण किया है, उसकी पुष्टि अगली कण्डिका से होती है।।

महर्षि कहते हैं कि अनुवोच और प्रचारी नहीं होना चाहिए। पूर्व में जैसा कि हम लिख चुके हैं कि द्यौ को **अनुवाक्या** कहते हैं। **'अनुवाचक'** शब्द और **अनुवाक्या** दोनों में एक ही उपसर्ग और एक ही धातु का प्रयोग है। इससे सिद्ध है कि **'अनुवाच'** शब्द का अर्थ होगा प्रकाशीकरण अथवा आकर्षण प्रक्रिया। इसलिये कहना चाहते हैं कि हिरण्यगर्भ वा तारे में संलयन ऊर्जा का निर्माण बहुत तेजी से नहीं होना चाहिये अर्थात् ऐसा नहीं होना चाहिये कि सम्पूर्ण पदार्थ अकस्मात् संलयित होकर एक साथ इतनी ऊर्जा का उत्सर्जन कर दे कि विकिरण के भारी दबाव से तारों में विस्फोट ही हो जाये। इसी प्रकार कोई आयन किसी इलेक्ट्रॉन को ग्रहण करने के लिये इतना प्रबल आकर्षण उत्पन्न न कर ले कि अन्य इलेक्ट्रॉन की कक्षाओं को ही बाधित कर दे। उधर **"प्रचारीः"** शब्द का तात्पर्य है, अत्यन्त तेजी से क्रियाशील होने वाला। इसलिये महर्षि कहना चाहते हैं कि कोई भी तारा वा नेब्यूला अपने केन्द्रीय भाग को इतना अधिक सक्रिय न कर दे कि उसके गुरुत्व बल से सम्पूर्ण द्रव्य संलयित होकर तारे के स्वरूप को ही नष्ट कर दे और उधर कोई भी नाभिक इलेक्ट्रॉन की खोज में इतना अधिक चंचल और आकर्षणशील न हो जाये कि इलेक्ट्रॉनों को ही अपने में समा ले। ये सब क्रियायें ही किल्बिष अर्थात् भयंकर दोष हैं। इनको दूर करने के लिये ही सम्पूर्ण क्रियाओं का नियन्त्रित होना अनिवार्य है, जिसे यह **"किल्बिषस्पृत्"** नामक शब्द रूपी प्राण सम्पन्न करता है।।

{पितुम् = पितुरित्यन्ननामसु पठितम् (निघं.२.७), पितुरित्यन्ननाम पातेर्वा पिबतेर्वा प्यायतेर्वा (नि. ६.२४), पालकम् (तु.म.द.ऋ.भा.१.१८७.२)}

वस्तुतः उपर्युक्त कण्डिकाओं में **"सर्वे नन्दन्ति....भवति वाजिनाय"** इस पूर्वोक्त मंत्र की ही व्याख्या है। उपर्युक्त तीन ऋचाओं में **'किल्बिषस्पृत्'** शब्द का व्याख्यान था और यहाँ **'पितुषणिः'** का व्याख्यान है। यहाँ अन्न और दक्षिणा को **'पितु'** कहा है। **'पितु'** शब्द का अर्थ निरुक्तकार ने अन्न करते हुए भी तीन प्रकार से निर्वचन किया है– (१) रक्षक (२) भक्षणीय (३) वर्धक वा वर्धनीय। **महर्षि दयानन्द** ने **'पितु'** शब्द का अर्थ सुसंस्कृत अन्न किया है और इधर इस कण्डिका में **'पितु'** शब्द का अर्थ दक्षिणा भी किया है। **{दक्षिणा = दक्षते वर्धते यया सा (उ.को.२.५१), बलकारिणी (म.द.ऋ.भा.**

२.११.२१), प्राणप्रदा (म.द.ऋ.भा.२.१७.६), विद्युत् वाग् वा (म.द.य.भा.४.१६)} इस प्रकार 'पितु' शब्द से अभिहित अन्न के निम्न गुण स्पष्ट होते हैं- (१) रक्षा करने वाला (२) संलयन होकर नवीन पदार्थ बनाने वाला (३) ऊर्जा निर्माण की प्रक्रिया को बढ़ाने वाला (४) प्राण वा वैद्युत बल बढ़ाने वाला और ऐसे अन्न को देने वा उत्पन्न करने वा बांटने वाला पदार्थ पितुषणि संज्ञक ही सोम कहलाता है। पिछली कण्डिकाओं में सोम शब्द से हमने जो इलेक्ट्रॉन और कहीं-२ प्रोटोन का ग्रहण किया है, वे पदार्थ वस्तुतः सोम नहीं बल्कि अन्न के रूप हैं और सोम नामक पदार्थ इनसे भी सूक्ष्म और इनको उत्पन्न करने वाला है। ऐसे सूक्ष्म मरुत् रूप सोम की हमने भी पूर्व में सर्वत्र चर्चा की है। यहाँ 'पितुषणि' शब्द रूपी प्राणावयव इलेक्ट्रॉन, प्रोटोन वा सोम तत्त्व को समुचित रीति से विभाजित करने में सहयोग करता है।।

उपर्युक्त ऋचा का चतुर्थ पाद "अरं हितो भवति वाजिनाय" {वाजिनः = छन्दांसि वै वाजिनः (गो.उ.१.२०), पशवो वै वाजिनम् (तै.ब्रा.१.६.३.१०), इन्द्रियं वै वीर्यं वाजिनम् (ऐ.१.१३)} केन्द्रीय भाग में अथवा एटम्स के अन्दर इलेक्ट्रॉनों में विभिन्न प्रकार की छन्द रूप तरंगों, मरुतों एवं प्राणादि के बलों का धारण और पोषण करता है। इससे इन कणों की शक्तियाँ क्षीण नहीं होती और जब तक इन कणों की आयु रहती है, तब तक उनकी सक्रियता, विद्युदावेश आदि क्षीण नहीं होते। इसी कारण सृष्टियज्ञ सतत चलता रहता है।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- तारों के अन्दर संलयन की प्रक्रिया इतनी तीव्र भी नहीं होनी चाहिए कि सम्पूर्ण पदार्थ संलयित होकर अत्यधिक ऊर्जा को उत्पन्न कर दे, जिसके विकिरणीय भारी दबाव से तारे में ही विस्फोट हो जाये और यह संलयन प्रक्रिया इतनी धीमी भी न पड़े कि तारे का गुरुत्वीय बल तारे को अत्यन्त संकुचित कर दें। *
उधर किसी आयन में विद्यमान अधिक धनावेश इतना आकर्षण बल पैदा न कर दे कि सभी इलेक्ट्रॉन्स नाभिक में समा जायें अथवा नाभिक का आवेश इतना कम भी न हो जाये कि सभी इलेक्ट्रॉन्स मुक्त हो जायें, इस सन्तुलन के लिए ही पूर्वोक्त छन्द रश्मियाँ काम करती हैं।।

* The Sum of forces arising from pressure and gravity has to be zero, $\frac{\partial P}{\partial r} + g\rho = 0$, which gives the condition of "Hydrostatic equilibrium" -Stellar Structure and Evolution (R. Kippenhahn) Pg. No. 7

६. आगन् देव इत्यन्वाह।।
आगतो हि स तर्हि भवति।।
ऋतुभिर्वर्धतु क्षयमित्यृतवो वै सोमस्य राज्ञो राजभ्रातरो यथा मनुष्यस्य तैरेवैनं तत्सहाऽऽगमयति।।
दधातु नः सविता सुप्रजामिषमित्याशिषमाशास्ते।।
'स नः क्षपाभिरहभिश्च जिन्वतु' इत्यहानि वा अहानि रात्रयः क्षपा अहोरात्रैरेवास्मा एतामाशिषमाशास्ते, 'प्रजावन्तं रयिमस्मे समिन्वतु' इत्याशिषमेवाऽऽशास्ते।।

{ऋतुः = औष्ण्यं प्रापकः (तु.म.द.य.भा.२१.२४), रसाऽऽहरणसाधकः (तु.म.द.ऋ.भा.१.१५.५), अग्नयो वाऽ ऋतवः (श.६.२.१.३६), ऋतवो वै प्रयाजाऽनुयाजाः (कौ.ब्रा.१.४), ऋतवः पितरः (कौ.ब्रा.५.७), ऋतवो वै वाजिनः (श.२.४.४.२२), रश्मय ऋतवः (मै.४.८.८), द्वौ द्वौ हि मासावृतुः (तां.१०.१२.८), ऋतवो वै देवाः (श.७.२.४.२६)। क्षपा = रात्रिनाम (निघं.१.७), क्षपः उदकनाम (निघं.१.१२)। अहः = अहना उषोनाम (निघं.१.८), अहर्वै मित्रः (ऐ.४.१०), अहर्वै स्वर्गो लोकः (ऐ.५.२४), अग्निर्वाऽहः, सोमो रात्रिः (श.३.

४.४.१५), अहर्वै वियच्छन्द रात्रिर्वै संयच्छन्दः (श.८.५.२.५), ब्रह्मणो वै रूपमहः क्षत्रस्य रात्रिः (तै.ब्रा.३.६.१४.३)। राजा = प्राणः (तु.म.द.ऋ.भा.१.२३.१४), देदीप्यमानः (म.द.य.भा.१६.७२)। क्षयम् = निवासस्थानम् (म.द.ऋ.भा.३.३.२), अन्तो वै क्षयः (कौ.ब्रा.८.१)। भ्राता = भ्राता भरतेर्हरतिकर्मणो हरते भागं भर्तव्यो भवतीति वा (नि.४.२६)। वामदेवः = (वामः प्रशस्यनाम-निघं.३.८), (प्राणो वै वाम-देव्यम् - श.६.१.२.३८)}

व्याख्यानम्- तदुपरान्त

आग॑न्दे॒व ऋ॒तुभि॒र्वर्ध॑तु क्षयं॒ दधा॑तु नः सवि॒ता सु॒प्रजामिष॑म्।
स नः॑ क्ष॒पाभि॒रह॑भिश्च जिन्वतु प्र॒जाव॑न्तं र॒यिम॒स्मे समि॑न्वतु।। (ऋ.४.५३.७)

ऋचा की उत्पत्ति 'वामदेव ऋषि' प्राण से होती है। हमारी दृष्टि में मनस् वा अहंकार तत्त्व से विशेष समृद्ध प्राण नामक प्राणतत्त्व ही वामदेव ऋषि है। इसका देवता 'सविता' और छन्द 'निचृज्जगती' है। इसके प्रभाव से विद्युत् बलों की समृद्धि और उनका विस्तार होकर विभिन्न परमाणुओं में परस्पर आकर्षण बल तीव्र होकर परस्पर संयोग की प्रक्रिया तेज होती है। इस ऋचा का शेष प्रभाव और व्याख्या अगली कण्डिकाओं में दर्शायी गई है।।

'आगन् देवः' इन दो पदों के प्रभाव से देदीप्यमान सोम तत्त्व केन्द्रीय भाग में सर्वत्र व्याप्त हो जाता है और इसी प्रकार किसी एटम के अन्दर कोई आगन्तुक इलेक्ट्रॉन अपनी कक्षा में फैल सा जाता है।।

सोमतत्त्व, जो केन्द्रीय भाग की ओर जाता है किंवा सोमतत्त्व प्रधान इलेक्ट्रॉन्स जो किसी आयन की ओर जाते हैं, वहाँ अपने भ्राता को भी लेकर जाते हैं। भ्राता वे तत्त्व हैं, जो किसी तत्त्व के एक भाग को अपने अन्दर धारण व आकर्षित करते हैं अथवा वे किसी तत्त्व के साथ-२ संयुक्त होकर उसके द्वारा धारित व पोषित किए जाते हैं। सोमतत्त्व के ये भ्रातृसंज्ञक पदार्थ ऋतु संज्ञक प्राण हैं, जो दो-२ मास नामक रश्मियों के समूह में रहते हैं किंवा प्रयाज व अनुयाज संज्ञक प्राण ही यहाँ ऋतु कहाते हैं। जैसा कि हम पूर्व में अनेकत्र बतला चुके हैं कि प्राणापानादि पंच प्राथमिक प्राण ही प्रयाज तथा विभिन्न आवश्यक छन्द व मरुत् संज्ञक रश्मियां ही अनुयाज कहाती हैं। ये प्रयाजानुयाज नामक रश्मियां ऋतु भी कहलाती हैं। ये पंचप्राण व छन्द-मरुत् संज्ञक रश्मियां सोम तत्त्व वा इलेक्ट्रॉन्स के साथ-२ ही जाती हैं अथवा मासद्वय से उत्पन्न ऋतु संज्ञक रश्मियां सोम तत्त्व के साथ-२ जाती हैं। ये रश्मियां ऊष्मा उत्पन्न करने में भूमिका निभाती हैं। प्रतीत होता है कि यदि सोम तत्त्व के साथ ये ऋतु संज्ञक प्राण नहीं हों, तो वह सोम ऊष्मा वा ऊर्जा उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होगा। यहाँ एक दृष्टांत द्वारा समझाते हैं कि जैसे मनुष्य का भाई भी मनुष्य ही होता है, अन्य कोई प्राणी नहीं, वैसे ही सोम का भाई ऋतु प्राण भी सोम तत्त्व के समान ही होता है, इससे सिद्ध है कि सोम तत्त्व भी प्राथमिक पंच प्राणों व सूक्ष्म छन्दों वा मरुतों का ही रूप होता है अथवा मास युग्मों का रूप।

इस उपर्युक्त ऋचा के **'ऋतुभिर्वर्धतु क्षयम्'** इस भागरूप प्राणावयव के द्वारा प्रेरित व समृद्ध होकर उपर्युक्त ऋतुरश्मियों के साथ सोमतत्त्व वा इलेक्ट्रॉन्स मिलकर अर्थात् संगत होकर क्षयम् अर्थात् निवास स्थान को समृद्ध करते हैं। इसका तात्पर्य है कि इस प्राण के द्वारा सोमतत्त्व वा इलेक्ट्रॉन्स का क्षेत्र व्यापक हो जाता है और वे जिस लक्ष्य को लेकर यात्रा प्रारम्भ करते हैं, उस तक पहुंचने में सक्षम होते हैं।।

उपर्युक्त ऋचा के द्वितीय पाद **'दधातु नः सविता सुप्रजामिषम्'** रूपी प्राण अवयव के द्वारा सविता अर्थात् कोई भी तारा अथवा किसी एटम का नाभिक विभिन्न तत्त्वों और उनसे निर्मित पदार्थों को धारण करता है। सोम तत्त्व द्वारा लाये गये अन्न नामक पदार्थों अर्थात् विभिन्न नाभिकों के उच्चताप और दाब पर अनेक प्रकार की सुप्रजाओं अर्थात् पदार्थ कणों का निर्माण होता रहता है। विद्युत् और वायु

तत्त्व को भी सविता कहते है, क्योंकि सम्पूर्ण सृष्टि का व्यवहार विद्युत् और वायु की प्रेरणा से ही सम्पन्न होता है। उपर्युक्त पाद रूपी प्राणावयव विद्युत् और वायु को भी प्रेरित करता है।।

उपर्युक्त ऋचा का तृतीय पाद **'स नः क्षपाभिरहभिश्च जिन्वतु'** रूपी प्राण अवयव केन्द्रीय भाग में विद्यमान सम्पूर्ण पदार्थ को अहन् एवं रात्रि अर्थात् अग्नि एवं सोम, प्राण एवं अपान, फैले हुए छन्द एवं नियन्त्रित छन्द आदि से तृप्त करता है। अहन् संज्ञक पदार्थ सतत सक्रिय रहकर विभिन्न परिवर्तनों से गुजरते रहने के कारण ही **'अहन्'** कहलाते हैं। **{अहन् = न जहाति त्यजति सर्वथा परिवर्तनम् इति अहन् - इति आप्टे}** उधर क्षपा अर्थात् रात्रि संज्ञक पदार्थ संयमित छन्दों का रूप होते हैं और ये विभिन्न पदार्थों में धीरे-२ इस प्रकार समा जाते हैं, जैसे- पानी किसी वस्तु को गीला करता है। इस पाद के द्वारा दोनों ही प्रकार के तत्त्व सक्रिय होते हैं तथा अगला पाद **''प्रजावन्तं रयिमस्मे समिन्वतु'' {रयिः = वीर्यं वै रयिः (श.१३.४.२.१३), पशवो वै रयिः (तै.ब्रा.१.४.४.६), द्रव्यसमूहः (म.द.ऋ.भा. १.६६.१)}** तारों के केन्द्रीय भाग में मरुतों को विशेष तेजस्वी बनाकर विभिन्न प्रकार के तत्त्व-अणुओं के निर्माण में सहायता प्रदान करता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उपर्युक्त निचृज्जगती छन्दस्क रश्मि के प्रभाव से विद्युत् बलों की समृद्धि और विस्तार होकर संयोग की प्रक्रिया तेज होती है और देदीप्यमान सोम वायु अथवा विभिन्न संलयनीय कण तारों के केन्द्रीय भाग में व्याप्त हो जाते हैं और इसी प्रकार एटम के अन्दर इलेक्ट्रॉन अपनी कक्षा में एक निश्चित स्थान पर न रहकर फैल से जाते हैं। * केन्द्रीय भाग की ओर जाने वाला सोम पदार्थ अपने साथ ऋतु संज्ञक रश्मियों एवं प्राणापान आदि प्राथमिक प्राणों एवं मरुत् और छन्द रश्मियों को साथ लेकर जाता है। उधर इलेक्ट्रॉन भी प्राथमिक प्राणों एवं छन्द रश्मियों को साथ लेकर किसी आयन से संयोग करता है। वस्तुतः इलेक्ट्रॉन और सोम आदि पदार्थ इन प्राणरूप रश्मियों के समान ही होते हैं। उपर्युक्त छन्दरूपी तरंग विद्युत् और वायु तत्त्व को समृद्ध करती हैं और इसके कारण सोम पदार्थ तारों के केन्द्रीय भाग में और इलेक्ट्रॉन किसी आयन के साथ व्यवस्थित हो जाते हैं।।
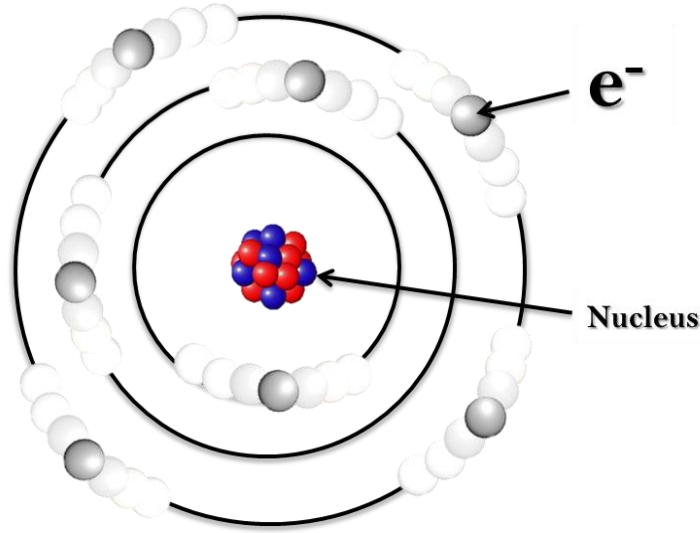
चित्र ३.२ एटम के अन्दर इलेक्ट्रॉन्स का फैला हुआ स्वरूप

* "In Quantum mechanics picture, there is no mention of orbits for the electrons."
-Physics (Halliday.Resnick.Krane) Vol. 2 Pg. No. 1066

७. या ते धामानि हविषा यजन्तीत्यन्वाह।।
ता ते विश्वा परिभूरस्तु यज्ञम्।।

गयस्फानः प्रतरणः सुवीर इति गवां नः स्फावयिता प्रतारयितैधीत्येव तदाह।। अवीरहा प्रचरा सोम दुर्यानिति गृहा वै दुर्या बिभ्यति वै सोमाद्राज्ञ आयतो यजमानस्य गृहाः, स यदेतामन्वाह शान्त्यैवैनं तच्छमयति सोऽस्य शान्तो न प्रजां न पशून् हिनस्ति।।

{गयस्फानः = गयानां प्राणानां वर्धयिता (म.द.ऋ.भा.१.९१.१२), (प्राणा वै गयाः - श.१४.५.१५.७; गयः अपत्यनाम - निघं.२.२; गृहनाम - निघं.३.४)। गौः = गाव रश्मिनाम (निघं.१.५), वाङ्नाम (निघं.१.११), इमे लोका गौः (श.६.५.२.१७), अन्तरिक्षं गौः (ऐ.४.१५), गावो वा आदित्याः (ऐ.४.१७), प्राणो हि गौः (श.४.३.४.२५)। गयः = स यदाह गयोऽसीति सोमं वैतदाहैष ह वै चन्द्रमा भूत्वा सर्वांल्लोकान् गच्छति तद् यद् गच्छति तस्माद् गयस् तद् गयस्य गयत्वम् (गो.पू.५.१४), (चन्द्रम् = चन्द्रमिति हिरण्यनामसु पठितम् - निघं.१.२; देदीप्यमानं सुवर्णमिव वर्त्तमानमग्निम् - म.द.ऋ.भा.३.३.५)। गृहाः = ऋतवो (प्राणा) गृहाः (ऐ.५.२५), गृहाः कस्माद् गृह्णन्तीति सताम् (नि.३.१३)}

व्याख्यानम्- तदुपरान्त राहूगणपुत्र गोतम ऋषि प्राण अर्थात् धनञ्जय प्राण से

या ते धामा॑नि ह॒विषा॒ यज॑न्ति॒ ता ते॒ विश्वा॑ परि॒भूर॑स्तु य॒ज्ञम्।
ग॒य॒स्फान॑ः प्र॒तर॑णः सु॒वीरोऽवी॑रहा॒ प्र च॑रा सोम॒ दुर्या॑न्।।१९।। (ऋ.१.९१.१९)

की उत्पत्ति होती है। इस ऋचा का देवता सोम और छन्द निचृत् त्रिष्टुप् है। इसके कारण सोम तत्त्व तीव्र भेदक तेज और बल से युक्त होता है और प्रथम पाद के प्रभाव से सोम तत्त्व का संलयन होने में अनुकूलता प्राप्त होती है, जिससे सोम तत्त्व अपनी हवि के द्वारा विभिन्न प्रकार के तत्त्वों का निर्माण करता है। उधर किसी एटम के अन्दर इलेक्ट्रॉन विशेष कक्षाओं में संगत होने में अनुकूलता प्राप्त करते हैं।।

उपर्युक्त ऋचा के द्वितीय पाद **"ता ते विश्वा परिभूरस्तु यज्ञम्"** के प्रभाव से सोम तत्त्व का संगतीकरण सम्पूर्ण केन्द्रीय भाग में व्याप्त हो जाता है। **उसी प्रकार किसी एटम के अन्दर इलेक्ट्रॉन अपनी कक्षा में किसी एक स्थान विशेष पर विद्यमान न होकर सम्पूर्ण कक्षा में विद्यमानवत् व्यवहार करने लगता है।।**

उपर्युक्त ऋचा का तृतीय पाद **'गयस्फानः प्रतकरणः सुवीरः'** के प्रभाव से सोम तत्त्व की रश्मियाँ, जो तेजस्विनी होकर लोकों को व्याप्त करती हैं, वे बढ़ती-फैलती हुई सुवीर अर्थात् अपने मार्ग में आने वाले विभिन्न बाधक पदार्थों को हटाती और कंपाती हुई प्रकृष्ट गति से तैरती हुई सी आगे बढ़ती जाती हैं। इसी के प्रभाव से विभिन्न प्राण तत्त्व अपने बलों को बढ़ाते, अनिष्ट पदार्थों को हटाते, संलयनीय पदार्थों की संलयन क्रिया को अच्छी प्रकार तारने वाले होते हैं। उधर किसी एटम के अन्दर इस पाद के प्रभाव से **कोई इलेक्ट्रॉन अपने मार्ग की बाधाओं को दूर करता हुआ अपने आकर्षण बल को फैलाता-बढ़ाता हुआ सम्यक् रूप से तैरता हुआ सा गमन करता रहता है।।**

उपर्युक्त ऋचा के चतुर्थ पाद **'अवीरहा प्रचरा सोम दुर्यान्'** के प्रभाव से सोम तत्त्व विभिन्न प्रक्षेपक प्राणों का हनन नहीं करते हुए ऋतु संज्ञक अपने भ्रातृतुल्य रश्मियों के साथ प्रकृष्ट वेग से गति करते हैं। यहाँ **'हन्'** धातु का अर्थ 'प्राप्त करना' ग्रहण करने पर यह भी ज्ञात होता है कि वे सोम तत्त्व **'अवीर'** अर्थात् प्रक्षेपण सामर्थ्य से हीन अर्थात् दुर्बल परमाणुओं को प्राप्त करके भी समर्थ प्राणों के साथ ऋतु प्राणों से संगत होकर आगे प्रकृष्ट वेग से गमन करते हैं। यह गमन तारों के केन्द्रीय भाग की ओर होता है। यहाँ **'दुर्या'** गृह का आशय यह भी हो सकता है कि तारों वा नेब्यूलाओं में

सोम तत्त्व के गमन मार्ग भी निश्चित होते हों, और वे ही उनके लिए गृह के समान हों। जब सोम पदार्थ ऋतुसंज्ञक रश्मियों के साथ केन्द्रीय भाग में प्रविष्ट होते हैं। उस समय केन्द्रीय भागस्थ पदार्थ में भारी हलचल वा संत्रास जैसी स्थिति बनती है। इसके साथ ही सोम तत्त्व के साथ उसके भ्रातारूप ऋतु रश्मियों में भी इस समय भारी संत्रास उत्पन्न होने लगता है। उस समय उपर्युक्त चतुर्थ पाद रूपी प्राण अवयव के प्रभाव से विशेषकर **'अवीरहा'** पद के द्वारा उस दोनों प्रकार के संत्रास को शान्त करने में सहायता मिलती है। इस कारण वह सोम तत्त्व केन्द्रीय भागस्थ अथवा मार्गस्थ किसी भी पदार्थ को हानि नहीं पहुँचाता।

उधर Ion अथवा Atom के अन्दर भी जब कोई Electron प्रवेश करता है, तब उसके जाने से अन्य Electrons की कक्षाओं में भी भारी विक्षोभ उत्पन्न होने लगता है तथा Electron के साथ-२ जा रहे ऋतुरूप प्राणों में भी ऐसा संत्रास उत्पन्न होता है। उस समय उस Electron के प्रवेश करते समय उत्पन्न इस ऋचा के चतुर्थ पाद के प्रभाव से उक्त संत्रास, विक्षोभ शान्त हो जाता है और वह Electron अन्य इलेक्ट्रॉन्स की कक्षाओं के साथ किंवा अपनी कक्षा में पूर्व से विद्यमान इलेक्ट्रॉन्स के साथ सामञ्जस्य बिठा लेता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- तारे और आयन के अन्दर उपर्युक्त प्रक्रियाओं के अन्तर्गत उपर्युक्त निचृत् त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं। ये सोम तत्त्व अथवा तत्प्रेरित संलयनीय पदार्थ को अनुकूलता प्रदान करती हैं तथा इलेक्ट्रॉन्स को कक्षाओं में संगत करने में सहयोग देती हैं, इसके साथ ही वह सोम तत्त्व सम्पूर्ण केन्द्रीय भाग में व्याप्त हो जाता है और इलेक्ट्रॉन भी अपनी सम्पूर्ण कक्षा में व्याप्तवत् हो जाता है। इनके प्रभाव से सोम और इलेक्ट्रॉन दोनों ही पदार्थ बहते तैरते हुए से गमन करते हैं और तीव्र बलों को प्राप्त करके अपने साथ संगत ऋतु रश्मियों अथवा प्राणापान आदि रश्मियों को भी तीव्रता प्रदान करते हुए बाधक तत्त्वों को हटाते हैं तथा अपने स्थान पर अन्य कणों से संतुलन बिठाते हैं।।

८. इमां धियं शिक्षमाणस्य देवेति वारुण्या परिदधाति।।
वरुणदेवत्यो वा एष तावद्यावदुपनद्धो यावत्परिश्रितानि प्रपद्यते स्वयैवैनं तद्देवतया स्वेन च्छन्दसा समर्धयति।।
शिक्षमाणस्य देवेति शिक्षते वा एष यो यजते।।
क्रतुं दक्षं वरुण संशिशाधीति वीर्यं प्रज्ञानं वरुण संशिशाधीत्येव तदाह।।
ययाऽति विश्वा दुरिता तरेम सुतर्माणमधि नावं रुहेमेति, यज्ञो वै सुतर्मा नौः, कृष्णाजिनं वै सुतर्मा नौर्वाग्वै सुतर्मा नौर्वाचमेव तदारुह्य तया स्वर्गं लोकमभि संतरति।।

{धियः = उत्तमाः प्रज्ञाः कर्माणि च (म.द.ऋ.भा.१.६०.५), धारणावती बुद्धिः (म.द.ऋ.भा. १.३.१२), धीः कर्मनाम (निघं.२.१), धीः प्रज्ञानाम (निघं.३.६), वाग्वै धीः (ऐ.आ.१.१.४)। वरुणः = वायुरिव वर्तमानः (म.द.ऋ.भा.२.२८.७), शत्रूणां बंधकः (म.द.य.भा.१२.१२), बहिस्थः प्राणः शरीरस्थः अपानः वा (तु.म.द.ऋ.भा.१.२.७), ऊर्ध्वगमनबलहेतुरुदानो वायुः (तु.म.द.ऋ.भा.१.२३.४), अग्निर्विद्युद्वा (तु.म.द.य.भा.७.४२), यः प्राणः स वरुणः (गो. उ.४.११), अपानो वरुणः (श.८.४.२.६), वरुण्या वा ऽएता आपो भवन्ति याः स्यन्दमानानां न स्यन्दन्ते (श.५.३.४.१२), वरुण्या रज्जुः (श.१.३.१.१४), वरुण्यो वै ग्रन्थिः (श.१.३.१. १६)। शिक्षते = शिक्षति दानकर्मा (निघं.३.२०)। दुरिताः = दुरितानि दुर्गतिगमनानि (नि. ६.१२)}। {नाभाकः काण्वः = (कण्व इति मेधाविनाम - निघं.३.१५; कणति निमीलति चेष्टते इति सः कण्वः - उ.को.१.१५१)। नाभाकः = हमारे मत में यह शब्द नाभौकः का

छान्दस रूप है, जिससे 'औकार' को 'आकार' आदेश हो गया है। यहाँ नाभौ = मध्यभागऽऽकर्षणे (म.द.ऋ.भा.१.१३६.१), अथवा मध्ये वर्त्तमानेऽन्तरिक्षे (म.द.ऋ.भा.३.५.५), (कः = प्राणो वाव कः - जै.उ.४.११.२.४)। अतः नाभाकः = मध्यभाग में आकर्षण करने वाला प्राण तत्त्व। ध्यातव्य है कि 'नाभाकः' में समास "संज्ञायाम्" (पा.अ.२.१.४३) से हुआ है, जहाँ सप्तमी का अलुक् हुआ है।}

व्याख्यानम्- अन्त में नाभाक काण्व ऋषि प्राण अर्थात् बुद्धि वा अहंकार तत्त्व से उत्पन्न मध्य भाग में आकर्षण करने वाले प्राण विशेष अर्थात् सूत्रात्मा एवं समान प्राण दोनों के संयुक्त मिश्रण से

इमां धियं शिक्षमाणस्य देव क्रतुं दक्षं वरुण सं शिशाधि।
ययाति विश्वा दुरिता तरेम सुतर्माणमधि नावं रुहेम।। (ऋ.८.४२.३)

की उत्पत्ति होती है। इसका देवता वरुण व छन्द त्रिष्टुप् है। यह ऋग्रूप तरंग पूर्वोक्त सात ऋग्रूप तरंगों को बांध लेती है, जिससे वे तरंगें सोम तत्त्व से दूर बहिर्गमन नहीं करने पातीं और स्वयं हिरण्यगर्भ या नेब्यूला के केन्द्रीय भाग में स्थित विभिन्न तन्मात्रायें अथवा नाभिक भी बहिर्गमन नहीं कर पाते और त्रिष्टुप् छन्द भेदक तेज और बल को उत्पन्न करता है। कण्डिका में **'वारुण्या परिदधाति'** भी यह बतलाता है कि यह वरुणदेवताक ऋचा अन्य ऋचाओं को चारों ओर से घेर कर उन्हें अपने अन्दर धारण कर लेती है और ऐसा करने में इस ऋचा का प्रथम पाद **'इमां धियं शिक्षमाणस्य देव'** विशेष सहायक होता है। इसके साथ ही इस पाद के प्रभाव से स्वयं की आहुति देने वाले सोम एवं अन्य तन्मात्राओं की सक्रियता और प्रकाशशीलता विशेष रूप से समृद्ध होती है।।

अन्तिम ऋचा वरुणदेवताक क्यों होती है? इसका कारण बताते हुए ऋषि लिखते हैं कि यह सोम तत्त्व प्रेरित पदार्थ जब से अपने मूल स्थान से चलना प्रारम्भ करता है और तारे के केन्द्रीय भाग तक पहुँचता है, तब तक वरुण देवता के पाश में बंधा रहता है। वरुण एक प्रकार का ऐसा प्राण तत्त्व है, जो पदार्थ कणों को रस्सी की भाँति परस्पर बांधे रहता है। विभिन्न कण परस्पर स्वतन्त्र सत्तावन्त होते हुए भी परस्पर इस वरुण नामक प्राण की ग्रन्थियों मे बंधे रहते हैं। लोक में सर्वत्र यही देखा जाता है। लोक-लोकान्तरों के मध्य आकर्षणादि बल, विभिन्न अणुओं-परमाणुओं आदि के मध्य कार्यरत बल सबका कारण यह वरुण पाश है। इसी से आबद्ध होकर वे सोम पदार्थ अथवा सोम प्रेरित वा सोम से उत्पन्न पदार्थ, जो प्रायः सोम नाम से ही अभिहित हैं, केन्द्रीय भाग तक पहुँचते हैं और वहाँ जाकर वरुण की ग्रन्थियों से मुक्त होकर संलयित होने लग जाते हैं। यह क्रिया इस ऋचा के देवता वरुण और छन्द त्रिष्टुप् से समृद्ध होती है। ध्यातव्य है कि वरुण नामक प्राण में प्राण-अपान और उदान वा व्यान तीनों का विशेष संयोग होता है और इस संयोग के कारण ऊष्मा एवं विद्युत् तत्त्व की वृद्धि होती है। जिससे संलयन की क्रिया सुकर हो जाती है। इस विषय में तैंतीसवां अध्याय विस्तार से प्रकाश डालता है, जो एतद्विषयक अद्भुत् विज्ञान को उद्घाटित करता है।

उधर किसी आयन के अन्दर जब कोई इलेक्ट्रॉन बाहर से जाता है, तो यह ऋग्रूप तरंग ही उसके साथ आने वाली पूर्वोक्त सात ऋग्रूप तरंगों को घेरती और बांधती हुई आती है, जो इलेक्ट्रॉन की कक्षा में पहुँचकर उस इलेक्ट्रॉन का अन्य इलेक्ट्रॉनों से उचित सम्बन्ध और दूरी बनाये रखने में सहयोग करती है।।

ऋचा के प्रथम पाद के **'शिक्षमाणस्य देव'** के द्वारा दान देने की प्रक्रिया तेज हो जाती है, इसका तात्पर्य है कि विभिन्न तन्मात्रायें संलयन अथवा विभिन्न इलेक्ट्रॉन्स किसी आयन से संयोग हेतु विशेष प्रेरित होने लगते हैं। और ऐसा होने से ही संगतीकरण-संयोग की प्रक्रिया तीव्र होती है। वस्तुतः जब दान वा समर्पण की प्रक्रिया तीव्र होगी, तभी संयोग वा संलयन की प्रक्रिया तीव्र होगी।।

ऋचा के द्वितीय पाद **'क्रतुं दक्षं वरुण सं शिशाधि'** से वीर्य व प्रज्ञान की तीक्ष्णता समृद्ध होती है। **{प्रज्ञानं ब्रह्म (ऐ.आ.२.६.१)}** इसका तात्पर्य है कि इस प्रभाव से वह पूर्वोक्त वरुण संज्ञक प्राण

विभिन्न तन्मात्राओं के तेज, सामर्थ्य व उत्पादन क्षमता को तीक्ष्णता प्रदान करता है, वहीं ब्रह्म अर्थात् अन्न, विद्युत् के स्वरूप को भी तीक्ष्ण व समृद्ध करता है। तारों वा नेब्यूला में यह समृद्धि होती है। अन्न से तात्पर्य ऐसी तन्मात्रओं वा उनके विशेष गुण हैं, जो परस्पर एक दूसरे में समा जाने को समुद्यत रहती हैं। किसी आयन में इलेक्ट्रॉन्स के आने पर भी ऐसा ही प्रभाव देखा जाता है। जब आयन के आकर्षण के प्रभाव से इलेक्ट्रॉन उसके निकटतर आने पर आकर्षण की तीक्ष्णता को बढ़ती हुई अनुभव करता है, जबकि जब इलेक्ट्रॉन मुक्तावस्था में विचरण करता है, तब उसे ऐसा अनुभव नहीं होता।।

यहाँ उपर्युक्त ऋचा का द्वितीय अर्ध भाग **''ययाऽति विश्वा दुरिता तरेम सुतर्माणमधि नावं रुहेम।''** की व्याख्या में **महर्षि ऐतरेय महीदास** कहते हैं- तीन प्रकार की नौकाओं के सहारे सभी विघ्नों, दुरितों को दूर किया जाता हैं। वे तीन नौकाएं हैं-

(१) यज्ञ- {पशवो यज्ञः (श.३.२.३.११), वाग्घि यज्ञः (श.१.५.२.७), वाग्वै यज्ञः (ऐ.५.२४)} यहाँ यज्ञ का तात्पर्य संगतीकरण के साथ पशु अर्थात् प्राण व विद्युत् एवं विभिन्न मरुत् व छन्दप्राण, वाक् तत्त्व आदि भी है। इन्हीं के सहारे इन्हीं की इन्हीं में संगति निरन्तर इस सम्पूर्ण सृष्टि में हो रही है। इन सबके वा इनमें से किसी एक के बिना भी सृष्टि-प्रक्रिया किंवा इस प्रसंग में नाभिकीय संलयन अथवा आयनों व इलेक्ट्रॉन का संयोग कदापि सम्भव नहीं है।

(२) कृष्णाजिनम्- इसका अर्थ है कि ऐसा अजेय आकर्षण बल युक्त तत्त्व जो इलेक्ट्रॉन्स, प्रोटोन्स आदि को घेरे रहता है। यह तत्त्व न केवल उनका आवरक है अपितु उन्हें अधिक तेज, बल व गति प्रदान करने में भी अपनी भूमिका निभाता है। यह आवरक तत्त्व दिव्य वायु, सूत्रात्मा वायु एवं धनंजय नामक प्राण से बना होता है। **'कृष्णाजिन'** के विषय में अधिक जानकारी के लिये **१.३.१२** देखें। इसके प्रभाव से उपर्युक्त कण किंवा इनसे निर्मित कण भी तीव्र अन्योऽन्य क्रिया को प्राप्त करते हैं। यदि छोटे-२ कणों की गति व क्रियाशीलता नेत्रों से दृश्य पदार्थों की गति व क्रियाशीलता के बराबर हो जाए, तो कोई भी सृजन कार्य सम्भव न हो सके। जो कण जितने सूक्ष्म होते हैं, उतने ही अधिक गति व क्रियाशील होते हैं।

(३) वाक्- वाक् तत्त्व इस सृष्टि में निर्मित प्रारम्भिक तत्त्वों में से एक है। एकाक्षरा देवी गायत्री छन्द ही वाक् रूप है। **'नमो वाचे प्राणपत्न्यै स्वाहा' (ष.२.६)** में वाक् को प्राण की पत्नी कहा है, इसका तात्पर्य यह है कि वाक् तत्त्व प्राणादि पदार्थों की भी पालिका व संरक्षिका शक्ति है, जो सदैव उनके साथ रहती है। इसी कारण कहा है- **'सर्वे प्राणा वाचि प्रतिष्ठिताः' (श.१२.८.२.२५)** अर्थात् प्राणतत्त्व संसार के सूक्ष्मतम उत्पन्न पदार्थ मनस्तत्त्व वा अहंकार के साथ वाक् तत्त्व सदैव संयुक्त रहता है। इसके विषय में विशेष जानकारी पूर्वपीठिका में प्राप्त कर सकते हैं।

इन तीनों पदार्थों को सुतर्मा कहा है अर्थात् ये तीनों ही पदार्थ विभिन्न तन्मात्राओं को अच्छी प्रकार से निर्विघ्न तारने वाले हैं। ये सृष्टि प्रक्रिया की सुन्दर नौका के समान हैं। इन्हीं नौकाओं के सहारे सोमतत्त्व वा तज्जन्य परन्तु अनेकत्र सोम नाम से ही अभिहित पदार्थ अथवा प्रोटोन व अन्य नाभिक नेब्यूला वा सूर्य के केन्द्रीय भाग की ओर बढ़ते व पहुँचते हैं। इन्हीं के सहारे इलेक्ट्रॉन्स विभिन्न आयनों के साथ संयोग करते हैं और अनन्त अवकाशरूपी आकाश में यह संयोग वियोग की प्रक्रिया इन्हीं के कारण सतत चलती रहती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उपर्युक्त त्रिष्टुप् छन्द रश्मि पूर्वोक्त (सात) छन्द रश्मियों को अपने साथ बांध लेती है, जिससे सोम तत्त्व वा इलेक्ट्रॉन आदि से वे रश्मियां दूर नहीं जाने पातीं और जब सोम आदि पदार्थ केन्द्रीय भाग में पहुँच जाते हैं, तो वहां जाकर यह रश्मि उस पदार्थ को मुक्त कर देती है और इलेक्ट्रॉन के आयन में पहुँचने पर भी यह रश्मि उसको अपने से मुक्त कर देती है। यह संयोग-वियोग की प्रक्रिया तेज करने में सहायक होती है और विभिन्न कणों में आकर्षण बल की तीव्रता बढ़ती है, इसी के कारण प्राण, विद्युत्, मरुत् रश्मियां एवं अन्य छन्द रश्मियाँ अधिक सक्रिय होती हैं। इसी के कारण इलेक्ट्रॉन्स, फोटोन्स आदि के ऊपर विद्यमान बल, तेज और गति प्रदान करने वाला आवरण सक्रिय होता है एवं इसी के द्वारा वाक् तत्त्व भी विशेष सक्रिय हो जाता है। कोई भी छन्द रश्मि स्वयं वाक् तत्त्व का ही रूप है, पुनरपि यह छन्द रश्मि वाक् तत्त्व को भी सक्रिय करती है।।

६. ता एता अष्टावन्वाह रूपसमृद्धाः।।
एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृगभिवदति।।
तासां त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्।।
ता द्वादश संपद्यन्ते, द्वादश वै मासाः संवत्सरः, संवत्सरः प्रजापतिः।।
प्रजापत्यायतनाभिरेवाऽऽभी राध्नोति य एवं वेद।।
त्रिः प्रथमां त्रिरुत्तमामन्वाह यज्ञस्यैव तद्बर्सौ नह्यति स्थेम्ने बलायाविस्रंसाय।।२।।

{रूपम् = सुक्रिया (रूपं वा) (म.द.य.भा.१६.१६), शुक्लादि (तु.म.द.ऋ.भा.१.१६०.२), रूपाणि प्रज्ञानानि (नि.१२.१३), अन्नं वै रूपम् (श.६.२.१.१२), रूपं हिरण्यम् (मै.४.८.२)। रौति शब्दयतीति रूपम् (उ.को.३.२८)}

व्याख्यानम्-उपर्युक्त आठों ऋचाएं रूपसमृद्ध कहलाती हैं। इसका तात्पर्य है कि इन ऋचाओं से तत्तत् क्रिया व स्वरूप समृद्ध होते हैं, अर्थात् जिस-२ ऋचा का जो-२ कार्य है व जो-२ शुक्लादि रूप उत्पन्न करने का गुण है, वह समृद्ध होता जाता है।।

रूपसमृद्धि को परिभाषित करते हुए महर्षि लिखते हैं कि यज्ञ की समृद्धि ही रूपसमृद्धि कहलाती है। यज्ञ की क्रिया व स्वरूप सम्यक् रीति से संचालित होवें, उनमें तेजस्विता होवे, यही रूपसमृद्धि कहलाती है। जैसी-२ क्रिया उपर्युक्त ऋचाओं में जिस-२ क्रम से वर्णित है, उस-२ क्रम से तत्-तदनुसार सम्पन्न होती है। इस प्रक्रिया और क्रम में कहीं भी कोई दोष अथवा विघ्न उपस्थित नहीं हो पाता। ऋचाओं में जो-२ भी वर्णन जिस-२ क्रिया का हुआ है, उसी के अनुसार सृष्टि में भी क्रिया का होना अर्थात् नेब्यूला, तारे एवं एटम्स आदि में प्राक् वर्णित क्रियाओं का सम्पन्न होना ही ऋचाओं का रूपसमृद्ध होना कहलाता है।।

पूर्वोक्त आठ ऋचाओं में से प्रथम ऋचा **"भद्रादभि श्रेयः प्रेहि........" (तै.सं.१.२.३.३)** तथा अन्तिम ऋचा

इमां धियं शिक्षमाणस्य देव क्रतुं दक्षं वरुण सं शिशाधि।
ययाति विश्वा दुरिता तरेम सुतर्माणमधि नावं रुहेम।। (ऋ.८.४२.३)

की उत्पत्ति के समय इनकी तीन-तीन आवृत्ति होती हैं। उपर्युक्त आठ ऋचाओं में ये दोनों ऋचाएं महत्वपूर्णतर होती हैं। प्रथम ऋचा का देवता बृहस्पति विद्युत् तत्त्व को समृद्ध करता है और विद्युत् भी धन, ऋण एवं उदासीन होती है। विद्युत् के इन तीन रूपों को समृद्ध करने के लिए ही इस ऋचा की तीन बार आवृत्ति होती है अथवा यह भी संभव है कि बृहस्पति नाम से अभिहित सूत्रात्मा वायु, प्राण एवं अपान तीनों को सक्रिय करने के लिये ही इस ऋचा की तीन बार आवृत्ति होती हो और तीनों के मिलने से ही विद्युत् तत्त्व की उत्पत्ति होती हो।
{बृहस्पतिः = बृहतां पालकः सूत्रात्मा (म.द.य.भा.३६.६), एष (प्राणः) उ एव बृहस्पतिः (श.१४.४.१.२२), अथ यस्सोऽपान आसीत् स बृहस्पतिरभवत् (जै.उ.२.१.२.५)}

अन्तिम ऋचा का देवता वरुण है और यह वरुण संज्ञक प्राण ही विभिन्न लोकों अथवा कणों को रज्जु के समान अपने बंधन में बांधे रहता है। जैसा कि हम पूर्व में बतला चुके हैं कि वरुण प्राण, अपान और उदान अथवा प्राणापान और व्यान का विशेष संयुक्त रूप है। इसलिये वरुण के इस त्रित्व को समृद्ध करने के लिये ही इस ऋचा की भी तीन बार आवृति होती है।।

इस प्रकार इस प्रकरण में कुल १२ ऋचाएं उत्पन्न होती हैं और विभिन्न तारों में १२ प्रकार की ही मास रश्मियाँ विद्यमान होती हैं और १२ प्रकार की मास रश्मियों से सम्पन्न तारा वा नेब्यूला ही प्रजापति कहलाता है, क्योंकि इन्हीं के अन्दर विभिन्न प्रकार के तत्त्व उत्पन्न होते रहते हैं। १२ मास

रश्मियों का इन १२ ऋचाओं से क्या संबंध है? यह यहाँ किञ्चिदपि स्पष्ट नहीं है पुनरपि हमारा विचार है कि इन ऋचाओं का १२ मास रश्मियों से संबंध अवश्य होगा। कदाचित् यह भी संभव है कि ये ऋचाएं विभिन्न कणों को जोड़ने वाली होने से मास नामक रश्मियों के समान व्यवहार दर्शाती हों।।

जब इन आठों ऋग्रूप तरंगों के उपर्युक्त क्रम से कोई कण युक्त हो जाता है, तब वह विभिन्न पदार्थों की उत्पत्ति करने वाले केन्द्रीय भाग के क्षेत्र को प्राप्त करके सर्ग प्रक्रिया को साफल्य प्रदान करता है।।

यहाँ प्रथम और अन्तिम ऋचाओं को तीन-२ बार आवृत करने की तुलना यज्ञ को रस्सी से कस कर बांधने से की है। इसका आशय यह है कि प्रारम्भिक और अन्तिम ऋचा के देवता क्रमशः बृहस्पति और वरुण दोनों विशेष महत्वपूर्ण हैं। दोनों त्रित्व वाले हैं। यह भी दोनों में साम्यता है। सर्ग यज्ञ की सफलता एवं सातत्य में इन दोनों का ही विशेष महत्व है, विशेषकर नाभिकीय संलयन एवं इलेक्ट्रॉन्स के संयोग में। जब कोई संलयनीय पदार्थ एक बार संलयित होकर अन्य पदार्थ में बदल जाता है, तब संलयन की क्रिया बन्द होकर ऊर्जा उत्सर्जन की प्रक्रिया बन्द हो जाती है। इसके पश्चात् तारे के गुरुत्व बल के कारण तारा संकुचित होने लगता है। इसके उपरान्त केन्द्रीय भाग में विद्यमान पदार्थ पुनः अन्न अर्थात् संलयनीय पदार्थ का कार्य करते हुए बृहस्पति और वरुण के सहयोग से पुनः संलयित होकर ऊर्जा उत्पन्न करने लग जाता है। इस प्रकार यह यज्ञ अर्थात् संलयन एवं ऊर्जा उत्सर्जन प्रक्रिया रज्जुरूप बृहस्पति एवं वरुण के किनारों से कसकर बंधी रहती है और ये दोनों ही इस प्रक्रिया को विच्छिन्न नहीं होने देते।

इलेक्ट्रॉन आवागमन में भी यही सिद्धान्त काम करता है। जब कोई इलेक्ट्रॉन किसी आयन से मिलकर पूर्वापेक्षा स्थायित्व प्राप्त कर लेता है और उसके उपरान्त यदि कोई अन्य तीव्र बलयुक्त आयन उसके निकट आता है, तब वह इलेक्ट्रॉन उस श्रेयस् स्थान को भी पुनः भद्र मानकर वापिस अपेक्षाकृत श्रेयस् स्थान अर्थात् बलवत्तर
नवीन आयन को प्राप्त कर लेता है और यह प्रक्रिया सतत चलती रहती है। यहाँ भी पूर्वोक्त बृहस्पति और वरुण का विशेष योगदान है।।१।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- तारों के संलयन से ऊर्जा का उत्सर्जन गुरुत्व बल को सन्तुलित करता है।* तारों का ईन्धन समाप्त होने पर गुरुत्व बल के कारण तारा सिकुड़ने लगता है, जिससे केन्द्रीय भाग का ताप बढ़ जाने से पुनः संलयन क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। उधर किसी आयन से इलेक्ट्रॉन संयुक्त होने के पश्चात् अपेक्षाकृत अधिक शक्ति वाले आयन के निकट आने पर वह इलेक्ट्रॉन अधिक शक्तिशाली आयन से जुड़ जाता है और यह प्रक्रिया अनवरत चलती रहती है। इस शृंखला को चलाने में पूर्वोक्त आठ रश्मियों में से प्रथम और अन्तिम रश्मियाँ विशेष सहयोग करती हैं, मानो वे दोनों रश्मियाँ इस शृंखला को जोड़ने वाली रस्सी के समान काम करती है।।

* "The earliest stars presumably consisted of hydrogen and some helium. Hence they would derive energy from the p-p chain reaction in their main sequence phase. At temperatures from 10 to 15 million degrees, this process will convert hydrogen into helium. When the hydrogen in the core is exhausted, the helium core contracts and when the temperature has reached 100 million degrees, three helium nuclei will combine to form carbon nuclei." - Astrophysics Stars and Galaxies (KD Abhyankar) Pg. No. 232
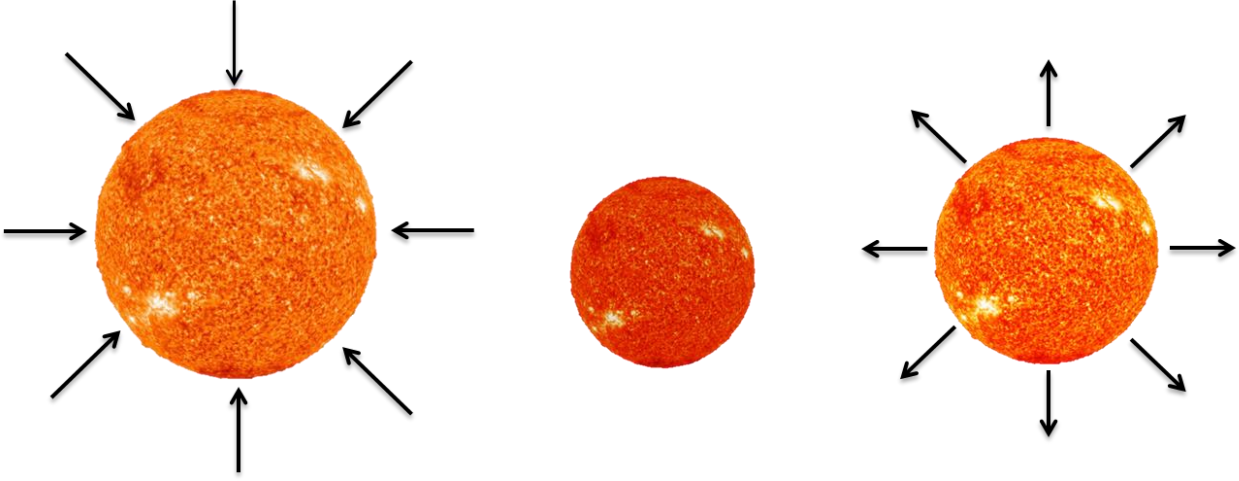
चित्र ३.३ तारों का ईन्धन समाप्त होने पर गुरुत्व बल के कारण तारा सिकुड़ने लगता है, जिससे केन्द्रीय भाग का ताप बढ़ जाने से पुनः संलयन क्रिया प्रारम्भ हो जाती है।

꧁ इति ३.२ समाप्तः ꧂

꧁ अथ ३.३ प्रारभ्यते ꧂

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. अन्यतरोऽनड्वान्युक्तः स्यादन्यतरो विमुक्तोऽथ राजानमुपावहरेयुः।। यदुभयोर्विमुक्तयोरुपावहरेयुः पितृदेवत्यं राजानं कुर्युः।। यद्युक्तयोरयोगक्षेमः प्रजा विन्देत्ताः प्रजाः परिप्लवेरन्।। योऽनड्वान् विमुक्तस्तच्छालासदां प्रजानां रूपं यो युक्तस्तच्च क्रियाणां, ते ये युक्तेऽन्ये विमुक्तेऽन्य उपावहरन्त्युभावेव ते क्षेमयोगौ कल्पयन्ति।।

{अनड्वान् = योऽनांसि वहति तत् (तु.म.द.य.भा.३५.१३), अग्निरेष यदनड्वान् (श.७.३.२.१), वोढाऽनड्वान् (तै.सं.७.५.१८.१), (अनस् = अनो वा वायुरनितेः - नि.११.४७; यज्ञो वा अनः - श.१.१.२.७; अन्तरिक्षरूपमिव वा एतद् यदनः - श.४.३.४.१ - ब्रा.उ.को. से उद्धृत; अनितेर्वा स्याज्जीवनकर्मण उपजीवन्त्येनत् मेधोऽप्यन एतस्मादेव - नि.११.४७)}

व्याख्यानम्- सोमप्रेरित जो पदार्थ नेब्यूला वा तारों के केन्द्रीय भाग की ओर अग्रसर होता है, वह दो प्रकार के वाहनों पर सवार होकर चलता है और ये वाहन हैं- बृहस्पति और वरुण देवता। बृहस्पति इस पदार्थ को अपने लक्ष्य तक पहुँचाने में सहायक होता है। यह बृहस्पति पदार्थ विद्युद्रूप होता है और वरुण वह पूर्वोक्त पदार्थ है, जो सभी कणों को रज्जुवत् अपने बंधन में बांधे रहता है, साथ ही यह सभी कणों को परिधिरूप में घेरकर एक-दूसरे के अति निकट आने में बाधक भी होता है। जब वो पदार्थ केन्द्रीय भाग में पहुँचता है, तब वहाँ वरुण पाश का बन्धन समाप्त हो जाता है, जिससे वह पदार्थ संलयित होने लगता है। यदि वरुण पाश का बन्धन अर्थात् एक विशेष प्रतिकर्षण बल समाप्त न हो, तो नाभिकों का संलयन हो ही नहीं सकता। इसलिये कहा गया है कि वरुणरूपी अनड्वान मुक्त कर दिया जाता है और बृहस्पति अर्थात् उस पदार्थ का विद्युदावेश पदार्थ के साथ ही सदैव रहता है, वह वियुक्त कदापि नहीं हो सकता।।

यदि वरुण व बृहस्पति दोनों को मुक्त कर दिया जाए अर्थात् विद्युत् आवेश तथा वरुण पाश वा प्रतिकर्षण बल दोनों समाप्त हो जाए, तो भी संलयन की क्रिया नहीं हो पायेगी। प्रश्न यह हो सकता है कि विद्युदावेश कैसे समाप्त हो सकता है? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि यदि केन्द्रीय भाग में स्थित नाभिक किसी प्रकार इलेक्ट्रॉन्स से संयुक्त होकर एटम का रूप धारण कर लें, तो संलयन कार्य नहीं होगा और फिर देवकार्य अर्थात् ऊर्जा का उत्पादन नहीं हो पाएगा और वे एटम प्रोटोन व इलेक्ट्रॉन जैसे कणों के सापेक्ष विनाशी (मर्त्य) ही होने से पितर संज्ञक कहलाएंगे। यदि विद्युत् आवेशयुक्त पदार्थ अपनी सूक्ष्म वा कारण अवस्था वायुरूप में परिवर्तित हो जाएं, तो वे सोम नामक पदार्थ का ही रूप हो जाएंगें। वे सोमवन्त पदार्थ पितर ही कहलाएंगे। क्योंकि **शतपथ ब्राह्मण ५.५.४.२८** के अनुसार **'त्रया वै पितरः'** अर्थात् पितर **सोमवन्त, बर्हिषदः** एवं **अग्निष्वाताः** तीन प्रकार के होते हैं।।

यदि बृहस्पति (विद्युदावेश) व वरुण पाश दोनों ही केन्द्रीय पदार्थ के साथ संयुक्त रहें, तो भी नाभिकों के साथ वरुणपाश बना रहने से वे परस्पर प्रतिकर्षित ही होंगे, जिससे संलयन क्रिया नहीं हो पायगी। ऐसी दशा में वह पदार्थ केन्द्रीय भाग की ओर आता तो रहेगा परन्तु संलयन न हो पाने से विकिरणोत्सर्जन नहीं हो पायेगा। इससे तारे की संकुचन की प्रक्रिया भी होगी। उधर तारे के केन्द्रीय

भाग में भरा पदार्थ भी तीव्र प्रतिक्रिया करेगा। इससे सम्पूर्ण क्षेत्र में भयंकर हलचल उत्पन्न हो जायेगी। जो पदार्थ केन्द्र में विद्यमान होगा, उस पर भी संकट आ जायेगा।।

जो अनड्वान् विमुक्त होता है अर्थात् वरुण तत्त्व उस तारे के गृहों अर्थात् तारे के अन्दर विद्यमान वे मार्ग जिनसे सोमादि पदार्थ आता है अथवा ऋतुसंज्ञक प्राण, जो तारे के अन्दर सर्वत्र व्याप्त होकर आवश्यक ऊष्मा को उत्पन्न करते हैं, का रूप है **{गृहाः = प्राणा गृहाः (जै.ब्रा.२.३६)}** यहाँ प्राणापानव्यान रश्मियां भी गृह वा मार्ग रूप होती हैं, क्योंकि ये ही विभिन्न पदार्थों को गति व अवकाश देने में सहयोग करती हैं। इसे प्रजारूप इस कारण कहा है कि ये प्राण रश्मियां वा ऋतु प्राण ही तारे के अन्दर नाभिकीय संलयन प्रारम्भ करने हेतु वा उसके पूर्व आवश्यक ऊष्मा व संलयनीय तत्त्वों को उत्पन्न करने में सहायक होते हैं। यदि अपेक्षित ताप उत्पन्न नहीं होवे, तो भी संलयन का कार्य प्रारम्भ ही नहीं होगा। जो बृहस्पति अनड्वान् सोम पदार्थ के साथ संयुक्त रहता है, वह क्रियाओं का रूप है। ऐसा इस कारण कहा कि विद्युत् आवेश ही सभी क्रियाओं का संचालक है। इसी के कारण आकर्षणादि की क्रियायें होती हैं तथा आवेशविहीन अथवा विद्युद्विहीन पदार्थ का संलयन नहीं हो पाएगा। इस कारण इससे युक्त व वरुण पाश से मुक्त केन्द्रीय पदार्थ ही योग व क्षेम को समर्थ करता है। इसका आशय है कि इससे जहाँ अनेक नवीन तत्त्वों का निर्माण रूपी योग होता है, वहीं मूलपदार्थ तथा तारे के स्वरूप की रक्षा भी हो जाती है। इसी प्रकार का विज्ञान **महर्षि तित्तिर** के निम्नलिखित कथन से भी प्रकट होता है-

"यदुभौ विमुच्याऽऽतिथ्यं गृह्णीयाद्यज्ञं वि च्छिन्द्याद्यदुभावविमुच्य यथाऽनागतायाऽऽतिथ्यं क्रियते तादृगेव तद्विमुक्तोऽन्योऽनड्वान् भवत्यविमुक्तोऽन्योऽथाऽऽतिथ्यं गृह्णाति यज्ञस्य सन्तत्यै" (तै.सं.६.२.१.१)

विशेष- यही सम्पूर्ण प्रक्रिया किसी इलेक्ट्रॉन के किसी आयन में प्रवेश करते समय भी होती है। उसे संक्षेप से हम दर्शाने का प्रयास करते हैं।

जब कोई इलेक्ट्रॉन मुक्तावस्था में होता है, तब उसके साथ बृहस्पति अर्थात् विद्युत् आवेश तथा वरुण पाश दोनों ही होते हैं। इस वरुण पाश के कारण ही किसी कण वा तरंग की विशिष्टता वा आकृति वा परिमितता रहती है। जब यह किसी आयन में प्रवेश करता है, तब वरुण पाश कुछ शिथिल हो जाता है, जिससे वह कक्षा में फैला हुआ जैसा व्यवहार करता है, परन्तु उस समय भी उसके आवेश में कोई न्यूनता नहीं आती। यदि किसी प्रकार उसका विद्युत् आवेश भी शिथिल वा समाप्त हो जाये, तो आयन अपनी अस्थिरता से मुक्त नहीं हो सकेगा और कदाचित् वह आवेशविहीन इलेक्ट्रॉन (जो कि सम्भव नहीं है) इलेक्ट्रॉन्स की कक्षाओं में बाधा ही बनेगा। यदि विद्युत् आवेश के साथ-२ वरुण पाश भी पूर्ववत् बना रहे, तब भी उस इलेक्ट्रॉन का अन्य इलेक्ट्रॉन्स के साथ सामंजस्य बिठाना दुष्कर होगा। इसके कारण सभी इलेक्ट्रॉन्स में भारी संत्रास होकर अनिष्ट स्थिति उत्पन्न हो सकती है। इस प्रकार विमुक्त वरुण पाश इलेक्ट्रॉन्स की कक्षाओं को नानारूप प्रदान करके नाना एटम की रचना में सहायक होता है। साथ ही यह एटम्स को भी एक मर्यादा में बांधे रखने में सहायक होता है और वह बृहस्पति अर्थात् विद्युदावेश विभिन्न निर्माण प्रक्रिओं को सम्पन्न करने में प्रेरक का कार्य करता है। इस प्रकार दोनों के उपर्युक्त कार्य व स्वरूप के कारण नवीन तत्त्वों का सृजन तथा मूलतत्त्वों का उचित संरक्षण होता रहता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- संलयनीय पदार्थ (तारों के अन्दर) और किसी धनायन की ओर जाने वाले इलेक्ट्रॉन के साथ पूर्वोक्त आठ छन्द रश्मियों में से प्रथम और आठवीं विशेष वाहन का कार्य करती है। प्रथम रश्मि कणों को तीव्रता से आगे ले जाने का कार्य करती है और अन्तिम रश्मि उन कणों को एक आवरण प्रदान करती है। जिससे वे अन्य रश्मियों से भी बंधे रहते हैं। इसके साथ ही वह रश्मि अन्य कणों के साथ एक उचित दूरी बनाये रखने में सहायक होती है। यहाँ इसको इस प्रकार कह सकते हैं कि प्रथम रश्मि आकर्षण बल को समृद्ध करती है और अन्तिम रश्मि प्रतिकर्षण बल को। तारे के केन्द्रीय भाग में पदार्थ के पहुंचने पर प्रथम रश्मि प्रभावी रहती है और अन्तिम रश्मि मुक्त हो जाती है अर्थात् आकर्षण बल प्रभावी रहता है और प्रतिकर्षण बल मुक्त हो जाता है। यदि ऐसा नहीं

होता तो नाभिकीय संलयन का होना संभव ही नहीं होता। उधर जब कोई इलेक्ट्रॉन किसी आयन के अन्दर पहुंचता है, तो प्रथम रश्मि प्रभावी रहती है और अन्तिम रश्मि मुक्त हो जाती है। यदि ऐसा नहीं होता तो कोई इलेक्ट्रॉन अन्य इलेक्ट्रॉन के रहते कक्षाओं में स्थापित होना दुष्कर होता।।

२. देवासुरा वा एषु लोकेषु समयतन्त, त एतस्यां प्राच्यां दिश्ययतन्त, तांस्ततोऽसुरा अजयंस्ते दक्षिणस्यां दिश्ययतन्त, तांस्ततोऽसुरा अजयंस्ते प्रतीच्यां दिश्ययतन्त, तांस्ततोऽसुरा अजयंस्त उदीच्यां दिश्ययतन्त, तांस्ततोऽसुरा अजयंस्त उदीच्यां प्राच्यां दिश्ययतन्त, ते ततो न पराजयन्त सैषा दिगपराजिता तस्मादेतस्यां दिशि यतेत वा यातयेद्वेश्वरो हानृणाकर्तोः।।

{असुरः = हिंसको विद्युदग्नि (तु.म.द.य.भा.३३.२२), प्रकाशाऽऽवरको मेघः (म.द.ऋ.भा.५.४२.१), असुषु प्राणेषु रममाणो विद्युदग्निरिव (म.द.ऋ.भा.७.५३.२४), प्रक्षेपकः (म.द.ऋ.भा.३.३.४), प्रकाशरहितो वायुः (म.द.य.भा.२७.१२), असुरः मेघनाम (निघं.१.१०)। ऋणः = प्रापकः (म.द.ऋ.भा.६.१२.५) (ऋ गतिप्रापणयोः)}

व्याख्यानम्- हिरण्यगर्भ (नेब्यूला) अथवा तारे के पूर्व प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि नेब्यूला वा तारे के अन्दर दो प्रकार के पदार्थ विद्यमान होते हैं। वे पदार्थ हैं- देव तथा असुर। देव पदार्थ दैवी गायत्री आदि छन्दों से निर्मित होते हैं और वे प्रकाशशील भी होते हैं, साथ ही वे परस्पर संगति करके विभिन्न पदार्थों के निर्माण की प्रवृत्ति वाले होते हैं, जबकि असुर पदार्थ आसुरी छन्दों से निर्मित तथा प्रकाश रहित वायु एवं हिंसक प्रक्षेपक विद्युत् से युक्त होते हैं। इन दोनों के मध्य संघर्ष होता रहता है। ऐसा ही संघर्ष तारों अथवा नेब्यूला आदि के निर्माण के समय भी होता है, उसी की चर्चा इस कण्डिका में की गई है। सर्वप्रथम यह संघर्ष पूर्वी दिशा में होता है। इस दिशा में ही सर्वप्रथम विशेष हलचल प्रारम्भ हुआ करती है, जैसा कि खण्ड **१.७** में हम पढ़ चुके हैं। इस दिशा में असुर पदार्थ देव पदार्थ को जीतकर उस पर नियन्त्रण कर लेता है, जिसके कारण निर्माण प्रक्रिया बाधित हो जाती है। तदुपरान्त यह संघर्ष दक्षिण (ऊष्मा प्रधान) दिशा में होता है। वहाँ भी असुर तत्त्व देव पदार्थ को जीतकर उस पर नियन्त्रण कर लेता है। तदुपरान्त यह संघर्ष पश्चिम दिशा में होता है। वहाँ भी असुर तत्त्व देव तत्त्व को अभिभूत कर लेता है। यह दिशा सोम प्रधान होती है। पुनः यह संघर्ष उत्तर दिशा में होता है, परन्तु यहाँ भी देव तत्त्व पराजित हो जाता है। पुनः यह संघर्ष उत्तर और पूर्व के मध्य ईशान दिशा में होता है। यहाँ देव तत्त्व असुर तत्त्व को जीतकर उसे नियन्त्रित कर लेता है अथवा उसे नेब्यूला से बाहर निकाल देता है। ईशान दिशा में देव पदार्थ की विजय क्यों होती है? इस विषय में ग्रन्थकार यहाँ मौन है। इस विषय में हमारा मत इस प्रकार है कि उत्तर दिशा विद्युत् प्रधान होती है और पूर्व दिशा पथ्या स्वस्ति प्रधान। यहाँ वाक् तत्त्व को ही पथ्या स्वस्ति कहते हैं। इसलिये कहा है- **"वाग् वै पथ्या स्वस्तिः" (कौ.ब्रा.७.६), (श.४.५.१.४)।** ज्ञातव्य है कि वाक् तत्त्व एवं विद्युत् दोनों ही वज्र रूप होते हैं। इसी कारण **महर्षि दयानन्द** ने वज्र का अर्थ **ऋ.४.२०.६** में विद्युत् किया है और इसी ब्राह्मण ग्रन्थ में अनेकत्र वाक् तत्त्व को वज्र कहा है। किन्तु ये दोनों ही वज्र रूप रश्मियाँ नेब्यूला अथवा तारे की प्रारम्भिक स्थिति में इतनी शक्तिशाली नहीं होती, जो हिंसक विद्युत् वायु रूप असुर तत्त्व को नियन्त्रित वा पराजित कर सकें। इसी कारण इन दिशाओं में देव तत्त्व पराजित हो गया, परन्तु उत्तर और पूर्व दिशा के मध्य वाक् तत्त्व और विद्युत् दोनों के मिश्रण से ईशान नामक प्रबल शक्तिशाली अग्नि उत्पन्न होता है, जो असुर तत्त्व को पराभूत कर देता है। इसी कारण **ईशान दिशा अपराजिता कहलाती है।** ज्ञातव्य है कि **श.६.१.३.१७** में ६ प्रकार के अग्नि के नाम दिये हुए हैं, जिसमें ईशान आठवाँ अग्नि है। जिस प्रकार नेब्यूला और तारों के निर्माण काल में ईशानी दिशा में ही देव तत्त्व विजयी होकर निर्माण प्रक्रिया को जारी रखता है। उसी प्रकार आज भी विभिन्न निर्माणाधीन लोकों में यही प्रक्रिया चलती है और यही भाग ऋण मुक्त होता है। हमारी दृष्टि में **'ऋण'** शब्द का तात्पर्य हिंस्य और

गतिशील है, जो **'रिण'** का छान्दस रूप है और **'रिण'** शब्द का अर्थ **महर्षि दयानन्द** ने **म.द.ऋ.भा.४.१६.३** में हिंस्य किया है। यह शब्द **'रि हिंसायां'** और **'रि गतौ'** धातु से व्युत्पन्न है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब किसी नेब्यूला वा तारे का निर्माण होता है, तब उस समय उनमें दो प्रकार के पदार्थ विद्यमान होते हैं। प्रथम पदार्थ वे होते हैं, जो प्रकाशशील होते हैं तथा परस्पर संगति करके निर्माण प्रक्रिया को जारी रखने की प्रवृत्ति रखते हैं और दूसरे प्रकार के पदार्थ विध्वंसक एवं अन्धकार पूर्ण होते हैं। इन दोनों पदार्थों में संघर्ष होता रहता है। नेब्यूला वा तारे के अन्दर वह हिंसक अन्धकारपूर्ण पदार्थ चारों दिशाओं में प्रकाशशील और संगमनीय पदार्थ को हटा देता है अथवा नियन्त्रित कर लेता है, उत्तर और पूर्व के बीच ईशान दिशा में अत्यधिक ऊर्जावान् विद्युत् और ऊष्मा युक्त किरणें उस अप्रकाशित हिंसक पदार्थ को नेब्यूला या तारे से बाहर निकाल देती हैं और फिर तारे या नेब्यूला की निर्माण प्रक्रिया निर्विघ्न चलती रहती है। वर्तमान में भी निर्माणाधीन लोकों में यह संघर्ष जारी रहता है, जिससे सभी तारों के भीतर संघर्षपूर्ण हलचल होती रहती है और उत्तर व पूर्व की मध्य दिशा से अप्रकाशित हिंसक तरंगें बाहर निकलती रहती हैं।

एटम्स के बनने के समय उनके अन्दर भी सृष्टि के प्रारम्भ काल से इसी प्रकार का संघर्ष होता रहा है।।

३. ते देवा अब्रुवन्नराजतया वै नो जयन्ति, राजानं करवामहा इति, तथेति, ते सोमं राजानमकुर्वंस्ते सोमेन राज्ञा सर्वा दिशोऽजयन्नेष वै सोमराजा यो यजते, प्राचि तिष्ठत्यादधति, तेन प्राचीं दिशं जयति, तं दक्षिणा परिवहन्ति, तेन दक्षिणां दिशं जयति, तं प्रत्यञ्चमावर्तयन्ति, तेन प्रतीचीं दिशं जयति, तमुदीचस्तिष्ठत, उपावहरन्ति, तेनोदीचीं दिशं जयति।।
सोमेन राज्ञा सर्वा दिशो जयति य एवं वेद।।३।।

व्याख्यानम्- पूर्व में देव पदार्थों की पराजय का एक मुख्य कारण यह होता है कि उनके साथ सोम तत्त्व विद्यमान नहीं होता। उपर्युक्त संघर्ष के उपरान्त नेब्यूला अथवा तारों में देदीप्यमान सोम पदार्थ बाहर की ओर से आने लगता है और वह सोम पदार्थ किस प्रकार, किस क्रम से लाया जाता है? यह पूर्व में विस्तार से वर्णित कर चुके हैं। वह सोम पदार्थ अपने से उत्पन्न अन्य पदार्थों को लेकर नेब्यूला अथवा निर्माणाधीन तारे की विभिन्न दिशाओं से प्रवाहित होता हुआ जब अन्त में केन्द्रीय भाग में पहुँचता है, तब वहाँ नाभिकीय संलयन की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है, जिससे सम्पूर्ण तारा अत्यन्त तप्त हो जाता है और इसके पश्चात् सम्पूर्ण तारे में से अप्रकाशित हिंसक विद्युदग्नि रूपी असुर या तो नियन्त्रित हो जाता है अथवा तारे से बहिर्गमन कर जाता है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि ग्रन्थकार के अनुसार सोम पदार्थ सर्वप्रथम पूर्व दिशा में लाया जाता है, फिर दक्षिण और पश्चिम में होता है हुआ उत्तर दिशा में पहुँचता है और सोम अपनी यात्रा करता हुआ मार्ग में आये अप्रकाशित हिंसक विद्युदग्नि को अपने नियन्त्रण में लेता हुआ जाता है। जैसा कि हम खण्ड १.७ में देख चुके हैं, उससे यह संकेत मिलता है कि सोम पदार्थ उत्तर दिशा से विभिन्न धाराओं में बहता हुआ केन्द्रीय भाग में पहुँचता है।।

जब किसी तारे में यह स्थिति उत्पन्न होती है, तब सोम तत्त्व के द्वारा सम्पूर्ण तारा अप्रकाशित हिंसक विद्युत् से मुक्त हो जाता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब तारों के अन्दर संलयन प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है, तो उसके पश्चात् इतनी तीव्र ऊष्मा तारे के अन्दर उत्पन्न हो जाती है कि सभी बाधक पदार्थ तारे से या तो बहिर्गमन कर जाते हैं अथवा उसे नियन्त्रण में ले लिया जाता है, जिससे संलयन क्रिया निर्बाध रूप से चलती रहती है। नेब्यूला किंवा निर्माणाधीन तारे में से बाधक (अर्थात् डार्क एनर्जी) का निष्कासन वा नियंत्रण शनैः-२ और क्रमबद्ध होता है और यह क्रम पूर्व दिशा से प्रारम्भ होकर दक्षिण और उत्तर की ओर होता हुआ

अन्त में सम्पूर्ण भाग में व्याप्त हो जाता है अर्थात् सम्पूर्ण भाग में डार्क एनर्जी को निष्कासित कर दिया जाता है।।

꧁ इति 3.3 समाप्तः ꧂

꧁ अथ ३.४ प्रारभ्यते ꧂

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. हविरातिथ्यं निरुप्यते सोमे राजन्यागते।।
सोमो वै राजा यजमानस्य गृहानागच्छति तस्मा एतद्धविरातिथ्यं निरुप्यते।
तदातिथ्यस्या- ऽऽतिथ्यत्वम्।।
नवकपालो भवति, नव वै प्राणाः, प्राणानां क्लृप्त्यै प्राणानां प्रतिप्रज्ञात्यै।।
वैष्णवो भवति, विष्णुर्वै यज्ञः, स्वयैवैनं तद्देवतया स्वेन च्छन्दसा समर्धयति।।

{हविः = मासा हवींषि (श.११.२.७.३), हविष् उदकनाम (निघं.१.१२), प्राणो हविः (मै.१.६.१)। अतिथिः = यो वै भवति यः श्रेष्ठतामश्नुते स वा अतिथिः भवति (ऐ.आ.१.१.१)}

व्याख्यानम्- जब सोम तत्त्व किसी तारे के अन्दर प्रवाहित होना प्रारम्भ होता है, तब उस आते हुए सोम पदार्थ के ऊपर मास नामक सतत गतिशील प्राण रश्मियों का प्रक्षेपण होता है। यह प्रक्षेपण इस प्रकार होता है, मानो मास नामक रश्मियों की वर्षा होकर सोम तत्त्व को भिगोया वा सींचा जा रहा हो।।

सोम पदार्थ रूपी संलयनीय पदार्थ को जब तारे रूपी यजमान के घर में लाया जाता है, इस प्रक्रिया में वह पदार्थ विभिन्न धाराओं के रूप में प्रवाहित होता है, उसी समय उसके ऊपर मास नामक रश्मियों की वृष्टि प्रारम्भ हो जाती है। क्योंकि यह वृष्टि सतत होती है, इसलिये यह अतिथि कहलाती है।।

यह हवि ६ कपालों के रूप में प्रदान की जाती है और ये ६ कपाल ही ६ प्रकार के प्राण होते हैं। इनकी हवि के कारण सोम तत्त्व एवं तत् प्रेरित संलयनीय पदार्थ के साथ विद्यमान प्राण समर्थ भी होते हैं और पूर्ण स्पष्टता से सक्रिय भी होते हैं। हमने खण्ड **१.१** में कपाल का अर्थ प्राण किया था। यहाँ भी ग्रन्थकार को यही अर्थ अभिप्रेत है। वहाँ विष्णु को तीन प्रकार प्राणों (कपालों) वाला बतलाया है और यहाँ ६ प्राणों को वैष्णव कहा है। जैसा कि हम पूर्व में बतला चुके हैं कि सूर्य एवं इसके अन्दर होने वाले यज्ञ को विष्णु कहते हैं और विष्णु वस्तुतः तीन प्रकार के प्राणों से युक्त ही होता है। खण्ड **१.१** में तारे के प्राणों का तीन प्रकार से वर्गीकरण भिन्न प्रकार से किया है और यहाँ तारे के ६ प्राणों का वर्गीकरण मास रश्मियों के रूप में किया है। जैसा कि हम खण्ड **१.१३** में लिख चुके हैं कि सोम तत्त्व को तारे के केन्द्रीय भाग तक ले जाते समय आठ (८) प्रकार की ऋग्रूप तरंगों की उत्पत्ति होती है, जिनमें से प्रथम बृहस्पतिदेवताक ऋचा की तीन बार आवृति होती है और अन्तिम वरुणदेवताक ऋचा की भी तीन बार आवृति होती है और इन कुल मिलाकर १२ ऋचाओं की १२ प्रकार की मास रश्मियों से तुलना की गई है और इसके साथ ही हम पूर्व खण्ड में यह भी लिख चुके हैं कि तारे के केन्द्रीय भाग में पहुँचकर सोम पदार्थ एवं तत् प्रेरित पदार्थ वरुणदेवताक ऋचा, जो तीन बार आवृत होती है, से मुक्त हो जाते हैं (यह चर्चा पूर्व खण्ड में की जा चुकी है) इस प्रकार ६ ऋचाएं शेष रह जाती हैं। वे ६ ऋचाएं ही यहाँ ६ कपाल अथवा ६ प्राण के रूप में मानी गई हैं।।

यहाँ आचार्य सायण ने- **"धाय्ये अतिथिमन्तौ समिधाऽग्नि.....। इदं विष्णुर्विचक्रमे तदस्य प्रियमभि पाथो अश्याम्।....." आश्व.श्रौ.४.५.३** को उद्धृत करते हुए-

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्। समूळहमस्य पांसुरे।। (ऋ.१.२२.१७) तथा
तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति।
उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः।। (ऋ.१.१५४.५)

का याज्या व पुरोऽनुवाक्या के रूप में पाठ करने का विधान बताया है। हमारी दृष्टि में इसका आशय है- इन नौ छन्द रश्मियों के अन्दर विष्णुदेवताक २ छन्द रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं। विष्णुदेवताक छन्द रश्मियां {**विष्णुम् = व्यापकं व्यानं धनंजयं वा हिरण्यगर्भम् (म.द.ऋ.भा.६.२१.६)**} यज्ञरूप होकर संयोगादि प्रक्रियाओं को समृद्ध करती हैं। उस समय सोम वा तत्प्रेरित पदार्थ तारों के केन्द्रीय भाग में पहुँचकर पूर्वोक्त ६ मास संज्ञक तरंगों से परिपूर्ण हो जाता है। इनमें से पूर्व ऋचा काण्व मेधातिथिः ऋषि रूपी प्राण अर्थात् सतत गमन करने वाले मनस्तत्त्व से विशेष सम्पन्न सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न होती है तथा दूसरी ऋग्रूप ऋचा दीर्घतमा ऋषि प्राण अर्थात् {**दीर्घं द्राघतेः। तमस्तनोतेः (नि.२.१६) (द्राघृ सामर्थ्ये आयामे च)**} ऐसा सूक्ष्म प्राण, जो विस्तृत फैलता वा लम्बा होते हुए प्रबल बनता जाता है। हमें प्रतीत होता है कि यह दीर्घतमा प्राण सूत्रात्मा वायु+प्राण+उदान के मिश्रण से बनता है, उससे यह ऋचा उत्पन्न होती है। इन दोनों ऋचाओं का देवता विष्णु होने से ये ऋचाएं सोम एवं तत्प्रेरित पदार्थ को व्याप्त कर लेती हैं। इन ऋचाओं से विष्णु अर्थात् धनंजय एवं व्यान रश्मियां समृद्ध होकर संयोगादि प्रक्रियाओं को तीव्र करते हुए सम्पूर्ण क्षेत्र में व्यापक हलचल उत्पन्न करती हैं तथा इनके छन्द पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री तथा त्रिष्टुप् होने से मृदु व तीव्र तेज व बलों की उत्पत्ति होती है। इन छन्द रश्मियों का अन्य प्रभाव क्रमशः निम्नानुसार होता है-

(१) {पांसुरे = पांसवो रेणवो रजांसि रमन्ते यस्मिन्नन्तरिक्षे तस्मिन् (म.द.य.भा.५.१५)} वे धनंजय एवं व्यान रश्मियां निर्माणाधीन आदित्य लोकों में विभिन्न छन्दादि रश्मियों को तीन प्रकार से धारण करती हैं, जिससे वे छन्दादि रश्मियां निकटस्थ अन्तरिक्ष में यत्र-तत्र गति करते हुए नाना प्रकार के परमाणुओं की रचना किंवा उनका धारण करती हैं। तीन प्रकार से धारण करने के कारण ही आदित्य लोक मुख्यतः तीन भागों में विभक्त होते हैं।

(२) उन धनंजय और व्यान रश्मियों के कमनीय मार्ग को प्राप्त करके नाना प्रकार की आशुगामी मरुद् रश्मियां विभिन्न प्राथमिक प्राण रश्मियों के साथ संगत होकर विशेष सक्रिय हो उठती हैं। इसके कारण वे नाना प्रकार की रश्मियां परस्पर एक-दूसरे के बंधन में आती हुई {**उत्सम् = वीर्यसेचको वृषभः (तु. म.द.य.भा.१३.४६)**} तीव्र बलयुक्त होकर नाना प्रकाशित मार्गों को प्राप्त करती हैं। यहाँ पुरोऽनुवाक्या एवं याज्या का रहस्य पूर्ववत् समझें।

इस प्रकार वह तारा इन दो ऋग्रूप तरंगों तथा उनके देवता व छन्द के द्वारा स्वयं को समृद्ध करता है। पूर्वोक्त ६ ऋग्रूप तरंगें भी अपने देवता व छन्द के अनुकूल तारे को समृद्ध करती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब सोम तत्त्व आदि पदार्थ किसी तारे के अन्दर प्रवाहित होना प्रारम्भ करता है, तब उनके ऊपर नौ प्रकार की ऐसी रश्मियों का प्रक्षेपण होता है, जो उस पदार्थ में पूरी तरह व्याप्त हो जाती हैं। ये रश्मियाँ ऊष्मा उत्पन्न करने तथा अन्य विभिन्न रश्मियों वा पदार्थों को परस्पर जोड़ने में भी सहायक होती हैं। ये रश्मियां वे ही छन्द रश्मियाँ हैं, जिनका वर्णन पूर्व में किया गया है। इनके अतिरिक्त गायत्री और त्रिष्टुप् छन्दस्क दो रश्मियाँ और उत्पन्न होती हैं, जो विभिन्न नाभिक, इलेक्ट्रॉन, फोटोन व न्यूट्रिनो को निर्मित व धारण करने में सहयोगी होती हैं तथा विभिन्न फोटोन्स को विभिन्न मार्गों पर ले जाने में सहयोग करती हैं।।

२. सर्वाणि वाव च्छन्दांसि च पृष्ठानि च सोमं राजानं क्रीतमेन्वायन्ति। यावन्तः खलु वै राजानमनुयन्ति तेभ्यः सर्वेभ्य आतिथ्यं क्रियते।।
अग्निं मन्थन्ति सोमे राजन्यागते। तद्यथैवादो मनुष्यराज्ञि आगतेऽन्यस्मिन् वाऽर्हत्युक्षाणं वा वेहतं वा क्षदन्त एवमेवास्मा एतत्क्षदन्ते यदग्निं मन्थन्त्यग्निर्हि देवानां पशुः।।४।।

{पृष्ठम् = ऋतवो वै पृष्ठानि (श.१३.३.२.१), तेजो वै ब्रह्मवर्चसं (ऐ.आ.१.१.३), श्रीर्वै पृष्ठानि (ऐ.६.५), अन्नं पशवः पृष्ठानि (तां.१६.१५.८)। उक्षा = सेचनसमर्थः (म.द.य.भा.२१.२०), उक्षति सिञ्चति इति उक्षा (उ.को.१.१५६), उक्षतेर्वृद्धिकर्मणः उक्षन्त्युदकेनेति वा (नि.१२.६), उक्षा इति महन्नाम (निघं.३.३)। वेहत = गर्भस्राविका (तु.म.द.य.भा.२८.३३), विशेषेण हन्ति इति (उ.को.२.८६), (गर्भम् = किरणाख्यं वीर्यम् - म.द.ऋ.भा.१.१६४.३३; मध्यव्यापिनं विद्युद्रूपमग्निम् - म.द.ऋ.भा.३.१.१३)}

व्याख्यानम्-सोम तत्त्व एवं तत् प्रेरित पदार्थ के साथ सभी आवश्यक छन्द रूपी प्राण, जो पूर्व में वर्णित किये गये हैं तथा सभी प्रकार के आवश्यक पृष्ठ अर्थात् विभिन्न प्रकार के ऋतु प्राण जिन्हें खण्ड **१.१३** में सोम राजा का भाई कहा है, भी साथ आते हैं। वहीं हम १२ मास नामक प्राणों के योगदान की भी चर्चा कर चुके हैं। इनमें से तीन वरुण नामक प्राण केन्द्रीय भाग में जा करके मुक्त हो जाते हैं और शेष ६ सोम आदि पदार्थ के साथ रहते हैं। ऋतु नामक प्राणों की संख्या पाँच होती है, ऐसा हम पूर्व में लिख चुके हैं। यहाँ 'सर्वाणि' पद से उन सभी छन्द प्राणों का भी ग्रहण करना चाहिये, जो पूर्व में यत्र-तत्र वर्णित किये गये हैं। ये सभी छन्द, ऋतु, आदि तरंगें सोम आदि पदार्थ के साथ उसके पीछे-पीछे चलती हैं, किंवा उसके साथ पूर्णतः संयुक्त रहती हैं। इनका पूर्वोक्त ६ छन्द रूपी मास रश्मियों से संसिक्त करके आतिथ्य किया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि इन सबको अति सक्रिय व गतिशील बनाकर श्रेष्ठ बनाया जाता है, जिससे ये संलयन क्रिया हेतु तैयार हो सकें।।

सोमादि पदार्थों के आने और उनके सक्रिय होने के पश्चात् अग्नि मंथन क्रिया प्रारम्भ होती है, इसलिये कहा- **'अथातिथ्येळान्ता' (आश्व.श्रौ.४.५.१), 'तस्या अग्निमन्थनम्' (आश्व.श्रौ.४.५.२)** अर्थात् उपर्युक्त प्रकार से मास नामक रश्मियों के सिंचन के उपरान्त संलयनीय पदार्थ के आने पर अग्नि का विलोडन किया जाता है अर्थात् उस केन्द्रीय भाग में अत्यन्त उच्चताप और दाब पर भारी उथल-पुथल प्रारम्भ हो जाती है और इसके कारण वहाँ विद्यमान पदार्थ के अणुओं के मध्य आकर्षणादि बल अति तीव्र हो जाता है, जिससे उनका संलयन होकर नवीन-२ अणु बनने लगते हैं। महर्षि इस प्रक्रिया को समझाते हुए कहते हैं कि इसी प्रकार वह देदीप्यमान मनुष्य नामक प्राण अथवा अन्य कोई छन्द रूप प्राण जब किन्हीं कणों किंवा सोम आदि पदार्थ के निकट आते हैं, तो उनके अति तेजस्वी सामर्थ्य अथवा विशेष रूप से हिंसक बल, जो संगति प्रक्रिया को बाधा पहुँचा सकता है, का भक्षण कर लिया जाता है, जिससे उनकी तीव्रता अपेक्षानुसार कम हो जाती है। यहाँ **'क्षद्'** धातु भक्षण अर्थ में प्रयुक्त है। **यहाँ मनुष्य प्राणों से तात्पर्य है, वे छन्द रूप प्राण, जिनकी आहुति अब तक बतलाई हुई प्रक्रिया में सबसे अन्त में दी जाती है, जैसा कि कहा गया है- "अथ योत्तरा (आहुतिः) ते मनुष्याः" (श.२.३.२.१६)** और यही प्राण ऊष्मा तत्त्व की वृद्धि में विशेष भूमिका निभाते हैं। इसलिये कहा गया है- **"इमं (अग्निम्) हि मनुष्या इन्धते" (ऐ.२.३४)**। इस प्रकार **मास नामक जो १२ छन्द रश्मियाँ खण्ड १.१७ में थी, वे ही यहाँ मनुष्य कहलाती हैं,** क्योंकि उन्हीं की आहुति सबसे अन्त में दी जाती है। इन १२ रश्मियों में भी वरुणदेवताक तीन छन्द रश्मियाँ विशेष रूप से मनुष्य संज्ञक कहलाएंगी, जिनके तीव्र बंधक और प्रतिकर्षक बल, जो सोमादि पदार्थ की संगति- प्रक्रिया का हनन करते हैं, का पूर्णतः भक्षण कर लिया जाता है। **"अन्यस्मिन्"** पद में अन्य से तात्पर्य है केन्द्रीय भाग में कहीं भी संगति प्रक्रिया में न लाने योग्य पदार्थ अर्थात् अवांछनीय बाधक असुर आदि तत्त्व। इसलिये कहा- **'अन्यो नानेयः' (नि.१.६) 'अन्ये सपत्नाः' (नि.१०.२६; म.द.ऋ.भा.३.४६.२)**। ऐसे बाधक हिंसक विद्युद्रूप अग्नि के विशिष्ट हन्ता सामर्थ्य को भी पूरी तरह नष्ट कर दिया जाता है। उसी प्रकार यहाँ देवों के पशु अग्नि का मंथन किया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि विभिन्न प्राणादि अमूर्त्त पदार्थ, जो वायव्य अवस्था में अदृश्य होते हैं, वे अग्नि की अवस्था प्राप्त करके किसी भी वैज्ञानिक तकनीक से देखने वा अनुभव करने योग्य बनते हैं। उस अग्नि अर्थात् ऊर्जा, जो तारों के केन्द्रीय भाग में सतत उत्पन्न होती रहती है, वह कहीं अत्यधिक मात्रा में संचित होकर तारों में विस्फोट न कर दे, इस कारण उसका सतत भक्षण वा अवशोषण करके तारों के बाहरी भाग में संचरित कर सुदूर अन्तरिक्ष में उत्सर्जित कर दिया जाता है।।४।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सोम आदि पदार्थ जब तारों के केन्द्रीय भाग में पहुँचता है, तब वहाँ भारी हलचल प्रारम्भ हो जाती है, उसके केन्द्रीय भाग में अत्यन्त उच्च ताप और दाब भी उत्पन्न होने लगता है। पूर्व में वर्णित विभिन्न प्रकार की नौ छन्द रश्मियाँ, जब सोम आदि पदार्थ से क्रिया करती हैं, तो सोम आदि पदार्थ उन रश्मियों को अवशोषित कर लेता है और केन्द्रीय भाग में उत्पन्न ऊर्जा भी एक संतुलित विधि से विभिन्न परमाणुओं द्वारा अवशोषित होकर बाहरी भाग में प्रक्षिप्त कर दी जाती है। इस प्रक्रिया में डार्क एनर्जी आदि बाधक तत्त्व नियंत्रित वा निराकृत कर दिये जाते हैं। विशेष जानकारी के लिए व्याख्यान भाग अवश्य पढें।।

ॐ इति ३.४ समाप्तः ॐ

꧁ अथ ३.५ प्रारभ्यते ꧂

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. अग्नये मथ्यमानायानुब्रूहीत्याहाध्वर्युः।।
अभि त्वा देव सवितरिति सावित्रीमन्वाह।।
तदाहुर्यदग्नये मथ्यमानायानुवाचाऽऽहाथ कस्मात्सावित्रीमन्वाहेति।।
सविता वै प्रसवानामीशे। सवितृप्रसूता एवैनं तन्मन्थन्ति तस्मात्सावित्रीमन्वाह।।

{अजीगर्तः = अज्यै गमनाय गर्तं यस्य सः (इति आप्टे), (गर्तः = गर्त इति गृहनाम - निघं. ३.४; रथोऽपि गर्त उच्यते गृणातेः स्तुतिकर्मणः - नि.३.५; गिरति निगलति स गर्तः - उ. को.३.८६)। शुनःशेपः = (शुनः वायुः शु एत्यन्तरिक्षे) (नि.६.४०), (शेपः शपतेः स्पृशतिकर्मणः - नि.३.२१)। कृत्रिम = क्रियमाणः (तु.म.द.ऋ.भा.२.१५.८)। विश्वामित्रः = वाग् वै विश्वामित्रः (कौ.ब्रा.१०.५)}

व्याख्यानम्- उपर्युक्त अग्नि मंथन क्रिया के लिये प्राण और अपान नामक अध्वर्यु किंवा मन रूप अध्वर्यु **(मनोऽध्वर्युः - श.१.५.१.२१)** अगली कण्डिका में उद्धृत ऋचा के ऋषि प्राण को ऋचा की उत्पत्ति के लिये प्रेरित करता है।।
उस प्रेरणा पर **''आजीगर्तिः शुनःशेपः कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरातिर्ऋषिः''** से

अभि त्वा देव सवितरीशानं वार्याणाम्। सदावन्भागमीमहे।। (ऋ.१.२४.३)

की उत्पत्ति होती है। यहाँ ऋषि प्राण दो ऋषि प्राणों का मिश्रण है, जिसमें प्रथम ऋषि प्राण है- **'आजीगर्तिः शुनः शेपः'** अर्थात् ऐसा प्राण, जो ऋतु संज्ञक रश्मियों को वाहक बनाकर चलने वाले अजीगर्त नामक ऋषि प्राण से उत्पन्न होता है तथा ऐसा समृद्ध वायु रूप होता है, जिसकी प्रजनन-उत्पादन क्षमता विशेष होती है तथा अपना तेज किसी अन्य परमाणु आदि में प्रक्षिप्त करके शान्त हो जाता है एवं **'कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरातिर्ऋषिः'** ऐसा प्राण है, जो वाक् तत्त्व से उत्पन्न होता और विशेष तेजस्विता को प्रदान करने वाला तथा आजीगर्ति शुनःशेप नामक ऋषि को अपने साथ धारण करने वाला होता है। {डुकृञ् करणे धातु का अर्थ धारण करना और पहनना भी है- आप्टे कोष}

इस ऋचा का देवता सविता एवं छन्द गायत्री होने से वैद्युत तेज और बल समृद्ध होता है। इस ऋचा के पद **'वार्य्याणाम् ईशानम्, ईमहे'** आदि के प्रभाव से विभिन्न कणों को रोककर उन्हें संयुक्त करने में सहयोग मिलता है। यहाँ **'अभि'** पद इस क्रिया की व्यापकता का सूचक है।।

यहाँ कुछ विद्वान् प्रश्न करते हैं कि अग्नि के मंथन के लिये अथवा उत्पादन के लिये ऋग्रूप तरंगों की उत्पत्ति होनी थी, तब उस ऋचा का देवता अग्नि ही होना चाहिये था, फिर सविता देवता वाली ऋचा की उत्पत्ति क्यों होती है? इसका उत्तर देते हुए **महर्षि ऐतरेय महीदास** लिखते हैं-।।

सविता देव अर्थात् विद्युत् और प्राण तत्त्व ही विभिन्न उत्पत्ति कर्मों के स्वामी होते हैं। बिना विद्युत् और प्राण तत्त्व के कोई भी उत्पत्ति कर्म सम्भव नहीं है। **'सविता'** पद स्वयं भी उत्पत्ति और प्रेरणा क्रियाओं को समृद्ध करता है। इसलिये इस ऋचा रूप तरंगों के द्वारा विद्युत् और प्राणादि की प्रेरणा से अग्नि विलोडन और उत्पादन की क्रिया संभव होती है। इसलिये सवितृदेवताक ऋचा की ही उत्पत्ति हुआ करती है।

प्रश्न– आप 'अग्नि' शब्द से विद्युत् और प्राणादि का ग्रहण भी अनेकत्र करते हैं, तब अग्निदेवताक ऋचा से अग्निमंथन की क्रिया क्यों नहीं प्रेरित हो सकती?

उत्तर– यह सत्य है कि 'अग्नि' शब्द से विद्युत् और प्राणादि का भी ग्रहण होता है, जिससे अग्निदेवताक ऋचा से भी विद्युत् और प्राण तत्त्व समृद्ध होकर अग्नि मंथन की क्रिया सम्भव है परन्तु **'अग्नि'** पद स्वयं के प्रभाव से प्राण और विद्युत् को प्रेरित कर गतिशील भी करेगा, ऊष्मा-प्रकाश का संवर्धन भी करेगा, परन्तु उत्पादन धर्म अग्नि पद से कदाचित् समृद्ध नहीं हो पायेगा। जबकि 'सविता' पद अग्नि के उपर्युक्त कर्मों को तो करेगा ही, साथ ही विभिन्न तत्त्वों के निर्माण कार्य को भी विशेषतया करेगा। इसी कारण सवितादेवताक ऋचा की उत्पत्ति हुआ करती है। **संस्कृत अथवा वैदिक भाषा ही विश्व की ऐसी भाषा है, जिसको ब्रह्माण्डीय वैज्ञानिक भाषा कहना अधिक उपयुक्त है। यहाँ एक ही शब्द के पर्यायवाची शब्दों के अर्थ और उनके सृष्टि उत्पत्ति के समय होने वाले सूक्ष्म प्रभावों में एक सूक्ष्म अन्तर हुआ करता है,** जैसा कि हम सविता और अग्नि का अंतर बतला चुके हैं। विशेष जानकारी पूर्वपीठिका में देखें।।

वैज्ञानिक भाष्यसार– तारों के केन्द्रीय भाग में केवल ऊष्मा और ताप से ही नाभिकीय संलयन की क्रिया का होना सम्भव नहीं है, अपितु वहाँ विद्युत् की उपस्थिति भी अनिवार्य होती है और इस विद्युत् तत्त्व को समृद्ध करने के लिये गायत्री छन्द वाली उपर्युक्त तरंगें विशेष भूमिका निभाती हैं।।

२. मही द्यौः पृथिवी च न इति द्यावापृथिवीयामन्वाह।। तदाहुर्यदग्नये मथ्यमानायानुवाचाऽऽहाथ कस्माद्द्यावापृथिवीयामन्वाहेति, द्यावापृथिवीभ्यां वा एतं जातं देवाः पर्यगृह्णंस्ताभ्यामेवाद्यापि परिगृहीतस्तस्माद्द्यावापृथिवीयामन्वाह।।

{द्यावापृथिवी = विद्युदन्तरिक्षे (म.द.ऋ.भा.६.७०.४), प्रकाशाऽप्रकाशे जगती (म.द.य.भा.१३.४६), द्यावापृथिव्योर्वा एष गर्भो यत्सोमो राजा (ऐ.१.२६), इमे हि द्यावापृथिवी प्राणोदानौ (श.४.३.१.२२), द्यावापृथिवी सर्व इमे लोकाः (जै.ब्रा.३.२७१), वायुर्वा अनयोः (द्यावापृथिव्योः) वत्सः (मै.२.५.४; काठ.१३.५)। पृथिवी = पृथिवी अन्तरिक्षनाम (निघं.१.३), पृथ्वी पृथिवीनाम (निघं.१.१)}

व्याख्यानम्– तदुपरान्त काण्वो मेधातिथि ऋषि प्राण के द्वारा द्यावापृथिव्यौ-देवताक तथा गायत्री छन्दस्क ऋचा

मही द्यौः पृथिवी च न इमं यज्ञं मिमिक्षताम्। पिपृतां नो भरीमभिः।। (ऋ.१.२२.१३)

की उत्पत्ति होती है। यह ऋषि सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न तथा मनस्तत्त्व से विशेष सम्पन्न होता है। इसके देवता और छन्द के प्रभाव से प्रकाशित और अप्रकाशित कण एवं आकाश तत्त्व, विद्युत् सभी तेज और बल से समृद्ध होते हैं। इस ऋचा के अन्य प्रभाव से विशाल द्यौ और पृथिवी लोकों में प्रकाशित और अप्रकाशित दोनों ही प्रकार के परमाणु धारण और पोषण गुणों से युक्त होकर नाना प्रकार की संयोगादि क्रियाओं को परिपूर्ण करते हैं। वे परमाणु यज्ञ रूपी उन लोकों को भली प्रकार समृद्ध और परिपूर्ण करते हैं।।

यहाँ कुछ विद्वान् प्रश्न करते हैं कि अग्नि के मंथन के लिये अग्निदेवताक ऋचा के स्थान पर द्यावापृथिवीदेवताक ऋचा की उत्पत्ति क्यों होती है? इसके उत्तर में **महर्षि ऐतरेय महीदास** कहते हैं कि

अग्नि (ऊर्जा) को प्राण तत्त्व नामक देव तीन स्थानों पर ही धारण करते हैं, वे स्थान हैं- विकिरण, विभिन्न अप्रकाशित (परन्तु प्रकाश्य) कण और इन दोनों को भी धारण करने वाला आकाश तत्त्व। इनमें से एक के भी अभाव में कोई भी ऊर्जा कहीं ठहर नहीं सकती अथवा अस्तित्त्व में नहीं आ सकती। **कोई भी ऊर्जा या तो आकाश में विकिरण के रूप में विद्यमान होती है अथवा और सूक्ष्म अवस्था में आकाश में ही प्रायः अव्यक्त वा अग्राह्य रूप में विद्यमान रहती है अथवा किसी इलेक्ट्रॉन आदि कण द्वारा अवशोषित होकर उसके साथ संयुक्त रहती है।** इसके अतिरिक्त ऊर्जा की कोई अन्य स्थिति नहीं हो सकती है। इस कारण तारों के केन्द्रीय भाग में अग्नि मंथन वा उत्पत्ति के लिये वहाँ विद्यमान कणों (नाभिक एवं इलेक्ट्रॉन्स आदि) एवं अन्तरिक्ष तत्त्व को भी समृद्ध रखना अति आवश्यक है। इसके साथ ही विद्युत् का भी इन सबके साथ संगम अति आवश्यक है। **केन्द्रीय भाग में संलयन क्रिया के समय ऐसा संलयन नहीं होता कि इलेक्ट्रॉन्स, प्रोटोन्स आदि सभी कुछ संलयित होकर एक अनिष्ट रूप धारण कर ले और आकाश तत्त्व का, साथ ही अवकाश रूप अकाश का भी कभी अभाव नहीं होता।** इसके साथ ही 'द्यौ' शब्द से अभिहित वाक् एवं विभिन्न प्राण तत्त्वों का भी कभी अभाव नहीं होता। यदि कदाचित् एवं कथञ्चित् ऐसा हो जाये, तो सम्पूर्ण तारा नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगा। इसलिये उपर्युक्त सभी तत्त्वों के अस्तित्त्व व स्वरूप को सम्यक् बनाये रखकर अग्नि मंथन क्रिया को सम्पन्न करने के लिये द्यावापृथिवीदेवताक ऋचा की अति आवश्यकता है। न केवल तारों के निर्माण के समय अपितु वर्त्तमान में भी उपर्युक्त द्यावापृथिवी नामक तत्त्वों ने अग्नि अर्थात् ऊर्जा को ग्रहण कर रखा है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- तारों के केन्द्रीय भाग में विभिन्न फोटोन्स, इलेक्ट्रॉन्स, नाभिक, आकाश आदि सबका सम्यक् सन्तुलन आवश्यक है। विद्युत् आवेशों का सन्तुलन आवश्यक है तथा विभिन्न कणों के बीच आवश्यक अवकाश वा आकाश तत्त्व का रहना भी आवश्यक है। यदि कणों के बीच में अवकाश नहीं हुआ और सारे कण संलयित होकर एक कण बन जायें, तो तारे का स्वरूप समाप्त हो जायेगा। ऊर्जा आवश्यकता से अधिक वा न्यून हो, तब भी तारे का स्वरूप स्थिर नहीं रह पायेगा। इसी प्रकार विद्युत् आवेशों में भी असंतुलन पैदा हो जाये, तो भी तारे में विस्फोटक स्थिति उत्पन्न हो जायेगी। इसलिए इन सभी के संतुलन के लिए उपर्युक्त गायत्री छन्दस्क तरंग विशेष भूमिका निभाती है।।

३. त्वामग्ने पुष्करादधीति तृचमाग्नेयं गायत्रमन्वाहाग्नौ मथ्यमाने। स्वयैवैनं तद्देवतया स्वेन च्छन्दसा समर्धयति।।
अथर्वा निरमन्थतेति रूपसमृद्धमेतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृगभिव- दति।।
स यदि न जायेत यदि चिरं जायेत राक्षोघ्न्यो गायत्र्योऽनूच्याः।।

{भरद्वाजः = एष उ एव बिभ्रद्वाजः प्रजा वै वाजस्ता एष बिभर्त्ति यद् बिभर्त्ति तस्माद् भरद्वाजस्तस्माद् भरद्वाज इत्याचक्षत एतम् (प्राणम्) एव सन्तम् (ऐ.आ.२.२.२)। पुष्करम् = अन्तरिक्षनाम (निघं.१.३), पुष्णातीति पुष्करम् (उ.को.४.४)। अथर्वा = अहिंसकः (म.द.य.भा.१५.२२), अहिंसनीयः (म.द.य.भा.८.५६), प्राणो वा ऽअथर्वा (श.६.४.२.१)। वाघतः = वाघतः वोढारो मेधाविनो वा (नि.११.१६)। दध्यङ् = दधीन् धारकानञ्चति (म.द.ऋ.भा.१.१३९.९), वाग्वै दध्यङ्ङाथर्वणः (श.६.४.२.३)। पुरन्दरः = यः पुरं दारयति सः (म.द.ऋ.भा.२.२०.७), (पुरः = शत्रुनगर्य्यः - म.द.ऋ.भा.१.१७४.२)}

व्याख्यानम्- तदुपरान्त भरद्वाज बार्हस्पत्य ऋषि प्राण से अग्निदेवताक एवं निचृद् गायत्री छन्दस्क तृच अर्थात् तीन ऋचाओं की उत्पत्ति होती है। वे ऋचाएं-

त्वाम॑ग्ने पुष्क॑राद॒ध्यथ॑र्वा॒ निर॑मन्थत। मू॒र्ध्नो विश्व॑स्य वा॒घतः॑।।१३।।

तमु॑ त्वा द॒ध्यङ्ङृषि॑: पु॒त्र ई॑धे॒ अथ॑र्वणः। वृ॒त्र॒हणं॑ पुरन्द॒रम्।।१४।।
तमु॑ त्वा पा॒थ्यो वृषा॒ समी॑धे दस्यु॒हन्त॑मम्। ध॒नं॒ज॒यं रणे॑रणे।।१५।। (ऋ.६.१६.१३-१५)

यह ऋषि सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न विभिन्न बलों को धारण करने वाला प्राण नामक प्राथमिक प्राण है, इसी से इन ऋग्रूप तरंगों की उत्पत्ति होती है। इनके देवता और छन्द के प्रभाव से अग्नि तत्त्व बल और तेज से युक्त होता है। इन छन्द रश्मियों का अन्य प्रभाव निम्न क्रमानुसार है-

(१) {वाघतः = वाघतः वोढारो मेधाविनो वा (नि.११.१६), ऋत्विङ्नाम (निघं.३.१८)} सबकी वाहिका सूत्रात्मा वायु रश्मियां सम्पूर्ण आकाश में {**मूर्धा = प्रजापतिर्वै मूर्धा (श.८.२.३.१०), मूर्धा मूर्तमस्मिन् धीयते (नि.७.२७), मूर्धनि प्रधानाङ्गे (नि.६.३१)**} संयोज्य परमाणु, जो उत्कृष्टता वा प्रधानता से विद्यमान रहते हैं, को निरापद रूप से मथ कर अग्नि तत्त्व को उत्पन्न करती हैं।

(२) विभिन्न ऋषि रश्मियां अर्थात् प्राणादि प्राथमिक प्राण व अन्य ऋषि प्राण रश्मियां आवरक आसुर मेघों के विशाल समूहों को नष्ट करने में समर्थ तीव्र विद्युदग्नि को प्रदीप्त वा उत्पन्न करती हैं।

(३) विभिन्न संघर्षों में बाधक असुरादि वा अन्य तीक्ष्ण रश्मि आदि पदार्थों को हनन करने वाला अग्नि अपने मार्ग में आने वाले वृषा धनञ्जयादि प्राणों को प्राप्त करके सम्यग्रूपेण प्रदीप्त होता है।।

इस प्रकार इन तीनों छन्द रश्मियों के द्वारा नाना परमाणु सम्पीडित होकर अग्नि को उत्पन्न व समृद्ध करते हैं।इस रीति से विभिन्न संलयनीय पदार्थ इन ऋचाओं के देवता और छन्दों के द्वारा स्वयं को समृद्ध और सक्रिय करते हैं।।

प्रथम ऋचा का द्वितीय पाद **'अथर्वा निरमन्थत'** अहिंसक प्राणों के द्वारा अग्नि के मंथन में सहायक होता है। इसलिये अग्नि मंथन रूपसमृद्ध है। यहाँ रूपसमृद्धि के विषय में पूर्ववत् (पृ.११५) समझें।।
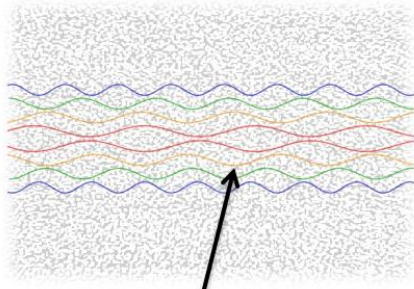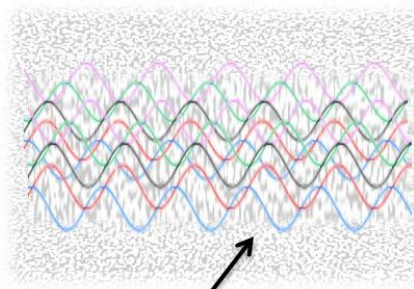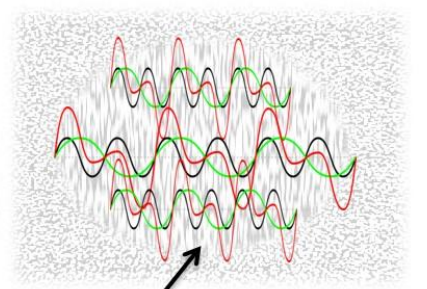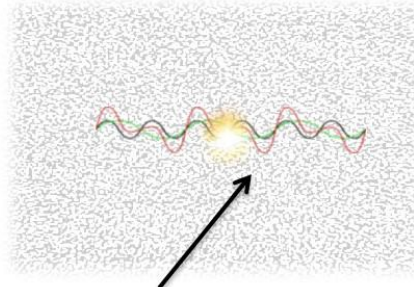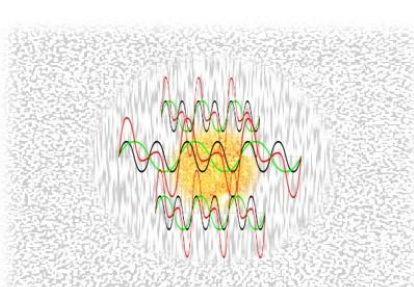
चित्र ३.४ विभिन्न प्रकार की प्राण रश्मियों के ऊर्जा का रूप धारण करने की प्रक्रिया

यदि तारों के केन्द्रीय भाग में ऊष्मा उत्पन्न न हो वा देर से उत्पन्न होवे, तो वहाँ नाभिकीय संलयन क्रिया बंद हो जाती है। ऐसी स्थिति रक्षोहाअग्निदेवताक अग्रलिखित नौ ऋचाओं की उत्पत्ति होती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- विभिन्न प्रकार की **प्राण रश्मियाँ और विद्युत् आवेशित कण आकाश तत्त्व के द्वारा संपीडित होकर ऊर्जा का रूप धारण करते हैं।** वाक् तत्त्व विभिन्न बाधक तत्त्वों को नष्ट करता है और **धनञ्जय नामक प्राण रश्मियाँ उत्पन्न ऊर्जा को केन्द्रीय भाग से निकालकर अपने साथ बाहर ले जाकर सुदूर अंतरिक्ष में गमन कराती हैं।** इन सब कार्यों के लिए उपर्युक्त गायत्री छन्द रश्मियाँ विशेष सहयोगी होती हैं। यदि तारों के केन्द्रीय भाग में ऊष्मा उत्पन्न ना हो अथवा देर से उत्पन्न हो, तो नाभिकीय संलयन की क्रिया बंद हो जाती है। इस समस्या के समाधान के लिए अग्र वर्णित नौ छन्द रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं।।
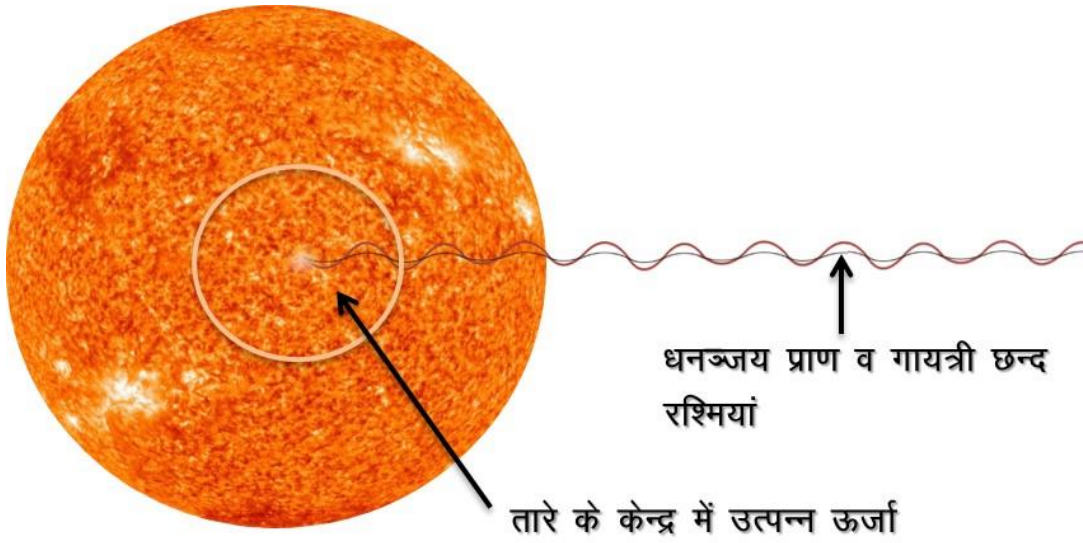
चित्र ३.५ धनञ्जय प्राण रश्मियाँ उत्पन्न ऊर्जा को केन्द्रीय भाग से निकालकर अपने साथ बाहर ले जाकर सुदूर अंतरिक्ष में गमन कराती हैं।

४. अग्ने हंसिन्य त्रिणमित्येताः।।
रक्षसामपहत्यै।।
रक्षांसि वा एनं तर्ह्यालभन्ते यर्हि न जायते यर्हि चिरं जायते।।

{उरुक्षयः = (उरु - क्षय पदयोः समासः। उरु बहुनाम - निघं.३.१; क्षयः = क्षि निवासगत्योः धातोः "पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण"- पा.अ.३.३.११८ इति अधिकरणे घः)। आमहीयवः = ता यदेनं (प्रजापतिम्) प्रजाः सुहिता अशिता आमहीयन्त तदामहीयवस्यामहीयवत्वम् (जै.ब्रा.१.११७)। स्रुक् = गौर्वै स्रुचः (तै.ब्रा.३.३.५.४), यजमानः स्रुचः (तै.ब्रा.३.३.६.३), इमे वै लोकाः स्रुचः (तै.ब्रा.३.३.१.२)। मधु = विज्ञातो मार्गः (तु.म.द.ऋ.भा.४.४५.३), प्राणो वै मधु (श.१४.१.३.३०), एतावेव (मधुश्च माधवश्च) वासन्तिकौ (मासौ) (श.४.३.१.१४)। जरमाणः = (जरते अर्चतिकर्मा - निघं.३.१४)}

व्याख्यानम्- तदुपरान्त **'उरूक्षय आमहीयवः'** ऋषि प्राण से अग्निरक्षोहादेवताक नौ ऋग्रूप तरंगों की उत्पत्ति होती है। इस विषय में अन्यत्र भी कहा गया है- **"अजायमाने त्वेतस्मिन्नेवावसानेऽग्ने हंसि**

न्यत्रिणमिति सूक्तमावपेत पुनः पुनराजन्मनः" (आश्व.श्रौ.२.१६.४)। इसका तात्पर्य यह है कि जब तारों के केन्द्रीय भाग का अग्नि उपर्युक्त कारण से मन्द वा बन्द पड़ जाता है, तब निम्नलिखित नौ ऋग्रूप तरंगें केन्द्रीय पदार्थ में तब तक प्रक्षिप्त की जाती हैं, जब तक कि उनमें ऊष्मा की तीव्र उत्पत्ति पुनः न हो जाये। वे नौ ऋचाएं हैं-

अग्ने हंसि न्य१त्रिणं दीद्यन्मर्त्येष्वा। स्वे क्षये शुचिव्रत।।१।।
उत्तिष्ठसि स्वाहुतो घृतानि प्रति मोदसे। यत्त्वा स्रुचः समस्थिरन्।।२।।
स आहुतो वि रोचतेऽग्निरीळेन्यो गिरा। स्रुचा प्रतीकमज्यते।।३।।
घृतेनाग्निः समज्यते मधुप्रतीक आहुतः। रोचमानो विभावसुः।।४।।
जरमाणः समिध्यसे देवेभ्यो हव्यवाहन। तं त्वा हवन्त मर्त्याः।।५।।
तं मर्ता अमर्त्यं घृतेनाग्निं सपर्यत। अदाभ्यं गृहपतिम्।।६।।
अदाभ्येन शोचिषाग्ने रक्षस्त्वं दह। गोपा ऋतस्य दीदिहि।।७।।
स त्वमग्ने प्रतीकेन प्रत्योष यातुधान्यः। उरुक्षयेषु दीद्यत्।।८।।
तं त्वा गीर्भिरुरुक्षया हव्यवाहं समीधिरे। यजिष्ठं मानुषे जने।।९।। (ऋ.१०.११८.१-९)

जिनके छन्द निम्नानुसार हैं- १ पिपीलिकामध्यागायत्री, २ व ५ निचृद्गायत्री, ३ व ८ विराड्गायत्री, ६व ७ पादनिचृद्गायत्री, ४ व ९ गायत्री। **'उरूक्षय आमहीयवः'** ऋषि प्राण एक ऐसा प्राण है, जो विस्तृत क्षेत्र में गतिशील होता है तथा जिसको अच्छी प्रकार धारण और पोषित परन्तु तीक्ष्णता से रहित विभिन्न उत्पन्न पदार्थ से प्रकट वा धारण होता है। इनके दैवत प्रभाव से ऐसा तीव्र अग्नि, ऊष्मा एवं विद्युत् उत्पन्न होता है, जो तारे के अन्दर पुनः उत्पन्न हुए प्राक् वर्णित वरुण पाश की रश्मियों एवं असुर तत्त्व नामक हिंसक विद्युद्रूप अग्नि को नष्ट करता है। इनके छन्दस्क प्रभाव से भेदक शक्तिसम्पन्न तेज और बल उत्पन्न होते हैं। इन ऋचाओं के अन्य कुछ निम्न प्रभाव भी होते हैं-

प्रथम ऋचा के प्रभाव से ज्वलन कर्म वाला अग्नि मरुत् रश्मियों के भीतर प्रकाशमान होता हुआ विभिन्न बाधक पदार्थों को नष्ट करता है। द्वितीय ऋचा के प्रभाव से विभिन्न मरुत् रश्मियों की आहुतियों से युक्त वह ऐसा अग्नि ऊपर उठता है। वह अग्नि विभिन्न बलों तथा तेजस्वी किरणों को धारण करता हुआ अपने कर्म में स्थिर होता है।

तृतीय ऋचा के प्रभाव से वह अग्नि विभिन्न प्रकार से वाक् तत्त्वयुक्त रश्मियों के द्वारा सन्दीप्त होता है। चतुर्थ ऋचा के प्रभाव से **{मधु = एतावेव (मधुश्च माधवश्च) वासन्तिकौ (मासौ) श.४.३.१.१४}** वसन्त ऋतु संज्ञक रश्मियों से सिक्त होकर अपने प्रकाश से सबका आच्छादिता वा प्रकाशित करने वाला तेजस्वी होता है। इसके साथ विभिन्न पदार्थों को उचित मार्ग प्रदान करने में सहायक होता है। विभिन्न ऋतु रश्मियों के विषय में पूर्वपीठिका में पढ़ें।

पंचम ऋग् रश्मि के प्रभाव से वह अग्नि विभिन्न कणों का वाहक प्रकाशित कणों के रूप में चमकता है किंवा विभिन्न प्राणरूप देवों से चमकता है। उस अग्नि में अनेक ऋतु रश्मियां संगत होती हैं।

षष्ठ छन्द रश्मि के प्रभाव से वह अग्नि विभिन्न ऋतु रश्मियों का पालक, तीव्र तेजस्वी व अविनाशी विभिन्न पूर्वोक्त मनुष्य नामक कणों के द्वारा धारण किया जाता है।

सप्तम रश्मि के प्रभाव से वह अग्नि अधर्षणीय तेज के द्वारा बाधक हिंसक विद्युयुक्त अप्रकाशित वायु को नष्ट करता है। इससे वह संगतीकरण क्रिया की रक्षा करता हुआ देदीप्यमान होता है।

अष्टम रश्मि के प्रभाव से उपर्युक्त बाधाओं को दूर करते हुए अति विस्तृत क्षेत्र में दीप्तमान होता है।

नवम रश्मि के प्रभाव से तारों के विशाल क्षेत्र में मनुष्य नामक कणों के मध्य संगत होता हुआ वह अग्नि विभिन्न किरणों के साथ सम्यक् प्रज्वलित होता है।।

ये नौ छन्द रश्मियां आकाश में फैले पदार्थ की सम्पीडन की प्रक्रिया को तीव्र बनाने में सहायक होती हैं। इस प्रकार उपर्युक्त नौ ऋग्रूप तरंगें बाधक असुर वा राक्षस तत्त्वों को नष्ट करने के लिए उत्पन्न होती हैं, क्योंकि जब तारों के केन्द्रीय भाग में ऊष्मा मन्द वा बन्द हो जाती है अथवा बन्द होने के कुछ काल पश्चात् प्रकट हो पाती है, तो संलयन क्रिया में बाधक वरुण रूप प्राक् वर्णित रश्मियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जिन्हें नष्ट करने के लिए ही इन नौ तरंगों की उत्पत्ति आवश्यक होती है।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब तारों के केन्द्रीय भाग में ऊष्मा कम हो जाती है, तब डार्क एनर्जी रूपी विभिन्न बाधक विद्युत् युक्त अप्रकाशित वायु आदि रश्मियाँ प्रबल हो उठती हैं, जिससे संलयन प्रक्रिया बंद हो जाती है। ऐसी स्थिति में उपर्युक्त विभिन्न प्रकार की नौ गायत्री रश्मियाँ उत्पन्न होकर तीव्र ऊष्मा और विद्युत् को उत्पन्न करती हैं, जिसके कारण बाधक तत्त्व समाप्त हो जाते हैं और संलयन क्रिया पुनः प्रारम्भ हो जाती है। ये नौ छन्द रश्मियां आकाश में फैले पदार्थ की सम्पीडन की प्रक्रिया को तीव्र बनाने में सहायक होती हैं। इन नौ रश्मियों के प्रभाव से विभिन्न सूक्ष्म मन्दगामी पवन सक्रिय होते तथा विभिन्न अनियमित गति वाले, अल्प प्रकाशयुक्त तथा अल्पायु वाले कण तेजस्वी हो जाते हैं। वह ऊष्मादि ऊर्जा व्यापक क्षेत्र में प्रकाशमान हो उठती है।।

५. स यद्येकस्यामेवानूक्तायां जायेत यदि द्वयोरथोत ब्रुवन्तु जन्तव इति जाताय जातवतीमभिरूपामनुब्रूयात्।। यद्यज्ञेऽभिरूपं तत्समृद्धम्।।

{जन्तुः = मनुष्या वै जन्तवः (श.७.३.१.३२), जन्तवः मनुष्यनाम (निघं.२.३)}

व्याख्यानम्- उपर्युक्त परिस्थिति में उत्पन्न नौ ऋचाओं में से एक अथवा दो ऋचाओं के उत्पन्न होने पर ही तारों के केन्द्रीय भाग में अग्नि तीव्रता से उत्पन्न हो जाता है, तो फिर उसके पश्चात् राहूगण गोतम ऋषि प्राण अर्थात् धनंजय प्राण से अग्निदेवताक और गायत्री छन्दस्क

उत ब्रुवन्तु जन्तव उदग्निर्वृत्रहाजनि। धनंजयो रणेरणे।।३।। (ऋ.१.७४.३)

ऋग्रूप तरंग की उत्पत्ति होती है, जिससे अग्नि का तेज और बल समृद्ध तथा वरुण पाश को नष्ट करके एवं विभिन्न प्राणों के सहित अग्नि को उत्कृष्टता से उत्पन्न करता है एवं विभिन्न प्रकार के मनुष्य नामक कण, जो अनियमित गति वाले होते हैं, को भी उत्कृष्टता से प्रकाशित करता है। यहाँ **'अजनि'** पद अग्नि को विशेष रूप से उत्पन्न करके धनंजय प्राण के साथ युक्त कर देता है।।

जो ऋचाएं इस संलयन रूपी यज्ञ के लिये उपयुक्त होती हैं, वे ही ऋचाएं यज्ञ को पूर्णता की ओर ले जा सकती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उपर्युक्त नौ गायत्री छन्द रश्मियों में से एक या दो रश्मि के उत्पन्न होने पर ही यदि तारों के केन्द्रीय भाग में पर्याप्त ऊष्मा उत्पन्न हो जाये, तो अन्य उपर्युक्त एक गायत्री छन्द रश्मि उत्पन्न होकर ऊर्जा की तीक्ष्णता को बढ़ाकर विभिन्न बाधक तत्त्वों को दूर करती है और इससे अनियमित गति वाले अल्प प्रकाशशील मनुष्य नामक कण भी उत्कृष्टता से प्रकाशित होने लगते हैं। इसके साथ ही यह रश्मि विभिन्न फोटोन्स को धनंजय नामक प्राण रश्मि से संयुक्त करके तारों से बाहर विकिरण के रूप में उत्सर्जित होने में सहयोग करती है।।

६. आ यं हस्ते न खादिनमिति।। हस्ताभ्यां ह्येनं मन्थन्ति।।

शिशुं जातमिति शिशुरिव वा एष प्रथमजातो यदग्निः।।
न बिभ्रति विशामग्निं स्वध्वरमिति।।
यद्वै देवानां नेति तदेषामोऽमिति।।

{हस्तः = प्राणाऽपानो वा (तु.म.द.य.भा.१.२१), धारणाऽऽकर्षणो वा (तु.म.द.य.भा.६.६)। शिशुः = अयं वाव शिशुर्योऽयं मध्यमः प्राणः (श.१४.५.२.२), श्यति तनूकरोति पित्रोः शरीरमिति (उ.को.१.२०)}

व्याख्यानम्- इसके पश्चात् **'भरद्वाजो बार्हस्पत्यः'** अर्थात् प्राण नामक प्राथमिक प्राण रूप ऋषि से अग्निदेवताक और निचृद्गायत्री छन्दस्क-

आ यं हस्ते न खादिनं शिशुं जातं न बिभ्रति। विशामग्निं स्वध्वरम्।।४०।। (ऋ.६.१६.४०)

की उत्पत्ति होती है। जिससे आग्नेय तेज और बल समृद्ध होता है। शेष प्रभाव आगामी कण्डिकाओं में दर्शाया जायेगा।।

इस ऋचा में **'हस्ते'** पद इसलिए प्रयुक्त है क्योंकि तारों के केन्द्रीय भाग में, जो अग्नि का मंथन अर्थात् ऊर्जा की उत्पत्ति होती है, उसमें प्राण और अपान तथा धारण और आकर्षण बल रूपी हाथों से मथा जाता है और यह ऐसा उत्पन्न अग्नि वरुण रूपी रश्मियों अथवा बाधक हिंसक विद्युद्रूप अग्नि को इन हाथों के द्वारा ही खा जाता है अर्थात् नष्ट कर डालता है।।

ऋचा में आये **'शिशुं जातम्'** का अर्थ यह है कि जो अग्नि इस उपर्युक्त मंथन से उत्पन्न होता है, वह शिशु के समान उत्पन्न होता है और यहाँ **{पित्रोः = द्यावापृथिव्योः (म.द.ऋ.भा.३.५.८), वाय्वाकाशयोः (म.द.ऋ.भा.१.१६०.३)} {मध्यम् = प्रजा वै पशवो मध्यम् (श.१.६.१.१७)}** शिशु का अर्थ मध्यम मरुद्रूप प्राण है, जो अपने पितरों वायु, आकाश तथा प्रकाशित व अप्रकाशित कणों को फैलाता अथवा तीक्ष्ण बना देता है, जिससे वे सतत ऊर्जा उत्पन्न करने में विशेष सक्रिय हो उठते हैं।।

इसके पश्चात् वे पदार्थ सुन्दर प्राणों और प्रकाशमान अग्नि को सब ओर से धारण करके अपने साथ संगत करते हैं।।

यहाँ **महर्षि ऐतरेय महीदास** लिखते हैं कि जो भी देव सम्बन्धी ऋचाएं हैं, उनमें जो ''न'' पद आता है, वह निषेध अर्थ में नहीं होता बल्कि 'ओम्' अर्थात् अंगीकार करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसलिये **शतपथ ब्राह्मण (१.४.१.३०)** में भी कहा- **'यद्वै नेत्यृचि ओमिति तत्'** अर्थात् ऋचाओं में जो **'न'** पद विद्यमान होता है, वह **'ओम्'** अर्थात् अङ्गीकार अर्थ में ही प्रयुक्त होता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उसके पश्चात् अन्य उपर्युक्त निचृत् गायत्री छन्द रश्मि उत्पन्न होती है, जिससे भी ऊर्जा तीक्ष्ण होती है और वह ऊर्जा प्राण और अपान तथा धारण और आकर्षण बलों के द्वारा बाधक रश्मियों को नष्ट कर डालता है। इसके साथ ही वह उत्पन्न ऊर्जा विभिन्न रश्मियों, आकाश तत्त्व एवं कणों को तीक्ष्ण बनाती व फैलाती है, जिससे सतत ऊर्जा उत्पन्न करने में वे पदार्थ समर्थ होते हैं।।

७. प्र देवं देववीतये भरता वसुवित्तममिति प्रह्रियमाणायाभिरूपा।।
यद्यज्ञेऽभिरूपं तत्समृद्धम्।।
आ स्वे योनौ निषीदत्विति।।
एष ह वा अस्य स्वो योनिर्यदग्निरग्नेः।।

{देववीतिः = (वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु+क्तिन्)।}

व्याख्यानम्- यहाँ पर कहा गया है- **''प्रदेवं देववीतय इति द्वे अग्निनाऽग्निः समिध्यते त्वं ह्यग्ने अग्निना तं मर्जयन्त सुक्रतुं यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा इति परिदध्यात्'' (आश्व.श्रौ.२.१६.७)**। एतदनुसार भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषि प्राण अर्थात् प्राण नामक प्राथमिक प्राण द्वारा

प्र देवं देववीतये भरता वसुवित्तमम्। आ स्वे योनौ नि षीदतु।। (ऋ.६.१६.४१)

की उत्पत्ति होती है। इसका देवता अग्नि व छन्द गायत्री होने से विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के बल और तेज समृद्ध होते हैं। इसके प्रथम दो पादों के प्रभाव से विभिन्न देवों अर्थात् प्राण तत्त्व, सोमादि पदार्थों को गतिशील एवं प्रकाशशील बनाकर चतुर्दिक् बिखेरते हुए व्याप्त करने तथा उन्हें प्रकाशमान बनाते हुए परस्पर संयुक्त करके उस अग्नि रूप देव, जो विभिन्न मरुत् रूपी वसुओं को धारण करता है, को प्रकृष्टता से तारों के अन्दर (केन्द्रीय भाग) धारण किया जाता है। इस ऋचा के द्वारा ही अग्नि को अन्दर की ओर प्रक्षिप्त किया जाता है। यहाँ आ. सायण ने **तैत्तिरीय संहिता ६.३.५.३** को उद्धृत करते हुए लिखा है- **''अग्नये मथ्यमानायानुब्रूहीत्याह। सावित्रीमृचमन्वाह सवितृप्रसूता एवैनं मन्थन्ति। जातायानुब्रूहि प्रह्रियमाणायानुब्रूहीत्याह काण्डे काण्ड एवैनं क्रियमाणे समर्धयति। गायत्री सर्वाऽन्वाह इति।।''** इससे प्रतीत होता है कि सभी ऋग्रूप तरंगों के साथ-२ गायत्री छन्दस्क तरंगें भी उत्पन्न होती रहती हैं, जो अन्य ऋचाओं को भली प्रकार से समृद्ध और प्रदीप्त करती रहती हैं।।
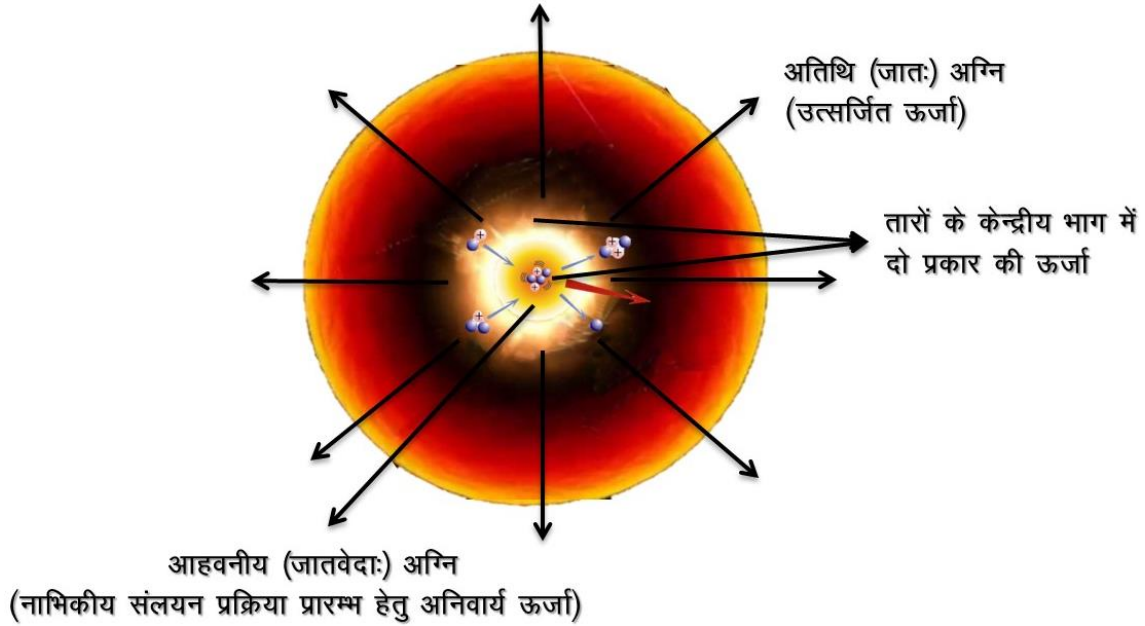
चित्र ३.६ तारों के केन्द्रीय भाग में दो प्रकार की ऊर्जा

इस कण्डिका को पूर्ववत् समझें।।

उपर्युक्त ऋचा के तृतीय पाद **'आ स्वे योनौ निषीदतु'** के प्रभाव से वह उत्पन्न अग्नि अपनी योनि अर्थात् जन्मस्थान एवं अपने गृह **{योनिः गृहनाम (निघं.३.४)}** अर्थात् ऋतु संज्ञक रश्मियों में पूर्ण रूप से धारण किया जाता है। इस नाभिकीय संलयन वाले क्षेत्र में विद्यमान अग्नि को आहवनीय अग्नि भी कहते हैं, क्योंकि इस क्षेत्र में सब ओर से निरन्तर अग्नि में अग्नि का संगम होता रहता है। इसलिये कहा है- **''यज्ञो वा आहवनीयः स्वर्गो लोकः'' (ऐ.५.२४,२६)**। यह जो आहवनीय नामक अग्नि

है, वही वस्तुतः मथित अग्नि का अपना स्थान है। मथित अग्नि वह अग्नि है, जो नाभिकीय संलयन द्वारा उत्पन्न हुआ करता है और आहवनीय अग्नि वह अग्नि है, जो नाभिकीय संलयन की क्रिया प्रारम्भ करने के लिए अनिवार्य होता है। इस प्रकार वह संलयन से उत्पन्न हुआ अग्नि उसी केन्द्रीय भाग में एकत्र होता रहता है और एक विशेष सीमा पार करने पर बाहरी भाग के लिये संचरित कर दिया जाता है। इस विषय में पूर्व खण्ड की अन्तिम कण्डिका को भी देखें।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- तारों के केन्द्रीय भाग में दो प्रकार की ऊर्जा होती है। एक ऊर्जा वह होती है, जो नाभिकीय संलयन की प्रक्रिया प्रारम्भ होने से पूर्व उत्पन्न हो चुकी होती है। यह ऊर्जा नाभिकीय संलयन की प्रक्रिया प्रारम्भ करने के लिये अनिवार्य होती है। उसके बाद जो ऊर्जा उत्पन्न होती है, वह नई ऊर्जा भी पूर्व विद्यमान ऊर्जा में मिश्रित होती रहती है और एक विशेष सीमा के पश्चात् अतिरिक्त ऊर्जा तारे से बाहर उत्सर्जित हो जाती है। इस कार्य में उपर्युक्त गायत्री छन्द रश्मि का विशेष योगदान रहता है।।

८. आ जातं जातवेदसीति।।
जात इतरो जातवेदाः इतरः।।
प्रियं शिशीतातिथिमित्येष ह वा अस्य प्रियोऽतिथिर्यदग्निरग्नेः।।
स्योन आ गृहपतिमिति शान्त्यामेवैनं तद्दधाति।।

{स्योनः = (षिवु तन्तुसंताने)}

व्याख्यानम्-तदुपरान्त भरद्वाज बार्हस्पत्य ऋषि अर्थात् प्राण नाम प्राथमिक प्राण से **"आ जातं जातवेदसि......" (ऋ.६.१६.४२)** अग्निदेवताक और साम्नी त्रिष्टुप् छन्दस्क ऋचा की उत्पत्ति होती है। इससे भी अग्नि तत्त्व समृद्ध होता है और इसके छान्दस प्रभाव से देवलोक अर्थात् संलयन की वेदी में तीव्र भेदक क्षमतासम्पन्न ज्वालायें उठती हैं, परन्तु उन्हीं ज्वालाओं में ही विभिन्न कणों का संधान भी होता है। विभिन्न प्रकार के छन्दों के विषय में विशेष जानकारी के लिये पूर्वपीठिका में देखें। यहाँ दो प्रकार का अग्नि बतलाया गया है- एक अग्नि वह जो नाभिकीय संलयन वा मंथन से उत्पन्न होता है, इसे **"जातः"** अर्थात् सद्य उत्पन्न कहते हैं और दूसरा अग्नि **"जातवेदाः"** जो अग्नि मंथन वा संलयन की प्रक्रिया को प्रारम्भ करने के लिये पूर्व में उत्पन्न होता है, इसे आहवनीय भी कहते हैं। ये दोनों प्रकार के अग्नि इसके प्रभाव से अच्छी प्रकार से सिद्ध होते हैं।।+।।

द्वितीय पाद का अर्थ यह है कि संलयन से उत्पन्न ऊर्जा पूर्व में उत्पन्न ऊष्मा की अतिथि है। इस ऊर्जा का एक और स्वभाव है कि यह अत्यन्त तीक्ष्ण होती है। इस प्रकार संलयन से उत्पन्न ऊर्जा पूर्व में उत्पन्न जातवेद अग्नि अर्थात् ऊर्जा के क्षेत्र में सतत गमन करती हुई और उस क्षेत्र का छेदन करती हुई बाहर की ओर संचरित हो जाती है। यहाँ एक शब्द **"प्रिय"** भी इस संलयन से उत्पन्न ऊर्जा का विशेषण प्रयुक्त हुआ है। इससे संकेत मिलता है कि तारों के भीतर संलयन से उत्पन्न तीक्ष्ण ऊर्जा वहाँ पूर्व में विद्यमान ऊर्जा को तृप्त भी करती रहती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि उस ऊर्जा की तीव्रता को क्षीण भी नहीं होने देती।।

इस ऋग्रूप तरंग का तृतीय पाद **"स्योन आ गृहपतिम्"** रूपी प्राणावयव पूर्व विद्यमान अग्नि में संलयन से उत्पन्न अग्नि को सहजता से प्रसारित कर देता है। यहाँ गृहपति नामक अग्नि वही है, जो पूर्व में विद्यमान होती है तथा यह अग्नि ऋतु संज्ञक रश्मियों को अपने साथ संयुक्त करके संरक्षित करता है। यह पूर्व उत्पन्न ऊर्जा संलयन से उत्पन्न ऊर्जा को नियन्त्रित करते हुए अपने साथ धारण कर लेती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार– नाभिकीय संलयन से उत्पन्न ऊर्जा तारे के केन्द्रीय भाग में विद्यमान ऊर्जा की अपेक्षा अति तीक्ष्ण होती है। यह ऊर्जा पूर्व विद्यमान ऊर्जा के क्षेत्र में सतत गमन करती है और फिर उस ऊर्जा का छेदन करके तारों के अन्य भाग में संचरित होकर अन्तरिक्ष में उत्सर्जित हो जाती है। इस सम्पूर्ण कार्य में उपर्युक्त साम्नी त्रिष्टुप् छन्द रश्मि विशेष उपयोगी होती है। यह दोनों प्रकार की ऊर्जाओं का संतुलन बनाये रखने में सहायक होती है।।

६. अग्निनाऽग्निः समिध्यते कविर्गृहपतिर्युवा। हव्यवाड् जुह्वास्य इत्यभिरूपा।।
यद्यज्ञेऽभिरूपं तत्समृद्धम्।।
त्वं ह्यग्ने अग्निना विप्रो विप्रेण सन्सतेति।।
विप्र इतरो विप्र इतरः सन्नितरः सन्नितरः।।
सखा सख्या समिध्यस इत्येष ह वा अस्य स्वः सखा यदग्निरग्नेः।।

{कविः = विक्रान्तदर्शनः (म.द.ऋ.भा.३.३.४), शब्दहेतुः (अग्निः) (म.द.य.भा.३३.७५), कविः क्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्वा (नि.१२.१३), असौ वाऽदित्यः कविः (श.६.७.२.४), एते वै कवयो यदृषयः (श.१.४.२.८)। जुहूभिः = जुह्वति याभिः क्रियाभिः (म.द.ऋ.भा.१.५८.४), तस्यासावेव द्यौर्जुहूः (श.१.३.२.४), द्यौरसि जन्मना जुहूर्नाम (मै.१.१.१२), वाग् जुहूः (तै.आ.२.१७.२)। विप्रः = विविधान् पदार्थान् प्राति सः किरणः (तु.म.द.ऋ.भा.१.६२.४), विप्रः मेधावीनाम (निघं.३.१५), एते वै विप्रा यद् ऋषयः (श.१.४.२.७)। ककुप् = प्राणो वै ककुप् छन्दः (श.८.५.२.४), ककुभ इति दिङ्नाम (निघं.१.६)। सखा = सखाय समानख्यानाः (नि.७.३०)}

व्याख्यानम्– इसके पश्चात् काण्वो मेधातिथि ऋषि प्राण अर्थात् महत् वा अहंकार तत्त्व को धारण करते हुए सतत गमन करने वाले मनस्तत्त्व से सम्पन्न सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न अग्निदेवताक और विराड् गायत्री छन्दस्क

अग्निनाग्निः समिध्यते कविर्गृहपतिर्युवा। हव्यवाड् जुह्वास्यः।।६।। (ऋ.१.१२.६)

की उत्पत्ति होती है। यह भी ऊर्जा को तेजस्विनी और बलवती बनाता है। इसके प्रभाव से पूर्व विद्यमान अग्नि संलयन क्रिया से उत्पन्न अग्नि को भली प्रकार से उत्पन्न एवं प्रज्वलित करता है और वह उत्पन्न होने वाला अग्नि अत्यन्त क्रान्तदर्शी अर्थात् जिसको देखना या नियन्त्रित करना संभव न हो, होता है। साथ ही यह अग्नि युवा अर्थात् मिश्रण और अमिश्रण की क्षमता से सम्पन्न तथा तेजस्वी वाक् रूपी मुख वाला होता है। यह अग्नि ऋतु संज्ञक प्राण रश्मियों का संरक्षक और विभिन्न पदार्थों का वाहक होता है। इस प्रकार यह ऋग्रूप तरंग केन्द्रीय भाग में हो रही क्रियाओं के लिये अति उपयुक्त है।।

इसकी व्याख्या पूर्वोक्तानुसार समझें।।

इसके पश्चात् विरूप आङ्गिरस ऋषि प्राण अर्थात् सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न विविध रूप वाले सूक्ष्म प्राण से अग्निदेवताक तथा ककुम्मती गायत्री छन्दस्क

त्वं ह्यग्ने अग्निना विप्रो विप्रेण सन्त्सता। सखा सख्या समिध्यसे।। (ऋ.८.४३.१४)

की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से ऊर्जा विविध दिशाओं में प्राणवती होकर तेजस्विनी होती है। ककुम्मती गायत्री का तात्पर्य यह विविध दिशा में शीघ्रता से फैलता है। इससे नवीन अग्नि पूर्व उत्पन्न अग्नि के द्वारा प्रदीप्त होता है। यहाँ दोनों प्रकार के अग्नि अर्थात् ऊर्जाओं को विप्र कहा है। ये दोनों प्रकार की ऊर्जाएं तारे के केन्द्रीय भाग के अन्दर विद्यमान विविध पदार्थों को अच्छी प्रकार परिपूर्ण करती हैं, मानो उसे जल की भाँति सींचती रहती हैं। इसलिये कहा है- **''सत् उदकनाम'' (निघं. १.१२)** इन दोनों अग्नि में भेद यह है कि संलयन से उत्पन्न अग्नि न केवल केन्द्रीय भाग अपितु सम्पूर्ण तारा मण्डल एवं अन्तरिक्ष को परिपूर्ण करता है, जबकि केन्द्रीय भाग में पूर्व में उत्पन्न जातवेदा अर्थात् आहवनीय अग्नि केवल केन्द्रीय भाग तक सीमित रहता है, परन्तु उनमें समानता यह है कि दोनों अपनी-२ मर्यादा के अन्दर प्रत्येक पदार्थ को संसिक्त कर देते हैं। इसलिये दोनों को 'सत्' कहा है। यहाँ **महर्षि ऐतरेय महीदास** दोनों ऊर्जाओं को सखा भी कहते हैं, क्योंकि ये दोनों साथ-२ अपनी मर्यादा के अन्दर सभी पदार्थों को प्रज्वलित करते हैं और इस मार्ग में आने वाले सभी प्राक् वर्णित बाधक तत्त्वों को रोकते अथवा नष्ट करते हैं। ज्ञातव्य है कि **महर्षि दयानन्द** ने **''ख्या प्रकथने''** धातु के रोकना और निराकरण करना अर्थ भी दिये हैं। **{ख्यत् = वर्जयेत् (म.द.ऋ.भा.७.३६.७)। ख्यतम् = निराकुरुतम् (म.द.ऋ.भा.५.६५.६)}** यहाँ महर्षि ने केन्द्रीय भाग में विद्यमान अग्नि को संलयन से उत्पन्न अग्नि का सखा कहा है।।+।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- तारों के केन्द्रीय भाग में विद्यमान दोनों प्रकार की ऊर्जा अपनी-२ मर्यादा के भीतर प्रत्येक कण को प्रदीप्त करती है। यह दोनों प्रकार की ऊर्जाओं में समानता है। इन दोनों में असमानता यह है कि संलयन से पूर्व उत्पन्न ऊर्जा तारों के केन्द्रीय भाग तक सीमित रहती है और वहाँ विद्यमान प्रत्येक पदार्थ को व्याप्त करती रहती है, जबकि संलयन से उत्पन्न ऊर्जा न केवल केन्द्रीय भाग बल्कि सम्पूर्ण तारा मण्डल को व्याप्त करती है। इन दोनों ऊर्जाओं को समृद्ध करने के लिए उपर्युक्त गायत्री छन्द रश्मि महती भूमिका निभाती है।।

१०. तं मर्जयन्त सुक्रतुं पुरोयावानमाजिषु। स्वेषु क्षयेषु वाजिनमिति।।
एष ह वा अस्य स्वः क्षयो यदग्निरग्नेः।।
यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा इत्युत्तमया परिदधाति।।
यज्ञेन वै तद्देवा यज्ञमयजन्त यदग्निनाऽग्निमयजन्त ते स्वर्गं लोकमायन्।।

{उशना = कान्तियुक्तः (म.द.ऋ.भा.१.१३०.६), वष्टि कामयते स उशनाः (उ.को.४.२४०)। साध्याः = साध्याः रश्मिनाम (निघं.१.५), दीर्घतमा = (तमस्तनोतेः - नि.२.१६)। नाकः = स्वर्गो वै लोको नाकः (तै.सं.५.३.७.१; श.६.३.३.१४), नाक आदित्यो भवति (नि.२.१४)। धर्मः = एष धर्मो य एष (सूर्यः) तपत्येष हीदं सर्वं धारयति (श.१४.२.२.२६)}

व्याख्यानम्- उसके पश्चात् ''उशना काव्यः'' ऋषि अर्थात् सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न विशेष आकर्षण सूक्ष्म प्राण से अग्निदेवताक और गायत्री छन्दस्क ऋषि प्राण से

तं मर्जयन्त सुक्रतुं पुरोयावानमाजिषु। स्वेषु क्षयेषु वाजिनम्।। (ऋ.८.८४.८)

की उत्पत्ति होती है। इससे भी अग्नि तेजस्वी और सबल होता है। इस ऋचा के प्रभाव से तारों के केन्द्रीय भाग में हो रहे संघर्षण स्थल में अच्छे प्रकार से क्रियाशील अग्रगामी प्राणादि पदार्थ एवं संलयनीय कण उस ऊर्जा को अपने-२ क्षेत्र में क्षुब्ध करते हैं। इसका अर्थ यह है कि उस संलयन से उत्पन्न ऊर्जा और पूर्व से विद्यमान ऊर्जा दोनों एक साथ मिश्रित होती हुई भी अपने-२ शुद्ध रूप में सदैव वर्तमान रहती हैं और वह शुद्ध रूप में वर्तमान संलयन से उत्पन्न ऊर्जा आवश्यकतानुसार सतत बहिर्गमन करती रहती है।।

जो ऊर्जा पूर्व में उत्पन्न होती है, वह बाद में अर्थात् संलयन से उत्पन्न होने वाली ऊर्जा का अपना निवास होती है।।

तदुपरान्त पूर्वोक्त दीर्घतमा ऋषि अर्थात् विशाल फैले हुए ऋषि प्राण से साध्याः देवताक तथा विराट् त्रिष्टुप् छन्दस्क ऋग्रूप तरंग

यज्ञेन॑ यज्ञम॑यजन्त दे॒वास्तानि॒ धर्मा॑णि प्रथ॒मान्या॑सन्।
ते ह॒ नाकं॑ महि॒मानः॑ सचन्त॒ यत्र॒ पूर्वे॑ सा॒ध्याः सन्ति॑ दे॒वाः।। (ऋ.१.१६४.५०)

की उत्पत्ति होती है। यह तरंग अग्नि मंथन अर्थात् संलयन कार्य में कार्यरत

अ॒भि त्वा॑ देव सवितरीशा॑नं॒ वार्या॑णाम्। सदा॑वन्भा॒गमी॑महे।। (ऋ.१.२४.३)

जिसकी चर्चा व व्याख्या इसी खण्ड के प्रारम्भ में की है, से लेकर अब तक उत्पन्न सभी बारह तरंगों को अपने अन्दर धारण कर लेती है अर्थात् यह उनका आवरण बन जाती है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से पूर्वोक्त १२ छन्द रूप तरंगें तीव्रता से बल व तेजयुक्त होती हैं। यहाँ सायणाचार्य ने **आश्वलायन** को उद्धृत किया है- **"सर्वत्रोत्तमा परिधानीयेति विद्यात्" (आश्व.श्रौ.२.१६.८)** अर्थात् सर्वत्र ही जो अन्तिम ऋग्रूप तरंग होती है, वह आवरण का ही कार्य करती है।।

इस ऋचा में कहा गया है कि पूर्व में देवों अर्थात् प्राथमिक प्राणादि तत्त्वों ने अपने परस्पर संगम से सृष्टियज्ञ प्रारम्भ किया था। पुनः संलयनीय पदार्थों से उत्पन्न ऊर्जा ने पूर्वोत्पन्न ऊर्जा के साथ संगम किया था, इस कारण देवों द्वारा यज्ञ के द्वारा यज्ञ करने की बात कही है। सम्पूर्ण सृष्टि भी एक यज्ञ है, जिसमें समय-२ पर अनेकविध यज्ञ अर्थात् संगत कर्म होते रहते हैं, इस कारण सर्वत्र यज्ञ के द्वारा यज्ञ का होना कहा है। पूर्व में उत्पन्न अग्नि भी विभिन्न प्राक्वर्णिति छन्दों की संगति से उत्पन्न हुआ था और फिर अग्नि (संलयन हेतु आवश्यक ताप) के साथ संगत होकर अग्नि मंथन क्रिया में प्रयुक्त इस खण्ड में वर्णित छन्दरूप तरंगें स्वर्ग लोक को प्राप्त करती हैं अर्थात् नाभिकीय संलयन से ऊर्जा को उत्पन्न करती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- तारों के केन्द्रीय भाग में विद्यमान उपर्युक्त दोनों प्रकार की ऊर्जा परस्पर मिश्रित होती हुई भी पृथक्-२ शुद्ध रूप में सदैव विद्यमान रहती हैं। इस कार्य में उपर्युक्त गायत्री छन्दरश्मि सहयोग करती है। इसी समय एक अन्य उपर्युक्त त्रिष्टुप् छन्दरश्मि उत्पन्न होती है, जो संलयन कार्य के समय उत्पन्न विभिन्न बारह छन्द रश्मियों को अपने अन्दर धारण कर लेती है, जिससे वे सभी रश्मियां पृथक् वा दूर होकर ऊष्मा, बल आदि को क्षीण न कर दें।।

११. तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवा इति।।
छन्दांसि वै साध्या देवास्तेऽग्रेऽग्निमा(ना)ऽग्निमयजन्त ते स्वर्गं लोकमायन्।।
आदित्याश्चैवेहाऽऽसन्नङ्गिरसश्च तेऽग्रेऽग्निनाऽग्निमयजन्त ते स्वर्गं लोकमायन्।।
सैषा स्वर्ग्याहुतिर्यदग्न्याहुतिर्यदि ह वा अप्यब्राह्मणोक्तो यदि दुरुक्तोक्तो यजतेऽथ हैषाऽऽहुतिर्गच्छत्येव देवान्न पाप्मना संसृज्यते।।

{धर्मः = आकर्षण-धारणादिगुणः (तु.म.द.ऋ.भा.६.७०.१), प्रतापः (म.द.ऋ.भा.५.१६.४)}। {नाकः = नाक आदित्यो भवति नेता रसानां नेता भासां ज्योतिषां प्रणयः (नि.२.१४), सुवर्गो वै लोको नाकः (तै.सं.५.३.७.१), संवत्सरो वाव नाकः (श.८.४.१.२४)}

व्याख्यानम्- विभिन्न देव पदार्थों अर्थात् प्राणादि तत्त्वों में प्रकाश, आकर्षण, धारण व प्रतिकर्षण आदि बल एवं गत्यादि गुण सर्गप्रक्रिया के प्रारम्भ होने के साथ ही उत्पन्न हो जाते हैं। यदि वे गुण न हों, तो सर्गप्रक्रिया प्रारम्भ ही नहीं हो सकती है। ये गुण प्राथमिक गुण हैं तथा सूत्रात्मा प्राणापानादि प्राण भी लगभग प्राथमिक कार्य पदार्थ हैं। ये प्राणादि प्राथमिक प्राण ही अपने गुणों के साथ स्वर्गलोक अर्थात् तारों के केन्द्रीय भाग की तेजस्विनी अवस्था को प्राप्त करते हैं, और उस केन्द्रीय भाग में विभिन्न छन्दरूपी तरंगें भी पूर्व अर्थात् पुरस्सर पूर्ण रूप में विद्यमान होती हैं किंवा निर्मित हो जाती हैं। **{पूर्वम् = पुरस्सरं पूर्णम् (म.द.य.भा.४०.४)** विभिन्न छन्दरूपी तरंगें ही साध्य देव कहलाती हैं। वे छन्दरूप तरंगें ही अग्नि को अग्नि के साथ संगत करके तारों के केन्द्रीय भाग में पहुंचाती हैं वा केन्द्रीय भाग का निर्माण करने में समर्थ होती हैं। इसका तात्पर्य है कि इन छन्दों द्वारा विभिन्न प्रकार के प्राण, मरुत् व सोमादि पदार्थ संगत होकर इतनी ऊर्जा उत्पन्न करते हैं, जिनसे दूसरा अग्नि (संलयन ऊर्जा) उत्पन्न हो जाता है। यह संलयन ऊर्जा तारों के केन्द्रीय भाग में ही उत्पन्न होती है। गुरुत्वाकर्षण बल से जो ऊष्मा की उत्पत्ति मानी जाती है, वह बल भी एक विशेष प्रकार के प्राणों के द्वारा ही उत्पन्न होता है। इसी केन्द्रीय भाग में विभिन्न प्रकार की मास व ऋतु नामक रश्मियाँ, जो पदार्थों वा छन्दों के बीच संधानकारिणी होती हैं तथा अंगिरस अर्थात् विद्युत् व सूत्रात्मा वायु, ये सभी मिलकर ऊर्जा (अग्नि) को उत्पन्न करके पुनः उसी ऊर्जा में अन्य ऊर्जा को संगत करके संलयन प्रक्रिया को जन्म देते एवं जारी रखते हैं। यहाँ तथा पूर्व कण्डिका में **'अग्रे'** पद इस बात का भी सूचक है कि यह संगतीकरण न केवल तारों के केन्द्रीय भाग के निर्माण के समय व वर्तमान में होता है, अपितु इसके पूर्व हिरण्यगर्भ वा नेब्यूला के अन्दर भी होता है तथा उसके पूर्व भी ऐसा ही होता है। पूर्व में प्राणापानादि रूपी आदित्य व सूत्रात्मा वायु रूपी अंगिरस् प्राण का संगतीकरण होता है। उसके कारण विद्युद्रूपाग्नि की उत्पत्ति होती है। उसका यजन अन्य प्राणों व आकाशतत्त्व से होकर कार्य अग्नि (विद्युत् ऊष्मादि) की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार पूर्व में दैवी गायत्री आदि छन्द अग्नि का अग्नि में यजन करते हैं अर्थात् वे मन व वाक् रूपी अग्नि का यजन प्राणों रूपी अग्नि के साथ करते हैं। जिनसे विभिन्न छन्दों के रूप में स्वर्ग लोक निर्मित होता है। इसी कारण कहा है- **''छन्दांसि वै स्वर्गो लोकः'' (जै.ब्रा.२.२२४)**।।+।।+।।

यह जो अग्नि की आहुति है, वह स्वर्ग को प्राप्त कराने वाली है। यहाँ अग्नि व स्वर्ग दोनों ही पृथक्-२ स्तर पर पृथक्-२ पदार्थों के नाम हैं, जैसा कि हम ऊपर भी कुछ उदाहरणों द्वारा दर्शा चुके हैं। अब यहाँ तारों के गर्भ को ही स्वर्ग मानकर महर्षि लिखते हैं कि तारों के गर्भ में वे कण, जो ब्राह्मण अर्थात् विद्युदावेशयुक्त हों अथवा नहीं भी हों, वे भी परस्पर संलयित वा संगत होकर ऊर्जा को उत्पन्न करके तारे का निर्माण करने में समर्थ होते ही हैं। यहाँ बहुत गम्भीर संकेत है। वर्तमान विज्ञान की दृष्टि में सूर्यादि तारों में प्रोटोन्स वा बड़े नाभिकों का संलयन होकर ऊर्जा की उत्पत्ति होती है। ये धनावेशित कण हैं परन्तु यह अब्राह्मण अर्थात् निरावेशित कणों के संलयन की भी बात कही गयी है। इससे न्यूट्रोन्स आदि के संलयन की भी पुष्टि होती है।

क्या कुछ तारे ऐसे भी हैं, जहाँ न्यूट्रोन्स का भी संलयन होता हैं? यह अनुसंधान का विषय है। न्यूट्रॉन स्टार्स में प्रोटोन व इलेक्ट्रॉन मिलकर न्यूट्रॉन बनाते हैं और उन स्टार्स में न्यूट्रॉन्स ही होते हैं। यहाँ भी केवल वैद्युत कणों के संलयन की पुष्टि होती है। इसके बाद की स्थिति ब्लैक होल के समान ही हो सकती है। प्रो. ऐ. के. मित्रा ब्लैक होल की प्रचलित धारणा के स्थान पर **MECO (Magnetic Eternally Collapsing Object)** का सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं, जो हमें भी ब्लैक होल की प्रचालित धारणा की अपेक्षा अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। हमारी दृष्टि में जो **MECO** में इलेक्ट्रॉन्स व ग्लूऑन के प्लाज्मा की उपस्थिति प्रो. मित्रा बताते हैं, वह इस बात का संकेत है कि वहाँ न्यूट्रॉन्स का भी संलयन अथवा विखण्डन हो चुका होता है। दोनों ही स्थिति में ऊर्जा का अपार स्रोत बनेगा ही, जिसे यहाँ स्वर्ग लोक कहा है। इसी कारण ब्राह्मण (आवेशित कण) अथवा अब्राह्मण (निरावेशित) दोनों के यजन से स्वर्ग लोक अर्थात् तारे के निर्माण की बात कही गयी है। आवेश व निरावेश की चर्चा के उपरान्त महर्षि एक अन्य विषय और स्पष्ट करते हैं कि यदि तारों के केन्द्रीय भाग में कुछ छन्द व मरुत् कुछ विकृत भी हो जाएं, तो भी नाभिकीय संलयन प्रारम्भ होने के पश्चात् वे छन्द वा मरुत् भी संगत होकर संलयन क्रिया के साधक ही बनते हैं, न कि बाधक। उस समय विभिन्न पदार्थ पाप अर्थात् वरुण पाश तथा असुर नामक हिंसक विद्युद्रूपाग्नि से संसर्ग नहीं करते। ध्यातव्य है कि यहाँ कुछ ही

छन्द वा मरुत् विकृत होने के विषय में उनकी विकृति की उपेक्षा की गयी है, न कि सभी छन्द वा मरुतों के विकृत होने की। यदि सर्वथा विकृत हो जाए, तो संलयन क्रिया प्रारम्भ होने के उपरान्त भी बन्द वा अवरुद्ध हो सकती है, क्योंकि अनेक विकृतियों में हिंसक विद्युद्रूपाग्नि वा वरुण पाश सभी प्रक्रियाओं को छिन्न-भिन्न कर सकते हैं। दूसरी बात यह भी ध्यातव्य है कि सामान्य किञ्चिद् विकृति की उपेक्षा भी नाभिकीय संलयन प्रारम्भ होने के उपरान्त ही की गयी हैं, न कि सर्वत्रैव।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस सृष्टि प्रक्रिया का प्रारम्भ विभिन्न मन, वाक् आदि प्रथम उत्पन्न कार्य पदार्थ से होता है। विभिन्न पदार्थों (कण वा तरंग) में बल, गति आदि की उत्पत्ति से ही संयोग-वियोग वा संलयन की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। प्राथमिक प्राणादि रश्मियों से छन्द रश्मियों और उन से सभी पदार्थ विभिन्न संगत कर्मों के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। तारों के अन्दर विभिन्न प्राण रश्मियों का विशाल भण्डार होता है, जिनके संगत होने पर ही ऊर्जा की उत्पत्ति होती है। तारों के केन्द्रीय भाग में विद्यमान मास व ऋतु संज्ञक रश्मियां सभी छन्द रश्मियों के बीच संधानक का कार्य करती हैं तथा प्रथम ऊष्मा को उत्पन्न करने में विशेष सहायक होती हैं। नेब्यूला के अन्दर ऊर्जा की उत्पत्ति में भी ये रश्मियां ही मुख्य कारण होती हैं। नेब्यूला की उत्पत्ति के पूर्व भी अनेक बार विभिन्न संगतियों के कारण सृष्टि की विभिन्न स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। यहाँ महर्षि कुछ ऐसा संकेत भी कर रहे हैं कि **कुछ तारों के अन्दर निरावेशित कणों (हमारी दृष्टि में न्यूट्रॉन्स) का भी संलयन होता है।** हमें प्रतीत होता है कि प्रो. ए. के. मित्रा के द्वारा परिभाषित व प्रस्तुत **Magnetic Eternally Collapsing Object** भी ऐसा ही स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। यहाँ महर्षि एक बात और लिखते हैं कि नाभिकीय संलयन प्रारम्भ होने के पश्चात् कुछ रश्मियाँ आदि पदार्थ विकृत भी हो जाएं, तो भी अत्यन्त उच्च ताप उन विकृतियों को दूर कर सामान्य प्रक्रिया बनाये रखता है। इसे स्पष्टता और विस्तार से समझने के लिए व्याख्यान भाग अवश्य पढ़ें।।

१२. गच्छत्यस्याऽऽहुतिर्देवान्नास्याऽऽहुतिः पाप्मना संसृज्यते य एवं वेद।।
ता एतास्त्रयोदशान्वाह रूपसमृद्धाः।।
एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृगभिवदति।।
तासां त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमां, ताः सप्तदश संपद्यन्ते, सप्तदशो वै प्रजापतिर्द्वादश मासाः पञ्चर्तवस्तावान् संवत्सरः, संवत्सरः प्रजापतिः, प्रजापत्यायतनाभिरेवाऽऽभी राध्नोति य एवं वेद, त्रिः प्रथमां त्रिरुत्तमामन्वाह यज्ञस्यैव तद्बर्सौ नह्यति स्थेम्ने बलायाविस्रंसाय।।५।।

व्याख्यानम्- उपर्युक्त प्रकार की परिस्थिति बनने पर विभिन्न पदार्थ देवत्व को प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् वे प्रकाशमान वा देदीप्यमान हो उठते हैं। बाधक हिंसक विद्युत् वा वरुण पाश आदि ऐसे कणों वा लोकों को अपने साथ संगत नहीं कर पाते अर्थात् उन्हें बाधित नहीं कर पाते।।

उपर्युक्त तेरह ऋग्रूप तरंगें रूपसमृद्ध कहलाती हैं, क्योंकि इनके द्वारा तारे का यज्ञ समृद्ध होता है। शेष पूर्ववत्।।+।।

अब पूर्वोक्त तेरह ऋचाओं के विषय में पूर्ववत् कुछ और स्पष्टीकरण करते हैं कि उन तेरह ऋचाओं में से प्रथम व अन्तिम ऋग्रूप तरंगों की तीन-२ बार आवृत्ति होती है। इस प्रकार वे कुल मिलाकर सत्रह तरंगें हो जाती हैं। ये सत्रह तरंगें प्रजापतिस्वरूप होती हैं क्योंकि इनके कारण विभिन्न प्रजारूप पदार्थों का निर्माण व संरक्षण होता है। इन ऋचाओं के बिना तारों के अन्दर विद्यमान विभिन्न तत्त्वों का निर्माण संलयन के माध्यम से हो ही न सके। उधर तारों में भी बारह प्रकार की संधानक व ऊष्मा की उत्पादक मास रश्मियों तथा पांच प्रकार की ऋतु रश्मियों का निर्माण सम्भव न हो सके। इस कारण तारों को भी प्रजापति कहते हैं। जब इन सत्रह ऋग्रूप तरंगों तथा मास, ऋतु नामक सत्रह

रश्मियों की उत्पत्ति होती है, तब विभिन्न पदार्थ तारे का रूप धारण करके सर्ग प्रक्रिया को संचालित करने में सफल होते हैं। इस कारण प्रथम और अन्तिम ऋचा की तीन-२ बार आवृत्ति होती है और इस आवृत्ति से मानो संलयन रूपी यज्ञ के दोनों किनारे इस त्रि-आवृत्ति की गांठों से कसकर बंध जाते हैं, जिससे यज्ञ प्रक्रिया अर्थात् तारों के निर्माण की प्रक्रिया बाधित नहीं हो पाती। इस प्रकार वह सर्ग यज्ञ स्थिर व सक्रिय-शक्तिशाली बना रहता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्व प्रकरण में उत्पन्न तेरह (१३) छन्द रश्मियों में से प्रथम और अन्तिम रश्मियों की तीन-२ बार आवृत्ति होती है और ये दोनों ही रश्मियां अन्य रश्मियों को अपने साथ बांधे रखती है।।

ॐ इति ३.५ समाप्तः ॐ

꧁ अथ ३.८ प्रारभ्यते ꧂

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. समिधाऽग्निं दुवस्यताऽऽप्यायस्व समेतु त इत्याज्यभागयोः पुरोऽनुवाक्ये भवत आतिथ्यवत्यौ रूपसमृद्धे एतद् वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृगभिवदति।।
सैषाऽऽग्नेय्यतिथिमती न सौम्याऽतिथिमत्यस्ति यत्सौम्याऽतिथिमती स्याच्छश्वत्सा स्यात्।।

व्याख्यानम्- पूर्व खण्ड में संलयन से उत्पन्न **'जातः'** अग्नि को वहाँ पूर्व में उत्पन्न **'जातवेदा'** अर्थात् आहवनीय अग्नि का अतिथि कहा गया है। {**आज्यभागौ = वज्र आज्यभागौ (तै.सं.२.६.२.४), चक्षुर्वा आज्यभागौ (कौ.ब्रा.३.५)**} यहाँ उसी अग्नि वा ऊर्जा की प्रकारान्तर से चर्चा करते हुए लिखते हैं कि दो ऋग्रूप तरंगें

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन्हव्या जुहोतन।। (ऋ.८.४४.१)
आ प्यायस्व समेतु ते विश्वतः सोम वृष्ण्यम्। भवा वाजस्य संगथे।। (ऋ.१.९१.१६)

उस ऊर्जा तरंगों के साथ संगत होती हैं। इनमें से प्रथम तरंग विरूप आङ्गिरस ऋषि अर्थात् विविध रूपों वाले सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न सूक्ष्म प्राण से उत्पन्न होती है। इसका देवता अग्नि तथा छन्द गायत्री होने से यह उस ऊर्जा के फोटोन्स के साथ संयुक्त होकर उसके तेज व बल को समृद्ध करती है। यह तरंग उस फोटोन्स के अन्दर सतत प्रवहमान होती हुयी उसे प्रकाशक बनाने में भी सहयोगी होती है। इसी कारण इसे आज्य भाग अर्थात् चक्षु कहा है। इसी के कारण ये फोटोन्स अधिक प्रकाशशील होते हैं। उधर दूसरी तरंग राहूगण गोतम ऋषि अर्थात् धनञ्जय प्राण से उत्पन्न होती है। इसका देवता सोम तथा छन्द पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री होने से इससे सोम तत्त्व तेजस्वी व बलवान् होता है। इसके देवता से हमें यह स्पष्ट अवश्य होता है कि ऊर्जा के फोटोन्स के साथ भी तेजस्वी सोम अर्थात् सूक्ष्म मरुत् भी संयुक्त होते हैं। इसके साथ ही हमारा मत यह भी है कि इस सोम का उत्पादक धनञ्जय प्राण भी फोटोन्स के साथ चलता है। यह सोम व इसका उत्पादक धनञ्जय प्राण सब ओर से बलयुक्त होकर उस फोटोन को आप्यायित करके अच्छी प्रकार से इस ऋग्रूप तरंग को साथ लेकर तीव्र गमन करता है। ये दोनों तरंगें आज्यभाग होने से चक्षुवत् उस संगत फोटोन को प्रदीप्त वा देदीप्यमान बनाती हैं। ये उस फोटोन की पुरोनुवाक्या तथा याज्या की भाँति अन्तरिक्ष को अपने साथ संगत करती हुयी फोटोन के साथ संगत होती हैं। पुरोऽनुवाक्या व याज्या का भाव पूर्ववत् समझें। यहाँ कुछ विशेष यह और समझें कि पुरोऽनुवाक्या होने से **प्रथम** ऋचा फोटोन को प्रकाश व आकाशतत्त्व के साथ संगत करती है तथा याज्या होने से दूसरी ऋचा उस फोटोन की किसी इलेक्ट्रॉनादि से क्रिया (अवशोषणादि) कराने में सहायक होती है। ये दोनों ऋचाएं अतिथि धर्म वाली होने से उस फोटोन के अन्दर सतत प्रवाहित होकर उसके रूप व उसकी क्रियाशीलता को समृद्ध करती है। यही समृद्धि यज्ञ समृद्धि है। शेष पूर्वानुसार।।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि पूर्वोक्त में से अग्निदेवताक प्रथम ऋचा में तो **'अतिथिम्'** पद की विद्यमानता होने से उसे फोटोन के अन्दर एवं साथ में सतत गमनशील मान सकते हैं परन्तु द्वितीय ऋचा, जो सोमदेवताक है, उसमें अतिथि पद नहीं होने से उसे कैसे अतिथिवती कहा गया है? प्रथम

कण्डिका में **'आतिथ्यवत्यौ'** पद की सार्थकता वा सत्यता तभी होती, जब द्वितीय ऋचा में भी 'अतिथि' पद विद्यमान होता। ऐसा वस्तुतः है, नहीं तब प्रथम कण्डिका में **'आतिथ्यवत्यौ'** पद अनुपयुक्त है। इसका उत्तर आगे दिया गया है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उपर्युक्त गायत्री छन्द रश्मि (प्रथम) और दूसरी गायत्री छन्द रश्मि फोटोन्स के साथ संयुक्त होकर आती है तथा **फोटोन्स के साथ मरुद् रूपी सूक्ष्म रश्मियाँ और धनञ्जय प्राण भी चलता है। विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की तीव्र गति का कारण यह धनञ्जय प्राण ही होता है। प्रथम छन्द रश्मि के कारण फोटोन्स प्रकाशमान होकर आकाश तत्त्व से जुड़े रहते हैं और दूसरी छन्द रश्मि किसी फोटोन को इलेक्ट्रॉन द्वारा अवशोषित करने में विशेष भूमिका निभाती है। ये दोनों ही रश्मियाँ फोटोन्स में व्याप्त हो जाती हैं।** भाष्यसार को अधिक स्पष्टता से समझने के लिए व्याख्यान भाग अवश्य पढ़ें।।

२. एतत्त्वेवैषाऽतिथिमती यदापीनवती।। यदा वा अतिथिं परिवेविषत्या पीन इव वै स तर्हि भवति।।

व्याख्यानम्- उपर्युक्त शंका का समाधान करते हुए महर्षि लिखते हैं कि जो द्वितीय सौम्य ऋचा है, उसमें 'अतिथि' पद भले ही विद्यमान नहीं है, परन्तु वह आपीनवती अवश्य है। यद्यपि इस ऋचा में **'आपीन'** शब्द भी नहीं है परन्तु आपीन शब्द **'ओप्यायी वृद्धौ'** धातु से निष्पन्न है, उसी प्रकार इसी धातु का क्रियापद **'आप्यायस्व'** की विद्यमानता से इसे आपीनवती कहा है। यह धातु भी निरन्तर सब ओर से बढ़ने व व्याप्त होने के अर्थ में प्रयुक्त होती है, इस कारण इसका प्रभाव 'अतिथि' पद के समान ही होता है। इसी कारण इसे भी अतिथिवती कहा गया है। यहाँ शब्द की नहीं बल्कि परिणाम की प्रधानता को ध्यान में रखा है। यहाँ आचार्य सायण ने **महर्षि आश्वलायन** को भी उद्धृत किया है- **''धाय्ये। अतिथिमन्तौ समिधाऽग्निं दुवस्यताऽऽप्यायस्व समेतु त इति।'' (आश्व.श्रौ.४.५.३)** अर्थात् यहाँ उपर्युक्त दोनों ऋचाओं को अतिथिवती कहा है।।

जब अतिथि अर्थात् सतत गमनशील पदार्थ किसी पदार्थ को चारों ओर से घेर लेता है, तब वह सब ओर वृद्धि को प्राप्त होता है। इस कारण **'आपीन'** शब्द **'अतिथि'** का उपलक्षक है। इस कारण इस ऋचा को भी अतिथिवती कहा गया है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- विशेष नहीं है।।

३. तयोर्जुषाणेनैव यजति।। इदं विष्णुर्विचक्रमे तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यामिति वैष्णव्यौ।। त्रिपदामनूच्य चतुष्पदया यजति।।

{जुषाणः = (जुषी प्रीतिसेवनयोः), ब्रह्म वै जुषाणः (कौ.ब्रा.३.५)}

व्याख्यानम्- उन उपर्युक्त अतिथिवती छन्द रश्मियों को **'जुषाण'** से प्रारम्भ होने वाली दो ऋचाओं के साथ संगत किया जाता है। यहाँ आचार्य सायण ने **'जुषाणोऽग्निराज्यस्य वेतु'** एवं **'जुषाणः सोम आज्यस्य हविषो वेतु' (तै.ब्रा.३.५.६)** इन दो ऋचाओं को ही जुषाणवती माना है। इनका छन्द क्रमशः याजुषी पंक्ति एवं याजुषी भुरिग् जगती है, एवं देवता जुषाण है। इसके दैवत एवं छान्दस प्रभाव से पूर्वोक्त अतिथिवती दोनों छन्द रश्मियां अधिक संगमनीय और विस्तृत होकर प्राणापान वा प्राणोदान रूपी ब्रह्म से अधिक मात्रा में संगत होती हैं। इस कारण उन छन्द रश्मियों का पूर्वोक्त गुण वा प्रभाव और भी अधिक समृद्ध होता है। **{वेतु = (वेति कान्तिकर्मा - निघं.२.६), (वेति गतिकर्मा - निघं.२.१४, वेति अत्तिकर्मा - निघं.२.८)}** इनके अन्य प्रभाव से अग्नि विभिन्न आज्यों **{आज्यम् = यजमानो वा आज्यम्**

(तै.ब्रा.३.३.४.४), छन्दांसि वा आज्यम् (तै.ब्रा.३.३.५.३)} अर्थात् विभिन्न संगमनीय छन्द रश्मियों को और भी अधिक गतिशील एवं आकर्षण बलयुक्त, अवशोषण क्षमता सम्पन्न बनाता है। यहाँ अग्नि का तात्पर्य प्राण रश्मियाँ समझना चाहिये। द्वितीय छन्द रश्मि के प्रभाव से सोम तत्त्व विशेष आकर्षण बलयुक्त होकर अन्य विविध हवनीय छन्द रश्मियों के साथ तीव्रता से संगत होता है। इस प्रकार अग्नि रूपी प्राण और सोम रूपी मरुद् रश्मियां व्यापक रूप से समृद्ध और क्रियाशील होकर पूर्वोक्त अतिथिवती दोनों छन्द रश्मियों को अपने साथ संगत करके अधिक क्रियाशील बनाती हैं।।

"इदं विष्णुर्वि चक्रमे......" (ऋ.१.२२.१७) तथा **"तदस्य प्रियमभि पाथो अश्याम्......" (ऋ.१.१५४.५)** के विषय में **"वैष्णवो भवति, विष्णुर्वै यज्ञः......"** (खण्ड **१.१५** में) द्रष्टव्य है। विशेष अग्रिम दो कण्डिकाओं में पढ़ें।।

उपर्युक्त दोनों छन्द रश्मियों में से प्रथम रश्मि पुरोऽनुवाक्या और द्वितीय रश्मि याज्या कहलाती है, जिनके विषय में हम पूर्ववत् समझ सकते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- तदुपरान्त एक पंक्ति व एक जगती छन्द रश्मि उत्पन्न होकर अन्य छन्द रश्मियों को परस्पर संगत करने में अधिक समर्थ बनाती हैं। इसके साथ ही एक गायत्री तथा एक त्रिष्टुप् छन्द रश्मि उत्पन्न होकर उस संगम प्रक्रिया को समृद्ध करती हैं, जिससे नाना कणों का संयोग तीव्रतर होने लगता है।।

४. सप्त पदानि भवन्ति; शिरो वा एतद्यज्ञस्य यदातिथ्यं, सप्त वै शीर्षन् प्राणाः शीर्षन्नेव तत्प्राणान् दधाति।।

व्याख्यानम्- उपर्युक्त दोनों ऋचाओं में कुल सात पाद होते हैं। उपरिवर्णित दो ऋचाओं में कुल सात पाद (क्रमशः ३ व ४) हैं। मानो इनसे उनसे पूर्व वाली अतिथिवती दोनों ऋचाओं का आतिथ्य किया जाता है। इसका तात्पर्य है कि ये ऋचाएं अतिथिवती ऋचाओं के साथ व्याप्त हो जाती हैं और इनकी उनमें व्याप्ति ही नाभिकीय संलयन से उत्पन्न ऊर्जा के प्रकाशरूप शिर के समान है। इसका तात्पर्य है कि इन सप्तपदा दो ऋचाओं के व्याप्त हो जाने से फोटोन और तेजस्वी हो जाते हैं, साथ ही वे स्पष्टतर होकर बहिर्गमन करने योग्य हो जाते हैं। जिस प्रकार हमारे सिर में सात इन्द्रियां रूपी सात प्राण होते हैं, जो मानो जीवात्मा के प्रकाशक होते हैं। वे सात इन्द्रियां हैं- मन, वाक्, चक्षु, रसना, श्रोत्र, स्पर्श, घ्राण। इन सातों के बिना शरीर का होना व्यर्थ है। उसी प्रकार उपर्युक्त ऋचाओं के सात पाद भी संलयन यज्ञ शिर के अन्दर मानो सात इन्द्रियरूपी प्राण हैं, जिनसे ही पूर्व सम्पन्न हुए तारों का यज्ञ सफल होता है। इससे यह भी सम्भव है कि इन सप्तपदा दो ऋचाओं के प्रभाव से सात शीर्ष प्राण अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, देवदत्त व धनञ्जय अथवा धनञ्जय, सूत्रात्मा, प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, तारों के भीतर अधिक सक्रिय होते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उपर्युक्त दोनों छन्द रश्मियाँ तारों के केन्द्रीय भाग से फोटोन्स को बाहर संचरित करने में विशेष सहयोगी होती हैं और इनके प्रभाव से ही प्राणापान आदि प्राथमिक प्राण केन्द्रीय भाग में विशेष सक्रिय हो जाते हैं।।

५. होतारं चित्ररथमध्वरस्य प्रप्रायमग्निर्भरतस्य शृण्व इति स्विष्टकृतः संयाज्ये भवत आतिथ्यवत्यौ रूपसमृद्धे, एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृगभिवदति।। त्रिष्टुभौ भवतः सेन्द्रियत्वाय।।

व्याख्यानम्- उपर्युक्त ऋग्रूप तरंगों के साथ ही

होता॑रं चि॒त्ररथमध्व॒रस्य॑ य॒ज्ञस्य॑यज्ञस्य के॒तुं रुश॑न्तम्।
प्रत्य॑र्धिं दे॒वस्य॑देवस्य म॒ह्ना श्रि॒या त्व१॒ग्निमति॑थिं जना॑नाम्।। (ऋ.१०.१.५)

प्रप्रायम॒ग्निर्भ॒रत॑स्य शृण्वे॒ वि यत्सूर्यो॒ न रोच॑ते बृ॒हद्भाः।
अ॒भि यः पूरुं पृत॑नासु त॒स्थौ द्यु॒ता॒नो दैव्यो॒ अति॑थिः शुशोच।। (ऋ.७.८.४)

भी पुरोऽनुवाक्या वा याज्या के रूप में उत्पन्न होती हैं। इनमें से प्रथम ऋचा 'त्रितः' ऋषि प्राण अर्थात् प्राणापानोदान के संयुक्त रूप से उत्पन्न होती है। द्वितीय ऋचा वसिष्ठ अर्थात् प्राण नामक ऋषिप्राण से उत्पन्न होती है। इन दोनों का देवता अग्नि तथा छन्द क्रमशः निचृत् त्रिष्टुप् तथा त्रिष्टुप् होने से ऊर्जा का तेज व बल अति तीव्र व हिंसक हो जाता है। इन दोनों छन्द रश्मियों का अन्य प्रभाव निम्न-क्रमानुसार होता है-
(१) {केतुः = रश्मयः केतवः (नि.१२.१५), प्रज्ञानाम (निघं.३.६)} अग्नि तत्त्व अपने दीप्तिमान् प्रकाश से समृद्ध होकर नाना प्रकार के संगति एवं प्रकाशन आदि कर्मों को विभिन्न प्राण रश्मियों के योग से समृद्ध करता है। वह विभिन्न परमाणुओं का आश्चर्यजनक वाहन बनकर सम्पूर्ण लोक में निरन्तर गमन करता है।
(२) वह अग्नि धारण और पोषण आदि गुणों से युक्त विभिन्न प्राण रश्मियों के द्वारा सूर्य के समान तीव्रता से प्रकाशित होता है। वह व्यापक रूप से नाना प्रकार के विकिरण समूहों में स्थित होकर नाना परमाणु आदि पदार्थों को प्रकाशित और गतिशील करता है। इसके साथ ही वह सूर्यादि लोकों के रूप नाना प्रकार के परमाणु आदि पदार्थों को उत्पन्न भी करता है।

इन दोनों ऋचाओं में प्रथम ऋचा पुरोऽनुवाक्या तथा द्वितीय ऋचा याज्या कहाती है, जिसका आशय पूर्ववत् समझें। ये दोनों ऋचाएं स्विष्टकृत् अर्थात् पूर्वोक्त सभी ऋचाओं अर्थात् तरंगों की क्रिया को अच्छा स्वरूप वा प्रतिष्ठा प्रदान करती हैं। इन दोनों ऋचाओं में भी अतिथि पद विद्यमान होने से यह पूर्व आतिथ्य अर्थात् फोटोन्स के साथ पूर्व तरंगों का सातत्य गमन वा व्यापकता को समृद्ध करती हैं। शेष रूपसमृद्धि आदि विषय पूर्ववत् समझें।।

उपर्युक्त ऋग्रूप तरंगें त्रिष्टुप् छन्दस्क होने से अग्नि को वीर्यवान् बनाने में सहयोग करती हैं अर्थात् इससे ऊर्जा और भी तीक्ष्ण व तप्त होती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- दो छन्द रश्मियाँ, जिनमें से प्रथम निचृत् त्रिष्टुप् एवं द्वितीय त्रिष्टुप् छन्द रश्मि ऊर्जा को अत्यन्त तीव्र बना देती हैं। इनसे ऊर्जा सतत संचरण करने वाली, विभिन्न कणों की वाहक, अति दीप्ति और प्रकाशयुक्त, अन्य पदार्थों की प्रकाशक, विभिन्न पदार्थों की धारक और पोषक, विशाल तारे को प्रकाशित करने वाली, विभिन्न किरण समूहों के रूप में चलने वाली, विभिन्न तत्त्वों को उत्पन्न व प्रेरित करने वाली होती है। ये छन्द रश्मियाँ पूर्व रश्मियों का आधार होती हैं।।

६. इळान्तं भवतीळान्तेन वा एतेन देवा अराध्नुवन्यदातिथ्यं, तस्मादिळान्तमेव कर्तव्यम्।।
प्रयाजानेवात्र यजन्ति नानुयाजान्।।
प्राणां वै प्रयाजानुयाजास्ते य इमे शीर्षन् प्राणास्ते प्रयाजा येऽवाञ्चस्तेऽनुयाजाः स योऽत्रानुयाजान् यजेद्यथेमान् प्राणानालुप्य शीर्षं धित्सेत्तादृक्तत्।।
अतिरिक्तं तत्समु वा इमे प्राणा विद्रे ये चेमे ये चेमे,।।
तद्यदेवात्र प्रयाजान् यजन्ति नानुयाजांस्तत्र सकाम उपाप्तो योऽनुयाजेषु योऽनुयाजेषु।।६।।

{इडा = इडेति वाङ्नामसु पठितम् (निघं.१.११), इडेति पृथिवीनाम (निघं.१.१), गोनाम (निघं.२.११), उत मैत्रावरुणी (इडा) इति। यदेव (इडा) मित्रावरुणाभ्यां ७ं समगच्छत (श. १.८.१.२७), (मित्रावरुणौ = प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ - श.१.८.३.१२)}

व्याख्यानम्- उपर्युक्त ऋग्रूप तरंगों का सातत्य गमन एवं तारे के केन्द्रीय भाग में अन्य पूर्वोक्त तरंगों के संलयन से उत्पन्न ऊर्जा के साथ सातत्य गमन अन्त में ऐसी रश्मियों को उत्पन्न करता है, जो सुदूर अंतरिक्ष में गमन करने के अनुकूल होती हैं। ये तरंगें प्राण और अपान दोनों ही से संयुक्त होती हैं। इन रश्मियों के उत्पन्न होने के कारण तारे के सम्पूर्ण क्षेत्र में सभी तत्त्व प्रकाश और ऊर्जा से सम्पन्न हो जाते हैं। इस कारण तारों के केन्द्रीय भाग में नाभिकीय संलयन की प्रक्रिया अर्थात् पूर्णत्व का अन्त इस प्रकार की रश्मियों को उत्पन्न करने से होता है। यदि इस प्रकार की रश्मियां तारों के बाहर उत्सर्जित न हो सकें, तो वह तारा नहीं कहलायेगा बल्कि वह अन्धकारपूर्ण एक विशाल पिण्ड का रूप ले लेगा, जैसे कि पृथिवी आदि लोक हुआ करते हैं।।

पूर्वोक्त आतिथ्य इष्टि अर्थात् विभिन्न ऋग्रूप तरंगों का केन्द्रीय भाग में उत्पन्न ऊर्जा के साथ सातत्य गमन एवं व्यापन आदि क्रिया के समय प्रयाज अर्थात् प्राण तत्त्व की प्रधानता रहती है, अपान तत्त्व की नहीं। प्राण तत्त्व आकर्षण गुण प्रधान होता है और अपान तत्त्व प्रतिकर्षण गुण प्रधान, इस कारण इस सूक्ष्म प्रक्रिया में प्राण तत्त्व अधिक आवश्यक होता है। ध्यातव्य है कि प्राण और अपान दोनों साथ ही रहते हैं, इस कारण यहाँ प्रधानता के आधार पर ही प्राण की विद्यमानता और अपान की अविद्यमानता मानी गयी है।।

{विशेष ज्ञातव्य- महर्षि यास्क ने निरुक्त में कहा है- **गौः आदित्यो भवति, गमयति रसान्, गच्छत्यन्तरिक्षे। (नि.२.१४)** इसका तात्पर्य है कि सूर्य से बाहर गमन करने वाली कुछ रश्मियाँ रसों का हरण करके तारों के पास वापिस लौटकर उस रस के द्वारा उस तारे को समृद्ध करती हैं। **यह विशेषरूप से अन्वेषणीय है कि तारों के अन्दर ईन्धन के कुछ भाग की आपूर्ति इन्हीं रश्मियों के द्वारा लाये हुए रस के कारण तो नहीं होती है?** वर्तमान विज्ञान सूर्य के अन्दर ऊर्जा की उत्पत्ति प्रोटोन्स के संलयन के कारण मानता है और सभी प्रोटोन्स के संलयन के पश्चात् सूर्य का अन्त हो जायेगा, यह भी मानता है। हमारी इस विषय में कुछ प्रख्यात खगोल वैज्ञानिकों से चर्चा हुई, वे इस बात से सहमत नहीं हैं कि तारों में ईन्धन की आपूर्ति कहीं बाहर से भी होती है परन्तु हमारी दृष्टि में सूर्य की ही कुछ रश्मियां सुदूर अतंरिक्ष में जाकर सोम पदार्थ एवं तत्प्रेरित प्रोटोन्स आदि को सूर्य के अन्दर वापिस लाती रहती हैं। जब इस प्रक्रिया में कमी आती है, तभी सूर्य के ईन्धन समाप्त होने और उसके नष्ट होने की स्थिति बनती है}

प्रयाज और अनुयाज दोनों ही प्राणरूप होते हैं। इसका तात्पर्य है कि प्राण और अपान दोनों ही प्राणरूप होते हैं। प्राण किसी फोटोन के ऊपरी अथवा शिरोभाग में संयुक्त होता है और अपान अधोभाग में। लेकिन जब उपर्युक्त ऋग्रूप तरंगें फोटोन के साथ गमन करती हैं अथवा संयुक्त होती हैं, तब प्राण तत्त्व की विशेष प्रधानता होती है। **ऐतरेय आरण्यक २.४.१** में कहा गया है **'नवकपालं वै शिरः'** इससे यह प्रतीत होता है कि खण्ड **१.१५** में जो नवकपालों से नौ प्राणों की चर्चा की है, उन मास नामक ऋग्रूप तरंगों में भी प्राण नामक प्राथमिक प्राण की प्रधानता होती है, जिसके कारण वे रश्मियाँ विभिन्न नाभिकों के संलयन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं और वरुण संज्ञक तीन रश्मियों का निवारण करके संलयन कार्य में सम्भावित बाधा को दूर किया जाता है। ये वरुण रश्मियाँ अपान प्रधान होती हैं, इसलिए कहा गया है- **अपानो वरुणः (तै.सं.५.३.४.२)।** यदि उपर्युक्त प्रकरण में प्राण के स्थान पर अपान की प्रधानता हो जाये, तो शिररूपी नौ पूर्वोक्त मास रश्मियों में से प्राण तत्त्व लुप्त होकर अपान की प्रधानता हो जाये, जिससे संलयन क्रिया ही सम्भव न हो, साथ ही पूर्वोक्त अतिथि संज्ञक ऋग्रूप तरंगों के फोटोन्स के साथ संयोग के समय अपान तत्त्व की प्रधानता होने से वह संयोग नहीं हो पायेगा अथवा सम्यक् प्रकार से नहीं हो पायेगा। जिसके कारण फोटोन्स का बहिर्गमन और

उनकी तेजस्विता बाधित होगी। प्रयाज और अनुयाज के विषय में अन्यत्र भी कहा गया है- '**प्राणा वै प्रयाजाः अपाना अनुयाजास्तस्मात् प्रयाजाः प्राञ्चो हूयन्ते तद्धि प्राणरूपम् प्रत्यञ्चोऽनुजास्तदपानरूपम्' - इति (श.११.२.७.२७)।** विभिन्न रासायनिक क्रियाओं में प्राण और अपान दोनों की भूमिका लगभग समान होती है एवं नाभिकीय विखण्डन, तारों के विस्फोट आदि में अपान की भूमिका प्राण की अपेक्षा अधिक होती है परन्तु नाभिकीय संलयन में प्राण की भूमिका अपान की अपेक्षा विशेष होती है।।

प्राण के साथ अपान की समानता में यह दोष भी उपस्थित होता है कि जब ये दोनों प्राण एक साथ एक ही स्थान पर विद्यमान हो जायेंगे अर्थात् एकत्रित हो जायेंगे तो उपर्युक्त दोषों को ही प्राप्त करेंगे। यहाँ (**विद्रे क्रियापद विन्दन्ति-लभन्ते**) के अर्थ में प्रयुक्त है। यहाँ (**चेमे, चेमे**) का दो बार प्रयोग इस बात का संकेत है कि महर्षि बलपूर्वक यह कहना चाहते हैं कि अपान और प्राण का एकत्रीभाव उपर्युक्त दोषों को उत्पन्न अवश्य करेगा, जिससे नाभिकीय संलयन की क्रिया हो ही नहीं पायेगी।।

संलयन क्रिया में प्रयाज अर्थात् प्राण नामक प्राण के कारण ही वे सभी वे कार्य भी सम्पन्न हो जाते हैं, जिनके लिये अनुयाज अर्थात् अपान की आवश्यकता होती है। वस्तुतः अपान का कर्म विशेषकर प्रतिकर्षण बल उत्पन्न करना है और प्रतिकर्षण बल का भी यही उद्देश्य होता है कि कोई भी दो कण परस्पर किसी क्रिया विशेष को सम्पन्न कर सकें। उनके बीच दूरी इतनी कम न हो जाये कि विभिन्न मिलकर एक ही कण का रूप ले लें, जिससे सृष्टि प्रक्रिया ही बन्द हो जाये और न कणों के बीच दूरी इतनी बढ़ जाये कि उन कणों के मध्य में आकर्षण बल सर्वथा समाप्त हो जाये, जिससे भी सृष्टि प्रक्रिया बन्द हो जाये। उचित दूरी का रखना ही प्राण और अपान दोनों का समन्वित कार्य है। नाभिकीय अथवा किसी भी संलयन में संलयित कणों के मध्य दूरी अत्यन्त अल्प होती है, जो कदाचित् प्राण तत्त्व के कारण ही प्राप्त हो जाती है और अपान की विशेष अपेक्षा रहती ही नहीं। इसी कारण यहाँ कहा गया है कि प्रयाज से ही अनुयाज का कार्य हो जाता है। इस विषय में हमारा मत है कि अपान तत्त्व का सर्वथा अभाव यहाँ भी नहीं हो सकता, क्योंकि अपान तत्त्व के सर्वथा अभाव में विभिन्न कणों वा तरंगों के बीच में अत्यन्त अल्प दूरी भी नहीं हो सकती। महर्षि का कथन केवल प्रधानता के आधार पर प्रतीत होता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त छन्द रश्मियाँ फोटोन्स को तारों के बाहर उत्सर्जित होने रूपी अन्तिम कार्य को सम्पन्न करने में विशेष सहायक होती हैं। यदि ये रश्मियाँ उत्सर्जन कार्य न करावें, तो तारा अपना स्वरूप खो देगा। तारों के केन्द्रीय भाग में संलयन के समय यद्यपि प्राणापानादि सभी प्राथमिक प्राण विद्यमान होते हैं पुनरपि अपान तत्त्व की अति न्यूनता तथा प्राण तत्त्व की अति प्रबलता होने से आकर्षण बल प्रधान तथा प्रतिकर्षण बल गौण होता है। यदि ऐसा नहीं होता तो कणों का संलयन होता ही नहीं। जब फोटोन्स मुक्त होकर सुदूर अन्तरिक्ष में गमन करते हैं, तो प्राण व अपान दोनों साथ समानरूपेण संगत रहते हैं। केन्द्रीय भाग में विद्यमान प्राक्वर्णित ६ छन्द रश्मियों में भी प्राण अर्थात् आकर्षण बल की ही प्रधानता रहती है। ध्यातव्य है कि **तारों के केन्द्रीय भाग में संलयन होता है, उस समय आकर्षण बल की ही प्रधानता रहने के उपरान्त भी संलयित कणों के बीच कुछ अवकाश अवश्य विद्यमान होता है। यदि अवकाश सर्वथा समाप्त हो जाए (जो कभी सम्भव नहीं हो सकता) तो तारा अपना स्वरूप खो देगा।** इस विषय में महर्षि कहते हैं कि संलयन के क्षेत्र में प्राण ही अपान का कार्य करके एक विशेष दूरी पर प्रतिकर्षण बल उत्पन्न करके उचित व न्यूनतम अवकाश बनाए रखता है। यहाँ महर्षि एक संकेत यह भी करते हैं कि **तारों से उत्सर्जित कुछ किरणें सुदूर अन्तरिक्ष से सोम तत्त्व तथा प्रोटोन्स आदि को आकर्षित कर अपने साथ लेकर तारे के अन्दर ईन्धन की आपूर्ति में कुछ सहायता करती हैं, जब इस क्रिया में न्यूनता हो जाती है, तभी तारों में ईन्धन की कमी समस्या बनती है।।**

꧁ इति ३.८ समाप्तः ꧂

꧁ इति तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ꧂

चतुर्थोऽध्यायः

।। ओ३म् ।।

ओं विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑ सुव। य॒द्भ॒द्रं तन्न॒ऽआ सु॑व।।

अनुक्रमणिका

꧁ अथ ४.१ प्रारभ्यते ꧂

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. यज्ञो वै देवेभ्य उदक्रामन्न वोऽहमन्नं भविष्यामीति, नेति देवा अब्रुवन्नन्नमेव नो भविष्यसीति तं देवा विमेथिरे सहैभ्यो विहृतो न प्रबभूव ते होचुर्देवा न वै न इत्थं विहृतोऽलं भविष्यति हन्तेमं यज्ञं संभरामेति तथेति तं संजभ्रुः।।

{यज्ञः = यज्ञ एव सविता (गो.पू.१.३३; जै.उ.४.१२.१.७), स यः स यज्ञोऽसौ स आदित्यः (श.१४.१.१.६)। प्रवर्ग्यः = असौ खलु वावैष आदित्यः। यत्प्रवर्ग्यः (तै.आ.५.११.१ - ब्रा.उ.को. से उद्धृत), इमे वै लोकाः प्रवर्ग्यः (श.१४.३.२.२३)। हन्त = आकस्मिक हलचल को प्रकट करने वाला अव्यय अथवा आरम्भसूचक अव्यय-इति आप्टे कोषः}

व्याख्यानम्- जब किसी तारे के मध्य भाग में ईन्धन समाप्त हो जाता है अर्थात् ऐसे नाभिकों का ही बाहुल्य रहता है, जो केन्द्रीय भाग के ताप और दाब पर संलयित न हो सकें, तब केन्द्रीय भाग अपेक्षाकृत ठण्डा हो जाता है। उस स्थिति की यहाँ चर्चा की गयी है। उस समय मानो केन्द्रीय भाग में विद्यमान पदार्थ विभिन्न प्राणादि पदार्थों एवं सूर्य के बाहरी भाग में विद्यमान पदार्थ से कहता है कि अब मैं तुम्हारा अन्न नहीं बनूंगा। इसका आशय यह है कि केन्द्रीय भाग में विद्यमान कण परस्पर संलयित होना बंद कर देते हैं। उसके पश्चात् विभिन्न पदार्थ (केन्द्रीय भागस्थ प्राण एवं बाहरी विशाल पदार्थसमूह) प्रबल गुरुत्वाकर्षण बल आदि के कारण केन्द्रीय पदार्थ का मन्थन करते हैं अर्थात् गुरुत्वीय दाब बढ़ने लगता है, पुनरपि संलयन प्रारम्भ नहीं हो पाता, तब समस्त पदार्थ और भी तीव्र बल उत्पन्न करके केन्द्रीय भाग का पोषण करता है, जिससे केन्द्रीय भाग में अकस्मात् भारी हलचल प्रारम्भ हो जाती है **{यज्ञस्सोमो राजा (जै.ब्रा.१.२५६), अयं वै यज्ञो यो ऽयं (वायुः) पवते (ऐ.५.३३)}**

यदि यहाँ **'यज्ञ'** का तात्पर्य देदीप्यमान सोम ग्रहण करें, तब तारों के अन्दर सम्भावित एक और अनिष्ट स्थिति का संकेत करते हैं कि कभी-२ किन्हीं कारणोंवश तारों के बाहरी भाग से किंवा तारों के अन्दर भी केन्द्रीय भाग में बाहरी भाग से सोम पदार्थ अपने साथ संलयनीय पदार्थ को लाना बन्द कर देता है। उस समय भी तारों के केन्द्रीय भाग में ईन्धन का भण्डार समाप्त होने से नाभिकीय अर्थात् संलयन ऊर्जा का उत्पादन बंद हो जाता है। उस समय विभिन्न प्रकाशमान पदार्थ, जो समस्त सूर्य में विद्यमान होता है, अपने गुरुत्वाकर्षण के द्वारा पुनः मध्यभाग को मथने लगता है। फिर उपर्युक्तानुसार केन्द्रीय हलचल प्रारम्भ हो जाती है। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि सोम पदार्थ द्वारा संलयनीय पदार्थ लाने में क्या अवरोध आता है? इसके उत्तर में हमारा मत है कि सोम वा तत्प्रेरित पदार्थ को केन्द्रीय भाग की ओर लाने की प्रक्रिया प्राक्वर्णित जिन-२ चरणों में सम्पन्न होती है, उन-२ चरणों में कोई विकृति आ जाए, जिससे असुर पदार्थ अर्थात् हिंसक विद्युत् अवरोधक के रूप में उत्पन्न हो जाये, तो सोम पदार्थ की प्रक्रिया बाधित हो जाती है, जिसके दूर होने पर ही वापिस सोम पदार्थ अपना कार्य करने लगता है। यहाँ आचार्य सायण ने इस प्रक्रिया को **"प्रवर्ग्य इष्टि"** कहा है, जिसका आशय भी यही है कि यहाँ आदित्य लोक के निर्माण की प्रक्रिया का ही वर्णन किया गया है। इस क्रिया की प्रवर्ग्य संज्ञा की पुष्टि इस खण्ड की अन्तिम कण्डिका से भी होती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब किसी तारे के अन्दर पूर्वोक्त किसी प्रक्रिया में कोई विकृति आ जाए, तो बाहर से सोम पदार्थ स्वयं अथवा उसके द्वारा प्रेरित संलयनीय पदार्थ केन्द्रीय भाग में आना बंद हो जाये अथवा केन्द्रीय भाग में ऊष्मा की कमी से बाधक हिंसक अप्रकाशित वैद्युत वायु (dark energy)

प्रबल हो जाए, तो तारे में संलयन क्रिया बन्द हो जाती है, जिससे तारा सिकुड़ने लगता है। इससे मध्य भाग में भारी गुरुत्वीय बल के कारण मंथन क्रिया प्रारम्भ होकर एक बड़ी हलचल प्रारम्भ कर देती है।।

२. तं संभृत्योचुरश्विनाविमं भिषज्यतमित्यश्विनो वै देवानां भिषजावश्विनावध्वर्यू तस्मादध्वर्यू धर्मं संभरतः।।
तं संभृत्याऽऽहतुर्ब्रह्मन् प्रवर्ग्येण प्रचरिष्यामो होतरभिष्टुहीति।।१।।

{अश्विनौ = प्राणापानौ (म.द.य.भा.२१.६०), व्यापिनौ प्राणोदानौ (म.द.ऋ.भा.७.३५.४), वायुविद्युतौ (म.द.ऋ.भा.३.५८.४), प्रकाशभूमी (तु.म.द.य.भा.१.२१)। भिषक् = अथ प्रतिहर्ता (प्रतिपद्यते), भिषग्वा व्यानो वा (श.४.२.५.३), मरुतः प्रतिहर्तारः (तै.सं.३.३.२.१)}। {प्रति = वीप्सायाम् (म.द.ऋ.भा.१.१६६.७), व्याप्तौ (म.द.य.भा.२०.३७)}

व्याख्यानम्- प्राणापान अथवा प्राणोदान मिश्रित वायु और विद्युत् देव पदार्थ के प्रतिहर्ता हैं अर्थात् उनमें बार-२ व्यापक रूप से आकर्षण करने की शक्ति होती है। ऐसे वायु और विद्युत् से मानो तारों के अन्दर विद्यमान पदार्थ, जो केन्द्रीय पदार्थ को अपने प्रबल गुरुत्वाकर्षण बल से सम्पीडित कर रहा था, ने नाभिकीय संलयन में आने वाली बाधाओं को दूर करने का निवेदन किया। ध्यातव्य है कि ये देव आदि पदार्थ जड़ तत्त्व हैं, जिनमें परस्पर संवाद होना सम्भव नहीं परन्तु लेखक अपनी इस शैली से देवविद्या का रहस्य समझाना चाहते हैं। वे प्राणापान व प्राणोदान से सम्पन्न वायु और विद्युत् नाभिकीय संलयन हेतु आवश्यक ऊष्मा को केन्द्रीय भाग में उत्पन्न कर देते हैं एवं सोमतत्त्व के साथ संलयनीय पदार्थ तारों के केन्द्रीय भाग की ओर प्रवाहित होने लगता है।।

{होता = वाग्वै होता (कौ.ब्रा.१३.६; १७.७), मनो होता (तै.ब्रा.२.१.५.६)} तदुपरान्त उपर्युक्त वायु और विद्युत् अथवा प्राणापान वा प्राणोदान की प्रेरणा से मनः प्रेरित वाक् तत्त्व अग्रलिखित विभिन्न ऋग्रूप तरंगों को उत्पन्न करता है। इसका आशय यह है कि मनः प्रेरित वाक् तत्त्व से प्रेरित अग्रलिखित विभिन्न ऋषि प्राण विभिन्न ऋचाओं को उत्पन्न करते हैं, जिससे संलयन की क्रिया एवं ऊर्जा उत्सर्जन की क्रिया पुनः सुचारु रूप से चलने लगती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त केन्द्रीय हलचल के उपरान्त प्राणोदान व प्राणापान से सम्पन्न वायु और विद्युन्मय कण तारों के केन्द्रीय भाग में नाभिकीय संलयन हेतु आवश्यक ऊष्मा व दाब उत्पन्न कर देते हैं। इसके साथ ही सोमादि पदार्थ बाहरी भाग से केन्द्रीय भाग की ओर प्रवाहित होने लगता है। उसके उपरान्त मनः प्रेरित वाक् तत्त्व अग्र लिखित विभिन्न छन्द रश्मियों को उत्पन्न करता है, जिनसे नाभिकीय संलयन क्रिया पुनः प्रारम्भ हो जाती है।

❧ इति ४.१ समाप्तः ☙

꧁ अथ ४.२ प्रारभ्यते ꧂

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. 'ब्रह्मजज्ञानं प्रथमं पुरस्तादिति' प्रतिपद्यते ब्रह्म वै बृहस्पतिर्ब्रह्मणैवैनं तद्भिषज्यति।। इयं पित्रे राष्ट्र्येत्यग्र इति वाग्वै राष्ट्री वाचमेवास्मिंस्तद्दधाति।।
'महान्मही अस्तभाय द्विजात' इति ब्राह्मणस्पत्या ब्रह्म वै बृहस्पतिर्ब्रह्मणैवैनं तद्भिषज्यति।।
'अभि त्यं देवं सवितारमोण्योरिति' सावित्री प्राणो वै सविता प्राणमेवास्मिंस्तद्दधाति।।

{वत्सरः = वसन्त्यस्मिन्निति वत्सरः (उ.को.३.७१), (वत्सः = स्वव्याप्त्या सर्वाऽऽच्छादकः), वेनः = अजति, गच्छति प्राप्नोति वा सह (उ.को.३.६), वेनतीति कान्तिकर्मा (निघं.२.६), वेनः मेधाविनाम (निघं.३.१५)। ह्वारः = कुटिलतां कारयन् (म.द.ऋ.भा.१.१४१.७), क्रोधस्य निवारकः (म.द.ऋ.भा.१.१८०.३)}

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त क्रम में सर्वप्रथम

ब्रह्म॑ ज॒ज्ञा॒नं प्र॑थ॒मं पु॒रस्ता॒द्वि सी॑म॒तः सु॒रुचो॑ वे॒नऽआ॑वः।
स बु॒ध्न्या॒ऽउप॒माऽअ॑स्य वि॒ष्ठाः स॒तश्च॒ योनि॒मस॑तश्च॒ वि वः॑।। (यजु.१३.३)

की उत्पत्ति वत्सारः ऋषि प्राण अर्थात् सबके आच्छादक एवं सबमें व्याप्त मनस्तत्त्व में रमण करने वाले सूत्रात्मा वायु एवं व्यान प्राण के संयोग से उत्पन्न सूक्ष्म प्राण से होती है। इसका देवता अग्नि तथा छन्द आर्ची पंक्तिः है। इसके प्रभाव से अग्नि तत्त्व तेजस्वी और व्यापक होता है तथा ऋचा में विद्यमान विभिन्न पदों के प्रभाव से सर्वप्रथम ब्रह्म अर्थात् बृहस्पतिरूपी विद्युत् उत्पन्न होता है किंवा प्राणापानयुक्त विद्युत् उत्पन्न होती है और यह प्राणापानयुक्त विद्युत् विस्तृत होती हुई, चमकती हुई आकाश आदि के विभिन्न स्थलों में स्थित होकर अपनी व्याप्ति से अपनी योनि अर्थात् आकाशरूप स्थान को अपनी मर्यादा में आच्छादित करती है। यह प्राणापानयुक्त विद्युत् ही विविध प्रकार के चेष्टायुक्त कर्मों से अग्नि अर्थात् ऊर्जा को समृद्ध करती है।।

तदुपरान्त **'इयं पित्रे राष्ट्र्येत्यग्रे प्रथमाय जनुषे भूमनेष्ठास्तस्मा एतं सुरुचं ह्वारमह्यं धर्मं श्रीणन्ति प्रथमस्य धासेः'। (आश्व.श्रौ.४.६.३)** यह ऋचा अथर्ववेद में किंचित् पाठ भेद से इस प्रकार विद्यमान है

इ॒यं पि॒त्र्या रा॒ष्ट्र्ये॒त्वग्रे॑ प्र॒थमा॑य ज॒नुषे॑ भुव॒नेष्ठाः।
तस्मा॑ ए॒तं सु॒रुचं॑ ह्वा॒रम॑ह्यं घ॒र्मं श्री॑णन्तु प्र॒थमा॑य धा॒स्यवे॑।। (अथर्व.४.१.२)

डॉ. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर के अनुसार इस ऋचा का ऋषि वेन देवता बृहस्पति अथवा आदित्य और हमारे मतानुसार छन्द त्रिष्टुप् है। इसका तात्पर्य है कि इस ऋग्रूप तरंग की उत्पत्ति सूत्रात्मा वायु तथा प्राण नामक प्राण तत्त्व के संयोग से होती है तथा इसके प्रभाव से प्राणापान एवं वाक् तत्त्व समृद्ध होते हैं। इस ऋचा के विभिन्न पदों के प्रभाव से सूत्रात्मा वायु में ठहरा हुआ एवं सुन्दर दीप्ति

के साथ अनिष्ट तत्त्वों को दूर करने वाला वाक् तत्त्व ही विशेष समृद्ध होता है। इसके छान्दस प्रभाव से तीव्र तेज और बल उत्पन्न होकर ऊष्मा में विशेष वृद्धि करते हैं।।

तदुपरान्त **"महान्मही अस्तमायद्विजातो द्यां पिता सद्म पार्थिवं च रजः सबुध्नादाष्ट जनुषाऽभ्युग्रं बृहस्पतिर्देवता तस्य सम्राट्।"** की उत्पत्ति होती है। यह ऋचा किसी भी वेद संहिता में उपलब्ध नहीं है, आचार्य सायण ने इसे **तैत्तिरीय आरण्यक ४.४.२** से उद्धृत् किया है, साथ ही यह ऋचा **आश्वलायन श्रौतसूत्र ४.६.३** के अन्तर्गत भी दी हुई है। **महर्षि ऐतरेय महीदास** इस ऋचा का देवता ब्रह्मणस्पति मानते हैं और बृहस्पति ही ब्रह्मणस्पति कहलाता है क्योंकि कहा गया है- **बृहस्पतिर्ब्रह्मणः (अधिपतिः) (तै.सं.३.४.५.१)।** इस कारण इस ऋचा के प्रभाव से प्राणापान एवं विद्युत् समृद्ध होते हैं। हमें इस ऋग्रूप तरंग का छन्द त्रिष्टुप् प्रतीत होता है। इससे भी विद्युत् का तेज और बल तीव्र होता है, जिसके कारण तारे के अन्दर आये हुए बाधक तत्त्व दूर होकर ऊर्जा उत्पत्ति की प्रक्रिया में सहयोग मिलता है।।

तदुपरान्त वत्स ऋषि अर्थात् **{अयमेव वत्सो योऽयं (वायुः) पवते (श.१२.४.१.११)}** सूत्रात्मा वायुरूप ऋषि प्राण से विराट् ब्राह्मी जगती छन्दस्क एवं सविता देवता वाली मन्त्ररूप तरंगें उत्पन्न होती हैं, जिनके प्रभाव से बलवान् विद्युत्, अग्नि और आकाश तत्त्व समृद्ध होकर ऊर्जा के उत्सर्जन एवं अवशोषण की प्रक्रिया तीव्र होती है, वह मन्त्र है-

अभि त्यं देवꣳसवितारमोण्योः कविक्रतुमर्चामि सत्यसवꣳ रत्नधामभि प्रियं मतिं कविम्।
ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भाऽअदिद्युतत्सवीमनि हिरण्यपाणिरमिमीत, सुक्रतुः कृपा स्वः,
प्रजाभ्यस्त्वा प्रजास्त्वाऽनुप्राणन्तु प्रजास्त्वमनुप्राणिहि।। (यजु.४.२५)

इस मन्त्ररूप तरंग के प्रभाव से तारों के केन्द्रीय भाग अत्यन्त प्रकाशित होते हैं। उनमें तथा बाहरी भाग में विद्यमान विभिन्न तरंगें और कण अत्यन्त क्रान्तदर्शी अर्थात् जिनको देखना दुष्कर हो, होते हैं। सम्पूर्ण तारे के अन्दर प्राण तत्त्व प्रदीप्त होकर सम्पूर्ण तारामण्डल को तेजस्वी बनाने में सहायक होते हैं। ये प्राणतत्त्व ही विद्युद्रूप सविता को उत्पन्न करने वाले हैं किंवा प्राणतत्त्व ही सविता है। इस मन्त्ररूप तरंग के कारण विभिन्न तारों में प्राण तत्त्व विशेष समृद्ध होते हैं। इस ऋचा को **आश्वलायन श्रौतसूत्र ४.६.३** में भी उदधृत किया गया है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त प्रसंग में सर्वप्रथम उपर्युक्त आर्ची पंक्ति छन्द रश्मि ऊर्जा को तेजस्वी व व्यापक बनाती हैं। इससे प्राणापानयुक्त विद्युत् विस्तृत होती हुई चमकती है। फिर वह विद्युत् आकाश तत्त्व को आच्छादित करके विविध चेष्टा का कारण बनती है। तदुपरान्त एक अन्य त्रिष्टुप् छन्द रश्मि प्राणापानयुक्त वाक् तत्त्व को समृद्ध करती है, जिससे बाधक तत्त्वों को नियंत्रित वा नष्ट किया जा सकता है। इससे तीव्र तेज व बल उत्पन्न होता है। तदुपरान्त एक और त्रिष्टुप् छन्द रश्मि उत्पन्न होकर बाधक तत्त्वों का उन्मूलन करके ऊर्जा उत्पत्ति में सहयोग करती है। तदुपरान्त एक ब्राह्मी जगती रश्मि उत्पन्न होकर विद्युत्, ऊष्मा व आकाश तत्त्व को समृद्ध करती है, जिससे ऊर्जा के उत्सर्जन व अवशोषण की क्रियायें समृद्ध होती हैं। इस रश्मि के प्रभाव से तारों के केन्द्रीय भाग अत्यन्त प्रकाशित होते हैं। इससे सम्पूर्ण तारा ही प्रकाशमान हो उठता है तथा तारे के अन्दर सभी प्राण रश्मियां भी समृद्ध होती हैं।।

२. सं सीदस्व महाँ असीत्येवैनं समसादयन्।।
'अञ्जन्ति यं प्रथयन्तो न विप्रा' इत्यज्यमानायाभिरूपा यद्यज्ञेऽभिरूपं तत्समृद्धम्।।

व्याख्यानम्- तदुपरान्त घौरः काण्व ऋषि प्राण अर्थात् एक ऐसा सूक्ष्म प्राण, जो सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न होता और तीव्र भेदक शक्तिसम्पन्न होता है, से अग्निदेवताक निचृदुपरिष्टाद् बृहती छन्दस्क

सं सीदस्व महाँ असि शोचस्व देववीतमः।
वि धूममग्ने अरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतम्।। (ऋ.१.३६.९)

ऋग्रूप तरंग की उत्पत्ति होती है। इसके प्रभाव से ऊष्मा आदि समृद्ध होकर तारों के अन्दर विद्यमान विभिन्न तन्मात्राओं को प्रकाशित करके कुछ रक्तिम वर्ण वाला धूम्र आदि से रहित दर्शनीय स्वरूप प्राप्त होता है। यह ऋग्रूप तरंग तारों के केन्द्रीय भाग एवं समस्त तारे को एक मर्यादित स्वरूप प्रदान करने में सहयोग करती है, जिसके कारण उस मर्यादा के भीतर विभिन्न पदार्थ सम्यक् रूप से विद्यमान रहते हैं। इसी कारण **महर्षि आश्वलायन** ने भी कहा है- **संसीदस्व महां असीति संसाद्यमाने (आश्व.श्रौ.४.६.३)**।।

तदुपरान्त अत्रि ऋषि अर्थात् सतत गमन करने वाले सूत्रात्मा वायु एवं प्राणतत्त्व के संयोग से उत्पन्न एक सूक्ष्मप्राण विशेष से विश्वेदेवादेवताक एवं विराट् त्रिष्टुप् छन्दस्क

अञ्जन्ति यं प्रथयन्तो न विप्रा वपावन्तं नाग्निना तपन्तः।
पितुर्न पुत्र उपसि प्रेष्ठ आ घर्मो अग्निमृतयन्नसादि।। (ऋ.५.४३.७)

ऋग्रूप तरंग की उत्पत्ति होती है। इसके प्रभाव से सभी प्रकाशमान कण वा तरंगें तीव्र बलवान् और तेजस्वी होती हैं। इस ऋचा के अन्य प्रभाव से ऊष्मा आदि ऊर्जा विभिन्न क्षेत्रों में व्याप्त होती हुई विभिन्न प्रकार के नवीन-२ तत्त्वों को उत्पन्न करते हुए आकर्षण आदि गुणों के साथ सब ओर व्याप्त होती है। विभिन्न प्रकार के ऋतु संज्ञक प्राणों के पालक प्राणादि तत्त्वों के समान वह ऊर्जा विभिन्न पदार्थ कणों के समीप कमनीय ताप को उत्पन्न करके उचित क्षेत्र में धारण करने में सहायक होती है। यह ऋग्रूप तरंग सम्पूर्ण तारामण्डल को तेज से संदीप्त करने में विशेष सहायक होने से यज्ञ प्रक्रिया को समृद्ध करती है। रूपसमृद्धि के विषय में पूर्ववत् समझें।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- तदुपरान्त उपर्युक्त प्रकार की बृहती छन्द रश्मि तारे के केन्द्रीय भाग की परिधि तथा सम्पूर्ण तारे की परिधि के रूप में व्याप्त हो जाती है। इसके प्रभाव से तारों की ऊष्मा में वृद्धि होती तथा तारों का वर्ण कुछ-२ रक्तिम वर्ण वाला तथा धूंए से पूर्णतः रहित होता है। यह रश्मि तारों के केन्द्रीय भाग तथा सम्पूर्ण भाग की परिधि को सुनिश्चित करने में सहायक होती है। तदुपरान्त एक विराट् त्रिष्टुप् छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है, जिससे सम्पूर्ण पदार्थ का ताप और भी बढ़ता है। इसके प्रभाव से केन्द्रीय भाग में सर्वत्र भाँति-२ के नवीन-२ तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। ये दोनों तरंग रश्मियां तारे के पदार्थ को तेजस्वी व बलवान् बनाने के साथ ही उन्हें अपनी-२ सीमा में बांधे रखने में भी सहायक होती हैं।।

३. 'पतङ्गमक्तमसुरस्य मायया' 'यो नः सनुत्यो अभिदासदग्ने' 'भवा नो अग्ने सुमना उपेताविति द्वे द्वे अभिरूपे यद्यज्ञेऽभिरूपं तत्समृद्धम्।।

{पतंगम् = यः प्रतियातम् गच्छति तम् (म.द.ऋ.भा.१.१६३.६), पतंगा इत्यश्वनाम (निघं.१.१४), प्राणो वै पतंगः (कौ. ब्रा.८.४), सूर्य इव देदीप्यमानः (तु.म.द.ऋ.भा.१.११८.४)। माया = प्रज्ञानाम (निघं.३.९), प्रज्ञापिका विद्युत् (तु.म.द.य.भा.१३.४४), गर्जनाऽन्धकार युक्त विद्युत् (तु.म.द.ऋ.भा.१.३२.१०)। कनः = (कनी दीप्तिकान्तिगतिषु)}

व्याख्यानम्- उपर्युक्त ऋग्रूप तरंगों के अतिरिक्त प्राण नामक प्राण तत्त्व से उत्पन्न प्राजापत्यः पतङ्गः ऋषि अर्थात् ऐसा देदीप्यमान प्राण, जो तीव्रता से गमन करता एवं विभिन्न पदार्थों का वाहक होता है, से मायाभेददेवताक और जगती तथा विराट् त्रिष्टुप् छन्दस्क दो ऋग्रूप तरंगों की उत्पत्ति होती है। वे ऋचाएं हैं-

पतङ्गमक्तमसुरस्य मायया हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चितः।
समुद्रे अन्तः कवयो वि चक्षते मरीचीनां पदमिच्छन्ति वेधसः।।१।।

पतङ्गो वाचं मनसा बिभर्ति तां गन्धर्वोऽवदद् गर्भे अन्तः।
तां द्योतमानां स्वर्यं मनीषामृतस्य पदे कवयो नि पान्ति।।२।। (ऋ.१०.१७७.१-२)

इसके प्रभाव से प्रकाशमान विद्युत् अति तेजस्वी और बलवती होकर गर्जना करती रहती है तथा ऊर्जा के उत्सर्जन व अवशोषण की क्रिया समृद्ध होती है। इसके कारण तारों में विद्यमान ऐसे क्षेत्रों, जिनमें प्रकाश की अल्पता होती है, उनमें चमकने वाली विद्युत् विभिन्न रश्मियों को उत्पन्न करती है। तारों के गुहारूपी केन्द्रीय भाग में पतंगरूपी प्राण रश्मियाँ तीव्र तेजस्वी रूप धारण करके उत्कृष्टता से गमन करती हैं। उधर इसी ऋषि प्राणरूप रश्मियों से वे पतंगरूप प्राण रश्मियाँ मनस्तत्त्व की सहायता से वाक् तत्त्व को धारण करती हैं और गंधर्वरूपी सूत्रात्मा वायु अथवा गुरुत्वाकर्षण बल केन्द्रीय भाग में वर्तमान होकर सबको प्रेरित करता है और प्रकाशमान वाक् तत्त्व, जो उस आकाश में व्याप्त होता है एवं मनस्तत्त्व के साथ संयुक्त रहता है, वह तीव्र क्रान्तदर्शी किरणों को अविनाशी प्राणों के अन्दर सुरक्षित रखता है।

इसके साथ बार्हस्पत्य भरद्वाज ऋषि प्राण अर्थात् मनस् तत्त्व से उत्पन्न प्राण नामक प्राण तत्त्व से अग्निदेवताक तथा त्रिष्टुप् एवं निचृत् त्रिष्टुप् छन्दस्क दो ऋग्रूप तरंगें उत्पन्न होती हैं। वे ऋचाएं हैं-

यो नः सनुत्यो अभिदासदग्ने यो अन्तरो मित्रमहो वनुष्यात्।
तमजरेभिर्वृषभिस्तव स्वैस्तपा तपिष्ठ तपसा तपस्वान्।। (ऋ.६.५.४)

यस्ते यज्ञेन समिधा य उक्थैरर्केभिः। सूनो सहसो ददाशत्।
स मर्त्येष्वमृत प्रचेता राया द्युम्नेन श्रवसा वि भाति।। (ऋ.६.५.५)।

इनके प्रभाव से ऊर्जा तीव्र तेजस्वी और बलवती होती है तथा प्रथम ऋग्रूप तरंग के कारण ऊष्मा में भारी वृद्धि होती है और द्वितीय तरंग से दृश्य प्रकाश की वृद्धि होती है एवं तारों के अन्दर विद्यमान, जो विभिन्न प्रकार की तन्मात्राएं होती हैं, उनके बीच आकर्षण आदि बल समृद्ध होते हैं।

तदुपरान्त प्राण नामक प्राण तत्त्व एवं वाक् तत्त्व के संयोग से उत्पन्न दीप्तिमान् आकर्षणबलशील एवं गतिमान वैश्वामित्र कतः ऋषि प्राण से अग्निदेवताक एवं त्रिष्टुप् (जिनमें एक निचृत्त्रिष्टुप् है) छन्दस्क दो ऋग्रूप तरंगों की उत्पत्ति होती है। वे ऋचाएं हैं-

भवा नो अग्ने सुमना उपेतौ सखेव सख्ये पितरेव साधुः।
पुरुद्रुहो हि क्षितयो जनानां प्रति प्रतीचीर्दहतादरातीः।। (ऋ.३.१८.१),

तपो ष्वग्ने अन्तराँ अमित्रान्तपा शंसमररुषः परस्य।
तपो वसो चिकितानो अचित्तान्वि ते तिष्ठन्तामजरा अयासः।। (ऋ.३.१८.२)

इनके प्रभाव से पूर्ववत् ऊर्जा तीव्र बलवती और तेजस्विनी होती है। {क्षितयः मनुष्यनाम (निघं.२.३), क्षितिः पृथिवीनाम (निघं.१.१} यह ऊर्जा ऋतुसंज्ञक रश्मियों के समान व्याप्त होकर सबके साथ प्रकाशमान

होती हुई एवं विभिन्न उत्पन्न पदार्थ, जो संलयन आदि क्रियाओं से बनते हैं अथवा अन्य संयोग वियोग आदि प्रक्रियाओं से उत्पन्न होते हैं, उनमें विद्यमान मनुष्य नामक अनियमित और अनियन्त्रित कण, जो यहाँ विभिन्न प्रक्रियाओं में बाधक बनते हैं, उनको यह अग्नि भस्म करता है अर्थात् उन्हें अत्यन्त तापयुक्त करके उनके बाधक स्वरूप को नष्ट करता है एवं द्वितीय ऋग्रूप तरंग के प्रभाव से भी ऊष्मा की वृद्धि होकर बाधक तत्त्वों को तीव्र तापयुक्त करके अनुकूलता प्राप्त होती है। विभिन्न अप्रकाशित एवं असंतप्त कण प्रकाशित और संतप्त होने लगते हैं। इस प्रकार ये सभी ऋग्रूप तरंगें तारों के सृजनरूपी यज्ञ को एवं उनके स्वरूप को सम्यक् रूप से समृद्ध करती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- तदुपरान्त जगती व विराट् त्रिष्टुप् छन्द रश्मियां उत्पन्न होती हैं, जो तीव्र गर्जनयुक्त प्रकाशमान विद्युत् को उत्पन्न करती है। इनके कारण ऊर्जा के उत्सर्जन व अवशोषण की क्रिया सम्पन्न होती है। तारों के जिन क्षेत्रों में प्रकाश की कमी होती है, उनमें भी इनके द्वारा प्रकाशमान रश्मियां उत्पन्न होती हैं। इसके साथ ही वाक् तत्त्व आकाश में व्याप्त होकर तीव्र तेजस्वी किरणों को धारण करता है। पुनः त्रिष्टुप् तथा निचृत् त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं। इनसे ऊर्जा और भी तीव्र व भेदक शक्तिसम्पन्न हो जाती है। इससे ऊष्मा तथा दृश्य प्रकाश में भी भारी वृद्धि होती है। विभिन्न कणों के बीच आकर्षण बल बढ़ता है। पुनः एक निचृत् त्रिष्टुप् छन्द रश्मि उत्पन्न होकर पूर्ववत् ऊर्जा की शक्ति को और विध्वंसक बनाती है। यह ऊर्जा विस्तृत क्षेत्र में व्याप्त हो जाती है। यह संलयन क्रिया से बनने वाले विभिन्न कणों को तीव्र बलवान् बनाती है, इसके साथ ही जो पदार्थ संलयन व ऊर्जा उत्सर्जनादि कर्मों में बाधा उपस्थित कर सकते हैं, उन्हें भस्म करती है। इससे विभिन्न अप्रकाशित वा अल्प प्रकाशित कण भी प्रकाशित हो उठते हैं।।

४. 'कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीमिति' पञ्च राक्षोघ्न्यो रक्षसामपहत्यै।।

{वामदेवः = (वामः प्रशस्यनाम - निघं.३.८; प्राणो वै वामदेव्यम् - श.६.१.२.३८; व्यानो वामदेव्यम् - जै.ब्रा.१.२२६; सर्वदेवत्यं वै वामदेव्यम् - तां.७.८.२)}

व्याख्यानम्- तदुपरान्त वामदेव ऋषि अर्थात् मनस्तत्त्व तथा वाक् तत्त्व के मिथुन से उत्पन्न प्राण विशेष से अग्रलिखित पाँच ऋग्रूप तरंगों की उत्पत्ति होती है। इन सबका देवता **'अग्निः रक्षोहा'** तथा छन्द प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ व पंचमी का **भुरिक् पंक्ति** तथा तृतीय का **निचृत्त्रिष्टुप्** है। इनके प्रभाव से भुरिग्रूप बाहू अर्थात् आकर्षण व धारण बल अति तीव्र व तेजस्वी होकर विस्तृत फैलते जाते हैं। ये ऋचाएं हैं-

कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीं याहि राजेवामवाँ इभेन।
तृष्वीमनु प्रसितिं द्रूणानोऽस्तासि विध्य रक्षसस्तपिष्ठैः।।१।।

तव भ्रमास आशुया पतन्त्यनु स्पृश धृषता शोशुचानः।
तपूंष्यग्ने जुह्वा पतङ्गानसंन्दितो विसृज विष्वगुल्काः।।२।।

प्रति स्पशो वि सृज तूर्णितमो भवा पायुर्विशो अस्या अदब्धः।
यो नो दूरे अघशंसो यो अन्त्यग्ने माकिष्टे व्यथिरा दधर्षीत्।।३।।

उदग्ने तिष्ठ प्रत्या तनुष्व न्यमित्राँ ओषतात्तिग्महेते।
यो नो अरातिं समिधान चक्रे नीचा तं धक्ष्यतसं न शुष्कम्।।४।।

ऊर्ध्वो भव प्रति विध्याध्यस्मदाविष्कृणुष्व दैव्यान्यग्ने।
अवस्थिरा तनुहि यातुजूनां जामिमजामिं प्र मृणीहि शत्रून्।।५।। (ऋ.४.४.१-५)

इनमें से प्रथम ऋग्रूप तरंग के प्रभाव से तेजस्वी अग्नि इभ **{इभः = (इमाय = महते - नि. १३.३८), एतीति इभः (उ.को.३.१५३)}** अर्थात् व्यापक आकर्षण व धारणादि बलों से युक्त मानो विभिन्न अप्रकाशित कणों को भी अपने साथ बांध लेता है, अर्थात् उन्हें भी तप्त कर देता है। **{तृष्विति क्षिप्रनाम (निघं.२.१५)}** वह अग्नि वा ऊर्जा त्वरितगामी तथा आकाश से शीघ्रतापूर्वक प्रक्षेपण करने वाला, अतिशय ऊष्ण तथा राक्षस अर्थात् हिंसक विद्युद्रूपाग्नि को दूर करने वाला होता है।

द्वितीय ऋचा के प्रभाव से अग्नि की धारायें अतिशीघ्रता से तारों के अन्दर चलती रहती हैं। उन ऊर्जा तरंगों के विशाल समूह अत्यन्त पवित्र एवं ज्वलनशील होकर विभिन्न जलते हुए कणों को अपने साथ ले चलते हैं। इसके साथ ही **जैसे उल्का पिण्ड पृथिवी के वायुमण्डल में तेजी से गिरते हैं, वैसे तारों के अन्दर विद्युत् धाराएं तीव्रता से आक्रमण करती रहती हैं।** इस वैद्युत तीव्रता से भी बाधक हिंसक विद्युद्रूपाग्नि नष्ट वा दूर होता है।

तृतीय ऋचा से ऊर्जा तरंगें अत्यन्त शीघ्रकारी होकर **{स्पशः = बन्धकः (तु.म.द.ऋ.भा.४.१३.३)** बाधक पदार्थों को दूर करने वाली तथा उत्पन्न विभिन्न पदार्थों की पालन करने वाली होती हैं। वह अग्नि विभिन्न विजातीय पदार्थों को भी जलाने वाला होता है **{शंसतीत्यर्चतिकर्मा (निघं.३.१४)}**

चतुर्थ ऋचा के प्रभाव से अग्नि तेजी से जलता और उठता हुआ अच्छे प्रकार फैलता जाता है। विभिन्न आसुर पदार्थों अर्थात् हिंसक वायु और विद्युत् को निरन्तर जलाता हुआ अत्यन्त तीव्रता से फैलकर सम्पूर्ण तारे में व्याप्त हो जाता है। यह अग्नि शुष्क अर्थात् स्नेह वा आकर्षण आदि बल से रहित होकर अतसं अर्थात् विस्तृत आकाश आदि की भांति व्यापक होकर सबको जलाने वाला होता है।

अंतिम ऋचा के प्रभाव से अत्यन्त तेजस्वी अग्नि तारे के केन्द्रीय भाग में विशाल विकिरणसमूह के रूप में विभिन्न देवकर्मों का विस्तार करता है। इसका तात्पर्य यह है कि वहां विभिन्न प्रकार के नवीन-२ तत्त्व एवं अत्यन्त तेजस्वी तरंगों का उत्पादन निरन्तर होता रहता है **{जामिः = जमतीति गतिकर्मसु पठितम् (निघं.२.१४), भोगः (तु.म.द.ऋ.भा.४.४.५), जायमानः (तु.म.द.ऋ.भा.३.२.६), जामि उदकनाम (निघं.१.१२), जामयः अंगुलिनाम (निघं.२.५), (नानावीर्याः अंगुलयः - तै.सं.६.१.६.५)}** यह अग्नि विभिन्न तेजस्वी कणों, जो तीव्रता से गतिशील होकर समस्त पदार्थों को मानो अपनी वृष्टि द्वारा सिंचित करते रहते हैं तथा उन पदार्थों के द्वारा निरन्तर अवशोषित होते रहते हैं, को धारण करता है, साथ ही उन पदार्थों, जो तारों में यत्र-तत्र विद्यमान होते हैं तथा किसी के द्वारा अवशोषित भी नहीं होते हुए अपेक्षाकृत कम गति वाले होते हैं, को भी प्रकट करके धारण करता है। इसके साथ ही यह अग्नि विभिन्न बाधक पदार्थों को सम्यक् प्रकार से नष्ट करता है।

इस प्रकार ये पांचों ऋग्रूप तरंगें तारों के अन्दर विद्यमान विभिन्न बाधक पदार्थों को दूर वा नष्ट करने में विशेष सामर्थ्यशाली होने से रक्षोघ्नी कहाती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- तदुपरान्त विभिन्न बाधक अप्रकाशित वायु मिश्रित हिंसक विद्युत् (dark energy) को दूर करने वा नष्ट करने के लिए पांच छन्द रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं। इनके प्रभाव से आकर्षण व प्रतिकर्षण बल तीव्र होते हैं। इसके साथ ही वे व्यापक क्षेत्र में व्याप्त होते जाते हैं। ऊष्णता तीव्र होती व अग्नि की धाराएं अति तीव्रता से तारों के अन्दर बहती हैं। इन ऊर्जा तरंगों के विशाल समूह अति ज्वलनशील होकर विभिन्न जलते हुए कणों को अपने साथ ले चलते हैं। तारों में तीव्र विद्युत्पात विस्फोट होते हैं। विभिन्न विजातीय पदार्थ नष्ट होते हैं। तारों में अति हिंसक ज्वालाएं उठती हैं तथा सम्पूर्ण तारा मानो उनसे आच्छादित हो जाता है। विभिन्न तेजस्वी तरंगें सतत उत्पन्न होती रहती हैं। तारों की ऊर्जा सभी कणों को अपने अन्दर व्याप्त व धारण कर लेती है। इन पांचों रश्मियों से सभी अवरोधक तत्त्व समाप्त वा नियन्त्रित हो जाते हैं।।

५. परि त्वा गिर्वणो गिरोऽधि द्वयोरदधा उक्थ्यं वचः शुक्रं ते अन्यद्यजतं ते अन्यदपश्यं गोपामनिपद्यमानमिति चतस्र एकपातिन्यः।।
ता एकविंशतिर्भवन्ति।।

एकविंशोऽयं पुरुषो दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्या आत्मैकविंशस्तमिममात्मानमेकविंशं संस्कुरुते।।२।।

{मधुच्छन्दा = मधु = मन्यन्ते प्राप्नुवन्ति येन तत् (तु.म.द.ऋ.भा.१.१६.६), विज्ञातो मार्गः (तु.म.द.ऋ.भा.४.४५.३), मधु धमतेर्विपरीतस्य (नि.१०.३१), धमति अर्चतिकर्मा (निघं.३.१४), गतिकर्मा (निघं.२.१४), वधकर्मा (निघं.२.१६), प्राणो वै मधु (श.१४.१.३.३०), सौम्यं वै मधु (काठ.११.२)। अनिपद्यमानम् = अपदनशीलमचलम् (म.द.य.भा.३७.१७)}

व्याख्यानम्- इसके पश्चात् मधुच्छन्दा ऋषि अर्थात् प्राण नामक प्राण तत्त्व के कारण गति और तेज प्राप्त करने वाला ऐसा ऋषि प्राण, जो सोम तत्त्व के अन्दर व्याप्त रहता है, उस सूक्ष्म प्राण से इन्द्रदेवताक और अनुष्टुप् छन्दस्क

परि त्वा गिर्वणो गिर इमा भवन्तु विश्वतः। वृद्धायुमनु वृद्धयो जुष्टा भवन्तु जुष्टयः।। (ऋ.१.१०.१२)

की उत्पत्ति होती है। इसके प्रभाव से इन्द्र तत्त्व अर्थात् भेदक शक्तिसम्पन्न विद्युद्युक्त वायु तेजस्वी और बलवान् होता है, जो सब ओर से विभिन्न प्रकार के छन्दों से घिरा हुआ निरन्तर वर्धमान प्रकाश को धारण करने वाला उन्नत होता चला जाता है। तारे के अन्दर विभिन्न प्रकार की वर्धमान छन्दरूप तरंगें इस ऋग्रूप तरंग का सेवन करती हैं अर्थात् इसको अवशोषित कर स्वयं समृद्ध होती हैं।

इसके पश्चात् राहूगण गोतम ऋषि अर्थात् धनंजय प्राण की उत्पत्ति होती है। इन्द्रदेवताक तथा निचृज्जगती छन्दस्क ऋचा

अधि द्वयोरदधा उक्थ्यं१ वचो यतस्रुचा मिथुना या सपर्यतः।
असंयत्तो व्रते ते क्षेति पुष्यति भद्रा शक्तिर्यजमानाय सुन्वते।। (ऋ.१.८३.३)

इसके प्रभाव से तीव्र भेदक विद्युत् वायु समृद्ध होकर ऊष्मा के उत्सर्जन, अवशोषण में वृद्धि करता है तथा इस ऋग्रूप तरंग के विभिन्न पदों के प्रभाव से विद्युत् और वायु दोनों मिलकर विभिन्न रश्मियों को नियन्त्रित करने में समर्थ होकर विभिन्न उक्थ्यों **{पशव उक्थ्यानि (कौ.ब्रा.२१.५), उक्थ्या वाजिनः (गो.उ.१.२२), उक्थ्यम् प्रशस्यनाम (निघं.३.८)}** अर्थात् विभिन्न मरुतों और वाक् तत्त्व का सेवन करते हैं, जिसके कारण अनियन्त्रित कणों वा तरंगों को भी धारण करके नियन्त्रण में लेकर अपने अन्दर बसाते हैं। इससे विभिन्न कणों की संयोग आदि प्रक्रिया पुष्ट होती है। **{स्रुक् = गौर्वै स्रुचः (तै.ब्रा.३.३.५.४), यजमानः स्रुचः (तै.ब्रा.३.३.६.३), इमे वै लोकाः स्रुचः (तै.ब्रा.३.३.१.२)}**

तदुपरान्त बार्हस्पत्य भरद्वाज ऋषि अर्थात् प्राण नामक प्राण तत्त्व से पूषादेवताक एवं त्रिष्टुप् छन्दस्क ऋचा

शुक्रं ते अन्यद्यजतं ते अन्यद्विषुरूपे अहनी द्यौरिवासि।
विश्वा हि माया अवसि स्वधावो भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु।। (ऋ.६.५८.१)

की उत्पत्ति होती है **{पूषा = असौ वै पूषा योऽसौ (सूर्यः) तपति (कौ.ब्रा.५.२), पूषा विश्ववेदाः (मै.२.६.६)}** इसके प्रभाव से तारों में स्थित सभी प्रकार के प्रकाशमान पदार्थ अत्यन्त तीव्र तेज और बल प्राप्त करते हैं। वे तारे असंख्य प्रकार के संयोज्य कणों से भरपूर अति तेजस्वी और बल से सम्पन्न प्राण और अपान के साथ मिले रहते हैं। वे तारे आकाश के समान व्यापक और विद्युत् के समान प्रकाशक होते हैं। वे पृथिवी आदि लोकों को महती ऊर्जा का दान करने वाले होते हैं।

तदुपरान्त दीर्घतमा ऋषि अर्थात् ऐसा सूक्ष्म प्राण जो विस्तृत फैलता हुआ लम्बाई में बढ़ता जाता है (देखें १.१५.१), से विश्वेदेवादेवताक निचृत् त्रिष्टुप् छन्दस्क ऋचा

अप॑श्यं गोपामनि॑पद्यमानमा च परा॑ च पथिभिश्चर॑न्तम्।
स सध्रीचीः स विषू॑चीर्वसा॑न आ व॑रीवर्ति भुव॑नेष्वन्तः।। (ऋ.१.१६४.३१)

की उत्पत्ति होती है। इसके प्रभाव से तारों के अन्दर सभी प्रकार के प्रकाशमान तत्त्व और भी अधिक तेजस्वी और बलवान् होते हैं। इस कारण अपने अन्दर अविचलित विभिन्न प्रक्रियाओं को संचालित करते हुए विभिन्न प्रकार की किरणों के पालक और रक्षक बनकर अपने आगे और पीछे परिक्रमण करने वाले विभिन्न लोकों को मानो देखते हुए आकर्षित करते रहते हैं। वे तारे अपने साथ प्राप्त हुई विभिन्न लोकों की गतियों को अपनी गति से आच्छादित करते हुए विभिन्न लोकों के बीच अच्छी प्रकार निरंतर आते-जाते रहते हैं।

ये चारों ऋचाएं एकपातिनी कहलाती हैं। इससे प्रतीत होता है कि ये चारों तरंगें एक साथ उत्पन्न होकर गति करती है।।

इस प्रकार इस प्रकरण में कुल मिलाकर इक्कीस ऋग्रूप तरंगों की चर्चा की गयी है।।

उपर्युक्त इक्कीस ऋचाओं की प्रशंसा में **महर्षि ऐतरेय महीदास** लिखते हैं कि मनुष्य इक्कीस अवयवों वाला होता है अर्थात् एक आत्मा और हाथों की दस एवं पैरों की दस अंगुलियाँ। **{पुरुषो वाव संवत्सरः (गो.पू.५.३,५), पुरुष एव सविता (जै.उ.४.१२.१.१७), सूर्य आत्मा (म.द.य.भा.७.४२)}** हमारी दृष्टि में महर्षि का आशय यह है कि सूर्यरूपी पुरुष भी इक्कीस अंगों वाला होता है। प्रश्न यह उठता है कि ग्रन्थकार ने मानव शरीर में आत्मा के पश्चात् अंगों के रूप में केवल अंगुलियों को ही इतनी अधिक प्रधानता क्यों दी है कि अन्य किसी अंग की गणना तक नहीं की गयी, जबकि अंगुलियां अपेक्षाकृत सबसे कम महत्ववाला अंग है। अंगुलियों से अधिक महत्वपूर्ण अनेकों अंग शरीर में विद्यमान होते हैं, तो उनकी चर्चा तक भी नहीं। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ नेब्यूला वा तारे रूपी पुरुष के साथ प्राणों के कार्य के प्रसंग में दो कार्य विशेष महत्व के हैं- १. आकर्षण आदि शक्तियां, २. गतिकारिणी वा धारणावती शक्तियाँ। इनमें से आकर्षण आदि शक्तियाँ हाथ की अंगुलियों का प्रतीक हैं और गतिकारिणी एवं धारणावती शक्तियाँ पैरों की अंगुलियों का प्रतीक हैं क्योंकि अपने शरीर में भी हाथ किसी पदार्थ को आकर्षित व धारण करते हैं और पैर सम्पूर्ण शरीर को धारण करते और गतिशील बनाते हैं, इसलिए तारों की उपर्युक्त विवेचना में हाथ और पैरों का ही विशेष और प्रत्यक्ष महत्व है। अब हस्त और पाद पर भी विचार करें, तो अंगुलिविहीन हाथ और पैर कोई काम नहीं कर सकते, इसलिए हाथ और पैर की गणना न करके महर्षि उनकी अगुलियों की गणना करते हैं। ये अंगुलियां ही अग्रणी होकर दान, ग्रहण, धारण और गति आदि में अपनी विशेष भूमिका निभाती हैं। इसलिए **भगवान् यास्क** ने **निरुक्त (३.८)** में कहा- **''अङ्गुलयः कस्माद् = अग्रगामिन्यो भवन्तीति''**। यहाँ **'आत्मा'** शब्द का अर्थ अंगुलियों को छोड़कर समस्त शरीर का ग्रहण करना योग्य है। इसलिये शतपथ में कहा- **आत्मा वै तनूः (श.६.७.२.६), मध्यतो ह्ययमात्मा (श.६.२.२.१३; ८.१.४.३)**। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि तारों में बीस अंगुलियां व एक आत्मा के रूप में किसका ग्रहण करें, हमें ऐसा प्रतीत होता है कि उपर्युक्त इक्कीस ऋग्रूप तरंगों में से

सं सी॑दस्व म॒हाँ अ॑सि शोच॑स्व देव॒वीत॑मः।
वि धू॒मम॑ग्ने अरु॒षं मि॑येध्य सृ॒ज प्र॑शस्त द॒र्शतम्।। (ऋ.१.३६.९)

जो अग्निदेवताक एवं निचृदुपरिष्टाद् बृहती छन्दस्क है, सम्पूर्ण तारे में व्यापक होने से सम्पूर्ण तारे के आत्मा के समान है अथवा इससे सम्पूर्ण तारा प्रभावित होता है। शेष अग्निदेवताक १० ऋचाएं गति और धारण करने वाली पाद की अंगुलियों के रूप में तथा शेष १० ऋचाएं ग्रहण शक्तिसम्पन्न हस्त अंगुली के रूप में मानी जा सकती हैं। इस प्रकार इन २१ ऋग्रूप तरंगों से सम्पूर्ण पुरुषरूपी संवत्सर वा तारा संस्कृत होता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इसके उपरान्त उपर्युक्त अनुष्टुप् छन्द रश्मि तीव्र भेदक विद्युत् युक्त वायु को उत्पन्न करती है। यह रश्मि सब ओर से अनेक छन्द रश्मियों से घिरी होकर ऊर्जा को अपने अंदर धारण करती है। विभिन्न छन्द तरंगें, इस रश्मि का अवशोषण करती हैं। पुनः एक निचृज्जगती छन्द रश्मि उत्पन्न होकर तीव्र भेदक विद्युत् वायु के द्वारा ऊर्जा के उत्सर्जन व अवशोषण क्रिया को बढ़ाती है। इस रश्मि के कारण विद्युद्वायु विभिन्न अनियन्त्रित तरंगों वा कणों को भी नियन्त्रित करके संयोग वियोग की क्रिया को पुष्ट करता है। पुनः त्रिष्टुप् छन्द रश्मि उत्पन्न होकर तारों के अन्दर विद्यमान सभी प्रकाशमान पदार्थों को तीव्रतर बनाती है, जिससे तारे अत्यधिक मात्रा में ऊर्जा उत्पन्न करके अन्तरिक्षादि लोकों को प्रकाशित करते हैं। पुनः एक और निचृत् त्रिष्टुप् छन्द रश्मि उत्पन्न होकर ऊर्जा की तीव्रता और भी बढ़ा देती है। इन चारों रश्मियों से युक्त तारे अति प्रकाशमान होकर विभिन्न किरणों व इनके द्वारा विभिन्न लोकों के पालक बनते हैं। ये चारों ही रश्मियां साथ-२ चलती हैं। इस प्रकार प्राक् वर्णित कुल इक्कीस छन्द रश्मियों में से एक छन्द रश्मि सम्पूर्ण तारे में व्यापक होती है। दस रश्मियां तारों की ऊर्जा की गति व धारण गुण को तथा अन्य दस आकर्षण बल आदि को समृद्ध करती हैं।।

ॐ इति ४.२ समाप्तः ॐ

✿ अथ ४.३ प्रारभ्यते ✿

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. स्रक्वे द्रप्सस्य धमतः समस्वरन्निति नव पावमान्यो नव वै प्राणाः प्राणानेवास्मिंस्तद्दधाति।।
अयं वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भा इति।।
वेनोऽस्माद्वा ऊर्ध्वा अन्ये प्राणा वेनन्त्यवाञ्चोऽन्ये तस्माद्वेनः प्राणो वा अयं सन्नाभेरिति तस्मान्नाभिस्तन्नाभेर्नाभित्वं प्राणमेवास्मिंस्तद्दधाति।।

{पवित्रम् = पवित्रम् उदकनाम (निघं.१.१२), पवित्रं वा ऽआपः (श.१.१.१.१), मन्त्रः पवित्रमुच्यते। रश्मयः पवित्रमुच्यन्ते। आपः पवित्रमुच्यन्ते। अग्निः पवित्रमुच्यते। वायुः पवित्रमुच्यते। सोमः पवित्रमुच्यते। सूर्यः पवित्रमुच्यते। इन्द्रः पवित्रमुच्यते (नि.५.६)। अन्तरिक्षं वै पवित्रम् (काठ.२६.१०), (पवते गतिकर्मा - निघं.२.१४)। स्रक्वेषु = (प्राप्तेषूत्तमेषु गृहेषु म.द.ऋ.भा.७.५५.२)। द्रप्सः = कमनीयः (तु.म.द.ऋ.भा.७.३३.११), ज्वालादिर्गुणः (तु.म.द.ऋ.भा.१.६४.११), द्रप्सः संभृतप्सानीयो भवति (पुष्ट हुआ भक्षण योग्य) (नि.५.१४), आदित्यो द्रप्सः (श.७.४.१.२०)। सिन्धुः = तद् यदेतैरिदं सर्वं सितं तस्मात् सिन्धवः (जै.उ.१.६.२.६)। अर्कः = अर्क इति वज्रनाम (निघं.२.२०), अर्क इत्यन्ननाम (निघं.२.७), प्राणो वा ऽअर्कः (श.१०.४.१.२३), आपो वा अर्कः (श.१०.६.५.२)। धरुणः = धारकः (म.द.ऋ.भा.५.१५.१), प्रतिष्ठा वै धरुणम् (श.७.४.२.५)। भूर्णिः = धर्ता (तु.म.द.ऋ.भा.३.३.५)। जिह्वा = किरणज्वालासमूहः (तु.म.द.ऋ.भा.१.४६.१०)। असिक्नी = रात्रिनाम (निघं.१.७)। श्लोकः = वाङ्नाम (निघं.१.११), (श्लोकृ संघाते)। रभसः = वेगवन्तो वायुः (तु.म.द.य.भा.११.२३), वेगवन्त अग्निः (तु.म.द.ऋ.भा.२.१०.४)। नृचक्षसः = नृणां द्रष्टारः (म.द.य.भा.३०.४), (नरः = नरो ह वै देवविशः - जै.ब्रा.१.६०), नयनकर्तारो वायवः (म.द.ऋ.भा.१.६४.१०)। रुद्रासः = वायवः (म.द.ऋ.भा.१.८५.२)। मनीषी = मनस् ईषिन्पदयोः समासे कृते शकन्ध्वादित्वात् पररूपम्। ईषिन् = ईष गतिहिंसादर्शनेषु (भ्वा) धातोस्ताच्छील्ये णिनिः (वै. को. - आ. राजवीर शास्त्री)। पवमानः = सोमो वै पवमानः (श.२.२.३.२२), प्राणो वै पवमानः (श.२.२.१.६)}

व्याख्यानम्- तदुपरान्त तारों के अन्दर पवित्र ऋषि प्राण अर्थात् ऐसा सूक्ष्म प्राण जो सोम तथा आकाश तत्त्व के मिश्रण से उत्पन्न होता है किंवा महद्-अहंकार रूपी व्यापक **'आपः'** एवं अन्तरिक्ष के सहयोग से उत्पन्न होता है, से पवमान सोमो-देवताक नौ ऋग्रूप तरंगें उत्पन्न होती हैं, जिनके छन्द हैं- प्रथम का जगती और द्वितीय से सप्तमी का निचृज्जगती एवं अष्टमी व नवमी का विराड् जगती। वे ऋचाएं हैं-

स्रक्वे॑ द्र॒प्सस्य॒ धम॑तः॒ सम॑स्वरन्नृ॒तस्य॒ योना॒ सम॑रन्त॒ नाभ॑यः।
त्रीन्त्स मू॒र्ध्नो असु॑रश्चक्र आ॒रभे॑ स॒त्यस्य॒ नाव॑: सु॒कृत॑मपीपरन्।।१।।

स॒म्यक्स॒म्यञ्चो॑ महि॒षा अ॑हेषत॒ सिन्धो॑रू॒र्मावधि॑ वे॒ना अ॑वीविपन्।

मधोर्धाराभिर्जनयन्तो अर्कमित्प्रियामिन्द्रस्य तन्वमवीवृधन्।।२।।

पवित्रवन्तः परि वाचमासते पितैषां प्रत्नो अभि रक्षति व्रतम्।
महः समुद्रं वरुणस्तिरो दधे धीरा इच्छेकुर्धरुणेष्वारभम्।।३।।

सहस्रधारेऽव ते समस्वरन्दिवो नाके मधुजिह्वा असश्चतः।
अस्य स्पशो न नि मिषन्ति भूर्णयः पदेपदे पाशिनः सन्ति सेतवः।।४।।

पितुर्मातुरध्या ये समस्वरन्नृचा शोचन्तः सन्दहन्तो अव्रतान्।
इन्द्रद्विष्टामप धमन्ति मायया त्वचमसिक्नीं भूमनो दिवस्परि।।५।।

प्रत्नान्मानादध्या ये समस्वरञ्छ्लोकयन्त्रासो रभसस्य मन्तवः।
अपानक्षासो बधिरा अहासत ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः।।६।।

सहस्रधारे वितते पवित्र आ वाचं पुनन्ति कवयो मनीषिणः।
रुद्रास एषामिषिरासो अद्रुहः स्पशः स्वञ्चः सुदृशो नृचक्षसः।।७।।

ऋतस्य गोपा न दभाय सुक्रतुस्त्री ष पवित्रा हृद्य१न्तरा दधे।
विद्वान्त्स विश्वा भुवनाभि पश्यत्यवाजुष्टान्विध्यति कर्ते अव्रतान्।।८।।

ऋतस्य तन्तुर्विततः पवित्र आ जिह्वाया अग्रे वरुणस्य मायया।
धीराश्चित्तत्समिनक्षन्त आशतात्रा कर्तमव पदात्यप्रभुः।।९।। (ऋ.९.७३.१-९)

इनके दैवत प्रभाव से सोम तत्त्व पवित्र एवं गतिमान होता है तथा छान्दस प्रभाव से ऊर्जा का उत्सर्जन व अवशोषण तीव्र व भेदक शक्तिसम्पन्न होता है तथा दीप्ति भी बढ़ती है। इनके विभिन्न पदों के प्रभाव से भिन्न-२ प्रभाव होते हैं। यथा- **'सत्यस्य नावः सुकृतं अपीपरन्' {सत्यम् = असावादित्यः सत्यम् (तै.ब्रा.२.१.११.१)}** से १.१३.८ में वर्णित तीन प्रकार की नौकाएं तारे की सम्पूर्ण प्रक्रियाओं को सुष्ठुरीत्या तारने वाली होती हैं अर्थात् उनको सहाय प्रदान करती हैं। **{असुरः = प्रकाशरहितो वायुः (म.द.य.भा.२७.१२), सर्वेषां भूगोलादिपदार्थानां यथाक्रमं प्रक्षेपकः (म.द.ऋ.भा.३.३.४), मनो वा असुरम् (जै.उ.३.६.७.३)}** उपर्युक्त तीनों प्रकार की तारक नौकाओं को अपना कार्य प्रारम्भ करने हेतु अथवा तारों के अन्दर प्रकाशित वा अप्रकाशित कण वा तरंग एवं आकाश तत्त्व को सक्रिय रखने के लिए असुर तत्त्व को उचित मात्रा वा क्रम में धारण करने में सहयोग मिलता है। यहाँ **'असुर'** शब्द का अर्थ अप्रकाशित हिंसक विद्युद्रूपाग्नि है, जो विभिन्न संयोजन क्रियाओं में अपने प्रबल प्रतिकर्षण के द्वारा बाधा डालता है। इस असुर तत्त्व को तारों के अन्दर अनेकत्र नष्ट करने की चर्चा हम कर चुके हैं। यहाँ ध्यातव्य यह है कि तारों के नाभिकीय संलयन क्षेत्र को छोड़कर प्रायः अन्यत्र सर्वत्र प्रतिकर्षण बल किंवा असुर तत्त्व की भी सम्यक् मात्रा में आवश्यकता रहती ही है। इसलिये उस आवश्यक असुर तत्त्व को धारण व क्रमबद्ध करने के लिए इस ऋचा का चतुर्थ पाद विशेष उपयोगी होता है। इस ऋचा के प्रथम पाद के प्रभाव से उस तारे के अन्दर गृहस्थानी ऋतु संज्ञक प्राण चमकते हुए सम्यक् चेष्टा करने में सहयोग प्राप्त करते हैं तथा द्वितीय पाद के प्रभाव से नाभिरूप त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ, जो तारों के अन्दर पर्याप्त मात्रा में विद्यमान होती हैं, **{ऋतम् = ऋतमित्येष (सूर्यः) वै सत्यम् (ऐ.४.२०), अग्निर्वा ऋतम् (तै.ब्रा.२.१.११.१)}** वे तारों की कारणरूप विभिन्न क्रियाओं को सम्पन्न करने के लिए उचित रीति से संगत होती हैं। द्वितीय ऋचा के प्रथम पाद के प्रभाव से विभिन्न महिमायुक्त प्राण एवं **{प्राणा वै महिषाः (श.६.७.४.५), अग्निर्वै महिषः (श.७.३.१.२३)}** अग्नि तत्त्व सम्यक् संगति के साथ वृद्धि को प्राप्त होते हैं। द्वितीय पाद के प्रभाव से तारे के अन्दर सम्पूर्ण पदार्थ को अपने साथ बांधे रखने वाले आकाश

तत्त्व की रश्मियों के ऊपर अनेक प्रकार से कम्पन उत्पन्न करते हैं। तृतीय पाद के प्रभाव से विभिन्न प्रकाशक मार्गों पर विभिन्न प्राणों की रश्मियाँ प्रकट होने तथा चतुर्थ पाद के प्रभाव से विभिन्न प्रकार के प्राण और संयोज्य कण महान् आकर्षण वाले इन्द्र तत्त्व के साथ समृद्ध होने में सहयोग मिलता है। तृतीय ऋग्रूप तरंग के प्रथम पाद के प्रभाव से शुद्ध हुए विभिन्न कण अपने चारों ओर वाक् तत्त्व का आश्रय लेने में सहयोग पाते हैं एवं द्वितीय पाद के प्रभाव से इन शुद्ध कणों की अपेक्षा प्राचीन ऋतु रश्मियाँ अपनी क्रियाओं को अधिक संरक्षित रख पाती हैं। तृतीय पाद के प्रभाव से तारों के अन्दर विशाल पदार्थसमूह के महान् समुद्र में विद्यमान अवरोधक तत्त्वों को नियन्त्रित करने में सहयोग मिलता है।

चतुर्थ पाद के प्रभाव से **{धीरः = (वागु वै धीः - ऐ.आ.१.१.४, प्राणा धियः - श.६.३.१.१३)}** विभिन्न धारक क्रियाओं को आरम्भ करने में प्राण और वाक् तत्त्व में रमण करने वाले विभिन्न पदार्थ अनुकूलतापूर्वक समर्थ होते हैं। चतुर्थ तरंग के प्रथम पाद के प्रभाव से तारों के अन्दर बहती हुई विभिन्न धारायें अपनी रक्षा करते हुए सम्यक् रूप से स्रवित होने में सहयोग प्राप्त करती हैं। द्वितीय एवं तृतीय पाद के प्रभाव से प्राणादि पदार्थों से युक्त ज्वालायें प्रकाशमान तारों में सारभूत होकर क्रान्तदर्शी होती हैं तथा चौथे पाद के प्रभाव से तारों के अन्दर पदे-पदे विद्यमान विभिन्न वरुण पाशों को धारण करने वाले के संयोग के लिये सेतु बने विभिन्न वज्ररूप प्राण सक्रिय होते हैं। पाँचवीं तरंग के प्रथम **{माता = अन्तरिक्षम् (तु.म.द.ऋ.भा.१.३७.६), वायुः (तु.म.द.ऋ.भा.३.२६.१४)}** और द्वितीय पाद के प्रभाव से ऋतु संज्ञक रश्मियाँ आकाश और वायु तत्त्व के ऊपर अच्छी प्रकार संचरण करती हुई ज्योतिर्मयी छन्द रश्मियाँ प्रतिकूल कर्मों वा पदार्थों को नष्ट करने में सहयोग प्राप्त करती हैं। इसी तरंग के द्वितीय अर्ध भाग के प्रभाव से इन्द्र अर्थात् वैद्युत वायु पर प्रहार करने वाले वृत्र नामक असुर पदार्थ को अप्रकाशित कण एवं प्रकाशित कण अपने ऊपर विद्यमान प्रज्ञापिका विद्युत् रूपी आवरण के द्वारा दूर करने में सहयोग प्राप्त करते हैं। अगली ऋग्रूप तरंग के पूर्वार्द्ध के प्रभाव से **{बधिरः = बद्धश्रोत्र (नि.१०.४१)}** मनस् तत्त्व से उत्पन्न विभिन्न अविनाशी प्राथमिक प्राण के कार्यरूप वा संघातरूप वेगवान् वायु एवं अग्नि प्रकाशमान होकर चारों ओर अच्छी प्रकार गमन करते हैं एवं उत्तरार्द्ध के प्रभाव से आकाश तत्त्व को बांधने वाले प्रतिकूल मार्गों और कर्मों को अपनाने वाले, ऐसे बाधक पदार्थ, जो यत्र-तत्र व्याप्त होते हैं तथा विभिन्न क्रियाओं में अनिष्टकारी होते हैं, तारों के केन्द्रीय भाग तक नहीं पहुँच पाते हैं।

सप्तम ऋचा के पूर्वार्द्ध के प्रभाव से असंख्य तत्त्वों को धारण करने हारे विस्तृत सूर्यादि तारों में तीव्र प्रकाशमान मनस् तत्त्व के साथ गतिमान् पदार्थों को वाक् तत्त्व अर्थात् ऋचा का यह भाग अपने तेज से पवित्र करता है एवं उत्तरार्द्ध के प्रभाव से विभिन्न नयनकर्त्ता मरुत् रूप वायु को आकर्षित करने वाले, शोभन स्वरूप, अच्छी गति वाले, प्रतिकर्षण बलरहित एवं बन्धक बलयुक्त वायु रश्मियाँ अपने मार्गों पर गमनशील होने में अनुकूलता प्राप्त करती हैं।

आठवीं ऋचा के पूर्वार्द्ध के प्रभाव से प्राणों का रक्षक अर्थात् मूल प्राणों को अपने साथ संरक्षित किये हुए शोभन कर्म करने वाला पदार्थ किसी बाधक तत्त्व के नियन्त्रण में नहीं आता और तारों के केन्द्रीय भाग में जाकर वायु, अग्नि और आकाश के त्रित्व को धारण करने में सहयोग प्राप्त करता है और उत्तरार्द्ध के प्रभाव से ऐसा वह पदार्थ सम्पूर्ण लोकों को अपने आकर्षण में रखने और विपरीत कर्म तथा पदार्थों को अपने से दूर करने में सफल होता है।

नवमीं ऋचा के पूर्वार्द्ध के प्रभाव से मूल प्राणों के विस्तार से विस्तृत हुए व्यान तत्त्व की शक्ति के साथ तारों में व्याप्त पदार्थ तारों के ऊपरी भाग की ज्वालाओं में निवास करता है एवं उत्तरार्द्ध के प्रभाव से दुर्बल कण वा तरंगें अपने पथ से विचलित हो जाते हैं और धारणा आदि बलों से युक्त पदार्थ ही गतिशील होकर अपने कर्मों में स्थिर होते हैं।

ये नौ ऋग्रूप छन्द रश्मियाँ उन तारों के अन्दर विद्यमान विभिन्न पदार्थों में प्राणत्व अर्थात् बल, गति आदि को ही धारण करती हैं।।

तदुपरान्त वेन ऋषि अर्थात् सूत्रात्मा वायु एवं प्राण तत्त्व के संयोग से बने एक सूक्ष्म प्राण द्वारा वेनदेवताक और निचृत्त्रिष्टुप् छन्दस्क **"अयं वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भा......."(ऋ.१०.१२३.१)** ऋग्रूप तरंग की उत्पत्ति होती है, जिसके छान्दस और दैवत प्रभाव से आदित्यरूप तारों के अन्दर बलों की तीव्रता व तेजस्विता बढ़ती है। **{असावादित्यो वेनः (श.७.४.१.१४)**, शेष देखें १.१६.१**}** इसके पूर्वार्द्ध के प्रभाव

से बृहती और सूत्रात्मा वायु आदि के प्रकाशमान आवरण से आवृत तारे के गर्भरूप मध्य भाग में स्थित विचित्र रश्मियाँ अन्तरिक्ष में विद्यमान विभिन्न कणों और ज्योतियों को प्रेरित करने में सहयोग प्राप्त करती हैं एवं उत्तरार्द्ध के प्रभाव से विभिन्न पदार्थों के उत्पादक, अनेक प्रकार की तन्मात्राओं के संगम स्थान, तारों के केन्द्रीय भाग में व्याप्त किरणें संलयन से उत्पन्न शिशुरूप ऊर्जा के समान विभिन्न प्रकाशमान पदार्थों में व्याप्त होती हैं।।

यह छन्द रश्मि, जो वेनदेवताक होने से तारे के अन्दर सभी उपर्युक्त आठों छन्द रश्मियों को धारण किए रहती है। यह सम्पूर्ण तारे में विद्यमान विभिन्न छन्द रश्मियों को अपने बन्धन में बांधने वाली नाभि के समान है। कुछ रश्मियां इसके ऊपरी भाग तथा कुछ इसके नीचे होती हैं। इस प्रकार यह वेन नामक यह रश्मि अन्य रश्मियों के बीच में स्थित होकर सब ओर से अन्य रश्मियाँ को अपने प्रबल आकर्षण बल में बांधे रखती है। जिस प्रकार शरीर में नाभि शरीर का केन्द्र होता है, उसी प्रकार यह रश्मि भी केन्द्रवत् सबको नियन्त्रित रखती है। इस प्रकार तारों में होने वाले प्राण यज्ञ में प्राणों को धारण व पोषित करती है। **यह छन्द प्राण वेन संज्ञक तथा नाभि रूप होने से ऊर्जा को भी क्वान्टा या फोटोन के रूप में बांधता है, जिससे विभिन्न फोटोन्स ऊर्जा की एक विशेष मात्रा को ही धारण करते हैं। विशेषकर जब फोटोन्स किसी इलेक्ट्रॉन पर गिरते हैं तब ऊर्जा की एक विशेष मात्रा के साथ ही इलेक्ट्रॉन से संयुक्त हो जाते हैं, न कि सतत प्रवहमान ऊर्जा किसी इलेक्ट्रॉन से संयुक्त होती है।** यह वेन छन्द फोटोन्स के साथ संयुक्त होने वाले अन्य छन्द आदि प्राणों के मध्य स्थित होकर चलता है, जो मुक्त अवस्था में ऊर्जा के सतत प्रवाह में बाधक नहीं होती, परन्तु उत्सर्जन व अवशोषण के समय ऊर्जा को बांधकर कण रूप में बदल देती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- व्याख्यान में वर्णित आठ विभिन्न जगती एवं एक त्रिष्टुप् छन्द रश्मि उत्पन्न होती हैं, जिनमें से त्रिष्टुप् रश्मि अन्य आठों जगती रश्मियों को अपने बंधन में बांधे रखती है। इन सबके प्रभाव से तेजस्विता और बल की वृद्धि होकर ऊर्जा का उत्सर्जन और अवशोषण तीव्र होता है और इनके प्रभाव से विभिन्न कणों का आकर्षण आदि बल बढ़ने से संयोगादि प्रक्रिया तीव्र होती है। डार्क एनर्जी एवं प्रतिकर्षण बल आदि को दूर वा नष्ट करने के लिए अनेक प्राणों के कार्यरत रहने के मध्य इनके द्वारा इन बलों की उचित मात्रा में रक्षा भी होती है। आकाश तत्त्व की रश्मियों में अनेक कम्पन होते और विभिन्न प्राण विद्युत् के साथ संगत होते हैं। विभिन्न प्राणों की धारणाशक्ति एवं तारों के अन्दर बहती हुई पदार्थ की विभिन्न धारायें विभिन्न प्रकाशमान ज्वालाओं के साथ बहती रहती हैं। ऋतु संज्ञक प्राण रश्मियाँ और विभिन्न छन्द रश्मियाँ अनुकूलता से आकाश में गमन करती हुई बाधक तत्त्वों को दूर करने में समर्थ होती हैं। तारों के केन्द्रीय भाग में वायु, अग्नि और आकाश अत्यन्त समर्थ होकर अपने साथ सम्पूर्ण पदार्थ को बांधे रखने में समर्थ होता है तथा व्यान नामक प्राण तारों के बाहरी भाग में विद्यमान ज्वालामय पदार्थों के साथ व्याप्त होते है। इसके साथ ही त्रिष्टुप् छन्द रश्मि वेन संज्ञक तथा नाभिरूप होने से ऊर्जा को भी क्वान्टा या फोटोन के रूप में बांधता है, जिससे विभिन्न फोटोन्स ऊर्जा की एक विशेष मात्रा को ही धारण करते हैं, विशेषकर जब फोटोन्स किसी इलेक्ट्रॉन पर गिरते हैं, तब ऊर्जा की एक विशेष मात्रा के साथ ही इलेक्ट्रॉन से संयुक्त हो जाते हैं, न कि सतत प्रवहमान ऊर्जा। वेन छन्द रश्मि किसी इलेक्ट्रॉन से संयुक्त होने वाले अन्य छन्द आदि प्राणों के मध्य स्थित होकर चलती है, जो मुक्त अवस्था में ऊर्जा के सतत प्रवाह में बाधक नहीं होती, परन्तु उत्सर्जन व अवशोषण के समय ऊर्जा को बांधकर कण रूप में बदल देती है।।*

* **1.** "In 1905, Einstein, building on the pioneering work of Max Planck proposed that light could indeed exist as discrete bundles of energy, which we now call photons. E=hf" -Pg. No. 1016

2. "Einstein's photoelectric equation: $hf = \varphi + K_{max}$ This equation suggests that a single photon carries an energy hf into the emitter, where it is essentially transferred to a single electron. Part of this energy, called work function φ..." -Pg. No. 1020 Physics (Halliday.Resnick.Krane) Vol 2

२. 'पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते' 'तपोष्पवित्रं विततं दिवस्पदे' 'वियत्पवित्रं धिषणा अतन्वतेति' पूतवन्तः प्राणास्त इमेऽवाञ्चो रेतस्यो मूत्र्यः पुरीष्या इत्येतानेवास्मिंस्तद्दधाति।।३।।

व्याख्यानम्– तदुपरान्त पवित्र ऋषि प्राण से पवमान सोमदेवताक क्रमशः निचृज्जगती और विराड्जगती छन्दस्क दो ऋग्रूप तरंगें

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत।।१।।

तपोष्पवित्रं विततं दिवस्पदे शोचन्तो अस्य तन्तवो व्यस्थिरन्।
अवन्त्यस्य पवीतारमाशवो दिवस्पृष्ठमधि तिष्ठन्ति चेतसा।।२।। (ऋ.९.८३.१-२)

उत्पन्न होती हैं। इसके साथ ही **आश्वलायन श्रौतसूत्र ४.६.३** में उद्धृत ऋचा **"वियत्पवित्रं धिषणा अतन्वत धर्मं शोचन्तं प्रणवेषु बिभ्रतः। समुद्रे अन्तराय वो विचक्षणं त्रिरह्नो नाम सूर्यस्य मन्वत।"** की भी उत्पत्ति होती है। हमें इसका ऋषि और देवता पूर्व ऋचाओं के समान ही प्रतीत होता है एवं छन्द निचृज्जगती है। इन सबके छान्दस और दैवत प्रभाव से सोम तत्त्व पवित्र और गतिशील होता एवं ऊर्जा का उत्सर्जन और अवशोषण कर्म समृद्ध होता है। प्रथम रश्मि के पूर्वार्द्ध के प्रभाव से विद्युत् और सूत्रात्मा वायु सब ओर विभिन्न व्यापक पदार्थों को विस्तृत और पवित्र करने में सहायक होते हैं एवं उत्तरार्द्ध के प्रभाव से कम ताप वाले पदार्थ उच्च संतप्त पदार्थों से पृथक् होते हैं और उच्च संतप्त पदार्थ ही परस्पर संलयित होते हैं। द्वितीय ऋचा के पूर्वार्द्ध के प्रभाव से तारों के केन्द्रीय
भाग में अत्यन्त तप्त और पवित्र दीप्ति वाली रश्मियाँ व्यापक रूप से स्थिर रहती हैं एवं उत्तरार्द्ध के प्रभाव से वे रश्मियाँ मनस् तत्त्व के साथ विशेष संगत होकर अतिशीघ्रगामी पवित्रकारिणी किरणों की रक्षा करके उसी क्षेत्र में
स्थिर रहती हैं अर्थात् उसी सीमा में गमन करती रहती हैं। तृतीय छन्द-रश्मि के प्रभाव से {मन्वत = मन्यन्ते
(म.द.ऋ.भा.४.१.१६), (मन्यते इति अर्चतिकर्मा - निघं.३.१४)} पवित्र आकाश तत्त्व मनस् तत्त्व के साथ संगत होकर **'ओम्'** दैवी गायत्री छन्द रश्मियों के अन्दर धारित और पोषित होता हुआ ज्वालायुक्त ताप को विस्तृत करता है {त्रिरह्नः = (अहनी अहोरात्रे - नि.३.२२; अहरेव सविता - गो.पू.१.३३)} तथा उस अन्तरिक्ष में विशेष बाधक तत्त्व आने पर प्राणापान और विद्युद् रूपी त्रिरह्न तारे को विशेष रूप से चमकाने में सहयोग करते हैं।
{पुरीषम् = पूर्णबलम् (म.द.य.भा.१२.४६), सर्वत्राऽभिव्याप्तम् (म.द.य.भा.३८.२१), पुरीषमित्युदकनाम (निघं.१.१२), स एष प्राण एव यत् पुरीषम् (श.८.७.३.६), पुरीषं पृणातेः पूरयतेर्वा (नि.२.२२)। मूत्रम् = प्रस्रावः (म.द.य.भा.१९.७६)}

उपर्युक्त तीनों छन्द रश्मियाँ विभिन्न फोटोन्स को पूर्ण बल प्रदान करके विभिन्न कणों के द्वारा उनके बार-२ अवशोषित व स्रावित होने की प्रक्रिया को समृद्ध करती हैं, जिससे ऊर्जा तारों के अन्दर उत्सर्जन और अवशोषण की असंख्य त्वरित प्रक्रियाओं से गुजरते हुए लाखों मील की दूरी को हजारों, लाखों वर्षों में तय करके तारों से बाहर आकर मुक्त रूप से गति करती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार– उपर्युक्त जगती छन्द रश्मियों के प्रभाव से ऊर्जा के उत्सर्जन और अवशोषण कर्म तेज होते हैं। अति उच्च ताप और न्यूनताप वाले पदार्थ पृथक्-२ होकर अपना-२ कार्य करते हैं। **तारों के केन्द्रीय भाग में विद्यमान कुछ विशेष रश्मियाँ उसी क्षेत्र में विचरण करते हुए केन्द्रीय ताप की रक्षा करती हैं।** तारों के अन्दर कुछ बाधक रश्मियां अपनी मर्यादा का अतिक्रमण करने में असमर्थ हो जाने से सभी क्रियाएं व्यवस्थित होती हैं। तारों के अन्दर विद्यमान पदार्थ की ऊर्जा उत्सर्जन व अवशोषण क्षमता बढ़ने से ऊर्जा केन्द्रीय भाग से बाहर तक आकर अन्तरिक्ष में उत्सर्जित हो जाती है।।

❦ इति ४.३ समाप्तः ❦

ॐ अथ ४.४ प्रारभ्यते ॐ

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. 'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे' इति ब्राह्मणस्पत्यं ब्रह्म वै बृहस्पतिर्ब्रह्मणैवैनं तद्भिषज्यति।।

{गृत्समदः = गृत्समदो गृत्समदनः। गृत्स इति मेधाविनाम। गृणातेः स्तुतिकर्मणः (नि.९.५), (मदनः = मदति अर्चतिकर्मा - निघं.३.१४; मदन्ति सम्मोदन्ते - नि.१०.२५), स यत्प्राणो गृत्सोऽपानो मदस्तस्माद् गृत्समदस्तस्माद् गृत्समद इत्याचक्षत एतमेव (प्राणे) सन्तम् (ऐ.आ. २.२.१)। गणः = मरुतां समूह इव (म.द.ऋ.भा.१.८७.४), किरणसमूहः (तु.म.द.ऋ.भा. १.६.८), गणः वाङ्नाम (निघं.१.११)। उस्रा = रश्मिनाम (निघं.१.५)। गोत्रः = मेघनाम (निघं.१.१०)। स्वर्विदः = स्वोऽन्तरिक्षं विन्दति येन सः (तु.म.द.ऋ.भा.१.५२.१)। सुनीतिः = (नीतिः = णीञ् प्रापणे+क्तिन्)। मन्युमीः = यो मन्युं मीनाति हिनस्ति सः (म.द.ऋ.भा. १.१००.६)। द्वयाविनः = उभयपक्षाऽऽश्रिताः (म.द.ऋ.भा.२.२३.५)। ह्वरः = क्रोधनाम (निघं.२.१३)। दुच्छुना = दुस्+शुना = (शुनः = वायुः शु एत्यन्तरिक्षे - नि.६.४०, टुओश्वि गतिवृद्ध्योः)। मर्मर्तु = भृशं प्राप्नोतु (म.द.ऋ.भा.२.२३.६)। अनागसम् = निर्माणदोषरहितम् (म.द.य.भा.२१.७)। मर्चयात् = सुमार्गे नयेत् (म.द.ऋ.भा.२.२३.७)। अरातीवा = अराति+वन संभक्तौ (भ्वा) धातोः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' इति वनिप्। 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' इति नकारस्याकारः पूर्वपदस्य च दीर्घत्वम् (वै.को. - आ. राजवीर शास्त्री), (अरातिः = अदान-क्रिया - तु.म.द.ऋ.भा.६.४४.६; शत्रुः - म.द.ऋ.भा.२.७. २)। अवस्पर्त्तः = अवसा रक्षणेन दुःखात् पारकर्त्तः (म.द.ऋ.भा.२.२३.८)। अस्मयुः = आत्मनोऽस्मानिच्छुरिव (इन्द्रः) (म.द.ऋ.भा.३.४२.१)। अनप्नसः = (अप्नः कर्मनामसु, अपत्यनामसु, रूपनामसु, पदनामसु च पठितः तेन नञ्बहुव्रीहिः। अनप्नस अप्न इति रूपनाम आप्नोतीति सतः - नि.३.११, वै.को. - आ. राजवीर शास्त्री से उद्धृत)। सस्निः = शुद्धः (म.द.ऋ.भा.३.१५.५), शेते यस्मिन् सः (म.द.ऋ.भा.२.१८.१), शर्द्धतः = (शर्द्धः बलनाम - निघं.२.९)। ओहते = वहति प्रापयति (म.द.ऋ.भा.५.४२.१०)}

व्याख्यानम्- तदुपरान्त गृत्समद ऋषि अर्थात् प्राण और अपान के संयोग से १९ ऋग्रूप तरंगें उत्पन्न होती हैं-

गणानां॑ त्वा ग॒णप॑तिं हवामहे क॒विं क॑वी॒नामु॑पमश्र॑वस्तमम्।
ज्ये॒ष्ठ॒राजं॒ ब्रह्म॑णां ब्रह्मणस्पत॒ आ नः॑ शृ॒ण्वन्नू॒तिभिः॑ सीद॒ साद॑नम्।।१।।

दे॒वाश्चि॑त्ते असु॒र्य॒ प्रचे॑तसो॒ बृह॑स्पते य॒ज्ञियं॑ भा॒गमा॑नशुः।
उ॒स्राइ॑व॒ सूर्यो॒ ज्योति॑षा म॒हो विश्वे॑षा॒मिज्ज॑नि॒ता ब्रह्म॑णामसि।।२।।

आ वि॒बाध्या॑ परि॒राप॒स्तमां॑सि च॒ ज्योति॑ष्मन्तं॒ रथ॑मृ॒तस्य॑ तिष्ठसि।
बृह॑स्पते भी॒मम॑मित्र॒दम्भ॑नं र॒क्षोहणं॑ गोत्र॒भिदं॑ स्व॒र्विद॑म्।।३।।

सुनीतिभिर्नयसि त्रायसे जनं यस्तुभ्यं दाशान्न तमंहो अश्नवत्।
ब्रह्मद्विषस्तपनो मन्युमीरसि बृहस्पते महि तत्ते महित्वनम्।।४।।

न तमंहो न दुरितं कुतश्चन नारातयस्तितिरुर्न द्वयाविनः।
विश्वा इदस्माद् ध्वरसो वि बाधसे यं सुगोपा रक्षसि ब्रह्मणस्पते।।५।।

त्वं नो गोपाः पथिकृद्विचक्षणस्तव व्रताय मतिभिर्जरामहे।
बृहस्पते यो नो अभि ह्वरो दधे स्वा तं मर्मर्तु दुच्छुना हरस्वती।।६।।

उत वा यो नो मर्चयादनागसोऽ रातीवा मर्तः सानुको वृकः।
बृहस्पते अप तं वर्तया पथः सुगं नो अस्यै देववीतये कृधि।।७।।

त्रातारं त्वा तनूनां हवामहेऽ वस्पर्तरधिवक्तारमस्मयुम्।
बृहस्पते देवनिदो नि बर्हय मा दुरेवा उत्तरं सुम्नमुन्नशन्।।८।।

त्वया वयं सुवृधा ब्रह्मणस्पते स्पार्हा वसु मनुष्या ददीमहि।
या नो दूरे तळितो या अरातयोऽ भि सन्ति जम्भया ता अनप्नसः।।९।।

त्वया वयमुत्तमं धीमहे वयो बृहस्पते पप्रिणा सस्निना युजा।
मा नो दुःशंसो अभिदिप्सुरीशत प्र सुशंसा मतिभिस्तारिषीमहि।।१०।।

अनानुदो वृषभो जग्मिराहवं निष्टप्ता शत्रुं पृतनासु सासहिः।
असि सत्य ऋणया ब्रह्मणस्पत उग्रस्य चिद्दमिता वीळुहर्षिणः।।११।।

अदेवेन मनसा यो रिषण्यति शासामुग्रो मन्यमानो जिघांसति।
बृहस्पते मा प्रणक्तस्य नो वधो नि कर्म मन्युं दुरेवस्य शर्धतः।।१२।।

भरेषु हव्यो नमसोपसद्यो गन्ता वाजेषु सनिता धनंधनम्।
विश्वा इदर्यो अभिदिप्स्वो३ मृधो बृहस्पतिर्वि ववर्हा रथाँइव।।१३।।

तेजिष्ठया तपनी रक्षसस्तप ये त्वा निदे दधिरे दृष्टवीर्यम्।
आविस्तत्कृष्व यदसत्त उक्थ्यं१ बृहस्पते वि परिरापो अर्दय।।१४।।

बृहस्पते अति यदर्यो अर्हाद् द्युमद्विभाति क्रतुमज्जनेषु।
यद् दीदयच्छवस ऋतप्रजात तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम्।।१५।।

मा नः स्तेनेभ्यो ये अभि द्रुहस्पदे निरामिणो रिपवोऽ न्नेषु जागृधुः।
आ देवानामोहते वि व्रयो हृदि बृहस्पते न परः साम्नो विदुः।।१६।।

विश्वेभ्यो हि त्वा भुवनेभ्यस्परि त्वष्टाजनत्साम्नः साम्नः कविः।
स ऋणचिदृणया ब्रह्मणस्पतिर्द्रुहो हन्ता मह ऋतस्य धर्तरि।।१७।।

तव॑ श्रि॒ये व्य॑जिहीत॒ पर्व॑तो॒ गवां॑ गो॒त्रमु॒दसृ॑जो॒ यद॑ङ्गिरः।
इन्द्रे॑ण यु॒जा तम॑सा॒ परी॑वृतं॒ बृह॑स्पते॒ निर॒पामौ॑ब्जो अ॒र्ण॒वम्॥१८॥

ब्रह्म॑णस्पते॒ त्वम॒स्य य॒न्ता सू॒क्तस्य॑ बोधि॒ तन॑यं च जिन्व।
विश्वं॒ तद्भ॒द्रं यदव॑न्ति दे॒वा बृ॒हद्व॑देम वि॒दथे॑ सु॒वीराः॑॥१९॥ (ऋ.२.२३.१-१९)

इन ऋचाओं के देवता ब्रह्मणस्पति और बृहस्पति हैं तथा छन्द जगती, विराड् जगती, निचृज्जगती, भुरिक् त्रिष्टुप् एवं निचृत् त्रिष्टुप् है, जिनके प्रभाव से विद्युत् समृद्ध होती एवं विभिन्न बल और तेज तीव्र होकर ऊर्जा उत्सर्जन व अवशोषण प्रक्रियायें तेज होती हैं। शेष प्रभाव निम्नानुसार होते हैं-

प्रथम छन्द रश्मि के प्रभाव से **{ब्रह्मणस्पतिः = एष वै ब्रह्मणस्पतिर्य एष (सूर्यः) तपति (श.१४.१.२.१५)}** विद्युत् वा प्राणों के भण्डार, तारों में विद्यमान विभिन्न मरुद् रूप रश्मियों के स्वामी देदीप्यमान सोम पदार्थ अथवा विभिन्न प्राण समूह ही संपीडित होकर अत्यन्त तेजस्वी अग्नि का रूप धारण करके विभिन्न संरक्षित मार्गों पर चलते हुए अपने कर्मों में स्थिर रहते हैं।

द्वितीय छन्द रश्मि के प्रभाव से मनस् तत्त्व में रहने वाले विद्युद् अग्नि के रक्षक प्रखर तेजस्वी संयोग-वियोग कराने वाले प्राण और अपान तत्त्व किरणों के रूप में तेजस्वी तारों में व्याप्त होते हैं और वे ही व्यापक प्राणापान समस्त विद्युद् एवं अग्नि आदि के उत्पन्न करने वाले होते हैं।

तृतीय छन्द रश्मि के प्रभाव से सूर्यादि तारे, जो सब ओर से विभिन्न तन्मात्राओं से भरे होते हैं, तारों में से अन्धकारयुक्त वायु और हिंसक विद्युत् आदि के मेघों को छिन्न-भिन्न करने एवं अन्तरिक्ष को बहुत प्रकाशमान और वाहन के रूप में प्रयोग करने वाले प्राणापान एवं धनञ्जय सब ओर विद्यमान होते हैं।

चतुर्थ छन्द रश्मि के प्रभाव से ये प्राणापान उत्तम मार्गों के द्वारा उत्पन्न ऊर्जा एवं विभिन्न कणों को संरक्षित करते हुए सम्पूर्ण तारे में व्याप्त कर देते हैं और इन प्राणापान को कोई भी बाधक तत्त्व रोक नहीं पाते हैं। ये ब्रह्म अर्थात् विद्युत् वायु पर प्रहार करने वाले हिंसक विद्युत् वायु को तपा करके उनमें भी व्याप्त हो जाते हैं।

पाँचवीं छन्द रश्मि के प्रभाव से विद्युत् के पालक और रक्षक प्राणापान विभिन्न हिंसक और बाधक क्रियाओं से तारों के अन्दर चलने वाली विभिन्न क्रियाओं की रक्षा करते हैं। कहीं भी कोई हिंसक विद्युत् का प्रहार अथवा वरुणपाश रूपी अवरोधक पदार्थ अथवा दोनों की ही बाधा दूर होकर विभिन्न तत्त्वों की क्रियाएं सफल होती हैं।

छठीं छन्द रश्मि के प्रभाव से तारों के अन्दर प्रतिकूल प्रभाव वाले वायु अर्थात् अप्रकाशित हिंसक वायु के ऊपर तीव्र आकर्षण बलों से युक्त विद्युत् वायु आदि के तापयुक्त विकिरण समूह सब ओर से प्रहार करते हैं, जिससे विभिन्न प्रकार के परमाणु विभिन्न कर्म करने के लिए विभिन्न दीप्तियों से युक्त होकर अपने मार्गों की रक्षा करते हैं।

सातवीं छन्द रश्मि के प्रभाव से **{वृकः = वज्रनाम (निघं.२.२०), स्तेननाम (निघं.३.२४), आदित्योऽपि वृक उच्यते (नि.५.२१)}** तारों के अन्दर विद्यमान तीव्र अग्नि ऐसे मनुष्य-संज्ञक कणों, जो संयोगादि क्रियाओं में बाधायें खड़ी करते हैं और असुर संज्ञक हिंसक विद्युत् के साथ संगत होते हैं, उनको दूर करके विभिन्न परमाणुओं को सुरक्षित मार्ग प्रदान करने एवं ऊर्जा की व्याप्ति करने में सहयोग करता है।

आठवीं छन्द रश्मि के प्रभाव से तारों की प्रबल ऊष्मा सम्पूर्ण तारे की रक्षा करने एवं विभिन्न प्रकाशित कणों के मार्ग में बाधा डालने वाले पदार्थों को छिन्न-भिन्न करने, अतिशय वेगवान् इन्द्र तत्त्व अर्थात् विद्युत् युक्त वायु की रक्षा करने में सहायक होती है।

नौवीं छन्द रश्मि के प्रभाव से तारों के अन्दर, विशेषकर केन्द्रीय भाग में अग्नि की प्रचुरता बनाये रखने के लिए विभिन्न प्राण तत्त्वों, जो सुन्दरता से सभी क्रियाओं को बढ़ाने वाले हैं, के द्वारा मनुष्य नामक कणों को वसु नामक प्राणों वा गायत्री छन्दों से **{गायत्री वसुनाम पत्नी - गो.उ.२.९.}** युक्त करके दूर देश में, जो तीक्ष्ण हिंसक विद्युत्, जो विभिन्न कर्मों में बाधक होती है और जिससे ऊर्जा का उत्सर्जन और अवशोषण अवरुद्ध होता है, उसे नष्ट करने में सहयोग मिलता है।

दसवीं छन्द रश्मि के प्रभाव से प्राणापान से परिपूर्ण शुद्ध ऊर्जा के साथ सभी प्रकार के कण गायत्री आदि छन्दों को धारण करते हैं, जिससे वे पदार्थ अच्छे प्रकार प्रकाशमान होकर विभिन्न बाधक तत्त्वों के नियन्त्रण में न आकर उत्तमता से गमन करते हैं।

ग्यारहवीं छन्द रश्मि के प्रभाव से तारों के अन्दर विभिन्न प्रकार के विद्युत् युक्त वायु विभिन्न कणों की सेनाओं को नष्ट करने के लिए तत्पर विभिन्न बाधक पदार्थों को निरन्तर संतप्त करते हैं। इसके कारण विभिन्न प्रकार के कण अथवा तरंगें निरन्तर बल को प्राप्त करके निर्बाध अपना कार्य करती हैं।

बारहवीं छन्द रश्मि के प्रभाव से तारे के विस्तृत क्षेत्र में व्याप्त प्राणापान और विद्युत् **{यन्मनः स इन्द्रः (गो.उ.४.११), मनो ह वायुर्भूत्वा दक्षिणतस्तस्थौ (श.८.१.१.७)}** अपने शासन से उग्र, अप्रकाशित वायु विद्युत्, जो अपनी रश्मियों से विभिन्न संयोगादि प्रक्रियाओं को नष्ट करने का प्रयास करता है, को अपने तीव्र बल से नष्ट करता है।

तेरहवीं छन्द रश्मि के प्रभाव से वह महान् विद्युदग्नि, जो विभिन्न पदार्थों का छेदन करने और उन्हें गतिमान बनाने में समर्थ होता है, वह अपने तीव्र तापयुक्त किरणों रूपी वज्र से विभिन्न परमाणुओं को बल प्रदान करता है। वह अग्नि विभिन्न तत्त्व-अणुओं का निर्माण करता हुआ अपनी रमणीय किरणों के द्वारा विभिन्न विघ्नों को दूर करता है।

चौदहवीं रश्मि के प्रभाव से वही तेजस्वी विद्युदग्नि अत्यन्त तेजस्वी ताप को उत्पन्न करता है। विभिन्न प्रकार के प्राण और संयोज्य परमाणुओं को प्रकट करते हुए विभिन्न दोषयुक्त पदार्थों को दूर करता है।

पंद्रहवीं रश्मि के प्रभाव से कारणभूत अहंकार वा महत् तत्त्व में उत्पन्न प्राण और अपान रूपी महान् वज्ररूपी रश्मियाँ विभिन्न उत्पन्न पदार्थों की स्वामी या नियन्त्रक हैं। वे रश्मियाँ बल और तेज से युक्त होकर सबको तेजस्वी बनाने वाली तथा तारों के अन्दर अद्भुत पदार्थों को धारण करने वाली होती हैं।

सोलहवीं छन्द रश्मि के प्रभाव से विभिन्न हिंसक विकिरणों को दूर करने में समर्थ पूर्वोक्त तीव्र विद्युदग्नि सम्पूर्ण तारे में यत्र-तत्र नित्य प्रवाहित होने वाले हानिकारक विकिरणों को दूर करता है। वह अत्यन्त श्रेष्ठ अग्नि विभिन्न प्रकाशित कणों के बीच तारों के केन्द्रीय भाग एवं अन्य भाग के मध्य संधि की मर्यादा में सब ओर से व्याप्त होता है।

सत्रहवीं छन्द रश्मि के प्रभाव से विभिन्न कणों के मध्य विद्यमान संधियों में वह तेजस्वी व क्रान्तदर्शी अग्नि, जो सबका छेदन करने वाला है, स्वयं को प्रकट करता है। वह अपने कारण प्राणापान के धारण करने वाले मनस् तत्त्व में विभिन्न प्रापणीय पदार्थों को इकट्ठा करता और हानिकारक पदार्थों को नष्ट करता है।

अठारहवीं छन्द रश्मि के प्रभाव से वह महान् सूत्रात्मा वायु विभिन्न रश्मियुक्त मेघों को धारण करने के लिए विशेषता से प्राप्त होता है। वह वायु विद्युद्वायु से संयुक्त होकर विभिन्न आवरणों से ढके हुए अग्नि को विभिन्न तन्मात्राओं के समुद्र में निरन्तर प्रकट करता है।

उन्नीसवीं छन्द रश्मि के प्रभाव से पूर्वोक्त महान् विद्युदग्नि इन सभी छन्द रश्मियों के द्वारा सबका नियन्ता होकर और सबमें व्याप्त होकर सबको तृप्त करता है और वही अग्नि विभिन्न प्रकाशित तरंगों के द्वारा सूर्य के अन्दर व्याप्त सोम तत्त्व की रक्षा करता और नाभिकीय संलयन के महान् संग्राम में सबको कँपाने वाले महान् बलों को गति देता है।

इस प्रकार उपर्युक्त छन्द रश्मियों के द्वारा तारों के अन्दर चलने वाला यज्ञ समृद्ध होता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उपर्युक्त उन्नीस विभिन्न छन्द रश्मियों के कारण प्राणापान से उत्पन्न तीव्र तेजस्वी तापयुक्त विद्युदग्नि एवं क्वचित् सूत्रात्मा वायु सक्रिय होकर तारों के विभिन्न भागों में जहाँ-२ भी हिंसक डार्क एनर्जी विभिन्न कणों के संलयन वा संयोग में बाधा डालती है एवं ऊर्जा उत्सर्जन व अवशोषण में भी रुकावट उत्पन्न करने का प्रयत्न करती है, को छिन्न-भिन्न करता है। इसके कारण न केवल तारों में संलयन की क्रिया सुचारु रूप से चलती है, अपितु उत्पन्न ऊर्जा की उत्सर्जन क्रिया भी समृद्ध होती है। इससे तारों के अन्दर, विशेषकर केन्द्रीय भाग में ऊष्मा का आवश्यक स्तर बनाये

रखने में सहयोग मिलता है। इन रश्मियों के द्वारा तारों में उत्पन्न होने वाली उपयोगी विद्युत् की रक्षा होती है और हानिकारक विद्युत् को नियन्त्रित वा नष्ट किया जाता है।।

२. प्रथश्च यस्य सप्रथश्च नामेति घर्मतन्वः सतनुमेवैनं तत्सरूपं करोति।। रथन्तरमाजभारा वसिष्ठः। भरद्वाजो बृहदाचक्रे अग्नेरिति बृहद्रथन्तरवन्तमेवैनं तत्करोति।।

{प्रथः = 'प्रथ-प्रख्याने' धातोः कर्त्तरि अच् (वेदे 'प्रथ विस्तारे' - इति पं.युधिष्ठिर मीमांसक - सं.धा.को.)। स्कन्नम् = स्कन्दिर् गतिशोषणयोः (भ्वा.) धातोः क्तः। 'रदाभ्याम्' इति निष्ठानत्वम् (वै.को. - आ. राजवीर शास्त्री)। घर्मः = प्रदीपकः (म.द.य.भा.३७.१८), यज्ञनाम (निघं.३.१७), आदित्यो वै घर्मः (श.११.६.२.२)। सूर्यः = प्राणः (तु.म.द.य.भा. ३.५४)}

व्याख्यानम्- तदनन्तर

प्रथश्च यस्य सप्रथश्च नामानुष्टुभस्य हविषो हविर्यत्।
धातुर्द्युतानात्सवितुश्च विष्णो रथन्तरमा जभारा वसिष्ठः।।१।।

अविन्दन्ते अतिहितं यदासीद्यज्ञस्य धाम परमं गुहा यत्।
धातुर्द्युतानात्सवितुश्च विष्णोर्भरद्वाजो बृहदा चक्रे अग्नेः।।२।।

तेऽ विन्दन्मनसा दीध्याना यजुः ष्कन्नं प्रथमं देवयानम्।
धातुर्द्युतानात्सवितुश्च विष्णोरा सूर्यादभरन्घर्ममेते।।३।। (ऋ.१०.१८१.१-३)

इन तीनों छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है। प्रथम रश्मि की उत्पत्ति प्राथमिक प्राण तत्त्व से उत्पन्न एक सूक्ष्म परन्तु व्यापक प्राण विशेष (प्रथो वासिष्ठः) से होती है। इसका छन्द निचृत् त्रिष्टुप् और {नाम = उदकनाम (निघं.१.१२), वाक् (नामेति) वाङ्नाम (निघं.१.११), प्रकाशता (म.द.य.भा.१८. ६७), आह्वानम् (म.द.ऋ.भा.१.२४.२)। रथः = रमणीयः किरणः (तु.म.द.ऋ.भा.६.६३.५), वज्रो वै रथः (तै.सं.५.४.११.२), रंहतेर्गतिकर्मणः। स्थिरतेर्वा स्याद् विपरीतस्य रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा। रपतेर्वा (रसतेर्वा) (नि.९.११)} देवता विश्वेदेवा है। इसके प्रभाव से प्राण तत्त्व, जो सबको धारण करने वाला है, तारों के अन्दर विभिन्न अनुष्टुप् छन्द रश्मियों की आहुति देकर अर्थात् उन्हें अपने साथ संगत करके प्रकाश को प्रसारित करके सब पदार्थ को प्रकाशमान करता है। वह ऐसा सबका प्रसारक, सबको बसाने वाला प्रकाशमान प्राणतत्त्व व्यापक विद्युत् युक्त तारों के अन्दर रमणीय वज्र रूप किरणों को उत्पन्न करता है।

द्वितीय छन्द रश्मि सप्रथो भारद्वाज ऋषि अर्थात् पूर्वोक्त ऋषि प्राण के साथ प्राथमिक प्राण तत्त्व के संयोग से उत्पन्न होती है। इसका देवता विश्वेदेवा और छन्द त्रिष्टुप् है। इसके प्रभाव से सभी प्रकार के प्रकाशमान कण तारों के अन्दर चलने वाले उत्पादन यज्ञ, जो केन्द्रीय भाग में गुप्त स्थित होता है, को प्राप्त करते हैं। प्रकाशमान प्राण तत्त्व इसके ही प्रभाव से विद्युत् और सूर्य के अन्दर सबसे मन रूपी महान् व्यापक मूल प्राण तत्त्व का विशेष ग्रहण करता है।

तृतीय छन्द रश्मि का ऋषि **'घर्मः सौर्यः'** है अर्थात् इसकी उत्पत्ति प्रदीप्त अवस्था में प्राण तत्त्व से होती है। इसका देवता भी विश्वेदेवा और छन्द पादनिचृत् त्रिष्टुप् है। इसके प्रभाव से सभी तन्मात्रायें मनस् तत्त्व से प्रदीप्त होकर विभिन्न प्रकाशित कणों को वहन करती हैं। वे गति करती हुई तन्मात्रायें प्रकाशित कणों का शोषण करके विभिन्न संगत कर्मों को धारण करती हैं। प्रकाशमान एवं सबको धारण

करने वाले सब ओर विद्यमान प्राण अपने तेज को विद्युत् और सूर्य के अन्दर सब ओर से भरते हैं। इनके छान्दस और दैवत प्रभाव से सभी प्रकार के प्रकाशित कण तीव्र बल सम्पन्न होते हैं।

ये तीनों रश्मियाँ **'धर्मतनु'** कहलाती हैं। जिसका तात्पर्य यह है कि ये रश्मियाँ तारों के अन्दर उत्पन्न ऊर्जा को विभिन्न तेजस्वी रूपों में प्रकाशमान करके विस्तृत करती व सुन्दर बनाती है।।

उपर्युक्त रश्मियों में से प्रथम और द्वितीय रश्मियों के चौथे पाद में विद्यमान **{प्राणापानौ वै बृहद्रथन्तरे (तां.७.६.१२), बृहद्रथन्तरे वै देवानां प्लवः (काठ.३३.५)}** **'बृहत्'** तथा **'रथन्तर'** पद विद्यमान होने से ये रश्मियाँ विभिन्न प्रकाशमान कणों को प्राण और अपान के साथ संयुक्त करके सुन्दर रमणीय किरणों के द्वारा उनको तारते हुए विशाल अन्तरिक्ष में व्याप्त रहती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उपर्युक्त छन्द रश्मियों के प्रभाव से तारों के केन्द्रीय भाग में विभिन्न प्रकार की तन्मात्रायें आने के लिये प्रेरित होतीं तथा केन्द्रीय भाग में उत्पन्न ऊर्जा बाहर जाने के लिए प्रेरित होती है। **वह ऊर्जा इन्हीं रश्मियों के प्रभाव से विभिन्न कणों द्वारा बार-२ उत्सर्जित और अवशोषित होकर विभिन्न भागों यथा- पराबैंगनी, गामा किरणें, अवरक्त, दृश्य, रेडियो किरणों के रूप में विभाजित होती हुई बहिर्गमन करती है।।**

३. 'अपश्यं त्वा मनसा चेकितानमिति' प्रजावान् प्राजापत्यः प्रजामेवास्मिंस्तद्दधाति।।

{आशिषः = अध्येषणा कर्म (निघं.३.२१), कामनाः (म.द.य.भा.२.१०)। चेकितानः = प्रज्ञापकः (म.द.ऋ.भा.३.२६.७)। उच्चा = उच्चैः (नि.६.३६), (उच्चैः = उच्चितं भवति - नि.४.२४)। अपरी = अपूर्णा सेनाक्रियाः (म.द.ऋ.भा.१.३२.१३), आगामिनी उषा (म.द.ऋ.भा.१.११३.११)। जनिः = नक्षत्राणि वै जनयः (मै.३.१.८), देवानां वै पत्नीर्जनयः (तै.सं.५.१.७.२)}

व्याख्यानम्- अब अन्य तृच् सूक्त की चर्चा करते हैं कि प्रजावान् प्राजापत्य ऋषि अर्थात् मन तथा वाक् तत्त्व से उत्पन्न तथा विभिन्न पदार्थों के उत्पादक प्राण नामक प्राण से

अपश्यं त्वा मनसा चेकितानं तपसो जातं तपसो विभूतम्।
इह प्रजामिह रयिं रराणः प्र जायस्व प्रजया पुत्रकाम।।१।।

अपश्यं त्वा मनसा दीध्यानां स्वायां तनू ऋत्व्ये नाधमानाम्।
उप मामुच्चा युवतिर्बभूयाः प्र जायस्व प्रजया पुत्रकामे।।२।।

अहं गर्भमदधामोषधीष्वहं विश्वेषु भुवनेष्वन्तः।
अहं प्रजा अजनयं पृथिव्यामहं जनिभ्यो अपरीषु पुत्रान्।।३।। (ऋ.१०.१८३.१-३)

की उत्पत्ति होती है। इनका देवता **"अन्वृचं यजमानयजमानपत्नीहोत्राशिषः"** है तथा छन्द प्रथम का त्रिष्टुप् और शेष दोनों का विराट् त्रिष्टुप् है। इस विषय में **आश्वलायन श्रौतसूत्र ४.६.३** में कहा है- **"अपश्यं त्वेत्येतस्याऽऽद्यया यजमानमीक्षते द्वितीयया पत्नीं तृतीययाऽऽत्मानम्"**। इसका तात्पर्य यह है कि प्रथम छन्द रश्मि के द्वारा संयोज्य कणों वा तरंगों को प्रभावित किया जाता है और दूसरी छन्द रश्मि के द्वारा उस कण वा तरंग की पालिका शक्ति रूपी पत्नियों को प्रभावित किया जाता है। पत्नी विषय में विशेष जानकारी के लिये **१.११.३** देखें और तृतीय छन्द रश्मि द्वारा विभिन्न प्राथमिक प्राणरूपी होताओं को प्रभावित किया जाता है। यही इनका दैवत प्रभाव है। इनके छान्दस प्रभाव से विभिन्न संयोज्य कण आदि पदार्थ तेजस्वी और तीव्र बलवान् होते हैं।

प्रथम ऋचा के विशेष प्रभाव विभिन्न कण तारों के अन्दर उत्पन्न ऊष्मा से पुनः उत्पन्न तीव्र ऊष्मा में मनस् तत्त्व के द्वारा व्याप्त होकर उन्हें विशेष प्रकाशक बनाता है। विभिन्न पालक प्राणों की कामना करने वाले तारों के मध्य भाग में **{पशवो वै रयिः (तै.सं.१.५.७.२), धननाम (निघं.२.१०)}** विभिन्न मरुत् रूपी रश्मियों को प्राप्त करके उनके संयोग से विभिन्न छन्द रूप प्रजाओं को उत्पन्न करते हैं।

द्वितीय ऋचा के विशेष प्रभाव से विभिन्न संयोज्य और देदीप्यमान **{नाधमानः = याचमानः (नि. ४.३)}** कण ऋतु रश्मियों के अन्दर विस्तृत पदार्थसमूह में अपनी विविध शक्तियों **'भूः, भुवः, स्वः'** आदि व्याहृति एवं सूत्रात्मा वायु रूपी सूक्ष्म प्राणों को मनस् तत्त्व के द्वारा आकर्षित करते हैं। फिर वे चारों सूक्ष्म प्राण रूपी पत्नियों को उत्कृष्टता से प्राप्त होकर विभिन्न पदार्थों का निर्माण करने में समर्थ होते हैं।

तृतीय ऋचा के विशेष प्रभाव से प्राण नामक प्राण तत्त्व ऊष्ण परमाणुओं में तेजरूपी किरणों को धारण करता है। इसी रश्मि के सहयोग से वह प्राण तत्त्व सम्पूर्ण लोकों के मध्य में तेजस्वी किरणों का धारण करता है और वही प्राण तत्त्व अन्तरिक्ष में विभिन्न पदार्थों को उत्पन्न करता है और वही प्राण तत्त्व उपर्युक्त पत्नीरूपी सूक्ष्म प्राणों के लिए विभिन्न विकिरण समूहों में अन्य पालक प्राणों को उत्पन्न करता है।

इस प्रकार इन ऋचाओं के द्वारा विभिन्न प्रकार के तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। इसके अतिरिक्त यह संकेत भी यहाँ प्रतीत होता है कि कोई भी फोटोन स्वयं कई तन्तुओं से युक्त होकर विभिन्न ऊर्जा अवयवों का समूह होता है। यही कारण है कि कोई फोटोन किसी अन्य कण से जब टकराता है, तो कुछ ऊर्जा उसे देकर शेष ऊर्जा के रूप में आगे की यात्रा पर निकल पड़ता है। कोई भी फोटोन न्यूनतम ऊर्जा की इकाई नहीं होता। यदि ऐसा होता, तो वह जिस कण से टकराता, उसे सम्पूर्ण ऊर्जा देकर अपना पृथक् अस्तित्त्व समाप्त कर देता परन्तु ऐसा होता भी है और नहीं भी होता। इससे फोटोन अनेक तन्तुओं (प्रजाओं) का गुच्छ ही सिद्ध होता है। यह बंधन त्रिष्टुप् प्राण द्वारा ही सम्भव होता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उपर्युक्त छन्द रश्मियों के कारण संलयन ऊर्जा विशेष प्रकाशवती होती है तथा तारों के **केन्द्रीय भाग में विभिन्न सूक्ष्म रश्मियों से अनेक छन्द रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं।** विभिन्न कणों वा तरंगों के साथ विशेषतया संयुक्त उनकी शक्तियाँ उत्कृष्ट होती हैं। **प्राण नामक रश्मि विविध फोटोन्स के साथ संयुक्त होकर विविध पदार्थों के निर्माण एवं विभिन्न लोकों के धारण में सहयोग करती है।** इसके अतिरिक्त यह संकेत भी यहाँ प्रतीत होता है कि **कोई भी फोटोन स्वयं कई तन्तुओं से युक्त होकर विभिन्न ऊर्जा अवयवों का समूह होता है। यही कारण है कि कोई फोटोन किसी अन्य कण से जब टकराता है, तो कुछ ऊर्जा उसे देकर शेष ऊर्जा रूप में आगे की यात्रा पर निकल पड़ता है। * कोई भी फोटोन न्यूनतम ऊर्जा की इकाई नहीं होता।।**
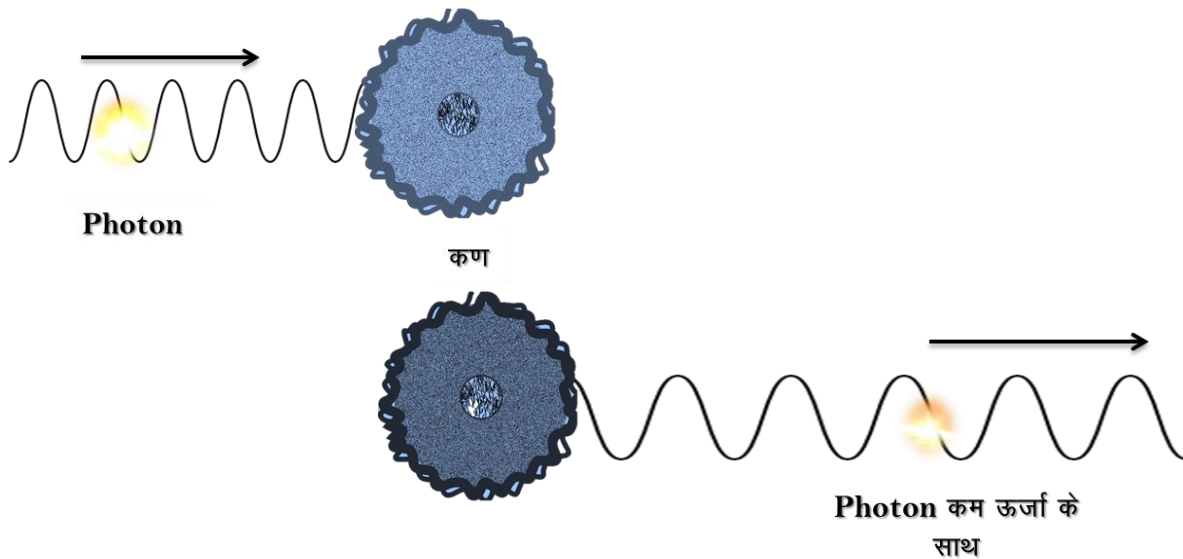
चित्र ४.१ कण द्वारा फोटोन को ऊर्जा का आंशिक अवशोषण

* ....the incident photon of energy E(=hf) gives up some of its energy to the recoiling electron, the scattered photon must have a lower energy E'(=hf').

-Pg. No. 1020 Physics (Halliday.Resnick.Krane) Vol 2

४. का राधद्धोत्राऽऽश्विना वामिति नव विच्छन्दसस्तदेतद्यज्ञस्यान्तस्त्यं विक्षुद्रमिव वा, अन्तस्त्यमणीय इव च स्थवीय इव च तस्मादेता विच्छन्दसो भवन्ति।।

{उशिक् = कान्तिकर्मा (निघं.२.६), मेधाविनाम (निघं.३.१५)। कक्षीवान् = कक्षीवत् कक्ष्यावान् (नि.६.१०), (कक्ष्या इति अङ्गुलिनाम - निघं.२.५)। युवाकुः = मिश्रीभावं पृथक्भावं वा (म.द.ऋ.भा.१.१७.४)। रभ्यसः = अतिशयेन रभस्विनः सततं प्रौढपुरुषार्थान् (म.द.ऋ.भा.१.१२०.४)। पज्रः = गमकः (तु.म.द.ऋ.भा.१.१२२.७), बलिष्ठः (म.द.ऋ.भा.१.१५८.३)। भृगवाणः = परिपाककर्ता (अग्निः) (तु.म.द.ऋ.भा.४.७.४), (भृगुः = अर्चिषि भृगुः सम्बभूव भृगुः भृज्यमानो न देहे - नि.३.१७)। तकवान् = (तकति गतिकर्मा - निघं.२.१४)। रन् = ददमानौ (म.द.ऋ.भा.१.१२०.७)। अभिधातम् = अभिमुखं धरतम् (तु.म.द.ऋ.भा.१.१२०.८)। स्तनः = (स्तन देवशब्दे धातोरच्)। अन्तस्त्यम् = अवयवस्वरूपमिति सायणः।

व्याख्यानम्- अब निम्नलिखित नौ ऋचाओं की चर्चा करते हुए कहते हैं कि उशिक् पुत्र कक्षीवान् ऋषि प्राण अर्थात् सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न विभिन्न पराक्रम वाले एक विशेष सूक्ष्म प्राण से अश्विनौ-देवताक विभिन्न छन्दों वाली निम्नलिखित नौ छन्द रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं-

का रा॑धद्धोत्रा॑श्विना वां को वां जोष॑ उ॒भयो॑ः।
क॒था वि॑धा॒त्यप्र॑चेताः।।१।।

वि॒द्वांसा॒विद्दु॒र॑ः पृच्छे॒दवि॑द्वानि॒त्थाप॑रो अ॒चेताः।
नू चि॒न्नु मर्ते॒ अक्रौ॑।।२।।

ता वि॒द्वांसा॑ हवामहे वां ता नो॑ वि॒द्वांसा॒ मन्म॑ वोचेतम॒द्य।
प्रार्च॒द्दय॑मानो युवाकु॑ः।।३।।

वि पृ॑च्छामि पा॒क्या॒३॑ न दे॒वान्वष॑ट्कृतस्याद्भु॒तस्य॑ दस्रा।
पा॒तं च॒ सह्य॑सो युवं च॒ रभ्य॑सो नः।।४।।

प्र या घोषे॒ भृग॑वाणे न शोभे॒ यया॑ वा॒चा यज॑ति पज्रि॒यो वा॑म्।
प्रैषयु॒र्न वि॒द्वान्।।५।।

श्रु॒तं गा॑य॒त्रं तक॑वानस्या॒हं चि॒द्धि रि॒रेभा॑श्विना वाम्।
आक्षी शु॑भस्पती॒ दन्।।६।।

यु॒वं ह्यास्तं॑ म॒हो रन् यु॒वं वा॒ यन्नि॒रत॑तंसतम्। ता नो॑
वसू सु॒गोपा॒ स्या॑तं पा॒तं नो॒ वृका॑दघा॒योः।।७।।

मा कस्मै धातमभ्यमित्रिणे नो माकुत्रा नो गृहेभ्यो धेनवो गुः।
स्तनाभुजो अशिश्वीः।।८।।

दुहीयन्मित्रधितये युवाकु राये च नो मिमीतं वाजवत्यै।
इषे च नो मिमीतं धेनुमत्यै।।९।। (ऋ.१.१२०.१-९)

जिनके छन्द क्रमशः हैं- पिपीलिकामध्या-निचृद्गायत्री, भुरिग्गायत्री, स्वराट् ककुबुष्णिक्, आर्ष्यनुष्टुप्, आर्ष्युष्णिक्, विराडार्ष्युष्णिक्, स्वराडार्ष्यनुष्टुप्, भुरिगुष्णिक्, भुरिगनुष्टुप्। इनके दैवत प्रभाव से अश्विनौ अर्थात् वायुविद्युत् एवं प्राणापान विशेष सक्रिय होते हैं। इनके छान्दस प्रभाव से साधारणतः तीव्र तेज, बल, ऊष्णता, स्नेहन आदि समृद्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न छन्द रश्मियों का क्रमशः निम्नानुसार अन्य प्रभाव भी होता है-

(१) वायु विद्युत् अथवा प्राणापान दोनों ही मन और वाक् रूप से सिद्ध होते हैं। ये दोनों बल और गतिहीन पदार्थों में परस्पर आकर्षण आदि का व्यवहार उत्पन्न करते हैं।

(२) {**पृच्छेत् = 'प्रच्छ ज्ञीप्सायां'** धातु से निष्पन्न है और **'ज्ञीप्सा'** शब्द **'ज्ञा अवबोधने'** धातु से निष्पन्न होता है। ध्यातव्य है कि **'ज्ञा अवबोधने'** धातु का अर्थ संकेत करना, प्रकाश करना भी है, क्योंकि प्रकाश सबसे बड़ा ज्ञान का साधन है। इसलिये **'प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्'** का अर्थ 'प्रकाश करने की इच्छा करना' भी होगा एवं 'संकेत करने की इच्छा करना' भी होगा।} उपर्युक्त दोनों विद्यमान तत्त्व वायुविद्युत् अथवा प्राणापान **{दुरः = द्वाराणि (म.द.य.भा.२०.३६)}** अल्प प्राण वाले निष्क्रिय पदार्थों के मार्ग का प्रकाशन करते हैं। **{परः = उत्तमः (म.द.य.भा.८.३६), सूक्ष्मः (तु.म.द.ऋ.भा.३.५४.५)}** इसी प्रकार हीनगुण वाले किंवा स्थूल पदार्थों, स्वयं अत्यन्त न्यून रूप से सक्रिय मनुष्य नामक कण किंवा मन्दगामी पवनों के भी मार्ग का प्रकाशन उपर्युक्त प्राणापान किंवा वायुविद्युत् करते हैं अर्थात् उनको उचित गति और मार्ग प्रदान करते हैं।

(३) उपर्युक्त वायुविद्युत् किंवा प्राणापान सबको प्रकाशित करते हैं। **{दयमानः = दानगतिरक्षणहिंसादानेषु}** संयोग और वियोग में प्रवृत्त होते हुए हिंसक और विक्षुब्ध हुए कण उन प्राणापान किंवा विद्युद्वायु को ग्रहण करते हैं, जिससे वे सम्यक् क्रियाओं को प्राप्त करते हैं।

(४) वे दोनों प्राणापान वा विद्युत्वायु अतीव बलवान् एवं अत्यन्त सक्रिय एवं परिपक्व होकर **{अद्भुतम् = अभूतम् (नि.१.६), महन्नाम (निघं.३.३), महत् संभृतम् (नि.६.२१)। वषट्कारः = एष एव वषट्कारो य एष (सूर्यः) तपति (श.१.७.२.११)। दस्रौ = दस्रौ दर्शनीयौ (नि.६.२६)}** मन और वाक् के समान सूर्य को व्यापकरूप से धारण और पुष्ट करके प्रकाशित करते हैं।

(५) विभिन्न पदार्थों को बल और गति प्राप्त कराने वाले जिस वाक् तत्त्व को प्राप्त होकर प्राणापान किंवा वायुविद्युत् का यजन करते हैं, उसी वाक् तत्त्व से परिपाककर्ता अग्नि में वायुविद्युत् के योग से विभिन्न घोष उत्पन्न होते हैं।

(६) **{शुभः = (शुभ दीप्तौ+क)}** सबके प्रकाशक वा आधाररूप प्राणापान किंवा वायु और विद्युत् विभिन्न दीप्तियों की रक्षा करने वाले विविध गतियों से युक्त होते हैं। ये विभिन्न गतिशील प्राणों एवं अग्नि आदि पदार्थों का ग्रहण करते हुए ध्वनि उत्पन्न करने वाले होते हैं।

(७) वे प्राणापान किंवा वायु और विद्युत् विभिन्न पदार्थों को गति और बल प्रदान करने वाले सबकी भली-भाँति रक्षा करते हैं और तारों के अन्दर विद्यमान जो विभिन्न बाधक पदार्थ हैं, उन्हें नष्ट करके तारों को भली-भाँति शोभायमान करते हैं। **{निरततंसतम् = (निर्+तसि अलंकारे (चुरा.) धातोर्लुङ् - वै.को. आ. राजवीर शास्त्री)}**

(८) पूर्वोक्त प्राणापान किंवा वायुविद्युत् के द्वारा धारण किये हुए पदार्थ बाधक हिंसक विद्युत् आदि पदार्थों के द्वारा नष्ट वा बाधित नहीं होते हैं। तारों के अन्दर गर्जनायुक्त विद्युत् आदि से रक्षित विभिन्न किरणें तारों **{शिशुः = शिशुं जातमिति शिशुरिव वा एष प्रथमजातो यदग्निः (ऐ.१.१६)}** के केन्द्रीय भाग में ऊर्जा उत्पन्न करती रहती हैं तथा वे उस ऊर्जा को बाहर भी नहीं जाने देतीं।

(९) **{मिमीतम् = रचयतु (तु.म.द.ऋ.भा.१.१६४.२४)}** उपर्युक्त प्राणापान किंवा विद्युद्वायु मित्र अर्थात् सूर्य का धारण वा पोषण करने के लिए विभिन्न संयोग वियोगादि प्रक्रियाओं को पूर्ण करते हैं। इसके साथ वे विभिन्न मरुद् रूप रश्मियों को उत्पन्न करते हैं, जिसके कारण विभिन्न प्रकार की बलवती किरणें और विभिन्न संयोज्य कण उत्पन्न होते रहते हैं।

उपर्युक्त सभी रश्मियाँ विविध छन्दों वाली हैं। जिस प्रकार शरीर के अन्दर विद्यमान विभिन्न अंग अलग-२ आकार-प्रकार के होते हैं, उसी प्रकार ये छन्द रश्मियाँ भी विभिन्न छन्द वाली होकर तारों के अन्दर विविध कार्य करती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ये **विविध छन्द रश्मियाँ सम्पीडित होकर फोटोन्स का निर्माण करती हैं अर्थात् एक फोटोन में ये उपर्युक्त विविध छन्द रश्मियाँ विद्यमान होती हैं**।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उपर्युक्त रश्मियों के कारण प्रकाश, बल, ताप एवं आकर्षणादि बल तीव्र होता है। ये रश्मियाँ बल और गतिहीन पदार्थों में भी आकर्षणादि का व्यवहार उत्पन्न करती हैं। ये तारों के अन्दर विभिन्न बाधक पदार्थों को दूर करके विभिन्न मरुद् रश्मियों और संयोज्य कणों को भी उत्पन्न करती हैं। **प्राणापान से प्रेरित ये रश्मियाँ आकाश तत्त्व से सम्पीडित होकर विभिन्न फोटोन्स का निर्माण करती हैं**। इस प्रकार यह भी सिद्ध होता है कि **ऊर्जा के क्वान्टाज् इन रश्मियों किंवा अन्य छन्द रश्मियों का सम्पीडित रूप होते हैं**।।

५. एताभिर्हाश्विनोः कक्षीवान्प्रियं धामोपागच्छत् स परमं लोकमजयत्।।
उपाश्विनोः प्रियं धाम गच्छति जयति परमं लोकं य एवं वेद।।

व्याख्यानम्- **{कक्षीवान् = कक्षीवत् कक्ष्यावान् (नि.६.१०), (कक्ष्या = अङ्गुलिनाम (निघं.२.५)}** यहाँ कक्षीवान् पद का अर्थ सूर्यादि तारा है। १.१६.५ में भी २० अंगुलियों वाले पुरुष से तारों की तुलना की गई है। ये तारे इन्हीं ऋग्रूप रश्मियों के द्वारा प्राणापान किंवा वायु और विद्युत् अथवा प्रकाशित और अप्रकाशित कण सभी के भण्डाररूप स्थान को प्राप्त करते हैं। इन्हीं रश्मियों के द्वारा तारे वा नेब्यूला आदि विशाल लोक परम लोक पर नियन्त्रण प्राप्त करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि तारे और सूर्यादि इन्हीं रश्मियों के द्वारा नाभिकीय संलयन जैसे क्षेत्रों को उत्पन्न करते हैं एवं इन्हीं रश्मियों के द्वारा विभिन्न किरणों का निर्माण होता है। जब ये रश्मियाँ परस्पर संगत होकर उपर्युक्त सभी परिस्थितियाँ उत्पन्न करती हैं, तब तारों वा फोटोन्स का स्वरूप निर्मित होता है।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उपर्युक्तानुसार।।

६. 'आभात्यग्निरुषसामनीकमिति' सूक्तम्।।
पीपिवांसमश्विना घर्ममच्छेत्यभिरूपं यद्यज्ञेऽभिरूपं तत्समृद्धम्।।
तदु त्रैष्टुभं वीर्यं वै त्रिष्टुब्वीर्यवास्मिंस्तद्दधाति।।

{उषा = दाहनिमित्तशीला (म.द.ऋ.भा.१.४६.१), दाहाऽऽरम्भनिमित्ता (म.द.ऋ.भा.१.११३.५), उषाः = वष्टेः - कान्तिकर्मणः - उच्छतेरितरा माध्यमिका (नि.१२.५)। दुरोणम् = दुरोणे गृहनाम (निघं.३.४), दुरोण इति गृहनाम-दुरवा भवन्ति दुस्तर्पाः अर्थात् कठिनता से

पूर्ण होने वाले घर (नि.४.५ - पं. भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर भाष्य)। भगः = यज्ञो भगः (श.६.३.१.१९), ऐश्वर्यम् (म.द.ऋ.भा.१.६२.७), भजनीयः प्राणः (म.द.ऋ.भा.६.५०.१३), ऐश्वर्यभागी सूर्यः (म.द.ऋ.भा.२.३१.४)}

व्याख्यानम्- इसके अनन्तर अत्रि ऋषि अर्थात् सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न अश्विनौ-देवताक पाँच ऋचाओं वाले सूक्त की चर्चा करते हैं, जिनके छन्द हैं- स्वराट्पङ्क्ति (१,२), निचृत्त्रिष्टुप् (३,४,५)। वे ऋचाएं हैं-

आ भात्यग्निरुषसामनीकमुद्विप्राणां देवया वाचो अस्थुः।
अर्वाञ्चा नूनं रथ्येह यातं पीपिवांसमश्विना घर्ममच्छ।।१।।

न संस्कृतं प्र मिमीतो गमिष्ठान्ति नूनमश्विनोपस्तुतेह।
दिवाभिपित्वेऽ वसागमिष्ठा प्रत्यवर्तिं दाशुषे शंभविष्ठा।।२।।

उता यातं संगवे प्रातरह्नो मध्यन्दिन उदिता सूर्यस्य।
दिवा नक्तमवसा शन्तमेन नेदानीं पीतिरश्विना ततान।।३।।

इदं हि वां प्रदिवि स्थानमोक इमे गृहा अश्विनेदं दुरोणम्।
आ नो दिवो बृहतः पर्वतादाद्भ्यो यातमिषमूर्जं वहन्ता।।४।।

समश्विनोरवसा नूतनेन मयोभुवा सुप्रणीती गमेम।
आ नो रयिं वहतमोत वीराना विश्वान्यमृता सौभगानि।।५।। (ऋ.५.७६.१-५)

इन छन्द रश्मियों के दैवत व छान्दस प्रभाव से पूर्वोक्त प्राणापान किंवा वायुविद्युत् आदि सक्रिय होते एवं अति भेदक तेज और बल विस्तृत क्षेत्र में फैल जाते हैं। इन रश्मियों का अन्य प्रभाव निम्नानुसार है-

(१) {अर्वाक् = अर्व उपपदे अञ्चुगतिपूजनयोर्धातोः क्विन् प्रत्ययः। (वै.को. आ.राजवीर शास्त्री) (अर्व = अनन्तरार्थे)।} उपर्युक्त प्राणापान किंवा वायु विद्युत् रमणीय किरणों के रूप में परस्पर निकट संगत होकर विभिन्न प्रकाशित पदार्थों की किरणों को प्रकाशित करते हैं। वे दोनों ऊष्म तरंगों के समूह के रूप में अग्नि को उत्कृष्टता से प्रकाशित करते हैं। इससे संसार में उत्तम वर्धमान तेज व ताप सब ओर फैलते हैं।

(२) उपर्युक्त प्राणापान किंवा वायु विद्युत्, जो अति तीव्र व सहज गति से चलते हैं, विभिन्न पदार्थों को अच्छी प्रकार उत्पन्न करते हैं। वे दोनों विविध पदार्थों को समुचित मार्ग व गति प्रदान करके संरक्षित करते हैं {दिवा = दिव्यन्तरिक्षे (म.द.ऋ.भा.१.१६३.६)} इसके साथ ही वे अन्तरिक्ष में गमनशील विभिन्न संयोज्य कणों के निकट चारों ओर तीव्रता से संचरित होते हैं।

(३) फिर वे दोनों {अहन् = अहरेव सविता (गो.पू.१.३३), उषो नाम (निघं.१.८), अहर्वै स्वर्गो लोकः (ऐ.५.२४), अग्निर्वाऽहः (श.३.४.४.१५)। मध्यन्दिनः = आत्मा मध्यन्दिनः (कौ.ब्रा.२५.१२; ऐ.३.१८)} तारों के केन्द्रीय भाग तथा सम्पूर्ण तारों में तीव्रता से उदित हुयी किरणों की रक्षा करते हैं। वे दोनों विभिन्न प्रकाशित किरणों के संगम स्थल अन्तरिक्ष तथा अग्नि तत्त्व की उत्पत्ति के पूर्व अप्रकाशित पदार्थ में भी सर्वत्र विस्तृत होते एवं विभिन्न पदार्थों को अवशोषित करने में सक्षम होते हैं।

(४) वे दोनों महान् प्रकाश एवं विभिन्न तन्मात्राओं के मेघरूप में विभिन्न संयोज्य कणों और ऊर्जा तरंगों का सब ओर से वहन करते हैं। इसके साथ ही ये दोनों उत्तम आकाश में स्थित होकर दुर्गम मार्गों वा स्थानों में भी अच्छी प्रकार व्याप्त होते हैं।

(५) वे दोनों विभिन्न छन्दरूप रश्मियों को व्याप्त करते हुए अच्छे मार्गों से नवीनोत्पन्न विभिन्न कणों को प्राप्त कराते हैं और सम्पूर्ण अविनाशी प्राण तत्त्वों को सब ओर से प्राप्त कराते हुए विभिन्न सूर्यादि तारों को उत्पन्न करते हैं।।

उपर्युक्त प्रथम ऋचा के चतुर्थ पाद के प्रभाव से {पीपिवांसम् = सम्यग् वर्धमानम् (म.द.भा.)} तेज और ताप की समृद्धि होती है, जिससे तारों का निर्माण रूपी यज्ञ समृद्ध होता है। शेष पूर्ववत्।।

यह सूक्त त्रिष्टुप् छन्दस्क है, इस कारण इसके द्वारा तारों में विद्यमान ऊर्जा को तीव्र तेजस्वी और बलवती बनाया जाता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- प्राणापान, प्राणोदान अथवा वायुविद्युत् द्वारा भेदक तेज और बल इन उपर्युक्त रश्मियों के उत्पन्न होने पर प्राप्त करते हैं। ये **प्राणापान** विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के साथ सदैव संगत होकर उन्हें उत्कृष्टता प्रदान करते हैं। **ये दोनों प्राण अन्तरिक्ष में गति करते हुए विभिन्न कणों वा फोटोन्स के चारों ओर तीव्रता से संचरित होते हैं।** ये दोनों प्रकाशित अथवा अप्रकाशित सभी पदार्थों में व्याप्त होकर उनकी रक्षा करते हुए तारों के भीतर-बाहर अथवा अन्तरिक्ष में सर्वत्र व्याप्त होते हैं। वे दोनों विभिन्न प्राणों को सक्रिय करने में विशेष भूमिका निभाते हुए सभी पदार्थों को उत्पन्न करते हैं।।

७. 'ग्रावाणेव तदिदर्थं जरेथे' इति सूक्तमक्षी इव कर्णाविव नासेवेत्यङ्गसमाख्याऽयमेवास्मिंस्तदिन्द्रियाणि दधाति।। तदु त्रैष्टुभं वीर्यं वै त्रिष्टुब्वीर्यमेवास्मिंस्तद्दधाति।।

{ग्रावाणः = मेघादयः पदार्थाः (म.द.ऋ.भा.१.८६.४), ग्रावाणो हन्तेर्वा गृणातेर्वा गृह्णातेर्वा (नि.९.८), (गृणाति अर्चतिकर्मा - निघं.३.१४), प्राणा वै ग्रावाणः (श.१४.२.२.३३), वज्रो वै ग्रावा (श.११.५.९.७), मारुता वै ग्रावाणः (तां.९.९.१४)। गृध्रः = अभिकांक्षः (म.द.ऋ.भा.१.१६०.७), गृध्र आदित्यो भवति (नि.१४.१३)। उक्थम् = पशव उक्थानि (ऐ.४.१), ऐन्द्राग्नानि ह्युक्थानि (श.४.२.५.१४), वागुक्थम् (ष.१.५), अन्नमुक्थानि (कौ.ब्रा.११.८)। मेना = वाङ्नाम (निघं.१.११)। स्वानम् = प्रेरकम् (म.द.ऋ.भा.१.१६१.१३)। ओष्ठः = ओषति यो दहति येन वा स ओष्ठः (उ.को.२.४)। नासा = नसते गतिकर्मा (निघं.२.१४)। कर्णः = कर्त्ता (तु.म.द.य.भा.३३.७१), किरति विक्षिपति इति कर्णः (उ.को.३.१०)}

व्याख्यानम्- अब गृत्समद ऋषि अर्थात् प्राणापान ऋषि प्राण से अश्विनौ-देवताक

ग्रावाणेव तदिदर्थं जरेथे गृध्रेव वृक्षं निधिमन्तमच्छ।
ब्रह्माणेव विदथ उक्थशासा दूतेव हव्या जन्या पुरुत्रा।।१।।

प्रातर्यावाणा रथ्येव वीराजेव यमा वरमा सचेथे।
मेनेइव तन्वा३ शुम्भमाने दम्पतीव क्रतुविदा जनेषु।।२।।

शृङ्गेव नः प्रथमा गन्तमर्वाक्छफाविव जर्भुराणा तरोभिः।
चक्रवाकेव प्रति वस्तोरुस्रार्वाञ्चा यातं रथ्येव शक्रा॥३॥

नावेव नः पारयतं युगेव नभ्येव न उपधीव प्रधीव।
श्वानेव नो अरिषण्या तनूनां खृगलेव विस्रसः। पातमस्मान्॥४॥

वातेवाजुर्या नद्येव रीतिरक्षीइव चक्षुषा यातमर्वाक्।
हस्ताविव तन्वे३ शंभविष्ठा पादेव नो नयतं वस्यो अच्छ॥५॥

ओष्ठाविव मध्वास्ने वदन्ता स्तनाविव पिप्यतं जीवसे नः।
नासेव नस्तन्वो रक्षितारा कर्णाविव सुश्रुता भूतमस्मे॥६॥

हस्तेव शक्तिमभि संददी नः क्षामेव नः समजतं रजांसि।
इमा गिरो अश्विना युष्मयन्तीः क्ष्णोत्रेणेव स्वधितिं सं शिशीतम्॥७॥

एतानि वामश्विना वर्धनानि ब्रह्म स्तोमं गृत्समदासो अक्रन्।
तानि नरा जुजुषाणोप यातं बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥८॥ (ऋ.२.३९.१-८)

की उत्पत्ति होती है। जिनके छन्द हैं- निचृत्त्रिष्टुप् (१), भुरिक् पङ्क्ति (२), विराट् त्रिष्टुप् (३), त्रिष्टुप् (४,७,८), स्वराट् पङ्क्ति (५,६)। इनके दैवत और छान्दस प्रभाव से प्राणापान किंवा अग्निवायू तीव्र तेजस्वी बलों से युक्त होकर विस्तृत क्षेत्र में व्याप्त होते हैं। इन रश्मियों का अन्य प्रभाव निम्नानुसार है-

(१) वायु और अग्नि तीव्र वज्र के समान बाधक हिंसक रश्मियों को नष्ट करते और सूर्य के समान विभिन्न मरुद् रश्मियों, वाक् तत्त्व आदि को नितराम् धारण करते हुए संयोज्य पदार्थों, जो अनेक पदार्थों को उत्पन्न करते हैं, को बहुत प्रकार से धारण करते हैं।

(२) वे दोनों विभिन्न उत्तम पदार्थों में रमणीय किरणों के समान अत्यन्त तीव्र गति से गमन करते हुए विभिन्न पदार्थों को कँपाते और रोकते हैं। वे दोनों वाक् तत्त्व के समान विस्तृत रूप से दीप्तिमान् होते हैं। वे स्त्री-पुरुष के समान सम्बद्ध होकर विभिन्न श्रेष्ठ कर्मों को प्राप्त करते हैं।

(३) {शृंगाणि = ज्वलतोनाम (निघं.१.१७), श्रृणाति हिनस्ति येन तत् शृंङ्गम् (उ.को.१.१२६)} वे अग्नि और वायु वाहक किरणों के समान परस्पर जुड़े हुए तीक्ष्ण वा ज्वलनशील होते हैं। वे अति वेगवान् विभिन्न पदार्थों को धारण करने वाले होते हैं।

(४) वे दोनों परस्पर जुड़े हुए नौका की भाँति सब पदार्थों को पार लगाते हैं। वे सबके प्रेरक और विभिन्न पदार्थों के आकार को नष्ट होने से बचाते हैं।

(५) वे दोनों गति करते हुए, ध्वनि उत्पन्न करते हुए, जीर्णता से रहित, सबके प्रकाशक, सदैव साथ संयुक्त, सब ओर व्याप्त होते हैं। वे हाथों के समान विभिन्न रश्मिरूप आकर्षण, धारण आदि बलों से युक्त तथा पैरों के समान सबके वाहक होते हैं।

(६) वे दोनों ऊष्णता व गति को बढ़ाते हुए, स्तन के दूध के समान सबका पोषण करते हैं तथा {नासिका = नासिकेऽउ वै प्राणस्य पन्थाः (श.१२.९.१.१४)} नासिक के समान वे प्राणों के वाहक बनकर सबकी रक्षा करते हैं एवं विभिन्न प्रकार के कार्यों को करने के लिए सुन्दर गति को प्राप्त करते हैं।

(७) वे दोनों हाथों के समान बलवान्, अन्तरिक्ष के समान सब लोकों में व्यापक होते हैं। इसके साथ ही वे वज्र के समान तेजस्वी और तीक्ष्ण होते हैं।

(८) वे दोनों प्राणापान सूक्ष्म नयनकर्त्ता पवनों की भाँति वैद्युत किरणों को बढ़ाते एवं सबको अपने से संसिक्त करते हैं। उन प्राणापान को सेवते हुए सबको कँपाने वाले विविध बाधाओं के बीच भी आगे बढ़ते हैं।

इन आठों रश्मियों का **विशेष वैज्ञानिक प्रभाव वैज्ञानिक भाष्यसार में देखें।** उपर्युक्त ऋचाओं में **'अक्षी इव, कर्णाविव एवं नासेव'** की आवृत्ति से विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के अन्दर इनके समान प्रभाव उत्पन्न होता है। **{कर्णौ = कर्त्र्यौ (पृथिवीसूर्यौ) (म.द.य.भा.३३.७१)}**।।

पूर्वोक्तानुसार।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उपर्युक्त आठ छन्द रश्मियों के द्वारा विद्युत् चुम्बकीय तरंगें प्राण और अपान नामक सूक्ष्म रश्मियों के साथ सदैव संयुक्त रहकर विभिन्न पदार्थों का निर्माण, हानिकारक तीक्ष्ण रश्मियों (डार्क एनर्जी) का विनाश करती हैं। प्राणापान नामक सूक्ष्म रश्मि किंवा विद्युत् चुम्बकीय तरंगें एवं वायु रश्मियाँ सदैव साथ-साथ ही चलती हैं। इन रश्मियों के द्वारा फोटोन में कर्ण, अक्षि तथा नासिका के समान तीन शक्तियों का आघात किया जाता है अर्थात् विकिरण में तीन प्रकार की शक्तियाँ स्थापित होती हैं।
(१) कर्ण के समान से तात्पर्य कि फोटोन कर्म करने की शक्ति से युक्त होता है। ऊर्जा के कारण ही समस्त सृष्टि में कार्य व्यापार हो रहा है। शरीर में कान जिस प्रकार अन्तरिक्ष से ध्वनि रश्मियों को ग्रहण करके अन्दर भेजता है, उसी प्रकार फोटोन आकाश से छन्द व प्राण रश्मियों को अपनी ओर आकर्षित करके केन्द्र की ओर भेजते रहते हैं, जो अन्य मार्ग से बहिर्गमन करती रहती हैं। ये दोनों भाग ही फोटोन के कर्ण होते हैं। यदि कर्ण का अर्थ सूर्य व पृथिवी का ग्रहण करें, तो उससे अर्थ यह निकलता है कि नेब्यूलादि से उत्सर्जित विकिरणों में कुछ विकिरण प्रकाशादि के होते हैं, तो कुछ अप्रकाशक कणों की तरंगें भी निकलती हैं। वर्तमान वैज्ञानिकों के अनुसार भी सूर्य से इलेक्ट्रॉन, प्रोटोन, न्यूट्रिनो आदि कणों की तरंगें भी निरन्तर अन्तरिक्ष में प्रवाहित हो रही हैं। इन्हें पृथिवी के रूप में गृहीत किया जा सकता है। अवरक्त, प्रकाश, गामा आदि किरणों को सूर्य के रूप में माना जा सकता है। न्यूट्रिनो को इसमें भी ग्रहण कर सकते हैं।
(२) चक्षु के समान से तात्पर्य यह है कि यह विकिरण सम्पूर्ण संसार की दृष्टि का साधन है तथा सर्वत्र व्याप्त होकर सबको प्राप्त हो रहा है। यही रूप सबको सहजतया सुलभ प्रतीत होता है। जिस प्रकार शरीर में आँख सर्वाधिक ज्ञान प्रकाशिका व व्यक्ततर होती है, उसी प्रकार इस विकिरण का रूप होता है। **दृश्य प्रकाश** व **ऊष्मा** ही दो नेत्र के समान शक्तियों वाले, सहज, सुलभ व मुख्य लक्षण हैं।
(३) नासिका के समान का भाव यह है जिस प्रकार नासिका के दो छिद्र प्राणों का मार्ग होते हैं, उसी प्रकार हर क्वाण्टा के दोनों ओर प्राण शक्तियाँ साथ-२ सतत गमन करती हैं। मानो यह प्राणों का मार्ग है। इसके बिना प्राण गमन नहीं करते और यह प्राणों के साथ समवेत रहकर ही गमन करता है। जिस प्रकार प्राण शक्ति बिना शरीर का मूल्य नहीं, उसी प्रकार **बिना प्राण शक्ति के इस विकिरण का संचालन सम्भव नहीं और न निर्माण ही सम्भव है।।**

८. 'ईळे द्यावापृथिवी पूर्वचित्तये' इति सूक्तम्।।

{कुत्सः = वज्रनाम (निघं.२.२०), कुत्स इत्येतत् कृन्ततेर्ऋषिः कुत्सो भवति, कर्त्ता स्तोमानामित्यौपमन्यवोऽत्राप्यस्य वधकर्मैव भवति (नि.३.११)। मज्मना = शुद्धिधारण - क्षेपणाऽऽख्यम् बलम् (तु.म.द.ऋ.भा.१.६४.३), बलनाम (निघं.२.६)। अस्वम् = या दुष्कर्म न सुते नोत्पादयति ताम् (म.द.ऋ.भा.१.११२.३)। कर्कन्धु = येन कर्म दधाति तत् (म.द. य.भा.१६.६१), यत्स्नेहस्तत् कर्कन्धु (श.१२.७.१.४), वय्यम् = प्राप्तव्यम् (तु.म.द.ऋ.भा.

४.१६.६), तन्तुसन्तानकम् (तु.म.द.ऋ.भा.२.१३.१२)। ओम्यावन्तम् = ये अवन्ति ते ओमानस्तान् ये यान्ति प्राप्नुवन्ति त ओम्याः, एते प्रशस्ता विद्यन्ते यस्य तम् (म.द.ऋ.भा.१.११२.७)। वर्तिका = संग्रामे प्रवर्त्तमाना (म.द.ऋ.भा.१.११७.१६)। असश्चतम् = अप्राप्तम् (म.द.ऋ.भा.२.३२.३), सश्चतीति गतिकर्मा (निघं.२.१४) ततो लङ्। सहस्रमीळ्हे = (मीळ्हे संग्रामनाम - निघं.२.१७)। औशिजः = उशिजः पुत्रः। उशिग् वष्टेः कान्तिकर्मणः (नि.६.१०)। कोशः = मेघनाम (निघं.१.१०)। क्षोदसा = प्रवाहेण (म.द.ऋ.भा.१.११२.१२)। मन्धातारम् = मन्धाता मेधाविनाम (निघं.३.१५), यानेन सद्यो दूरदेशं गमयितारं मेधाविनम् (म.द.ऋ.भा.१.११२.१३)। शम्बरम् = शम्बर इति मेघनाम (निघं.१.१०), उदकनाम (निघं.१.१२), बलनाम (निघं.२.६)। कशोजुवम् = (कश उदकनाम - निघं.१.१२), तदुपपदे जु गतौ (सौत्रो धातुः) धातौ 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (पा.अ.३.२.१७८) सूत्रेण क्विप्। शोकः = प्रकाशः (म.द.ऋ.भा.४.६.५), शोचति ज्वलतिकर्मा (निघं.१.१६)। कलिम् = यः किरतिं विक्षिपति तम् (म.द.ऋ.भा.१.११२.१५), कलन्ते स्पर्द्धमाना भाषन्ते यत्र स कलिः (उ.को.४.११६), स्यूमः = समूहः (तु.म.द.ऋ.भा.१.१२२.१५)। जठरम् = मध्यं वै जठरम् (श.७.१.१.२२), जायतेऽस्मादिति तत् (उ.को.५.३८)। शिक्षति दानकर्मा (निघं.३.२०)। अध्रिगूः = अधिकगन्ता (तु.म.द.ऋ.भा.५.७३.२), योऽधृन् धारकान्गच्छति (तु.म.द.ऋ.भा.५.१०.१), इन्द्रश्च अग्निश्च (नि.५.११)। कृशानुः = कृशति तनूकरोतीति सः (उ.को.४.२)। अर्वा = शीघ्रं गन्ता (म.द.य.भा.२६.६), ईरणवान् (नि.१०.३१)। दस्रः = दस्रौ दर्शनीयौ (नि.६.२६), दुष्टानां निवारकः (म.द.य.भा.३३.५८)। अप्नः कर्मनाम (निघं.२.१), रूपनाम (निघं.३.७)}

व्याख्यानम्- आंगिरस कुत्स ऋषि अर्थात् सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न तीव्र हिंसक वज्र रूप प्राणों से

ईळे द्यावापृथिवी पूर्वचित्तयेऽग्निं घर्मं सुरुचं यामन्निष्टये।
याभिर्भरे कारमंशाय जिन्वथस्ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्॥१॥

युवोर्दानाय सुभरा असश्चतो रथमा तस्थुर्वचसं न मन्तवे।
याभिर्धियोऽवथः कर्मन्निष्टये ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्॥२॥

युवं तासां दिव्यस्य प्रशासने विशां क्षयथो अमृतस्य मज्मना।
याभिर्धेनुमस्वं१ पिन्वथो नरा ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्॥३॥

याभिः परिज्मा तनयस्य मज्मना द्विमाता तूर्षु तरणिर्विभूषति।
याभिस्त्रिमन्तुरभवद्विचक्षणस्ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्॥४॥

याभी रेभं निवृतं सितमद्भ्य उद्वन्दनमैरयतं स्वर्दृशे।
याभिः कण्वं प्र सिषासन्तमावतं ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्॥५॥

याभिरन्तकं जसमानमारणे भुज्युं याभिरव्यथिभिर्जिजिन्वथुः।
याभिः कर्कन्धुं वय्यं च जिन्वथस्ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्॥६॥

याभिः शुचन्तिं धनसां सुषंसदं तप्तं घर्ममोम्यावन्तमत्रये।
याभिः पृश्निगुं पुरुकुत्समावतं ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्॥७॥

याभिः शचीभिर्वृषणा परावृजं प्रान्धं श्रोणं चक्षस एतवे कृथः।
याभिर्वर्तिकां ग्रसिताममुञ्चतं ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्।।८।।

याभिः सिन्धुं मधुमन्तमसश्चतं वसिष्ठं याभिरजरावजिन्वतम्।
याभिः कुत्सं श्रुतर्यं नर्यमावतं ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्।।९।।

याभिर्विश्पलां धनसामथर्व्यं सहस्रमीळ्ह आजावजिन्वतम्।
याभिर्वशमश्व्यं प्रेणिमावतं ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्।।१०।।

याभिः सुदानू औशिजाय वणिजे दीर्घश्रवसे मधु कोशो अक्षरत्।
कक्षीवन्तं स्तोतारं याभिरावतं ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्।।११।।

याभी रसां क्षोदसोद्नः पिपिन्वथुरनश्वं याभी रथमावतं जिषे।
याभिस्त्रिशोक उस्रिया उदाजत ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्।।१२।।

याभिः सूर्यं परियाथः परावति मन्धातारं क्षैत्रपत्येष्वावतम्।
याभिर्विप्रं प्र भरद्वाजमावतं ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्।।१३।।

याभिर्महामतिथिग्वं कशोजुवं दिवोदासं शम्बरहत्य आवतम्।
याभिः पूर्भिद्ये त्रसदस्युमावतं ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्।।१४।।

याभिर्वम्रं विपिपानमुपस्तुतं कलिं याभिर्वित्तजानिं दुवस्यथः।
याभिर्व्यश्वमुत पृथिमावतं ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्।।१५।।

याभिर्नरा शयवे याभिरत्रये याभिः पुरा मनवे गातुमीषथुः।
याभिः शारीराजतं स्यूमरश्मये ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्।।१६।।

याभिः पठर्वा जठरस्य मज्मनाग्निर्नादीदेच्चित इद्धो अज्मन्ना।
याभिः शर्यातमवथो महाधने ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्।।१७।।

याभिरङ्गिरो मनसा निरण्यथोऽ ग्रं गच्छथो विवरे गोअर्णसः।
याभिर्मनुं शूरमिषा समावतं ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्।।१८।।

याभिः पत्नीर्विमदाय न्यूहथुरा घ वा याभिररुणीरशिक्षतम्।
याभिः सुदास ऊहथुः सुदेव्यं ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्।।१९।।

याभिः शन्ताती भवथो ददाशुषे भुज्युं याभिरवथो याभिरध्रिगुम्।
ओम्यावतीं सुभरामृतस्तुभं ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्।।२०।।

याभिः कृशानुमसने दुवस्यथो जवे याभिर्यूनो अर्वन्तमावतम्।
मधु प्रियं भरथो यत्सरड्भ्यस्ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्।।२१।।

याभिर्नरं गोषुयुधं नृषाह्ये क्षेत्रस्य साता तनयस्य जिन्वथः।
याभी रथाँ अवथो याभिरर्वतस्ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्॥२२॥

याभिः कुत्समार्जुनेयं शतक्रतू प्र तुर्वीतिं प्र च दभीतिमावतम्।
याभिर्ध्वसन्तिं पुरुषन्तिमावतं ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्॥२३॥

अप्नस्वतीमश्विना वाचमस्मे कृतं नो दस्रा वृषणा मनीषाम्।
अद्यूत्येऽवसे नि ह्वये वां वृधे च नो भवतं वाजसातौ॥२४॥

द्युभिरक्तुभिः परि पातमस्मानरिष्टेभिरश्विना सौभगेभिः।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः॥२५॥ (ऋ.१.११२.१-२५)

की उत्पत्ति होती है। प्रथम ऋचा के प्रथम पाद का देवता **'द्यावापृथिव्यौ'** एवं द्वितीय पाद का **'अग्नि'** एवं शेष सम्पूर्ण सूक्त का **'अश्विनौ'** देवता है। इनके छन्द हैं- निचृज्जगती (१,२,६,७,१३,१५,१७,१८,२०-२२), जगती (४,८,९,११,१२,१४,१६,२३), विराड् जगती (१९), विराट् त्रिष्टुप् (३,५,२४), भुरिक्त्रिष्टुप् (१०), त्रिष्टुप् (२५)। इनके दैवत और छान्दस प्रभाव से प्रकाशित और अप्रकाशित कण, अग्नि, प्राण, अपान और वायु प्रभावित होते हैं। विभिन्न बल और तेज तीव्र होते और ऊर्जा के उत्सर्जन व अवशोषण में वृद्धि होती है। शेष प्रभाव विभिन्न छन्द रश्मियों के अनुसार क्रमशः है-

(१) पूर्वचित्ति अर्थात् विद्युत् **{द्यौरासीत् पूर्वचित्तिः - यजु.२३.५४}** की प्राप्ति के लिए प्राणापान प्रकाशित और अप्रकाशित कणों को अपने संरक्षण में प्रदीप्त करते हैं, जिससे विद्युत् के साथ ऊष्मा भी उत्पन्न होती है और फिर इसके कारण विभिन्न पदार्थों के विभाजन की क्रियायें तीव्र होती हैं।

(२) ये प्राणापान वा अग्निवायू परस्पर एक-दूसरे का धारण-पोषण करते किंवा अन्य सभी पदार्थों का धारण-पोषण करते एवं परस्पर संगत होते हुए भी पृथक्-२ रहते हैं। वे दोनों विशेष दीप्ति के लिये विभिन्न रश्मियों के समान सब ओर व्याप्त होते हैं। वे विभिन्न धारणात्मक संगति कर्मों के लिये विभिन्न मार्गों की रक्षा करते हैं। यहाँ परस्पर से तात्पर्य प्राण व अपान तथा अग्नि व वायु का पारस्परिक सम्बन्ध मानना चाहिए।

(३) सबको ले जाने वाले प्राणापान किंवा वायु और अग्नि, अविनाशी मनस् वा अहंकार तत्त्व और इनके भी कारण अविनाशी परमात्म-तत्त्व के बल के द्वारा विभिन्न उत्पन्न पदार्थों में निवास करके उनकी रक्षा करते हैं और उन रक्षाओं से **{धेनुः = आपो वै धेनवः, आपो हीदं सर्वं हिन्वन्ति (कौ.ब्रा.१२.१)}** विभिन्न तन्मात्राओं का सेवन करते हैं।

(४) वे दोनों प्रकाशक और अप्रकाशक पदार्थों के निर्माता होते हैं। उनमें से सर्वत्र अतीव वेग वाला वायु अपने से उत्पन्न अग्नि के बल से अच्छी प्रकार प्रदीप्त होता है और वह ऐसा वायु प्राणापानव्यान किंवा मन, वाक् एवं प्राण के द्वारा विशेष प्रदीप्त होता है।

(५) वे दोनों **{सितम् = सिनोति बध्नातीति (उ.को.३.८९)}। {वन्दनम् = (वन्दते अर्चतिकर्मा निघं.३.१४ - वै.को. से उद्धृत)}** जिन मार्गों से बंधे हुए निरन्तर एक-दूसरे का वरण करके विभिन्न तन्मात्राओं को प्रकाशित करने के लिये प्रेरित करते हैं, उन मार्गों का विभाग करने वाला सूत्रात्मा वायु अच्छी प्रकार सब ओर व्याप्त होता है।

(६) वे दोनों **{जसमानम् = (जसति गतिकर्मा - निघं.२.१४)। भुज्युः = यज्ञो वै भुज्युः (श.६.४.१.११)}** जिन मार्गों से विभिन्न संघर्षण में प्राप्त बाधक तत्त्वों को नष्ट करते और संगति कर्मों की रक्षा

करते तथा विभिन्न कणों को संयुक्त करके निर्माण प्रक्रिया को विस्तृत करते हैं, उन्हीं मार्गों से वे विभिन्न कणों को प्राप्त करते हैं।

(७) वे दोनों संरक्षित मार्ग से सतत गमन करते हुए **{ओमिति वै स्वर्गोलोकः (ऐ.५.३२), ओमितीन्द्र (जै.उ.१.२.२.२), ओमित्यसौ योऽसौ (सूर्यः) तपति (ऐ.५.३२)}** तारों के केन्द्रीय भाग को तीव्र ऊष्मायुक्त विभिन्न पदार्थों के विभाजक और उत्तम संगम स्थल को प्राप्त होते हैं। वे दोनों अन्तरिक्ष में गमन करने वाले विभिन्न तीव्र तापयुक्त विकिरणों की रक्षा करके सब पदार्थ की रक्षा करते हैं।

(८) वे दोनों **{श्रोणम् = खञ्जम् (म.द.ऋ.भा.४.३०.१६)}** तीव्र ज्वालाओं के साथ वर्त्तमान होकर अवरोध उत्पन्न करने वाले पदार्थों, अप्रकाशित एवं अवरुद्ध गति वाले पदार्थों को प्रकाशित करते हैं एवं विभिन्न हिंसक वैद्युत रश्मियों से संघर्ष करती हुई तन्मात्राओं की रक्षा करते हैं।

(९) सदैव सक्रिय वे दोनों विभिन्न प्राणों से युक्त होकर संरक्षित मार्ग से आकाश में व्याप्त होते हैं। इससे सबको बसाने वालों में श्रेष्ठ सूर्यलोक तीव्र ताप-युक्त विकिरणों, तीव्र गतिशील विभिन्न कणों एवं श्रेष्ठ मरुद् रश्मियों से तृप्त और संरक्षित रहता है।

(१०) वे दोनों असंख्य कणों वा तरंगों के संघर्षण में विभिन्न कणों के पालन एवं विभाजन करनेहारी अव्यर्थ किरणों को गति प्रदान करते हैं। इसके साथ वे हिंसक विद्युदादि को नष्ट करने के लिये उत्तम वेगवती और देदीप्यमान किरणों की रक्षा करते हैं।

(११) वे दोनों विशाल संयोज्य पदार्थ-समूह, दीप्ति और आकर्षणादि बलों से युक्त, न क्षीण होने वाले प्राणों वा तन्मात्राओं के मेघ समूह की रक्षा करते हैं। इसके साथ वे अपने उन रक्षण कर्मों से प्रकाशमान सूर्यादि लोकों की रक्षा करते हैं।

(१२) वे दोनों सोम के प्रवाह के साथ मन्दगामी रमणीय रश्मियों को पूर्ण बलयुक्त करके बाधक तत्त्वों को नियन्त्रित करते हैं। तीन प्रकार की प्रकाशित किरणों को ऊपर की ओर प्रक्षिप्त करके विभिन्न मार्गों में व्याप्त कराते हैं।

(१३) वे दोनों दूर से आती हुई तेजस्वी किरणों की भाँति मनस् तत्त्व को धारण करके अत्यन्त शीघ्रगामी होकर सर्वत्र व्याप्त हो जाते हैं। वे प्राणापान विभिन्न पदार्थों और उनकी रक्षिका पत्नी (क्षेत्र) संज्ञक शक्तियों की रक्षा करते तथा विभिन्न बलों को धारण करने वाली विभिन्न किरणों की भी रक्षा करते हैं।

(१४) वे दोनों बलवान् अप्रकाशित हिंसक वायु से युक्त विद्युत् के मेघों को नष्ट करने के लिए सतत गतिमान होने किंवा तारों के केन्द्रीय भाग में जाने वाले विभिन्न तन्मात्राओं को गति देने वाले एवं विभिन्न प्रकाशित कणों को उत्सर्जित करने वाले पदार्थों की रक्षा करते हैं। वे विभिन्न बाधक पदार्थों के विकिरण के प्रहार से नष्ट वा अवरुद्ध हुए विभिन्न परमाणु समुदाय की रक्षा करते हैं।

(१५) वे दोनों **{दुवस्यथः = (दुवस्यति परिचरणकर्मा - निघं.३.५; दुवस्यति राध्नोतिकर्मा - निघं.१०.२०)}** विभिन्न तन्मात्राओं का अवशोषण करने वाले, निकट आये हुए प्रक्षेपक स्वभाव वाले विकिरणों, उत्पादक शक्तिसम्पन्न पदार्थों से उत्सर्जित वा प्रक्षिप्त कणों वा तरंगों में व्याप्त होकर उनकी रक्षा करते हैं। वे विविध बल, गति एवं अति विस्तारयुक्त पदार्थों में व्याप्त होकर उनकी रक्षा करते हैं।

(१६) प्राणापान से युक्त विभिन्न मरुद् रश्मियाँ सतत गमन करने के लिए मनस् एवं वाक् तत्त्व को प्राप्त करके अपने संरक्षित मार्गों में शयन करने वाले होते हैं। वे दोनों विभिन्न रश्मियों के समूह की गतियों में व्याप्त रहते हैं।

(१७) विभिन्न क्रियाओं द्वारा वे दोनों वाक् रश्मियों को बल प्रदान करते हैं तथा अन्तरिक्ष में संचित प्रदीप्त अग्नि के समान विभिन्न बाधक रश्मियों को नष्ट करके प्रदीप्त होते हैं और ऐसा करके विभिन्न सृजन कर्मों की रक्षा करते हैं।

(१८) मन के साथ संयुक्त विभिन्न प्राण तत्त्व अग्नि और वायु को प्रेरित करके विभिन्न अप्रकाशित कणों और जल के साथ आकाश में निरन्तर संघर्ष करके विभिन्न पदार्थों का निर्माण करते हैं। **{शूरः = शवतेः गतिकर्मणः (नि.४.१३) (शूर विक्रान्तौ अथवा शृ हिंसायाम्)}** वे दोनों प्राणापान तीव्र गतिशील, अति भेदक शक्तिसम्पन्न और तेजस्वी विकिरणों की रक्षा करते हैं।

(१९) वे दोनों विभिन्न कणों वा तरंगों को विशेष तृप्त करने के लिये **'भूः, भुवः, स्वः'** आदि पत्नीरूप रक्षक प्राणों से नितराम् युक्त करते हैं **{अरुणिः = उषा अरुणिः (तै.सं.५.६.४.१; काठ.२२.६), {ये (पशवो) ऽभितप्यमानादसृज्यन्त तेऽरुणाः - जै.ब्रा.३.२६३}** जिसके कारण विभिन्न संतप्त मरुद् रश्मियाँ उत्पन्न होतीं एवं विभिन्न पदार्थों का संयोग-वियोग होकर सर्ग प्रक्रिया समृद्ध होती है।

(२०) वे दोनों विभिन्न क्रियाओं का सहजतया संचालन करने वाले होते हैं तथा विभिन्न पालक प्राणों तथा तीव्रगन्ता, धारक अग्नि और वायु की रक्षा करते हैं। वे अच्छी प्रकार सबका पोषण करने वाले तथा अपने कारण तत्त्व मनस् वा अंहकार के द्वारा धारण किये जाते हैं।
(२१) वे दोनों विभिन्न प्रक्षेपण क्रियाओं, तीक्ष्ण करने की क्रिया को प्राप्त कराते हैं। वे दोनों अतीव वेगवान् विद्युत् वा वायु की रक्षा करते और विभिन्न गतिमान् पदार्थों की गति के लिए आवश्यक बल को धारण कराते हैं।

(२२) वे दोनों नयनकर्ता विभिन्न पवनों को बल प्रदान करने एवं उनके सेवन वा संग्राम में विभिन्न क्रियाओं द्वारा विभिन्न प्रकाशित वा अप्रकाशित कणों के मध्य अन्योन्य क्रिया करने वाली मरुद् रश्मियों को तृप्त करते हैं। वे विभिन्न रमणीय, अति वेगवान् किरणों की रक्षा करके अपने क्षेत्र का विस्तार करते हैं।

(२३) **{अर्जुनः = रूपनाम (निघं.३.७), अर्जुनं शुक्लम् (नि.२.२१), अर्जुनो ह वै नामेन्द्रो यदस्य गुह्यं नाम (श.५.४.३.७)}** वे दोनों शुक्ल वर्ण से युक्त तीक्ष्ण विकिरणों रूपी वज्र को धारण करने वाले भेदक विद्युद्युक्त वायु का रूप धारण करके हिंसक विद्युद्युक्त अप्रकाशित वायु को अच्छी प्रकार नष्ट करते हैं और विभिन्न पदार्थों का अनावश्यक विखण्डन नहीं होने देते।

(२४) वे दोनों दर्शनीय, बलवर्षक, विभिन्न रूप और क्रिया वाले वाक् तत्त्व को धारण करते हैं और विभिन्न पदार्थों की रक्षा के लिये उन्हें मनस् तत्त्व से संगत कर विभिन्न संघर्षों से सुरक्षित कर समृद्ध होने में उनके साथ संयुक्त रहते हैं।

(२५) वे दोनों प्रकाशित वा अप्रकाशित अवस्थाओं में सुन्दर सूर्यों के साथ वर्तमान किंवा सूर्यों के निर्माण से पूर्व अप्रकाशित पदार्थ में विद्यमान विभिन्न पदार्थों की रक्षा करते हैं एवं उनके ही कारण आकर्षण, बन्धक और प्रतिकर्षण बल, अन्तरिक्षरूपी अदिति, विभिन्न जलसमूह रूपी मेघ, प्रकाशित और अप्रकाशित सभी पदार्थ सदैव समृद्ध होते हैं।

इन २५ ऋचाओं में से अन्तिम दो ऋचाओं को छोड़कर सभी २५ ऋचाओं में **"ऊतिभिः, याभिः, ताभिः, सु आ गतम्"** पदों की पुनरावृत्ति हुई है। इसका तात्पर्य यह है कि प्राणापान तत्त्व सभी पदार्थों में अच्छी प्रकार व्याप्त होते हैं और वे जिन रक्षण आदि क्रियाओं से अपने उपर्युक्त कार्यों को सम्पन्न करते हैं, उसी प्रकार उन्हीं रक्षण आदि क्रियाओं से सम्पन्न होकर उपर्युक्त छन्द रश्मियाँ भी अपना कार्य करती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इन रश्मियों के द्वारा विभिन्न बल और तेज तीव्र होकर ऊष्मा का उत्सर्जन व अवशोषण समृद्ध होता है। विभिन्न कणों के संयोजन और विभाजन की क्रिया तीव्र होती है। विभिन्न कणों वा तरंगों की गति एवं मार्गों की रक्षा होती है। सृष्टि प्रक्रिया में बाधक बनने वाली हिंसक विद्युद्

रश्मियाँ (dark energy) नष्ट होती हैं। तारों के अन्दर तीव्र ऊर्जा के विकिरण एवं विभिन्न गतिशील कण संरक्षित रहते हैं। आकाश में विद्यमान जलवाष्प के मेघों की किंवा पदार्थ की द्रवीभूत अवस्था की रक्षा होती है। तारों से मुख्यतः तीन प्रकार की प्रकाशित किरणें उत्सर्जित होने में सहयोग मिलता है। हमारी दृष्टि में ये किरणें विद्युत् चुम्बकीय तरंगें, इलेक्ट्रॉन किरणें, प्रोटॉन किरणें हो सकती हैं। यहाँ इलेक्ट्रॉन और प्रोटॉन दोनों को एक आवेशित किरणों के रूप में मानकर न्यूट्रिनो को तीसरी किरण के रूप में मान सकते हैं। प्राण और अपान दोनों विभिन्न पदार्थों की रक्षिका शक्तियों को उत्पन्न करके उनकी रक्षा करते हैं। वे प्राणापान दोनों सदैव संयुक्त होकर विभिन्न छन्द रश्मियों को एवं विभिन्न मरुद् रश्मियों को उत्पन्न करके सृष्टि की विभिन्न क्रियाओं का संचालन करते हैं। वे प्राणापान विभिन्न तीव्र बलों और गतियों से युक्त किरणों की रक्षा करते हैं। वे दोनों पदार्थ की प्रकाशित और अप्रकाशित अवस्था, प्रकाशित और अप्रकाशित कण, सभी प्रकार के बल, पदार्थ की सभी अवस्थाओं में सक्रिय रहते हैं।।
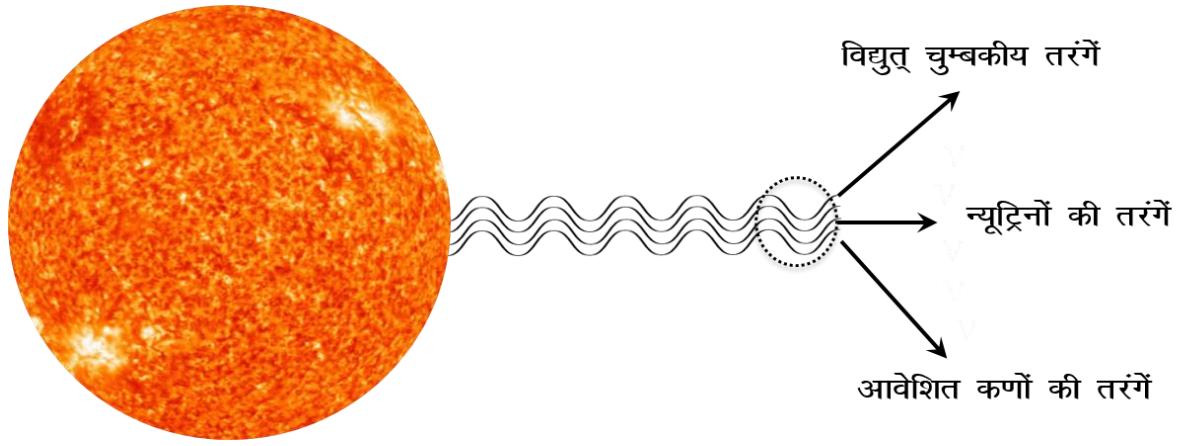
चित्र ४.२ तारों से तीन प्रकार की किरणों का उत्सर्जन

६. अग्निं घर्मं सुरुचं यामन्निष्टय इत्यभिरूपं यद्यज्ञेऽभिरूपं तत्समृद्धम्।। तदु जागतं जागता वै पशवः पशूनेवास्मिंस्तद्दधाति।। याभिरमुमावतं याभिरमुमावतमित्येतावतो हात्राश्विनौ कामान् ददृशतुस्तानेवास्मिंस्तद्दधाति तैरेवैनं तत्समर्धयति।।

व्याख्यानम्- पूर्वोक्त २५ ऋचाओं में से प्रथम ऋचा में विद्यमान **"अग्निं घर्मं सुरुचं यामन्निष्टये"** द्वितीय पाद के प्रभाव से अग्नि-कण तेज, ताप व सुन्दर रूप से युक्त होकर अपने वांछित मार्ग पर चलने में सहयोग पाते हैं। इसी प्रकार अन्य संयोज्य कण भी ऐसा सहयोग पाते, जिससे संगति कर्म समृद्ध होते हैं। शेष पूर्ववत्।।

यह सम्पूर्ण सूक्त जगती छन्द प्रधान है तथा विभिन्न मरुत् भी सूक्ष्म जगती छन्द वाले होते हैं। हमारे मत में दैवी वा याजुषी जगती छन्द मरुद्रूप ही होते हैं। **{जगती = जगती गततमं छन्दः। जलचर गतिर्वा (नि.७.१३)}** इसका तात्पर्य है कि यह छन्द सबसे व्यापक तथा जल की तरंगों के समान गति करने वाला होता है। इस प्रकार की छन्द रश्मियों के प्रभाव से विभिन्न मरुत् तथा छन्द रश्मियां विभिन्न

ऊर्जा कणों में धारण की जाती हैं किंवा विभिन्न ऊर्जास्रोत तारों आदि में धारण की जाती हैं। इस विषय में **महर्षि तित्तिर** का भी कथन है-
"सा पशुभिच्च दीक्षया चाऽऽगच्छतस्माज्जगती छन्दसां पशव्यतमा" (तै.सं.६.१.६.२) इससे संकेत मिलता है कि इस प्रवर्ग्य अर्थात् आदित्यादि लोकों में नाना प्रकार की दीक्षित मरुद् व छन्द रश्मियां सब ओर व्याप्त होती हैं। उनमें जगती छन्द रश्मियां **'पशव्यतमा'** {**पशव्यः = (पश बन्धने = बांधना, गांठ बांधना, जाना, फांस लगाना-सं. धा.को.- पं.युधिष्ठिर मीमासंक)**} होती है। इसका आशय यह है कि ये छन्द रश्मियां अन्य सभी छन्द रश्मियों में व्याप्त होकर उन्हें परस्पर बांधती हुई एक-दूसरे से सम्बद्ध रखने में सर्वाधिक समर्थ होती हैं, जिससे दृश्य कण वा रश्मि आदि पदार्थों की उत्पत्ति की प्रक्रिया समृद्ध होती है।।

पूर्वोक्त २५ में से २३ छन्दों में **"याभिः आवतम्"** की बार-२ आवृति हुयी है। इसका तात्पर्य है कि उपर्युक्त २५ छन्दों में जिन-२ कर्मों का विधान किया गया है, वे सभी प्राणापान वा प्राणोदान व कुत्रचित् अग्निवायु द्वारा सम्पन्न होते हैं। उनमें से भी अनेक कर्म अग्नि तत्त्व के अन्तर्गत घटित होते हैं। इस कारण इन छन्द रश्मियों के द्वारा विभिन्न ऊर्जायें समृद्ध होती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उपर्युक्त २५ छन्द रश्मियाँ बहुत विस्तृत क्षेत्र में फैली होती हैं तथा इनकी गति जल की लहरों के समान होती है। इनके द्वारा वायु, विद्युत् एवं प्राणापान कहीं-२ प्राणोदान सक्रिय होकर विभिन्न प्रकार की ऊर्जा तरंगों को अवरक्त किरणों और प्रकाश तरंगों में परिवर्तित करने में सहयोग मिलता है। ज्ञातव्य है कि **जगती रश्मियाँ ऊर्जा उत्सर्जन और अवशोषण प्रक्रिया को तीव्र करती हैं और इसी के कारण तारों के केन्द्रीय भाग में उत्पन्न गामा किरणें प्रकाश, ऊष्मा आदि की किरणों में परिवर्तित होती हैं।।**

१०. 'अरूरुचद् उषसः पृश्निरग्रिय' इति रुचितवती; रुचमेवास्मिंस्तद्दधाति।।
'द्युभिरक्तुभिः परि पातमस्मानित्युत्तमया परिदधाति।।
'अरिष्टेभिरश्विना सौभगेभिः। तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौरित्येतैरेवैनं तत्कामैः समर्धयति।।
इति नु पूर्वं पटलम्।।४।।

{पृश्निः = अन्तरिक्षम् (म.द.ऋ.भा.५.५२.१६), पृश्नयो मारुताः (मै.३.१३.१२), वाग् वै पृश्निः (काठ.३४.१), इयं (पृथिवी) वै पृश्निः (तै.ब्रा.१.४.१.५)। वाजयुः = यो वाजं वेगं कामयते सः (म.द.ऋ.भा.२.२०.१)}

व्याख्यानम्- यहाँ **महर्षि आश्वलायन** कहते हैं- **"प्रागुत्तमाया अरूरुचदुषसः पृश्निरग्रिय इत्यावपेतोत्तरेणार्धर्चेन पत्नीमीक्षेतोत्तमया परिहिते समुत्थाप्यैनानध्वर्यवो वाचयन्तीतिनु पूर्वं पटलम्।" (आश्व. श्रौ.४.६.३)** इसका तात्पर्य है पूर्वोक्त २५ छन्द रश्मियों में से अन्तिम ऋचा

द्युभिरक्तुभिः परि पातमस्मानरिष्टेभिरश्विना सौभगेभिः।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः।। (ऋ.१.११२.२५)

की उत्पत्ति से पूर्व पवित्र ऋषि **{पवित्रम् = प्राणोदानौ पवित्रे (श.१.८.१.४४), अन्तरिक्षं वै पवित्रम् (काठ.२६.१०), प्राणापानौ पवित्रे (तै.ब्रा.३.३.४.४)}** अर्थात् प्राण, अपान और उदान एवं आकाश तत्त्व के मेल से

अरूरुचदुषसः पृश्निरग्रिय उक्षा बिभर्ति भुवनानि वाजयुः।
मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमा दधुः।। (ऋ.९.८३.३)

की उत्पत्ति होती है। इसका देवता 'पवमान सोम' तथा छन्द जगती है, जिसके कारण यह गति करते हुए अप्रकाशित ठण्डे मन्दगामी वायु को पवित्र करता है और इससे भी ऊष्मा उत्सर्जन व अवशोषण की प्रक्रियायें तेज होती हैं। इसका अन्य प्रभाव निम्नानुसार होता है-

पवित्र और गतिशील सोम पदार्थ के द्वारा ऊष्मा उत्पन्न करती हुई प्रकाश तरंगें विशाल अन्तरिक्ष एवं पृथिव्यादि लोकों को प्रकाशित करती हैं एवं महान् व्यापक गुण वाली विभिन्न प्रकार की मरुद् रश्मियाँ विभिन्न प्रकार के बलों की वृष्टि करती हैं। वह बल विभिन्न बलों का आधार होकर विभिन्न लोकों का भरण-पोषण करता है। इन रश्मियों से उत्पन्न तेजस्वी विद्युत् अन्धकार से युक्त, गर्जनयुक्त विद्युत् को नष्ट करती है। इसके साथ ही यह पवित्र सोम विभिन्न प्रकाशित मरुद् रश्मियों, ऋतु रूप रश्मियों की तेजस्वी किरणों को धारण करता है। इस रश्मि में **"अरूरुचत्"** पद अग्नि के परमाणुओं को कान्तिमय बनाता है।।

उपर्युक्त ऋग् रश्मि के पश्चात् पूर्ववर्णित **"द्युभिरक्तुभिः....."** यह अन्तिम रश्मि पूर्वोक्त सभी २५ रश्मियों को चारों ओर से आवृत करके धारण करती है।।

उपर्युक्त अन्तिम छन्द रश्मि का प्रभाव हम **१.२१.८** में वर्णित कर चुके हैं। यह रश्मि अग्नि के परमाणुओं को भी अपने प्रभावों से विशेष समृद्ध करती है। इस त्रिष्टुप् रश्मि के द्वारा सूर्यादि से विकिरण पृथक्-२ विभागों वाला होकर अन्तरिक्ष में चल पड़ता है। जगती के क्षेत्र में यह कार्य प्रारम्भ व जारी रहकर त्रिष्टुप् के क्षेत्र में समाप्त होता है।।

यह प्रवर्ग्य अर्थात् संलयन में उत्पन्न विकिरण के उत्पन्न होकर उत्सर्जित होने तक का कार्य पूर्ण हुआ। खण्ड **१.१६** से विशेषतया प्रारम्भ कार्य यहाँ आकर समाप्त होता है। ध्यातव्य है कि **महर्षि आश्वलायन** के उपर्युक्त वचन से

अरूरुचदुषसः पृश्निरग्रिय उक्षा बिभर्ति भुवनानि वाजयुः।
मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमा दधुः।। (ऋ.९.८३.३)

के उत्तरार्द्ध के प्रभाव से विभिन्न रश्मियाँ रक्षिका शक्तिरूप पत्नियों को धारण करती हैं एवं अगली छन्द रश्मि के द्वारा चारों ओर से धारण करके विभिन्न प्राणों को तेजस्वी बनाने में सहयोग करती हैं।।३।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त २५ रश्मियों से जुड़ी यह रश्मि अप्रकाशित, ठण्डे, मन्दगामी वायु को पवित्र करती है, साथ ही ऊष्मा के उत्सर्जन व अवशोषण की प्रक्रिया भी तेज होती है। विभिन्न प्रकार की बल रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं, जो बाधक, हिंसक विद्युत् को नष्ट करती है।।

इति ४.४ समाप्तः

अथ ४.५ प्रारभ्यते

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. अथोत्तरम्।।

'उप ह्वये सुदुघां धेनुमेतां' 'हिं कृण्वती वसुपत्नी वसूनाम्' 'अभि त्वा देव सवितः' 'समी वत्सं न मातृभिः' 'सं वत्स इव मातृभिः' 'यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूः' 'गौरमीमेदनु वत्सं मिषन्तं' 'नमसेदुप सीदत' 'संजानाना उपसीदन्नभिज्ञ', 'आ दशभिर्विवस्वतः' 'दुहन्ति सप्तैकां' 'समिद्धो अग्निरश्विना' 'समिद्धो अग्निर्वृषणा रतिर्दिवः' 'तदु प्रयक्षतममस्य कर्म' 'आत्मन्वन्नभो दुह्यते घृतं पय' 'उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते' 'अधुक्षत्पिप्युषीमिषम्' 'उप द्रव पयसा गोधुगोषमा' 'आ सुते सिञ्चत श्रियम्' 'आ नूनमश्विनोर्ऋषिः' 'समु त्ये महतीरपः' इत्येकविंशतिरभिरूपा यद्यज्ञेऽभिरूपं तत्समृद्धम्।।

{दीर्घतमाः = दीर्घं तमो यस्मात् सः (म.द.ऋ.भा.१.१५८.६), (तमस्तनोतेः - नि.२.१६)। हिङ्कारः = यो हिङ्करोति सः (तु.म.द.य.भा.२२.७), हिङ्कृत्य तदैतद् यज्ञस्याग्रे गेयं यद्धिङ्कारः (गो.उ.३.६), वज्रो वै हिङ्कारः (कौ.ब्रा.३.२), शुक्लमेव हिङ्कारः (जै.उ.१.११.२.१), हिङ्कारो वै गायत्रस्य प्रतिहारः (तां.७.१.४), (प्रतिहारः = दरवाजा, द्वारपाल भाषायामिति आप्टे), रश्मय एव हिङ्कारः (जै.उ.१.११.१.६), स (प्रजापतिः) मन एव हिङ्कारमकरोत् (जै.उ.१.३.३.५)}

व्याख्यानम्- अब पूर्वोक्त प्रकरण को आगे बढ़ाते हैं।।

इस प्रकरण में निम्नलिखित २१ ऋग्रूप तरंगों की उत्पत्ति होती है। इनके देवता कण्डिका के क्रम के अनुसार निम्नलिखित हैं- विश्वे देवा (१,२,७), सविता भगो वा (३), पवमानः सोम (४,५,८,१५), सरस्वती (६), अग्नि (९), अग्निर्हवींषि वा (१०,११,१७,१९), घर्मः (१२,१३,१८), इन्द्र (१४), बृहस्पति (१६), अश्विनौ (२०), मरुतो देवता (२१) तथा जिनके छन्द कण्डिका के क्रमानुसार निम्नलिखित है- गायत्री (३,८,१०,१७), निचृद् गायत्री (१६,२१), विराड् गायत्री (११), अनुष्टुप् (२०), जगती (१३,१५,१८), त्रिष्टुप् (७), निचृत् त्रिष्टुप् (१,६), विराड् त्रिष्टुप् (२,९), विराडार्षीत्रिष्टुप् (१४), उष्णिक् (५), निचृदुष्णिक् (४), निचृदुपरिष्टात् बृहती (१९), पथ्या बृहती (१२)।

इनके दैवत प्रभाव से अग्नि, वायु, विद्युत्, प्रकाशित और अप्रकाशित कण, विभिन्न प्रकार के मरुत्, प्राणापान, सूत्रात्मा वायु, मास नामक रश्मियाँ, वाक् तत्त्व, ऊष्मा एवं पवित्र सोम पदार्थ आदि अनेक पदार्थ प्रभावित होते हैं तथा जिनके छान्दस प्रभाव से ऊष्णता, तेज और बल समृद्ध होते हैं। ऊष्मा का उत्सर्जन व अवशोषण तीव्र होता है। विभिन्न लोकों वा कणों की परिधियाँ इनसे प्रभावित होती हैं। शेष प्रभाव और उत्पत्ति विभिन्न रश्मियों की निम्नानुसार है-

(१) उप ह्वये सुदुघां धेनुमेतां सुहस्तो गोधुगुत दोहदेनाम्।
श्रेष्ठं सवं सविता साविषन्नोऽभीद्धो घर्मस्तदु षु प्र वोचम्।। (ऋ.१.१६४.२६)

की उत्पत्ति पूर्वोक्त **दीर्घतमा ऋषि** अर्थात् ऐसा सूक्ष्म प्राण, जो लम्बाई में फैलता हुआ बढ़ता जाता है, से होती है। इसका प्रभाव निम्नानुसार है-

प्राण और उदान रूपी सुन्दर आकर्षणादि हस्त वाला सूर्य विभिन्न किरणों को पूर्ण करता है और वे किरणें भी इन प्राणों से संयुक्त होती हुई भली प्रकार पूर्ण होती हैं। इन किरणों को श्रेष्ठ उत्पन्न विद्युत् भी पूर्ण करता है। इस कारण वे किरणें ऊष्मा और दीप्ति से अच्छी प्रकार चमकती हैं।

(२) हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागात्।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय।। (ऋ.१.१६४.२७)

की उत्पत्ति भी पूर्वोक्त ऋषि प्राण से होती है। इसका प्रभाव निम्नानुसार है-

{वत्सः = मन एव वत्सः (श.११.३.१.१), अयमेव वत्सो योऽयम् (वायुः) पवते (श.१२.४.१.११), अग्निर्ह वै ब्रह्मणो वत्सः (जै.उ.२.५.१.१), महत्तत्त्वादिकम् (म.द.ऋ.भा.३.५५.४)। पयः = ज्वलतोनाम (निघं.१.१७), प्राणः पयः (श.६.५.४.१५), पिबतेर्वा प्यायतेर्वा (नि.२.५)} विभिन्न ऊर्जा तरंगें अनेक **'हिम्'** रूपी सूक्ष्म रश्मियों को धारण करती हुई मनस्-अहंकार तत्त्व के द्वारा अग्नि और वायु को आकर्षित करती हुई अर्थात् अग्नि और वायु के गुणों से पूर्ण होकर सृष्टि काल तक अविनाशी रहकर सब ओर गमन करती हैं और उन अग्नि और वायु के गुणों के द्वारा ज्वलनशीलता से पूर्ण होकर सूर्यादि नक्षत्र लोकों की रक्षा करने वाली होकर उनके महान् ऐश्वर्य को बढ़ाती हैं।

(३) अभि त्वा देव सवितरीशानं वार्याणाम्। सदावन्भागमीमहे।। (ऋ.१.२४.३)

की उत्पत्ति **आजीगर्तिः शुनः शेप कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरात्रि ऋषि** प्राण से होती हैं। इस प्राण के विषय में खण्ड **१.१६** की द्वितीय कण्डिका देखें। इसके प्रभाव के विषय में भी पूर्ववत् समझें।

(४) समी वत्सं न मातृभिः सृजता गयसाधनम्। देवाव्यं१ मदमभि द्विशवसम्।। (ऋ.६.१०४.२)

की उत्पत्ति **पर्वतनारदौ द्वे शिखण्डिन्यौ वा काश्यप्यावप्सरसौ** नामक ऋषियुग्म से होती है।
{पर्वतः = मेघनाम (निघं.१.१०), पर्ववान् पर्वतः पर्व पुनः पृणातेः प्रीणातेर्वा। अर्धमासपर्व, देवानस्मिन् प्रीणन्तीति, तत् प्रकृतीतरत् सन्धिसामान्यात् (नि.१.२०)। मेघ = मेघो हविर्धानं यज्ञस्य (तै.आ.२.१४.१)। नारदः = नरस्य धर्मो नारं तद् ददातीति (आप्टे), (नरः = नयनकर्त्तारो मनुष्या वायवो वा - म.द.ऋ.भा.१.६४.१०; अश्वनाम - निघं.१.१४; नरो वै देवानां ग्रामः - तां.६.६.२)। शिखण्डी = (शिखण्डोऽस्त्यस्य+इनि-इति आप्टे; शिखण्डः = शिखाममति - अम्+ड, शकन्ध्वादिषु पररूपम् इति आप्टे; अम्, अम् = गतिशब्दसंभक्तेषु, शिखा = ज्वाला, प्रकाश की किरण, तेज सिरा - इति आप्टे)। कश्यपः = कश्यपो वै कूर्मः (श.७.५.१.५), (कूर्मः = प्राणो वै कूर्मः प्राणो हिमाः सर्वाः प्रजाः करोति (श.७.५.१.७)। अप्सरसः = (सरः = वाङ्नाम - निघं.१.११; उदकनाम - निघं.१.१२)। माता = माता अन्तरिक्षम्, निर्मीयन्तेऽस्मिन् भूतानि (नि.२.८), मातृवत् सर्वेषां मान्यकारिण्यः (किरणाः) (म.द.ऋ.भा.१.६२.१)। ईम् = उदकनाम (निघं.१.१२), प्राप्तं वस्तु (म.द.ऋ.भा.६.१७.२), सर्वां क्रियाम् (म.द.ऋ.भा.१.१६४.३२)}

यह छन्द रश्मि दो-दो सूक्ष्म प्राण के तीन युग्मों से पृथक्-२ उत्पन्न हो सकती है, जैसे- **पर्वतनारद-युग्म**। इसका तात्पर्य है **'पर्वत'** उस ऋषिप्राण का नाम है, जो अर्धमास नामक प्राणों से युक्त होकर विभिन्न मास संज्ञक हवियों का आधान करने में समर्थ होकर किसी क्रिया को पूर्णता प्रदान करने में सहायक होता है तथा **'नारद'** उस ऋषि प्राण को कहते हैं, जो विभिन्न देव परमाणुओं के समूहों को धारण शक्ति प्रदान करने में सहायक है, साथ ही उनमें गतिशीलता व व्यापकता प्रदान करने में भी योगदान देता है। इन दोनों ऋषियों के संयुक्त रूप से इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार शिखण्डी वह प्राण तत्त्व है, जिसके अन्तर्गत तीक्ष्ण किरणें ध्वनि उत्पन्न करती हुई व्याप्त होती हैं और एक-दूसरे का भक्षण भी करती रहती हैं। इस प्रकार के दो प्राणों के संयुक्त रूप से भी इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। काश्यप्य नामक प्राण कूर्म संज्ञक उप प्राण से उत्पन्न होता है। इस प्रकार के दो

प्राणों के युग्म से इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। कूर्म प्राण के विषय में पूर्वपीठिका देखें। अप्सरस् वह प्राण है, जो अन्तरिक्ष और वाक् तत्त्व के संयोग से उत्पन्न होता है। ऐसे दो प्राणों के युग्म से इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है।

इस छन्द रश्मि के प्रभाव से **{मदः = रसो वै मदः (जै.ब्रा.१.२१५), (तेजो वै मदन्तीः - मै.३.७.१०)}** विभिन्न प्राणों के साधन वा कारण एवं उनका रक्षक दो प्रकार के बलों से युक्त **{शवः = बलनाम (निघं.२.९), धननाम (निघं.२.१०)}** मनस् तत्त्व, जो अति सूक्ष्म और व्यापक शक्ति वाला होता है, वह सभी प्रकार के पदार्थों को आकाश तत्त्व वा सूक्ष्म किरणों के द्वारा संगत करता है। यहाँ दो बल आकर्षण और प्रतिकर्षण मानने चाहिये।

(५) सं वत्सइव मातृभिरिन्दुर्हिन्वानो अज्यते। देवावीर्मदो मतिभिः परिष्कृतः।। (ऋ.९.१०५.२)

की उत्पत्ति पर्वतनारद ऋषि प्राण-युग्म से होती है। इस ऋषि प्राण को उपर्युक्तवत् समझें। इस छन्द रश्मि के **{हिन्वानः = (हि गतौ वृद्धौ च; हिनु धेहि - नि.११.३०; हिन्वन्ति आप्नुवन्ति - नि.१.२०)। मतिः = वाग्वै मतिर्वाचा हीदं सर्वं मनुते (श.८.१.२.७)}** प्रभाव से सभी प्रकाशित पदार्थों में व्याप्त सोम वायु उनमें गति और वृद्धि करता हुआ वाक् तत्त्व द्वारा अच्छी प्रकार संगत होता है। वह ऐसा सोम वायु तेजस्वी मनस् तत्त्व के समान अन्तरिक्ष वा विभिन्न किरणों के द्वारा सब ओर से धारण किया जाता है।

(६) यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि।
यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः सरस्वति तमिह धातवे कः।। (ऋ.१.१६४.४९)

की उत्पत्ति दीर्घतमा ऋषि प्राण से होती है, जिसके विषय में पूर्ववत् समझें। इस छन्द रश्मि के प्रभाव से शान्त सा रहता हुआ किंवा जिसमें सभी पदार्थ शयन करते हैं, ऐसा वाक् तत्त्व सहजतया ध्वनि उत्पन्न करने वाला, सभी पदार्थों का स्वीकरणीय एवं सबको पुष्ट करने वाला है। वह वाक् तत्त्व अनेक रमणीय रश्मियों से युक्त प्राण तत्त्व के साथ संयुक्त होकर इस संसार में सबको धारण करने के लिए अच्छी प्रकार उनसे युक्त होता है।

(७) गौरमीमेदनु वत्सं मिषन्तं मूर्धानं हिङ्ङकृणोन्मातवा उ।
सृक्वाणं घर्ममभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः।। (ऋ.१.१६४.२८)

की उत्पत्ति उपर्युक्त दीर्घतमा ऋषि प्राण से होती है। इस छन्द रश्मि के प्रभाव से **{मिषन्तम् = (मिषु स्पर्धायाम्+शृ वा मिषु सेचने)। मायुम् = वाङ्नाम (निघं.१.११), परिमितं मार्गम् (म.द.ऋ.भा.१.१६४.२९)। वावशाना = कमनीयाः (म.द.ऋ.भा.७.५.५), (वश् कान्तौ धातोर्लिटः कानच्)। अमीमेत् = प्रक्षिपति (म.द.ऋ.भा.१.१६४.९), (डुमिञ् प्रक्षेपणे (स्वा.) धातोः छान्दसं रूपम्। अमीमेत् अन्वमीमेत् - नि.११.४२)। सृक्वाणम् = सरणम् (नि.११.४२), सृजन्तम् (म.द.ऋ.भा.१.१६४.२८)। घर्मम् = हरणम् (नि.११.४२)। गौः = प्राणो हि गौः (श.४.३.४.२५), रश्मिनाम (निघं.१.५), वाङ्नाम (निघं.१.११), इमे लोका गौः (श.६.५.२.१७)}** अत्यधिक चमकती हुई एवं अन्यों के प्रति आकर्षित होती हुई किरणें श्रेष्ठ मनस् तत्त्व एवं प्राण वायु को स्पर्श करके विभिन्न सूक्ष्म रश्मियों को उत्पन्न करती हैं और फिर अन्य कणों के अन्दर प्रवेश करने के लिए उन सूक्ष्म रश्मियों को आकर्षण बलयुक्त सूक्ष्म प्राणों के साथ उन कणों में प्रक्षिप्त कराती हैं। इसके साथ ही सब ओर से गतिशील वाक् तत्त्व भी प्रवाहित होता हुआ उन कणों में प्रविष्ट होता है।

(८) नमसेदुप सीदत दध्नेदभि श्रीणीतन। इन्दुमिन्द्रे दधातन।। (ऋ.९.११.६)

की उत्पत्ति **"असितः काश्यपो देवलः"** ऋषि प्राण से होती है। **{देवलः = दीव्यत्यधर्मिणो विजिगीषति इति देवलः (उ.को.१.१०६)}** यह प्राण पूर्वोक्त कूर्म नामक उपप्राण से उत्पन्न, बन्धनरहित परन्तु

बाधक रश्मियों को नियन्त्रित करने वाला होता है। {नमः = वज्रनाम (निघं.२.२०), अन्ननाम (निघं.२.७), यज्ञो वै नमः (श.२.४.२.२४)। दधि = पशवो वै दधि (तै.सं.५.२.७.४), सोमो वै दधि (काठ.३०.७), अन्नम् दधि (मै.३.२.६), दधि हैवास्य लोकस्य रूपम् (श.७.५.१.३)} इस छन्द रश्मि के प्रभाव से वह सोम तत्त्व संगमनीय विभिन्न मरुतों के साथ विभिन्न किरणों में निवास करता है। वह सोम विद्युत् को अपना आश्रय प्रदान करता हुआ धारण करता है।

(९) संजानाना उप सीदन्नभिज्ञु पत्नीवन्तो नमस्यं नमस्यन्।
रिरिक्वांसस्तन्वः कृण्वत स्वाः सखा सख्युर्निमिषि रक्षमाणाः।। (ऋ.१.७२.५)

की उत्पत्ति पराशर ऋषि प्राण अर्थात् सब ओर से तीक्ष्णता को धारण करने वाले एक सूक्ष्म प्राण से होती है। {रिरिक्वांसः = अधर्माद् विनिर्गताः (म.द.ऋ.भा.१.७२.५), रेचनङ् कारयन्तः (म.द.ऋ.भा.४.२४.३)। निमिषः = निरन्तरम् (म.द.ऋ.भा.२.२८.६)। अभिज्ञु = अभिगते जानुनी यासां ताः (म.द.ऋ.भा.१.३७.१०), अभितो जानुनी यस्य तम् (म.द.ऋ.भा.१.७२.५), (जानु = जायन्तेऽस्मात् तत् जानु-उ.को.१.३)} इस रश्मि के प्रभाव से साथ-२ प्रकाशित होती हुई किरणें अपनी रक्षक शक्तियों से युक्त होकर अपने अन्दर विद्यमान पदार्थ की रक्षा करती हुई बाधक अप्रकाशित वायुयुक्त हिंसक विद्युद् अथवा अन्य बाधक रश्मियों से मुक्त होकर अपने चारों ओर उत्पादक सूक्ष्म रश्मियों से युक्त होती हैं। वे रश्मियाँ उसकी ओर झुकने वाले एवं संयोग के इच्छुक कणों की ओर निरन्तर झुकती हुई किंवा उनसे संगत होती हुई उनके साथ प्रकाशित होकर अपने क्षेत्र को विस्तृत करती हैं।

(१०) आ दशभिर्विवस्वत इन्द्रः कोशमचुच्यवीत्। खेदया त्रिवृता दिवः।। (ऋ.८.७२.८)

की उत्पत्ति ''हर्यतः प्रागाथ'' ऋषि प्राण से होती है। {प्रगाथः = मनः प्रगाथः (जै.उ.३.१.४.३), प्राणापानौ वै बार्हतः प्रगाथः (कौ.ब्रा.१५.४), अन्तरिक्षं प्रगाथः (जै.उ.३.१.४.२), पशवः प्रगाथः (ऐ.३.१६)} यह ऋषि प्राण विशेष आकर्षण बलयुक्त, लम्बाई में फैलता हुआ, प्राणापान एवं आकाश तत्त्व के संयोग से उत्पन्न होता है। इस रश्मि के प्रभाव से {विवस्वान् = विवासनवान् (नि.७.२६)} विशेष रूप से विभिन्न तत्त्वों को बसाने वाला विद्युद्वायू से सम्पन्न सूर्य लोक से उत्पन्न किरणें प्राणापानादि दश प्राणों के द्वारा अन्तरिक्ष में विद्यमान विभिन्न पदार्थों में अपने त्रिगुण (सत्व-रज-तम) स्वरूप के साथ व्याप्त हो जाती हैं।

(११) दुहन्ति सप्तैकामुप द्वा पञ्च सृजतः। तीर्थे सिन्धोरधि स्वरे।। (ऋ.८.७२.७)

की उत्पत्ति उपर्युक्त ऋषि प्राण से होती है। इस रश्मि के प्रभाव से {स्वरः = वाङ्नाम (निघं.१.११), प्राणः स्वरः (तां.७.१.१०), पशवः स्वरः (गो.उ.३.२२), (स्वरति गतिकर्मा-निघं.२.१४)। सृजतः = (सृज = संयोजय - म.द.य.भा.२०.२२)} तारों से आने वाली किरणें अन्तरिक्ष में विद्यमान जलादि परमाणुओं के मध्य विद्यमान विभिन्न मरुतों वा छन्द रूप रश्मियों में गमन करते समय गायत्री आदि सात प्रकार की छन्द रश्मियाँ, एक मूल प्रकृति, दो अर्थात् मन और वाक् तत्त्व तथा पाँच अर्थात् प्राणापानादि पाँच प्राण आदि से परिपूर्ण होकर विभिन्न कणों से संयोग-वियोग करती हुई सतत गमन करती हैं।

(१२) समिद्धो अग्निरश्विना तप्तो वां घर्म आ गतम्।
दुह्यन्ते नूनं वृषणेह धेनवो दस्रा मदन्ति वेधसः।। (अथर्व.७.७३.२)

की उत्पत्ति अथर्वा ऋषि प्राण से होती है। यह प्राण भेदक शक्ति से रहित तथा स्वयं भी अभेद्य होता है। {वेधसः = वेधाः मेधाविनाम (निघं.३.१५), इन्द्रो वै वेधाः (ऐ.६.१०), विशेषेण दधातीति वेधाः (उ.को.४.२२६)} इस रश्मि के प्रभाव से बाधक रश्मियों के निवारक दर्शनीय एवं बलवान् वायु और विद्युत्

के कारण अग्नि प्रदीप्त और ऊष्मायुक्त होता है और उस अग्नि की विभिन्न किरणें उन वायु और विद्युत् से पूर्ण होकर सर्वत्र व्याप्त होकर विभिन्न कणों को धारण करती हुई उन्हें तृप्त करती हैं।

(१३) समिद्धो अग्निर्वृषणा रथी दिवस्तप्तो घर्मो दुह्यते वामिषे मधु।
वयं हि वां पुरुदमासो अश्विना हवामहे सधमादेषु कारवः।। (अथर्व.७.७३.१)

की उत्पत्ति भी उपर्युक्त अथर्वा प्राण से होती है। **{दमासः = (दमः गृहनाम - निघं.३.४), दमः शमयिता (तै.आ.१०.६४.१)। सधमादेषु = सहस्थानेषु (म.द.य.भा.१६.४४), सधमादम् = सहमदनम् (नि.७.३०)}** इस रश्मि के प्रभाव से बलवान् वायुविद्युत् से जो अग्नि प्रदीप्त होता है, वह अग्नि अन्तरिक्ष पर सवार होकर तप्त व प्रदीप्त होता हुआ गमन करता है। वह अग्नि उन वायुविद्युत् के द्वारा विभिन्न **{मधु = सौम्यं वै मधु (काठ.११.२), प्रजा वै मधु (जै.ब्रा.१.८८)} {इषः = इष्टसाधकाः किरणाः (म.द.ऋ.भा.१.८६.५)}** प्राणों तथा सोम रश्मियों से परिपूर्ण होता है। उस अग्नि के विभिन्न परमाणु विभिन्न मार्गों पर गति करते एवं मिलकर साथ-२ विभिन्न स्थानों पर क्रिया-कलाप करते अन्तरिक्ष से वायु और विद्युत् को आकर्षित करते हैं।

(१४) तदु प्रयक्षतममस्य कर्म दस्मस्य चारुतममस्ति दंसः।
उपह्वरे यदुपरा अपिन्वन्मध्वर्णसो नद्य१श्चतस्रः।। (ऋ.१.६२.६)

की उत्पत्ति गौतमो नोधा ऋषि प्राण से होती है। **{नोधाः = नौति स्तौति नूयते स्तूयते वा स नोधाः (उ.को.४.२२७)}** यह ऋषि धनंजय व सूत्रात्मा प्राण से उत्पन्न विशेष प्रकाशमान प्राण रश्मि विशेष के रूप में होता है। इस छन्द रश्मि के प्रभाव से **{दस्मः = दुःखोपक्षेप्ता (म.द.ऋ.भा.१.१४८.४), मूर्त्तद्रव्याणामुपक्षयिता (म.द.ऋ.भा.३.३.२)। दंसः = कर्मनाम (निघं.२.१), (दसि दर्शन-दंसनयोः)। उपरा = दिङ्नाम (निघं.१.६)}** विभिन्न कणों के प्रक्षेप्ता वायु और विद्युत् के वक्र मार्गों में **{कर्म = यज्ञो वै कर्म (श.१.१.२.१), वीर्यं वै कर्म (श.११.५.४.५)}** विद्यमान अति सुन्दर तेजस्वी और पराक्रमी संयोज्य कण होते हैं। उनमें ये वायुविद्युत् सेचनकर्त्ता प्राण तत्त्व की चारों दिशाओं में वृष्टि करते हैं।

(१५) आत्मन्वन्नभो दुह्यते घृतं पय ऋतस्य नाभिरमृतं वि जायते।
समीचीनाः सुदानवः प्रीणन्ति तं नरो हितमव मेहन्ति पेरवः।। (ऋ.६.७४.४)

की उत्पत्ति **कक्षीवान् ऋषि** अर्थात् विभिन्न पराक्रम एवं मार्गों से युक्त एक सूक्ष्म प्राण विशेष से होती है। इस रश्मि के प्रभाव से **{आत्मा = आत्मा वै बृहती (ऐ.६.२८), आत्मा वै होता (ऐ.६.८), आत्मा वै स्तोत्रियः (कौ.ब्रा.१५.४), अन्तरिक्षम् (तु.श.८.३.१.६), आत्मा त्रिष्टुप् (श.६.२.१.२४)। पेरुः = पाता (म.द.ऋ.भा.१.१५८.३), पारयिता (म.द.ऋ.भा.७.३५.१३)। नभः = अन्तरिक्षम् (म.द.ऋ.भा.१.७१.१०), अन्तरिक्षं वै नभाꣳसि (तै.ब्रा.३.८.१८.१), प्रकाशम् (म.द.य.भा.५.६)}** सबको बांधने वाले त्रिष्टुप्-बृहती आदि छन्द रश्मियों से युक्त प्रकाशमान अन्तरिक्ष से निरन्तर संदीप्त तेज दुहा जाता है। वह अन्तरिक्ष विभिन्न प्राणों को अपने साथ बांधने वाला केन्द्र है, जो अविनाशी और प्राण रूप होकर विशेष प्रकार से प्रकट होता है। उस अन्तरिक्ष को प्राणापानादि प्राथमिक प्राण तृप्त करते हैं और उनकी दानशील शक्तियाँ उसको धारण करती हैं।

(१६) उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवयन्तस्त्वेमहे।
उप प्र यन्तु मरुतः सुदानव इन्द्र प्राशूर्भवा सचा।। (ऋ.१.४०.१)

की उत्पत्ति **घोर पुत्र कण्व** ऋषि प्राण से होती है। यह ऐसा सूक्ष्म प्राण है, जो सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न होता और तीव्र भेदक शक्तिसम्पन्न होता है। इस रश्मि के प्रभाव से **{सचा = समवेताः (म.द.ऋ.भा.१.१३५.३), (सच समवाये) (सचति गतिकर्मा-निघं.२.१४)। प्राशूः = यः प्राश्नुते प्रकृष्टतया व्याप्नोति सः**

(म.द.ऋ.भा.१.४०.१)} महान् लोकों का पालक इन्द्र तत्त्व सबके साथ संयुक्त होकर मन्द प्रकाश और गति वाले, सबसे तुरन्त संयोग करने और सूक्ष्म क्रीड़ा करने वाले मरुद् गणों अर्थात् सूक्ष्म वायु रश्मियों से व्याप्त होता है। वे मरुद् रश्मियाँ इन्द्र तत्त्व को निकटता से घेरे हुए रहती हैं।

(१७) अधुक्षत्पिप्युषीमिषमूर्जं सप्तपदीमरिः। सूर्यस्य सप्त रश्मिभिः।। (ऋ.८.७२.१६)

की उत्पत्ति **'हर्यतः प्रागाथ'** ऋषि प्राण से होती है, जिसे पूर्ववत् समझें। इस छन्द रश्मि के प्रभाव से {अरिः = अमित्रः (नि.५.७), प्रापकः (ऋ गतिप्रापणयोः)। पिप्युषी = पानकर्त्री (म.द.ऋ.भा.२.१३.१), प्रवृद्धा वर्धयित्री वर्धयति (तु.म.द.ऋ.भा.२.३२.३)। अधुक्षत् = (दुह प्रपूरणे-लुङ्)} अग्नि तत्त्व सात प्रकार के छन्दों से युक्त सूर्य की सात प्रकार की किरणों द्वारा विभिन्न परमाणुओं को बल से पूर्ण करके अच्छी प्रकार बढ़ाता है।

(१८) उप द्रव पयसा गोधुगोषमा घर्मे सिञ्च पय उस्रियायाः।
वि नाकमख्यत्सविता वरेण्योऽनुप्रयाणमुषसो वि राजति।। (अथर्व.७.७३.६)

की उत्पत्ति **'अथर्वा'** ऋषि प्राण से होती है, जिसे पूर्ववत् समझें। इस छन्द रश्मि के प्रभाव से विभिन्न किरणों को पूर्ण करने वाले वायु और विद्युत् विभिन्न प्राणों को संवहित करते हुए किरणों के समीप ही गतिशील होते हैं और उन किरणों में विद्यमान प्राण तत्त्व विभिन्न संगतीकरण कर्मों को सब ओर से सींचते हैं। श्रेष्ठ वायु और विद्युत् तत्त्व सूर्य में प्रकाशित होकर सबको प्रकाशित करते हैं।

(१९) आ सुते सिञ्चत श्रियं रोदस्योरभिश्रियम्। रसा दधीत वृषभम्।। (ऋ.८.७२.१३)

की उत्पत्ति **''हर्यतः प्रागाथ''** ऋषि प्राण से होती है, जिसे पूर्ववत् समझें। इस छन्द रश्मि के प्रभाव से उत्पन्न हुआ अग्नि समस्त प्रकाशित लोकों की दीप्ति का आधार बनकर उन्हें सब ओर से सींचता है। वह अग्नि अपने सेचन सामर्थ्य को विभिन्न तन्मात्राओं में धारण कराता है।

(२०) आ नूनमश्विनोर्ऋषिः स्तोमं चिकेत वामया। आ सोमं मधुमत्तमं घर्मं सिञ्चादथर्वणि।। (ऋ.८.९.७)

की उत्पत्ति **''शशकर्णः काण्व ऋषि''** प्राण से होती है। यह प्राण सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न उछलता-कूदता हुआ सा चलकर विभिन्न कार्य करता है। इस छन्द रश्मि के प्रभाव से {वामा = प्रशस्ता वाक् (म.द.ऋ.भा.१.४०.६)} प्राणापानादि सूक्ष्म प्राण वायु और विद्युत् को अपने उत्कृष्ट वाक् तत्त्व के तेज से प्रकाशित करते हैं और वे विभिन्न प्राणों से युक्त होकर विभिन्न तन्मात्राओं के संगम को सुरक्षापूर्वक सिद्ध करते हैं।

(२१) समु त्ये महतीरपः सं क्षोणी समु सूर्यम्। सं वज्रं पर्वशो दधुः।। (ऋ.८.७.२२)

की उत्पत्ति **''पुनर्वत्सः काण्व ऋषि''** प्राण से होती है। यह ऋषि प्राण सूत्रात्मा वायु से बार-बार उत्पन्न होता हुआ गति करता है अर्थात् यह सतत शृंखला के रूप में उत्पन्न होता है। इस छन्द रश्मि के प्रभाव से {क्षोणी = द्यावापृथिवीनाम (निघं.३.३०)। पर्व = अङ्गमङ्गम् (म.द.ऋ.भा.१.६१.१२)} विभिन्न मरुद् रश्मियां {सम् = समित्येकीभावम् (नि.१.३)} महान् तन्मात्राओं एवं छन्द प्राणों को एकीकृत करती हैं। वे प्रकाशित व अप्रकाशित कणों व तरंगों को भी एकीकृत करती हैं तथा वे मरुद् रश्मियाँ ही विभिन्न कणों के भागों को अपनी भेदन शक्ति से तोड़ती हैं।

ये २१ प्रकार की छन्द रश्मियाँ विभिन्न किरणों को शोभन रूप प्रदान करते हुए सृष्टियज्ञ को समृद्धि करती हैं। शेष पूर्ववत्। इन २१ ऋचाओं को **महर्षि आश्वलायन** ने भी अपने श्रौत सूत्र **४.७.४** में उद्धृत किया है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इन छन्द रश्मियों के प्रभाव से अग्नि, वायु, विद्युत्, प्रकाशित व अप्रकाशित कण, विभिन्न प्रकार की मरुद् रश्मियाँ, ऊष्मा, सोम पदार्थ, प्राणापानादि अनेक पदार्थ प्रभावित होते हैं। ऊष्मा का उत्सर्जन -अवशोषण बढ़ता है तथा विभिन्न लोकों वा कणों की परिधियों के निर्माण में भी इनकी कुछ भूमिका होती है। तारों से उत्सर्जित किरणें इन रश्मियों से युक्त होकर अच्छी प्रकार चमकती हैं। ये रश्मियाँ सृष्टि काल तक नष्ट नहीं होती। विभिन्न किरणों द्वारा विभिन्न कणों को धारण करने की क्षमता बढ़ती है। आकर्षण व प्रतिकर्षण आदि बल का अति सूक्ष्म और प्रथम रूप महद् वा अहंकार तत्त्व में उत्पन्न होता है। वाक् तत्त्व, जो अति सूक्ष्म अवस्था में विद्यमान होता है एवं सूक्ष्म मरुद् रश्मियाँ द्रव्य एवं ऊर्जा के साथ ही सदैव संयुक्त रहते हैं। विभिन्न फोटोन्स भी अति सूक्ष्म रश्मियों को धारण करते हैं। **जब फोटोन्स किसी इलेक्ट्रॉन आदि से टकराते हैं, तो वे इन्हीं सूक्ष्म रश्मियों को उन कणों में प्रक्षिप्त करते हैं। सभी प्रकार के सूक्ष्म कण, फोटोन्स अथवा बल-रश्मियाँ आदि पदार्थ अपनी सूक्ष्म शक्तियों अर्थात् 'भूः', 'भुवः', 'स्वः' आदि दैवी गायत्री छन्दों के साथ सदैव संयुक्त रहकर अपना कार्य करने एवं बाधक रश्मियों को दूर करने में समर्थ होते हैं। विभिन्न प्रकार के फोटोन्स गायत्री आदि सात प्रकार की छन्द रश्मियों, मन और वाक् तत्त्व, मूल प्रकृति और प्राणापानादि प्राथमिक प्राणों से भी युक्त होते हैं। वे फोटोन्स धनञ्जय प्राण के साथ आकाश तत्त्व पर सवार होकर गमन करते हैं।** आकाश में व्याप्त वायु और विद्युत् आकाश में विद्यमान कणों पर विभिन्न सूक्ष्म प्राणों की वर्षा करते रहते हैं। प्राणापानादि प्राथमिक प्राण आकाश तत्त्व को भी धारण वा तृप्त करते हैं। तीव्र भेदक विद्युत् तरंगों को सूक्ष्म मरुद् रश्मियाँ सदैव घेरे रहती हैं। **विभिन्न मरुद् रश्मियाँ बड़ी छन्द रश्मियों, फोटोन्स, इलेक्ट्रॉन्स, आदि कण अथवा मिडीएटर पार्टीकल्स सबको उनका स्वरूप प्रदान करने में सहायक होती हैं और वे ही उनका भेदन भी करती हैं।।**
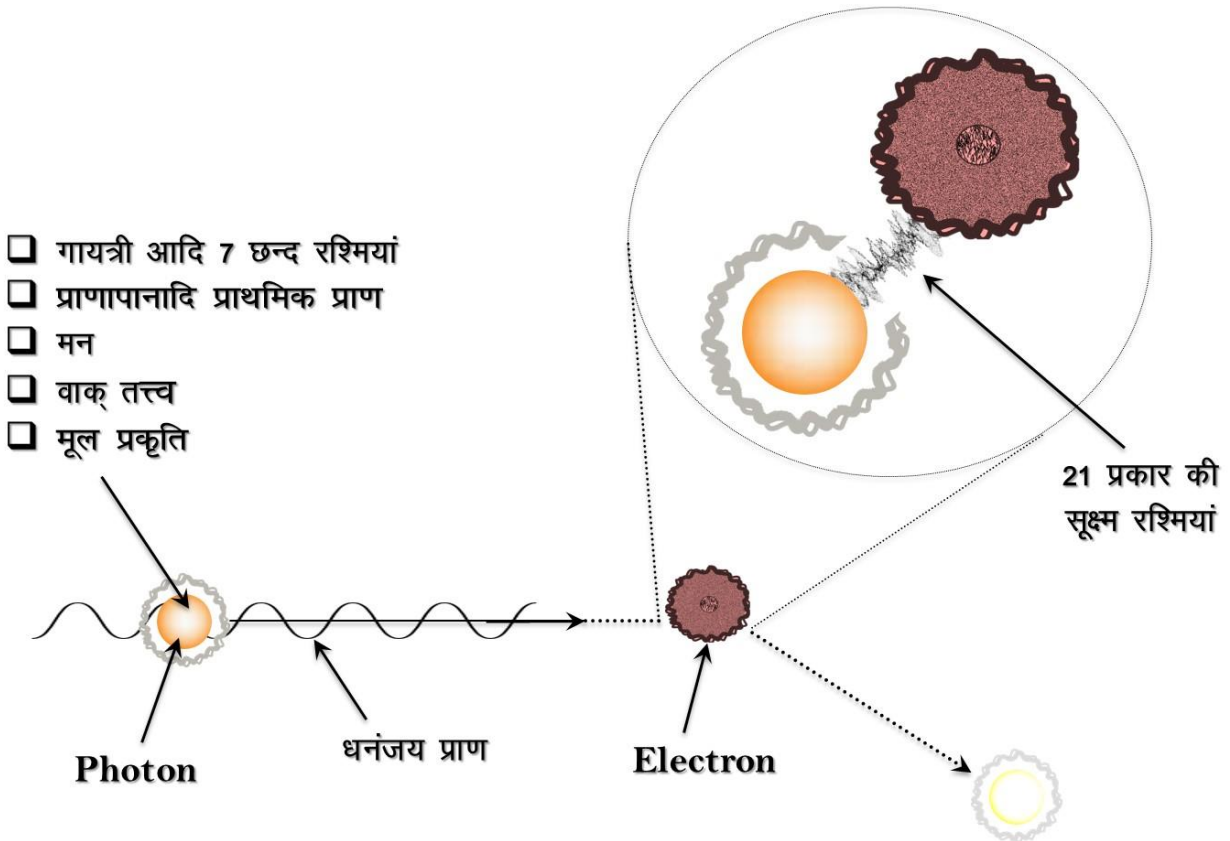
चित्र ४.३ फोटोन द्वारा इलेक्ट्रॉन को आंशिक ऊर्जा प्रदान करने की प्रक्रिया

२. उदुष्य देवः सविता हिरण्ययेत्यनूत्तिष्ठति, 'प्रैतु ब्रह्मणस्पतिरित्यनुप्रैति, 'गन्धर्व इत्था पदमस्य रक्षतीति खरमवेक्षते, 'नाके सुपर्णमुपयत्पतन्तमित्युपविशति 'तप्तो वां घर्मो न क्षितिः स्वहोता' 'उभा पिबतमश्विनेति पूर्वाह्णे यजति।।

{खरः = खमिन्द्रियं रातीति (आप्टे कोष)। इत्था = सत्यनाम (निघं.३.१०), अमुत्र (नि.४.२५), अनेन हेतुना (म.द.ऋ.भा.३.६.५)। रिपुः = अनिष्टं रपति वदति इति (उ.को.१.२६), स्तेननाम (निघं.३.२४)। शकुनः = शक्तिमान् (म.द.य.भा.१८.५३)। दमूनाः = दमूना दममना वा, दानमना वा, दान्तमना वा, अपि वा दम इति गृहनाम तन्मनाः स्यात् (नि.४.४), दाम्यत्युपशमयतीति दमुनाः (उ.को.४.२३६)। अयः = हिरण्यनाम (निघं.१.२), योऽयते गच्छति सः (म.द.ऋ.भा.५.६२.७), दिशो वा अयस्मय्यः (तै.ब्रा.३.६.६.५), अयस्त्रैष्टुभम् (शां.आ.११.७)। हनुः = हन्यतेऽनेनेति हनुः कपोलावयवः प्रहरणं मृत्युर्वा (उ.को.१.१०), वाजं हनुभ्याम् (प्रीणामि) (मै.३.१५.१)। मन्द्रः = कमनीयः (म.द.ऋ.भा.३.१४.१), मन्दते स्तौतीति मन्द्रः गम्भीरध्वनिर्वा (उ.को.२.१३)। जिह्वा = वाङ्नाम (निघं.१.११), जयति यया सा (उ.को.१.१५४), किरणज्वालासमूहः (म.द.ऋ.भा.१.४६.१०)। दोषा = रात्रिनाम (निघं.१.७), दुष्यतीति दोषा (उ.को.४.१७६)। तना = विस्तृतप्राप्तिहेतवः सूर्यकिरणाः (म.द.ऋ.भा.१.३.४), विस्तारकः (म.द.ऋ.भा.३.२५.१), धननाम (निघं.२.१०)। नक्षतु = (नक्षति गतिकर्मा - निघं.२.१४; व्याप्तिकर्मा - निघं.२.१८)। वीतम् = (वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु)। अविद्रियाभिः = अच्छिद्राभिः (म.द.य.भा.३४.२८)। शर्म = गृहनाम (निघं.३.४), शर्म शरणम् (नि.९.१९), वाग् वै शर्म (ऐ.२.४०)।} {अनु+स्था = सम्पन्न करना, पीछा करना, देना, अपने आप को प्रस्तुत करना, शासन करना। अनु+इ = अनुसरण करना, अनुरूप होना। प्र+इ = निकल जाना। अव+ईक्ष = निशाना लगाना, रक्षा करना। उद्+स्था = पलटकर आना, आगे आना, सक्रिय होना, उत्तेजित करना, उदय होना। उप+विश = स्वीकार करना (सभी अर्थ आप्टे कोष से)। उप+विश = संलयन होना (तु.उपवेशनम् - आप्टे)। प्र+इ = प्राप्त करना (वैदिक कोष - आ. राजवीर शास्त्री)}

व्याख्यानम्- **महर्षि आश्वलायन** ने भी इन ऋचाओं को अपने श्रौत सूत्र **४.७.४** में उद्धृत किया है। **{महावीरः = असौ वै महावीरो योऽसौ (सूर्यः) तपति (कौ.ब्रा.८.३), महावीरउद्वासितः (प्रवर्ग्यः) (तै.आ.५.११.१), स एष महावीरो मध्यन्दिनोत्सर्गः (कौ.ब्रा.८.७), महाँश्चासौ वीरश्च तमिव महाकर्षणप्रकाशादिना युक्तः सूर्यलोकः (तु.म.द.ऋ.भा.१.३२.६)}** यहाँ प्रथम ऋचा के सम्बंध में **महर्षि आश्वलायन** लिखते हैं- **"महावीरमादायोतिष्ठसुदुष्यं अनुतिष्ठते....प्रैतु......दत्यनुव्रजेत्......."**। इसमें अति गूढ़ वैज्ञानिक रहस्य छिपा है। यहाँ 'महावीर' शब्द का अर्थ सूर्य से उत्सर्जित विकिरण है। यहाँ **महर्षि ऐतरेय महीदास** कहते हैं कि जब सूर्यादि तारों से विकिरण उत्सर्जित होते हैं, उस समय

उदु ष्य देवः सविता हिरण्यया बाहू अयंस्त सवनाय सुक्रतुः।
घृतेन पाणी अभि प्रुष्णुते मखो युवा सुदक्षो रजसो विधर्मणि।। (ऋ.६.७१.१)

छन्द रश्मि **भरद्वाजो बार्हस्पत्य** ऋषि अर्थात् मनस् तत्त्व से उत्पन्न विभिन्न बलों को धारण करने वाले प्राण नामक प्राण तत्त्व से उत्पन्न होती है। इसका देवता सविता तथा छन्द त्रिष्टुप् है। इस कारण इस रश्मि के बल और तेज तीव्र होकर तारों से उत्सर्जित होने वाली किरणों को प्रेरित करते हैं, जिसके कारण अग्नि के परमाणु के पीछे दूसरा परमाणु आ खड़ा होता है। इस रश्मि के कारण वे परमाणु परस्पर एक-दूसरे का पीछा करते हुए बढ़ते हैं। इस रश्मि का कुछ अन्य प्रभाव इस प्रकार है- यह रश्मि अपने नियन्त्रक आकर्षण व धारण बलों से युक्त किरणों के मार्ग का नियमन करती हुई, तेजस्वी

प्रहरण से युक्त मार्ग के समस्त बाधक तत्त्वों को दूर करती हुई सक्रिय होकर आगे बढ़ती है। यह रश्मि प्रशस्त दान कर्म के लिए उन किरणों को प्रेरित करती है।

इसके पश्चात् **घोर पुत्र कण्व** ऋषि अर्थात् **सूत्रात्मा वायु** से उत्पन्न घोर कर्म करने वाले ऋषि प्राण से

प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता। अच्छा वीरं नर्यं पङ्क्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः।। (ऋ.१.४०.३)

की उत्पत्ति होती है। जिसका देवता बृहस्पति तथा छन्द आर्ची त्रिष्टुप् होने से वैद्युत बल तीव्र व तेजस्वी होता है, जिसके कारण उपर्युक्त किरणों के परमाणु एक-दूसरे का अनुसरण कर पंक्ति-बद्ध होकर प्रबल वेग से आगे बढ़ते हैं। **{सूनृता = वाङ्नाम (निघं.१.११; - वै.को. से उद्धृत), उषोनाम (निघं. १.८)}** इस रश्मि के अन्य प्रभाव से विभिन्न बलों के पालक और रक्षक श्रेष्ठ प्राथमिक प्राण तत्त्व उन किरणों की पंक्तियों को सिद्ध करते हुए वाक् तत्त्व के साथ संगत और प्रकाशमान होकर आगे बढ़ते हैं।

तदुपरान्त पवित्र ऋषि अर्थात् प्राणापान एवं आकाश तत्त्व के संयोग से

गन्धर्व इत्था पदमस्य रक्षति पाति देवानां जनिमान्यद्भुतः।
गृभ्णाति रिपुं निधया निधापतिः सुकृत्तमा मधुनो भक्षमाशत।। (ऋ.९.८३.४)

की उत्पत्ति होती है, जिसका देवता 'पवमान सोम' तथा छन्द 'निचृज्जगती' होने से किरणों के साथ चलने वाला पवित्र सोम तत्त्व उन किरणों को जल की रश्मियों के समान अति दूर तक आगे ले जाने में सहायक होता है। यह रश्मि उपर्युक्त किरणों के सघन रूप की रक्षा करती है, साथ ही उस ऊर्जा की तीक्ष्णता को भी सुरक्षित रखने में सहायक होती है। इस रश्मि के अन्य प्रभाव से विभिन्न किरणों को धारण करने वाला इत्था अर्थात् सूर्यलोक **{असावादित्यः सत्यम् (तै.ब्रा.२.१.११.१)}** विभिन्न प्रकाश तरंगों की उत्पत्ति करता है और वह विशेष प्रकार की शक्तियों से विघ्नरूप रश्मियों को अपने नियन्त्रण में रखता है। इसके साथ ही दूसरा प्रभाव यह है कि विभिन्न सूक्ष्म रश्मियों को धारण करने वाले ऊर्जा कण विशेष सूक्ष्म प्राण रश्मियों को जन्म देते और रक्षा करते हैं। **{पाशा वै निधा (ऐ.३.१९)}** वे कण अपनी शक्ति से युक्त होकर विभिन्न अनिष्ट बन्धनों को अपने अधीन करते हैं तथा विभिन्न प्रकाशित मार्गों पर सुरक्षित गति करते हैं।

इसके पश्चात् वेन ऋषि अर्थात् सूत्रात्मा वायु एवं प्राण तत्त्व के संयोग से बने एक सूक्ष्म प्राण द्वारा

नाके सुपर्णमुप यत्पतन्तं हृदा वेनन्तो अभ्यचक्षत त्वा।
हिरण्यपक्षं वरुणस्य दूतं यमस्य योनौ शकुनं भुरण्युम्।। (ऋ.१०.१२३.६)

की उत्पत्ति होती है। इसका देवता वेन और छन्द त्रिष्टुप् होने से **{असावादित्यो वेनः (श.७.४.१.१४)}** वे उपर्युक्त किरणें तीव्र बलयुक्त और तेजस्वी होती हैं। इस रश्मि के प्रभाव से ऊर्जा के कण अन्य कणों के साथ संयुक्त होने में सहज समर्थ होते हैं। इस रश्मि के अन्य प्रभाव से प्रकाशमान पक्षों से युक्त सुन्दर किरणें अन्तरिक्ष में गमन करती हुई आगे बढ़ती हैं तथा अन्तरिक्ष में विद्यमान जल और वायु के बीच वर्त्तमान यह दूत रूप अग्नि शक्तिमान् होता हुआ सबका भरण-पोषण करता है।

तदुपरान्त **अथर्वा ऋषि** (प्राक् वर्णित) से

तप्तो वां घर्मो नक्षतु स्वहोता प्र वामध्वर्युश्चरतु पयस्वान्।
मधोर्दुग्धस्याश्विना तनाया वीतं पातं पयस उस्रियायाः।। (अथर्व.७.७३.५)

की उत्पत्ति होती है। इसका देवता अश्विनौ तथा छन्द त्रिष्टुप् होने से पूर्वोक्त किरणों के साथ संलग्न प्राणापान अथवा वायु-विद्युत् तेजस्वी होते हैं। यह रश्मि पूर्वाह्ण अर्थात् **{ब्रह्म वै पूर्वमहः (तां.११.११.९)}**

विद्युत् के साथ पूर्ण रूप से संगत होती है। इसके अन्य प्रभाव से {दुग्धः = प्रपूर्णः (म.द.ऋ.भा.३.३६.६)} वायु और विद्युत् किंवा प्राणापान किरणों के ताप और तेज में व्याप्त होकर सोमवायु अर्थात् मरुद् रश्मियों से युक्त मनस्तत्त्वरूप अध्वर्यु में विचरण करते हैं। इससे विस्तृत सूर्य किरणें स्पष्ट मार्गों में गमन करते हुए विभिन्न प्राणों को पूर्ण रूप से अपने अन्दर व्याप्त करती हुई आगे बढ़ती हैं।

इसके पश्चात् प्रस्कण्वः काण्व ऋषि अर्थात् सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न एक सूक्ष्म प्राण विशेष से

उभा पिबतमश्विनोभा नः शर्म यच्छतम्। अविद्रियाभिरूतिभिः।। (ऋ.१.४६.१५)

की उत्पत्ति होती है। इसका देवता अश्विनौ और छन्द निचृद्गायत्री होने से उपर्युक्त प्राणापान वा वायुविद्युत् तेजस्वी और बलवान् होकर विद्युत् कणों से संयुक्त होते हैं। इसके अन्य प्रभाव से वे प्राणापान वा वायुविद्युत् अखण्डित क्रियायुक्त सुरक्षित मार्गों से उन किरणों को अवशोषित करते हुए अर्थात् उनको अपने अन्दर व्याप्त करते हुए वाक् तत्त्व से पूर्ण करते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार– तारों से उत्सर्जित किरणों की गमन प्रक्रिया को यहाँ स्पष्ट किया जाता है। **प्रथम रश्मि के प्रभाव से एक फोटोन के पीछे दूसरा फोटोन आ खड़ा होता है। यह छन्द रश्मि फोटोन के मार्ग का नियमन करने में सहायक होती है। इसके पश्चात् द्वितीय रश्मि से एक के पीछे दूसरा इस प्रकार पंक्तिबद्ध होकर फोटोन्स बड़े वेग से गति करते हैं। यह छन्द रश्मि वाक् तत्त्व और प्राण तत्त्व के साथ फोटोन्स को संगत करके उनकी पंक्तियों को सुरक्षित रखती है। उसके पश्चात् अगली छन्द रश्मि फोटोन्स की सघनता व तीक्ष्णता को सुरक्षित करती हुई आगे ले जाने में सहयोग करती है। यह रश्मि फोटोन्स के अन्दर विभिन्न सूक्ष्म रश्मियों का निरन्तर विनियम करके उनकी रक्षा करती है। वह उनके परिमाण की भी रक्षा करती है। इस कारण जब तक कोई फोटोन मुक्त होकर बिना किसी से अवशोषित हुए अथवा टकराये अन्तरिक्ष में गति करते रहता है, तब तक उसकी ऊर्जा में कमी नहीं आती।** उससे अगली छन्द रश्मि फोटोन्स को तेजस्वी और बलवान् बनाती है, जिससे वे मार्ग में आने वाले विद्युत् कणों (इलेक्ट्रॉन्स आदि) से संयोग करने में समर्थ होते हैं। **वर्त्तमान विज्ञान सम्भवतः इस सम्पूर्ण विज्ञान से अनभिज्ञ है। निरावेशित फोटोन आवेशित इलेक्ट्रॉन्स आदि से कैसे व क्यों प्रतिक्रिया करता है? इस विषय में वर्त्तमान विज्ञान मौन है,** जबकि हमारे मत में इस रश्मि के प्रभाव से ही यह आकर्षण होता है। अब पाँचवीं व छठी छन्द रश्मि के प्रभाव से उपर्युक्त संयोगीकरण प्रक्रिया पूर्ण रूप से सम्पन्न होती है, जिसके कारण इलेक्ट्रॉन्स आदि के द्वारा फोटोन्स अवशोषित हो जाते हैं और फिर वे इलेक्ट्रॉन्स बहिर्गमन भी कर सकते हैं, जिससे रासायनिक क्रिया प्रभावित वा परिवर्तित होती है।।

३. अग्ने वीहीत्यनुवषट्करोति स्विष्टकृद्भाजनम्।।
यदुस्रियास्वाहुतं घृतं पयोऽस्य पिबतमश्विनेत्यपराह्णे यजत्यग्ने वीहीत्यनुवषट्करोति स्विष्टकृद्भाजनम्।।

{स्विष्टकृत् = एषा (उदिची) हि दिक् स्विष्टकृत् (श.२.३.१.२३), प्रतिष्ठा वै स्विष्टकृत् (ऐ.२.१०; कौ.ब्रा.३.८)। वषट्कारः = देव पात्रं वा एतत् यत् वषट्कारः (ऐ.३.५), वाक् च वै प्राणापानौ च वषट्कारः (ऐ.३.८), वज्रो वै वषट्कारः (ऐ.३.८, कौ.ब्रा.३.५), (वज्रः = किरणसमूहः –म.द.ऋ.भा.१.८०.३), (वषट् = क्रियाकौशलम् –म.द.य.भा.११.३८)}

व्याख्यानम्– यहाँ **''अग्ने वीहीति''** से सायण ने किसी ऋचा विशेष का ग्रहण नहीं किया है। **महर्षि आश्वलायन** ने अन्य ऋचाओं के कुछ पदों की भाँति यहाँ भी **''अग्ने वीहीति''** का प्रयोग किया है। ऐतरेय ब्राह्मण में ऋचाओं के उद्धृत अंशों से कौन सी ऋचा का ग्रहण किया जाये, इसका संकेत पाद टिप्पणियों में किया हुआ है, जिसके आधार पर हम अब तक ऋचाओं का ग्रहण करते आये हैं। **'अग्ने**

वीहि' से प्रारम्भ होने वाली वेद संहिताओं में कुल दो ऋचाएं **ऋ.३.२८.३** व **ऋ.७.१७.३** उपलब्ध हैं। हमारी दृष्टि में यहाँ

अग्ने॑ वी॒हि ह॒विषा॒ यक्षि॑ दे॒वान्त्स्व॑ध्व॒रा कृ॑णुहि जातवेदः।।३।। (ऋ.७.१७.३)

का ग्रहण करना योग्य है। यह ऋग् रश्मि वसिष्ठ ऋषि अर्थात् प्राण नामक प्राण से उत्पन्न होती है। इसका देवता अग्नि और छन्द आर्च्युष्णिक् होने से पूर्वोक्त प्रकरण में वर्णित फोटोन और इलेक्ट्रॉन का जब संयोग होता है, तब इसकी भी भूमिका होती है। इसके अन्य प्रभाव से अग्नि परमाणु (ऊर्जा कण) हवि रूप संयोज्य कण के साथ व्याप्त हो जाता है और उसे गति प्रदान करता है। यहाँ **"अनुवषट्करोति"** पद से यह संकेत मिलता है कि पूर्व कण्डिका में उद्धृत अन्तिम दो ऋचाएँ वषट्कार संज्ञक हैं। इसका तात्पर्य यह है कि ऊर्जा तरंगों का अन्य कणों से जब पूर्वोक्तानुसार संयोग होता है, तब उपर्यक्त अन्तिम दोनों छन्द रश्मियाँ वज्र रूप धारण करके संयोग की क्रिया को कुशलता से सम्पन्न करती हैं और उसी के पीछे-२ इस उष्णिक् छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। यह रश्मि भी वज्ररूप होकर उस संयोग को पूर्णता प्रदान करती है। यहाँ **"स्विष्टकृद्भाजनम्"** से यह संकेत मिलता है कि यह संयोग किसी कण के उत्तर वा प्रतिष्ठारूप दक्षिण दिशा में होता है। इस विषय में विशेष जानकारी हेतु खण्ड **१.५** में देखें।।

{विदथः = यज्ञनाम (निघं.३.१७)। अपराह्ण = अपराह्णः प्रतिहारः (जै.उ.१.३.२.४)} तदुपरान्त दो छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है। जिनमें से प्रथम

यदु॒स्रिया॒स्वाहु॑तं घृ॒तं पयो॒ऽ यं स वा॑मश्विना भा॒ग आ ग॑तम्।
माध्वी॑ धर्तारा विदथस्य सत्पती त॒प्तं घ॒र्मं पि॑बतं रोच॒ने दि॒वः।। (अथर्व.७.७३.४)

अथर्वा ऋषि प्राण से उत्पन्न होती है। इसका छन्द जगती और देवता अश्विनौ होने से प्राणापान सक्रिय होकर अग्नि परमाणु को अन्य कण के द्वारा अवशोषित होने में सहयोग मिलता है। इसके अन्य प्रभाव से यज्ञ के धारक प्राणापान किंवा वायुविद्युत् अग्नि किरणों में विद्यमान विभिन्न प्राणादि पदार्थ उस संगतीकरण प्रक्रिया में प्रकाश और तेज से युक्त होकर अन्य कण के वायुविद्युत् से संयोग करते हैं। इसके ही **'ब्रह्मातिथि काण्व'** ऋषि अर्थात् सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न प्राणापान में विचरण करने वाले एक सूक्ष्म प्राण विशेष से

अ॒स्य पि॑बतमश्विना यु॒वं मद॑स्य॒ चारु॑णः। मध्वो॑ रा॒तस्य॑ धिष्ण्या।। (ऋ.८.५.१४)

की उत्पत्ति होती है। इसका देवता अश्विनौ और छन्द निचृद्गायत्री होने से वे प्राणापान किंवा अग्निवायू किञ्चित् भेदक शक्तिसम्पन्न होकर पूर्वोक्त संयोग को और दृढ़ करते हैं। इसके अन्य प्रभाव से **{धिष्ण्या = दृढ़ौ प्रगल्भौ (म.द.ऋ.भा.१.१८२.१), (धिषणा वाङ्नाम - निघं.१.११; द्यावापृथिवीनाम - निघं.३.३०)}** वायुविद्युत् तीक्ष्ण होकर संयोज्य कणों से उत्सर्जित प्राणों को अवशोषित कर लेते हैं, जिससे ये दोनों छन्द रश्मियाँ मिलकर उपर्युक्त दोनों कणों के संयुक्त रूप को आवृत करके मानो उनके द्वारपाल के रूप में काम करती हैं और दूसरा विज्ञान यह है कि उपर्युक्त छन्द रश्मियों द्वारा जो दोनों कणों का संयोग होता है, वह तत्काल ही वियोग में बदल जाता है और कणों के वियुक्त होते समय पूर्वोक्त **"अग्ने वीहि"** छन्द रश्मि उत्पन्न होकर स्विष्टकृत् अर्थात् उत्तर वा दक्षिण दिशा से दोनों कणों को पृथक्-२ करती है। इस प्रकार इनका संयोग और वियोग उन कणों के उत्तरी वा दक्षिणी ध्रुवों से ही होता है। उत्तरी दिशा के विषय में कहा गया है- **"एषा वै वरुणस्य दिक्" (तै.ब्रा.३.८.२०.४), "साम्नामुदीची महती दिगुच्यते।" (तै.ब्रा.३.१२.९.१)** अर्थात् इस दिशा से कण किसी अन्य कण का वरण करके उसके साथ संधि करते हैं। इसके साथ ही **महर्षि याज्ञवल्क्य** का कथन है-
"दक्षिणा (दिक्) ब्रह्मणः" (श.१३.५.४.२४) {ब्रह्मा = प्रजापतिर्वै ब्रह्मा (गो.उ.५.८), यज्ञस्य हैष भिषग् यद् ब्रह्मा यज्ञायैव तद्भेषजं कृत्वा हरति (ऐ.५.३४)}

इन प्रमाणों से संयोगादि प्रक्रिया में दक्षिणी ध्रुव की भूमिका प्रतिपादित होती है। इस प्रकार संयोग वियोग इन दोनों ही दिशाओं से सम्पन्न हो सकता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- किसी इलेक्ट्रॉन से संयुक्त वा वियुक्त होते समय उपर्युक्त तीनों छन्द रश्मियाँ अपनी भूमिका निभाती हैं। जब कोई फोटोन इलेक्ट्रॉन पर गिरता है, तो वह इलेक्ट्रॉन के उत्तरी वा दक्षिणी भाग से ही प्रविष्ट होता है और जब वह वापिस इलेक्ट्रॉन से उत्सर्जित होता है, तो वह उसी दिशा से उत्सर्जित होता है। दिशा का यह नियम उपर्युक्त प्रथम छन्द रश्मि के कारण होता है। शेष दोनों रश्मियां फोटोन को इलेक्ट्रॉन के द्वारा पूर्ण रूप से अवशोषित करने में काम आती हैं, जिससे फोटोन की ऊर्जा इलेक्ट्रॉन, जो स्वयं सूक्ष्म कणों का समूह होता है, में व्याप्त हो जाती है और जब इलेक्ट्रॉन से वह फोटोन वापिस उत्सर्जित होता है, तो इन्हीं दो छन्द रश्मियों के प्रभाव से वह ऊर्जा एकत्र होकर प्रथम रश्मि के सहयोग से इलेक्ट्रॉन की उसी दिशा से घनीभूत रूप में बाहर उत्सर्जित हो जाती है।।
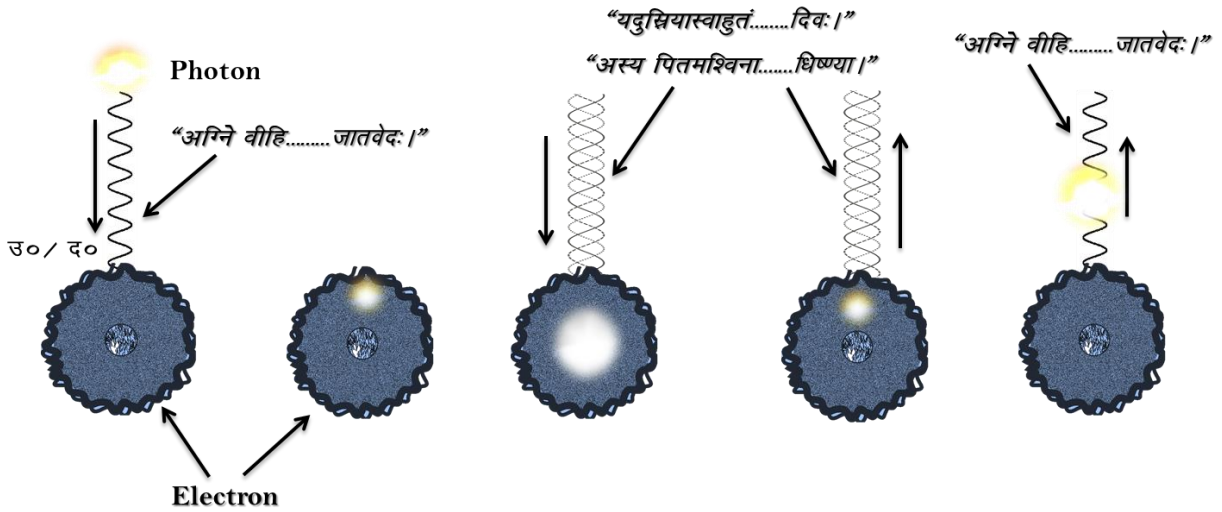
चित्र ४.४ किसी फोटोन के इलेक्ट्रॉन से संयुक्त वा वियुक्त होने की प्रक्रिया

४. त्रयाणां ह वै हविषां स्विष्टकृतेन समवद्यन्ति सोमस्य घर्मस्य वाजिनस्येति स यदनुवषट्करोत्यग्नेरेव स्विष्टकृतोऽनन्तरित्यै।। 'विश्वा आशा दक्षिणासादिति' ब्रह्मा जपति।।

{वाजी = छन्दांसि वै वाजिनः (गो.उ.१.२०), पशवो वै वाजिनः (तै.ब्रा.१.६.३.१०), वाजिनम् अन्नवन्तम् (नि.१०.२८)। अन्तरिति = अन्तः+इ+क्तिन्। सोमः = अन्नम् (कौ.ब्रा.६.६)}

व्याख्यानम्- उपर्युक्त स्विष्टकृत् अर्थात् उत्तर वा दक्षिण दिशा से तीन प्रकार के पदार्थों का संयोग वा वियोग होता है- (१) सोम अर्थात् सोम वायु वा अन्न संज्ञक संयोज्य कण (२) घर्म अर्थात ताप वा प्रकाश के कण (३) वाजी अर्थात् छन्द वा मरुद् रश्मियाँ।

पूर्व कण्डिका में जिस वषट्कार का वर्णन है, वह पदार्थों के संयुक्त वा वियुक्त होने को ही दर्शाता है। हमने भी वहाँ इसी प्रकार का व्याख्यान किया है। इस प्रकार पूर्व कण्डिका की इस कण्डिका से संगति समझनी चाहिए।।

{जपति = (ब्रह्म वै जपः। कौ.ब्रा.३.७)} "विश्वा आशा दक्षिणासत्......" ऋचा के पूर्वार्द्ध की उत्पत्ति होती है। इस ऋचा को महर्षि आश्वलायन ने अपने श्रौत सूत्र ४.७.४ में उद्धृत किया है। वहाँ 'दक्षिणसात्' के स्थान पर 'दक्षिणासात्' पाठ मिलता है तथा 'मधोः' के स्थान पर 'मध्वः' पाठ मिलता है। यजुर्वेद संहिता में किञ्चित् पाठ भेद से यह ऋचा

"विश्वाऽआशा दक्षिणसद्विश्वान्देवानयाडिह। स्वाहाकृतस्य घर्मस्य मधोः पिबतमश्विना।।" (यजु.३८.१०)

विद्यमान है। यह छन्द रश्मि दीर्घतमा ऋषि से उत्पन्न होती है। इस ऋषि का वैज्ञानिक स्वरूप पूर्ववत् समझें। इसका देवता अश्विनौ व छन्द अनुष्टुप् है। इस कारण इसके प्रभाव से प्राणापान किंवा वायुविद्युत् तेज और बल से युक्त होते हैं। इसके पूर्वार्द्ध के प्रभाव से किसी भी कण वा क्वाण्टा आदि की दक्षिण दिशा से जब कोई कण वा तरंग बहिर्गमन करती है, तब उनका किसी भी दिशा में विद्यमान कण वा तरंग से संयोग हो सकता है। इस ऋचा के पूर्वार्द्ध के प्रभाव से ब्रह्मा अर्थात् वैद्युत बल किंवा प्राणापान संयुक्त वाक् तत्त्व समृद्ध होकर उपर्युक्त क्रिया में सहायक होता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार– विभिन्न कणों वा रश्मियों का संयोग एवं वियोग उन कणों की उत्तर वा दक्षिण दिशा से होता है। ये कण वा रश्मि इस प्रकार हो सकते हैं- (१) सोम अर्थात् सोम वायु वा अन्न संज्ञक संयोज्य कण (२) फोटोन्स (३) छन्द वा मरुद् रश्मियाँ। इन दिशाओं से संयोग वा वियोग के कारण उपर्युक्त छन्द रश्मि के प्रभाव से वैद्युत बल अपेक्षाकृत अधिक प्रभावकारी होता है। ध्यातव्य है कि किसी भी दिशा में विद्यमान कणों का संयोग वा वियोग इन्हीं दोनों दिशाओं से होता है।।

५. 'स्वाहाकृतः शुचिर्देवेषु घर्मः, 'समुद्रादूर्मिमुदियर्ति वेनो' 'द्रप्सः समुद्रमभि यज्जिगाति। 'सखे सखायमभ्याववृत्स्व, 'ऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतय, 'ऊर्ध्वो नः पाह्यंहसः, 'तं घेमित्था नमस्विन, इत्यभिरूपा यद्यज्ञेऽभिरूपं तत्समृद्धम्।।

{इयर्ति = गतिकर्मा (निघं.२.१४)। सानु = सानु समुच्छ्रितं भवति समुन्नुन्नमिति वा (नि.२.२४)। विष्टपः = अन्तरिक्षम् (तु.म.द.ऋ.भा.१.४६.३), व्याप्तिः (तु.म.द.य.भा.१४.२३)। व्राः = या वृणोति सा (म.द.ऋ.भा.१.१२४.८), व्रात्याः (नि.५.३), (व्रात्याः = प्रैषाः इति पं. भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर निरुक्तभाष्य)। द्रप्सः = कमनीयः (तु.म.द.ऋ.भा.७.३३.११), यज्ञपदार्थसमूहः (म.द.य.भा.७.२६), ज्वालादिर्गुणः (तु.म.द.ऋ.भा.१.६४.११), असौ वाऽआदित्यो द्रप्सः (श.७.४.१.२०)। विधर्मन् = आकाशः (तु.म.द.ऋ.भा.१.१६४.३६)। अष्टिः = अस्+क्तिन् पृषोदरादि षत्वम् इति आप्टे, (अस गतिदीप्त्यादानेषु, असु क्षेपणे)। तोकम् = वर्धकम् (म.द.ऋ.भा.६.१३.६), प्रजा वै तोकम् (श.७.५.२.३६)। तुजः = (तुज हिंसाबलादाननिकेतनेषु) - चुरा. धातोः संज्ञायां घः प्रत्ययः (वै.को. - आ. राजवीर शास्त्री)। वाघत् = ऋत्विङ्नाम (निघं.३.१८), मेधाविनाम (निघं.३.१५)। केतुः = किरणः (तु.म.द.ऋ.भा.१.१२४.५), केतवः रश्मयः (नि.१२.१५)। अत्रिणः = परस्वापहारकः (तु.म.द.ऋ.भा.६.५१.१४), अत्रिणो वै रक्षांसि (ष.३.४)। मेधः = यज्ञनाम (निघं.३.१७), मेधो वा आज्यम् (तै.ब्रा.३.६.१२.१), पशुर्वै मेधः (ऐ.२.६)। दावने = दानस्य (नि.४.१८)। घ = एवाऽर्थे निपातः (म.द.ऋ.भा.१.५.३), अपि (म.द.ऋ.भा.२.३४.१४)। चमसः = मेघनाम (निघं.१.१०), चमन्त्यस्मिन् इति (नि.१०.१२) (चमु अदने), यज्ञसाधनः (तु.म.द.ऋ.भा.४.३५.३)। रिहन्ति = अर्चतिकर्मा (निघं.३.१४)}

व्याख्यानम्– तदुपरान्त अन्य छन्द रश्मियों की उत्पत्ति की चर्चा करते हैं। जिनमें से प्रथम अथर्वा ऋषि प्राण से उत्पन्न, अश्विनौ-देवताक एवं त्रिष्टुप्-छन्दस्क स्वाहाकृतः शुचिर्देवेषु घर्मो यो अश्विनोश्चमसो

देवपानः। तमीं विश्वे अमृतासो जुषाणा गन्धर्वस्य प्रत्यास्ना रिहन्ति। (आश्व.श्रौ.४.७.४) की उत्पत्ति होती है। अथर्ववेद में किंचित् पाठ भेद से यह ऋचा निम्नानुसार उपलब्ध है-

स्वाहाकृतः शुचिर्देवेषु यज्ञो यो अश्विनोश्चमसो देवपानः।
तमु विश्वे अमृतासो जुषाणा गन्धर्वस्य प्रत्यास्ना रिहन्ति।। (अथर्व.७.७३.३)

अथर्वा ऋषि के विषय में पूर्ववत् समझें। इसके प्रभाव से प्राणापान वा वायुविद्युत् तीव्र तेजस्वी व बलवान् होते हैं। इसके अन्य प्रभाव से दिव्य वायु की पवित्र क्रिया से सम्पादित प्राणापान अथवा वायुविद्युत् की रश्मियों द्वारा अवशोषित करने योग्य विभिन्न संगमनीय मरुद् रश्मियों के मेघ सभी कणों के द्वारा अवशोषित किये जाते हैं, वे मरुद् रश्मियाँ सूत्रात्मा वायु से बार-२ प्रकाशित होती रहती हैं।

इसके पश्चात् **वेन ऋषि** प्राण से वेनदेवताक त्रिष्टुप् छन्दस्क

समुद्रादूर्मिमुदियर्ति वेनो नभोजाः पृष्ठं हर्यतस्य दर्शि।
ऋतस्य सानावधि विष्टपि भ्राट् समानं योनिमभ्यनूषत व्राः।। (ऋ.१०.१२३.२)

की उत्पत्ति होती है। वेन ऋषि व वेन देवता का वैज्ञानिक स्वरूप पूर्ववत् समझें। अन्य प्रभाव से अन्तरिक्ष में कमनीय ज्वालादि गुणों से युक्त सूर्य अपने तेज अर्थात् किरणों से जब **{समुद्रः = अयं वै समुद्रः योऽयं (वायुः) पवते (श.१४.२.२.२)}** अन्तरिक्षस्थ वायु को प्राप्त होता है, तब वहाँ अनेक कमनीय मरुतों को वह धारण करता हैं।

इसके पश्चात् वामदेव ऋषि से अग्निर्वावरुणदेवताक तथा अष्टिः छन्दस्क

सखे सखायमभ्या ववृत्स्वाशुं न चक्रं रथ्येव रंह्यास्मभ्यं दस्म रंह्या।
अग्ने मृळीकं वरुणे सचा विदो मरुत्सु विश्वभानुषु।
तोकाय तुजे शुशुचान शं कृध्यस्मभ्यं दस्म शं कृधि।। (ऋ.४.१.३)

की उत्पत्ति होती है। इसके ऋषि के स्वरूप को पूर्ववत् समझें। दैवत वा छान्दस प्रभाव से ऊर्जा तथा विभिन्न कणों के मध्य वरुण संज्ञक आवरण, जिसका वर्णन पूर्व में कर चुके हैं, तीव्र-क्षेपक, गति व दीप्तियुक्त होता है। इसके अन्य प्रभाव से विभिन्न आकर्षित कण रथ के चक्र की भाँति अपने बाधक तत्त्वों से मुक्त होकर सब ओर से समीप ही एक दूसरे का चक्कर लगाते हैं। अग्नि व बन्धक वरुण तत्त्व दोनों परस्पर संयुक्त होकर विभिन्न तीव्र तापक किरणों से विभिन्न उत्पन्न पदार्थों को युक्त करते हैं।

इसके पश्चात् **घौरः कण्व ऋषि** प्राण अर्थात् सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न तीव्र भेदक प्राण विशेष से अग्निदेवताक उपरिष्टाद्बृहती छन्दस्क छन्द रश्मि

ऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतये तिष्ठा देवो न सविता।
ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता यदञ्जिभिर्वाघद्भिर्विह्वयामहे।। (ऋ.१.३६.१३)

की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत तथा छान्दस प्रभाव से ऊर्जा कणों के चारों ओर एक आवरण उत्पन्न होकर उसकी मर्यादा बांधने में सहायता मिलती है। इसके अन्य प्रभाव से ऊर्जा कणों वा ऊर्जायुक्त कणों के ऊपरी भाग में सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न **{अञ्जि = व्यक्तरूपम् (म.द.ऋ.भा.१.१२४.८), व्यक्तलक्षणम् (तु.म.द.ऋ.भा.१.८५.३)}** **एक ऐसा आवरण जो कणों की रक्षा भी करता है तथा उन्हें एक रूप भी प्रदान करता है, उत्पन्न हो जाता है।** तदुपरान्त उपर्युक्त ऋषि से ही उपर्युक्त-देवताक तथा निचृद्विष्टारपंक्ति-छन्दस्क छन्द रश्मि

ऊर्ध्वो नः पाह्यंहसो नि केतुना विश्वं समत्रिणं दह।

कृधी नं ऊर्ध्वाञ्चरथा॑य जीवसे॑ विदा देवेषु नो दुवः॥ (ऋ.१.३६.१४)

की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से **{विष्टारपङ्क्तिः = दिशो वै विष्टारपङ्क्तिश्छन्दः (श.८.५.२.४), सर्वा दिशः (म.द.य.भा.१५.४)।}** उपर्युक्त छन्दरश्मि से उत्पन्न ऊर्जा-कण-आवरण की व्याप्ति कण के सब ओर हो जाती है, जिसमें वह कण पूर्णरूपेण बांध लिया जाकर सुरक्षित हो जाता है। इसके अन्य प्रभाव से वे अग्नि व वरुण तत्त्व उन कणों की अन्य बाधक पदार्थों से रक्षा करके उनको अपने अन्दर विद्यमान प्राणादि पदार्थों से युक्त रखते हैं।

अन्त में **प्रियमेध ऋषि** अर्थात् काम्यमान वा कामयमान मरुद् रश्मियों से इन्द्रदेवताक बृहती छन्दस्क

तं घे॑मित्था न॑मस्विन उप॑ स्वराज॑मासते।
अर्थं चिदस्य सुधि॑तं यदेत॑व आवर्तय॑न्ति दावने॑॥ (ऋ.८.६६.१७)

की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से इन्द्रतत्त्व अर्थात् वायुविद्युत् समृद्ध होते हैं तथा प्रत्येक कण के बाहरी आवरण में ये विशेष युक्त होते हैं। इसके अन्य प्रभाव से विभिन्न रक्षणादि क्रियाओं को देने वाले इन्द्रतत्त्व की प्राप्ति के लिये विभिन्न कण बार-२ चक्रण करते रहते हैं। जिससे वे कण सुन्दर दीप्ति को अच्छी प्रकार धारण करते हुए वायु विद्युत् के निकट ही वर्तमान रहते हैं।

उपर्युक्त सातों छन्द-रश्मियां अपने-२ प्रभाव से विभिन्न प्रकार के संयोग वियोगादि कर्मों को ही समृद्ध करती हैं। शेष पूर्ववत्॥

वैज्ञानिक भाष्यसार- इन रश्मियों के प्रभाव से विभिन्न कण अन्तरिक्ष में स्थित विभिन्न मरुद् रश्मियों को अवशोषित करते हैं। अन्तरिक्ष में विद्यमान विभिन्न तन्मात्राओं व जल समूहों में विभिन्न प्राण विद्यमान रहते हैं। वे सभी प्राण अन्तरिक्ष में विचरण करती हुई ऊर्जा तरंगों को प्रभावित करते हैं। जब तारों से ऊर्जा तरंगें बाहर निकलती हैं, उस समय उसके फोटोन्स अन्य अनेक मरुद् रश्मियों से भी संयुक्त हो जाते हैं। विभिन्न फोटोन्स, इलेक्ट्रॉन्स आदि के ऊपर एक ऐसा दीप्तियुक्त तीव्र आवरण होता है, जो जहाँ उन कणों के स्वरूप व मात्रा की रक्षा करता है, वहीं उसके कारण **वे कण एक दूसरे का चक्कर काटते हुए वा स्वयं अपने अक्ष पर चक्रण करते-नृत्य करते हुए चलते हैं।** यह आवरण जहाँ विशेष छन्द रश्मि का होता है, वहीं इसका मूल कारण सूत्रात्मा वायु होता है। यह आवरण उन कणों के सब ओर होता है। इसके कारण जहाँ उन कणों की बाहरी बाधक रश्मियों से रक्षा होती है, वहीं उनके अन्दर विद्यमान विभिन्न प्राणादि सूक्ष्म पदार्थ भी बहिर्गमन नहीं कर पाते। इस बाहरी आवरण में विद्युत्-वायु का भी समावेश होता है, जिसके कारण भी वे कण कम्पन करते हुए आगे बढ़ते रहते हैं। **एक स्थान पर आबद्ध ठोस वा द्रवादि पदार्थों में सभी कण इसी कारण कम्पन वा सतत गति करते रहते हैं॥**

६. पावकशोचे तव हि क्षयं परीति भक्षमाकाङ्क्षते॥ हुतं हविर्मधु हविरिन्द्रतमेऽग्नावश्याम ते देवा घर्म। मधुमतः पितुमतो वाजवतोऽङ्गिरस्वतो नमस्ते अस्तु मा मा हिंसीरिति घर्मस्य भक्षयति॥

{दुवः = परिचर्याम् (म.द.ऋ.भा.१.३६.१४), (दुवस्यति परिचरणकर्मा - निघं.३.५)। वृक्तबर्हिषः = ऋत्विङ्नाम (निघं.३.१८) (वृक्तम् = वृजी वर्जने)। द्रविणं = बलनाम (निघं. २.९), धननाम (निघं.२.१०), द्रुदक्षिभ्यामिनन् - द्रविणम् (उ.को.२.५१)}

व्याख्यानम्- अब विश्वामित्र ऋषि अर्थात् वाक् तत्त्व से उत्पन्न अग्निर्वैश्वानरो-देवताक एवं विराड् जगती छन्दस्क ऋचा

पावकशोचे तव हि क्षयं परि होतर्यज्ञेषु वृक्तबर्हिषो नरः।
अग्ने दुव इच्छमानास आप्यमुपासते द्रविणं धेहि तेभ्यः।। (ऋ.३.२.६)

की चर्चा करते हैं। इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सबको प्रकाशित करने वाला अग्नि विस्तृत होता है। अन्य प्रभाव से अग्नि तत्त्व के कारण संकुचित हुआ आकाश तत्त्व विभिन्न मरुद् रश्मियों के साथ व्याप्त होकर अग्नि परमाणुओं को आकर्षित करता हुआ उसके पवित्र एवं ग्रहण व विसर्जन करने योग्य तेज को धारण करके विभिन्न परमाणुओं के संयोग-वियोग में सक्रिय होता है **{प्राणो वै भक्षः (श.४.२.१.२६)}** इस छन्द रश्मि के कारण विभिन्न परमाणु अग्नि परमाणुओं को अपनी ओर आकर्षित करते हैं किंवा वे कण उत्सर्जित अग्नि परमाणु में से कुछ भाग अवशोषित करने की इच्छा करते हैं।।

हमें यह मंत्र वेद संहिताओं में उपलब्ध नहीं हुआ। इसकी मंत्र संज्ञा भी आचार्य सायण ने अपने भाष्य में की है। इसके द्वारा **महर्षि ऐतरेय** कहना चाहते हैं **{दक्षिणा वै पितुः (ऐ.१.१३), पितुरित्यन्ननाम पातेर्वा पिबतेर्वा प्यायतेर्वा (नि.६.२४)}** कि जब कोई अग्नि-परमाणु किसी कण से उत्सर्जित होता है, तब उस अग्नि के तेज में से कुछ भाग वह कण अपने पास रख लेता है। उस भाग में कुछ सूक्ष्म प्राण, छन्द, कुछ सूत्रात्मा वायु आदि विद्यमान होते हैं और शेष भाग अग्नि-परमाणु के रूप में उत्सर्जित हो जाता है। जो भाग उस कण के साथ रह जाता है, वह इतना भाग होता है कि उस कण और अग्नि के परमाणु दोनों की भी कोई क्षति नहीं हो पाती।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब कोई फोटॉन किसी इलेक्ट्रॉन द्वारा अवशोषित करके वापिस उत्सर्जित किया जाता है, तब ऊर्जा का बहुत सूक्ष्म अंश इलेक्ट्रॉन अपने पास रख लेता है और अधिकांश भाग उत्सर्जित हो जाता है। यही कारण है कि सूर्य के केन्द्रीय भाग में उत्पन्न गामा (γ) किरणें सूर्य के तल पर आते-२ दृश्य प्रकाश, अवरक्त किरणें, पराबैंगनी किरणें आदि में परिवर्तित हो जाती हैं। ऊर्जा का यह सूक्ष्म अवशोषण उपर्युक्त छन्द रश्मि के कारण ही होता है।।

७. 'श्येनो न योनिं सदनं धिया कृतम्' 'आ यस्मिन् सप्त वासवा' इति संसाद्यमानायान्वाह।।
हविर्हविष्मो महि सद्म दैव्यमिति यदहरुत्सादयिष्यन्तो भवन्ति।।
'सूयवसाद् भगवती हि भूया' 'इत्युत्तमया परिदधाति।।

{श्येनः = प्रवृद्धवेगः (म.द.ऋ.भा.४.२६.६), श्येनः शंसनीयं गच्छति (नि.४.२४), श्येन आदित्यो भवति श्यायतेर् गतिकर्मणः (नि.१४.१३)। ईम् = जलमग्निं वा (म.द.ऋ.भा.१.६.२), प्राप्तं वस्तु (म.द.ऋ.भा.६.१७.२), सर्वाम् क्रियाम् (म.द.ऋ.भा.१.१६४.३२), ईम् उदकनाम (निघं.१.१२)। वासवः = इन्द्रः इति आप्टे। रुहः = नाड्यङ्कुरा (म.द.य.भा.१२.७६)। यवः = मिश्रणाऽमिश्रणकर्ता (म.द.य.भा.५.२६), वरुण्यो यवः (श.४.२.१.११), विड् वै यवः (श.१३.२.६.८)}

व्याख्यानम्- अब अन्य ऋचाओं की चर्चा करते हैं। जब अग्नि परमाणु के किसी अन्य परमाणु से मुक्त होते हैं, उस समय **ऋषभो वैश्वामित्र ऋषि** अर्थात् वाक् तत्त्व से उत्पन्न एक बलवान् सूक्ष्म प्राण से पवमानः सोमो देवताक एवम् पाद निचृज्जगती छन्दस्क छन्द रश्मि

"श्येनो न योनिं सदनं धिया कृतं हिरण्ययमासदं देव एषति।
ए रिणन्ति बर्हिषि प्रियं गिराश्वो न देवाँ अप्येति यज्ञियः।।" (ऋ.६.७१.६)

की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से पवित्र मरुद् रश्मियाँ प्रभावित होती हैं और वे {रिणाति गतिकर्मा (निघं.२.२४), रि हिंसायाम्} वाक् तत्त्व के द्वारा धारण किये गये प्रकाशरूप प्राणादि पदार्थ में वैसे ही व्याप्त होती हैं, जैसे प्रकृष्ट वेग से चलने वाला सूर्य अपने कारणरूप प्राणों में स्थित होता है और जैसे सभी कमनीय वस्तुएं अन्तरिक्ष में स्थित होकर वाक् तत्त्व में व्याप्त होती हैं, वैसे ही संयुक्त और वियुक्त होने वाले अग्नि परमाणु प्राणादि पदार्थों में व्याप्त होते हैं।

इसके साथ ही एक और छन्दरश्मि **"आ यस्मिन्त्सप्त वासवा रोहन्ति पूर्व्या रुहः। ऋषिर्ह दीर्घश्रुत्तम इन्द्रस्य घर्मो अतिथिः।" (मै.४.१२.२)** की उत्पत्ति होती है। यह ऋचा वेद संहिता में उपलब्ध नहीं है। इसका छन्द अनुष्टुप् तथा देवता इन्द्रः वा घर्मः प्रतीत होता है। इस ऋचा को **महर्षि आश्वलायन** ने अपने श्रौतसूत्र ४.७.४ में उदधृत् किया है **{प्रजा वै पशवो वसु (तै.सं.५.२.४.४), वसव एव भर्गः (गो. पू.५.१५)}** इसके प्रभाव से पूर्व में उत्पन्न सात प्रकार के मरुद् रूपी वसु (हमारे मत में **'वासव'** शब्द वसु अर्थ में है, यहाँ स्वार्थ में अण् प्रत्यय हुआ है) अर्थात् पूर्वोत्पन्न सात मरुद् रश्मियाँ उन कणों के चारों ओर बार-२ प्रकट होती हैं और विशाल क्षेत्र में व्याप्त इस छन्द का ऋषि प्राण उस कण व अग्नि के परमाणु के मध्य सतत प्रवाहित होता रहता है।

इन दोनों रश्मियों के कारण अग्नि तत्त्व किसी अन्य परमाणु से बार-२ निकलने में सहयोग प्राप्त करता है।।

इसके साथ ही पवित्र ऋषि प्राण से पवमान सोमदेवताक एवं विराट् जगती छन्दस्क

हविर्हविष्मो महि सद्म दैव्यं नभो वसानः परि यास्यध्वरम्।
राजा पवित्ररथो वाजमारुहः सहस्रभृष्टिर्जयसि श्रवो बृहत्।। (ऋ.९.८३.५)

की उत्पत्ति होती है। पवित्र ऋषि का वैज्ञानिक स्वरूप पूर्ववत् समझें। इसके प्रभाव से ऊर्जा के उत्सर्जन में सहयोग मिलता है। इससे सोम पदार्थ अर्थात् मन्दगामी सूक्ष्म मरुद् रश्मियाँ दिव्य वायुयुक्त आकाश को अपना आवरण बनाते हुए ऊर्जा के उत्सर्जन में सहयोग करती हैं। वे सोम अर्थात् मरुद् रश्मियाँ सब बलों को धारण करके अग्नि के परमाणुओं को शुद्ध रूप में उत्सर्जित करती हैं।

इस रश्मि से अग्नि का परमाणु शुद्ध रूप में पृथक् होने में सहयोग पाता है। इसके साथ उपर्युक्त दोनों रश्मियों से किसी भी कण में व्याप्त ऊर्जा उस कण के उत्तर/दक्षिण भाग में केन्द्रीभूत होकर निकलने के लिए उद्यत हो जाती है।।

इसके उपरान्त **दीर्घतमा ऋषि,** जिसके विषय में हम पूर्व में कई बार लिख चुके हैं, से विश्वेदेवादेवताक और विराट् त्रिष्टुप् छन्दस्क छन्द रश्मि

सूयवसाद्भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्तः स्याम।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती।। (ऋ.१.१६४.४०)

की उत्पत्ति होती है। **{तृणम् = तृह्यते हन्यते तत् तृणम् प्रसिद्धमेव (उ.को.५.८), भक्ष्यम् (म.द.य.भा. २५.३१), भगः = यज्ञो भगः (श.६.३.१.१९)}** यह रश्मि विभिन्न प्रकार के प्रकाशमान् कणों को प्रभावित करती है। इससे तीव्र तेज, बल उत्पन्न होकर अग्नि तत्त्व को बांधकर अविनाशी और संगमनीय रूप प्रदान करके मुक्त करने में सहयोग प्रदान करती है। वह अग्नि तत्त्व विभिन्न दान और अदान क्रियाओं से युक्त होकर विभिन्न परमाणुओं का भक्ष्य बनकर सब ओर गमन करता है।

यह अन्तिम रश्मि इस खण्ड में दर्शायी गयी सभी रश्मियों को अपने अन्दर बांध लेती है, अर्थात् यह रश्मि उन रश्मियों के आवरण के रूप में कार्य करती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उपर्युक्त छन्द रश्मियों के प्रभाव से **किसी इलेक्ट्रॉन द्वारा अवशोषित ऊर्जा जब वापिस उत्सर्जित होने वाली होती है, तब सर्वप्रथम वह ऊर्जा, जो सम्पूर्ण इलेक्ट्रॉन के अन्दर व्याप्त थी, संकुचित होकर उस इलेक्ट्रॉन की उत्तर/दक्षिण दिशा की ओर एकत्र होने लगती है। इस कार्य में विभिन्न मरुद् रश्मियाँ उस ऊर्जा का आकर्षण करती है और फिर आकर्षित करके सारी ऊर्जा को**

एकीभूत कर देती है। उसके उपरान्त वह एकीभूत ऊर्जा अन्तिम त्रिष्टुप् छन्द रश्मि के सहयोग से फोटोन के रूप में अति तीव्र वेग से उस इलेक्ट्रॉन से उत्सर्जित हो जाती है।।

८. तदेतद् देवमिथुनं यद्घर्मः स यो घर्मस्तच्छिश्नं यौ शफौ तौ शफौ योपयमनी ते श्रोणिकपाले यत्पयस्तद्रेतस्तदिदमग्नौ देवयोन्यां प्रजनने रेतः सिच्यतेऽग्निर्वै देवयोनिः सोऽग्नेर्देवयोन्या आहुतिभ्यः संभवति।।
ऋङ्मयो यजुर्मयः साममयो वेदमयो ब्रह्ममयोऽमृतमयः संभूय देवता अप्येति य एवं वेद यश्चैवं विद्वानेतेन यज्ञक्रतुना यजते।।५।।

{शिश्नम् = शिश्नं वै शोचिष्केशं, शिश्नं हीदं शिश्निनं भूयिष्ठं शोचयति (श.१.४.३.६), वृत्तमिव हि शिश्नम् (श.७.५.१.३८)। शफः = शं फणति सः (तु.म.द.ऋ.भा.१.१६३.५), 'खुर' इति भाषायाम् (तु.म.द.ऋ.भा.१.११७.६), धिष्ण्या शफाः (मै.२.७.८), (धिष्ण्यः = धृष्णोति प्रगल्भो भवतीति धिष्ण्यः (उ.को.४.१०८), (धिष शब्दे, धृषा प्रागल्भे, धृष प्रहसने = जीतना पराभव करना), श्रोणि = श्रोणिः श्रोणतेर्गतिचलाकर्मणः। श्रोणिश्चलतीव गच्छतः (नि.४.३)। उपयमनि = यमनी (आकर्षणेन नियन्तुं शीला आकाशवद् दृढ़ा -म.द.य.भा.१४.२२), उप+यम् = पकड़ना, अधिकार करना, प्रकट करना, संकेत करना (आप्टे कोष)}

व्याख्यानम्- ताप और प्रकाशयुक्त अग्नि का परमाणु आकाश और वायु तत्त्व का सम्मिलित रूप होता है और उस वायु तत्त्व में अनेक सूक्ष्म प्राण तत्त्व, छन्द रश्मियाँ एवं सोम अर्थात् मरुद् रश्मियाँ सभी विद्यमान् होते हैं। वहाँ अग्नि का परमाणु स्वयं तेजस्वी अति सूक्ष्म रश्मियों से युक्त होता है तथा उसका प्रभाव क्षेत्र उसकी गति की दिशा में (उपस्थ) लिंग के आकार का होता है। उसके अन्दर से समकोण दिशा में दो सूक्ष्म रश्मियों की धाराएँ सतत उत्सर्जित होती रहती है और वे धाराएं नियन्त्रित गति से चलने के लिए अग्नि परमाणु का सहयोग करती है। इन दोनों रश्मि धाराओं के विषय में **१.३.१४** विशेष रूप से देखें। ये दोनों ही सूक्ष्म धाराएं उस अग्नि परमाणु के मानो खुर के समान कार्य करती है। जिस प्रकार से बिना खुर के पशु तीव्रता से नहीं चल सकता उसी प्रकार ये दोनों रश्मि धाराएं ऊर्जा की तरंगों को तीव्र एवं संतुलित वेग से चलने में सहयोग प्रदान करती हैं। उन दोनों धाराओं को जोड़ता एवं निरन्तर घूमता हुआ प्राणरूपी केन्द्र उन दोनों धाराओं को थामे रखता है। अग्नि के परमाणुओं में विद्यमान सूक्ष्म प्राण तत्त्व उसके बल का कार्य करते हैं और यही उसके उत्पादन सामर्थ्य का कारण होते हैं। इसलिए अग्नि ही विभिन्न प्रकाशमान कणों किंवा द्रव और ठोस वा जल एवं पृथिवी आदि के परमाणुओं की उत्पत्ति का कारण होता है और अग्नि के परमाणुओं में सूक्ष्म प्राणादि तत्त्व संसिक्त रहते हैं और उन्हीं के अवस्थान्तर होने से विभिन्न कणों वा तरंगों का निर्माण होता है।।

{ऋक् = पशवो वा ऋक् (जै.ब्रा.३.२६५)। यजुः = प्राणो वै यजुः (श.१४.८.१४.२), सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत् (तै.ब्रा.३.१२.६.१)। साम = सोमाहुतयो ह वाऽएता देवानाम् यत्सामानि (श.११.५.६.६)। वेदः = भूर्भुवः स्वरित्येता वाव व्याहृतय इमे त्रयो वेदाः (ऐ.आ.१.३.२)}

इस खण्ड में दर्शायी गयी सभी क्रियाएं जब सम्यक् रूप से पूर्ण होकर उपर्युक्त सभी परिस्थितियों को उत्पन्न कर देती हैं, तब अग्नि के परमाणु विभिन्न छन्द रश्मियों, सबको गति देने वाले सभी प्राथमिक प्राण, सोम वायु अर्थात् सूक्ष्म मरुद् रश्मियों, **'भूः', 'भुवः', 'स्वः'** आदि दैवी गायत्री छन्द रश्मियों, बलवान् विद्युत् आदि से पूर्णतः युक्त होकर किंवा इन्हीं का समष्टिरूप होकर सृष्टि काल में अविनाशी रूप से निरन्तर विद्यमान रहता है। इस प्रकार इन सभी पदार्थों के संगतीकरण से ही अग्नि परमाणु का निर्माण होता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- कोई भी फोटोन आकाश तथा वायु की विभिन्न रश्मियों का संयुक्त रूप होता है। इसमें सूक्ष्म प्राण से लेकर छन्द रश्मियों तक सभी तत्त्व विद्यमान होते हैं। यह सृष्टि काल तक नष्ट नहीं होता। यह अपनी गति की दिशा में उपस्थेन्द्रिय (लिंग) के आकार में प्रभावी होता है। **इसकी दो समकोण दिशाओं में सूक्ष्म रश्मियों की धाराएं उत्सर्जित होती रहती हैं,** जिनके विषय में विशेष रूप से १.३.१४ पढ़ें। **ये दोनों धाराएं किसी भी फोटोन की गति को संतुलित रखती हैं। उन दोनों धाराओं को जोड़ने के लिए फोटोन के मध्य में सूक्ष्म प्राणों का बना केन्द्र होता है और वह केन्द्र घूमता हुआ उन दोनों धाराओं को नियन्त्रित रखता है।।**
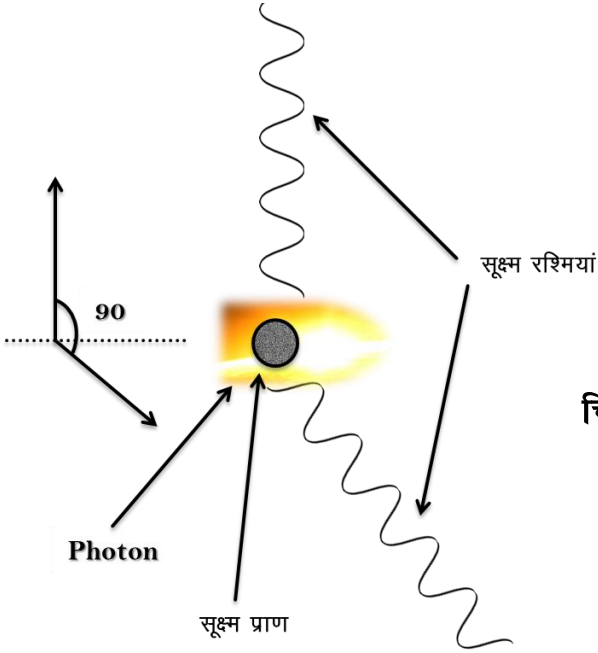
चित्र ४.५ फोटोन से दो समकोण दिशाओं में सूक्ष्म रश्मियों की उत्सर्जित होती हुयी धाराएं

⅁ इति ४.५ समाप्तः ⅁

꧁ अथ ४.६ प्रारभ्यते ꧂

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. देवासुरा वा एषु लोकेषु समयतन्त ते वा असुरा इमानेव लोकान् पुरोऽकुर्वत यथौजीयांसो बलीयांस एवं ते वा अयस्मयीमेवेमामकुर्वत रजतामन्तरिक्षं हरिणीं दिवं ते तथेमाँल्लोकान् पुरोऽकुर्वत ते देवा अब्रुवन् पुरो वा इमेऽसुरा इमाँल्लोकानक्रत पुर इमाँल्लोकान् प्रतिकरवामहा इति तथेति ते सद एवास्याः प्रत्यकुर्वताऽऽग्नीध्रमन्तरिक्षाद्धविर्धाने दिवस्ते तथेमाँल्लोकान् पुरः प्रत्यकुर्वत।।

{असुरः = रूपरहितो वायुः (तु.म.द.ऋ.भा.३.२९.१४), हिंसको विद्युदाख्योऽग्निः (तु.म.द.य.भा.३३.२२), मेघनाम (निघं.१.१०)। हरिणीः = प्रशस्तो हरणं विद्यते यासां ताः (म.द.य.भा.२३.३०)। पुरम् = येन सर्वान् पिपर्ति तत् (म.द.य.भा.११.२६), पालकः किरणः (तु.म.द.ऋ.भा.५.२९.५)। अयः = योऽयते गच्छति सः (म.द.ऋ.भा.५.६२.७), अयस् हिरण्यनाम (निघं.१.२), अयस्त्रैष्टुभम् (शां.आ.११.७), अग्नि इति आप्टे। रजता = अनुरक्ताः (म.द.य.भा.२३.३७), एतत् (रजतम्) रात्रिरूपम् (ऐ.७.१२)। सदः = सदनम् (म.द.य.भा.१३.८), छेद्यं वस्तु (म.द.ऋ.भा.५.६१.२), स्थापनम् (म.द.य.भा.४.३०), सदसी द्यावापृथिवीनाम (निघं.३.३०), ऐन्द्रं हि सदः (श.३.६.१.२२)। हविर्धानम् = अथ यदस्मिन्त्सोमो भवति हविर्वै देवानां सोमस्तस्माद्धविर्धानं नाम (श.३.५.३.२)। देवाः = देवाश्च वा असुराश्च प्रजापतेर्द्वयाः पुत्रा आसन्। (तां.१८.१.२)}

व्याख्यानम्- अब महर्षि पूर्व प्रकरण को छोड़कर हिरण्यगर्भ अर्थात् नेब्यूला आदि के निर्माण की प्रारम्भिक प्रक्रियाओं की चर्चा करते हैं। प्रजापति अर्थात् मन वा अहंकार तत्त्व के दो पुत्र होते हैं- देव एवं असुर। प्रकाशरहित वायु को **असुर** कहते है और प्रकाशित वायु को **देव** कहते हैं। अग्नि, जल, पृथिवी आदि का निर्माण प्रकाशित वायु के द्वारा होता है। इस प्रकाशित वायु का अप्रकाशित वायु से संघर्ष चलता रहता है। इन दोनों के विषय में विशेष जानकारी पूर्वपीठिका में देखें। यहाँ देव और असुर तत्त्व के संघर्ष की चर्चा करते हुए कहते हैं कि प्रारम्भ में इन दोनों प्रकार के पदार्थों में संघर्ष प्रारम्भ हुआ। प्रकाशरहित वायु तत्त्व (असुर) ने अपने बल और ओज के द्वारा हिरण्यगर्भ अर्थात् विशाल गैसीय मेघ के तीन भाग कर दिये। वे भाग थे- पृथिवीलोक, अन्तरिक्षलोक और द्युलोक। उस बलवान् अप्रकाशित वायु तत्त्व ने पृथिवी लोक को अयस्मय अर्थात् घूर्णन व कम्पन्न करने वाले कुछ तेजयुक्त मेघसमूहों से युक्त बनाया। उस समय इस पृथिवीलोक पर अनेक तत्त्वों का निर्माण हो चुका था परन्तु यह पृथिवी उचित गति व नियन्त्रण के अभाव में निश्चित कक्षा में स्थापित नहीं हो पायी थी। उस असुर तत्त्व ने अन्तरिक्ष लोक को अन्धकार-युक्त बनाया अर्थात् उस समय अन्तरिक्ष में प्रकाश की किरणें नहीं वा अत्यल्प मात्रा में थीं। अन्तरिक्षलोक, द्युलोक और पृथिवीलोक के मध्य अति लघु था एवं द्युलोक और पृथिवीलोक दोनों पास-२ थे। वह द्युलोक हरिणीयुक्त था अर्थात् उस लोक में प्रचण्ड बल था और वह अति उच्च ज्वालाओं से पूर्ण था। वह द्युलोक उस हिरण्यगर्भ के मध्य का भाग था। ध्यातव्य है कि हम पूर्व में ऊर्ध्व का अर्थ मध्य भाग कर चुके हैं। यह असुर तत्त्व किस प्रकार हिरण्यगर्भ को विखण्डित करता है, यह तथ्य अन्वेषणीय है परन्तु इतना स्पष्ट है कि यह विखण्डन उन तरंगों के कारण होता है, जिनमें प्रकाश नहीं होता और न ही हो सकता। ये तरंगें अति विध्वंसक विद्युत् और वायु रूप होती हैं। उन्हीं के तीव्र प्रक्षेपण से हिरण्यगर्भ विखण्डित होता है। यहाँ यह नहीं समझना

चाहिये कि उस समय देव पदार्थ अर्थात् प्रकाशित कण वा तरंगें नहीं होते। वे भी अवश्य विद्यमान होते हैं परन्तु वे दुर्बल व क्षीण अवस्था में होते हैं और हिरण्यगर्भ के विखण्डन में उनका कोई योगदान नहीं होता। इस विखण्डन के पश्चात् देव अर्थात् प्रकाशित पदार्थों का कार्य प्रारम्भ होता है। उस असुर तत्त्व ने हिरण्यगर्भ का विखण्डन करके, जो तीन लोकों को पुरी के समान बनाया, वे लोक विभिन्न पदार्थों के पालक व निवास स्थान थे। उनमें विभिन्न प्रकार की किरणें और कण कहीं विरल और कहीं सघन रूप में विद्यमान थे। असुर कार्य के पश्चात् देवों अर्थात् प्रकाशित पदार्थ ने पृथिवी लोक को स्थिर किया अर्थात् उसे निश्चित कक्षा में स्थापित किया और उस मेघसमूह को संघनित करके ठोस रहने योग्य बनाया। अन्तरिक्ष लोक में उपस्थित वायु आदि को अग्नि का धारक बनाया अर्थात् यह वायु ही अग्नि, जो दूरस्थ लोकों से आ रहा होता है, वह वायु के द्वारा ही गति करता है और अन्तरिक्ष में विद्यमान समस्त पदार्थ प्रकाशमान हो उठते हैं। अन्तरिक्षस्थ कुछ वायु तो सर्वत्र विद्यमान होते हैं और कुछ स्थूल वायु पृथिवी आदि लोकों के वायुमण्डल में ही होते हैं। सर्वत्र विद्यमान धनंजय आदि वायु अग्नि के गमन का साधन है और वायुमण्डल में उपस्थित हवा आदि अन्तरिक्ष के प्रदीपन का साधन है। इस पर हम प्रकारान्तर से पुनः चर्चा करते हैं कि देवों अर्थात् प्राण आदि पदार्थों ने आकाश तत्त्व से मिलकर अन्तरिक्षस्थ अनेक वायुओं को उत्पन्न किया और ये वायु आदि पदार्थ ही अग्नि के धारक होने से आग्नीध्र कहलाते हैं। इसी कारण क्वचित् अन्तरिक्ष को भी आग्नीध्र कहते हैं। इस देव पदार्थ ने दो हविर्धान बनाये **{द्यावापृथिवी वै देवानां हविर्धाने आस्ताम् (ऐ.१.२९)}** हमारे मत में यहाँ इसके तीन अर्थ हो सकते हैं-

(१) यहाँ **'हविर्धाने'** पद को एकवचनान्त मानकर इसे छान्दस प्रयोग मानें, तब आशय यह होगा कि जिसमें सोम आदि तत्त्व की निरन्तर आहुति दी जाती है, ऐसे सूर्य आदि तारों का निर्माण हुआ। सूर्य आदि में सोम पदार्थ की आहुति के वर्णन को हम पूर्व में विस्तार से लिख चुके हैं।

(२) 'हविर्धाने' पद का अर्थ द्युलोक और पृथिवीलोक ग्रहणीय है। वस्तुतः दोनों ही लोकों का निर्माण द्युलोक अर्थात् प्रकाशित पदार्थ से ही होता है। इन दोनों में सोम तत्त्व विद्यमान होता ही है और निरन्तर सोम तत्त्व की आहुति इन दोनों ही लोकों में दी जाती रहती है।

(३) 'हविर्धाने' पद से दो प्रकार के द्युलोकों का ग्रहण किया जा सकता है। एक द्युलोक सूर्यादि तारे हैं, तो दूसरा द्युलोक वह विशाल तारा है, जिसकी सभी तारे परिक्रमा करते हैं।

इन तीनों का निर्माण देव पदार्थ ही किया करते हैं। इस प्रकार इन लोकों के निर्माण में देव और असुर दोनों ही प्रकार के पदार्थों की भूमिका रहती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- ब्रह्माण्ड में दो प्रकार के सूक्ष्म वायु पदार्थ विद्यमान होते हैं, जिनमें से एक पूर्णतया अप्रकाशित परन्तु हिंसक विद्युत् युक्त होता है और दूसरा प्रकाशित वा प्रकाश्य होता है। प्रथम वायु सदैव अप्रकाशित ही रहता है। उससे किसी भी प्रकार के पदार्थों का निर्माण नहीं होता परन्तु वह अन्य पदार्थों के निर्माण में सहायक अवश्य होता है और प्रकाशित वायु स्थूल रूप प्राप्त करके इस ब्रह्माण्ड की रचना में काम आता है। इन दोनों पदार्थों में यहाँ परस्पर संघर्ष की चर्चा की गयी है। प्रारम्भ में जब गैसीय धूल आदि का बहुत बड़ा मेघ अर्थात् नेब्यूला का निर्माण हुआ था, उस समय अप्रकाशित हिंसक तरंगों से युक्त वायु का नेब्यूला पर तीव्र प्रहार हुआ। वह अप्रकाशित वायु नेब्यूला के बाहरी अन्तरिक्ष में विद्यमान था अथवा नेब्यूला के भीतर ही व्याप्त था, यह यहाँ स्पष्ट नहीं है। हमारी दृष्टि में वह विध्वंसक अप्रकाशित वायु दोनों ही स्थानों पर विद्यमान होना चाहिए। **उसके प्रहार से पृथिवी आदि लोक सर्वप्रथम पृथक् होकर घूर्णन व कम्पन करते हुए अपेक्षाकृत सघन मेघ रूप में बाहर छिटक गये** और उसी पदार्थ ने उन्हें संघनित करके ठोस भी बनाया। **दूसरा मुख्य भाग विरल एवं अति चमकते हुए मेघों के रूप में था, वही तारे के रूप में प्रकट हुआ। वे तारे आकार में बड़े, प्रचण्ड बलयुक्त एवं तीव्र ज्वालाओं से पूर्ण थे। वे तारे उस नेब्यूला के मध्य भाग से निर्मित हुए।** इनको भी अप्रकाशित हिंसक वायु ने ही निर्मित व पृथक् किया। उस समय पृथिव्यादि लोकों व तारों के मध्य अन्तरिक्ष वाला भाग अति संकुचित व अन्धकारयुक्त था। **वे सभी लोक यथा सूर्य व ग्रह आदि परस्पर पृथक् तो थे परन्तु अति निकट थे।** उस समय प्रकाशित कण व तरंगें अति न्यून मात्रा में

विद्यमान होती हैं। उसके उपरान्त वे सक्रिय होकर उत्पन्न लोकों में अपना कार्य प्रारम्भ करती हैं। **फोटोन्स, हेड्रॉन्स, लेप्टोन्स, वा क्वार्क आदि देव पदार्थ के अन्तर्गत माने जा सकते हैं।** इसके पश्चात् विभिन्न तरंगों के प्रभाव से पृथिव्यादि लोक, जो मेघ समूह के रूप में उत्पन्न हुए थे, को संघनित करके ठोस बनाया और धीरे-२ उन्हें निश्चित कक्षाओं में स्थापित किया। अन्तरिक्ष में विभिन्न सूक्ष्म प्रकार के वायु तत्त्व को निर्मित किया। इन्हीं तरंगों ने पृथिव्यादि लोकों के वायुमण्डल का निर्माण किया, फिर इन्हीं तरंगों ने तारों के प्रारम्भिक रूप में पृथक् हुए पदार्थ को नाभिकीय संलयन आदि क्रियाओं से युक्त करके उन्हें वास्तविक रूप प्रदान किया और उसके पश्चात् पृथिव्यादि लोकों और तारों को परस्पर अन्तरिक्ष में दूर-२ स्थापित किया तथा साथ ही अन्तरिक्ष को विभिन्न विद्युत् चुम्बकीय तरंगों आदि से युक्त किया।।

२. ते देवा अब्रुवन्नुपसद उपायामोपसदा वै महापुरं जयन्तीति तथेति ते यामेव प्रथमामुपसदमुपायंस्तयैवैनानस्माँल्लोकादनुदन्त यां द्वितीयां तयाऽन्तरिक्षाद्यां तृतीयां तया दिवस्तांस्तथैभ्यो लोकेभ्योऽनुदन्त।।
ते वा एभ्यो लोकेभ्यो नुत्ता असुरा ऋतूनश्रयन्त ते देवा अब्रुवन्नुपसद एवोपायामेति तथेति त इमास्तिस्रः सतीरुपसदो द्विर्द्विरेकैकामुपायंस्ताः षट्समपद्यन्त षड्वा ऋतवस्तान् वा ऋतुभ्योऽनुदन्त।।

{उपसदः = एताभिरूपसद्भिरूपासीदंस्तद् यदुपासीदंस्तस्मादुपसदो नाम (श.३.४.४.४), तपो ह्युपसदः (श.३.६.२.११), वज्रा वा ऽउपसदः (श.१०.२.५.२), ग्रीवा उपसदः (मै.३.७.६), (ग्रीवा उष्णिहः - श.८.६.२.११)। ऋतवः = रसाऽऽहरणसाधकाः (तु.म.द.ऋ.भा.१.१५.५), द्वौ हि मासावृतुः (श.७.४.२.२६), अग्नयो वाऽ ऋतवः (श.६.२.१.३६)}

व्याख्यानम्- लोकों के निर्माण की उपर्युक्त प्रक्रिया का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए कहते हैं कि देवों ने परस्पर उपसद करने का विचार किया। यहाँ देवों का परस्पर संवाद प्रस्तुत करके उन्हें चेतन जैसा वर्णित करना लेखक की अपनी एक शैली है और यही शैली पूर्व कण्डिका में भी अपनायी गयी है। यहाँ महर्षि कहते हैं कि जिस प्रकार कोई राजा दूसरे राजा को जीतने के लिए उसके नगर को घेरकर विजयी होता है, उसी प्रकार पूर्वोक्त देव अर्थात् प्रकाशित पदार्थ ने असुर तत्त्व द्वारा पृथक् किये गये और उनसे घिरे हुए तीनों लोकों को घेर लिया फिर उन्होंने तीन प्रकार के उपसद अर्थात् वज्ररूप किरणों से उन लोकों पर प्रहार किया। वे तीन प्रकार की किरणें कौन सी हैं यह महर्षि ने यहाँ स्पष्ट नहीं किया है। आचार्य सायण ने **वाजसनेय संहिता** के तीन मंत्रों को उपसद नाम दिया है, वे मंत्र हैं- **(१) 'या ते अग्नेऽयाशया तनुः इत्यनेन........" (वा.सं.५.८.१) (२) 'या ते अग्नेरजाः शया तनूः इत्यनेन........" (वा.सं.५.८.२) (३) 'या ते अग्ने हरः शयेति (वा.सं.५.८.३)। {यजुर्वेद माध्यन्दिन संहिता (५/८)** में तीनों ही संयुक्त होकर एक मन्त्र के रूप में दिये गये हैं। इनकी उत्पत्ति गोतम ऋषि अर्थात् अति विस्तृत वा तीव्रगामी सूत्रात्मा एवं धनंजय प्राण के संयोग से होती है। इनका देवता अग्नि होने से इनकी उत्पत्ति के कारण अग्नि तत्त्व प्रबल हो उठता है। इन तीनों के छन्द क्रमशः निम्न प्रकार प्रतीत होते हैं- प्रथम ऋचा का विराड्बृहती तथा अन्य दोनों का निचृद्बृहती है। इन बृहती छन्द रश्मियों के द्वारा तीनों लोकों को आवृत किया जाता है।} जब इनमें से प्रथम छन्द रश्मि का प्रहार पृथिव्यादि लोकों पर हुआ, तब पूर्वोक्त असुर पदार्थ उन लोकों में नियन्त्रित हो गया। जब द्वितीय छन्द रश्मि का प्रहार हुआ, तब असुर तत्त्व अन्तरिक्ष लोक में नियन्त्रित हो गया। इसके पश्चात् तृतीय रश्मि का प्रहार हुआ तो द्युलोक अर्थात् विभिन्न तारों में असुर तत्त्व नियन्त्रित हो गया।

इसका तात्पर्य है कि जो पृथिवी आदि लोक अप्रकाशित वायुरूप आसुर तत्त्व के कारण अनियन्त्रित रूप से गतिमान एवं मेघ के समान थे, वे घनीभूत होकर ठोस रूप में परिवर्तित हुए। इसके साथ ही वे निश्चित कक्षाओं में स्थापित भी हो गये। अन्तरिक्ष लोक, जो रात्रिरूप अन्धकारपूर्ण था, उसमें

प्रकाशक किरणों का संचरण होने लगा तथा पृथिवी आदि लोकों की परिधि में स्थूल वायुमण्डल का निर्माण हुआ। इससे अन्तरिक्ष लोक भी प्रकाशित हो उठा। वह अन्तरिक्ष धनंजय आदि प्राणों के कारण विभिन्न विकिरणों का वाहक भी बन गया। वे सूर्यादि तारे अत्यधिक आकर्षण बलयुक्त एवं पृथिवी आदि के अति निकट थे, इसी कारण वे तारे पृथिव्यादि लोकों को अस्थिर कर रहे थे। हमारे विचार में उस समय निर्माणाधीन तारों में नाभिकीय संलयन की क्रिया प्रारम्भ नहीं हुई थी। इस कारण उनका ताप भी अपेक्षाकृत कम था। उपर्युक्त रश्मियों के प्रभाव से निर्माणाधीन तारे आवृत होकर संकुचित होने प्रारम्भ हुए, जिससे उनका ताप बढ़ने लगा। बढ़ते हुए ताप के कारण वह असुर पदार्थ नियन्त्रित हुआ। सूर्यादि लोक सघन होने से उनके गुरुत्व बल में वृद्धि हुई तथा उनका ताप व पृथिव्यादि लोकों से दूरी बढ़ने से उनके गुरुत्व बल में कुछ कमी आयी। कुल मिलाकर उनका गुरुत्व बल पृथिव्यादि लोकों को निश्चित व स्थायी कक्षा में स्थापित करने में सहयोगी बना। उनके इस कार्य में पृथिव्यादि लोकों की गति का भी योगदान रहा। **क्या ताप के बढ़ने से गुरुत्वाकर्षण बल में कुछ कमी आ सकती है किंवा दूरी बढ़ने से ही कमी आयी होगी, यह गम्भीर अन्वेषण का विषय है। हमारे मत में ताप वृद्धि से गुरुत्व बल में किंचित् कमी आनी चाहिये।।**

इन तीनों लोकों में नियन्त्रित किये असुर वा अप्रकाशित वायु तत्त्वों ने ऋतुओं का आश्रय लिया। ऋतु प्राणों के विषय में हम पूर्व में कई बार चर्चा कर चुके हैं एवं विशेष जानकारी के लिए पूर्वपीठिका देखें। जब असुर तत्त्व इन ऋतु प्राणों में प्रविष्ट हो जाता है, तो पूर्वोक्त देव पदार्थ ऋतु प्राणों से संयुक्त होकर उन्हें ही वज्र रूप अर्थात् तीक्ष्ण, तप्त विकिरण में परिवर्तित कर देता है। उसी कारण कहा है- **ऋतव उपसदः (श.१०.२.५.७)** अर्थात् ऋतु प्राण उपसद अर्थात् वज्ररूप हो जाते हैं और ऋतु संज्ञक प्राण ६ प्रकार के होते हैं, जिनमें से दो-दो ऋतु संज्ञक प्राणों को वज्र रूप में परिवर्तित करके अप्रकाशित वायु तत्त्व को नियन्त्रित किया जाता है। इस प्रकार सभी ६ ऋतु संज्ञक रश्मियों में वह असुर वायु तत्त्व अनिष्ट प्रभावकारी नहीं होता। एक पक्ष यह भी सम्भव है कि पूर्वोक्त बृहती प्राण ही दो-दो बार आवृत्त होकर ऋतु संज्ञक प्राणों को उत्पन्न वा प्रेरित करते हों, फिर वे ऋतु संज्ञक प्राण ही उपर्युक्त वज्र का काम करते हों। क्योंकि ऋतु संज्ञक प्राण भी रस अवशोषक होता है और बृहती भी। बृहती के विषय में खण्ड १.५ में विस्तार से देख सकते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उपर्युक्त लोकों के निर्माण की प्रक्रिया यहाँ पुनः स्पष्ट की गयी है। जब उपर्युक्त तीनों लोकों में अप्रकाशित वायुयुक्त हिंसक विद्युत् से विभिन्न प्रकाशित तरंगों का संघर्ष हुआ, उस समय उपर्युक्त तीन बृहती छन्द रश्मियाँ उत्पन्न हुईं। उनमें से एक-२ छन्द रश्मि ने पृथिवी आदि लोकों को परिधि रूप में घेर लिया, जिससे वे लोक अपेक्षाकृत सघन हो गये। पृथिव्यादि लोक नियन्त्रित व स्थायी कक्षाओं में स्थापित हो गये। उसके पश्चात् वह अप्रकाशित हिंसक वायु उन लोकों में ही विद्यमान सूक्ष्म ऋतु रश्मियों में प्रविष्ट हो गया। तब प्रकाशित किरणों ने ऋतु रश्मियों पर प्रहार करके उन्हें भी तीक्ष्ण तापयुक्त बना दिया, जिसके कारण ताप की वृद्धि होने से अप्रकाशित हिंसक वायु उन रश्मियों में भी नियन्त्रित हो गया। ध्यातव्य है कि जब सूर्यादि लोक सघन नहीं थे, तब उनमें नाभिकीय संलयन की क्रिया नहीं हो रही थी, जिसके कारण उनका ताप कम था और वे लोक पृथिवी आदि लोकों के निकट भी थे, इसके कारण पृथिवी आदि लोक स्थिर कक्षाओं में स्थापित नहीं हो पा रहे थे। इन वज्ररूप रश्मियों के कारण पृथिवी आदि लोकों की गति संतुलित हुई, विभिन्न तारे अपेक्षाकृत सघन हुए, जिससे उनका गुरुत्वाकर्षण बल कुछ बढ़ गया परन्तु **पृथिव्यादि लोकों से उनकी दूरी बढ़ने तथा उनका केन्द्रीय ताप बढ़ने से गुरुत्व में भी सम्भवतः कुछ कमी आयी।** कुल मिलाकर सभी परिस्थितियाँ पृथिवी आदि लोकों को स्थायी कक्षा में स्थापित करने के अनुकूल हो गयीं। **यह गम्भीर अन्वेषण का विषय है कि किसी लोक के ताप एवं घनत्व का उसके गुरुत्वाकर्षण बल पर क्या प्रभाव पड़ता है।।**

३. ते वा ऋतुभ्यो नुत्ता असुरा मासानश्रयन्त ते देवा अब्रुवन्नुपसद एवोपायामेति तथेति त इमाः षट्सतीरुपसदो द्विर्द्विरेकैकामुपायंस्ता द्वादश समपद्यन्त द्वादश वै मासास्तान् वै मासेभ्योऽनुदन्त।।

ते वै मासेभ्यो नुत्ता असुरा अर्धमासानश्रयन्त ते देवा अब्रुवन्नुपसद एवोपायामेति तथेति त इमा द्वादश सतीरुपसदो द्विर्द्विरेकैकामुपायंस्ताश्चतुर्विंशतिः समपद्यन्त चतुर्विंशतिर्वा अर्धमासास्तान् वा अर्द्धमासेभ्योऽनुदन्त।।
ते वा अर्द्धमासेभ्यो नुत्ता असुरा अहोरात्रे अश्रयन्त ते देवा अब्रुवन्नुपसदावेवोपायामेति तथेति ते यामेव पूर्वाह्ण उपसदमुपायंस्तयैवैनानह्नोऽनुदन्त यामपराह्णे तया रात्रेस्तांस्तथोभाभ्यामहोरात्राभ्यामन्तरायन्।।
तस्मात् सुपूर्वाह्ण एव पूर्वयोपसदा प्रचरितव्यं स्वपराह्णेऽपरया तावन्तमेव तद्विषते लोकं परिशिनष्टि।।६।।

{मासाः = मासा वै रश्मयः (तां.१४.१२.६), मासा हवींषि (श.११.२.७.३), मासाः सन्धानानि (तै.सं.७.५.२५.१)। अर्द्धमासाः = अर्धमासाः पर्वाणि (तै.सं.७.५.२५.१), अर्धमासा हविष्पात्राणि (श.११.२.७.४)। अहोरात्राः = पशवो वा अहोरात्राणि (तै.सं.२.१.५.१-२), अहोरात्रे वै मित्रावरुणौ (तै.सं.२.४.१०.१; मै.१.५.१४)}

व्याख्यानम्- उपर्युक्त ऋतु संज्ञक रश्मियों में असुर तत्त्व नियन्त्रित होने पर और भी अधिक सूक्ष्म स्तर पर मास नामक रश्मियों से संयुक्त हो जाता है। उसके बाद वहाँ पर उनको नियन्त्रित करने के लिये उपर्युक्त ६ ऋतु संज्ञक रश्मियों में से एक-२ ऋतु संज्ञक रश्मि को तीव्र तापयुक्त करके वज्ररूप बनाकर उनका प्रहार मास नामक रश्मियों पर दो-२ बार किया जाता है। ध्यातव्य है कि मास नामक रश्मियाँ ऋतु रश्मियों का ही आधा-२ भाग होती हैं और ये रश्मियाँ विभिन्न छन्द आदि रश्मियों को जोड़ने का काम करती हैं। इन रश्मियों पर वज्र प्रहार से वह असुर तत्त्व नियन्त्रित हो जाता है।।

मास नामक रश्मियों में नियन्त्रित हुआ असुर तत्त्व अर्धमास नामक और भी सूक्ष्म रश्मियों में प्रविष्ट हो जाता है, तब प्रकाशित मास रश्मियां तीव्र तापयुक्त वज्ररूप होकर एक-२ रश्मि का दो-२ बार प्रहार किया जाता है। इस प्रकार कुल २४ रश्मियों के प्रहार होते हैं और वे चौबीस प्रहार कुल चौबीस अर्धमास रश्मियों में विद्यमान अप्रकाशित हिंसक वायु को नियन्त्रित कर लेते हैं।।

तदुपरान्त अर्धमास रश्मियों में नियन्त्रित अप्रकाशित वायु तत्त्व और भी सूक्ष्म होकर प्राण और अपान प्रधान मरुद् रश्मियों में प्रवेश कर जाते हैं। **{उपसदः = ऋतव उपसदः (श.१०.२.५.७), मासा उपसदः (श.१०.२.५.६), अहोरात्राणि वा ऽउपसदः (श.१०.२.५.४), अर्धमासा उपसदः (श.१०.२.५.५)}** तब वे प्रकाशमान तरंगें प्राण और अपान प्रधान उन मरुद् रश्मियों को ही तेजस्वी तापयुक्त विकिरणों में परिवर्तित कर देती हैं। इसके पश्चात् वे पहले प्राणप्रधान मरुद् रश्मियों के साथ संगत होते हैं और उनमें अप्रकाशित वायु तत्त्व को नियन्त्रित करते हैं। उसके पश्चात् प्राण से भिन्न अपर प्राण अर्थात् अपानप्रधान मरुद् रश्मियों से संगत होकर उनमें अप्रकाशित हिंसक वायु को नियन्त्रित करते हैं। इस प्रकार उन सभी रश्मियों में भी अप्रकाशित हिंसक वायु तत्त्व नियन्त्रित हो जाता है।।

उपसद अर्थात् **वज्ररूप किरणों का प्रभाव प्राण के पूर्व भाग व अपर भाग में होता है,** जिससे अपान व प्राण के मध्य संधि भाग में भी आसुर प्रभाव को नियन्त्रित किया जा सकता है। यह एक उपलक्षण है, जिससे यह ज्ञात होता है कि सर्वत्र वज्र का प्रभाव ऐसे स्थान पर होता है, जहाँ से संधि भाग भी प्रभावित हो सके अर्थात् आसुर किरणें संधि भाग तक ही सीमित रह जायें, जिससे सर्ग प्रक्रिया में किसी प्रकार की बाधा न हो।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस प्रकरण में अप्रकाशित हिंसक विद्युत् युक्त वायु उपर्युक्त तीनों लोकों में से पूर्णतः कैसे नियन्त्रित होता है, इसकी चर्चा की गयी है। जैसे-२ इस तत्त्व को तीव्र तप्त किरणों के द्वारा नियन्त्रित किया जाता है, वैसे-२ यह सूक्ष्म रूप में परिवर्तित होता हुआ पदार्थ की सूक्ष्म अवस्थाओं में प्रविष्ट होता जाता है। इस कारण तीव्र तापयुक्त किरणें भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म होकर उस अप्रकाशित पदार्थ को नियन्त्रित करती जाती हैं, अन्त में यह संघर्ष प्राण और अपान प्रधान मरुद् रश्मियों किंवा स्वयं प्राण और अपान तक चलता है और अन्ततः वह अप्रकाशित पदार्थ प्राण और अपान की सन्धियों तक ही सीमित हो जाता है। इसके साथ ही स्थूल रूप में भी यह अप्रकाशित तत्त्व विभिन्न कणों वा तरंगों के सन्धि भाग में ही सीमित कर दिया जाता है। हमारी दृष्टि में यही वह सूक्ष्म तत्त्व है, जो दो कणों वा तरंगों के बीच में एक उचित दूरी बनाये रखने में सहायक होता है। इस प्रकार यह अप्रकाशित हिंसक विद्युत् युक्त वायु जहाँ सृष्टि प्रक्रिया में कहीं कुछ बाधक होता है, तो वहीं कहीं पर कुछ साधक भी होता है। लोकों के पृथक् होने में भी उसकी भूमिका हम देख चुके हैं। **वर्तमान विज्ञान जिसको डार्क मैटर वा डार्क एनर्जी कहता है, उसे इस अप्रकाशित पदार्थ की तुलना करना तब सम्भव होगा, जबकि वर्तमान विज्ञान डार्क एनर्जी और डार्क पदार्थ को पूर्णतः परिभाषित कर सके।** क्योंकि वर्तमान विज्ञान इस पर अभी काम कर रहा है, अतः हम अधिक टिप्पणी करना उचित नहीं समझते, पुनरपि प्रारम्भिक दृष्टि में हमें इन दोनों पदार्थों में कई समानताएं प्रतीत होती हैं, परन्तु बिग बैंग का होना हमें स्वीकार्य नहीं हैं, जिस पर हम पूर्वपीठिका में विस्तार से चर्चा कर चुके हैं।।
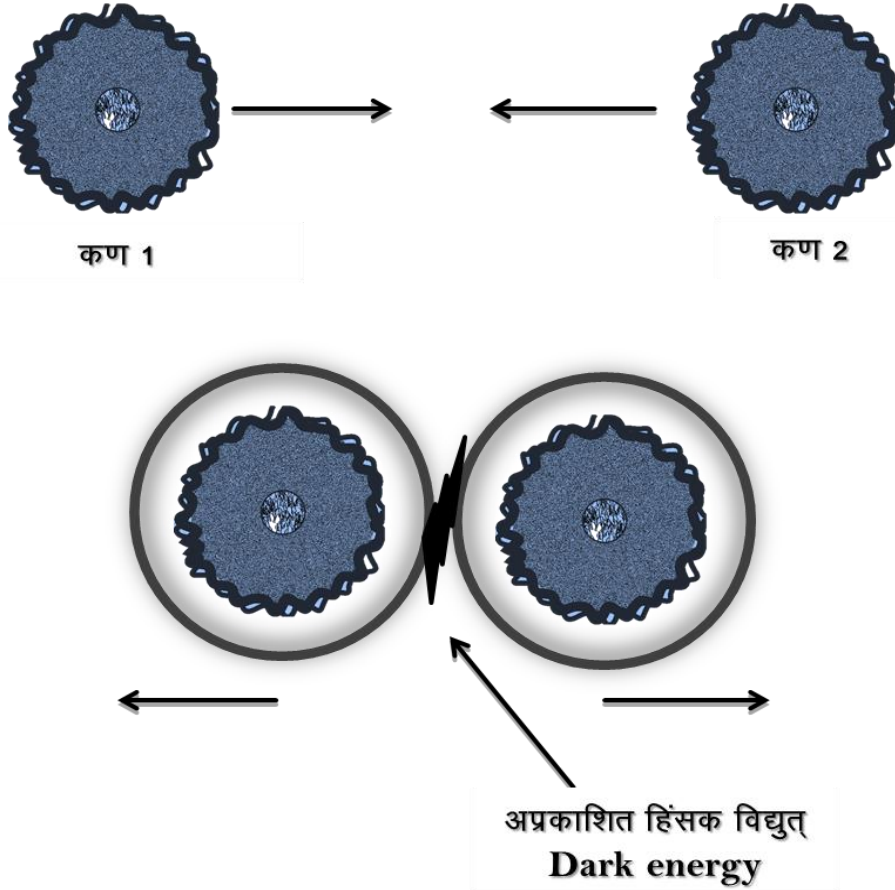
चित्र ४.६ दो कणों के मध्य उचित दूरी रखने में अप्रकाशित ऊर्जा की भूमिका

๑ इति ४.८ समाप्तः ๑

꧁ अथ ४.७ प्रारभ्यते ꧂

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. जितयो वै नामैता यदुपसदोऽसपत्नां वा एताभिर्देवा विजितिं व्यजयन्त।। असपत्नां विजितिं विजयते य एवं वेद।।
यां देवा एषु लोकेषु यामृतुषु यां मासेषु यामर्धमासेषु यामहोरात्रयोर्विजितिं व्यजयन्त तां विजितिं विजयते य एवं वेद।।

व्याख्यानम्- उपर्युक्त उपसद जो कि ऋतु, मास, अर्धमास, अहोरात्र आदि के रूप में होते हैं, उन्हें **'जिति'** कहा जाता है, क्योंकि इन्हीं उपसद अर्थात् वज्ररूप किरणों के द्वारा विभिन्न लोकों में प्रकाशमान् किरणें अप्रकाशित हिंसक वायु विद्युत् को नियन्त्रित करती हैं, जिससे सभी सृष्टि प्रक्रियाएं सम्यक् रूप से संचालित होती हैं।।

जब किसी लोक में इस प्रकार की स्थिति बन जाती है, तब उस लोक में अप्रकाशित हिंसक वायु विद्युत् किसी प्रकार बाधक नहीं रह पाते, बल्कि वे साधक ही रहते हैं।।

जहाँ-२ भी इस प्रकार की स्थिति बनती है, वहाँ-२ विभिन्न लोक, ऋतु रश्मियाँ, मास रश्मियाँ, अर्धमास रश्मियाँ, प्राणापान प्रधान मरुद् रश्मियाँ आदि पदार्थ अप्रकाशित हिंसक वायु विद्युत् की बाधा से उसी प्रकार मुक्त हो जाते हैं, जिस प्रकार पूर्व में सृष्टि निर्माण के समय उपर्युक्त प्रक्रियाओं के अनुसार वे हुए थे।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जिस प्रकार सृष्टि निर्माण की उपर्युक्त प्रक्रियाओं में प्रकाशित और अप्रकाशित पदार्थों के मध्य संघर्ष हुआ करता है, उसी प्रकार सृष्टि की सभी अवस्थाओं में ऐसा ही संघर्ष सदैव चलता रहता है और इस संघर्ष में पूर्वोक्त तीव्र तापयुक्त किरणें ही दोनों प्रकार के पदार्थों को संतुलित रखने में सहायक होती हैं।।

२. ते देवा अबिभयुरस्माकं विप्रेमाणमन्विदमसुरा आभविष्यन्तीति ते व्युत्क्रम्यामन्त्रयन्ताग्निर्वसुभिरुदक्रामदिन्द्रो रुद्रैर्वरुण आदित्यैर्बृहस्पतिर्विश्वैर्देवैः।। ते तथा व्युत्क्रम्यामन्त्रयन्त तेऽब्रुवन् हन्त या एव न इमाः प्रियतमास्तन्वस्ता अस्य वरुणस्य राज्ञो गृहे संनिदधामहै ताभिरेव नः स न संगच्छातै यो न एतदतिक्रामाद्य आलुलोभयिषादिति तथेति ते वरुणस्य राज्ञो गृहे तनूः संन्यदधत।।

व्याख्यानम्- यहाँ पर महर्षि देव अर्थात् प्रकाशित पदार्थों में परस्पर संवाद की चर्चा के माध्यम से सृष्टि विज्ञान के कुछ रहस्यों को स्पष्ट करना चाहते हैं। जड़ पदार्थों का चेतनवत् व्यवहार व संवाद दर्शाकर किसी गूढ़ विषय को सरलता व रोचकता से प्रस्तुत करना ऋषियों की एक विशिष्ट शैली रही है। यहाँ उस संवाद का भाव यह है कि जब दृश्य पदार्थ ने तीव्र प्रक्षेपक अप्रकाशित पदार्थ को नियन्त्रित कर लिया, उस समय भी दृश्य पदार्थ में आकर्षण और प्रतिकर्षण दोनों ही प्रकार का बल, प्रक्षेपक सामर्थ्य आदि गुण होते ही हैं। यहाँ विभिन्न कणों के बीच प्रतिकर्षण बल को **'विप्रेमाणम्'** अर्थात् वैमनस्य नाम दिया है। जिस अप्रकाशित हिंसक पदार्थ को दृश्य पदार्थ ने नियन्त्रित किया था, वह अदृश्य

पदार्थ पुनः दृश्य पदार्थ पर प्रभावी न हो जाये, यह एक बड़ी समस्या हो सकती है। **{मन्त्रयते अर्चतिकर्मा (निघं.३.१४ - वै.को. से उद्धृत), वाग् वै मन्त्रः (श.६.४.१.७), ब्रह्म वै मन्त्रः (श.७.१.१.५)}** इसके लिए वसु संज्ञक वे रश्मियाँ, जिनमें गायत्री छन्द रश्मियों की प्रधानता होती है, अग्नि से युक्त होने लगती हैं। गायत्री छन्द रश्मि और वसु रश्मियों का सम्बन्ध बताते हुए कहा गया है- **गायत्री वसूनां पत्नी (गो.उ.२.९), वसवो गायत्री समभरन् (जै.उ.१.४.४.४)।** अग्नि से युक्त होने का तात्पर्य उनका विशेष प्रकाशमान एवं ऊष्मायुक्त होना है। इसके पश्चात् त्रिष्टुप् छन्द रश्मि प्रधान रुद्र संज्ञक तीव्र भेदक शक्तिसम्पन्न रश्मियां इन्द्र अर्थात् विद्युत् युक्त वायु के तेज से युक्त होने लगती हैं। इसलिए कहा है- **त्रिष्टुप् रुद्राणां पत्नी (गो.उ.२.९), रुद्रास्त्रिष्टुभं समभरन् (जै.उ.१.४.४.५)।** इस प्रकार वे रुद्र संज्ञक तीक्ष्ण रश्मियाँ और भी बलवती हो जाती हैं। इसके पश्चात् जगती छन्द रश्मि प्रधान आदित्य अर्थात् ऋतु और मास रश्मियाँ, वरुण **{वरुणः = व्यानो वरुणः (श.१२.९.१.१६), वरुण्यो वै ग्रन्थिः (श.१.३.१.१६), वरुण्या वै यज्ञे रज्जुः (श.६.४.३.८), वरुणो वै पाशः (तै.ब्रा.३.३.१०.१)}** अर्थात् व्यान नामक प्राण रश्मियों से युक्त हो जाती हैं और यह वरुण संज्ञक रश्मियां, जो व्यान प्राण से युक्त होती हैं, रज्जु के समान विभिन्न परमाणुओं को परस्पर बांधने वाली होती हैं- **'जगत्यादित्यानां पत्नी' (गो.उ.२.९)** भी यही दर्शाता है कि आदित्य रश्मियाँ जगती प्रधान होती हैं। इसके पश्चात् विश्वेदेवा अर्थात् सभी उत्पन्न कण बृहस्पति अर्थात् सूत्रात्मा वायु एवं प्राणापान से युक्त होते हैं। यहाँ आदित्य रश्मियों का तात्पर्य सूर्यादि तारों से उत्पन्न होने वाली किरणें भी हो सकता है। यहाँ विभिन्न पदार्थों के युक्त होने का अर्थ यह है कि वे पदार्थ परस्पर और भी निकट आकर अधिक सक्रिय और सतेज होते हैं। इसके पूर्व वे पदार्थ परस्पर पूर्णतः पृथक्-२ थे, ऐसा नहीं मानना चाहिए।।

यहाँ वरुण को राजा कहा है। वस्तुतः समग्र सृष्टि में इसका रज्जुवत् पाशबन्धन सम्पूर्ण पदार्थ को परस्पर बांधे हुए है। हमने उपर्युक्त व्याख्यान में वरुण रश्मियों को व्यान से युक्त माना है, लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें सूत्रात्मा वायु का भी मिश्रण अवश्य होना चाहिए अन्यथा सम्पूर्ण पदार्थ का रज्जुवत् बंधना कठिन होगा। इस रज्जुवत् बंधन के कारण ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड परस्पर बंधा हुआ है, अन्यथा सभी परमाणु अलग-२ बिखर जाते। वैसे प्रसंगानुसार **'राजा'** शब्द पृथक्-२ पदार्थों के लिए प्रयुक्त होता है। जैसे कहीं सोम, कहीं वरुण आदि के लिए। **राजा वह होता है, जो प्रजा का रंजन करता है।** प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ प्रजा है और उस उत्पन्न पदार्थों को वरुण अपने पाश में बांधे रखने से राजा कहलाता है। सभी देव अर्थात् दृश्य पदार्थ की रक्षक शक्तियां अर्थात् उपर्युक्त गायत्र्यादि तीनों छन्द रश्मियां एवं उन सबकी पत्नीरूपी शक्ति **'भूः', 'भुवः', 'स्वः'** आदि दैवी गायत्री छन्द रश्मियाँ तथा इन सबका विस्तार वरुण संज्ञक प्राणों तक फैल जाता है। इसका तात्पर्य है कि जो वरुणपाश प्रत्येक कण-२ की संधि में विद्यमान होकर उस संधि के साथ दोनों कणों के बीच उचित दूरी बनाये रखने का भी कार्य करता है, उस वरुणपाश तक शक्तिरूप प्राण रश्मियों की व्याप्ति होती है। जिस कण की शक्ति इस वरुण रश्मि से युक्त नहीं होती है, वह अपनी शक्ति का उपयोग नहीं कर पाता है। **वरुणपाश एक ऐसा बंधन है, जो न केवल सबको बांधे रखता है अपितु सबके बीच में एक उचित दूरी भी बनाये रखता है। यही कारण है कि ब्रह्माण्ड के सारे पदार्थ न तो बिखर कर सर्वथा दूर भाग सकते हैं और न ही सर्वथा एकीभूत होकर एक पिण्ड का रूप ले सकते हैं।** यदि इन दोनों में से कोई भी स्थिति उत्पन्न हो जाये, तो किसी भी कण वा तरंग की सभी शक्तियाँ व्यर्थ हो जायेंगी। तारों के अन्दर नाभिकीय संलयन प्रक्रिया में हमने पूर्व में जो वरुणपाश मुक्ति की बात कही है, वहाँ भी कुछ न कुछ बन्धन अवश्य होता है और वही बन्धन वरुण रश्मियों का है। इस विषय में **महर्षि तित्तिर** का भी ऐसा ही कथन इस प्रकार है-

"तेऽमन्यन्तासुरेभ्यो वा इदं भ्रातृव्येभ्यो रध्यामो यन्मिथो विप्रियाः स्मो या न इमाः प्रियास्तनुवस्ताः समवद्यामहै ताभ्यः स निर्ऋच्छाद्यो न प्रथमोऽन्योन्यस्मै दुह्यात्" (तै.सं.६.२.२.१-२)।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त अप्रकाशित हिंसक वायु के सम्भावित अनिष्ट प्रभाव को दूर करने के लिए गायत्री, त्रिष्टुप् एवं जगती छन्द रश्मियाँ क्रमशः ऊष्मामय प्रकाश, तीव्र विद्युन्मय वायु और सन्धिकारक मास आदि रश्मियों की व्याप्ति प्रत्येक पदार्थ को इतना समर्थ बना देती है कि अप्रकाशित हिंसक पदार्थ के अनिष्ट प्रभाव को रोका जा सकता है। इसके साथ ही उत्पन्न कण प्राणापानरूपी वज्र

के सहारे भी उपर्युक्त अनिष्ट प्रभाव को दूर कर सकते हैं। यह ध्यातव्य है कि अपान, उदान व सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न वरुण रश्मियाँ, जो अप्रकाशित वायु का ही एक विशिष्ट रूप होती है, इस सम्पूर्ण जगत् के सभी पदार्थों को रज्जु के समान अपने बन्धन में बांधकर ब्रह्माण्ड की रचना में सहायक होती हैं। जब ये रश्मियाँ अपनी तीव्रशक्ति के साथ व्यापक रूप भी ले लेती हैं, तो सृष्टि के पदार्थों में विस्फोट होने लगते हैं। यदि इन वरुण रश्मियों का अनिवार्य एवं उचित बन्धन न हो अथवा अतितीव्र बन्धन हो, वैसी परिस्थिति में किसी भी पदार्थ की शक्तियां निष्प्रभावी हो जाती हैं। इस कारण से वरुणपाश का उचित बन्धन अनिवार्य होता है।।

३. ते यद्वरुणस्य राज्ञो गृहे तनूः संन्यदधत तत्तानूनप्त्रमभवत् तत्तानूनप्त्रस्य तानूनप्त्रत्वम्।।
तस्मादाहुर्न सतानूनप्त्रिणे द्रोग्धव्यमिति।।
तस्माद्विदमसुरा नान्वाभवन्ति।।७।।

{तानूनप्त्र = यत्तन्वः समवाद्यन्त तत्तानूनप्त्रस्य तानूनप्त्रत्वम्। (गो.उ.२.२)}

व्याख्यानम्- उपर्युक्त प्रकरण में हमने देखा कि जब वे सभी पदार्थ वरुण संज्ञक पदार्थ से एक विशेष स्तर पर संगत होते हैं, तब ही वे पराक्रमी हो पाते हैं। जैसा कि हम ऊपर भी दर्शा चुके हैं कि वरुण रश्मियों के सर्वथा अभाव में कोई भी कण कुछ भी करने में समर्थ नहीं हो सकता। क्योंकि सभी कण अपनी रक्षा वा पराक्रम करने का कार्य इस वरुणपाश की उचित बन्धनरूप पूर्वोक्त प्रक्रियाओं से ही करते हैं, इस कारण इस कर्म को **तानूनप्त्र** कहा जाता है।।

इस कारण ऐसे समर्थ कण जहाँ आकर्षण व प्रतिकर्षण बल का उचित सामंजस्य बना रहता है, वहाँ आसुर तत्त्व का प्रतिकर्षण व प्रक्षेपक बल प्रभावी नहीं रहता विशेषकर उसका अनिष्टकर रूप नहीं रहता।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- विशेष नहीं।।

꧁ इति ४.७ समाप्तः ꧂

꧁ अथ ४.८ प्रारभ्यते ꧂

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. शिरो वा एतद्यज्ञस्य यदातिथ्यं ग्रीवा उपसदः समानबर्हिषी भवतः समानं हि शिरोग्रीवम्।।
इषु वा एतां देवाः समस्कुर्वत यदुपसदस्तस्या अग्निरनीकमासीत् सोमः शल्यो विष्णुस्तेजनं वरुणः पर्णानि तामाज्यधन्वानो व्यसृजंस्तया पुरो भिन्दन्त आयन्।।
तस्मादेता आज्यहविषो भवन्ति।।

{इषुः = ईषति गच्छति हिनस्ति वा (उ.को.१.१३), इषुरीषतेर्गतिकर्मणो वधकर्मणो वा (नि. ६.१८), प्राप्तिसाधनम्, इच्छाविशेषं वा (म.द.ऋ.भा.१.६४.१०)। अनीकम् = सेनेव किरणसमूहम् (म.द.य.भा.१३.४६)। शल्यम् = शलति गच्छतीति शल्यम् (उ.को.४.१०८), ('शल चलनसंवरणयोः' धातोः "सानसिवर्णसि." इति यत्प्रत्ययान्तः निपात्यते इति वै.को. - आ.राजवीर शास्त्री)। पर्णम् = पक्षम् (म.द.ऋ.भा.१.११६.१५), पिपर्ति पालयति पूरयति वा तत् (उ.को.३.६)। धनुः = धन्वतेर्गतिकर्मणः वधकर्मणो वा (नि.६.१६), वज्रो वै धनुः (मै. ४.४.३)। आज्यम् = प्रक्षेप्तुं योग्यपदार्थः (इति मे मतम्), वज्रो वा आज्यम् (कौ.ब्रा.१३.७)। ग्रीवा = वीर्यवत्तमा (तु.काठ.२५.१)}

व्याख्यानम्- विभिन्न प्रकार के कणों का सतत गमन करना ही इस सृष्टि का उत्तम गुण शिर के समान है। यह सतत गति प्राणों के कारण ही सम्भव होती है। जहाँ-२ गति है, वहाँ-२ कर्म की विद्यमानता है। **महर्षि कणाद** ने कहा है-

"उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि" (वै.द.१.१.७)

अर्थात् ऊपर को उठना, उठना वा फैंकना, नीचे को गिरना, गिराना, सिकोड़ना, सिकुड़ना, फैलाना, फैलना और अन्य गमन आदि को कर्म कहते हैं। इन सबमें गति अवश्य होती है। निघण्टु में गति अर्थ में १२२ नाम हैं। इससे हमारा मत है कि वेद में १२२ प्रकार की गतियों की चर्चा है। महाभारत में मद्रनरेश शल्य ने सारथ्य कर्म करते हुए महारथी कर्ण को अनेक प्रकार की गतियां बतायी हैं, जिनमें से २१ गतियों के नाम भी दिये हैं। इस प्रकार गति बिना जगत् की रचना ही सम्भव नहीं है। **'जगत्'** वा **'संसार'** शब्द ही सतत गतिशील होने से बना है। इस कारण यह गति ही सर्गयज्ञ के सर्वोत्तम भाग सिर के समान है। **'उपसद'** जिसकी चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं, वह सृष्टियज्ञ की ग्रीवा के समान है। जिस प्रकार ग्रीवा (गर्दन) किसी पदार्थ को निगलती व ग्रहण करती है तथा ग्रीवा शक्तिसम्पन्न भी होती है, उसी प्रकार पूर्वोक्त दृश्य पदार्थ में विद्यमान वज्ररूप किरणसमूह पूर्ववर्णित कार्य करते हैं। ये दोनों कार्य अर्थात् गति एवं आसुर तत्त्व की वज्ररूपी किरणों के प्रहार से हटाने का कार्य, साथ-२ तथा समान स्थान पर ही होते रहते हैं। दोनों का निवास भी साथ-२ होता है। जिस प्रकार प्राणी के शरीर में सिर व ग्रीवा साथ-२ जुड़े रहते हैं, उसी प्रकार सृष्टियज्ञ में उपर्युक्त दोनों साथ-२ चलते हैं। एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्त्व व्यर्थ हो जाता है।।

पूर्व खण्डों में वर्णित जिन उपसद (ऋतु मासादि) किरणों को दृश्य पदार्थ ने इषु बनाया अर्थात् उन्हें सर्गयज्ञ का विशेष साधन व शक्ति के रूप में प्रयोग किया, उनके द्वारा ही वह पदार्थ अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता है। अब उस साधन के भी विभिन्न उपसाधन वा अंगों का वर्णन करते हुए कहा कि उन साधनों में से अग्नि अर्थात् प्रकाश व ऊष्मा ने अनीक अर्थात् अग्रिम किरण समूहरूप बल का

कार्य किया। बिना ऊष्मा के किसी भी गत्यादि क्रिया का होना (देव अर्थात् दृश्य पदार्थ में) सम्भव नहीं है। इस कारण इसे तो अग्रभाग वा प्रथम आवश्यकता बताया। ध्यातव्य है कि प्रारम्भ में ऊष्मा के बिना ही गति उत्पन्न होती है। यहाँ दृश्य पदार्थ में गति की चर्चा है, जो बिना ऊष्मा के सम्भव नहीं है। इसके पश्चात् सोम तत्त्व अर्थात् अप्रकाशित ठण्डा वायु इसका शल्य के समान होता है अर्थात् यह गतिशील तो होता ही है, साथ ही सबका आच्छादक भी होता है। हम पूर्व में देख चुके हैं कि सूर्यादि तारों में प्रधान भाग सोमतत्त्व का ही होता है।

यह सोमतत्त्व विभिन्न प्रकार के मरुतों का ही रूप है और ये मरुत् रश्मियां ही ऐसी होती हैं, जो सभी को आच्छादित करती हैं। ये मरुद् रश्मियाँ विभिन्न सूक्ष्म किरणों को भी आच्छादित करती हैं तथा उनको गतिशील बनाने में भी सहयोग करती हैं, इस कारण इन्हें शल्य कहा है। विष्णु अर्थात् व्यापक सूक्ष्म विद्युत् तेजन अर्थात् तीक्ष्णता का काम करती है और वरुण अर्थात् व्यान प्राण किंवा सूत्रात्मा वायु के द्वारा परस्पर संयुक्त उदान प्राण वा अपान उन वज्ररूप किरणों के दो पक्ष के समान काम करते हैं। मानो ये दोनों उन किरणों को बांधे रखते हैं। पूर्वोक्त उपसद रूपी वज्र किरणें ही इन सबको प्रक्षिप्त करके अप्रकाशित हिंसक वायु को ध्वस्त वा नियन्त्रित करती हैं, जैसे कोई सेना शत्रु के दुर्ग को जीतती है।।

इसी कारण उपर्युक्त विभिन्न पदार्थों का प्रक्षेपण अथवा उपर्युक्त प्रक्षेप करने योग्य पदार्थ इस सृष्टियज्ञ में हवि का काम करते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- सृष्टि रचना व संचालन में गति का स्थान सबसे महत्वपूर्ण है और अप्रकाशित हिंसक वायु के विरुद्ध संघर्ष करके उसका उचित उपयोग लेने में बलवान् किरणें भी सृष्टि प्रक्रिया में महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। **इस प्रकार बल और गति सृष्टि प्रक्रिया के दो प्रमुख साधन हैं। इसके साथ यह भी आवश्यक है कि इन दोनों में संगति और सहवास बना रहे।** 'सहवास' शब्द का अर्थ है कि ये दोनों एक ही स्थान पर साथ मिलकर कार्य करें। वज्ररूप किरणों के मुख्य घटक हैं- ऊष्मा, मरुद् रश्मियां, व्यापक विद्युत् और पूर्वोक्त वरुण अर्थात् प्राण, अपान व व्यानादि रश्मियाँ, ये चारों मिलकर अप्रकाशित वायु के प्रबल अवरोधक बन जाने पर तीव्र प्रहार करते हैं और उस प्रहार से ही वह अप्रकाशित वायु नियन्त्रित होता है।।

२. चतुरोऽग्रे स्तनान् व्रतमुपैत्युपसत्सु चतुःसंधिर्हीषुरनीकं शल्यस्तेजनं पर्णानि।। त्रीन् स्तनान् व्रतमुपैत्युपसत्सु त्रिषन्धिर्हीषुरनीकं शल्यस्तेजनं, द्वौ स्तनौ व्रतमुपैत्युपसत्सु द्विषन्धिर्हीषुः शल्यश्च ह्येव तेजनं चैकं स्तनं व्रतमुपैत्युपसत्स्वेका ह्येवेषुरित्याख्यायत एकया वीर्यं क्रियते।।

{स्तनः = स्तना ऋतुपात्रे (मै.४.५.६), (ऋतुः = पुनः पुनर्ऋच्छति गच्छत्यागच्छतीति ऋतुः -उ.को.१.७२)। व्रतम् = व्रतम् इति कर्मनाम (निघं.२.१), व्रतं कर्मनाम वृणोतीति सतः (नि.२.१३), वीर्यं वै व्रतम् (श.१३.४.१.१५)}

व्याख्यानम्- यहाँ **'स्तन'** शब्द का अर्थ ऋतुपात्र ग्रहणीय है अर्थात् ऋतुओं का आधार और **'ऋतु'** शब्द का अर्थ १.२४.१ में दर्शाये ऋतु, मास, अर्धमास, अहोरात्र का ग्रहण करना चाहिए क्योंकि ये भी निरन्तर आते-जाते किंवा सबमें व्याप्त होते रहते हैं। जब अप्रकाशित बाधक वायु तत्त्व पर दृश्य प्रकाश वज्ररूप तीक्ष्ण किरणों (उपसद) का आक्रमण या प्रहार करता है, तब उपर्युक्त ऋतु रश्मियों के आधार, जो उनके द्वारा सम्यक् रूपेण धारण किये जाते है किंवा सन्धिरूप भी होते हैं, उन चारों क्रमशः अनीक, शल्य, तेजन, और पर्ण अर्थात् ऊष्मा, मरुद् रश्मियाँ, व्यापक विद्युत् एवं वरुण रश्मियाँ इन चारों के द्वारा वे वज्ररूप किरणें शक्तिशाली होकर अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होती हैं। यह इनका प्रथम चरण होता है।।

इसके पश्चात् जब वो किरणें अप्रकाशित वायु के पास किंवा उससे त्रस्त पदार्थ के पास पहुंचती हैं, उस समय तीन स्तन अर्थात् अनीक, शल्य, तेजन अर्थात् ऊष्मा, मरुद् रश्मियाँ एवं व्यापक विद्युत् प्रभावी रहती हैं और वरुण रश्मि का बन्धन शिथिल होकर आकर्षण व प्रतिकर्षण बल न्यून हो जाते हैं, जिससे वे किरणें विभिन्न कणों के समुचितरूपेण निकट पहुँचकर अप्रकाशित पदार्थ को छिन्न-भिन्न करने में अधिक समर्थ हो सकें। इन तीनों के कारण वे वज्ररूप किरणें अपना पराक्रमयुक्त कर्म निकटता व तीक्ष्णता से कर पाती हैं। उसके पश्चात् अनीक अर्थात् ऊष्मा का प्रभाव भी अतिसूक्ष्म अवस्था में जाकर प्रभावकारी नहीं होता। वहाँ केवल सूक्ष्म परन्तु तीक्ष्ण मरुद् रश्मियाँ और व्यापक विद्युत् ही विशेष प्रभावकारी होती हैं, जिनके कारण अधिक सूक्ष्म स्तर पर अप्रकाशित वायु से वज्ररूप किरणें संघर्ष करती हैं और उसे छिन्न-भिन्न करती हैं। अन्त में एक ही स्तन अर्थात् इषु शेष रहता है, जिसका तात्पर्य यह है कि और भी सूक्ष्म स्तर पर जाकर भेदक गतिसम्पन्न प्राणापान के संयुक्त रूप से निर्मित सूक्ष्म विद्युत् के द्वारा अप्रकाशित वायु की सूक्ष्मतम स्तर की बाधा को दूर किया जाता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उपर्युक्त वज्ररूप किरणों के जो चार भाग होते हैं अर्थात् ऊष्मा, मरुद् रश्मियाँ, व्यापक विद्युत् और वरुण रश्मियां, ये चारों ही अप्रकाशित हिंसक वायु को छिन्न भिन्न करके नियन्त्रित करने में समर्थ होती हैं। यहाँ इसी प्रसंग को स्पष्ट करते हैं कि जब ये वज्ररूप किरणें अपना प्रहार उस अप्रकाशित पदार्थ पर करने हेतु चल पड़ती हैं, उस समय उनके उपर्युक्त चारों भाग सक्रिय होते हैं। जब ये तेजस्वी किरणें उस अप्रकाशित पदार्थ किंवा उससे त्रस्त पदार्थ के निकट पहुँचती हैं, तब वरुण रश्मियां शिथिल हो जाती हैं, जिससे आकर्षक वा भेदक बल तीक्ष्ण तथा प्रतिकर्षक बल न्यून हो जाता है। शेष तीनों घटक- ऊष्मा, मरुद् रश्मियां एवं व्यापक विद्युत् सक्रिय रहती हैं। इसके पश्चात् और भी निकट व सूक्ष्म स्तर पर जाकर ऊष्मा की महत्ता भी समाप्त होकर केवल व्यापक विद्युत् एवं मरुद् रश्मियां ही शेष रहती हैं। अन्त में भेदकशक्ति सम्पन्न प्राणापान के संयुक्त रूप से निर्मित सूक्ष्म विद्युत् ही अप्रकाशित पदार्थ के सूक्ष्मतम स्तर पर प्रहार करता है, जिससे सभी क्रियायें सामान्यरूपेण होती रहती हैं।।

३. परोवरीयांसो वा इमे लोका अर्वागंहीयांसः परस्तादर्वाचीरुपसद उपैत्येषामेव लोकानामभिजित्यै।।

व्याख्यानम्- सृष्टि निर्माण के प्रारम्भिक चरण में सभी लोक अर्थात् तेजस्वी सूर्य आदि तारे जैसे लोक, अप्रकाशित पृथिवी आदि लोक सभी विस्तृत व फैले हुए थे। आकाश तत्त्व भी इनके अन्दर फैला हुआ विद्यमान था। उसके पश्चात् वे सभी लोक सिकुड़ते गये। वस्तुतः तीनों लोक पहले मिले हुए थे। सम्पूर्ण अवकाशरूप आकाश को भरने वाली एकरस अवस्था से ही सृष्टि रचना प्रारम्भ हुई थी। उस समय से कुछ काल पश्चात् उपसद अर्थात् देवों के वज्ररूप विकिरण भी व्यापक स्तर पर उत्पन्न हो रहे थे। जैसे-२ लोकों में संकुचन प्रारम्भ हुआ, वैसे-२ वज्ररूप किरणों की व्यापकता भी कम होने लगी। उनकी संख्या में भी कमी आने लगी। सृष्टि रचना के क्रमिक विकास के साथ अप्रकाशित हिंसक वायु की विस्तृतता वा तीक्ष्णता भी कम होती गयी और इसी कारण वज्ररूप उपसदों की विस्तृतता और तीक्ष्णता भी कम होती गयी और ऐसा करना विभिन्न लोकों में आसुर पदार्थ को नियन्त्रण में लेने के लिये आवश्यक भी था। अनेक विकिरण, जो सृष्टि के आदिकाल में रहे होंगे, उनमें से कुछ आज ब्रह्माण्ड में विद्यमान ही नहीं होंगे और यदि हों भी, तो कम तीक्ष्णता व मात्रा में होंगे। यही बतलाना इस कण्डिका का प्रयोजन है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- समस्त सृष्टि का निर्माण एक विस्तृत एकरस फैले हुए मूल पदार्थ से प्रारम्भ होता है। धीरे-२ यह पदार्थ संपीडित वा संकुचित होता हुआ नाना प्रकार के लोकों का रूप धारण करता है। इस अन्तराल में पदार्थ नाना प्रकार के रूप धारण करता हुआ लोकों के रूप में प्रतिष्ठित होता है। इस मध्य नाना प्रकार के विकिरण भी उत्पन्न होते हैं। कुछ विकिरण ऐसे भी हो सकते हैं, जो पूर्वकाल में उत्पन्न हुए हों, परन्तु अब विद्यमान नहीं हों। जब-२ जिस-२ प्रकार के पदार्थ की

आवश्यकता होती है, तब-२ वैसे-२ पदार्थ का निर्माण होता है। यही ब्रह्माण्ड का क्रमिक विकास कहलाता है।।

४. 'उपसद्याय मीळ्हुषे' 'इमां मे अग्ने समिधमिमामुपसदं वनेः' इति, तिस्त्रस्तिस्नः (तिस्रस्तिस्रः) सामिधेन्यो रूपसमृद्धा एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृगभिवदति।।

{चर्षणिः = प्रकाशः (तु.म.द.ऋ.भा.४.७.४), प्राणः (तु.म.द.ऋ.भा.५.८६.२), चायिता आदित्यः (नि.५.२४)। सपर्यु = सपर्या शब्दाद् आत्मन इच्छायामर्थे क्यच्, ततः 'क्याच्छन्दसि' इति उः (वै.को.आ. राजवीर शास्त्री), (सपर्यति परिचरणकर्मा - निघं.३.५)}

व्याख्यानम्- यहाँ आचार्य सायण ने इन ऋचाओं का वर्णन पूर्वाह्ण व अपराह्ण उपसद कर्म की सामिधेनी के रूप में किया है। इसके पीछे इस ग्रन्थ की याज्ञिक परम्परा ही है। सायण ने इनका भाष्य भी पूर्णतः आधियाज्ञिक किया है। हम सायण के इस मत से सहमत हैं कि ये ऋचाएं सामिधेनी हैं अर्थात् हम उस यज्ञीय परम्परा को स्वीकार करके उसका आधिदैविक रहस्य उद्घाटित कर रहे हैं, जैसा कि सम्पूर्ण ग्रन्थ में हमारा यही प्रयोजन है। हम कहीं भी किसी यज्ञिक प्रक्रिया का स्पर्श भी नहीं कर रहे हैं। यहाँ सायण के मत की चर्चा भी इस कारण करनी पड़ी है कि इन ऋचाओं को सामिधेनी बतलाने का कोई आर्ष प्रमाण सायण ने नहीं दिया है। इस कारण हम सायण के मत को ही प्रमाण मान कर इस कण्डिका का वैज्ञानिक रहस्य बतलाते हैं। १.२३.३ में पूर्वाह्ण व अपराह्ण अर्थात् क्रमशः प्राण व अपान प्रधान मरुद् रश्मियों के वज्र की चर्चा है, उसी को प्रकारान्तर से बढ़ाते हैं। उस समय अर्थात् प्राण के पूर्व भाग में वज्रप्रहार के समय वसिष्ठ ऋषि अर्थात् प्राण नामक प्राण तत्त्व से अग्निदेवताक

उपसद्याय मीळ्हुषे आस्ये जुहुता हविः। यो नो नेदिष्ठमाप्यम्।।१।।
यः पञ्च चर्षणीरभि निषसाद दमेदमे। कविर्गृहपतिर्युवा।।२।।
स नो वेदो अमात्यमग्नी रक्षतु विश्वतः। उतास्मान्पात्वंहसः।।३।। (ऋ.७.१५.१-३)

ऋग्रूप तरंगों की उत्पत्ति होती है। इनके छन्द हैं- १ व ३ का विराट् गायत्री तथा २ का गायत्री। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से तेज व बल समृद्ध होते हैं। १.२५.२ के अनुसार इस सूक्ष्म स्तर जाकर ऊष्मा के स्थान पर वैद्युत प्रभाव की समृद्धि माननी चाहिए। इनके अन्य प्रभाव निम्नानुसार हैं-

प्रथम छन्द रश्मि के प्रभाव से वज्ररूप विकिरण अप्रकाशित वायु से त्रस्त कण वा अप्रकाशित वायु के कणों के अन्दर विद्यमान प्राण नामक प्राण तत्त्व के पूर्व भाग एवं अपर भाग में उनके अति निकट व्याप्त होकर उन कणों को मानो सींचता है अर्थात् उनमें व्याप्त होकर अप्रकाशित पदार्थ को छिन्न-भिन्न करने में सहयोग करता है।

द्वितीय रश्मि के प्रभाव से अप्रकाशित वायु के दमनकर्म में क्रान्तदर्शी बलपति विद्युत्-वायु प्राणापानादि पांचों प्राणों को अपने अन्दर धारण करता है, जिससे वैद्युत-वायु और भी तीव्र होकर अप्रकाशित वायु के दमन में प्रभावकारी होता है।

तृतीय रश्मि के प्रभाव से {अमात्यम् = अमेति सहार्थेऽव्ययम्। ततः 'अव्यया-त्यप्' (पा.अ.४.२.१०४), (अमा = गृहनाम - निघं.३.४, अपरिमितमिति आप्टे)। वेदः = इतीमे लोका इमे वेदा अथो वागिति ब्रूयात् (ऐ.६.१५)} वह वज्ररूप आग्नेय तरंगें अपरिमित स्थानों में विद्यमान विभिन्न कणों वा लोकों की बाधक अप्रकाशित तत्त्वों से रक्षा करने में सहायक होती हैं।

उपर्युक्त तीनों छन्द रश्मियाँ १.२३.३ में वर्णित प्राणापानादि के संधि स्थलों को प्रकाशित करके अप्रकाशित हिंसक वायु रश्मियों की बाधा को दूर करने में सहायक बनती हैं। शेष पूर्ववत्।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- **१.२३.३** में वर्णित प्राणापानादि प्रधान मरुद् रश्मियों के संधि स्थलों पर अप्रकाशित तीव्र वायुविद्युत् के अवरोध को दूर करने में तीन उपर्युक्त छन्द रश्मियां सहायक होती हैं। इनके प्रभाव से संधि स्थलों में डार्क पदार्थ सीमित रहता व अन्यत्र से छिन्न भिन्न हो जाता है। दृश्य विद्युत् वायु तीव्रता से अप्रकाशित पदार्थ पर प्रहार करके विभिन्न कणों व लोकों की रक्षा में सहायक होता है। ये रश्मियां पूर्ववर्णित वज्ररूप तीव्र तापयुक्त किरणों की तीव्रता बढ़ाने में सहायक होती हैं।।

५. जघ्निवतीर्याज्यानुवाक्याः कुर्यात्।।
'अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद्' 'य उग्र इव शर्यहा' 'त्वं सोमासि सत्पतिर्गयस्फानो अमीवहेदं विष्णुर्विचक्रमे त्रीणि पदा वि चक्रमे इत्येताः।।
विपर्यस्ताभिरपराह्ले यजति।।
घ्नन्तो वा एताभिर्देवाः पुरो भिन्दन्त आयन् यदुपसदः।।

{जङ्घनत् = भृशं हन्ति प्राप्नोति (म.द.ऋ.भा.६.१६.३४)। द्रविणस्युः = आत्मनो द्रविणमिच्छुः (म.द.ऋ.भा.६.१६.३४)। वंसगः = यो वंसं सम्भजनीयं गच्छति गमयति वा स वृषभः (म.द.ऋ.भा.१.५५.१)। पांसुरे = पांसवो रेणवो रजांसि रमन्ते यस्मिन्नन्तरिक्षे तस्मिन् (म.द.य.भा.५.१५), (पांसुः = पंसयति नष्टमिव भवतीति पांसुः - उ.को.१.२७)}

व्याख्यानम्- उपर्युक्त प्रसंग में पूर्वोक्त याज्या और पुरोनुवाक्या संज्ञक छन्द रश्मियों का भी योगदान रहता है। इस प्रसंग में उत्पन्न होने वाली ऐसी छन्द रश्मियों वाली ऋचाएं **"हन्"** धातु से युक्त हैं।।

इस क्रम में ६ छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है। वे रश्मियाँ इस प्रकार हैं- **भरद्वाजो-बार्हस्पत्य ऋषि** अर्थात् सूत्रात्मा-वायु-तत्त्व से उत्पन्न विभिन्न बलों के धारण करने वाले प्राण नामक प्राथमिक प्राण से

अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद् द्रविणस्युर्विपन्यया। समिद्धः शुक्र आहुतः।। (ऋ.६.१६.३४)
य उग्रइव शर्यहा तिग्मश्रृङ्गो न वंसगः। अग्ने पुरो रुरोजिथ।। (ऋ.६.१६.३९)

की उत्पत्ति होती है। इन दोनों का देवता अग्नि व छन्द गायत्री है। इनके छान्दस और दैवत प्रभाव से ऊष्मा, विद्युद् आदि के बल व तेज समृद्ध होते हैं। अन्य प्रभाव क्रमशः इस प्रकार हैं-

(१) तेजस्वी विद्युत् तरंगें विभिन्न परमाणुओं में व्याप्त होकर उनके निकट स्थित वा आच्छादक अप्रकाशित हिंसक तरंगों पर निकटता से प्रहार करके उन्हें छिन्न-भिन्न करती हैं।

(२) वे विद्युत् की तेजस्वी तरंगें अति तीक्ष्ण और हिंसक रूप धारण करके विभिन्न रक्षणीय कणों को प्राप्त होकर अप्रकाशित हिंसक विद्युत् तरंगों को छिन्न-भिन्न करने में सहायक होती हैं।

तदुपरान्त **राहूगणपुत्रो गोतम ऋषि** अर्थात् धनञ्जय प्राण से सोमो-देवताक

त्वं सोमासि सत्पतिस्त्वं राजोत वृत्रहा। त्वं भद्रो असि क्रतुः।। (ऋ.१.९१.५)
गयस्फानो अमीवहा वसुवित्पुष्टिवर्धनः। सुमित्रः सोम नो भव।। (ऋ.१.९१.१२)

की उत्पत्ति होती है। इनके छन्द क्रमशः पादनिचृद्गायत्री एवं गायत्री हैं। इनके छान्दस और दैवत प्रभाव से विभिन्न सूक्ष्म मरुद् रश्मियों का बल और तेज तीव्र होने में सहयोग मिलता है। अन्य प्रभाव क्रमशः निम्नानुसार हैं- {सत् = उदकनाम (निघं.१.१२), सदमृतम् (श.१४.४.१.३१)}

(१) विभिन्न अविनाशी प्राणों द्वारा रक्षित और पालित विभिन्न सूक्ष्म मरुद् रश्मियाँ देदीप्यमान होकर विभिन्न पदार्थों के आच्छादक एवं बाधक अप्रकाशित हिंसक विकिरणों को छिन्न-भिन्न करके विभिन्न कणों वा लोकों की क्रियाओं को सुगम बनाती हैं।

(२) वे ऐसी मरुद् रश्मियाँ विभिन्न प्राणों को विस्तार देते हुए समस्त द्रव्य में आकर्षण बल के साथ व्याप्त होकर किंवा प्राण नामक प्राथमिक प्राण तत्त्व के साथ संयुक्त होकर अप्रकाशित हिंसक विद्युत् तरंगों को छिन्न-भिन्न करके सर्ग प्रक्रिया को पुष्ट करने में सहायक होती हैं।

तदुपरान्त **काण्वो मेधातिथि ऋषि** अर्थात् मनस्तत्त्व से विशेष सम्पन्न सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न प्राण विशेष से विष्णुदेवताक एवं पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री छन्दस्क

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्। समूळहमस्य पांसुरे।। (ऋ.१.२२.१७)
त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन्।। (ऋ.१.२२.१८)

की उत्पत्ति होती है। इनके दैवत व छान्दस प्रभाव से व्यापक सूक्ष्म विद्युत् का बल और तेज तीक्ष्ण व भेदक शक्तिसम्पन्न होते हैं। इनके अन्य प्रभाव क्रमशः निम्नानुसार हैं-
(१) वह व्यापक सूक्ष्म विद्युत् तीन प्रकार का रूप अथवा त्रिगुणों को धारण करके तीनों प्रकार के लोकों अर्थात् पृथिवी, द्यु व अन्तरिक्ष लोक की अप्रकाशित हिंसक विद्युत् वायु से रक्षा करती है और समस्त अवकाश रूप आकाश में विभिन्न सूक्ष्म कणों को धारण करती है।

(२) वह ऐसी अहिंसनीय सूक्ष्म विद्युत् तीन प्रकार के व्यवहारों को धारण करती हुई विभिन्न प्रकार की किरणों की रक्षा करती तथा अप्रकाशित हिंसक तरंगों को छिन्न-भिन्न करती है।

इन ६ ऋचाओं में से प्रथम चार में **'हन्'** धातु का प्रयोग है, जबकि अन्तिम दो ऋचाओं में **'हन्'** धातु का प्रयोग न होकर **'धा'** धातु का प्रयोग है। इससे स्पष्ट है कि पूर्व की चार रश्मियाँ अप्रकाशित हिंसक तरंगों को छिन्न-भिन्न करने तथा अन्तिम दो रश्मियाँ रक्षणीय कणों को धारण करने में विशेष सहयोग करती हैं। उपर्युक्त छन्द रश्मियों में से पहली तीन याज्या तथा अन्तिम तीन पुरोनुवाक्या का काम करती हैं। इसका तात्पर्य है कि प्रथम तीन छन्द रश्मियाँ हिंसक अप्रकाशित तरंगों को छिन्न-भिन्न करके विभिन्न परमाणुओं के संयोग में सहायक होती हैं और शेष तीन छन्द रश्मियाँ आकाश तत्त्व को आकर्षित करके उन परमाणुओं को धारण करने में सहयोग करती हैं। ये सभी रश्मियाँ **१.२३.३** में वर्णित प्राण प्रधान मरुद् रश्मियों के पूर्व भाग में प्रभावी होती हैं।।

प्राण प्रधान मरुद् रश्मियों के अपर भाग में ये ही ६ रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं, परन्तु उनका क्रम विपरीत होता है अर्थात् जो पहले याज्या का कार्य कर रही थीं, वे यहाँ पुरोनुवाक्या का कार्य करती हैं और जो वहाँ पुरोनुवाक्या का कार्य करती थीं, वे यहाँ याज्या का कार्य करती हैं।।

''हन्'' धातुयुक्त इन्हीं छन्द रश्मियों से युक्त वज्र अर्थात् तेजस्वी तापयुक्त विकिरणों की सहायता से ही दृश्य पदार्थ ने अप्रकाशित पदार्थ के समूहों को छिन्न-भिन्न किया था। उसके पश्चात् ही वह दृश्य पदार्थ सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में फैला था। इसी प्रकार की प्रक्रिया अब भी किसी न किसी स्तर पर चल रही है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- अप्रकाशित हिंसक वायुविद्युत् को नियन्त्रित करने की पूर्वोक्त प्रक्रिया में उपर्युक्त ६ छन्द रश्मियाँ भी विशेष भूमिका निभाती हैं। इनमें से ३ छन्द रश्मियाँ अप्रकाशित हिंसक तरंगों को छिन्न-भिन्न करने में सहायक होती हैं तथा शेष छन्द रश्मियाँ आकाश तत्त्व को नियन्त्रित करके विभिन्न परमाणुओं को धारण करने में सहयोग करती हैं। इनके प्रभाव से विद्युत् तत्त्व की वृद्धि होती है एवं वह विद्युत् तत्त्व अप्रकाशित हिंसक तरंगों पर निकटता से प्रहार करके उन्हें छिन्न-भिन्न करता है, जिससे विभिन्न परमाणुओं के मध्य संयोगादि प्रक्रियायें सुगमता से सम्पन्न होती हैं। इन छन्द रश्मियों के कारण विभिन्न सूक्ष्म मरुद् रश्मियाँ एवं प्राणादि पदार्थ भी सक्रिय होकर दृश्य पदार्थ का सहयोग

करते हैं। इन छन्द रश्मियों के द्वारा धनावेशित, ऋणावेशित एवं उदासीन तीनों प्रकार की विद्युत् तरंगें उत्पन्न होकर विभिन्न तारों, ग्रहों-उपग्रहों एवं समस्त अवकाश रूप आकाश में विद्यमान विभिन्न स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों की अप्रकाशित हिंसक विद्युत् वायु से रक्षा करने में सहयोग करती हैं।।

६. सच्छन्दसः कर्तव्या न विच्छन्दसः।।
यद्विच्छन्दसः कुर्याद् ग्रीवासु तद्गण्डं दध्यादीश्वरो ग्लावो जनितोः।।
तस्मात् सच्छन्दस एव कर्तव्या न विच्छन्दसः।।
तदु ह स्माऽऽहोपाविर्जानश्रुतेय उपसदां किल वै तद्ब्राह्मणे यस्मादप्यश्लीलस्य श्रोत्रियस्य मुखं व्येव ज्ञायते तृप्तमिव रेभतीवेत्याज्यहविषो ह्युपसदो ग्रीवासु मुखमध्याहितं तस्माद्ध स्म तदाह।।८।।

{गण्डः = (गण्ड्+अच् इति आप्टे) जोड़, गांठ, धब्बा। गड् - सेचने+अच्+नुम् = (गड् = गण्ड् अयं छान्दस प्रयोग इति मे मतम्) (गड = बहना, झरना, टपकना, सींचना- सं. धातुकोष - पं.यु.मी.)। ग्लावः = ग्लानिः (इति आप्टे), ग्लायति यस्मिन् स ग्लानिः दौर्बल्यम् वा (उ.को.४.५२)। व्येव = वि+एव (एव = नियन्त्रण इति आप्टे)। रेभति अर्चतिकर्मा (निघं.३.१४)}

व्याख्यानम्- उपर्यक्त प्रकरण में जो भी ऋचाएं उपसद अर्थात् वज्ररूप में प्रयुक्त हुई हैं, वे सभी समान छन्दों वाली होती हैं, जैसे- इस खण्ड में प्रयुक्त सभी ऋचाएं गायत्री छन्दस्क हैं। गायत्री छन्द सबसे सूक्ष्म छन्द होता है और यही सबसे सूक्ष्म स्तर पर जाकर अप्रकाशित हिंसक विद्युद्वायु को छिन्न-भिन्न करता है। समान छन्द होने से उन रश्मियों का प्रभाव बढ़ जाता है।।

यदि असमान छन्दों की उत्पत्ति हो जाये, तो उनकी तीव्रता कम हो जायेगी। ऐसी स्थिति में ग्रीवा (उपसद) अर्थात् वज्ररूप किरणों में विद्यमान सभी छन्दों में समरसता नहीं आ पायेगी, जिससे उनके मध्य यत्र-तत्र कुछ जोड़ जैसे बन जायेंगे। इससे उन विकिरणों की कुछ शक्ति रिस जायेगी क्योंकि विभिन्न असमान जोड़ों से युक्त छन्द रश्मियां बल को दुर्बल कर देती हैं, जिससे वे अप्रकाशित हिंसक वायुविद्युत् को छिन्न-भिन्न करने में पूर्ण समर्थ नहीं होते।।

इस कारण समान छन्दों वाली रश्मियों की ही उत्पत्ति होती है, न कि असमान छन्दों वाली रश्मियों की।।

{मुखम् = अग्निर्मुखम् (तै.सं.७.५.२५.१)} यहाँ **महर्षि ऐतरेय महीदास** एक वृत्तान्त कहते हैं {श्रोत्रियः = श्रोत्रियस् स्त्रीकामतमः (काठ.२३.४), (स्त्री = अवीर्या वै स्त्री - श.२.५.२.३६) (श्रुति = श्रु गतौ+क्तिन्) कि कभी **महर्षि जनश्रुति** के पुत्र **उपावि** नामक किसी ऋषि ने उपसद अर्थात् पूर्वोक्त वज्ररूप तरंगों के विषय में अपने ब्राह्मण ग्रन्थ में इस प्रकार लिखा है- {श्लीलः = श्रीः अस्ति अस्य-लच्, पृषो. इति आप्टे} "दुर्बल तेज और बल से युक्त कणों को आकर्षित करने में सबसे श्रेष्ठ बल और गति से युक्त तरंगों का मुख अर्थात् प्रक्षेपण व निगलन सामर्थ्य असमृद्ध होते हुए भी विशेष रूप से बाधक तरंगों को नियन्त्रित करने वाला एवं विभिन्न रक्षणीय कणों वा तरंगों को तृप्त अर्थात् उनकी प्रक्रियाओं को संतुलित करने में सक्षम होता है।" यहाँ श्रोत्रिय का आशय यह भी है कि यह उन बलवान् कणों वा तरंगों का नाम है, जो अपनी पत्नि अर्थात् प्राक् वर्णित **"भूः, भुवः, स्वः"** रूपी देवी गायत्री छन्दरूप सूक्ष्म रक्षिका व पालिका शक्तियों को अपने साथ धारण करने में श्रेष्ठ होता है, जिसके कारण इस प्रकार के कण वा तरंगें अति वेगवान् और बलवान् होते हैं। ऐसे वेगवान् व बलवान् कणों के समान पूर्वोक्त उपसद अर्थात् विभिन्न छन्द रश्मियों की प्रक्षेपणीय हवि विभिन्न कणों वा तरंगों को प्रकाशमान करती है और ऐसी तरंगें विभिन्न शक्तिशाली वज्ररूप किरणों के आग्नेय वा वैद्युत अग्र भाग

में स्थित होती हैं अर्थात् वज्र प्रहार प्रबल ऊष्मा से प्रारम्भ होता है। इसी कारण **महर्षि उपावि** ने उपर्युक्त श्रोत्रिय रूप कण वा तरंगों से उपसद रूपी वज्र अर्थात् तेजस्वी तीक्ष्ण किरणों की तुलना की है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- अप्रकाशित हिंसक विद्युद्वायु को नियन्त्रित वा छिन्न-भिन्न करने के लिये समान प्रकार की किंवा निश्चित आवृत्ति की तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें ही उपयोगी होती हैं। ऐसा होने पर वे समान तरंगें अतीव शक्तिशाली होकर अप्रकाशित हिंसक तरंगों को नियन्त्रित करने में अधिक सफल होती हैं। यदि असमान तरंगें उत्पन्न हों, तो उन तरंगों की ऊर्जा का कुछ भाग अन्यत्र संचरित हो जाने से वे दुर्बल और विकारग्रस्त हो जाती हैं, जिससे वे अप्रकाशित पदार्थ को नियन्त्रित करने में असमर्थ होती हैं। ऐसी समान रूप एवं आवृत्ति वाली तरंगें ऊष्मा एवं विद्युत् से सम्पन्न तीव्र तरंगों के अग्र भाग में गति करती हैं। **समान तरंगें उसी प्रकार शक्तिशाली हो जाती हैं, जैसे-किसी पुल के ऊपर गुजरती हुई सेना जब आपस में कदम मिलाकर चलती है, तो उससे उत्पन्न तरंगें इतनी शक्तिशाली हो जाती हैं कि उनके कारण पुल भी गिर सकता है।।**

꧁ इति ४.८ समाप्तः ꧂

ॐ अथ ४.९ प्रारभ्यते ॐ

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. देववर्म वा एतद्यत्प्रयाजाश्चानुयाजाश्चाप्रयाजमननुयाजं भवतीष्वै संशित्या अप्रतिशराय।।
सकृदतिक्रम्याऽऽश्रावयति यज्ञस्याभिक्रान्त्या अनपक्रमाय।।

{इषुः = वीर्यं वा ऽइषुः (श.६.५.२.१०)। वर्म = गृहनाम (निघं.३.४ - वै.को. से उद्धृत)। आज्यभागौ = वज्र आज्यभागौ (तै.सं.२.६.२.४), प्राणापानौ वा आज्यभागौ (काठ.२६.३)। स्विष्टकृत् = अग्निर्हि स्विष्टकृत् (श.१.५.३.२३), रुद्रः स्विष्टकृत् (श.१३.३.४.३)। अभि+क्रम् = पहुँचना, प्रविष्ट होना, आक्रमण करना - इति आप्टे। अप+क्रम् = छोड़ जाना, चले जाना - इति आप्टे}

व्याख्यानम्- पूर्व खण्ड में दर्शायी गई जग्निवती संज्ञक ६ छन्द रश्मियों के प्रकरण में **महर्षि आश्वलायन** अपने श्रौत सूत्र में लिखते हैं- **"स्विष्टकृदादि लुप्यते प्रयाजा आज्यभागौ च" (आश्व.श्रौ.४.८.८)** हमारे मत में यहाँ **"प्रयाजौ"** पद है, जिसके "औ" को "आव्" होकर वकार का लोप हुआ है और **"प्रयाजौ"** शब्द से **"प्रयाजानुयाजौ"** का ग्रहण होना चाहिये। यहाँ **महर्षि आश्वलायन** कहना चाहते हैं कि पूर्वोक्त ६ छन्द रश्मियों के प्रकरण में प्रयाज और अनुयाज अर्थात् संदीप्त तेज के भागरूप प्राण और अपान लुप्त वा शिथिल हो जाते हैं, जबकि वे घोर विद्युदग्नि के साथ संगत होते हैं। इसी बात को **महर्षि ऐतरेय** प्रकारान्तर से कहते हैं कि जो प्रयाज और अनुयाज अर्थात् प्राण और अपान हैं, वे प्रकाशित वा प्रकाशक परमाणुओं किंवा अग्नि के परमाणुओं के कवच अथवा घर के समान होते हैं। इस विषय में **तैत्तिरीय संहिता** में कहा है- **"यत्प्रयाजानूयाजा इज्यन्ते, वर्मैव एतद्यज्ञाय क्रियते, वर्म यजमानाय भ्रातृव्याभिभूत्यै" (तै.सं.२.६.१.५)**। इसका तात्पर्य यह है कि प्राणापान के कवच के कारण अग्नि के संगमनीय परमाणु बाधक आसुर तत्त्व से सुरक्षित रहते हैं। जब पूर्वोक्त उपसद अर्थात् वज्र रूपी किरणें किंवा उनके साथ विद्यमान पूर्वोक्त छन्द रश्मियाँ अप्रकाशित हिंसक बाधक वायु रश्मियों पर प्रहार करती हैं, उस अन्तिम समय में उनके आवरण रूप प्राणापान लुप्त वा शिथिल हो जाते हैं। इससे पूर्व खण्ड में वर्णित अग्नि, वरुणादि इषु अर्थात् उनके तेज तीक्ष्ण हो जाते हैं और वे आसुर तत्त्वों के पराभव में अधिक सक्षम होते हैं। वे अपने तीक्ष्णत्व के कारण जब आसुर तत्त्व के प्रभाव को नियन्त्रित कर लेते हैं, तब उनके ऊपर आसुर तत्त्व अर्थात् हिंसक विद्युद्वायु का कोई प्रहार नहीं हो पाता।।

उपर्युक्त वज्ररूप विकिरणों का प्रहार धीरे-२ अथवा पृथक्-२ न होकर एक साथ सब ओर से तीव्रता से होता है, जिसके कारण वे किरणें अप्रकाशित हिंसक विद्युत् तरंगों का एक ही प्रहार में अतिक्रमण कर जाती हैं अर्थात् उनको दबा लेतीं अथवा नियन्त्रित कर लेती हैं। ऐसा करके वे तेजस्वी किरणें उस अप्रकाशित पदार्थ को सब ओर फैलाती हैं अर्थात् छिन्न-भिन्न कर देती हैं, जिसके कारण वह डार्क पदार्थ दुर्बल हो जाता है। उसके दुर्बल हो जाने से विभिन्न परमाणुओं के संगतीकरण की प्रक्रिया, जिसके बिना सृष्टि का निर्माण व संचालन संभव नहीं है, हर जगह व्याप्त हो जाती है। इसके साथ ही उसकी व्याप्ति सृष्टि काल में समाप्त नहीं होती। यदि वह व्याप्ति समाप्त हो जाये, तो सृष्टि प्रक्रिया अपूर्ण ही रह जायेगी।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के फोटोन्स प्राण और अपान नामक सूक्ष्म पदार्थों से ढके रहते हैं। ये पदार्थ फोटोन्स के कवच का काम करते हैं, जिसके कारण ये फोटोन्स अप्रकाशित

हिंसक तरंगों, कदाचित् जिन्हें डार्क मैटर अथवा डार्क एनर्जी कहा जा सके, को पार करते हुए सुरक्षित सर्वत्र गमन करते हैं। जो तरंगें अप्रकाशित हिंसक पदार्थ के अति प्रक्षेपक एवं बाधक बल को नष्ट वा नियन्त्रित करने के लिए उस पदार्थ पर आक्रमण करती हैं, उनका प्राणापान का आवरण उस समय शिथिल हो जाता है। इसके कारण वे तीव्र किरणें प्रहार के अन्तिम समय और भी तीक्ष्ण होकर उसे नियन्त्रित वा छिन्न-भिन्न कर देती हैं। इन किरणों का अप्रकाशित पदार्थ पर प्रहार धीरे-२ व पृथक्-२ न होकर इतना तीव्र गति से होता है कि अप्रकाशित तत्त्व छिन्न-भिन्न व दुर्बल होकर सृष्टि काल तक पुनः बाधक नहीं बन पाता।।

२. तदाहुः क्रूरमिव वा एतत् सोमस्य राज्ञोऽन्ते चरन्ति यदस्य घृतेनान्ते चरन्ति घृतेन हि वज्रेणेन्द्रो वृत्रमहन्।।
दद्यदंशुरंशुष्टे देव सोमाऽऽप्यायतामिन्द्रायैकधनविद आ तुभ्यमिन्द्रः प्यायतामा त्वमिन्द्राय प्यायस्वाऽऽप्याययास्मान् सखीन्। सन्या मेधया स्वस्ति ते देव सोम सुत्यामुदृचमशीयेति राजानमाप्याययन्ति यदेवास्य तत्क्रूरमिवान्ते चरन्ति तदेवास्यैतेनाऽऽप्याययन्त्यथो एन वर्धयन्त्येव।।
द्यावापृथिव्योर्वा एष गर्भो यत्सामो राजा तद्यद् 'एष्टा राय एष्टा वामानि प्रेषे भगाय। ऋतमृतवादिभ्यो नमो दिवे नमः पृथिव्या' इति प्रस्तरे निह्नुवते द्यावापृथिवीभ्यामेव तं नमस्कुर्वन्त्यथो एने वर्धयन्त्येव वर्धयन्त्येव।।६।।

{क्रूरम् = कृन्तति छिनत्तीति क्रूरः (उ.को.२.२१), संग्रामो वै क्रूरम् (श.१.२.५.१६), क्रूरमित्यप्यस्य (कृन्ततेः) भवति (नि.६.२२)। घृतम् = वज्रो घृतम् (काठ.२०.५), तेजो वा एतत् पशूनां यद् घृतम् (ऐ.८.२०), संदीप्तं तेजः (म.द.ऋ.भा.२.३.११)। वृत्रम् = वृत्रो ह वाऽइदं सर्वं वृत्वा शिश्ये। यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी स यदिदं सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद् वृत्रो नाम (श.१.१.३.४), मरुतो ह वै सांतपना मध्यन्दिने वृत्रं सन्तेपुः स, संतप्तोऽनन्नेव प्राणन् परिदीर्णः शिश्ये (श.२.५.३.३), मरुतो ह वै क्रीडिनो वृत्रं हनिष्यन्तमिन्द्रमागतं तमभितः परिचिक्रीडुर्महयन्तः (श.२.५.३.२०)। रयिः = वीर्यं वै रयिः (श.१३.४.२.१३), पशवो वै रयिः (तै.ब्रा.१.४.४.६), धननाम (निघं.२.१०)}

व्याख्यानम्- यहाँ **महर्षि ऐतरेय महीदास** किसी पूर्व मत को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि पिछले खण्ड में देदीप्यमान सोम तत्त्व शल्य रूप धारण करके अर्थात् सबको आच्छादित एवं गतिशील बनाते हुए अपने अभीष्ट लक्ष्य अर्थात् अप्रकाशित हिंसक पदार्थ पर आक्रमण करने हेतु आगे बढ़ता है, तब उसके साथ अग्नि (ऊष्मा), विष्णु अर्थात् व्यापक विद्युत् एवं वरुण रश्मियाँ भी अपने संदीप्त तेज से परिपूर्ण मरुद् रश्मियों के साथ चलती हैं। इस विषय में **१.२५.२** भी देखें। सोम तत्त्व का यह कर्म क्रूर कहलाता है। इसका आशय यह है कि सोम तत्त्व तेजस्वी तीक्ष्ण होकर अप्रकाशित हिंसक तत्त्वों के साथ संघर्ष करके उन्हें काटता व छिन्न-भिन्न करता है। इसी प्रकार पूर्व में जब लोक पृथक्-२ हुए थे, तब सबको आच्छादित करने वाला वृत्र नाम का अप्रकाशित विशाल मेघ रूप पदार्थ उन्हें बांधे हुए सर्वत्र फैला था। उस समय संदीप्त तेजस्वी मरुद् रश्मियों युक्त इन्द्र तत्त्व अर्थात् विद्युद्वायु ने उस विशाल अप्रकाशित मेघ को नष्ट किया था।।

अप्रकाशित हिंसक पदार्थ को छिन्न-भिन्न वा नियन्त्रित करने के लिये वज्ररूप किरणों का जो पूर्वोक्त प्रकार से प्रहार किया जाता है और जिसे ऊपर क्रूर कर्म कहा गया है, अप्रकाशित हिंसक पदार्थ को नष्ट वा छिन्न-भिन्न करने के पश्चात् उस क्रूर कर्म को शिथिल करने के लिये निम्न छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है-

गोतम ऋषि अर्थात् धनञ्जय प्राण से सोमो-देवताक

अं॒शुरं॑शुष्टे देव॒ सोमाप्यां॑यतामिन्द्रा॑यैकधन॒विदे॑। आ तुभ्यमिन्द्रः प्याय॑तामा त्वमिन्द्रा॑य प्यायस्व। आप्या॑यया॒स्मान्त्सखी॑न्त्स॒न्या मे॒धया॑ स्व॒स्ति ते॑ देव सोम सुत्यामुदृचम॑शीय।। की उत्पत्ति होती है। यजुर्वेद माध्यन्दिन संहिता **५.७** में **'सुत्यामुदृचमशीय'** के स्थान पर **'सुत्यामशीय'** पद है। इसमें पूर्व में एक आर्षीबृहती छन्द और अन्त में आर्षीजगती छन्द का पूर्वार्द्ध है। इसके प्रभाव से शल्य अर्थात् वज्ररूप में विद्यमान देदीप्यमान सोम पदार्थ दूर-दूर तक फैलकर विभिन्न परमाणुओं की परिधियों में स्थित हो जाता है। इसके अन्य प्रभाव से वह सोम पदार्थ अपने साथ विद्युत् आदि पदार्थों को लेकर विभिन्न परमाणुओं को पूर्णतया व्याप्त करके उनकी रक्षा करता है और उस सोम पदार्थ के साथ विद्यमान विद्युत् अपने समान प्रकाशित विभिन्न परमाणुओं को व्याप्त करके उनकी क्रियाओं को निरापद करती है।

इस छन्द रश्मि के प्रभाव से वे तीव्रभेदी सोम अर्थात् विभिन्न मरुद् रश्मियों की तीव्रता शान्त हो जाती है और वे मरुद् रश्मियाँ सबमें फैल जाती हैं।।

वे उपर्युक्त मरुद् रश्मियाँ द्यावापृथिवी अर्थात् प्रकाशित व अप्रकाशित लोकों अथवा कणों के गर्भ के समान होती हैं अर्थात् वे इनके अन्दर ही विद्यमान होती हैं एवं तेजस्वी किरणों के रूप में सदैव इन पदार्थों में विचरण करती रहती हैं। **{प्रस्तरः = यज्ञो वै प्रस्तरः (श.३.४.३.१६), अयं वै स्तुपः प्रस्तरः (श.१.३.३.७), (शिखा स्तुपः - श.१.३.३.५; स्तुपेन = हिंसनेन - म.द.य.भा.२५.२)}** उस समय उपर्युक्त मंत्र की अन्तिम जगती ऋचा के उत्तरार्द्ध **''एष्टा राय एष्टा ......नमः पृथिव्या''** की उत्पत्ति होती है। यजुर्वेद संहिता में **''दिवे नमः पृथिव्या''** के स्थान पर **''द्यावापृथिवीभ्याम्''** पद है। इनके प्रभाव से विभिन्न प्रकाशित व अप्रकाशित कण वा लोक अभीष्ट मरुद् रश्मियों को प्राप्त होते हैं। इसका प्रकार यह है कि वे मरुद् रश्मियाँ प्रकाशित व अप्रकाशित कणों की ओर झुकती हुई उनके संगतीकरण में विलीन सी हो जाती हैं, जिसके कारण संगतीकरण की प्रक्रिया समृद्ध होती चली जाती है। इस प्रक्रिया में वरुण रश्मियों एवं व्यापक सूक्ष्म विद्युत् का भी सहयोग रहता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- जब अप्रकाशित हिंसक रश्मियों पर तेजस्वी तप्त किरणों का प्रहार होता है और अप्रकाशित पदार्थ छिन्न-भिन्न वा नियन्त्रित हो जाता है, उस समय वे तेजस्वी किरणें भी उपर्युक्त छन्द रश्मियों के प्रभाव से फैलकर दुर्बल हो जाती हैं। वे किरणें विभिन्न परमाणुओं की ओर झुकती हुई वक्र मार्ग से उनकी ओर आती हैं और अप्रकाशित पदार्थ से उनकी संगतीकरण प्रक्रिया में विलीन हो जाती हैं, जिससे विभिन्न संगतीकरण प्रक्रियायें निरापद रूप से चलती रहती हैं।।

ॐ इति ४.९ समाप्तः ॐ

ॐ इति चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॐ

पञ्चमोऽध्यायः

धनावेशित कण

ऋणावेशित कण

भूः भुवः स्वः धनंजय

मरुद रश्मियां

व्याहृति रश्मियां

।। ओ३म् ।।

ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं तन्नऽआ सुव।।

अनुक्रमणिका

ॐ अथ ५.१ प्रारभ्यते ॐ

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. सोमो वै राजा गन्धर्वेष्वासीत्तं देवाश्च ऋषयश्चाभ्यध्यायन् कथमयमस्मान् सोमो राजाऽऽगच्छेदिति सा वागब्रवीत् स्त्रीकामा वै गन्धर्वा मयैव स्त्रिया भूतया पणध्वमिति नेति देवा अब्रुवन् कथं वयं त्वदृते स्यामेति साऽब्रवीत् क्रीणीतैव यर्हि वाव वो मयाऽर्थो भविता तर्ह्येव वोऽहं पुनरागन्ताऽस्मीति तथेति तया महानग्न्या भूतया सोमं राजानमक्रीणन्।।

{गन्धर्वः = सूत्रात्मा वायुः (म.द.य.भा.१७.३२), मनो ह गन्धर्वः (श.९.४.१.१२)। नग्नम् = नञ्+ग्ना (ग्नाः वाङ्नाम - निघं.१.११; गमनादयः - नि.१०.४७)। ऋषयः = प्राणादयः पञ्च देवदत्तधनञ्जयौ च (म.द.य.भा.१७.७९), बलवन्तः प्राणाः (म.द.य.भा.१५.१३), गतिमन्तः (प्रथमजाः = वायवः) (म.द.य.भा.१५.१२), प्राणा वा ऋषयः (ऐ.२.२७)}

व्याख्यानम्- अब तक सोम तत्त्व अर्थात् मरुद् रश्मियों के विभिन्न क्रियाकलापों की जो चर्चा करते रहे हैं, उससे पूर्व की चर्चा करते हुए महर्षि लिखते हैं कि सृष्टि प्रक्रिया के प्रारम्भिक चरण में सोम पदार्थ गन्धर्व अर्थात् सूत्रात्मा वायु वा मनस् तत्त्व के अधीन होता है। मनस् तत्त्व और सूत्रात्मा वायु अति सूक्ष्म और व्यापक होने से सबको धारण करने वाले होते हैं। इस कारण इनको गन्धर्व कहा गया है। उस समय प्राणापानव्यानोदानसमानदेवदत्त और धनञ्जय आदि तीव्रगन्ता प्राथमिक प्राण, जो सबके प्रकाशक, सबको गति देने वाले और संयोग-वियोग आदि में तत्पर होते हैं, उस सोम तत्त्व को आकर्षित करने का प्रयास करते हैं, क्योंकि बिना सोम तत्त्व के प्राथमिक प्राणों से सृष्टि निर्माण सम्भव नहीं है। उस समय एकाक्षरा वाक् अर्थात् **'भूः', 'भुवः', 'स्वः'** आदि दैवी गायत्री छन्द नग्न रूप में अर्थात् बिना अन्य छन्द रश्मियों को साथ में लिये मनस् तत्त्व वा सूत्रात्मा वायु की ओर प्रवाहित होते हैं। सूत्रात्मा वायु एवं मनस् तत्त्व वाक् रूप स्त्री अर्थात् उपर्युक्त **'भूः', 'भुवः', 'स्वः'** आदि सूक्ष्म रश्मियों के प्रति अत्यन्त आकर्षण का भाव रखते हैं किंवा वाक् और मन का सदैव युग्म रूप ही रहता है। इसी कारण कहा है **"वाक् च वै मनश्च देवानां मिथुनम्" (ऐ.५.२३)**। इनकी निकटता इतनी होती है कि कहीं इनको एक भी मान लिया है **"वागिति मनः" (जै.उ.४.११.१.११)**। यहाँ वाक् तत्त्व से भूरादि व्याहृति छन्द रश्मियों के अतिरिक्त इन सबको भी बल प्रदान करने वाली **'ओम्'** छन्द रश्मि का भी ग्रहण करना चाहिये। प्रायः वाक् तत्त्व से इस **'ओम्'** रश्मि का ही ग्रहण अधिक उचित है। सूत्रात्मा वायु मनस् तत्त्व से कुछ स्थूल एवं उसी से निर्मित होता है। जब वह वाक् तत्त्व मनस् तत्त्व अथवा सूत्रात्मा वायु की ओर प्रवाहित होता है, उस समय वे दोनों पदार्थ वाक् तत्त्व को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। इस विषय में **महर्षि तित्तिर** का भी कथन है-

"ते देवा अब्रुवन्त्स्त्रीकामा वै गन्धर्वाः स्त्रिया निष्क्रीणामेति। ते वाचं स्त्रियमेकहायनीं कृत्वा तया निरक्रीणन्" (तै.सं.६.१.६.५), (हायनः = शिखा, ज्वाला - आप्टेकोश) यहाँ पूर्वोक्त वाक् तत्त्व को शिखा अर्थात् तीव्र बना कर गन्धर्व की ओर प्रेषित करने का संकेत है। इस प्रक्रिया में सोम पदार्थ पर उनका आकर्षण शिथिल हो जाता है, जिसके कारण वह पदार्थ प्राणापानादि प्राथमिक प्राणों की ओर प्रवाहित होने लग जाता है। इधर वाक् तत्त्व के प्राणापानादि पदार्थों से निकलने के पश्चात् उनकी भी शक्ति क्षीण हो जाती है। इस कारण वे सोम तत्त्व के सम्पर्क के पश्चात् भी सृष्टि प्रक्रिया को आगे नहीं बढ़ा पाते हैं। उसके पश्चात् मनस् तत्त्व एवं सूत्रात्मा वायु से संयुक्त वह वाक् तत्त्व, जो प्राणापानादि की ओर से प्रवाहित हुआ था, वह पुनः लौट कर उसी ओर प्रवाहित होना लगता है। यहाँ यह विशेष चिन्तनीय है

कि वाक् तत्त्व प्राणापानादि की ओर से मनस् तत्त्व एवं सूत्रात्मा वायु की ओर क्यों अर्थात् किसकी प्रेरणा से प्रवाहित हुआ? यदि यह मनस् तत्त्व आदि की शक्ति से आकर्षित होकर प्रवाहित हुआ, तो सोम तत्त्व के मुक्त होने के पश्चात् मनस् तत्त्व आदि से वह वाक् तत्त्व कैसे मुक्त होकर वापिस प्राणादि तत्त्वों के पास आया? इस विषय में हमारा मत यह है कि कोई भी तत्त्व वाक् तत्त्व से पूर्ण मुक्त कभी नहीं होता और न ही मनस् तत्त्व से। यहाँ वर्णन प्रधानता के आधार पर किया गया है। जब विशुद्ध सूक्ष्म वाक् तत्त्व अधिक मात्रा में मनस् तत्त्व आदि से संयुक्त होता है, उस समय सोम तत्त्व के प्रति उसका आकर्षण कम हो जाता है। उस सोम तत्त्व के साथ कुछ वाक् तत्त्व प्राणादि तत्त्वों के साथ मिल जाता है और कुछ वाक् तत्त्व प्राणादि पदार्थों में नया उत्पन्न हो जाता है। **इसके पीछे चेतन परमसत्ता परमात्मा की ही भूमिका रहती है।।**

वैज्ञानिक भाष्यसार- प्रारम्भ में विभिन्न मरुद् रश्मियां अर्थात् सोम पदार्थ, जिसकी प्रधानता से ऋणावेशित सूक्ष्म कणों की उत्पत्ति होती है, तथा प्राणापानादि, जिनकी प्रधानता से धनावेश की उत्पत्ति होती है, दोनों पदार्थ दूर-२ थे। उस समय इनको परस्पर पास-२ लाने की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। उस प्रक्रिया के विषय में कहा गया है कि सोमतत्त्व मनस्तत्त्व के आकर्षण से बंधा था। उस समय सूक्ष्म वाक् तत्त्व उत्पन्न होकर मनस्तत्त्व से संयुक्त होने लगा, जिससे सोम तत्त्व का मनस्तत्त्व से बंधन शिथिल होकर वह प्राणादि पदार्थों की ओर प्रवाहित होने लगा। उसके पश्चात् वाक्तत्त्व प्राणादि पदार्थों के बीच भी उत्पन्न होकर उन्हें भी सक्रिय करता है। स्मरण रहे कि यहाँ धनावेशित व ऋणावेशित कणों की चर्चा नहीं की गयी है, बल्कि ये पदार्थ जिस पदार्थ से उत्पन्न होते हैं, उनके निकट आने की प्रक्रिया की चर्चा है। **इस प्रक्रिया में चेतन सर्वशक्तिमती सत्ता परमात्मा की भूमिका अनिवार्य है।।**

२. तामनुकृतिमस्कन्नां वत्सतरीमाजन्ति सोमक्रयणीं तया सोमं राजानं क्रीणन्ति।। तां पुनर्निष्क्रीणीयात् पुनर्हि सा तानागच्छत्।। तस्मादुपांशु वाचा चरितव्यं सोमे राजनि क्रीते गन्धर्वेषु हि तर्हि वाग्भवति साऽग्नावेव प्रणीयमाने पुनरागच्छति।।१।।

{अस्कन्नम् = अविक्षुब्धम् (म.द.य.भा.२.८) (स्कन्दिर् गतिशोषणयोः (भ्वा.) धातोः क्तः। नञ्समासः)। वत्सतरी = मारुत्यो वत्सतर्य्यः (तां.२१.१४.१२), वत्सतर्यो देवानां पत्नीभ्यः (मै.३.१३.६)। उपांशुः = अनिरुक्तं वा ऽउपांशुः (श.१.३.५.१०), यज्ञमुखं वा ऽउपांशु (श.५.२.४.१७)}

व्याख्यानम्- पूर्व घटना के समान वर्त्तमान में भी सोम तत्त्व के आकर्षण के लिये अविक्षुब्ध मरुतों के अन्दर रहने वाले वाक् तत्त्व, जो मनस् तत्त्व के साथ गतिशील होता है, को चारों ओर से प्रक्षिप्त किया जाता है और उसके द्वारा ही तेजस्वी सोम तत्त्व वा मरुद् रश्मियों का विनिमय सर्वत्र होता रहता है। यहाँ अविक्षुब्ध मरुत् से तात्पर्य ऐसे मरुतों से हैं, जो अत्यन्त मन्दगामी होते हैं। ऐसे सूक्ष्म मरुतों में केवल सूक्ष्म वाक् तत्त्व अर्थात् **'भूः', 'भुवः', 'स्वः'** आदि एकाक्षरा दैवी गायत्री तीनों छन्द ही विद्यमान होते हैं, न कि बड़े और शक्तिशाली छन्द। यद्यपि ये तीनों एकाक्षरा छन्द विभिन्न शक्तिशाली कणों वा तरंगों की भी शक्तियों के रूप में उनके साथ रहते हैं, पुनरपि इन मरुतों के स्तर पर इनका प्रभाव मृदु होने से ये मरुतों को क्षुब्ध नहीं करते हैं।।

ऐसा वह सूक्ष्म वाक् तत्त्व इस समय भी सोम पदार्थ को आकर्षित करके मनस् तत्त्व अथवा सूत्रात्मा वायु से वापिस प्राणादि पदार्थों के पास आता रहता है। इस प्रकार उस वाक् तत्त्व का मनस् तत्त्व और प्राणादि पदार्थों के बीच सतत विनिमय चलता रहता है।।

मनस् तत्त्व वा सूत्रात्मा वायु से जब देदीप्यमान सोम पदार्थ प्राणादि प्रधान अर्थात् अग्नि आदि पदार्थ की ओर प्रवाहित नहीं हुआ होता है, उस समय वह मनस् तत्त्व वा सूत्रात्मा वायु के साथ ही

संयुक्त होता है। उसके उपरान्त वाक् तत्त्व अत्यन्त अव्यक्त रूप में उस सोम पदार्थ को लाने के लिये मनस् तत्त्व वा सूत्रात्मा वायु की ओर प्रवाहित होता है। उसके पश्चात् वही वाक् तत्त्व अग्नि अर्थात् प्राणापानादि पदार्थों के द्वारा आकर्षित होता हुआ पुनः अपने स्थान पर आ जाता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- वर्तमान सृष्टि में भी सूक्ष्म वाक् तत्त्व, जो अत्यन्त मन्दगामी मरुद् रश्मियों में स्थित होता है, सोम पदार्थ एवं प्राणापानादि पदार्थ किंवा धनावेशित वा ऋणावेशित कणों के मध्य आवागमन करता रहता है और इस आवागमन से ही विद्युत् धनावेशित वा ऋणावेशित पदार्थ आकर्षित होते हैं। इस विषय में **१.२.३** विशेष रूप से पढ़ें। यहाँ इतना विशेष है कि धनावेशित कणों में प्राथमिक प्राण रश्मियों में 'भूः', 'भुवः' एवं 'स्वः' रश्मियों की भी प्रधानता होती है। जब धनावेशित व ऋणावेशित कण परस्पर निकट आते हैं, उस समय सर्वप्रथम ये व्याहृति रश्मियां ही ऋणावेशित कणों की ओर अपनी वृष्टि करती हैं। इनके आकर्षण से ऋणावेशित कणों में विद्यमान मरुद् रश्मियां बाहर की ओर आकर्षित होकर व्याहृति के साथ-२ धनंजय रश्मियों की ओर आकृष्ट होने लगती हैं। यदि व्याहृति रश्मियों की वृष्टि न हो, तो केवल धनंजय रश्मियां, मरुद् रश्मियों को आकृष्ट नहीं कर सकेंगी।।
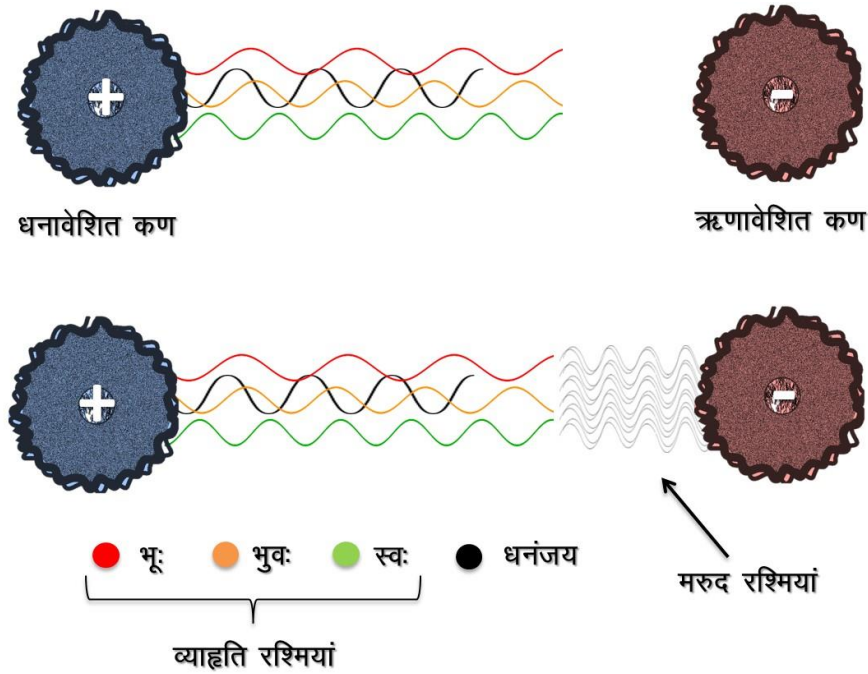
चित्र ५.१ भूरादि रश्मियों द्वारा प्राण व मरुद् रश्मियों के उत्सर्जन की प्रेरणा

ॐ इति ५.१ समाप्तः ॐ

௧ अथ ५.२ प्रारभ्यते ௨

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. अग्नये प्रणीयमानायानुब्रूहीत्याहाध्वर्युः।।
'प्र देवं देव्या धिया भरता जातवेदसम्। हव्या नो वक्षदानुषगिति' गायत्रीं ब्राह्मणस्यानुब्रूयात्।।
गायत्रो वै ब्राह्मणस्तेजो वै ब्रह्मवर्चसं गायत्री तेजसैवैनं तद् ब्रह्मवर्चसेन समर्धयति।।

{ऋभुः = धनञ्जयः सूत्रात्मा वायुः (म.द.ऋ.भा.१.१६१.६), ऋभव उरु भान्तीति वा, ऋतेन भान्तीति वा, ऋतेन भवन्तीति वा (नि.११.१५), आदित्यरश्मयोऽप्यृभव उच्यन्ते (नि.११.१६)। वक्षत् = वहेत् प्रापयेत् (म.द.ऋ.भा.६.२२.७), वक्षि = वह (म.द.ऋ.भा.६.१५.१८)। आनुषक् = आनुषगिति नामानुपूर्व्यस्यानुषक्तं भवति (नि.६.१४), अनुकूलतया (म.द.ऋ.भा. १.५८.३)}

व्याख्यानम्– उपर्युक्त प्रकरण को आगे बढ़ाते हुए महर्षि लिखते हैं कि प्राणापानरूपी अध्वर्यु, अग्नि आदि देव पदार्थ, जिनमें कि प्राणापानादि सात प्राणों की ही प्रधानता होती है, की ओर आते हुए सोम पदार्थ युक्त वाक् तत्त्व को कुछ छन्द रश्मियाँ उत्पन्न करने के लिए प्रेरित करती हैं। इसका अर्थ यह है कि जब सोमादि पदार्थ वाक् तत्त्व के साथ प्राणादि पदार्थों की ओर प्रवाहित होता है, तब उस पदार्थ में एक विशेष प्रतिक्रिया होकर निम्नलिखित छन्द रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं।।

सूनुरार्भव ऋषि अर्थात् सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न प्राण विशेष के द्वारा अग्निदेवताक, निचृद् गायत्री-छन्दस्क

प्र देवं देव्या धिया भरता जातवेदसम्। हव्या नो वक्षदानुषक्।। (ऋ.१०.१७६.२)

की उत्पत्ति होती है। इसके छान्दस और दैवत प्रभाव से अग्नि तत्त्व तेजस्वी और बलवान् होता है। इसके अन्य प्रभाव से प्राणापानादि सात प्राण उस समय विद्यमान अग्नि तत्त्व को प्रदीप्त करके धारण करते हैं और वे पदार्थ अपनी ओर आते हुए सोम अर्थात् मरुद् रश्मियों को अनुकूलता से अपने अन्दर व्याप्त कर लेते हैं। यह गायत्री छन्द रश्मि ब्राह्मण अर्थात् अग्नि प्रधान तत्त्व को प्रकाशित करता है। इसी कारण कहा- **"अग्निरेव ब्रह्म" (श.१०.४.१.५)** एवं **"आग्नेयो हि ब्राह्मणः" (काठ.२९.१०)**।।

इसी कारण कहा है कि गायत्री छन्द रश्मियों का संबंध अग्नि तत्त्व से विशेषकर होता है। ये गायत्री छन्द रश्मियाँ तेज एवं वैद्युत प्रकाश से युक्त होती हैं। इस कारण ये रश्मियाँ जिस भी पदार्थ से संयुक्त होती हैं, उसमें तीक्ष्णता और वैद्युत प्रकाश को समृद्ध करती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार– जब सोम पदार्थ आग्नेय पदार्थ की ओर अग्रसर होता है, तब उपर्युक्त गायत्री छन्द रश्मि सोम पदार्थ को तेजस्वी और अग्निमय बनाने में सहयोग करती है। इसी प्रकार जब कोई ऋणावेशित कण धनावेशित कण की ओर आकर्षित होता है, तब भी गायत्री छन्द रश्मि उत्पन्न होकर उन दोनों ही कणों के संयोग में सहयोग करती है। गायत्री छन्द रश्मियों का संबंध विद्युत् चुम्बकीय तरंगों से विशेष रूप से होता है।।

२. 'इमं महे विदथ्याय शूषमिति' त्रिष्टुभ राजन्यस्यानुब्रूयात्।।
त्रैष्टुभो वै राजन्य ओजो वा इन्द्रियं वीर्यं त्रिष्टुबोजसैवैनं तदिन्द्रियेण वीर्येण समर्धयति।।
'शश्वत्कृत्व ईड्याय प्रजभ्रुरिति'।।
स्वानामेवैनं तच्छ्रैष्ठ्यं गमयति।।
'शृणोतु नो दम्येभिरनीकैः शृणोत्वग्निर्दिव्यैरजस्र'।।
आजरसं हास्मिन्नजस्रो दीदाय य एवं वेद।।

{शूषम् = बलनाम (निघं.२.९), सुखनाम (निघं.३.६)}

व्याख्यानम्- उसके पश्चात् **प्रजापतिर्वैश्वामित्र ऋषि** अर्थात् सबको आकर्षित करने वाले वाक् तत्त्व से उत्पन्न एक सूक्ष्म प्राण रूप प्रजापति **{वाग् वै प्रजापति (श.५.१.५.६)}** से **''इमं महे विदथ्याय....'' (ऋ.३.५४.१)** की उत्पत्ति होती है। इसका देवता विश्वेदेवा तथा छन्द त्रिष्टुप् है। **महर्षि दयानन्द** ने इसका छन्द भुरिक् पंक्ति माना है। पं. युधिष्ठिर मीमांसक ने अपने ग्रन्थ **''वैदिक छन्दो-मीमांसा''** में ब्राह्मण ग्रन्थों के अनेक छन्दों को अयथार्थ माना है। उन्होंने अनेक छन्द-शास्त्रों के आधार पर ऐसा कहा है। हमारी दृष्टि में इस मंत्र का छन्द त्रिष्टुप् नहीं मानने पर ब्राह्मण ग्रन्थों के विज्ञान को जानने में अनेक समस्यायें उत्पन्न होंगी। जब **महर्षि ऐतरेय** इसको राजन्य का अर्थात् क्षत्रिय का मानकर त्रिष्टुप् बता रहे हैं तथा अन्य अनेक शास्त्रों ने भी त्रिष्टुप् छन्द को ऐसा ही माना है, जैसे- **''त्रैष्टुभो राजन्यः'' (जै.ब्रा.२.१०२), ''त्रैष्टुभो हि राजन्यः'' (तै.सं.५.१.४.५; मै.३.१.५), क्षत्रं वै त्रिष्टुप् (कौ.ब्रा.७.१०; जै.ब्रा.१.२६३), त्रैष्टुभं क्षत्रस्य रूपम् (जै.ब्रा.३.२१)।** यदि इस छन्द को भुरिक् पंक्ति मानें, तो यह ऐतरेय ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य कई आर्ष ग्रन्थों के विरुद्ध होगा। अब प्रश्न यह है कि **महर्षि दयानन्द** एवं **आचार्य पिंगल** आदि अनेक ऋषियों के विरुद्ध इसे त्रिष्टुप् कैसे माना जाये? इस विषय में हमारा मत यह है कि अक्षर संख्या की दृष्टि से छन्द विज्ञानी महर्षियों के नियमानुसार इसका छन्द भुरिक् पंक्ति ही है, परन्तु सृष्टि की इस प्रक्रिया में किन्हीं कारणों से इसका प्रभाव त्रिष्टुप् के समान होता है। संभव है कि किसी विशेष परिस्थिति में किसी ऋचा का छान्दस प्रभाव अक्षर संख्या की अपेक्षा से सृष्टि प्रक्रिया के प्रकरण में कभी-२ परिवर्तित हो जाता हो। दूसरा हमारा विचार यह है कि जिस प्रकार व्याकरण शास्त्र में **महर्षि पाणिनि** और **पतञ्जलि** ने प्राचीन महर्षियों के प्रयोगों तथा वेद के शब्दों को अपने विरुद्ध जानकर भी उन्हें सम्मानपूर्वक साधु बतलाया है और स्वयं अष्टाध्यायी के कई सूत्रों में अपने ही नियमों का उल्लंघन मिलता है, परन्तु उन्हें फिर भी व्याकरण के सूत्रों को 'छन्दोवत्' बतलाकर **'छन्दसि बहुलम्'** सूत्रानुसार उन सूत्रस्थ प्रयोगों को भी साधु ही माना जाता है। व्याकरण शास्त्र में अनेक प्रयोग बहुल अथवा विकल्प करके होते हैं। जब यह नियम व्याकरण शास्त्र में मान्य है, तो छन्द शास्त्र में क्यों नहीं? तब हम सबसे प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थकार **महर्षि ऐतरेय महीदास** को उनके उत्तरकालीन आचार्यों के नियमों से कैसे देख सकते हैं? हमारी दृष्टि में उपर्युक्त सभी आचार्य प्रमाण हैं। इस कारण हम छन्द का भी विकल्प मानते हैं। इस संबंध में पूर्वपीठिका द्रष्टव्य है। इनके छान्दस और दैवत प्रभाव से सभी प्रकाशित पदार्थ अति तीव्र बल और तेज से युक्त होते हैं। इसके प्रथम पाद के प्रभाव से अग्नि और सोम पदार्थ के परस्पर संग्राम को निरन्तर बल प्राप्त होता है अर्थात् वे तीव्रता से प्रतिक्रियाएं करने लगते हैं। इस छन्द रश्मि के प्रभाव से विभिन्न परमाणु भेदक शक्ति एवं तेजस्विता से युक्त होते हैं।।

त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ प्रकाश और ऊष्मा को बढ़ाने वाली होती हैं। ये रश्मियाँ बल, विद्युत् शक्ति व तीक्ष्णता को भी बढ़ाती हैं। इस कारण इस रश्मि के प्रभाव से विभिन्न परमाणु तीव्र ऊर्जायुक्त किंवा विद्युत् आवेशयुक्त हो जाते हैं, जिससे उनकी संयोग प्रक्रियाएं तीक्ष्ण हो जाती हैं।।

इस छन्द रश्मि के द्वितीय पाद के प्रभाव से विभिन्न बलों को धारण करने वाले विभिन्न परमाणु तीव्रता से चमकते हुए निरन्तर क्रियाशील रहने में सहयोग प्राप्त करते हैं।।

उपर्युक्त दोनों पादों के प्रभाव से विभिन्न संयोज्य परमाणु अन्य परमाणुओं की अपेक्षा श्रेष्ठता प्राप्त करते हैं, जिस कारण वे उनकी अपेक्षा अधिक शक्तिशाली व क्रियाशील होते हैं।।

इस छन्द रश्मि के उत्तरार्द्ध के प्रभाव से देदीप्यमान अग्नि के परमाणु विकिरणों के समूह के रूप में निरन्तर प्रवाहित होकर अन्य सभी परमाणुओं को सतत गतिशील और क्रियाशील रखते हैं।।

इस छन्द रश्मि के द्वारा अग्नि के परमाणु सृष्टिकाल पर्यन्त प्रकाश व ऊष्मा से युक्त बने रहते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस त्रिष्टुप् छन्द रश्मि के प्रभाव से सोम तत्त्व और अग्नि तत्त्व किंवा धनावेशित व ऋणावेशित कणों के मध्य संयोग की प्रक्रिया तीव्रता से होती है। **ये रश्मियाँ बल, प्रकाश व ऊष्मा को बढ़ाती एवं आवेशित कणों को उत्पन्न भी करती हैं।** इनसे संयुक्त परमाणु अन्य परमाणुओं की अपेक्षा अधिक ऊर्जायुक्त होते हैं और **इसके कारण फोटोन्स सृष्टि काल तक अपनी ऊर्जा को नष्ट होने से बचाये रखने में सहयोग प्राप्त करते हैं।।**

३. 'अयमिह प्रथमो धायि धातृभिरिति' जगतीं वैश्यस्यानुब्रूयात्।। जागतो वै वैश्यो जागताः पशवः पशुभिरेवैनं तत्समर्धयति।। 'वनेषु चित्रं विभ्वं विशे विश' इत्यभिरूपा यद्यज्ञेऽभिरूपं तत्समृद्धम्।।

{अप्नवानः = अप्नवाना बाहुनाम (निघं.२.४), (अप्नः कर्मनाम निघं.२.१; अपत्यनाम-निघं. २.२; रूपनाम-निघं.३.७)। वनम् = रश्मिनाम (निघं.१.५), उदकनाम (निघं.१.१२), सम्यग् विभाजकः किरणः (तु.म.द.ऋ.भा.१.७०.५)}

व्याख्यानम्- तदुपरान्त वामदेव ऋषि अर्थात् मनस्तत्त्व से विशेष समृद्ध प्राण विशेष से

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यः।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे।। (ऋ.४.७.१)

छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसका देवता अग्नि तथा छन्द जगती है। **महर्षि दयानन्द** ने इसका छन्द भुरिक् त्रिष्टुप् माना है। **पिंगल छन्द शास्त्र** की दृष्टि से यह भुरिक् त्रिष्टुप् छन्दस्क ही है, परन्तु हम पूर्व पृष्ठ में बतलाये कारणों से इसका छन्द जगती ही मान रहे हैं। इसके दैवत तथा छान्दस प्रभाव से अग्नि के परमाणु दूर-२ तक फैलते हैं तथा उनके उत्सर्जन व अवशोषण की प्रक्रिया भी तीव्र होती है। इसके अन्य प्रभाव से सभी मूर्त पदार्थों को धारण करने वालों में श्रेष्ठ अग्नि अर्थात् विद्युत् विभिन्न परमाणुओं का मेल करने में विशेष प्रवृत्त होती है। वह विद्युत् विभिन्न धारक व आकर्षण बलों से युक्त होकर विभिन्न कर्म करती-कराती हुई विभिन्न तेजस्विनी ज्वालाओं में उत्पन्न रश्मियों को भी प्रकाशित करती है। वह विद्युत् सबमें व्याप्त हो चुके वायु तत्त्व को भी प्रकाशित करती है।
इस रश्मि के प्रभाव से विभिन्न उत्पन्न अणु-परमाणु एवं मरुदादि पदार्थ प्रकाशित हो उठते हैं।।

विभिन्न मरुतों से उत्पन्न पदार्थ **{विशः = प्रजाः (म.द.य.भा.१२.५५), अन्नं वै विशः (श.४.३.३.१२), स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्राऽआदित्या विश्वे देवा मरुत इति (श.१४.४.२.२४), अनिरुक्तेव हि विट् (श.६.३.१.१५)}** एवं विभिन्न मरुद् रश्मियाँ जगती छन्द रश्मियों से विशेष प्रभावित होती हैं। विभिन्न छन्द रश्मियों आदि से उत्पन्न विभिन्न अणु भी इन रश्मियों

से प्रभावित होते हैं। इस छन्द रश्मि का प्रभाव दूर तक फैलकर अन्य छन्द रश्मियों एवं ऐसे कणों, जिन्हें किसी भौतिक तकनीक से देखा जा सके, पर भी होता है। यह छन्द रश्मि विभिन्न मरुतों और छन्दों को प्रभावित करती हुई उनके द्वारा विभिन्न क्रियाओं को समृद्ध करती है।।

यह रश्मि समस्त पदार्थों (कणों व रश्मियों) में प्रविष्ट होकर विद्युत् तत्त्व के साथ संगत होकर विभिन्न रूपों वाले व्यापक वायु तत्त्व को भी प्रकाशित करती है। शेष पूर्ववत्।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उपर्युक्त जगती छन्द रश्मि से विद्युत् चुम्बकीय तरंगें अति दूर-२ फैल जाती हैं और उनके उत्सर्जन व अवशोषण की प्रक्रिया भी तीव्र होती है। विद्युत् आवेशित कण सक्रिय होते हैं और तेजस्विनी ज्वालायें उठने लगती हैं। इन रश्मियों के सहयोग से विभिन्न स्थूल एवं दृश्य कणों का निर्माण होता है, जबकि अति सूक्ष्म मरुद् रश्मियाँ एवं छन्द रश्मियाँ भी इससे प्रभावित होती हैं।।

४. 'अयमु ष्य प्र देवयुरिति'।।
अनुष्टुभि वाचं विसृजते।।
वाग्वा अनुष्टुब्वाच्येव तद्वाचं विसृजते।।
'अयमु ष्यः' इति यदाहायमु स्याऽऽगमं या पुरा गन्धर्वेष्ववात्समित्येव तद्वाक्प्रब्रूते।।

{घृणीः = घृणिः छान्दसं दीर्घत्वम् = रश्मिवान् सूर्यः (म.द.य.भा.३५.८), ज्वलतोनाम (निघं. १.१७)। स्यः = असौ (म.द.य.भा.६.१४)}

व्याख्यानम्- तदुपरान्त पूर्व वर्णित सूनुरार्भव ऋषि प्राण द्वारा **अग्निदेवताक,** अनुष्टुप् छन्दस्क

अयमु ष्य प्र देवयुर्होता यज्ञाय नीयते। रथो न योरभीवृतो घृणीवाञ्चेतति त्मना।। (ऋ.१०.१७६.३)

की उत्पत्ति होती है। इसके छान्दस व दैवत प्रभाव से अग्नि के परमाणु तेजस्वी व सबल होते हैं। इसके अन्य प्रभाव से अग्नि के परमाणु विभिन्न प्रकाशित कणों को ग्रहण करके उनका संगतीकरण कराने में सहायक होते हैं। वे अग्नि के परमाणु अत्यन्त दीप्त होकर विभिन्न कणों से चारों ओर से घिरकर उनके वाहन के समान बनकर उनको इधर-उधर गति कराते हैं।।

जो वाक् तत्त्व सोम पदार्थ के साथ मन और सूत्रात्मा वायु रूप गन्धर्व तत्त्व से लौटकर प्राणापानादि प्रधान अग्नि तत्त्व की ओर वापिस आता है, वह वाक् तत्त्व इन अनुष्टुप् छन्द रश्मियों में आकर मिल जाता है अर्थात् सोम तत्त्व से विसर्जित होकर इन रश्मियों के साथ संगत हो जाता है।।

अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ वाक् तत्त्व का द्वितीय सूक्ष्म रूप होती है। इस कारण उपर्युक्त वाग् विसर्जन मानो वाक् का वाक् में ही विसर्जन होता है। हम **१.२७.१** में यह लिख चुके हैं कि गन्धर्व तत्त्वों के पास 'भूः', 'भुवः', 'स्वः' रूपी एकाक्षरा वाक् ही प्रवाहित हुई थी और यहाँ वही वाक् इस अनुष्टुप् रश्मि में आकर विसर्जित होती है। हमारे इस मत की पुष्टि **महर्षि आश्वलायन** के वचन- **"भूर्भुवः स्वरिति वाचं विसृजेत" (आश्व.श्रौ.२.१७.१०)** से भी होती है।।

यहाँ **महर्षि ऐतरेय महीदास** उपर्युक्त अनुष्टुप् ऋचा के पूर्वार्द्ध का अर्थ इस प्रकार करते हैं- यह वाक् तत्त्व मानो स्वयं कह रहा है कि "मैं जो पहले गन्धर्व अर्थात् मनस् तत्त्व एवं सूत्रात्मा वायु के साथ विद्यमान था, वही मैं वापिस आकर इस अनुष्टुप् वाक् तत्त्व में मिल गया हूँ"। मंत्र के पूर्वार्द्ध के अनुसार प्राणापानादि सप्त होता उस वाक् तत्त्व को सर्ग प्रक्रिया रूपी यज्ञ को सम्पन्न करने के लिए ही वापिस लाते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस छन्द रश्मि से भी विभिन्न फोटोन्स अधिक ऊर्जावान् होते हैं। ऐसे ऊर्जावान् फोटोन्स विभिन्न कणों को अपने साथ संयुक्त कर उन्हें संयोगादि प्रक्रिया के लिए आवश्यक गति प्रदान कराते हैं। जो वाक् तत्त्व मन, सूत्रात्मा वायु से वियुक्त होकर मरुद् रश्मियों के साथ अग्नि तत्त्व की ओर वापिस आता है अथवा **ऋणावेशित कण जब धनावेशित कणों की ओर गमन करते हैं, तब उनके साथ जो वाक् तत्त्व आता है, वह धनावेशित कणों से संयुक्त होते समय अनुष्टुप् छन्द रश्मियों में मिल जाता है, जिससे वह अनुष्टुप् छन्द रश्मि ऋणावेशित और धनावेशित दोनों कणों को थामने में सहयोग करती है।।**

५. 'अयमग्निरुरुष्यतीति'।।
अयं वा अग्निरुरुष्यति।।
'अमृतादिव जन्मनः' इत्यमृतत्त्वमेवास्मिंस्तद्दधाति।।
'सहसश्चित् सहीयान् देवो जीवातवे कृतः' इति।।
देवो ह्येष एतज्जीवातवे कृतो यदग्निः।।

{जन्म = उदकनाम (निघं.१.१२), जन्मसु कर्मसूदयेषु (नि.११.२३)। उरुष्यति = अकर्मकः (नि.५.२३; - 'रक्षा-कर्मा' इति नि.मेहरचन्द लछमनदास पब्लिकेशन्स्)}

व्याख्यानम्- तदुपरान्त उपर्युक्त सूनुरार्भव ऋषि प्राण से अग्निदेवताक एवं विराडनुष्टुप् छन्दस्क

अयमग्निरुरुष्यत्यमृतादिव जन्मनः। सहसश्चित्सहीयान्देवो जीवातवे कृतः।। (ऋ.१०.१७६.४)

की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से अग्नि के परमाणु पूर्वापेक्षा कुछ अधिक तेजस्वी होते हैं। इसके अन्य प्रभाव से अविनाशी प्राण तत्त्वों के समान मूर्त परमाणुओं में विद्युदग्नि के परमाणु ही उनके जन्म से ही उनकी रक्षा करते है। यह बलवान् से भी बलवान् विद्युत् सृष्टि प्रक्रिया को जीवित रखने के लिये प्राणादि पदार्थों से उत्पन्न होता है।।+।।

'अमृतादिव जन्मनः' इस पाद के प्रभाव से {अमृतम् = अमृतं वा ऽआपः (श.१.६.३.७)} विद्युदग्नि सोम पदार्थ के अन्दर व्याप्त हो जाता है किंवा सोम पदार्थ के अन्दर विद्युत् उत्पन्न हो जाती है। ध्यातव्य है कि अग्नि तत्त्व भी सोम तत्त्व से ही उत्पन्न होता है और कुछ सोम तत्त्व पृथक् भी रहता है, जिसकी ही इस प्रकरण में चर्चा हो रही है।।

बलवान् से भी बलवान् विद्युदग्नि समस्त पदार्थों को जीवित अर्थात् क्रियाशील रखने के लिये चेतन सत्ता परमात्मा द्वारा प्राणापान आदि से बनाया जाता है और इस विद्युदग्नि को सभी प्रकाशशील पदार्थ धारण करते हैं। इसके बिना किसी भी पदार्थ का प्रकाशित होना संभव नहीं है।।+।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- चेतन तत्त्व परमात्मा द्वारा प्राणापानादि से सर्वप्रथम विद्युत् की उत्पत्ति होती है। यह विद्युत् सृष्टि काल में कभी नष्ट नहीं होती है। यह विद्युत् तत्त्व ही सभी कणों और मूर्त तरंगों को प्रकाशित व बलवान् बनाये रखने के लिए परम आवश्यक है। यह विद्युत् ही सब पदार्थों का रक्षण और पोषण करती है और यही सबको गतिशील और क्रियाशील बनाये रखती है।।

६. 'इळायास्त्वा पदे वयं नाभा पृथिव्या अधि' इति।।
एतद्वा इळायास्पदं यदुत्तरवेदीनाभिः।।
जातवेदो नि धीमहीति नि धास्यन्तो ह्येनं भवन्ति।।

'अग्ने हव्याय वोळहवे' इति हव्यं हि वक्ष्यन् भवति।।

{इळा = वाङ्नाम (निघं.१.११), पृथिवीनाम (निघं.१.१), गोनाम (निघं.२.११), अन्ननाम (निघं.२.७), पशवो वा इळा (कौ.ब्रा.३.७; जै.ब्रा.१.१०२)। उत्तरवेदिः = पशवो वा ऽउत्तरवेदिः (तै.ब्रा.१.६.४.३), द्यौरुत्तरवेदिः (श.७.३.१.२७), योनिर्वा ऽउत्तरवेदिः (श.७.३.१.२८), योषा वा ऽउत्तरवेदिः (श.३.५.१.३३)}

व्याख्यानम्- तदुपरान्त विश्वामित्र ऋषि अर्थात् वाक् तत्त्व से **अग्निदेवताक** एवं विराडनुष्टुप् छन्दस्क

इळा॑यास्त्वा प॒दे व॒यं नाभा॑ पृथि॒व्या अधि॑।
जात॑वेदो॒ नि धी॑मह्यग्ने॑ ह॒व्याय॒ वोळ्ह॑वे।। (ऋ.३.२९.४)

की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से अग्नि पूर्ववत् तेजस्वी होता है। इस छन्द रश्मि के पूर्वार्द्ध के प्रभाव से अन्तरिक्ष के मध्य बंधे हुए विभिन्न संयोज्य कण, किरणें एवं विभिन्न छन्द रश्मियाँ उत्कृष्ट वेदी का काम करती हैं। ये सब पदार्थ प्रकाशमान योषा अर्थात् एक-दूसरे से संयोग के इच्छुक, विभिन्न पदार्थों की उत्पत्ति के कारण होते हैं। ये संयोज्य कण, किरणें व छन्दादि पदार्थ योषा व वेदी का कार्य करते हैं। यहाँ आने वाले सोम पदार्थ इनमें अपनी आहुति देकर विभिन्न नवीन परमाणुओं का निर्माण करते हैं। इसी कारण कहा हैं- **'सोमो रेतोधा' (काठ.५.४), सोमो वै रेतोधाः (तै.सं.१.७.४.५; मै.२.१.४)। वृषा वै सोमः (जै.ब्रा.३.२४)**।।+।।

इस ऋचा के तृतीय पाद के प्रभाव से प्रत्येक वस्तु में विद्यमान विद्युदग्नि उपर्युक्त उत्तरवेदी वा इडा नामक पदार्थ, जो अन्तरिक्ष में विद्यमान होते हैं, में पूर्णरूप से धारण किया जाता है अर्थात् ये सभी पदार्थ विद्युन्मय हो जाते हैं।।

इसके अन्तिम पाद **"अग्ने हव्याय वोळहवे"** के प्रभाव से विभिन्न कणों को वहन करने में समर्थ विद्युदग्नि सभी पदार्थों से युक्त होकर उन्हें संयोग-वियोग की प्रक्रियाओं को करने के लिए इधर-उधर गति प्रदान करता रहता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस छन्द रश्मि से विभिन्न फोटोन्स की ऊर्जा में वृद्धि होती है। अन्तरिक्ष के मध्य विभिन्न आवेशित कण, विभिन्न प्रकार की किरणें और विभिन्न छन्द रश्मियाँ संयुक्त रहती हैं। ये सभी पदार्थ प्रकाशयुक्त होते हैं तथा एक-दूसरे के प्रति अति आकर्षणशील होकर विभिन्न पदार्थों की उत्पत्ति का कारण होते हैं। इन सभी के साथ इस छन्द रश्मि के द्वारा विद्युत् तत्त्व संयुक्त हो जाता है, जिससे अनेक नये आवेशित कण भी उत्पन्न हो जाते हैं। वे ऐसे आवेशित कण एवं विभिन्न फोटोन्स अनेक प्रकार के कणों को अपने साथ धारण कर इधर-उधर ले जाते हुए अनेक प्रकार की क्रियाओं को सम्पन्न करते हैं।।

७. अग्ने विश्वेभिः स्वनीक देवैरूर्णावन्तं प्रथमः सीद योनिमिति।।
विश्वैरेवैनं तद्देवैः सहाऽऽसादयति।।
'कुलायिनं घृतवन्तं सवित्रे' इति कुलायमिव ह्येतद्यज्ञे क्रियते यत्पैतुदारवाः परिधयो गुग्गुलूर्णास्तुकाः सुगन्धितेजनानीति 'यज्ञं नय यजमानाय साधु' इति यज्ञमेव तदृजुधा प्रतिष्ठापयति।।

{कुलायम् = प्रजा वै कुलायं पशवः कुलायम् (मै.३.४.७), गृहा कुलायम् (तां.१६.१५.१)। दारु = दारु दृणातेर्वा (नि.४.१५)। गुग्गुलु = यन्मांसमासीत् तद् गुग्गुल्वभवत् (काठ.२५.६; तां.२४.१३.५), (मांसम् = नभो मांसानि - तै.सं.७.५.२५.१; मांसानि विराट् छन्दः - जै.ब्रा.२.५८; मांसं सादनम् - श.८.१.४.५)। गन्धम् = गन्धं हिरण्यस्य (आदित्य आदत्त) (जै.ब्रा.२.२६)। स्तुका = बालों की ग्रन्थि इति आप्टे। परिधयः = परितः सर्वतः सूत्रवद्धीयन्ते ये ते (म.द.य.भा.३१.१५), आधानानि परिधयः (क.४३.६), परिधयो रश्मयः (मै.४.५.५)}

व्याख्यानम्- तदुपरान्त बार्हस्पत्य भरद्वाज अर्थात् प्राण नामक प्राथमिक प्राण से **अग्निदेवताक** एवं निचृत् त्रिष्टुप् छन्दस्क

अग्ने॒ विश्वे॑भिः स्वनीक दे॒वैरूर्णा॑वन्तं प्र॒थमः सी॑द॒ योनि॑म्।
कु॒ला॒यिनं॑ घृ॒तव॑न्तं सवि॒त्रे य॒ज्ञं न॑य॒ यज॑मानाय सा॒धु॥१६॥ (ऋ.६.१५.१६)

की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से तीक्ष्ण तेजस्वी बल उत्पन्न होते हैं। इसके अन्य प्रभाव से सुन्दर किरणों वाला अग्नि सम्पूर्ण प्रकाशित परमाणुओं को आच्छादित करता हुआ उनमें व्याप्त हो जाता है। वह विभिन्न कणों के निर्माण के लिये विभिन्न उत्पन्न परमाणुओं और आकर्षण बलयुक्त विभिन्न मरुद् रश्मियों एवं आकाश तत्त्व से संगत होकर विभिन्न क्रियाएं करके अनेक पदार्थ कणों का निर्माण करता है।।

वह उपर्युक्त प्रकार का अग्नि सभी प्रकार के प्रकाशित कणों वा तरंगों के साथ सब ओर से संगत होता है अर्थात् उनमें सम्यग्रूपेण व्याप्त हो जाता है।।

इस छन्द रश्मि के तृतीय पाद के प्रभाव से पूर्वोक्त उत्तरवेदी संज्ञक विभिन्न पदार्थों में संगतीकरण की क्रिया सम्पन्न करने के लिए निम्न क्रियाएं होती हैं-
(१) पैतुदारवा- पितर संज्ञक विभिन्न पदार्थ जैसे- ऋतु, मास, मरुत् एवं प्राणादि रश्मियां विभिन्न पितर संज्ञक संयोज्य परमाणुओं **{पितरः = मासा वै पितरो बर्हिषदः (तै.ब्रा.१.६.८.३), षड् वा ऋतवः ऋतवः पितरः (श.२.४.२.२४), अनपहतपाप्मानः पितरः (श.२.१.३.४), प्राणो वै पिता (ऐ.२.३८)}** एवं असुर तत्त्व से आक्रान्त विभिन्न परमाणुओं को अपनी तीव्र भेदन क्षमता से विदीर्ण करती हैं।

(२) परिधय गुग्गुलु- वे पितर संज्ञक रश्मियां उन परमाणुओं को आकाश एवं विभिन्न विराट् संज्ञक छन्द रश्मियों से आच्छादित करते हुए सब ओर से परिधि रूप में बांधती हैं। इससे वे सभी परमाणु सब ओर से रश्मि जाल से आबद्ध हो जाते हैं।

(३) ऊर्णास्तुका- जो भी आच्छादिका विराट् छन्द रश्मियां उस समय इस छन्द रश्मि के परितः विद्यमान होती हैं, स्वयं भी ग्रन्थित होकर उन परमाणुओं को अधिक बलपूर्वक प्रकाशित व आच्छादित करती हैं।

(४) सुगन्धितेजनम्- विभिन्न परमाणुओं के बीच तीक्ष्ण आघात- प्रत्याघात की क्रियाएं होने लगती हैं। इसके साथ ही अन्तिम पाद **"यज्ञं नय यजमानाय साधु"** के प्रभाव से विभिन्न कणों और तरंगों के बीच संगतीकरण की प्रक्रिया सुचारु रूप से चलने लगती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस छन्द रश्मि के प्रभाव से सभी प्रकार के कणों की ऊर्जा में वृद्धि होती है। उस समय अन्तरिक्ष में विद्यमान विभिन्न सूक्ष्म मरुद् रश्मियाँ इस छन्द रश्मि के प्रभाव से आकाश तत्त्व से संपीडित होकर विभिन्न कणों और फोटोन्स का निर्माण करती हैं। सभी प्रकार के कण वा तरंगों में विद्युत् व्याप्त हो जाती है। उस समय अत्यन्त भेदन क्षमतासम्पन्न ऐसी तरंगें उत्पन्न होती हैं, जो विभिन्न कणों, आयनों, विभिन्न सूक्ष्म रश्मियों एवं विद्युत् चुम्बकीय तरंगों को भी विदीर्ण करने में सक्षम होती हैं किंवा विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की ऊर्जा में कमी एवं उनके मार्ग में विचलन उत्पन्न कर सकती

हैं। ऐसी भेदनशील तेज रश्मियाँ उन सभी पदार्थों को विराट् छन्द रश्मियों वा आकाश रश्मियों से आच्छादित करती हैं। इस कारण वे सभी पदार्थ सूक्ष्म रश्मि जाल से चारों ओर से आच्छादित होकर सुरक्षित एवं अधिक शक्तिसम्पन्न हो जाते हैं। ऐसे वे कण सृष्टि निर्माण प्रक्रिया में अधिक उपयोगी होते हैं। ध्यातव्य है कि **सृष्टि के सभी मूलकण कहलाने वाले कण भी विभिन्न रश्मियों के जाल से बंधे होते हैं। यहाँ तक कि विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के क्वान्टाज भी सूक्ष्म रश्मियों के जाल से बंधे होते हैं।।**

८. 'सीद होतः स्व उ लोके चिकित्वान्' इत्यग्निर्वै देवानां होता तस्यैष स्वो लोको यदुत्तरवेदीनाभिः।।
'सादया यज्ञं सुकृतस्य योनौ' इति यजमानो वै यज्ञो यजमानायैवैतामाशिषमाशास्ते।।
'देवावीर्देवान् हविषा यजास्यग्ने बृहद् यजमाने वयो धाः' इति प्राणो वै वयः, प्राणमेव तद् यजमाने दधाति।।

व्याख्यानम्- तदुपरान्त विश्वामित्र ऋषि अर्थात् वाक् तत्त्व से अग्निदेवताक एवं निचृत् त्रिष्टुप् छन्दस्क

सीद॑ होत॒ः स्व उ॑ लो॒के चि॑कि॒त्वान्त्सा॒दया॑ य॒ज्ञं सु॑कृ॒तस्य॒ योनौ॑।
दे॒वा॒वीर्दे॒वान्ह॒विषा॑ यजा॒स्यग्ने॑ बृ॒हद्यज॑माने॒ वयो॑ धाः॥ (ऋ.३.२९.८)

की उत्पत्ति होती है। इसके छान्दस और दैवत प्रभाव से सभी प्रकार के पदार्थ तीक्ष्ण, तेजस्वी और बलवान् होते हैं। इसके अन्य प्रभाव से विभिन्न संयोग-वियोग की प्रक्रिया को सम्पन्न करने वाली विद्युत् मनस् तत्त्व से विशेष सम्पन्न होकर दर्शनीय रूप में प्रकट होती है। ऐसी वह विद्युत् विभिन्न प्रक्रियाओं के कारणरूप संयोग-वियोग में स्थित होकर विभिन्न प्रकाशित कणों का यजन व धारण करती है।

यह विद्युत् अग्नि इस सृष्टियज्ञ के लिये होता के समान है अर्थात् यही हर प्रकार के कण को परस्पर संयुक्त वा वियुक्त करती है। पूर्वोक्त उत्तरवेदि संज्ञक पदार्थों के केन्द्र में विद्युत् का आवास होता है और यही विद्युत् हर कण के केन्द्र में स्थित होकर उसे बांधे व सक्रिय किये रहती है। ध्यातव्य है कि विद्युत् के भी कारणरूप प्राणापानादि पदार्थों के विषय में ऐसा कथन समीचीन नहीं है।।

इस छन्द रश्मि के द्वितीय पाद के प्रभाव से {आशिषः = अध्येषणाकर्म (निघं.३.२१)} यज्ञरूप यजमान अर्थात् संगत होता हुआ, कोई भी कण अपनी संगतीकरण प्रक्रिया को सम्यग् रूपेण सम्पन्न करने में सहयोग प्राप्त करता है, वे संयोज्य कण परस्पर संगत होने के लिए एक-दूसरे को खोजते हुए प्रेरित भी करते रहते हैं।।

{वयः = प्रदीपकं तेजः (म.द.ऋ.भा.५.१६.१), प्रजननं प्रापणं वा (म.द.य.भा.१४.१०), बलम्, इच्छाम्, कामनाम् (म.द.य.भा.१४.१०)} इसके उत्तरार्द्ध के प्रभाव से कुछ अन्य क्रियाएं भी होती हैं-

विद्युदग्नि प्रत्येक संगमनीय कण वा तरंग में प्राणों को धारण कराता है किंवा उनके अन्दर प्राणों को व्याप्त कर देता है। ये प्राण वयरूप होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि इन **प्राणों के कारण ही विद्युत् युक्त पदार्थों में प्रदीपक तेज, आकर्षणादि बल, संयोग-वियोग की प्रवृत्ति और नवीन-२ कणों के उत्पादन का सामर्थ्य होता है।।**

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस छन्द रश्मि के प्रमाण से तेज और बल तीक्ष्ण होते हैं एवं **विद्युत् दर्शनीय रूप में इस ब्रह्माण्ड में प्रकट होती है और ऐसी वह दर्शनीय विद्युत् नये-२ कणों के निर्माण में अधिक समर्थ होती है।** इस विद्युत् के ही कारण विभिन्न कणों के बीच संयोग-वियोग की प्रक्रिया सम्भव हो पाती है। यह विद्युत् ही प्रत्येक कण के केन्द्र में स्थित होकर उसे एक आकार प्रदान कराती है। **विद्युत्** यह कार्य कैसे करती है? इसका उत्तर यह है कि यह **जिस भी पदार्थ से संयुक्त होती है, उसे अपने कारणभूत प्राणापानादि प्राणों से सम्पन्न कर देती है और ये प्राणापानादि पदार्थ विभिन्न तेज, बल,**

आकर्षण-विकर्षण व धारण की प्रवृत्ति एवं संयोग-वियोग की प्रवृत्ति के मूल कारण होते हैं। इन प्राणों के इन गुणों के कारण ही विद्युत् अपने सभी कार्य कर पाती है।।

६. 'नि होता होतृषदने विदानः' इत्यग्निर्वै देवानां होता तस्यैतद्धोतृषदनं यदुत्तरवेदीनाभिः।।
'त्वेषो दीदिवाँ असदत् सुदक्षः' इत्यासन्नो हि स तर्हि भवति।।
'अदब्धव्रतप्रमतिर्वसिष्ठः' इत्यग्निर्वै देवानां वसिष्ठः।।
'सहस्रंभरः शुचिजिह्वो अग्निः' इत्येषा ह वा अस्य सहस्रंभरता यदेनमेकं सन्तं बहुधा विहरन्ति।।
प्र ह वै साहस्रं पोषमाप्नोति य एवं वेद।।

{त्वेषः = प्रदीप्तस्वभावः (म.द.ऋ.भा.१.६६.३)}

व्याख्यानम्- तदुपरान्त गृत्समद ऋषि अर्थात् प्राणापान के संयोग से अग्निदेवताक तथा त्रिष्टुप् छन्दस्क

नि होता होतृषदने विदानस्त्वेषो दीदिवाँ असदत्सुदक्षः।
अदब्धव्रतप्रमतिर्वसिष्ठः सहस्रंभरः शुचिजिह्वो अग्निः।। (ऋ.२.९.१)

की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से अग्नि तत्त्व तीव्र तेजस्वी एवं बलवान् होता है। इसके अन्य प्रभाव से विद्युदग्नि, जो सबका ग्रहण व विसर्जन करने वाला होता है, विभिन्न प्राणापानादि रूपी प्राथमिक होताओं के अन्दर स्थित होकर किंवा उनको आधार बनाकर बार-२ दीप्त होता हुआ अति बलसम्पन्न तथा किसी से नहीं दबने वाला, सतत क्रिया व दीप्ति से युक्त, सबको बसाने वाला, तेजस्वी ज्वालाओं को उत्पन्न करता हुआ अनेकों पदार्थों का धारण पोषण करता हुआ निरन्तर इस ब्रह्माण्ड में वर्तमान रहता है।

ऐसा विद्युदग्नि सबका संयोजक व विभाजक बन कर पूर्वोक्त उत्तरवेदि नामक पदार्थों के केन्द्र में स्थित होता है और यहीं प्राणापानादि सूक्ष्म प्राणों का आवास होता है। यहाँ 'केन्द्र' से तात्पर्य एकदम मध्य में नहीं बल्कि **'उत्तरवेदि'** शब्द से यह संकेत मिलता है कि किसी भी कण में विद्युत् का विशेष प्रभावी क्षेत्र उस कण के केन्द्र की कुछ उत्तरी दिशा में होता है, जैसा कि हम खण्ड **१.७** में नेब्यूला में देख चुके हैं। उसी से यहाँ कणों की भी समानता है। उन सूक्ष्म प्राणों से ही विद्युत् तत्त्व तेजस्वी व बलवान् होता व उन्हीं से जन्मता, उन्हीं में सदा निवास करता है। इसके साथ ही वे प्राण तत्त्व भी विद्युत् के अन्दर कारणरूप में सदैव वास करते हैं।।

इस छन्दरश्मि का द्वितीय पाद **'त्वेषो दीदिवाँ असदत् सुदक्षः'** के प्रभाव से वह स्वप्रकाशमान् दीप्तिमान् विद्युदग्नि ऊष्मा व प्रकाश से युक्त हुआ पूर्वोक्त उत्तरवेदि संज्ञक विभिन्न कणों, छन्द रश्मियों आदि के साथ संगत रहकर उन्हें बलवान्, ऊर्जावान् व तेजस्वी बनाता है। इससे विभिन्न विद्युत् तरंगें विभिन्न कणों के साथ संगत होती रहती हैं, जिससे वे कण तीव्र क्रियाशील होने लगते हैं।।

इसके तृतीय पाद **'अदब्धव्रत प्रमतिर्वसिष्ठः'** में अग्नि को ही वसिष्ठ कहा है। इसका तात्पर्य है कि यह विद्युत् ही सब कणों वा लोकों को बसाने वालों में श्रेष्ठ है। इसके विना सभी का अस्तित्त्व संकट में पड़ जायेगा। हर गति व स्थिति में यह एक प्रधान हेतु है। यह अतीव शक्तिशाली, व्रतरूप अर्थात् सबको आवृत करने वाला व प्रकृष्ट दीप्तियुक्त होती है।।

इसके चतुर्थ वा अन्तिम पाद **'सहस्रंभरः शुचिजिह्वो अग्निः'** के प्रभाव से यह विद्युदग्नि अपने महान् पराक्रम से असंख्य परमाणुओं-अणुओं व तरंगों का धारण व पोषण करता है। धारण, आकर्षण

व प्रतिकर्षण बल से युक्त होकर ही यह सबका धारण व पोषण करने में समर्थ होता है। यह विद्युदग्नि एक होकर भी विविध प्रकार से विचरता हुआ विविध रूपों में प्रकट होकर सहस्रंभर रूप को प्राप्त करता है।।

जब ब्रह्माण्ड में इस प्रकार की स्थिति बनती है अर्थात् विविध रूपों वाले विद्युदग्नि का प्राकट्य होता है, तब सब ओर असंख्य परमाणु और उनकी विविध प्रक्रियाएं समृद्ध होती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस छन्द रश्मि के प्रभाव से ऊर्जा की और भी वृद्धि होती है। विद्युदग्नि अपने कारणरूप प्राणादि पदार्थों से आच्छादित और सदैव उन्हीं में विद्यमान भी रहता है। यह विद्युत् उस समय ब्रह्माण्ड में बार-२ दीप्त होता और तेजस्वी ज्वालाओं को उत्पन्न करता रहता है। **यह विद्युत् प्राणों में ही सदा जन्मती और उन्हीं में सदैव रमण करती है और वे प्राणापानादि तत्त्व भी अपने कार्यरूप विद्युत् तत्त्व में अविनाशी रूप से सदैव व्याप्त रहते हैं।** विद्युत् के कारण ही विभिन्न कण बलवान् व क्रियावान् रहते हैं। इसी के कारण सभी मूर्त्त पदार्थ अपनी गति, स्थिति और आकार को प्राप्त करते हैं। यह विभिन्न कणों के केन्द्र में रहता हुआ भी उनको बाहर से भी आवृत्त किये रहता है। यह अपने धारण, आकर्षण, प्रतिकर्षण और छेदन आदि बलों से युक्त होकर यह अग्नि विविध रूपों में विविध प्रकार से विचरता हुआ समस्त ब्रह्माण्ड का पोषण और धारण करता है।।

१०. 'त्वं दूतस्त्वमु नः परस्पा इत्युत्तमया परिदधाति।।
'त्वं वस्य आ वृषभ प्रणेता। अग्ने तोकस्य नस्तने तनूनामप्रयुच्छन्दीद्यद्बोधि गोपाः' इति।।
अग्निर्वै देवानां गोपा अग्निमेव तत्सर्वतो गोप्तारं परिदत्त आत्मने च यजमानाय च यत्रैवं विद्वानेतया परिदधात्यथो संवत्सरीणामेवैतां स्वस्तिं कुरुते।।

व्याख्यानम्- उपर्युक्त सातों छन्द रश्मियों के पश्चात् गृत्समद ऋषि अर्थात् प्राणापान के संयोग से अग्निदेवताक और पंक्तिश्छन्दस्क

त्वं दूतस्त्वमु नः परस्पास्त्वं वस्य आ वृषभ प्रणेता।
अग्ने तोकस्य नस्तने तनूनामप्रयुच्छन्दीद्यद्बोधि गोपाः।। (ऋ.२.६.२)

की उत्पत्ति होती है। इसके छान्दस और दैवत प्रभाव से विद्युदग्नि अतीव विस्तृत क्षेत्र में फैल जाता है। यह छन्द रश्मि पूर्वोक्त सातों रश्मियों को अपने चारों ओर धारण कर लेती है। इसके प्रथम पाद के प्रभाव से यह विद्युदग्नि विभिन्न परमाणुओं को देश-देशान्तर तक ले जाता हुआ, उनकी विभिन्न अप्रकाशित हिंसक रश्मियों से रक्षा करता है तथा उनको विभिन्न क्रियाओं में पार लगाता है। इस रश्मि के साथ-साथ पूर्वोक्त सातों छन्द रश्मियाँ इसकी परिधि में रहकर अपने पूर्वोक्त कर्मों को सम्पन्न करती रहती हैं।।

इसके शेष तीनों पादों के प्रभाव से बलवान् विद्युदग्नि अपने से उत्पन्न विभिन्न अणुओं के अन्दर व्याप्त होकर उन्हें सब ओर से प्रेरित करता है। वह विद्युदग्नि ही विभिन्न अणुओं को आकार प्रदान करता और वही उनको सर्वत्र फैलाता है। वही उन अणुओं से उत्सर्जित होने वाली विभिन्न रश्मियों की रक्षा करते हुए उन्हें प्रकाशित और सक्रिय करता है। इस कारण वे रश्मियाँ अविराम गति से सभी अणुओं को सक्रिय और सतेज बनाये रखती हैं।।

यह विद्युदग्नि ही सभी प्रकाशित पदार्थों की रश्मियों की रक्षा करता है और यह स्वयं प्राणापानादि देवों की रश्मियों वा तेज के द्वारा रक्षित होता है। यह विद्युदग्नि ही सब ओर से सबकी रक्षा करने वाला होता है। यह अपने लिए और विभिन्न संयोज्य कणों के लिए सम्यक् मार्ग व क्रियाओं से युक्त

होता है। जब इस सृष्टि में इस विद्युदग्नि को सब ओर से उपर्युक्त आठों छन्द रश्मियों के द्वारा अच्छी प्रकार धारण कर लिया जाता है, तब सृष्टि प्रक्रिया में विविध क्रियाएं अच्छी प्रकार सम्पन्न होती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- यह छन्द रश्मि उत्पन्न होकर पूर्वोक्त सात छन्द रश्मियों को अपने चारों ओर धारण कर लेती है। इसके प्रभाव से विद्युत् का विस्तार बहुत बढ़ जाता है, जिससे विभिन्न प्रकार के कण देश-देशान्तर में निर्बाध रूप से गमनागमन करते हैं। यह विद्युत् ही सबको प्रेरित करती हुई सब अणुओं को एक विशेष आकार प्रदान करती है और यही **विद्युत् सभी अणुओं में से एक विशेष प्रकार की रश्मियों को उत्सर्जित करके उन्हें सक्रिय और प्रकाशित बनाये रखती है। यही उन रश्मियों की रक्षा करती और सभी कणों को उचित मार्ग और गति प्रदान करती है।।**

११. ता एता अष्टावन्वाह रूपसमृद्धाः, एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृगभिवदति।।
तासां त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमां, ता द्वादश संपद्यन्ते, द्वादश वै मासाः संवत्सरः, संवत्सरः प्रजापतिः, प्रजापत्यायतनाभिरेवाऽऽभी राध्नोति य एवं वेद; त्रिः प्रथमां त्रिरुत्तमामन्वाह यज्ञस्यैव तद्बर्सौ नह्यति, स्थेम्ने बलायाविस्रंसाय।।२।।

व्याख्यानम्- इस प्रकार ये आठों छन्द रश्मियाँ रूपसमृद्ध और यज्ञसमृद्ध हैं, जिसका आशय पूर्ववत् समझना चाहिये।।

उपर्युक्त आठ छन्द रश्मियों में से प्रथम और अन्तिम की तीन-२ बार आवृत्ति होती है अर्थात् इनकी संख्या अन्यों की अपेक्षा तीन-२ गुनी हो जाती है और कुल मिलाकर ये १२ छन्द रश्मियाँ हो जाती हैं। किसी नेब्यूला आदि में ऊष्मा को उत्पन्न करने वाली संधानकारिणी रश्मियाँ भी बारह प्रकार की होती हैं और इन १२ प्रकार की रश्मियों से युक्त नेब्यूला ही विभिन्न प्रकार के पदार्थों का निर्माण करते हैं। जब पूर्वोक्त प्रकार की विद्युदग्नि की वर्धक वा उत्पादक १२ छन्द रश्मियाँ अवकाश रूप आकाश में पूर्ण उत्कर्ष के साथ फैल जाती हैं, तब नेब्यूलाओं का भी निर्माण प्रारम्भ होने लगता है। पहली और अन्तिम छन्द रश्मि की तीन-तीन बार आवृत्ति अन्य ६ रश्मियों की विभिन्न क्रियाओं को परस्पर जोड़े रखती है, जिससे सम्पूर्ण अवकाश रूप आकाश में अग्नि की उत्पत्ति, समृद्धि और विस्तार तथा विभिन्न नये-२ कणों के निर्माण की प्रक्रिया बन्द वा शिथिल नहीं हो पाती, बल्कि स्थिरता और शक्ति के साथ चलती रहती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- पूर्वोक्त **आठों छन्द रश्मियाँ नेब्यूलाओं की उत्पत्ति का मूल कारण बनती हैं।** इनकी उत्पत्ति से पहले इस सृष्टि में प्रभावी विद्युत् व ऊष्मा, प्रकाश आदि विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की उत्पत्ति नहीं हो पाती। संभव है अत्यल्प मात्रा में कहीं उत्पत्ति होती हो। इसके पूर्व समस्त ब्रह्माण्ड में अमूर्त द्रव्य जैसे- सोम, प्राणापानादि प्राथमिक प्राण, मन, वाक् आदि तत्त्व ही व्याप्त होते हैं।

इस अध्याय में वर्णित प्रक्रिया के अनुसार पूर्वोक्त आठ रश्मियाँ ऊर्जा की उत्पत्ति का मुख्य कारण बनती हैं। इनमें से प्रथम और अन्तिम छन्द रश्मि की तीन-तीन आवृत्ति अन्य रश्मियों की एक आवृत्ति के साथ संयुक्त होकर सम्पूर्ण प्रक्रिया को बांधे रखती है, **विद्युद् आवेश की रहस्यमय उत्पत्ति भी इसी काल में प्राणापानादि से होती है। जिन कणों में सोम अर्थात् सूक्ष्म मरुद् रश्मियों की प्रधानता होती है, वे कण ऋणावेशित होते हैं और जिन कणों में प्राणापानादि की प्रधानता होती है, वे कण धनावेशित होते हैं। यद्यपि दोनों प्रकार के पदार्थ दोनों ही प्रकार के कणों में विद्यमान होते हैं, परन्तु उनमें भेद प्रधानता के आधार पर होता है।** वर्त्तमान विज्ञान विद्युदावेश एवं विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के साथ ही मूलकण माने जाने वाले कणों की उत्पत्ति के इस रहस्य से कदाचित् अवगत नहीं है।।

इति ५.२ समाप्तः

꧁ अथ ५.३ प्रारभ्यते ꧂

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. हविर्धानाभ्यां प्रोह्यमाणाभ्यामनुब्रूहीत्याहाध्वर्युः।।
'युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिरित्यन्वाह; ब्रह्मणा वा एते देवा अयुञ्जत यद्धविर्धाने ब्रह्मणैवैने एतद्युङ्क्ते न वै ब्रह्मण्वद्रिष्यति।।

{हविर्धाने = अथ यदस्मिन्त्सोमो भवति हविर्वै देवानां सोमस्तस्माद्धविर्धानं नाम (श.३.५.३.२), द्यावापृथिवी वै देवानां हविर्धाने आस्ताम् (ऐ.१.२९), वाक् च वै मनश्च हविर्धाने (कौ.ब्रा.९.३)। विवस्वत् = विशेषेण वस्ते आच्छादयति-वि+वस्+क्विप्+मतुप् इति आप्टे। श्लोकः = वाङ्नाम (निघं.१.११), श्लोकः श्रृणोतेः (नि.९.९) (श्लोकृ संघाते धातोर्घञ्)। सूरिः = स्तोतृनाम (निघं.३.१६), सूरिः प्रज्ञाता (नि.१०.२७)। आदित्यः = सा या सा वागसौ स आदित्यः (श.१०.५.१.४), असावादित्यः सुब्रह्म (ष.१.१)}

व्याख्यानम्- जब सोम पदार्थ खण्ड १.२७ में वर्णितानुसार मन वा सूत्रात्मा वायु से प्राणादि पदार्थों की ओर प्रवाहित होता है, उस समय उसके वहन कर्त्ता दो पदार्थ होते हैं, जिनमें प्रथम पदार्थ वह वाक् तत्त्व है, जो सोम के साथ वापिस प्राणापानादि पदार्थों की ओर लौटकर आता है और दूसरा पदार्थ मनस् तत्त्व स्वयं होता है, जो अत्यन्त व्यापक क्षेत्र में विद्यमान होता है। ये दोनों पदार्थ हविर्धान कहलाते हैं, हमारे मत में मन एवं वाक् तत्त्व को इस प्रसंग में हविर्धान के रूप में ग्रहण करना उचित एवं पर्याप्त नहीं है, क्योंकि ये दोनों पदार्थ सर्वत्र ही विद्यमान रहते हैं। ये न केवल सोम पदार्थ को धारण करने वाले होते हैं अपितु सभी प्रकार की प्राथमिक प्राण रश्मियों एवं सूत्रात्मा वायु आदि को भी धारण करने वाले होते हैं। इस कारण सोम पदार्थ को लाने में इनकी ही विशेष भूमिका मानना उचित प्रतीत नहीं होता। अतः यहाँ द्यावापृथिवी को {द्यावापृथिवी = द्यावापृथिवी प्राणोदानौ (श.१४.२.२.३६)} अर्थात् प्राण और उदान रश्मियों को हविर्धान के रूप में ग्रहण करना चाहिये। इससे यहाँ यह भी संकेत मिलता है कि सोम तत्त्व को आकर्षित करने के लिए प्राथमिक प्राण रश्मियां पूर्ववर्णित वाक् तत्त्व के साथ-२ अपनी अंगभूत प्राण और उदान रश्मियों को भी सोम तत्त्व को आकर्षित करने के लिए प्रेषित वा प्रेरित करती हैं। अतः ये प्राण और उदान तत्त्व हविर्धान कहलाते हैं। क्योंकि सोम रूपी हवि को ये दोनों ही अपने अन्दर धारण करके प्राणादि पदार्थों की ओर और बाद में उत्तरवेदि नामक पदार्थों की ओर लेकर आते हैं। उस समय मनरूपी अध्वर्यु की प्रेरणा से निम्न छन्द रश्मि उत्पन्न होती है।।

विवस्वानादित्य ऋषि अर्थात् वाक् तत्त्व से हविर्धानदेवताक एवं पादनिचृत्त्रिष्टुप्-छन्दस्क

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोक एतु पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः।। (ऋ.१०.१३.१)

की उत्पत्ति होती है। इसके छान्दस व दैवत प्रभाव से प्राण और उदान तत्त्व सोम तत्त्व को तेज और बल से युक्त करते हैं। इसके अन्य प्रभाव से हविर्धान संज्ञक वे प्राण एवं उदान दोनों ही पूर्वोत्पन्न मन एवं वाक् तत्त्व के साथ संयुक्त रहते हैं। इसके साथ ही ये दोनों ही प्राण रश्मियां चेतन ईश्वर तत्त्व द्वारा मन एवं वाक् तत्त्व से ही निर्मित होती हैं। इसके साथ ही **वे प्राणोदान रश्मियां परस्पर संयुक्त होकर विद्युद् रूपी ब्रह्म को भी उत्पन्न करती हैं।** वह विद्युत् तेजस्विनी होती हुई उचित एवं वक्रीय मार्गों के द्वारा नाना प्रकार की छन्द रश्मियों में व्याप्त होने लगती है। वह विद्युत् अविनाशी मन एवं वाक्

तत्त्व से उत्पन्न सभी पदार्थों में व्याप्त होकर उन्हें प्रकाशित धामों का रूप प्रदान करती है। इसी छन्द रश्मि के द्वारा सभी देव परमाणु उस विद्युत् के साथ व्याप्त होते हैं और ऐसा होने के लिए वे हविर्धान रूपी प्राणोदान वा प्राणापान रश्मियां ही मुख्य भूमिका निभाती हैं। जो परमाणु इस विद्युत् किंवा प्राणापान वा प्राणोदान रश्मियों से युक्त होते हैं, वे अपने गुणधर्मों को संरक्षित रखते हुए नाना प्रकार की क्रियाओं को करने में समर्थ होते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- विद्युत् चुम्बकीय तरंगें एवं विद्युदावेश की उत्पत्ति के पूर्व सोम पदार्थ प्राण और उदान तत्त्वों पर सवार होकर प्राणापानादि के क्षेत्र में प्रवाहित होता है। प्राणोदान रश्मियाँ मन व वाक् तत्त्व से निर्मित व उन्हीं में आश्रित होती हैं। **मन और वाक् तत्त्व उत्पन्न तत्त्वों में सबसे सूक्ष्म तत्त्व हैं, जिनका निर्माण चेतन तत्त्व परमात्मा द्वारा सबसे सूक्ष्म अव्यक्त जड़ पदार्थ प्रकृति से होता है।** ये मन और वाक् तत्त्व चेतन तत्त्व परमात्मा के साथ साक्षात् संयुक्त होकर उसी की प्रेरणा से कार्य करते हैं और वे दोनों तत्त्व विभिन्न प्राणों एवं विद्युत् तत्त्व से संयुक्त होकर उन्हें प्रेरित करते हैं। इन्हीं के द्वारा विद्युत् तत्त्व सभी मूर्त पदार्थों में व्याप्त होकर अनेकविध क्रियाशील रहता है।।

२. प्रेतां यज्ञस्य शंभुवेति तृचं द्यावापृथिवीयमन्वाह।। तदाहुर्यद्धविर्धानाभ्यां प्रोह्यमाणाभ्यामनुवाचाऽऽहाथ कस्मात्तृचं द्यावापृथिवीयमन्वा-हेति, द्यावापृथिवी वै देवानां हविर्धाने आस्तां, ते उ एवाद्यापि हविर्धाने, ते हीदमन्तरेण सर्वं हविर्यदिदं किंच तस्मात्तृचं द्यावापृथिवीयमन्वाह।।

{सिध्रं = साधनम् (नि.३.२८), सेधति गच्छति, सिध्यति वा स सिध्रः (उ.को.२.१३), (सिधु गत्याम्, सिधु संराद्धौ = सिद्ध होना, जीत होना, पूर्ण होना - संस्कृत धातुकोष पं. युधिष्ठिर मीमांसक)}

व्याख्यानम्- तदुपरान्त **गृत्समद ऋषि** अर्थात् प्राणापान के संयोग से द्यावापृथिव्यौ हविर्धाने वा देवताक एवं गायत्री छन्दस्क

प्रेतां यज्ञस्य शंभुवा युवामिदा वृणीमहे। अग्निं च हव्यवाहनम्।।१९।।
द्यावा नः पृथिवी इमं सिध्रमद्य दिविस्पृशम्। यज्ञं देवेषु यच्छताम्।।२०।।
आ वामुपस्थमद्रुहा देवाः सीदन्तु यज्ञियाः। इहाद्य सोमपीतये।।२१।। (ऋ.२.४१.१९-२१)

रश्मियों की उत्पत्ति होती है। इनके दैवत व छान्दस प्रभाव से प्राण और उदान वा प्राणापान तत्त्व प्रकाशित व अप्रकाशित कणों किंवा विद्युत् और आकाश तत्त्व को तेजस्वी बनाते हैं। इनके अन्य प्रभाव निम्नानुसार हैं-

(१) सबको नियन्त्रित रखने वाले वे प्राण और उदान तत्त्व किंवा उपर्युक्त सभी युग्म संगतीकरण की प्रक्रियाओं को प्राप्त होकर विभिन्न पदार्थों के वाहक विद्युदग्नि को उत्पन्न करते हैं।

(२) उपर्युक्त प्राणापान, प्राणोदान आदि आकाश तत्त्व को स्पर्श करने वाली गतिशील विद्युत् को संगतीकरण की प्रक्रिया से अच्छी प्रकार संगत करते हैं और फिर यह प्रक्रिया सभी दिव्य पदार्थों में व्याप्त हो जाती है।

(३) प्राणापानादि विभिन्न पदार्थ सोम पदार्थों को अवशोषित करने के लिए परस्पर प्रतिकर्षण बल से अपेक्षाकृत रहित होकर मन और वाक् तत्त्व से निकटता से संगत होते हैं।।

यहाँ यह प्रश्न उठाया गया है कि जब सोम तत्त्व अपने आधारभूत प्राण और उदान के द्वारा प्राणापानादि पदार्थों की ओर लाया जा रहा था, उस समय पूर्वोक्त पादनिचृत्त्रिष्टुप् छन्दस्क रश्मि की उत्पत्ति हुई थी, अब इन तीन ऋचाओं की उत्पत्ति क्यों होती है? इसका उत्तर देते हुए **महर्षि ऐतरेय महीदास** कहते हैं कि यद्यपि मन और वाक् तत्त्व ही सबसे पहले हविर्धान होते हैं अर्थात् वे ही सर्वप्रथम सोमरूप हवि को धारण व वहन करने वाले होते हैं, परन्तु उसके पश्चात् द्यावापृथिवी अर्थात् प्राणापान, प्राणोदान उस सोम को धारण कर लेते हैं। इसके बाद वह सोम तत्त्व विद्युत् और आकाश तत्त्व के द्वारा धारण किया जाता है। इस प्रकार ये चारों युग्म हविर्धान कहलाते हैं। **आज भी इस ब्रह्माण्ड में जो भी संयोग-वियोग आदि की क्रियायें हो रही हैं, वे सब स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर क्रमशः आकाश एवं विद्युत्, प्राणोदान, प्राणापान एवं मन और वाक् के युग्मों में ही सम्पन्न हो रही हैं।** मानव द्वारा जानने योग्य पदार्थों में सूक्ष्मतम पदार्थ प्रकाशित व अप्रकाशित कणों के बीच ही ये क्रियायें सम्पन्न हो रही हैं किंवा विशाल प्रकाशित व अप्रकाशित लोकों एवं अन्तरिक्ष में ही सभी क्रियायें हो रही है और इन सभी को द्यावापृथिवी कहे जाने से द्यावापृथिवीदेवताक छन्द रश्मियों की उत्पत्ति समीचीन है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इन छन्द रश्मियों से प्राणापान, प्राणोदान, विद्युत् एवं आकाश सभी तेजस्वी होते हैं। विभिन्न विद्युदावेशित कणों की उत्पत्ति होती है। इस ब्रह्माण्ड में जो भी संयोग-वियोग की क्रियायें होती हैं, वे स्थूल स्तर पर प्रकाशित व अप्रकाशित लोकों और अन्तरिक्ष में सम्पन्न होती हैं। इससे सूक्ष्म स्तर पर सभी क्रियायें आकाश तत्त्व और विद्युदावेशित सूक्ष्मतम कणों के स्तर पर होती हैं। इसके पश्चात् कोई भी क्रिया और भी सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतर स्तर पर क्रमशः प्राणोदान, प्राणापान और मन व वाक् के स्तर पर सम्पन्न होती है। **मन और वाक् से सूक्ष्म किसी भी विशिष्ट और क्रियाशील जड़ पदार्थ की कल्पना संभव नहीं है।।**

३. 'यमे इव यतमाने यदैतमिति ; यमे इव ह्येते यतमाने प्रबाहुगितः।।
'प्र वां भरन् मानुषा देवयन्तः' इति देवयन्तो ह्येने मानुषाः प्रभरन्ति'।।
'आ सीदतं स्वमु लोकं विदाने स्वासस्थे भवतमिन्दवे नः' इति सोमो वै राजेन्दुः सोमायैवैने एतद् राज्ञ आसदेऽचीक्लृपत्।।

{इन्दुः = सोमः (म.द.ऋ.भा.६.४४.२१), उदकनाम (निघं.१.१२), यज्ञनाम (निघं.३.१७), इन्दुरिन्धेरुनत्तेर्वा (नि.१०.४१)}

व्याख्यानम्- तदुपरान्त विवस्वानादित्य ऋषि प्राण से हविर्धाने-देवताक और निचृत्त्रिष्टुप् छन्दस्क

यमेइ॑व यत॑माने यदैतं॒ प्र वां॑ भरन्मानु॑षा देवयन्तः॑।
आ सी॑दतं॒ स्वमु॑ लो॒कं विदा॑ने स्वास॒स्थे भ॑वतमिन्द॑वे नः।। (ऋ.१०.१३.२)

की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से बलों की तीक्ष्णता और तेजस्विता भेदक शक्तिसम्पन्न होती है। इसके अन्य प्रभाव से सबका नियमन करने वाले मन और वाक् तत्त्व, प्राणापान आदि पदार्थ सभी प्रक्रियाओं को नियन्त्रित करते हुए विभिन्न पदार्थों का संगतीकरण कराते हैं। प्राक् वर्णित अल्प आयु और अल्प प्रकाश वाले मनुष्य नामक कण इन दोनों से पुष्ट होकर देदीप्यमान होने लगते हैं और वे प्राणापानादि पदार्थ विभिन्न कणों में व्याप्त होकर सोम तत्त्व से युक्त होते हैं।

ये सबके नियामक {प्रबाहुक् = परस्पर-सादृश्येन इति आचार्य सायणः} मन और वाक् के समान प्राणापान, प्राणोदान एवं विद्युत् और आकाश तत्त्व सभी मिलकर परस्पर समान भाव से सर्वत्र गति करते और कराते हैं।।

इस रश्मि के द्वितीय पाद के प्रभाव से अल्पायु और अल्प प्रकाश वाले मनुष्य नामक कण प्राणापान वा प्राणोदानादि नियामक युग्मों से जब संयुक्त होते हैं, तब उनमें दिव्य गुण प्रकट होने लगते हैं अर्थात् वे कण अधिक प्रकाशशील, गति-क्रियाशील हो उठते हैं। इस कारण उनमें संयोगादि प्रक्रियाएं तीव्र होने लगती हैं।।

इस ऋचा के उत्तरार्द्ध के प्रभाव से प्राणापानादि पदार्थ की ओर आता हुआ सोम तत्त्व जब देदीप्यमान हो उठता है, तब उसको प्राप्त करने के लिए प्राणापानादि प्राथमिक प्राण विभिन्न लोकों अर्थात् **'भूः', 'भुवः', 'स्वः'** आदि वाग् रश्मियों के साथ संगत होकर समर्थ हो जाते हैं। इसके पश्चात् उनकी सोम तत्त्व से संगति होती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस रश्मि के प्रभाव से विभिन्न कणों की तेजस्विता एवं भेदन क्षमता बढ़ती है। विभिन्न पदार्थों के बीच क्रियाएं-प्रतिक्रियाएं तीव्र होती हैं। अल्पायु और अल्प प्रकाश वाले विभिन्न कण अधिक देदीप्यमान एवं क्रियाशील होने लगते हैं। प्राणापानादि पदार्थों एवं सोम तत्त्व के मध्य संगतीकरण की प्रक्रिया तीव्र होती है। विभिन्न आवेशित कणों के मध्य सक्रियता बढ़ने से वे तीव्रता से परस्पर संयुक्त होकर विभिन्न कणों का निर्माण तेजी से करने लगते हैं।।

४. अधि द्वयोरदधा उक्थ्यं वच इति।।
द्वयोर्ह्येतत्तृतीयं छदिरधि निधीयते।।
'उक्थ्यं वच' इति यदाह यज्ञियं वै कर्मोक्थ्यं वचो यज्ञमेवैतेन समर्धयति।।
यतस्रुचा मिथुना या सपर्यतः। असंयत्तो व्रते ते क्षेति पुष्यतीति।।
यदेवादः पूर्वं यत्तवत्पदमाह तदेवैतेन शान्त्या शमयति।।
भद्रा शक्तिर्यजमानाय सुन्वत इत्याशिषमाशास्ते।।

{यतस्रुक् = ऋत्विङ्नाम (निघं.३.१८)। छदिः = गृहनाम (निघं.३.४), अन्तरिक्षं वै छदिश्छन्दः (श.८.५.२.६)। उक्थ्यम् = वागुक्थम् (ष.१.५), अन्नमुक्थानि (कौ.ब्रा.११.८), पशव उक्थानि (ऐ.४.१)}

व्याख्यानम्- तदुपरान्त **राहूगण गोतम ऋषिः** अर्थात् धनञ्जय प्राण से **इन्द्रदेवताक** तथा निचृज्जगती छन्दस्क रश्मि

अधि द्वयोरदधा उक्थ्यं१ वचो यतस्रुचा मिथुना या सपर्यतः।
असंयत्तो व्रते ते क्षेति पुष्यति भद्रा शक्तिर्यजमानाय सुन्वते।। (ऋ.१.८३.३)

की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से वैद्युत वायु अति विस्तृत हो जाता है तथा विभिन्न सूक्ष्म पदार्थों के उत्सर्जन व अवशोषण की प्रक्रिया तीव्र होती है। इसके अन्य प्रभाव को आगे क्रमशः स्पष्ट करते हैं।।

"अधि द्वयोरदधाः" इसके प्रभाव से प्राणापान, प्राणोदान, विद्युत् और आकाश में स्थित सोम तत्त्व इन प्राणापान और प्राणोदान के आवरणों के साथ-२ एक तीसरे आवरण से भी युक्त हो जाता है। हमारी दृष्टि में यह तीसरा आवरण सूत्रात्मा वायु का ही हो सकता है। यह तीसरा आवरण न केवल सोम तत्त्व अपितु प्रत्येक पदार्थ का आवरण बन जाता है। यह आवरण रूप सूत्रात्मा वायु ही सभी पदार्थों को परस्पर सूत्रवत् बांधे व सुरक्षित रखता है।।

"उक्थ्यं वच" के प्रभाव से सूक्ष्म वाक् तत्त्व अर्थात् **'भूः', 'भुवः', 'स्वः'** दैवी गायत्री छन्द रश्मियां विभिन्न उक्थों अर्थात् मरुद् रश्मियों, छन्द रश्मियों, संयोज्य कणों एवं प्राणापानादि पदार्थों में प्रविष्ट हो जाती हैं। यहाँ **महर्षि ऐतरेय** लिखते हैं कि इन पदार्थों में प्रविष्ट सूक्ष्म वाग् रश्मियाँ विभिन्न कणों में संगतीकरण की प्रक्रिया उत्पन्न वा तीव्र करती हैं। इस कारण इन दो पदों के प्रभाव से विभिन्न कणों के बीच संगतीकरण की प्रक्रिया समृद्ध होती है।।

इस रश्मि के द्वितीय एवं तृतीय पाद के प्रभाव से **{सपर्यति = परिचरणकर्मा (निघं.३.५)। स्रुक् = वाग्वै स्रुक् (श.६.३.१.८), गौर्वै स्रुचः (तै.ब्रा.३.३.५.४), यजमानः स्रुचः (तै.ब्रा.३.३.६.३)। योषा हि वाक् (श.१.४.४.४), वृषा हि मनः (श.१.४.४.३), योषा वै स्रुग्वृषा स्रुवः (श.१.३.१.६), (स्रुवः = प्राणः स्रुवः - श.६.३.१.८)। संयत्तः = संनद्धः इति आप्टे}** मन और वाक् एवं प्राण तत्त्व और वाक् क्रमशः वृषा और योषा के रूप में परस्पर सदैव संयुक्त रहते हैं और वे दोनों नियन्त्रित सूक्ष्म रश्मियों के द्वारा परस्पर एक-दूसरे का सेवन करते और एक-दूसरे में सब ओर से व्याप्त रहते हैं। इन दोनों युग्मों के कर्म के द्वारा इन्द्र अर्थात् विद्युत् युक्त वायु की तीव्रता कुछ शान्त होकर विभिन्न सृजन प्रक्रियाओं का पोषण होता है और वे मिथुन हर प्रकार क्रियाओं में सतत निवास करते हैं।।

तृतीय पाद में जो व्रत पद से पूर्व **'असंयत्तः'** पद है, उसका **'यत्तः'** शब्द से युक्त **'संयत्तः'** पद तीक्ष्णता का वाचक है, इस कारण **'असंयत्तः'** पद शाम्यता पद का वाचक होगा। इस कारण **'असंयत्तः'** पद के प्रभाव से ही इन्द्र तत्त्व की तीक्ष्णता शान्त होती है। इसके पश्चात् **'पुष्यति'** पद के प्रभाव से ही विभिन्न सृजन क्रियाएं फूलती-फलती हैं।।

चतुर्थ पाद के प्रभाव से सोम तत्त्व से संगत होने वाले विभिन्न प्राणादि पदार्थ अथवा विभिन्न प्रकार के कण परस्पर एक-दूसरे से संयुक्त होने के लिये उचित शक्तियाँ प्राप्त करते हैं अर्थात् विभिन्न प्रकार के कणों की शक्ति न अति तीव्र, न अति मन्द होती है, जिसके कारण सृजन प्रक्रियाएं सम्यग्रूपेण चलती रहती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस छन्द रश्मि के प्रभाव से विद्युत् की तीव्रता अति विस्तृत हो जाती है। सभी प्रकार के कण वा तरंगें मनोवाक्, प्राणापानादि के अतिरिक्त सूत्रात्मा नामक वायु के आवरण से आच्छादित हो जाती हैं। विभिन्न संयोग-वियोग की प्रक्रियाएं तीव्र होती हैं। मनोवाक् एवं प्राण और वाक् दोनों इस प्रकार एक-दूसरे से संगत होते हैं, मानो एक-दूसरे में घुल-मिल जाते हैं। इसके कारण वे विद्युत् की तीव्रता को संतुलित करके विभिन्न क्रियाओं को सम्पन्न करने में सहायक होते हैं। ध्यातव्य है कि जब किन्हीं कणों वा तरंगों की ऊर्जा अत्यधिक होती है, तब उनसे परस्पर किसी अभिक्रिया का होना अति दुष्कर होता है और यदि उनकी ऊर्जा अत्यन्त कम होती है, तब भी किसी अभिक्रिया का होना दुष्कर होता है। इस कारण विभिन्न स्तर की अभिक्रियाओं के लिए संतुलित बल और गति प्राप्त कराने हेतु यह छन्द रश्मि विशेष भूमिका निभाती है।।

५. 'विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते कविरिति' विश्वरूपामन्वाह।।
स रराट्यामीक्षमाणोऽनुब्रूयात्।।
विश्वमिव हि रूपं रराट्याः शुक्लमिव च कृष्णमिव च।।
विश्वं रूपमवरुन्ध आत्मने च यजमानाय च यत्रैवं विद्वानेतां रराट्यामीक्षमाणोऽन्वाह।।

{श्यावाः = श्यायन्ते प्राप्नुवन्ति ते (किरणाः) (म.द.ऋ.भा.१.३५.५), सवितुर्वेगवन्तः किरणाः (म.द.ऋ.भा.६.४८.६)। नाक आदित्यो भवति नेता रसानां नेता भासां ज्योतिषां प्रणयः (नि.२.१४)। रराटी = (रराटम् = परिभाषितं जगत् - म.द.य.भा.५.२१)}

व्याख्यानम्- तदुपरान्त **श्यावाश्व आत्रेय ऋषि** अर्थात् सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न व्यापक वेगवान् एक प्राण विशेष से सवितादेवताक एवं विराड् जगती छन्दस्क

विश्वा॑ रू॒पाणि॒ प्रति॑ मुञ्चते क॒विः प्रासा॑वीद्भ॒द्रं द्वि॒पदे॒ चतु॑ष्पदे।
वि नाक॑मख्यत्सवि॒ता वरे॑ण्योऽ नु॑ प्र॒याण॑मु॒षसो॒ वि रा॑जति।। (ऋ.५.८१.२)

की उत्पत्ति होती है। इसके छान्दस और दैवत प्रभाव से उत्पादन धर्मयुक्त विद्युत् दूर-दूर तक फैल जाती है। इसके अन्य प्रभाव से अतीव प्रकाशयुक्त श्रेष्ठ विद्युत् द्विपद अर्थात् दो प्रकार की गतियों से युक्त मनुष्य नामक कण, अन्यत्र सूर्यादि लोक एवं चतुष्पद अर्थात् विभिन्न प्रकार के मरुत् एवं छन्द रश्मियों के कार्य को सहज बनाती है तथा सम्पूर्ण सूर्यादि लोकों से प्रकाश का उत्सर्जन करके उन्हें प्रकाशित करती है, परन्तु इस प्रकरण में सूर्यादि का निर्माण न हो पाने से **'नाकम्'** का अर्थ **प्रकाश-किरणें** ग्रहण करना चाहिये। इस स्थिति में विद्युत् प्रकाश को विभिन्न रूप प्रदान करती है और ऊष्मा और प्रकाश को सहगामी बनाकर सुशोभित करती है। इस कारण यह छन्द रश्मि **'विश्वरूपा'** कहलाती है।।

यह छन्द रश्मि पूर्व कण्डिका में वर्णित इन्द्र तत्त्व अर्थात् तीव्र विद्युद्वायु, जो गर्जना करता हुआ इधर-उधर दौड़ता है तथा पूर्व छन्द रश्मि के द्वारा ही संतुलित भी होता है, ऐसी गर्जन और गतियुक्त विद्युत् वायु ही हमारी दृष्टि में **'रराटी'** कहलाता है। उस विद्युत् वायु को नियन्त्रण में लेने हेतु ही इस छन्द रश्मि का उदय इस ब्रह्माण्ड में होता है अर्थात् यह छन्द रश्मि उत्पन्न होते ही सर्वत्र फैलकर उस रराटी संज्ञक विद्युत् को नियन्त्रित करने लग जाती है।।

वह गर्जनयुक्त विद्युत् वायु श्वेत वर्णयुक्त और उज्ज्वल होता है, साथ में वह कृष्ण अर्थात् आकर्षणशील भी होता है। वह विद्युत् वायु शुद्ध वर्णों को उत्पन्न करने वाला अर्थात् विभिन्न रूपों को उत्पन्न करने वाला होता है। यह **'कृष्ण'** इस कारण कहा जाता है कि इस विद्युत् वायु के कारण ही प्रकाश की तरंगें अवशोषित होकर किसी वस्तु को काले रंग की प्रतीत कराती हैं और यह विद्युत् वायु **'शुक्ल'** इस कारण कहा जाता है कि यह विभिन्न पदार्थों को छिन्न-भिन्न करके उन्हें शुद्ध रूप प्रदान करता है। इसी कारण यह विद्युत् वायु विश्वरूप भी कहलाती है। हमारी दृष्टि में किसी भी पदार्थ को कृष्ण वा शुक्ल रूप प्रदान करना सविता अर्थात् विद्युत् के द्वारा ही सम्पन्न होता है।।

जब ब्रह्माण्ड में इस प्रकार की विद्युत्-वायु को नियन्त्रित करती हुई यह छन्द रश्मि व्यापक रूप में उत्पन्न होती है, तब सतत गमन करने वाले विभिन्न कण और तरंगें, जो संगतीकरण की इच्छा से सर्वत्र भ्रमण करती हैं, वे अनेक प्रकार के रूप धारण करके सर्ग प्रक्रिया को समृद्ध करती हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस छन्द रश्मि के कारण विभिन्न क्रियाओं को जन्म देती विद्युत् बहुत दूर-२ तक फैल जाती है। यह विद्युत् अल्पायु, अल्पप्रकाश एवं अनियमित गति वाले कणों एवं सूक्ष्म मरुद् रश्मियों के कार्य को सहज बनाती तथा प्रकाश के विभिन्न रंगों को उत्पन्न करती है। यह छन्द रश्मि उत्पन्न होते ही तीव्र गर्जनायुक्त भयंकर विद्युत् को अपने नियन्त्रण में लेने लगती है। यह विद्युत् प्रकाश का अवशोषण करके काले वर्ण को भी उत्पन्न करती है। इसके साथ ही यह विद्युत् विभिन्न पदार्थों को छिन्न-भिन्न करके शुद्ध रूप भी प्रदान करती है।।

६. 'परि त्वा गिर्वणो गिर' इत्युत्तमया परिदधाति।।
स यदेव हविर्धाने संपरिश्रिते मन्येताथ परिदध्यात्।।
अनग्नंभावुका ह होतुश्च यजमानस्य च भार्या भवन्ति यत्रैवं विद्वानेतया हविर्धानयोः संपरिश्रितयोः परिदधाति।।
यजुषा वा एते संपरिश्रियेते यद्धविर्धाने यजुषैवेने एतत्परिश्रयन्ति।।

व्याख्यानम्– इस प्रक्रिया के अन्त में **मधुच्छन्दा ऋषि** अर्थात् विभिन्न प्राणों वा प्रकाशित मार्गों का आच्छादन करने वाले एक सूक्ष्म प्राण द्वारा इन्द्रदेवताक एवं अनुष्टुप् छन्दस्क

परि॑ त्वा गिर्वणो॒ गिर॑ इ॒मा भ॑वन्तु वि॒श्वतः॑।
वृ॒द्धायु॒मनु॒ वृद्ध॑यो॒ जुष्टा॑ भवन्तु॒ जुष्ट॑यः॥ (ऋ.१.१०.१२)

की उत्पत्ति होती है। इसके छान्दस और दैवत प्रभाव से विद्युद्वायु तेजस्वी व बलवान् होता है और यह छन्द रश्मि अन्य पूर्व सात रश्मियों को अपने चारों ओर धारण कर लेती है। इसके अन्य प्रभाव से विभिन्न वाक् तत्त्व विशेषतया पूर्वोक्त सात छन्द रश्मियाँ सब ओर से प्रकाशित होती हुईं इस छन्द रश्मि की ओर आकर्षित होती हैं। ये वाग् रश्मियाँ विभिन्न पदार्थों को निगलती हुई अर्थात् उनको अपने में समेटती हुई किंवा स्वयं उनके द्वारा निगली जाती हुई विभिन्न क्रियाओं को समृद्ध करती हैं।।

जब सोम पदार्थ प्राण, उदान तथा सूत्रात्मा वायु से पूर्णरूपेण आच्छादित हो जाता है, तभी यह छन्द रश्मि उत्पन्न होती है। प्राण और उदान वा प्राणापान से विहीन सोम पदार्थ प्रकाशित एवं विशेष सक्रिय नहीं हो पायेगा। ध्यातव्य है कि सोम पदार्थ स्वयं मन एवं वाक् तत्त्व से निर्मित होता है और निर्मित होने के पश्चात् वह मूलतः अप्रकाशित और मन्दगामी होता है, परन्तु जब वह मन और वाक् तत्त्व से पुनः संसिक्त एवं प्राणापान वा प्राणोदान से समृद्ध होता है, तब वह अपेक्षाकृत दीप्तिमान् और क्रियाशील हो जाता है। सूत्रात्मा वायु इस सोम तत्त्व को बांधे रखने में सहायक होता है। इस प्रकार इन तीनों से युक्त हो जाने पर ही यह छन्द रश्मि उत्पन्न होकर पूर्वोक्त सात रश्मियों को अपने चारों ओर धारण करती है।।

जब सोम तत्त्व इस प्रकार प्राणापानोदान और सूत्रात्मा वायु से सब ओर से आच्छादित हो जाता है और यह छन्द रश्मि अन्य रश्मियों को चारों ओर से धारण कर लेती है, उस समय होता अर्थात् प्राणापानादि विभिन्न प्राण तत्त्व एवं विभिन्न यजनशील कण वा तरंगें अनग्न भार्या अर्थात् विभिन्न छन्द रश्मियों से युक्त **'भूः', 'भुवः', 'स्वः'** जैसी सूक्ष्म रश्मियों से पूर्णरूपेण संयुक्त हो जाती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि उस समय ब्रह्माण्ड में मन, वाक्, सूत्रात्मा वायु, प्राणादि प्राण तत्त्व एवं विभिन्न छन्द रश्मियाँ सभी परस्पर घुल-मिल जाते हैं। इसके साथ ही प्रायः सबकी शक्ति रूप **'भूः', 'भुवः', 'स्वः'** आदि दैवी गायत्री छन्द रश्मियाँ विभिन्न छन्द रश्मियों के साथ संयुक्त होकर सभी पदार्थों के साथ संगत हो जाती हैं। हमारी दृष्टि में **'ओम्'** दैवी गायत्री छन्द सबसे मूल छन्द है, जो प्रायः सबके साथ सदैव संयुक्त रहता है।।

{मन एव यजूंषि (श.४.६.७.५), प्राण एव यजुः (श.१०.३.५.४), अन्तरिक्षलोको यजुर्वेदः (ष. १.५)} प्राणापानोदान और सूत्रात्मा वायु से आच्छादित सोम पदार्थ, अन्य प्राथमिक प्राणादि पदार्थ एवं आकाश तत्त्व से भी अच्छी तरह आच्छादित होते हैं। उसके पश्चात् ही वे विभिन्न क्रियाओं को सम्पादित पर पाते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार– यह रश्मि पूर्वोक्त सात छन्द रश्मियों को अपने अन्दर समेटती हुई वैद्युत क्रियाओं को तीव्र करती है। प्राण, अपान, उदान और सूत्रात्मा वायु से आच्छादित मरुद् रश्मियाँ क्रियाशील और दीप्तिमान् होती हैं। उस समय 'भूः', 'भुवः', 'स्वः' आदि दैवी गायत्री रश्मियाँ सभी पदार्थों के साथ पूर्णरूप से संगत हो जाती हैं। ये सूक्ष्म रश्मियाँ उनके साथ पूर्णरूप से घुल-मिलकर एक रसवत् हो जाती हैं, उस समय ब्रह्माण्ड में इन सभी पदार्थों का सुन्दर सम्मिश्रण होकर विभिन्न सृजन प्रक्रियाएं सम्पादित होने लगती हैं।।

७. तौ यदैवाध्वर्युश्च प्रतिप्रस्थाता चोभयतो मेथ्यौ निहन्यातामथ परिदध्यात्।। अत्र हि ते संपरिश्रिते भवतः।।

ता एता अष्टावन्वाह रूपसमृद्धा, एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृगभिवदति। तासां त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमां, ता द्वादश संपद्यन्ते, द्वादश वै मासाः संवत्सरः, संवत्सरः प्रजापतिः, प्रजापत्यायतनाभिरेवाऽऽभी राध्नोति य एवं वेद, त्रिः प्रथमां त्रिरुत्तमामन्वाह यज्ञस्यैव तद्बर्सौ नह्यति, स्थेम्ने बलायाविस्रंसाय।।३।।

{मेथी = (मिथृ मेधाहिंसनयोः संगमे च)। अध्वर्युर्वै श्रेयान् पापीयान् प्रतिप्रस्थाता (काठ.२७.५)}

व्याख्यानम्- जब **अध्वर्यु** अर्थात् उपर्युक्त विभिन्न संगमनीय पदार्थ, जो सृष्टि प्रक्रिया के मुख्य अंग होते हैं अर्थात् जिनसे समस्त लोक-लोकान्तरों की कालान्तर में उत्पत्ति होती है, वे तथा **प्रतिप्रस्थाता** नामक पदार्थ अर्थात् ऐसे पदार्थ, जो अप्रकाश्य होते हैं तथा हिंसक विद्युद्वायु का रूप होते हैं, दोनों की उत्पत्ति उस समय हो चुकी होती है। ये दोनों प्रकार के पदार्थ मूलतः एक ही पदार्थ से उत्पन्न होते हैं, जिसका वर्णन आगे यथास्थान किया जायेगा। जब ये दोनों प्रकार के पदार्थ परस्पर एकत्र होने वा टकराने लगते हैं, उसी समय उपर्युक्त आठवीं छन्द रश्मि उत्पन्न होती है।।

क्योंकि उसी समय सोम पदार्थ पूर्वोक्त प्राणापान वा प्राणोदानादि से पूर्णतया आच्छादित होता है और प्राणापान वा प्राणोदानादि स्वयं सूत्रात्मा वायु आदि से आच्छादित होते हैं।।

ये आठ छन्द रश्मियाँ रूपसमृद्ध और यज्ञ समृद्ध होती हैं, जिसका आशय पूर्ववत् समझें। यहाँ भी प्रथम और अन्तिम छन्द रश्मि की एक साथ तीन-तीन बार आवृत्ति होती है। इस प्रकार कुल १२ छन्द रश्मियाँ हो जाती हैं। किसी भी नेब्यूला आदि में बारह ही संधानक मास रश्मियाँ होती हैं। कदाचित् उन रश्मियों का इन बारह रश्मियों से विशेष सम्बन्ध होता है। नेब्यूला के अन्दर ही विभिन्न पदार्थों की उत्पत्ति होती है, जब उपर्युक्त प्रकार की परिस्थितियाँ ब्रह्माण्ड में उत्पन्न हो जाती हैं, उस समय सारे ब्रह्माण्ड में विभिन्न नेब्यूलाज् बनने की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। उपर्युक्त प्रथम और अन्तिम छन्द रश्मि सोम पदार्थ और प्राणापानादि पदार्थों के मध्य सम्पन्न होने वाली विभिन्न क्रियाओं को आद्यन्त बांधे रखती है, जिससे वे प्रक्रियाएं शिथिल वा बन्द नहीं हो पाती।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस समय दृश्य और अदृश्य दोनों ही प्रकार के पदार्थों की उत्पत्ति हो जाती है। यहाँ अदृश्य पदार्थ का तात्पर्य उस पदार्थ से है, जिसको हम असुर तत्त्व अर्थात् अप्रकाशित हिंसक विद्युद्वायु नाम से सम्बोधित करते आये हैं। कदाचित् जिसे कुछ सीमा तक डार्क मैटर व डार्क एनर्जी कहा जा सकता है। इसकी उत्पत्ति कैसे होती है? इसका वर्णन यहाँ नहीं है। आगे इसी ग्रन्थ में यह वर्णन किया गया है। जब सोम पदार्थ प्राणादि पदार्थ से प्रारम्भिक स्थिति में मिलने के लिये उद्यत होता है किंवा **विद्युत् धनावेशित व ऋणावेशित कण जब उत्पन्न व सक्रिय हो जाते हैं, उस समय ही इस ब्रह्माण्ड में अदृश्य पदार्थ की उत्पत्ति होती है।** इस समय ब्रह्माण्ड में संयोग-वियोग की विभिन्न प्रक्रियाएं व्यापक स्तर पर होने लगती हैं।।

ॐ इति ५.३ समाप्तः ॐ

꧁ अथ ५.४ प्रारभ्यते ꧂

*** तमसो मा ज्योतिर्गमय ***

१. अग्नीषोमाभ्यां प्रणीयमानाभ्यामनुब्रूहीत्याहाध्वर्युः।।
साऽवीर्हि देव प्रथमाय पित्र इति सावित्रीमन्वाह।।
तदाहुर्यदग्नीषोमाभ्यां प्रणीयमानाभ्यामनुवाचाऽऽहाथ कस्मात् सावित्रीमन्वाहेति सविता वै प्रसवानामीशे सवितृप्रसूता एवैनौ तत्प्रणयन्ति तस्मात् सावित्रीमन्वाह।।

{सावीः = जनय (म.द.ऋ.भा.५.८२.४)। वार्याणि = ग्रहीतुं योग्यानि साधनानि (म.द.ऋ.भा.१.११४.५), वार्यं वृणोतेरथापि वरतमम् (नि.५.१)}

व्याख्यानम्- पूर्व प्रकरण के पश्चात् आगे चर्चा प्रारम्भ करते हैं। इस समय तक ब्रह्माण्ड में मुख्यतः दो प्रकार के पदार्थों का निर्माण हो चुका होता है। वे हैं-अग्नि और सोम। अग्नि तीव्र गतिशील, प्रकाश, ऊष्मा, विद्युत् आदि से युक्त होता है और सोम अदृश्य दीप्ति से युक्त मन्दगामी सूक्ष्मवायु के रूप में होता है। इस समय इनकी प्रधानता वाले आग्नेय और सौम्य पदार्थ भी उत्पन्न हो चुके होते हैं। आग्नेय व सौम्य पदार्थ भी मनोवागादि के योग से तीव्रगामी होते हैं। आग्नेय पदार्थ में प्राणादि पदार्थों की प्रधानता होती है। इस विषय में **महर्षि आपस्तम्ब** का कथन है- **"शालामुखीये प्रणयनीयमिध्ममादीप्य सिकताभिरूपयम्याग्नीषोमाभ्यां प्रणीयमानाभ्यामनुब्रूहीति संप्रेष्यति। प्रणीयमानाभ्यामनुब्रूहीति वा" (आप.श्रौ.११.१७.२), {शाला = (शालृ = चमकना - आप्टेकोष), सिकता = रेतः सिकताः (श.७.१.१.११)}** इससे संकेत मिलता है कि वे पूर्वोक्त अग्नि और सोम तत्त्व दोनों परस्पर रेतोरूप प्राणोदानादि रश्मियों के द्वारा दीप्तिमान् होने में समर्थ होते हैं। उधर सौम्य पदार्थों में सूक्ष्म मरुद् रश्मियों की प्रधानता होती है। अब इन दोनों प्रकार के पदार्थों को संयुक्त करने की प्रक्रिया का वर्णन किया जाता है। यद्यपि इनके संयोग की प्रक्रिया पूर्व खण्ड में भी दर्शायी गई है, परन्तु वह प्रक्रिया कैसे सम्पन्न होती है, यह विषय पूर्व खण्ड में स्पष्ट नहीं किया गया है। इसकी चर्चा यहाँ प्रारम्भ करते हैं। सर्वप्रथम मन, प्राणापानादि की प्रेरणा से निम्नलिखित छन्द रश्मि उत्पन्न होती है।।

अथर्वा ऋषि अर्थात् अहिंसक और अहिंस्य मन एवं प्राण तत्त्व के संयोग से सविता-देवताक एवं त्रिष्टुप् छन्दस्क

सावीर्हि देव प्रथमाय पित्रे वर्ष्माणमस्मै वरिमाणमस्मै।
अथास्मभ्यं सवितर्वार्याणि दिवोदिव आ सुवा भूरि पश्वः।। (अथर्व.७.१४.३)

की उत्पत्ति होती है। **महर्षि आश्वलायन** ने इसी ऋचा को अपने श्रौतसूत्र में ४.१०.१ में उद्धृत किया है। इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से मन व वाक्तत्त्व के द्वारा वायु और अग्नि दोनों तत्त्व तीव्र तेजस्वी और बलवान् होते हैं। इसके अन्य प्रभाव से मनस्तत्त्व एवं वाक् तत्त्व नामक प्रथम पालक और इनसे भी पूर्व सर्वप्रथम पालक चेतन तत्त्व परमात्मा अग्नि व सोम तत्त्वों को श्रेष्ठ वर्जक गुणों से युक्त करता है अर्थात् ये दोनों शक्तिशाली होकर अपनी रश्मियों का एक दूसरे पर वर्षण करने में समर्थ होते हैं। ये दोनों ही तत्त्व फिर अनेक मरुद् रश्मियों एवं वारण आदि गुणों से युक्त होकर विभिन्न पदार्थों को प्रकाशित करने लगते हैं। इसका आशय यह है कि वे अग्नि व सोम अनेक तत्त्वों को उत्पन्न करके इस अन्तरिक्ष में प्रकाशित करते हैं।।

यहाँ यह प्रश्न उठाया गया है कि यहाँ अग्नि व सोम के प्रणयन वा सम्मेलन हेतु यह छन्द रश्मि उत्पन्न हुयी, तब इसका देवता सविता क्यों है? क्यों अग्नीषोमादेवताक ऋचा उत्पन्न नहीं होती है? इस प्रश्न के उत्तर में **महर्षि ऐतरेय महीदास** कहते हैं कि सविता अर्थात् सबके प्रेरक मन तथा वाक् तत्त्व ही होते हैं तथा मूल प्रेरक चेतन तत्त्व परमात्मा ही होता है। गायत्री रूपी वाक् के विषय में कहा- **''एष वै गायत्रो देवानां यत् सविता'' (तै.सं.६.५.७.१)** वाक् तत्त्व का दैवी गायत्री सबसे सूक्ष्म एवं एकाक्षरारूप है और यही मुख्य प्रेरक है। उधर मन के विषय में कहा है- **''मन एव सविता'' (गो. पू.१.३३)**। इस प्रकार जड़ जगत् के ये दो मूल प्रेरक व उत्पादक तत्त्व हैं। इन्हीं की प्रेरणा से ही कोई भी पदार्थ सक्रिय होता है। इस कारण अग्नि व सोम वायु के प्रणयन व सम्मेलन के लिए सवितृदेवताक छन्द रश्मि की उत्पत्ति सर्वप्रथम होती है। ये मन व वाक् ही विभिन्न प्रेरक व सृजन प्रक्रियाओं के नियन्ता व प्रेरक हैं। इस छन्द रश्मि के प्रभाव से मन व वाक् तत्त्व की प्रेरणा प्रबल होकर अग्नि-सोम के मिथुन त्वरित गति से सम्पन्न होते हैं। सविता के विषय में ऋषियों का अन्य मत इस प्रकार है-

''प्राणो वै सविता'' (ऐ.१.१६)

''वरुण एव सविता'' (जै.उ.४.१२.१.३)

इस प्रकार प्राण, अपान एवं उदान रश्मियां भी सविता रूप होती है। ये रश्मियां मन एवं वाक् तत्त्व की अपेक्षा स्थूल सविता अर्थात् प्रेरक का कार्य करती हैं। यहाँ आग्नेय परमाणु योषा तथा सौम्य परमाणु वृषा का व्यवहार करते हैं। इसका संकेत **महर्षि याज्ञवल्क्य** एवं **महर्षि जैमिनी** के कथनों- **'योषा वाऽ अग्निः' (श.१४.६.१.१६)** तथा **'वृषा वै सोमः' (जै.ब्रा.३.२४)** से भी मिलता है। यहाँ **'आपः'** का अर्थ सोम तत्त्व मानना चाहिये। मिथुन धर्म को हम पूर्व में स्पष्ट कर ही चुके हैं। इनके मिथुन के मूल प्रेरकत्व के कारण ही सवितृदेवताक छन्द रश्मि की उत्पत्ति प्रथमतः होती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- ब्रह्माण्ड में सोम वायु एवं अग्नि के सम्मेलन का कार्य किंवा धनावेशित एवं ऋणावेशित कणों के सम्मेलन का कार्य करने के लिये प्राणापान वा प्राणोदान तत्त्व की ही प्रेरणा मुख्य होती है। यहाँ अग्नि तत्त्व किंवा धनावेशित कण स्त्री का कार्य करते हैं और सोम किंवा ऋणावेशित कण पुरुष का कार्य करते हैं। इस रश्मि के प्रभाव से प्राणापान व प्राणोदान तत्त्व इन दोनों का सम्मेलन कराने के लिये विशेष प्रेरणा करते हैं। दोनों ही प्रकार के कणों में से विशेष सूक्ष्म रश्मियाँ निकलकर एक-दूसरे पर वर्षण करती हैं, जिससे वे दोनों तत्त्व परस्पर आकृष्ट होकर विभिन्न पदार्थों का निर्माण करते हैं।।

२. 'प्रैतु ब्रह्मणस्पतिरिति' ब्राह्मणस्पत्यामन्वाह।। तदाहुर्यदग्नीषोमाभ्यां प्रणीयमानाभ्यामनुवाचाऽऽहाथ कस्माद् ब्राह्मणस्पत्यामन्वाहेति ब्रह्म वै बृहस्पतिर्ब्रह्मैवाऽऽभ्यामेतत् पुरोगवमकर्ण वै ब्रह्मण्वद्रिष्यति।। प्र देव्येतु सूनृतेति ससूनृतमेव तद्यज्ञं करोति तस्माद् ब्राह्मणस्पत्यामन्वाह।।

व्याख्यानम्- तदुपरान्त घोरपुत्र कण्व ऋषि अर्थात् सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न तीक्ष्ण शक्ति वाले सूक्ष्म प्राण से बृहस्पतिदेवताक एवं आर्चीत्रिष्टुप् छन्दस्क

प्रैतु ब्रह्म॑णस्पतिः प्र दे॒व्ये॑तु सू॒नृता॑। अच्छा॑ वी॒रं नर्यं॑ प॒ङ्क्तिरा॑धसं दे॒वा य॒ज्ञं न॑यन्तु नः।। (ऋ.१.४०.३)

की उत्पत्ति होती है।

{सूनृता = वाङ्नाम (निघं.१.११ - वै.को. से उद्धृत), उषोनाम (निघं.१.८), अन्ननाम (निघं.२.७)}

इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से सूत्रात्मा वायु विभिन्न ऋग्रूप तरंगों को थामता हुआ उन्हें तेजस्वी और बलवान् बनाता है। इसके अन्य प्रभाव से सूत्रात्मा वायु अग्नि और सोम के संगतीकरण को अच्छी प्रकार सिद्ध और विस्तृत करता है और देदीप्यमान वाक् विभिन्न प्रकाशित पदार्थों में विशेषतया व्याप्त हो जाता है।।

इस विषय में कुछ विद्वान् एक प्रश्न उठाते हैं कि जब अग्नि और सोम को परस्पर संगत करने के लिये छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है, तो अग्नीषोमा-देवताक ऋचा की उत्पत्ति न होकर **बृहस्पतिदेवताक** ऋचा की उत्पत्ति क्यों होती है? इसके उत्तर में महर्षि लिखते हैं कि बृहस्पति अर्थात् मन, वाक् के पश्चात् सूत्रात्मा वायु सबसे व्यापक है। प्राणापान वा प्राणोदान आदि की व्यापकता सूत्रात्मा वायु के पश्चात् ही मानी जाती है। हाँ, मन व वाक् तत्त्व सूत्रात्मा वायु की अपेक्षा भी अधिक व्यापक होते हैं। यह सूत्रात्मा वायु अत्यन्त व्यापक क्षेत्र में फैला हुआ सबको आवृत्त करके बांधे रखता है। इसी कारण वह सभी कर्मों में मन व वाक् के पश्चात् सबसे अग्रणी भूमिका निभाता है। यह अग्नि और सोम दोनों को ही प्रेरित करता व उन्हें संयुक्त रहने में सहयोग करता है, इस कारण सूत्रात्मा वायु से प्रेरित अग्नि और सोम की क्रियाएं निर्बाध रूप से चलती रहती हैं।।

इस रश्मि के द्वितीय पाद के प्रभाव से यजनशील दीप्तिमान् वाक् तत्त्व अग्नि और सोमवायु के संगतीकरण को समृद्ध करता है। ध्यातव्य है कि बिना वाक् तत्त्व के कोई भी कण वा तरंग अपना कार्य करने में समर्थ नहीं हो सकता है। ऐसे उस वाक् तत्त्व को प्रदीप्त करने में सूत्रात्मा वायु की भी भूमिका होती है। इस कारण सूत्रात्मा वायु को प्रभावित करने वाली एवं उसी से उत्पन्न इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस छन्द रश्मि के प्रभाव से सूत्रात्मा वायु अग्नि और सोम किंवा धनावेशित व ऋणावेशित कणों के मध्य होने वाली क्रियाओं को विस्तृत करता है। यह **सूत्रात्मा वायु प्रत्येक सूक्ष्म पदार्थ को परस्पर बांधे रखता है। इसके बिना ब्रह्माण्ड के विभिन्न कण वा तरंगें परस्पर संयुक्त होने में समर्थ नहीं हो सकते।** यह छन्द रश्मि सूत्रात्मा वायु को प्रभावित करने के कारण विभिन्न कणों की अभिक्रियाओं को समृद्ध करती है।।

३. 'होता देवो अमर्त्यः' इति तृचमाग्नेयं गायत्रमन्वाह सोमे राजनि प्रणीयमाने।। सोमं वै राजानं प्रणीयमानमन्तरेणैव सदो हविर्धानान्यसुरा रक्षांस्यजिघांसंस्तमग्निर्मायया ऽत्यनयत्।।
पुरस्तादेति माययेति मायया हि स तमत्यनयत् तस्माद्वस्याग्निं पुरस्ताद्धरन्ति।।

{विदथम् = विदथः यज्ञनाम (निघं.३.१७)। विप्रः = विविधान् पदार्थान् प्रान्ति तैः किरणैः (तु.म.द.ऋ.भा.१.६२.४), विप्रः मेधाविनाम (निघं.३.१५), एते वै विप्रा यद् ऋषयः (श.१.४.२.७)}

व्याख्यानम्- तदुपरान्त विश्वामित्र ऋषि अर्थात् वाक् तत्त्व द्वारा अग्निदेवताक एवं निचृद् गायत्री छन्दस्क

होता॑ दे॒वो अम॑र्त्यः पु॒रस्ता॑देति मा॒यया॑। वि॒दथा॑नि प्र॒चो॒दय॑न्।।७।।
वा॒जी वाजे॑षु धीयतेऽध्व॒रेषु॒ प्र णी॑यते। विप्रो॑ य॒ज्ञस्य॒ साध॑नः।।८।।
धि॒या च॑क्रे॒ वरे॑ण्यो भू॒ताना॒ं गर्भ॒मा द॑धे। दक्ष॑स्य पि॒तरं॒ तना॑।।९।। (ऋ.३.२७.७-९)

की उत्पत्ति होती है। इनके छान्दस व दैवत प्रभाव से अग्नि तत्त्व भेदक शक्तिसम्पन्न, तेज और बल से युक्त होता है। इनके अन्य प्रभाव इस प्रकार हैं-

(१) अविनाशी प्राणापानादि प्राण सूक्ष्म विद्युत् के द्वारा विभिन्न संयोग आदि प्रक्रियाओं को अच्छी प्रकार प्रेरित करते हुए सबमें व्याप्त हो जाते हैं।

(२) बलवान् और वेगवान् सूत्रात्मा वायु विभिन्न संयोगादि प्रक्रियाओं में वेगवान् अग्नि के द्वारा धारण व प्राप्त किया जाता है।

(३) उत्पन्न हुए बलवान् विस्तृत अग्नि और सोम में पालक सूत्रात्मा वायु तेजस्वी रश्मियों को धारण कराता है।

ये तीनों रश्मियाँ उस समय उत्पन्न होती हैं, जब देदीप्यमान सोम पदार्थ को अग्नि तत्त्व की ओर लाया जाता है।।

जब सोम पदार्थ प्राणापान वा प्राणोदान रश्मियों रूपी पात्रों में भरकर सदस् अर्थात् अपने स्थापन स्थल अग्नि तत्त्व की ओर प्रवाहित होता है, उस समय असुर तत्त्व अर्थात् अप्रकाशित हिंसक विद्युद्वायु सोम तत्त्व के मार्ग में बाधक बनता है अर्थात् सोम रश्मियों पर उस हिंसक विद्युत् वायु का तीव्र प्रहार होता है। उस समय अग्नि तत्त्व सूक्ष्म परन्तु तीव्र विद्युत् तरंगों के द्वारा हिंसक विद्युद्वायु को छिन्न-भिन्न वा नियन्त्रित करके सोम तत्त्व को अपनी ओर आकृष्ट करता है।।

अग्नि तत्त्व सूक्ष्म परन्तु तीव्र विद्युत् वायु के कारण अग्रणी होकर चलता है और अप्रकाशित हिंसक विद्युत् को नियन्त्रित वा छिन्न-भिन्न करके सोम तत्त्व को अपनी ओर आकृष्ट करता है। इस कारण विभिन्न क्रियाओं में अग्नि तत्त्व की अग्रणी भूमिका होती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस रश्मि के प्रभाव से विद्युत् चुम्बकीय तरंगें अधिक ऊर्जा सम्पन्न होती हैं। ये तरंगें सूत्रात्मा वायु और प्राणापानादि से व्यापक स्तर पर संयुक्त होकर तीव्र हो उठती हैं। **ये रश्मियाँ उस समय उत्पन्न होती हैं,** जब सोम पदार्थ अग्नि की ओर प्रवाहित होता है किंवा **ऋणावेशित पदार्थ धनावेशित पदार्थों की ओर अग्रसर होते हैं।** जब इस प्रकार की प्रक्रिया होने वाली होती है, उस समय हिंसक अप्रकाशित तरंगें सोम तत्त्व किंवा ऋणावेशित पदार्थ पर आक्रमण करके उसे छिन्न-भिन्न करने का प्रयास करती हैं। उस समय अग्नि तत्त्व किंवा धनावेशित पदार्थ तीव्र विद्युत् तरंगों के द्वारा उन अप्रकाशित तरंगों को छिन्न-भिन्न वा नियन्त्रित करके सोम तत्त्व किंवा ऋणावेशित पदार्थ को अपने साथ संगत कर लेता है। यह अग्नि तत्त्व किंवा धनावेशित पदार्थ सदैव ही सूक्ष्म परन्तु तीव्र विद्युत् तरंगों के द्वारा अप्रकाशित पदार्थ को छिन्न-भिन्न वा नियन्त्रित करके विभिन्न क्रियाओं को सम्पादित करता है।।

४. 'उप त्वाऽग्ने दिवे दिवे' 'उप प्रियं पनिप्नतमिति तिस्रश्चैकां चान्वाह।। ईश्वरौ ह वा एतौ संयन्तौ यजमानं हिंसितोर्यश्चासौ पूर्व उद्धृतो भवति यमु चैनमपरं प्रणयन्ति तद्यत्तिस्रश्चैकां चान्वाह संजानानावेवैनौ तत्संगमयतिप्रतिष्ठायामेवैनौ तत्प्रतिष्ठापयत्यात्मनश्च यजमानस्य चाहिंसायै।।

{दोषा = रात्रिनाम (निघं.१.७)। वस्तोः = अहर्नाम (निघं.१.९)। पनिप्नतम् = अत्यन्तं शब्दायमानम् इति सायण-वेदभाष्यः}

व्याख्यानम्- तदुपरान्त मधुच्छन्दा ऋषि अर्थात् विभिन्न प्राणों के प्रदीप्त मार्ग को आच्छादित करने वाले सूक्ष्म प्राण विशेष से अग्निदेवताक एवं गायत्री छन्दस्क-

उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्त एमसि।।७।।
राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्। वर्धमानं स्वे दमे।।८।।
स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये।।९।। (ऋ.१.१.७-९)

की उत्पत्ति होती है। इनके दैवत व छान्दस प्रभाव से अग्नि तत्त्व की तेजस्विता बढ़ती है। इनके अन्य प्रभाव इस प्रकार हैं-

(१) अग्नि तत्त्व प्राण और अपान तत्त्वों की ओर विशेष रूप से झुकते हुए विविध प्रकार से विभिन्न दीप्तियों को धारण करता है। वह अग्नि तत्त्व प्राणापान से पूर्णतया व्याप्त हो जाता है।

(२) वह विशाल क्षेत्र में फैला अग्नि तत्त्व प्रकाशित होता हुआ विभिन्न संयोगादि कर्मों में अपनी प्राण रश्मियों के द्वारा रक्षित अपने निवास स्थान प्राणादि प्राथमिक प्राणों में स्थित होकर प्रकाशित होता है।

(३) जिस प्रकार सबका पालक मन, सूत्रात्मा वायु, प्राणापान तथा प्राणोदान अग्नि आदि को प्रकाशित करते हैं, उसी प्रकार अग्नि भी अपने निकटस्थ पदार्थों को प्रकाशित करता है।

इसके साथ ही पवित्र वा वसिष्ठ ऋषि अथवा दोनों अर्थात् प्राण नामक प्राण अथवा आकाश तत्त्व अथवा इन दोनों के संयोग से पवमान सोमो-देवताक एवं गायत्री छन्दस्क

उप॑ प्रि॒यं पनि॑प्नतं॒ युवा॑नमाहुती॒वृध॑म्। अग॑न्म॒ बिभ्र॑तो॒ नमः॑।। (ऋ.९.६७.२९)

की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत और छान्दस प्रभाव से पवित्र सोम तत्त्व तेजस्वी व बलवान् होता है। इसके अन्य प्रभाव से अत्यन्त शब्द करता हुआ मिश्रणरूप अर्थात् एकरस सोम तत्त्व अग्नि के द्वारा विशेष आकृष्ट होता हुआ वक्र मार्गों को धारण कर अग्नि तत्त्व को प्राप्त होता है।।

यहाँ महर्षि दो प्रकार के अग्नि की चर्चा करते हुए लिखते हैं कि जब पूर्व और पर अग्नि साथ-२ मिलकर तीव्र प्रयत्न करते हैं, तब सर्ग प्रक्रिया में भारी उपद्रव होने की आशंका रहती है। यहाँ दो प्रकार के अग्नि में से प्रथम अग्नि विद्युदग्नि है, जिसमें विद्युदावेशित कण उत्पन्न होते हैं और दूसरा अग्नि विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के रूप में विद्यमान है। इन दोनों के साथ-२ प्रबल होने और सोम तत्त्व के विशेष सक्रिय न होने की स्थिति में सर्ग यज्ञप्रक्रिया उपद्रवग्रस्त हो सकती है। यहाँ **'हिंसितोः'** पद में **'ईश्वरे तोसुन्कसुनौ' (पा.अ.३.४.१३)** से तुमर्थ में तोसुन् प्रत्यय हुआ है। इस संभावित उपद्रव को शान्त करने के लिये उपर्युक्त चार छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है, जिनके कारण दोनों प्रकार के अग्नि परस्पर सम्यग्रूप से संयोजित व स्थापित होते हैं। इससे विभिन्न प्राणरूप होता एवं सम्पूर्ण सर्ग प्रक्रिया उपद्रवरहित हो जाते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उपर्युक्त छन्द रश्मियों के प्रभाव से विद्युत् चुम्बकीय तरंगें और अधिक तेजस्वी एवं तीक्ष्ण होती हैं तथा सोम तत्त्व के तेजी से प्रवाहित होने पर ब्रह्माण्ड में उच्च ध्वनि तरंगें भी उत्पन्न होने लगती हैं। फिर सोम तत्त्व अग्नि में मिश्रित हो जाता है। आधुनिक विज्ञान की भाषा में धनावेशित पदार्थसमूह तीव्र तप्त होकर तीव्र भेदक शक्तिसम्पन्न विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के साथ क्रिया करके अति उग्र रूप धारण कर सकता है। विभिन्न पदार्थों के नाभिक अत्यधिक ऊर्जावान् होकर समस्त ब्रह्माण्ड में भारी उथल-पुथल उत्पन्न कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में उपर्युक्त छन्द रश्मियाँ जहाँ धनावेशित पदार्थ को प्रभावित करती हैं, उनको सम्यक् गति प्रदान करती है, वहीं वे ऋणावेशित पदार्थ को भी सम्यक् बल और तेज प्रदान करके धनावेशित पदार्थ से किंवा इलेक्ट्रॉन्स को विभिन्न नाभिकों से संयोजित कराने में विशेष भूमिका निभाती हैं, जिससे सृष्टि प्रक्रिया में संभावित उपद्रव शान्त होने में मदद मिलती है।।

५. 'अग्ने जुषस्व प्रति हर्य तद्वचो' इयाहुत्यां हूयमानायामन्वाह।। अग्नय एव तज्जुष्टिमाहुतिं गमयति।।

{रण्वः = रमयिता (म.द.ऋ.भा.२.२४.११), शब्दायमानः (तु.म.द.ऋ.भा.३.२६.१), रमणीयः (म.द.ऋ.भा.१.६९.३)}

व्याख्यानम्- तदनन्तर दीर्घतमा ऋषि अर्थात् विस्तुत फैला हुआ सूक्ष्म प्राण, जिसके विषय में हम पूर्व में कई बार लिख चुके हैं, से अग्निदेवताक एवं निचृज्जगती छन्दस्क

अग्ने॑ जु॒षस्व॒ प्रति॑ हर्य॒ तद्वचो॒ मन्द्र॒ स्वधा॑व॒ ऋत॑जात॒ सुक्र॑तो।
यो वि॒श्वतः॑ प्र॒त्यङ्ङसि॑ दर्श॒तो र॒ण्वः संदृ॑ष्टौ पितु॒माँइ॑व॒ क्षयः॑।। (ऋ.१.१४४.७)

की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से अग्नि तत्त्व का विस्तार विशेष होता है। इसके अन्य प्रभाव से प्राणापानादि पदार्थों से उत्पन्न विविध कर्मों को करने वाले विद्युत्-दीप्ति से युक्त अग्नि तत्त्व ध्वनि को उत्पन्न करता हुआ विभिन्न संयोज्य कणों में संयुक्त होता है और उनकी आकर्षणादि क्षमता को विशेष बढ़ाता है, जिससे वे सभी कण परस्पर भारी हलचल करने लगते हैं।।

उनकी इस प्रकार की हलचल सृष्टि प्रक्रिया को बाधित करने के लिए नहीं, बल्कि साधने के लिए होती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस छन्द रश्मि के प्रभाव से विभिन्न कणों की ऊर्जा के उत्सर्जन और अवशोषण की क्षमता विशेष रूप से बढ़ती है, जिससे ऊर्जा सम्पूर्ण पदार्थ में सतत प्रवाहमान होती रहती है। ऊर्जा का यह प्रवाह सृष्टि प्रक्रिया को अनुकूलता प्रदान करता है, जिससे विभिन्न कणों में संयोग-वियोग की प्रक्रिया अच्छी प्रकार चलती रहती है।।

६. 'सोमो जिगाति गातुविदिति' तृचं सौम्यं गायत्रमन्वाह सोमे राजनि प्रणीयमाने, स्वयैवैनं तद्देवतया स्वेन च्छन्दसा समर्धयति।। सोमः सधस्थमासददित्यासत्स्यन्हि स तर्हि भवति।। तदतिक्रम्यैवानुब्रूयात् पृष्ठत एवाऽऽग्नीध्रं कृत्वा।।

{गातुः = गातुं गमनम् (नि.४.२१), पृथिवीनाम (निघं.१.१), गातुविदो हि देवाः (श.४.४.४.१३)। अभिमातीः = शत्रूनिव रोगान् (म.द.ऋ.भा.३.६२.१५), पाप्मा वा अभिमातिः (तै.सं.२.१.३.५)। आग्नीध्रम् = अग्निं धरति यस्मात् तम् (तु.म.द.ऋ.भा.२.३६.४), अन्तरिक्षं वा ऽआग्नीध्रम् (श.६.२.३.१५)}

व्याख्यानम्- तदनन्तर विश्वामित्र ऋषि अर्थात् वाक् तत्त्व से सोमदेवताक एवं गायत्री छन्दस्क

सोमो॑ जिगाति गातु॒विद्दे॒वाना॑मेति निष्कृ॒तम्। ऋ॒तस्य॒ योनि॑मा॒सद॑म्।।१३।।
सोमो॑ अ॒स्मभ्यं॑ द्वि॒पदे॒ चतु॑ष्पदे च प॒शवे॑। अन॒मीवा॒ इष॑स्करत्।।१४।।
अ॒स्माक॒मायु॒र्वर्धय॑न्न॒भिमा॑तीः॒ सह॑मानः। सोमः॑ स॒धस्थ॒मास॑दत्।।१५।। (ऋ.३.६२.१३-१५)

तीन रश्मियों की उत्पत्ति होती है। इनके दैवत व छान्दस प्रभाव से सोम तत्त्व सतेज व सबल होता है। इनके अन्य प्रभाव निम्नानुसार हैं-

(१) अन्तरिक्ष में विस्तृत फैला और निरन्तर गमन करता हुआ सोम तत्त्व {जिगातीति गतिकर्मा (निघं.२.१४)} विभिन्न देदीप्यमान प्राण तत्त्वों किंवा अग्नि तत्त्व के स्थान की ओर गमन करता है।

(२) वह सोम तत्त्व दो प्रकार की गतियों वाले मनुष्य नामक कण एवं चार प्रकार की गतियों वाले विभिन्न मरुतों एवं छन्द रश्मियों के साथ-साथ देखे जाने योग्य विभिन्न कणों की अप्रकाशित हिंसक वायु से रक्षा के लिये वज्र रूप किरणों को उत्पन्न करता है।

(३) वह सोम पदार्थ तेजस्वी बल से युक्त होता हुआ विभिन्न बाधक अप्रकाशित विद्युत् तरंगों के प्रहारों को सहन करता हुआ विभिन्न कणों के जीवन को बढ़ाता है।

इन तीनों रश्मियों का छन्द गायत्री है, इस कारण सोम तत्त्व को ये रश्मियाँ दीप्ति और आच्छादन आदि गुणों से युक्त करके समृद्ध करती हैं।।

'सोमः सधस्थमासदत्' के प्रभाव से इस रश्मि के उत्पन्न होने के समय सोम पदार्थ द्यावापृथिवीरूपी हविर्धानों में स्थित होने लगता है। इसका तात्पर्य यह है कि वह सोम पदार्थ विभिन्न प्रकाशित व अप्रकाशित कणों के रूप में परिवर्तित होने लगता है। यद्यपि पूर्व में भी यह प्रक्रिया प्रारम्भ हो चुकी होती है, पुनरपि इस समय वह क्रिया तीव्र हो जाती है।।

प्राणापानादि विभिन्न प्राण उस सम्पूर्ण सोम तत्त्व को आच्छादित और नियन्त्रित करते हुए आकाश तत्त्व को अपने पीछे के भाग में धारण कर लेते हैं। उसके पश्चात् ही उपर्युक्त अन्तिम छन्द रश्मि किंवा तीनों रश्मियाँ उत्पन्न होती है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इन रश्मियों के प्रभाव से सोमवायु किंवा ऋणावेशित पदार्थ सबल और सतेज होता है। यह अन्तरिक्ष में विस्तृत फैलकर अग्नि तत्त्व किंवा धनावेशित पदार्थ की ओर सतत गमन करता है। यह पदार्थ दो प्रकार की गतियों वाले मनुष्य नामक कण एवं चार प्रकार की गतियों वाली मरुद् रश्मियों एवं विभिन्न छन्द रश्मियों की अप्रकाशित हिंसक विद्युत् तरंगों से रक्षा करने के लिए तीव्र वैद्युत तरंगों को उत्पन्न करता है। इस समय विभिन्न कणों एवं विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की उत्पत्ति की प्रक्रिया तीव्र हो जाती है। इस समय प्राणापानादि के साथ आकाश तत्त्व पृष्ठ भाग में संयुक्त हो जाता है।।

७. 'तमस्य राजा वरुणस्तमश्विनेति' वैष्णवीमन्वाह।।
क्रतुं सचन्त मारुतस्य वेधसः। दाधार दक्षमुत्तममहर्विदं वज्रं च विष्णुः सखिवाँ अपोर्णुत इति।।
विष्णुर्वै देवानां द्वारपः स एवास्मा एतद्द्वारं विवृणोति।।

{अपोर्णुते = प्रकाशयति, उद्घाटयति, आच्छादकमन्धकारं निवारयति (म.द.ऋ.भा.१.१५६.४), आच्छादयति (म.द.ऋ.भा.२.३४.१२)। वेधाः = इन्द्रो वै वेधाः (ऐ.६.१०), मेधाविनाम (निघं.३.१५)}

व्याख्यानम्- तदनन्तर दीर्घतमा ऋषि से **विष्णुदेवताक** एवं जगती छन्दस्क

तम॑स्य राजा॒ वरु॑णस्तम॒श्विना॒ क्रतुं॑ सचन्त॒ मारु॑तस्य वे॒धसः॑।
दा॒धार॒ दक्ष॑मुत्त॒मम॑ह॒र्विदं॑ व्र॒जं च॒ विष्णुः॒ सखि॑वाँ अपोर्णुते।। (ऋ.१.१५६.४)

की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से व्यापक विद्युत् दूर-दूर पहुँचकर सबको आच्छादित कर लेती है। इसके अन्य प्रभाव से वह विद्युत् अपने साथ-२ प्रकाशित विभिन्न सूत्रात्मा वायु, मरुद् रूप रश्मियों एवं प्राण तत्त्व से युक्त होकर उत्तम बल को धारण करती है। वह विद्युत् तीव्र कर्मशील विभिन्न मरुतों से युक्त विद्युद्वायु रूप इन्द्र के रूप में सब प्रकाशित व अप्रकाशित पदार्थों में व्याप्त हो जाती है, यह सूक्ष्म विद्युत् सोम पदार्थों के ऊपर आच्छादित विभिन्न प्राणापानादि के आवरणों को खोलकर किंवा उनमें सम्मिलित होकर सोम तत्त्व से संगत हो जाती है और उसे प्रकाशित करती है।।+।।

यह विद्युत् तत्त्व विभिन्न प्रकाशित पदार्थों की निर्माण प्रक्रिया के द्वारपाल के समान होता है। इसी कारण वह विद्युत् सोम तत्त्व के आवरण को हटाकर अथवा आवरक तत्त्व में मिश्रित होकर सोम

तत्त्व में प्रविष्ट हो जाती है, जिससे सोम तत्त्व अपनी सभी क्रियाओं को सम्पादित करने सक्षम होता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इस रश्मि के प्रभाव से विद्युत् दूर-२ तक व्याप्त हो जाती है। आवेशित कणों का तीव्रता से निर्माण होता है। इसके साथ ही जब विद्युत् चुम्बकीय तरंगें विभिन्न इलेक्ट्रॉन्स से संयुक्त होती हैं, उस समय इलेक्ट्रॉन्स के ऊपर विभिन्न प्राणों के आवरण होते हैं, उन आवरणों को विद्युत् चुम्बकीय तरंगें इस छन्द रश्मि के कारण ही भेद पाती हैं। इस भेदन के पश्चात् ही ऊर्जा उस इलेक्ट्रॉन में व्याप्त हो जाती है। विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के अन्दर व्याप्त सूक्ष्म विद्युत् ही इस प्रकार का भेदन करती है और वह विद्युत् इस रश्मि के कारण अधिक सक्रिय होती है। ध्यातव्य है कि **ऊर्जा के उत्सर्जन व अवशोषण के पीछे इलेक्ट्रॉन्स के आवरणों का भेदन एक अनिवार्य कारण है। यदि यह भेदन नहीं होगा, तो ऊर्जा का अवशोषण व उत्सर्जन होगा ही नहीं। इस उत्सर्जन व अवशोषण के अभाव में ऊर्जा का संचरण व उत्पादन आदि भी कुछ नहीं हो पायेगा और न ही ऊर्जा का परिवर्तन, अपवर्तन एवं विसरण ही सम्भव हो पायेगा।** ऐसी स्थिति में सब कुछ अन्धकारमय हो जायेगा। इस कारण विद्युत् को प्रकाशित पदार्थों के प्रकाश का रक्षक कहा है।।
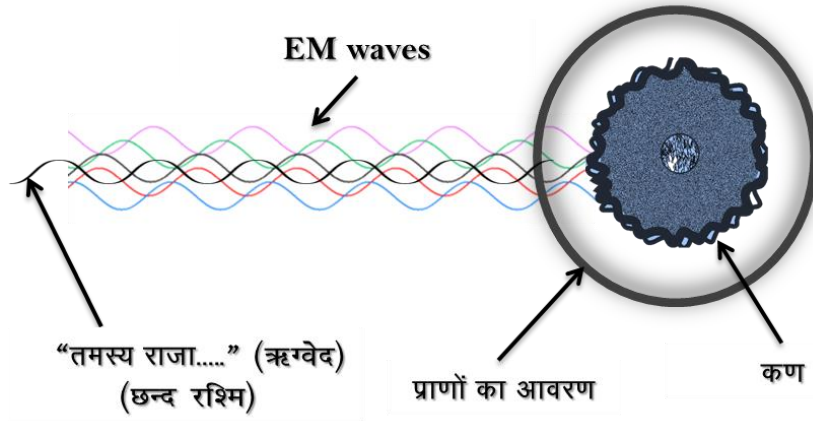
चित्र ५.२ ऊर्जा अवशोषण में छन्द रश्मि की भूमिका

८. 'अन्तश्च प्रागा अदितिर्भवासीति प्रपाद्यमानेऽन्वाह।।
'श्येनो न योनिं सदनं धिया कृतमित्यासन्ने।।
हिरण्ययमासदं देव एषतीति।।
हिरण्मयमिव ह वा एष एतद्देवेभ्यश्छदयति यत्कृष्णाजिनम्।।
तस्मादेतामन्वाह।।

{हरः = ज्वलतो नाम (निघं.१.१७), क्रोधनाम (निघं.२.१३), वीर्यं वै हरः (श.४.५.३.४), हरो हरतेर्ज्योतिर्हर उच्यते (नि.४.१६)। श्रौष्टी = श्रुष्टि इति क्षिप्रनाम (नि.६.१२), प्राप्तव्यं वस्तु (म.द.ऋ.भा.१.१६६.१३)। श्येनः = प्रवृद्धवेगः (म.द.ऋ.भा.४.२६.६), श्येनः शंसनीयं गच्छति (नि.४.२४), श्येन आदित्यो भवति श्यायतेर् गतिकर्मणः (नि.१४.१३)}

व्याख्यानम्- तदनन्तर प्रगाथ काण्व ऋषि अर्थात् सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न प्रकृष्ट तेजस्वी प्राण विशेष से **सोम देवताक** पादनिचृत्त्रिष्टुप् छन्दस्क

अन्तश्च प्रागा अदितिर्भवास्यवयाता हरसो दैव्यस्य।
इन्दविन्द्रस्य सख्यं जुषाणः श्रौष्टीव धुरमनु राय ऋध्याः।। (ऋ.८.४८.२)

की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से सोम तत्त्व की तीक्ष्णता अत्यन्त बढ़ जाती है। इसके अन्य प्रभाव से वह सोम तत्त्व अविनाशी प्राण तत्त्वों किंवा अग्नि तत्त्व के भीतर तक प्रवेश कर जाता है, फिर अग्नि तत्त्व की तीक्ष्ण ज्वलनशीलता को भी दूर करता है, विद्युद्वायु को अपने साथ संगत करता हुआ शीघ्रगामी रश्मियों के धारक विभिन्न मरुतों को समृद्ध करता है। इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति उस समय होती है, जब विद्युद्युक्त तीव्र अग्नि का उससे संयोग होता है।।

तत्पश्चात् ऋषभो वैश्वामित्र ऋषि अर्थात् वाक् तत्त्व से उत्पन्न एक बलवान् सूक्ष्म ऋषि प्राण से पवमान **सोमदेवताक** एवं पादनिचृज्जगती छन्दस्क

श्येनो न योनिं सदनं धिया कृतं हिरण्ययमासदं देव एषति।
ए रिणन्ति बर्हिषि प्रियं गिराश्वो न देवाँ अप्येति यज्ञियः।। (ऋ.९.७१.६)

की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से प्रवहमान पवित्र सोम तत्त्व भेदक शक्तिसम्पन्न होकर दूर-दूर तक व्याप्त हो जाता है। इसके अन्य प्रभाव से वह गतिमान् एवं विभिन्न कर्मों को धारण करने वाला तेजस्वी सोम पदार्थ अति वेगवान् अग्नि के तुल्य अपने कारणरूप प्राणादि पदार्थों में व्याप्त हो जाता है। वह संगमनीय सोम पदार्थ अन्तरिक्ष में विभिन्न छन्द रश्मियों को गतिशील करता है। इस ऋचा की उत्पत्ति भी पूर्वोक्त ऋचा के समय ही होती है।।

उक्त रश्मि के द्वितीय पाद के प्रभाव से सोम पदार्थ तेजस्वी प्राणों के आवरण से युक्त हो जाता है। उस समय यह अजेय गति और बल से युक्त हो जाता है।।

वस्तुतः वह सोम तत्त्व अजेय बल एवं तेजयुक्त आवरण से आच्छादित हो जाता है और यह आवरण ही **'कृष्णाजिन'** कहलाता है। **'कृष्णाजिन'** के विषय में जानकारी हेतु १.३.१२ देखें। इस तेजस्वी आवरण के कारण ही सोम तत्त्व तीव्रगामी हो जाता है और फिर यह सोम तत्त्व विभिन्न प्रकाशित पदार्थों से संयोग करके उन्हें भी इन्हीं गुणों से आच्छादित कर देता है।।

इसी कारण इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। जिससे सभी कण अत्यन्त बल और वेग से युक्त होकर विभिन्न क्रियाओं को सम्पादित कर सकें।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- इन रश्मियों के प्रभाव से सोम तत्त्व की तीक्ष्णता अत्यन्त बढ़ जाती है और वह अग्नि तत्त्व की तीक्ष्ण ज्वलनशीलता को संतुलित करने में समर्थ होता है। उधर **ऋणावेशित कण इलेक्ट्रॉन्स आदि की ऊर्जा भी उतनी मात्रा में हो जाती है कि वे धनावेशित कण प्रोटोन्स आदि से संयोग करके एटम्स की उत्पत्ति में समर्थ हो जाते हैं।** सोम तत्त्व अथवा ऋणावेशित कणों के बल और वेग को तीक्ष्ण करने के लिये उनके ऊपर एक प्रकार की तेजस्वी प्राण रश्मियों का आवरण आ जाता है, जिससे वे विभिन्न कणों से संयुक्त होकर उन्हें भी बल और गति से सम्पन्न कर देते हैं। इसके पश्चात् सभी कण अत्यन्त क्रियाशील होकर विभिन्न क्रियाओं को सम्पादित करते हैं।।

६. 'अस्तभ्नाद् द्यामसुरो विश्ववेदा' इति वारुण्या परिदधाति।।
वरुणदेवत्यो वा एष तावद्यावदुपनद्धो यावत्परिश्रितानि प्रपद्यते स्वयैवैनं तद्देवतया स्वेन च्छन्दसा समर्धयति।।
तं यद्युप वा धावेयुरभयं वेच्छेरन्नेवा वन्दस्व वरुणं बृहन्तमित्येतया परिदध्यात्।।
यावद्भ्यो हाभयमिच्छति यावद्भ्यो हाभयं ध्यायति तावद्भ्यो हाभयं भवति यत्रैवं विद्वानेतया परिदधाति; तस्मादेवं विद्वानेतयैव परिदध्यात्।।

{धीरः = मेधाविनाम (निघं.३.१५), धारणादि-गुणयुक्तः (म.द.ऋ.भा.१.६४.६), सुसंयमः (तु.म.द.य.भा.११.५५)। वरुथम् = गृहनाम (निघं.३.४), स्वीकर्तुमर्हम् (म.द.ऋ.भा.१.१८६.६)। वन्दते अर्चतिकर्मा (निघं.३.१४ - वै.को. से उद्धृत)}

व्याख्यानम्- तदुपरान्त **'नाभाकः काण्व अर्चनाना'** ऋषि अर्थात् किसी पदार्थ के केन्द्रीय भाग से उसको आकर्षित करने वाले तेजस्वी सूक्ष्म प्राण तत्त्व, जिसके विषय में विस्तार से **१.१३.८** देखें, से **वरुणदेवताक** एवं त्रिष्टुप् छन्दस्क

अस्त॑भ्नाद् द्यामसु॑रो वि॒श्ववे॑दा अमि॑मीत वरि॒माणं॑ पृथि॒व्याः।
आसी॑दद्विश्वा॒ भुव॑नानि स॒म्राड् विश्वेत्तानि॒ वरु॑णस्य व्र॒तानि॑।। (ऋ.८.४२.१)

की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से सबको आवृत्त करने और बांधने वाली वरुण रश्मियाँ तीव्र और बलवान् होती हैं। वह वरुण तत्त्व विभिन्न प्राणों में रमण करते हुए प्रकाशमान और अप्रकाशमान सभी पदार्थों के आकार को बनाता है तथा उन सभी पदार्थों पर अपना नियन्त्रण करके उन्हें थामे रखता है। वह वरुण पदार्थ सभी कर्मों को करने में अन्तिम भूमिका निभाता है।

यह छन्द रश्मि पूर्ववर्णित सोलह छन्द रश्मियों को अपने चारों ओर धारण करके एक सूत्र में बांधे रखती है।।

इस छन्द रश्मि का देवता वरुण होने से यह सबको बांधने का कार्य करती है। जब तक सोम पदार्थ इसके बंधन में रहता है और जितने क्षेत्र में वरुण के साथ संयुक्त रहता है, उतने क्षेत्र में और तब तक यह सोम पदार्थ पूर्वोक्त विभिन्न छन्द रश्मियों को सब ओर धारण करता हुआ विविध सृजन कर्मों को सम्पादित वा समृद्ध करता है। यह सोम तत्त्व अपनी दिव्यता अर्थात् तेजस्विता और क्रियाशीलता तथा आच्छादक गुण से ही उपर्युक्त कर्मों को समृद्ध करता है।।

उस सोम तत्त्व के निकटस्थ अन्य पदार्थ यदि तीव्र रूप से विक्षुब्ध हो रहे हों और उन्हें सृजन कर्म से जोड़ने के लिए नियन्त्रण में रखना आवश्यक हो, तब इसके लिए पूर्वोक्त ऋषि, देवता व छन्द वाली रश्मि

ए॒वा व॑न्दस्व॒ वरु॑णं बृ॒हन्तं॑ न॒मस्या धीर॑म॒मृत॑स्य गो॒पाम्।
स नः॒ शर्म॑ त्रि॒वरू॑थं॒ वि यं॑सत्पा॒तं नो॑ द्यावापृथिवी उ॒पस्थे॑।। (ऋ.८.४२.२)

की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से पूर्ववत् क्रिया होती है। इसके अन्य प्रभाव से व्यापक वरुण तत्त्व तेजस्वी हो उठता है और विभिन्न अविनाशी प्राणों का रक्षक सूत्रात्मा वायु उन वरुण रश्मियों को अपनी ओर आकृष्ट करता है। फिर वह वरुण तत्त्व तीन प्रकार के मार्गों पर विचरने वाले प्रकाशित व अप्रकाशित कण एवं आकाश तत्त्व को उपद्रवरहित करता है।

यह छन्द रश्मि भी पूर्व छन्द रश्मि की भाँति सोलह छन्द रश्मियों को अपने चारों ओर धारण करके एक सूत्र में बांधे रखती है।।

जब और जितने भाग में उपर्युक्त पदार्थ विक्षुब्ध होता है, तब और उतने भाग में इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है और वह छन्द रश्मि पूर्वोक्त सोलह रश्मियों को अपने साथ धारण करके सोम तत्त्व के साथ संगत करती है, जिसके कारण वह पदार्थ भी सोम तत्त्व में मिलकर विभिन्न सृजन कर्म करने में सक्षम हो जाता है।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- ये दोनों छन्द रश्मियाँ वरुण अर्थात् व्यान रश्मियों को तीव्र बलवान् बनाती हैं। ये रश्मियाँ विभिन्न कणों को चारों ओर से आवृत्त कर उन्हें परस्पर अपने बंधन में बांधे रखती हैं। ये उन कणों में आवश्यक प्रतिकर्षण बल भी उत्पन्न करती हैं। **इन्हीं के कारण विभिन्न कणों का एक**

आकार निश्चित होता है। ये रश्मियाँ पूर्वोक्त सोलह छन्द रश्मियों को अपने चारों ओर धारण करके उन्हें एक सूत्र में बांधकर उनके द्वारा सम्पादित कार्यों को भी गति व सुरक्षा प्रदान करती हैं। शुद्ध सोम तत्त्व के अतिरिक्त अन्य जो भी पदार्थ विद्यमान होते हैं, उन्हें भी उपद्रवरहित करके सोम तत्त्व की भाँति विभिन्न सृजन कर्मों में संलग्न करती हैं। उधर ऋणावेशित विभिन्न इलेक्ट्रॉन आदि कणों की पूर्वोक्त सभी प्रक्रियाओं को सम्पादित करने में सहयोग करती हैं। इसके साथ ही अन्य जो भी कण अति विक्षुब्ध अवस्था में होते हैं, उनके विक्षोभ का शमन करके आवश्यक गति बनाये रखने में सहयोग करती हैं।।

१०. 'ता एताः सप्तदशान्वाह रूपसमृद्धा एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृगभिवदति। तासां त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमां, ता एकविंशतिः संपद्यन्ते, एकविंशो वै प्रजापतिर्द्वादश मासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंशः।। उत्तमा प्रतिष्ठा तद्देवं क्षत्रं सा श्रीस्तदाधिपत्यं तद्ब्रध्नस्य विष्टपं तत्प्रजापतेरायतनं तत्स्वाराज्यम्।।
ऋध्नोत्येतमेवैताभिरेकविंशत्यैकविंशत्या।।४।।

{विष्टपम् = अन्तरिक्षम् (तु.म.द.ऋ.भा.१.४६.३), व्याप्तिम् (म.द.य.भा.१४.२३), विष्टबादित्यो भवति आविष्टो रसान्, आविष्टो भासं ज्योतिषाम् आविष्टो भासेति (नि.२.१४)। ब्रध्नः = अश्वनाम (निघं.१.१४), महन्नाम (निघं.३.३)}

व्याख्यानम्- उपर्युक्त सत्रह छन्द रश्मियाँ रूपसमृद्ध और यज्ञसमृद्ध कहलाती हैं, जिसके विषय में पूर्ववत् समझें। ध्यातव्य है कि अन्तिम दो वरुणदेवताक ऋचाएं, जो समान छन्द वाली भी हैं, को एक ऋचा के रूप में माना गया है। इसका कारण यह है कि दोनों का कार्य एक जैसा है और ये दोनों पदार्थ के दो भिन्न स्वरूपों के साथ एक जैसा व्यवहार करती हैं। पूर्वोक्तानुसार यहाँ भी प्रथम और अन्तिम छन्दरश्मि की आवृत्ति अन्यों के सापेक्ष तीन-तीन बार होती है, जिस कारण ये कुल २१ छन्द रश्मियाँ हो जाती हैं और ये २१ छन्द रश्मियाँ १२ सन्धानकारिणी मास रश्मियों, ५ ऊष्मा उत्पादक ऋतु रश्मियों, प्रकाशित व अप्रकाशित कण व आकाश तत्त्व अथवा **'भूः', 'भुवः', 'स्वः'** दैवी गायत्री छन्द रश्मियों एवं कारण प्राणरूप आदित्य इन इक्कीस (२१) पदार्थों को प्रभावित करती हुई नेब्यूला के निर्माण में विशेष सहायक होती हैं।।

महान् और व्यापक सोम और अग्नि आदि से युक्त वह पदार्थ, जो उस समय ब्रह्माण्ड का रूप होता है, उस समय पदार्थ की वह उत्कृष्ट अवस्था होती है, जिसमें सम्पूर्ण पदार्थ अवस्थित रहता है। उसी में सभी प्रकाशित पदार्थ सुरक्षित और आश्रित रहते हैं। वही पदार्थ भावी नेब्यूलाओं का उद्गम और कारण होता है। वह स्वयं प्रकाशित विशाल लोक के समान होता है अर्थात् उसको धारण और प्रकाशित करने वाला कोई उससे बड़ा अन्य लोक नहीं होता।।

इस प्रकार इन २१ छन्द रश्मियों से सृष्टियज्ञ समृद्ध होता है अर्थात् उपर्युक्त स्थिति में विद्यमान सभी पदार्थ समृद्ध होते हैं।।

वैज्ञानिक भाष्यसार- उपर्युक्तानुसार।

꧁ इति ५.४ समाप्तः ꧂

꧁ इति पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ꧂

इति "ऐतरेयब्राह्मणे" प्रथमपञ्चिका समाप्ता।।1।।

इस प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण की प्रथम पञ्चिका पूर्ण हुई।।

इति परब्रह्मणः सच्चिदानन्देश्वरस्याऽनुपमकृपाभाजेन, प्रखर वेदोद्धारकस्य परिव्राजकाचार्यप्रवरस्य श्रीमन्महर्षिदयानन्दसरस्वतिनः प्रबलार्यानुयायिवंशप्रवर्त्तकस्य भारतवर्षस्योत्तरप्रदेशस्थ-हाथरसमण्डलान्तर्गतस्य ऐंहनग्रामाभिजनस्य सिसोदिया-कुल-वैजपायेणगोत्रोत्पन्नस्य तत्रभवतः श्रीमतो देवीसिंहस्य प्रपौत्रेण, श्रीघनश्यामसिंहस्य पौत्रेण श्रीमतोः ओम्वतीदेवीन्द्रपालसिंहयोस्तनूजेन वीरप्रसवितुर्राजस्थानप्रान्तस्य जालोरमण्डलान्तर्गत-प्रकाण्डगणितज्ञ-ब्रह्मगुप्त-महाकविमाघजन्मभूर्भीनमाल निकटस्थभागलभीमग्रामस्थ श्रीवैदिकस्वस्तिपन्थान्यास-संस्थापकेन (वेद-विज्ञान-मन्दिर-वास्तव्येन) आचार्याऽग्निव्रतनैष्ठिकेन विरचित-वैज्ञानिकभाष्यसारसमेतैतरेयब्राह्मणस्य वैज्ञानिक-व्याख्यानस्य (वेदविज्ञान-आलोकस्य) प्रथमा पञ्चिका समाप्यते।

वेदविज्ञान-आलोकः™

(महर्षि ऐतरेय महीदास प्रणीत - ऐतरेय ब्राह्मण की वैज्ञानिक व्याख्या)

इस ग्रन्थ को क्यों पढ़ें

- आधुनिक सैद्धान्तिक भौतिकी (Theoretical physics) की विभिन्न गम्भीर समस्याओं विशेषकर Cosmology, Astrophysics, Quantum field theory, Plasma physics, Particle physics एवं String theory से सम्बन्धित अनेक वास्तविक समस्याओं का आश्चर्यजनक समाधान इस ग्रन्थ के गहन अध्ययन से सम्भव है। इसके साथ ही इन क्षेत्रों में नये-२ अनुसंधान करने के लिए आगामी लगभग 100 वर्ष के लिए पर्याप्त सामग्री इस ग्रन्थ में विद्यमान है।
- इस ग्रन्थ से विकसित वैदिक सैद्धान्तिक भौतिकी (Vaidic theoretical physics) भविष्य में आश्चर्यजनक एवं निरापद टैक्नोलॉजी के अनुसंधान को जन्म दे सकेगी तथा विज्ञान की अन्य शाखाओं में भी कुछ विशेष परिवर्तन भविष्य में हो सकते हैं।
- विश्वभर के धर्माचार्यों व अध्यात्मवादियों को ईश्वर के अस्तित्व व स्वरूप की वैज्ञानिकता के विस्तृत ज्ञान तथा इसके द्वारा संसार में एक धर्म, एक भाषा, एक भावना को स्थापित करने में यह ग्रन्थ महत्वपूर्ण साधन है।
- वर्तमान भौतिक वैज्ञानिकों को यह जानने कि ईश्वर तत्व के ज्ञान के बिना भौतिक विज्ञान समस्याग्रस्त ही रहेगा तथा धर्माचार्यों को यह जानने हेतु कि ईश्वर के कार्य करने की प्रणाली (Mechanism) क्या है, यह ग्रन्थ एक महत्वपूर्ण मार्गदर्शक का कार्य करेगा। इसके साथ ही उन्हें इस बात का भी बोध होगा कि धर्म, ईश्वर आदि आस्था व विश्वासों का विषय नहीं है बल्कि सत्य विज्ञान पर आधारित वास्तविकता है, जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के लिए एक समान ही है।
- भारत के प्रबुद्ध वर्ग में नये राष्ट्रिय स्वाभिमान, ऐतिहासिक व सांस्कृतिक गौरव एवं बौद्धिक स्वतंत्रता का भाव भरने में यह ग्रन्थ एक क्रान्तिकारी दिशा देगा।
- यह ग्रन्थ वेदों तथा संस्कृत भाषा का ऐसा यथार्थ स्वरूप संसार के समक्ष प्रस्तुत करेगा, जिसकी कल्पना विश्व के सम्भवतः इस समय किसी भी वेदज्ञ एवं संस्कृतज्ञ को नहीं होगी।
- यह ग्रन्थ विश्वभर के मनुष्यों को अहिंसा, सत्य, ईमानदारी, प्रेम, करुणा, न्याय आदि मानवीय सद्गुणों की ओर ले जाने में समर्थ होगा तथा भय, हिंसा, आतंक, ईर्ष्या, द्वेष, वैर, मिथ्या छलकपट व बेईमानी से मुक्त करने में सहयोग करेगा।

-आचार्य अग्निव्रत नैष्ठिक

श्री वैदिक स्वस्ति पन्था न्यास

(वेद विज्ञान मन्दिर)

वैदिक एवं आधुनिक भौतिक शोध संस्थान

भागल भीम, भीनमाल, जिला- जालोर, राजस्थान-343029, भारत